भारतीय शासन एवं राजनीति

[INDIAN GOVERNMENT AND POLITICS]

डॉ. पुखराज जैन
अध्यक्ष, स्नातकोत्तर राजनीतिशास्त्र विभाग
राजकीय बाँगड़ महाविद्यालय, पाली
एवं
डॉ. बी. एल. फड़िया
एसोसिएट प्रोफेसर
राजनीति विज्ञान विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

1990

साहित्य भवन : आगरा

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक की रचना एम० फिल०, एम० ए० तथा बी० ए० (ऑनर्स) राजनीति विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए की गयी है और यह उत्तर भारत के अधिकाश विश्वविद्यालयो के तत्सम्बन्धी पाठ्यक्रम को समाविष्ट करती है।

'भारतीय शासन एवं राजनीति' पुस्तक का षष्टम् संस्करण पाठको के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। एक वर्ष की अवधि बीतने के पूर्व ही पुस्तक का पचम संस्करण समाप्त हो जाना पाठको द्वारा पुस्तक की उपयोगिता स्वीकार किये जाने का परिचायक है। प्रस्तुत सस्करण पूर्णतया परिमार्जित और संशोधित है।

संविधान द्वारा कुछ मूलभूत सिद्धान्तो और प्रशासनिक एव प्रतिनिधि संस्थाओ के एक सरचनात्मक ढाँचे की व्यवस्था की जाती है लेकिन यह संरचनात्मक ढाँचा व्यावहारिक राजनीति की परिस्थितियो से परिचालित होता है और उसमे निरन्तर विकासशीलता की स्थिति होती है। व्यावहारिक राजनीति के तनाव और दवाव ही उसे सजीवता और शक्ति प्रदान करते है अथवा उसकी दुर्बलता के कारण वनते है। पिछले दो दशक मे तो भारतीय राजनीति का घटनाचक्र निरन्तर और बहुत अधिक तीव्र गति से परिवर्तित होता रहा है तथा इस घटनाचक्र का विश्लेषण किये विना संवैधानिक ढाँचे की मीमासा कर पाना सम्भव नही है, अत. मूल संवैधानिक ढाँचे को आधार वना कर और व्यावहारिक राजनीति के निरन्तर वदलते हुए परिप्रेक्ष्य को दृष्टि मे रखते हुए **संविधान** तथा सरकार के वास्तविक व्यावहारिक अध्ययन का प्रयास किया गया है। पुस्तक का प्रत्येक अध्याय **'संविधान'**, **'सरकार'** या **'राजनीति'** के किसी विशिष्ट पहलू की विश्लेषणात्मक-आलोचनात्मक विवेचना प्रस्तुत करता है।

पिछले लगभग एक दशक मे भारतीय राजनीति का समस्त घटनाक्रम बहुत अधिक विवाद का विषय रहा है। हमने इस विवादास्पद राजनीतिक घटनाचक्र के सम्बन्ध में निष्पक्ष और सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाने की चेष्टा की है।

पुस्तक में विषय की 'आद्योपान्त' (Up-to-date) विवेचना प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। मौलिक अधिकार. सवैधानिक सशोधन, राजनीतिक दल, चुनाव आदि के प्रसंग मे विशेप रूप से इस वात को दृष्टि मे रखा गया है कि पाठक नवीनतम संवैधानिक एवं राजनीतिक स्थिति का परिचय प्राप्त कर सकें।

पिछले दो दशक मे भारतीय शासन और राजनीति के विभिन्न पहलुओ पर आग्ल भाषा मे कुछ विशिष्ट रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। पुस्तक के लेखन मे इन सभी रचनाओ और पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशित विभिन्न लेखो को दृष्टि मे रखा गया है। इस प्रसंग मे हम ग्रेनविल ऑस्टिन, एफ० जे० वैले, मारकुस फ्राण्डा, आमण्ड और कोलमैन, नारमन डी० पामर, रॉवर्ट एल० हार्डग्रेव, मायरन वीनर, मॉरिस जौन्स, रजनी कोठारी, के० सदानन्द हेगडे, डॉ० इकवाल नारायण, डॉ० वी० आर० मेहता, डॉ० हरिमोहन जैन और डॉ० श्रीराम माहेश्वरी के प्रति आभार व्यक्त

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ-संख्या

अध्याय | पृष्ठ-संख्या

1

भारतीय राजनीति के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोण
[APPROACHES OF THE STUDY OF INDIAN POLITICS]

भारत एक महत्वपूर्ण लोकतन्त्रात्मक देश है। मानव सभ्यता के पांच हजार वर्ष से भी पुराने इतिहास मे कही भी, कभी भी इतने व्यापक पैमाने पर लोकतान्त्रिक प्रयोग नहीं चला, जैसा कि भारत मे स्वाधीनता के बाद से चल रहा है। जनतन्त्र के परिप्रेक्ष्य में भारत की महत्ता का अहसास पश्चिम मे अधिक है। टैक्सास विश्वविद्यालय के डॉ० रोस्टोव का यह कथन उल्लेखनीय है कि "दूसरे महायुद्ध के बाद की सबसे आश्चर्यजनक घटना भारत में लोकतन्त्र का कायम रहना है।" प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० थाम्पसन का यह कथन भी गौर करने लायक है कि "भारत केवल स्वयं की दृष्टि से ही एक महत्वपूर्ण देश नही है वरन् वह समस्त विश्व मे लोकतन्त्र के भविष्य की दृष्टि से भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण देश है। ऐसी स्थिति में यदि भारत कभी पुनः निरंकुश पंजो मे जकड़ा जाता है तो यह मानव इतिहास की सबसे बडी पराजय होगी।"

पिछले 45 वर्षों से भारत मे संवैधानिक शासन-व्यवस्था के तहत् लोकतन्त्रात्मक राजनीति का प्रयोग चल रहा है। भारत की गणना 'तीसरे विश्व के राज्यो मे' अथवा 'विकासशील देशो' की श्रेणी मे की जाती है। आमतौर से देखने मे आता है कि तीसरे विश्व के नवोदित स्वतन्त्र राज्य कुछ मामलो मे अपने को उससे भी अधिक नया मानते है, जितने कि वे वास्तव में होते हैं, और कुछ मामलों में वे जितने पुराने होते हैं, उससे भी अधिक पुराना मानते है। भारत की यह विशेषता रही है कि वह निरन्तरता और परिवर्तन के बीच तालमेल बैठाने का अभ्यस्त है, और पुरातनता व नवीनता दोनों प्रकार के स्वप्नो के मोह से मुक्त रहा है।

भारत में राजनीति मुख्यतः राष्ट्र-निर्माण और देश की एकता को बनाये रखने की राजनीति है। किसी भी परिवर्तन को इस दृष्टि से देखा जाता है कि उससे राष्ट्र की एकता को बल मिलेगा या नहीं। राजनीतिक स्थिरता की कुंजी सामाजिक व्यवस्था रही है। अब यह सामाजिक व्यवस्था विखण्डित हो रही है और बदल रही है। भारतीय नेताओ के सामने यह चुनौती है कि यदि टूटती हुई सामाजिक संस्थाओं की जगह नयी संस्थाएँ स्थापित नही की गयी, यदि नये अवसर प्रस्तुत नही किये गये और नयी मान्यताओ और मूल्यो की स्थापना नहीं की गयी तो राजनीतिक विकास के अवरुद्ध होने के साथ-साथ राजनीतिक व्यवस्था टूटने की स्थिति में आ सकती है।

दृष्टिकोण से अभिप्राय
(APPROACH : MEANING)

दृष्टिकोण या उपागम के अन्तर्गत समस्याओं या प्रश्नों के चुनाव में प्रयुक्त कसौटियाँ और अनुसन्धान के लिए ली गयी आधार सामग्री आती है। दूसरे शब्दों में, दृष्टिकोण का अर्थ है

मानको का एक समूह जिसके आधार पर सैद्धान्तिक विचार-विमर्श के लिए प्रश्न और आधार सामग्री लेने या छोडने का निर्णय किया जाता है। किसी भी घटना के अध्ययन के लिए अनेको दृष्टिकोण हो सकते है। किसी दृष्टिकोण की सर्वग्राह्यता सब तथ्यो को अपने ही परिप्रेक्ष्य मे देखती है और जिस घटना के बारे मे यह विचार करती है उस घटना की व्याख्या भी उसी दृष्टि-कोण से करती है। दृष्टिकोण का अगला चरण 'सिद्धान्त' (Theory) कहलाता है। जब दृष्टिकोण का कार्य विचाराधीन विषय के बारे मे समस्याओ और आधार सामग्री के चुनाव से आगे निकल जाता है तब दृष्टिकोण सिद्धान्त का रूप ले लेता है। कुछ लोग सिद्धान्त शब्द का प्रयोग किसी विवेचन या दृष्टिकोण के लिए करते हैं जबकि अन्य लोग इसे 'व्याख्या की चरम परिणति' कहकर पुकारते है।

दृष्टिकोण को अनेक नामो से पुकारा जाता है तथा उपागम, परिप्रेक्ष्य, दृष्टिबिन्दु, पद्धति, आदि। दृष्टिकोण या उपागम की धारणा बडी सरल है। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार के दृष्टिकोण से काम लेता रहता है। यह मनुष्य के मन, बुद्धि और आँख की तरह से है। प्रत्येक व्यक्ति विशेष दृष्टि या विचार के अनुसार ही जगत की वस्तुओ या व्यक्तियो को देखता है। वह उन्ही व्यक्तियो को देखता है जो उससे सम्बद्ध होती है शेष वस्तुओ की ओर वह ध्यान नहीं देता। एक विद्यार्थी द्वारा देखी जाने वाली वस्तुएँ किसी दुकानदार या राजनेता की दृष्टि से भिन्न होती है। यह सब उसके उपागम, दृष्टिकोण या परिप्रेक्ष्य की भिन्नता के कारण होता है। राज-नीतिक जगत की वस्तुएँ एव व्यक्तित्व सामाजिक परिवेश मे घुले-मिले होते है उन्हें देखने वाले विश्लेषको या प्रेक्षको के अपने-अपने उपागम होते है। कोई भारतीय राजनीति को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से देखता है, कोई कानूनी दृष्टिकोण से, तो कोई राजनीतिक विकास के परिप्रेक्ष्य से। राजनीति का स्वरूप पूर्व निर्धारित नही होने तथा एक सामान्य राजनीतिक सिद्धान्त का अभाव होने से अनेक उपागमो (Approaches) का होना स्वाभाविक है।

ईजाक के अनुसार दृष्टिकोण राजनीतिक गवेषणा मे, राजनीतिक घटनाओ के अध्ययन के लिए सामान्य रणनीति या व्यूह-रचना (Strategy) है। मर्टन के अनुसार दृष्टिकोण मे सवर्गी-करण (Categorization), वर्गीकरण (Classification) तथा परिभाषा (Definition) को आधार बनाकर राजनीतिक तथ्यो को क्रमबद्ध (Ordering) किया जाता है। उसका उद्देश्य राज-नीतिक तथ्यो का विशेष प्रकार से अनुक्रमण करना होता है। दृष्टिकोण **विचारचित्र** (Paradigm) की तुलना मे अधिक व्यापक होता है। दृष्टिकोण मे, हास एवं करील के अनुसार विचारचित्र एव अवधारणात्मक परियोजना दोनो ही शामिल होते है। दृष्टिकोण पूर्णत विश्लेषणात्मक होता है।

भारतीय राजनीति : अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोण
(INDIAN POLITICS : DIVERGENT APPROACHES)

भारत जैसे विविधतापूर्ण और प्राचीन परन्तु आधुनिकता से प्रभावित समाज की राजनीति का विश्लेषण करने मे अनेक दृष्टिकोणो का प्रयोग आवश्यक है। यह इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि विश्लेषण एक पूर्ण सुसगठित इकाई का विश्लेषण करता है न कि उसके खण्डो का। इस विश्लेषण से ऐसे तथ्यगत निष्कर्ष निकलेंगे जो समरूप समाजो पर लागू होगे।

भारतीय राजनीति पर विद्वानो एव राजनीतिक विश्लेषको के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए है। इन ग्रन्थो के अध्ययन से पता चलता है कि रचनाकार किसी विशेष दृष्टि से भारतीय राज-नीति जीवन की व्याख्या करने की चेष्टा करते है।

भारतीय राजनीति के अध्ययन के प्रमुख दृष्टिकोणो की चर्चा की जा रही है :

(1) **भारतीय राजनीति के अध्ययन का कानूनी दृष्टिकोण** (Legal approach to the **study of Indian Politics**)—**कानूनी दृष्टिकोण के समर्थक भारतीय संविधान के अध्ययन पर**

विशेष बल देते है। वे संविधान का अध्ययन एक कानूनी दस्तावेज के रूप मे करते है। वे भारत की राजनीतिक समस्याओ को भी कानूनी संवैधानिक वैधता के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। संविधान में उल्लिखित कानूनी भाषा का सन्दर्भ देते हुए ऐसे विद्वान मानते हैं कि भारत का राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है, मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति को सलाह एवं मन्त्रणा देने वाला निकाय है, आदि। जिन विद्वानो ने अपने ग्रन्थो एवं टीकाओ मे कानूनी दृष्टि अपनायी है, वे कुछ इस प्रकार हैं :

1. Granville Austin — *The Indian Constitution*, 1966
   ग्रेनविल ऑस्टिन — **दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन**, 1966
2. Allen Gledhill — *The Republic of India*, 1951
   एलेन ग्लेडहिल — **दि रिपब्लिक ऑफ इण्डिया**, 1951
3. D. N. Banerjee — *The Draft Constitution of India*, 1949
   डी० एन० बनर्जी — **दि ड्राफ्ट कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया**, 1949
4. D. D. Basu — *Commentary on the Constitution of India*, 1955
   डी० डी० बसु — **कमेण्ट्री ऑन दि कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया**, 1955

कानूनी दृष्टि से भारतीय राजनीति का अध्ययन करने वाली रचनाओं मे ऑस्टिन की कृति **'दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन : कार्नरस्टोन ऑफ ए नेशन'** एक महत्वपूर्ण रचना है। इसमें संविधान सभा की रचना एवं कार्य-प्रणाली का बारीकी से अध्ययन किया गया है। संविधान सभा की कार्य-प्रणाली के अध्ययन की दृष्टि से बी० एन० राव की कृति **'इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन इन दि मेकिंग'** (कलकत्ता, 1960) भी अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है।

कानूनी दृष्टिकोण के समर्थक संविधान की धाराओ की व्याख्या पर बल देते हैं। संविधान-निर्मात्री सभा मे विभिन्न धाराओ के क्या अर्थ लगाये, कौन-सी धारा पर किस प्रकार का वाद-विवाद हुआ, किस प्रकार के संशोधन प्रस्तुत किये गये और अब संविधान का क्या स्वरूप बना है। संविधान का कानूनी अध्ययन आसान है, अध्ययन के बिन्दु स्पष्ट है, आंकड़े आसानी से मिल जाते है, संविधान सभा मे हुए वाद-विवाद के दस्तावेज तथा न्यायालय के निर्णय उपलब्ध हैं अत: प्रारम्भ में भारतीय राजनीति का अध्ययन संविधान के कानूनी अध्ययन के परिप्रेक्ष्य मे किया गया था।

इस दृष्टिकोण मे कई कमियाँ हैं। यह दृष्टिकोण इस भ्रमपूर्ण धारणा को उत्पन्न करता है कि मानो कानूनी यथार्थ ही वास्तविक यथार्थ हैं। कानूनी अध्ययन भारतीय राजनीति के अन्तरंग का अध्ययन नही है, यह तो मात्र **औपचारिक** अध्ययन है। इसमें भारतीय राजनीति के व्यावहारिक पक्ष पर प्रकाश नही पड़ता है। कानूनी अध्ययन सरकार एवं राजनीति को सामाजिक एवं आर्थिक परिप्रेक्ष्य से अलग रखते है।

भारतीय राजनीति के अध्ययन मे कानूनी दृष्टिकोण अपनाने के दो कारण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं—**प्रथम**, यह दिखाना कि भारतीय राजनीतिक संस्थाएँ ब्रिटिश संस्थाओ के समतुल्य है और **द्वितीय**, इन संस्थाओ के बारे मे पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, अत: उनका अध्ययन आसान है।

(2) **भारतीय राजनीति के अध्ययन का ऐतिहासिक दृष्टिकोण** (Historical approach to the study of Indian Politics)—इस दृष्टिकोण के अनुसार समूची राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे किया जाता है। इस दृष्टिकोण के पीछे यह मान्यता है कि वर्तमान अतीत का फल है अत. इसे अतीत के प्रकाश मे ही समझा जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण मे विश्वास रखने वाले विद्वान यह सोचते है कि राजनीतिक संस्थाओं का विकास क्यो और कैसे हुआ, अतीत मे उसका स्वरूप कैसा था? भारतीय राजनीतिक अध्ययन मे ऐतिहासिक

दृष्टिकोण का प्रयोग ब्रिटिश विरासत है। भारत की संसदात्मक शासन प्रणाली के स्वरूप को भली-भांति समझने के लिए हमे इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे झांकना होगा। जिन विद्वानो ने भारतीय राजनीति के अध्ययन मे ऐतिहासिक दृष्टि अपनायी है, वे कुछ इस प्रकार हैं :

1	A. B. Keith	*Constitutional History of India*, 1963
	ए० बी० कीथ	कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 1963
2	V P Menon	*The Transfer of Power in India*, 1957
	वी० पी० मेनन	दि ट्रान्सफर ऑफ पावर इन इण्डिया, 1957
3.	V P. Menon	*The Integration of Indian States*, 1956
	वी० पी० मेनन	दि इण्टेग्रेशन ऑफ इण्डियन स्टेट्स, 1956
4	M Brecher	*Nehru—A Political Biography*, 1959
	माईकेल ब्रेचर	नेहरू—ए पॉलिटिकल बायोग्राफी, 1959
5	K P Karunakaran	*Modern Indian Political Tradition*, 1962
	के० पी० करुणाकरन	माडर्न इण्डियन पॉलिटिकल ट्रेडीशन, 1962
6	Durgadas	*From Curzon To Nehru and After*, 1969
	दुर्गादास	फ्रॉम कर्जन टू नेहरू एण्ड आफ्टर, 1969
7.	Maulana Azad	*India Wins Freedom*, 1988
	मौलाना आजाद	इण्डिया विन्स फ्रीडम, 1988
8	Rajmohan Gandhi	*India Wins Erross*, 1989
	राजमोहन गांधी	इण्डिया विन्स एरर्स, 1989

इन सभी पुस्तको मे लेखको की दृष्टि ऐतिहासिक विवेचन और विश्लेषण की रही है; भारतीय संविधान और राजनीतिक सस्थाओ के उद्भव और विकास का वर्णन मिलता है। कीथ और कूपलैण्ड के ग्रन्थ भारत मे ब्रिटिश शासन के ढांचे और उसके संवैधानिक विकास का वर्णन करते है। स्थानीय शासन की सस्थाओ के अतीत के विवेचन की दृष्टि मे टिंकर का ग्रन्थ एक मानक पुस्तक है। आजादी मिलने से पहले की अवधि की राजनीति के दो विशिष्ट अर्थात् 1919 और 1935 के सुधारो से सम्बन्धित अभिलेख है—माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ऑन इण्डियन कान्स्टीट्यूशन रिफार्म्स और दि साइमन रिपोर्ट ऑफ दि इण्डियन स्टेच्यूटरी कमीशन। संविधान सभा के कार्य का विस्तृत विवरण ग्रेनविल ऑस्टिन की पुस्तक 'इण्डियन कान्स्टीट्यूशन : दी कार्नरस्टोन ऑफ ए नेशन' मे मिलता है।

मॉरिस जोन्स की कृति 'दि गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया' से भारतीय राजनीति और सरकार के क्षेत्र मे अध्ययनरत सभी विद्यार्थियो को उस ऐतिहासिक परिवेश की एक अन्तर्दृष्टि मिलती है—जो कि हमे यह बतलाती है कि ब्रिटिश सरकार तथा राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रवृत्तियो की अन्तःक्रियाएँ किस प्रकार हुई और उनका परिणाम किस रूप मे हमारे सामने आया।

ऐतिहासिक अध्ययन आसान है क्योंकि अध्ययन सामग्री आसानी से जुटायी जा सकती है। इसमे यह खतरा बना रहता है कि अध्ययनकर्ता तथ्यो को तोड-मरोड़कर प्रस्तुत कर सकता है।

(3) **भारतीय राजनीति के अध्ययन का सस्थानात्मक दृष्टिकोण** (Institutional approach to the study of Indian Politics)—सस्थानात्मक दृष्टिकोण के समर्थक भारतीय राजनीति के अध्ययन मे विभिन्न सस्थाओ के महत्व को प्रतिपादित करते है। वे मानते है कि राजनीतिक सस्थाएँ ही हमारे राजनीतिक जीवन को आधार प्रदान करती हैं। इस उपागम के समर्थक राज्य, सरकार, सरकार के विभिन्न अंग, उसके सगठन के नियम, नागरिको के अधिकार, कर्तव्य, इत्यादि के अध्ययन पर बल देते हैं। वस्तुतः ये वैध एवं औपचारिक सस्थाओ जैसे राष्ट्रपति,

प्रधानमन्त्री, ससद, राज्यपाल, आदि के पद एवं भूमिका के अध्ययन पर बल देते हैं । संस्थागत दृष्टिकोण से भारतीय राजनीति का अध्ययन करने वाले विद्वानो मे प्रमुख है :

1. R J. Venkateswaran — *Cabinet Government in India*, 1967
   आर० जे० वेकटेश्वरन — केबिनेट गवर्नमेण्ट इन इण्डिया, 1967
2. W H. Morris Jones — *Parliament in India*, 1957
   डब्ल्यू० एच० मॉरिस जोन्स — पार्लियामेण्ट इन इण्डिया, 1957
3. A. B. Lal — *The Indian Parliament*, 1956
   ए० बी० लाल — दि इण्डियन पार्लियामेण्ट, 1956
4. J. R. Siwach — *The Indian President*, 1971
   जे० आर० सिवाच — दि इण्डिया प्रेसीडेण्ट, 1971
5. B. B. Jena — *Parliamentary Committees in India*, 1956
   बी० बी० जेना — पार्लियामेण्ट्री कमेटीज इन इण्डिया, 1956

वस्तुत इन अध्येयताओ ने भारत की राजनीतिक संस्थाओ का अध्ययन 'सरचनात्मक' (Structural) दृष्टि से ही किया है और उनमे 'प्रकार्यात्मक पहलू' (Functional aspect) की उपेक्षा पायी जाती है ।

अब यह बात स्पष्ट हो गयी है कि औपचारिक सस्थाओ के अतिरिक्त अनेक अनौपचारिक सस्थाएँ एवं तत्व भी राजनीति मे प्रभावकारी भूमिका अदा करते हैं । समकालीन विद्वानो ने स्पष्ट कहा है कि केवल सस्थाओ व कानूनी शासकीय ढांचे का ज्ञान ही राजनीति के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट नही करता ।

(4) राजनीतिक-समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण (Politico-Sociological approach to the study of Indian Politics)—कैटलिन ने तो स्पष्ट कहा है कि राजनीति संगठित समाज का अध्ययन है और इसलिए समाजशास्त्र से उसको अलग नही किया जा सकता । समाजशास्त्र अपनी उत्पत्ति के प्रारम्भिक काल से ही राजनीतिक प्रक्रियाओ एव संस्थाओ का अध्ययन कर रहा है । आधुनिक काल मे अनेक राजनीतिशास्त्रियो ने राजनीतिक प्रक्रियाओं की वास्तविकता को समझने के लिए उन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो का प्रयोग किया है जो राजनीतिक व्यवहारो एव घटनाओ पर प्रकाश डालते है । यह बात सर्वविदित है कि कोई भी राजनीतिक कार्य व सस्था सामाजिक व्यवस्था से अलग नही होती है । राजनीतिक व्यवस्था मे भाग लेने वालो की सामाजिक पृष्ठभूमि, इनकी सामाजिक दशा व मूल्यो का समुचित महत्व होता है । राजनीति मे होने वाली प्रक्रियाओ का अध्ययन एक व्यापक सामाजिक सन्दर्भ मे ही उचित प्रकार से हो सकता है ।

भारतीय राजनीति के सन्दर्भ मे जो अध्ययन हुए हैं उनमे जहां एक ओर यह दिखाने की प्रवृत्ति पायी जाती है कि सामाजिक प्रवृत्तियो का राजनीतिक प्रवृत्तियों पर अधिक व्यापक प्रभाव पड़ा है, वहां दूसरी ओर यह भी प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक प्रवृत्तियो को मोड़ने मे सक्षम है । उदाहरणार्थ, प्रारम्भिक अध्ययन चाहे वे नारमन डी० पामर द्वारा किये गये हो अथवा फिलिप्स द्वारा, उनमे यह दिखाया गया है कि सामाजिक प्रवृत्तियो का राजनीतिक प्रवृत्तियो पर ज्यादा प्रभाव है । बाद के अध्ययनो मे जैसे रजनी कोठारी और रूडोल्फ आदि ने यह दिखाया है कि राजनीतिक प्रवृत्तियो का सामाजिक प्रवृत्तियो पर ज्यादा व्यापक प्रभाव पड़ता है । भारतीय राजनीति का राजनीतिक-समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने वाले प्रमुख विद्वान इस प्रकार हैं :

1. Rajni Kothari — *Caste in Indian Politics*, 1970
   रजनी कोठारी — कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स, 1970

2. F. G. Bailey — *Politics and Social Change*, 1963
एफ० जी० बेले — पॉलिटिक्स एण्ड सोशल चेन्ज, 1963
3. L. & S. Rudolph — *The Modernity of Tradition*, 1967
एल० एण्ड एस० रूडोल्फ — दि मोर्डनिटी ऑफ ट्रेडिशन, 1967
4 R. Bhaskaran — *Sociology of Politics*, 1967
आर० भास्करन — सोशियोलोजी ऑफ पॉलिटिक्स, 1967
5. Ghanshyam Shah — *Caste Associations and Political Process in Gujrat* 1975
घनश्याम शाह — कास्ट एसोसिएशन्स एण्ड पॉलिटिकल प्रोसेज इन गुजरात, 1975

अधिकाश समाजशास्त्रीय अध्ययन पश्चिमी अवधारणाओ के आधार पर हुए है। विद्वान लेखकों ने पश्चिमी अवधारणाओ के परिप्रेक्ष्य मे भारतीय राजनीति को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है जिससे कहीं-कही असंगति का बोध होता है।

(5) **भारतीय राजनीति के अध्ययन का व्यवहारवादी दृष्टिकोण** (Behavioural approach to the study of Indian Politics)—व्यवहारवादी उपागम 'नये राजनीति विज्ञान' से इतना अधिक जुडा हुआ है कि इसे राजनीति के वैज्ञानिक अध्ययन का सहचर कहा जा सकता है। व्यवहारवादी उपागम विश्लेषण की इकाई के रूप मे सस्थाओ की अपेक्षा व्यक्ति तथा समूह के आचरण के अध्ययन पर वल देता है। व्यवहारवाद के अध्ययन की इकाई मानव का ऐसा व्यवहार है जिसका प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पर्यवेक्षण, मापन और सत्यापन किया जा सकता है। **डेविड ट्रूमैन** के अनुसार, "व्यवहारवादी उपागम से अभिप्राय है कि अनुसन्धान क्रमबद्ध हो और अनुभवात्मक तरीको का प्रयोग किया जाये।"

भारत के चुनावो मे मतदान व्यवहार का अध्ययन करते समय अधिकाश विद्वानो ने व्यवहारवादी उपागम का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित है.

1. A. H. Somjee — *Voting Behaviour in an Indian Village*, 1959
ए० एच० सोमजी — वोटिंग बिहेवियर इन एन इण्डियन विलेज, 1959
2. V. M Sirsikar — *Political Behaviour in India*, 1965
वी० एम० सिरसिकर — पॉलिटिकल बिहेवियर इन इण्डिया, 1965
3. S. P. Varma & Iqbal Narain — *Voting Behaviour in a Changing Society, A Case Study of Rajasthan*, 1972
एस० पी० वर्मा एव इकबाल नारायण — वोटिग बिहेवियर इन ए चेन्जिग सोसायटी, ए केस स्टडी ऑफ राजस्थान, 1972
4. V. M. Sirsikar — *Sovereign without Crowns*, 1981
वी० एम० सिरसिकर — सावरेन्स विदाउट क्राउन्स, 1981
5. O P. Goyal — *Caste and Voting Behaviour*, 1981
ओ० पी० गोयल — कास्ट एण्ड वोटिंग बिहेवियर, 1981
6. I Ahmed — *Muslim Political Behaviour—A Study of the Muslim Strategies in Electoral Politics*, 1975
इमतियाज अहमद — मुस्लिम पॉलिटिकल बिहेवियर—ए स्टडी ऑफ दि मुस्लिम स्ट्रेटजिज इन इलेक्टोरल पॉलिटिक्स, 1975

मतदान व्यवहार के इन अध्ययनो से भारतीय राजनीति के अन्तरंग को समझने में काफी

सहायता मिलती है। इनसे पता लगता है कि भारत मे धार्मिक आधार पर भी दलों का निर्माण हुआ है तथा चुनावो मे समर्थन और मत प्राप्त करने मे भी धर्म का सहारा लिया जाता है। इस प्रकार का प्रभाव देहात के स्तर पर अधिक देखने को मिलता है। चुनावो मे जाति, सम्पत्ति, व्यक्तिगत प्रभाव और क्षेत्रीयता की भूमिका का स्पष्टीकरण भी इन अध्ययनो से होता है। यह भी पता लगता है कि भारत की वर्ग सरचना ने भी चुनावो को किस प्रकार प्रभावित किया है। भारत मे जिनके पास धन है वे चुनावो मे बाजी मार ले जाते है तथा मध्य वर्ग और निम्न वर्ग मूकदर्शक बना खडा रहता है।

(6) **भारतीय राजनीति के अध्ययन का 'राजनीतिक विकास' दृष्टिकोण** (Political development approach to the study of Indian Politics)—एशिया और अफ्रीका के नवोदित राज्यो मे होने वाले उलट-फेर और परिवर्तन को समझने के लिए 'राजनीतिक विकास' का सप्रत्यय विकसित किया गया। 'राजनीतिक विकास' का दृष्टिकोण इतना व्यापक बनाया गया कि वह राजनीतिक सस्थाओ और सरचनाओ के विश्लेषण के अलावा सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र की परिस्थितिकीय शक्तियो को भी विश्लेपण मे विशेष रूप से सम्मिलित कर सकें। 'राजनीतिक विकास' राजनीतिक संस्थाओ का विभिन्नीकरण और विशेषीकरण तथा राजनीतिक सस्कृति का ऐसा बढ़ता हुआ लौकिकीकरण है जिससे जनता मे समानता और राजनीतिक व्यवस्था मे कार्यक्षमता तथा उसकी उप-व्यवस्थाओ की स्वायत्तता बढ जाय।

राजनीतिक विकास के अर्थ को लेकर, विचारको मे मतभेद बना हुआ है। उदाहरण के लिए, स्पर्ट, एमर्सन, लिपसेट, कोलमैन और कटराइट ने राजनीतिक विकास को आर्थिक विकास की राजनीतिक पूर्वशर्त के रूप मे समझने का प्रयास किया है। जबकि रोस्टोव जैसे अर्थशास्त्री ने इसको औद्योगिक समाजो की विशेष राजनीति बताया है। गुन्नार मिर्डल और लरनर जैसे समाजशास्त्रियो ने राजनीतिक विकास को राजनीतिक आधुनिकीकरण का पर्याय बताया है। बिंडर इसको राष्ट्रीय राज्य का प्रचालक या सघटक मानता है। रिग्स ने इसकी व्याख्या प्रशासकीय एव कानूनी विकास के आधार पर की है। डायच और फार्ल्स ने इसको जनसचारण और जनसहभागिता माना है। आमण्ड और कोलमैन राजनीतिक विकास को लोकतन्त्र का पर्याय कहते है। ब्लेक, आयन्स्टैड तथा कोर्न होजर ने राजनीतिक विकास को सामाजिक परिवर्तन को बहुदिशा युक्त प्रक्रिया के एक पहलू के रूप मे विवेचित किया है।

भारत जैसे नवस्वतन्त्र राष्ट्र के राजनीतिक विकास का अर्थ यह होता है कि एक प्राचीन देश अपनी पुरानी परम्परा और विविधता को बनाये रखते हुए, आधुनिक युग की सबसे अच्छी बातो को ग्रहण करने की कोशिश करता है। भारत मे राजनीति, मुख्यत. देश की एकता को बनाये रखने की राजनीति है। यह स्वीकारा जाता है कि देश के विकास का काम जरूरी है मगर देश की एकता से ज्यादा जरूरी नही। किसी भी परिवर्तन को इस दृष्टि से देखा जाता है कि उससे देश की एकता को बल मिलेगा या नही। नतीजा यह है कि विकास के काम मे जल्दबाजी या व्यग्रता नही की जाती और हर काम मे अनिश्चित, असमजस और जरूरत से ज्यादा समझौते की प्रवृत्ति दिखायी पडती है।

भारत के विकास का अनूठापन इस बात मे है कि आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन और विकास की महत्वपूर्ण बातें ऊपर से तय की जाने पर भी लोकतन्त्रीय और स्वतन्त्र राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यान्वित की जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि कुछ विचारों के प्रभाव से जो राजनीतिक परिवर्तन हो रहे हैं, उनमे ऐसे तत्वो का हाथ है जैसे राजनीतिक स्पर्द्धा मे तीव्रता, शक्ति और प्रभाव का विस्तार तथा राजनीति प्रक्रिया मे बहुजन वर्ग भाग लेगा। इसमें लोगो को डण्डे के जोर पर इच्छित दिशा मे हाँकने की कोशिश नही की जाती, वरन्

उन्हे निर्दिष्ट ढग से खुद अपना विकास करने को प्रेरित किया जाता है। व्यक्तियों और समूहो को राजनीतिक प्रक्रियाओ और सस्थाओं मे भाग लेने का अवसर दिया जाता है जिससे व्यवस्था का आधार व्यापक होता है। राज्य के हित को ऊपर रखकर व्यक्ति के हित को कुचलने के बजाय व्यक्ति के हित का राज्य के हित से सामजस्य किया जाता है। राज नेता जनता को समझाकर उसे साथ ले चलने का प्रयास करते है।

इसके अलावा भारत मे अधिकार और सत्ता पर किसी अभिजात वर्ग या सीमित शासक वर्ग का एकाधिकार नही है। नये-नये तत्वो को सत्ता मे भाग लेने का मौका दिया जाता है और सारे समाज को सत्ता मे भागीदार बनाने की कोशिश की जाती है। इस विषय मे भारत उन पश्चिमी देशों से भिन्न है, जहाँ तीव्र औद्योगिक क्रान्ति और सामाजिक परिवर्तन के युग मे राजनीतिक सत्ता केवल उच्च वर्ग के हाथ मे रही। इस तरह वह उन कम्युनिस्ट और गैर-कम्युनिष्ट अधिनायकवादी देशो से भी भिन्न है, जहाँ क्रान्ति के बाद पार्टी की आन्तरिक गुटबन्दी एवं सैनिक षड्यन्त्र के अलावा राजनीतिक दलो की गतिविधियो पर पाबन्दी लगा दी गयी और उन्हे देश के विकास मे राय देने या भाग लेने से वंचित कर दिया गया। भारत मे न तो राजनीतिक गतिविधियो पर रोक है, न उस पर अल्पसंख्यक उच्च वर्ग का कब्जा है। इसके विपरीत, आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी निर्णय राजनीतिक वाद-विवाद और लोकतन्त्रीय प्रक्रिया से किये जाते है।

भारत मे विकास का काम प्रशासन के विकसित और सुगठित ढांचे के अन्तर्गत शुरू हुआ। जितने भी महत्वपूर्ण कार्यक्रम बने, औद्योगीकरण, सामुदायिक विकास, शिक्षा, खेती का विकास, यहाँ तक कि स्थानीय स्वशासन—सब इसी नौकरशाही या प्रशासन तन्त्र के द्वारा संचालित थे। अब इसमे राजनीतिक तत्वो और मूल्यो का प्रवेश हो रहा है।

इस प्रकार भारव मे राष्ट्र-निर्माण की दो प्रक्रियाएँ चालू हैं। एक सरकारी प्रशासनिक प्रक्रिया है जो विकास योजना के कार्यों को बढ़ाने और उनमे एकसूत्रता रखने का यत्न कर रही है। दूसरी राजनीतिक प्रक्रिया है, जिससे एक ओर केन्द्रीय सत्ता या राजनीतिक केन्द्र की स्थापना हुई है, दूसरी ओर सत्ता का विकेन्द्रीयकरण हुआ है और उसमे नये तत्वो का प्रवेश हुआ है तथा नये संगठन और सस्थाएँ सक्रिय हो रही है।

भारत मे होने वाला परिवर्तन बहुत सीमा तक राजनीतिक सरकारी परिवर्तन है। भारत इस सिद्धान्त का अपवाद है कि आर्थिक-सामाजिक शक्तियाँ राजनीति और सरकार की नियामक होती है। भारत मे बहुत हद तक राज्य समाज का नियामक है। इसका अर्थ यह नही कि विकास की प्रक्रिया मे सामाजिक और आर्थिक शक्तियो का कोई हाथ नही। प्रत्युत ऐसा सम्भव है कि सत्ता के विकेन्द्रीयकरण से इन शक्तियो का प्रभाव बढ़े।

राजनीतिक विकास की दृष्टि से भारतीय राजनीति का अध्ययन करने वाले प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं :

1. Myron Weiner — *The Politics of Scarcity*, 1963
   मायरन वीनर — दि पॉलिटिक्स ऑफ स्कैरसिटी, 1963
2. Myron Weiner — *State Politics in India*, 1968
   मायरन वीनर — स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया, 1968
3. Iqbal Narain — *State Politics in India*, 1967
   इकबाल नारायण — स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया, 1967
4. B L Fadia — *State Politics in India, 2 Volumes*, 1984
   बी० एल० फड़िया — स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया, 2 वाल्यूम्स, 1984

5. Marcus Franda — *West Bengal and Federalising Process in India*
   मारकस फ्राण्डा — वेस्ट बंगाल एण्ड फेडरलाइजिंग प्रोसेस इन इण्डिया
6. Daya Krishna — *Political Development in India*, 1979
   दया कृष्ण — पॉलिटिकल डेवलपमेण्ट इन इण्डिया, 1979
7. Das Gupta — *Language Conflict and National Development*, 1970
   दास गुप्ता — लंग्वेज कॉनफ्लिक्ट एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट, 1970
8. Rajni Kothari — *State and Nation Building*, 1976
   रजनी कोठारी — स्टेट एण्ड नेशन बिल्डिंग, 1976
9. W. H. Morris Jones — *The Government and Politics of India*, 1974
   मॉरिस जोन्स — दि गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया, 1974

इकबाल नारायण और मायरन वीनर के ग्रन्थो मे राज्य राजनीति के विकास का अध्ययन मिलता है। मायरन वीनर की कृति 'पॉलिटिक्स ऑफ स्कैरसिटी' दबाव समूहो का अध्ययन है। प्रो० दया कृष्ण ने भारत के राजनीतिक विकास का विस्तार से अध्ययन किया है। रजनी कोठारी, हार्डग्रेव और मॉरिस जोन्स के अध्ययन भी राजनीतिक विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इन अध्ययनो मे सबसे बडी कमी यह है कि राजनीतिक विकास का अध्ययन आर्थिक विकास के परिप्रेक्ष्य मे कम हुआ है।

(7) **मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से भारतीय राजनीति का अध्ययन** (Anthropological approach to the study of Indian Politics)—मानवशास्त्रीय दृष्टि से भारतीय राजनीति के बहुत कम अध्ययन हुए है। मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण कानूनी, औपचारिक, संस्थानात्मक वर्णन की अपेक्षा राजनीतिक व्यवहार के विश्लेषण से अधिक सम्बन्धित रहा है। यह दृष्टिकोण 'फील्ड वर्क' और अवलोकन पर बल देता है। अध्ययनकर्ता जिस सामाजिक और राजनीतिक इकाई का अध्ययन करता है, उसमे घुल-मिल जाता है, उनकी सस्कृति, रीति-रिवाज और वेश-भूषा अपना लेता है और बाद मे अपने अनुभवो को लिपिवद्ध करता है। इस दृष्टिकोण के समर्थक राजनीतिक संस्थाओ और प्रक्रियाओ का अध्ययन सामाजिक-सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य में करने का प्रयत्न करते है। अध्ययनकर्ता अपनी आँखो से सूक्ष्म अवलोकन के आधार पर राजनीतिक यथार्थ से साक्षात्कार करने का प्रयत्न करते है। एफ० जी० बैले, एस० सी० दुबे, योगेश अटल, ए० एच० सोमजी, आदि मानवशास्त्रियो ने भारतीय राजनीति का अध्ययन इसी दृष्टिकोण के आधार पर करने का प्रयत्न किया है। ग्रामीण राजनीति, स्थानीय सस्थाओ एवं पचायती संस्थाओ के अध्ययन प्राय: मानवशास्त्रियो ने ही किये है। इस दृष्टि से भारतीय राजनीति से सम्बन्धित महत्वपूर्ण अध्ययन इस प्रकार है :

1. F. G. Bailey — *Politics and Social Change in Orissa*, 1959, 1963
   एफ० जी० बैले — पॉलिटिक्स एण्ड सोशल चेन्ज इन उड़ीसा, 1959, 1963
2. A. H. Somjee — *Voting Behaviour in an Indian Village, Baroda*, 1959
   ए० एच० सोमजी — वोटिंग बिहेवियर इन एन इण्डियन विलेज, बड़ौदा, 1959
3. S. C. Dubey — *Indian Village*, 1955
   एस० सी० दुबे — इण्डियन विलेज, 1955
4. Yogesh Atal — *Local Communities and National Politics*, 1971
   योगेश अटल — लोकल कम्यूनिटीज एण्ड नेशनल पॉलिटिक्स, 1971

(8) **गांधीवादी दृष्टिकोण से भारतीय राजनीति का अध्ययन** (Gandhian approach to the study of Indian Politics)—प्रो० वी० आर० मेहता का मत है कि पश्चिम के औजारो से भारतीय जन ... जा सकती। डॉ० मेहता का

यन मॉडल की ओर है। 'वैकल्पिक ढांचे' की तलाश में डॉ० मेहता ने अपनी पुस्तक 'माडर्नाइजेशन एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया' में संसदीय व्यवस्था (उदारवादी जनतन्त्रीय विचारधारा) के औचित्य का प्रश्न व्यापक रूप से उठाया है। वे वर्तमान राजनीति, अर्थ-व्यवस्था तथा सामाजिक क्षेत्र में आये बिखराव का मूल कारण इस व्यवस्था में निहित विसंगतियों में देखते हैं। मार्क्सवादी जब तक इस देश के इतिहास, संस्कृति और परम्परा को नहीं समझ लेते, वे आधुनिकीकरण के माध्यम नहीं बन सकते।

गाधीयन मॉडल की अवहेलना कर पश्चिम का अन्धानुकरण लेखक की दृष्टि में, सबसे बड़ी भूल थी। डॉ० मेहता गाधीवादी व्यवस्था को भारतीय जीवन के सर्वाधिक निकट पाते हैं। उनके तर्कों का जोर इसी पर है कि श्री अरविन्द, विवेकानन्द और गाधी भारतीय समाज की एकैयिकता, विविधता और झंझावतों के उपरान्त जीवित रहने की क्षमता को समझने में सफल हुए।

गाधीवादी चिन्तक श्रीमन्ननारायण अग्रवाल ने भी अपने लेखों एवं ग्रन्थों के माध्यम से गाधीवादी दृष्टि से भारतीय राजनीति का विश्लेषण किया है।

(9) **मार्क्सवादी दृष्टिकोण से भारतीय राजनीति का अध्ययन** (Marxist approach to the study of Indian Politics)—मार्क्सवादी विचारकों का मत है कि पश्चिमी लेखकों द्वारा प्रतिपादित उपागम नये राज्यों की राजनीति का सन्तोषजनक स्पष्टीकरण देने में असफल रहे हैं। मार्क्सवादी-लेनिनवादी दृष्टिकोण के प्रयोगकर्ता निम्नलिखित मान्यताएं रखते हैं: (क) मार्क्सवादी-लेनिनवादी राज्य की औपचारिक संरचनाओं को बहुत कम महत्व देते हैं। (ख) इनकी मान्यता है कि विकासशील राज्यों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्याओं की मार्क्सवादी-लेनिनवादियों की राज्यशक्ति, वर्ग और औद्योगीकरण की धारणाओं से अधिक अनुकूलता है। (ग) इनकी मान्यता है कि राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए समग्रवादी दृष्टिकोण का अपनाना आवश्यक है। अर्थात् व्यष्टि स्तर पर समष्टि स्तर को इकाई के लिए चुनाव उपयुक्त है। इनकी मान्यता है कि व्यष्टि स्तर पर किये गये अनेक अध्ययनों को जोड़कर सामान्यीकरण करने का प्रयास विफल हो जाता है। (घ) मार्क्सवादी सामाजिक जीवन में शक्ति के आर्थिक पहलू को सर्वोच्चता प्रदान करते हैं। (ङ) वे मानते हैं कि समाज में आर्थिक शक्ति से सम्पन्न वर्ग का प्रभुत्व रहता है। (च) राजनीतिक शक्ति के आर्थिक शक्ति के अधीन होने की बात को वे स्वीकार करते हैं। अर्थात् समाज में विद्यमान सभी संस्थाएं आर्थिक शक्ति के समक्ष नतमस्तक रहती हैं।

जहाँ तक मार्क्सवादी उपागम के परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति और राजनीतिक व्यवस्था के विश्लेषण के अध्ययन का सवाल है, अभी तक कोई सम्पूर्ण और सर्वमान्य अध्ययन सामने नहीं आया है। फिर भी कुछ प्रयत्न अवश्य किये जा रहे हैं। इस दृष्टि से निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है:

1. रजनी पामदत्त — **आज का भारत (1970 का हिन्दी संस्करण)**
2. अयोध्यासिंह — **भारत का मुक्ति संग्राम, 1977**
3. A. R. Desai — *Social Background of Indian Nationalism*, 1977
   ए० आर० देसाई — **भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, 1977**
4. ए० आर० देसाई — **भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियाँ, 1978**
5. V. R. Metha — *Ideology, Modernisation and Politics in India*, 1983
   वी० आर० मेहता — **आइडियोलॉजी, माडर्नाइजेशन एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया, 1983**

रजनी पामदत्त की पुस्तक में साम्राज्यवाद के इतिहास और जन आन्दोलन के विकास का विश्लेषण किया गया है। लेखक ने भारत के भविष्य की चर्चा करते हुए लिखा है कि "भारत

जैसी सामाजिक स्थिति वाले देश मे यह स्पष्ट है कि जनतन्त्र का सर्वाधिक उचित स्वरूप ससदीय जनतन्त्र हो वलिक ऐसा स्वरूप हो जो जनता की स्थितियो और जीवन के काफी अनुरूप हो और मेहनतकश किसानो की ग्रामीण परिषदो को कारखाना मजदूरो की परिषदो तथा अन्य ऐसे सगठनो से जोड़ता हो। जनतन्त्र का यह स्वरूप ही सोवियत जनतन्त्र है।" स्वाधीनता आन्दोलन को लेकर कई पुस्तके लिखी गयी है, लेकिन इनमे से कोई भी पुस्तक इस वात को रेखांकित करने का प्रयास नही करती कि इन आन्दोलनो मे भारत की वहुसख्यक मजदूर, किसान, जनता तथा उसका प्रतिनिधित्व करने वाले संगठनो का योगदान कितना महत्वपूर्ण था। अयोध्यासिह की पुस्तक 'भारत का मुक्ति सग्राम' इस विषय पर अपने ढग की पहली पुस्तक है जिसमे आर्थिक-सामाजिक शक्तियो के विकास के सन्दर्भ मे राष्ट्रीय आन्दोलन का अध्ययन किया गया है। ए० आर० देसाई के ग्रन्थ का मूल अभिप्राय भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि को अभिचित्रित करना है। नयी सामाजिक शक्तियो की प्रकृति और भारतीय समाज के विकास के नियम को समझने का प्रयत्न किया गया है। अपनी दूसरी पुस्तक 'भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियाँ' मे देसाई लिखते है कि "आजादी के वाद समाज को विकास के पूँजीवादी रास्ते के मुताविक रूप दिया जा रहा है। भारत में आजादी के वाद जिस राज्य का उदय हुआ है वह पूँजीवादी राज्य है। जो सविधान वनाया गया है, वह बुर्जुआ सविधान है और नेतृत्व पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है तथा वह अर्थव्यवस्था और समाज को पूँजीवादी रास्ते के अनुकूल रूप दे रहा है।" समाजवादी आदर्श का नारा व्यामोह पैदा करने तथा आम जनता को सभ्रमित करने के लिए खड़ा किया गया धोखा है, असली इरादो और व्यवहार को पूँजीवादी राह पर विकास के अनुकूल वना लिया गया है। भारत मे जो रूपान्तरण लाया जा रहा है वह पूँजीवादी रास्ते से हो रहा है और भारत मे स्वतन्त्रता के वाद जिस राज्य का उदय हुआ है वह पूँजीवादी राज्य है।

प्रो० ए० आर० देसाई भारतीय सविधान को बुर्जुआ सविधान मानते है। उन्ही के शब्दो मे, "बुर्जुआ सम्पत्ति अधिकारो की गारण्टी देकर सविधान ने 'एक बुर्जुआ सविधान का निर्णायक चरित्र' पा लिया है और सविधान के इस बुनियादी नियम की समरूपता मे यह राज्य तार्किक दृष्टि से एक बुर्जुआ राज्य बन गया।"[1]

वे आगे लिखते है, आजादी के बाद वनाये गये सविधान मे सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार घोषित किया और काम करने के अधिकार को नही। वस्तुत ऐसे देश मे जहाँ शहरी और ग्रामीण बेकारो की सख्या करोड़ो मे हो वहाँ सविधान मे काम करने के अधिकार को शामिल किया जाना अनिवार्य जरूरत है। काम की गारण्टी (जो जिन्दा रहने की शर्त है) सम्पत्तिहीन नागरिको का मूल हित है और इसलिए यह उस राज्य का प्राथमिक कर्तव्य है जो जनता का प्रतिनिधि होने का दावा करता है। दूसरी ओर सम्पत्ति के अधिकार को गारण्टी देकर यह सम्पत्तिवान अल्पसख्यक के मूल हित का रक्षक बन जाता है। वह राज्य जो काम के अधिकार की गारण्टी नही देता, प्रारम्भ से ही सम्पत्तिहीन वर्गों का प्रतिनिधि कहलाने के अपने दावे को खो देता है। यह अपनी अभिधारणाओ द्वारा सम्पत्तिवान वर्गों का प्रतिनिधि, भारत मे आधारभूत रूप से पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधि वन जाता है।

प्रोफेसर वी० आर० मेहता ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'आइडियोलॉजी माडर्नाइजेशन एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया' (*Ideology Modernisation and Politics in India*) मे भारतीय राजनीति के अध्ययन हेतु मार्क्सवादी-लेनिनवादी मॉडल की असंगतता का विवेचन किया है। वे यह तो मानते हैं कि मार्क्सवादी विचारधारा ने समाज मे स्थित विषमता, शोषण, आदि को

---

1 ए० आर० देसाई : **भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियाँ** (मेकमिलन, 1978)।

स्पष्टतः उजागर किया है। राष्ट्रीय आय में समान भागीदारी की बात भी युक्तिसंगत है। सत्ता के ढांचे में उनकी घुसपैठ भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। लेकिन इसमे आगे कुछ नहीं, वे इस देश का समूचा तन्त्र हथियाने में क्यो असफल रहे। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए डॉ० मेहता का कहना है कि चूंकि भारतीय समाज की उनकी व्याख्या अशत' ही सही है, इसलिए वे शासनतन्त्र पर छा नहीं सके। उदारवादियो की तरह मार्क्सवादी भी भारतीय ग्रामीण समुदाय के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्रिया-कलापो को समझने में सर्वथा असफल रहे है।

निष्कर्ष
(CONCLUSION)

इस प्रकार आधुनिक भारतीय राजनीति का अध्ययन कई उपागमो (approaches) से किया जा सकता है। उपागमो की भिन्नता अनन्त स्तरो पर होती है। प्रथम, तो यह भिन्नता भारतीय राजनीतिक वास्तविकता के बारे में अपनायी गयी दृष्टि की भिन्नता के कारण हो सकती है। दूसरे, दृष्टिकोणो की भिन्नता का कारण भारतीय राजनीति के अध्ययन की प्रणालियो के बारे में मौजूदा मतभेद भी हैं। तीसरे, एक प्रश्न यह है कि क्या भारतीय राजनीति कोई अपने आप में पूर्ण एवं स्वतन्त्र विषय है? भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में दृष्टिकोण की भिन्नता इस विश्वास को लेकर पैदा हुई है कि समग्र भारतीय राजनीतिक वास्तविकता को किसी एक दृष्टि विशेष से ठीक-ठीक समझना पूर्णतया असम्भव है। यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि अध्ययन करने वाला किस दिशा से इस विषय में प्रवेश करना चाहता है। आजकल मानव-शास्त्रीय और राजनीतिक विकास के दृष्टिकोण से अध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

2

भारतीय संविधान सभा—रचना और दृष्टिकोण

[INDIAN CONSTITUENT ASSEMBLY—STRUCTURE AND APPROACH]

स्वाधीन राष्ट्र का अपना एक संविधान होता है जिसके अनुसार उस राष्ट्र की शासन-व्यवस्था का संचालन होता है। वही सविधान राष्ट्रीय विकास मे भरपूर योगदान दे सकता है, जिसे उस राष्ट्र की जनता ने स्वयं वनाया हो अथवा जिसे उस देश की सविधान-निर्मात्री सभा द्वारा बनाया गया हो। सविधान-निर्मात्री सभा द्वारा सविधान का निर्माण स्वाधीन राष्ट्र का लक्षण है। अपने निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा सविधान निर्माण के अधिकार की मांग का सीधा सम्बन्ध 'स्वाधीनता की मांग' से ही है।

संविधान सभा से तात्पर्य
(MEANING OF THE CONSTITUENT ASSEMBLY)

संविधान निर्माण-के लिए गठित प्रतिनिधि सभा को **'सविधान सभा'** की सज्ञा दी जाती है। पूर्ण प्रभुता-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रो मे जहाँ भी लिखित सविधान है उनका निर्माण जनता ने प्राय: संविधान सभाओ के माध्यम से किया है। सविधान सभा की प्रेरणा का स्रोत 17वी और 18वी शताब्दी की लोकतान्त्रिक क्रान्तियाँ रही है। इन क्रान्तियो ने इस विचार को जन्म दिया कि शासन के मूलभूत कानूनो का निर्माण नागरिको की एक विशिष्ट प्रतिनिधि सभा द्वारा किया जाना चाहिए। इगलैण्ड के समतावादियो तथा हेनरी मेन ने सविधान सभा के विचार का प्रसार किया किन्तु सर्वप्रथम अमरीका और फ्रास मे इस विचार को क्रियान्वित किया गया। जैनिग्ज के अनुसार, "संविधान सभा एक ऐसी प्रतिनिध्यात्मक सस्था होती है जिसे नवीन सविधान पर विचार करने और अपनाने या विद्यमान सविधान मे महत्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए चुना जाता है।"

भारत में संविधान सभा की अवधारणा का विकास
(EVOLUTION OF THE CONCEPT OF THE CONSTITUENT ASSEMBLY IN INDIA)

भारत मे सविधान सभा की मांग एक प्रकार से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की मांग थी, क्योंकि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का यह स्वाभाविक अर्थ था कि भारत के लोग स्वय अपने राजनीतिक भविष्य का निर्णय करें। सविधान सभा के सिद्धान्त के सर्वप्रथम दर्शन 1895 के **'स्वराज्य विधेयक'** (Swarajya Bill) में होते है जिसे तिलक के निर्देशन मे तैयार किया गया था। इसे तिलक की दूरदर्शिता कहा जाना चाहिए कि वे 19वी सदी मे इस सम्बन्ध मे सोच सके। 20वी सदी मे इस विचार की ओर सर्वप्रथम सकेत महात्मा गांधी ने किया, जब उन्होने 1922 मे अपने विचार

व्यक्त करते हुए कहा कि "भारतीय संविधान भारतीयों की इच्छानुसार ही होगा।" 1924 मे पं० मोतीलाल नेहरू ने ब्रिटिश सरकार के सम्मुख संविधान सभा के निर्माण की मांग प्रस्तुत की, किन्तु उस समय सरकार की ओर से इस पर कोई ध्यान नही दिया गया। इसके बाद औपचारिक रूप मे सविधान सभा के विचार का प्रतिपादन एम० एन० राय ने किया और इस विचार को लोकप्रिय बनाने एव इसे मूर्त रूप देने का कार्य प० जवाहरलाल नेहरू ने किया। प्रमुखतया उन्ही के प्रयत्नो से काग्रेस ने औपचारिक रूप मे घोषणा की थी कि "यदि भारत को आत्मनिर्णय का अवसर मिलता है तो भारत के सभी विचारो के लोगो की प्रतिनिधि सभा बुलायी जानी चाहिए, जो सर्वसम्मत संविधान का निर्माण कर सके। यही संविधान सभा होगी।" इस समय तक सविधान सभा के विचार ने पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर ली। अत. अनेक प्रान्तीय विधानसभाओ और केन्द्रीय विधानमण्डल द्वारा इस प्रकार के प्रस्ताव पारित किये गये। दिसम्बर, 1936 के लखनऊ काग्रेस अधिवेशन मे सविधान सभा के अर्थ और महत्व की व्याख्या की गयी और 1937 व 1938 के अधिवेशनो मे सविधान सभा की मांग को दोहराया गया। 1938 के काग्रेस अधिवेशन मे इस मांग को दोहराते हुए इस आशय का प्रस्ताव पारित किया गया कि "एक स्वतन्त्र देश के संविधान निर्माण का एकमात्र तरीका संविधान सभा है। सिर्फ प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता में विश्वास न रखने वाले ही इसका विरोध कर सकते हैं।" उसी समय महात्मा गाधी ने कहा कि "सविधान सभा से इस देश की साम्प्रदायिक अशान्ति दूर होगी और वह देश को उचित राजनीतिक दिशा प्रदान करेगी।" उन्होने आगे कहा कि "हम एक ऐसी संविधान सभा चाहते हैं जो भारतीय मस्तिष्क का वास्तविक दर्पण हो।"

भारतीय जनता की सविधान सभा की इस मांग का ब्रिटिश शासन द्वारा विरोध किया जाना तो स्वाभाविक था ही, देशी नरेशो और यूरोपवासियो जैसे कुछ निहित स्वार्थ वाले वर्गों द्वारा भी इस प्रस्ताव से अपने विशेषाधिकार खतरे मे पड़ते देख इसका विरोध किया गया और उदारवादियो ने इसे अति प्रजातान्त्रिक बताया। शुरू मे मुस्लिम लीग ने इसका विरोध किया, किन्तु 1940 मे पाकिस्तान प्रस्ताव के प्रतिपादन के लिए दो पृथक्-पृथक् संविधान सभाओ की मांग प्रारम्भ कर दी। इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि अछूत जाति सघ के अध्यक्ष डॉ० अम्बेडकर ने भी सविधान सभा की मांग के प्रति उदासीनता और आंशिक विरोध का भाव अपनाते हुए कहा था कि "एक सविधान सभा की आवश्यकता नही है और 1935 ई० के अधिनियम के आधार पर कार्य किया जा सकता है।" बाद के वर्षो मे उन्होंने सविधान निर्माण में जो महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, उससे स्पष्ट है कि उन्होने भ्रान्तिवश ही यह बात कही थी।

यद्यपि ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता की सविधान स[illegible]ा की मांग को स्पष्टतया स्वीकार करने के पक्ष मे नही थी, किन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध की आवश्यकताओ और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियो ने उसे ऐसा करने के लिए विवश कर दिया। अत अगस्त 1940 के प्रस्ताव मे ब्रिटिश सरकार ने कहा कि "भारत का संविधान स्वभावत स्वयं भारतवासी ही तैयार करेंगे।" इसके बाद 1942 की क्रिप्स योजना के द्वारा ब्रिटेन ने स्पष्टतया स्वीकार किया कि भारत मे एक निर्वाचित सविधान सभा का गठन होगा, जो युद्ध के बाद भारत के लिए संविधान तैयार करेगी। लेकिन भारतीयो द्वारा अन्य महत्वपूर्ण आधारो पर क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया गया। अन्त मे 1946 की केबिनेट मिशन योजना मे भारतीय संविधान सभा के प्रस्ताव को स्वीकार कर इसे व्यावहारिक रूप प्रदान कर दिया गया।

केबिनेट मिशन योजना और संविधान सभा का निर्माण

(CABINET MISSION PLAN AND FORMATION OF CONSTITUENT ASSEMBLY)

24 मार्च, 1946 को 'केबिनेट मिशन' दिल्ली पहुँचा। 16 मई, 1946 को मिशन ने

अपनी योजना प्रकाशित की। संविधान निर्माण के प्रस्तावित सगठन के बारे में मिशन का विचार था कि वयस्क मताधिकार के आधार पर सविधान सभा का गठन वर्तमान स्थितियो मे असम्भव है। अतः व्यावहारिक उपाय यही है कि प्रान्तीय विधानसभाओ का निर्वाचनकारी सस्थाओ के रूप में उपयोग किया जाय।

इस संविधान सभा मे कुल 389 सदस्य हो जिनमे 292 ब्रिटिश प्रान्तो के प्रतिनिधि, 4 चीफ कमिश्नर क्षेत्रो के प्रतिनिधि और 93 देशी रियासतो के प्रतिनिधि हो। योजना मे यह कहा गया कि (1) प्रत्येक प्रान्त द्वारा भेजे जाने वाले सदस्यो की सख्या उसकी जनसख्या के आधार पर निश्चित की जाय और इस सम्बन्ध मे 10 लाख की जनसख्या पर एक प्रतितिधि लेने का नियम अपनाया जाय। (ii) प्रान्तो को इस आधार पर दिये गये स्थान उनमे निवास करने वाली प्रमुख जातियो मे उनकी सख्या के आधार पर विभाजित कर दिये जाये। प्रत्येक जाति के प्रतिनिधि उस जाति के सदस्यो द्वारा निर्वाचित किये जाये। मतदाताओ को तीन वर्गो मे बाँटने का निश्चय किया गया—साधारण, मुसलमान तथा सिख (केवल पजाब)। (iii) रियासतो को भी जनसंख्या के आधार पर ही प्रतिनिधित्व देने का निश्चय किया गया, किन्तु उनके प्रतिनिधियो के चुनाव का ब्रिटिश भारत से संविधान सभा के लिए चुने गये प्रतिनिधियो की 'समझौता समिति' और देशी रियासतो की तरफ से बैठायी गयी समिति के बीच मे आपसी बातचीत द्वारा तय होना था। (iv) प्रान्तो के अलग सविधानो की भी इस योजना मे व्यवस्था की गयी। इसके लिए कहा गया कि संविधान सभा की प्रारम्भिक बैठक के बाद सदस्य अपने आपको तीन वर्गों मे बाँट लेंगे—प्रथम, हिन्दू बहुमत वाले प्रान्तो के प्रतिनिधि; द्वितीय, मुस्लिम बहुमत वाले उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के प्रतिनिधि, और तृतीय, मुस्लिम बहुमत वाले उत्तर-पूर्वी प्रान्तो के प्रतिनिधि। इन तीन वर्गों द्वारा पहले अपने-अपने प्रान्तो और वर्गों के सविधान का निर्माण और तत्पश्चात् सघीय संविधान का निर्माण किया जायगा।

संविधान सभा के गठन और सविधान निर्माण की इस योजना मे कुछ दोष अवश्य ही थे, लेकिन इसके साथ ही तत्कालीन परिस्थितियो मे इससे अच्छी कोई योजना प्रस्तुत नही की जा सकती थी। योजना का एक प्रमुख गुण यह था कि मुस्लिम लीग की इच्छा के विरुद्ध केवल एक सविधान सभा की व्यवस्था की गयी थी, अतः कांग्रेस द्वारा इस योजना को स्वीकार कर लिया गया। मुस्लिम लीग द्वारा योजना की व्याख्या अपने ढग से की गयी और वर्गीय आधार पर संविधान निर्माण मे पाकिस्तान की स्थापना के बीज देखते हुए इस योजना को स्वीकार कर लिया गया। अन्य छोटे दलो द्वारा भी केबिनेट मिशन योजना को स्वीकार कर लिया गया।

संविधान सभा का गठन : चुनाव
(COMPOSITION OF THE CONSTITUENT ASSEMBLY : ITS ELECTION)

केबिनेट मिशन योजना के अनुसार जुलाई 1946 मे सविधान सभा के चुनाव हुए। संविधान सभा के लिए कुल 389 सदस्यो मे से, प्रान्तो के लिए निर्धारित 296 सदस्यो के लिए ही ये चुनाव हुए। चुनावों के परिणामस्वरूप सविधान सभा मे जो दलीय स्थिति उत्पन्न हुई, उसे पृष्ठ 16 पर दी गयी तालिका मे देखा जा सकता है।[1]

सविधान सभा मे अपनी स्थिति निर्बल देखकर मुस्लिम लीग ने सविधान सभा के बहिष्कार का निश्चय किया और 9 दिसम्बर, 1946 को सविधान सभा के प्रथम अधिवेशन मे मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि सम्मिलित नही हुए। अब लीग ने पाकिस्तान के लिए बिलकुल पृथक् संविधान सभा की माँग प्रारम्भ कर दी। कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार ने इस बात के प्रयत्न किये

---

[1] *The Framing of India's Constituent*—Ed. B Shiva Roa, p. 97.

कि लीग व्यर्थ का हठ छोड़ दे और संविधान सभा के कार्य मे सहयोग करे, किन्तु सभी प्रयत्न विफल हुए।

कांग्रेस	208
मुस्लिम लीग	73
यूनियनिस्ट पार्टी	1
यूनियनिस्ट मुस्लिम	1
यूनियनिस्ट शिड्यूल कास्ट	1
कृषक प्रजा पार्टी	1
अछूत जाति सघ	1
सिख (कांग्रेम के अतिरिक्त)	1
साम्यवादी	1
स्वतन्त्र (निर्दलीय)	8
	296

वस्तुत. भारत की संविधान सभा का गठन तीन चरणो मे पूरा हुआ। सर्वप्रथम, 'केबिनेट मिशन योजना' के अनुसार संविधान सभा के सदस्यो का निर्वाचन हुआ और कुल सदस्यो की संख्या 389 निश्चित की गयी थी। द्वितीय चरण की शुरूआत 3 जून, 1947 की विभाजन योजना से होती है और सविधान सभा का पुनर्गठन किया गया, जिसके अनुसार 324 प्रतिनिधि होते थे। तृतीय चरण देशी रियासतो से सम्बन्धित था और उनके प्रतिनिधि सविधान मे अलग-अलग समय मे सम्मिलित हुए। हैदरावाद ही एक ऐसी रियासत थी जिसके प्रतिनिधि सम्मिलित नही हुए। सविधान सभा के गठन के वाद 14 अगस्त, 1947 को जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि "स्वाधीनता और सत्ता अपने साथ उत्तरदायित्व लाती है। वह उत्तरदायित्व कव इस भारत के लोगो की प्रतिनिधि, प्रभुसत्ता सम्पन्न सविधान सभा के कन्धो पर है।"

संविधान सभा के प्रमुख सदस्य : प्रमुख संविधान-निर्माता
(MAKERS OF THE CONSTITUENT)

संविधान सभा मे पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ० भीमराव अम्वेडकर, के० एम० मुन्शी, गोपालास्वामी आयंगर, अल्लादि कृष्णास्गामी अय्यर, पट्टाभि सीतारमैया, श्रीमती दुर्गावाई, ठाकुरदास भार्गव, मौलाना अबुल कलाम आजाद का योगदान महत्वपूर्ण रहा। सविधान सभा मे नेहरू और पटेल शक्ति के केन्द्र-बिन्दु थे। किसी प्रश्न पर उनमे परस्पर मतभेद की स्थिति मे उनके इर्द-गिर्द समर्थक एकत्रित हो जाते थे, परिणामस्वरूप संविधान सभा में वहस-लम्वी चलती थी। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद अपने प्रभाव का खुलकर प्रयोग नही कर पाते थे क्योंकि वे सविधान सभा के अध्यक्ष थे। नेहरू आदर्शवादी थे तो प्रसाद और पटेल अनुभववादी और व्यावहारिक। डॉ० अम्वेडकर कानून के प्रकाण्ड पण्डित थे तो गोपालास्वामी आयगर भी वहुत योग्य और अनुभवी पुरुष थे। पटेल के प्रमुख परामर्शदाता के० एम० मुन्शी और वी० पी० मेनन थे तो नेहरू के परामर्शदाता कृष्णास्वामी अय्यर और बी० एन० राव थे। सविधान निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य के० एम० मुन्शी ने ही किया था क्योंकि काग्रेस दल की ओर से वे प्रारम्भ मे ही इस कार्य को कर रहे थे। मुस्लिम सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवक्ता होने के कारण मौलाना आजाद की वात को वड़े ध्यान से सुना जाता था।

संविधान सभा मे लगभग 250 सदस्यों ने भाषण दिये जिनमें से 200 से अधिक सदस्य सक्रिय रूप से बोले। संविधान सभा में हुई संवैधानिक बहसों में सदस्यों द्वारा सामान्यतः भाग लेने के बावजूद यह एक तथ्य है कि संविधान निर्माण से सम्बन्धित अधिकांश कार्य लगभग 50 व्यक्तियो ने किया। इनमे भी 12 से कम व्यक्तियो ने सशक्त नेतृत्व प्रदान किया और महत्वपूर्ण निर्णय लिये।

संविधान निर्माण की कहानी
(THE STORY OF THE CONSTITUTION MAKING)

जुलाई 1946 मे संविधान सभा के निर्वाचन हुए। कांग्रेस चाहती थी कि संविधान सभा यथाशीघ्र संविधान निर्माण का कार्य प्रारम्भ करे। जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस की ओर से एक विशेष समिति नियुक्त की जिसे संविधान सभा के लिए आवश्यक सामग्री जुटाना था। इस समिति ने सविधान सभा के कार्य-संचालन की आवश्यक प्रक्रिया तय की।

संविधान सभा का प्रथम अधिवेशन 9 दिसम्बर, 1946 को संसद भवन के केन्द्रीय कक्ष मे प्रारम्भ हुआ। डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा को सर्वसम्मति से अस्थायी अध्यक्ष चुना गया। इसके बाद सदस्यो ने अपने प्रत्यय पत्र पेश किये तथा रजिस्टर पर हस्ताक्षर किये। 11 दिसम्बर, 1946 को कांग्रेस के तपे हुए नेता, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद संविधान सभा के स्थायी अध्यक्ष निर्वाचित हुए। सविधान निर्माण की दिशा मे सबसे पहला काम था जवाहरलाल नेहरू द्वारा 'उद्देश्य प्रस्ताव'। यह प्रस्ताव 13 दिसम्बर, 1946 को प्रस्तुत किया गया था। प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए श्री नेहरू ने कहा, "मैं आपके सामने जो प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा हूँ उसमे हमारे उद्देश्यो की व्याख्या की गयी है, योजना की रूपरेखा दी गयी है और बताया गया है कि हम किस रास्ते पर चलने वाले हैं।" उद्देश्य प्रस्ताव मे भारत को एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता-सम्पन्न गणराज्य घोषित करने की आकाक्षा व्यक्त की गयी। वह भी कहा गया कि प्रभुसत्ता का वास जनता मे होगा तथा भारत के सभी लोगो को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय तथा विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना और व्यवसाय की गारण्टी दी जायेगी। 13 दिसम्बर से 19 दिसम्बर, 1946 तक संविधान सभा ने उद्देश्य प्रस्ताव पर कुल आठ दिन विचार-विमर्श किया। 22 जनवरी, 1947 को सविधान सभा मे सदस्यो ने खडे होकर सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव को पास किया।

उद्देश्य प्रस्ताव की स्वीकृति के बाद ही सविधान सभा ने सविधान निर्माण की समस्या के बिभिन्न पहलुओ के सम्बन्ध मे अनेक समितियां नियुक्त की। प्रमुख समितियाँ थी—(1) संघ संविधान समिति (Union Constitution Committee); (2) प्रान्तीय सविधान समिति (Provincial Constitution Committee); (3) संघ शक्ति समिति (Union Powers Committee), (4) मूल अधिकारों, अल्पसंख्यकों, आदि से सम्बन्धित परामर्श समिति, (5) प्रारूप समिति, आदि। देशी रियासतो से बातचीत करने के लिए सविधान सभा ने एक 'वार्ता समिति' पूर्व में ही गठित कर ली थी।

सविधान सभा के कार्यालय की परामर्श शाखा ने 17 मार्च, 1947 को संविधान की मुख्य विशेषताओ के सम्बन्ध मे एक प्रश्न-सूची विभिन्न प्रान्तीय विधानमण्डलो तथा केन्द्रीय विधानमण्डल के सदस्यो के पास भी भेजी ताकि वे प्रस्तावित सविधान के बारे मे अपने विचार व्यक्त कर सके। इसी समय ब्रिटिश सरकार ने 3 जून, 1947 की योजना प्रकाशित की जिसके अनुसार देश का विभाजन होना था।

अक्टूबर 1947 मे संविधान सभा के सचिवालय की परामर्श शाखा ने संविधान का पहला प्रारूप तैयार किया। इस प्रारूप के तैयार होने के पहले सविधान सभा के सचिवालय ने

तीन जिल्दो के विश्व के विभिन्न सविधानो के पूर्व दृष्टान्त एकत्र कर उन्हे संविधान सभा के सदस्यो मे वितरित कर दिया। सवैधानिक परामर्शदाता बी० एन० राव ने विश्व के विभिन्न सविधान विशेषज्ञो से विचार-विमर्श कर एक प्रतिवेदन भी प्रस्तुत किया।

29 अगस्त, 1947 को सविधान सभा ने 'प्रारूप समिति' की नियुक्ति की। डॉ० अम्बेडकर इस समिति के अध्यक्ष चुने गये। 'प्रारूप समिति' का यह काम था कि वह सविधान सभा की परामर्श शाखा द्वारा तैयार किये गये सविधान का परीक्षण करे और फिर सविधान को विचार के लिए सविधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत करे। 'प्रारूप समिति' ने भारत का जो प्रारूप संविधान तैयार किया वह फरवरी 1948 मे सविधान सभा के अध्यक्ष को सुपुर्द किया गया। प्रारूप सविधान के प्रकाशित होने के बाद प्रारूप सविधान मे सशोधन करने के लिए अनेक सुझाव प्राप्त हुए। एक विशिष्ट समिति ने इन सुझावो पर विचार किया तथा प्रारूप संविधान का एक पुनर्मुद्रित सस्करण प्रकाशित किया। 15 नवम्बर, 1948 को प्रारूप सविधान पर धारा-वार विचार प्रारम्भ हुआ। 8 जनवरी, 1949 तक सविधान सभा 67 अनुच्छेदो पर विचार कर चुकी थी। इसे प्रथम वाचन कहा जाता है क्योकि इस कालावधि मे सविधान पर सामान्य वाद-विवाद हुआ। 16 नवम्बर, 1949 को सविधान का दूसरा 'द्वितीय वाचन' समाप्त हो गया। सविधान का तीसरा वाचन 26 नवम्बर, 1949 तक चला जबकि 'सविधान सभा द्वारा निर्मित सविधान को अन्तिम रूप से पास किया गया।' सविधान सभा के अन्तिम दिन 24 जनवरी, 1950 को सविधान की तीन प्रतियाँ सभा पटल पर रखी गयी। सभा के अध्यक्ष ने सभी सदस्यो से प्रार्थना की कि वे एक-एक करके तीनो प्रतियो पर हस्ताक्षर करें। सदस्यो ने सविधान की प्रतियो पर हस्ताक्षर किये और उसके बाद जन-गण-मन तथा बन्देमातरम् के गायन के साथ 'सभा' का सविधान सभा के रूप मे समापन हो गया। 26 जनवरी, 1950 को उसका भारतीय गणराज्य की (अन्तर्कालीन) ससद के रूप मे आविर्भाव हुआ।

सम्पूर्ण सविधान निर्माण मे 2 वर्ष 11 मास और 18 दिन लगे। इस कार्य पर लगभग 64 लाख रुपये खर्च हुए। सविधान के प्रारूप पर भी 114 दिन तक चर्चा होती रही। अपने अन्तिम रूप मे सविधान में 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियाँ थी। सविधान के कुछ अनुच्छेद 26 नवम्बर, 1949 के दिन से लागू कर दिये गये, पर शेष सविधान 26 जनवरी के दिन के ऐतिहासिक महत्व के कारण 26 जनवरी, 1950 ई० से लागू किया गया।

डॉ० अम्बेडकर ने कहा कि "अमरीका, कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की सविधान सभाओ को अपने सविधानो की रचना मे जितना समय लगा था, उसे देखते हुए भारतीय सविधान सभा ने देश के लिए बहुत शीघ्र सविधान बना लिया था और उसे बधाई दी जा सकती थी।"

संविधान सभा के विवादास्पद प्रसंग

(CONTROVERSIAL ISSUFS OF THE CONSTITUENT ASSEMBLY)

सविधान सभा मे छोटे-छोटे प्रश्नो को लेकर भी कभी-कभी मतभेद और विवाद उत्पन्न हो जाता था। सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह पैदा हुआ कि राजेन्द्र प्रसाद जो केबिनेट के सदस्य होने के साथ सविधान सभा के अध्यक्ष भी थे, उस सभा की वैधानिक कार्यवाहियो की अध्यक्षता कैसे कर सकते थे? नेहरू और पटेल दोनो का यह मत था कि राजेन्द्र प्रसाद केबिनेट के सदस्य बने रहे और सविधान सभा की अध्यक्षता के लिए किसी दूसरे व्यक्ति को चुना जाय। नेहरू ने जब यह दृष्टिकोण अपनाया कि लोकतन्त्र शासन मे यह बात सर्वथा अनुचित थी कि केबिनेट का एक सदस्य सविधान सभा की अध्यक्षता करे, तो बी० एन० राव ने यह सुझाव रखा कि एक उपाध्यक्ष का निर्वाचन किया जाये जो सविधान सभा के अध्यक्ष के नाम से सभा की वैधानिक कार्यवाहियो

की अध्यक्षता करे। इससे पटेल और प्रसाद के बीच तनाव हो गया और मन्त्रिमण्डल की एक बैठक मे दोनों के वीच कहा-सुनी हो गयी। इस बैठक में उपस्थित एक अधिकारी ने टिप्पणी की, "ये लोग जिनकी हम महामानवो के रूप मे पूजा करते है, बच्चो की तरह झगड़ा कर रहे थे।"

एक दूसरा विवाद पैदा हुआ कि वैधानिक दृष्टि से प्रसाद की और स्पीकर के रूप में मावलकर की क्या स्थिति (Position) होगी ? राजेन्द्र प्रसाद संविधान सभा के अध्यक्ष थे और मावलकर अन्तरिम ससद के स्पीकर। प्रसाद अपनी इच्छा के विरुद्ध इस बात के लिए तैयार हुए कि एक स्पीकर नियुक्त किया जाये, लेकिन इस शर्त पर कि वह सविधान सभा के अध्यक्ष के अधीन हो। मावलंकर ने समान पद (equal status) और अपने सचिवालय पर पूर्ण नियन्त्रण की मांग की। काफी सघर्ष के वाद प्रसाद राजी हो गये—वे सविधान सभा के अध्यक्ष वने और मावलकर अन्तरिम ससद के स्पीकर वने।

तीसरा विवाद था कि बी॰ एन॰ राव अपने साथ लेजिस्लेटिव असेम्बली का सचिवालय ले गये और प्रसाद ने निर्णय दिया कि नये सचिवालय की नियुक्ति उनकी अनुमति के बिना नही की जा सकती। समस्या नेहरू के पास ले जायी गयी और नेहरू ने प्रसाद को इस बात पर तैयार किया कि इन नियुक्तियो का पूर्ण अधिकार मावलकर का था।

संविधान निर्माण की समस्याएँ
(PROBLEMS OF THE CONSTITUTION MAKING)

सविधान निर्माताओ के सामने कई समस्याएँ थी। उनको एक विस्तृत भूखण्ड और विशाल जनसख्या के लिए एक नयी राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था का निर्णय करना था। देश मे बहुत-सी जातियाँ बसती थी, विभिन्न धर्मावलम्बी रहते थे, अनेक भाषाएँ वोली जाती थी। संविधान को इन सबको एक सूत्र मे बांधना था। एक अन्य कठिन समस्या जिसे सुलझाने मे संविधान सभा को काफी समय लगा, देश के लिए राजभाषा की थी। एक और विकट समस्या लगभग 600 देशी रियासतो की थी।

संविधान निर्माण की प्रक्रिया
(PROCEDURE FOLLOWED IN THE MAKING OF THE CONSTITUTION)

सविधान निर्माण के सम्वन्ध मे संविधान सभा ने जिस प्रक्रिया का अनुसरण किया वह संक्षेप मे यही थी कि सबसे पहले उसने उद्देश्य-प्रस्ताव के रूप मे अपने 'विचारार्थ विषय' निर्धारित किये। यह उद्देश्य-प्रस्ताव ही आगे चलकर प्रस्तावना का आधार बना। इसके वाद संविधान सभा ने सवैधानिक समस्या के विविध पहलुओ के सम्वन्ध मे विभिन्न समितियाँ नियुक्त की। इनमे से अनेक समितियो के अध्यक्ष या तो श्री नेहरू थे या सरदार पटेल। संविधान सभा के अध्यक्ष के अनुसार इन दो महारथियो ने ही सविधान के मूल सिद्धान्त तय किये थे। सभी समितियों ने बड़ी निष्ठा से कार्य किया और महत्वपूर्ण प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। संविधान सभा ने इन प्रतिवेदनो पर विस्तार से विचार किया और इन प्रतिवेदनो की सिफारिशे प्रारूप संविधान के लिए आधार बनी। प्रारूप सविधान की सतर्क छानवीन प्रारूप समिति के सदस्यो ने ही नही की वल्कि सविधान सभा के अन्य सदस्यो ने भी प्रारूप सविधान के एक-एक अनुच्छेद का गहराई से विवेचन किया। कही-कही तो प्रत्येक वाक्य ही नही अपितु प्रत्येक शब्द पर बहस हुई। प्रारूप संविधान की इस विशद परीक्षा का परिणाम यह हुआ कि उसका आकार बहुत बढ़ गया। संविधान सभा सचिवालय की परामर्श शाखा ने प्रारूप समिति के विचार के लिए सविधान का जो पहला प्रारूप तैयार किया था, उसमे 243 अनुच्छेद और 13 अनुसूचियाँ थी। संविधान सभा की प्रारूप समिति ने जो पहला प्रारूप संविधान तैयार किया उसमे 305 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियाँ थी। अब प्रारूप

सविधान का दूसरा वाचन समाप्त हुआ तब अनुच्छेदो की सख्या 386 हो गयी। दूसरे वाचन के बाद जब सविधान अन्तिम रूप में स्वीकार हुआ तब उसमे 385 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियाँ थी।

सविधान सभा की स्थिति, संगठन एवं कार्यकरण के सम्बन्ध में कतिपय आलोचनात्मक टिप्पणियाँ
(Critical Remarks regarding Position, Composition and Working of the Constituent Assembly)

हमारी संविधान सभा नेहरू के शब्दो मे एक अन्धेरी घाटी से निकलकर स्वतन्त्रता की सूर्य किरणो तक पहुँची थी। कई सदस्य तो कुछ समय पूर्व ही जेल से छूटे थे। यकायक उन्हे स्वतन्त्रता आन्दोलन के स्वप्नो व आदर्शों को साकार करने वाले संविधान के निर्माण का अवसर दिया गया। फिर भी सविधान सभा की अनेक लोगो ने तार्किक आधारो पर आलोचना की है जो इस प्रकार है :

(1) **प्रथम, क्या संविधान सभा को प्रभुत्व-सम्पन्न सस्था माना जाये? (Was it a Sovereign Assembly ?)**—संविधान सभा के गठन और उसके द्वारा अपना कार्य प्रारम्भ किये जाने के तुरन्त बाद ही सविधान सभा की स्थिति के सम्बन्ध मे एक विवाद प्रारम्भ हो गया। ब्रिटिश ससद के एक वाद-विवाद में **विंस्टन चर्चिल** ने सविधान सभा की वैधता को ही चुनौती दे दी।[1] सविधान सभा के ही एक सदस्य **एम० आर० जयकर** ने भी विचार व्यक्त किया कि "सविधान सभा एक सम्प्रभु सस्था नही है ओर उसकी शक्तियाँ मूलभूत सिद्धान्तो एव प्रक्रियाओ दोनो की दृष्टि से मर्यादित है।"[2] उनके विचार का आधार यह था कि सविधान सभा केबिनेट योजना के अधीन अस्तित्व मे आयी और यह ब्रिटिश ससद की सत्ता के ही अधीन थी। वह केबिनेट मिशन योजना मे वर्णित सविधान की मूल रूपरेखा मे कोई परिवर्तन नही कर सकती थी। सभा का आह्वान ब्रिटिश सम्राट के अधिकार पर गवर्नर जनरल द्वारा किया गया था और यह अपेक्षित था कि सविधान सभा जो सविधान बनायेगी उसे ब्रिटिश संसद के पास अनुमोदन के लिए भेजा जायेगा। लेकिन संविधान सभा के अधिकाश सदस्यो ने इन प्रतिबन्धो को अस्वीकार करते हुए सविधान सभा की सम्प्रभुसत्ता पर बल दिया। **एन० जी० आयगर** ने सभा मे **11 दिसम्बर, 1946** को पूर्ण प्रभुता के विचार को स्पष्ट करते हुए कहा, "इस सविधान सभा का स्रोत यह नही है कि इसके निर्माता सम्राट की सरकार के तीन सदस्य थे वरन् यह है कि उनके प्रस्तावों को जनता ने स्वीकार कर लिया।"[3] जवाहरलाल नेहरू ने इस विचार की पुष्टि करते हुए कहा, **"सरकारें राजकीय पत्रों से पैदा नहीं होतीं। वास्तव में वे जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होती हैं। हम आज यहाँ इसलिए एकत्रित हो पाये हैं क्योंकि हमारे पीछे जनता की शक्ति है। जहाँ तक जनता, कोई दल या वर्ग नहीं वरन् समूची जनता चाहेगी, वहाँ तक हम यहाँ रहेंगे।"**[4] इस विचार के अनुसार ही सविधान सभा ने अपनी पूर्ण प्रभुता को प्रदर्शित भी किया। **प्रथम,** यह प्रस्ताव पारित किया गया कि ब्रिटिश सरकार या अन्य किसी भी सत्ता के आदेश से सभा का विघटन नही होगा। सविधान सभा को उसी समय भंग किया जायगा, जबकि सभा स्वयं दो-तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पारित कर दें। **द्वितीय,** सविधान सभा ने सभा के सचालन की पूर्ण शक्ति अपने निर्वाचित सभापति को दे दी। इस प्रकार भारतीय सविधान सभा ने सविधान निर्माण का कार्य पूर्ण प्रभुता की भावना से प्रारम्भ किया। 15 अगस्त, 1947 को भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पारित हो जाने के बाद संविधान

---

1 A. C Banerjee, *The Making of the Indian Constitution*, p 358.
2 *C A D*, Vol. I, p 70
3 *Ibid.*, p. 70.
4 *Ibid.*, p. 70.

सभा पर केबिनेट मिशन द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध वैज्ञानिक दृष्टि से समाप्त हो गये और सविधान सभा पूर्ण सम्प्रभु बन गयी।

(2) **द्वितीय, क्या संविधान सभा एक प्रतिनिधिक संस्था थी?** (Was it a Representative Body)—सविधान सभा की सम्प्रभुता के साथ ही उसकी प्रतिनिध्यात्मकता पर भी आक्षेप किया गया था। राष्ट्रीय कांग्रेस के समाजवादी वर्ग और अन्य कुछ दलो द्वारा आपत्ति की गयी कि संविधान सभा के सदस्यो का परोक्ष निर्वाचन होने के कारण इसे भारतीय जनता की प्रतिनिधि सभा नही कहा जा सकता। इस वर्ग के नेता श्री **जयप्रकाश नारायण** ने ऐसा ही मत व्यक्त करते हुए कहा था कि "यह सविधान सभा अपने गठन में उस सविधान सभा से बहुत भिन्न है जिसकी रूपरेखा प० नेहरू ने हमारे सामने रखी थी। इसकी रचना ब्रिटिश सरकार ने की है, अतः हम इसके द्वारा हम उस स्वतन्त्रता को पाने की आशा कदापि नही कर सकते, जिसके लिए हम संघर्ष करते रहे हैं।" श्री नारायण और उनके वर्ग द्वारा इस बात पर बल दिया गया कि सविधान सभा के सदस्यो का चुनाव वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर किया जाना चाहिए था।

सैद्धान्तिक दृष्टि से उपर्युक्त विचार सत्य है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसमे कोई बल नही है। **प्रथमत**, कांग्रेस के द्वारा केबिनेट योजना के सविधान सभा सम्बन्धी प्रस्तावो को किसी आदर्श के आधार पर नही वरन् इस आधार पर अपनाया गया था कि तत्कालीन परिस्थितियो मे सम्भवतया यह प्रस्ताव ही एकता को बनाये रख सकेगा। इसके अतिरिक्त, भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पूर्व और उसके तुरन्त बाद भारत मे बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक उपद्रव हो रहे थे और इन परिस्थितियो मे सविधान सभा के प्रत्यक्ष निर्वाचन की बात व्यावहारिक नही थी। **द्वितीयतः**, इस सन्दर्भ मे यह भी कहा जा सकता है कि यदि सविधान सभा के सदस्यो का प्रत्यक्ष निर्वाचन होता, तो भी उसका स्वरूप कम-अधिक रूप मे ऐसा ही होता। इस विचार को **बल देने वाला तथ्य यह है कि 1952 के प्रथम आम चुनाव में संविधान सभा के अधिकांश सदस्यो ने चुनाव लड़ा और काफी अच्छे बहुमत से विजय प्राप्त की। तृतीयतः, और सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है** कि तत्कालीन भारतीय राजनीति के सर्वाधिक प्रमुख दल कांग्रेस ने सविधान सभा को अधिकाधिक प्रतिनिधि स्वरूप प्रदान करने की प्रत्येक सम्भव चेष्टा की थी। कांग्रेस के तो प्राय. सभी चोटी के नेता पं० नेहरू, सरदार पटेल, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना आजाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, प० गोविन्द वल्लभ पन्त, बाल गोविन्द खेर, बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, श्री के० एम० मुन्शी और आचार्य जे० बी० कृपलानी इसके सदस्य थे। कांग्रेस के ही प्रयत्नो से वैधानिक और प्रशासनिक योग्यता की दृष्टि से ख्याति प्राप्त अनेक ऐसे व्यक्तियो का सविधान सभा के लिए निर्वाचन हुआ था, जो कांग्रेस से सम्बद्ध नही थे। इनमे से कुछ थे प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ० अम्बेडकर, ए० के० अय्यर, एन० जी० आयंगर, सथानम्, एम० आर० जयकर, सच्चिदानन्द सिन्हा, श्यामाप्रसाद मुखर्जी, बी० शिवाराव, डॉ० राधाकृष्णन, के० टी० शाह, एम० सी० मुकर्जी और हृदयनाथ कुंजरू, आदि। इन्ही व्यक्तियो ने सभा को तकनीकी आधार दिया। सविधान के मूल स्वरूप का निर्माण करने, उसको दार्शनिक आधार देने तथा उसे उद्देश्यपूर्ण बनाने में इन व्यक्तियो तथा इनकी सामाजिक एवं व्यावसायिक पृष्ठभूमि की निर्णायक भूमिका रही। तेजबहादुर सप्रू और जयप्रकाश नारायण को भी संविधान सभा की सदस्यता के लिए आमन्त्रित किया गया था, किन्तु सप्रू स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणो के आधार पर इसे स्वीकार न कर सके और जयप्रकाश नारायण ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इस सम्बन्ध मे सभा की सद्इच्छा का प्रमाण यह है कि सविधान सभा के जो सदस्य लीग के टिकट पर निर्वाचित हुए थे, उनमे से जिन्होंने भारत के विभाजन के बाद भारत में ही रहना पसन्द किया उन्हें भी संविधान सभा

की सदस्यता प्रदान की गयी। लीग के एक प्रतिनिधि मोहम्मद सादुल्ला प्रारूप समिति के भी सदस्य थे। सविधान सभा मे अल्पसख्यक वर्गों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त था, यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है, जिसमे वर्गीय आधार पर संविधान सभा का गठन बतलाया गया है :

नेपाली	1 (बगाल मे निर्वाचित)
सिख	5 (केबिनेट योजना मे दिये गये प्रतिनिधित्व मे एक अधिक)
पारसी	3
ईसाई	7
आग्ल-भारतीय	3
पिछड़ी हुई जनजातियाँ	5
अनुसूचित जातियाँ	33
मुस्लिम	31 (केबिनेट योजना के अनुसार भारत मे रहे क्षेत्रो मे मुस्लिम प्रतिनिधियो की सख्या 28 ही होनी थी)

इस प्रकार विभाजन के बाद जबकि देशी रियासतो के प्रतिनिधित्व के अतिरिक्त सविधान सभा का गठन हो चुका था, अल्पसख्यको को 235 मे से 88 अर्थात् 36 प्रतिशत प्रतिनिधित्व प्राप्त था, अनुसूचित जातियो के भी 33 सदस्य थे।

दलीय दृष्टि से भी संविधान सभा भारतीय जनता का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती थी। यद्यपि साम्यवादी दल का कोई सदस्य सविधान सभा के लिए निर्वाचित नही हुआ, लेकिन मार्क्सवादी और फारवर्ड ब्लाक के सदस्य संविधान सभा के लिए निर्वाचित हुए थे। समाजवादी दल ने प्रतिनिधित्व अस्वीकार कर दिया था, लेकिन फिर भी समाजवादी विचारधारा रखने वाले अनेक व्यक्ति काग्रेस दल की ओर से सविधान सभा के सदस्य थे। हिन्दू महासभा के दो भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० जयकर और श्यामाप्रसाद मुखर्जी भी सविधान सभा के सदस्य थे। इन सबके अतिरिक्त तत्कालीन काग्रेस दल का आधार बहुत अधिक व्यापक था, सही अर्थो मे वह एक राजनीतिक दल नही, वरन् राष्ट्रीय आन्दोलन की सचालन सस्था थी और स्वय काग्रेस के अन्तर्गत विभिन्न विचारधाराओ के प्रतिनिधि थे। इन सभी तथ्यो के आधार पर के० **संथानम्** के शब्दो मे कहा जा सकता है कि **"जनमत का कोई भी ऐसा वर्ग नहीं था, जिसे सविधान सभा मे प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो।"** सविधान सभा के एक सदस्य **बी०** शिवा राव ने स्वय द्वारा सम्पादित ग्रन्थ मे यही विचार व्यक्त किया है और ग्रेनविल ऑस्टिन ने विशद अध्ययन तथा सविधान सभा के अनेक सदस्यो से साक्षात्कार के बाद विचार व्यक्त किया है कि **"अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित और इस दृष्टि से भारतीय जनता के प्रति उत्तरदायी न होने पर भी संविधान सभा अत्यधिक प्रतिनिध्यात्मक संस्था थी।"**

(3) **तृतीय, क्या संविधान को लोकप्रिय अनुज्ञप्ति प्राप्त थी?** (Was there the Popular Sanction behind the Constitution ?)—जिन व्यक्तियो के द्वारा संविधान सभा की प्रतिनिध्यात्मकता पर सन्देह व्यक्त किया था, उनके द्वारा यह भी कहा गया कि यदि तत्कालीन परिस्थितियो मे प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर सविधान सभा का गठन सम्भव नही था, तो सम्बन्धित सविधान सभा द्वारा निर्मित सविधान को जनमत सग्रह के लिए प्रस्तुत किया जाना चाहिए था और इस प्रकार के जनमत सग्रह के बाद ही उसे पारित समझा जाता। उनके अनुसार क्योंकि सविधान को जनमत सग्रह के अन्तर्गत जनता से अनुसमर्थित (ratify) नही कराया गया, इसलिए यह कहा जा सकता है कि संविधान को **'लोकप्रिय अनुज्ञप्ति'** (Popular Sanction) प्राप्त नही थी।

लेकिन इस प्रकार की आलोचना मे कोई सार नही है। वस्तुतः व्यावहारिक कारणो से ही जनमत संग्रह नहीं कराया गया था। राष्ट्रव्यापी जनमत संग्रह की व्यवस्था जिसमे 17 करोड मतदाता हो अत्यधिक कष्ट और व्यय-साध्य होती। यह बात भी नितान्त स्पष्ट है कि यदि इस प्रकार का जनमत संग्रह करवाया भी गया होता, तो उससे सविधान के स्वरूप पर कोई प्रभाव नही पडता।

(4) **चतुर्थ, क्या संविधान सभा के संगठन का साम्प्रदायिक** आधार था ? (Was there the Communal basis of the Organisation of the Constituent Assembly ?)—कतिपय आलोचकों का मत है कि सविधान सभा के सगठन का आधार साम्प्रदायिक था। प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओ के सदस्यो द्वारा साम्प्रदायिकता के आधार पर ही संविधान सभा के सदस्यो को चुनना था। यह इसलिए किया गया ताकि साम्प्रदायिक सहयोग प्राप्त हो सके और सविधान सभा मे किसी एक ही सम्प्रदाय का बहुमत न हो जाय।

(5) **पंचम, क्या संविधान सभा में वकीलो का प्रभुत्व था ?** (Was the Assembly Dominated by the Legal Luminaries ?)—आलोचको का कहना है कि सविधान सभा मे किसानो और मजदूरो का समुचित प्रतिनिधित्व नही हुआ। भारत एक कृषि प्रधान देश है और अधिकांश लोग कृषक हैं। दूसरी तरफ यह सविधान वकीलो द्वारा बनाया गया है, यह विवाद बढ़ायेगा और वकीलो का स्वर्ग होगा अर्थात् उन्हे लाभ पहुँचायेगा। किन्तु इस आलोचना मे भी सार नही है, क्योकि सविधान एक कानून होता है और उसके निर्माण मे कानून के जानकार लोग ही महत्वपूर्ण योगदान दे सकते है। सामान्य मजदूर और किसान सवैधानिक कानून की सूक्ष्मताओ को आसानी से नही समझ सकते।

फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि सबसे महत्वपूर्ण कार्य प्रारूप समिति (Drafting Committee) द्वारा किया गया। इस समिति मे डॉ० बी० आर० अम्बेडकर, के० एम० मुन्शी, अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर जैसे ख्याति प्राप्त अधिवक्ता थे। इन सबका प्रशिक्षण विधिशासन एव सामान्य विधि विषयक धारणा पर आधारित ब्रिटिश न्यायशास्त्र (Jurisprudence) के अनुसार हुआ था। अतः सविधान की संरचना के प्रति इनका दृष्टिकोण नियमनिष्ठ औपचारिक (formalistic) एव उदारवादी था।

संविधान सभा मे निर्णय लेने की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे ग्रेनबिल ऑस्टिन के विचार (Process of Decision-making in the Constituent Assembly : Granville Austin's Views)

सविधान निर्माण में अपनायी गयी प्रक्रिया की आलोचना करने के बजाय ग्रेनविल ऑस्टिन के इस विचार को स्वीकार करना होगा कि भारतीय सविधान के निर्माण मे अत्यधिक श्रेष्ठ प्रक्रिया को अपनाया गया है। इस श्रेष्ठता के प्रतीक रूप में दो बातें है—**सहमति से निर्णय** और **समायोजना का सिद्धान्त**।

(1) **सहमति से निर्णय** (Decision-making by Consensus)—भारत के राष्ट्रीय नेताओ को इस बात का ज्ञान था कि वे महज कोई दस्तावेज नही बना रहे है, वरन् एक सविधान का निर्माण कर रहे है, इसलिए उनके द्वारा बहुमत निर्णय को नही वरन् सहमति से निर्णय को अपनाया जाना चाहिए। सहमति के इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विविध तरीके अपनाये गये। **प्रथम**, काग्रेस विधानमण्डल दल की बैठकों मे सविधान की प्रत्येक धारा पर खुलकर वाद-विवाद होते थे और इन बैठको मे डॉ० अम्बेडकर, ए० के० अय्यर और आयगर जैसी गैर-काग्रेसी प्रतिभाओं को भी आमन्त्रित किया जाता था। **द्वितीय, संविधान** निर्माण से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण समितियो मे विभिन्न समुदायो, हितो और वर्गों **को समुचित** प्रतिनिधित्व दिया गया था और अल्पसंख्यक वर्गों के हितो के प्रतिनिधि रूप मे उन **व्यक्तियों को भी** समिति मे ले लिया गया था जो

सविधान सभा के सदस्य नही थे। सविधान निर्माण के कार्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समिति प्रारूप समिति के कुल 9 सदस्यो में से केवल एक प्रमुख काग्रेसी श्री मुन्शी थे और इस समिति की अध्यक्षता ऐसे व्यक्ति को दी गयी थी, जो अब तक काग्रेस का कटु आलोचक रहा।

संविधान सभा और सभा की समितियो की बैठको के अन्तर्गत **'बहुमत की जीत'** के स्थान पर एक-दूसरे को समझाने-बुझाने की प्रवृत्ति अपनायी गयी। जिन सुझावो और सशोधनो को अस्वीकृत किया गया; उन्हे अस्वीकृत करने के कारण बतलाये गये, जिससे कोई सदस्य यह अनुभव न करे कि उसके सुझाव का निरादर किया गया है। **एम० वी० पायली** ने इस सन्दर्भ मे लिखा है कि "सविधान सभा मे वाद-विवाद को पूरा प्रोत्साहन मिला, आलोचना के प्रति सहनशीलता अपनायी गयी, लम्बे वाद-विवाद के प्रति असन्तोष नही दिखाया गया, अपने विचार दूसरो पर लादने एव शीघ्रता से कार्य समाप्त करने का प्रयास नही किया गया। यह एक पूर्ण लोकतान्त्रिक प्रक्रिया थी, जिस पर भारतीय लोग गर्व कर सकते है।"

संविधान निर्माण मे सर्वसम्मति की जिस पद्धति को अपनाया गया; उसके प्रमुख उदाहरण है—**संविधान के संघीय और भाषायी प्रावधान तथा अल्पसंख्यको से सम्बन्धित व्यवस्थाएँ।**

सविधान सभा ने भारत के संघीय ढाँचे पर 1947 की बसन्त ऋतु से विचार प्रारम्भ किया और नवम्बर 1949 तक इस सम्बन्ध मे विचार चलता रहा। इस सम्बन्ध मे यह प्रयत्न किया गया कि सम्बन्धित प्रावधान सघ के प्रतिनिधियो और प्रान्तीय सरकारो के अधिकाधिक प्रतिनिधियो को सन्तुष्ट कर सके। ऐसी व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया कि न तो कोई प्रान्त सघ से अलग हो सके और न ही सघ को बनाये रखने का कार्य दमन के आधार पर किया जाय। इस सम्बन्ध मे उचित व्यवस्था करने के लिए **'सघीय शक्ति समिति'** (Union Power Committee) मे विभिन्न प्रान्तो और रियासतो की राजनीति के महत्वपूर्ण व्यक्तियो (पन्त, मित्तर, टी० टी० कृष्णामाचारी और रामास्वामी मुदालियर) को स्थान दिया गया।

भाषायी प्रावधान भी सर्वसम्मति से निर्णय के महत्वपूर्ण उदाहरण है। भाषायी विवाद का सर्वसम्मत हल ढूंढने के लिए तीन वर्ष तक प्रयत्न किये गये। सभा की अन्तिम बैठक के प्रारम्भ मे अध्यक्ष श्री प्रसाद ने कहा था कि वे भाषायी प्रावधानो को मतदान के लिए नही रखेगे, क्योकि यदि कोई हल समस्त देश को स्वीकार्य नही है तो उसे लागू करना बहुत अधिक कठिन हो जायेगा।

डॉ० सुभाष काश्यप लिखते हैं, "एक कठिन समस्या जिसे सुलझाने मे सविधान सभा को काफी समय लगा, देश के लिए राजभाषा की थी। आखिर मे सविधान सभा, देश मे सबसे अधिक लोगों द्वारा बोली और समझी जाने वाली भाषा, हिन्दी को स्वतन्त्र भारत की राजभाषा के रूप मे सर्वसम्मति द्वारा स्वीकार करने मे सफल हुई। साथ ही व्यावहारिकता के आधार पर यह भी जरूरी समझा गया कि संक्रान्ति काल मे अग्रेजी का प्रयोग जारी रहे।"

अल्पसख्यको के सम्बन्ध मे की गयी व्यवस्थाएँ, सविधान की प्रस्तावना और संसद के सम्बन्ध मे किये गये प्रावधान भी सर्वसम्मति के आधार पर किये गये निर्णयो के प्रमुख उदाहरण है। **ग्रेनविल ऑस्टिन** के अनुसार तीन तत्वो ने सर्वसम्मति के आधार पर निर्णय लेने मे सहायता प्रदान की। ये थे **संविधान सभा में एकता का वातावरण, आदर्शवादिता का वातावरण और राष्ट्रीय उद्देश्य की विद्यमानता।**

(2) **समायोजना का सिद्धान्त** (Principle of Accomodation)—समायोजना के सिद्धान्त का आशय दो ऐसे तत्वो के बीच समन्वय स्थापित करने से है, जिन्हे अब तक परस्पर विरोधी समझा जाता था। वास्तव में, भारतीय सविधान सभा ने संविधान निर्माण मे सिद्धान्त-

वादिता के स्थान पर व्यावहारिकता के दृष्टिकोण को अपनाया था और इसके अनुकूल ही समायोजन के सिद्धान्त के कुछ प्रमुख उदाहरण इस प्रकार है :

(i) **संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था के बीच समन्वय**—सामान्यतया सघात्मक और एकात्मक व्यवस्था को परस्पर विपरीत समझते हुए यह माना जाता है कि या तो एकात्मक व्यवस्था को अपनाया जा सकता है या सघात्मक व्यवस्था को। लेकिन भारत की अपनी विशेष परिस्थितियो के अनुकूल सघात्मक और एकात्मक व्यवस्था के बीच समन्वय को अपनाया गया है।

(ii) **गणतन्त्रीय व्यवस्था के साथ राष्ट्रमण्डल की सदस्यता**—1947 तक यही समझा जाता था कि किसी गणतन्त्रीय राज्य के द्वारा राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को नही अपनाया जा सकता। लेकिन भारतीय संविधान सभा द्वारा राष्ट्रमण्डल के लचीले स्वरूप को दृष्टि मे रखते हुए राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को गणतन्त्रीय व्यवस्था अपनाने के मार्ग मे बाधक नही समझा गया। इस सम्बन्ध मे सविधान सभा के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए श्री बी० एन० राव ने कहा था, "राष्ट्रमण्डल की धारणा का स्पष्टतया विकास होता जा रहा है और वह अब इस स्तर पर पहुँच चुका है कि उसमे गणतन्त्रात्मक संविधान वाले राज्य भी अपना स्थान पा सकते है।"

(iii) **केन्द्रीय शासन और पंचायत व्यवस्था के बीच समन्वय**—पंचायत व्यवस्था के सम्बन्ध में भारत की अपनी परम्परा रही है और संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्र प्रसाद तथा कुछ अन्य नवीन संविधान के अन्तर्गत पचायत व्यवस्था को अपनाने के प्रबल समर्थक थे। उनका सुझाव था कि वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर ग्राम पचायतो और नगरपालिका बोर्डों का निर्माण हो। ये पंचायतें तथा बोर्ड अपने प्रतिनिधि उच्चतर सस्थाओं को भेजें और इस प्रकार ससद की रचना की जाय। दूसरी ओर शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार के समर्थक नेहरू और अन्य ससद का निर्माण प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर चाहते थे। इन दोनों परस्पर विरोधी सिद्धान्तो के बीच भी समन्वय स्थापित किया गया।

उपर्युक्त दोनो ही सिद्धान्तो को स्वीकार करते हुए उन्हे शासन के अलग-अलग स्तरो पर लागू किया गया। "सघ तथा प्रान्तीय सरकारो के सम्बन्ध मे केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया और प्रत्यक्ष निर्वाचन को अपनाया गया। प्रान्तीय सरकारो से नीचे के स्तर पर विकेन्द्रीयकरण की व्यवस्था को स्वीकार किया गया और इस सम्बन्ध मे व्यवस्थापन का कार्य प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओ के क्षेत्राधिकार मे रखा गया। इसके साथ ही राज्य नीति के निर्देशक तत्वों मे भी पंचायत व्यवस्था को स्थान दिया गया।"[1]

राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध मे की गयी व्यवस्था तथा मौलिक अधिकारो और उनके दुरुपयोग के विरुद्ध की गयी प्रतिबन्धो की व्यवस्था आदि भी 'समायोजन के सिद्धान्त' को अपनाने के ही उदाहरण हैं।

डॉ० सुभाष काश्यप लिखते हैं, "सविधान सभा मे नेताओं की बराबर कोशिश यह रही कि समझौते और समन्वय की भावना से काम हो तथा निर्णय बहुमत के आधार पर नही, बल्कि आम राय के आधार पर लिये जायें। इसी का परिणाम था कि जो संविधान बना उसे सविधान सभा की ही नही अपितु विस्तृत जनमत की भारी सहमति और स्वीकृति प्राप्त थी।"

परिवर्तन के साथ चयन की कला (The Art of Selection and Modification)—इसके साथ ही संविधान निर्माण का कार्य परिवर्तन के साथ चयन की कला के आधार पर किया गया। संवैधानिक सिद्धान्तो का पर्याप्त विकास हो जाने के कारण 1947 मे किसी मौलिक संविधान के निर्माण की बात सोचना सम्भव नही था। सविधान निर्माता अच्छे और व्यावहारिक

---

1 Granville Austin : *The Indian Constitution—Corner Stone of a Nation*, pp. 318-19.

संविधान का निर्माण करना चाहते थे। अतः उन्होंने विदेशी सविधान की उन धारणाओं और व्यवस्थाओं को अपने सविधान मे ग्रहण कर लिया, जो उन देशो मे सफल रही थी और भारत की परिस्थितियो के अनुकूल थी। इस सम्बन्ध मे विशेष बात यह है कि यह विदेशी सविधानो से सोच-विचारकर ही ग्रहण किया गया है और जो कुछ ग्रहण किया गया है, उसे भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लिया गया है। इसे सविधान निर्माण की एक श्रेष्ठ प्रक्रिया और भारतीय सविधान का गुण कहा जा सकता है।

संविधान सभा का दृष्टिकोण
(ATTITUDE OF THE CONSTITUENT ASSEMBLY)
अथवा
भारत की भावी राजनीतिक व्यवस्था के बारे में संविधान सभा की अवधारणाएं
(PERCEPTIONS OF THE CONSTITUENT ASSEMBLY ABOUT THE FUTURE INDIAN POLITY)

प्रत्येक देश के सविधान को सविधान निर्माण का कार्य करने वाले व्यक्तियो के दृष्टिकोण के सन्दर्भ मे ही भली-भाँति समझा जा सकता है और भारतीय सविधान के सम्बन्ध मे यह बात नितान्त सत्य है। मार्च 1947 के पूर्व, जब तक कि भारत की एकता को बनाये रखने की आशा थी, उस समय तक सविधान सभा मे जो भी मसविदे प्रस्तुत किये गये, उनमे वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर बल दिया गया था, किन्तु जब भारत का विभाजन हो गया, तब उन्होने विघटनकारी तत्वों के सकट का अनुभव किया। इस सम्बन्ध मे के० वी० राव का यह कथन उल्लेखनीय है, **"गुरुत्वाकर्षण केन्द्र का स्थान बदल गया, इस नये भय से अनुप्राणित होकर और जिसका अनुमोदन भूतकालीन इतिहास से भी होता था, आदर्शवाद ने यथार्थवाद को जन्म दे दिया, इसलिए सरकार की निरंकुशता से व्यक्ति की रक्षा करने के स्थान पर उनकी चिन्ता अब यह होने लगी कि खतरनाक व्यक्तियो तथा समाज-विरोधी तत्वों से राज्य की रक्षा किस प्रकार की जाय।"** इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए किये गये सघर्ष, सामाजिक जीवन की कुरीतियो और धर्म-निरपेक्ष आन्दोलन आदि अनेक तत्वो ने सविधान-निर्माताओ के दृष्टिकोण को प्रभावित किया।

सविधान के प्रमुख प्रावधानो के सम्बन्ध मे सविधान सभा के दृष्टिकोण की विवेचना इस प्रकार की जा सकती है :

1. **प्रस्तावना (Preamble)**—सविधान की प्रस्तावना मे अभिव्यक्त विचारो को सविधान सभा ने अपने प्रथम अधिवेशन मे ही 'उद्देश्य प्रस्ताव' पारित करके स्वीकार कर लिया था। प्रस्तावना के प्रारम्भिक शब्दो मे ही यह भाव निहित है कि सविधान का उद्भव जनता की इच्छा से ही हुआ है और अन्तिम सत्ता जनता मे ही निवास करती है। प्रस्तावना सविधान सभा के इस सकल्प की घोषणा है कि वह भारत को **'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य'** बनायेगी। प्रस्तावना के इस अंश के सम्बन्ध मे सभा के कुछ सदस्यो ने प्रश्न किया कि भारत गणराज्य राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को कैसे स्वीकार कर सकता है। सभा के परामर्शदाता **बी० एन० राव** ने इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कहा कि **"राष्ट्रमण्डल की धारणा मे स्पष्टतया विकास होता जा रहा है और वह अब उस स्तर पर पहुँच चुका है जिसमें गणतान्त्रिक संविधान वाले राज्यो को स्थान दिया जा सकता है।"**

सभा के कुछ सदस्य भारतीय राजव्यवस्था को एक विचारधारा विशेष से सम्बद्ध करना चाहते थे और इस दृष्टि से प्रस्ताव मे सशोधन के द्वारा यह सुझाव रखा गया था कि 'प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतान्त्रिक समाजवादी गणराज्य' बनाने की व्यवस्था होनी चाहिए। किन्तु इस सशोधन को स्वीकार नही किया गया। इसके विरुद्ध डॉ० अम्बेडकर ने तर्क दिया कि **आने वाली पीढ़ियों**

को एक विशेष प्रकार की अर्थव्यवस्था के साथ नहीं बांध दिया ज
कार्य बाद मे चुनकर आने वाली ससदो पर छोड दिया जाना चा

2. **मौलिक अधिकार** (Fundamental Rights)—पा
अधिकारो की धारणा का उदय जनता विशेषतया मध्यम वर्ग को शा
के लिए हुआ है और भारत मे भी इन अधिकारो की पृष्ठभूमि य
व्यवस्था करते समय संविधान निर्माता इस तथ्य से परिचित थे f
अधिकारपत्र को जन्म दिया था, उनके दिन अब लद चुके हैं तथा उसका स्थान कल्याणकारी राज्य की धारणा ने ले लिया है। परन्तु सविधान-निर्माताओ का विचार था कि भारत मे लोककल्याण-कारी राज्य के दायित्वो को पूरा करने की आर्थिक क्षमता नही है। अपनी इस धारणा के आधार पर उन्होने अधिकारों को दो भागो मे बाँटा—**वादयोग्य अधिकार** (Justiciable right) और **अवादयोग्य अधिकार** (Non-justiciable right)। इस प्रकार का विभाजन सवैधानिक परा-मर्शदाता **बी० एन० राव** के सुझाव के आधार पर किया गया था।[1] लेकिन सविधान सभा के अनेक सदस्य इस प्रकार के विभाजन से सहमत नही थे। सविधान सभा के अनेक सदस्यो—विशेषतया कुंजरू, प्रमोद रंजन ठाकुर, सोमनाथ लाहिड़ी और आर० के० सिधावा आदि ने विचार व्यक्त किये थे कि वादयोग्य और अवादयोग्य अधिकारो मे विभाजन रेखा खीचना कठिन है और 'रोजगार के अधिकार' आदि आर्थिक अधिकारो को मौलिक अधिकारो की सूची मे स्थान दिया जाना चाहिए, जिससे राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय की वास्तविक रूप मे ही प्राप्ति की जा सके।[2] मौलिक अधिकारो के मसविदे मे आर्थिक अधिकारो की अनुपस्थिति पर टिप्पणी करते हुए **विशम्भर दयाल त्रिपाठी** ने कहा था कि **"मताधिकार को छोड़कर संविधान के अन्तर्गत गरीब आदमी को कोई दूसरा अधिकार उपलब्ध नहीं हुआ।"**[3]

अधिकार सम्बन्धी मसविदे की इस आधार पर आलोचना की गयी कि अधिकारो पर बहुत अधिक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। इस प्रकार का विचार कुंजरू, एच० वी० कामथ, सोमनाथ लाहिड़ी, बख्शी टेकचन्द, महावीर त्यागी और अन्य अनेक सदस्यो द्वारा व्यक्त किया गया। लेकिन सरदार पटेल और एन० जी० रंगा आदि सदस्यो द्वारा इन प्रतिबन्धो को औचित्य-पूर्ण बताया गया। इन प्रतिबन्धो का आधार बतलाते हुए **श्री मुन्शी** ने सविधान सभा मे कहा था कि **"सभा के अधिकांश सदस्य व्यक्तिगत स्वाधीनता की अपेक्षा सामाजिक नियन्त्रण को स्थापित करने के लिए अधिक चिन्तित थे।"**[4] इसी दृष्टिकोण के आधार पर सविधान के 21वें अनुच्छेद मे 'कानून की उचित प्रक्रिया' शब्दो के स्थान पर **'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर'** शब्दावली को अपनाया गया।

जिस अधिकार और धारा ने संविधान सभा में सबसे अधिक विवाद को जन्म दिया, वह सम्पत्ति का अधिकार और उससे सम्बन्धित धारा 31 थी। 19 मार्च, 1955 को संसद के चौथे संवैधानिक संशोधन पर डॉ० अम्बेडकर के भाषण का यह अश उल्लेखनीय है: **"जब 31वीं धारा की रचना हो रही थी, उस समय कांग्रेस दल अपने भीतर इस तरह विभाजित था कि हम यह नहीं जानते थे कि हम क्या करें, उसमें क्या व्यवस्था करें और क्या व्यवस्था न करें।"** संविधान सभा मे व्यक्त किया गया एक दृष्टिकोण व्यक्ति के अधिकार से सम्बन्धित था तो दूसरा सामाजिक हित से सम्बन्धित। सम्पत्ति के अधिकार की व्यवस्था इस रूप मे की गयी कि इन दोनो परस्पर

---

1 B. N Roa, *op. cit*, p 249.
2 *C. A. D.*, Vol III, pp 382-384.
3 *C. A. D.*, Vol. V. p. 376.
4 K. M. Munshi's Speech, Dec. 6.,

सविधान दृष्टिकोणो मे समन्वय स्थापित हो। इसके साथ ही इस विचार को अपनाया गया कि व्यवस्थापिका विश्लेषण मे सन्तुलन स्थापित करने वाली सत्ता का निवास प्रभुत्वपूर्ण विधानमण्डल मे पूर्ण होना चाहिए, न्यायपालिका ब्यौरे की जाँच करे, किन्तु मूल सिद्धान्तो की नहीं।

3 **नीति निर्देशक सिद्धान्त** (Directive Principles)—संविधान के चौथे अध्याय में नीति निर्देशक सिद्धान्तो पर अपेक्षाकृत सक्षिप्त वाद-विवाद ही हुआ।

सविधान सभा के कुछ सदस्यो—विशेषतया काजी सैयद करीमुद्दीन, हरिविष्णु कामथ, प्रो० नासिरुद्दीन और के० टी० शाह आदि ने उस बात पर बल दिया कि इन सिद्धान्तो का क्रियान्वयन राज्य के लिए अनिवार्य होना चाहिए। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए यह सशोधन प्रस्तुत किया गया कि शीर्षक मे 'निर्देशक' के स्थान पर 'मौलिक' शब्द का प्रयोग किया जाय। डॉ० अम्बेडकर और अन्य सदस्यो द्वारा इस प्रकार के सशोधन और उनके पीछे निहित भावना को अस्वीकार कर दिया गया। उनके द्वारा कहा गया कि 'मौलिक' शब्द का प्रयोग आवश्यक है, क्योंकि 'मौलिक' शब्द का प्रयोग न करते हुए भी इन्हे राज व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्तों के रूप मे ही मान्यता प्रदान की गयी है। द्वितीय, इन सिद्धान्तो का प्रयोजन आने वाली व्यवस्थापिकाओ और कार्यपालिकाओ को निर्देश देना ही है और इस दृष्टि मे 'निर्देशक' शब्द ही उचित है।

इन तत्वो का उद्देश्य आर्थिक-सामाजिक न्याय की प्राप्ति ही कहा जा सकता है, लेकिन इस सम्बन्ध मे की गयी समस्त व्यवस्था मे स्पष्टता को अपनाने के बजाय अस्पष्टता को बनाये रखना ही उचित समझा गया। उदाहरण के लिए, सविधान-निर्माताओ ने न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करने के सम्बन्ध मे तीन वर्ष की समय सीमा प्रस्तावित की थी, लेकिन अन्तिम रूप मे टी० टी० कृष्णमाचारी आदि के विचार को अपनाया गया कि "समय सीमा की कोई आवश्यकता नही है और पृथक्करण के विचार की अभिव्यक्ति मात्र ही पर्याप्त है।" संविधान सभा के कुछ मुस्लिम सदस्यो ने एक समान नागरिक सहिता पर आपत्ति की थी और कहा था कि इससे मुसलमानो के धार्मिक अधिकारो पर चोट पहुँची है। श्री मुन्शी ने इन आलोचनाओं का उत्तर देते हुए कहा कि "सविधान सभा ने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को पहले से ही मान्यता दे रखी है और यह व्यवस्था उसके ही अनुकूल है।" सविधान के प्रारूप मे गांधीवादी आदर्शों को कोई स्थान नही दिया गया था, इस अभाव की पूर्ति ग्राम पचायतो, कुटीर उद्योगो, नशाबन्दी तथा कृषि एव पशुपालन को प्रोत्साहन आदि की व्यवस्था नीति निर्देशक तत्वो मे करते हुए की गयी। नीति निर्देशक सिद्धान्तो को सविधान मे स्थान देकर सविधान-निर्माताओ ने जनता के सामाजिक एव आर्थिक अधिकारो को मान्यता प्रदान की है और इस प्रकार उन्होंने समाजवादी आदर्शों मे अपनी आस्था व्यक्त की, लेकिन वस्तुतः उनमे समाजवादी आदर्शों की अपेक्षा उदारवादी आदर्शों की प्रबलता थी और इसी कारण इन नीति निर्देशक तत्वो को अवादयोग्य स्थिति ही प्रदान की गयी।

4 **संघीय कार्यपालिका : राष्ट्रपति** (Union Executive : President)—**बी० एन० राव ने लिखा है कि "कार्यपालिका के प्रकार का चुनाव नवीन संविधान की रचना में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न था।"** सविधान-निर्माताओ को तीन प्रकार की कार्यपालिकाओं मे से किसी एक का चुनाव करना था। ये थी—स्विस प्रकार की कार्यपालिका, अमरीकी प्रकार की कार्यपालिका तथा ब्रिटिश प्रकार की कार्यपालिका। सविधान सभा के सदस्यो में इस प्रश्न पर मतभेद था। सभा के गैर-कांग्रेसी सदस्य विशेषतया मुस्लिम सदस्य स्विस प्रकार की कार्यपालिका चाहते थे। कुछ अन्य शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता अनुभव करते हुए अमरीकी ढग की कार्यपालिका के पक्ष मे थे। लेकिन सभा के अधिकाश सदस्य ससदीय कार्यपालिका के पक्ष मे थे। इस सम्बन्ध मे सामान्य भावनाओ को व्यक्त करते हुए पं० नेहरू ने कहा था कि "हम अब तक

प्राप्त अनुभव के प्रतिकूल दिशा में नहीं जा सकते।" यह भी सोचा ीशो
कार्यपालिका के बीच संघर्ष को संसदीय कार्यपालिका अपनाकर ही
उपर्युक्त पृष्ठभूमि में यह निश्चित किया गया कि संघीय क
प्रथम राष्ट्रपति, जो ब्रिटिश सम्राट की भाँति राज्य का संवैधानि
प्रधानमन्त्री सहित मन्त्रिपरिषद, जो वास्तविक कार्यपालिका होगी तथा जिसके द्वारा संसद के प्रति उत्तरदायी रहते हुए कार्य किया जायगा। संविधान सभा मे बार-बार इस बात को दोहराया गया कि राष्ट्रपति एक संवैधानिक अध्यक्ष मात्र होगा और उसे कोई वास्तविक शक्तियाँ प्राप्त न होंगी।

राष्ट्रपति का निर्वाचन—कुछ सदस्यों ने राष्ट्रपति के लिए वयस्क मताधिकार पर आधारित प्रत्यक्ष निर्वाचन का सुझाव देते हुए कहा था कि **"राज्य के अध्यक्ष को जनता की सामूहिक क्षमता एवं प्रभुसत्ता का वास्तविक प्रतिनिधि होना चाहिए।"** किन्तु सभा के बहुमत ने इसे अस्वीकार करते हुए इसके विरुद्ध तीन तर्क दिये। **प्रथम**, भारत जैसे विशाल देश मे राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष निर्वाचन अव्यावहारिक होगा। **द्वितीय**, इतने बडे चुनाव को सम्पन्न करने के लिए बहुत बड़ी संख्या मे चुनाव अधिकारियो की आवश्यकता होगी। तृतीय और सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह था कि इस प्रकार का निर्वाचन संविधान मे निहित राष्ट्रपति की स्थिति से मेल नही खाता। **डॉ० अम्बेडकर ने** कहा था कि **"यह बात कुछ अटपटी-सी होगी कि राष्ट्रपति को व्यापक मताधिकार के आधार पर निर्वाचित किया जाय और फिर उसे कोई वास्तविक शक्ति न दी जाय।"** अत: यह निश्चित किया गया कि राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचन मण्डल द्वारा किया जाय, जिसमे संसद के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्यो के अतिरिक्त राज्यों की विधानसभाओ के निर्वाचित सदस्य भी हो और यह निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर सम्पन्न हो।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ—राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियो पर भी संविधान सभा मे उग्र वाद-विवाद किया गया। इनकी आलोचना करते हुए इन्हे अलोकतान्त्रिक और संघवाद के सिद्धान्त के प्रतिकूल कहा गया। **श्री** कामथ ने इसकी तुलना जर्मनी के वायमर संविधान से की, जिसका लाभ उठाकर हिटलर तानाशाह बन बैठा। परन्तु ए० के० अय्यर और अन्य ने इनका समर्थन करते हुए कहा कि **"समस्त देश मे संवैधानिक व्यवस्था को कायम रखना संघीय सरकार** का उत्तरदायित्व है और इन शक्तियो का प्रयोग राष्ट्रपति नही, वरन संसद के प्रति उत्तरदायी केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ही करेगा।" 'संविधान सभा वाद-विवाद' के अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट है कि संविधान-निर्माता यह कभी भी नही सोचते थे कि संकटकालीन शक्तियो का प्रयोग इतने लम्बे समय के लिए और बार-बार किया जायगा। डॉ० अम्बेडकर ने तो आशा व्यक्त की थी कि इन व्यवस्थाओ को **"कभी भी कार्य रूप मे परिणित नहीं किया जायगा।"** कहने की आवश्यकता **नही कि व्यवहार मे शासन का आचरण संविधान-निर्माताओ की आशा के प्रतिकूल हो रहा है।**

5. **संघीय कार्यपालिका . मन्त्रिपरिषद (Union Executive : Council of Ministers)**—सभा मे मन्त्रियो की योग्यता सम्बन्धी प्रावधानो पर भी पर्याप्त वाद-विवाद हुआ था। महावीर त्यागी का मत था कि मन्त्रियो के लिए कुछ शैक्षणिक योग्यताएँ निर्धारित की जानी चाहिए। परन्तु सदस्यो को यह सुझाव मान्य नही था। प्रशासन मे शुद्धता बनाये रखने के लिए श्री कामथ और के० टी० शाह का मत था कि मन्त्रियो के लिए नियुक्ति के समय अपनी आर्थिक स्थिति का ब्यौरा प्रस्तुत करना आवश्यक हो। किन्तु **डॉ०** अम्बेडकर को इस **सुझाव की उपादेयता पर सन्देह था।**

6 **संघीय संसद (Union Parli** एम० पणिक्कर, गोपाल
और अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने ... र्थन किया। लेकिन

द्वितीय सदन के प्रावधान का विरोध किया। श्री शिब्बनलाल सक्सेना ने भी साहिर के इस मत का समर्थन किया कि द्वितीय सदन की रचना अप्रजातान्त्रिक थी और इससे देश की प्रगति में अनावश्यक रूप से बाधा पड़ सकती थी। श्री जयप्रकाश नारायण ने भी यही सुझाव दिया कि संसद एक-सदनीय बनायी जानी चाहिए।

प्रो० के० टी० शाह और अन्य सदस्यों ने आशंका व्यक्त की थी कि राष्ट्रपति द्वारा राज्य सभा के सदस्यों को मनोनीत किये जाने पर राष्ट्रपति आलोचना का शिकार हो सकता है, लेकिन इसके बावजूद संविधान सभा ने यह व्यवस्था की कि राज्य सभा में 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होंगे। यह सुझाव दिया गया था कि द्वितीय सदन में सभी इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, लेकिन संवैधानिक परामर्शदाता इसके विरुद्ध थे क्योंकि उस स्थिति में देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की भरमार हो जायेगी और ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों की संख्या कम हो जायेगी।[1]

प्रारूप समिति ने लोकसभा के निर्वाचन के लिए वयस्क मताधिकार की सिफारिश की थी और सभा ने इसका व्यापक स्वागत किया था। परन्तु डॉ० राजेन्द्र प्रसाद और डॉ० मुंशी जैसे व्यक्तियों ने कहा था कि "सिद्धान्त रूप में वयस्क मताधिकार श्रेष्ठ होते हुए भी भारत की विशेष परिस्थितियों के कारण हमें इस दिशा में धीरे-धीरे ही कदम बढ़ाना चाहिए।"[2] इसी प्रकार प्रारूप समिति ने अल्पसंख्यकों के लिए स्थान सुरक्षित रखने की सिफारिश की थी। सरदार हुकमसिंह ने इसका विरोध करते हुए कहा था कि "यदि पृथक् निर्वाचन प्रणाली ने सम्प्रदायवाद को बल पहुँचाया तो स्थान सुरक्षित रखने की पद्धति से उसे कुछ कम बल नहीं मिलेगा।"[3] संविधान सभा ने इस सम्बन्ध में प्रारूप समिति के दृष्टिकोण को ही स्वीकार किया। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने विचार व्यक्त किया कि संसद सदस्यों के लिए शैक्षणिक योग्यता निश्चित की जानी चाहिए, लेकिन संविधान सभा ने इस सुझाव को अव्यावहारिक मानते हुए अस्वीकार कर दिया।

7. संघीय न्यायपालिका (Union Judiciary)—भारत में दोहरी राजनीतिक व्यवस्था के होते हुए भी संविधान सभा द्वारा एकीकृत (Integrated) न्यायपालिका को ही अपनाया गया। प्रो० के० टी० शाह ने संविधान सभा में इस आशय का एक संशोधन प्रस्तुत किया था कि "न्याय-पालिका को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से पूर्णतया पृथक् और स्वतन्त्र रखा जायगा।"[4] प्रारूप समिति यद्यपि उस प्रस्ताव की वांछनीयता से सहमत थी, लेकिन उसने इसे अव्यावहारिक मानकर अस्वीकार कर दिया। के० एम० मुन्शी ने कहा था कि "अमेरिका में भी, जहाँ पृथक्करण के सिद्धान्त को अस्वीकार किया गया है, ऐसे बहुत-से न्यायिकाधिकार हैं जिन्हें कार्यपालिका और प्रशासकीय अभिकरणों में निहित किया गया है।" न्यायपालिका की स्थिति के सम्बन्ध में सभा द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए डॉ० अम्बेडकर ने कहा कि "हम राज्य के भीतर राज्य की रचना नहीं करना चाहते परन्तु उसके साथ ही हम यह चाहते हैं कि न्यायपालिका को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान की जाये, जिससे वह कार्यपालिका के भय अथवा पक्षपात के बिना कार्य कर सके।"[5]

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए प्रो० के० टी० शाह का सुझाव था कि उच्च न्यायालय अथवा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को किसी भी स्थिति में किसी कार्य-

---

1 B N Rao, *Indian's Constitution in Making*, p. 25.
2 C. A. D, Vol XI, p 786
3 C A. D., Vol VII, p 1249.
4 C A D, Vol. VIII, p. 219
5 C. A. D., Vol. VIII, p. 97.

पालिका पद पर नियुक्त न किया जाय। डॉ० अम्बेडकर ने अपने उत्तर मे सेवारत न्यायाधीशों की नियुक्ति का समर्थन किया क्योकि "बहुत-से ऐसे मामले होते हैं जिनमे विशिष्ट प्रकार की न्यायिक क्षमता से सम्पन्न व्यक्ति की नियुक्ति बहुत आवश्यक होती है।" संविधान सभा ने न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को मान्यता तो प्रदान की, लेकिन साथ ही उन्होने इस बात का ध्यान रखा कि सर्वोच्च न्यायालय इतना शक्तिशाली न हो जाय कि वह राज्य के अन्य अभिकरणो के कार्यों मे हस्तक्षेप करने लगे। इस प्रकार उन्होने न्यायपालिका और व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता के बीच समन्वय स्थापित किया।

8. **उपराष्ट्रपति का पद** (Office of the Vice-President)—प्रो० के० टी० शाह व मोहम्मद ताहिर चाहते थे कि राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति का चुनाव समान रीति से हो। डॉ० महबूब अली बेग उपराष्ट्रपति की पदच्युति के लिए दोनो सदनो के दो-तिहाई मत की व्यवस्था चाहते थे। मोहम्मद ताहिर चाहते थे कि उपराष्ट्रपति को पदच्युत करने वाली सूचना तीस सदस्यों के हस्ताक्षर बिना प्रभावी न हो।

9 **वयस्क मताधिकार** (Adult Franchise)—क्या वयस्क मताधिकार, जिसके फलस्वरूप निर्वाचको की सख्या 3 करोड़ 50 लाख से बढकर 17 करोड हो जाने वाली थी, लागू किया जाये? मौलाना आजाद ने कहा कि इस कदम को पन्द्रह वर्ष के लिए स्थगित कर दिया जाय। राजेन्द्रप्रसाद तथा जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि वयस्क मताधिकार काग्रेस द्वारा दिया गया एक वचन था जिसे तोडा नही जा सकता था और इसलिए उसको जल्दी-से-जल्दी लागू किया जाना अनिवार्य था। यह प्रस्ताव करतल नाद के साथ पास हुआ।

10. **जम्मू और कश्मीर** (Jammu & Kashmir)—नेहरू इस पक्ष मे थे कि जम्मू और कश्मीर राज्य के साथ विशेष उपबन्धो के बारे मे एक धारा संविधान मे शामिल की जाये, जिसका अन्तर्निहित अर्थ यह था कि भारतीय सघ का अग होने के बावजूद उस राज्य को अपना अलग विधान बनाने का अधिकार था। पटेल चाहते थे कि कश्मीर राज्य पूरी तरह भारतीय सघ मे विलयित हो। मन्त्रिमण्डल इस प्रश्न पर विभक्त था और संविधान सभा मे मतो की प्रवृत्ति पटेल के पक्ष मे थी। लेकिन जब यह प्रश्न असेम्बली के सामने प्रस्तुत हुआ तो सरकार की एकता के हित मे पटेल ने अपना दृष्टिकोण वापस ले लिया।

11. **अल्पसंख्यकों की सुरक्षा** (Protection of Minorities)—सबसे नाजुक मामला अल्पसख्यको की सुरक्षा से सम्बन्धित था। आजाद चाहते थे कि सामान्य चुनाव क्षेत्रो के होते हुए भी मुसलमानो तथा अल्पसख्यको के लिए सीट आरक्षित की जाये। पटेल इस प्रकार के आरक्षणो के विरुद्ध थे। इस समस्या के समाधान मे दो महिलाओ ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारतीय ईसाइयो की ओर से बात करते हुए राजकुमारी अमृतकौर ने कहा कि धर्म या जाति के आधार पर आरक्षण या अन्य रियायत प्रदान करने से भारतीय सघ की एकता खण्डित होती थी। पटेल ने लखनऊ की बेगम एजाज रसूल से मुसलमानो का पक्ष प्रस्तुत करने को कहा। बेगम ने कहा कि जो मुसलमान भारत मे रह गये थे राष्ट्र का अभिन्न अग थे और इसलिए उन्हे विशेष सुरक्षा की आवश्यकता नही थी। पटेल ने तुरन्त यह बात पकड ली। उन्होने कहा कि मुसलमान सर्वसम्मति से सयुक्त चुनाव-क्षेत्रो के पक्ष मे थे और बैठक समाप्त कर दी।

निष्कर्ष (Conclusions)—संविधान के विभिन्न प्रावधानो के सम्बन्ध मे सविधान-निर्माताओ द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण से यह नितान्त स्पष्ट है कि सविधान-निर्माता सिद्धान्तवादिता के स्थान पर व्यावहारिकता से प्रेरित थे। सविधान निर्माण के प्रत्येक पहलू पर विभिन्न मत और दृष्टिकोण प्रकट किये गये तथा वाद-विवाद मे विभिन्न प्रवृत्तियो का उद्घाटन हुआ। सविधान सभा मे अधिकाश निर्णय यथासम्भव सामान्य राय से लिये जाने की कोशिश की गयी।

रजनी कोठारी लिखते हैं कि "इन दृष्टिकोणों से पता चलता है कि नये राष्ट्र की संस्थाओ का ढाँचा तैयार करते समय किस प्रकार निर्णय लिये गये। यह सविधान भारत के भविष्य की आधारशिलावत् था और इसकी रचना मे नेताओ ने पुराने और नये विचारो में अधिक-से-अधिक सामंजस्य लाने का प्रयत्न किया।"

सविधान जिस रूप मे तैयार किया गया वह एक राजनीतिक दस्तावेज था। यद्यपि इसमे समाजवादी व्यवस्था कायम करने का दावा नही किया गया था किन्तु सामान्य वयस्क मताधिकार, नागरिको के लिए राजनीतिक अधिकारो की गारण्टी एवं विभाजित देश की एकता को मजबूत रखने की व्यवस्था अवश्य की गयी। सघीय ढाँचे मे मजबूत केन्द्रीय प्रशासन, मौलिक अधिकार एवं उनके मुकाबले मे राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त, मजबूत एव केन्द्रित नौकरशाही सहित वयस्क मताधिकार एवं निर्वाचन पर आधारित ससदीय प्रणाली, न्यायिक पुनरीक्षण तथा सोवियत प्रकार का केन्द्रीय आयोजन आदि बातो की व्यवस्था सविधान मे की गयी थी। एक ऐसे धर्म-निरपेक्ष राज्य की व्यवस्था की गयी जिसमे भाषायी एव धार्मिक अल्पसख्यकों को सरक्षण प्रदान किया गया। अनुसूचित जाति एव आदिम जाति के लोगो की उन्नति के लिए भी प्रावधान किया गया जो आबादी के अनुपात मे 20 प्रतिशत होते हुए भी उत्पादन के साधनों से वंचित हैं एव अपने श्रम को ऐसी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे बेचने के लिए विवश है जो पूर्णत· विकसित नही है। संविधान मे ससद् को ऐसे सामान्य एवं संवैधानिक विधान पारित करने की भी शक्तियाँ दी गयी जिनके द्वारा सस्थागत एव रचनात्मक सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन सम्भव हो सके। यह भिन्न बात है कि 1950 के बाद विभिन्न परस्पर विरोधी वर्गों के बीच, संसद और न्यायपालिका के बीच अथवा मौलिक अधिकारों तथा निर्देशक सिद्धान्तो के बीच पैदा हुए सघर्षों का समाधान कैसे किया गया। यद्यपि सविधान मे 63 बार सशोधन किये जा चुके है फिर भी कुल मिलाकर यह संविधान सफल रहा है। इस सविधान के अन्तर्गत देश मे नौ बार आम चुनाव हो चुके हैं। संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने निम्नलिखित शब्दो में सक्षिप्त रूप से यह बताया कि संविधान की क्या सीमाएँ हैं, "26 जनवरी, 1950 से हम ऐसा जीवन आरम्भ करने जा रहे हैं जिसमे अन्तर्विरोध होगे। हमे राजनीतिक समानता प्राप्त हो जायेगी किन्तु सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारो की असमानता कायम रहेगी। राजनीतिक क्षेत्र मे हम यह सिद्धान्त स्वीकार करने जा रहे है कि एक व्यक्ति का एक मत होगा जिसका एक ही मूल्य होगा। किन्तु अपने सामाजिक तथा आर्थिक ढांचे के रहते सामाजिक तथा आर्थिक विषयो के विषय मे हम मूल्यों की प्रति व्यक्ति समानता नही ला पायेगे ···। हमे इस अन्तर्विरोध को यथाशीघ्र समाप्त करना होगा अन्यथा जो लोग असमानता को सह रहे है वह राजनीतिक जनतन्त्र के उस ढांचे को ध्वस्त कर देंगे जिसका निर्माण इस सभा ने इतने परिश्रम से किया है।"[1]

---

1 *Constituent Assembly Debatee*, Vol. XI, p. 979.

3

भारतीय संविधान के स्रोत एवं विशेषताएँ

[SOURCES AND SALIENT FEATURES OF THE INDIAN CONSTITUTION]

हमारी शासन-व्यवस्था का संचालन हमारे संविधान के अनुसार ही होता है। सविधान शासन-व्यवस्था को आधार प्रदान करता है। संविधान राजनीतिक व्यवस्था का खाका मात्र न होकर राष्ट्र की जनता की आस्थाओ एव मान्यताओ की अभिव्यक्ति करता है। संविधान पदो का विन्यास मात्र ही नही होता वरन् जीवन की एक शैली है। हमारे संविधान-निर्माताओ का ध्येय ऐसे व्यावहारिक संविधान का निर्माण करना था जिसे भारत की विशिष्ट परिस्थितियों एवं संकट की घडियो मे भी चलाया जा सके। संविधान सभा मे प्रारूप समिति के अध्यक्ष **डॉ० अम्बेडकर** ने स्पष्टत स्वीकार किया था कि "हमारे संविधान मे यदि नवीन वात हो सकती है, तो यही कि उसके द्वारा पुराने प्रचलित सविधान की गलतियो को दूर कर दिया जाये और उसे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जाये। उधार लेने मे किसी तरह की साहित्यिक चोरी नही है। शासन और विधान के बुनियादी सिद्धान्तो के वारे मे किसी का कोई एकाधिकार नही होता।"

सविधान-निर्माताओ को इस वात का अहसास था कि वे भारत जैसे विशाल और वैविध्यता-पूर्ण देश के लिए एक ऐसा विधान वना रहे थे जो न केवल सामयिक समस्याओ और सकटो के भँवर में मे राष्ट्र की नौका को सफलतापूर्वक खे सके वरन् युग-युग तक देश का दिशासूचक वना रहे। यह तभी सम्भव था जवकि संविधान की आत्मा और व्यावहारिकता, निजी सास्कृतिक धरोहर एवं परदेशी अनुभवो का वह श्रेष्ठ समन्वय वन पड़े।

भारतीय संविधान के स्रोत
(SOURCES OF THE INDIAN CONSTITUTION)

सविधान-निर्माता अनेक स्थानो से सविधान निर्माण के लिए विपय-वस्तु का सकलन करते हैं। सविधान सभा द्वारा निर्मित लिखित दस्तावेज ही सविधान नही होता। संविधान की विचार-धारा, मान्यताएँ एव दर्शन को कही-न-कही से प्रेरणा अवश्य मिलती हैं। सविधान निर्मित शासन-तन्त्र का आधार भी किसी-न-किसी अन्य तन्त्र से स्फूर्ति ग्रहण करता है। यह वात सच है कि ब्रिटिश हुकूमत समाप्त होने के वाद 26 जनवरी, 1950 को भारत का जो नया सविधान लागू किया गया वह विभिन्न देशी-विदेशी प्रभावो से मुक्त है। नवीन सवैधानिक ढाँचा ब्रिटिशकालीन शासन-व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण विरासत थी। अनेक विरासतो ने देश के नवीन संविधान निर्माण को दिशा दी थी। विदेशी संविधानो की अनेक अच्छी वाते संविधान-निर्माताओ ने ग्राह्य कर ली तथा एक सुन्दरतम सवैधानिक आलेख का निर्माण किया।

भारतीय सविधान के मुख्य स्रोत इस प्रकार है :

(1) **भारतीय संविधान का मूल दस्तावेज** (Original Constitution)—भारत का संविधान संविधान-निर्मात्री सभा द्वारा निर्मित लिखित आलेख है। इसमे 395 अनुच्छेद और 10 अनुसूचियाँ

हैं। इस सविधान को स्वरूप की दृष्टि से विश्व का सबसे बडा सविधान कहा जा सकता है क्योकि इसमे लगभग 22 भाग और 400 पृष्ठ है। हमारे सविधान मे केवल केन्द्रीय शासन के विभिन्न अगो के सगठन तथा कार्यो का ही वर्णन नही किया गया बल्कि अवयवी **एककों अर्थात्** राज्यो के संगठन का भी विस्तार से उल्लेख किया गया है। भारतीय सविधान-निर्माता देश को एक सूत्र मे बाँधने के लिए सारे देश के लिए एक ही सविधान देना चाहते थे। यही कारण है कि हमारे सविधान के मूलभूत दस्तावेज मे ऐसी बहुत-सी बातो का समावेश कर दिया गया जो साधारणतः सामान्य विधि-निर्माण के लिए छोड दी जाती है, जैसे—वित्त, सम्पत्ति, सविदाएँ, भारत राज्य क्षेत्र के भीतर व्यापार-वाणिज्य, संघ और राज्यो के अधीन सेवाएँ, राजभाषा, आदि।

2 **संविधान के वाद-विवाद** (Constituent Assembly Debates)—भारतीय सविधान को समझने के लिए सविधान सभा की 'डिबेट्स' का गम्भीर पारायण अनिवार्य है। सविधान **सभा** के वाद-विवाद प्रतिवेदन के अध्ययन मे सविधान-निर्माताओ के ध्येयो एव इच्छाओ का बोध **होता** है। सविधान सभा की कार्यवाही एव वाद-विवाद काफी विस्तृत है और उनके सूक्ष्म **अध्ययन** से सविधान मे प्रयुक्त शब्दावली का स्पष्ट भाव निकाला जा सकता है। **'गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य'** के विवाद मे भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने सविधान के वाद-विवाद का पर्याप्त लाभ उठाया ताकि अनुच्छेद 13 और 21 की समुचित व्याख्या की जा सके।

3 **पुराने संवैधानिक अधिनियम** (Old Constitutional Acts)—**नारमन डी० पामर** के अनुसार, "यह एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक तथ्य है कि भारत के प्रशासन के प्रति ब्रिटेन का विशाल वैधानिक योगदान, जिसकी व्यापक निन्दा हुई थी और पारित होते समय भारतीयो ने जिसको अधिकांश अस्वीकार कर दिया था, पन्द्रह वर्ष उपरान्त स्वाधीन भारत द्वारा इतना अधिक स्वीकार किया गया।" हमारे सविधान पर संवैधानिक कानूनो जैसे—1858, 1892, 1909, 1919 तथा 1935 का अत्यधिक प्रभाव है। सविधान मे अनेक बाते इन सवैधानिक अधिनियमो से ले ली गयी हैं। सच मे भारत का वर्तमान सविधान एक बहुत बडे अंश तक 1935 के भारत शासन अधिनियम पर आधारित है और उस नियम के अधिकाश उपबन्ध न्यूनतम आवश्यक सशोधनो के साथ संविधान मे सम्मिलित कर लिये गये है। यहाँ तक कि सविधान के आकार, उसकी विषय-सूची, आदि पर इस अधिनियम की गहरी छाप है। अधिनियम की लगभग 200 धाराएँ बहुत कुछ अक्षरश: या वाक्य रचना मे साधारण परिवर्तन करके नये सविधान मे ली गयी हे। उदाहरणार्थ, नये सविधान की 256वी धारा और 1935 के ऐक्ट की 126वी धारा में कोई विशेष अन्तर नही है। इन धाराओ द्वारा केन्द्र राज्यो को उचित निर्देशन देने का अधिकार रखता है। नये सविधान की 352 एव 353वी धाराएँ, जिनका राष्ट्रपति की सकटकालीन घोषणा से सम्बन्ध है, वाक्य रचना की दृष्टि से अधिनियम की धारा 103 से बहुत कुछ मिलती है। **डॉ० पी० देशमुख** के शब्दो मे, "सविधान 1935 का भारत सरकार अधिनियम ही है। सिर्फ वयस्क मताधिकार को जोड दिया गया है।" **डॉ० अम्बेडकर** ने भी कहा था कि "मै इस बात मे किसी प्रकार की लज्जा अनुभव नही करता कि हमने नवीन सविधान का निर्माण करते समय अधिनियम की बहुत-सी बातों को अपनाया है। किसी भी अच्छी बात को अपनाने मे सकोच नही होना चाहिए।"

4. **संविधियाँ, अध्यादेश, नियम-विनियम, आदेश, आदि** (Statues, Ordinances, Rules, Orders, etc)—सविधान के मूल प्रलेख के अतिरिक्त सविधियाँ, अध्यादेश, नियम-विनियम, आदेश, आदि भी हमारे संविधान के कानूनी तत्त्व है। सविधियाँ, केन्द्रीय और राज्य विधानमण्डलो द्वारा बनायी जाती है। केन्द्रीय संसद ने अनेक कानून बनाये हे जो सविधान के अभिन्न भाग बन गये हैं। इन अधिनियमो मे भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1959, जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1957; **राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम, 1952; अस्पृश्यता दण्ड**

अधिनियम, 1955 प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त, संसद को अपने कार्य-संचालन एवं कार्यप्रणाली हेतु नियम बनाने की भी शक्ति प्राप्त है।

अधिकांश नियम और आदेश तथा विभिन्न प्रकार के अध्यादेश केन्द्रीय और राज्य-कार्यपालिकाओं द्वारा बनाये जाते है। सविधान द्वारा राष्ट्रपति को नियम तथा विनियम बनाने की शक्ति प्रदान की गयी है। राष्ट्रपति केन्द्रीय सरकार के कार्यों तथा शासन सम्बन्धी विधियों के संचालन के लिए नियम बनाता है। यदि ससद एव राज्य विधानमण्डल की बैठक नही हो रही हो, तो राष्ट्रपति एव राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार है। संसद तथा राज्य विधानसभा की स्वीकृति से ये अध्यादेश बाद मे विधि का रूप ग्रहण कर सकते है। इस प्रकार संविधियो के साथ-साथ अध्यादेश भी भारतीय सविधान के अभिन्न अग है।

5. **संवैधानिक संशोधन** (Constitutional Amendents)—सन् 1950 से अब तक भारतीय सविधान मे 63 संशोधन हो चुके हैं और वे सब भारतीय संविधान के अभिन्न स्रोत है। इन संवैधानिक सशोधनो से सविधान की बुनियादी धारणा और स्वरूप मे अन्तर आया है। उदाहरणार्थ, सविधान के प्रथम, चतुर्थ, सत्रहवें, पच्चीसवे, छब्बीसवे, उन्तीसवें और चौवालीसवे सशोधनो द्वारा सम्पत्ति के अधिकार मे आधारभूत अन्तर आया है और अब सम्पत्ति का अधिकार एक मौलिक अधिकार नही रहा है। चौबीसवें सविधान सशोधन द्वारा ससद को संविधान के किसी भी उपबन्ध मे सशोधन करने का अधिकार प्राप्त हो गया है, जबकि सर्वोच्च न्यायालय ने गोलकनाथ के विवाद मे ससद के इस अधिकार को सीमित कर दिया था। इस सविधान संशोधनो द्वारा हमारा सविधान आर्थिक और सामाजिक न्याय का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज बन गया है। आज ससद संविधान सशोधन द्वारा हमारे राजनीतिक-सामाजिक जीवन का पथ प्रशस्त कर रही है। आज हम सचमुच सविधान के शान्तिमय माध्यम से सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने मे और एक नूतन न्यायमय समाज का निर्माण करने मे लगे हुए हैं।

6 **विश्व के अन्य सविधानो का प्रभाव** (Borrowing from the Constitution of other Countries)—यह बात तो निर्विवाद रूप मे स्वीकार करनी ही पड़ेगी—कि हमारे संविधान पर विदेशी विचारधाराओ एव शासन-विधानो की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। हमारे सविधान-निर्माता तो समस्त ज्ञान, शासन-विधानो के कार्यकारण से प्राप्त अनुभव अपने सविधान मे सँजोना चाहते थे। इसी कारण हमारा संविधान विदेशी संविधानो की आदर्श व्यवस्थाओ का अपूर्व सग्रह बन गया है। सर्वप्रथम ब्रिटिश संविधान ने हमारे सवैधानिक कलेवर का निर्माण किया है। हमने ब्रिटिश आदर्श की ससदीय शासन-प्रणाली अपनायी है, जिसके अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है तथा राष्ट्रपति ब्रिटिश सम्राट की भाँति औपचारिक प्रधान ही है। ब्रिटिश संसद की भाँति हमारी लोकसभा देश की राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बना दी गयी है। हमारी ससद एवं विधानमण्डलो के प्रक्रिया, नियमो और परिपाटियो का निर्धारण भी ब्रिटिश नमूने पर ही किया गया है। जब तक हमारे यहाँ ससदीय विशेषाधिकारो का सहिताकरण नही किया जाता तब तक हमारे ससद सदस्यो को वे ही विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ मिलेंगी जो ब्रिटिश ससद के लोकसदन तथा इनके सदस्यो को प्राप्त हैं। अमरीकी संविधान के बुनियादी सिद्धान्तो का प्रभाव भी हमारे सविधान पर द्रष्टव्य है। सघात्मक शासन-व्यवस्था, मौलिक अधिकारो का अध्याय, स्वतन्त्र और निष्पक्ष सर्वोच्च न्यायालय एव न्यायिक पुनर्निरीक्षण का सिद्धान्त असन्दिग्ध रूप से अमरीकी सवैधानिक आदर्श पर ही अपनाये गये हैं। फ्रांसीसी संविधान की मिसाल पर हमारे नये स्वतन्त्र लोकतन्त्र को गणतन्त्र बनाया गया। अन्य संघो की भाँति हमारे संविधान द्वारा भी सघ और राज्यो के बीच शक्ति का विभाजन किया गया है। संविधान के इस अंश का निर्माण कनाडा के संघ की प्रेरणा पर आधारित है। परन्तु हमारे सविधान मे एक समवर्ती

सूची और जोड दी गयी है, जो आस्ट्रेलिया के सविधान की देन कही जा सकती है। आयरलैण्ड के सविधान से ही हमारे सविधान-निर्माताओ ने राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तो की प्रेरणा ली है। 'न्याय का समान सरक्षण' का क्षेत्र परिभाषित करते हुए हमारे सर्वोच्च न्यायालय की व्याख्या उस विषय पर अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय की व्याख्या मे मेल खाती है। इस प्रकार कभी-कभी विदेशी न्यायालयों के निर्णय भी हमारे न्यायालयो का मार्ग निर्देशन करते हैं।

7 **न्यायिक निर्णय** (Judicial Decisions)—भारतीय सविधान का एक प्रमुख स्रोत वे न्यायिक निर्णय है जो न्यायाधीशो ने समय-समय पर दिये है। न्यायाधीश सवैधानिक कानून की व्याख्या करते है और उनके निर्णय तब तक प्रभावी रहते हैं जब तक कि न्यायपालिका स्वय के द्वारा इस सम्बन्ध मे कोई अन्य निर्णय न दे दे। भारत के सर्वोच्च न्यायालय और विभिन्न उच्च न्यायालयो द्वारा ऐसे अनेक न्यायिक निर्णय दिये गये है जो हमारे देश के कानून का उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण भाग है जिस प्रकार कि सविधान के विभिन्न अनुच्छेद। उदाहरणार्थ, 'गोपालन 'बनाम **मद्रास राज्य'** के मुकदमे मे सर्वोच्च न्यायालय ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का क्षेत्र परिभाषित किया है। चिन्तामनराव के मुकदमे में अनुच्छेद 19 मे उल्लेखित उचित सीमाओ की व्याख्या की गयी है। आत्माराम के मुकदमे मे निवारक निरोध अधिनियम मे नजरबन्द व्यक्ति को प्राप्त सुरक्षाओं की व्याख्या की गयी है।

8 **प्रथाएँ एवं अभिसमय** (Customs and Conventions)—सविधान के अलिखित भाग के रूप मे प्रथाओ, अभिसमयो या परम्पराओं का विशिष्ट महत्त्व होता है। यद्यपि भारतीय संविधान लिखित है तथापि इसमे अनेक परम्पराएँ विकसित हो गयी है। कुछ महत्त्वपूर्ण परम्पराएँ इस प्रकार है—**प्रथम**, सविधान के अनुसार कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित है परन्तु परम्परा यह है कि वह मन्त्रिमण्डल के परामर्शानुसार ही कार्य करता है। **द्वितीय**, राष्ट्रपति लोकसभा को भग करता है किन्तु ऐसा वह प्रधानमन्त्री की सलाह से ही करेगा। **तृतीय**, प्रधानमन्त्री को नियुक्ति करने का अधिकार राष्ट्रपति को है किन्तु परम्परानुसार राष्ट्रपति उसी व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त करता है जो लोकसभा मे बहुमत दल का नेता होता है। **चतुर्थ**, राज्य मे राज्यपालो की नियुक्ति के सम्बन्ध मे यह परम्परा विकसित हुई है कि सम्बन्धित राज्य के मुख्यमन्त्री से परामर्श लिया जाये। **पंचम**, देश मे ससदात्मक शासन-प्रणाली का विकास पूर्ण रूप से प्रथागत ही हुआ है।

9. **सवैधानिक टीकाएँ एव सविधान विशेषज्ञो के विचार** (Commentaries on the Constitution and Views of the Constitutional Experts)—भारतीय सविधान का एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत भारतीय सवैधानिक कानून पर लिखी गयी टीकाएँ और ग्रन्थ है। इन टीकाओ और ग्रन्थो मे डी० डी० बसु द्वारा लिखित 'कमेण्ट्री आन दि कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया', ग्लेडहिल की 'दि रिपब्लिक ऑफ इण्डिया', एलेक्जेण्ड्रोविच की 'कान्स्टीट्यूशनल डेवलपमेण्ट इन इण्डिया', जैनिंग्स की 'सम करेक्टरिस्टिक्स ऑफ दि कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया', कौल एव शकधर की 'प्रेक्टिस एण्ड प्रोसीजर ऑफ पार्लियामेण्ट', इत्यादि प्रमुख है। सवैधानिक कानून के विशेषज्ञो मे एन० ए० पालकीवाला, सिरवई, नीरेन डे, लक्ष्मीमल्ल सिघवी, अशोककुमार सेन, एच० आर० गोखले, इत्यादि द्वारा समय-समय पर व्यक्त विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त, डायसी की 'ला ऑफ दि कान्स्टीट्यूशन' जैसी पुस्तको से भी भारतीय सविधान के सूक्ष्म पहलुओ पर प्रकाश पडता है।

संक्षेप मे, हमारे सविधान के निर्माताओ ने कभी यह दावा नही किया था कि वे कोई मौलिक अद्भूत सविधान खोज निकालेगे। वे तो अच्छा और काम-चलाऊ सविधान ही बनाना चाहते थे। वे इस लक्ष्य मे काफी सफल हुए है। यह आरोप कि हमारा सविधान अन्य देशो के सविधानो का अन्धानुकरण है, सविधान के आशिक अध्ययन पर आधारित है। डॉ० अम्बेडकर के **शब्दो मे, "अब यह सविधान पूर्णतया** व्यवहारजनक है......"यदि नवीन सविधान के अन्तर्गत

कुछ त्रुटियाँ हो तो उनका कारण यह नही होगा कि हमारा सविधान खराब है, वरन् हमे यह कहना पड़ेगा कि मानव स्वभाव दुष्ट है ।"

यह सच है कि हमारे सविधान के अत्यन्त अल्प प्रावधानो पर ही भारतीय इतिहास और सस्कृति की छाप झलकती है । फिर भी, भारतीयता और गाधीवाद की भावना को सविधाग मे यथोचित स्थान दिया गया है । हमने शासन की लोकतान्त्रिक पद्धति को अपनाया है जिसे नितान्त अभारतीय नही कहा जा सकता । प्राचीन भारत मे गणराज्यो एव जनपदो के अनेक उदाहरण इतिहास मे मिलते है । धार्मिक सहिष्णुता की भावना हमारे इतिहास की थाती रही है जिसे मौलिक अधिकारो के अध्याय मे समाविष्ट किया गया है । महात्मा गाधी के कतिपय महत्त्वपूर्ण आदर्शों जैसे—मद्यनिषेध, गौवधनिषेध, विकेन्द्रित आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था, कुटीर उद्योगो और स्वशासित ग्राम्य व्यवस्था (पचायती राज्य) को भी विधान मे स्थान दिया गया है । अत. विदेशी सविधानो की व्यवस्थाओं को अपनाने के उपरान्त भी हमारा सविधान बहुत अधिक भारतीय बन गया है ।

भारतीय संविधान की विशेषताएँ
(SALIENT FEATURES OF THE INDIAN CONSTITUTION)

भारतीय सविधान का स्वरूप किसी विदेशी सविधान का अनुकरण मात्र न होकर अपने मे एक अनुपम और नवीन प्रयोग है । इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है :

(1) **लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित संविधान** (Constitution Based on Popular Sovereignty)—भारतीय संविधान लोकप्रिय प्रभुत्ता पर आधारित सविधान हैं अर्थात् यह भारतीय जनता द्वारा निर्मित सविधान है और इस सविधान द्वारा अन्तिम शक्ति भारतीय जनता को ही प्रदान की गयी है । सविधान की प्रस्तावना मे कहा गया है, "**हम भारत के लोग.... दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा मे आज दिनांक 26 नवम्बर, 1949 ई० को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मसमर्पित करते है ।**"[1]

(2) **निर्मित, लिखित और सर्वाधिक व्यापक संविधान** (Enacted, Written and Most Comprehensive Constitution)—भारत मे सविधान का निर्माण एक विशेष समय पर विशेष सविधान सभा के द्वारा किया गया है और इस सविधान की अधिकाश बाते लिखित रूप मे है । इस दृष्टि से यह ब्रिटिश सविधान के विपरीत और अमरीकी सविधान की भाँति एक निर्मित और लिखित सविधान है । इसके अतिरिक्त, डॉ० **आइवर जैनिग्ज** के शब्दो में, "**भारतीय संविधान विश्व का सर्वाधिक व्यापक संविधान है ।**"[2] **भारत के सविधान में** 395 **अनुच्छेद,** 10 **अनुसूची और 4 परिशिष्ट है,** जबकि अमरीका के सविधान मे केवल 7, कनाडा के संविधान मे 147, आस्ट्रेलिया के सविधान मे 128 और दक्षिण अफ्रीका के सविधान मे 253 अनुच्छेद ही है । 42वें संवैधानिक सशोधन से तो भारतीय सविधान की व्यापकता में और वृद्धि हो गयी है । इस सवैधानिक सशोधन के द्वारा सविधान मे 11 नवीन अनुच्छेद और दो नवीन भाग (भाग चौथा 'व' और चौदहवां 'अ') जोडे गये है ।

सविधान इतना व्यापक क्यो ?—स्वरूप की दृष्टि से भारत का सविधान ससार का सबसे बडा संविधान है भारतीय संविधान के इतना बडा प्रलेख होने के अनेक कारण है :

(1) भारतीय सविधान सघात्मक है और सघ तथा राज्यो के बीच सम्बन्धो का न केवल सविधान मे बहुत व्यापक रूप से वर्णन किया गया है, वरन् इकाइयो के प्रशासनिक ढाँचे का भी

---

1 'We the people of India—in our Constituent Assembly on this twenty-sixth day of Nov., 1949, do hereby adopt, enact and give to ourselves this constitution "

2 Sir Ivor Jennings *Some Characteristics of Indian Constitution*, p. 13.

वर्णन किया गया है। (2) संविधान में मौलिक अधिकारों और विभिन्न परिस्थितियों में उन पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों की व्यवस्था के कारण संविधान के आकार में वृद्धि हो गयी है। इसके अतिरिक्त, संविधान में 'राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों' का भी पृथक् अध्याय रखा गया है। (3) संविधान-निर्माताओं ने संविधान में अल्पसंख्यकों और आंग्ल भारतीयों, अनुसूचित जातियों व जनजाति क्षेत्रों से सम्बन्धित विशेष वर्गों के हितों की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था करना आवश्यक समझा और संविधान के 16वें भाग में इन वर्गों के लिए विशेष व्यवस्थाएँ की गयी हैं। (4) नवजात प्रजातन्त्र के लिए संकट रूप में उत्पन्न होने वाली विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए संविधान के 18वें भाग में संकटकालीन प्रावधानों से सम्बन्धित 9 अनुच्छेदों को स्थान दिया गया है। (5) संविधान की व्यापकता का सबसे बड़ा कारण यह है कि भारतीय संविधान में न केवल मूल सिद्धान्तों का वर्णन, वरन् प्रशासनिक प्रबन्धों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। श्री निवासन के शब्दों में, **"भारतीय संविधान केवल एक संविधान नहीं है वरन् देश की संवैधानिक और प्रशासनिक पद्धति के महत्त्वपूर्ण पहलुओं से सम्बन्धित एक विस्तृत वैधानिक संहिता भी है।"**[1] संविधान में नागरिकता, राष्ट्रीय भाषा और क्षेत्रीय भाषाएँ, चुनाव, लोक सेवाएँ, संविदा और अभियोग व भारतीय क्षेत्र में व्यापक और पारस्परिक व्यवहार आदि से सम्बन्धित व्यवस्थाएँ भी की गयी हैं। वस्तुतः भारत में परिस्थितियों की जटिलता और तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय जनता की राजनीतिक अपरिपक्वता के कारण संविधान-निर्माताओं ने विस्तार की बातों को परम्पराओं या आगे आने वाली संसद पर छोड़ने की अपेक्षा स्वयं ही उनके सम्बन्ध में व्यवस्था कर लेना उचित समझा। **श्री हरिविष्णु कामथ** ने तो संविधान सभा में कहा था कि **"हमें इस बात का गर्व है कि हमारा संविधान विश्व का सबसे विशालकाल संविधान है।"**[2]

(3) **सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, लोकतान्त्रिक गणराज्य** (Sovereign, Democratic Republic)—संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है।

सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न—सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न का अर्थ यह है कि आन्तरिक या बाहरी दृष्टि से भारत पर किसी विदेशी सत्ता का अधिकार नहीं है। भारत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी इच्छानुसार आचरण कर सकता है और वह किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते या सन्धि को मानने के लिए बाध्य नहीं। भारत के संविधान में किसी भी स्थान पर ब्रिटिश सत्ता का उल्लेख नहीं किया गया है।

लोकतन्त्रात्मक राज्य—भारत एक लोकतन्त्रात्मक राज्य है अर्थात् भारत में राजसत्ता जनता में निहित है। जनता को अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार होगा, जो जनता के स्वामी न होकर सेवक होंगे।

भारत एक गणराज्य है—ब्रिटेन जैसे विश्व के कुछ ऐसे लोकतन्त्रात्मक राज्य हैं, जहाँ राज्य का प्रधान वंशानुगत राजा होता है। लेकिन भारत एक लोकतन्त्रात्मक राज्य होने के साथ-साथ एक गणराज्य है। **भारतीय राज्य का गणतन्त्रात्मक स्वरूप इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत राज्य का सर्वोच्च अधिकारी वंशक्रमानुगत राजा न होकर भारतीय जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति है।**

एक ओर तो भारत ने गणतन्त्रीय रूप स्वीकार किया, किन्तु इसके साथ ही 16 मई,

---

[1] N Shrinivasan *Democratic Government of India*, p 143

[2] "We are proud of that fact that our constitution is the bulkiest in the whole word."

—*H. V. Kamath*

1949 को भारत की संविधान सभा ने यह मान लिया कि भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहे। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के कारण अनेक व्यक्तियो का मत है कि क्योकि राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यो द्वारा ब्रिटिश सम्राट को अपने प्रधान के रूप मे स्वीकार किया जाना है, अतः भारत न तो सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है और न ही गणतन्त्र है।

वास्तव मे, उपर्युक्त विचार उचित नही है। इसका कारण यह है कि राष्ट्रमण्डल एक लचीला संगठन है और जिस समय भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता प्रदान की गयी, उसी समय राष्ट्रमडलीय सम्मेलन मे यह स्वीकार किया गया था कि राष्ट्रमण्डल मे भारत की स्थिति वैधानिक रूप मे अन्य उपनिवेशो की उपेक्षा कुछ अलग है। वास्तव मे, भारत राज्य की प्रभुत्व-सम्पन्नता या उसका गणतन्त्रात्मक रूप उसकी राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से अप्रभावित है। **श्री एम० रामास्वामी** के शब्दो मे, **"सम्राट राष्ट्रमण्डल का प्रधान अवश्य है किन्तु यह प्रधान पद केवल औपचारिक है और इसका सवैधानिक महत्त्व प्राय. बिल्कुल नहीं है।"**

इस प्रकार राष्ट्रमण्डल का सदस्य होते हुए भी भारत सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है।

(4) **समाजवादी राज्य** (Socialist State)—सविधान सभा मे इस बात पर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ था कि भारत के द्वारा समाजवाद को राज्य दर्शन के रूप मे स्वीकार किया जाय अथवा नही। अन्त मे यही सोचा गया था कि किसी एक विशेष दर्शन को स्वीकार करने से नवीन विवादो को जन्म मिलेगा। लेकिन इस बात पर सभी भारतीय सहमत रहे है कि भारत के लिए समाजवाद का मार्ग ही उपयुक्त हो सकता है। इस सामान्य भावना को स्वीकार करते हुए ही 42वे सवैधानिक सशोधन द्वारा प्रस्तावना मे भारत को 'समाजवादी राज्य' घोषित किया गया है।

वस्तुत. प्रस्तावना मे भारत को 'समाजवादी राज्य' घोषित करने से वस्तुस्थिति मे कोई विशेष परिवर्तन नही आया है। **प्रथम,** प्रस्तावना को 'न्याय योग्य' स्थिति प्राप्त नही है। **द्वितीय,** समाजवाद शब्द अपने आप मे बहुत अधिक अस्पष्ट है। भारत के द्वारा अपनी विशेष परिस्थितियो के आधार पर ही समाजवाद को अपनाया जायगा और भारतीय समाजवाद अन्य अधिक परिचित समाजवादो से अपने आप मे भिन्न होगा।

(5) **धर्मनिरपेक्ष राज्य** (Secular State)—भारतीय सविधान के धर्म स्वतन्त्रता सम्बन्धी उपबन्ध धर्मनिरपेक्ष अथवा असाम्प्रदायिक राज्य की आधारशिला है। 42वे सविधान सशोधन द्वारा प्रस्तावना मे अब स्पष्ट रूप से 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' घोषित किया गया है।

धर्मनिरपेक्ष राज्य का तात्पर्य यह है कि राज्य की दृष्टि मे सभी धर्म समान है और राज्य के द्वारा विभिन्न धर्मावलम्बियो में कोई भेदभाव नही किया जायगा। **श्री एम० सी० सीतलवाड** का कहना है कि पश्चिम की उदारवादी प्रजातान्त्रिक परम्परा के अनुसार धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म के विरुद्ध नही है, वरन् वह धार्मिक मामलो मे तटस्थ है। **डोनाल्ड ई० स्मिथ** (Donald E Smith) के अनुसार, "**धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जो व्यक्ति के नागरिक होने के नाते सम्बन्धित है, किसी धार्मिक भावना के आधार पर नहीं, जो सवैधानिक रूप से किसी धर्म से सम्बन्धित नहीं है, न किसी धर्म में हस्तक्षेप करता है न उसका प्रचार, बल्कि सस्थाओ और व्यक्तियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है।**" **श्री वेंकटरमन** के शब्दो मे, "**धर्मनिरपेक्ष राज्य न धार्मिक है और न अधार्मिक और न धर्मविरोधी परन्तु धार्मिक कार्यों और सिद्धान्तों से सर्वथा पृथक् है और इस प्रकार धार्मिक मामलो मे पूर्णतया तटस्थ है।**"[1] धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म विरोधी

---

1 Venkataraman *A Treatise on Secular State*, p. 1,

नही होता और न ही धर्म के प्रति उदासीन ही रहता है, वरन् उसके द्वारा धार्मिक मामलों मे तटस्थता की नीति को अपनाया जाता है ।

यद्यपि मूल संविधान मे कही पर भी भारत को स्पष्टतया धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित नही किया गया है, फिर भी ऐसी व्यवस्थाएँ की गयी हैं जिनके कारण धर्मनिरपेक्ष राज्य का रूप प्राप्त हो जाता है । प्रस्तावना मे सभी नागरिको को धर्म, विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता दी गयी है । मौलिक अधिकारो के अन्तर्गत यह कहा गया है कि राज्य धर्म, जाति, लिंग या इनमे से किसी के आधार पर अपने नागरिको मे कोई भेदभाव नही करेगा । संविधान ने उपबन्धित किया है कि **"सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के नियमों के अधीन रहते हुए सभी नागरिकों को अन्तःकरण की तथा धर्म के अबाध मानने, आचरण तथा प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी ।"**[1] संविधान ने धार्मिक अल्पमतो को आश्वासन दिया है कि वे अपनी भाषा की रक्षा कर सकेंगे और उन्हे अपनी इच्छा की शिक्षण संस्थाएँ संचालित करने का अधिकार होगा । प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी विभाग को धार्मिक संस्थाओ की स्थापना और पोषण का, उनके प्रबन्ध करने का, चल और अचल सम्पत्ति के स्वामित्व तथा अर्जन का पूर्ण अधिकार प्राप्त होगा ।

कुछ लेखको के द्वारा इस धर्मनिरपेक्षता के आधार पर भारत को धर्म विरोधी राज्य की संज्ञा दी गयी है, परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत ही है । भारत एक धर्म विरोधी राज्य होने के स्थान पर मानवता के व्यापक सिद्धान्तो पर आधारित एक ऐसा वास्तविक नैतिक राज्य है जिसका उद्देश्य संकीर्ण धार्मिक विवादो से दूर रहते हुए अपने सभी नागरिको को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति की ओर उन्मुख करना है । जो लोग धर्मनिरपेक्षता को धर्म विरोध की संज्ञा देते हैं, वे धर्मनिरपेक्षता को ठीक अर्थों मे नही समझ पाते । **डॉ० अम्बेडकर** ने 'हिन्दू कोड बिल' पर बोलते हुए ठीक कहा था कि **"धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह नहीं है कि लोगो की भावनाओ का ख्याल ही नहीं किया जायगा ।** इसका अर्थ केवल यह होगा कि संसद् को जनता पर किसी विशेष धर्म को लादने की शक्ति नही होगी, संविधान द्वारा केवल यही नियन्त्रण लगाया गया है ।" **डॉ० राधाकृष्णन्** के शब्दो मे, **"भारत राज्य वास्तविक धार्मिक राज्य है, जो सभी धर्मों के सार मानव धर्म में विश्वास करता है ।"** वास्तव मे, एक प्रगतिशील राज्य धर्मनिरपेक्षता की नींव पर ही खड़ा हो सकता है । भारत राज्य की एकता की रक्षा और प्रजातन्त्र की सफलता भी धर्मनिरपेक्षता के इस आदर्श पर ही निर्भर है ।

भारतीय संविधान द्वारा अपनायी गयी धर्मनिरपेक्षता नकारात्मक निरपेक्षता नही, वरन् सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता है । धर्मनिरपेक्षता की व्यवस्था को अपनाते हुए संविधान-निर्माताओ का उद्देश्य जहाँ एक ओर धार्मिक कट्टरता को निरुत्साहित करना रहा है, वहाँ इसका उद्देश्य यह भी है कि व्यक्तियो को अपना धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए किन्ही अन्य धर्म के विरोध का अधिकार नही दिया जा सकता है । उदाहरण के लिए, यदि किसी पुस्तक के अन्तर्गत किसी धर्म-प्रवर्तक की आलोचना की जाती है तो उस धर्म के अनुयायियो की भावनाओ का सम्मान करते हुए इस प्रकार की पुस्तक को जब्त किया जा सकता है ।

भारतीय धर्मनिरपेक्षता का एक अन्य पक्ष यह है कि धर्मनिरपेक्षता या धार्मिक स्वतन्त्रता के नाम पर न तो किसी भी धर्म के अनुयायियो को सार्वजनिक हित, व्यवस्था और नैतिकता के विरुद्ध आचरण की छूट प्राप्त होती है और न ही उनके द्वारा धार्मिक स्थानो की सम्पत्ति का दुरुपयोग किया जा सकता है । यदि कोई धर्म या उसके सिद्धान्त, उसके अनुयायियो या सार्वजनिक व्यवस्था के लिए हानिकारक है तो राज्य कानून द्वारा ऐसे हानिकारक सिद्धान्तो या धार्मिक

[1] अनुच्छेद 25 ।

व्यवहारो की मनाही कर सकता है। यदि किसी धार्मिक स्थान की सम्पत्ति का धर्माधिकारियों द्वारा दुरुपयोग किया जा रहा हो, तो राज्य इस सम्बन्ध मे हस्तक्षेप कर सकता है। धर्मनिरपेक्षता के होते हुए भारतीय शासन ने 'हिन्दू कोड बिल' के आधार पर हिन्दुओ के धार्मिक जीवन मे सुधार किया है और भविष्य मे मुसलमानो के परम्परागत कानून मे संशोधन करते हुए उनके सामाजिक जीवन को सुधारने का प्रयत्न किया जा सकता है।

"साम्प्रदायिकता और जातिवाद हमारी धर्मनिरपेक्षता के मार्ग की सबसे बड़ी बाधाएं है। वस्तुस्थिति यह है कि हमने एक धर्मनिरपेक्ष राज्य को तो अपना लिया है, लेकिन धर्मनिरपेक्षता अब तक भी हमारे सामाजिक जीवन का अंग नहीं बन पायी है। वास्तव में, यही वह लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करने के लिए हम सबको प्रयत्न करना है।"[1]

(6) **कठोरता और लचीलेपन का समन्वय** (Compromise between Rigidity and Flexibility)—सशोधन प्रणाली के आधार पर सविधान दो प्रकार के होते है—कठोर सविधान तथा लचीला सविधान। लचीला सविधान उस सविधान को कहते है जिसमे साधारण कानून और सवैधानिक कानून मे कोई अन्तर नही किया जाता और सविधान मे विधि निर्माण की साधारण प्रक्रिया के आधार पर सशोधन किया जा सकता है। इसके विपरीत, कठोर सविधान मे सवैधानिक सशोधन के लिए साधारण कानून निर्माण से भिन्न तथा जटिल प्रक्रिया को अपनाया जाता है।

उपर्युक्त दृष्टि से भारतीय सविधान कठोर सविधानो की श्रेणी मे आता है क्योकि भारतीय सविधान की अधिकाश धाराओ को सशोधित करने के लिए ससद के सदस्यो के बहुमत के अतिरिक्त उपस्थित सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत की भी आवश्यकता होती है। अनुच्छेद 368 के अनुसार कुछ विषयो मे सशोधन के लिए ससद के समस्त सदस्यो के बहुमत और उपस्थित सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत के अतिरिक्त कम-से-कम आधे राज्यो के विधानमण्डलो का अनुसमर्थन भी आवश्यक है, जैसे—राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि, सघ और इकाइयो के बीच शक्ति विभाजन, राज्यो के ससद मे प्रतिनिधि, आदि। सशोधन की उपर्युक्त प्रणाली निश्चित रूप से कठोर है।

लेकिन सविधान-निर्माताओ द्वारा पारिभाषिक दृष्टि से एक कठोर सविधान का निर्माण किये जाने पर भी इस बात को ध्यान मे रखा गया कि तेजी से बदलती हुई परिस्थितियो के कारण भारतीय सविधान मे बहुत जल्दी ही किसी प्रकार के परिवर्तन करने की आवश्यकता हो सकती है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय सविधान के सशोधन की पद्धति उतनी जटिल नही है, जितनी कि अमरीका या अन्य सघ राज्यो के सविधानो की सशोधन पद्धति। कुछ विषयो मे तो सविधान संसद के साधारण बहुमत से ही सशोधन हो जाता है। उदाहरणस्वरूप, नवीन राज्यो के निर्माण, वर्तमान राज्यो के पुनर्गठन और भारतीय नागरिकता के अर्थ परिवर्तन आदि कार्य ससद साधारण बहुमत से कर सकती है।

इस प्रकार भारतीय सविधान न तो ब्रिटिश सविधान की भाँति लचीला है और न अमरीका सविधान की भाँति अत्यधिक कठोर। इस सम्बन्ध मे भारतीय संविधान मे मध्यम मार्ग को अपनाया गया है। इस पर प्रकाश डालते हुए पं० नेहरू ने सविधान सभा मे कहा था, "**यद्यपि जहाँ तक सम्भव हो हम इस संविधान को एक ठोस और स्थायी सविधान का रूप देना चाहते है, संविधान मे कोई स्थायित्व नहीं होता, उसमे लचीलापन होना ही चाहिए। यदि संविधान मे सभी कुछ स्थायी और कठोर बना दिया जाय तो राष्ट्र का विकास रुक जायेगा, क्योकि राष्ट्र**

---

[1] बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय मे 'नेहरू स्मारक भाषण माला' के अन्तर्गत भारतीय 'धर्मनिरपेक्षता' पर डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के भाषण का अश।

—टाइम्स ऑफ इण्डिया, 19 अप्रैल, 1976।

जीवित विकासशील प्राणियो का समूह है। किसी भी स्थिति मे हम अपने संविधान को इतना कठोर नहीं बनाना चाहते कि वह बदलती हुई परिस्थितियो के अनुरूप परिवर्तित न हो सके।"

भारतीय संविधान मे पर्याप्त परिवर्तनशीलता है और अभी तक भारतीय संविधान मे 63 सवैधानिक संशोधन हो चुके है।

(7) **संसदात्मक शासन-व्यवस्था** (Parliamentary System)—भारतीय सविधान सभा मे इस प्रश्न पर विस्तृत विचार-विनिमय हुआ था कि भारतीय लोकतन्त्र मे किस प्रकार की शासन प्रणाली अपनायी जाये—अध्यक्षीय शासन प्रणाली या ससदीय शासन प्रणाली। भारत के लोगो को 1919 और 1935 के भारतीय शासन अधिनियमो के अन्तर्गत ससदीय शासन का अनुभव था और फिर अध्यक्षीय शासन प्रणाली मे इस बात का भी डर था कि कही कार्यपालिका अपनी निश्चित पदावधि के कारण निरकुश न हो जाये। अत संविधान सभा ने काफी सोच-विचार के बाद निर्णय किया कि भारत के लिए अमरीका के समान अध्यक्षीय शासन प्रणाली के स्थान पर ब्रिटिश मॉडल की ससदीय शासन प्रणाली अधिक उपयुक्त रहेगी। ससदीय प्रणाली मे कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी रहती है तथा उसका विश्वास खो देने पर कायम नही रह सकती। भारतीय सविधान ससदात्मक शासन प्रणाली की स्थापना करता है क्योंकि राष्ट्रपति ध्वजमात्र के अध्यक्ष है और वास्तविक शक्तियाँ मन्त्रिमण्डल मे निहित है जो ससद के प्रति उत्तरदायी है।

(8) **एकात्मक लक्षणों सहित संघात्मक शासन** (Federal Government with some Unitary Features)—भारतीय सविधान के **प्रथम अनुच्छेद** के अनुसार **"इण्डिया अर्थात् भारत राज्यों का एक संघ होगा।"**[1] इस प्रकार भारत मे सघात्मक शासन की स्थापना की गयी है और इसमे सघात्मक शासन के सभी लक्षण विद्यमान है। सविधान ने शासन शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित न कर, केन्द्र और राज्य सरकारो मे विभाजित कर दी है जो दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र है। सविधान लिखित और बहुत सीमा तक कठोर है और इसे सर्वोच्च स्थिति प्रदान की गयी है। उच्चतम न्यायालय को सविधान का रक्षक बनाया गया है जिसे सविधान की व्याख्या करने और केन्द्र एव राज्यो के बीच उत्पन्न सवैधानिक झगड़ो के निर्णय का अधिकार दिया गया है।

इस प्रकार भारत मे सघात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित की गयी है। किन्तु इसमे कुछ ऐसे तत्व भी हैं जिससे इसका झुकाव एकात्मक शासन की ओर स्पष्ट होता है, जैसे—इकहरी नागरिकता, इकहरी न्यायपालिका, अखिल भारतीय सेवाएँ, राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालो की नियुक्ति, ससद द्वारा राज्यो के नाम, क्षेत्र तथा सीमाओ मे परिवर्तन, आदि। अन्त मे राष्ट्रपति के सकट-कालीन अधिकारो के अन्तर्गत, सकटकाल की घोषणा द्वारा तो स्पष्ट रूप से संघात्मक व्यवस्था को एकात्मक व्यवस्था के रूप मे बदला जा सकता है।

भारतीय सविधान के इन एकात्मक लक्षणो के आधार पर **प्रो० ह्वीयर** तो कहते है कि **"भारत का नया संविधान ऐसी शासन-व्यवस्था को जन्म देता है जो अधिक-से-अधिक अर्द्ध-संघीय है। यह एक ऐसे एकात्मक राज्य की स्थापना करता है जिसमें कतिपय संघीय विशेषताएँ हैं न कि यह एक ऐसा संघात्मक राज्य हैं जिसमे कतिपय एकात्मक विशेषताएँ हों।"** इसी प्रकार **दुर्गा-दास बसु** ने भी कहा है कि **"भारतीय संविधान न तो पूर्ण संघात्मक है और न एकात्मक, अपितु यह दोनो का सम्मिश्रण है। यह नवीन प्रकार का संघ है।"**

(9) **संसदीय प्रभुता तथा न्यायिक सर्वोच्चता में समन्वय** (Via media between Parliamentary Sovereignty and Judicial Supremacy)—भारतीय सविधान की एक

---

1 "India, that is Bharat, shall be Union of States" —*Article* 1

विशेषता यह है कि संविधान में इंगलैण्ड की संसदीय प्रभुसत्ता तथा संयुक्त राज्य अमरीका की न्यायिक सर्वोच्चता के मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है। इंगलैण्ड में व्यवस्थापिका सर्वोच्च है और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा निर्मित कानून को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इसके विपरीत, अमरीका के संविधान में न्यायपालिका की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है, जिसका अर्थ है कि न्यायालय संविधान का रक्षक और अभिभावक है और न्यायालय संघीय व्यवस्थापिका अर्थात् कांग्रेस द्वारा निर्मित कानून या कार्यपालिका के आदेशों का परीक्षण कर यह निश्चित करता है कि कोई विधि या आदेश संविधान के उपबन्धों के विरुद्ध तो नहीं है। संविधान का उल्लंघन करने वाली विधियों या आदेशों को उसके द्वारा अवैध घोषित कर दिया जाता है। न्यायालय की इस शक्ति को **'न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार'** (Power of Judicial Review) कहते हैं और इसके कारण अमरीका में न्यायपालिका बहुत अधिक शक्तिशाली हो गयी है।

भारत में संसदात्मक व्यवस्था को अपनाकर सर्वोच्चता को स्वीकार किया गया है, लेकिन इसके साथ ही संघात्मक व्यवस्था के आदर्श के अनुरूप न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने तथा उन विधियों और आदेशों को अवैध घोषित करने का अधिकार दिया गया है, जो संविधान के विरुद्ध हों। न्यायालय के इस अधिकार के साथ ही संसद को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह न्यायालय की शक्तियों को आवश्यकतानुसार सीमित कर सकती है। इस प्रकार भारतीय संविधान द्वारा न तो ब्रिटेन के समान संसदीय प्रभुता को स्वीकार किया गया है और न ही अमरीका की भाँति न्यायपालिका की सर्वोच्चता को वरन् उपर्युक्त दोनों पद्धतियों के बीच की प्रणाली को अपनाया गया है। **श्री दुर्गादास बसु** के शब्दों में, **"भारतीय संविधान में अद्भुत ढंग से अमरीकी न्यायालय की सर्वोच्चता के सिद्धान्त एवं इंगलैण्ड के संसदीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के बीच का मार्ग अपनाया गया है।"**

(10) मौलिक अधिकार और मूल कर्तव्य (Fundamental Rights and Fundamental Duties)—भारतीय संविधान के निर्माताओं ने ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत अनेक अत्याचार सहन किये थे, अतः उनके द्वारा शासन की शक्तियों को मर्यादित करने की आवश्यकता अनुभव की गयी। अतः अमरीका और आयरलैण्ड आदि देशों के संविधानों की तरह हमारे संविधान द्वारा भी नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। मौलिक अधिकारों का आशय नागरिकों को प्रदत्त ऐसे अधिकार और स्वतन्त्रताओं से है, जिन्हें राज्य तथा केन्द्र सरकार के विरुद्ध भी लागू किया जा सकता है। संविधान द्वारा नागरिकों को इस प्रकार के 7 मौलिक अधिकार प्रदान किये गये थे, लेकिन अब सम्पत्ति का अधिकार एक मौलिक अधिकार नहीं रहा है और नागरिकों को 6 मौलिक अधिकार प्राप्त हैं।

भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि संविधान द्वारा अधिकार प्रदान किये जाने के साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इन अधिकारों पर किन परिस्थितियों में और किस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जा सकेंगे। इसके अतिरिक्त, भारतीय संविधान में संवैधानिक उपचारों के अधिकार के रूप में अधिकारों की क्रियान्विति के लिए पृथक् से वैधानिक व्यवस्था की गयी है।

मूल संविधान में तो केवल मौलिक अधिकारों की ही व्यवस्था की गयी थी, लेकिन '42वें संवैधानिक संशोधन, 1976' के द्वारा मूल संविधान में एक नया भाग 'चौथा अ' जोड़ा गया है और इसमें नागरिकों के मूल कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा नागरिकों के 10 मूल कर्तव्य निश्चित किये

(11) नीति निर्देशक तत्व (Dirc ... ples of State Policy)

सविधान के चौथे अध्याय मे शासन सचालन के लिए मूलभूत सिद्धान्तो का वर्णन किया गया है और इन्हे ही राज्य के नीति निर्देशक तत्व अर्थात् नीति निश्चित करने वाले तत्व कहा गया है। भारतीय सविधान मे नीति निर्देशक तत्व का विचार आयरलैण्ड के सविधान से लिया गया है और इस तत्व की प्रकृति के सम्बन्ध मे सविधान के 37वें अनुच्छेद मे कहा गया है कि **"नीति निर्देशक तत्वो को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी, किन्तु तो भी ये तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं।"** इस प्रकार निर्देशक तत्वों को वैधानिक शक्ति तो प्राप्त नही है, लेकिन इन्हे राजनीतिक शक्ति अवश्य प्राप्त है।

इन तत्वो मे भारत राज्य को एक वास्तविक लोक-कल्याणकारी राज्य का स्वरूप देने के लिए आवश्यक सिद्धान्तो की घोषणा की गयी है। श्री जी० एन० जोशी के शब्दो मे, **"ये तत्व आधुनिक प्रजातन्त्र के लिए व्यापक राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत करते है।"**[1]

(12) **स्वतन्त्र न्यायपालिका और अन्य स्वतन्त्र अभिकरण** (Independent Judiciary and other Independent Agencies)—सघात्मक शासन-व्यवस्था मे न्यायपालिका सविधान की व्याख्याता और रक्षक होने के कारण उसका स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, सविधान द्वारा नागरिको को प्रदान किये गये मौलिक अधिकारो की रक्षा के लिए भी न्यायपालिका की स्वतन्त्रता नितान्त आवश्यक हो जाती है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता हेतु सविधान मे अनेक विशेष व्यवस्थाएँ की गयी है यथा सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होना, न्यायाधीशो को पद की सुरक्षा प्राप्त होना, न्यायाधीशो के कार्यकाल मे उनके वेतन मे कमी न हो सकना और न्यायाधीशो के आचरण पर व्यवस्थापिका द्वारा विचार न कर सकना आदि।

इस प्रकार न्यायपालिका स्वतन्त्र है और पिछले 42 वर्ष की अवधि में **न्यायपालिका अपनी स्वतन्त्रता का अनेक बार परिचय दे चुकी है।**

स्वतन्त्र न्यायपालिका के अतिरिक्त सविधान के द्वारा अन्य स्वतन्त्र अभिकरणो की भी व्यवस्था की गयी है जिनमे **निर्वाचन आयोग, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक व लोक सेवा आयोग प्रमुख हैं।**

(13) **साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का अन्त और वयस्क मताधिकार का प्रारम्भ** (End of Communal Representation and Beginning of Adult Franchise)—ब्रिटिश शासन-काल मे 1909 के कानून द्वारा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को लागू किया गया था जिसने भारत के विभिन्न प्रमुख सम्प्रदायो को एक-दूसरे का विरोधी बना दिया। अत नवीन संविधान के अन्तर्गत साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का अन्त कर वयस्क मताधिकार के आधार पर संयुक्त प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाया गया है। करोडो व्यक्तियो को एक साथ मताधिकार प्रदान करना सविधान सभा का निश्चित रूप से एक साहसिक कार्य था। **प्रो० श्रीनिवासन्** के शब्दो मे, **"साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति की समाप्ति और वयस्क मताधिकार का प्रारम्भ नये संविधान की महान् और क्रान्तिकारी विशेषता है।"**[2]

(14) **एकल नागरिकता** (Single Citizenship)—भारतीय सविधान के द्वारा संघात्मक शासन की व्यवस्था की गयी है और सामान्यतया ऐसा समझा जाता रहा है कि संघ राज्य के नागरिको को दोहरी नागरिकता प्राप्त होनी चाहिए—प्रथम, सघ की नागरिकता और द्वितीय, इकाई

---

[1] G. N. Joshi *Constitution of India*, p. 112

[2] Prof Shrinivasan *Democratic Govt in India*, p. 151.

या राज्य की नागरिकता। सयुक्त राज्य अमरीका और अन्य सघ राज्यो में ऐसी व्यवस्था है, लेकिन भारतीय सविधान के निर्माताओ का विचार था कि दोहरी नागरिकता भारत की एकता को बनाये रखने मे वाधक सिद्ध हो सकती है। अत सविधान-निर्माताओ द्वारा सघ राज्य की स्थापना करते हुए भी दोहरी नागरिकता को नही वरन् एकल नागरिकता के आदर्श को ही अपनाया गया है।

(15) **सामाजिक समानता की स्थापना** (Establishment of Social Equality)—सामान्यतया सविधानो के द्वारा अपने नागरिको की राजनीतिक और कानूनी समानता पर ही वल दिया जाता है, सामाजिक समानता पर नही। लेकिन भारतीय सविधान की विशेपता यह है कि संविधान के द्वारा सामाजिक क्षेत्र मे भी सभी नागरिको की समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस सम्वन्ध मे सविधान के **अनुच्छेद** 17 में कहा गया है कि **"अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। किसी भी रूप मे अस्पृश्यता का आचरण विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।"** भारत मे दलित लोगो की गिरी हुई स्थिति मे सुधार करने के लिए सविधान मे इस प्रकार की व्यवस्था करना आवश्यक भी था।

(16) **कल्याणकारी राज्य की स्थापना का आदर्श** (Establishment of Welfare State is the Ideal)—सविधान के नीति निर्देशक तत्वो के अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि सविधान-निर्माताओ द्वारा भारत के लिए एक-आदर्श निश्चित किया गया है और वह आदर्श है कल्याणकारी राज्य की स्थापना। भारतीय सविधान-निर्माता स्पष्ट रूप से यह चाहते थे कि भारत की केन्द्रीय और राज्य सरकारे भारतीय नागरिको को पुष्टिकर भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करे, उनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाये और उनके द्वारा अधिक-से-अधिक सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना की जाय। केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारे सविधान मे निर्दिष्ट इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 'नियोजन' (Planning) की पद्धति को अपनाया गया है और **'समाजवादी समाज के ढाँचे की स्थापना'** (Socialistic Pattern of Society) की नीति निर्धारित की गयी है।

संविधान के मूल ढाँचे या आधारभूत सिद्धान्त की धारणा

(CONCEPT OF THE BASIC STRUCTURE OR THE BASIC PRINCIPLES OF THE CONSTITUTION)

सविधान के मूल ढांचे की धारणा का आशय यह है कि **संविधान की कुछ व्यवस्थाएँ अन्य व्यवस्थाओ की तुलना मे अधिक महत्वपूर्ण हैं, वे संविधान के मूल ढाँचे के समान है और समस्त संवैधानिक व्यवस्था उन पर ही आधारित है।** सर्वप्रथम इस धारणा का प्रतिपादन सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा 24 अप्रैल, 1973 को मौलिक अधिकारो से सम्वन्धित एक विवाद **'केशवानन्द भारती वनाम केरल राज्य'** पर निर्णय देते हुए किया गया। इस निर्णय मे सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि "ससद् मौलिक अधिकारो को संशोधित या सीमित कर सकती है, किन्तु सविधान के अनुच्छेद 368 से ससद् को सविधान के मूल ढाँचे मे परिवर्तन का अधिकार प्राप्त नही होता।" 'मिनर्वा मिल्स तथा अन्य वनाम भारत सरकार' (मई, 1980) के विवाद मे भी सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा पुन. इस वात का प्रतिपादन किया गया। इसके अतिरिक्त, 1975-76 की राजनीतिक स्थिति के आधार पर यह अनुभव किया गया कि शासक वर्ग ससद पर अनुचित प्रभाव और नियन्त्रण स्थापित कर ससद की सर्वोच्चता के नाम पर सविधान को अपने खिलवाड का साधन वना सकता है, अत शासन की इस शक्ति पर रोक लगाने के लिए सविधान के मूल ढाँचे की धारणा को **अपनाया जाना चाहिए।**

1973 तथा 1980 के निर्णय में यह नही बतलाया गया कि 'सविधान के मूल ढाँचे' या आधारभूत ढाँचे के अन्तर्गत सविधान की कौन-कौनसी व्यवस्थाएँ आती है। 'मूल ढाँचे की धारणा' को कुछ स्पष्ट करने की एक चेष्टा 45वें सविधान सशोधन विधेयक मे की गयी थी, लेकिन राज्यसभा की असहमति के कारण उसे सविधान संशोधन विधेयक से निकाल दिया गया। 'सविधान के मूल ढाँचे' की धारणा से सहमति रखने वाले सभी व्यक्ति ऐसा मानते है कि सविधान के मूल ढाँचे मे निम्न बातें अवश्य ही आती है.

(i) सविधान का लोकतान्त्रिक स्वरूप,
(ii) संविधान का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप,
(iii) नागरिको के मूल अधिकार व स्वतन्त्रताएँ,
(iv) लोकसभा तथा राज्य विधान सभाओ के वयस्क मताधिकार पर आधारित स्वतन्त्र चुनाव,
(v) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता।

कुछ राजनीतिक नेताओ और विधि विशेषज्ञो का विचार है कि सघात्मक व्यवस्था और ससदीय या मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था को भी संविधान के मूल ढाँचे का अग समझा जाना चाहिए, लेकिन कुछ अन्य पक्ष इस बात को स्वीकार नही करते है।

इस प्रकार संविधान के मूल ढाँचे मे अन्तिम रूप से परिवर्तन का अधिकार ससद या राज्य विधान सभाओ को नही, वरन् स्वयं जनता को ही है। इस सम्बन्ध मे प्रक्रिया यह हो सकती है कि ससद द्वारा सविधान मे किये गये उपर्युक्त परिवर्तन पर लोकनिर्णय के माध्यम से जन-स्वीकृति प्राप्त की जाय। जन-स्वीकृति प्राप्त करने के लिए अन्य किसी तरीके को अपनाया जा सकता है, लेकिन सविधान के मूल ढाँचे मे परिवर्तन के लिए जन-स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। इसी कारण इस विचार को **'जन सर्वोच्चता'** या **'जन सम्प्रभुता की धारणा'** (Concept of People's Supremacy or People's Sovereignty) का नाम भी दिया जा सकता है।

भारतीय संविधान की आलोचना (Criticism of the Indian Constitution)

हमारे सविधान के अनेक गुणो के बावजूद आलोचको ने इसकी अनेक कमियो पर प्रकाश डाला है। कतिपय आलोचक हमारे सविधान को 'अभारतीय' मानते है तो कुछ इसे 'विविध सविधानो की खिचडी' कहकर पुकारते है। आलोचको ने यहाँ तक कहा है कि यह सविधान भारतीय वातावरण मे अनुपयुक्त है और इसका पुनर्निरीक्षण होना चाहिए। भारतीय सविधान की कुछ महत्त्वपूर्ण आलोचनाएँ निम्नलिखित है

1 **भारतीय संविधान अत्यधिक लम्बा और जटिल है** (Indian Constitution is Comprehensive and Cumbersome)—सर आइवर जैनिंग्स ने लिखा है कि "भारतीय सविधान अत्यधिक लम्बा, विस्तृत तथा दुष्परिवर्तनशील है।"[1] सविधान निश्चित रूप से लम्बा और विस्तृत तो है, परन्तु उसकी दुष्परिवर्तनशीलता सिद्ध नही हुई है। सविधान सभा के अधिकाश सदस्यो की दृष्टि मे सविधान के विस्तार के अनेक ठोस आधार थे। कई धाराओ का समावेश तो इसलिए किया गया था क्योकि उनके विषय मे यह सोचा गया कि वे आधारभूत महत्त्व की है और इस कारण उन्हे सामान्य व्यवस्थापन के स्तर पर नही छोडना चाहिए। उदाहरण के लिए, लोक-सेवाओ तथा न्यायपालिका से सम्बन्धित धारणाएँ इसलिए समाविष्ट की गयी कि उन्हे ससद की पहुँच से दूर रखकर उनकी स्वतन्त्रता सुरक्षित की जा सके। इसके अतिरिक्त सविधान मे केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त राज्यो की शासन-प्रणाली का भी विस्तृत वर्णन किया गया है, जिससे सविधान विस्तृत बन गया है।

1 जैनिंग्स : **सम केरेक्टेरिस्टिक्स**, पृ० 9-16। Some Characteristics

2 **भारतीय संविधान अवैध है** (Indian Constitution is Illegal)—कतिपय आलोचक भारतीय सविधान को अवैध मानते है। उनके अनुसार सविधान का निर्माण करने वाली सविधान सभा वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त पर निर्वाचित नही हुई थी और उसे सम्प्रभु सस्था भी नही कहा जा सकता। यह सविधान सभा 'मन्त्रिमण्डल मिशन योजना' के आधार पर गठित की गयी थी और उसे इसी योजना द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो के अनुसार सविधान का निर्माण करना था। अतः प्रभुताहीन सविधान सभा द्वारा निर्मित सविधान को अवैध कहा जा सकता है। परन्तु यह आरोप भी सच नही है। भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 के द्वारा देश को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी थी और ब्रिटिश सत्ता का अन्त हो चुका था। 14-15 अगस्त, 1947 की मध्यरात्रि को सविधान सत्ता ने प्रभुत्व शक्ति प्राप्त कर ली और इसके पश्चात् वह पूर्ण प्रभुता-सम्पन्न सस्था बन गयी। अत. भारतीय सविधान को अवैध नही कहा जा सकता।

3. **भारतीय संविधान अभारतीय है** (Indian Constitution is Un-Indian)—आलोचको का मत है कि यह सविधान अभारतीय है और अपने सिद्धान्तो मे न सही तो कम-से-कम स्वरूप मे विदेशी है। **के० एल० साहू** ने कहा है कि "उन आदर्शो का भारत की मूल भावना से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है जिनसे सविधान का यह प्रारूप तैयार हुआ है। मै यह विश्वास दिला सकता हूँ कि यह सविधान उपयुक्त सिद्ध नही होगा और जैसे ही इसे क्रियान्वित किया जायेगा, यह विघटित हो जायेगा।"[1] बहस के दौरान सविधान सभा के एक सदस्य ने कहा कि "हम वीणा अथवा सितार संगीत चाहते थे, लेकिन हमे अग्रेजी बैण्ड की धुनें मिली है।"[2] इन आलोचनाओ के बावजूद भी हमारे सविधान मे जगह-जगह भारतीयता का पुट मिलता है। उदाहरणार्थ, सविधान द्वारा प्रदत्त लोकतान्त्रिक पद्धति, विश्व शान्ति का आदर्श, धार्मिक सहिष्णुता, मद्यनिषेध, गौवध-निषेध, विकेन्द्रित आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था, पचायती राज, आदि को नितान्त अभारतीय नही कहा जा जकता। यदि सविधान अभारतीय होता तो इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया अवश्य हुई होती। इसके विपरीत, भारतीय जनसमुदाय ने—चाहे वह श्रमिक हो या किसान, बुद्धिजीवी हो या व्यापारी—सविधान के उद्देश्यो को अपने श्रेष्ठ जीवन की गारण्टी के रूप मे तत्परता से स्वीकार किया है।

4 **भारतीय संविधान में मौलिकता का अभाव है** (Indian Constitution Lacks Originality)—आलोचको का कहना है कि भारतीय सविधान मे मौलिकता का नितान्त अभाव है। अनेक स्थानो पर यह संविधान 1935 के अधिनियम की नकल बन गया है। ससदीय प्रणाली इंगलैण्ड से ली गयी है तो सघ व्यवस्था के प्रावधान अमरीका, आस्ट्रेलिया और कनाडा के सविधान से प्रभावित है। सविधान का 21वाँ अनुच्छेद जापान के सविधान की देन है तो मौलिक अधिकारो के स्थगन सम्बन्धी राष्ट्रपति के अधिकार वीमर सविधान की नकल हैं। **श्रीधरानी** ने लिखा है कि "हमारे सविधान की मौलिकता यही है कि इसमे स्वतन्त्रतापूर्वक ससार के प्राय. समस्त संविधानो के श्रेष्ठतम भागो को चुन लिया गया है।" विदेशी सविधानो की व्यवस्थाओ को अपनाने के उपरान्त भी हमारा सविधान बहुत अधिक मौलिक बन गया है। हमारे संविधान की सशोधन प्रक्रिया अपने किस्म की अनूठी ही है। हमारा सविधान न तो इतना लचीला है जितना कि ब्रिटेन का और न ही इतना कठोर है जितना सयुक्त राज्य अमरीका का। जहाँ ब्रिटिश सविधान मे ससदीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को अपनाया गया है वहाँ अमरीकी सविधान मे न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को मान्यता मिली है। इसके प्रतिकूल भारतीय सविधान ने अद्भुत ढग से अमरीकी न्यायालय की सर्वोच्चता के सिद्धान्त एव ब्रिटेन के ससदीय प्रभुसत्ता सिद्धान्त के बीच का मार्ग अपनाया है।

---

1 के० एल० साहू . सी० ए० डी०, XI, 4613।
2 के० हनुमन्तैया वही, पृ० 616।

अमरीकी सघवाद को अपनाने के उपरान्त भी भारतीय संविधान ने एक संघीय प्रणाली को एकात्मक सरकार का बल प्रदान किया है। **बी० एन० राव** ने लिखा है, "यदि दूसरे देशो के सविधानों की बातो को भारतीय परिस्थितियो के अनुकूल ढाल दिया गया है तो इसे किसी प्रकार भारतीय संविधान का दोष नही कहा जा सकता। अधिकाश आधुनिक सविधानो मे दूसरे देशो के सविधानो का पूरा लाभ उठाया जाता है। दूसरे देशो के अनुभवो या स्वय के विगत अनुभवो से लाभ उठाना बुद्धिमत्ता का मार्ग है।"[1]

5. **भारतीय संविधान वकीलों का स्वर्ग है** (Indian Constitution is the Paradise of Lawyers)—सविधान सभा मे एक सदस्य ने कहा था कि "यह सविधान लोगो को अधिक विवादी बनाकर न्यायालयो की ओर आकर्षित करेगा....यह सविधान तो सत्य ही वकीलो का स्वर्ग है ...यह तो परस्पर विवाद के नये मार्ग खोलकर हमारे योग्य वकीलो को पर्याप्त कार्य प्रदान करेगा।" यह सत्य है कि यह सविधान दुर्बोध, अस्पष्ट एव जटिल भाषा से युक्त है। सविधान के विभिन्न उपबन्धो को विस्तृत एव असन्दिग्ध भाषा में लिपिबद्ध किया गया है। इसमे प्रयुक्त भाषा न्यायालय की भाषा है, सवैधानिक भाषा है। लगभग प्रत्येक अनुच्छेद के साथ अपवाद, अर्हताएँ तथा व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयी है। भारत के सामान्य नागरिक के लिए सविधान का समझना कठिन है। इस सविधान को विधि विशेषज्ञ ही समझ सकते है। परन्तु **प्रो० पायली** का मत है कि "यह आवश्यक नही है कि सविधान की जटिलता परस्पर विवादो का कारण ही बने। किसी वैधानिक प्रलेख की जटिलता और विस्तार का लोगो के परस्पर-विवादो से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है।"[2] अमरीकी सविधान सक्षिप्त एव सरल है किन्तु यह नही कहा जा सकता कि इस प्रकार अमरीका मे मुकदमेबाजी कम हुई। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के सामने आने वाले विवादो मे सबसे अधिक सख्या मौलिक अधिकारो से सम्बद्ध मामलो की है। यदि सविधान के किसी भाग को वकीलो का स्वर्ग कहा जा सकता है तो वह मौलिक अधिकार सम्बन्धी भाग ही है।[3] मौलिक अधिकारो को लेकर कानूनी पेचीदगियाँ इसलिए उत्पन्न हुई कि सरकार ने आर्थिक और सामाजिक न्याय की प्राप्ति हेतु प्रयास करना प्रारम्भ कर दिया। अत यह कहना समीचीन प्रतीत नही होता है कि हमारा सविधान वकीलो के किसी षड्यन्त्र का परिणाम है।

6 **केन्द्र को आवश्यकता से अधिक शक्तिशाली बनाया है** (Centre is Entrusted with more Powers)—आलोचको का कहना है कि भारत मे सविधान द्वारा अधिकाश शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को सौप दी गयी है और राज्यो की स्थिति नगरपालिकाओ के समतुल्य हो गयी है। भारत के राष्ट्रपति द्वारा राज्यो के राज्यपालों की नियुक्ति, एकीकृत न्याय-व्यवस्था, इकहरी नागरिकता, अखिल भारतीय नागरिक सेवाएँ तथा राष्ट्रपति की सकटकालीन शक्तियाँ हमारे सविधान के प्रमुख एकात्मक लक्षण है। हमारे सविधान-निर्माता भारतीय इतिहास के इस तथ्य से परिचित थे कि भारत मे जब-जब केन्द्रीय सत्ता दुर्बल हो गयी, तब-तब भारत की एकता भग हो गयी और उसे पराधीन होना पडा। वे भारत मे इतिहास की पुनरावृत्ति नही चाहते थे, अत उन्होने केन्द्रीय सत्ता को अधिक शक्तिशाली बनाया। इस प्रकार भारत मे सघीय प्रणाली का विकास देश की राजनीतिक स्थिति के अनुसार हुआ है।

भारतीय संविधान की क्षमताएँ (Capabilities of the Indian Constitution)

भारतीय सविधान के आधारभूत सिद्धान्तो एव विशेषताओ के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो

---

1 बी० एन० राव · इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन इन दि मेकिंग, पृ० 361-62।
2 पायली भारतीय संविधान, 1976, पृ० 6।
3 वही, पृ० 7।

जाता है कि हमारे संविधान में जिन उदात्त और चिरन्तन तथ्यों का निरूपण किया गया है उनसे किसी को मतभेद नही हो सकता। भारत का यह संविधान भारत की प्रभुसत्ता के मूल सिद्धान्तो पर आधारित है तथा भारतीय जनता की वास्तविक एकता का प्रतीक है। संविधान की विगत वर्षों की कार्यप्रणाली को देखते हुए **प्रो० मॉरिस जोन्स** का कथन है कि "भारत को तीन तत्वों द्वारा एकता प्रदत्त की गयी है—**शासन का ढांचा, एकदलीय व्यवस्था और संसदीय संविधान।** आशा है भारत संस्थाओ का उत्तरोत्तर विकास कर पायेगा।"[1] भारतीय सविधान की क्षमताओ के बारे में अनेक विवादास्पद प्रश्न उठाये गये है—क्या यह सविधान हमारे देश के लिए उपयुक्त सिद्ध नही हुआ·······क्या अव समय आ गया है कि इस संविधान से विदा लेनी चाहिए ? अथवा क्या भारत मे लोकतन्त्र की असफलता का कारण वे लोग हैं अर्थात् हम सव है, जो गत वर्षो मे इसकी व्याख्या और कार्य-करण के लिए जिम्मेदार रहे है ?[2] **एस० एल० शकधर** के अनुसार, "कोई सविधान चाहे कितने ही महान् उद्देश्यो को लेकर वनाया गया हो, वह व्यावहारिक राजनीति के रचनात्मक तनावो मे ही सजीव और शक्तिशाली वनता है। भारत मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वाद का इतिहास इतने अधिक घटना-चक्रों का युग रहा है कि यह कहा जा सकता है कि सविधान से लगभग हर उपवन्ध का राष्ट्रीय जीवन की वास्तविक स्थितियो की यथार्थता के साथ निपटने की क्षमता के आधार पर परीक्षण हो चुका है।"[3] **स्व० प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी** के शब्दो मे, "हमारे सविधान ने अपनी सामर्थ्य का पर्याप्त प्रमाण दिया है। इसे आन्तरिक शक्ति स्वतन्त्रता-प्राप्ति मे किये गये वलिदान और उस बुद्धिमत्ता से प्राप्त होती है -जो हमारे निर्माणकर्ताओ ने ऐसा लचीला दस्तावेज तैयार करने मे प्रदर्शित की जो हमारी जनता की वदलती हुई आवश्यकताओ को पूरा करने मे सक्षम है।"[4]

यद्यपि यह सच है कि संविधान मे कतिपय कमियाँ रह गयी किन्तु अव यह भी प्रकट हो गया कि इसकी असफलता का दायित्व भारतीय जातीय चरित्र पर ही है। दलवदल, भ्रष्टाचार, न्यस्त स्वार्थ के तत्व ही इसकी तथाकथित असफलता के कारण है। हमारे राजनीतिक जीवन मे आदर्शों और मान्यताओ की ढहती हुई दीवार की तह मे हमारे सविधान-निर्माताओ द्वारा भरी गयी नीव की कमजोरी भी कुछ हद तक उत्तरदायी अवश्य है। संविधान की प्रशसा करते हुए **डॉ० सुभाष काश्यप** लिखते हैं, "हमारा सविधान एक वडा उत्कृष्ट प्रलेख है। वह वहुत लचीला है; उसे भिन्न परिस्थितियो के अनुरूप ढाला जा सकता है। यह सविधान सघात्मक और एकात्मक, राष्ट्रपतीय और ससदीय सभी कुछ है क्योकि इसमे सभी प्रणालियो के सर्वश्रेष्ठ गुणो का समावेश और उनके द्वन्द्वो का समन्वय किया गया है।"[5] **ग्रेनविल ऑस्टिन** के अनुसार, "हमे इससे सन्देह नही होना चाहिए कि भारतीय सविधान एक कल्पनाशील लेकिन साथ ही कुशल दस्तावेज था जिसकी राष्ट्रीय सवैधानिक आवश्यकताओ के सन्दर्भ मे यदि सर्वथा मौलिक नहीं तो कम-से-कम सृजनात्मक दृष्टि अवश्य थी। ऐसा भारत मे संसदीय लोकतान्त्रिक सरकार की सफलता मे सिद्ध होता है क्योकि किसी अच्छे सविधान से वुरा शासन तो हो सकता है, लेकिन किसी वुरे सविधान द्वारा अच्छा शासन लगभग असम्भव है।"[6] इस प्रकार भारतीय राष्ट्र की प्रगति यथा इसके करोडो नागरिको के जीवन को सार्थक रूप देने मे सविधान का समुचित योगदान रहा है। भारतीय संविधान के वाद एशिया मे जो अन्य संविधान वने उन पर भारतीय सविधान का प्रचुर प्रभाव पडा है।

---

1 "India has been given coherence and shape by the character of the three elements in terms of which our account has been given Machinery of government, one dominant party system and a parliamentary constitutionalism India, that has been able to cultivate institutions."

2 डॉ० सुभाष काश्यप : **भारतीय संविधान की क्षमताएँ, 'दिनमान'**, 26 जुलाई, 1970।

3 एस० एल० शकधर, : **संविधान और ससद**, 1966, पृष्ठ पहला फ्लेप।

4 **वही, पृ० IX।**

5 डॉ० सुभाष काश्यप · **सविधान की आत्मा**, पृ० 83।

6 ग्रेनविल ऑस्टिन . **इण्डियन कान्स्टीट्यूशन : कार्नरस्टोन ऑफ ए नेशन।**

4

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के दार्शनिक आधार तत्व : संविधान की प्रस्तावना के विशेष सन्दर्भ में

[PHILOSOPHICAL POSTULATES OF INDIAN POLITICAL SYSTEM WITH SPECIAL REFERENCE TO THE PREAMBLE]

संविधान और राजनीतिक व्यवस्था के दार्शनिक आधार तत्वो (Philosophical Postulates) मे अभिप्राय उन आदर्शों से है जिससे भारतीय सविधान अभिप्रेरित हुआ है तथा उन नीतियो से है जिन पर यह सविधान और शासन प्रणाली आधारित हे। भारतीय शासन-व्यवस्था के उन आधार तत्वो का वर्णन सविधान की प्रस्तावना मे किया गया जो अन्तिम रूप से सविधान सभा द्वारा 26 नवम्बर, 1949 को पारित हुई।

भारतीय सविधान की अन्तरात्मा न्याय, समता, अधिकार और वन्धुत्व के आसव से अभिसिंचित है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय हमारे वर्तमान सविधान की नियामक महत्वाकाक्षाओ मे से एक है।[1] सविधान की प्रस्तावना मे कहा गया है कि "हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिको का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त करने के लिए इस सविधान को अधिनियमित तथा आत्मार्पित करते हे।" वस्तुत सविधान की यह प्रस्तावना हमारे सविधान का सार है। यह उसकी प्रेरणा और आधारशिला है। हमारे सविधान के समस्त प्रावधान प्रस्तावना मे निहित भावनाओ से स्फूर्ति ग्रहण करते है। कानून की दृष्टि से प्रस्तावना सविधान का अग नही है किन्तु व्यवहार मे यही कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का मार्ग-निर्देशन करने वाला प्रकाश-स्तम्भ है। प्रस्तावना से यह प्रेरणा मिलती हे कि "हम क्या करेंगे, हमारा ध्येय क्या है और हम किस दिशा मे जा रहे हैं ?"

प्रस्तावना का अर्थ और महत्व (Meaning and Definition of the Preamble)

पं० ठाकुरदास भार्गव के अनुसार, "प्रस्तावना सविधान का सवमे महत्वपूर्ण अंग है। वह विधान की आत्मा है। यह विधान की कु जी है।" **डॉ० सुभाष काश्यप** के अनुसार, "सविधान राष्ट्र का मूलभूत अधिनियम है। वह राज्य के विभिन्न अगो का गठन कर उन्हे शरीर देता है, शक्ति देता है। उसके शरीर गठन के पीछे, अगो की व्यवस्था के पीछे एक प्रेरणा होती है,

---

[1] मुखर्जी, पी० वी० : **श्री एलीमेण्टल प्रॉब्लम्स ऑफ दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन**, नेशनल, दिल्ली 1972, पृ० 1।

एक आत्मा होती है जिसको शब्द रूप मिलता है प्रस्तावना मे ।"[1] प्रस्तावना संविधान की कुण्डली है तथा सर्वश्रेष्ठ तत्वों का निचोड है । सर्वोच्च न्यायालय ने प्रस्तावना पर विचार करते हुए 'वेरूबारी विवाद' मे कहा है कि "प्रस्तावना संविधान के निर्माताओं के आशय को स्पष्ट करने वाली कुंजी है ।" प्राय. अधिकांश लिखित सविधानो की प्रस्तावना होती है, जो सविधान के स्वरूप, कार्यप्रणाली तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रकट करती है । सविधान की भूमिका अथवा प्रस्तावना अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है—**प्रथम**, प्रस्तावना शासन प्रणाली को स्पष्ट करती है । शासन का स्वरूप लोकतन्त्रात्मक होगा अथवा स्वेच्छाचारीतन्त्र, इसका आभास प्रस्तावना की मूल भावना से सहज मे ही लगाया जा सकता है । **द्वितीय**, प्रस्तावना शासन के सिद्धान्तों को प्रकट करती है । शासन का लक्ष्य लोकहित की साधना होगा अथवा न्यस्त स्वार्थों की पूर्ति करना मात्र, इसका अनुमान प्रस्तावना मे निहित दर्शन से लगाया जा सकता है । **तृतीय**, राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से प्रस्तावना शासनकर्ताओ के दायित्वो का बोध कराती है । **चतुर्थ**, जटिल परिस्थितियो मे प्रस्तावना सविधान के ध्येयो को इंगित कराती है । **पचम**, प्रस्तावना संविधान के संचालन मे प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करती है । **डॉ० सुभाष काश्यप** के अनुसार, "प्रस्तावना मे जिन तथ्यो, सिद्धान्तो तथा आदर्शो का निरूपण हुआ है वे समूचे संविधान मे अन्तर्व्याप्त हैं और संविधान की विभिन्न धाराओं का उद्‌गम प्रस्तावना मे विद्यमान है ।"[2] **षष्ठ**, प्रस्तावना संविधान का निचोड एवं सक्षिप्त रूप है । अन्त मे, यह सविधान की प्रेरक शक्ति के रूप मे महत्वपूर्ण लेख है । भूतपूर्व न्यायमूर्ति **हिदायतुल्ला** के शब्दो मे, "भारतीय सविधान की प्रस्तावना समूचे संविधान की आत्मा है, शाश्वत और अपरिवर्तनीय । प्रस्तावना मे संवैधानिक जीवन के वैविध्य का भी उल्लेख मिलता है और भविष्य दर्शन भी ।"

भारतीय सविधान की प्रस्तावना—रचना-प्रक्रिया (Preamble in the Process of Making)

सविधान की प्रस्तावना का आधार प० जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत 'उद्देश्य प्रस्ताव' है जिसे उन्होने 13 दिसम्बर, 1946 को सविधान-निर्मात्री सभा मे प्रस्तुत किया था । इस 'उद्देश्य प्रस्ताव' के जनक स्वय पंडित नेहरू थे । अखिल भारतीय कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने अपने नवम्बर 1946 के मेरठ अधिवेशन मे इस प्रस्ताव पर विस्तार से विचार करते हुए इसे पारित कर दिया था । सविधान सभा के लिए यह स्वाभाविक था कि वह भारतीय जन-मानस के सम्मुख अपने उद्देश्यो एव आदर्शो को स्पष्ट करे । इस समय समूचे देश मे अविश्वास और अनिश्चितता का कोहरा छाया हुआ था और राष्ट्र का मार्ग स्पष्ट नही था । संविधान सभा के सम्मुख उद्देश्यों का ऐतिहासिक घोषणा-पत्र प्रस्तुत करके पं० जवाहरलाल नेहरू ने स्वतन्त्र भारत के भावी संविधान की बुनियादी रूपरेखा और सिद्धान्तो का प्रभावशाली ढंग से निरूपण किया ।

इस 'उद्देश्य प्रस्ताव' को वर्तमान संविधान की प्रस्तावना की आधारशिला कहा जा सकता है । उद्देश्य प्रस्ताव मे कहा गया था—**प्रथम**, यह संविधान सभा अपने इस दृढ और गम्भीर संकल्प की घोषणा करती है कि वह भारत को एक स्वतन्त्र प्रभुता-सम्पन्न गणराज्य घोषित करेगी और उसके भावी शासन के लिए एक संविधान की रचना करेगी । **द्वितीय**, जो भाग या देशी राज्य स्वतन्त्र प्रभुता-सम्पन्न भारत के भीतर सम्मिलित होने के लिए तैयार है, आपस में मिलकर एक संघ के रूप मे गठित होगे । **तृतीय**, प्रभुत्व-सम्पन्न और स्वतन्त्र भारत, उसके अंगभूत भागो और शासन के अंगो की समूची शक्ति और सत्ता जनता मे प्राप्त हुई है । **चतुर्थ**, भारत के सभी लोगों

---

1 काश्यप, सुभाष · **संविधान की आत्मा—प्रस्तावना**, 'लोकतन्त्र समीक्षा', अप्रैल-जून 1969, पृ० 99 ।

2 काश्यप, सुभाष : **संविधान की आत्मा**, नेशनल, 1971, पृ० 35 ।

को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थिति और अवसर की तथा विधि के स
समानता की, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास; धर्म, उपासना, व्यवसाय और कार्य की गारण्टी द
जायेगी। पचम, अल्पसख्यको, दलितो और पिछडे हुए वर्गों के लिए उपयुक्त परिणामो की व्यवस्थ
की जायेगी। षष्ठ, न्याय तथा सभ्य राष्ट्रो की विधि के अनुसार गणराज्य के राज्यक्षेत्र
अखण्डता और जल, थल व आकाश पर उसकी प्रभुता की रक्षा की जायेगी। अन्त मे यह दे
विश्व-शान्ति तथा मानव-जाति के कल्याण हेतु अपना पूर्ण तथा सहर्ष योग देगा।[1]

सही मायने मे यह उद्देश्य प्रस्ताव भारतीय स्वाधीनता का घोषणा-पत्र था। प० नेहरू
स्पष्ट कहा है कि "उनके प्रस्ताव का ध्येय है कि वह देश की करोडो जनता को जो हमारी ओर
रही है तथा समूचे विश्व को यह आभास दे दे कि हम क्या करेंगे, हमारा लक्ष्य क्या है तथा
किधर जाना है ?" उन्होंने अपने ओजस्वी भाषण मे बताया कि "प्रस्ताव होते हुए भी यह प्र..
से बहुत कुछ ज्यादा है। यह एक घोषणा है, यह एक दृढ निश्चय है, यह एक प्रतिज्ञा ..
दायित्व है। हमे विश्वास है कि यह एक व्रत है। यह प्रस्ताव दुनिया को टूटे-फूटे शब्दो मे
बताना चाहता है कि हमने इतने दिनो से किस बात की अभिलाषा कर रखी थी, हमारा :
क्या था।" 'उद्देश्य प्रस्ताव' पर नेहरू द्वारा दिये गये भाषण का सविधान सभा पर जादू
प्रभाव पडा और चारो ओर आशा, उल्लास तथा सकल्प की प्रकाशमयी किरणें जगमगा उठी
सविधान सभा ने कुल आठ दिनो तक 'उद्देश्य प्रस्ताव' पर विचार किया। सविधान सभा के अधिक
सदस्यो ने उद्देश्य प्रस्ताव का उत्साहपूर्वक समर्थन किया किन्तु कुंजरू, जयकर तथा डॉ० ...
चाहते थे कि प्रस्ताव पर विचार स्थगित कर दिया जाय। 22 जनवरी, 1946 को जवाहरला
नेहरू ने 'उद्देश्य प्रस्ताव' से सम्बन्धित वाद-विवाद का उत्तर दिया और सविधान सभा ने
स्वीकार कर लिया।[2]

इस 'उद्देश्य प्रस्ताव' की स्वीकृति एक प्रतिज्ञा के समान थी जिसे नूतन सविधान मे
पित करना अनिवार्य था। परन्तु प्रस्ताव का एक मूलभूत सिद्धान्त अवशिष्ट शक्तियो से यु
स्वायत्तशासी इकाइयो का था। यह सिद्धान्त "देश की प्रशासनिक आवश्यकताओ के सम्बन्ध
सभा के निर्णय के विरुद्ध था और इसे मुस्लिम लीग की सुविधा की दृष्टि से ही स्वीकार कि
गया था।" अत जब तक इस प्रश्न का निर्णय नही हो जाता कि 'देश को अखण्ड रहना है
विभाजित होना है' तब तक 'उद्देश्य प्रस्ताव' के सम्बन्ध मे कोई निर्णय नही हो सकता था।
सविधान के प्रारम्भिक प्रारूपो मे तो प्रस्तावना को केवल औपचारिक रूप मे ही रखा गया
30 मई, 1947 को सघ सविधान के सम्बन्ध मे बी० एन० राव द्वारा जो ज्ञापन दिया गया
उसमे प्रस्तावना का रूप बदला हुआ था—जैसे, "हम भारत के लोग, जो समाज हित के।
प्रयत्नशील है, एतद द्वारा, अपने चुने हुए प्रतिनिधियो के माध्यम से यह सविधान आध नर्या
अगीकृत और आत्मार्पित करते हैं।" जब केबिनेट मिशन योजना द्वारा देश के विभाजन का सु
दिया गया तो सविधान सभा मे यह मत दृढ होने लगा कि विघटनकारी शक्तियों का सामना
के लिए शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार का होना अनिवार्य है। 18 जुलाई, 1947 को प० जव
लाल नेहरू ने भी स्वीकार किया कि एक प्रकार से प्रस्तावना 'उद्देश्य प्रस्ताव' मे आ ही गयी
पर देश की राजनीतिक स्थिति बदल जाने के कारण उसमें कुछ परिवर्तन करने होगे।

सविधान सभा की प्रारूप समिति ने अपनी कई बैठको मे 'प्रस्ताव' के स्वरूप पर विच
विमर्श किया। 'उद्देश्य प्रस्ताव' मे भारतीय सघ के स्वरूप के बारे मे जो धारणा थी उसे रव

---

1 सविधान सभा वाद-विवाद, खण्ड 1, पृ० 56।
2 संविधान सभा वाद-विवाद, खण्ड 2, पृ० 324।

राजनीतिक परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए त्याग दिया गया। प्रारूप समित का मत था कि प्रस्तावना मे नवीन राष्ट्र के मूल स्वरूप तथा उसके बुनियादी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक उद्देश्यो का विवेचन होना चाहिए। विस्तार के अन्य विषयो का निरूपण संविधान के अन्य प्रावधानो मे किया जा सकता है। फरवरी, 1948 मे प्रारूप समिति ने प्रस्तावना को स्वीकार किया। संविधान सभा ने 17 अक्टूबर, 1948 को 'प्रारूप प्रस्तावना' पर विचार किया। संविधान सभा के कतिपय सदस्य प्रस्तावना मे कुछ सशोधन चाहते थे। **हसरत मोहानी** का विचार था कि प्रस्तावना मे भारत को 'समाजवादी गणराज्य' सघ कहा जाये। **एच० वी० कामथ** चाहते थे कि प्रस्तावना के प्रारम्भ मे 'ईश्वर के नाम' शब्द जोड दिया जाये। परन्तु ऐसे सशोधनो को सभा ने स्वीकार नही किया।

प्रस्तावना (Preamble)

भारतीय संविधान की प्रस्तावना अत्यन्त सक्षिप्त, आकर्षक एवं शब्द चयन की दृष्टि से प्रभावशाली है। डॉ० सुभाष काश्यप के अनुसार, "प्रस्तावना का एक-एक शब्द एक चित्र है, चित्र जो बोलता है, एक कहानी कहता है—तपस्या, त्याग और बलिदान की कहानी।" इस प्रस्तावना मे कहा गया है कि—

हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न,
लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त
नागरिको को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय,
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता
प्रतिष्ठा और अवसर की समता
प्राप्त करने के लिए,
तथा उन सब में
व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता
सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए
दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई० (मिती मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, सवत् दो हजार छ. विक्रमी) को एतद्द्वारा इस सविधान को अगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते है।

42वें संवैधानिक संशोधन के बाद प्रस्तावना[1]
(PREAMBLE AFTER THE 42nd CONSTITUTIONAL AMENDMENT)

42वे सवैधानिक संशोधन (1976) के द्वारा भारतीय सविधान की प्रस्तावना मे कुछ और शब्दो तथा भावो को जोड़ा गया है। अब सविधान की प्रस्तावना इस प्रकार है

हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, **समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष**, लोकतान्त्रिक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिको को :

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब मे व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की **एकता तथा अखण्डता** सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढाने के लिए दृढ़सकल्प होकर अपनी इस सविधान सभा मे आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई० (मिती मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, सवत् 2006 विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

---

1 The words 'Socialist and Secular' in the first part 'Integrity' in the last part were inserted by constitution (Fourty-Second Amendment) Act, 1976.

प्रस्तावना के मुख्य लक्षण (Main Features of the Preamble)

डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के अनुसार, "हमारे सविधान की आत्मा (प्रस्तावना) में मनुष्य की सभ्यता के आधुनिक विकास क्रम का हृदय-स्पन्दन है, उसकी अन्तरात्मा, न्याय और समता एवं अधिकार और बन्धुत्व के आसव से अभिसिंचित है।"

डॉ० जे० आर० सिवाच के अनुसार प्रस्तावना को चार भागो मे बाँटा जा सकता है :[1]

(1) सत्ता का स्रोत (Source of Authority),

(2) शासन का प्रकार (Type of Government),

(3) शासन प्रणाली के लक्ष्य (Objectives of the Political System), एव

(4) स्वीकृति एवं क्रियान्वयन की तिथि (Date of Adoption and Enactment)।

सविधान की प्रस्तावना के मुख्य लक्षण तथा विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) **सविधान का स्रोत जनता है**—प्रस्तावना के प्रारम्भिक शब्द यह इगित करते है कि भारतीय सविधान का स्रोत जनता है। भारतीय शासन की अन्तिम सत्ता जनता मे निहित है तथा भारतीय जनता ने ही सविधान को अंगीकृत और अधिनियमित किया है। प्रस्तावना का सार बिन्दु यह है कि "हम भारत के लोग भारत के सविधान को अगीकृत और आत्मार्पित करते है।" सविधान के किसी भी प्रावधान मे पृथक् से यह इगित नही किया गया है कि शासन की समूची शक्तियाँ जनता से प्राप्त हुई हैं। अत प्रस्तावना द्वारा प्रभुसत्ता के अधिवास की समस्या के विवाद की समाप्ति कर दी गयी है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नया संविधान किसी बाह्य सत्ता ने आरोपित नही किया है और हम सब भारत के नागरिक है। अमरीका की भाँति भारतीय सविधान के निर्माण मे राज्य के बजाय भारत की जनता का सर्वोपरि हाथ है। **डॉ० अम्बेडकर** के अनुसार, "प्रस्तावना यह स्पष्ट कर देती है कि इस सविधान का आधार जनता है एव इनमे निहित प्राधिकार और प्रभुसत्ता सब जनता से प्राप्त हुई है।" इस प्रकार 'हम भारत के लोग' शब्द का अभिप्राय यही है कि संविधान सभा ने भारत की जनता की ओर से ही सविधान बनाया और स्वीकृत किया।

(2) **शासन के ध्येयो की घोषणा**—प्रस्तावना मे भारतीय शासन—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका के ध्येयो की स्पष्ट घोषणा की गयी है। प्रस्तावना के द्वारा सरकार के लक्ष्यो को इगित करके यह अपेक्षा की गयी है कि वह उन लक्ष्यो को पूरा करने की कोशिश करेगी। प्रस्तावना के अनुसार हमारे गणतन्त्र के चार प्रमुख ध्येय हैं—न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व। सविधान के जनक इस बात से परिचित थे कि स्वाधीनता सिर्फ राजनीतिक नही होती। राजनीतिक स्वाधीनता तो साधन मात्र है। जब तक भूख के भय से, अज्ञान के अन्धकार से, आवास के अभाव से, बुनियादी यातनाओ एव आतक से, शोषण, अत्याचार, लाचारी और विवशता से इस देश के करोड़ो जनो को मुक्ति प्राप्त नही होती तब तक राजनीतिक स्वाधीनता अधूरी स्वाधीनता ही रहेगी। इसी कारण उन्होने स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों पर भारतीय सविधान की नीव रखी।[2]

(3) **सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न**—प्रस्तावना मे इस विषय पर बल दिया गया है कि सविधान का महत्वपूर्ण उद्देश्य भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य बनाना है। 'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न' या 'सार्वभौम' शब्द का प्रयोग किया जाना इस बात का द्योतक है कि भारत के आन्तरिक तथा वैदेशिक मामलो मे भारत सरकार सार्वभौम तथा स्वतन्त्र है। विधि की दृष्टि से भारत के ऊपर न

---

1 J R Siwach, *Dynamics of Indian Government and Politics*, Sterling Publishers, New Delhi, 1985. p 11

2 नेहरू, जवाहरलाल . **कान्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 2**, पृ० 302।

नो किसी आन्तरिक शक्ति का प्रतिवन्ध है और न किसी वाहरी शक्ति का। भारतीय स्वाधीनता अधिनियम के पारित हो जाने से भारत पर ब्रिटिश शासन का नियन्त्रण समाप्त हो गया है और भारतीय संविधान वाहर की किसी सत्ता द्वारा थोपा नही जा रहा है।

(4) **लोकतन्त्रात्मक सविधान**—सविधान की प्रस्तावना मे भारत को एक लोकतान्त्रिक राज्य घोषित किया गया। देश में जनता के द्वारा राजशक्ति का प्रयोग किया जायेगा। राज-शक्ति पर किसी एक वर्ग विशेष का एकाधिकार नही होगा और शासन का सचालन वहुमत के सिद्धान्त के आधार पर होगा। उन्ही कानूनो को लागू किया जायगा जिन्हे जनता का समर्थन प्राप्त होगा। राज्य मे कोई विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नही होगा और राज्य की सीमा मे निवास करने वाले समस्त स्त्री-पुरुषो को समानता प्राप्त होगी। भारत ऐसा लोकतन्त्र होगा जिसमे अल्पसख्यकों को सुरक्षा प्राप्त होगी और समाज मे आर्थिक शक्ति का समतायुक्त वितरण होगा ताकि किसी भी वर्ग का शोषण न हो। भारतीय सविधान की प्रस्तावना मे प्रयुक्त कतिपय शब्द जैसे—'न्याय', 'स्वतन्त्रता', 'समता', 'व्यक्ति की गरिमा', 'राष्ट्र की एकता', 'वन्धुता', आदि महत्वपूर्ण हैं और यह प्रकट करते है कि यह देश न केवल राजनीतिक लोकतन्त्र होगा अपितु सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र भी होगा।

(5) **गणराज्य**—प्रस्तावना मे 'गणतन्त्र' शब्द का उपयोग इस विषय पर प्रभाव डालता है कि दो प्रकार की लोकतन्त्रीय व्यवस्थाओ—'वंशानुगत लोकतन्त्र' तथा 'लोकतन्त्रीय गणतन्त्र' मे से भारतीय सविधान के अन्तर्गत लोकतन्त्रीय गणतन्त्र को अपनाया गया है। वशानुगत लोकतन्त्र के अन्तर्गत राष्ट्रीय ध्वज किसी विशिष्ट वश का होता है, जो अपना पद वशानुगत सिद्धान्त के आधार पर प्राप्त करता है, किन्तु राष्ट्राध्यक्ष के रूप मे वह केवल नाममात्र का शासक होता है। उदाहरणार्थ, इगलैण्ड मे संवैधानिक राजतन्त्र या लोकतान्त्रिक राजतन्त्र है क्योकि वहाँ के राष्ट्राध्यक्ष को अपना पद वशानुगत प्राप्त होता है। लोकतन्त्रीय गणतन्त्र मे राष्ट्राध्यक्ष का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता है, अर्थात् गणतान्त्रिक राज्य मे राष्ट्राध्यक्ष को अपना पद जनता द्वारा निर्वाचन के फलस्वरूप प्राप्त होता है। भारतीय सविधान की प्रस्तावना यह इगित करती है कि भारत मे राज्य का मुखिया कोई वशानुगत राजा नही, अपितु निर्वाचित राष्ट्रपति होगा और राष्ट्रपति पद पर कोई भी नागरिक पहुँच सकेगा। भारतीय गणराज्य मे सर्वोच्च शक्ति सार्वभौम वयस्क मताधिकार से सम्पन्न जनसमुदाय मे निहित होगी।

(6) **न्याय**—हमारे सविधान की प्रस्तावना मे न्याय के उल्लेख का विशिष्ट महत्व है। संविधान-निर्माता इस वात से भली-भाँति परिचित थे कि सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना मे स्वतन्त्रता और समानता के अतिरिक्त न्याय अनिवार्य है। न्याय के द्वारा ही लोकहित की वृद्धि हो सकती है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना मे प्रयास करना राज्य का पवित्र कर्तव्य माना गया है। सामाजिक न्याय से अभिप्राय है कि मानव-मानव के वीच मे जाति, वर्ण के आधार पर भेद न माना जाये और प्रत्येक नागरिक को उन्नति के समुचित अवसर सुलभ हो। राज्य का यह दायित्व हो जाता है कि दुर्वल वर्गो का शोषण रोके और उनके विकास के लिए क्रियाशील हो। आर्थिक न्याय से अभिप्राय है कि उत्पादन एव वितरण के साधनो का न्यायोचित वितरण हो और धन सम्पदा का केवल कुछ ही हाथो मे केन्द्रीयकरण न हो जाये। आर्थिक न्याय की प्राप्ति के लिए समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो। राजनीतिक न्याय का अभिप्राय है कि राज्य के अन्तर्गत समस्त नागरिको को समान रूप से नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो। मताधिकार के प्रयोग का आधार वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त ही होगा और राज्य मे अभिजात्य वर्ग को कोई विशिष्ट रियायतें सुलभ नही होंगी। इस प्रकार प्रस्तावना मे उपवन्धित

न्याय के विचार से लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार दृष्टिगोचर होता है और नागरिको को जीवन के क्षेत्रो मे न्याय का आश्वासन दिया गया है।

(7) **स्वतन्त्रता**—प्रस्तावना मे इस बात पर जोर दिया गया है कि राज्य समस्त नागरिको को स्वतन्त्रता प्रदान करेगा। यहाँ स्वतन्त्रता से तात्पर्य नागरिक स्वतन्त्रता और राजनीतिक स्वतन्त्रता से है। विचार, अभिव्यक्ति, भाषण, सघ बनाना, सम्पत्ति रखना, आदि नागरिक स्वतन्त्रताएँ है। मतदान मे भाग लेना, प्रतिनिधियो को चुनना, निर्वाचन मे खडा होना, सार्वजनिक पद पर नियुक्ति का अधिकार, सरकारी नीतियो की आलोचना करना, आदि राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ है। प्रस्तावना मे भारतीय नागरिको के व्यक्तित्व के विकास हेतु स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया है।

(8) **धर्मनिरपेक्षता**—धर्मनिरपेक्ष राज्य किसी धर्म विशेष को प्रोत्साहन नही देता और न वह किसी धर्म के साथ कठोरता का ही व्यवहार करता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य के अन्तर्गत धर्म को नितान्त व्यक्तिगत वस्तु समझा जाता है। सविधान की प्रस्तावना मे धर्म और उपासना की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करके धार्मिक अल्पसख्यको को कारगर सरक्षण प्रदान किया गया है। हमारा ध्येय भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाना है।

(9) **समता**—समता से अभिप्राय है कि अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए प्रत्येक मनुष्य को समान अवसर उपलब्ध होने चाहिए। धन, जाति, वंश के आधार पर मनुष्य-मनुष्य मे अन्तर नही होना चाहिए। सभी नागरिको को देश के समान विधान मे समान भाग मिलना चाहिए। लिंग, नस्ल अथवा सम्पत्ति के आधार पर राजनीतिक अधिकारो का निषेध नही होना चाहिए। समान योग्यता और समान श्रम के लिए वेतन भी समान होना चाहिए। एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य का अथवा एक वर्ग को दूसरे वर्ग का आर्थिक शोषण करने का कोई अधिकार नही होना चाहिए। हमारे सविधान की प्रस्तावना मे नागरिको को स्थान और अवसर कीही समता प्रदान की गयी है, जो अत्यन्त विस्तृत है।

(10) **राष्ट्रीय एकता**—प्रस्तावना मे राष्ट्रीय एकता पर बल दिया गया है। भाषा आदि की विविधता होते हुए भी भारत एक राष्ट्र है। इस सम्बन्ध मे, प्रस्तावना का महत्व इसलिए अधिक हो जाता है कि इसमे उन दो विशेष आधारो पर बल दिया गया है, जिनके माध्यम से राष्ट्रीय एकता दृढ होती है। **सर्वप्रथम**, प्रस्तावना मे व्यक्ति की प्रतिष्ठा तथा महत्व पर बल दिया गया है। व्यक्ति को लोकतन्त्र की एक महत्वपूर्ण इकाई मानते हुए, राष्ट्रीय एकता को एक महत्वपूर्ण आधार माना गया है। राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना की जागृति, व्यक्ति के स्वाभिमान की भावना से सम्बन्धित है। परन्तु व्यक्ति के स्वाभिमान की भावना राज्य एवं समाज मे, उसके महत्व को स्वीकार करने पर निर्भर है। यदि राज्य तथा समाज मे व्यक्ति को उसकी उचित प्रतिष्ठा तथा अधिकार प्राप्त है, यह स्वाभाविक है कि नागरिक के रूप मे देश के प्रति उसकी आस्था बनी रहेगी और इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय भावना तथा एकता दृढ होगी। **द्वितीय**, यह भी माना जाता है कि समाज तथा राज्य द्वारा व्यक्ति की प्रतिष्ठा एव अधिकारो की स्वीकृति, राज्य तथा समाज मे नागरिको के मध्य बन्धुत्व या स्नेह की भावना प्रज्ज्वलित करेगी, जिससे राष्ट्रीय एकता दृढ होगी। इस प्रकार प्रस्तावना मे निहित इन दो आधारो पर सविधान-निर्माताओ ने राष्ट्रीय एकता को दृढ बनाने का आश्वासन दिया है।

प्रस्तावना : संविधान की आत्मा (Preamble The Soul of the Constitution)

प्रस्तावना मे भारत के सविधान की आत्मा विशेष रूप से मुखर हुई है। सविधान की आत्मा के अध्ययन से देश के नवयुवकों को देश-प्रेम की नयी प्रेरणा मिलती है, राष्ट्रीय एकता की भावना को बल मिलता है और विधान के प्रति अमर आस्था जागृत होती है। प्रस्तावना मे अग्रलिखित गुण हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि यह हमारे सविधान की आत्मा है :

(1) **प्रस्तावना संविधान की प्रेरणा और प्राण है**—यह प्रस्तावना भारतीय संविधान की आत्मा और प्राण है। कानून की दृष्टि से यह सविधान का अग नही है, फिर भी यही उसका प्रेरणा स्रोत है। सविधान के सारे उपबन्ध प्रस्तावना मे स्फूर्ति ग्रहण करते है। **डॉ० सुभाष काश्यप** के शब्दो मे, "सविधान शरीर है तो प्रस्तावना उसकी आत्मा, प्रस्तावना आधारशिला है तो सविधान उस पर खडी अट्टालिका, प्रस्तावना तथ्य निर्देश है तो सविधान के विभिन्न अनुच्छेद उस तथ्य की सिद्धि के साधन।"[1]

(2) **नूतन भावनाओं एवं संकल्पों का बोध**—यह प्रस्तावना नूतन भावनाओ एवं संकल्पो का बोध कराती है। इससे शासनकर्ताओ को नयी दिशाएँ एव सामाजिक समता और न्याय करने के लिए सकल्पो का बोध होता है।[2] यह भूमिका सविधान का अमूल्य अश है। यह सविधान की आत्मा तथा संविधान की कुन्जी है।[3] यह प्रस्तावना सविधान को उत्कृष्ट रूप प्रदान करती है तथा सविधान-निर्माताओ के विचारो तथा उद्देश्यो को स्पष्ट करती है।

(3) **प्रस्तावना संविधान की आत्मा है**—संविधान की आत्मा कहते है 'संविधान के मूल सिद्धान्तो और आधारभूत मूल्यो को।' हमारे सर्वोच्च न्यायालय ने वेरूवारी मामले मे अपना निर्णय देते हुए प्रस्तावना को सविधान अथवा अधिनियम के निर्माताओ के आशय को स्पष्ट करने वाली कुन्जी कहा है।

(4) **प्रस्तावना में चित्रित है स्वाधीनता संघर्ष की कल्पना का भारत**—हम जिन मान्यताओ को युगो से सँजोते रहे और विशेषकर, जो विश्वास, निष्ठा और आकांक्षाएँ हमने अपने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-सग्राम काल मे हृदयगम की वे सविधान की प्रस्तावना मे पूरी तरह परिलक्षित होती है।

(5) **प्रस्तावना पर किसी वाद या एक विचारधारा का प्रभाव नहीं**—वर्तमान युग मे अनेक विचारधाराओ का प्रादुर्भाव हुआ है और विश्व के विभिन्न सविधानो पर उसका प्रभाव स्पष्ट झलकता है। रूस और चीन का शासन विधान जहाँ मार्क्सवादी दर्शन के प्रभाव से भरा पडा है वही अमरीका का सविधान क्रान्तिवादी और पूँजीवादी दर्शन पर आधारित है। भारतीय सविधान किसी एक विचारधारा से बँधा हुआ नही है। संविधान की प्रस्तावना मे समस्त प्रचलित विचारधाराओ के श्रेष्ठ तत्वो का निचोड़ उपलब्ध है। प्रस्तावना मे प्रस्तुत न्याय का सिद्धान्त व्यवहारोपयोगी है और समाजवाद, साम्यवाद या पूँजीवाद जैसे किसी विशिष्ट दर्शन का अनुगामी नही है।

(6) **भारतीय क्रान्ति की सूत्रधार प्रस्तावना**—सविधान की प्रस्तावना पर फ्रांसीसी, रूसी और अमरीकी क्रान्ति का प्रभाव झलकता है। यह बात सर्वविदित है कि फ्रांस की क्रान्ति स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व पर जोर देती थी, रूसी क्रान्ति आर्थिक समानता पर और अमरीकी क्रान्ति वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर जोर देती थी। भारतीय सविधान की प्रस्तावना मे अन्तर्निहित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की धारणा मे तीनो ही क्रान्तियो का समन्वय कर दिया गया है।

---

1 काश्यप, सुभाष . **संविधान की आत्मा**, पृ० 13।

2 "It embodies the spirit of the Constitution, the determination of the Indian people to unite themselves in a common adventure of building up a new and independent nation."
—*M. V. Pylee*

3 "The Preamble is the most precious part of the constitution. It is the Soul of the Constitution. It is a Key to the Constitution."
—*M. V. Pylee*

(7) प्रस्तावना में चित्रित हैं भावी, भारत का स्वरूप—प्रस्तावना सविधान-निर्माताओं की कल्पना के भारत का रूप प्रकट करती है। सविधान-निर्माताओ की योजना यह थी कि आर्थिक और राजनीतिक लोकतन्त्र को एक ऐसा लक्ष्य माना जाये जिस तक हमें पहुँचना है। प्रस्तावना मे निहित लक्ष्य आज भी हमारे राष्ट्रीय आदर्श है और युग-युग मे प्रत्येक सरकार को उनकी प्राप्ति के लिए सतत् प्रयास करना होगा।

मूल्याकन (An Estimate)—सविधान की प्रस्तावना का उद्देश्य राजनीतिक व्यवस्था का लक्ष्य निर्धारित करना तथा उसकी नीति सुनिश्चित करना है। यद्यपि यह प्रस्तावना संविधान का अंग नही है और इसे न्यायालय मे कानून की सज्ञा नही दी जा सकती किन्तु इसका वैधानिक महत्व अत्यधिक है, क्योंकि सवैधानिक और ससदीय अधिनियमों की इसी के प्रकाश में व्याख्या की जा सकती है।[1] एक मुकदमे के सम्बन्ध मे उच्चतम न्यायालय ने 1969 में कहा था, "यदि विधानमण्डल द्वारा प्रयुक्त किसी शब्दावली पर कोई शका उत्पन्न हो जाये तो उसे दूर करने का सबसे विश्वसनीय तरीका यह है कि उसके मूल में निहित भावनाओ, उसके आधार और कानून-निर्माण के कारण पर विचार किया जाये तथा (सविधान की) प्रस्तावना का आश्रय लिया जाये।" सविधान की भूमिका के रूप मे प्रस्तावना उसका आधार है और जब तक कि वह किसी स्पष्ट अधिनियम के प्रतिकूल न हो तब तक उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। प्रस्तावना का सहारा लेकर सविधान-निर्माताओ के अभिप्राय का पता लगा सकते हैं।

इस प्रकार भारतीय सविधान मे निहित दर्शन जिसकी अभिव्यक्ति प्रस्तावना मे की गयी है, वास्तव मे उस युग के राजनीतिक दर्शन—कल्याणकारी राज्य की ओर उन्मुख उदारवादी लोकतन्त्र का दर्शन—के अनुरूप था जिसमे सविधान का निर्माण किया गया।

निष्कर्षत, भारतीय सविधान के जनको ने नव-निर्माण की भूमिका मे एक नये और सुव्यवस्थित समाज की कल्पना की है। यह बडे सौभाग्य और सन्तोष की बात है कि हमारे संविधान के निर्मातागण भी उन्ही श्रेष्ठ आदर्शो के समर्थक रहे, जिनके द्वारा व्यक्ति की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखते हुए भी सामाजिक उत्थान और सामाजिक न्याय की स्थापना सम्भव होती है। भारतीय संविधान की सफलता का मुख्य कारण उसकी प्रस्तावना का व्यापक परिप्रेक्ष्य, उदारवादी दर्शन तथा लचीला स्वरूप है। डॉ० सुभाष काश्यप के अनुसार, "प्रस्तावना मे निहित पावन आदर्श हमारे राष्ट्रीय आदर्श हे और जहाँ वे एक ओर हमे अपने गौरवमय अतीत से जोडते हैं वहाँ उस भविष्य की आशका को भी सँजोते है··· ·।"[2]

1 "One of the controversies about the preamble of the constitution has been as to whether it is a part of the constitution or not In Berubari Case the Supreme Court held that it is not a part of the constitution However, it reversed its judgement in Keshvanand Bharti Case in which it held that it is a part of the constitution Hence it can be amended but its part which defined the basic structure of the constitution can not be tampered with" —J R. Siwach, *Dynamics of India Government and Politics*, New Delhi, 1985, p 14.

2 डॉ० सुभाष काश्यप . सविधान की आत्मा : 'प्रस्तावना' : लोकतन्त्र समीक्षा, वही, पृ० 125।

5

भारतीय राजनीति का समाजशास्त्रीय एवं परिस्थितीय आधार

[SOCIOLOGICAL AND ECOLOGICAL BASES OF THE INDIAN POLITICS]

भारत जैसे वैविध्यपूर्ण और प्राचीन परन्तु आधुनिकता से प्रभावित समाज की राजनीति का विश्लेपण करने मे अनेक दृष्टिकोणो का प्रयोग हुआ है। इनमे कानूनी दृष्टिकोण, ऐतिहासिक दृष्टिकोण, संस्थानात्मक दृष्टिकोण, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, व्यवहारवादी दृष्टिकोण, मानव-शास्त्रीय दृष्टिकोण, राजनीतिक विकास दृष्टिकोण, समाजशास्त्रीय एव परिस्थितीय दृष्टिकोण प्रमुख हैं। कानूनी दृष्टिकोण के समर्थक भारतीय सविधान के अध्ययन पर विशेप बल देते हैं। ऐतिहासिक दृष्टिकोण भारतीय सविधान और राजनीतिक संस्थाओ के उद्‌भव और विकास के वर्णन पर जोर देता है। सस्थानात्मक दृष्टिकोण के समर्थक मानते है कि राजनीतिक सस्थाएँ ही हमारे राजनीतिक जीवन को आधार प्रदान करती है। भारत के निर्वाचनो मे मतदान व्यवहार का अध्ययन करते समय अधिकांश विद्वानो ने व्यवहारवादी उपागम का प्रयोग किया है। मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण के समर्थक राजनीतिक सस्थाओ और प्रक्रियाओ का अध्ययन सामाजिक-सास्कृतिक परि-प्रेक्ष्य मे करने का प्रयत्न करते हैं।[1]

कैटलिन ने तो स्पष्ट कहा है कि राजनीति संगठित समाज का अध्ययन है और इसलिए समाजशास्त्र से उसको अलग नही किया जा सकता। समाजशास्त्र अपनी उत्पत्ति के प्रारम्भिक काल से ही राजनीतिक प्रक्रियाओ एव संस्थाओ का अध्ययन कर रहा है। आधुनिक काल मे अनेक राजनीतिशास्त्रियो ने राजनीतिक प्रक्रियाओ की वास्तविकता को समझने के लिए उन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रयोग किया है जो राजनीतिक व्यवहारों एवं घटनाओ पर प्रकाश डालते है। यह वात सर्वविदित है कि कोई भी राजनीतिक कार्य व सस्था सामाजिक व्यवस्था से अलग नही होती है। राजनीतिक व्यवस्था मे भाग लेने वालो की सामाजिक पृष्ठभूमि, इनकी सामाजिक दशा व मूल्यो का समुचित महत्व होता है। राजनीति मे होने वाली प्रक्रियाओ का अध्ययन एक व्यापक सामाजिक सन्दर्भ मे ही उचित प्रकार से हो सकता है।

---

1 J. S Bains & R. B Jain, *Political Science in Transition* (eds), New Delhi, Gitanjali Prakashan, 1981, p. 226.

भारतीय राजनीति के समाजशास्त्रीय अध्येयता (Sociological Studies of the Indian Politics)

भारतीय राजनीति के सन्दर्भ मे जो अध्ययन (राजनीतिक-समाजशास्त्रीय) हुए है उनमे जहाँ एक ओर यह दिखाने की प्रवृत्ति पायी जाती है कि सामाजिक प्रवृत्तियो का राजनीतिक प्रवृत्तियो पर अधिक व्यापक प्रभाव पडा है, वहाँ दूसरी ओर यह भी प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक प्रवृत्तियो को मोडने मे सक्षम है।[1] उदाहरणार्थ, प्रारम्भिक अध्ययन चाहे वे नारमन डी० पामर द्वारा किये गये हो अथवा फिलिप्स द्वारा, उनमे यह दिखाया गया है कि सामाजिक प्रवृत्तियो का राजनीतिक प्रवृत्तियो पर ज्यादा प्रभाव है। बाद के अध्ययनो मे जैसे रजनी कोठारी और रूडोल्फ आदि ने यह दिखाया हे कि राजनीतिक प्रवृत्तियो का सामाजिक प्रवृत्तियो पर ज्यादा प्रभाव पडा है। भारतीय राजनीति का समाजशास्त्रीय-परिस्थितीय आधार से अध्ययन करने वाले प्रमुख विद्वान इस प्रकार है

राबर्ट एल० हार्डग्रेव	**दि नाडारस ऑफ तमिलनाडु**
राबर्ट एल० हार्डग्रेव	**एसेज इन दि पॉलिटिकल सोशियोलोजी ऑफ साउथ इण्डिया,** 1979
रजनी कोठारी	**पॉलिटिक्स इन इण्डिया,** 1972
रजनी कोठारी	**कास्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया,** 1970
रूडोल्फ एण्ड रूडोल्फ	**दि मॉर्डनिटी ऑफ ट्रेडिशन—पॉलिटिकल डेवलपमेण्ट इन इण्डिया,** 1967
टिंकर एण्ड पार्क	**लीडरशिप एण्ड पॉलिटिकल इन्स्टीट्यूशन इन इण्डिया,** 1960
घनश्याम शाह	**कास्ट एसोशियेसन्स एण्ड पॉलिटिकल प्रोसेज इन गुजरात,** 1975
योगेन्द्र सिंह	**मॉडर्नाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन,** 1973
अनिल भट्ट	**कास्ट, क्लास एण्ड पॉलिटिक्स**
इकबाल नारायण व अन्य	**रूरल एलीट इन इण्डियन स्टेट-स्टडी ऑफ राजस्थान**
आमण्ड कोलमैन	**पॉलिटिक्स ऑफ डेवलपिंग एरियाज,** 1960
वी० आर० मेहता	**मॉडर्नाइजेशन एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया,** 1984

ऐसा कहा जाता है कि इनमे से अधिकाश समाजशास्त्रीय अध्ययन पश्चिमी अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य मे भारतीय राजनीति के अध्ययन का प्रयत्न करते है जिससे कही-कही असगति का बोध होता है।

भारतीय राजनीति का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन : औचित्य (Sociological Studies of the Indian Politics : Utility)

यह तथ्य आमतौर से स्वीकार किया जाता है कि वैधानिक व्यवस्थाएँ समान होते हुए भी किन्ही भी दो देशो का शासन और राजनीति समान नही होती। मॉरिस जोन्स ने राजनीति के विद्यार्थी से आग्रह किया है कि वे इस विषय मे विशेष रूप से सचेत रहे।[2] इसका कारण सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक एव नैतिक व्यवस्थाओ तथा उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे ढूँढा जाना आवश्यक है—इस कारण कि राजनीति शून्य मे क्रियाशील नही होती। इनमे से प्रत्येक व्यवस्था, संस्था और विचार, राजनीति को वह सामग्री प्रदान करती है, जिसके आधार पर वह (राजनीति)

1. *Ibid.*
2. Morris Jones, *Parliament in India* (Longman, 1957), p. 2.

अपने स्वरूप एवं अपनी गतिशील शक्तियो का निर्धारण करती है ।[1] ये गैर-राजनीतिक तत्व (सामाजिकी एवं परिस्थितीय) किसी देश की राजतीति को किस सीमा तक प्रभावित करते है तथा उस देश की राजनीति इन तत्वो को किस सीमा तक अपने अनुकूल पाती है, यह उस देश की सामाजिक विभिन्नताओ एवं आर्थिक असमानताओ के साथ-ही-साथ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा राजनीति की प्रकृति पर निर्भर करती है । यही कारण है कि इस सन्दर्भ मे राष्ट्रो के अनुभव भिन्न-भिन्न समयो मे भिन्न-भिन्न रहे है । किन्तु यह निश्चित है कि सामाजिक विभिन्नताएँ जितनी अधिक होगी, राजनीति उतनी ही अस्थिर, अनिश्चित और समस्याग्रस्त होगी ।

भारतीय राजनीति के आधारो की चर्चा करते हुए मॉरिस जोन्स लिखते है, "नये राज्यों मे राजनीति और समाज के बीच जो सम्बन्ध है, वह पश्चिम के विद्यार्थियो के लिए बिलकुल नया और बडा रोचक है··· ·· यदि ऐसी राजनीति (भारतीय राजनीति) का अध्ययन सामाजिक शक्तियो की ओर ध्यान दिये बिना किया जायेगा, तो वह एकदम अधूरा और गुमराह करने वाला होगा ।"

भारतीय राजनीति के समाजशास्त्रीय एव परिस्थितीय आधार तत्व (Sociological and Ecological Bases of the Indian Politics)

भारतीय राजनीति के सामाजिक-परिस्थितीय आधारो की चर्चा निम्न प्रमुख आधारो पर की जा सकती है :

(1) **भौगोलिक आधार**—किसी देश की राजनीति का भूगोल भी महत्वपूर्ण नियामक कारण होता है । भूगोल के अन्तर्गत देश की अवस्थिति, जलवायु, स्थलाकृति, क्षेत्रफल, आदि तत्व सम्मिलित है । भूगोल मूलक राजनीति के विद्वान कहते है कि शक्ति का मुख्य अवयव भूगोल है और किसी राष्ट्र की जड उस राष्ट्र के भूगोल मे होती है । स्वाधीनता के बाद भारत की विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण ही गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति अपनायी गयी । जनता पार्टी के सत्ता मे आने के बाद भी इस नीति मे बुनियादी परिवर्तन नही हुआ । भारतीय सीमान्त पर स्थित राज्यो जैसे, असम, मणिपुर, त्रिपुरा, नागालैण्ड, जम्मू-कश्मीर, तमिलनाडु, पजाब, केरल, आदि मे समय-समय पर पृथकतावादी प्रवृत्तियो के अभ्युदय का कारण उनकी भौगोलिक स्थिति ही हो सकता है ।

(2) **ऐतिहासिक आधार**—किसी देश की राजनीति का महत्वपूर्ण आधार उसका इतिहास होता है और किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लिए अतीत से पूर्णतया नाता तोड लेना सम्भव नही है । भारत लम्बे समय तक औपनिवेशिक प्रभुत्व का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है जहाँ धीरे-धीरे वेस्टमिनिस्टर (ब्रिटिश) नमूने की सरकार का उदय हुआ । भारतीय ससद की कार्यप्रणाली ब्रिटिश ससद से मिलती-जुलती है और भारत मे कानून के शासन की धारणा ब्रिटेन से ही आयी है ।

(3) **आर्थिक सरचना का आधार**—किसी देश की राजनीति के निर्माण मे आर्थिक सरचना काफी प्रभावकारी भूमिका अदा करती है । मुख्य रूप से शहरी और औद्योगिक समाज अधिक सश्लिष्ट या जटिल समाज होता है जहाँ तीव्र संचार साधनो को बढावा मिलता है । ऐसे समाज मे शैक्षिक स्तर उच्चतर होते है, गुटो की संख्या मे वृद्धि हो जाती है और निर्णयकारी प्रक्रिया मे भाग लेने वालो की सख्या अनिवार्यत अधिक व्यापक होती हे । ग्रामीण समाज परिवर्तन तथा अभिनवीकरण के प्रति उन्मुख नही होते और जिन राज्यो का अधिकाश किसान वर्ग होता है, वे अधिक अनुदार होते है ।

---

1 Rajani Kothari, "*Politics of Fragmentation and Political Integration in State Politics of India*", Iqbal Narain (ed.) *State Politics in India* (Meenakshi Prakashan, Meerut, 1968), p. 632.

भारत मे काग्रेस सरकार ने देश का औद्योगीकरण एव पूँजीवादी मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की अवधारणा के आधार पर करने का जिम्मा लिया। पूँजीवादी औद्योगीकरण का अर्थ है उत्पादन साधनो के मालिको के लिए प्रेरक के रूप मे मुनाफे पर आधारित, और दूसरे समस्त सामाजिक सम्बन्धो का बुनियादी चरित्र प्रतिद्वन्द्विता है। पूँजीवादी औद्योगीकरण का अर्थ है समुदाय के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन का यन्त्रीकरण, व्यवसायीकरण और मौद्रीकरण और व्यक्तियो के बीच सभी सम्बन्धो मे प्रतिद्वन्द्विता का और समाज की गाडी के पहियो को सचालित करने वाले केन्द्रीय उत्प्रेरक के रूप मे मुनाफे का समावेश कराकर सम्पूर्ण पुरानी सामाजिक-आर्थिक संरचना का रूपान्तरण।

पूँजी अपने निवेश के लिए उन्ही क्षेत्रो को चुनती है जो उसे प्रारम्भिक सुविधाएँ प्रदान करते हैं। चूँकि ये सुविधाएँ पहले से ही मौजूद शहरी क्षेत्रो मे प्राप्त होती है अत. एक उद्यम और व्यावसायिक प्रतिष्ठान सामान्यतया शहरो अथवा शहरो के उपनगरीय क्षेत्रो मे शुरू किये जाते है। शहरो का यह और आगे औद्योगिक विस्तार स्वचालित ढग से उन उपयोगिताओं, सड़कों और यातायात के साधनो, मजदूरो के लिए आवासो, स्वच्छता, स्कूलो, अस्पतालो और मनोरंजन की सुविधाओं मे समानान्तर निवेश की आवश्यकता को जन्म देता है।

इस प्रकार इन निवेशो का एक बडा हिस्सा बुर्जआयी मध्यम वर्ग की समृद्धि और नौकर-शाही के ऊपरी तबके की जरूरतो को पूरा करने मे लगाया जाता है। इससे उच्च शहरी सांस्कृ-तिक परम्परा के मानवीकृत नमूने का जन्म होता है, जो पश्चिमी देशो के शहरो के रग मे रंग कर लगभग सभी शहरो मे सतही, पतनशील किस्म का अधिक है। इनमे अपने फैशनेबल होटल, वातानुकूलित चलचित्रगृह और रंगशालाएँ है। मन से ये लोग अब भी सामन्ती तथा अर्द्ध-सामन्ती मूल्यो से चिपके रहते है। पश्चिमी मुलम्मा चढाये उच्च और उच्च-मध्य स्तरो से बना यह अभि-जन एक दोगली सस्कृति विकसित करता है जो रूप मे आधुनिक है किन्तु साररूप मे पुरातनपन्थी तथा हेसियत को बनाये रखने वाला है। इस प्रकार भारतीय राजनीति में एक शहरी उच्च सास्कृतिक परम्परा का उदय हो रहा है जो प्रमुख रूप से दोगली, नकली, आम जनता से कटी हुई पूँजीवादी मूल्यो से जोडती है।

काग्रेस और जनता सरकार की कृषि नीतियों से एक विशिष्ट वर्ग को ही गाँवो मे लाभ हुआ और एक नये 'ग्रामीण अभिजन' का विकास हो रहा है। यह गामीण अभिजन उच्च जातियो एव धनाढ्य किसानो (Rich Peasantry) से मिलकर बना है। ग्रामीण क्षेत्र मे ये ही लोग आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे सत्ता के शीर्ष बिन्दुओं पर कब्जा करते रहे है। ये ही लोग स्थानीय नागरिक गतिविधियो, स्कूल बोर्डों, गाम पचायतो, सहकारी संस्थाओ आदि पर छाये रहते है।

कृषि तथा शहरी दोनो क्षेत्रो मे सरकार की आर्थिक नीतियो तथा उसके समाज कल्याण उपायो से निम्नतर स्तरो की कीमत पर प्राथमिक रूप से उच्चतर स्तरो को ही फायदा मिलता है। इससे आम जनता की गरीबी गम्भीर रूप से बढती जा रही है। सम्पूर्ण ग्रामीण जगत मे निचले स्तरो पर गहरा असन्तोष उभर रहा है जो अपने वर्ग सगठन के अभाव मे अपने सगठित वर्ग आन्दोलनो मे अभिव्यक्ति नही कर पा रहा है। किन्तु कभी-कभी तनावो और संघर्षो के रूप मे विस्फोटक हो जाता है।[1]

(4) **सामाजिक सरचना का आधार**—किसी देश की राजनीति नीव को भरने तथा राज-

---

[1] ए० आर० देसाई, **भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियाँ** (मेकमिलन, 1978), पृष्ठ 81-142।

नीतिक संस्कृति के निर्माण मे आर्थिक संरचना से भी अधिक महत्व सामाजिक सरचना का होता है। भारत का समाज जाति, धर्म, भाषा और प्रादेशिकता के तत्वो से प्रभावित रहा है और राजनीतिक व्यवस्था पर इन तत्वो का दबाव पड़े विना नही रह सकता।

भारतीय राजनीति के सामाजिक आधार
(SOCIAL BASES OF INDIAN POLITICS)

भारतीय राजनीति के समाजपरक आधार निम्नलिखित है : (1) जाति और भारतीय राजनीति, (2) साम्प्रदायिकता एव धर्म और भारतीय राजनीति, (3) प्रादेशिकता और भारतीय राजनीति, एवं (4) भापा और भारतीय राजनीति।

1. **जाति और भारतीय राजनीति**—भारत मे राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारम्भ होने के पश्चात् यह धारणा विकसित हुई कि पश्चिमी ढग की राजनीतिक सस्थाएँ लोकतन्त्रात्मक मूल्यो को अपनाने के फलस्वरूप पारम्परिक सस्था—जातिवाद का अन्त हो जायेगा, किन्तु स्वाधीनोत्तर भारत की राजनीति मे जाति का प्रभाव अनवरत रूप से वढता गया। जहाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र मे जाति की शक्ति घटी है वहाँ राजनीति और प्रशासन पर इसके वढते हुए प्रभाव को राजनीतिज्ञो, प्रशासको और केन्द्र व राज्य सरकारो ने स्वीकार किया है।

कुछ विद्वानो की धारणा है कि जाति प्रथा राजनीतिक विकास और आधुनिकीकरण के मार्ग मे बाधक है। परन्तु इस सम्बन्ध मे **रजनी कोठारी** का अभिमत है कि **प्रथम**, कोई भी सामाजिक तन्त्र कभी भी पूर्णतया समाप्त नही हो सकता अत. यह प्रश्न करना कि क्या भारत मे जाति का लोप हो रहा है, अथशून्य है। द्वितीय, जाति व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन मे रुकावट नही डालती बल्कि इनको वढाने मे एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। स्थानीय और राज्य स्तर की राजनीति मे जातीय सघ और समुदाय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने मे उसी प्रकार की भूमिका अदा करते है जिस प्रकार पश्चिमी देशो मे दवाव गुट (Pressure Groups)। हमारे राजनीतिज्ञ एक विचित्र असमजस की स्थिति मे है, जहाँ एक ओर वे जातिगत भेदभाव मिटाने की वात करते है वही दूसरी ओर जाति के आधार पर वोट वटोरने की कला मे निपुणता हासिल करना चाहते है।[1]

रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स' मे भारतीय राजनीति मे जाति की भूमिका का विस्तृत विश्लेपण किया है। उनका मत है कि अक्सर यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या भारत मे जाति प्रथा खत्म हो रही है ? इस प्रश्न के पीछे यह धारणा है कि मानो जाति और राजनीति परस्पर विरोधी सस्थाएँ है। ज्यादा सही सवाल यह होगा कि जाति प्रथा पर राजनीति का क्या प्रभाव पड रहा है और जाति-पाँति वाले समाज मे राजनीति क्या रूप ले रही है ? जो लोग राजनीति मे जातिवाद की शिकायत करते है, वे न तो राजनीति के प्रकृत स्वरूप को ठीक समझ पाये हैं और न जाति के स्वरूप को। भारत की जनता जातियो के आधार पर सगठित है अत. न चाहते हुए भी राजनीति को जाति सस्था का उपयोग करना ही पडेगा। अत. राजनीति मे जातिवाद का अर्थ जाति का राजनीतिकरण है। जाति को अपने दायरे मे खीचकर राजनीति उसे अपने काम मे लाने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर राजनीति द्वारा जाति या विरादरी को देश की व्यवस्था मे भाग लेने का मौका मिलता है। राजनीतिक नेता सत्ता प्राप्त करने के लिए जातीय सगठनो का उपयोग करते है और जातियो के रूप मे उनको वना-वनाया सगठन मिल जाता है जिससे राजनीति संगठन मे आसानी होती है।

---

1 रजनी कोठारी, **कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स** (ओरिएण्ट लॉगमैन, दिल्ली, 1970), पृ० 4।

भारत मे जाति भारतीय राजनीति का आधार किस प्रकार है, इस सम्बन्ध मे चार विचार प्रस्तुत किये जाते रहे है :

प्रथम, यह कहा जाता है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था का संगठन जाति की संरचना के आधार पर हुआ है और राजनीति केवल सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति मात्र है। सामाजिक सगठन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करता है।

द्वितीय, राजनीति के प्रभाव के फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था जाति का नया रूप धारण कर रही है। लोकतान्त्रिक राजनीति के अन्तर्गत राजनीति की प्रक्रिया प्रचलित जातीय सरचनाओ को इस प्रकार प्रयोग मे लाती है जिससे सम्बद्ध पक्ष अपने लिए समर्थन जुटा सकें तथा अपनी स्थिति को सुदृढ बना सके। जिस समाज मे जाति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण संगठन माना जाता है उसमे यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि राजनीति इस संगठन के माध्यम से अपने आपको सगठित करने का प्रयास करे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसे हम राजनीति मे जातिवाद के नाम से पुकारते है वह वास्तव मे जाति का राजनीतिकरण है।

तृतीय, भारत मे राजनीति 'जाति' के इर्द-गिर्द घूमती है। जाति प्रमुखतम राजनीतिक दल है। यदि मनुष्य राजनीति की दुनिया मे ऊँचा उठना चाहता है तो उसे अपने साथ अपनी जाति को लेकर चलना होगा। भारत मे राजनीतिज्ञ जातीय समुदायो को इसलिए सगठित करते है ताकि उनके समर्थन से उन्हे सत्ता तक पहुँचने मे सहायता मिल सके।

चतुर्थ, जातियाँ संगठित होकर प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है और इस प्रकार जातिगत भारतीय समाज मे जातियाँ ही 'राजनीतिक शक्तियाँ' बन गयी है।

भारत मे जातियाँ सगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ, सविधान मे अनुसूचित जातियो और जनजातियो के लिए आरक्षण के प्रावधान रखे गये है जिनके कारण ये जातियाँ सगठित होकर सरकार पर दवाव डालती हैं कि इन सुविधाओ को और अधिक वर्षो के लिए अर्थात् जनवरी 1990 तक के लिए वढा दिया जाये। सभी राजनीतिक दल निर्वाचन के समय अपने प्रत्याशियो का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते है। सन् 1962 मे गुजरात के चुनाव मे स्वतन्त्र पार्टी की सफलता का राज उसका क्षत्रिय जाति के समर्थन मे छिपा हुआ था। हरिजन-मुसलमान-ब्राह्मण शक्ति पुंज बनाकर ही 1971 का आम चुनाव कांग्रेस ने जीता था। 1977 मे जनता पार्टी को विजय का कारण उसे मुसलमानो और हरिजनो के साथ उच्च जातियो का प्राप्त समर्थन था। कई वार मतदाता भी जातिगत आधार पर मतदान करते हैं। उत्तर प्रदेश के चुनावो मे चौधरी चरणसिंह और उनके दल की सफलता सदैव ही जाट जाति के मतों की एकजुटता पर निर्भर रही है। केरल के चुनावो मे साम्यवादी और मार्क्सवादी दलो ने भी वोट जुटाने के लिए सदैव जाति का सहारा लिया है। राजनीतिक जीवन मे जातीयता का सिद्धान्त इतना गहरा धँस गया है कि राज्यो के मन्त्रिमण्डलो मे प्रत्येक प्रमुख जाति का मन्त्री आवश्यक रूप से रखा जाता है। अनेक जातीय सगठन और समुदाय जैसे तमिलनाडु मे नाडार जाति सघ, गुजरात मे क्षत्रिय महासभा विहार मे कायस्थ सभा आदि राजनीतिक मामलो मे रुचि लेने लगते है और अपने-अपने [illegible] वल के आधार पर सौदेबाजी भी करते है। आज तो किसी भी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावो से अछूती नही रही है तथापि विहार, केरल, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र हरियाणा, राजस्थान, आदि राज्यो की राजनीति का अध्ययन तो बिना जातिगत गणित विश्लेषण के कर ही नही सकते। राज्यो की राजनीति में 'जाति' का प्रभाव इतना अधिक प्रतीत है

रहा है कि टिंकर जैसे विद्वानों ने 'राज्यो की राजनीति' को 'जातियों की राजनीति' की सज्ञा दे डाली है।[1]

रूडोल्फ एव रूडोल्फ का मत है कि जाति व्यवस्था ने जातियो के राजनीतिकरण मे सहयोग देकर परम्परावादी व्यवस्था को आधुनिकता मे ढालने के साँचे का कार्य किया है। वे लिखते है, "अपने परिवर्तित रूप मे जाति व्यवस्था ने भारत के कृपक समाज मे प्रतिनिधिक लोकतन्त्र की सफलता तथा भारतीयो की आपसी दूरी कम करके, उन्हे अधिक समान बनाकर समानता के विकास मे सहायता दी।"[2]

2. साम्प्रदायिकता और धर्म एवं भारतीय राजनीति—भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्वो मे धर्म और 'साम्प्रदायिकता' अत्यन्त प्रभावशाली तत्व माना जाता है। धर्म का प्रयोग राजनीति मे जहाँ एक ओर तनाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है वहाँ दूसरी ओर प्रभाव और शक्ति अर्जित करने का भी धर्म माध्यम मान लिया जाता है। जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी और जय गुरुदेव की राजनीतिक शक्ति की आधारशिला उनके अपने-अपने सम्प्रदायों मे अनुयायियो का संख्या-बल है। धर्म और सम्प्रदाय के आधार पर राजनीतिक दलो का गठन हुआ है। मुस्लिम लीग, शिरोमणि अकाली दल, राम-राज्य परिषद, हिन्दू महासभा आदि, राजनीतिक दलो के निर्माण मे धार्मिक और साम्प्रदायिक तत्वो की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यदि साम्प्रदायिकता एक रोग है और वह भी सक्रामक तो इन दलो के शासन और राजनीति पर प्रभाव को सहज ही आँका जा सकता है। ये साम्प्रदायिक दल धर्म को राजनीति मे प्रधानता देते है, धर्म के आधार पर चुनावो मे प्रत्याशियों का चयन करते हैं और सम्प्रदाय के नाम पर वोट माँगते है। चुनावो मे धार्मिक मुद्दो जैसे गोवध को वन्द करवाने आदि को उठाने का प्रयत्न करते है। वोट प्राप्त करने के लिए मठाधीशो, इमामो, पादरियो, जत्थेदारो और साधुओ से साठ-गाँठ की जाती है। मतदान के अवसरो पर मत माँगने वाले और मतदान करने वालो के आचरण पर धार्मिक तत्व छाये रहते है। मार्च 1976 और जनवरी, 1980 के लोकसभा चुनावो के दिनों मे दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम की भूमिका से आसानी से यह समझा जा सकता है कि धार्मिक नेता राजनीतिक दलो से मुस्लिम सम्प्रदाय के वोटो का किस प्रकार सौदा करते हैं? धार्मिक सगठन भारतीय राजनीति मे सशक्त दवाव समूहो की भूमिका अदा करने लगे है। स्वतन्त्रता के वाद अनेक मुस्लिम सगठनो जैसे जमीयत अलमा-ए-हिन्द, अमारते शरिया, जमायते इस्लामी, आदि ने कम-से-कम तीन वातो के लिए सरकारी नीतियो को प्रभावित कर 'दवाव गुटो' की भूमिका अदा की है। ये तीन वाते है—उर्दू को संवैधानिक सरक्षण दिया जाये, अलीगढ विश्वविद्यालय का अल्पसख्यक स्वरूप स्थापित किया जाये और मुस्लिम पर्सनल लॉ के वारे मे कोई तव्दीली न की जाये।

कई वार परोक्ष रूप से धर्म के आधार पर पृथक् राज्यो की माँग की जाती रही है। अकाली दल द्वारा पजावी सूबे की माँग ऊपरी तौर से भाषायी आधार की माँग नजर आती है किन्तु यथार्थ मे यह धर्म के आधार पर ही पृथक् राज्य की माँग थी। सन्त फतेसिंह के अनुयायी सिख 'होम लैण्ड' की माँग करने लगे। नागालैण्ड के ईसाइयों की पृथक् राज्य की माँग का आधार भी धर्मगत निष्ठाएँ ही थी।

केन्द्र और राज्यो मे मन्त्रिमण्डल वनाते समय सदैव इस वात को ध्यान मे रखा जाता है

---

1 "... state politics will be caste politics throughout most of India for many years to come." —*Tinker*

2 Rudolph, Lloyd I and Susanne. H., *The Modernity of Tradition Political Development in India*, (Orient Longman, 1969), p. 11.

कि प्रमुख सम्प्रदायो और धार्मिक विश्वास वाले व्यक्तियो को उनमे प्रतिनिधित्व मिल जाय। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे अल्पसख्यको जैसे—मुसलमानो, सिखो, ईसाइयो को सदैव प्रतिनिधित्व दिया जाता है। धर्म और धार्मिक समुदायो का भारतीय राजनीति मे कितना प्रभाव है, केरल और पंजाब राज्यो की राजनीति इसके लिए सन्दर्भ प्रस्तुत करती है।

केरल की राजनीति का ऊपरी आवरण चाहे वामपन्थी रग मे रगा हुआ नजर आये किन्तु उसका अन्तरग धार्मिक और साम्प्रदायिक गुटो के गठजोड से बनता है। साम्प्रदायिक दबाव समूहो मे नय्यर सर्विस सोसायटी, श्री नारायन धर्म परिपालन युगम् और अनेक ईसाई सगठन प्रमुख है। प्रगतिशील समझे जाने वाले साम्यवादी दल भी केरल मे धार्मिक दबाव गुटो से अपना तालमेल बिठाकर चुनावी राजनीति तैयार करते हैं। धर्म और राजनीति की अन्त:क्रिया को समझने के लिए पजाब राज्य की राजनीति विशिष्ट महत्व रखती है। पजाब की राजनीति सदा ही अकाली दलो की आन्तरिक राजनीति तथा सशक्त और समृद्ध शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति (S G.P C) के निर्वाचनो के इर्द-गिर्द घूमती रही हे। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति के चुनाव प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अकाली दल की राजनीति को प्रभावित करते है और अकाली दल पजाब की राजनीति को। सिख जाति के सर्वोच्च धार्मिक नेताओ द्वारा अकाल तख्त से जारी किये गये फरमान ने अकाली दल के प्रधान के चुनाव (मार्च 1979) को रोक दिया। स्वर्ण मन्दिर के सामने स्थित अकाल तख्त की स्थापना गुरु गोविन्दसिह ने एक राजनीतिक शक्ति के रूप मे की थी। पजाब की राजनीति मे अकाल तख्त का स्वरूप एव भूमिका एक समान्तर सरकार की भाँति है जिस पर समकालीन सरकार के आदेश लागू नही होते। अनेक बार धार्मिक विवादो के साथ-साथ राजनीतिक विवादो के बारे मे भी फैसले अकाल तख्त करता है।[1]

सक्षेप मे स्वाधीनता के बाद शुरू हुई चुनाव की राजनीति ने धर्म और सम्प्रदाय के नकारात्मक महत्व को उभारा है। किसी ने लिखा है कि "पहले लोग समझते थे कि राजनीतिज्ञ धर्म और सम्प्रदाय का शोषण करते है, पर अब हालत यह हो गयी है कि धर्म और सम्प्रदाय राजनीति का शोषण करने लगे है।"

3 **प्रादेशिकता और भारतीय राजनीति**—प्रादेशिकता से तात्पर्य एक देश मे या देश के किसी भाग मे उस छोटे-से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक, आदि कारणों से अपने पृथक् अस्तित्व के लिए जागरूक हे। भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य मे प्रादेशिकता से अभिप्राय है—राष्ट्र की तुलना मे किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रान्त की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र से लगाव, उसके प्रति भक्ति या विशेष आकर्षक दिखाना। इस दृष्टि से क्षेत्रीयतावाद राष्ट्रीयता की वृहद् भावना का विलोम है और इसका ध्येय सकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति करना है। भारतीय राजनीति के सन्दर्भ मे यह एक ऐसी धारणा है जो भाषा, धर्म, क्षेत्र, आदि पर आधारित है और जो विघटनकारी प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन देती है।

भारत मे क्षेत्रीयतावाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष पृथक् राज्यो की माँग रही है। इसी माँग के अन्तर्गत 1970 मे हिमाचल प्रदेश को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया, 1972 मे त्रिपुरा और मणिपुर को भी राज्य बना दिया गया। 1986-87 मे मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश और गोआ को राज्य का दर्जा दिया गया। दिल्ली के लोग भी पूर्ण राज्य की माँग करते रहे हैं। सन् 1956 में राज्यो के पुनर्गठन के बाद बम्बई राज्य का विभाजन हुआ, पजाब राज्य का पुनर्गठन हुआ तथा असम राज्य का पुनर्गठन करना पडा। पृथक् विदर्भ राज्य, पृथक् तेलगाना

[1] **दिनमान, 25-31 मार्च, 1979**

पृथक् उत्तराखण्ड राज्य की माँग की जाती रही है। आर्थिक पिछड़ेपन के आधार पर पृथक् छत्तीसगढ और झारखण्ड राज्यो की अनवरत माँग रही है। क्षेत्रीयतावाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष विभिन्न राज्यो के आपसी झगड़े है। मध्यप्रदेश, गुजरात और राजस्थान के बीच नर्मदा नदी के जल वितरण को लेकर उत्पन्न विवाद, पजाब और हरियाणा के वीच भाखड़ा नागल बाँध से उत्पन्न विजली के बँटवारे को लेकर उत्पन्न विवाद, पंजाव और हरियाणा के बीच सीमा विवाद अन्तर्राज्यीय झगड़ो के मुख्य उदाहरण है। कई वार द्रविड मुनेत्र कडगम, अकाली दल, मिजो और नागाओ की माँगो के पीछे पृथकतावादी भावनाएँ देखने को मिलती है। क्षेत्रीयतावाद की एक अन्य प्रवृत्ति 'भूमिपुत्र की धारणा' के रूप मे देखी गयी है। इस माँग के साथ यह वात जुडी हुई है कि जब तक उस राज्य या क्षेत्र के सभी मूल निवासियो को रोजगार प्राप्त न हो जाये, तव तक उस राज्य या क्षेत्र मे वाहरी व्यक्तियो को रोजगार की सुविधा नही दी जानी चाहिए। शिवसेना जैसे सगठन द्वारा इस माँग को महाराष्ट्र मे प्रचलित किया गया था, लेकिन अभी हाल ही के वर्षो मे इस प्रवृत्ति को वहुत अधिक प्रवल होते हुए देखा गया है।

स्वतन्त्रता के वाद गरीवी और आर्थिक विषमता वढती गयी, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय हितो की अपेक्षा क्षेत्रीयतावाद को वढावा मिलने लगा। असन्तोष के इस वातावरण मे विभिन्न वर्गो द्वारा शक्ति के लिए सघर्ष की शुरूआत हुई। ऐसे नवीन राजनीतिक दलो का उदय होने लगा जो कि क्षेत्रीय हितो को लेकर शक्ति अर्जित करने लगे। क्षेत्रीयतावाद का भारतीय राजनीति की शैली पर काफी प्रभाव पड़ा तथा आन्दोलनात्मक राजनीति को वढ़ावा मिला। क्षेत्रीय आन्दोलनो को चलाने के लिए आर्थिक विषमता, धर्म, जाति और भाषा का सहारा लिया गया। यथार्थ मे, क्षेत्रीयता की समस्या आज भारत की राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे कटक वन गयी है।

4 **भाषा और भारतीय राजनीति**—व्यक्ति अपने विचारो को स्वाभाविक रूप से उसी भापा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है जिसे उसकी 'मातृभाषा' कहा जाता है। भारत जैसे विशाल देश मे विभिन्न क्षेत्रो मे रहने वाले व्यक्तियो की भाषा भिन्न-भिन्न है। देश की राष्ट्रभाषा क्या हो, यह समस्या कभी हमारे समक्ष थी। राष्ट्रीय कर्णधारो ने काफी विचार-विमर्श करके 'हिन्दी' के पक्ष मे निर्णय लिया। किन्तु विगत वर्षो मे क्षेत्रीय भाषा के प्रति व्यक्तियो के लगाव ने एक विशेष रुख अपनाया जिससे यह प्रवृत्ति उभरकर सामने आयी है जिसे 'भाषायी सम्प्रदायवाद' का नाम दिया गया। भापा की समस्या दो रूपो मे भारतीय राजनीति को प्रभावित कर रही है— राष्ट्रभाषा का विरोध और भाषायी आधार पर नये प्रान्तो का निर्माण। दक्षिण के गैर-हिन्दी राज्य हिन्दी का विरोध करते है। उनकी धारणा है कि राष्ट्रभाषा के रूप मे हिन्दी को उनके ऊपर थोपा जा रहा है। भाषायी आधार पर राज्यो के पुनर्गठन की माँग की जा रही है। भाषा के आधार पर राज्यो का पुनर्गठन करने से राज्यो मे राजनीति विवाद अत्यन्त उग्र हो गये। ऐसी समस्या चण्डीगढ के लिए उत्पन्न हो गयी। इसी प्रकार की समस्या महाराष्ट्र और कर्नाटक की सीमा पर बेलगाँव व अन्य क्षेत्रो के विवाद के रूप मे चली। भाषा के आधार पर भारत मे 'उत्तर' और 'दक्षिण' भारत की सकुचित मनोवृत्तियाँ पनपने लगी। भारतीय राजनीति मे भाषागत दबाव गुटो का उदय हुआ। भाषा के प्रश्न को लेकर राजनीतिक हलचले वढने लगी। राजनीतिक दल उर्दू भाषा के सवाल को चुनावी मसला वनाने मे नही हिचकिचाये। नये भाषायी राज्यो के निर्माण के उपरान्त भी भाषायी अल्पसंख्यको की समस्या वनी हुई है, जो शासन से अनेकानेक प्रकार के सरक्षणो की माँग कर रहे है। भाषायी आधार पर राजनीतिक आन्दोलन, प्रदर्शन और हडतालें होती रही हे। तमिलनाडु मे द्रमुक और अन्नाद्रमुक जैसे दलो की नीव भाषायी मसलो पर टिकी हुई है।

निष्कर्ष (Conclusions)

विकासशील (तीसरी दुनिया) राष्ट्रो मे राजनीति और समाज के बीच जो सम्बन्ध है, वह पश्चिम के विद्यार्थियो के लिए बिल्कुल नया और बडा रोचक है। यदि पश्चिम के देशो के राजनीतिक अध्ययन मे अभी हाल तक सामाजिक ढाँचे की, जिसके साथ शासन तन्त्र (Polity) का अनिवार्यत गहरा सम्बन्ध होता है, उपेक्षा की गयी, तो उसके पीछे राजनीति को एक बिल्कुल स्वतन्त्र विषय बनाने की इच्छा ही नही थी। इसके पीछे यह भी धारणा थी कि सामाजिक ढाँचे को एक महत्वपूर्ण तथ्य स्वीकार किया जा चुका था और यह भी माना जाने लगा था कि समाज और शासन तन्त्र दोनो का विकास साथ-साथ होता है और इतिहास के दौरान दोनो एक-दूसरे पर निरन्तर अपना प्रभाव डालते रहे हैं। उदाहरण के लिए, इस बात की आड़ ली जा सकती थी कि ब्रिटेन की राजनीति का समाजशास्त्रीय अध्ययन करना एक फिजूल की बात होगी क्योकि वहाँ के सामाजिक और राजनीतिक पहलुओं से सम्बन्धित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की बहुत सारी जानकारी सभी लोगो को भली-भाँति मालूम थी, लेकिन भारत जैसे नये राज्य के बारे मे यह तर्क नही चल सकता क्योकि विदेशी शासन के दौरान समाज और शासनतन्त्र दोनो का समान रूप से विकास नही हुआ।

6

संसदीय प्रणाली का भारतीय प्रतिमान : संसदीय व्यवस्था के सिद्धान्त और व्यवहार के सन्दर्भ में : 1980 के दशक में अवतरित भारतीय राजनीतिक व्यवस्था

[INDIA'S PARLIAMENTARY MODEL : WITH SPECIAL REFERENCE TO THE THEORY AND PRACTICE OF PARLIAMENTARY GOVERNMENTS : THE EMERGING POLITICAL SYSTEM IN THE EIGHTIES]

कार्यपालिका और व्यवस्थापिका सभा के बीच व्याप्त सम्बन्धो के आधार पर सरकारों का संसदात्मक और अध्यक्षात्मक स्वरूपो मे अन्तर किया जाता है। ससदात्मक सरकार मे कार्यपालिका ओद व्यवस्थापिका के वीच गहरा सम्बन्ध रहता है, अर्थात् सरकार के दोनो अंगो मे समन्वय हो जाता है। ससदीय शासन-व्यवस्था मे व्यवस्थापिका सभा के बहुमत दल का नेता कार्यपालिका का मुख्य अधिपति होता है और वही व्यक्ति प्रधानमन्त्री कहलाता है (जैसा कि भारत और ग्रेट ब्रिटेन मे है।) यह प्रधानमन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों या मन्त्रिपरिषद का चयन करता है। इस सरकार मे मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रिपरिषद व्यवस्थापिका सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका सभा के सदस्य होते है और वे अपने पद पर तब तक आसीन रहते है जब तक उन्हे व्यवस्थापिका सभा का विश्वास रहे। प्रत्येक मन्त्री अपना विशेष विभाग जो उसके आधीन होता है, के प्रशासन के लिए उत्तरदायी होता है, किन्तु नीति सम्बन्धी विषयो पर सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी रहता है। इसलिए ससदीय व्यवस्था मे मन्त्रियो का व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो प्रकार से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व बना रहता है। व्यवस्थापिका एक निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा निर्वाचित की जाती है, किन्तु व्यवस्थापिका को यदि मन्त्रिमण्डल आवश्यक समझे तो समयावधि के पूर्व भी भंग कर सकता है। सन् 1970 तथा 1979 में भारत में लोकसभा को समयावधि से पूर्व ही भंग कर दिया गया था।

दूसरी ओर, अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था मे कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नही होती है। अमरीका मे अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली है। वहाँ राष्ट्रपति कार्यपालिका का अध्यक्ष होता है, वही अपने मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यो को मनोनीत करता है और सम्पूर्ण मन्त्रि-

मण्डल राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य नही रहते है और इस प्रकार यदि राष्ट्रपति अमरीकी काग्रेस के किसी भी सदस्य को मन्त्री पद नियुक्त कर देता है तो उस मन्त्री को काग्रेस से अपनी सदस्यता का त्यागपत्र देना पड़ता है राष्ट्रपति जनता द्वारा निर्वाचित होता है किन्तु वह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नही रहता है। वह एक निश्चित अवधि तक पदासीन रहता है अर्थात् अमरीका मे राष्ट्रपति चार वर्ष की अवधि तक अपने पद पर रहता है। व्यवस्थापिका सभा का राष्ट्रपति पर कोई नियन्त्रण नही रहता। यदि राष्ट्रपति सविधान का उल्लघन करे तो उस स्थिति मे व्यवस्थापिका उस पर महाभियोग की शक्ति का प्रयोग कर सकती है। कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहती है और केवल सत्ता प्रयोग के समय साथ मिलकर कार्य करती है। सरकार के दोनो अगो के बीच सम्बन्ध शक्ति-सन्तुलन द्वारा स्थापित किया जाता है।

संसदात्मक बनाम अध्यक्षात्मक शासन : अभिप्राय

(PARLIAMENTARY *Vs.* VRESIDENTIAL SYSTEM : MEANING)

जहाँ कार्यपालिका और व्यवस्थापिका मे समन्वय रहता है और दोनो समान व्यक्तियों नियन्त्रण मे सयुक्त रूप से कार्य करती है वह सरकार संसदात्मक कहलाती है। दूसरी ओर, शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त लागू होता है और कार्यपालिका व व्यवस्थापिका दोनो पृथक् रूप से कार्य करती हैं तथा साथ ही एक-दूसरे पर सन्तुलन एवं नियन्त्रण रखती है तो वह शासन व्यवस्था अध्यक्षात्मक कहलाती है। दोनो प्रकार की सरकारो के मध्य अन्तर करने मे और कार्यपालिका अध्यक्ष के मध्य अन्तर कोई महत्व नही रखता। ग्रेट-ब्रिटेन मे प्रभु होता है, किन्तु प्रधानमन्त्री कार्यपालिका का मुख्य अधिपति होता है। भारत मे राष्ट्रपति राज्याध्यक्ष है जबकि प्रधानमन्त्री कार्यपालिका का मुख्य अधिपति है। अमरीका मे राष्ट्रपति राज्याध्य तथा मुख्य कार्यपालिका अधिपति दोनो ही है। ससदात्मक व्यवस्था मे राज्य के अध्यक्ष की औपचारिक और नाममात्र की होती है।

संसदीय शासन-व्यवस्था : सैद्धान्तिक अभिधारणाएँ

(POSTULATES OF PARLIAMENTARY SYSTEM)

संसदीय प्रणाली, सरकार के कार्यपालिका व व्यवस्थापिका अगो के अन्त:पाशन (interlocking) पर आधारित है। हर देश की ससदीय प्रणाली मे कुछ-न-कुछ नवीनता होती है तथापि मोटी-मोटी बातो को लेकर उनमे समानता भी पायी जाती है। ससदीय प्रणाली की प्रमुख सैद्धान्तिक अभिधारणाएँ इस प्रकार है :

(1) **राजनीतिक व्यवस्था में संसद सत्ता का केन्द्र होती है**—ससदीय प्रणाली मे संसद की प्रधानता को स्पष्ट करते हुए डी० वी० वर्ने ने लिखा है कि "यह वह मच है जहाँ राजनीति का नाटक खेला जाता है। यह राष्ट्रीय विचारो का रगमच है। यह वह विद्यालय है जहाँ भावी राजनीतिक नेताओ का प्रशिक्षण होता है।"[1] इस व्यवस्था में ससद ही कार्यपालिका व ... की निर्देशक, निरीक्षक व नियन्त्रक होती है। कार्यपालिका का अस्तित्व ससद के प्रसाद-पर्यन्त रहता है। ससद के महत्व का कारण इसमे शक्तियो का केन्द्रण है। सभी शक्तियो का ... ससद से ही होता है, सभी शक्तियाँ संसद द्वारा प्रतिवन्धित व सीमित रहती है, सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक वाद-विवाद ससद मे ही होते हैं।

(2) **कार्यपालिका दो भागो में विभक्त रहती है**—ससदीय शासन के अन्तर्गत दो ... (executive) होते है जिनमे एक दिखावे भर का (Titular) होता है और दूसरा वास्तविक

1 Douglas, V Verney, *Analysis of Political System*, New York, 1959, p. 45.

दिखावटी कार्यकारी राज्य का प्रमुख होता है। वह सविधानी प्रमुख राजा अथवा रानी भी हो सकता है। चाहे उसका नाम कुछ भी हो, उसके पास वास्तविक सत्ता नही होती। शासन की वास्तविक सत्ता एक मन्त्रिमण्डल को प्राप्त होती है जो ससद के प्रति उत्तरदायी होता है।

(3) **कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में अन्त पाशन**—संसदीय शासन प्रणाली मे मन्त्रिमण्डल और व्यवस्थापिका का विलयन होकर उनमे परस्पर अन्त.निर्भरता की स्थापना हो जाती है। इसका यह अभिप्राय है कि ससदीय प्रणाली मे कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के कार्यो का सम्मिश्रण हो जाता है। इसमे कार्यपालिका व व्यवस्थापिका की ऐसी अन्त क्रिया होती है जो उन्हे लगातार सम्बन्धित और एक-दूसरे पर आश्रित रखती हैं।

(4) **राज्य के अध्यक्ष द्वारा सरकार के अध्यक्ष की नियुक्ति**—ससदीय प्रणाली मे सरकार के अध्यक्ष, प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राज्य के अध्यक्ष द्वारा की जाती है। यद्यपि यह नियुक्ति औपचारिक ही होती है तथापि राज्य के अध्यक्ष (राजा अथवा राष्ट्रपति) द्वारा ही होती है। दल प्रणाली के विकास के कारण ससद मे बहुमत दल का नेता ही प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता है और ऐसी अवस्था मे राज्य का अध्यक्ष नियुक्ति की औपचारिकता ही निभाता है। संसद मे किसी दल का स्पष्ट बहुमत न होने पर यह नियुक्ति वास्तविक अर्थों मे राज्य के अध्यक्ष के द्वारा की जाती है।

(5) **सरकार का अध्यक्ष मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है**—मन्त्रिमण्डल का निर्माण प्रधानमन्त्री द्वारा किया जाता है। इससे प्रधानमन्त्री व अन्य मन्त्रियो मे अन्तर स्थापित हो जाता है। इससे प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का नेता व निर्माता बन जाता है। इससे मन्त्रिमण्डल एक टीम का रूप धारण कर लेता है और प्रधानमन्त्री इस टीम के सुचारु रूप से कार्य का सूत्रधार बन जाता है। मन्त्रिमण्डल के निर्माता के रूप मे प्रधानमन्त्री अन्य मन्त्रियो से प्रधानता पा जाता है। इसी कारण शासन की सारी शक्तियाँ प्रधानमन्त्री मे केन्द्रित हो जाती हैं।

(6) **मन्त्रिमण्डल सामूहिक सस्था होती है**—ससदीय शासन प्रणाली मे मन्त्रिमण्डल एक सामूहिक संस्था बन जाती है। पीटर मर्कल का कहना है कि "मन्त्रिमण्डल ऐसी सामूहिक सस्था है जो एक व्यक्ति की तरह उत्तरदायित्व का हिस्सेदार रहती है।" इसके कारण मन्त्रिमण्डल के सदस्य सामूहिक रूप से प्रधानमन्त्री के नेतृत्व मे कार्य करते हैं। इससे शासन और नीति की एकता कायम रहती है और मन्त्रिमण्डल एक ठोस सस्था बनकर शक्ति का केन्द्र-बिन्दु बन जाता है।

(7) **मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से ससद के प्रति उत्तरदायी होता है**—मन्त्रिगण व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से ससद के प्रति उत्तरदायी होते है। मन्त्रिमण्डल अपनी नीति के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है किन्तु कभी-कभी विभागीय मामलो मे मन्त्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व को स्वीकार नही करता और सम्बन्धित मन्त्री को उत्तरदायी ठहराता है। सामान्यत: अपनी नीतियो और राष्ट्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्यों के लिए वह सामूहिक उत्तरदायित्व स्वीकार करता है जिसके अर्थ यह होते हैं कि मन्त्रिमण्डल आलोचको को उत्तर देने के लिए तत्पर रहता है और चाहे किसी मन्त्री की आलोचना की जा रही हो उसके सहयोगी उसकी रक्षा के लिए उद्यत होते हैं। अर्नेस्ट शुल्ज ने लिखा है कि "ससदीय सरकार कार्यपालिका की व्यवस्थापिका के प्रति निरन्तर उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर आधारित होती है।" इस प्रणाली मे ससद को यह अधिकार रहता है कि कार्यपालिका द्वारा उत्तरदायित्व न निभाने पर उसे अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा हटा दिया जाये। इसीलिए कार्टर व हर्ज का कहना है कि "तकनीकी दृष्टि से संसदीय व्यवस्था कार्यपालिका में 'विश्वास' की संस्था के इर्द-गिद चक्कर लगाती है।"[1]

---

1 G. M. Carter & J. H. Herz, *Government and Politics in the Twentieth Century*, 1965, pp. 34-35.

(8) मन्त्रिमण्डल के कार्यकाल की अनिश्चितता—इस शासन व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद का कार्यकाल निश्चित नही होता है। कार्यपालिका उसी समय तक अपने पद पर बनी रह सकती है जब तक कि उसे संसद के निम्न सदन का विश्वास प्राप्त हो।

(9) प्रधानमन्त्री का नेतृत्व—संसदीय शासन मे प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का नेता होता है। वह मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशिला है और लास्की के शब्दो मे, "मन्त्रिमण्डल के निर्माण, जीवन और मरण मे केन्द्रीय स्थिति रखता है।"

(10) राजनीतिक सजातीयता—इसका यह अर्थ है कि सब मन्त्री मन्त्रिमण्डल मे एक टीम की भाँति काम करते है और जनता के सामने मतभेद प्रकट नही करते। मन्त्री प्राय एक ही दल से सम्बन्धित होते हैं परन्तु यदि संयुक्त सरकार हो तो ये एक से भी अधिक दलों से लिये जा सकते हैं।

(11) कार्यपालिका को विधानमण्डल भग करने का अधिकार—संसदीय सरकार में जब कभी किसी मामले पर कार्यपालिका और विधानमण्डल मे गतिरोध उत्पन्न हो जाता है; उस परिस्थिति मे मुख्य कार्यपालिका को विधानमण्डल के भग करने का अधिकार होता है ताकि वह नये चुनाव कराके मतदाताओ का निर्णय प्राप्त कर सके। कार्ल लोवेन्सटीन के शब्दो मे, "सच्चा संसद वाद 'भग' करने की धुरी के इर्द-गिर्द घूमता है।"

भारत में संसदीय व्यवस्था का ऐतिहासिक विकास
(HISTORICAL EVOLUTION OF THE PARLIAMENTARY SYSTEM IN INDIA)

भारत मे अंग्रेजी शासनकाल मे संवैधानिक विकास का इतिहास अप्रत्यक्ष रूप से संसदात्मक शासन के क्रमिक विकास का इतिहास है। सन् 1833 के अधिनियम द्वारा परिषद मे विधायक कार्य निमित्त एक सदस्य बढाया गया और इस प्रकार एक आरम्भिक व्यवस्थापिका सभा की स्थापना हुई। सन् 1853 मे इस संस्था की सदस्य संख्या बढ़ायी गयी और इसमें प्रान्तीय सरकार के प्रतिनिधियो को स्थान दिया गया। विधायकी कार्य करते समय इसकी कार्यवाही को सार्वजनिक कर दिया गया। यह कहा जाता है कि 1853 के अधिनियम के अन्तर्गत गठित यह संस्था प्रतिवेदनो की जांच करने और उन्हे दूर करने के लिए समवेत लघु सभा की प्रकृति की थी। 1861 के अधिनियम ने प्रान्तीय विधान परिषदों की व्यवस्था कर विधायन के क्षेत्र मे विकेन्द्रीकरण की नीति का सूत्रपात किया। पहली बार इस अधिनियम ने गैर-सरकारी तत्वों को विधायी संस्थाओ मे प्रतिनिधित्व देने का महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्वीकार किया। कहा जाता है कि इसके द्वारा आधुनिक प्रान्तीय विधानमण्डलों की नींव पड़ी। 1892 के अधिनियम द्वारा विधान परिषद के सदस्यो को कुछ प्रतिबन्धो के आधीन, बजट पर चर्चा करने, वित्तीय नीति की आलोचना करने और लोक महत्व के विषयो पर प्रश्न पूछने का का अधिकार दिया गया। सन् 1909 के अधिनियम के अन्तर्गत विधान परिषदो को साधारण और वित्तीय दोनो प्रकार के संकल्पो को प्रस्तावित करने और उन्हें पारित करने का अधिकार दिया गया और प्रश्न पूछने के अधिकार की, पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार देकर वृद्धि की गयी। पर संकल्पो का प्रभाव सुझाव के रूप मे ही रहा। कार्यपालिका अब भी निरकुश थी और निर्वाचित परिषदो के प्रति पूर्ण या आंशिक रूप मे उत्तरदायी कार्यपालिका की संकल्पना ग्रहण नही हुई थी। शक्ति अब भी शासन मे थी और परिषदो की आलोचना करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नही दिया गया था। फिर भी उनमे निर्वाचित सदस्यों की संख्या मे वृद्धि कर दी गयी थी।

सन् 1919 का भारत शासन अधिनियम, ब्रिटिश भारतीय इतिहास मे भारत मे उत्तरदायी शासन का श्रीगणेश करने के लिए विख्यात है। इसने प्रान्तीय प्रशासन को दो भागो मे विभाजित किया—हस्तान्तरित और आरक्षित। हस्तान्तरित विषय गवर्नरो के प्रभाराधीन थे जो उनके प्रशा-

सन के लिए मन्त्रियो द्वारा पथ-प्रदर्शन होना था। व्यवहार मे मन्त्रियों को पर्याप्त स्वतन्त्रता दी गयी और सामान्यतया उनके परामर्श को माना गया। मन्त्रियो के लिए व्यवस्थापिका का सदस्य होना आवश्यक था, जो उनका वेतन तथा सम्पूर्ति अस्वीकार कर सकती थी और प्रशासन की निन्दा कर सकती थी। इन सभी परिस्थितियो में तथा स्वय द्वारा पुन. स्थापित विधेयक के अस्वीकार होने पर मन्त्रियो को अपना पद त्यागना पड़ता था। इस व्यवस्था से यह प्रतीत होता है कि इस अधिनियम ने हस्तान्तरित विषयो मे उत्तरदायी शासन पद्धति की स्थापना कर दी थी, पर वास्तव मे इसमे कुछ अभाव भी रह गये थे। इसके अनुसार मन्त्रिपरिषद की अध्यक्षता गवर्नर को करनी थी और सामूहिक उत्तरदायित्व की व्यवस्था नही थी। गवर्नर की विशाल शक्तियाँ और आरक्षित विषयो का उन पार्षदो के नियन्त्रण मे होना भी, जो न तो व्यवस्थापिका के सदस्य होते थे और न उसके प्रति उत्तरदायी ही, उत्तरदायी कार्यपालिका के सिद्धान्तो के विरुद्ध था।

1919 के अधिनियम के अन्तर्गत गठित व्यवस्थापिका मे कठिनाइयाँ उपस्थित हो रही थी, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने 1928 मे ब्रिटिश भारत मे शासन पद्धति के क्रियान्वयन और प्रतिनिधि संस्थाओ के विकास की जाँच करने तथा इस बात पर प्रतिवेदन देने के लिए कि उसमे उस समय वर्तमान उत्तरदायी शासन के अंशो मे विस्तार-परिवर्तन या संकुचन करना या उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्त को स्थापित करना, क्या और किस सीमा तक वाछनीय है, सर जान साइमन की अध्यक्षता मे एक आयोग की स्थापना की। आयोग ने भारत का भ्रमण करके और यहाँ की परिस्थितियो का अध्ययन करके अपने विचार दिये, उसने लिखा :

"जबकि ब्रिटिश संसदीय पद्धति के सिद्धान्त और व्यवहार शिक्षित भारतीय द्वारा स्थापित प्रजातन्त्र का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माने जाते हैं, उन्हे एक ऐसे देश मे प्रयोग किया जा रहा है जहाँ की दशाएँ और जनता का मानसिक स्वभाव अत्यन्त भिन्न है।"[1]

आयोग ने लिखा है, "हम नही समझते कि ब्रिटिश ससदीय पद्धति, जिसमे कार्यपालिका एक ही राजनीतिक दल का प्रतिनिधित्व करती है और दिन-प्रतिदिन प्रत्यक्ष रूप मे निर्वाचित प्रतिनिधियो के बहुमत के समर्थन पर निर्भर होती है, वह प्रतिमान होना सम्भव है जिसके अनुसार केन्द्र मे उत्तरदायी शासन विकसित किया जायेगा। इस प्रकार का संसदीय शासन ही एकमात्र स्वरूप नही है जो उत्तरदायित्व ग्रहण करें। वह भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और स्थानो मे भिन्न स्वरूप धारण करता है और ब्रिटिश पद्धति न तो इच्छानुसार प्रतिरोपित ही की जा सकती है और न उसे निष्पक्ष प मे अगीकार ही किया जा सकता है। यह अस्वाभाविक नही है कि भारत मे चर्चा की जाने वाली अधिकांश संवैधानिक योजनाएँ उस प्रतिमान का निकटता से अनुसरण करती हैं जिसे ब्रिटिश कहा जा सकता है क्योकि वे ऐसे व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत की जा रही हैं जिन्होने या तो ब्रिटिश परम्परा को जन्म से प्राप्त किया है या अपने राजनीतिक सिद्धान्तो को ब्रिटिश स्रोतो से लिया है।"[2]

आयोग ने आगे कहा, "लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि इंगलैण्ड मे यह पद्धति स्थायी सरकार उस मात्रा के कारण देती है जिसमे कॉमन्स सभा के द्वारा मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण किये जाने की अपेक्षा मन्त्रिमण्डल कॉमन्स सभा का नियन्त्रण करना है। पर इससे प्रत्येक स्थान पर स्थायी सरकार स्थापित नही होती और यह मान लेना कि इस मार्ग से ही समग्र रूप भारत अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर अग्रसर होगा, वास्तव मे एक वृहत अभिधारणा है।"

आयोग का विचार था कि ब्रिटिश संसद को अति निकट से दृष्टि मे रखने के कारण

---

[1] *Indian Statutory Commission Report*, Vol I, 1930, p. 215.
[2] *Ibid*, pp. 17-18.

भारतीय पथभ्रष्ट हो गये हैं और यह कल्पना कर ली है कि दिल्ली की सभा वेस्टमिनि. र प्रतिमान पर कार्य करने वाली अखिल भारतीय ससद मे विकसित हो सकती है। आयोग के विचार मे "संसदात्मक कार्यपालिका भारतीय दशाओ के लिए उपयुक्त न थी और उसने ... सुझाव दिया कि भारत की केन्द्रीय सरकार के लिए पूर्वोदाहरण कही अन्य ही खोजना होगा।" कारणों की ओर सकेत करते हुए आयोग ने कहा, "यदि ब्रिटेन भारत के आकार का होता, साम्प्रदायिक और धार्मिक विभाजन यदि राजनीति को इतना अधिक शासित करते और अल्पमतो को दूसरो के शासन मे इतना कम विश्वास होता जितना कि भारत में है तो यह सम्भाव्य प्रतीत नही होता कि ब्रिटेन मे लोकतान्त्रिक सरकार यह स्वरूप ग्रहण करती।"

साइमन आयोग द्वारा प्रस्तुत परियोजना ऐसे थी जो ससदात्मक और अध्यक्षात्मक दोनो प्रकार की कार्यपालिकाओ मे विकसित हो सकती थी, पर उसका चित्र अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के ही अधिक अनुरूप था। इस प्रकार साइमन आयोग प्रतिवेदन से स्पष्ट होता है कि भारतीय परिस्थितियाँ मन्त्रिमण्डलीय कार्यपालिका के अनुरूप नही थी।

ससदीय सरकार के, जैसी वह ब्रिटेन मे समझी जाती है, चार अनिवार्य कारक हैं—बहुमत के शासन का सिद्धान्त, निर्धारित अवधि मे बहुमत के निर्णयो को अल्पमत द्वारा स्वीकार किये जाने की सहमति, वर्गीय हितो के बजाय नीति के महत्वपूर्ण विषयो पर विभाजित बड़े-बड़े राजनीतिक दलो का होना और अन्ततः राजनीतिक जनमत का एक चल समूह, जो किसी दल के प्रति स्थायी ... न रखता हो और इसलिए किसी उच्छृ खल गति के विरुद्ध अपनी प्रवृत्ति प्रतिक्रिया द्वारा शासन-जलायन को एक समतल पर रखने मे सक्षम थे।[1] सयुक्त ससदीय समिति का विचार था कि तत्कालीन भारत मे इन कारको मे से एक भी विद्यमान न था।[2] फिर भी ब्रिटिश हितो की रक्षा के उद्देश्य से तथा भारतीयो की भावात्मक माँग और उसके पक्ष मे प्रदर्शित समर्थन का ध्यान करके प्रान्तो के अभ्यास तर्क के आधार पर उसने केन्द्र मे द्वैध पद्धति की स्थापना की सस्तुति की।

सयुक्त ससदीय समिति ने ब्रिटिश सरकार की प्रस्थापनाओ को स्वीकार कर लिया और इस प्रकार केन्द्र मे भी द्वैध पद्धति का उपबन्ध करने वाला भारत शासन अधिनियम, 1935 बना। पर इस अधिनियम का सघीय न्यायालय के अतिरिक्त, केन्द्रीय सरकार से सम्बन्ध रखने वाला भाग लागू नही किया गया और 1947 तक केन्द्रीय कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका 1919 के अधिनियम के अनुसार ही बनी रही। प्रान्तो में अवश्य ही उत्तरादायी स्वायत्त शासन स्थापित हुआ जिसने तत्कालीन नेताओ को सत्ता का रसास्वादन कराया। इस प्रकार उत्तरदायी शासन पद्धति ने प्रजातन्त्र के नाम पर शासक दल के सभी अगो को, काग्रेस हाई कमाण्ड को प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलो पर, मन्त्रियो को व्यवस्थापिका के दल-सदस्यो पर और व्यवस्थापिका के दल सदस्यो को प्रशासन के अधिकारियो पर शक्ति प्रयोग का स्वाद कराया। इस अनुभव से उन्होने यह भी जान लिया कि ससदात्मक पद्धति की कार्यपालिका द्वारा वे किस प्रकार अपनी शक्ति का प्रयोग बिना किसी अवधि के उस समय तक कर सकते है जब तक कि वे येन-केन-प्रकारेण व्यवस्थापिका के लिए चुनाव जीतकर उसमे बहुमत प्राप्त करने मे सफल हो जाते हैं। इसी अनुभव मे उन्हे यह भी ज्ञान हो गया कि केन्द्रीय अधिकारी बनकर ससदीय प्रणाली के कारण किस प्रकार दलतन्त्र का प्रयोग करके सघात्मक शासन पद्धति के उपकरणो को निष्प्रभावी बनाकर प्रान्तो पर असीमित एव अनियन्त्रित सभा का प्रयोग किया जा सकता है और इस काल ने उन्हे यह भी विदित करा दिया कि ससदात्मक शासन प्रणाली प्रधानमन्त्री को जितनी शक्तियाँ देती है वे सयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति की शक्तियो से कही अधिक होती है।

---

1 *Joint Committee on Indian Constitutional Reforms*, Vol I, Part 1, 1934, p. 7.
2 *Ibid.*, p. 107.

भारत में संसदीय प्रणाली अपनाये जाने के कारण
(THE ARGUMENTS FOR THE ADOPTION OF PARLIAMENTARY SYSTEM IN INDIA)

सन् 1940 के दशक के उत्तरार्द्ध मे मन्त्रिमण्डलात्मक पद्धति की पृष्ठभूमि इतनी बन चुकी थी कि भारतीय राजनीतिक नेताओ को उस पद्धति के अन्तर्गत सत्ता का अनुभव इतना मोहक लगा और दशाएँ ऐसी थी कि अन्य पद्धति या इस पद्धति के प्रतिकूल गम्भीरता से सोचा भी नही जा सकता था। फलत: 12 अगस्त, 1946 को गठित अन्तरिम सरकार इसी पद्धति के अनुसार बनी और उसी अवस्था को भारत स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 ने दृढ किया। संविधान सभा की संघ सविधान समिति ने प्रारूप सविधान मे इसी पद्धति को रखा और सविधान सभा ने इसी पद्धति को स्वीकार किया। सविधान सभा मे इस पद्धति के पक्ष मे मुख्य निम्नाकित तर्क दिये गये :[1]

(1) यही शासन प्रणाली प्रजातन्त्रीय संविधान के गठन के साथ सर्वाधिक शक्तिशाली कार्यपालिका रखती है। इसी के परिणामस्वरूप इगलैण्ड की सरकार सभी परिस्थितियो मे शक्तिशाली और स्थितिस्थापक सिद्ध हुई थी और ब्रिटिश सविधान के इसी गुण के कारण ब्रिटिश सरकार उन सभी कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना कर सकी थी जिनका उस समय से पूर्व 150 वर्षो से उसे सामना करना पडा था। इन्ही गुणो के कारण सयुक्त राज्य अमरीका के प्रमुख सविधान विशेषज्ञो सहित प्रत्येक व्यक्ति ने ब्रिटिश प्रतिमान का अनुमोदन किया था।

(2) जब तक कार्यपालिका और व्यवस्थापिका मे निकटवर्ती सम्बन्ध नही होता, लूट पद्धति (Spoil System) होना निश्चित था।

(3) ऐसे निकटवर्ती सम्बन्ध के बिना ससद ससदात्मक दिशा मे नही चल सकती थी और कार्यपालिका दूसरी दिशा मे। एक नवजात प्रजातन्त्र आधुनिक दशाओ मे ऐसी स्थिति का निर्वाह करने मे सक्षम नही हो सकता था।

(4) संसदीय कार्यपालिका पद्धति इस देश की परिस्थितियो के अनुकूल थी। केन्द्र मे अध्यक्षात्मक पद्धति की स्थापना करके देशी राज्यो मे क्या किया जाता? क्या उनके शासको को पुन: वास्तविक कार्यपालिका शक्ति दे दी जाती? यह समय की प्रवृत्तियो के विरुद्ध होता। यह समस्या भारतीय राज्यो मे दुर्गम्य कठिनाई उत्पन्न कर देती।

(5) उस समय से पूर्व 100 वर्षो से भारतीय सामाजिक जीवन ब्रिटिश सवैधानिक विधि की परम्पराओ से ही बन रहा था। जहाँ तक प्रान्तो का सम्बन्ध था कुछ वर्षों से वहाँ संसदात्मक सरकारे ही कार्य कर रही थी। हम उसके अभ्यस्त हो गये थे।

भारत के लिए शासन प्रणाली के स्वरूप पर विचार करते समय संविधान सभा में वाद-विवाद के दौरान दो प्रश्न उठाये गये :

(1) लोकतन्त्रीर सवैधानिक ढांचे के अन्तर्गत सबल कार्यपालिका किस प्रकार बनायी जा सकती है? (2) किस प्रकार की कार्यपालिका देश की परिस्थितियो के अनुकूल है? इन प्रश्नों के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करते हुए श्री के० एम० मु शी ने कहा .

"शक्तिशाली और लोचपूर्ण सरकार इंगलैण्ड मे विद्यमान है क्योकि कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिमण्डल मे निहित है, जो निम्न सदन के वहुमत पर आधारित है। इस निम्न सदन को सविधान द्वारा वित्तीय शक्तियाँ प्राप्त है। फलस्वरूप यह विधानमण्डलीय वहुमत का शासन है, जो मन्त्रिमण्डल मे अपने नेताओ का समर्थन करता है और यही मन्त्रिमण्डल राज्यो को

---

1 *Constituent Assembly Debates*, 10 December, 1948, pp. 984-86.

परामर्श प्रदान करता है। इस प्रकार राज्य को दल से बाहर एव ऊपर रखा गया है। राजा, राज्य का प्रधान और सविधान के निष्पक्ष गौरव का प्रतीक बन गया है। इगलैण्ड की सरकार प्रत्येक परिस्थिति मे शक्तिशाली एव लोचपूर्ण पायी गयी है।"

"इसके साथ ही हमे एक और महत्वपूर्ण तथ्य को भूलना नही चाहिए कि गत सौ वर्षो मे भारतीय सार्वजनिक जीवन इगलैण्ड की सवैधानिक विधि की परम्पराओ से सचालित होता रहा है। हममे से अधिकाश ने ब्रिटिश शासन प्रणाली को सर्वोत्तम माना है और गत तीस-चालीस वर्षों मे इस देश के शासन मे अशत: उत्तरदायी सरकार का सचालन धीरे-धीरे प्रारम्भ कर दिया गया था। हमारी संवैधानिक परम्पराएँ संसदीय बन गयी है और इस समय हमारे प्रान्तो का शासन अंग्रेजी ढाँचे के अनुसार चल रहा है। आज भारतीय अधिराज्य एक पूर्णरूपेण ससदीय सरकार के रूप मे कार्य कर रहा है। इतने अनुभव के बाद हम परम्परा को तोडकर नवीन प्रयोग क्यो करे ?[1]

भारत में संसदीय प्रणाली अपनाये जाने के कारणों की शव परीक्षा
(POSTMORTEM OF THE ARGUMENTS FOR THE PARLIAMENTARY SYSTEM IN INDIA)

यदि उपर्युक्त तर्को की गम्भीरता से शव परीक्षा की जाय तो उनके औचित्य का मूल्याकन हो जायेगा। क्या संसदात्मक प्रणाली सदैव एक अत्यन्त शक्तिशाली कार्यपालिका देती है ? तृतीय और चतुर्थ गणतन्त्र काल मे फ्रांस मे ऐसा नही था। आस्ट्रेलिया और कनाडा मे सदैव ऐसा नही रहा और न भारत मे सन् 1964 से 1970 तक ऐसा पाया गया। यहाँ इस समय भी ऐसा नही है। फिर, क्या कार्यपालिका का अत्यन्त शक्तिशाली होना वांछनीय है ? सन् 1971 के निर्वाचन के पश्चात् भारत मे जो कुछ हुआ, विशेषकर आपात स्थिति की उद्घोषणा एवं उस काल के कुछ क्रियाकलाप इसे ऐसा सिद्ध नही करते। इस शताब्दी के तृतीय और चतुर्थ दशक की इटली और जर्मनी मे मुसोलिनी और हिटलर ने जो कुछ किया वह भी यही प्रकट करता है। यह भी नही कहा जा सकता है कि ब्रिटेन उस समय से पूर्व 150 वर्षों मे अपनी सभी कठिनाइयो का सामना सफलतापूर्वक कर सका है। क्या आयरलैण्ड का पृथक्करण और भारत, बर्मा, श्रीलंका, आदि की स्वतन्त्रता ब्रिटेन की सफलता का ही प्रमाण है ? प्रतीत तो यह होता है कि आयरलैण्ड का पृथक्करण ब्रिटेन की ससदात्मक पद्धति के अन्तर्भूत दोषो के कारण हुआ है। फिर सयुक्त राज्य अमरीका अपनी किन कठिनाइयो का सामना करने मे सफल नही हुआ ? क्या वह विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र अपनी कठिनाइयो का सफलतापूर्वक सामना न कर सकने के कारण हो सका है ? या उनसे पलायन किया है ? ब्रिटिश पद्धति ब्रिटेन की उपज है और ब्रिटेन मे ही सफलता, वह भी पूर्ण नही प्राप्त कर सकी है। शक्ति लिप्सा वाले राजपुरुषो और उन लेखको ने जिन्हें इस पद्धति के दोषो का पूर्वज्ञान न हो सका था, इसका अनुमोदन किया है। अब कुछ अनुभवी ब्रिटिश राजपुरुष भी इसमे सुधार का सुझाव देने लगे है।[2] यदि ब्रिटेन राजपद के मोहक प्रभाव से प्रभावित न होता और एक गणतन्त्रात्मक पद्धति अपनाये होता तो सम्भवत. उसने ससदात्मक कार्यपालिका पद्धति भी परिवर्तित कर ली होती।

यह सत्य है कि अध्यक्षात्मक शासन पद्धति मे कार्यपालिका का व्यवस्थापिका पर पूर्ण नियन्त्रण नही होता और इससे दोनो के दृष्टिकोणो मे कभी-कभी मतभेद होने की सम्भावना बनी रहती है। संयुक्त राज्य अमरीका मे यदा-कदा ऐसा हुआ भी है। पर वह इतना हानिकर कभी भी

---

1 एम० वी० पायली, भारतीय संविधान, 1975, पृ० 150-51।

2 B. Wodrow, *Turn Again, West Minister*, 1973, p 69, 246, 248, 251.

सिद्ध नही हुआ जितना कि छ्ठ लेखको द्वारा आशंका की गयी है। इसके विरुद्ध वहाँ इसी कारण न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और नागरिक अधिकारो की रक्षा हुई, जनमत राजनीतिक रूप से अधिक प्रबुद्ध तथा प्रभावी बना है, प्रशासन पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण वास्तविक वना है और भृत्यवर्ग प्रभुत्वपूर्ण नही बन पाया है। ब्रिटेन मे संसदीय शासन के आवरण मे मन्त्रिमण्डल वास्तविक शासक बन गया है और उसमें भी प्रधानमन्त्री की स्थिति इतनी प्रधान हो गयी है कि यह कहा जाने लगा है कि इसकी शक्तियाँ ब्रिटिश इतिहास के सर्वाधिक अधिनायकवादी राजाओ की शक्तियो के समान निरकुश हो गयी है। व्यवस्थापिका मन्त्रिमण्डल का पजीकरण कार्यालय हो गया है, वह प्रशासन पर समुचित नियन्त्रण नही कर पाती तथा मन्त्रिमण्डल की आड में भृत्यवर्ग प्रभुत्वपूर्ण वनता जा रहा है। यह कहना कि नवजात-प्रजातन्त्र कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के मध्य के मतभेद का निर्वाह सफलतापूर्वक नही कर पाता, एक व्यक्तिपरक धारणा है। सम्भवतः राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत इस काल मे ऐसा मतभेद होता ही नही, और यदि होता भी तो वह राष्ट्रीय हित मे होता।

यह तर्क कि संसदीय शासन प्रणाली इस देश की परिस्थितियों के अनुकूल है, नितान्त असत्य है। जैसे पहले उद्धृत किया जा चुका है, मॉण्ट फोर्ड तथा साइमन आयोग प्रतिवेदन और ब्रिटिश ससद की सयुक्त समिति सभी का यह मत था कि भारत की परिस्थितियाँ संसदात्मक शासन प्रणाली के उपयुक्त नही थी। यह कहना भी उचित नहीं है कि हमारा सार्वजनिक जीवन सन् 1948 के सौ वर्ष पूर्व मे ब्रिटिश सवैधानिक परम्पराओ से वन रहा था और प्रान्तो मे उनके कार्यकरण से हम उनसे अभ्यस्त हो गये थे। वस्तुतः सन् 1919 के सुधारो के पूर्व भारत में कभी सिद्धान्त रूप मे भी ससदात्मक शासन पद्धति नही रही और उन सुधारो का कार्यकरण भी व्यवहार मे इस पद्धति के अनुकूल नही रहा। हम कितने आत्म अश मे इस पद्धति के अभ्यस्त हुए थे, यह इसी बात से प्रकट हो जाता है कि हम निर्विवाद रूप मे यह भी न समझ सके कि इस पद्धति मे राज्य प्रधान की क्या भूमिका होती है और मन्त्रिमण्डलीय सयुक्त उत्तरदायित्व का क्या अर्थ होता है? हमें प्रथम के बारे में संवैधानिक सशोधन करना पडा, जबकि ब्रिटेन मे सम्बन्धित स्थिति अभिसमयो द्वारा ही बनी है और उन्ही पर आधारित है। यही नही, हमारे राजनीतिक नेता, चाहे वे शासन पक्ष के हो या प्रतिपक्ष के. अब भी राष्ट्रपति से ऐसी अपेक्षाएँ करते हैं जो इस शासन पद्धति के अन्तर्गत एक राज्य प्रधान से नही की जानी चाहिए और हमारा राष्ट्रपति भी कभी-कभी ऐसी बातें करता है जो उसे अपने पद की दृष्टि से नही करना चाहिए। हमारे यहाँ दल-बदल तथा घटकवाद का नग्न रूप यह स्पष्ट सिद्ध करता है कि ससदात्मक शासन प्रणाली की स्वस्थ परम्पराओ से अभ्यस्त होना तो दूर की बात है, हम सम्मान भी नही करते।

ससदीय सरकार की पद्धति को अपनाने के उपर्युक्त कारण न तो उपयुक्त ही है और न यह प्रतीत होता है कि उन्ही के कारण इस पद्धति को अपनाया गया है। वास्तविक कारण कुछ और ही हो सकते हैं और उनको हम अव तक इसलिए समझ नही पाये है कि प्रत्येक नेता को हम महापुरुष मानते है और अवतारवादी धार्मिक विचारधारा के अनुयायी होने के कारण उनमे देवत्व के दर्शन करते हे। हम जेरमी वेन्थम की तरह यह नही सोचते कि नियम रूप मे मनुष्य अपने स्वार्थ से प्रेरित होता है और अपने स्वार्थ मे ही कार्य करता है। राजनीतिज्ञ भी मूल रूप मे हमारे समान मनुष्य है और उनमे भी स्वार्थ भाव है। वह शक्ति चाहते हैं और अन्त तक उसे अपने हाथ मे रखना चाहते है। अध्यक्षात्मक सरकार मे कार्यपालिका शक्ति उतनी प्रवल नही होती जितनी कि हमारे तत्कालीन नेता चाहते थे और अमरीका की परम्परा के कारण वह उतने समय तक एक व्यक्ति के करो मे रह भी नही सकती थी जितने कि व्यवस्थापिका का समर्थन पाते रहने पर, जिसकी कि उस समय अनेक दशाब्दियो तक आशा थी; संसदात्मक पद्धति मे। अध्यक्षात्मक

पद्धति मे कार्यपालिका शक्ति संसदात्मक पद्धति के समान विस्तृत भी नही होती, उसमें वह सीमित तो होती है। साथ ही एक ही व्यक्ति और वह भी नियन्त्रित रूप मे ही उसका प्रयोग कर सकता है। इसके विरुद्ध संसदात्मक पद्धति में कार्यपालिका शक्ति असीमित और अनियन्त्रित ही नही होती, मन्त्री के रूप मे शासक दल के अधिकाश प्रभावशाली व्यक्ति उसके उपभोग मे भाग ले सकते हैं। संविधान निर्माण के साथ बहुमत दल के प्रायः सभी प्रभावशाली नेता या तो मन्त्री थे या बनने की आशा करते थे, और इसलिए उन्होंने अपने स्वार्थ मे इस पद्धति को अपनाया।

भारत में संसदीय प्रणाली का व्यावहारिक पहलू
(EMERGING POLITICAL AND PRACTICAL ASPECTS OF PARLIAMENTARY SYSTEM IN INDIA)

विश्व मे लोकतन्त्र का कोई सार्वदेशिक रूप नही है। लोकतन्त्र एक देश से दूसरे देश मे भिन्न है। यहाँ तक कि एक ही प्रकार की शासन प्रणाली मे भी भिन्नता है। कही यह भिन्नता बड़ी होती है और कही छोटी, परन्तु एक ऐसी शासन प्रणाली सब जगह ठीक एक-सी नही होती।

हमने भारत मे संसदीय लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली अपनायी है। यह धारणा सही नही है कि हमने ब्रिटिश शासन प्रणाली का अनुकरण किया है। यह सच है कि हमारी लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था पर ब्रिटिश शासन प्रणाली का प्रभाव है परन्तु यह ब्रिटिश शासन प्रणाली की अनुकृति नही है। यह सम्पूर्ण रूप से हमारी अपनी व्यवस्था है जो कि विश्व के अन्य देशो मे प्रचलित नही है। श्यामलाल शकधर के शब्दो मे, "ब्रिटिश सरकार से विरासत मे हमे जो कुछ मिला और हमारी अपनी जो परम्पराएँ हैं, उन्हे लेकर हमने अपना सविधान बनाया। इसमे हमने अन्य देशो के अनुभवो का भी लाभ उठाया है। हमारी ससदीय पद्धति हम पर किसी देश द्वारा थोपी नही गयी है। यह पद्धति हमने और हमारे नेताओ ने, जो बहुत प्रतिभाशाली, विद्वान और राजनीतिज्ञ थे, अपनी इच्छा से अपनायी।"[1]

हमारी राजनीतिक व्यवस्था की कुछ मूल बातें ये हैं कि हमारा सविधान लिखित है जिसमे राज्य के विभिन्न अंगो के कृत्यो तथा शक्तियो की परिभाषा दी गयी है तथा उनका सीमांकन किया गया है, हमारा सविधान सघात्मक तथा इसका स्वरूप गणराज्य का है और उसमे पिछड़ी अर्थव्यवस्था तथा विकासशील समाज की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओ का उल्लेख है। ये सभी बातें ब्रिटेन की व्यवस्था से मेल नही खाती क्योकि ब्रिटिश सविधान अलिखित है, एकात्मक है और राजतन्त्रात्मक है। लिखित सविधान होने के कारण भारतीय संसद की प्रणाली तथा व्यवहार पर कुछ प्रतिबन्ध लगते है।

ब्रिटेन मे ससद द्वारा पारित किसी भी कानून को कही भी, यहाँ तक कि न्यायालय मे भी चुनौती नही दी जा सकती है। कोई भी व्यक्ति न्यायालय मे जाकर यह नही कह सकता कि यह कानून एक अवैध कानून है और इसे रद्द किया जाना चाहिए। ब्रिटिश ससद इस हद तक सर्वोच्च है कि वह किसी भी प्रकार का कानून बना सकती है। एक बार एक लेखक ने कहा था कि ब्रिटिश ससद ऐसा कानून भी बना सकती है कि सभी बूढे लोगो को टेम्स नदी मे डुबो दिया जाये। वहाँ कोई भी कानून पारित किया जा सकता है, वह वैध होगा और लागू भी होगा। यह बात और है कि इसके बाद वह ससद रहे या न रहे। ब्रिटिश ससद को इतना अधिकार प्राप्त है। भारत मे संसद कानून बनाती है परन्तु कुछ विशिष्ट परिस्थितियो मे उनके द्वारा बनाये गये कानूनो को न्यायालय मे चुनौती दी जा सकती है कि वह सविधान के अधिकार-क्षेत्र का उल्लघन तो नही करता है।

---

[1] श्यामलाल शकधर, भारतीय संसद (नई दिल्ली, 1978), पृ० 11।

ब्रिटेन मे एकात्मक शासन प्रणाली है जबकि हमारे देश में संघीय प्रणाली है। संसद और विधानसभाओ मे शक्तियाँ विभाजित हैं। कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर कानून बनाने का केन्द्र को एकमात्र अधिकार है। राज्य और केन्द्र एक-दूसरे के अधिकार-क्षेत्र का उल्लघन नही कर सकते। यदि केन्द्र राज्य के अन्तर्गत आने वाले किसी विषय पर कानून बनाये तो इस बारे में निर्णय हेतु न्यायालय मे चुनौती दी जा सकती है।

ब्रिटेन मे राजा का पद पैतृक है जबकि भारत मे निर्वाचित राष्ट्रपति होता है। प्रार्थना, अध्यक्ष का जुलूस, 'मेस' का प्रयोग तथा अन्य रीतियो जैसे ब्रिटिश संसद की कार्यवाहियो से सम्बन्धित समारोह तथा राजचिह्नो को भारत मे कभी भी नही अपनाया गया। स्वतन्त्रता से पहले दिनो मे केन्द्रीय विधान सभा के पीठासीन अधिकारियो द्वारा पहने जाने वाले औपचारिक 'रोब' और 'विग' का भी अध्यक्ष मावलकर द्वारा, जब वह अध्यक्ष बने तो, बहिष्कार कर दिया गया। विधायी कार्य के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत की विधायी प्रणाली मे विधेयक पर विचारार्थ 'कमेटी ऑफ दि होल हाउस' जैसी कोई व्यवस्था नही है। न ही ब्रिटेन की भाँति स्थायी सदस्यो वाली विधेयकों सम्बन्धी स्थायी समितियाँ हमारे यहाँ होती है। इनके स्थान पर हमारे यहाँ सदन की तदर्थ प्रवर समितियाँ अथवा ससद के दोनो सदनो की सयुक्त समितियाँ होती है जो विशेष विधेयको के लिए विशेष रूप से नियुक्त की जाती हैं। हमारे यहाँ शुरू से ही वित्तीय कार्य क निष्पादन के लिए 'कमेटी ऑफ वेज एण्ड मीन्स' या 'कमेटी ऑफ सप्लाई' जैसी कोई समिति नही है, जैसा यू० के० मे अभी हाल तक व्यवस्था थी।

ब्रिटेन मे प्रचलित प्रथा के कुछ मामलो मे परे हटने के अलावा, भारतीय संसदीय प्रणाली में अनेक नयी प्रथाएँ अपनायी गयी है—(क) निर्धारित समय सारणी के अनुसार कार्य-संचालन, (ख) सदन मे दिये गये आश्वासनो अथवा वचनो पर अनुवर्ती कार्यवाही, कम-से-कम इन दो महत्वपूर्ण नयी दिशाओं मे कार्य करने का श्रेय प्राप्त करने का दावा भारतीय संसद कर सकती है। कार्य मन्त्रणा समिति की तरह लोक सभा मे सरकारी आश्वासनों सम्बन्धी समिति भी भारत मे पूर्णतया नवीन व्यवस्था है। यह समिति इस बात का ध्यान रखती है कि क्या मन्त्रियो द्वारा दिये गये आश्वासनो तथा वचनो का उचित समय मे तथा सभा द्वारा वांछित ढग से पालन हो गया है। 'ध्यान दिलाने वाली सूचना' भारतीय ससदीय प्रणाली की एक अन्य उल्लेखनीय नवीन व्यवस्था है। इसके माध्यम से सदस्य अविलम्बनीय लोक-महत्व की अचानक घटने वाली घटना की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करते है तथा उस पर सरकार की नीति का पता लगाते है।

भारत संसद की प्रणाली तथा व्यवहार बदलती परिस्थितियो की अनिवार्यताओ तथा बढते हुए कार्यों को बेहतर ढंग से करने के अच्छे तरीके खोज निकालने के परिणामस्वरूप लगातार विकसित हो रहे हैं। हमारा दृष्टिकोण व्यावहारिक है। यद्यपि हमारी प्रक्रियाएँ ससदीय प्रणाली के विश्वव्यापी मूलभूत सिद्धान्तो के अनुकूल रही हैं फिर भी हमने आगे बढते हुए जहाँ आवश्यक हुआ, फेर-बदल करके तथा नयी प्रक्रियाएँ अपनाने मे कभी हिचकिचाहट महसूस नही की। 23 अगस्त, 1975 को पीठासीन अधिकारियो के सम्मेलन मे विचार व्यक्त करते हुए लोकसभा अध्यक्ष ने कहा था कि "ससदीय सस्था, मानव निर्मित अन्य सस्थाओ की भाँति सदैव विकासशील रहती है जबकि इसके मूल्य, जिनकी यह प्रतीक है तथा इसके मूलभूत सिद्धान्त सर्वदा मान्य रहते हैं, इनकी कार्य-पद्धतियो तथा प्रक्रियाओ को, बदलती परिस्थितियो तथा समय की तात्कालिक आवश्यकताओ के अनुकूल बनाना होता है। जो कोई भी हमारे विधानमण्डलो की प्रक्रियाओ से कुछ भी परिचित है, वह जानता है कि हम 'वेस्टमिनिस्टर' की तथा स्वतन्त्रता से पूर्व के दिनो की अपनी प्रक्रियाओ से कितना आगे बढ़ आये है·······।"

संसदीय प्रणाली का भारतीय प्रतिमान (मॉडल) : 1980-90 के दशक में अवतरित भारतीय राजनीतिक व्यवस्था

(INDIA'S PARLIAMENTARY MODEL · THE EMERGING POLITICAL SYSTEM IN THE EIGHTIES AND NINETIES)

लॉर्ड ब्राइस ने अपनी पुस्तक 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज' में एक अध्याय का शीर्षक 'व्यवस्थापिकाओं का पतन' (Decline of Legislatures) रखकर यह संकेत दिया है कि बीसवीं सदी मे व्यवस्थापिकाएँ अपने गौरवपूर्ण उन्नीसवी सदी के अतीत से कही नीचे गिर गयी है। ब्राइस ने अपनी पुस्तक के दूसरे अध्याय मे 'व्यवस्थापिकाओ का रोग विज्ञान' (Pathology of Legislatures) मे उन रोगो व कारणो की खोज का प्रयास किया है जिससे व्यवस्थापिकाएँ पीडित होकर पतन की ओर जा रही है। आज अक्सर सुनने मे आ रहा है कि संसदो का युग लद गया है, नौकरशाही की विजय हो रही है और कार्यपालिका या केबिनेट की तानाशाही स्थापित हो चुकी है।

के० सी० ह्वीयर ने अपनी पुस्तक 'लेजिस्लेचर' मे यह बताने का प्रयास किया है कि व्यवस्थापिकाओ का पतन इनके कई पहलुओ से सम्बन्धित हो सकता है, जैसे : (i) क्या व्यवस्थापिकाओ की शक्ति मे ह्रास हुआ है? (ii) क्या व्यवस्थापिकाओ की कार्य दक्षता मे कमी आ गयी है? (iii) क्या व्यवस्थापिकाओ के प्रति जन सम्मान नही रहा है? (iv) क्या व्यवस्थापिकाओं मे जनता की रुचि कम हुई है? (v) क्या विधायको के व्यवहार के स्तर मे गिरावट आयी है? (vi) क्या व्यवस्थापिकाओ का पतन अन्य सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओ का विशेषकर कार्यपालिका, राजनीतिक दलो या सगठित पेशेवर व हित समूहो के मुकाबले मे हुआ है?

अगर व्यवस्थापिकाओ का वर्तमान सदी मे उनके स्थान और कार्यप्रणाली का सामान्य सर्वेक्षण किया जाय तो कुछ महत्वपूर्ण अपवादो को छोड़कर यही स्पष्ट होगा कि व्यवस्थापिकाओ की, कुछ महत्वपूर्ण पहलुओ मे, विशेषकर कार्यपालिका की शक्तियो के सन्दर्भ मे काफी अवनति हुई है। वर्तमान शताब्दी का एक लक्षण और प्रवृत्ति यह रही है कि राजनीतिक संस्थाओ का विकास इस तरह हो रहा है जिससे कार्यपालिका शक्ति मे अभूतपूर्व वृद्धि हो गयी है। इनमे विश्व-युद्धो की आशकाओ, आर्थिक संकटो, सामूहिक समाजवादी या लोक कल्याणकारी नीतियो को अपनाने और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के बराबर बने रहने का काफी योगदान है। अब कार्यपालिकाएँ अनेक ऐसे कार्य करने लग गयी है जो वे पहले नही करती थी। कार्यपालिका की शक्तियो मे अभूतपूर्व वृद्धि के सामान्य कारण हैं .

(i) कार्यपालिका के कार्यों में अभूतपूर्व वृद्धि,
(ii) प्रदत्त व्यवस्थापन की प्रथा का बढता हुआ प्रयोग,
(iii) रेडियो व दूरदर्शन का वाद-विवाद के मच के रूप मे विकास,
(iv) व्यावसायिक, व्यापारिक सगठनो व हित समूहो का विकास,
(v) विशेषज्ञो की परिषदो और सलाहकार समितियो का विकास,
(vi) सेनाओ पर नियन्त्रण, युद्ध और सकट,
(vii) चिन्ता के युग की मन स्थिति या मनोवृत्ति,
(viii) विदेशी सम्बन्धो की प्रधानता व अन्तर्राष्ट्रीय तनाव,
(ix) सकारात्मक राज्य का उदय,
(x) बडे-बड़े अनुशासित दलो का विकास।

संसदीय शासन प्रणाली के आधारभूत लक्षण हैं—प्रथम, राजनीतिक व्यवस्था की सम्पूर्ण शक्तियो का संसद मे केन्द्रित रहना, द्वितीय, कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के प्रति निरन्तर

उत्तरदायित्व; तथा तृतीय, प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल के अभिन्न भाग के रूप मे ही शक्तियो का धारक होता है उससे अलग उसका कोई अस्तित्व नही होता है।

अगर इन तीनों बातो को व्यवहार में भारत के सन्दर्भ मे देखा जाय तो लगेगा कि शक्तियो का केन्द्र अब संसद केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही कही जा सकती है। इसी तरह मन्त्रि-मण्डल का संसद के प्रति उत्तरदायित्व भी केवल औपचारिक ही रह गया है तथा प्रधानमन्त्री, मन्त्रिमण्डल के भाग के रूप मे शक्तियों का धातक नही, अब मन्त्रिमण्डल प्रधानमन्त्री के हाथो की कठपुतली कहा जा सकता है। अब शक्ति का केन्द्र प्रधानमन्त्री बन गया है। इसलिए ससदीय शासन प्रणाली को अब 'प्रधानमन्त्री शासन-व्यवस्था' (Prime Ministerial Government) कहना अधिक उपयुक्त माना जाता है। अब ससद की सभी शक्तियाँ प्रधानमन्त्री की इच्छानुसार ही प्रयुक्त होती हैं। वास्तव मे दल व्यवस्था के उद्भव के कारण आम चुनावो मे मतदान प्रधान-मन्त्री या विरोधी दल के नेता (वैकल्पिक प्रधानमन्त्री) के इर्द-गिर्द होने लगा है। जहाँ द्विदलीय व्यवस्था है वहाँ तो यह बहुत कुछ स्पष्ट रहता है कि प्रधानमन्त्री के पद के दो विकल्पो मे से एक का चुनाव करना है परन्तु विकासशील राज्यो मे तो यह तथ्य और भी अधिक सत्य बन जाता है क्योंकि इन राज्यो मे सामान्यतया प्रधानमन्त्री का विकल्प ही नही होता है और वर्तमान प्रधानमन्त्री को ही चुनना या नही चुनना होता है। इस रूप मे प्रधानमन्त्री एक तरह से जन निर्वाचित-सा हो जाता है और इसी कारण वह शक्ति का केन्द्र बन जाता है। शायद इसीलिए रेमजे म्यूर ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को 'निर्वाचित तानाशाह' की सज्ञा देता है।

वास्तव मे ससदीय शासन-व्यवस्थाओ मे संसद के स्थान पर शक्तियों का केन्द्र प्रधानमन्त्री बनता जा रहा है। एकदलीय प्रधान व्यवस्था तथा द्विदलीय व्यवस्थाओ मे प्रधानमन्त्री का शक्ति केन्द्र बनना समझ मे आता है परन्तु बहुदलीय व्यवस्थाओ मे भी प्रधानमन्त्री जब तक पद पर रहता है तब तक शक्ति का केन्द्र ही बना रहता है।

प्रधानमन्त्री मे शक्ति का केन्द्रीयकरण बहुत कुछ दल के माध्यम से होता है। चूंकि प्रधानमन्त्री दल से अलग कुछ भी नही रहता है, अत· दल ही प्रधानमन्त्री को शक्तियुक्त बनाने का आधार प्रस्तुत करता है।

सन् 1980 के दशक मे अवतरित भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को निम्नलिखित बिन्दुओ से प्रकट किया जा सकता है :

(1) **संसदीय राजनीति का ह्रास**—ऐसा प्रतीत होता है कि इधर ससद का महत्व निरन्तर घटता जा रहा है। कुछ समय से विधि निर्माण के क्षेत्र मे संसद का महत्व कम हो गया है और सरकार की निर्णय प्रक्रिया पर भी उसका उतना प्रभाव नही रहा है जितना पहले कभी था। संसद की स्थिति अब यह है कि वह न तो सरकार की त्रुटियो का जनता के सम्मुख भली प्रकार उद्घाटन कर सकती है, न सरकार की किसी नीति मे वाधक बन सकती है और न उसे सतर्कता की स्थिति में रख सकती '। मन्त्रियों की ओर से भी ससद की कुछ-कुछ परोक्ष उपेक्षा होने लगी है। भारतीय संसद मे अब दलीय अनुशासन से अप्रतिवन्धित खरी और निर्भीक समालोचना का सम्पुट नही पाया जाता। ससद मे प्रतिपक्ष का प्रभाव क्षीण है, प्रतिपक्ष उतना मुखर, जागरूक, आत्मनिष्ठ और प्रबुद्ध नही है। आज संसद केवल सीमित सतर्कता की साधन रही है। नीतियो के निर्माण और संशोधन मे संसद सशक्त मार्ग-दर्शन करने मे अपने को असमर्थ पाती है। अब ससद का स्तर पहले जैसा प्रवल नही रहा है और वह सरकार को पहले की भांति अनुशासित रखने मे भी असमर्थ है।

(2) **भारतीय प्रधानमन्त्री की अध्यक्षात्मक भूमिका**—यह कहना गलत नही होगा कि वस्तुतः राजनीतिक सत्ता के केन्द्र का दल और ससद से हटकर प्रधानमन्त्री के हाथो मे स्थानान्त-

रण हुआ है। यदि भारतीय प्रधानमन्त्री के चयन की परिवर्तित प्रक्रिया की ओर ध्यान दें यह अब व्यवहार मे अध्यक्षात्मक पद्धति के समरूप हो गयी है। संवैधानिक दृष्टि से अमरीका राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से एक 'राष्ट्रपतीय निर्वाचक मण्डल' द्वारा किये जाने व्यवस्था है, जो अब व्यवहार मे प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति मे परिवर्तित हो गयी है। इसी भारत मे मतदाता पहले ससद के सदस्यो को चुनते है और तत्पश्चात् ससदीय बहुमत दल नेता प्रधानमन्त्री का निर्वाचन करता है जिसे राष्ट्रपति औपचारिक रूप से प्रधानमन्त्री पद नियुक्त करता है। परन्तु अब अमरीकी राष्ट्रपति की भाँति भारत का प्रधानमन्त्री भी रूप से मतदाताओ द्वारा अपने प्रभावक व्यक्तित्व, कुशल नेतृत्व, लोक-कल्याणकारी नीतियो ठोस उपलब्धियो के आधार पर चुना जाने लगा है। भारत के आम चुनाव प्रधानमन्त्री के चुन कहे जा सकते है। सन् 1952, 1957 एव 1962 मे पण्डित नेहरू एवं 1971 तथा 1980 श्रीमती गाधी के कार्यकाल मे आम निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से केवल नेता के आधार पर लडे थे। दिसम्बर 1984 का चुनाव भी वस्तुत प्रधानमन्त्री का ही चुनाव था। मतदाताओ के राजीव गाधी का कोई सटीक विकल्प ही नही था। चुनाव के द्वारा राजीव गाधी को जनादे (Mandate) प्रदान करना था। इस निर्वाचन प्रक्रिया के कारण प्रधानमन्त्री अब ससद के प्रति सैद्धान्तिक रूप से उत्तरदायी होने के स्थान पर व्यवहार मे अमरीकी राष्ट्रपति की भाँति प्रत्य रूप से मतदाताओ के प्रति अपने को उत्तरदायी समझने लगे है। 1989 का चुनाव भी राजीव गाधी अथवा वी० पी० सिंह के मध्य चयन का चुनाव बनकर रह गया था।

श्रीमती गाधी की कार्यशैली से यह विदित होता है कि वे अपने समस्त कार्यपालिका अधिकारो एव सरक्षण बाँटने की व्यापक शक्तियो की दृष्टि से भी व्यवहार मे अमरीकन राष्ट्रपति के समतुल्य अध्यक्षात्मक भूमिका का परिपालन कर रही थी। तथ्य तो यह है कि सभी से शक्ति अब संसद के हाथो मे नही रही और न ही मन्त्रिमण्डल के हाथो मे रही है, प्रधानमन्त्री के हाथो मे केन्द्रित हो गयी है। प्रधानमन्त्री का सचिवालय शासनतन्त्र का अग बन गया है। भारत मे अधिकाश महत्वपूर्ण निर्णयो का स्रोत 'प्रधानमन्त्री सचिवालय' ही और ऐसा कहते है कि नीति निर्माण मे मन्त्रिमण्डल के बजाय प्रधानमन्त्री अपने विशिष्ट सलाहकारो पर अधिक भरोसा करते है। श्रीमती गाधी अपनी केबिनेट मे मन्त्रियो को रखने, उनके विभाग परिवर्तन करने या उन्हे हटाने के सम्बन्ध मे अमरीकन राष्ट्रपति के समान शक्तिशाली अध्यक्षात्मक भूमिका का निर्वाह कर रही थी।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से भारत की उभरती हुई राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण किया जाये तो यह विदित होता है कि भारत के प्रधानमन्त्री की अध्यक्षात्मक भूमिका बडी तीव्रता से विकसित हो रही है। प्रधानमन्त्री की व्यापक शक्तियाँ, उसके चयन की परिवर्तित प्रक्रिया, केबिनेट का संगठन, केबिनेट सहयोगियो से उसके सम्बन्ध एवं निर्णयविधि, संसदीय उत्तरदायित्व के व्यवहार मे अभाव, शक्तिशाली प्रधानमन्त्रीय सचिवालय के संगठन, अपने व्यक्तिगत विश्वासपात्र सलाहकारो की नियुक्ति एव विस्तृत कार्यपालिकीय शक्तियो और संरक्षण बाँटने के व्यापक अधिकारो के कारण प्रधानमन्त्री के पद का 'अध्यक्षीकरण' होने लगा है। पण्डित नेहरू ने अनेक सूक्ष्म तरीको से और श्रीमती गाधी ने बिना किसी झिझक के अध्यक्षीकरण की प्रक्रिया को आगे बढाया। आज तो स्थिति यह है कि प्रधानमन्त्री की विशालतम शक्तियो के व्यावहारिक पहलू को देखते हुए उसे 'प्रेसीडेण्ट प्राइमिनिस्टर' (President Prime Minister) कहा जा सकता है।

भारतीय राजनीति के अध्येयता के० एल० कमल तथा राल्फ सी० मेयर ने कहा है कि "भारत की शक्ति व्यवस्था की धुरी तथा उसका शीर्ष प्रधानमन्त्री का पद है—जो कि दलीय सगठन, मन्त्रिपरिषद, ससद, राज्य सरकारो, देश के प्रमुख औद्योगिक घरानो, अर्थ-व्यवस्था तथा

सभी संस्थाओं की अपेक्षा न केवल अधिक शक्तिशाली है वल्कि वह उन सवका पथ-प्रदर्शन तथा निर्देशन भी करता है।"

कमल तथा मेयर की धारणा यह है कि भारत मे शक्ति सरचना का एक सुस्पष्ट पिरामिड उभरा है और जो कि विगत 25 वर्षों से ज्यो-का-त्यो बना हुआ है (इस पिरामिड के दस घटक महत्व के क्रम मे इस प्रकार है) :

(1) प्रधानमन्त्री सचिवालय,

(2) टाटा-बिडला-साहू जैन जैसे उद्योगपति, बडे भूपति जैसे सिद्धवेव, चिमनभाई, राव-वीरेन्द्रसिंह,

(3) ससद सदस्य, प्रदेशाध्यक्ष, विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास कोष,

(4) विरोधी दल के नेता,

(5) विधायक, स्थानीय अधिकारी, अंग्रेजी के अखबार,

(6) मजदूर, छात्र, जातीय तथा धार्मिक सगठन,

(7) मध्यम दर्जे के व्यापारी, वकील, डॉक्टर तथा अध्यापक,

(8) संगठित कर्मचारी वर्ग,

(9) समाज के विपन्न-दीन-हीन वर्ग—हरिजन, गिरिजन, आदि।

(10) सारत उनका कहना यह है कि प्रधानमन्त्री के पद को (जनता शासन को अपवाद के रूप मे माना जाय) अभी तक किसी भी क्षेत्र से गम्भीर चुनौती नही मिली है तथा मोटे तौर पर अभी भी उसका वर्चस्व बना हुआ है।[1]

(3) **नौकरशाही की व्यवस्था का अभ्युदय**—संसदीय शासन प्रणाली मे कार्यपालिका की विशिष्ट प्रकृति के कारण मन्त्रिमण्डल की नौकरशाही पर निर्भरता इतनी बढ जाती है कि अनेक विचारक नौकरशाही को ही देश का वास्तविक शासक मानने लगते है। मन्त्रीगण प्रशासनिक ज्ञान की दृष्टि से सामान्यतया अनभिज्ञ रहते हैं जबकि लोक सेवको मे प्रशासनिक ज्ञान की विशिष्टता होती है। मन्त्री यद्यपि अपने विभाग के अध्यक्ष होते है किन्तु विभाग के वास्तविक अनुभवो और प्रशासनिक वारीकियो का उन्हे प्राय. ज्ञात नही होता है क्योकि मन्त्री पद पर उनकी नियुक्ति राजनीतिक आधार पर होती है। मन्त्रियो का अधिकाश समय ससद, जनता एव अन्य सामान्य सार्वजनिक समारोहो मे ही लग जाता है। अतः मन्त्रिगण सभी प्रतिभाओं से युक्त होते हुए भी प्रशासनिक क्षेत्र मे 'नौसिखिये' व 'अविशेषज्ञ' की तरह ही रहते है। दूसरी तरफ लोक सेवक प्रशासन से सम्बन्धित हर बात से सुपरिचित रहते है। उनके प्रशासन सम्बन्धी प्रशिक्षण और अनुभव उन्हे शासन कार्य का विशेषज्ञ बना देते हैं। उनकी नियुक्ति भी योग्यता के आधार पर होती है, उनका प्रशिक्षण होता है तथा वे स्थायी रूप से अपने पद पर बने रहते है। एक ही प्रकार का कार्य लम्बी अवधि तक करते रहने के कारण और अधिकाधिक प्रशासनिक अनुभव प्राप्त करने के उपयुक्त अवसरो के मिलते रहने के कारण, लोक सेवक विभागीय दांव-पेचो को भली-भांति समझने लगे। इससे उनकी श्रेष्ठता निखर जाती है और वे कार्यपालिका शक्ति के वास्तविक संचालक बनने की स्थिति मे आ जाते है।

लॉर्ड हेवार्ट ने नौकरशाही की बढ़ती हुई शक्ति को 'नयी तानाशाही' कहा है। उनका कहना है कि "इस प्रवृत्ति ने इन विभागों को ससद से भी अधिक शक्तिशाली बना दिया है।" भारत जैसी संसदीय प्रणाली मे नौकरशाही का मन्त्रियो पर प्रभाव और अधिक बढ़ गया है। सविद सरकारो के कारण मन्त्रिगण अपनी कुर्सी तथा अस्तित्व की रक्षा के संकट से जूझते रहते हैं। उन्हे

---

[1] K. L. Kamal of Ralph C Meyer, *Democratic Politics in India* (Vikas, 1977), pp 176-77.

इन परिस्थितियो यानी (crisis of existence) के कारण विभागीय कार्य करने की फुर्सत नही मिलती। फलस्वरूप नौकरशाही के प्रभाव-क्षेत्र मे वृद्धि हुई है।[1]

ससदीय शासन प्रणाली मे मन्त्रि-मण्डलीय उत्तरदायित्व का सिद्धान्त कार्य करता है मन्त्री संसद तथा लोकमत के प्रति उत्तरदायी होते हैं। समस्त कार्य लोक सेवक करते हैं किन्तु मन्त्रियो के उत्तरदायित्व की आड मे करते है। यदि विभाग का काम ठीक चलता है तो श्रेय मन्त्री को मिलता है। यदि विभाग का कार्य ठीक नही चलता है तो इसका दोष भी मन्त्र को ही मिलता है। इस प्रकार जहाँ उत्तरदायित्व का प्रश्न है, अपने विभाग के लिए मन्त्री उत्तरदायी है। मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व के कारण लोक सेवा के सदस्य ससद और जनता आलोचना से वच जाते है। नौकरशाही मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व के पीछे पल्लवित होती है

भारत मे उपनिवेशकालीन ब्रिटिश राज्य के युग मे प्रशासन मे नौकरशाही की थी। ब्रिटिश शासन काल से ही भारतीय प्रशासन नौकरशाही प्रधान रहा है। आई० सी० एस अफसरो का एक ऐसा हुजूम तैयार किया गया जो शक्ति और डण्डे के बल पर शासन तन्त्र गाडी खीचते रहे। स्वाधीनता के उपरान्त आई० ए० एस० वर्ग के अफसरो की एक और प जमात खडी हो गयी जिसे कुशल और सक्षम प्रशासन का प्रतिरूप स्वीकार कर लिया गया हमारे समाज मे आज भी स्तर और महत्व दोनो ही नौकरशाही से जुडे हुए हैं। प्रत्येक महत्व सांस्कृतिक और आर्थिक कार्यक्रम, यहाँ तक कि रचनात्मक संस्थाओ और कला एव विज्ञान के ही विकास और उन्नयन का कार्यभार नौकरशाही के हाथो मे आ गया है।

हमारी व्यवस्था मे नौकरशाही कितनी शक्तिशाली है, कतिपय उदाहरण दिये जा स हैं। सरदार पटेल के गृहमन्त्रीत्व काल मे वी० पी० मेनन जैसे अफसर को देशी नरेशो से रियासत के एकीकरण करने सम्बन्धी वार्ता करने करने की सत्ता प्राप्त थी। जवाहरलाल नेहरू की नीति को प्रभावित करने मे गिरजाशकर वाजपेयी की भूमिका सर्वविदित है। टी० टी० कृष्ण माचारी जैसे वित्त मन्त्री को प्रभावित करने मे एच० एम० पटेल जो कि उस काल मे सचिव थे, अत्यन्त शक्तिशाली थे। लक्ष्मीकान्त झा जैसे वरिष्ठ अधिकारी लालबहादुर शास्त्री नीतियो पर छाये रहे।[2] शास्त्री के प्रधानमन्त्रीत्व काल मे नीति सम्बन्धी समस्त पत्र-व्य झा द्वारा ही किये गये थे। श्रीमती गाधी को पी० एन० हक्सर, टी० एन० धर, जी० पार्थसारथी के० आर० नारायणन, आदि नीति सम्बन्धी विकल्प सुझाते रहे हैं। आज भी जिले मे 'कलक्टर और गाँव मे 'पटवारी' से अधिक कोई शक्तिशाली नही है। याने सम्पूर्ण व्यवस्था—ऊपर नीचे तक नौकरशाही के कन्धो पर टिकी हुई है।

(4) **व्यवस्था की संरचनाओ में टकराहट की स्थिति**—इस दशक मे भारतीय व्यवस्था की विभिन्न संरचनाओ मे तनाव और टकराहट की स्थिति उत्पन्न हुई है। ससद सर्वोच्च न्यायालय, केन्द्र और राज्य, प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति, कार्यपालिका और सर्वोच्च न्याया लय, विपक्ष और सत्तारूढ दल, राज्यपाल और मुख्यमन्त्री के बीच मे यदा-कदा तनाव, खिचाव टकराहट और विरोधी स्वर मुखरित हुए है। इन तनावो से जहाँ एक ओर व्यवस्था के स्थायित्व खतरा प्रतीत होता है वही दूसरी ओर इन सस्थाओ की 'स्वायत्तता' विकसित होने का भी लाभ है

(5) **व्यवस्था के विकल्प की खोज**—सन् 1950-60 के दशक मे हम संसदीय को भारत के लिए श्रेष्ठतम शासन-व्यवस्था मानते थे। सन् 1970-90 के दशको मे यह भ्रम टूट चुका है। अब हम यह नही कहते कि यही व्यवस्था हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ है। तो आलोचक यह भी कहने लग गये हैं कि कही हमारी दुर्गति और आर्थिक पिछड़ेपन का ससदीय सस्थाएँ तो नही हैं? पिछले एक दशक से देश मे शासन प्रणाली का कोई विकल्प मे समाजशास्त्री, राजनीतिशास्त्री और सविधानविद् लगे हुए है।

निष्कर्षत भारतीय ससदीय व्यवस्था गतिशील है। इसका स्वरूप बदलता जा रहा है इसमें नित्य नये तत्व और प्रवृत्तियाँ उभर रही है।

---

1 "When parties are weak, divided, getting fragmented cabinets are unstable and Parties in Parliament are busy in manipulating the rise or fall of cabinets, bureauc is left free to accomplish whatever it sees fit" —*C. P.*

2 **श्री झा को 'सुपर केबिनेट' की संज्ञा दी जाने लगी थी।**

7

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप

[THE NATURE OF THE INDIAN POLITICAL SYSTEM]

राजनीतिक प्रक्रिया का घनिष्ठ सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप से रहा है। राजनीति की प्रक्रिया का सम्बन्ध अनेक वर्गों और संगठनो से रहता है—राजनीतिक दल, दबाव समूह, हित समूह, चुनाव-तन्त्र, लोकमत की अभिव्यक्ति के साधन, साम्प्रदायिक और गैर-साम्प्रदायिक गुटों, बुद्धिजीवियों. नौकरशाही और अभिजात्यवर्ग आदि-आदि से। ये ही वर्ग और सगठन देश विशेष की राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करते है। राजनीतिक प्रक्रिया का सामाजिक ढांचे और मूल्यो को बदलने मे बडा हाथ होता है और राजनीतिक व्यवस्था जनता को राजनीतिक प्रक्रिया मे भाग लेने को प्रेरित करती है।

भारत मे लोकतन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत एक प्राचीन और बड़े विविधतापूर्ण समाज का आधुनिकीकरण किया जा रहा है। भारत मे समाज के विखण्डित ढांचे में राजनीतिक सस्थाओ, मूल्यों और विचारो का प्रवेश हो रहा है। भारत जैसी अराजनीतिक समाज व्यवस्था मे राजनीतिक केन्द्र की स्थापना हो रही है और समाज के विविध वर्गों को राज-व्यवस्था मे स्थान दिया जा रहा है। राजनीतिकरण की बढती हुई प्रवृत्ति के कारण अब तक जो गांव, समाज, वर्ग और सम्प्रदाय राजनीतिक व्यवस्था से दूर रहे हैं वे भी इसके निकट आ रहे है।

राजनीतिक व्यवस्था से अभिप्राय (*Meaning of Political System*)

राजनीतिक व्यवस्था सामान्यत: व्यवस्थाओ की सीमाओ के पार, पर्यावरण से तथा परस्पर अन्त:क्रिया करने वाली उन सरचनाओ, प्रक्रियाओ तथा सस्थाओ का समुच्चीकरण है जिसे राजनीतिक अन्त क्रियाओ की इकाई या व्यवस्था कहा जा सकता है। इस व्यवस्था का निर्माण सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वाले उन व्यक्तियो की क्रियाओ द्वारा होता है जो समाज के लिए नीति के निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन से किसी प्रकार सम्बद्ध हो। 'व्यवस्था' शब्द व्यापक है और उसमे सभी प्रकार की औपचारिक और अनौपचारिक प्रक्रियाएँ, अन्त.क्रियाएँ, प्रकार्य, संरचनाएँ, मूल्य, आचार, आदि आ जाते हैं। राज-व्यवस्था समाज व्यवस्था की उप-व्यवस्था है। डेविड ईस्टन के अनुसार राजतीतिक व्यवस्था उन अन्त क्रियाओ का नाम है जिनके माध्यम से समाज के लिए मूल्यो का साधिकार विनिधान किया जाता है। राज-व्यवस्था अपने पर्यावरण, उपव्यवस्थाओं द्वारा व्यवस्थाओ के प्रभाव या निवेश (input) ग्रहण करती है तथा उनको संपरिवर्तित (convert) करके निर्गतो (output) मे बदल देती है। उसका यह कार्य बाध्यकारी एवं प्राधिकृत होता है।

'राजनीतिक व्यवस्था' एक ऐसा शब्द है जिसने विगत वर्षों मे अत्यधिक प्रचार पा है और इसका परिणाम यह हुआ कि उसने राज्य को मच के शीर्षस्थ स्थान से हटा दिया है। 'व्यवस्था' एक ऐसा शब्द है जिससे हममे से अधिकाश परिचित हैं। इसका आशय कुछ तत्वो के समूहो से होता है जो आन्तरिक कार्य की प्रक्रिया मे रहते है। व्यवस्था का सबसे निकट या परिचित उदाहरण जीव वैज्ञानिक व्यवस्था है जैसे कि मानव प्राणी। हम जानते हैं कि मानव शरीर के विभिन्न अग हृदय, फेफडे, यकृत सभी परस्पर निर्भर एव सम्बन्धित हैं। इन अगो के व्यवहार एव इनके पारस्परिक प्रभाव मे एक नियमितता है। इस प्रकार घड़ी, कार का इजन एवं कम्प्यूटर भी एक व्यवस्था ही है। सौर परिवार भी 'व्यवस्था' का एक उदाहरण माना ज सकता है। अतएव जब हम 'व्यवस्था' शब्द का प्रयोग करते है तो हमारा तात्पर्य परस्पर प्रभावी एव परस्पर निर्भर अगो की सम्पूर्णता से है जिसके व्यवहार मे हम एक नियमित प्रतिमान पाते है।

'राजनीतिक व्यवस्था' की अभिधारणा मे राजनीतिक जीवन मे जैविकीय तथा मशीनीकृत व्यवस्था की अनुरूपता सन्निहित है। यह अभिधारणा ह। सरकार, सस्था एव उसके अनौपचारिक कार्य के परम्परागत अर्थ से परे परन्तु सीमित अर्थ मे ध्यान आकर्षित करती है। इसमे राजनीति की गतिशील प्रक्रिया एव व्यक्त एव समूह का वास्तविक व्यवहार भी सन्निहित है।

हम इससे परिचित है कि ससद, मन्त्रिमण्डल तथा न्यायालयो के अतिरिक्त ऐसे बहुत-से अनौपचारिक ढाँचे—राजनीतिक दल, मजदूर संघ तथा दूसरी सस्थाएँ जो राजनीतिक नही हैं—वाणिज्य मण्डल, कृषक सगठन, पत्रकार सगठन, धार्मिक संस्थाएँ, जाति समूह, आदि—जो नीतियो के निर्माण, कानून निर्माण तथा निर्णयो को प्रभावित करते हैं। यह भी विदित है कि जनमत, जनविश्वास तथा दृष्टिकोण, विचारधाराएँ एव आर्थिक स्थितियाँ भी राजनीतिक शक्तियो के व्यवहार पर अपना प्रभाव डालती है। इसके अतिरिक्त, सामान्यतः हम इससे भी परिचित है कि इनमे से प्रत्येक तत्व न केवल सरकार के निर्णय को प्रभावित करता है वरन् स्वय ऐसे निर्णयो से प्रभावित होता है और इनमे से प्रत्येक परस्पर एक-दूसरे को भी प्रभावित करता है। यह सभी अपने परस्पर प्रभावित व्यवहार के कारण एक स्थायी एव व्यवस्थित राजनीतिक प्रबन्धो के कार्यों को भी सहयोग देते है। किन्ही अवसरो पर इनमें से कुछ तत्वो के व्यवहार के कारण 'तनाव' पैदा हो सकता है जो 'सकट' की सीमा तक जा सकता है, फिर समझौते होते है जिनके कारण 'तनाव' गायब हो जाता है तथा 'सकट' समाप्त हो जाता है। परस्पर जाल के समान गुँथे हुए यह सभी तत्व मिलकर राजनीतिक वातावरण को अधिक जटिल तथा पेचीदा बना देते हैं। राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा इन परस्पर प्रभावी तत्वो मे से कुछ व्यवस्थित रेखाएँ तथा नियमितता खोजने मे सहायता देती हैं।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था (Indian Political System)

कुछ लोग भारतीय सविधान को ही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का पर्याय मान बैठे हैं और अन्य विद्वान भारतीय राज-व्यवस्था को अपनी निर्माण अवस्था मे मग्न रहे है। वस्तुतः भारतीय राज-व्यवस्था न तो सविधान मात्र है और न ही निर्माणाधीन। राज-व्यवस्था का उसी दिन निर्माण हो चुका था जिस दिन भारत की सविधान-निर्मात्री सभा ने 'उद्देश्य प्रस्ताव' और सविधान की 'प्रस्तावना' पर अपनी स्वीकृति दे दी थी। संविधान की प्रस्तावना के अनुकूल ही राज-व्यवस्था का ढलना है न कि उसके प्रतिकूल।

जब हम 'भारतीय राज-व्यवस्था' पर विचार करते है तो उसका अभिप्राय होता है कि शासन का स्वरूप क्या है, शासन का ध्येय क्या है, नीति निर्माण किस प्रकार होता है, कौन-से ऐसे तत्व हैं जो नीतियो के निर्माण को प्रभावित करते है, राज-कार्यों में जनता की हिस्सेदारी

किस सीमा तक है और जनता के मूल्य, दृष्टिकोण और चरित्र का स्वरूप क्या है ? राज-व्यवस्था मे न तो पदो का विन्यास होता है और न कोरा सवैधानिक कानून । भारत की राजनीति नित नये मोड़ ले रही है और नित नये आयाम उजगार हो रहे है और उनसे राज-व्यवस्था का स्वरूप भी अवश्य ही निखर रहा है ।

भारतीय राज-व्यवस्था के निर्धारक तत्व (Determinants of Indian Political System)

राजनीति, समाज और संविधान मे घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है । सविधान राजनीति और समाज का आधार होता है, राजनीति समाज के केन्द्र मे निर्मित होती है और फिर उसी को प्रभावित करती है । समाज का स्वरूप भी राजनीति को आधार प्रदान करता है । समाज मे विद्यमान आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक तत्व 'राजनीतिक व्यवस्था' के स्वरूप को बहुत हद तक निर्धारित करते है । भारतीय राज-व्यवस्था के निर्धारक तत्व कुछ इस प्रकार हैं :

(1) **भारतीय संविधान** (Indian Constitution)—भारत का लिखित सविधान देश की जनता और समस्त विविधतापूर्ण सस्कृति वाले लोगो को जोड़ता है । सविधान वयस्क मताधिकार की व्यवस्था करके जनता को शासन कार्यों मे सक्रिय भागीदार बनाता है । सविधान यह स्पष्ट कर देता है कि ससदात्मक और संघात्मक शासन-पद्धतियो का ही विकास इस देश मे होगा। शासन के स्वरूप मे महत्वपूर्ण परिवर्तन करने का अधिकार इस देश की जनता मे निहित माना गया । सरकार की शक्ति का स्रोत जनता ही रहेगी ।

(2) **संविधान की प्रस्तावना** (Preamble of the Constitution)—संविधान की प्रस्तावना सविधान का कानूनी भाग नही है । प्रस्तावना हमारी राज-व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करती है । प्रस्तावना के सविधान के निर्माताओ ने हमारी राज-व्यवस्था के बुनियादी आदर्शों, आस्थाओ और प्रेरणाओ को वाणी प्रदान की है । राज-व्यवस्था शरीर है तो प्रस्तावना उसकी आत्मा, प्रस्तावना आधारशिला है तो राज-व्यवस्था उस पर खड़ा महल है । सविधान की प्रस्तावना राज-व्यवस्था को समझने की कुन्जी है ।

(3) **ब्रिटिश विरासत** (British Legacies)—भारतीय राज-व्यवस्था पर अग्रेजी शासन का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । अग्रेजी शासन मे महत्वपूर्ण राजनीतिक और विकास सम्बन्धी निर्णय सरकारी ढग से किये जाते थे । यही परिपाटी भारतीय नेताओ ने भी अपनायी । ब्रिटिश काल मे आई० सी० एस० अधिकारी शासन के महत्वपूर्ण स्तम्भ थे । स्वाधीनता के बाद की नूतन राज-व्यवस्था मे सारे परिवर्तनो और नयी नीतियो का भार सरकारी सेवाओ पर डाल दिया गया । सारी आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियो का सचालन सरकारी अधिकारियो द्वारा किया जाता है । वस्तुत. नयी व्यवस्था मे नौकरशाही का अभूतपूर्व विस्तार ब्रिटिश विरासत ही कही जा सकती है ।

(4) **एकीकरण की समस्या** (Problem of National Integration)—हमारे राष्ट्र-निर्माताओ के सामने बुनियादी-समस्या एकीकरण की थी अर्थात् नये राजनीतिक केन्द्र-बिन्दु की स्थापना और विविधता को एक सूत्र मे संग्रहण कर राष्ट्र का निर्माण ही उनकी चिन्ता का विषय था । नेहरूजी ने स्पष्ट कहा था कि मेरे जीवन का मुख्य काम भारत का एकीकरण है । इसी कारण भारत की राजनीतिक एकता मे राष्ट्रीय सरकार की प्रधानता और अन्य हित समूहो व अल्पसख्यको के प्रति समझौते और सामंजस्य की नीति अपनायी गयी । राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या ने ही केन्द्रीय राज-व्यवस्था की नीव डाली ।

(5) **समायोजन और सहमति के सिद्धान्त** (Principle of Compromise and Consensus)—ग्रेनविल ऑस्टिन ने लिखा है कि भारतीय सविधान-निर्माताओ ने संविधान की रचना में दो सिद्धान्तो से काम लिया । एक यह है कि सभी निर्णय सहमति से किये जाये, बहुमत के जोर

पर नही। दूसरा, समझौते की भावना अर्थात् अल्पमत या भिन्न मत वालो का अधिक-से
ख्याल। कांग्रेस के नेता यह जानते थे कि अभी बहुत दिनो तक कांग्रेस का एकछत्र शासन
अत. देश की एकता और स्थिरता के लिए राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सभी गुटो को
लेकर समझौते की भावना से निर्णय किये जाने चाहिए। देश के विभाजन और पाकिस्तान
निर्माण की घटना से देश के नेता समझ चुके थे कि बहुमत की ओर से फैसला लादना एक
लोकतन्त्र के लिए अच्छा न रहेगा।

(6) आधुनिकीकरण (Modernisation)—आधुनिकीकरण वर्तमान युग की मुख्य
है और राजनीतिकरण इसकी सचालक शक्ति। आधुनिकता से हमारा समाज प्रभावित हुआ है
समाज के आधुनिकीकरण से राज-व्यवस्था के स्वरूप मे निखार आया। नयी शिक्षा,
नौकरियाँ, वयस्क मताधिकार और व्यवस्था के विस्तार ने पुरातन जाति-पाँति पर आधारित
को बदला। ऊँची जातियो और अमीरों के अतिरिक्त नीची जातियाँ और गरीब लोग
राजनीतिक दृष्टि से सगठित होने लगे, उनकी आकाक्षाएँ बढने लगी और राजनीतिक व्यवस्था
वे एक-दूसरे के प्रतिस्पर्द्धी बन गये। चुनावो के फलस्वरूप सभी जातियाँ और उनके समूह
व्यवस्था मे सक्रिय भागीदार बन गये।

(7) धर्म (Religion)—भारत मे धर्म ने राजनीतिक व्यवस्था को अत्यन्त प्रभावित कि
है। धर्म के आधार पर भारत का विभाजन हुआ और पाकिस्तान के निर्माण के उपरान्त भी देश
मे सिख, पारसी, जैन, ईसाई, बौद्ध धर्मों के अलावा इस्लाम के अनुयायी विद्यमान हैं। अत. राज
व्यवस्था के स्वरूप को धर्मनिरपेक्ष घोषित करना अपरिहार्य था।

(8) जाति (Caste)—हेरल्ड गौल्ड के अनुसार, "राजनीति का आधार होने के बजाय,
जाति उसको प्रभावित करने वाला एक तत्व है।" रजनी कोठारी लिखते हैं कि "जाति के बन्धन
को स्वीकार करने और राजनीतिक सौदेबाजी एवं गठबन्धन मे उसका सहारा लेने के कारण
उसको देश की राजनीतिक व्यवस्था मे स्थान देना तथा उसे राजनीतिक सगठन का आधार बनाना
आसान हो गया है।" जातियाँ अपने सख्या-बल के आधार पर संगठित होने लगी हैं, निर्वाचनो
के परिणामो को प्रभावित करने लगी है और राजनीतिक दलो का 'आधार' तैयार करती हैं।
वर्तमान मे राजनीतिक अधिकार और पद सब जातियो के लिए खुल गये है, इसलिए राजनीति मे
जाति का विचार महत्वपूर्ण हो गया है। राजनीतिक दलो को अपने प्रत्याशी चुनने मे यह देखना
पडता है कि जाति का कितना सख्या-बल है, किस जाति में कितने गुट है और जातिगत नेताओ
का कितना राजनीतिक प्रभाव है। प्रो० एम० एन० श्रीनिवास के अनुसार, "सख्या की दृष्टि से
बडी-बडी जातियाँ तो जिला और राज्य स्तरो पर राजनीतिक दबाव गुट बन गये हैं।"[1] वोन सी०
फ्यूरेर का भी मत है कि भारतीय राज-व्यवस्था मे जातियाँ शक्ति की पुंज हैं जिनके प्रभावो की
उपेक्षा नही की जा सकती।

(9) क्षेत्रीयता (Regionalism)—क्षेत्रीय विवाद राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करते
हैं। क्षेत्रीय समस्याएँ राजनीतिक आन्दोलन को जन्म देती हैं। राज्यो के बीच नदी-पानी-विवाद,
सीमा-विवाद, आदि समस्याएँ क्षेत्रीय सकीर्णता का परिणाम कही जा सकती हैं। क्षेत्रीय सम-
स्याएँ यदि गम्भीर रूप धारण कर लेती हैं तो संविधान द्वारा निर्धारित व्यवस्था दुर्बल होने
लगती है।

(10) भाषा (Language)—एक लिंक भाषा राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न तत्वो और
अगो को जोडती है। लिंक भाषा के अभाव में राज-व्यवस्था मे असगठन की कमजोर भावनाएँ

1 श्रीनिवास, एम० एन० : कास्ट इन मॉडर्न इण्डिया, 1970, पृ० 3-5।

उभरती है। एक भाषा एक राष्ट्र का बोध कराती है और यदि भाषागत विविधता मे मान्य भाषा का अभाव होता है तो फिर यदा-कदा आन्दोलन भी भडकाये जा सकते है। उदाहरणार्थ, तमिलनाडु की डी० एम० के० सरकार के अस्तित्व का आधार राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' का विरोध करना था। इससे राष्ट्रीय एकता को गम्भीर आघात पहुँचा।

भारतीय राज-व्यवस्था का स्वरूप (Nature of the Indian Political System)

संविधान और राजनीतिक व्यवस्था में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सविधान की विशेषताएँ राज-व्यवस्था को न केवल प्रभावित करती हैं अपितु उसे औपचारिक आधार प्रदान करती हैं। किन्तु राज-व्यवस्था सवैधानिक औपचारिक मात्र नहीं है, इसमे अनेक अनौपचारिक तत्व भी निहित होते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य मे हम यहाँ भारतीय राज-व्यवस्था के स्वरूप का विश्लेषण करेंगे। राज-व्यवस्था का स्वरूप निम्नलिखित है :

(1) **प्रधानमन्त्री-व्यवस्था** (Priministerial System)—संविधान-निर्माता भारत मे ससदात्मक तन्त्र की स्थापना करना चाहते थे किन्तु धीरे-धीरे संसदात्मक व्यवस्था के सवैधानिक प्रावधानो के उपरान्त भी हमारी राज-व्यवस्था प्रधानमन्त्री-व्यवस्था मे परिवर्तित हो गयी है। जिस प्रकार अमरीका मे काग्रेस की तुलना मे राष्ट्रपति सत्ता और राजनीति का केन्द्र-बिन्दु है उसी प्रकार भारत मे ससद की तुलना में प्रधानमन्त्री सत्ता और राजनीति का मुख्य बिन्दु कहा जा सकता है। भूतकाल मे नेहरू के करिश्मावादी नेतृत्व के प्रधानमन्त्री को राजसत्ता का केन्द्र बनाया था तो वर्तमान मे श्रीमती गाधी की समाजवादी नीतियो ने प्रधानमन्त्री पद की गरिमा में चमत्कारिक वृद्धि की है। जनवरी 1980 का चुनाव तो वस्तुत: प्रधानमन्त्री का ही निर्वाचन था। इस प्रकार वर्तमान समय की विश्वव्यापी प्रवृत्तियो के अनुरूप भारत ने भी मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था में 'प्रधानमन्त्री-व्यवस्था' का रूप ग्रहण कर लिया है, लेकिन इस सम्बन्ध मे 1967-70 और 1977-79 का काल अवश्य ही अपवाद है, क्योकि इस काल मे प्रधानमन्त्री पद शक्तिशाली स्थिति का परिचय नही दे सका।

(2) **सिद्धान्तत: समाजवादी व्यवस्था** (Theoretically Socialist System)—सविधान-निर्माताओ ने भारत के संविधान को समाजवाद, साम्यवाद या पूँजीवाद जैसे किसी विशिष्ट राजनीतिक दर्शन का अनुयायी नही बनाया। किन्तु धीरे-धीरे भारतीय राज व्यवस्था का विचारदर्शन समाजवादी व्यवस्था का सा हो गया। आज भारत मे सरकार पचवर्षीय योजनाओ द्वारा लोकतान्त्रिक समाजवाद की प्राप्ति की दिशा मे अग्रसर है। लोकतान्त्रिक समाजवाद का उद्देश्य एक जातिविहीन, वर्गहीन समाज की स्थापना है जो लोकतन्त्रीय विचारधारा पर आधारित है और जिसमें वैयक्तिक गरिमा व सामाजिक न्याय अक्षुण्ण रहे। भारत मे सम्पूर्ण शासन-तन्त्र अपनी पूरी शक्ति के साथ देश के आर्थिक पुनर्निर्माण मे लगा हुआ है, निर्धनो का शोषण समाप्त किया जा रहा है, कमजोर वर्गों के लिए विशेष रियायतें प्रदान की जा रही हैं, श्रमिको, स्त्रियों और बच्चो के कल्याण हेतु नित नयी-नयी विधियाँ बन रही है सामन्तशाही और विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग का अन्त किया गया है, विषमता समाप्त की जा रही है। और परम्परागत सामाजिक और आर्थिक ढाँचे पर लगातार प्रहार किये जा रहे हैं। निर्वाचनो के समय देश के राजनीतिक दलों मे इस बात की होड़ लगी रहती है कि कौन कितना बड़ा और विस्तृत समाजवादी कार्यक्रम प्रस्तुत कर सकता है? मानो समाजवाद भारतीय व्यवस्था का प्राण हो।

(3) **व्यवहार में पूँजीवादी अर्थतन्त्र** (Capitalist Economy in Practice)—स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों के दौरान राजनीतिक नेताओ ने 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' की नीति अपनायी जिसका अर्थ था एक नियोजित और विनियामक अर्थ-व्यवस्था। इसे पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था से आमूल रूप से भिन्न बताया गया और कहा गया कि वह समाजवादी ढाँचे की स्थापना का मार्ग प्रशस्त

करेगी। बाद के वर्षों के दौरान राजकीय विनियमन, भूमि सुधारो, सार्वजनिक क्षेत्र, बैंक राष्ट्रीयकरण और निजी क्षेत्र मे हस्तक्षेप करने के अन्य उपाय अपनाये गये। इन्हे बहुधा भारत मे समाजवादी गतिविधियो के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है।

परन्तु वास्तव मे इस बात का निर्णय करने के लिए कि क्या इसके परिणामस्वरूप समाजवादी विकास हुआ है, इसे पॉल स्वीजी द्वारा बतलाये गये तीन निर्धारक कारको की दृष्टि से देखना होगा। ये तीन कारक हे : (1) उत्पादन के ऊपर निजी पूंजीपतियो का स्वामित्व, (2) कुल सामाजिक पूंजी का अनेक प्रतिद्वन्द्वी अथवा सम्भावित प्रतिद्वन्द्वी इकाइयो मे विभाजन, (3) माल (वस्तुओ और सेवाओ, दोनो) की भारी मात्रा का उन मजदूरो द्वारा उत्पादन जिनके पास कोई भी साधन नही होते और जो निर्वाह के साधनो को प्राप्त करने के लिए पूंजीपतियो को अपनी श्रमशक्ति बेचने पर मजबूर होते है।

बीसवी शताब्दी मे पूंजीवाद को ऐसी व्यवस्था के रूप मे नही प्रस्तुत किया जाता जो शोषण, असमानता तथा अन्याय को कायम रखती बल्कि अब उसे प्रत्यक्षत. अहानिकर नामो, जैसे—समृद्ध समाज, जन उपयोगी समाज, गृह केन्द्रित समाज, पूंजीवादोत्तर समाज, उदारवादी समाज, से पुकारा जाता है।

भारत मे नेहरू और अन्य लोगो ने समाज मे सम्पत्ति सम्बन्धो को बिना बदले समाजवाद लाना चाहा। व्यवहार मे समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को नही, बल्कि 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' (mixed economic pattern) को स्वीकार किया गया। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का अर्थ था नियोजन, विनिमय और निजी क्षेत्र की रियायतें। काग्रेसी नेताओ ने विभिन्न वर्गों और वर्गहितो को स्वीकार किया परन्तु वे 'शान्तिमय तरीको', 'भिन्नतापूर्ण दृष्टिकोण', 'सहयोग', 'सद्भाव' और 'अहिंसा' पर जोर देते रहे। उन्होने घोषणा की कि काग्रेस सभी वर्गों—रैयतो और जमीदारो, श्रमिको और पूंजीपतियो की पार्टी है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था समाजवादी अर्थ-व्यवस्था से आमूल रूप से भिन्न थी क्योकि उसने पूंजीपति वर्ग के हितो की जडे नही खोदी।

चतुर एवं दूरदर्शी होने के कारण भारतीय पूंजीपति वर्ग ने सरकार को समर्थन देना पसन्द किया। वह अर्थ-व्यवस्था मे राजकीय स्वामित्व एव प्रबन्ध के विस्तार के लिए सहमत हो गया। सन् 1948 और 1956 मे पारित भारत सरकार के औद्योगिक नीति के प्रस्तावो ने उद्योग के क्षेत्र मे हस्तक्षेप करने की राज्य की सहमति को इगित किया, परन्तु इस प्रकार के हस्तक्षेप का उद्देश्य मुख्यतया पूंजीवादी के तेज विकास के लिए स्थितियां पैदा करना और फिर आर्थिक शक्ति के सकेन्द्रण एव एकाधिकार को रोकना था। इस तथ्य की उपेक्षा नही की जा सकती कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के तीन दशको से भी अधिक समय के बाद 88 प्रतिशत घरेलू उत्पाद निजी क्षेत्र के नियन्त्रण मे है, सरकार का भाग केवल 5 प्रतिशत है। औद्योगिक वित्त निगम, राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम और राज्य वित्त निगम के द्वारा दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने की सरकारी नीति के कारण निजी क्षेत्र की संवृद्धि दिन दुगुनी और रात-चौगुनी हुई। एकाधिकार जांच आयोग के अनुसार लगभग 75 व्यावसायिक घरानो का, जिनके अगुआ टाटा और बिड़ला थे, 1536 कम्पनियो और निजी निगम क्षेत्र की 46 9 प्रतिशत परिसम्पत्तियो पर नियन्त्रण था। 75 घरानो का हिस्सा 1967-75 मे 53 8 प्रतिशत था। आर्थिक शक्ति का यह सकेन्द्रण लगातार बढता गया और इस पर अकुश लगाने का कोई कारगर प्रयास नही किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की बुराइयो को दूर करने के बदले देश मे एकाधिकार पूंजी को मजबूत बनाने का साधन बनकर रह गया है। सार्वजनिक तन्त्र का एक बहुत बड़ा भाग औद्योगिक निवेश मे नही लगा है बल्कि परिवहन, संचार, विद्युत उत्पादन, तकनीकी शिक्षा, आदि को मजबूत बनाने के लिए किया गया है। व्यय के इस ढांचे ने व्यक्तिगत सहायता अनुपूर्तियो के द्वारा, निजी

क्षेत्र को काफी लाभ पहुंचाया है और निजी पूंजी के मुनाफे की दर को बढा दिया है। इजारेदार कम्पनियो को राजकीय क्षेत्र से भी सहायता मिली है। राष्ट्रीयकृत बैंक कृषि एव लघु उद्योगों को सहायता देने के बदले बडे व्यावसायिक घरानो की कम्पनियो को बड़े ऋण दे रहे है। इसके अतिरिक्त भारत मे आर्थिक स्थिति का एक महत्वपूर्ण पहलू है विदेशी निजी पूंजी की उपस्थिति। भारतीय उद्योगो मे पश्चिमी, विशेषकर अमरीकी निवेश बढता जा रहा है। पी० चट्टोपाध्याय के अनुसार भारत द्वारा अपनाया जाने वाला मार्ग पूंजीवादी मार्ग एक परावलम्बी पूंजीवादी मार्ग है।

(4) **संघात्मक व्यवस्था का एकात्मवादी रूप** (Federal Form with Unitary Bias)—सविधान द्वारा भारत मे सघात्मक ढांचे की स्थापना की गयी है किन्तु इसका झुकाव एकात्मकता की ओर रखा गया और व्यावहारिक राजनीति के अनेक तत्वो के कारण एकात्मकता की ओर उसकी यह प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ गयी। इस स्थिति के लिए उत्तरदायी तत्व हैं: 1964 के मध्य तक पं० नेहरू और उसके बाद 1971-76 के काल मे श्रीमती गांधी का करिश्मावादी नेतृत्व, केन्द्र और राज्यो के स्तर पर सामान्यत: एक ही दल की प्रधानता, आर्थिक नियोजन और राज्यो की तुलना मे केन्द्र के पास वित्तीय साधनो की प्रचुरता, आदि। इस स्थिति मे केन्द्र ने सभी विषयो के सम्बन्ध मे आदेश-निर्देश देने की स्थिति को प्राप्त कर लिया और इन आदेश-निर्देशो का पालन-अनुशीलन राज्य सरकारो ने अपना कर्तव्य समझ लिया। 1971-76 के काल मे तो एकात्मकता की यह प्रवृत्ति बहुत ही अधिक बढ गयी और प्रधानमन्त्री द्वारा राज्य के मुख्यमन्त्रियो का मनोनयन किया जाने लगा। इस सम्बन्ध मे 1967-70 तथा 1977-79 का काल अवश्य ही अपवाद रहा है।

(5) **धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था** (Secular System)—मूल संविधान मे धर्मनिरपेक्ष शब्द का कही उल्लेख नही किया गया है[1] तथापि धर्मनिरपेक्षता भारतीय राज-व्यवस्था का मुख्य गुण बन गया है। राजनीति मे हिस्सा लेने का आधार धर्म नही है और न धर्म के आधार पर शासन मे ही कोई भेदभाव किया जाता है। अल्पसख्यक समुदाय का व्यक्ति राष्ट्र के बडे-से-बडे पद को धारण कर सकता है। धर्मनिरपेक्ष स्वरूप का प्रवाह सर्वविद्यमान है और इसके द्वारा न केवल हिन्दुओ व मुसलमानो, बल्कि सभी समुदायो व धर्मों को भी परोपकारी सरक्षण प्राप्त है। धर्मनिरपेक्षता किसी नागरिक के धर्म और प्रार्थना में उसके विश्वास को उसके अपने धार्मिक मत के अनुसार नागरिक ईश्वर के बीच का विषय मानती है। व्यक्ति के धर्म से राज्य सम्बन्धित नही है, इसलिए वह सभी धार्मिक स्थानो एव धर्मो के प्रति सहिष्णुता से व्यवहार करता है।

(6) **एक दल की प्रधानता** (One Party Dominant System)—भारत मे ऐसी बहुदलीय पद्धति है जिसमे एक दल को बहुत अधिक प्रमुखता की स्थिति प्राप्त है और अन्य राजनीतिक दल उसकी तुलना मे बहुत निर्बल है। इसे 'एक दल की प्रधानता वाली बहुदलीय पद्धति' कहा जा सकता है। व्यवहार के अन्तर्गत 1967-70 का काल और कुछ सीमा तक 1977-79 का काल अवश्य ही अपवाद रहा है। 1977-79 के काल को छोडकर सामान्यतया यह प्रधानता की स्थिति 1966 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और 1971 से श्रीमती गांधी के साथ जुडे हुए कांग्रेस दल को प्राप्त रही है। भारतीय जनता ने 1967 के चतुर्थ आम चुनाव मे राज्य स्तर पर और 1977 मे केन्द्र तथा राज्यों के स्तर पर विरोधी दलो को अवसर दिया लेकिन इन दलो द्वारा प्रशासनिक कुशलता का परिचय नही दिया जा सका। 1967-70 के काल मे विभिन्न राज्यो

---

[1] अब 42वें सविधान संशोधन द्वारा 'समाजवाद' और 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द प्रस्तावना मे जोड़े गये हैं।

में स्थापित संविद सरकारें अपनी असंगतियों के कारण असफल रहीं और जनता ने समझ लिया कि स्थायित्व तथा प्रशासनिक कुशलता के लिए एक ही दल की सरकार आवश्यक है। 1977 में राजनीतिक ध्रुवीकरण की दिशा में कुछ प्रगति हुई थी लेकिन 1978 से ही ध्रुवीकरण से विपरीत दिशा की ओर प्रवृत्तियाँ प्रबल हो गयीं और आज ऐसा प्रतीत होता है कि 'एक दल की प्रधानता वाली बहुदलीय पद्धति' आगे आने वाले कुछ समय तक बनी रहेगी। आठवीं लोकसभा चुनाव परिणामों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। राजीव गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी को 401 सीटें प्राप्त हुई और राष्ट्रीय विपक्षी दलों का लोकसभा में संख्या-बल काफी अल्प रह गया।

(7) लोकतान्त्रिक एवं खुली राजनीतिक व्यवस्था (Democratic and Open Political System)—भारतीय राज-व्यवस्था में शासन सूत्र जनता के हाथ में है। बहुमत के आधार पर चुने हुए जनता के प्रतिनिधि राजकाज चलाते हैं। भारत में राजनीतिक शक्ति पर किसी वर्ग विशेष का अधिकार नहीं है। राज-व्यवस्था में कोई सुविधा सम्पन्न वर्ग विशेष नहीं है और व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेदभाव नहीं किया जाता है। है, जनता को अपनी इच्छानुसार अपने शासक और अपनी राजनीतिक व्यवस्था चुनने की आजादी है। वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त स्वीकार किया गया और सभी लोगों को आत्मविकास के समान अवसर उपलब्ध कराये गये हैं। 1977, 1980, 1984 तथा 1989 के आम चुनावों में जनता ने लोकतन्त्र के प्रति अपनी पूर्ण प्रतिबद्धता का परिचय दिया है।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था खुली है। व्यवस्था पर कोई प्रतिबन्ध और परिसीमाएँ नहीं हैं। भारत ने पश्चिमी देशों के उन आदर्शों को अपना लिया जो उसके अनुकूल थे और साम्यवादी देशों की विशेषताओं को अंगीकार करने में भी आनाकानी की। जहाँ आर्थिक नियोजन का सिद्धान्त सोवियत संघ से सीखा गया, वहाँ कल्याणकारी राज्य का दृष्टिकोण ब्रिटेन से अपनाया गया। हमारी व्यवस्था की विशेषता यह रही है कि हमने विश्व में प्रचलित अच्छाइयों को अपनाने में कभी हिचकिचाहट नहीं की। प्रो० रजनी कोठारी लिखते हैं कि "केन्द्रीय सत्ता को उनके ऊपर बाहरी और विजातीय सत्ता के रूप में लादा नहीं जाता, बल्कि यह कोशिश की जाती है कि विभिन्न वर्ग और लोग व्यवस्था में स्थान पा सकें। मुक्त या खुली राजनीतिक व्यवस्था का भारत में यही अर्थ है।"

(8) राजनीतिक संस्थाओं का अवमूल्यन (Devaluation of the Political Institutions)—नेहरू के बाद राजनीतिक संस्थाओं के अवमूल्यन की प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ। जनहित का स्थान दलहित ने ले लिया है। संसद और विधानसभाओं की बैठकें नीतियों व विषयों के गम्भीर विवेचन में असमर्थ हैं। तर्क का स्थान शोर-शराबे व गाली-गलौज ने ले लिया है। विधायकों पर खर्च बढ़ता जा रहा है व उनकी प्रजातान्त्रिक उपयोगिता घटती जा रही है। वरिष्ठ न्यायाधीशों की उपेक्षा कर कनिष्ठ और प्रतिबद्ध न्यायाधीशों को सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्त करना न्यायपालिका की छवि धूमिल करने की प्रक्रिया का सूत्रपात था। केन्द्र में कार्यपालिका आजकल जिस अन्तर्द्वन्द्व से ग्रसित है वह दृश्य अत्यन्त दयनीय व भयावह है। कार्यपालिका के मुख्य स्तम्भ होते हैं—मन्त्रिमण्डल, सचिवालय या नौकरशाही तथा सेनाध्यक्ष व अन्य विभागाध्यक्ष। सचिवों तथा विभागाध्यक्षों यथा सेनापतियों का कार्य मन्त्रिमण्डल को परामर्श देना तथा उसके निर्णयों का परिपालन है। बोफोर्स के मामले में जनरल सुन्दरजी के बयान, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक टी० एन० चतुर्वेदी का प्रतिवेदन प्रकाशित होने के बाद ऐसा लगा कि सत्ताधारी वर्ग इन संवैधानिक संस्थाओं की भी वह दुर्गति करने की मंशा रखता है जो दुर्गति राज्यपाल, मुख्यमन्त्री जैसे पदों की की गयी थी। देश की प्रसिद्ध पुलिस एजेन्सी सी० बी० आई० के अध्यक्ष ने बोफोर्स काण्ड में, वाडिया-अम्बानी विवाद में तथा अन्य कई विवादों

मे जो शर्मनाक भूमिका अदा की, उससे ईमानदार पुलिस अफसरों का मनोबल गिरा क्योंकि यह सिद्ध होता जा रहा है कि सफलता के लिए, केरियर मे तीव्र गति से तरक्की के लिए तथा सेवा-निवृत्ति की आयु के पश्चात् भी आगे बार-बार सेवा की अवधि बढवाये जाने के लिए किस प्रकार की स्वामीभक्ति की अपेक्षा होने लगी है।

(9) **परम्परा और आधुनिकता का मिश्रण** (Mixture of Tradition and Modernity)—भारतीय राज-व्यवस्था मे परम्परा और आधुनिकता का सगम पाया जाता है। चुनाव व्यवस्था आधुनिक तत्व है जबकि चुनावो पर जाति और धर्म का प्रभाव परम्परागत है। व्यक्ति की गरिमा का सिद्धान्त परम्परागत है जबकि सामाजिक कल्याण की भावना आधुनिक है। संघवाद का सिद्धान्त परम्परागत है किन्तु केन्द्रीभूत सघ का विचार आधुनिक है। ससदात्मक शासन-व्यवस्था का विचार परम्परागत है किन्तु प्रधानमन्त्रीय व्यवस्था का विचार आधुनिक है। मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त परम्परागत है जबकि नीति निर्देशक सिद्धान्तो का आधुनिक है। रजनी कोठारी के अनुसार, "भारत मे आधुनिकता के प्रभाव से जो प्रतिक्रियाएँ हुई उनसे पुरानी परम्परा और सस्कृति के प्रति नया बोध उत्पन्न हुआ। आधुनिकता की प्रतिक्रियास्वरूप भारतीयता की भावना बढी और इसे नया अर्थ और रूप देने का यत्न किया गया। उदाहरणार्थ, पुरानी परम्परा और लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे निरन्तर आदान-प्रदान होता रहा। पुरानी परम्परा विभिन्नता और मतभेदो के प्रति सहनशीलता बरतती थी और नूतन लोकतन्त्रीय व्यवस्था विचार तथा कार्य की स्वतन्त्रता का समर्थन करती थी और समाज के सभी वर्गों को साथ लेकर चलना चाहती थी, फलस्वरूप दोनो के मेल मे कोई कठिनाई नही हुई। पुरानी परम्परा ने यह आत्मविश्वास उत्पन्न किया कि भारत की जनता मे विवेक और वृत्ति का मार्ग ग्रहण करने की क्षमता है। इस बात पर भी सहमति थी कि भारतीय सभ्यता की समृद्ध परम्परा को बनाये रखने के लिए ऐसी शासन-व्यवस्था को अपनाना चाहिए, जिससे देश के सभी मतो और सम्प्रदायो की स्वतन्त्रा सुरक्षित रहे।

(10) **दल-बदल** (Defection)—दल-बदल से अभिप्राय है दलगत सम्बन्ध अथवा निष्ठा में परिवर्तन। भारतीय राज-व्यवस्था मे कोई भी संसद अथवा विधानमण्डल का सदस्य कभी भी अपनी दलगत आस्थाओ और सम्बन्धो मे परिवतन कर सकता है। किसी विधायक का अपने दल तथा निर्दलीय मंच का परित्याग कर किसी अन्य दल मे जा मिलना, नया दल बना लेना, या निर्दलीय स्थिति बना लेना अथवा अपने दल की सदस्यता त्यागे बिना ही बुनियादी मामलो पर सदन में उसके विरुद्ध मतदान करना आम बात हो गयी है। भारतीय राजनीति मे दल-बदल की घटनाएँ कोई ऐसी बात नही जो 1967 के चुनावो के बाद ही सामने आयी हो। विधायी सस्थाओ के प्रारम्भ से ही दल-बदल की घटनाओ का प्रारम्भ माना जा सकता है। मॉण्ट-फोर्ड सुधारो के काल मे हमे कुछ ऐसे विधायको के दृष्टान्त मिलते है जो वायसराय के कार्यकारी पार्षदो के चाटुकार थे और मतदान मे भी उन्ही के आदेशो का पालन करते थे। सन् 1937 के चुनावो मे काग्रेस को संयुक्त प्रान्त मे पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ फिर भी मुख्यमन्त्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने मुस्लिम लीग के कुछ सदस्यो को दल बदलने और कांग्रेस मे शामिल होने का प्रलोभन दिया। सन् 1948 मे जब काग्रेस समाजवादी दल ने काग्रेस संगठन को छोडने का फैसला किया तो वह दल-बदल ही था। सन् 1950 में उत्तर-प्रदेश मे सामूहिक दल-बदल की घटना घटी और 1958 मे उत्तर-प्रदेश के 98 विधायको ने मुख्यमन्त्री के विरुद्ध अविश्वास व्यक्त किया। 1953 मे प्रजा समाजवादी पार्टी के नेता श्रीप्रकाशम् को आन्ध्र प्रदेश का मुख्यमन्त्री पद का वचन देकर काग्रेस मे शामिल होने के लिए प्रेरित किया गया। चतुर्थ आम चुनाव से पूर्व समाजवादी नेता अशोक मेहता को उनके कई साथियो के साथ काग्रेस दल मे औपचारिक रूप से शामिल कर लिया गया। चतुर्थ आम चुनाव के बाद तो दल-बदल की समस्या ने अधिक व्यापक और विशाल रूप धारण कर लिया।

एक ही वर्ष के अन्दर विभिन्न राज्यो के कम-से-कम 175 कांग्रेसी विधायकों ने कांग्रेस से अपना सम्वन्ध तोड़ लिया। **डॉ० सुभाष काश्यप** के अनुसार, "राजनीतिक दल-वदल की समस्या का एक रोचक पहलू यह है कि एक ओर तो कोई भी विधायक और कोई भी राजनीतिक दल, दल-वदल की घटनाओ की कड़ी-से-कडी भर्त्सना करने से नही चूकता, दूसरी ओर जव अवसर आता है और दल-वदल करने मे कुछ लाभ दिखायी देता है तो कोई उसका उपयोग करने और स्वय दल-वदल करने मे तनिक भी सकोच नही करता।"[1] आज भी दल-वदल की घटनाएँ आये-दिन हो रही हैं। तमिलनाडु मे संगठन कांग्रेस के अनेक कार्यकर्ता कांग्रेस मे सम्मिलित हुए और मार्च 1976 मे गुजरात की जनता मोर्चा सरकार के भंग होने का कारण दल-वदल ही कहा जा सकता है। जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावो के तुरन्त वाद कर्नाटक मे कांग्रेस (अर्स) के मन्त्रिमण्डल के स्थान पर कांग्रेस (इ) मन्त्रिमण्डल स्थापित हो गया और हरियाणा मे मुख्यमन्त्री भजनलाल और उनके 37 साथियो द्वारा दल-वदल के कारण जनता पार्टी मन्त्रिमण्डल रातोरात कांग्रेस (इ) मन्त्रिमण्डल मे परिणत हो गया। कर्नाटक की हेगडे सरकार को गिराने के लिए इन्दिरा कांग्रेस ने क्यो और कैसे प्रपच रचे तथा विधायको की खरीद का जो व्यापार किया उसका भण्डाफोड कर्नाटक विधानसभा मे जनता पार्टी के सहयोगी सदस्य सी० वी० गोडा ने किया। गोडा ने वताया कि कि विधानसभा मे इन्दिरा कांग्रेस दल के नेता वीरप्पा मोयली ने उन्हे दल-वदल के लिए दो लाख रुपये की अग्रिम राशि दी और मन्त्री वनाने का लालच दिया।[2] 1989 मे नागालैण्ड और कर्नाटक मे सरकारो के अल्पमत मे आने और राष्ट्रपति शासन की पृष्ठभूमि तैयार करने का मूल कारण दल-वदल ही था। इस प्रकार दल-वदल भारतीय राजनीति की विशेषता वन गया है। कोई भी दल अपने सदस्यो से पूर्णतया आश्वस्त नही है। राजनीतिक दलो का सदस्यो पर न तो पूर्णतया नियन्त्रण है और न वे कठोर अनुशासनात्मक कार्यवाही ही कर पा रहे है। आजकल दल-वदल गली-कूचो और सड़को पर, सदनो से वाहर होने लग गये हैं। 52वे सविधान सशोधन (1985) द्वारा दल-वदल पर प्रतिवन्ध लगाया गया है। यही कारण है कि सन् 1985 के विधानसभा चुनावो के वाद दल-वदल की कोई उल्लेखनीय घटना नही हुई।

(11) **अस्थिरता और अव्यवस्था की राजनीति** (Politics of Instability)—अस्थिरता और अव्यवस्था की राजनीति भारतीय राज-व्यवस्था का उभरता स्वरूप है। राजनीतिक व्यवस्था मे हिंसात्मक घटनाएँ, जन आन्दोलन, जुलूस, रैली, हडताल, जनता कर्फ्यु, आदि आम वात हो गयी है और इन सवका यह प्रभाव होता है कि सरकारे कमजोर हो जायें, शक्तिशून्यता का वातावरण उत्पन्न हो और अराजकता की स्थिति से असामाजिक तत्व अपने न्यस्त स्वार्थो की पूर्ति करे।

भारतीय राजनीति न केवल अव्यवस्था वरन् अस्थिरता से भी ग्रसित रही है। 1967 से अव तक (1990) राज्य स्तर पर निरन्तर अस्थिरता की स्थिति और 1977-79 के काल मे केन्द्रीय स्तर पर भी यह स्थिति देखी गयी है। भारतीय जनता ने वार-वार 1971-72, 1977-78 और 1980-85 मे एक ही राजनीतिक दल को राज्य विधानसभाओ मे स्पष्ट बहुमत प्रदान कर अपनी ओर से अस्थिरता की स्थिति को समाप्त करने की चेष्टा की और सम्वन्धित दलो को इस प्रकार का आदेश दिया, लेकिन व्यवहार मे 1985 व 1990 के विधानसभा चुनावो के वाद भी राज्य स्तर पर, कही वास्तविक कही मनोवैज्ञानिक अस्थिरता की स्थिति बनी हुई है। केन्द्रीय स्तर पर एक राजनीतिक दल को भारी वहुमत और उस राजनीतिक दल मे करिश्मावादी नेतृत्व की विद्यमानता के कारण यह सोचा जा सकता है कि अस्थिरता का कोई आधार नही है, लेकिन

[1] काश्यप, सुभाष · **दल-बदल और राज्यो की राजनीति**, 1970, पृ० 42।

[2] **राजस्थान पत्रिका** : 16 नवम्बर, 1983।

दूसरी ओर राज-व्यवस्था के सम्मुख आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक कठिनाइयाँ तथा चुनौतियाँ निरन्तर बढ़ती जा रही है, विकराल रूप लेती जा रही हे। यह स्थिति अस्थिरता की आशका को जन्म देती है।

(12) **नौकरशाही पर निर्भरता** (Bureaucratic Dependence)—भारतीय राज व्यवस्था को बनाये रखने मे प्रशासन-तन्त्र का वडा हाथ है। राजनीतिक परिवर्तन के समय नौकरशाही देश को स्थिरता प्रदान करती है। राजनीतिक नेताओ को उच्चस्तरीय नीति-निर्माण मे नौकरशाही का ही विशिष्ट परामर्श प्राप्त होता है। **रजनी कोठारी** के अनुसार, "लक्ष्मीकान्त झा, लल्लनप्रसाद सिह और पी० एन० हक्सर जैसे उच्च अधिकारियो का महत्वपूर्ण सरकारी निर्णयो मे वहुत अधिक हाथ है। मन्त्रिमण्डल सचिवालय और प्रधानमन्त्री सचिवालय का वढ़ता हुआ महत्व किसी से छिपा नही। ये प्रधानमन्त्री की आँख और कान हैं। इसके द्वारा उनको पूरी राजनीतिक जानकारी मिलती है। उच्च स्तर की समितियों मे इन अधिकारियो की उपस्थिति सरकारी निर्णयो मे इनकी महत्वपूर्ण भूमिका की परिचायक है।"[1] इसके अतिरिक्त, भारत की जनता पर भी सरकारी अधिकारियो का अटूट प्रभाव है। गाँवो मे तो पटवारी, तहसीलदार, ग्रामसेवक, निरीक्षक और अध्यापक को ही जनता सरकार का मूर्त रूप मानती है। ग्रामीण भारत मे जितना प्रभाव पुलिस और थानेदार का रहता है उतना और किसी अधिकारी का नही। फिर, गाँवो की जनता स्वय पहल नही करना चाहती अपितु यह मान वैठी है कि उनके विकास हेतु समस्त कार्य शासकीय अधिकारियो को करने हैं।

भारतीय नौकरशाही का स्वरूप रूढिवादी है। देश के प्रशासक उच्च मध्य वर्ग से आते हैं। उच्च अफसरशाही मे आसीन व्यक्ति 'आमतौर से समृद्ध, शहरी और शैक्षिक वर्गो से आते है।' उनके अभिभावक समाज की उच्चतर श्रेणियो के हैं और कानून, इन्जीनियरी, डॉक्टरी, और विश्वविद्यालय मे अध्यापन जैसे आधुनिक पेशो मे लगे है। अफसर आमतौर से उच्च वर्गो के है और वे शहरी और ग्रामीण विशिष्ट वर्गो से आते है। उनका उद्गम ही बहुधा उनके दृष्टिकोण को निर्धारित करता है। आई० ए० एस० के परिवीक्षाधीन व्यक्तियो के एक अध्ययन से स्पष्ट है कि भारतीय प्रशासनिक सेवा मे आने वाले व्यक्ति समानता, लोकतन्त्र, धर्मनिरपेक्षता, आर्थिक नियोजन या आरक्षण नीति मे विश्वास नही करते। व्यवसायी समुदाय से वे बहुत अच्छे सम्बन्ध रखते है। सिविल सर्विस के अनेक अफसर सेवामुक्त होने के वाद वडे व्यवसायी घरानो मे अच्छे ओहदे प्राप्त कर लेते है। आये दिन सेवामुक्त अफसर व्यवसायी घरानो के पैरवीकार वन जाते हैं। सक्षेप मे, सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के प्रति सिविल सेवा के अफसरो का दृष्टिकोण 'नकारात्मक' रहा है।

(13) **सरकार ही केन्द्र-बिन्दु** (Government is the Focal Point)—भारत मे सरकार के चारो ओर ही सारी राजनीति घूमती है। **रजनी कोठारी** के अनुसार, "विरोध का अर्थ सरकार का विरोध है, चाहे वह दल के भीतर हो या वाहर, चाहे सरकारी दल काग्रेस हो या अन्य पार्टी।" सन् 1967 तक जितने भी आन्दोलन हुए वे सत्तारूढ दल के विरोध मे थे। केरल मे जब साम्यवादी सरकार आयी तो उसके विरोध मे आन्दोलन हुआ। तमिलनाडु मे डी० एम० के० सरकार आयी तो उसके विरुद्ध भी कई आन्दोलन हुए। यदि राज्यो मे गैर-काग्रेसी सरकारे है और उनकी नीतियो के फलस्वरूप जनता मे असन्तोष वढता है तो वे तत्काल किसी-न-किसी प्रश्न पर केन्द्रीय सरकार का विरोध करने लग जाती है।

(14) **परम्परावादी और आधुनिक दबाव समूहो का संगम** (Amalgamation of

---

[1] कोठारी, रजनी . **भारत में राजनीति** (अनुवाद), पृ० 217।

Traditional and Modern Pressure Groups)—राजनीतिक व्यवस्था मे दबाव समूहों तथा हित समूहो का अभ्युदय एव उन्नयन कोई नूतन तथ्य नही है। सदैव ही सब प्रकार के समाज एवं शासन मे दवाव समूह विद्यमान रहे हैं। भारत मे दबाव समूहो के बारे में नवोदित तत्व बस यही हैं कि वे राजनीति मे एक सस्था के रूप मे कार्यरत हैं। ये समूह देश की सामाजिक सरचना का प्रतिनिधित्व करते है। प्रो० मोरिस जोन्स के निष्कर्षों के अनुसार, "यदि भारतीय राज-व्यवस्था को सागोपाग समझना है तो गैर-सरकारी एव अज्ञात संगठनो की गतिविधियो का अध्ययन करना उपयोगी एव अपरिहार्य है।" मोरिस जोन्स ने अपनी रचना 'दि गवर्नमेण्ट एण्ट पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया' मे भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की तीन भाषाएँ या प्रतिरूप (languages or idioms) व्यक्त किये हैं। प्रथम और तृतीय भाषा का सम्बन्ध दवाव समूहो से ही है। वे द्वितीय भाषा या प्रतिरूप 'आधुनिक' को प्रथम तथा द्वितीय प्रतिरूप 'परम्परावादी' एवं सन्तो की भाषा से प्रभावित मानते हैं।[1]

वस्तुत: भारतीय राज-व्यवस्था मे अनेक प्रकार के दबाव समूह क्रियाशील हैं। परम्परावादी समूह जैसे—जाति, सम्प्रदाय, धर्म, क्षेत्रीयता, आदि राजनीति को अपने नये परिवेश मे प्रभावित कर रहे हैं। राजनीतिक दलो के सगठनो और चुनावो मे इन पुरातन संस्थाओ का प्रभाव सर्वाधिक द्रष्टव्य है। जातिगत गुटो को तो आज भी भारतीय राजनीति मे 'बेताज का सम्राट' माना गया है। पाश्चात्य विद्वानो की यह धारणा गलत सिद्ध हो गयी है कि पुरातन प्रिय समाज मे आधुनिक दवाव समूहो का अभ्युदय नहीं होता। भारत मे 'फेडरेशन ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री' के रूप मे आधुनिक दबाव समूहो का प्रभावशाली ढग से विकास हुआ है। इस गुट का सुदृढ संगठन है, यह आधुनिक तकनीको का प्रयोग करता है और राजनीतिक दलो से पूर्ण स्वायत्त है। इसकी तुलना किसी भी पश्चिमी देश मे प्रचलित और कार्यरत दवाव समूह से की जा सकती है। प्रो० मोरिस जोन्स के अनुसार, भारत मे आधुनिक दवाव गुटों का तीव्र गति से उदय हो रहा है। आधुनिक और परम्परावादी दवाव गुटो का अन्तर राष्ट्र-राज्य की राजनीतिक सस्थाओ और प्राचीन सामाजिक व्यवस्था की सस्थाओ का अन्तर है। यथार्थ मे आज ये दोनो अजनबी की तरह भारतीय राजनीति मे मिल रहे हैं।[2] परम्परावादी गुट चुनावो और राजनीतिक दलो द्वारा और आधुनिक गुट मन्त्रिमण्डल तथा नौकरशाही द्वारा अपने हितो की अभिव्यक्ति करते हैं।

(15) **व्यवस्था की कसौटी नेतृत्व** (Leadership as the Foundation of the System)—स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय राज-व्यवस्था का विकास दो अवस्थाओ मे विभक्त किया जा सकता है—प्रथम, नेहरू की मृत्यु (मई 1964) से पूर्व की राजनीति और द्वितीय, उनकी मृत्यु के वाद की राजनीति। जव तक देश की राजनीति की वागडोर नेहरू के हाथों मे रही तब तक केन्द्रीय सरकार की सत्ता अप्रतिहत थी और राज्य सरकारो की स्थिति अपेक्षाकृत नगण्य थी। इसका मुख्य कारण नेहरू का करिश्मा, उनका सर्वग्राही, प्रभावशाली, सम्मोहक नेतृत्व था। श्री नेहरू की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् भारत के राजनीतिक क्षितिज पर कोई ऐसा सर्वमान्य नेता नही उभर सका जो उनके रिक्त स्थान की पूर्ति कर सकता और देश की अन्तरात्मा का मूर्त बन जाता। ऐसा प्रतीत होने लगा कि राजनीतिक व्यवस्था डगमगा रही है, किन्तु जैसे ही 1969 के कांग्रेस विभाजन के पश्चात् श्रीमती इन्दिरा गाधी का करिश्मावादी व्यक्तित्व निखरने लगा तो राजनीतिक व्यवस्था को सुदृढता प्राप्त होने लगी और उस पर छाये काले वादल हट से गये। श्रीमती इन्दिरा गाधी की हत्या के वाद जिस सहजता से कांग्रेस पार्टी ने राजीव गाधी को नेता चुना और दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावो मे राजीव गाधी ने जिस परिपक्वता का परिचय दिया वह निश्चित

---

[1] मोरिस जोन्स : दि गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया, 1967, पृ० 52।

[2] मोरिस जोन्स दि गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया, 1967, पृ० 52।

ही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता का परिचायक है। रजनी कोठारी के अनुसार, "जिस समय देश मे परिवर्तन और अस्थिरता की स्थिति हो, राष्ट्रीय एकता के लिए चुनौती बनी हो उस समय उसे ऐसे नेतृत्व की जरूरत है जो सोद्देश्य तथा तरुण मालूम देने के साथ-साथ लोगो पर प्रभाव भी रखता हो।" इस प्रकार भारत मे राज-व्यवस्था की स्थिरता की कसौटी नेतृत्व है। प्रभावशाली नेतृत्व में व्यवस्था मे नया विश्वास और नयी एकता आने की सम्भावना होती है। कमजोर नेतृत्व से व्यवस्था मे सकटो और गड़बडी का दौर शुरू हो जाता है। कांग्रेस के विकल्प के रूप मे बनी जनता पार्टी का सकट नेतृत्व का ही संकट था। मोरारजी, चरणसिंह और जगजीवनराम नेतृत्व के मसले पर विभाजित थे और सर्वमान्य नेता के अभाव मे जनता पार्टी और सरकारें टूट गयी।

(16) **अनुत्तरदायी प्रतिपक्ष** (Irresponsible Opposition)—भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मे प्रतिपक्ष की सदैव से यह विशेषता रही है कि वह अनुत्तरदायी आचरण करने मे ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान बैठता है। विरोधी दल संसद और विधानमण्डलो के बजाय अपना कार्यक्षेत्र सड़को और गली-कूचो को ही बना देते है। विरोधी दल संवैधानिक साधनो के बजाय गैर-सवैधानिक साधनो से सरकार को गिराकर अपनी सरकार बनाने की ताक में लगे रहते है। वे जनता को वैकल्पिक नीतियां और कार्यक्रम देने के बजाय आन्दोलन और हडतालो के माध्यम से उत्तेजित करने मे नही हिचकिचाते। कुछ ऐसे भी विरोधी दल हैं जो ससदीय लोकतन्त्र मे भी विश्वास नही करते और सत्ता को उलटने के लिए बल प्रयोग की भी धमकी देते रहते है। कुछ ऐसे भी दल है जो साम्प्रदायिकता और प्रादेशिकता की सकीर्ण भावनाओ को उभारते रहते है। ऐसा अनुत्तरदायी प्रतिपक्ष राज-व्यवस्था को कमजोर बनाता है, जनता मे निराशा और हीन भावनाएँ उत्पन्न करता है जिससे देश के भीतर निर्णायक रूप से कार्य करने की राष्ट्रीय सरकार की क्षमता कमजोर होती है। अनुत्तरदायी प्रतिपक्ष एकदलीय प्रभुत्व को सुदृढ़ करता है और जनता के राजनीतिक विकल्पो को छीनने का ही प्रयास करता है। इससे निश्चित ही भारत जैसे ससदीय व्यवस्था वाले देश मे राजनीतिक सस्थाओं के प्रकृत विकास मे बाधा उपस्थित होती है।

(17) **विविधता में एकता** (Unity in Diversity)—भारतीय राज-व्यवस्था को प्रभावित करने वाले तत्व हैं देश की विशालता, प्राचीनता, जाति, भाषा, धर्म और सस्कृतिगत विविधता। भारत की राजनीति मे प्रान्तीय और वर्गगत मांगो ने राष्ट्रीय राज-व्यवस्था के सामने नयी समस्याएँ खड़ी की हैं। कभी-कभी राज्य के भीतर विशिष्ट क्षेत्रो के अलगाव के आन्दोलन उठ रहे हैं। दबे हुए वर्गों और समूहो के राजनीतिक क्षेत्र मे आने से अधिकार के लिए उनकी आकांक्षा से नयी समस्याएँ खडी हो जाती हैं। इस विविधता मे भी राष्ट्रीय एकता की भावना विकसित हुई है और एकता के निर्माण मे राजनीतिक व्यवस्था का मुख्य हाथ रहा है। **रजनी कोठारी** के अनुसार, "भारत जैसे विशाल देश मे जहां इतने विविध प्रकार के लोग रहते हैं, एकता की स्थापना इसी से हो सकती है कि सब तत्वो की राजनीतिक सत्ता व अधिकार मे भाग दिया जाय और सबको साथ लेकर चला जाय। इसके लिए जरूरी है कि समाज के सब वर्गों मे राज-नीतिक सस्था का प्रवेश हो। राजनीति की इस रचनात्मक भूमिका से ही प्रवृत्तियो को बल मिलता है।"

(18) **न्यायपालिका स्वरूप और भूमिका** (Judiciary Nature and Role)—न्याय-पालिका का निर्माण समाज के उच्च मध्य वर्ग के सदस्यो से हुआ है। वे बहुत कुछ एक छोटे सामाजिक समूह से ही आते हैं। न्यायमूर्ति वी० आर० कृष्ण अय्यर के शब्दो मे, "हमारी न्याय-

पालिका के कर्मियो का चुनाव कैसे किया जाता है ?" वकीलो से—जो अधिकतर मध्यवर्ग अथवा भूस्वामी वर्ग से आते हैं ।

भारत मे न्यायपालिका की मनोवृत्ति रूढिवादी है । वह यथास्थिति की समर्थक और परिवर्तन के विरुद्ध है चाहे वह परिवर्तन सहसा हो या शनै-शनै । न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने भारतीय न्यायपालिका के सामाजिक दृष्टिकोण का वर्णन यो किया है—"सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार पवित्र है, कराधान बुरा है, अहस्तक्षेप नीति स्वाभाविक एव आदर्श व्यवस्था है, भूमि सुधार, ऋण राहत उपाय, श्रम अधिकार पक्षो के स्थापित अधिकारो मे हस्तक्षेप है ।"

न्यायपालिका खुले रूप से समाजवाद की विरोधी रही है । मुख्य न्यायाधीश महाजन ने लिखा है, "आरम्भ मे यह आवश्यक है कि हम कम-से-कम तत्काल भूमि के समाजीकरण, जोतो की अधिकतम सीमा निर्धारित करने, आदि की सारी चर्चा को छोड दे ···भूमिहीनो और हरिजनो को भूमि देने से सतयुग नही आ सकता । याद रखे कि निजी उद्यम मे मुनाफे की भावना प्रेरक शक्ति होती है । उद्यमी किसानो और उद्योगपतियो को बडे आकार के फार्म दीजिए और यह सुनिश्चित कर दीजिए कि राजनीतिज्ञो को उत्पादन मे हस्तक्षेप नही करने दिया जायेगा तो देश भोजन के मामले मे स्वावलम्बी बन जायेगा ।

(19) **गुटबन्दी** (Factionalism)—गुटबन्दी भारतीय राज-व्यवस्था मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है । कांग्रेस दल को सदैव ही अपने सगठन के भीतर गुटबन्दी को सहन करना पडा है । प्रारम्भ मे समाजवादी गुट कांग्रेस मे प्रभावशाली था । बाद के वर्षों मे सिण्डीकेट और 'यग-टर्क' जैसे गुटो का निर्माण हुआ है । आज भी राज्यो मे सगठन पक्ष और सत्ता पक्ष के रूप मे गुटबन्दी चलती रहती है । कांग्रेस की इस गुटबन्दी का प्रभाव दूसरे दलो पर भी पडा है । जनसंघ दल मे भी गुटबन्दी के कारण कुछ ही समय पूर्व मधोक गुट को अलग होना पडा । साम्यवादी दल भी विभाजित है और डी० एम० के० जैसा दल भी विभाजित हो चुका है । आज भी भारतीय जनता पार्टी, जनता दल, अकाली दल, नेशनल कान्फ्रेन्स सभी मे गुटबन्दी जोर-शोर से चल रही है । इस प्रकार दलो मे गुटबन्दी और टूट-फूट चलती रहती है । विभिन्न घटको से बनी जनता पार्टी गुटबन्दी का अखाडा बन गयी थी और आज जनता दल भी भयकर गुटबन्दी का शिकार है ।

(20) **सत्ता के गैर-सवैधानिक सूत्र** (Extra-Constitutional Centres of Power)—हमारी राज-व्यवस्था मे सत्ता के सवैधानिक सूत्र है—ससद और मन्त्रिमण्डल । किन्तु कभी-कभी गैर-सवैधानिक सूत्र भी विकसित हो जाते है । आपात्काल मे ससद की स्थिति गौण हो गयी थी और वहाँ विपक्ष का अभाव था । नीति सम्बन्धी निर्णय भी मन्त्रिमण्डल नही लेता था; मन्त्रिमण्डल को तो मात्र निर्णयो की सूचना दी जाती थी । ऐसा कहा जाता है कि आपात्काल मे प्रधानमन्त्री सचिवालय ने नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । एक ऐसे व्यक्ति ने, जो जनता द्वारा निर्वाचित नही थे (सजय गाधी), शासन की नीतियो को हर स्तर पर प्रभावित किया । जनता पार्टी शासन काल मे जयप्रकाश नारायण का भी काफी प्रभाव था । प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री और अन्य मन्त्रीगण उनसे सलाह लेने बार-बार पटना की यात्रा करते थे । सत्ता के ऐसे गैर-सवैधानिक सूत्र व्यवस्था मे दरार उत्पन्न कर सकते है ।

निष्कर्ष—निष्कर्षत भारत मे नयी व्यवस्था का निर्माण हो रहा है । पुरातन व्यवस्था, जिसमे हर जाति या समूह के कार्य, अधिकार या मान-मर्यादा निश्चित थी, नष्ट हो गयी और उसके बजाय हजारो-लाखो समूहो व समुदायो को सरकार, चुनाव, राजनीतिक दल और शासन के अधिकारी वर्ग मे शामिल होने का मौका मिला है । गाँवो का एकाकीपन या राष्ट्रीय जीवन से अलगाव दूर कर दिया गया है और नयी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का निर्माण किया गया ।

संस्थाओं के विकास के हर चरण पर जनता को उसमें शामिल होने का और उससे लाभ उठाने का मौका दिया गया। भारतीय राज-व्यवस्था की जड़ें काफी गहरी है और इसका भविष्य राजनीतिक प्रशासनिक और बौद्धिक नेतावर्ग की रचनात्मक प्रतिभा पर निर्भर है।

भारतीय राज-व्यवस्था : निरन्तरता और परिवर्तन के दौर से (Indian Political System From Continuity to Change)

भारतीय राज-व्यवस्था का निर्माण एक दिन या किसी एक समय विशेष में नही हो गया। विगत 45 वर्षो का इतिहास व्यवस्था को आधुनिक रूप प्रदान करने के गम्भीर प्रयासो की कहानी है। आज भी व्यवस्था परिवर्तन का तीव्र दौर चल रहा है, क्योंकि हमारी व्यवस्था जड़ नही है। यहाँ हम संक्षेप मे राज-व्यवस्था की निरन्तरता और परिवर्तन के महत्वपूर्ण आयामो का अध्ययन करेंगे :

(1) **राज-व्यवस्था की रचना का युग**—सन् 1946 से 1950 तक का युग भारतीय राज-व्यवस्था का निर्माण युग कहा जा सकता है। इस कालावधि मे महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये, सविधान का निर्माण किया गया और विदेश नीति का मार्ग तय हुआ। इस समय अनेक बुनियादी समस्याओ पर विचार-विमर्श हुआ। देशी रियासतो का एकीकरण किया गया और भारत को राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनाये रखा गया। इसी काल मे देश के विभाजन का निर्णय लिया गया और धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हुआ।

(2) **राज-व्यवस्था की स्थिरता का युग**—सन् 1950 से 1964 का युग 'नेहरू युग' कहलाता है। नेहरूजी ने देश को गजब की राजनीतिक स्थिरता प्रदान की। 'नेहरू युग' मे ही हमारी राजनीतिक सस्थाओ ने जनता में प्रवेश किया। नेहरू ने कांग्रेस सगठन पर अपना एकाधिकार स्थापित किया और वे लगभग चार वर्षों तक सरकार और सगठन दोनो के प्रधान बने रहे। पहले आम चुनाव मे उनके नेतृत्व मे कांग्रेस को पूर्ण विजय मिली। घरेलू और विदेश-नीति के सारे महत्वपूर्ण निर्णय उन्ही के थे। नेहरू के जीवन के दो उद्देश्य थे—लोकतन्त्र और आर्थिक विकास; और उन्होने सारी शक्ति से देश को इन लक्ष्यो की ओर ले जाने का यत्न किया। योजना आयोग जैसी केन्द्रीय सस्था का निर्माण करके आर्थिक दृष्टि से देश को स्थायित्व और एकता प्राप्त हुई।

(3) **राज-व्यवस्था की परीक्षा का युग—उत्तराधिकार :** मई 1964 मे नेहरू की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी का चयन करना आसान नही था। नेहरू द्वारा प्रस्तावित व्यवस्था की परीक्षा का समय आ गया था। जिस सहजता से लालबहादुर शास्त्री और इन्दिरा गांधी का प्रधानमन्त्री पद पर चयन हुआ उससे यह सिद्ध हो गया कि हमारी राजनीतिक व्यवस्था की जड़ें काफी गहरी है और कठिन सकट मे भी वह बनी रह सकती है।

(4) **राज-व्यवस्था में संकट का युग—केन्द्र-राज्य तनाव :** चतुर्थ जन-निर्वाचन के पश्चात् सन् 1967 से 1971 का समय हमारी राज-व्यवस्था मे संकट का युग कहा जा सकता है। भारतीय राजनीति पर से कांग्रेस दल का एकाधिकार समाप्त हो गया। केन्द्र मे उसका बहुमत पहले से कम हो गया तथा भारत सघ के प्राय. आधे राज्यों मे विभिन्न कांग्रेस विरोधी दलो की मिली-जुली सरकारे बनी। जिन राज्यो में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ, उनमे भी पहले जैसी प्रभुता-सम्पन्न स्थिति नहीं रही। इसका स्वाभाविक फल यह हुआ कि भारत मे सत्ता का केन्द्र नई दिल्ली से हटकर राज्यो की राजधानियो मे पहुँच गया और अनेक स्थितियो में केन्द्र की राजनीति, राज्यो की राजनीतिक गतिविधियो से प्रभावित ही नही, निर्धारित तक होने लगी और राज्यो की राजनीति को बरबस ही एक नयी महत्ता प्राप्त हो गयी। प्रधानमन्त्री की परम्परागत स्थिति मे भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ और अब उनकी स्थिति 'सुपर मुख्यमन्त्री' की नहीं रही। निर्णय-प्रक्रिया मे राज्यो के मुख्यमन्त्रियो की भूमिका मुखरित होने लगी। कांग्रेसी केन्द्र और गैर-

कांग्रेसी राज्य सरकारों में सतत् तनाव का वातावरण बना रहा। केरल, पं० बंगाल और तमिलनाडु की गैर-कांग्रेसी सरकारों के उग्र व्यवहार ने केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को कटु बनाया। छोटे-छोटे प्रश्नों पर केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का संघर्षीय स्वरूप मुखरित हुआ जिससे व्यवस्था कमजोर और अस्थिर दृष्टिगोचर होने लगी।

(5) **राज-व्यवस्था का संक्रमणकालीन युग**—1971 तथा 1972 के निर्वाचन के पश्चात् स्थिर और शक्तिशाली सरकारों का निर्माण हुआ। कांग्रेस दल को चुनावों में प्रचण्ड बहुमत प्राप्त हुआ। जनता ने इस आधार पर कांग्रेस को स्वीकार किया कि वह गरीबी हटाने और समाजवादी समाज के निर्माण हेतु क्रान्तिकारी कार्यक्रमों को क्रियान्वित करेगी। परन्तु बंगला देश के शरणार्थियों पर हुए व्यय, सूखा और प्राकृतिक आपदाओं के अलावा सरकारी और गैर-सरकारी तन्त्र के स्खलन के फलस्वरूप आर्थिक स्थिति में भयानक गिरावट आयी जिससे प्रतिपक्षी दलों ने जनता में अराजकता और हिंसा की भावनाएँ उकसाना प्रारम्भ कर दिया। गुजरात में लगभग अराजकता कायम कर दी गयी और बिहार हिंसा तथा उत्पात की प्रयोगशाला में परिणत कर दिया गया। जैसे ही इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने तात्कालिक प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी को भ्रष्टाचार का दोषी पाकर उनके 1971 के रायबरेली के चुनाव को रद्द कर दिया तो प्रतिपक्षी दलों ने उनके त्याग-पत्र की माँग की। श्रीमती गांधी सत्ता छोडने के लिए तैयार नहीं थी। उन्होंने राष्ट्रपति से देश में आपात् स्थिति लागू करने की सिफारिश की। आपात्काल के दौरान सरकार ने लोकतन्त्र के नाम पर निरंकुश आचरण किया। समाचार-पत्रों पर सेंशरशिप लागू की गयी, मौलिक अधिकारों को स्थगित किया गया और सर्वत्र नौकरशाही का बोलबाला बढ़ने लगा। 42वें संविधान संशोधन द्वारा सरकार ने न्यायपालिका की शक्तियों को सीमित करते हुए कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि कर ली। ऐसे ही वातावरण में मार्च 1977 में छठी लोकसभा के चुनाव हुए और मतदाताओं ने कांग्रेस दल को अस्वीकार कर दिया।

(6) **राज-व्यवस्था पुनः स्थापना से दृढ़ीकरण की ओर**—मार्च 1977 के छठे लोकसभा चुनाव वस्तुतः क्रान्ति की अपेक्षा पुनः स्थापना का मामला प्रतीत होते हैं तथा जून 1977 के विधानसभा चुनाव इन ऐतिहासिक लोकसभा चुनावों से उद्भुत प्रवृत्तियों के दृढ़ीकरण के परिचायक हैं। ये दोनों सम्मिलित रूप से निरन्तरता में परिवर्तन का तथ्य प्रस्तुत करते हैं। छठे लोकसभा चुनावों ने दुर्दमनीय कांग्रेस व्यवस्था पर निर्णायक प्रहार किया जो कि अपने आन्तरिक अन्तर्विरोधों के भार तले वैसे ही विखण्डित हो रही थी। इन चुनावों ने देश को महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन के कगार पर छोडा जिसके अन्तर्गत आशाजनक रूप में एकदलीय प्रभुत्व व्यवस्था में प्रतियोगी वैकल्पिक दलीय व्यवस्था की ओर परिवर्तन का प्रावधान था।

(7) **राज-व्यवस्था : कांग्रेस व्यवस्था की वापिसी**—मार्च 1977 से जनवरी 1980 तक का समय एक मध्यवर्ती परिवर्तन माना जा सकता है। ऐसा लगने लगा कि केन्द्र और राज्यों में मिली-जुली सरकारें (Coalition Governments) कार्य कर रही हैं। जनता पार्टी की सरकारें मिली-जुली सरकारें साबित हुईं। छठी लोकसभा चुनाव एक अर्थ में चौथे आम चुनाव की स्थिति की ओर वापिसी सिद्ध हुए। जनता पार्टी के विभिन्न घटकों में जो प्रतिस्पर्द्धा विकसित हुई उसका परिणाम अराजकता और अस्थिरता के रूप में सामने आया। जनवरी 1980 के सातवें लोकसभा चुनावों में मतदाताओं ने विभिन्न घटकों की खिचडी सरकार की अपेक्षा एक दल वाली सुदृढ़ सरकार की धारणा को वरीयता दी।

(8) **राज-व्यवस्था : गठबन्धन और क्षेत्रीय दलों के अभ्युदय की राजनीति**—सन् 1980 के लोकसभा चुनावों के बाद कई राज्यों में राज्य विधानसभाओं के चुनाव हुए। 1982 में प० बंगाल, केरल, त्रिपुरा तथा हरियाणा विधानसभा के चुनाव हुए और किसी भी राज्य में कांग्रेस

को बहुमत प्राप्त नही हुआ । इसके बाद आन्ध्रप्रदेश तथा कर्नाटक विधानसभा के निर्वाचन हुए और कांग्रेस (इ) को पराजित होना पडा । आन्ध्रप्रदेश मे 'तेलगु देशम्' क्षेत्रीय दल का अभ्युदय हुआ और भारतीय राजनीति मे एन० टी० रामाराव जैसे क्षेत्रीय नेता की प्रभावशाली भूमिका का प्रवेश हुआ । सन् 1983 मे हिमाचल प्रदेश, दिल्ली और जम्मू-कश्मीर मे राज्य-स्तरीय निर्वाचन हुए । केवल दिल्ली मे कांग्रेस (इ) को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ । जम्मू-कश्मीर मे डॉ० फारुख अब्दुल्ला के व्यक्तित्व का करिश्माती तत्व उभरा ।

एन० टी० रामाराव, डॉ० फारुख अब्दुल्ला, रामकृष्ण हेगडे जैसे मुख्यमन्त्री केन्द्र-राज्य सम्बन्धो के पुनर्निर्धारण की माँग करने लगे । केन्द्र-राज्य सम्बन्धो पर विचार करने एव अपनी संस्तुति देने के लिए केन्द्रीय सरकार को 'सरकारिया आयोग' नियुक्त करना पडा ।

भारत के प्रतिपक्षी दलो मे विखराव की स्थिति गठबन्धनो मे परिवर्तित होने लगी । 4 सितम्बर, 1983 को विपक्षी दलो का एक मोर्चा गठित किया गया—जिसमे जनता पार्टी, कांग्रेस (स), लोकतान्त्रिक समाजवादी पार्टी और राष्ट्रीय कांग्रेस (गुजरात) सम्मिलित हुए । इसे 'सयुक्त मोर्चा' नाम दिया गया । इस गठित मोर्चे के लोकसभा मे 36 और राज्यसभा मे 27 सदस्य थे । इससे पहले लोकदल और भारतीय जनता पार्टी ने अपना 'गठबन्धन' किया था जिसे 'लोकतान्त्रिक गठबन्धन' का नाम दिया गया । भाजपा-लोकदल गठबन्धन के लोकसभा मे 41 और राज्यसभा मे 21 सदस्य थे । बाद में यह मोर्चा टूट गया ।

(9) **भारतीय राज-व्यवस्था : क्षमता (Capacity) का परिचय**—31 अक्टूबर, 1984 को श्रीमती गाधी की हत्या भारतीय राजनीति की अत्यन्त दुखद घटना है । उनकी हत्या से भारतीय राज-व्यवस्था को अस्थिर करने का प्रयत्न किया गया था । किन्तु जिस सहज ढग से कांग्रेस दल ने राजीव गाधी का प्रधानमन्त्री पद के लिए चयन किया, उससे सिद्ध हो गया कि भारतीय लोकतन्त्र न केवल परिपक्व है अपितु यहाँ लोकतन्त्र की जडें काफी गहरी है । भारतीय राज-व्यवस्था ने क्षमता (Capacity) का परिचय दिया ।

दिसम्बर 1984 मे आठवी लोकसभा के चुनावो मे प्रधानमन्त्री राजीव गांधी के नेतृत्व मे कांग्रेस 'इ' द्वारा लोकमत के आधे मतो (49·16%) तथा 508 सीटो मे तीन-चौथाई से भी अधिक सीटों (401 सीटे) पर जीतना लोकतन्त्र के इतिहास मे अभूतपूर्व सफलता थी । कांग्रेस 'इ' को यह विशाल बहुमत राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने के लिए और परोक्ष मे स्व० प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की नीतियो को बनाये रखने के लिए हासिल हुआ ।

(10) **राज-व्यवस्था : परिवर्तन के लिए वोट**—नवी लोकसभा के चुनाव परिणाम 'परिवर्तन के लिए मतदान' कहे जा सकते है । केन्द्र और राज्यो मे सत्तारूढ दल के परिवर्तन के लिए मतदान किया गया । वी० पी० सिंह के नेतृत्व मे केन्द्र मे अल्पमतीय सरकार का निर्माण किया गया है । इस सरकार से लोगो को अपेक्षा है कि वैकल्पिक नीतियो द्वारा परिवर्तन का सूत्रधार करे ।

निष्कर्ष : भारतीय राजनीति का माफियाकरण

मध्य प्रदेश राजनीति विज्ञान एसोसियेशन के विचार सम्मेलन मे भाषण करते हुए राजनीति-विज्ञान विद् डॉ० अमरेश अवस्थी ने अपने भाषण का आरम्भ डॉ० रजनी कोठारी और हिरण्यमय कारलेकर के उन उद्धरणो से किया जिसमे कहा गया है कि धीरे-धीरे हमारी राजनीतिक व्यवस्था उस अन्तिम स्थिति की ओर बढ़ी जा रही है, जहाँ न केवल हमारे प्रजातन्त्र का ही अन्त होगा अपितु भारतीय राज्य का अन्त भी सम्भव होगा । यह स्थितियाँ नही बदली, तो आगामी दस वर्षों में देश मे भयानक अराजकता फैल जायेगी और कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका क्लीव हो जायेंगी । कानून के शासन के स्थान पर बन्दूक का शासन स्थापित हो जायेगा ।[1]

[1] **धर्मयुग**, 11 अप्रैल, 1982, पृ० 12-13 ।

डॉ० अवस्थी ने पाँच मुद्दों की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित कराया—(1) संसदीय प्रजातन्त्र के स्थान पर लोग लुभावनवादी (Populist) जनतन्त्र की ओर प्रवृत्ति, (2) राजनीति मे बढती हुई हिंसा, (3) देश में धीरे-धीरे चल रही विघटन की प्रक्रिया; (4) नैतिक मूल्यो का तीव्र ह्रास, (5) राजनीति का अपराधीकरण।

हमारी वर्तमान राजनीतिक प्रणाली की सबसे चौंका देने वाली बात है, राजनीति का अपराधीकरण। राजनीति मे आज अपराध गिरोहो और माफिया का जोर साफ दिखायी देता है। हाल ही मे भारतीय लोकसभा से सम्बन्धित सभा भवन मे अधिकाश राजनीतिक दलो से सम्बन्धित नेताओ की एक महत्वपूर्ण सभा 'राजनीति के अपराधीकरण' विषय पर विचार करने के लिए 'सर्वेण्ट्स ऑफ पीपुल सोसायटी' द्वारा बुलायी गयी थी। इसमे कमलापति त्रिपाठी, अटलबिहारी वाजपेयी, वी० पी० सिह, ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद, रजनी कोठारी जैसे बड़े नेता शामिल थे। अटलबिहारी वाजपेयी का कथन था कि आज की राजनीति स्वय ही एक अपराध बन गयी है। मैं उस क्षण को ही अभिशाप मानता हूँ जिस क्षण मैंने राजनीति मे शामिल होने का तय किया था। कमलापति त्रिपाठी का कथन था कि अब देश की राजनीति का नया स्वरूप उभर रहा है। अब ऐसे राजनीतिक नेता उभर रहे है जो पहले गुण्डो के मुखिया थे, स्मगलर थे, ठेकेदार थे और अत्यधिक धनी थे। उन्होने बताया कि एक जिला परिषद् के अध्यक्ष के चुनाव मे 70 लाख रुपये खर्च हुए और एक गाँव की पचायत के पच के चुनाव मे 6 लाख रुपये खर्च हुए। ये अपराधी लोग शीघ्र ही संसद पर कब्जा कर लेंगे। वे आज के राजनीतिज्ञो को निकाल बाहर करेंगे और स्वय राजगद्दी सँभालेंगे। तब वी० पी० सिह, वाजपेयी, चन्द्रशेखर, जसवन्तसिंह, मधु दण्डवते और नम्बूदरीपाद जैसे राजनेता नही होगे।[2] देश । हिंसा-राजनीति पर क्षोभ प्रकट करते हुए डॉ० अवस्थी ने कहा कि देश के नवयुवकों मे यह विश्वास बढ़ता जा रहा है कि बिना हिंसक तरीकों से हम कुछ भी प्राप्त नही कर सकते। घेराव, लूटपाट, हड़तालें, आम दिनो की बातें हो गयी है। 'राजनीतिक अपराधीकरण' का एक परिणाम यह निकला है कि देश मे हिंसा को बेहद बढ़ावा मिला है। हिंसा के हथियारो का प्रयोग बहुत सामान्य हो गया है। गुण्डो को पैसा देकर जुटाया जाता है, अनेक प्रकार की सेनाएँ खडी की जाती है। राजनीतिक दलो द्वारा अवसर उम्मीदवारो के चयन मे गुण्डो तथा पैसे की ताकत को महत्व दिया जाता है। विगत 10-12 वर्षों की राजनीतिक स्थिति का जायजा लेते हुए डॉ० अवस्थी ने कहा कि देश मे 'जनता द्वारा शासन के स्थान पर' 'जनता के नाम पर शासन' की स्थापना होती जा रही है। मौलिक अधिकार के स्थान पर नीति निर्देशक तत्वो की याद दिलाना, निष्पक्ष नौकरशाही के स्थान पर 'प्रतिवद्ध नौकरशाही' तथा न्यायपालिका पर दबाव आदि बातें हो रही हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि हम 'पोप्यूलिस्ट डेमोक्रेसी' (Populist Democracy) की ओर तेजी से बढ रहे है और ससदीय प्रजातन्त्र से विमुख होते जा रहे है।

निष्कर्षत भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का भविष्य यथार्थ मे उसकी आर्थिक उन्नति और सामाजिक न्याय की व्यवस्थाओ पर ही निर्भर करता है। अत आर्थिक दृष्टि से नये कीर्तिमान स्थापित करने होगे, महँगाई रोकनी होगी और बेरोजगारी के लिए काम जुटाना होगा। लोकतन्त्र मूलत एक नैतिक व्यवस्था है, अत. नैतिक मानदण्डो और मर्यादाओ का आदर करना होगा। केन्द्र मे सुदृढ सरकार का निर्माण निश्चित ही एक शुभ लक्षण है। हमारी लोकतान्त्रिक व्यवस्था सक्रमणकालीन सकटो के कठिन दौर से गुजर रही है, जिनसे निराश और हताश होने का कोई कारण नही है।

---

2 राजस्थान पत्रिका, 19 अक्टूबर, 1989।

8

भारतीय संघ व्यवस्था : स्वरूप

[INDIAN FEDERAL SYSTEM : NATURE]

सविधान-निर्माताओ के सामने मुख्य प्रश्न था कि सविधान का स्वरूप एकात्मक हो या सघात्मक और इस प्रश्न पर मध्यम मार्ग अपनाया गया। भारतीय सविधान का वहिरग सघात्मक है, पर अन्तरग एकात्मक। सविधान मे भारत को 'राज्यो का सघ' (Union of State) कहा गया है और संविधान मे जहाँ कुछ सघवाद के मान्य लक्षण पाये जाते है, वहाँ एकात्मक राज्य के लक्षणो का प्रभुत्व भी जहाँ-तहाँ दिखता है। सविधान-निर्माताओ की मशा भारत मे सघात्मक व्यवस्था की स्थापना करना था लेकिन सविधान मे कही पर भी 'सघ' (Federation) शब्द का प्रयोग नही किया गया। वरन् 'सघ' के स्थान पर 'राज्यो का संघ' (Union of States) शब्द के प्रयोग का स्पष्टीकरण देते हुए प्रारूप समिति के अध्यक्ष **डॉ० अम्बेडकर** ने सविधान सभा मे कहा था, "प्रारूप समिति के द्वारा इस शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिए किया गया है कि यद्यपि भारत एक संघ राज्य है, लेकिन यह सघ राज्य किसी प्रकार से राज्यो के पारस्परिक समझौते का परिणाम न होने के कारण किसी भी राज्य को सघ से पृथक् होने का अधिकार नही है।"

भारतीय संघ का स्वरूप—विवादास्पद विषय (The Nature of Indian Federal System—A Matter of Controversy)

संविधानशास्त्रियो मे यह एक गम्भीर विवाद का विषय बन गया है कि भारतीय संविधान सघात्मक शासन स्थापित करता है अथवा एकात्मक शासन। **के० सी० व्हीयर** के अनुसार, "भारत मुख्यत: एकात्मक राज्य है जिसमे सघीय विशेषताएँ नाममात्र की है। भारत का सविधान सघीय कम है और एकात्मक अधिक है।"[1] **डी० एन० बनर्जी** का विचार है कि "भारतीय सविधान का ढाँचा सघीय है किन्तु उसका झुकाव एकात्मता की ओर है।"[2] **डी० डी० बसु** का विचार है कि "भारत का सविधान न तो पूर्णरूप से एकात्मक है और न ही पूर्ण रूप से सघात्मक, वल्कि दोनो का सम्मिश्रण है।" **जी० एन० जोशी** के अनुसार, "भारत संघ राज्य नही है अपितु अर्द्ध-सघ है और उसमे कतिपय एकात्मकता के भी लक्षण है।"[3] **प्रो० सूद** के अनुसार, "यद्यपि भारत एक संघ है तथापि उसका विधान कई दृष्टियो से सच्चे सघ के स्वरूप से भिन्नता रखता है।"[4]

---

1 "India is unitary state with subsidiary federal principles rather than a federal state with subsidiary unitary principles." —*K C. Wheare*

2 "The Indian Constitution is federal in form with a unitary bias" —*D N Banerji*

3 "The union is not strictly a federal polity but a quasi-federal polity with some vital and important elements of unitariness" —G N Joshi *The Constitution of India*, 1954, p 32

4 "It must be remembered that though India is a federation, her constitution departs form the idea of a true federation She is not a genuine federation but a quasi-federation" —*J P Suda*

प्रो० एलेक्जेण्ड्रोविच के अनुसार, "भारत एक सच्चा सघ है तथापि अन्य सघो की भाँति इसकी अपनी कुछ निराली विशेषताएँ है, भारत को अर्द्ध-सघात्मक कहना मिथ्या है।"[1] **नारमन डी० पामर** के अनुसार, "भारतीय गणतन्त्र एक सघ है तथा उसकी अपनी विशेषताएँ है जिन्होने सघीय स्वरूप को अपने ढग से ढाला है।"[2] **प्रो० पायली** का विचार है कि "भारत के संविधान का ढांचा संघात्मक है किन्तु उसकी आत्मा एकात्मक है।" **डॉ० सुभाष काश्यप** का विचार है कि "सविधान दोहरे शासनतन्त्र की स्थापना करता है। सरकारो की दो श्रेणियाँ है—सघ की सरकार और अवयवी राज्यो की सरकारे। सविधान ने सघ सरकार और राज्य सरकारो के बीच शक्तियो का वितरण किया है। ...सघवाद के इन बहिरग लक्षणो के बावजूद भारतीय सविधान का प्रधान स्वर एकात्मकता का है।"[3] **एच० वी० पाटस्कर** के अनुसार, "हमने सघ के ढांचे को बनाये रखा, उसकी अन्तर्वस्तु मे परिवर्तन कर दिया है।"[4] **डॉ० अम्बेडकर** का कहना था कि "यह एक संघीय संविधान है क्योंकि यह एक दुहरे शासनतन्त्र की स्थापना करता है, जिसमे केन्द्र मे सघीय सरकार तथा उसके चारो ओर परिधि मे राज्य सरकारें है जो सविधान द्वारा निर्धारित निश्चित क्षेत्रो मे सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करती हैं।"[5]

इस प्रकार भारतीय सविधान का स्वरूप संविधान विशेषज्ञो के मध्य विवाद का विषय बना हुआ है। सविधान अगीकृत हो जाने के बाद भी यह विवाद समाप्त नही हुआ। हमारे संविधान-निर्माताओ का ध्येय कोई मौलिक सविधान बनाना नही था अपितु वे तो एक 'कामचलाऊ' और 'व्यावहारिक' सविधान निर्मित करना चाहते थे। इसी कारण उन्होने प्रचलित सघीय संविधानो मे केवल ऐसे तत्वो को लिया है जिन्हे उन्होंने अपने लिए उपयोगी समझा। **डॉ० सुभाष काश्यप** लिखते है कि "प्रश्न जो प्राय उठाया जाता है वह है, केन्द्र और राज्यो के बिगडते हुए सम्बन्ध का, तेलगाना आदि राज्यो की माँग का तथा सघात्मक व्यवस्था के भविष्य का। यहाँ भी हम एक भारी भ्रान्ति के शिकार है और वह यह कि भारतीय सविधान सघात्मक है अथवा फेडरल। क्या हम ऐसी सवैधानिक व्यवस्था को 'फेडरल' कह सकते है जिस व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय ससद जब चाहे राज्यो के नाम, सीमाएँ, आकार, क्षेत्र, आदि बदल सकती हो, उनका विभाजन कर सकती हो, उनके क्षेत्र के टुकडे कर पडोसी राज्यो मे बाँट सकती हो और मानचित्र से किसी राज्य विशेष को पूर्णतया मिटा सकती हो, जब चाहे राज्यो की प्रतिनिधि सरकार को समाप्त कर सकती हो और किसी भी राज्य या राज्यो का शासन सीधे अपने हाथ मे ले सकती हो।"[6]

भारत मे सघवाद के अध्ययन के प्रति दृष्टिकोण (Approaches to the Study of Indian Federalism)

जिस प्रकार भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप के विषय मे वाद-विवाद बना हुआ है, उसी प्रकार अथवा उससे भी कही अधिक उसके सघीय स्वरूप के बारे मे विवाद है और यह विवाद

---

1 "India is a true federation—although like, all other federation, it has distinctive characteristics—and that it is misleading even to refer to India as a quasi-federation "
—C. H Alexandrowich Is India a Federation P, *The International Comparative Law Quarterly*, III (July 1954) p 402.

2 "The Republic of India is a federation, although it has many distinctive features which seem to modify essentially federal nature of the State "
—Norman D. Palmer *The Indian Political System*, p 94.

3 डॉ० सुभाष काश्यप · **सविधान की आत्मा**, पृ० 76-77।

4 एच० वी० पाटस्कर के० आर० बम्बवाल द्वारा **'दि गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया'** मे पृष्ठ 256 पर उद्धृत।

5 ग्रेनविल ऑस्टिन द्वारा उद्धृत . **दी इण्डियन कान्स्टीट्यूशन**, पृ० 188।

6 डॉ० सुभाष काश्यप **दल-बदल और राज्यो की राजनीति**, 1970, पृ० 409-410।

1950 से-जब से सविधान बना उस समय मे अब तक बराबर चला आ रहा है और इस विवाद का मुख्य बिन्दु यह है कि भारतीय व्यवस्था संघीय है अथवा नही। **के० सी० व्हीयर** को मोटे रूप से इस विवाद का जन्मदाता कहा जा सकता है क्योकि उन्होने इस विषय मे सन्देह व्यक्त किया है कि भारतीय सघ वास्तव मे सघीय है। इस सम्बन्ध मे जो दृष्टिकोण सामने आये है उन्हे मोटे रूप से दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है .

1. वैधानिक एवं सस्थागत विचारधारा (Legal and Structural Approach);
2. व्यावहारिक विचारधारा (Empirical Approach)।

जहाँ तक कानूनी ढाँचे से सम्बन्धित दृष्टिकोण का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि हमारा सविधान सघीय है, यद्यपि उसकी संघीयता की मात्रा के विषय मे मतभेद होना स्वाभाविक है। **के० सी० व्हीयर, एलेक्जेण्ड्रोविच** एव **डोन पाल एपलबी** इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाले प्रमुख विदेशी विद्वान है। **के० सी० व्हीयर** ने कहा है कि "भारतीय सघ अधिक-से-अधिक अर्द्ध-सघ है। उनकी यह विचारधारा हमारे सविधान के विधिगत अध्ययन पर आधारित है।" इसके विपरीत एलेक्जेण्ड्रोविच का कहना है कि अर्द्ध-संघ का विचार ही दोषपूर्ण है, या तो कोई राज-नीतिक व्यवस्था सघीय है, या है ही नही। **एलेक्जेण्ड्रोविच** की धारणा है कि भारतीय संघ कानूनी दृष्टि से पूर्ण संघ है क्योकि जो तत्व या लक्षण सघीय व्यवस्था मे पाये जाते है, वे सभी लक्षण भारतीय व्यवस्था मे स्पष्टता मे पाये जाते है। परन्तु वे यह भी मानते है कि भारत मे राज्यो की तुलना मे केन्द्र का पक्ष अधिक शक्तिशाली है। **एपलबी** ने संवैधानिक ढाँचे पर दृष्टिपात करते हुए कहा है कि भारत मे देखने मे तो केन्द्र अधिक शक्तिशाली दिखायी देता है परन्तु वास्तव मे राज्यो की शक्तियाँ भी कम नही है। उनकी मान्यता है कि यदि राज्य यह निश्चित कर ले कि उन्हे केन्द्र की नीतियो का कार्यान्वयन नही होने देना है तो केन्द्र को अपनी नीतियो को कार्यान्वित करने मे बड़ी कठिनाइयो का सामना करना पड़ सकता है।

वैधानिक और परम्परागत दृष्टिकोण की आलोचना अनेक आधारों पर की गयी है। प्रथम भारतीय संविधान द्वारा स्थापित सस्थाओ की औपचारिक विवेचना सविधान की गतिशीलता की उपेक्षा करती है। सविधान एक अस्थिपजर मात्र है जिसे दलीय राजनीति मे जीवन और रक्त प्राप्त होता है। द्वितीय वैधानिक दृष्टिकोण व्यवस्था के आन्तरिक कार्य की उपेक्षा करने के कारण सत्ताधिकारो के निर्दिष्ट विभाजन के अन्तर्गत होने वाले वास्तविक परिवर्तनो की विवेचना करने मे विफल रहता है। यह बिल्कुल सम्भव है कि परिवर्तनशील वास्तविकताओ की प्रक्रिया के साथ ही केन्द्र और राज्यो की अपनी-अपनी भूमिकाओ का महत्व भी बदल सकता है अत. यह आवश्यक है कि केन्द्र-राज्य सम्बन्धो की गतिशीलता का अध्ययन किया जाये। उदाहरण के तौर पर हक्की एवं शर्मा लिखते है कि "ससद और सर्वोच्च न्यायालय के मुकाबले एक अत्यधिक शक्तिशाली संस्था के रूप मे केन्द्रीय कार्यपालिका के उदय के फलस्वरूप संघ के सहकारी स्वरूप के चारित्रिक सिद्धान्त सकटग्रस्त होते जा रहे है।"

तृतीय, परम्परागत वैधानिक दृष्टिकोण विवेचना के दोहरे स्तर पर भी जोर देता है और झारखण्ड या उत्तराखण्ड राज्य की माँगो जैसी उपराष्ट्रीय-उपक्षेत्रीय पहचानो की समस्या को नजर-अन्दाज कर देता है। इतना ही नही, परम्परागत दृष्टिकोण, कल्याणवाद, आर्थिक संवृद्धि और समतावाद के परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत सविधान द्वारा निर्देशित विकास सम्बन्धी रणनीति के सन्दर्भ मे भारतीय राजतन्त्र की समस्याओ की अवहेलना करता है।

राजनीति विज्ञान की तरह ही संघवाद के अध्ययन के क्षेत्र मे व्यवहारवादी दृष्टिकोण ने जल्द ही परम्परागत वैधानिक दृष्टिकोण का स्थान ले लिया। रिक्कर ने परम्परागत दृष्टिकोण

की आलोचना इसे 'अत्यधिक विधिवादिता' बताकर की और सुझाव दिया कि संघवाद को 'किसी सविधानिक बात की बजाय सघटनाओं की शृखला' के रूप मे समझा जाना चाहिए। व्यवहारवादियो का केन्द्र-विन्दु, केन्द्र और राज्यो के बीच सत्ता सम्बन्धो का अध्ययन हो गया। व्यवहारवादी सघ का अध्ययन उसके व्यावहारिक पहलू को ध्यान मे रखकर करते है। इस प्रकार का अध्ययन राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और प्रक्रियात्मक निर्धारको के प्रकाश मे होता है। इस प्रकार केन्द्र-राज्य सम्बन्धो का अध्ययन एक गतिशील प्रक्रिया के रूप मे सत्ताधिकारो के विभाजन और क्षेत्रीय एव उपक्षेत्रीय तनावो के द्वारा उत्पन्न असन्तुलन के कारणो, परिणामो और उसको सन्तुलन की अवस्था मे लाने के उपायो के चौखटे मे होता है।

मॉरिस जोन्स, मारकुस फ्राण्डा तथा अशोक चन्दा ने भारतीय सघ व्यवस्था का व्यावहारिक अध्ययन विशेषकर नियोजन के परिप्रेक्ष्य मे किया है। लेखको की यह धारणा है कि नियोजन के फलस्वरूप भारत मे न केवल सघीय व्यवस्था का ही अन्त हो गया है अपितु ससदीय प्रणाली भी लुप्त-सी लगती है। मॉरिस जोन्स ने लिखा है कि भारत मे केवल सहयोगी सघवाद है, और इस सहयोगी सघवाद मे मे एक सौदेबाजी की ध्वनि भी निकलती है। मारकुस फ्राण्डा के अनुसार भारत मे सघीय व्यवस्था का कोई एक स्वरूप नही है, वरन् उसके विभिन्न स्वरूप है। विभिन्न राज्यो के सन्दर्भ मे सघीय व्यवस्था ने एक गतिशील स्वरूप धारण किया है।

सघात्मक दृष्टिकोण (Federal Approach)

हमारे सविधान-निर्माताओ का लक्ष्य एक विशिष्ट सघीय व्यवस्था की स्थापना करना था। भारत मे संघ का गठन उस लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रियाओ की परिणति है जिसका आरम्भ अग्रेजी शासनकाल मे हुआ था। मॉर्ले-मिण्टो सुधार, मॉण्टफोर्ड सुधार, साइमन कमीशन रिपोर्ट, नेहरू रिपोर्ट तथा 1935 का ऐक्ट सघीय प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण थे।

डॉ० अम्बेडकर ने सविधान-निर्मात्री सभा मे संविधान के स्वरूप को सघात्मक बताते हुए कहा, "यह एक सघीय संविधान है··· केन्द्र तथा राज्य दोनो का गठन सविधान द्वारा हुआ है और दोनो की शक्ति एव प्राधिकार का स्रोत सविधान है। अपने क्षेत्राधिकार मे कोई किसी के अधीन नही है। एक का प्राधिकार दूसरे का पूरक है।"[1] सविधान मे अत्यधिक केन्द्रीयकरण का उत्तर देते हुए उन्होने कहा, "एक गम्भीर शिकायत इस आधार पर की जाती है कि अत्यधिक केन्द्रीयकरण के कारण राज्य सिकुडकर नगरपालिकाओ के समान हो गये है। यह स्पष्ट है कि इस दृष्टिकोण मे केवल अतिशयोक्ति है· ·संघात्मक व्यवस्था का मूल उद्देश्य यह है कि केन्द्र तथा राज्यो के बीच व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका विधायिका प्राधिकारो का विभाजन हो, जो किसी संसद द्वारा पारित विधि का प्रतिफल न होकर सविधान द्वारा उल्लिखित प्रावधानो का परिणाम हो। यह सविधान इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है।"

"यह समझना कठिन है कि ऐसे सविधान को केन्द्रीय कैसे कहा जा सकता है। यह हो सकता है कि सविधान ने केन्द्र को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के क्षेत्र मे अधिक व्यापक क्षेत्राधिार सौपे हो, जिन्हे अन्य सघात्मक सविधानो मे प्रदान न किया गया····परन्तु ये गुण सघवाद के प्रमुख तत्वो का निरूपण नही करते है।

सघवाद का मुख्य गुण सविधान द्वारा केन्द्र और राज्यो के बीच व्यवस्थापिका और

---

1 "Both the union and the states are created by the constitution, both derive their respective authority from the constitution. The one is not subordinate to the other in its own field, the authority of one is co-ordinate with that of the other." —*Dr. Ambedkar*

कार्यपालिका की शक्तियो के वितरण मे निहित होता है । हमारे संविधान मे इसी गुण का निरूपण किया गया है । अत यह कहना असत्य है कि राज्यो को केन्द्र के अधीन रखा गया है ।"[1]

संविधान-निर्माताओ का दृष्टिकोण संघात्मक ढाँचे की स्थापना अवश्य रहा है किन्तु फिर भी संविधान मे एकात्मकता का गुंजन अवश्य सुनायी देता है । यद्यपि **डॉ० एस० पी० अय्यर** का यह मत है कि "भारत मे अधिकाश संघीय केन्द्रीयकरण संवैधानिक विधि के ढाँचे के बाहर हुआ है ।"[2] किन्तु यह भी स्वीकार करना पडेगा कि संविधान मे भी एकात्मकता के प्रबल तत्व उपस्थित है ।

भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षण · संविधान का स्वरूप संघात्मक है (Federal Features of the Indian Constitution . The Constitution is Federal in Form)

संघवाद वह तन्त्र है जिसके द्वारा राज्य की सारी शक्तियो का विभाजन दो प्रकार की सरकारो के मध्य हो जाता है । ये दो प्रकार की सरकारें—केन्द्रीय और राज्यो की सरकारो के रूप मे होती हैं । सघीय सरकार की परिभाषा करते हुए फाइनर ने कहा है कि यह एक शासन है जिसमे सत्ता और शक्ति का एक भाग स्थानीय क्षेत्रो मे निहित होता है और दूसरा भाग केन्द्रीय संस्था मे । डायसी के अनुसार, "संघीय राज्य एक ऐसी राजनीतिक रचना है जिसमे राष्ट्रीय एकता और शक्ति तथा प्रदेशो के अधिकारो की रक्षा करते हुए दोनो मे सामंजस्य स्थापित किया जाता है ।"[3] गार्नर के कथनानुसार, "ऐसी शासन-प्रणालियो के केन्द्रीय और स्थानीय संगठन एक प्रभुसत्ता के अन्तर्गत स्थिर होते हे और ये दोनो प्रकार अपने निश्चित अधिकार-क्षेत्र की सीमाओ मे, जो सामान्य संविधान द्वारा निर्धारित की गयी है, सर्वोपरि होती है ।"

वस्तुतः संघवाद का सिद्धान्त सीमित सरकार के सिद्धान्त से सम्बन्धित है । संघवाद राष्ट्रीय सार्वभौमिकता और राज्यो के अधिकारो की पृथक् माँगो मे जिस साधन द्वारा समन्वय और एकता स्थापित करता है—वह है लिखित संविधान, जिसके द्वारा सार्वभौमिकता सम्बन्धी शक्तियो का विभाजन केन्द्रीय एवं राज्यों की सरकारो के मध्य किया जाता है । फिर संघवाद का मूल कारण शक्ति के विभाजन का सिद्धान्त है । **के० सी० व्हीयर** के अनुसार, "संघीय सिद्धान्त से मेरा तात्पर्य शक्ति के विभाजन के तरीके से है जिससे सामान्य (संघीय) एवं क्षेत्राधिकारी (राज्यो) सरकारे अपने क्षेत्र मे समान एवं पृथक् होती है ।"

यद्यपि भारतीय संविधान मे 'संघ' शब्द का प्रयोग नही किया गया है, लेकिन उपर्युक्त परिभाषाओ के सन्दर्भ मे यह एक सघ राज्य है । भारतीय संविधान मे संघात्मक व्यवस्था के सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान हे :

(1) **संविधान की सर्वोच्चता**—लिखित सविधान संघवाद की प्रथम शर्त है । डायसी के अनुसार, "एक संघीय राज्य अपना अस्तित्व उस लेख-पत्र से प्राप्त करता है जिसके द्वारा उसकी स्थापना हुई है । सघीय राज्य मे लिखित संविधान सर्वोच्च कानून होता है । संविधान के लिखित स्वरूप से संघीय मामलो मे मतभेद होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है । साधारण कानूनो की तुलना मे लिखित संविधान स्थायी होते हे । संविधान के द्वारा सरकारो के संगठन और कार्यो

---

1 "Tre chief mark of federalism lies in the partition of the legislative and executive authority between the centre and units by the constitution. This is the principle embodied in our constitution It is, therefore, wrong to say that states have been placed under the centre."
—*Dr. Ambedkar*

2 एस० पी० अय्यर 'एक अधिक पूर्ण संघ के विषय मे विचार', शकधर · **संविधान और संसद्**, 1976, पृ० 22 ।

3 डायसी, ए० वी० · **ला ऑफ दि कान्स्टीट्यूशन**, 1938, पृ० 138 ।

का कानूनी और सवैधानिक आधार तथा सघ और राज्यो के सम्बन्ध और क्षेत्राधिकार निर्धारित किये जाते है। अमरीकी सविधान की भाँति यद्यपि भारतीय सविधान मे यह घोषित नही किया गया है कि सविधान सर्वोच्च होगा, लेकिन फिर भी भारतीय सविधान उस देश का लिखित सर्वोच्च कानून है। इसके उपबन्ध सभी सरकारो पर बाध्यकारी है और किसी भी सरकार द्वारा सविधान का उल्लघन नही किया जा सकता। भारत मे कोई भी शक्ति संविधान के ऊपर नही है।

(2) **शक्तियो का विभाजन**—अन्य सघो की भाँति भारतीय संविधान द्वारा भी सघ और राज्यो के बीच शक्ति का विभाजन किया गया है। सविधान के इस अंश का निर्माण कनाडा के सघ की प्रेरणा पर आधारित है। परन्तु एक समवर्ती सूची और जोड दी गयी, जो आस्ट्रेलिया के सविधान की देन है। शक्ति-विभाजन तीन सूचियों के आधार पर किया गया है :

(i) **सघ सूची**—सघ सूची मे 97 विषय है, यह सूची तीनों सूचियो मे विशाल है। इसके प्रमुख विषय इस प्रकार है—प्रतिरक्षा, सशस्त्र सेनाएँ अणुशक्ति, विदेशी कार्य, राजनयिक प्रतिनिधित्व, युद्ध एवं शान्ति, डाक, तार, बेतार, दूरभाष, सचार, सिक्का, टंकण, विदेशी विनिमय, विदेशी ऋण, भारत का रक्षित बैंक, सीमाकर इत्यादि-इत्यादि विषय जो संघ के लिए समान हित के थे तथा सम्पूर्ण देश को एकसूत्रता प्रदान करने के लिए आवश्यक हैं। इस सूची मे वर्णित विषयों पर केवल ससद को ही विधि निर्माण का अधिकार है।

(ii) **राज्य सूची**—मूल सविधान के अन्तर्गत राज्य सूची मे कुल 66 विषय रखे गये थे, लेकिन 42वें सवैधानिक सशोधन (1976) द्वारा राज्य सूची के चार विषय (शिक्षा, वन जगली जानवरो और पक्षियो की रक्षा तथा नाप-तौल) राज्य सूची से हटाकर समवर्ती सूची मे कर दिये गये। इसमे कुछ प्रमुख विषय हैं . पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य कृषि, सिचाई और सड़कें, आदि। राज्य सूची मे शामिल विषयो के सम्बन्ध मे कानून बनाने का अधिकार केवल विधानमण्डल को ही होता है।

(iii) **समवर्ती सूची**—इस सूची मे वे विषय रखे गये है, जिनका महत्व क्षेत्रीय और .. दोनो ही दृष्टियो से है। मूल सविधान के अनुसार इस सूची मे 47 विषय थे, लेकिन 42वें सवैधानिक सशोधन द्वारा राज्य सूची के चार विषय समवर्ती सूची मे कर दिये गये और .. नवीन विषय 'जनसख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन' समवर्ती सूची मे जोडा गया। इसमे कुछ प्रमुख विषय है फौजदारी विधि और प्रक्रिया, निवारक निरोध, विवाह और विवाह विच्छेद, कारखाने, श्रमिक सघ, औद्योगिक विवाद, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, शिक्षा, जनसख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन आदि।

समवर्ती सूची के ये विषय केन्द्र तथा राज्य दोनो के ही क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत रखे गये है। इन विषयो पर यदि केन्द्रीय सरकार ने कोई व्यवस्थापन नही किया है तो राज्य के विधानमण्डल कानून बना सकते हैं, किन्तु यदि संसद कभी भी कानून बना दे तो वह राज्य द्वारा पारित विधि को शून्य करने मे सक्षम होगी। परन्तु अनुच्छेद 254 के अन्तर्गत इसका एक अपवाद है कि यदि समवर्ती सूची पर राज्य के व्यवस्थापन को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो चुकी है, तो यह विधि ससद की विधि के बावजूद भी लागू हो सकेगी।

कनाडा की भाँति भारत मे भी अवशिष्टाधिकार (Residuary Powers) केन्द्र को ही प्रदान किये गये है। अनुच्छेद 249 के अनुसार, राज्यसभा के प्रस्ताव से संसद राज्य सूची के .. भी विषय पर कानून बना सकती है। अनुच्छेद 250 के अनुसार, संकटकाल मे भी ससद .. सूची के विषयो पर कानून बना सकती है। इसी प्रकार अनुच्छेद 252 के अनुसार दो या दो से अधिक राज्यो के निवेदन पर ससद राज्य सूची के विषयो पर व्यवस्थापन कर सकती है।

(3) **स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय**—भारतीय सविधान के संरक्षक के रूप मे कार्य करने के लिए एक स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय की भी व्यवस्था की गयी है। सविधान के द्वारा एक सर्वोच्च न्यायालय और राज्यो मे उच्च न्यायालयो की भी व्यवस्था की गयी है जिन्हे उन कानूनो को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार है, जो सविधान के विरुद्ध है। **प्रो० के० वी० राव** के शब्दो मे, "इस दृष्टि से हमारा सविधान सोवियत सघ या स्विट्जरलैण्ड के सविधान से अधिक संघात्मक है।"

(4) **उच्च सदन का राज्य सदन होना**—भारतीय ससद का उच्च सदन अर्थात् राज्य सभा राज्यो का सदन है। यह राज्यो का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि यह सच है कि यह प्रतिनिधित्व समानता के आधार पर न होकर, जनसख्या के आधार पर है।

(5) **सशोधन प्रणाली**—भारतीय सविधान मे सशोधन प्रणाली पूर्णतया सघीय प्रक्रिया के अनुरूप है। कतिपय सशोधन विधेयको की राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए प्रस्तुत करने से पूर्व कम-से-कम आधे राज्यो के विधानमण्डलो के सकल्प द्वारा स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। यदि आधे राज्यो के विधानमण्डलो की स्वीकृति प्राप्त न हो तो सविधान के अनेक महत्वपूर्ण अशों मे सशोधन नही किया जा सकता।

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय सविधान एक पूर्ण सघात्मक प्रणाली की स्थापना करता है। **पायली** ने लिखा है कि "भारतीय सविधान के सघीय न होने पर विवाद उठाने का कोई कारण दृष्टिगत नही होता। सविधान सघवाद की कसौटी पर खरा उतरता है।"

भारतीय संविधान के एकात्मक लक्षण : संविधान द्वारा शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना (UNITARY FEATURES OF THE INDIAN CONSTITUTION THE CONSTITUTION CREATES A STRONG CENTRAL GOVERNMENT)

संविधान के अनेक सदस्यो का यह मत था कि सविधान मे सघात्मक सिद्धान्त की 'नृशसा-पूर्ण हत्या' की गयी है। **श्री पी० टी० चाको** का मत था कि "जो संविधान, सविधान सभा ने निर्मित किया है वह शरीर से सघात्मक है किन्तु आत्मा से एकात्मक है··· सभी शक्तियाँ ससद को प्रदान कर दी गयी है और व्यवहारत राज्य-विधानमण्डल को कोई शक्तियाँ प्रदान ही नही की गयी है।"[1] **पी० एस० देशमुख** का मत था कि "जो सविधान वना है वह संघात्मक की अपेक्षा एकात्मक अधिक है।"[2] **श्री बी० एम० गुप्ता** का मत था कि "नये सविधान के अन्तर्गत भारत सघात्मक राज्य न होकर विकेन्द्रीयकृत एकात्मक राज्य होगा।" **प्रो० एस० पी० अय्यर** का तो स्पष्ट मत है कि "भारतीय सविधान को, जो कि दक्षिण अफ्रीका के समान है, यदि आवश्यक हुआ तो एकात्मक सविधान कहा जा सकता है किन्तु इसे किसी भी हालत मे अर्द्ध-सघ राज्य नहीं कहना चाहिए।" यदि भारतीय सविधान और राजनीति व्यवस्था का विश्लेपण किया जाये तो दो प्रकार के एकात्मक तत्व दृष्टिगोचर होते हैं.

(1) भारतीय सविधान के अन्तरग मे उपस्थित एकात्मक तत्व।

(2) भारतीय सविधान के वहिरग मे उपस्थित एकात्मक तत्व।

भारतीय सविधान के अन्तरग मे उपस्थित एकात्मक तत्व (Unitary Features present inside the Constitution)—भारतीय सविधान-निर्माता भारतीय इतिहास के इस तथ्य से परिचित थे कि भारत मे जव-जव केन्द्रीय सत्ता दुर्बल हो गयी तव-तव भारत की एकता

---
1 **सविधान सभा वाद-विवाद**, खण्ड XI, पृ० 745।

2 **वही**, पृ० 778।

भंग हो गयी और उसे पराधीन होना पडा। संविधान-निर्माता भारत मे इतिहास की नही चाहते थे। अत संविधान-निर्माताओ ने केन्द्रीय सत्ता को अधिक शक्तिशाली व न्यायिक व्याख्या द्वारा सर्वोच्च न्यायालय पर छोडने की अपेक्षा स्वय ही कर लेना उच **वेञ्जामीन स्कूरफील्ड** ने लिखा है कि "भारतीय संघ जिस समस्या से ग्रसित है, वह और राजनीतिक समस्याएँ तथा प्रादेशिकता की संकीर्ण भावनाएँ जिनके समाधान के सरकार के पास समुचित शक्तियाँ होना अपरिहार्य है।" भारतीय संविधान मे एक निम्नलिखित है

(1) **इकहरी नागरिकता**—प्राय संघात्मक संविधानों मे दोहरी नागरिकता अमरीका मे ऐसा ही है। किन्तु भारत मे नागरिकता का सम्बन्ध संघ से है और राज्यो कोई नागरिकता नही है। प्रत्येक भारतीय को सम्पूर्ण भारतीय क्षेत्र मे समान व है। यद्यपि यह संघात्मक सिद्धान्त के प्रतिकूल है किन्तु भारत की एकता को वना दृष्टि से इसे आवश्यक समझा गया। **प्रो० के० वी०** राव का कहना है कि "संघ राज्य वडी कसौटी यह है कि एकक के रूप मे राज्य के अपने नागरिक है या नही जिन पर से राज्य के कानून लागू होते है।... इस दृष्टि से हमारे राज्य इंगलैण्ड के स्व पत्तम से अच्छी हालत मे नही हे। हमारे यहाँ केवल एकल नागरिकता है। इस दृष्टि इकाइयो का दर्जा अमरीका की इकाइयो के स्तर से नीचा है।"[1]

(2) **शक्तियो का बँटवारा केन्द्र के पक्ष मे**—हमारे संविधान मे शक्तियो का वँ प्रकार किया गया है कि केन्द्र को राज्यो की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ दी गयी है। ... संविधान द्वारा महत्वपूर्ण विषय संघ सूची मे रखे गये हैं। संघ सूची मे 97 विषय और इस पर केवल संसद ही कानून वना सकती है। समवर्ती सूची मे 47 विषय हैं केन्द्रीय संसद तथा राज्यो के विधानमण्डल दोनो ही कानून वना सकते है। परन्तु य वनाये हुए कानूनो मे कोई विरोध उत्पन्न हो जाये तो केन्द्रीय कानून मान्य होता है द्वारा निर्मित कानून निरस्त माना जाता है। जहाँ तक राज्य सूची का सम्बन्ध हे इस विधानमण्डल कानून वना सकता है परन्तु कुछ विशेप परिस्थितियो मे संसद इस पर वना सकती है। अवशिष्ट शक्तियाँ भी केन्द्र को प्राप्त है, न कि राज्यो को। स वधा अनेक सदस्यो ने यह मत व्यक्त किया कि डॉ० अम्वेडकर ने सव कुछ केन्द्र को प्रदान कर संविधान-निर्माताओ ने देश की सामयिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों को देखते ह शाली केन्द्रीय सरकार की अनिवार्यता अनुभव की। **के० एम० मुंशी** ने स्पष्ट कहा था यह है कि भारत के महान् दिन वे थे जवकि देश मे शक्तिशाली केन्द्रीय शक्ति थी और दिन वे थे जवकि केन्द्र को प्रान्तो की शक्ति द्वारा कमजोर किया जा रहा था और इस हो रही थी।" संविधान-निर्माता यह जानते थे कि आज विश्व मे केन्द्रीकृत सरकारो की पवृत्ति है और भारत मे भी संघ को शक्तिशाली वनने से रोकना अनुचित होगा। **डॉ०** ने स्पष्ट कहा था कि "मै सन् 1935 के अधिनियम द्वारा स्थापित केन्द्र से भी अधिक केन्द्र की स्थापना के पक्ष मे हूँ।"

इस प्रकार भारतीय संविधान ने एक अत्यन्त शक्तिशाली केन्द्र का निर्माण किया **काश्यप** के अनुसार, "सघ सूची मे 97 विषय है और वह तीनो सूचियों मे सबसे लम्बी वर्ती सूची मे 47 विषय हे जिन पर केन्द्रीय सरकार जब चाहे तव कानून वना सकती . अतिरिक्त अवशिष्ट शक्तियाँ भी केन्द्रीय सरकार मे ही निहित है।"

---

[1] **वही**, पृ० 844।

(3) **संघ और राज्यों के लिए एक ही सविधान**—प्राय: संघ प्रणाली मे राज्यो के संविधान संघ से पृथक् होते हैं लेकिन भारत मे भारत के संविधान के अन्तर्गत संघ के सविधान के साथ-साथ राज्यो के सविधान भी सम्मिलित है, भारतीय मंघ की इकाइयो को अमरीका के राज्यो तथा स्विस कैण्टनो की भाँति पृथक् सविधानो के निर्माण का अधिकार नही है।

(4) **केन्द्रीय सरकार राज्यो की सीमाओ के परिवर्तन में समर्थ**—अमरीकी या आस्ट्रेलिया के संघ मे इकाई राज्यो की सीमा मे उनकी सहमति के विना परिवर्तन नही किया जा सकता किन्तु हमारे सविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसार ससद को यह अधिकार है कि वह (क) किसी राज्य से उसका कोई प्रदेश पृथक् करके या दो या अधिक राज्यो को मिलाकर कोई नया राज्य वना दे, (ख) किसी राज्य के क्षेत्र मे कमी या वृद्धि कर दे, (ग) राज्य की मीमाओ तथा उनके नाम वदल दे। इनके लिए यद्यपि राष्ट्रपति सम्वन्धित राज्य के विचार मालूम करते है, लेकिन इन विचारो को स्वीकार करना या न करना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर है।

(5) **एकीकृत न्याय-व्यवस्था**—सघ प्रणाली मे संघ और राज्यो के कानूनो को लागू करने के लिए दोहरी न्याय-व्यवस्था आवश्यक है। भारतीय सघ मे अमरीका की तरह दोहरी न्याय-व्यवस्था का प्रवन्ध करने के स्थान पर न्याय-व्यवस्था को एकीकृत कर दिया गया है। सर्वोच्च न्यायालय के वाद न्यायालयो का गठन एक पिरामिड के रूप मे होता है। राज्यो के न्यायालयो के वाद न्यायालयो का निर्माण और गठन सघीय सत्ता के द्वारा ही किया जाता है।

(6) **सकटकाल मे एकात्मक शासन**—हमारे सविधान मे राष्ट्रपति को अनुच्छेद 352, 356 एव 360 द्वारा सकटकाल की घोपणाएँ करने का अधिकार है। अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत राष्ट्रीय आपातकाल के समय समद को राज्य सूची मे वर्णित सभी विषयो के ऊपर कानून वनाने और राज्यो पर सभी प्रकार के प्रशासकीय नियन्त्रण प्राप्त हो जाते है। अनुच्छेद 360 के अनुसार, राष्ट्रपति वित्तीय संकट की घोपणा कर सकता है और इसके अन्तर्गत सभी राज्यो पर वित्तीय नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। वित्तीय सकट के समय राष्ट्रपति राज्यो के धन विधेयको को भी अपनी मजूरी के लिए मँगवा सकता है। राज्य मे वैधानिक सकट के समय गज्यपाल केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट के रूप मे राज्य का शासन चलाता है और उस समय संसद उस राज्य के लिए कानून वनाने का अधिकार रखती है। इस प्रकार सकटकाल मे राज्य स्वायत्तता प्राप्त इकाइयाँ न रहकर एकात्मक राज्य के अंग हो जाते है। पायली के अनुसार, "सकटकाल की घोपणा से सविधान का सघात्मक स्वरूप समाप्त हो जाता है और केन्द्रीय शामन सर्वोपरि हो जाता है।" सविधान मे उल्लिखित सकटकालीन प्रावधानो के सम्वन्ध मे **हृदयनाथ कुंजरू** ने स्पष्ट कहा था कि "इन अनुच्छेदो से यह सम्भावना है कि राज्यो के साथ ऐसा व्यवहार किया जाये जैसे वे वच्चे हो और राष्ट्रपति ग्रामीण पाठशाला का एक शिक्षक।"[1]

(7) **महत्वपूर्ण विषयो की एकीकृत व्यवस्था**—अधिकाश सघ राज्यो मे दोहरा कानून, दोहरी न्याय-व्यवस्था, दोहरी उच्च नागरिक सेवाएँ, दोहरा लेखा-परीक्षण, इत्यादि व्यवस्थाएँ होती है। किन्तु भारतीय सविधान द्वारा उन समस्त महत्वपूर्ण विषयो के सम्वन्ध मे, जो राष्ट्र की एकता वनाये रखने के लिए आवश्यक है, एकरूपता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। अखिल भारतीय प्रशासन तथा पुलिस सेवाओ की व्यवस्था की गयी है और इन सेवाओ के सदस्य राज्यो के मुख्य प्रशासनिक पदो पर नियुक्त किये जाते है। राज्यसभा के दो-तिहाई वहुमत से पारित सकल्प के द्वारा अन्य अखिल भारतीय सेवाएँ भी स्थापित की जा सकती है। भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के अधीन भारत की लेखा परीक्षा तथा लेखा सेवा का आयोजन है जो एक

---

[1] **सविधान वाद-विवाद,** खण्ड III, 23, पृ० 927।

केन्द्रीय सेवा है किन्तु यह सघ के साथ-साथ राज्यो के व्यय का लेखा तथा लेखा-परीक्षा कार्य को भी सम्पन्न करती है। निर्वाचन आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और आयोग ससद के साथ-साथ राज्य विधानमण्डलो के निर्वाचनो को भी सम्पन्न करता है। दीवानी तथा दण्ड सम्बन्धी कानून सहितावद्ध है और पूरे देश पर लागू होते है। उनकी एकरूपता कायम रखने के लिए उन्हे समवर्ती सूची मे रखा गया है।

(8) **राज्यो के राज्यपालो की नियुक्ति**—भारतीय सघ के इकाई राज्यो के राज्यपालो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर रहते है। राज्यपाल केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करते है। राज्यपाल द्वारा इस तरह से केन्द्रीय सरकार का राज्यो पर प्रत्येक स्थिति मे पूर्ण नियन्त्रण रहता है। राज्यपाल को नियुक्त किये जाने की यह विधि सघात्मक सिद्धान्तो के प्रतिकूल है। वह केन्द्र और राज्य के प्रति भक्ति मे पारस्परिक विरोध की स्थिति मे केन्द्र को ही प्रसन्न रखना चाहेगा, चाहे इससे राज्य के हितो का वलिदान ही क्यो न करना पडे।

(9) **आर्थिक दृष्टि से राज्यो की दुर्बल स्थिति**—सविधान द्वारा वित्तीय दृष्टि से राज्य केन्द्रीय सरकार पर निर्भर वना दिये गये है। केन्द्र द्वारा राज्यो को विभिन्न प्रकार के अनुदान आदि दिये जाते है और इस आर्थिक सहायता के कारण केन्द्र राज्यो पर छाया रहता है। आर्थिक क्षेत्र मे आत्म-निर्भर न होने के कारण राज्यो की स्वायत्तता नाममात्र की है। **श्री हृदयनाथ कुंजरू** के अनुसार, "राज्यो की वित्तीय स्वायत्तता को वित्तीय आपात् सम्वन्धी उपवन्धो से वडा धक्का पहुँचा है।"

(10) **राज्यो का राज्यसभा मे समान प्रतिनिधित्व नही**—विश्व के अन्य सघो मे प्राय उच्च सदन मे छोटे-वडे सभी राज्यो को वरावर का प्रतिनिधित्व दिया गया है। वहाँ पर उनके आकार तथा आवादी का ध्यान नही रखा जाता है, परन्तु भारत मे राज्यो को राज्यसभा मे आवादी के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया गया है।

(11) **राज्य विधानमण्डलो द्वारा पारित विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए**—यद्यपि राज्य विधानसभा द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति से कानून वन जाता है, किन्तु कुछ विधेयक ऐसे भी होते हैं जिन्हे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखना पडता है और उनकी स्वीकृति प्राप्त होने पर ही कानून वनता है।

(12) **सुपरिवर्तनशील संविधान**—एकात्मक शासन प्रणाली मे संविधान मे सशोधन सरलता से किया जा सकता है। सविधान और साधारण कानून मे अन्तर नही किया जाता है। भारतीय सविधान मे भी ऐसे अनेक अनुच्छेद है जिनका सशोधन ससद साधारण वहुमत से कर सकती है।

(13) **केन्द्र द्वारा राज्यो के मतभेदो का निवारण**—सघ तथा राज्यो के वीच अथवा दो या दो मे अधिक राज्यो के वीच विवादो का निपटारा करने के लिए सघ की स्थिति महत्वपूर्ण है। केन्द्रीय सरकार के पास समन्वयकारी शक्तियाँ हैं। केन्द्रीय सरकार ही वित्त आयोग, अन्त-र्राज्यिक तथा क्षेत्रीय परिषदो का गठन करती है। क्षेत्रीय परिषदो के माध्यम से केन्द्र राज्य सरकारो की शक्ति पर नियन्त्रण रखता है। प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद के अध्यक्ष के रूप मे राष्ट्रपति एक केन्द्रीय मन्त्री की नियुक्ति करता है।

भारतीय संविधान के बहिरग मे उपस्थित एकात्मक तत्व (Unitary features outside the Constitution)—नेहरू ने कहा था कि मेरे जीवन का मुख्य काम भारत का एकीकरण है। यह स्वाभाविक भी था, क्योकि भारत एक राष्ट्र वनने की प्रक्रिया से गुजर रहा है। स्वाधीनता के तुरन्त वाद देश के नेताओ ने एकता के महत्व को समझा और यह अनुभव किया कि चाहे जैसे भी हो, राष्ट्रीय या केन्द्रीय सत्ता को वनाये रखना है और देश के विभिन्न तत्वो को एक सूत्र मे

रखना है। संविधान के विचार-विमर्श मे इस सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट है और इसलिए हमारे सविधान मे केन्द्रीय सत्ता की प्रधानता और राज्य की एकात्मकता को कायम रखने के साथ-साथ देश के विभिन्न अंगो को पूरी छूट और अधिकार देने का यत्न किया गया है। **रजनी कोठारी** के अनुसार, "मगर मुख्य बात यह है कि एकीकरण के लिए तरीका क्या अपनाया गया ? इस तरीके में दो बातें हैं। एक, सरकार और सरकारी या शासन दल की गतिविधियों के द्वारा देश में एकता की स्थापना और उनका दृढीकरण। दूसरे, देश के विभिन्न तत्वों के अधिकारों और हितो का सरक्षण और मान्यता देकर उनको राष्ट्रीय जीवन और राजनीतिक व्यवस्था में शामिल करना। भारत की राजनीतिक एकता मे राष्ट्रीय सरकार की प्रधानता और अन्य हितो व अल्पसंख्यको के प्रति समझौते और निभाव की भावना, इन दो प्रवृत्तियों का मुख्य योग है।"[1]

संवैधानिक प्रावधानो के बावजूद कतिपय ऐसे राजनीतिक तत्वों का उदय और विकास भारत की राजनीतिक व्यवस्था मे दिखलायी देता है जिनसे एकात्मकता मे वृद्धि हुई है और केन्द्रीयकृत संघवाद का चलन हुआ है। ऐसे तत्व कुछ इस प्रकार है :

(1) **प्रधानमन्त्री का चमत्कारी व्यक्तित्व**—भारत के प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व चमत्कारी और प्रभावशाली रहा है। जवाहरलाल नेहरू जैसे व्यक्तित्व वाले प्रधानमन्त्री ने भारत को राजनीतिक स्थिरता और राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्रदान किया। उनके प्रभाव के आगे राज्यो के नेताओं का व्यक्तित्व फीका लगता था और कोई मुख्यमन्त्री उनका विरोध करने की सोच ही नही सकता था। नेहरू के वाद प्रधानमन्त्री पद पर मुख्य रूप से श्रीमती इन्दिरा गांधी ही कार्य करती रही। उनका व्यक्तित्व भी कम आकर्षक नही था, देश की जनता पर उनका अनूठा प्रभाव था। अनेक राज्यो के मुख्यमन्त्रियो की नियुक्ति भी कई वार प्रधानमन्त्री की इच्छा से हुई और उन नेताओ को राज्य राजनीति से विरक्त होना पडा जिन्हें प्रधानमन्त्री का विश्वास प्राप्त नही था।

(2) **एकदलीय प्रभुत्व**—भारत की राजनीति कांग्रेस के इर्द-गिर्द घूमती रही है। कांग्रेस की प्रधानता का कारण उसके हाथ मे सरकार की शक्ति होना तथा उसका प्रभावशाली नेतृत्व रहा है। इसके साथ ही उसके सगठन की जनता मे भी पहुँच रही है। इस प्रकार सरकार की शक्ति और जनता मे पहुँच दोनो उसकी प्रधानता की जडें है। 1947 से 1967 तक केन्द्र और राज्यो मे कांग्रेस दल की ही सरकारें रही है। 1971 के पश्चात् पुन: लगभग सम्पूर्ण भारत मे कांग्रेस दल का एकछत्र शासन स्थापित हो गया। अत: कांग्रेस के सुदृढ संगठन द्वारा अनेक मतभेदो और विवाद का समाधान सरल रहा। सन् 1967 के पश्चात् कुछ राज्यों में गैर-कांग्रेस सरकारें वनी। **प्रो० रजनी कोठारी** का कहना है कि "वास्तव मे गैर-कांग्रेस मुख्यमन्त्रियो से निभाव केन्द्रीय कांग्रेस सरकार के लिए ज्यादा आसान सिद्ध हुआ, वजाय कांग्रेसी मुख्यमन्त्रियों के जो कांग्रेस दल और केन्द्रीय सरकार के मामलो मे भी दखल देने की कोशिश करते थे, क्योकि वे अपने को महज मुख्यमन्त्री नही, कांग्रेस का अखिल भारतीय नेता भी मानते थे।"

(3) **योजना आयोग**—सन् 1950 मे योजना आयोग का गठन किया गया। योजना आयोग को देश के सर्वांगीण विकास के सन्दर्भ मे महत्वपूर्ण कृत्य सौंपे गये है। योजना आयोग के महत्व के सन्दर्भ मे ही प्रधानमन्त्री आयोग का अध्यक्ष होना है तथा उसके कार्यों को अधिक प्रभावी बनाने के लिए केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के कुछ वरिष्ठ मन्त्री भी आयोग से सम्बद्ध होते है। योजना आयोग ने अपने कार्यों का विस्तार किया है, वस्तुत. वह रक्षा को छोडकर प्रशासन के सभी क्षेत्रों मे भावी विकास का प्रमुख निर्णायक बन गया है। 15 मार्च, 1950 के प्रस्ताव मे यह पूर्णत: स्पष्ट कर दिया गया था कि आयोग मूलत: एक परामर्शदात्री संस्था होगी; इसका कार्य आर्थिक

---

[1] कोठारी, रजनी : **भारत में राजनीति**, पृ० 201।

नियोजन के मामलो पर शासन को अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करना है। किन्तु व्यवहार मे आयोग ने सविधान और शासन दोनो को ही विशेष रूप से प्रभावित किया है। **अशोक चन्दा** ने आयोग के महत्व के कारण उसे देश का 'आर्थिक मन्त्रिमण्डल' कहा है। राज्य सरकारें तो वित्तीय सहायता और आर्थिक परामर्श के लिए आयोग पर अधिकाशत निर्भर है।[1] **के० सन्थानम्** ने लिखा है कि इस समूची नियोजन-व्यवस्था ने "नीति और वित्त सम्बन्धी सभी मामलो मे राज्य की स्वायत्तता को एक छाया का रूप प्रदान कर दिया।"[2] **ग्रेनविल ऑस्टिन** लिखते है, "सविधान के निर्माण के समय इस प्रकार का कोई स्पष्ट विचार नही था कि नियोजन सघीय व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करेगा। इस बात की तो कल्पना ही नही की गयी थी कि योजना आयोग वित्त आयोग से अधिक महत्वपूर्ण हो जायेगा। इस बात का भी कोई प्रमाण नही है कि सविधान-निर्मात्री सभा के सदस्यो ने इस बात का अनुमान लगाया था कि योजना व्यवस्था सघीय पद्धति को कोई मोड़ दे देगी, फिर भी समय ने यह बतला दिया है कि भारतीय सघवाद के अन्तर्गत नियोजन का केन्द्रीयकृत प्रभाव रहा है।"[3]

(4) **राष्ट्रीय विकास परिषद**—योजना आयोग की भाँति ही 'राष्ट्रीय विकास परिषद' भी देश की आर्थिक नीतियो के निर्धारण मे अत्यन्त प्रभावशाली निकाय है। आयोग के ही समान यह परिषद भी सविधान की उपज नही है। इसका लक्ष्य योजना आयोग, केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारो के मध्य सामजस्य बनाये रखना है। वस्तुत. राष्ट्रीय विकास परिषद योजना-व्यवस्था की शीर्षस्थ सस्था है। योजना आयोग द्वारा निर्मित एव राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा स्वीकृत योजना विकास का एक शासकीय कार्यक्रम बन जाती है। इसी कारण सन्थानम् ने इसे 'भारतीय सघ की सर्वोच्च मन्त्रिपरिषद' कहा है। अब व्यवहार मे राज्यों की योजनाओं के सम्बन्ध मे निर्णय राष्ट्रीय विकास परिषद मे लिये जाते है जिससे राज्यो की स्थिति केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट के समतुल्य हो गयी है।

व्यवहार में भारतीय संघवाद (Indian Federalism in Working)

भारत की राजनीतिक परिस्थितियो के साथ सघवाद के स्वरूप मे भी परिवर्तन आता रहा है। भारत की सघ व्यवस्था को राजनीतिक तत्वो के बदलते परिप्रेक्ष्य मे चार प्रकार से चित्रित किया जा सकता है.

(1) केन्द्रीयकृत सघवाद का युग।
(2) सहकारी सघवाद का युग।
(3) एकात्मक सघवाद का युग।
(4) सौदेबाजी वाली सघ व्यवस्था।

(1) **केन्द्रीयकृत संघवाद का युग**—सन् 1950 से 1967 तक 'केन्द्रीयकृत सघवाद का युग' कहा जा सकता है। सन् 1950 से 1964 तक का भारतीय राजनीति युग 'नेहरू युग' कहलाता है। इस युग मे केन्द्र तथा राज्यो के सम्बन्ध मधुर बने रहे और उनमे उग्र मतभेद उभरकर सामने नही आये। इस कारण व्यवहार मे कुछ ऐसे राजनीतिक तथ्य उभरे जिन्होने भारत मे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को पनपने मे मदद दी। केन्द्र मे नेहरू, पटेल जैसे नेता मौजूद थे। केन्द्र तथा राज्यो मे कांग्रेस का एकछत्र शासन था, अत. मतभेदों को दल के सगठन स्तर पर ही हल कर लिया जाता था। नेहरू के व्यक्तित्व तथा नेतृत्व-शक्ति का कोई राज्य विरोध करने तथा

---

1 अशोक चन्दा : **फेडरलिज्म इन इण्डिया**, पृ० 195।
2 के० सन्थानम् : **डेमोक्रेटिक प्लानिंग, प्रॉब्लम्स एण्ड पिटफाल्स**, पृ० 20।
3 ग्रेनविल ऑस्टिन : **दी इण्डियन कान्स्टीट्यूशन**, पृ० 236।

कोई नेता मतभेद उत्पन्न करने का साहस नहीं करता था। योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद सघ तथा राज्यो के बीच तालमेल हेतु 'सुपर केबिनेट' के रूप मे कार्य कर रही थी और एक दल की प्रधानता के कारण इसके कार्यो को चुनौती नही दी जा सकती थी। इस काल मे केन्द्रीयकरण की सशक्त प्रवृत्तियो के परिणामस्वरूप भारतीय सघवाद राजनीतिक समन्वय और आर्थिक विकास के दोहरे उद्देश्यो की पूर्ति का साधन बना।

(2) **सहकारी संघवाद का युग**—सीतलवाड के अनुसार, "चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् (1967) शक्ति का सन्तुलन राज्यो की ओर झुका। काग्रेस का एकछत्र शासन समाप्त हुआ, केन्द्र मे नेहरू जैसा व्यक्तित्व नही रहा और राष्ट्रीय विकास परिषद मे अनेक दलो के मुख्यमन्त्री अपनी केन्द्र विरोधी आवाज बुलन्द करने लगे। राज्यो मे नेहरू के बाद मुख्यमन्त्री शक्ति के केन्द्र बन गये और वे केन्द्र को प्रभावित करने लगे। काग्रेस दल के विभाजन के पश्चात् (1969) लोकसभा मे शासक दल अल्पमत मे आ गया जिससे केन्द्रीय नेतृत्व को राज्यो की माँग के आगे झुकना पडा।

1967 के चुनावो के पश्चात् सघ व राज्यो के पारस्परिक सवैधानिक सम्बन्धो के विषय मे मतभेद काफी उग्र रूप मे उत्पन्न हुए। अधिकतर राज्यो मे गैर-कांग्रेसी दलो की सरकारे बनी। ये सरकारे सघ सरकार के नियन्त्रण मे उस सीमा तक नही रहना चाहती जिस सीमा तक काग्रेस दल की प्रादेशिक सरकार पहले रहती थी। प्रत्येक राज्य चाहता था कि केन्द्र द्वारा प्रस्तावित औद्योगिक सस्थानो को उसी के क्षेत्र मे स्थापित किया जाय। भाषा के प्रश्न को लेकर सघर्ष उत्पन्न हुए। केन्द्रीय रिजर्व पुलिस को लेकर मतभेद पैदा हुए और राज्यपालों की नियुक्ति का प्रश्न भी विवाद का कारण बन गया।

केन्द्र और राज्यो के बीच विवादो के उपरान्त भी आपसी सहयोग बना रहा और 'सहकारी संघवाद' के युग का सूत्रपात हुआ। सहकारी सघवाद का प्रमुख लक्षण केन्द्र और राज्यो की सरकारो की एक-दूसरे पर निर्भरता है। उस व्यवस्था मे केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली तो होती है, किन्तु राज्य सरकारे भी अपने क्षेत्र मे कमजोर नही होतीं। चतुर्थ जन-निर्वाचन के पश्चात् प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी को मद्रास के श्री अन्नादुराई, उडीसा के आर० एन० सिंहदेव, उत्तर प्रदेश के चरणसिह तथा पजाब के गुरुनामसिह जैसे गैर-कांग्रेसी मुख्यमन्त्रियो का विश्वास प्राप्त करने मे सफलता मिली। यहाँ तक कि अक्सर ये मुख्यमन्त्री अपनी कठिनाइयो मे और अपने साझीदारो मे मतभेद पैदा होने पर उनसे सलाह लेते थे। **रजनी कोठारी** लिखते है कि "जो लोग यह समझते थे कि राज्यो मे भिन्न दलो की सरकारो के बनने से दल या पार्टी-प्रणाली टूट जायगी, उन्होने एक तो काग्रेस और प्रतिपक्षी दलों के नेताओ के पुराने सम्बन्धो को भुला दिया और इस बात की उपेक्षा कर दी कि भारत मे इस प्रणाली मे इतना लोच है कि वह नये नेताओं और नये दलो को भी अपने अन्दर स्थान दे सके।"

(3) **एकात्मक संघवाद का युग**—सन् 1971 के पचम लोकसभा के निर्वाचन तथा 1972 के राज्य विधानसभाओ के निर्वाचनो और जनवरी 1980 के लोकसभा एव बाद के विधानसभा चुनावो मे दो तथ्य उभरे—**प्रथम**, भारतीय राजनीति मे श्रीमती गाधी और सजय गाधी ही सर्वमान्य नेता है तथा **द्वितीय**, काग्रेस दल ही जनता का नेतृत्व कर सकता है। इससे शक्ति का सन्तुलन केन्द्र की ओर झुक गया। जिस द्रुतगति से सविधान मे सशोधन किये गये उससे तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि भारत एकात्मकता की ओर उन्मुख हो रहा है। जून 1975 से मार्च 1977 तक तो भारतीय राज्य एकात्मक राज्य मे परिवर्तित कर दिया गया था। समूची शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार के हाथो मे आ गयी। राज्यो के मुख्यमन्त्रियो की स्थिति केन्द्रीय सरकार के सूबेदार जैसी हो गयी। आपातकाल के दौरान मुख्यमन्त्रियो का एक पैर अपने राज्य में रहता था तथा

दूसरा दिल्ली मे । श्री बहुगुणा और नन्दिनी सत्पथी जैसे काग्रेसी मुख्यमन्त्रियो को केन्द्र के इशारे पर हटना पडा । जनवरी 1976 मे तमिलनाडु मे और मार्च 1976 मे गुजरात मे राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया । तमिलनाडु मे द्रविड मुनेत्र कडगम और गुजरात मे जनता मोर्चे का शासन था । जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावो के बाद केन्द्रीय सरकार ने नौ राज्यो की गैर-काग्रेस विधान सभाओ को भग कर दिया । ऐसा लगने लगा कि देश पुन एक दल प्रधान व्यवस्था की ओर उन्मुख हो रहा है ।

(4) **सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था**—छठे आम चुनावो के परिणामो से भारतीय राजनीति मे आमूलचूल परिवर्तन आया । केन्द्र मे जनता पार्टी की सरकार स्थापित हुई और राज्यो मे विविध दलो की सरकारो की स्थापना हुई । उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, उडीसा, दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा व हिमाचल प्रदेश मे जनता पार्टी सत्ता मे आयी । पजाब मे जनता व अकाली दल, पश्चिमी बंगाल मे मार्क्सवादी दल, तमिलनाडु व पाण्डिचेरी मे अन्नाद्रमुक, कश्मीर मे नेशनल कान्फ्रेंस, केरल मे साम्यवादी दल के नेतृत्व वाला मोर्चा, कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश मे काग्रेसी सरकारें पदासीन थी । केन्द्र की जनता सरकार एक दुर्बल सरकार थी क्योकि यह विभिन्न घटको से बनी एक मिली-जुली सरकार के समतुल्य थी । अत राज्यो की सरकारो ने सौदेबाजी करने का अनवरत यत्न किया । यहाँ तक कि कतिपय गैर-जनता राज्य सरकारो ने 'राज्य-स्वायत्तता' का नारा बुलन्द किया । वित्तीय स्रोतो के वितरण को लेकर पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने सदैव केन्द्रीय सरकार से दबाव एवं सौदेबाजी की भाषा मे बातचीत करने का प्रयत्न किया ।

जनवरी 1980 के लोकसभा तथा जून 1980 के नौ राज्य विधानसभाओ के चुनावो के बाद 'एकात्मकता' के स्वर पुन. मुखरित होने लगे । काग्रेस 'इ' द्वारा शासित राज्यो मे मुख्यमन्त्रियो के मनोनयन मे प्रधानमन्त्री की भूमिका एव अभिरुचि से यह इंगित होता है कि हमारी सघ व्यवस्था मे केन्द्रीयकृत व्यवस्था की ओर झुकाव बढने वाला है । राज्यपाल प्रभुदास पटवारी और रघुकुल तिलक की बर्खास्तगी एवं टी० एन० सिह को पद त्यागने के लिए बाध्य करना क्या इंगित करता है ? प्रधानमन्त्री के राज्यो की देखभाल के दौरे क्या सघ प्रणाली को एकात्मकता की ओर उन्मुख करने के प्रयत्न नही थे ।

किन्तु 1982-90 में होने वाले राज्य विधानसभाओं के निर्वाचन यह इंगित करते है कि भारत मे सघ व्यवस्था का 'सौदेबाजी वाला प्रतिमान' ही उभरने वाला है । पजाब मे अकाली आन्दोलन, असम मे असम गण परिषद, आन्ध्र प्रदेश मे एन० टी० रामाराव और तेलगु देशम् का पदासीन होना, प० बगाल और त्रिपुरा मे मार्क्सवादी पार्टी का केन्द्र विरोधी रुख, जम्मू-कश्मीर में डॉ० फारुख अब्दुल्ला और नेशनल कान्फ्रेंस का प्रभावक होना, हरियाणा मे देवीलाल (जनता दल), तामिलनाडु मे जयललिता (अन्नाद्रमुक) व करुणानिधि (द्रमुक) का अभ्युदय तथा कर्नाटक के रामकृष्ण हेगडे की भूमिका यह इंगित करती है कि क्या सघीय सन्तुलन राज्यो की ओर झुकने वाला तो नही है ?

क्या भारत को सच्चा संघ कहना ठीक है ? (Is India a True Federation ?)

भारतीय सविधान मे सघीय शासन के सभी लक्षण मिलते है, फिर भी अनेक दृष्टियो से यह एकीकृत व्यवस्था की स्थापना करता है । डॉ० कृष्ण मुकर्जी ने तो भारतीय सविधान को असघीय अथवा एकात्मक ही कह डाला है । डॉ० सुभाष काश्यप का भी मत है कि "वस्तुतः भारतीय सविधान ने एक अत्यन्त शक्तिशाली केन्द्र का निर्माण किया है ।"

इन आलोचनाओ के बावजूद भी भारतीय संविधान को एकात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना करने वाला सविधान नही कहा जा सकता । वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय सविधान मे कुछ एकात्मक लक्षणो का समावेश कर सघात्मक-प्रणाली की कुछ कमियो को ही दूर करने का

प्रयास किया गया है। भारतीय संविधान के निर्माण के समय जो विघटनकारी प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं उन्होंने संविधान-निर्माताओं को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे संविधान के अन्तर्गत ही भारत की एकता का प्रबन्ध कर लें। ग्रेनविल ऑस्टिन ने भारतीय संविधान को 'सहकारी संघवाद'[1] की संज्ञा दी है। **अशोक चन्दा** ने अपनी पुस्तक 'फेडरलिज्म इन इण्डिया' में लिखा है, "अनेक महत्वपूर्ण विद्वानों ने भारतीय संविधान को अर्द्ध-संघात्मक कह तो दिया है, किन्तु उसका तात्पर्य समझाने की कोशिश नही की है; संविधान या तो संघीय होता है या फिर एकात्मक।" **प्रो० पायली** ने लिखा है, "मूल तथ्य यह है कि भारत का शासन एक सरकार द्वारा नही अपितु 26 सरकारो अर्थात् 25 राज्य सरकारो एवं एक संघीय सरकार द्वारा होता है। शासन मे इस प्रकार की हिस्सेदारी तो संघीय-व्यवस्था मे ही सम्भव है।

संघवाद के सन्दर्भ मे स्वायत्तता का अर्थ सीमित है और उसमे संघ के एककों की प्रभुसत्ता का स्थान नही है। भारत मे राज्यो के हाथ मे देश के शासन का बहुत बड़ा भाग है। यद्यपि उन्हे आर्थिक साधनो के लिए केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है और विकास-कार्यों का संयोजन भी केन्द्र करता है, फिर भी राज्यो मे अपने अधिकारो पर जोर देने की प्रवृत्ति है और देश के शासन मे वे ज्यादा हाथ चाहते हैं। भारत मे सरकारी नीतियो और विकास-कार्यक्रम को अमल में लाने का काम राज्य सरकार और नीचे के अधिकारियो का है। राज्य सरकारें अक्सर केन्द्र पर दबाव डालती है और उससे अपनी बात मनवाने मे सफल रही है। केन्द्र के लिए सुरक्षित क्षेत्रो मे भी राज्यो ने घुसपैठ की है और दूसरे देशों से व्यापार सम्बन्ध भी स्थापित किये है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी बंगाल के शक्तिशाली मुख्यमन्त्री डॉ० बी० सी० राय ने एक विदेशी फर्म के साथ अपने राज्य की ओर से व्यापार समझौता किया था। पाल ऐपिलबी का मत है कि भारत की शासन-प्रणाली ऐसी है जिसमे प्रशासन के महत्वपूर्ण कार्य राज्य सरकारे करती है और योजना की क्रियान्विति के लिए केन्द्र को इन्ही पर निर्भर रहना पड़ता है।

अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, आदि सभी राज्यो में ऐसी शासन-व्यवस्था कायम की गयी जैसी उन देशो के लिए जरूरी थी। यदि भारत ने इन देशो के संघात्मक संविधानो की नकल नही की तो इसका अभिप्राय यह नही है कि भारत मे संघात्मक शासन है ही नही। हर देश की अपनी अलग परिस्थितियाँ होती है। भारत की परिस्थितियो ने यह जरूरी बना दिया कि हमारे देश में एक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना की जाये। इसलिए यह कहना गलत होगा कि भारतीय संविधान मूलतः एकात्मक है और उसमें संघात्मक तत्व गौण रूप मे मिलते है। भारत का संविधान संघात्मक है क्योंकि उसमे केन्द्र और राज्यो के बीच विधायी, प्रशासनिक व वित्तीय शक्तियो का बँटवारा किया गया है तथा संविधान मे संशोधन के बिना केन्द्र अथवा राज्यो की शक्तियो मे वृद्धि या कमी नही की जा सकती।

संविधान ने एक शक्तिशाली शासन की स्थापना क्यों की है?
(WHY DOES THE CONSTITUTION CREATES A STRONG CENTRAL GOVERNMENT ?)

भारतीय संविधान द्वारा एक अत्यधिक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना इस प्रकार की गयी कि :

(1) **शक्तिशाली केन्द्र भारत की एकता का परिचायक है**—अंग्रेजी शासन काल मे भारत मे सदा एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना रही। यद्यपि 1935 के अधिनियम द्वारा अंग्रेजो ने भारत मे एक संघात्मक शासन की शुरूआत कर दी थी, तो भी उन्होंने प्रान्तो को केन्द्र

---

[1] ग्रेनविल ऑस्टिन : दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन, पृ० 185।

के कडे नियन्त्रण मे रखा। अतएव भारत का लगभग सौ साल का इतिहास एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार का इतिहास था। इसलिए सविधान-निर्माताओ के लिए यह स्वाभाविक भी था कि वे केन्द्र को शक्तिशाली ही रखे। दूसरा, स्वाधीनता की लडाई के दौरान भारतवासियो मे एक अद्भुत एकता की भावना विकसित हो गयी थी। गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास और गगा-यमुना के प्रदेश मे रहने वाले लोग सभी अपने को भाई-भाई मानने लगे थे। इसलिए सविधान सभा के सामने जब केन्द्र को शक्तिशाली बनाने का प्रस्ताव आया तो सदस्यो ने उसका विरोध नही किया।

(2) **शक्तिशाली केन्द्र भारत की एकता को बनाये रखने का साधन है**—शक्तिशाली केन्द्र न केवल यह दर्शाता है कि सारा भारत एक है अपितु वह इस एकता की रक्षा भी करता है। जिन दिनो सविधान का निर्माण हो रहा था, देश के कुछ भागो मे साम्प्रदायिक दगा-फसाद चल रहा था। इसके अतिरिक्त, हैदराबाद व तेलगाना मे सशस्त्र बगावत की आशका थी। सविधान सभा के सदस्य यह जानते थे कि साम्प्रदायिक, धार्मिक, जातीय और प्रादेशिक झगडो को समाप्त करने तथा देश की स्वतन्त्रता को स्थिर रखने के लिए केन्द्र का शक्तिशाली होना बहुत जरूरी है।

(3) **समूचे भारत की उन्नति का सवाल था**—समूचे भारत की आर्थिक उन्नति के लिए भी केन्द्र को शक्तिशाली बनाना जरूरी समझा गया। देश के लाखो गाँवो की उन्नति का प्रश्न था, औद्योगिक विकास की समस्या थी तथा कृषि की उन्नति के लिए सिचाई योजनाओ के प्रसार की आवश्यकता थी। इन सब योजनाओ की सफलता के लिए यह जरूरी समझा गया कि सारे भारत को एक 'इकाई' मानकर चला जाये। सविधान सभा के सदस्य यह जानते थे कि जब तक केन्द्र को शक्तिशाली नही बनाया जायेगा तब तक भारत का न तो आर्थिक विकास ही सम्भव है और न ही पचवर्षीय योजनाओ की सफलता की कोई आशा।

भारतीय संघवाद के निर्धारक तत्व

(DETERMINING FACTORS OF INDIAN FEDERALISM)

भारतीय सघवाद के निर्धारक तत्वो को हम चार भागो मे बाँट सकते है . (1) राजनीतिक तत्व, (2) सामाजिक तत्व, (3) भौगोलिक तत्व, और (4) आर्थिक तत्व।

(1) **राजनीतिक तत्व** (Political determinants)—भारतीय राजनीति मे प्रचलित अनेक तत्व सघवाद के स्वरूप को निर्धारित करते है। इन राजनीतिक तत्वो मे है . (क) मुख्य-मन्त्री का व्यक्तित्व प्रभावशाली है अथवा दुर्बल, (ख) केन्द्र मे प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व प्रभावशाली है अथवा दुर्बल, (ग) केन्द्र मे एकदल प्रधान व्यवस्था है अथवा मिली-जुली सरकार; (घ) राज्य मे एक दल की सरकार है अथवा मिली-जुली सरकार, (च) राज्य स्तर पर दलीय सगठन मे एकता है अथवा फूट और गुटबन्दी की प्रवृत्ति, (छ) केन्द्र मे सत्तारूढ़ दल का बहुमत है या वह दल दूसरे दलो पर निर्भर रहकर अपनी सरकार चलाता है, आदि।

(2) **सामाजिक तत्व** (Social determinants)—सघवाद के क्रियान्वयन मे राज्य विशेष की सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक सस्कृति की भी प्रभावक भूमिका होती है। सामाजिक तत्वो मे प्रमुख है . (क) राज्य मे क्या किसी जाति की प्रधानता है अथवा एक जाति की प्रधानता न होकर अनेक जातियाँ करीब-करीब बराबर की सख्या मे है। एक जाति की प्रधानता वाले राज्य दूसरे प्रकार के राज्यो की अपेक्षा केन्द्र मे सौदेबाजी करने मे अधिक अच्छी स्थिति मे होते है; (ख) भाषा के आधार पर भी राज्य सौदेबाजी की क्षमता रखते है। जिन राज्यो मे एक क्षेत्रीय भाषा प्रचलित है वे बहुभाषी राज्य की तुलना मे सौदेबाजी की अधिक अच्छी स्थिति मे होते है।

(3) **भौगोलिक तत्व** (Geographical determinants)—(क) सामरिक दृष्टि से सीमान्त राज्य अन्य राज्यो की तुलना मे प्रभावक भूमिका अदा करते है; (ख) जनसख्या की दृष्टि से बड़े राज्यो की सौदेबाजी की क्षमता अधिक होती है।

(4) **आर्थिक तत्व** (Economic determinants)—(क) आर्थिक नियोजन सघवाद का महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है, (ख) कृषि और उद्योगो की दृष्टि से विकसित राज्यो की क्षमता अधिक होती है; (ग) कच्चा माल पैदा करने वाले राज्य अधिक प्रभावक भूमिका अदा करते है।

डॉ० वी० आर० पुरोहित के शब्दो मे, "साधारणत: प्रत्येक शासन-व्यवस्था अपने सामाजिक, सास्कृतिक, ऐतिहासिक एव राष्ट्रीय आदर्शो से प्रवाहित एव निर्मित होती है। अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा अथवा स्विट्जरलैण्ड के शासनतन्त्र इसके उदाहरण है। भारतीय शासन-व्यवस्था इस नियम का अपवाद नही है। सकारात्मक रूप से यह कहना उचित होगा कि भारतीय सघवाद की प्रकृति का निर्धारण करने मे भारत के सामाजिक, सास्कृतिक, राजनीतिक तथा ऐतिहासिक कारको ने निर्माणकारी भूमिका निभायी है। भारत के वहुभापायी, क्षेत्रीय परख एवं धार्मिक विविधताएँ, 1947 के पूर्व भारत की हिन्दू-मुस्लिम राजनीतिक प्रतिनिधित्व की समस्याएँ, देशी नरेशो का शासन, 1947 का भारत विभाजन, विश्व के अन्य संघ शासनो के व्यावहारिक अनुभव, इत्यादि ऐसे पर्यावरणीय (ecological) निर्धारक कारण हैं जिन्होने भारतीय सघ शासन की प्रकृति का निर्धारण किया है।"[1]

भारत में संघवाद के प्रतिमान (मॉडल्स)
(MODELS OF FEDERALISM IN INDIA)

संघवाद के तीन प्रतिमानो—(1) सहकारी सघवाद के प्रतिमान, (2) सौदेवाजी वाली सघ व्यवस्था का प्रतिमान, और (3) एकात्मक संघवाद के प्रतिमान के परिप्रेक्ष्य मे भारतीय सघ व्यवस्था का विश्लेषण किया जाना तर्कसगत होगा।

(1) भारत में सहकारी संघवाद का प्रतिमान
(THE MODEL OF CO-OPERATIVE FEDERALISM IN INDIA)

सघात्मक शासन-व्यवस्था मे शासन शक्तियो का विभाजन करके दो स्वतन्त्र सरकारो के स्तरो की स्थापना ही नही की जाती वरन् दो प्रकार की सरकारो व शासन-व्यवस्थाओ मे इस प्रकार के सहयोग की व्यवस्था भी की जाती है जिससे विभक्त क्षेत्रो मे प्रशासन प्रभावशाली ढग से कुशलतापूर्वक चल सके। यह सहयोग आवश्यक भी है क्योकि दोनो ही स्तरो की सरकारें एक ही राजनीतिक व्यवस्था से सम्बद्ध होती है जिससे उनके लक्ष्य भी अन्तत. एक समान ही होते हे। इसीलिए सघात्मक राजनीतिक व्यवस्था मे अनेक पहलू होते है जो विविधता से युक्त तथा अपनी विविधता को बनाये रखने की स्वायत्तता के वावजूद परस्पर अन्त क्षेत्रीय सम्बन्ध व सहयोग (inter-regional relationship) अनिवार्य-सा कर देते है। **डॉ० के० सी० व्हीयर** ने लिखा है कि "अगर हर प्रादेशिक सरकार अपने आप तक ही पूर्णतया सीमित रहे तो सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था कई मामलो मे, इस भिन्न-भिन्न नियम व नियन्त्रण व्यवस्था के कारण नुकसान उठायेगी और प्रादेशिक सरकारो को एक-दूसरे के अनुभवो का लाभ न मिलने के कारण कार्यकुशलता कम हो जायेगी। यही कारण है कि हर सघात्मक व्यवस्था मे अन्त:सहकारी सहयोग की संस्थाओ की या तो सविधानो मे ही व्यवस्था की जाती है या इस प्रकार के सहयोग की सस्थाएँ परम्पराओ के रूप मे विकसित हो जाती है।"

अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा तथा भारत की सघीय व्यवस्थाओ के अध्ययन से यह निष्कर्ष स्पष्टतया सामने आता है कि सघात्मक व्यवस्था मे सहकारिता का लक्षण निहित है। आस्ट्रेलिया मे अन्त प्रादेशिक सम्मेलन (Inter-Provincial Conference), प्रीमियर कान्फ्रेंस (Premiers Conference) तथा ऋण परिषद (Loan Conference) के वार्षिक सम्मेलन,

1 डॉ० वावूलाल फडिया एव श्रीपाल जैन · **'भारतीय संघ व्यवस्था'** (कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर, 1982), 'प्राक्कथन'।

अमरीका मे गवर्नरो के सम्मेलन (Governors' Conference), कनाडा मे डोमिनियन प्रोविन्सियल सम्मेलन (Dominion Provincial Conference), आदि केन्द्रीय व प्रादेशिक सरकारो के आपसी सहयोग के माध्यम हैं।

ए० एच० बिर्च ने भारतीय सघवाद को 'सहकारी संघवाद' की सज्ञा दी है। इस प्रकार की व्यवस्था मे केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली होती है पर राज्य सरकारे अपने-अपने क्षेत्रो मे कमजोर नही होती। इस व्यवस्था का प्रमुख लक्षण दोनो प्रकार की सरकारो की एक-दूसरे पर निर्भरता है।

सहयोगात्मक सघवाद से यह अभिप्राय है कि हमारा सविधान केन्द्र और राज्यो के परस्पर-सहयोग पर अधिक वल देता है। सविधान-निर्माताओ ने एक ऐसी सघ प्रणाली को जन्म दिया जिससे केन्द्र राज्यो को उचित निर्देश दे सके और आवश्यकता पडने पर राज्यो के विधान-मण्डल व मन्त्रिमण्डल को भी भंग कर सके।

भारत मे संघात्मक व्यवस्था सुदृढ़ पारस्परिकता, आपसी विचार-विनियम तथा दोनो स्तर की सरकारो मे निरन्तर सम्पर्कता की स्थापना का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करती है। भारत मे तो सविधान द्वारा ही सहयोग की अनेक सस्थाओ की व्यवस्था की गयी है जिससे उचित राजनीतिक वातावरण की स्थापना हो और सम्पूर्ण सघीय राजनीतिक व्यवस्थाओ के पोषण के लिए प्राण-वायु प्राप्त होती रहे। भारत मे वित्त आयोग, अन्तर्राज्यीय समितियाँ, क्षेत्रीय परिषदें, योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद, मुख्यमन्त्रियो व अन्य मन्त्रियो के सम्मेलन, इत्यादि ऐसे माध्यम हैं जो सहयोग की ठोसता के प्रतीक है। ग्रेनविल ऑस्टिन ने इन्ही व्यवस्थाओ के कारण भारतीय सघ को 'सहकारी सघवाद' के नाम से सम्वोधित किया है।

आधुनिक युग की जटिल परिस्थितियो मे शायद सघवाद व्यवस्था की यह ठोस सहयोग की प्रवृत्ति ही प्रचलित सघीय व्यवस्थाओ को टूटने से बचाती है। आज का राजनीतिक मानव कई क्षेत्रो मे स्वायत्तता व स्वतन्त्रता व पृथकता चाहता है तो अन्य कई क्षेत्रो मे पारस्परिकता की आकांक्षा रखता है। इन दो परस्पर बेमेल इच्छाओ मे सहअस्तित्व का एकमात्र ढाँचा 'सहकारी संघ व्यवस्था' ही प्रस्तुत करती है। आर्थिक विकास की आवश्यकताएँ, सुरक्षा व अन्तर्राष्ट्रीय अहम् की वाध्यता सघीय व्यवस्था मे सहकारी प्रवृत्ति की प्रेरक कही जा सकती है।

(2) भारत में सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था का प्रतिमान
(MODEL OF BARGAINING FEDERALISM IN INDIA)

सघात्मक शासन मे विभिन्न सरकारो का गठन राजनीतिक दलो द्वारा होता है। एशिया और अफ्रीका की नवोदित राजनीतिक व्यवस्थाओ के नवीन अनुभव ने पाश्चात्य सघीय प्रतिमानो को अमान्य वना दिया है। अमरीका व आस्ट्रेलियाई सघीय व्यवस्थाएँ दल रूपी सीमेण्ट के कारण सहकारी व सुदृढ़तायुक्त दिखायी देती हैं। परन्तु दूसरे विश्व-युद्ध के वाद स्थापित संघात्मक व्यवस्थाओं मे, विशेषकर एशिया और अफ्रीका के नवोदित राज्यो मे, दलीय व्यवस्था के नये प्रतिमान विकसित हुए है। इन राज्यो मे ऐसे दल विकसित हुए जो दो-स्तरीय प्रकृति रखते है। इनमे कुछ दल राष्ट्रीय स्तर पर और वहुत-से दल क्षेत्रीय व प्रादेशिक स्तर पर संगठित होने लगे हैं। संघात्मक व्यवस्था मे प्रादेशिक स्तर पर सत्ता प्राप्ति की सम्भावनाओ व अवसरो के कारण, वहुत-से दल राष्ट्रीय हितो के प्रतिकूल स्थानीय हितो के ज्वार पर आसन्न होकर सौदेवाजी की राजनीति का सहारा ले लेते है। ऐसी अवस्था मे यह सम्भव है कि संघीय सरकार पर जिस दल का नियन्त्रण हो, उससे भिन्न क्षेत्रीय दलों का या अन्य राष्ट्रीय दलो का संघ की इकाइयो मे प्रभुत्व स्थापित हो जाये। इस प्रकार की परिस्थिति में केन्द्रीय व प्रादेशिक सरकारो मे सौदेवाजी का सिलसिला प्रारम्भ हो जाता है। राज्यो की सरकारें केन्द्रीय सरकार तथा केन्द्र की सरकार राज्यो का सहयोग सौदेवाजी द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करने लग जाते हैं।

भारत की संघात्मक व्यवस्था मे ऐसे अनेक अवसर आगे है जब राज्यो मे क्षेत्रीय दल सत्तारूढ होकर सौदेबाजी की तरफ बढे हैं। इसीलिए मॉरिस जोन्स ने भारत की संघीय व्यवस्था को 'सौदेबाजी का संघवाद' कह डाला है।[1] **मॉरिस जोन्स** लिखते हैं, "जहाँ तक योजना के निर्माण की बात है, यह सरकारी संघवाद का समाधान कारक स्वरूप लगता है—यदि हम सहकारी सघवाद शब्दावली मे जोरदार होड़ वाली सौदेबाजी को सम्मिलित मानते है। वास्तव मे, भारत के सघवाद का सदैव ही यही स्वरूप रहा है। जहाँ संविधान मे केन्द्र व राज्यो के अलग-अलग क्षेत्र निर्धारित किये गये है, वहाँ व्यवहार मे दोनो के बीच सहकारी सौदेबाजी का सम्बन्ध है।"[2]

मॉरिस जोन्स ने कानून बनाने सम्बन्धी प्रक्रिया के बारे मे उदाहरण देते हुए लिखा है—सविधान मे कहा गया है कि राज्यो के विधानमण्डलो द्वारा पास किये गये कानून गवर्नर की स्वीकृति के लिए उसके पास भेजे जायेंगे जिन पर वह स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता है या पुर्नविचार के लिए विधानमण्डल के पास वापस भेज सकता है। और आगे यह भी कहा गया है कि सरकार द्वारा सम्पत्ति अर्जित किये जाने से सम्बन्धित सभी बिल राष्ट्रपति के विचार हेतु अवश्य भेजे जायेंगे। लेकिन परम्परा यह बन गयी है कि राज्य ऐसे बिलो को पास करने से पहले ही केन्द्र के पास जाँच हेतु और उनके बारे मे केन्द्र की राय जानने के लिए भेज देते है ताकि अन्त मे ऐसे बिलो को राष्ट्रपति के विचार हेतु भेजने की बात केवल एक औपचारिकता मात्र रह जाये। कुछ राज्य तो एक कदम और आगे बढ़कर समवर्ती सूची के विषयो से सम्बन्धित सभी बिलो को पास करने से पहले केन्द्र के पास भेजकर उसकी राय जान लेते हैं।

वित्तीय सम्बन्धो के बारे मे भी ऐसी ही स्थिति है। सविधान मे राज्यो व केन्द्र के राजस्व के साधन अलग-अलग दिये हुए है, ऐसे साधनो का अलग जिक्र है जिनका राजस्व संघ द्वारा इकट्ठा किया जायेगा किन्तु राज्यो मे बाँट दिया जायेगा। इन करो का वितरण राज्यो मे कैसे होगा व केन्द्र सरकार राज्यो को सहायता अनुदान (Grants in aid) किन सिद्धान्तो के आधार पर देगी, इन बातो का निर्धारण करने हेतु सविधान मे हर पाँचवे साल एक स्वतन्त्र वित्त आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है। किन्तु काफी कुछ सहायता अनुदान वित्त आयोग से बाहर अनुच्छेद 282 के अन्तर्गत दिये जाते है जिनमे सिर्फ यह कहा गया है कि "संघ किसी भी सार्वजनिक प्रयोजन के लिए अनुदान दे सकता है।" ये अनुदान अब संघीय आयोजन वित्तदान का मुख्य आधार बन गये हैं। इसके परिणामस्वरूप एक तो वित्त आयोग को अशत ग्रहण लग गया है और इसके अलावा यह भी कहा गया है कि इस प्रणाली के कारण एक ऐसा अवाछनीय वातावरण पैदा हो गया है जिसमे राज्य केन्द्र पर निर्भर और गैर-जिम्मेदार हो गये है। इस प्रणाली के परिणामस्वरूप राज्य केन्द्र से बार-बार धन माँगने मे होड करने लगे है और वे अधिकाधिक धन प्राप्त करने हेतु एक के बाद एक दूसरी योजनाएँ भेजते रहते है और जितना धन उनको मिलता है, उतने धन की खुद व्यवस्था नही कर पाते, जिसके कारण वे काफी बड़ा घाटा दिखाते है।

नेहरू के जमाने मे भी राज्यो के कुछ मुख्यमन्त्री सौदेबाजी की मजबूत स्थिति मे थे। राज्यो के कुछ नेता—बी० सी० राय, कामराज, प्रतापसिंह कैरो तो इतने शक्तिशाली हो गये थे कि उन्हे हटा सकना लगभग असम्भव था। ये नेता जब किसी सम्मेलन मे भाग लेने या केन्द्र के साथ बातचीत करने के लिए आते थे, तो इस बात के प्रति पूरी तरह से सजग रहते थे कि दिल्ली के लिए उनका कितना महत्व है और दिल्ली की सहायता पर वे कितना आश्रित है। नेहरू के काल में भी ऐसी बात नही थी कि ये नेता दिल्ली के आदेश को एजेण्टो के रूप मे चुपचाप मान

1 Morris Jones : *Government and Politics of India*, 1971, p. 150.
2 *Ibid*., p. 152.

लें बल्कि सौदेबाजी की बातचीत और समझौते के विषय मे ये लोग केन्द्र के सामने अपनी शर्तें व प्रस्ताव रखने व मनवा लेते थे।

(3) भारत में एकात्मक संघवाद का प्रतिमान
(THE MODEL OF UNITARY FEDERALISM IN INDIA)

सघवाद का क्लासीकी प्रतिमान एक नये प्रतिमान के अनुसार अधिकाधिक बदलता जा रहा है। इस नये प्रतिमान को न तो विशुद्ध रूप से सघात्मक कहा जा सकता है और न ही एकात्मक। इसे आसानी से 'एकात्मक सघवाद' की सज्ञा दी जा सकती है। सघीय पद्धतियों के विकास के ऐतिहासिक अध्ययन से यह राजनीतिक सत्य सिद्ध हो जाता है कि पिछले कुछ दशको मे जो कुछ हुआ है उससे यह पता चलता है कि राज्य सरकारो को मूल रूप से जो अधिकार प्रदान किये गये थे उनकी कीमत पर केन्द्रीय सरकार ने अधिकाधिक तीव्रता से अपनी शक्तियो का विकास किया है। यही कारण है कि "क्षेत्रीय सरकारो की तुलना मे केन्द्रीय या राष्ट्रीय सरकारो की महत्ता अधिकाधिक बढी है, क्योकि उनका आरम्भ शून्य से हुआ और क्योकि उन्हे ऐसे महत्वपूर्ण विषयो पर नियन्त्रण प्रदान किया गया जिनसे अधिकाश सरकारो को निपटना पडता है। राज्यो की सरकारें अथवा पृथक् व स्वतन्त्र क्षेत्र, साधनो की अपर्याप्तता के कारण व्यवहार मे आज की जटिल राजनीतियो के कारण नही रख पाती है। सघात्मक शासन-व्यवस्थाएँ व्यवहार मे आज अनेक तत्वो से इतनी अधिक प्रभावित होने लगी है कि बहुत बार केन्द्र व राज्यो की सरकारो का सीमाकन धुँधला ही नही होता है पर कभी एक तरह से मिट-सा जाता है।"

भारत मे एकात्मक सघवाद का प्रतिमान बहुत कुछ तो सविधान के अन्तरग मे दिखलायी देता है। इकहरी नागरिकता, एकीकृत न्याय व्यवस्था, अखिल भारतीय सेवाएँ, केन्द्र द्वारा राज्यपालो की नियुक्ति, राष्ट्रपति के सकटकालीन अधिकार, आर्थिक दृष्टि से राज्यो की केन्द्र पर निर्भरता, आदि ऐसे प्रावधान हैं जो एकात्मक प्रणाली के सूचक हैं। इसके अतिरिक्त व्यवहार मे एकदल प्रधान व्यवस्था, योजना आयोग, प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व और कार्यशैली, प्रधानमन्त्री द्वारा राज्यो की देखभाल के दौरे, आदि एकात्मक सघवाद की याद दिलाते हैं।

भारत मे केन्द्र एव राज्यो मे 40 वर्षों तक काग्रेस दल का एकाधिकार इस तथ्य की पुष्टि करता है। काग्रेस हाई कमान या ससदीय बोर्ड न केवल केन्द्रीय सरकार पर ही नियन्त्रण रखता था अपितु राज्य सरकारो पर भी उसका पूर्ण नियन्त्रण था। राज्यो मे मुख्यमन्त्रियो के चयन का सवाल हो या राज्य विधानसभा के चुनावो मे प्रत्याशियो के चयन का मामला, दलीय हाई कमान का नियन्त्रण एव निर्देशन सतत् परिलक्षित होता था। जे० सी० जोहरी के शब्दो मे, "संघीय पद्धति के सचालन मे राजनीतिक दल की भूमिका एक सविधानेत्तर अभिकरण के रूप मे होती है। यद्यपि औपचारिक रूप से हर लिहाज से सघीय पद्धति बने रहने पर भी यह एक एकात्मक पद्धति का रूप धारण कर लेती है जब राजनीतिक दल अपने चरित्र को सघीयकृत किये बिना राष्ट्रीय और क्षेत्रीय सरकारो की मशीनरी सचालन करते है।"

निष्कर्ष

भारतीय सघवाद की सबसे अधिक सही व्याख्या यह होगी कि विभिन्न कालो मे इसके विभिन्न रूप व्यवहार मे देखने को मिलते हे। भारत मे एक प्रकार का सघवाद नही, अनेक प्रकार के सघवाद है। एक ही समय मे अलग-अलग राज्यो से केन्द्र के भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्ध रहे हैं। कभी इन सम्बन्धो की व्याख्या 'सहकारी सघवाद' के आधार पर तो कभी 'एकात्मक संघवाद' के आधार पर और प्रतियोगी दल व्यवस्था के युग मे 'सौदेबाजी वाली सघ व्यवस्था' के आधार पर की जा सकती हैं। "वैसे तो ये तीनो ही प्रवृत्तियाँ हर सघात्मक व्यवस्था मे एक साथ विद्यमान रहती है, परन्तु कभी-कभी ऐतिहासिक या बाहरी घटनाओ के कारण इनमे से किसी एक की प्रमुखता इसे अन्य दो से अलग श्रेणी की बना देती है।"[1]

---

1 गेना, सी० बी० **तुलनात्मक राजनीति एव राजनीतिक संस्थान** (विकास, 1978), पृ० 521-22।

P.C. Meena

9

भारतीय संघ व्यवस्था में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध

[CENTRE-STATE RELATIONS IN INDIAN FEDERAL SYSTEM]

संघीय संविधान, राष्ट्रीय प्रभुत तथा राज्य प्रभुता के दावो के बीच, जो कि ऊपरी दृष्टि से विरोधी जान पड़ती है, सामंजस्य पैदा करने का प्रयत्न करता है। संविधान के अन्तरंग मे ही कुछ ऐसे उपवन्ध होते हैं जो सामंजस्य के तौर-तरीको पर प्रकाश डालते हैं। केन्द्र एवं राज्यो की सरकारो के वीच सामंजस्यपूर्ण सम्वन्धो की स्थापना करने वाली सघ प्रणाली को 'सहकारी संघवाद' की संज्ञा दी जाती है। इस व्यवस्था मे सघीय सरकार शक्तिशाली तो होती है, किन्तु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्रों मे कमजोर नही होती; साथ ही, दोनो ही सरकारो की एक-दूसरे पर निर्भरता इस व्यवस्था का मुख्य लक्षण होता है। संघवाद का बुनियादी तत्व है शक्तियो का विभाजन। सहकारी सघवाद मे शक्तियो के विभाजन के उपरान्त भी केन्द्र एव राज्यो के बीच अन्तःक्षेत्रीय सहयोग पर वल दिया जाता है। यह सहयोग केन्द्रीय एव प्रादेशिक सरकारो के बीच ही नही अपितु विभिन्न प्रादेशिक सरकारो एव असख्य राजनीतिक संरचनाओ के मध्य भी दिखलायी देता है।

वस्तुत: कोई भी संघीय शासन प्रणाली वाला देश आज यह दावा नही कर सकता कि वह केन्द्र-राज्य मतभेदो की समस्या से पूर्णतया उन्मुक्त है। यथार्थ मे सघ व्यवस्था, जिसका आधार परस्पर सामजस्यपूर्ण हिस्सेदारी की भावना है, को तनावो का सस्थाकरण (Institutionalised tension) करने वाली व्यवस्था भी कहा जा सकता है।

अमरीका के संविधान के विपरीत, जिसमे केवल केन्द्र सरकार की शक्तियो का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है और अवशेष शक्तियाँ राज्यो को दी गयी है, भारत के सविधान के केन्द्र तथा राज्यो के वीच शक्तियो के वितरण की एक अधिक निश्चित सुस्पष्ट योजना अपनायी है। संविधान के आधार पर संघ तथा राज्यो के सम्वन्धो को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है :

(1) केन्द्र तथा राज्यो के विधायी सम्वन्ध।
(2) केन्द्र तथा राज्यो के प्रशासनिक सम्वन्ध।
(3) केन्द्र तथा राज्यो के वित्तीय सम्वन्ध।

(1) भारतीय संघ में केन्द्र-राज्य विधायी सम्बन्ध
(CENTRE-STATE LEGISLATIVE RELATIONS)

संघ व राज्यो के विधायी सम्वन्धो का सचालन उन तीन सूचियो के आधार पर होता है जिन्हे संघ सूची (Union list), राज्य सूची (State list) व समवर्ती सूची (Concurrent list) का नाम दिया गया है। इन सूचियों को सातवी अनुसूची मे रखा गया है।

संघीय सूची (Union List)—इस सूची मे राष्ट्रीय महत्व के ऐसे विषयो को रखा गया है जिनके सम्बन्ध मे सम्पूर्ण देश मे एक ही प्रकार की नीति का अनुकरण आवश्यक कहा जा सकता है। इस सूची के सभी विषयो पर विधि निर्माण का अधिकार सघीय ससद को प्राप्त है। इस सूची मे कुल 97 विषय है जिनमे कुछ प्रमुख ये है—रक्षा, वैदेशिक मामले, युद्ध व सन्धि, देशीयकरण व नागरिकता, विदेशियो का आना-जाना, रेलें, बन्दरगाह, हवाई मार्ग, डाक, तार, टेलीफोन व बेतार, मुद्रा निर्माण, बैंक, बीमा, खाने व खनिज, आदि।

राज्य सूची (State List)—इस सूची मे साधारणतया वे विषय रखे गये हैं जो क्षेत्रीय महत्व के है। इस सूची के विषयो पर विधि निर्माण का अधिकार सामान्यतया राज्यों की व्यवस्थापिकाओ को ही प्राप्त है। मूल सविधान के अनुसार इस सूची में 66 विषय थे, लेकिन 42वें सवैधानिक सशोधन (1976) से इस सूची के चार विषय शिक्षा, वन, जगली जानवरो और पक्षियो की रक्षा तथा नाप-तौल, राज्य सूची से समवर्ती सूची मे कर दिये गये है। राज्य सूची के कुछ प्रमुख विषय है . पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक, स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई और सड़के आदि।

समवर्ती सूची (Concurrent List)—इस सूची मे साधारणतया वे विषय रखे गये हैं जिनका महत्व क्षेत्रीय व सघीय दोनो ही दृष्टियो से है। इस सूची के विषयों पर संघ तथा राज्य—दोनो को ही विधियाँ बनाने का अधिकार प्राप्त है। यदि इस सूची के विषय पर संघीय तथा राज्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून परस्पर विरोधी हो, तो सामान्यतः सघ का कानून मान्य होगा। इस सूची मे कुल 47 विषय है, जिनमे से कुछ प्रमुख ये हैं—फौजदारी विषय तथा प्रक्रिया, निवारक निरोध, विवाह और विवाह-विच्छेद, दत्तक और उत्तराधिकार, कारखाने, श्रमिक संघ, औद्योगिक विवाद, आर्थिक और सामाजिक योजना, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, पुनर्वास और पुरातत्व, आदि।

अवशेष विषय (Residuary Subjects)—सयुक्त राज्य अमरीका, स्विट्जरलैण्ड और आस्ट्रेलिया मे अवशेष विषयो के सम्बन्ध मे कानून निर्माण का अधिकार इकाइयो को प्रदान किया गया है, लेकिन भारतीय सघ मे कनाडा के सघ की तरह अवशेष विषयो के सम्बन्ध मे कानून निर्माण की शक्ति सघीय ससद को प्रदान की गयी है।

राज्य सूची के विषयो पर संसद को व्यवस्थापन की शक्ति (Parliament can Legislate on the Subject State of List)

सामान्यतया सविधान द्वारा किये गये इस शक्ति-विभाजन का उल्लंघन किसी भी सत्ता द्वारा नही किया जा सकता। ससद द्वारा राज्य सूची के किसी विषय पर और किसी राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा सघीय सूची के किसी विषय पर निर्मित कानून अवैध होगा। लेकिन ससद के द्वारा कुछ विशेष परिस्थितियो के अन्तर्गत राष्ट्रीय हित तथा राष्ट्रीय एकता हेतु राज्य सूची के विषयो पर भी कानूनो का निर्माण किया जा सकता है। ससद को इस प्रकार की शक्ति प्रदान करने वाले सविधान के कुछ प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित है :

(i) राज्य सूची का विषय राष्ट्रीय महत्व का होने पर—सविधान के अनुच्छेद 249 के अनुसार, यदि राज्य सभा अपने दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है कि राज्य सूची मे निम्नलिखित कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है, तो संसद को उस विषय पर विधि निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसकी मान्यता केवल एक वर्ष तक रहती है। राज्यसभा द्वारा प्रस्ताव पुनः स्वीकृत करने पर इसकी अवधि मे एक वर्ष की वृद्धि और हो जायेगी। इसकी अवधि समाप्त हो जाने के उपरान्त यह 6 माह तक प्रयोग मे आ सकता है।

(ii) राज्यो के विधानमण्डलो द्वारा इच्छा प्रकट करने पर—अनुच्छेद 352 के अनुसार,

यदि दो या दो से अधिक राज्यो के विधानमण्डल प्रस्तावपास कर यह इच्छा व्यक्त करते हैं कि राज्य सूची के किन्ही विषयो पर ससद द्वारा कानून निर्माण किया जाय, तो उन राज्यो के लिए उन विषयो पर अधिनियम बनाने का अधिकार ससद को प्राप्त हो जाता है। राज्यों के विधान मण्डल न तो उन्हें संशोधित कर सकते है और न ही इन्हें पूर्णरूप से समाप्त कर सकते हैं।

(iii) **संकटकालीन घोषणा होने पर** (अनुच्छेद 250)—संकटकालीन घोषणा की स्थिति मे राज्य की समस्त विधायिनी शक्ति पर भारतीय संसद का अधिकार हो जाता है। इस घोषणा की समाप्ति के 6 माह बाद तक संसद द्वारा निर्मित कानून पूर्ववत चलते रहेंगे।

(iv) **विदेशी राज्यों से हुई सन्धियो के पालन हेतु** (अनुच्छेद 253)—यदि संघ सरकार ने विदेशी राज्यो से किसी प्रकार की सन्धि की है अथवा उनके सहयोग के आधार पर किसी नवीन योजना का निर्माण किया है, तो इस सन्धि के पालन हेतु सघ सरकार को सम्पूर्ण भारत के सीमा क्षेत्र के अन्तर्गत पूर्णतया हस्तक्षेप और व्यवस्था करने का अधिकार होगा। इस प्रकार इस स्थिति मे भी ससद को राज्य सूची के विषय पर कानून का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(v) **राज्य में संवैधानिक व्यवस्था भंग होने पर** (अनुच्छेद 356)—यदि किसी राज्य मे संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जाय या सवैधानिक तन्त्र विफल हो जाय तो राष्ट्रपति राज्य विधान-मण्डल के समस्त अधिकार भारतीय संसद को प्रदान कर सकता है।

(vi) **कुछ विधेयकों को प्रस्तावित करने और कुछ की अन्तिम स्वीकृति के लिए केन्द्र का अनुमोदन आवश्यक**—उपर्युक्त परिस्थितियो मे तो ससद द्वारा राज्य सूची के विषयों पर कानूनो का निर्माण किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त भी राज्य व्यवस्थापिकाओ की राज्य सूची के विषयो पर कानून निर्माण की शक्ति सीमित है। अनुच्छेद 304 (ख) के अनुसार कुछ विधेयक ऐसे होते है, जिनके राज्य विधानमण्डल मे प्रस्तावित किये जाने के पूर्व राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, वे विधेयक, जिनके द्वारा सार्वजनिक हित की दृष्टिसे उस राज्य के अन्दर या उससे बाहर, वाणिज्य या मेल-जोल पर कोई प्रतिबन्ध लगाये जाने हो।

अनुच्छेद 31 (ग) के अनुसार, राज्य सूची के ही कुछ विषयो पर राज्यो की व्यवस्थापिकाओ द्वारा पारित विधेयक उस दशा मे अमान्य होगे, यदि उन्हे राष्ट्रपति ने विचारार्थ रोक रखा हो और उन पर राष्ट्रपति की स्वीकृति न प्राप्त कर ली गयी हो। उदाहरण के लिए, किसी राज्य द्वारा सम्पत्ति के अधिग्रहण के लिए बनाये गये कानूनो का समवर्ती सूची के विषयों के बारे मे ऐसे कानूनो, जो संसद के उससे पहले बनाये गये कानूनो के प्रतिकूल हों या उन पर जिनके द्वारा ऐसी वस्तुओ की खरीद और बिक्री पर लगाया जाने वाला कर हो, जिन्हें संसद ने समाज के जीवन के लिए आवश्यक घोषित कर दिया है, राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है।

अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्यपाल किसी भी विधेयक के बारे मे अपनी सहमति देने से इन्कार कर सकता है और उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रख सकता है। राष्ट्रपति बिना कोई कारण बताये विधेयको को अस्वीकृत कर सकता है। सन् 1959 मे केरल के राज्यपाल ने केरल कृषि भूमि सम्बन्धी विधेयको को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा। इसी बीच अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत आपातकाल की घोषणा द्वारा राज्य विधानसभा को भग कर दिया गया। नये चुनावो के बाद बनी विधानसभा ने राष्ट्रपति द्वारा दिये गये सुझावो को शामिल कर कानून को सन् 1961 मे पास कर दिया।

केन्द्र के द्वारा इन सवैधानिक प्रावधानो के आधार पर व्यवहार में भी अपने आपको शक्तिशाली बनाने का कार्य किया गया है। उदाहरण के लिए, 1954 मे तृतीय सशोधन के आधार पर समवर्ती सूची के विषयो [illegible] की [illegible] से कि खाद्यान्न के अभाव मे उत्पन्न स्थिति का सामना करने के लिए [illegible] कदम उठा सके।

राज्य सूची के विषयो पर केन्द्रीय हस्तक्षेप—राज्यो द्वारा यह भी शिकायत की गयी है कि केन्द्र उद्योग, व्यापार एव वाणिज्य जैसे विषयो पर कानून बनाने लग गया है, जबकि ये विषय राज्य सूची मे उल्लिखित है । सन् 1951 में ससद ने 'उद्योग विकास एव नियन्त्रण अधिनियम' पारित किया, जिसमे उन उद्योगो का उल्लेख किया गया जिनको जनहित मे केन्द्र द्वारा नियन्त्रित करना आवश्यक था । धीरे-धीरे अनेक उद्योगो को इस अधिनियम के अन्तर्गत ले लिया गया । इस प्रकार राज्य-सूची मे वर्णित 24, 26 तथा 27 सख्या वाले विषयो पर केन्द्र का अधिकार स्थापित हो गया । यही नही, रेजर पत्ती, कागज, गोद, जूते, माचिस, साबुन, आदि विषयो पर भी केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण स्थापित हो गया । राज्य के नेताओ का कहना है कि इस प्रकार के अत्यधिक केन्द्रीयकरण से राज्यो का आर्थिक विकास अवरुद्ध हो गया है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत मे साधारणतया सघीय संसद तथा राज्यो की व्यवस्थापिकाओ के कार्यक्षेत्र संविधान द्वारा विभाजित हैं, लेकिन विशेष परिस्थितियो में संघ सरकार द्वारा राज्य सरकार के कार्यक्षेत्र का अतिक्रमण किया जा सकता है । के० वी० राव ने ठीक ही कहा है कि "राज्य सूची मे दिये गये विषय कितने महत्वहीन, कितने सदिग्ध और अस्पष्ट हैं ।" पायली के अनुसार, "विधायी सत्ता के वितरण की सूची योजना से नि सन्देह केन्द्रीयकरण की एक प्रवल प्रवृत्ति प्रकट होती है ।" डॉ० महादेवप्रसाद शर्मा ने लिखा है कि "जब राज्यो के सिर पर संघ का भय सर्वदा विद्यमान रहता है तो उनसे यह अपेक्षा नही की जा सकती है कि वे पूर्ण विश्वास के साथ अपने अधिकारो की मांग दृढतापूर्वक करेंगे ।" अमर नन्दी ने लिखा है कि "विशाल मूर्ति की भांति केन्द्र ही सारे रचमच पर छाया रहता है ।"[1]

(2) भारतीय संघ में केन्द्र-राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध
(CENTRE-STATE ADMINISTRATIVE RFLATIONS)

सघात्मक शासन की सवसे कठिन समस्या सघ तथा राज्यो के प्रशासनिक सम्बन्धो का समायोजन करना है । यदि सविधान मे तत्सम्बन्धी स्पष्ट तथ्य उपलब्ध न हो तो दोनो को अपना दायित्व निभाने मे कठिनाई का अनुभव होता है । इसलिए भारतीय सविधान-निर्माताओ ने इस सम्बन्ध मे विस्तृत उपबन्धो की आवश्यकता अनुभव की ताकि प्रशासनिक क्षेत्र मे सघ तथा राज्यो के मध्य किसी प्रकार के विवाद उत्पन्न न हो ।

प्रशासनिक सम्बन्ध : संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में (Administrative Relation : Constitutional Aspect)

भारतीय सविधान मे ग्यारहवें भाग के दूसरे अध्याय मे केन्द्र तथा राज्यो के बीच प्रशासनिक सम्बन्धो की चर्चा की गयी हैं । सविधान के अनुच्छेद 73 के अनुसार, केन्द्र की प्रशासकीय शक्ति उन विषयो तक सीमित है जिन पर ससद को विधि निर्माण का अधिकार प्राप्त है । इसी प्रकार सविधान के अनुच्छेद 162 के अनुसार, राज्यो की प्रशासकीय शक्तियाँ उन विषयो तक सीमित है जिन पर राज्य विधानसभाओ को कानून बनाने का अधिकार है । समवर्ती सूची के विषयो के सम्बन्ध मे प्रशासनिक अधिकार साधारणतया राज्यो मे निहित हैं किन्तु इन विषयो पर राज्य की प्रशासकीय शक्तियो को सघ की ऐसी प्रशासनिक शक्तियो द्वारा सीमित रखा गया है जो या तो संविधान द्वारा या ससदीय विधि द्वारा प्रदत्त है ।

प्रशासनिक सम्बन्धो मे केन्द्र को राज्यो के ऊपर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्रदान किया गया है, किन्तु इसके वावजूद राज्यो को स्वायत्तता एव जिम्मेदारी का वडा क्षेत्र मिला हुआ है । फिर भी, कुछ विद्वानो को महसूस होना है कि इन सम्बन्धो ने राज्यो की स्वायत्तता को कम किया

1 "Centre dominates the Scene like a colossus", Amar Nandi : *Constitutions of India*, p. 19.

है क्योकि एक ही दल का बोलबाला है और "राज्यो के मुकाबले एक अत्यन्त शक्तिशाली सस्था के रूप मे केन्द्रीय कार्यपालिका का उदय हुआ है तथा केन्द्र को अधिक अधिकार मिल गये हैं।"

राज्यो के ऊपर संघीय नियन्त्रण की विधियाँ—संविधान के अन्तर्गत सघीय राज्यों के प्रशासकीय सम्वन्धों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से संघीय सरकार को राज्यो के मम्वन्ध मे कतिपय प्रशासकीय शक्तियाँ प्राप्त है जो निम्नवत् है :

(1) **राज्यों का दायित्व** (Obligation of the States)—सविधान के अनुसार राज्यो को अपनी कार्यपालिका शक्ति का उपयोग इस प्रकार करना चाहिए जिससे संसद के कानूनो का पालन होता रहे। हर राज्य का यह कर्तव्य है कि वह ससद के कानूनो को अमल मे लाने के लिए हर सम्भव उपाय काम मे लाये। राज्यो का यह भी दायित्व है कि वे केन्द्रीय प्रशासन मे कोई बाधा उत्पन्न न होने दे।[1]

(2) **केन्द्र सरकार राज्यो को निर्देश दे सकती है** (The Centre may give directions to the States)—केन्द्र को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्यो को यह निर्देश दे सके कि उन्हे अपनी कार्यकारी शक्ति का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए। राष्ट्रीय व सैनिक महत्व के मार्गों व पुलो आदि का निर्माण साधारणतया केन्द्रीय सरकार ही करती है। परन्तु केन्द्र को यह अधिकार प्राप्त है कि इस प्रकार के मार्गों के निर्माण व उनके उचित रख-रखाव के लिए वह राज्यो को आवश्यक निर्देश दे सके। इसी प्रकार रेलमार्गो तथा रेलगाड़ियो की सुरक्षा के लिए भी निर्देश जारी किये जा सकते है।[2]

(3) **केन्द्र राज्यो की सरकारो का उपयोग अपने एजेण्ट के रूप में कर सकता है** (The Union may constitute States as its agents)—राष्ट्रपति राज्यो की सरकारो अथवा उसके पदाधिकारियो को अपने एजेण्ट के रूप मे कोई भी कार्य करने की जिम्मेदारी सौप सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि सघ सूची मे दिये गये किसी भी विषय से सम्बन्धित कोई भी कार्य राज्यो के पदाधिकारियो को सौपा जा सकता है।

(4) **सरकारी कृत्यो, अभिलेखो और न्यायिक कार्यवाही को पूरी मान्यता दी जायेगी** (Full faith shall be given to Public acts, records and Judicial Proceedcings)—केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार दोनो का यह कर्तव्य है कि वे सभी सरकारी कृत्यो का आदर करें और देश के सभी न्यायालयो द्वारा दिये गये अन्तिम निर्णयो को लागू करे।

(5) **दो या अधिक राज्यो में बहने वाले जलाशयों व नदियों के जल का बँटवारा** (Waters of Inter-State rivers)—ससद को यह अधिकार है कि अन्तर्राज्यीय नदियो के बँटवारे से उत्पन्न विचार को निपटाने के लिए वह उचित कानून बनाये। ससद किसी भी नदी या नदी-घाटी परियोजना के पानी के इस्तेमाल, वितरण या नियन्त्रण-सम्बन्धी विवाद के सिलसिले मे मध्यस्थता की व्यवस्था कर सकती है। ससद, सर्वोच्च न्यायालय या किसी अन्य न्यायालय को इस प्रकार के विवादो पर विचार करने से रोक सकती है। यह एक महत्वपूर्ण अधिकार है और इसका इस्तेमाल कृषि एव औद्योगिक विकास के लिए पानी और बिजली जैसी सुविधा की व्यवस्था के लिए किया जा सकता हैं। साथ ही इसका उपयोग दामोदर घाटी निगम जैसी बहुउद्देश्यीय परियोजनाओ के लिए किया जा सकता है।

(6) **अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना** (Establishment of an Inter-State Council)—

1 अनुच्छेद 257।
2 अनुच्छेद 256।

सविधान राष्ट्रपति को अधिकार देता है कि वह एक अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना करे[1] जिसके निम्नलिखित तीन विशेष कार्य होंगे :

(1) राज्यो के बीच उठ खडे होने वाले विवादो की जाँच करना तथा उनके सम्बन्ध मे सलाह देना;

(ii) उन विषयो पर छानबीन कर विचार करना जिनमे राज्यों की एक समान दिलचस्पी हो;

(iii) इन विषयो, और विशेषकर इनसे सम्बन्धित नीति एवं कार्य के बेहतर समन्वय के सम्बन्ध मे सिफारिशें करना। राष्ट्रपति इस परिषद के सगठन और प्रक्रिया को निर्धारित एव इसके कर्तव्यो को परिभाषित कर सकता है।

(7) **अखिल भारतीय सेवाएँ (All India Services)**—सघ द्वारा राज्यो को नियन्त्रित करने का एक महत्वपूर्ण तरीका है अखिल भारतीय सेवाएँ। यद्यपि राज्यो और केन्द्र की पृथक् सेवाएँ और लोक सेवा आयोग है, फिर भी सविधान अखिल भारतीय सेवाओ की स्थापना के लिए सघ को अधिकार देता है। सघ को इन सेवाओ के सदस्यो को राज्यो के महत्वपूर्ण प्रशासनिक पदो पर रखने का अधिकार होता है।

(8) **राज्यपाल (Governor)**—राज्यो के राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और एक प्रकार से वे राज्यों मे केन्द्र के एजेण्ट के नाते कार्य करते हैं। उनके माध्यम से केन्द्रीय सरकार राज्यो के शासन पर अकुश रख सकती है।

इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे भी विषय हैं जिनका सम्बन्ध यद्यपि दोनो सरकारो से है तथापि जिनका निर्धारण केन्द्रीय सरकार ही करती है। उदाहरण के लिए, निर्वाचन, लेखा परीक्षण आदि।

सविधान के अनुच्छेद 365 के अनुसार यदि राज्य की सरकार केन्द्र के निर्देशो का पालन न करे तो राष्ट्रपति यह उद्घोषणा कर सकता है कि राज्य का सवैधानिक ढांचा विफल हो गया है। इस घोषणा का परिणाम यह होगा कि राज्य मे राष्ट्रपति शासन लागू हो जायेगा।

राज्यो की स्वायत्तता मे कमी—सक्षेप मे, सविधान केन्द्रीय कार्यपालिका के प्रावल्य का प्रावधान करता है। हक्की और शर्मा की दलील है कि सघीय प्रशासकीय सम्बन्धो की क्रिया के कारण राज्यो की स्वायत्तता मे इतनी कमी आ गयी है कि सघीय राज्यतन्त्र के सहकारी स्वरूप पर आघात पहुँचा है।

(3) केन्द्र-राज्य विवादास्पद क्षेत्र : कतिपय प्रशासनिक मामले
(CENTRE-STATE AREAS OF CONFLICT : ADMINISTRATIVE ASPECTS)

अपने प्रारम्भिक वर्षों मे भारतीय संघ व्यवस्था की प्रमुख विशेषता थी—केन्द्र-राज्य सहयोग। ज्यो-ज्यो सविधान और सघ प्रणाली प्रौढ होती गयी त्यो-त्यो उसमे दरारें दिखने लगी और आज अनेक ऐसे मुद्दे प्रशासनिक तौर से दिखायी देते हैं जहाँ केन्द्र और राज्यो मे मतभेद की झलक मिलती है।

चतुर्थ आम चुनाव (1967) से पूर्व 'नेहरू युग' मे केन्द्र और राज्यो के सम्बन्ध 'मधुर' कहे जा सकते है। इस कालावधि मे देश के राजनीतिक क्षितिज पर काग्रेस दल का एकाधिकार था और केन्द्र व राज्यो के बीच सघर्षपूर्ण स्थिति उत्पन्न नही हुई। केन्द्र-राज्य विवाद को 'काग्रेस दल के अन्तरग' का मामला (Intra-party Affair) समझा जाता था और उसका निराकरण उसी प्रकार खोजा जाता था जैसे किसी पारिवारिक विवाद का हल खोजते है। नेहरू जैसे

---

[1] अनुच्छेद 263।

करिश्माती व्यक्तित्व के आगे तो छोटे-मोटे विवादो का हल खोजना कोई मुश्किल भी नही था ।[1] किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि उस युग में मतभेद के कोई मुद्दे नही होते थे । हम सभी जानते है कि राज्यो के कतिपय शक्तिशाली मुख्यमन्त्री तो कभी-कभी दबाव की भाषा मे ही बात करते थे । पश्चिमी बगाल मे तात्कालिक मुख्यमन्त्री डॉ० बी० सी० राय ने 'दामोदर घाटी कॉरपोरेशन' (डी० वी० सी०) के मामले पर कितना दबावपूर्ण और उग्र रुख अपनाया था ?[2] भारत मे पनपी 'काग्रेस-व्यवस्था' (Congress System) अथवा 'एक-दल प्रधान व्यवस्था' की विशेषता थी 'परामर्श और सर्वानुमति की विधि' (Consultation-Consensus Technique) और स विधि के माध्यम से मतभेदो को उग्र रूप धारण नही करने दिया जाता था । डॉ० इकबाल नारायण के शब्दो मे, ऐसा लगता है मानो संघ व्यवस्था एकात्मक दलीय ढांचे के अन्तर्गत कार्यरत थी और यह आश्चर्य की ही बात है कि इसने संघ व्यवस्था के विकास का मार्ग अवरुद्ध नही किया ।[3]

चतुर्थ आम चुनावों के बाद (और छठी, आठवी एवं नवी लोकसभा एवं उसके बाद राज्य विधानसभाओ के चुनावो के बाद) भारतीय राजनीति मे एक नया मोड आया । अब सघ प्रणाली का क्रियान्वयन 'एक-दल प्रधान ढाँचे' (One-Party Dominant Framework) के बजाय 'बहुदलीय प्रतियोगी राजनीति' (Multi-party Competitive Politics) के ढांचे मे होने लगा । चतुर्थ आम चुनावो के बाद काग्रेस दल का एकाधिकार समाप्त हुआ और अनेक राज्यो मे गैर-कांग्रेसी दलो की सरकारें बनी । ये गैर-काग्रेसी राज्य सरकारे केन्द्रीय सरकार को अविश्वास और शंका की दृष्टि से देखने लगी । इसी कालावधि मे कई राज्यो मे क्षेत्रीय एव प्रादेशिक दलो का अभ्युदय हुआ । क्षेत्रीय दलो का ध्येय अपनी शक्ति मे वृद्धि करना और केन्द्रीय सत्ता को दुर्बल करना रहा । गैर-कांग्रेसी दलो के मुख्यमन्त्री तो प्रायः छोटी-छोटी बातो को तूल देने लगे और केन्द्र के विरुद्ध बार-बार शिकायतें प्रस्तुत करने लगे । वस्तुत केन्द्र और राज्यो के मध्य तनाव और मतभेद के युग का सूत्रपात हुआ ।

संक्षेप मे, केन्द्र तथा राज्यो के मध्य उठने वाले विवादास्पद प्रशासनिक मुद्दे निम्नलिखित है :

(1) राज्यपाल का पद—राज्यपाल राज्य का सवैधानिक कार्यकारी है । चतुर्थ आम चुनावो के बाद राज्यपालो के अधिकार-क्षेत्र, नियुक्ति के तरीके, आदि को लेकर केन्द्र-राज्य मतभेद उत्पन्न हुए । गैर-काग्रेसी राज्य सरकारें बराबर यह आरोप लगाती रही कि केन्द्र राज्यपालो के माध्यम से उनकी सरकारो को पदच्युत करने मे लगा हुआ है । गैर-कांग्रेसी मुख्यमन्त्रियो का यह भी कहना था कि उनके राज्यो मे राज्यपालो की नियुक्ति करते समय उनसे परामर्श किये जाने की परम्परा का केन्द्र पालन नही कर रहा है । कतिपय राज्यपालो ने तो सुनिश्चित लोकतान्त्रिक अभिसमयो का भी पालन नही किया और ऐसा आभास मिलता था कि उन्होने केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट की भूमिका का निर्वाह करने मे ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली । राज्यपाल धर्मवीर की भूमिका को लेकर पश्चिमी बगाल और केन्द्रीय सरकार के मध्य विवाद इतना उग्र हो गया कि अन्तत. राज्यपाल को स्थानान्तरित ही करना पडा ।[4] आन्ध्रप्रदेश के तात्कालिक राज्यपाल रामलाल ने एन० टी० रामाराव की तेलगु देशम् सरकार (1984) को बर्खास्त करके

1 Iqbal Narain: *Twilight or Dawn – Political Change in India* (1967-71), pp 92-93.
2 Marcus F. Franda: *West Bengal and Federalising Process in India* – Princeton University Press, 1968—उपर्युक्त पुस्तक मे इस घटना का विस्तार से वर्णन किया गया है ।
3 Iqbal Narain *op cit*, p. 93.
4 O P. Goyal: *India: Government and Politics* (New Delhi), 1979, pp. 110-25.

राज्यपाल पद को अत्यन्त हास्यास्पद बना दिया, जबकि विधानसभा मे रामाराव को स्पष्ट बहुमत प्राप्त था। समूचे आन्ध्रप्रदेश मे राज्यपाल और केन्द्र के खिलाफ जनआक्रोश जब अपनी चरम सीमा पर पहुँचा तो रामाराव की सरकार को पुन पदासीन करना पड़ा और राज्यपाल को बेआबरू हटना पडा।

(2) **नौकरशाही**—नौकरशाही दूसरा प्रशासनिक विषय है जिस पर केन्द्र तथा राज्यों के बीच मतभेद दिखलायी देते है। भारत मे अखिल भारतीय सेवाओ के माध्यम से सघ सरकार राज्यो पर नियन्त्रण रखती है। सविधान मे सघ तथा राज्य सरकारो के लिए अलग-अलग सेवाओ की व्यवस्था की गयी है। परन्तु ब्रिटिश शासन से विरासत मे हमने एकीकृत उच्च प्रशासनिक सेवाओ की पद्धति भी प्राप्त की है तदनुसार अखिल भारतीय सेवाओ के कर्मचारी संघ तथा राज्य दोनो जगह कार्य करते है। सविधान मे यह व्यवस्था है कि भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा संघ और राज्यो मे समान रूप से कार्य करेंगी। चतुर्थ आम चुनाव के बाद नौकरशाही के सम्बन्ध मे दो प्रश्न सामने आये · पहला प्रश्न यह था कि क्या नौकरशाही गैर-काग्रेसी राज्य सरकारो की नीतियो का क्रियान्वयन उसी उत्साह तथा प्रतिबद्धता से कर पायेगी, जिस उत्साह से वह अब तक काग्रेस सरकार की नीतियो का क्रियान्वयन करती थी। यह प्रश्न वस्तुतः सरकारी कर्मचारियो की तटस्थता से जुडा हुआ है। कतिपय लोगो के मन मे यह धारणा थी कि तीस वर्षों तक काग्रेस दल के कार्यक्रमो और नीतियो को कार्यान्वित करने वाली नौकरशाही तमिलनाडु मे द्रमुक-अन्ना द्रमुक, केरल मे साम्यवादी दल, पश्चिमी बगाल मे मार्क्सवादी-साम्यवादी दल और पजाब मे अकाली दल की नीतियो और कार्यक्रमो का सहजता से कैसे क्रियान्वयन कर पायेगी ? दूसरा सवाल नयी अखिल भारतीय सेवाओ के गठन से सम्बन्धित था। कुछ गैर-काग्रेसी राज्य सरकारो ने कहा कि अखिल भारतीय सेवाओ के कर्मचारी केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट होते हैं तथा वे राज्य की नीतियो को ठीक ढग से लागू नही करते है। कई राज्यो ने निम्नलिखित कारणो से अखिल भारतीय सेवाओ का विरोध किया—**प्रथम**, अखिल भारतीय सेवाओ के निर्माण से राज्य सेवाओ का विस्तार रुक जाता है और स्थानीय लोगो के उच्च सेवाओ मे आने के अवसर कम हो जाते है। **द्वितीय**, अखिल भारतीय सेवाएँ राज्यो की स्वायत्तता को कम करती है। **तृतीय**, अखिल भारतीय सेवाओं के कर्मचारियो का वेतन स्तर उच्च होता है जिससे राज्य की वित्तीय स्थिति प्रभावित होती है।[1] वस्तुतः अखिल भारतीय सेवाएँ केन्द्र-राज्य सम्बन्धो मे कटुता बढाने का कारण इसलिए बन जाती हैं क्योकि वे उनकी नियुक्ति, पदोन्नति और अनुशासनात्मक कार्यवाहियो के मामलो पर केन्द्रीय सरकार पर निर्भर करती है और राज्यो मे उनके प्रति अपनत्व की भावना नही दिखलायी देती है।

(3) **कानून और व्यवस्था के मामलों पर राज्यो को केन्द्रीय निर्देश**—क्या राज्य सरकारो को केन्द्रीय सरकार के निर्देशो का पालन करना बाध्यकारी है ? यदि राज्य सरकारें सघीय निर्देशो का पालन न करें तो क्या व्यवस्था होगी ? यह एक विचारणीय प्रश्न है कि जब राज्य सीमा के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति की सुरक्षा राज्य सरकारे न कर सके तो केन्द्रीय सरकार क्या करें ? जब राष्ट्रीय सम्पत्ति की रक्षा के लिए केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय रिजर्व पुलिस को कतिपय राज्यो में तैनात किया तो केरल, पश्चिमी बगाल और तमिलनाडु की सरकारो ने केन्द्र की इस शक्ति पर आपत्ति उठायी और इससे केन्द्र तथा राज्यो के सम्बन्धो मे कटुता आयी। 18 सितम्बर, 1968 को केन्द्रीय कर्मचारियो की हडताल का सामना करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने

---

1 B L.Maheshwari : *Centre-State Relations in Serventies* (Calcutta), 1973. p. 4.

राज्यो को एक अध्यादेश द्वारा वांछित निर्देश प्रदान किये। केरल की साम्यवादी सरकार ने केन्द्रीय अध्यादेश को संविधान विरोधी और श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इन्कार कर दिया। ऐसी गम्भीर स्थिति मे जब राज्य मे केन्द्रीय रिजर्व पुलिस तैनात की गयी तो केन्द्र-राज्य सम्बन्ध का अग्रतम रूप उभरने लगा। मुख्यमन्त्री नम्बूदरीपाद ने आरोप लगाया कि राज्य मे केन्द्रीय रिजर्व पुलिस का आगमन राज्य के आन्तरिक मामलो मे सरासर हस्तक्षेप है।

वस्तुत: केन्द्र का यह सवैधानिक अधिकार है कि वह कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए, सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए, केन्द्रीय प्रतिष्ठानो की रक्षा के लिए केन्द्रीय रिजर्व पुलिस राज्यो मे तैनात करें। किन्तु वे राज्य सरकारे जो केन्द्र मे सत्तारूढ दल से मेल नही खाती, इसे राज्य के आन्तरिक मामलो मे अनुचित हस्तक्षेप कहकर केन्द्र-राज्य सघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं।

(4) **आर्थिक नियोजन**—के० सन्थानम् के अनुसार, नियोजन व्यवस्था ने नीति और वित्त सम्बन्धी सभी मामलो मे राज्यो की स्वायत्तता को एक छाया का रूप प्रदान कर दिया है। वस्तुत नियोजन का सघवाद पर जो प्रभाव पडा है उसने केन्द्रीयकरण को प्रोत्साहन दिया है। भारत मे सम्पूर्ण देश—केन्द्र एव राज्यो के लिए योजना निर्माण का कार्य योजना आयोग करता है। यह एक केन्द्रीय अभिकरण है जिसका निर्माण केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के एक प्रस्ताव के आधार पर हुआ है। इसमे प्रधानमन्त्री, कुछ केन्द्रीय मन्त्री तथा विशेषज्ञ होते हैं। इसमे राज्यो का कोई प्रतिनिधित्व नही है। यह नीतियो की एकरूपता पर बल देता है। यह आयोग समूचे देश के लिए यह मानकर योजना बनाता है कि मोटे तौर से सभी राज्यो की परिस्थितियाँ समान है। नियोजन का सम्बन्ध शासन के समस्त विषयो से है, चाहे वह विषय सघ सूची का हो अथवा राज्य सूची का। राज्य सूची के विषयो पर भी योजना आयोग एक 'सुपरमैन' बन गया है। नियोजन के परिणामस्वरूप ही केन्द्र उद्योग, व्यापार एव वाणिज्य जैसे विषयो पर कानून बनाने लग गया, जबकि ये विषय राज्य सूची मे उल्लिखित है। यही नही, आज रेजर पत्ती, कागज, गोद, माचिस, साबुन जैसे विषयो पर भी केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण स्थापित हो गया है।

बदले राजनीतिक परिप्रेक्ष्य मे यह देखा गया है कि अब राज्य योजना आयोग तथा केन्द्रीय सरकार के निर्णयो को ज्यो-का-त्यो स्वीकार नही कर लेते है। इस बात का आभास 19 व 20 अप्रैल, 1969 को दिल्ली मे हुई राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक से मिलता है। राष्ट्रीय विकास परिषद के इतिहास मे पहली बार कुछ राज्यो ने चौथी योजना के प्रारूप को औपचारिक रूप से अस्वीकृति प्रदान की। पश्चिमी बगाल तथा केरल के मुख्यमन्त्री और दिल्ली के मुख्य कार्यकारी पार्षद ने योजना को उसी रूप मे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। वस्तुत. अब अनेक राज्यो मे केन्द्र की सरकार से भिन्न दलो की सरकारे होने के कारण हाँ में हाँ मिलाने की प्रवृत्ति नही रही और आर्थिक नियोजन विवादास्पद मसला बनता जा रहा है।

केन्द्र-राज्य प्रशासनिक समायोजन के उपकरण

(INSTRUMENTS OF CENTRE-STATE ADMINISTRATIVE CO-ORDINATION)

केन्द्र और राज्यों के मध्य विचार-विमर्श आवश्यक ही नही, वांछनीय भी है। ऐसा करने से एक सघ व्यवस्था मे केन्द्र-राज्यो के बीच साझेदारी की भावना बढती है और सद्भाव के साथ कार्य करने के लिए निर्णय प्रक्रिया के 'आगत' (इनपुट) भी बढते हैं। यद्यपि भारत के संविधान ने केन्द्रीय सरकार पर बहुत सारे कार्यों का भारी भार डाला है, फिर भी राष्ट्र निर्माण के सभी महत्वपूर्ण कार्यों में जैसे—कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा शान्ति व्यवस्था, आदि मे केन्द्र सरकार राज्य सरकारो पर गम्भीर रूप से निर्भर रहती है। इस सम्बन्ध मे क्योंकि केन्द्र के निर्देश राज्यो

राज्यपाल पद को अत्यन्त हास्यास्पद बना दिया, जबकि विधानसभा मे रामाराव को स्पष्ट बहुमत प्राप्त था। समूचे आन्ध्रप्रदेश मे राज्यपाल और केन्द्र के खिलाफ जनआक्रोश जब अपनी चरम सीमा पर पहुँचा तो रामाराव की सरकार को पुनः पदासीन करना पडा और राज्यपाल को बेआबरू हटना पडा।

(2) **नौकरशाही**—नौकरशाही दूसरा प्रशासनिक विषय है जिस पर केन्द्र तथा राज्यों के बीच मतभेद दिखलायी देते है। भारत मे अखिल भारतीय सेवाओ के माध्यम से सघ सरकार राज्यो पर नियन्त्रण रखती है। सविधान मे सघ तथा राज्य सरकारो के लिए अलग-अलग सेवाओ की व्यवस्था की गयी है। परन्तु ब्रिटिश शासन से विरासत मे हमने एकीकृत उच्च प्रशासनिक सेवाओ की पद्धति भी प्राप्त की है तदनुसार अखिल भारतीय सेवाओ के कर्मचारी संघ तथा राज्य दोनो जगह कार्य करते है। सविधान मे यह व्यवस्था है कि भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा संघ और राज्यों मे समान रूप से कार्य करेंगी। चतुर्थ आम चुनाव के बाद नौकरशाही के सम्बन्ध मे दो प्रश्न सामने आये **पहला प्रश्न** यह था कि क्या नौकरशाही गैर-कांग्रेसी राज्य सरकारो की नीतियो का क्रियान्वयन उसी उत्साह तथा प्रतिबद्धता से कर पायेगी, जिस उत्साह से वह अब तक कांग्रेस सरकार की नीतियो का क्रियान्वयन करती थी। यह प्रश्न वस्तुतः सरकारी कर्मचारियो की तटस्थता से जुडा हुआ है। कतिपय लोगो के मन मे यह धारणा थी कि तीस वर्षों तक कांग्रेस दल के कार्यक्रमो और नीतियो को कार्यान्वित करने वाली नौकरशाही तमिलनाडु मे द्रमुक-अन्ना द्रमुक, केरल मे साम्यवादी दल, पश्चिमी बगाल में मार्क्सवादी-साम्यवादी दल और पजाब मे अकाली दल की नीतियो और कार्यक्रमो का सहजता से कैसे क्रियान्वयन कर पायेगी? **दूसरा सवाल** नयी अखिल भारतीय सेवाओ के गठन से सम्बन्धित था। कुछ गैर-कांग्रेसी राज्य सरकारो ने कहा कि अखिल भारतीय सेवाओ के कर्मचारी केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट होते हैं तथा वे राज्य की नीतियो को ठीक ढग से लागू नही करते है। कई राज्यो ने निम्नलिखित कारणो से अखिल भारतीय सेवाओ का विरोध किया—**प्रथम**, अखिल भारतीय सेवाओ के निर्माण से राज्य सेवाओ का विस्तार रुक जाता है और स्थानीय लोगो के उच्च सेवाओ मे आने के अवसर कम हो जाते हैं। **द्वितीय**, अखिल भारतीय सेवाएँ राज्यो की स्वायत्तता को कम करती है। **तृतीय**, अखिल भारतीय सेवाओ के कर्मचारियो का वेतन स्तर उच्च होता है जिससे राज्य की वित्तीय स्थिति प्रभावित होती है।[1] वस्तुतः अखिल भारतीय सेवाएँ केन्द्र-राज्य सम्बन्धो मे कटुता बढ़ाने का कारण इसलिए बन जाती हैं क्योकि वे उनकी नियुक्ति, पदोन्नति और अनुशासनात्मक कार्यवाहियो के मामलो पर केन्द्रीय सरकार पर निर्भर करती है और राज्यो मे उनके प्रति अपनत्व की भावना नही दिखलायी देती है।

(3) **कानून और व्यवस्था के मामलों पर राज्यो को केन्द्रीय निर्देश**—क्या राज्य सरकारो को केन्द्रीय सरकार के निर्देशो का पालन करना बाध्यकारी है? यदि राज्य सरकारे सघीय निर्देशो का पालन न करे तो क्या व्यवस्था होगी? यह एक विचारणीय प्रश्न है कि जब राज्य सीमा के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति की सुरक्षा राज्य सरकारे न कर सके तो केन्द्रीय सरकार क्या करें? जब राष्ट्रीय सम्पत्ति की रक्षा के लिए केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय रिजर्व पुलिस को कतिपय राज्यो मे तैनात किया तो केरल, पश्चिमी बगाल और तमिलनाडु की सरकारो ने केन्द्र की इस शक्ति पर आपत्ति उठायी और इससे केन्द्र तथा राज्यो के सम्बन्धो मे कटुता आयी। 18 सितम्बर, 1968 को केन्द्रीय कर्मचारियो की हडताल का सामना करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने

---

1 B.L.Maheshwari : *Centre-State Relations in Seventies* (Calcutta), 1973. p. 4

राज्यो को एक अध्यादेश द्वारा वांछित निर्देश प्रदान किये। केरल की साम्यवादी सरकार ने केन्द्रीय अध्यादेश को सविधान- विरोधी और श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इन्कार कर दिया। ऐसी गम्भीर स्थिति मे जब राज्य मे केन्द्रीय रिजर्व पुलिस तैनात की गयी तो केन्द्र-राज्य सम्बन्ध का अग्रतम रूप उभरने लगा। मुख्यमन्त्री नम्बूदरीपाद ने आरोप लगाया कि राज्य में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस का आगमन राज्य के आन्तरिक मामलो मे सरासर हस्तक्षेप है।

वस्तुत. केन्द्र का यह सवैधानिक अधिकार है कि वह कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए, सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए, केन्द्रीय प्रतिष्ठानो की रक्षा के लिए केन्द्रीय रिजर्व पुलिस राज्यो मे तैनात करे। किन्तु वे राज्य सरकारें जो केन्द्र में सत्तारूढ दल से मेल नही खाती, इसे राज्य के आन्तरिक मामलो मे अनुचित हस्तक्षेप कहकर केन्द्र-राज्य सघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर देती है।

(4) **आर्थिक नियोजन**—के० सन्थानम् के अनुसार, नियोजन व्यवस्था ने नीति और वित्त सम्बन्धी सभी मामलो मे राज्यो की स्वायत्तता को एक छाया का रूप प्रदान कर दिया है। वस्तुत नियोजन का संघवाद पर जो प्रभाव पडा है उसने केन्द्रीयकरण को प्रोत्साहन दिया है। भारत में सम्पूर्ण देश—केन्द्र एव राज्यो के लिए योजना निर्माण का कार्य योजना आयोग करता है। यह एक केन्द्रीय अभिकरण है जिसका निर्माण केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के एक प्रस्ताव के आधार पर हुआ है। इसमे प्रधानमन्त्री, कुछ केन्द्रीय मन्त्री तथा विशेषज्ञ होते है। इसमें राज्यो का कोई प्रतिनिधित्व नही है। यह नीतियो की एकरूपता पर बल देता है। यह आयोग समूचे देश के लिए यह मानकर योजना बनाता है कि मोटे तौर से सभी राज्यो की परिस्थितियाँ समान है। नियोजन का सम्बन्ध शासन के समस्त विषयो से है, चाहे वह विषय सघ सूची का हो अथवा राज्य सूची का। राज्य सूची के विषयो पर भी योजना आयोग एक 'सुपरमैन' बन गया है। नियोजन के परिणामस्वरूप ही केन्द्र उद्योग, व्यापार एव वाणिज्य जैसे विषयो पर कानून बनाने लग गया, जबकि ये विषय राज्य सूची मे उल्लिखित है। यही नही, आज रेजर पत्ती, कागज, गोद, माचिस, साबुन जैसे विषयो पर भी केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण स्थापित हो गया है।

बदले राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में यह देखा गया है कि अब राज्य योजना आयोग तथा केन्द्रीय सरकार के निर्णयो को ज्यो-का-त्यो स्वीकार नही कर लेते है। इस बात का आभास 19 व 20 अप्रैल, 1969 को दिल्ली मे हुई राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक से मिलता है। राष्ट्रीय विकास परिषद के इतिहास मे पहली बार कुछ राज्यो ने चौथी योजना के प्रारूप को औपचारिक रूप से अस्वीकृति प्रदान की। पश्चिमी बगाल तथा केरल के मुख्यमन्त्री और दिल्ली के मुख्य कार्यकारी पार्षद ने योजना को उसी रूप मे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। वस्तुत अब अनेक राज्यो मे केन्द्र की सरकार मे भिन्न दलो की सरकारे होने के कारण हाँ मे हाँ मिलाने की प्रवृत्ति नही रही और आर्थिक नियोजन विवादास्पद मसला बनता जा रहा है।

केन्द्र-राज्य प्रशासनिक समायोजन के उपकरण

(INSTRUMENTS OF CENTRE-STATE ADMINISTRATIVE CO-ORDINATION)

केन्द्र और राज्यो के मध्य विचार-विमर्श आवश्यक ही नही, वांछनीय भी है। ऐसा करने से एक संघ व्यवस्था में केन्द्र-राज्यों के बीच साझेदारी की भावना बढती है और सद्भाव के साथ कार्य करने के लिए निर्णय प्रक्रिया के 'आगत' (इनपुट) भी बढते हैं। यद्यपि भारत के संविधान ने केन्द्रीय सरकार पर बहुत सारे कार्यों का भारी भार डाला है, फिर भी राष्ट्र निर्माण के सभी महत्वपूर्ण कार्यों मे जैसे —कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा शान्ति व्यवस्था, आदि मे केन्द्र सरकार राज्य सरकारो पर गम्भीर रूप मे निर्भर रहती है। इस सम्बन्ध मे क्योंकि केन्द्र के निर्देश राज्यो

के लिए बाध्यकारी नही हो सकते, अत यह आवश्यक है कि केन्द्र और राज्यो के बीच विचार-विमर्श के यन्त्र विकसित किये जाये । सविधान की समवर्ती सूची मे ऐसे 47 विषयो का उल्लेख है जिन पर केन्द्र और राज्य दोनों ही कानून बना सकते हैं । इस सूची के विषयो के प्रशासन मे केन्द्र और राज्यो के मध्य परामर्श का क्षेत्र और भी अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है ।[1]

भारत मे केन्द्र-राज्य प्रशासनिक समायोजन की दृष्टि से राज्यपाल सम्मेलन, राष्ट्रीय विकास परिषद, मुख्यमन्त्री सम्मेलन, मुख्य सचिव सम्मेलन, पुलिस महानिरीक्षक सम्मेलन, आदि महत्वपूर्ण है । उपर्युक्त मे से प्रथम तीन राजनीतिक स्तर पर कार्य कर रहे हैं । प्रशासकीय-स्तर पर जो सम्मेलन महत्वपूर्ण है उनमे मुख्य सचिवो का सम्मेलन तथा विभिन्न कार्यकारी सचिवो के सम्मेलन उल्लेखनीय हैं ।

फिर भी भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था मे ऐसे परामर्श यन्त्रो का विकास एक नया प्रयोग है । यह अभी असन्तुलित और अविकसित हैं । उनका प्रयोग अधिकतर उन्ही विषयो के लिए हुआ है जो राज्य सूची मे हैं । स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि केन्द्र ने अपने निर्णयो को राज्यो द्वारा मनवाने के लिए ही इसका प्रयोग किया है ।

निष्कर्ष . प्रशासकीय संघ का स्वरूप

भारतीय सघ व्यवस्था मे प्रशासनिक एकरूपता पर बल दिया गया है । अमरीका की तरह दोहरी न्याय व्यवस्था का प्रबन्ध करने के स्थान पर न्याय व्यवस्था को एकीकृत कर दिया गया है । अखिल भारतीय प्रशासनिक और पुलिस सेवाओ का प्रावधान किया गया है । भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के अधीन भारत की लेखा परीक्षा तथा लेखा सेवा का आयोजन है, जो एक केन्द्रीय सेवा है, किन्तु यह संघ के साथ-साथ राज्यो के व्यय का लेखा तथा परीक्षा कार्य को भी सम्पन्न करती है । निर्वाचन आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और आयोग ससद के साथ-साथ राज्य विधानमण्डलो के निर्वाचनो को भी सम्पन्न करता है । सघ तथा राज्यो के बीच अथवा दो या दो से अधिक राज्यो के बीच विवादों का निपटारा करने के लिए संघ की स्थिति महत्वपूर्ण है । केन्द्रीय सरकार के पास समन्वयकारी शक्तियाँ हैं और क्षेत्रीय परिषदो के माध्यम से केन्द्र राज्य सरकारो की शक्तियो पर नियन्त्रण रखता है । सकटकालीन शक्तियो के प्रवर्तन काल मे केन्द्रीय शासन को राज्यो पर सभी प्रकार के प्रशासकीय नियन्त्रण प्राप्त हो जाते है । इसी कारण नारमन डी० पामर ने भारतीय सघ व्यवस्था को प्रशासकीय संघ कहकर पुकारा है ।[2]

केन्द्रीयकरण की विद्यमान प्रवृत्ति के बावजूद भी प्रशासकीय स्वरूप वाले भारतीय सघ के घटक राज्यो के हाथो मे देश के शासन का आज भी बहुत बड़ा भाग है । यद्यपि उन्हे आर्थिक संसाधनो के लिए केन्द्र पर निर्भर रहना पडता है और विकास कार्यों का संयोजन भी केन्द्र करता है, फिर भी राज्यो मे अपने अधिकारो पर जोर देने की प्रवृत्ति और देश के शासन मे वे ज्यादा हाथ चाहते हैं । भारत मे सरकारी नीतियो और विकास कार्यक्रमो को अमल मे लाने का काम

---

[1] भारत मे प्रशासन, मुख्य रूप से राज्य अभिकरणो (स्टेट एजेन्सी) द्वारा चलाया जाता है। अन्य सघीय देशो मे इस प्रकार की व्यवस्था नही है । वहाँ तो संघीय और राज्य सरकारे सविधान द्वारा प्रदत्त विषयो तथा अपने कानूनों को लागू करने के लिए अपने-अपने अभिकरण बनाते हैं । किन्तु भारत मे राज्यो के अन्दर केन्द्रीय कानूनो को लागू करने के लिए तथा प्रशासन के लिए अलग से कोई संघीय अभिकरण नही है । चूंकि भारत की केन्द्रीय सरकार अधिकतर मामलो मे राज्यो से यह अपेक्षा करती है कि वे उसके निर्णयों का क्रियान्वयन करे तो उसके लिए यह समुचित होगा कि वह कम-से-कम उन विषयो पर राज्यो से परामर्श अवश्य करे जिनकी जिम्मेदारी अथवा दायित्व राज्यों को भुगतने पड़ते है ।

[2] Norman D. Palmer, *The Indian Political System*, p. 101.

राज्य शासन का ही है। पाल एच० ऐपिलबी ने ठीक ही लिखा है कि भारतीय शासन-व्यवस्था ऐसी है कि इसमे प्रशासक के महत्वपूर्ण कार्य राज्य सरकारे करती हैं और योजनाओ की क्रियान्विति के लिए केन्द्र को उन्ही पर निर्भर रहना पडता है। ऐसी स्थिति में राज्य की आर्थिक स्वायत्तता के समर्थको का यह कहना कहाँ तक सार्थक है कि हमारे राज्य प्रशासनिक दृष्टि से केन्द्रीय सरकार के अनुचर मात्र है? हाँ, यदि राज्यों के वित्तीय ससाधनो मे वृद्धि के उपाय किये जाते है तो निश्चित ही उनकी प्रशासनिक क्षमता मे वृद्धि होगी। वस्तुत राष्ट्रीय एकता और तीव्र विकास के लिए शक्तिशाली केन्द्र और समृद्ध राज्यो के सघीय ढाँचे का होना ही लाभकारी है। राज्यों को महसूस करना चाहिए कि दुर्बल केन्द्र का सिद्धान्त राजनीतिक दृष्टि से आत्महत्या के समतुल्य होगा। यदि शक्ति का सन्तुलन राज्यो की तरफ झुकता जाता है तो राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास होगा जिससे हमारी राजनीतिक व्यवस्था मे शक्ति शून्य उभरेगा।

(4) भारतीय संघ में केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध
(CENTRE-STATE FINANCIAL RELATIONS)

सघात्मक शासन-व्यवस्था मे केन्द्र और राज्यो की सरकारो के बीच केवल विधायी और प्रशासनिक शक्तियो का ही विभाजन नही होता अपितु वित्तीय स्रोतो का भी बँटवारा होता है। वित्तीय स्रोतो के विभाजन को लेकर राज्यो के बीच मतभेद और तनाव उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। यह समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी कि सघात्मक शासन प्रणाली और यह विश्व की अधिकाश सघ व्यवस्थाओ को सकटग्रस्त करती रही है।

केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध : संवैधानिक प्रावधान

केन्द्र तथा राज्यो के मध्य राजस्व के साधनो के विभाजन के आधारभूत सिद्धान्त है : कार्यक्षमता, पर्याप्तता तथा उपयुक्तता। इन तीनो उद्देश्यो की एक साथ ही प्राप्ति अत्यन्त कठिन थी, अतः भारतीय सविधान मे समझौते की चेष्टा की गयी। सविधान द्वारा केन्द्र तथा राज्यो के मध्य वित्तीय सम्बन्धो का निरूपण इस प्रकार किया गया है :

(1) **कर निर्धारण, शक्ति का वितरण और करो से प्राप्त आय का विभाजन**—भारतीय सविधान मे वित्तीय प्रावधानो की दो विशेषताएँ है। प्रथम, सघ तथा राज्यो के मध्य कर निर्धारण की शक्ति का पूर्ण विभाजन कर दिया गया है और द्वितीय, करो से प्राप्त आय का बँटवारा होता है।

सघ के प्रमुख राजस्व स्रोत इस प्रकार हैं : निगम कर, सीमा शुल्क, निर्यात शुल्क, कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, विदेशी ऋण, रेलें, रिजर्व बैंक, शेयर बाजार, आदि। राज्यो के राजस्व स्रोत है—प्रति व्यक्ति कर, कृषि भूमि पर कर, सम्पदा शुल्क, भूमि और भवनो पर कर, पशुओ तथा नौकाओ पर कर, बिजली के उपयोग तथा विक्रय पर कर, वाहनो पर चुंगी कर, आदि।

सघ द्वारा आरोपित तथा सग्रहीत विनियोजित किये जाने वाले शुल्को के उदाहरण है : बिल, विनियमो, प्रोमिसरी नोटो, हुण्डियो, चैको, आदि पर मुद्रांक शुल्क और दवा तथा मादक द्रव्य पर कर, शौक-शृंगार की चीजो पर कर तथा उत्पादन शुल्क।

सघ द्वारा आरोपित तथा सग्रहीत किन्तु राज्यो को सौंपे जाने वाले करों के उदाहरण है : कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर कर, कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, रेल, समुद्र, वायु द्वारा ले जाने वाले माल तथा यात्रियो पर सीमान्त कर, रेल भाड़ो तथा वस्तु भाडो पर कर, शेयर बाजार तथा सट्टा बाजार के आदान-प्रदान पर कर, मुद्रांक शुल्क के अतिरिक्त कर, समाचार-पत्रो के क्रय-विक्रय तथा उनमे प्रकाशित किये गये

विज्ञापनो पर और समाचार-पत्रों से अन्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वाणिज्य के माल के क्रय-विक्रय पर कर।

कतिपय कर संघ द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत किये जाते है, पर उनका विभाजन संघ तथा राज्यो के बीच होता है। आय-कर का विभाजन संघीय भू-भाग के लिए निर्धारित निधि तथा संघीय खर्च को काटकर शेष राशि मे से किया जाता हैं। आय-कर के अतिरिक्त दवा तथा शौक-श्रृंगार सम्बन्धी चीजो के अतिरिक्त अन्य चीजो पर लगाया गया उत्पादन शुल्क इसके अन्तर्गत आता है।

(2) **सहायक अनुदान तथा अन्य सार्वजनिक उद्देश्यो के लिए दिया जाने वाला अनुदान**—संविधान के अन्तर्गत केन्द्र द्वारा राज्यो को चार तरह के सहायता अनुदान प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है। **प्रथम,** पटसन व उससे बनी वस्तुओ के निर्यात से जो शुल्क प्राप्त होता है उसमे से कुछ भाग अनुदान के रूप मे जूट पैदा करने वाले राज्यो—बिहार, बंगाल, असम व उड़ीसा—को दे दिया जाता है। **द्वितीय,** बाढ़, भूकम्प व सूखाग्रस्त क्षेत्रो मे पीड़ितो की सहायता के लिए भी केन्द्रीय सरकार राज्यो को अनुदान दे सकती है। **तृतीय,** आदिम जातियो व कबीलो की उन्नति व उनके कल्याण की योजनाओ के लिए भी सहायक अनुदान दिया जाता है। **चतुर्थ,** राज्य को आर्थिक कठिनाइयो से उबारने के लिए केन्द्र राज्यो की वित्तीय सहायता कर सकता है।

(3) **ऋण लेने सम्बन्धी उपबन्ध**—संविधान केन्द्र को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह अपनी संचित निधि की साख पर देशवासियो व विदेशी सरकारो से ऋण ले सके। ऋण लेने का अधिकार राज्यो को प्राप्त होता है, परन्तु वे विदेशो से धन उधार नही ले सकते। यदि किसी राज्य सरकार पर संघ सरकार का कोई कर्ज बाकी है तो राज्य सरकार अन्य कर्ज संघ सरकार की अनुमति से ही ले सकती है। इस प्रकार का कर्ज देते समय संघ सरकार किसी भी प्रकार की शर्त लगा सकती है।

(4) **करों से विमुक्ति**—राज्यो द्वारा संघ की सम्पत्ति पर कोई कर तब तक नही लगाया जा सकता जब तक संसद विधि द्वारा कोई प्रावधान न कर दे। भारत सरकार या रेलवे द्वारा प्रयोग मे आने वाली बिजली पर संसद की अनुमति के अभाव मे राज्य किसी प्रकार का शुल्क नही लगा सकते। इसी प्रकार संघ सरकार भी राज्य सम्पत्ति और आय पर कर नही लगा सकती।

(5) **भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक द्वारा नियन्त्रण**—भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की नियुक्ति केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के परामर्श से राष्ट्रपति करता है। यह भारत सरकार तथा राज्य सरकारो के हिसाब का लेखा रखने के ढंग और उनकी निष्पक्ष रूप से जाँच करता है। नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक के माध्यम से ही भारतीय संघ राज्य की आय पर अपना नियन्त्रण करती है।

(6) **वित्तीय संकटकाल**—वित्तीय संकटकालीन घोषणा की स्थिति मे राज्यो की आय सीमा राज्य सूची मे चर्चित करो तक ही सीमित रहती है। वित्तीय संकट के प्रवर्तन काल मे राष्ट्रपति को संविधान के उन सभी प्रावधानो को स्थगित करने का अधिकार है जो सहायता अनुदान अथवा संघ के करो की आय मे भाग बँटाने से सम्बन्धित हो। केन्द्रीय सरकार वित्तीय मामलो में राज्यो को निर्देश भी दे सकती है।

निष्कर्षतः, यह कहना उचित है कि भारतीय संघवाद की सामान्य प्रकृति अर्थात् 'केन्द्रीयता' के अनुकूल ही उपबन्धो की योजना हुई है। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों की अपेक्षा वित्तीय क्षेत्र मे अधिक शक्तिशाली है। प्रो० एम० वी० पायली के शब्दो मे, "वर्तमान स्थिति मे राज्यो के पास सीमित साधन हैं और अपनी अधिकांश विकास योजनाओ के लिए उन्हे केन्द्र की सहायता

की आवश्यकता रहती है इसलिए उन्हे केन्द्र का नेतृत्व स्वीकार करना पडता है। कभी-कभी केन्द्र के आदेशो के आगे भी झुकना पड़ता है।"[1]

केन्द्र-राज्य तनाव क्षेत्र : वित्तीय तथा योजना सम्बन्धी विषय
(AREAS OF CONFLICT : FINANCIAL ASPECTS)

सैद्धान्तिक दृष्टि से केन्द्र तथा राज्यो के मध्य विवादो को तीन भागो मे बाँटा जा सकता है।[2] **प्रथम**, सस्थागत विपय जैसे राज्यपाल का पद, नौकरशाही की भूमिका और सविधान का स्वरूप, आदि विपयो को लेकर उत्पन्न होने वाले विवाद। **द्वितीय**, कार्यात्मक विषय जैसे कानून और व्यवस्था के अधिकार-क्षेत्र के प्रश्न पर विवाद, अन्तर्राज्यीय विवाद, भाषा विवाद, राज्य सूची के विपयो पर केन्द्रीय हस्तक्षेप, आवश्यक वस्तुओ पर केन्द्रीय नियन्त्रण, आदि मसले। **तृतीय**, वित्तीय और योजना सम्बन्धी विषय—सघीय शासन-व्यवस्था मे केन्द्र और राज्यो के मध्य वित्तीय और योजना सम्बन्धी प्रश्नो को लेकर मतभेद होना स्वाभाविक है। 1967 के चतुर्थ आम चुनावो के बाद भारत मे केन्द्र तथा राज्यो के बीच निम्नलिखित वित्तीय और योजना सम्बन्धी विषयो को लेकर विवाद उभरे हैं.

(i) **वित्तीय संसाधनो के वितरण की प्रचलित व्यवस्था**—वर्तमान मे वित्त आयोग और योजना आयोग द्वारा वित्तीय ससाधनो के वितरण की प्रचलित व्यवस्था से अधिकाश राज्य सन्तुष्ट नही है। प्रचलित व्यवस्था मे करो से प्राप्त होने वाली आय का प्रधान भाग केन्द्रीय कोष मे जाता है और अपने लोककल्याण एव जनविकास सम्बन्धी दायित्वो की वृद्धि के बावजूद भी राज्यो की आय के स्रोत अत्यन्त अल्प रखे गये है। इसके परिणामस्वरूप राज्यो की योजनाओ की सफलता बहुत कुछ केन्द्रीय अनुदान पर ही निर्भर हो जाती है। सन् 1967 के बाद राज्यो की यह शिकायत रही है कि केन्द्र की सरकार उन राज्यो को अधिक मदद देती है जहाँ काग्रेस सरकारें हैं। योजना आयोग के माध्यम से भी केन्द्र राज्यो पर न केवल नियन्त्रण रखता है बल्कि भेदभाव भी बरतता है।

इसके अतिरिक्त, राज्यो को दिये जाने वाले अनुदान एवं सहायता बहुत ही कम है और वे अपने बढते हुए दायित्वो का निर्वाह करने मे असमर्थ हैं। राज्यो की योजना की आकृति तय करने का कोई निश्चित मापदण्ड नही है और वे राज्य, जिनकी आय के स्रोत ज्यादा है, महत्वाकांक्षी योजनाओ का निर्माण कर लेते है जिससे राज्यो की आय मे विषमता बढ़ती है। केन्द्रीय सरकार आये दिन अपने कर्मचारियो के महँगाई भत्तो मे वृद्धि करती रहती है जिसका प्रतिकूल प्रभाव राज्यों के कोष पर पडता है और उन्हे भी अपने कर्मचारियो के भत्तों मे वृद्धि करनी पड जाती है। राज्यो को दिये जाने वाले कतिपय अनुदान केन्द्रीय सरकार की स्वविवेकी शक्ति के अन्तर्गत आते हैं और राज्यो को बराबर यह शिकायत रही है कि केन्द्रीय सरकार इन अनुदानो का वितरण करते समय पक्षपातपूर्ण आचरण करती है।[3]

(ii) **राज्यो की ऋणग्रस्तता**—पिछले पच्चीस वर्षों मे राज्य धीरे-धीरे किन्तु अधिकाधिक रूप से वित्तीय साधनो के लिए केन्द्रीय सरकार पर निर्भर होते चले गये। राज्यो की इस ऋणग्रस्तता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार से लिये गये ऋण 1961 मे 20 अरब 14 करोड़ रुपये से बढकर 1971 मे 63 अरब 65 करोड रुपये तथा 1978 के बजट अनुमानो के अनुसार एक खरब 11 अरब 69 करोड़ रुपये हो गये जो राज्यों की कुल ऋणग्रस्तता का लगभग 70 प्रतिशत है। इस प्रकार ऋण सेवाओं का भार राज्यो के कर आय

---

1 M. V. Pylee. *Constitutional Government in India*, Asia Publising House, 1977, p. 678.
2 Iqbal Narain: *Twilight or Dawn—Political Change in India*, p. 94.
3 B. L. Maheshwari: *Center-State Relation in Serenties*, Calcutta, 1973, p. 40.

को प्रभावहीन बना रहा है। वास्तव में, केन्द्र के साथ राज्यों की ऋणग्रस्तता अब इस स्थिति में पहुँच गयी है कि ऋण अदायगी तथा ब्याज की रकम मिलकर नयी केन्द्रीय सहायता से अधिक हो जाती है जिसका अर्थ यह है कि साधनों का वितरण विपरीत दिशा में हो जाता है। ऐसी स्थिति परिपक्व एवं सन्तुलित केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के लिए ऋणात्मक है।

(iii) **वित्त आयोग की भूमिका**—आलोचना का विषय यह भी है कि केन्द्र से हस्तान्तरित होने वाली राशि का केवल एक-तिहाई भाग ही वित्त आयोग की सिफारिशों पर होता है जबकि दो-तिहाई भाग वित्त आयोग के क्षेत्र से बाहर है। बँटवारे की यह पद्धति मनमाने ढंग की है, चाहे यह बँटवारा योजना आयोग द्वारा ही क्यों न किया जाता हो? फिर केवल योजना आयोग ही ऐसे अनुदान नहीं देता। वित्त आयोग तथा योजना आयोग के क्षेत्र से बाहर के अनुदान प्रथम पंचवर्षीय योजना में दिये अनुदानों का केवल 7.3 प्रतिशत थे किन्तु बाद की पंचवर्षीय योजनाओं में इनका महत्व बढ़ता गया तथा चौथी योजना में वह बढ़कर लगभग 41 प्रतिशत हो गया। ये अनुदान जिन्हें विवेकानुदान कहा जाता है योजना अनुदानों की अपेक्षा 73 प्रतिशत बढ़ गये। सरकार की इच्छा पर छोड़े गये इन अनुदानों के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि ये वित्तीय संघीय सम्बन्धों में न्याय के सिद्धान्त का उल्लंघन करते हैं। सभी मुख्यमन्त्रियों ने सातवें वित्त आयोग के समक्ष अनुच्छेद 282 के अत्यधिक प्रयोग पर जिसके अन्तर्गत ये विवेकानुदान दिये जाते हैं, पुनः विचार करने को कहा।

(iv) **आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में मतभेद**—योजना आयोग की भूमिका को लेकर भी केन्द्र-राज्य विवादों में वृद्धि हुई है। अशोक चन्दा का मत है कि योजना आयोग ने संघवाद को निरस्त कर दिया है।[1] योजना आयोग देश की योजना के लिए कुछ आधारभूत विषय निश्चित करता है। चूँकि प्रत्येक राज्य की समस्याएँ अलग-अलग हैं इसलिए उनकी मूल समस्याओं का निराकरण नहीं हो पाता है। योजना प्रारूप का अन्तिम निर्णय तो केन्द्रीय संसद के हाथों में है। योजनाओं के सम्बन्ध में केन्द्र की कार्यपालिका वास्तव में निर्णय लेती है और कार्यान्वित राज्य की कार्यपालिकाओं को करना होता है। योजना आयोग के सामने राज्य एक परकटे पक्षी की भाँति है। राज्यों के पास अपने योजना बोर्ड नहीं हैं, जो कि राज्य की योजनाओं को तकनीकी दृष्टि से निश्चित कर सकें।

अब राज्य सरकारों द्वारा केन्द्रीय सरकार और योजना आयोग का विरोध करने की प्रवृत्ति उभर रही है। सन् 1969 में पहली बार कुछ राज्यों ने चौथी योजना के प्रारूप को अनौपचारिक रूप से अस्वीकृत प्रदान की। पश्चिमी बंगाल तथा केरल के मुख्यमन्त्री और दिल्ली के मुख्य कार्यकारी पार्षद ने योजना को उसी रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। राज्य के मुख्यमन्त्रियों ने केन्द्र से राज्यों की आय के स्रोतों को भी बढ़ावा देने की बात कही है। यह भी माँग की जा रही है कि योजना आयोग के कार्यों को सीमित किया जाना चाहिए तथा जो अनुदान दिये जायें वे सशर्त नहीं होने चाहिए।

(v) **अन्तर्राज्यीय व्यापार**—संविधान के अनुसार अन्तर्राज्यीय व्यापार को नियमन करने की शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित है। केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय और स्थानीय राज्यों के हितों में समन्वय स्थापित करने के लिए कभी-कभी हस्तक्षेप करती है। इन केन्द्रीय हस्तक्षेप से कतिपय राज्य नाराज होते हैं और केन्द्र-राज्य मतभेद उभरते हैं। उदाहरण के लिए, खाद्य नीति को लिया जा सकता है जो कि राज्य सूची का विषय है और केन्द्रीय हस्तक्षेप से पंजाब ने अपनी लगातार

1 Ashok Chanda, *Federalism In India*, London, 1968, p. 196.

नाराजगी प्रकट की। सन् 1969 मे केन्द्रीय शासन ने गेहूं के सम्बन्ध मे प्रचलित 'एक राज्य क्षेत्र' नीति का परित्याग कर 'आठ राज्यीय क्षेत्र' घोषित किया तो पजाब ने इसे पसन्द नही किया।[1]

मई 1979 मे मुख्यमन्त्रियो के दो दिन के सम्मेलन मे केन्द्र के वित्तीय साधनो के बँटवारे के सवाल पर विवाद ने उग्र रूप धारण कर लिया। विवाद इतना बढ गया जिसका पता इसी तथ्य से लग जाता है कि पश्चिमी बगाल के मुख्यमन्त्री ने इस मामले को सर्वोच्च न्यायालय के सामने ले जाने का निश्चय प्रकट किया।[2] पश्चिमी बगाल के वित्त मन्त्री डॉ० अशोक मित्र ने कहा कि कच्ची तम्बाकू, चीनी तथा कपडो पर एकत्र करो के बँटवारे के प्रश्न पर अनेक स्मरण-पत्र भेजने के बावजूद केन्द्र ने अपना वायदा पूरा नही किया। उन्होने कहा था कि कुछ वर्ष पूर्व उक्त मदो पर एकत्र करो को राज्य सरकार ने स्वेच्छा से केन्द्र को दे दिया था। यदि मामला वार्ता से न सुलझा तो राज्य सरकार सर्वोच्च न्यायालय मे मुकदमा दायर करेगी।

सरकारिया आयोग के सामने राज्यो ने केन्द्र-राज्य वित्त सम्बन्धो की आलोचना करते हुए निम्नलिखित शिकायते प्रस्तुत की :[3]

(1) राज्य सरकारो ने कुछ ससाधनो को विभाज्य पुल से बाहर रखने के सम्बन्ध में संघ सरकार की नीति की आलोचना की है, जो उनके मतानुसार उनके साथ बाँटे जाने चाहिए थे। राज्य के अनुसार इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है, आयकर अधिनियम, 1959 के सशोधन द्वारा निगम कर को विभाज्य पुल से निकालना। बहुत-सी राज्य सरकारो ने यह सुझाव दिया है कि निगम कर की प्राप्तियो मे राज्यो की भागीदारी रहनी चाहिए।

(2) भारत ने यह शिकायत की है कि आयकर अधिभार (1985-86 मे समाप्त) के एक लम्बी अवधि तक जारी रहने के कारण वे काफी राजस्व से वचित रहे हैं जो राज्यो के साथ भागीदारी योग्य होता यदि भारत सरकार ने इसके बजाय आयकर की मूल दरो को समायोजित किया होता। कुछ राज्यो ने सुझाव दिया है कि आयकर अधिभार की प्राप्तियाँ राज्यो के साथ भागीदारी योग्य बना दी जानी चाहिए।

(3) कुछ राज्यो ने आरोप लगाया है कि सघ सरकार आयकर से राजस्व जुटाने मे पर्याप्त रुचि नही दिखा रही है जिसका 85% इस समय राज्यो के साथ भागीदारी योग्य है। दूसरी ओर, विशेष वाहक पत्र योजना के माध्यम से सघ सरकार ने केवल अपने इस्तेमाल के लिए ससाधन जुटाये है जिनमे अन्यथा प्रकार से राज्यो की भागीदारी होती, यदि आयकर अधिनियम को बेहतर ढंग से लागू किया जाता।

(4) अनेक राज्यो ने संघ द्वारा उत्पाद शुल्क बढ़ाने की बजाय, जो उनके साथ भागीदारी योग्य होने, एकपक्षीय रूप से पेट्रोलियम और कोयला जैसी वस्तुओ के निर्देशित मूल्य मे वृद्धि की शिकायत की है।

5) अनेक राज्यो ने सविधान (छठा सशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा अनुच्छेद 269 और 286 मे हुए परिवर्तनो तथा केन्द्रीय विक्रय कर अधिनियम, 1956 की ओर ध्यान दिलाया है। उनका आरोप है कि इन सशोधनो ने राज्यो के विक्रय कर की प्राप्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है जो कि उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजस्व का स्रोत है।

(6) वेतन मे सशोधन, सेवान्त प्रसुविधाएँ, महँगाई भत्ते की किस्तो के दिये जाने, इत्यादि पर संघ सरकार के निर्णयो के कारण राज्यो पर उसके अनुरूप भार पडता है। इसे, संघ की कार्यवाही के कारण राज्यो के व्यय पर अनिश्चित भार के उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया

---

[1] B L. Maheshwari: *Ibid*, pp 63-64

[2] दि नवभारत टाइम्स, (नई दिल्ली), 23 मई, 1979, पृ० 4।

[3] केन्द्र-राज्य सन्बन्ध आयोग रिपोर्ट, भाग 1 (भारत सरकार, 1988), पृ० 237-38।

गया है। कुछ राज्य सरकारो ने कहा है कि उस अतिरिक्त भार मे सघ द्वारा हिम्मेदारी की जानी चाहिए।

(7) प्राकृतिक आपदाओ के लिए सहायता प्रदान किये जाने मे विलम्ब, अपर्याप्तता और साथ ही भेद-भाव बरतने की शिकायतें भी हैं जिन पर राष्ट्रीय महत्व के विषय के रूप मे विचार किये जाने की आवश्यकता है।

वित्तीय साधनो का न्यायपूर्ण आबटन : नये सन्तुलन की खोज—केन्द्र-राज्य आर्थिक सम्बन्धो को अधिक सहज बनाने हेतु प्रशासनिक सुधार आयोग तथा राजमन्नार समिति प्रतिवेदन मे भी विचार किया गया था। इसी उद्देश्य मे पश्चिमी बगाल की मार्क्सवादी सरकार ने भी एक विस्तृत मसविदा (Memorandum) प्रस्तुत किया था।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने अनुच्छेद 283 के अन्तर्गत राज्यो को दी जाने वाली वित्तीय सहायता का सरलतम रूप प्रस्तुत किया। इस सम्बन्ध मे आयोग की अनुशसाएँ इस प्रकार है : **प्रथम**, राज्यो को दी जाने वाली कुल केन्द्रीय सहायता की मात्रा तय की जानी चाहिए। इसके बाद ऋण के रूप मे दी जाने वाली रकम तय कर लेनी चाहिए। **द्वितीय**, इस अनुदान को वितरित करते समय वह राशि अलग कर लेनी चाहिए जो मूलभूत राष्ट्रीय महत्व की परियोजनाओ पर खर्च की जानी है। अवशिष्ट राशि को ही केन्द्रीय अनुदान के रूप मे राज्यो को वितरित किया जाना चाहिए। **तृतीय**, यदि राज्य ने किसी परियोजना को पूरा नही किया है तथा केन्द्रीय अनुदान की अधिक राशि खर्च कर दी है तो बाद मे केन्द्रीय अनुदान की मात्रा कम की जा सकती है। **चतुर्थ**, राज्यो मे केन्द्रीय पहल से सचालित होने वाली परियोजनाओ की सख्या कम होनी चाहिए और केन्द्रीय पहल की परियोजनाओ के मानदण्ड निश्चित होने चाहिए। प्रशासनिक सुधार आयोग का विचार था कि राज्यो की परियोजनाओ को दो भागो मे—उत्पादित और गैर-उत्पादित—मे बाँटा जाना चाहिए। योजना आयोग को वे सिद्धान्त तय करने चाहिए जिनके आधार पर परियोजना को दो भागो मे बाँटा जा सकता है। केवल उत्पादित परियोजना के लिए ही ऋण सहायता उपलब्ध करायी जानी चाहिए। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि उस परियोजना के चालू होने पर ब्याज सहित ऋण लौटाया जा सके। केन्द्रीय सरकार अपने कर्मचारियो का महँगाई भत्ता, आदि बढाती रहती है जिसका प्रभाव राज्यो के बजट पर भी पड़ता है। राज्य कर्मचारी भी केन्द्र के बराबर महँगाई भत्ते की माँग करते हैं, राज्य सरकारो को उनकी माँगो के आगे झुकना पडता है जिससे उन पर काफी आर्थिक भार बढ जाता है। अयोग का विचार है कि केन्द्रीय सरकार की नीति के कारण ही मुद्रा-प्रसार बढता है अत: राज्यो के इस प्रकार के बढ़ते हुए व्यय का भार केन्द्रीय सरकार को ही वहन करना चाहिए।[1]

राजमन्नार समिति का सुझाव था कि वित्त आयोग स्थायी रूप से स्थापित किया जावे तथा राज्यो के पक्ष मे करो का पहले से अधिक वितरण हो ताकि उन्हें केन्द्र पर कम-से-कम निर्भर रहना पडे। राज्यो को वित्तीय क्षेत्र मे स्वायत्तता प्रदान करनी चाहिए। राज्यो को निगम कर, निर्यात कर तथा आबकारी कर मे हिस्सा मिलना चाहिए।[2]

राज्य स्वायत्तता की माँग का बिगुल बनाते हुए पश्चिमी बगाल की वामपन्थी सरकार ने अपने मसविदे मे कहा है—(i) कुल राजस्व का 75 प्रतिशत भाग राज्य सरकारो को व्यय हेतु प्रदान किया जाये। (ii) योजना आयोग की कार्यप्रणाली मे फेर-बदल किया जाये। (iii) सविधान के अनुच्छेद 208(क) को खत्म करना चाहिए। (iv) राज्यो को कर लगाने एवं वसूलने

1 S R. Maheshwari : *The Administrative Reforms Commission*, Agra, 1972, pp 125-27.
2 *Tamilnadu Centre-State Relations Inquiry Committee Reports*, Madras, 1971.

का पूर्ण अधिकार मिलना चाहिए। (v) संविधान के अनुच्छेद 280 की धारा 2 और 7 को समाप्त करना चाहिए। (vi) केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के वाणिज्य सम्बन्धित सविधान के अनुच्छेद 302 मे निहित अधिकारो को खत्म करना चाहिए।

परिर्वातित राजनीतिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य मे वित्तीय ढाँचे पर पुर्नविचार आवश्यक है। हम नही जानते है कि सन् 1977 के वाद आर्थिक विकास की जो प्राथमिकताएँ निर्धारित हुई हैं उनके अनुसार कृषि, सिचाई, कुटीर व ग्राम उद्योगो, आदि पर अधिक राशि खर्च की जानी है। ये सारे कार्यक्रम राज्यो के अन्तर्गत ही है, इसलिए भी इन्हे अधिक धनराशि की आवश्यकता पड़ेगी। यह सुझाव दिया गया है कि वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत जो आय इकट्ठी की जाती है उसका 60 प्रतिशत राज्यो को हस्तान्तरित कर दिया जाये। इसके अतिरिक्त, केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करने वाले अनुदानो की राशि कम की जाये तथा अधिक राशि कानूनी पैसे किये जाने वाले हस्तान्तरणो के लिए रखी जाये। कुछ क्षेत्रो से यह सुझाव भी आया है कि ऋण देने की जिम्मेदारी रिजर्व वैक को सौपी जानी चाहिए।.

वित्त सम्बन्धी मसलो पर राज्यो की शिकायतों पर विचार करते हुए **सरकारिया आयोग** ने सिफारिश की है कि[1] (1) सविधान मे उचित संशोधन करके निगम कर की निबल आय अनुज्ञेय सीमा तक राज्यो मे हिस्से योग्य की जा सकती है। (2) सघ सरकार को आयकर पर अधिभार नही लगाना चाहिए। (3) खनिजो, पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस की गारण्टी दरो की समीक्षा हर दो वर्ष मे एक बार सही समय पर जब भी निर्धारित हो, की जानी चाहिए। (4) प्राकृतिक आपदाओ के होने पर तुरन्त सहायता दी जानी चाहिए। (5) सघ सरकार को, अनुच्छेद 293 के खण्ड (4) के अन्तर्गत राज्यो को वैको और वित्तीय संस्थाओ से एक वर्ष से कम अवधि के उधार लेने के लिए सहज सहमति दे देनी चाहिए। (6) वित्त आयोग मे विशेषज्ञो को स्थान दिया जाना चाहिए। यदि राज्यों से उपयुक्त विशेषज्ञो को लिया जाये और वित्त आयोग के सचिवालय मे भी कर्मचारियो के रूप मे उन्हे नियुक्त किया जाये तो लाभ होगा।[2]

सक्षेप मे, राज्यो की वित्तीय क्षमता मे वृद्धि करने हेतु निम्नलिखित चार मोटे-मोटे सुझाव दिये जा सकते है—(i) राज्यो के राजस्वो मे वृद्धि करने हेतु कतिपय कराधान की मदे उन्हे और दी जानी चाहिए, निगम-कर और आय कर के अधिभार की आमदनी का भी केन्द्र और राज्यो मे बँटवारा किया जाना चाहिए। (ii) योजनागत और गैर-योजनागत अनुदानो के अन्तर को समाप्त किया जाये और राज्यो को आवटित की जाने वाली अनुदान राशि देने की निश्चित प्रक्रिया का निर्धारण किया जाये। (iii) वित्त आयोग को स्थायी संवैधानिक निकाय का दर्जा दिया जाये, क्योकि वर्तमान मे योजना आयोग की प्रभावकारी भूमिका से वित्त आयोग की भूमिका कम हो गयी है। (iv) राज्यो को दिये जाने वाले ऋण सवैधानिक सत्ता द्वारा निश्चित मापदण्डो के आधार पर दिये जायें।[3]

वस्तुत: राज्यो को अधिक मात्रा मे वित्तीय साधन तभी उपलब्ध किये जा सकते है जब अधिक साधन एकत्रित किये जायें। सभी वित्त विशेषज्ञ यह मानते है कि गत 40 वर्षों मे राज्य सरकारो ने अपना खर्चा तो तेजी से बढाया लेकिन इसकी पूर्ति के लिए समुचित वित्तीय साधन विकसित नही किये। लोकप्रिय खोने और चुनाव मे हार के भय से राज्यो ने नये कर न लगाने की नीति अपनायी तथा खर्च की पूर्ति के लिए केन्द्र पर बार-बार दबाव डाला।

---

1 **केन्द्र-राज्य सम्बन्ध आयोग रिपोर्ट, भाग** 1 (भारत सरकार, 1988) पृ० 287-90।

3 Rameshary Sinha . *Centre-State Financial Relations,* The Indian Journal of Public Administration (New Delhi), Vol 25, No. 2, April-June, 1979, p 404,

क्या राज्यो के लिए समाधन जुटाने के लिए केन्द्र के वित्तीय अधिकारों मे जबर्दस्ती कटौती की जाये ? यह तथ्य है कि वित्त आयोग ने भी समय-समय पर केन्द्रीय आय-कर मे राज्यों का हिस्सा बढाने की सिफारिशें की और परिणामस्वरूप आज आय-कर का 88 प्रतिशत भाग राज्यो को दिया जाता है, जबकि 1950 मे राज्यो को 55 प्रतिशत हिस्सा मिलता था।

वस्तुत वित्तीय अधिकारो के मामले मे केन्द्र तथा राज्यो के बीच किसी प्रकार के विवाद या टकराव की गु जाइश नही है। वे एक-दूसरे के पूरक बन सकते है। दिशा निर्देश देने, तालमेल बैठाने तथा साधनो के वितरण का काम केन्द्र के जिम्मे हो तथा आर्थिक कार्यक्रमो पर अमल का दायित्व और अधिकार राज्यो के अन्तर्गत हो तो विवाद का कोई कारण नजर नही आता है।

केन्द्र-राज्य सम्बन्धो की विशेषताएँ (Features of Centre-State Relations)

सविधान द्वारा प्रस्तुत केन्द्र-राज्य सम्बन्धो का विश्लेषण करने से निम्न तथ्य उभरते हैं :

(1) **शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार**—सविधान-निर्माताओ ने केन्द्रीय सरकार को अत्यन्त शक्तिशाली बनाया है। वह किसी भी सूची के विषयो पर कानून बना सकती है। वह अवशिष्ट शक्तियो का उपभोग कर सकती है और राज्यपालो द्वारा राज्यो पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। उसकी आय के साधन अधिक हैं और वह राज्यो को ऋण भी दे सकती है।

(2) **राज्यो की स्थिति नगरपालिकाओं के समतुल्य**—संघ एव राज्यो के बीच शक्तियो का वितरण इस प्रकार किया गया है कि राज्यो की स्थिति नगरपालिकाओ के समतुल्य हो गयी है। जिस प्रकार नगरपालिकाएँ राज्य सरकारो पर पूर्णत निर्भर हैं, उसी प्रकार सरकारें भी सभी क्षेत्रो मे सघ सरकार पर निर्भर हैं।

(3) **सहकारी संघवाद**—ग्रेनविल ऑस्टिन के अनुसार, "भारत की विशिष्ट आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सविधान सभा ने एक विशिष्ट प्रकार के सघवाद को जन्म दिया है" जिसे ए० एच० बर्च ने 'सरकारी सघवाद' की सज्ञा दी है। इस व्यवस्था मे सघीय सरकार शक्तिशाली होती है किन्तु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्रो मे कमजोर नही होती; साथ ही दोनो ही सरकारो की एक-दूसरे पर निर्भरता इस व्यवस्था का मुख्य लक्षण होता है।

(4) **भारतीय संघ की आत्मा एकात्मक**—राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की उद्घोषणा किये जाने पर राज्यो की स्वायत्तता को स्थगित किया जा सकता है और इस दशा मे राष्ट्रपति राज्य का सारा कामकाज अपने प्रतिनिधि राज्यपाल के माध्यम से चला सकता है। केन्द्र की शक्तियाँ आपात्काल मे ही नहीं अपितु सामान्यकाल मे भी बढायी जा सकती है, अत: भारतीय सघ की आत्मा एकात्मक कही जा सकती है।

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में टकराव की स्थिति (Centre-State Relations . Position of Confrontation)

केन्द्र-राज्य सम्बन्ध आज भी उतने ही खराब हैं जितने श्रीमती इन्दिरा गाधी के शासन काल मे थे। श्रीमती गांधी के कार्यकाल (1984) मे ये सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये थे जब सिक्किम, जम्मू-कश्मीर व आन्ध्र प्रदेश की गैर-काग्रेस (इ) सरकारो को अपदस्थ किया गया था। तीन गैर-काग्रेस (इ) शासित राज्यो से जो केन्द्रीय सरकार के मन्त्री हैं वे इन राज्यो (आन्ध्र, पं० बगाल, कर्नाटक) के मुख्यमन्त्रियो के खिलाफ बन्दूक ही ताने रहते हैं। नवम्बर 1987 मे प्रधानमन्त्री ने त्रिपुरा की कई भाषाओ मे भाषण किया और नृपेन चक्रवर्ती की सरकार के खिलाफ टीका-टिप्पणी की। जनता, माकपा व तेलगु देशम् के सदस्यो ने राज्यसभा मे उनके राज्यो के प्रति केन्द्र की उपेक्षा के प्रति नाराजगी प्रकट की। कर्नाटक, पश्चिमी बंगाल व आन्ध्र प्रदेश मे कई विकास योजनाएँ इस वजह से रुकी हुई हैं कि केन्द्र ने स्वीकृति नही भेजी है। राज्य विधान सभा में स्वीकृत विधेयको पर राष्ट्रपति के अनुमोदन के सम्बन्ध मे भी ऐसे

ही हाल हैं। इन विधेयकों को गृह मन्त्रालय मे अटका दिया जाता है। कुछ मामलों मे तो राज्यपाल ही विधेयकों को दवा कर वैठ जाते है। आन्ध्र प्रदेश की राज्यपाल कुमुदबेन जोशी के बारे मे ऐसी ही शिकायत की गयी है। कर्नाटक की बोम्वई सरकार (1989) को वर्खास्त करके राज्यपाल वेंकटसुब्वैया ने केन्द्रीय सरकार के सूवेदार की भूमिका का ही परिचय दिया है। पर्यवेक्षकों के अनुसार 'अव देश मे टकराव का वातावरण फिर पैदा हो रहा है।'[1]

यह सच है कि केन्द्रीय सरकार की अपेक्षाकृत शक्तिशाली स्थिति ने राज्य सरकारो की स्थिति को प्रभावित किया है, किन्तु फिर भी राज्य केन्द्रीय सरकार की प्रकाशकीय इकाइयाँ मात्र नही है। ग्रेनविल ऑस्टिन लिखते हैं, "भारत नयी दिल्ली नहीं है वल्कि राज्यो की राजधानियाँ भी है। राज्य केन्द्रीय सहायता के आकांक्षी है किन्तु राज्यो के सहयोग के विना सव बहुत दिनो तक कायम नही रह सकता। राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार की नीतियों का माध्यम हो सकती हैं किन्तु उनकी सहायाता के विना केन्द्रीय सरकार अपनी योजनाओ को क्रियान्वित नही कर सकती। वस्तुत. दोनो ही एक-दूसरे पर निर्भर है।"

उपर्युक्त विचार-विमर्श से स्पष्ट होता है कि सुदृढ केन्द्र के बावजूद झुकाव केन्द्र और राज्यो के बीच सहयोगी साझेदारी के सम्बन्ध की ओर है। सहयोगी सम्बन्ध मे स्वतन्त्रता और परस्पर निर्भरता, दोनो होती है और यही समकालीन संघवाद की विशिष्टता है।

---

[1] ए० जी० नूरानी, 'केन्द्र-राज्य सम्बन्धो की दुखद स्थिति', राजस्थान पत्रिका, 16 दिसम्बर, 1987, पृ० 4।

परिशिष्ट

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर सरकारिया आयोग प्रतिवेदन

[SARKARIA PANELREPORT ON CENTRE-STATE RELATIONS]

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के सम्पूर्ण ढाँचे पर विचार करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने मार्च 1983 मे सरकारिया आयोग की नियुक्ति की। तीन सदस्यीय सरकारिया आयोग ने नवम्बर 1987 मे अपनी सर्वसम्मत रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की। आयोग की रिपोर्ट 1,600 पृष्ठो की है और दो खण्डो मे है। आयोग ने रिपोर्ट का कोई साराश नही दिया है। आयोग का यह मानना है कि कोई भी साराश केवल कुछ मुद्दो पर ही प्रकाश डाल सकता है। आयोग चाहता है कि उसकी समूची रिपोर्ट को पढा जाय और उसके निष्कर्षों को सही सन्दर्भ मे समझा जाय।

सरकारिया आयोग की मुख्य-मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित है :

सुदृढ़ केन्द्र की अपरिहार्यता—सरकारिया आयोग केन्द्र के अधिकार कम करने के अधिकतर प्रस्तावो के खिलाफ है। आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे कहा है कि देश की एकता व अखण्डता के लिए मजबूत केन्द्र अनिवार्य है। आयोग ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है, "सविधान के मूल स्वरूप मे कोई प्रवल परिवर्तन न तो उचित है और न ही आवश्यक।" आनन्दपुर साहिव प्रस्ताव की चर्चा किये विना आयोग ने कहा है कि केन्द्र के अधिकारो पर किसी भी प्रकार का अकुश लगाना उचित नही है।

राज्यो में राष्ट्रपति शासन अन्तिम विकल्प के रूप में लागू हो—आयोग ने कहा है कि किसी राज्य मे सविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन तभी लागू करना चाहिए जव कोई दूसरा रास्ता न रह गया हो। आयोग के अनुसार यह उपाय वहुत कम अपनाना चाहिए और केन्द्र को तभी हस्तक्षेप करना चाहिए, जवकि राज्य का कामकाज सविधान मे दी गयी व्यवस्था के अनुरूप चलाना असम्भव हो जाय। राज्य की समस्या राज्य के स्तर परही सुलझायी जानी चाहिए और अनुच्छेद 356 का सहारा लेने के पहले यह देखना चाहिए कि क्या कोई और उपाय भी है।

सरकारिया आयोग का कहना है कि राष्ट्रपति शासन लागू करने के पहले केन्द्र को सम्वन्धित राज्य को इस वारे मे चेतावनी देकर स्पष्टीकरण माँगना चाहिए। निर्णय लेते समय इस स्पष्टीकरण पर विचार करना चाहिए। अगर केन्द्र को लगे कि विदेशी आक्रमण या आन्तरिक गडवडी के कारण किसी राज्य मे सवैधानिक व्यवस्था चरमरा रही है तव ही केन्द्र को परिस्थिति से निपटने के लिए अन्य सम्भव उपायो को परखना चाहिए।

अगर राजनीतिक कारणो से सवैधानिक व्यवस्था टूट रही हो तो राज्यपाल को देखना चाहिए कि क्या विधानसभा मे वहुमत वाली सरकार गठित हो सकती है। अगरसरकार की नीति सम्वन्धी किसी प्रश्न परहार हो जाती है और चुनाव शीघ्र कराये जा सकें तो राज्यपाल को चुनाव तक पुराने मन्त्रिमण्डल को काम-चलाऊ सरकार के रूप मे काम करने देना चाहिए। काम-चलाऊ सरकार नीति सम्वन्धी कोई निर्णय नही ले सकती और इस प्रकार राजनीतिक सकट से निकालने जिम्मेदारी मतदाता की होगी।

आयोग ने कहा है कि काम-चलाऊ सरकार के बारे में अगर यह सब बातें नही हो तो राज्यपाल के लिए चुनाव होने तक काम-चलाऊ सरकार को सत्ता सौंपना अनुचित होगा।

सरकारिया आयोग का सुझाव है कि राष्ट्रपति शासन सम्बन्धी आदेश दो महीने के भीतर संसद के सामने रखना चाहिए। संसद के अनुमोदन के बाद ही विधान सभा भग की जानी चाहिए। इसका प्रावधान करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 356 मे सशोधन करने का भी आयोग का सुझाव है।

आयोग ने कहा है कि सविधान के अनुच्छेद 352 मे जिस प्रकार आपातकाल की घोषणा के बारे मे लोकसभा की अनुमति और उस पर विचार करने के लिए लोकसभा का विशेप अधिवेशन बुलाने की व्यवस्था है, वैसी ही व्यवस्था किसी राज्य मे राष्ट्रपति शासन की घोषणा के बारे मे भी होनी चाहिए।

आयोग ने कहा है कि राष्ट्रपति शासन की व्यवस्था अपनाने के पीछे जो कारण हैं वे इसके बारे मे की गयी घोपणा का अग होने चाहिए। राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को भेजी गयी रिपोर्ट भी ससद मे रखनी चाहिए क्योकि इससे यह स्पष्ट होगा कि किन कारणो से राष्ट्रपति ने यह क़दम उठाया है। इससे केन्द्रीय कार्यपालिका पर ससद का नियन्त्रण अधिक कारगर होगा।

वित्तीय व्यवस्था—सरकारिया आयोग ने सुझाव दिया है कि योजना आयोग मे प्रस्तावित वित्त आयोग प्रकोष्ठ को राज्यो की वित्तीय व्यवस्था को भी नियन्त्रित करना चाहिए। अपने सुझाव मे आयोग ने कहा कि प्रकोष्ठ को वित्त आयोग के मानदण्डो मे परिवर्तन का वार्षिक अनुमान भी लगाना चाहिए। इसके बाद योजना आयोग वित्त आयोग के पूर्वानुमानो मे परिवर्तन व उसके कारण तथा अन्य की वार्पिक समीक्षा को राष्ट्रीय आर्थिक व विकास परिपद के समक्ष पेश करने मे समर्थ होगा।

आयोग ने प्रकोष्ठ को मजबूत बनाने के भी सुझाव दिये। आयोग ने सुझाव दिया कि यदि प्रकोष्ठ योजना आयोग के वित्तीय ससाधन प्रभारी के अधीन कार्य करता है तो योजना आयोग व वित्त आयोग के बीच अधिक समन्वय हो पायेगा।

सरकारिया आयोग का मानना है कि वित्त आयोग को अपने कार्य के लिए देश के विभिन्न भागो से विशेषज्ञ नियुक्त करने चाहिए। वित्त आयोग के सचिवालयो मे कर्मचारी नियुक्त करने के लिए यदि राज्यो से आवश्यक विशेषज्ञ लिये जाते है तो वह अधिक लाभदायक होगा।

केन्द्र-राज्यो में करो का बँटवारा—आयोग ने सिफारिश की है कि निगम कर के उचित बँटवारे के लिए संविधान मे सशोधन किया जाये। आयोग ने राज्यो की इस माँग को अस्वीकार कर दिया कि उन्हे उत्पादक के एवज मे बिक्री कर मे अधिक हिस्सा दिया जाये। सघ सरकार को आयकर पर अधिभार नही लगाना चाहिए सिवाय किसी विशेष प्रयोजन से तथा सीमित अवधि के लिए।

समवर्ती सूची के मसले—आयोग ने सलाह दी है कि समवर्ती सूची के मामलो पर केन्द्र सरकार व राज्यो मे विचार-विमर्श होना चाहिए, जो कि इस समय नही हो रहा है। संघ सूची मे उल्लेखित विषय सख्या 97 (entıy 97) जिसमे कि अवशिष्ट विषयो का उल्लेख है, कर लगाने सम्बन्धी मामलो को छोडकर इसे समवर्ती सूची मे रखा जाना चाहिए।

राज्यों को ऋण—आयोग का मत है कि राज्यो को ऋण देने की पद्धति पर पुर्नविचार किया जाना चाहिए तथा केन्द्र द्वारा प्रायोजित परियोजनाओ की संख्या कम-से-कम रखी जानी चाहिए, खासकर योजना अवधि के बीच मे कोई नयी परियोजना शुरू नही की जानी चाहिए।

राज्यो में केन्द्रीय रक्षा बल—आयोग ने कहा है कि राज्यो मे केन्द्रीय रक्षा बलो को तैनात करने के मामले मे केन्द्र को निर्णय लेने का पूरा अधिकार होना चाहिए। यदि [illegible] हो और

केन्द्र सरकार चाहे तो राज्य सरकार की इच्छा के विपरीत भी राज्यो मे सुरक्षा बल तैनात कर सकती है।

राष्ट्रपति के विचारार्थ राज्यपाल द्वारा विधेयको का अभिरक्षण—राष्ट्रपति के विचार के लिए जाने के लिए रखे गये किसी विधेयक का निपटारा राष्ट्रपति द्वारा उस तारीख से 4 माह की अवधि के भीतर किया जाना चाहिए जिस तारीख को यह संघ सरकार को प्राप्त होता है। तथापि, यदि राज्य सरकार से स्पष्टीकरण मांगना अथवा अनुच्छेद 201 के परन्तुक के अधीन, राज्य विधानमण्डल के पुन विचार के लिए विधेयक को वापस करना आवश्यक समझा जाये तो यह कार्यवाही उस तारीख मे 2 माह के भीतर की जाये जिस तारीख को संघ सरकार को मूल पत्र प्राप्त हुआ था।

सरकार मे अनुच्छेद 201 के परन्तुक के अधीन स्पष्टीकरण प्राप्त होने अथवा पुर्नविचारित विधेयक प्राप्त होने के बाद, उस मामले का निपटारा राष्ट्रपति द्वारा उस तारीख से 4 माह की अवधि के भीतर किया जाये जिस तारीख को राज्य सरकार से स्पष्टीकरण अथवा पुनविचारति विधेयक प्राप्त हुआ हो।

अखिल भारतीय सेवा—सरकारिया आयोग ने इन्जीनियरी, चिकित्सा और शिक्षा के लिए अखिल भारतीय सेवा गठित करने का सुझाव दिया है। आयोग ने कृषि, सहकारिता और उद्योग के लिए भी अखिल भारतीय सेवा का गठन करने की सिफारिश की है। इन सेवाओ के गठन के प्रथम चरण के रूप मे केन्द्र और विभिन्न राज्यो के अफसरो का पूल बनाकर निश्चित अवधि के लिए आकर्षक वेतन पर उनकी नियुक्ति अन्य राज्यो मे की जाय।

पूल प्रणाली के कुछ वर्ष तक ठीक से काम करने के बाद इस सेक्टर मे अखिल भारतीय सेवा के गठन की दिशा मे कदम उठाना चाहिए। आयोग ने कहा है कि अखिल भारतीय सेवाओ को समाप्त करने या किसी राज्य के इससे अलग होने की अनुमति देना देश के व्यापक हित मे नही होगा।

सेनाओ को मजबूत बनाने के लिए केन्द्र और राज्यो मे समय-समय पर बातचीत होनी चाहिए तथा केन्द्र मे डेपुटेशन पर अपने अफसरो को भेजने के बारे मे राज्यो पर अनिवार्यता का अंश होना चाहिए तथा वर्तमान मे डेपुटेशन पर भेजे जाने वाले अफसरो की सहमति लेने की प्रक्रिया समाप्त होनी चाहिए।

योजना आयोग—सरकारिया आयोग इस बात के पक्ष मे नही है कि योजना आयोग को स्वायत्त संस्था बना दिया जाये। आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे कहा है कि ऐसे स्वायत्त संगठन का कामकाज कानूनी पचडो, अडियल रुख और पेचीदगियो से ग्रस्त होगा। आयोग का यह भी मानना है कि योजना आयोग को केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से बाहर नही होना चाहिए।

रिपोर्ट मे कहा गया है कि योजना आयोग को स्वायत्तता देने का विकल्प यह है कि इस संस्था और उसके कामकाज मे सुधार लाया जाय। योजना प्रक्रिया के सभी चरणो मे योजना आयोग राज्यो से पूर्ण और प्रभावी विचार-विमर्श करें ताकि राज्य यह महसूस कर सके कि उनकी भूमिका पूरक नही, बल्कि बराबरी के भागीदार की है।

सरकारिया आयोग की राय मे योजना आयोग से विचार-विमर्श के सम्बन्ध मे स्वस्थ परम्परा कायम हो और योजना आयोग के सुझावो को समुचित महत्व दिया जाना चाहिए। इससे आयोग पर केन्द्र के प्रभुत्व और उसे केन्द्र सरकार की एक भुजा मानने सम्बन्धी सभी शकाएँ दूर हो जायेंगी।

सरकारिया आयोग का सुझाव है कि योजना आयोग का उपाध्यक्ष ख्यातिप्राप्त विशेषज्ञ हो, जो अपनी वस्तुनिष्ठता और प्रसिद्धि से केन्द्र के साथ ही राज्य सरकारो का भी विश्वास प्राप्त कर

सके। आयोग का कहना है कि उपाध्यक्ष की नियुक्ति राजनीतिक आधारो पर नही की जानी चाहिए। सुझाव दिया गया है कि योजना आयोग के वस्तुनिष्ठ तरीके से काम करने की क्षमता के प्रति किसी भी सन्देह को दूर करने के लिए आयोग में ऐसे विशेषज्ञों को नियुक्त किया जाये जिनकी पेशेवर निष्ठा और योग्यता की साख स्थापित हो।

रिपोर्ट मे कहा गया है कि बडे स्तर के निवेश के सभी फैसलों से पहले योजना आयोग से अवश्य विचार-विमर्श किया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय विकास परिषद—सरकारिया आयोग का सुझाव है कि राष्ट्रीय विकास परिषद को और अधिक प्रभावी बनाया जाना चाहिए ताकि वह केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच राजनीतिक स्तर की सर्वोच्च संस्था हो सके। आयोग के अनुसार इसका पुनर्गठन करके नाम बदलकर 'राष्ट्रीय आर्थिक एवं विकास परिषद' कर दिया जाये।

रिपोर्ट मे कहा गया है कि केन्द्र सरकार राष्ट्रीय आर्थिक एवं विकास परिषद से विचार-विमर्श कर सभी राज्यो की नगर पालिकाओं और पंचायतों के चुनाव नियमित कर इनमे एकरूपता विकसित करे। आयोग का सुझाव है कि इसके लिए संविधान मे संशोधन किया जाय।

अन्तः सरकारी परिषद—सरकारिया आयोग ने संविधान के अनुच्छेद 263 मे उल्लिखित अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना पर ज़ोर दिया है। अन्तः सरकारी परिषद को अनुच्छेद 263 के खण्ड (ख) और (ग) मे निर्धारित कर्तव्य सौंपे जाने चाहिए, सामाजिक-आर्थिक आयोजना और विकास को छोडकर।

सर्वोच्च मन्त्रिमण्डल—आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि एक सर्वोच्च मन्त्रिमण्डल बनाया जाये जिसमे प्रधानमन्त्री, सभी केन्द्रीय मन्त्री और राज्यो के मुख्यमन्त्री सम्मिलित किये जाये। यह सर्वोच्च मन्त्रिमण्डल ऐसे मामलो पर विचार करें जो केन्द्र और राज्यो के साझे हितों मे सम्बन्धित हो।

राज्यपाल—आयोग का सुझाव है कि केन्द्र मे सत्तारूढ़ पार्टी के अलावा किसी दूसरी पार्टी द्वारा शासित राज्य में केन्द्र मे सत्तारूढ़ पार्टी के किसी व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त नही करना चाहिए। राज्यपाल के पद से निवृत्त होने के बाद किसी व्यक्ति को लाभ का कोई पद नही देना चाहिए। वह उपराष्ट्रपति या राष्ट्रपति का चुनाव लड सकता है। पर दलगत राजनीति मे सक्रिय भाग नही ले सकता।

सरकारिया आयोग का सुझाव है कि संविधान के अनुच्छेद 155 में संशोधन कर राज्यपाल की नियुक्ति के बारे मे राज्य के मुख्यमन्त्री से सलाह-मशविरे की व्यवस्था करनी चाहिए। यह वांछनीय होगा कि ऐसे किसी व्यक्ति को ऐसे किसी राज्य के राज्यपाल के रूप में नियुक्त न किया जाय जो केन्द्र मे सत्तारूढ़ पार्टी का राजनीतिज्ञ हो, जिस राज्य का शासन किसी अन्य पार्टी द्वारा चलाया जा रहा हो अथवा अन्य पार्टियो के मेल-जोल से चलाया जा रहा हो।

राज्यपाल के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति की योग्यता के बारे में आयोग ने कहा है कि उसे किसी क्षेत्र मे जानी-मानी हस्ती होना चाहिए। राज्य की राजनीति मे उसका सक्रिय भाग नही होना चाहिए और उसे तटस्थ होना चाहिए। वह राज्य से बाहर का व्यक्ति होना चाहिए। आयोग ने कहा है कि वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जिसने राजनीति में सक्रिय भाग और खासकर नियुक्ति के तत्काल पहले सक्रिय भाग नही लिया हो। राज्यपाल का चयन करते समय अल्पसंख्यक ग्रुपो से सम्बद्ध व्यक्तियों को भी मौका दिया जाना चाहिए जैसा कि अब तक किया जाता रहा है।

जाँच आयोग—जाँच आयोग की नियुक्ति के अधिकार का दुरुपयोग रोकने के लिए आयोग ने कहा है कि किसी राज्य के मुख्यमन्त्री या पूर्व मुख्यमन्त्री के विरुद्ध पद के दुरुपयोग के आरोपों

की जांच के लिए आयोग की नियुक्ति के प्रस्ताव पर संसद के दोनों सदनो मे मौजूद और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत का समर्थन होना चाहिए ।

भाषा—भाषा का राजनीतिकरण प्राय. देश की एकता और अखण्डता के लिए खतरा बन गया है । समान रूप से देश की एकता और अखण्डता के लिए त्रिभाषा सूत्र को सभी राज्यों मे ही सही अर्थ मे समान रूप से कार्यान्वित करने के लिए प्रभावी कदम उठाये जाने चाहिए । संघ और राज्य सरकार का वह काम, जिससे स्थानीय लोग सम्बन्धित हो या प्रभावित होते हो, स्थानीय भाषा मे किया जाना चाहिए । भाषायी अल्पसख्यको के हितो के संरक्षण के लिए वनायी गयी आचार संहिता को पूर्णत लागू किया जाये ।

आलोचनात्मक मूल्यांकन—सरकारिया आयोग के प्रतिवेदन की आलोचना करते हुए कहा गया है कि इसमे केन्द्र तथा राज्यो के सम्बन्धो पर संघात्मक एकता की दृष्टि से विचार ही नही किया गया है । कमीशन ने राज्यो को शिक्षा, श्रम, विद्युत, निवारक अवरोधक, आदि कोई भी नये विषय हस्तान्तरित करने से इन्कार कर दिया । कमीशन ने राज्य सरकारों को कर लगाने के अधिक अधिकार देने से भी इन्कार कर दिया । ऐसा लगता है कि सरकारिया कमीशन मजबूत और निरकुश केन्द्र की सार्वभौमिकता को मान्य करके चला है, इसलिए केन्द्र की शक्ति, अधिकार और सत्ता मे कही कमी नही आये, यही उसकी धारणा रही है । कमीशन ने नये राज्यो के निर्माण, पुराने राज्यो के पुनर्गठन, राज्यो के स्वायत्त शासन को शक्तिशाली बनाने, आदि के बारे मे कुछ सोचा ही नही ।

केन्द्र मे सत्तारूढ़ नयी सरकार ने सरकारिया आयोग की सिफारिशो के क्रियान्वयन की मशा प्रकट की है । सरकार शीघ्र ही अन्तर्राज्यीय परिषद का निर्माण करना चाहती है ।

10

नियोजित आर्थिक विकास और भारतीय राजनीति : संघवाद के विशेष सन्दर्भ में

[PLANNED ECONOMIC DEVELOPMENT AND POLITICS IN INDIA : WITH SPECIAL REFERENCE TO THE INDIAN FEDERAL SYSTEM]

नियोजन से अभिप्राय है 'उचित रीति से सोच-विचारकर पग उठाना।' फेयल के अनुसार नियोजन का अर्थ है 'पूर्व दृष्टि', इससे अभिप्राय आगे की ओर देखना है ताकि यह स्पष्ट पता चल जाय कि क्या-क्या काम किया जाना है ? प्रत्येक वह क्रिया नियोजित क्रिया कहलाती है जो दूरदर्शिता, विचार-विमर्श तथा उद्देश्यो एवं उनकी प्राप्ति हेतु प्रयुक्त होने वाले साधनों की स्पष्टता पर आधारित हो। दूसरे शब्दो मे, किसी कार्य के लिए पूर्व तैयारी ही नियोजन है। भारतीय योजना आयोग के अनुसार, "नियोजन साधनो के संगठन की एक विधि है जिसके माध्यम से साधनो का अधिकतम लाभप्रद उपयोग निश्चित सामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति हेतु किया जाता है।

स्वाधीनता के बाद भारत मे आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन की अवधारणा को स्वीकार किया गया। 'योजना आयोग' और 'राष्ट्रीय विकास परिषद्' जैसे निकाय अस्तित्व मे आये। योजना आयोग सामान्य रूप से आरम्भ हुआ था किन्तु कुछ ही समय में उसने एक विशाल संगठन का रूप धारण कर लिया। जिसे प्रारम्भ मे एक परामर्शदायी संस्था समझा गया था, वह आकार में एक अन्य सरकार के रूप मे परिवर्तित हो गयी। योजना आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद ने संविधान की अन्य व्यवस्थाओ जैसे—वित्त आयोग, सघवाद तथा प्रजातन्त्र को काफी हद तक प्रभावित किया है।

नियोजन के उद्देश्य (Objectives of Planning)—आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों को निम्न भागो मे बाँटा जा सकता है :

(1) **आर्थिक उद्देश्य**—नियोजन के आर्थिक उद्देश्य हैं—आर्थिक समानता, अवसर की समानता, अधिकतम उत्पादन, पूर्ण रोजगार तथा अविकसित क्षेत्रो का विकास। नियोजन मे राष्ट्रीय आय तथा अवसरो का समान वितरण सम्मिलित हैं। आय की समानता धनी वर्ग से अधिक कर द्वारा प्राप्त आय को निर्धन वर्ग को सस्ती सेवाएँ—चिकित्सा, शिक्षा, सामाजिक बीमा, सस्ते मकान, आदि सुविधाएँ—उपलब्ध कराने पर व्यय करके की जा सकती है। राष्ट्र के समस्त नागरिको को जीविकोपार्जन के समान अवसर प्रदान करके असमानता को दूर किया जा सकता है। लोगों के जीवन-स्तर को उच्च करने के लिए उत्पादन के समस्त [illegible] आदि—में वृद्धि की [illegible] है। [illegible] द्वारा राष्ट्र के समस्त कार्य

रोजगार का प्रबन्ध करना भी आवश्यक है। सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन-स्तर मे समानता स्थापित करने हेतु राष्ट्र के अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों को राष्ट्र के अन्य उन्नत क्षेत्रों के समान करना भी नियोजन का एक प्रमुख ध्येय होता है।

(2) **सामाजिक उद्देश्य**—नियोजन के सामाजिक उद्देश्यो मे वर्गरहित समाज की स्थापना करने का लक्ष्य सम्मिलित है। श्रमिक व उद्योगपति दोनो को उत्पत्ति का उचित अंश मिलना चाहिए। पिछडी जातियो को शिक्षा मे सुविधाएँ देना, सरकारी सेवाओं मे प्राथमिकता प्रदान करना तथा अन्य सम्मान प्राप्त जातियो को समान स्तर पर लाना नियोजन का ध्येय है।

(3) **राजनीतिक उद्देश्य**—नियोजन का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य राष्ट्र की राजनीतिक सत्ता की रक्षा, शक्ति तथा सम्मान मे वृद्धि करना भी है। देश मे राजनीतिक स्थिरता की उपस्थिति मे ही अर्थ-व्यवस्था मे स्थिरता सम्भव है।

भारत मे नियोजन की आवश्यकता (Need for Planning in India)

आर्थिक नियोजन आधुनिक काल की एक नूतन प्रवृत्ति है। उन्नीसवी शताब्दी मे पूँजीवाद, व्यक्तिवाद व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बोलबाला रहा और अधिकाश राष्ट्र 'उन्मुक्त व्यापार नीति' व 'आर्थिक स्वतन्त्रता' के समर्थक रहे। किन्तु पिछली अर्द्ध शताब्दी मे रूसी क्रान्ति, विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी, दो भीषण महायुद्धो, तकनीकी प्रगति, नवजात सामाजिक-आर्थिक समस्याओ, आदि के कारण राष्ट्रो एव अर्थशास्त्रियो ने आर्थिक नियोजन के महत्व को समझा और नियोजित आर्थिक व्यवस्था अपनाने पर जोर दिया। वस्तुत वर्तमान युग 'नियोजन का युग' है और विश्व मे लगभग सभी देश अपने विकास व उन्नति के लिए आर्थिक नियोजन मे जुटे हुए हैं।

भारत मे कई कारणों से नियोजन की आवश्यकता महसूस की गयी—(1) देश की निर्धनता, (2) विभाजन से उत्पन्न आर्थिक असन्तुलन तथा अन्य समस्याएँ, (3) बेरोजगारी की समस्या, (4) औद्योगीकरण की आवश्यकता, (5) सामाजिक तथा आर्थिक विषमताएँ, व (6) देश का पिछडापन, धीमी गति से विकास, विस्फोटक जनसख्या, आदि। ये सब समस्याएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, अतः इनके निवारण व देश के समुचित आर्थिक विकास के लिए नियोजन ही एकमात्र वाछनीय विकल्प है।

भारत मे नियोजन (Planning in India)

विख्यात इजीनियर एम० विश्वेश्वरैया ने सन् 1934 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्लाण्ड इकॉनामी फॉर इण्डिया' मे एक ऐसी योजना का रूप रखा था, जिसका उद्देश्य दस वर्ष मे देश की राष्ट्रीय आय को दुगुना करना था। इसके बाद काग्रेस ने श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे एक 'राष्ट्रीय योजना समिति' का गठन किया। इस समिति ने प्रो० के० टी० शाह को अवैतनिक मन्त्री चुना। समिति ने अपना कार्य आरम्भ करने के लिए 26 उपसमितियाँ बनायी, जिनमे से 25 उपसमितियो ने अपनी रिपोर्ट पेश की। लेकिन तत्कालीन विदेशी सरकार व कांग्रेस मे सघर्ष व द्वितीय महयुद्ध के कारण यह समिति अपना कार्य पूरा करने मे असमर्थ रही। सन् 1944 मे भारत सरकार ने भी एक 'नियोजन एव विकास विभाग' का गठन किया। सन् 1946 मे एक 'परामर्शदाता नियोजन बोर्ड' भी गठित किया गया। सन् 1946 मे 'नियोगी समिति' ने सिफारिश की थी कि आर्थिक नियोजन के कार्य की प्रकृति ही ऐसी है कि "एक ऐसे एकीकृत शक्तिशाली तथा मन्त्रिपरिषद् के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी संगठन की केन्द्र मे स्थापना आवश्यक है जो भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण के सम्पूर्ण क्षेत्र पर दत्तचित होकर स्थायी रूप से कार्य कर सके।"

भारत में योजना आयोग (Planning Commission in India)

भारत मे योजना आयोग की स्थापना 15 मार्च, 1950 को हुई जिसके बारे मे केन्द्रीय

मन्त्रिमण्डल ने सकल्प पारित किया था। प्रो० ए० एच० हेन्सन के विचार से मन्त्रिमण्डल ने योजना आयोग को एक मूलत. परामर्शदात्री अंग माना था जिसका कार्य केवल सलाह देना था। मन्त्रिमण्डल के संकल्प [सख्या पी० (सी०) 50, भारत का राज्यपत्र, 15 मार्च, 1950] मे कहा गया था कि वास्तविक संसाधनो को ध्यान मे रखते हुए तथा सभी सगत आर्थिक पहलुओ का निष्पक्ष विश्लेषण करते हुए व्यापक योजना बनाने की आवश्यकता है और इस कार्य के लिए एक ऐसे संगठन की आवश्यकता है जो दैनिक प्रशासनिक कार्यकलापो से मुक्त हो किन्तु जिसका सरकार से उच्चतम स्तर पर सम्पर्क हो। योजना आयोग इस उद्देश्य से स्थापित किया गया, जिसके मूल निदेश पद—सभी नागरिको को जीविका के पर्याप्त साधन, सामूहिक हित मे सम्पत्ति का बँटवारा और अर्थ-व्यवस्था का हितकारी विकेन्द्रीयकरण—के बारे मे राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों पर आधारित थे। अत. योजना आयोग के निम्नलिखित सात दायित्व थे :

(1) देश के भौतिक संसाधनो और जनशक्ति (तकनीकी व्यक्तियो सहित) का अनुमान लगाना तथा राष्ट्र की आवश्यकता के अनुसार उन ससाधनो की वृद्धि की सम्भावनाओ का पता लगाना।

(2) देश के संसाधनो के सन्तुलित उपयोग के लिए अत्यन्त प्रभावकारी योजना बनाना।

(3) योजना की क्रियान्विति के चरणो का निर्धारण तथा उनके लिए संसाधनो का नियमन करना।

(4) आर्थिक विकास मे आने वाली बाधाओ की ओर सकेत करना तथा योजना की सफल क्रियान्विति के लिए उपयुक्त परिस्थिति निर्धारित करना।

(5) योजना के प्रत्येक चरण की सफल क्रियान्विति के लिए आवश्यक तन्त्र का स्वरूप निश्चित करना।

(6) समय-समय पर योजना की चरणवार प्रगति का अवलोकन तथा इस बारे मे आवश्यक उपायो की सिफारिश करना।

(7) आयोग के कार्यकलापो को सुविधाजनक बनाने अथवा वर्तमान परिस्थिति और विकास कार्यक्रम को ध्यान मे रखते हुए अन्तिम सिफारिश करना अथवा केन्द्र या राज्यो की समस्याओ का समाधान करने के लिए परामर्श देना।

योजना आयोग का सगठन बदलता रहा है। मार्च 1950 मे गठित योजना आयोग मे कुल छ. सदस्य थे। पं० जवाहरलाल नेहरू आयोग के अध्यक्ष थे तथा श्री गुलजारीलाल नन्दा, श्री टी० टी० कृष्णामाचारी, श्री जी० एल० मेहता, श्री आर० के० पाटिल एव श्री सी० डी० देशमुख आयोग के अन्य सदस्य थे। इस आयोग में प्रधानमन्त्री के अतिरिक्त केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का कोई भी सदस्य नही था। शायद परामर्शदाता नियोजन आयोग की सिफारिश को ध्यान मे रखते हुए ही आयोग को यह स्वरूप प्रदान किया गया था। इसने अपनी सिफारिश मे कहा था कि आयोग पूर्णतः एक गैर-राजनीतिक सस्था बना रह सके एव जिसके सदस्य राजनीतिक अवसरो पर हुए परिवर्तन के साथ परिवर्तित न हों, किन्तु मई 1950 मे ही श्री सी० डी० देशमुख को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे वित्त मन्त्री नियुक्त किया गया और सितम्बर 1951 में श्री गुलजारीलाल नन्दा को नियोजन मन्त्री बना दिया गया। 1956 में रक्षा मन्त्री श्री वी० के० कृष्णामेनन को आयोग का सदस्य बना दिया गया। जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद आयोग के सदस्यो मे मन्त्रियो की भरमार हो गयी।

योजना आयोग की रचना करते समय इस उद्देश्य को सामने रखा गया कि आयोग तथा मन्त्रिपरिषद मे निकटतम सम्बन्ध हो।

अगस्त 1988 मे योजना आयोग की संरचना मे व्यापक फेर-बदल किया गया। नवम्बर 1989 तक योजना आयोग की रचना निम्नवत् रही—

1. प्रधानमन्त्री श्री राजीव गांधी	अध्यक्ष
2. योजना एव कार्यक्रम क्रियान्वयन मन्त्री श्री माधवसिंह सोलंकी	उपाध्यक्ष
3. वित्त मन्त्री श्री एस० वी० चह्वाण	मन्त्री सदस्य
4. मानव संसाधन विकास मन्त्री श्री पी० शिवशंकर	मन्त्री सदस्य
5. कृषि मन्त्री श्री भजनलाल	मन्त्री सदस्य
6 उद्योग मन्त्री श्री जे० वेंगलराव	मन्त्री सदस्य
7. ऊर्जा मन्त्री श्री वसन्त साठे	मन्त्री सदस्य
8. विधि और न्याय मन्त्री श्री बी० शकरानन्द	मन्त्री सदस्य
9. पर्यावरण एव वन मन्त्री श्री जेड० आर० असारी	मन्त्री सदस्य
10. योजना एव कार्यक्रम कार्यान्वयन राज्य मन्त्री श्री बी० एस० एंगती	मन्त्री सदस्य
11. प्रो० एम० जी० के० मेनन	पूर्णकालिक सदस्य
12. श्री आबिद हुसैन	पूर्णकालिक सदस्य
13. श्री हितेन भैया	पूर्णकालिक सदस्य
14. डॉ. राजाचेलिया	पूर्णकालिक सदस्य
15. डॉ० वाई० के० अलघ	पूर्णकालिक सदस्य
16. प्रो० पी० एन० श्रीवास्तव	पूर्णकालिक सदस्य

योजना आयोग का नया स्वरूप : संवैधानिक दर्जा

केन्द्र मे श्री वी० पी० सिंह के नेतृत्व में नयी सरकार के गठन के बाद कर्नाटक के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री तथा प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रामकृष्ण हेगडे की योजना आयोग के स्थायी उपाध्यक्ष के रूप मे नियुक्ति भारतीय आयोजन को नयी दिशा देने का प्रबल सकेत है। श्री हेगड़े के अनुसार केन्द्र सरकार योजना आयोग को सवैधानिक दर्जा देना चाहती है जिससे उसका अधिकार और प्रतिष्ठा बहाल हो सके। योजना आयोग के दर्जे और इसकी भूमिका मे गिरावट उस समय शुरू हुई, जब बड़ी सख्या मे केन्द्रीय मन्त्रियो को इसमे शामिल किया गया जिन्होंने इसकी स्वतन्त्रता को कम करने की कोशिश की और केन्द्रीय मन्त्रालयो के निहित स्वार्थों को इस पर लाद दिया और आयोग केन्द्रीय मन्त्रिमन्डल की एक समिति का रूप लेता चला गया।

राष्ट्रीय मोर्चा सरकार की मान्यता है कि योजना आयोग को सरकारी दफ्तर न समझा जाय, उसे सवैधानिक दर्जा और स्वायत्तता प्राप्त हो। इसीलिए मोर्चे की सरकार ने पहला महत्व-पूर्ण निर्णय योजना आयोग के उपाध्यक्ष पद पर गैर-सरकारी व्यक्ति को मनोनीत करने का लिया है।

हाल ही मे पुनर्गठित योजना आयोग में प्रधानमन्त्री श्री वी० पी० सिंह—अध्यक्ष, श्री राम-कृष्ण हेगडे—उपाध्यक्ष, टी० एन० सेसान, जे० डी० सेठी, रजनी कोठारी, एल० सी० जैन, श्रीमती इला भट, डॉ० अरुण घोष, डॉ० पं० वैद्यनाथ, रहमतुल्ला अंसारी तथा डॉ० हरस्वरूप सिंह पूर्ण-कालिक सदस्य नियुक्त किये गये हैं। राज्यो को समुचित प्रतिनिधित्व देने के लिए बारी-बारी से

प्रतिवर्ष तीन मुख्यमन्त्रियो को भी आयोग मे क्रमवार ढंग (Rotation) से नियुक्त किया जाता रहेगा।

पूर्णकालिक सदस्यों को आर्थिक मामलो या प्रशासन के क्षेत्र मे अपनी विशिष्ट ख्याति के आधार पर नियुक्त किया जाता है। आयोग के सदस्यो के लिए औपचारिक योग्यताएँ निर्धारित नही की गयी हैं। उनकी नियुक्ति करते समय विभिन्न क्षेत्रो मे उनके सार्वजनिक कार्यों तथा अनुभव पर विशेष बल दिया जाता है। आयोग के सदस्यो मे से ही एक उपाध्यक्ष नियुक्त किया जाता है। मन्त्रिमण्डल के सांख्यिकीय सलाहकर भी आयोग की बैठको मे सम्मिलित होते है। आयोग के सदस्यो को वही दर्जा तथा वेतन भत्ता दिया जाता है जो कि मन्त्रिमण्डल के सदस्यो को उपलब्ध है। आयोग के सभी सदस्य एक निकाय के रूप मे कार्य करते हैं किन्तु सुविधा के लिए प्रत्येक सदस्य को एक या एक से अधिक विषयो का कर्लाधर्ता बना दिया जाता है। पूर्व मे योजना मन्त्री आयोग का उपाध्यक्ष भी होता था। किन्तु 1971 से किसी पूर्णकालिक व्यावसायिक अर्थशास्त्री को आयोग का उपाध्यक्ष नियुक्त किया गया। कुछ समय तक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डी० आर० गाडगिल आयोग के उपाध्यक्ष पद पर कार्य करते रहे। जनता शासन के समय डी० टी० लाकडावाला आयोग से उपाध्यक्ष रहे थे।

क्या मन्त्रियो को आयोग का सदस्य नियुक्त किया जाना चाहिए?—भारत मे योजना आयोग की संरचना, भूमिका व स्थिति अत्यधिक विवाद का विषय रही है। इस प्रश्न पर काफी विवाद हो चुका है कि क्या मन्त्रियो को आयोग का सदस्य बनाना उचित है। कुछ विद्वानो के अनुसार योजना आयोग एक पूर्णतया स्वतन्त्र संगठन होना चाहिए। इसका कार्य देश की प्रमुख आर्थिक समस्याओ पर सरकार को परामर्श देना है इसलिए इसके सदस्य ख्यातिप्राप्त विशेषज्ञ होने चाहिए तथा उन्हें स्वायत्त रूप से कार्य करने का अधिकार मिलना चाहिए। **प्रो० डी० आर० गाडगिल** ने लिखा है, "योजना आयोग द्वारा अपने प्रमुख कार्यों की उपेक्षा का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि यह एक विशाल शक्ति संगठन बन गया है तथा इसके सदस्यो मे भी मन्त्रियो की भाँति शक्ति व संरक्षण का प्रयोग तथा प्रदर्शन करने की एक स्वाभाविक इच्छा है। आयोग के अपने निर्धारित मार्ग से हटकर गलत मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति को इस तथ्य से और भी सहायता मिली है कि स्वय वित्तमन्त्री और प्रधान मन्त्री इसके सदस्य हैं। भारत के प्रशासकीय सुधार आयोग का मत था कि योजना आयोग को एक पूर्णतः तकनीकी परिषद बनाया जाये और मन्त्री सदस्यो को उससे पृथक् रखा जाये।" उसका यह भी सुझाव था कि प्रधानमन्त्री को भी उससे दूर रखा जाये जो कि प्रारम्भ से ही इसका अध्यक्ष रहा है। वस्तुत. दिसम्बर 1946 मे नियुक्त परामर्शदाता नियोजन बोर्ड के अनुसार मौलिक रूप से योजना आयोग को एक समग्र गैर-राजनीतिक परामर्शदात्री परिषद होना था।

प्रो० अरविन्द शर्मा के अनुसार योजना आयोग की मन्त्रीय सदस्यता से जो जटिलता उत्पन्न होती है वह यह कि आयोग के निर्णय राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक प्रभावित होते है और तकनीकी-आर्थिक दृष्टि से उनकी उपेक्षा होती है। इसका समाधान यही है कि विशेषज्ञों की एक विशुद्ध विशेषज्ञ परिषद को अगीकृत किया जाये अथवा तकनीकी विशेषज्ञो एवं राजनीतिज्ञो के संयुक्त आयोग की स्थापना की जाये जो राजनीतिज्ञो के प्रभाव को सीमित करेगा और विशेषज्ञों को उनका उचित स्थान दे सकेगा।[1]

योजना आयोग के साथ प्रधानमन्त्री तथा कतिपय अन्य मन्त्रियो का सम्बन्ध होना नितान्त उपयुक्त है। मन्त्रियों के अभाव मे आयोग के विशेषज्ञ सदस्यो के पास सामाजिक-राजनीतिक

---

1 Arvind K. Sharma : *Planning Commission in India : A Case for Reorganization*,

यथार्थवाद की दृष्टि का अभाव रहेगा। प्रधानमन्त्री व प्रभावशाली केन्द्रीय मन्त्रियो के आयोग मे रहने से आयोग के निर्णयो को एक विशिष्ट प्रतिष्ठा व बल मिल जाता है। प्रधानमन्त्री और मन्त्रीगण न केवल केन्द्रीय सरकार व आयोग के मध्य सम्पर्क सूत्र का कार्य करते है अपितु आयोग और संसद के मध्य भी सम्पर्क स्थापित करते है।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बलराज मेहता के अनुसार, "योजना प्रक्रिया को स्वायत्तता प्रदान करने का विचार देश की वर्तमान आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था मे न तो उचित प्रतीत होता है और न वाछनीय। केवल संवैधानिक दर्जा या सरक्षण प्रदान करके सरकारी योजनाकारो को कोई गरिमा प्रदान नही की जा सकती।"[1]

राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council)

इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि हमारे सविधान मे कुछ सघात्मक तत्व है जैसे कि—राज्यो को सवैधानिक मान्यता, उनकी शक्तियो और उनके कार्यों का 7वी अनुसूची मे उल्लेख, आदि। समवर्ती सूची की मद सख्या 20 के अनुसार, आर्थिक और सामाजिक योजना के बारे मे कानून बनाने का अधिकार राज्य तथा केन्द्र दोनो को है किन्तु इस क्षेत्र मे केन्द्रीय विधान सर्वोच्च होगा। इसी प्रकार राज्यो और केन्द्र के बीच सम्बन्धो के मामले मे ससद को अधिक शक्तिशाली बनाया गया है, योजना आयोग के उन कार्यकलापो को ध्यान मे रखते हुए उनमे सरकारी नेताओ तथा विशेषज्ञो दोनो को ही रखना अनिवार्य था। क्योकि योजना की स्वीकृति तथा क्रियान्विति के लिए राजनीतिक नेताओ का होना अधिक महत्वपूर्ण था। राज्यो और केन्द्र मे शक्तियो के विभाजन को ध्यान मे रखते हुए योजना तैयार करने मे राज्यो का भाग लेना भी उतना ही अनिवार्य था। इसीलिए राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना करनी पडी जो सवैधानिक निकाय नही थी और मुख्यमन्त्री जिनके पदेन सदस्य थे। **प्रो० सी० पी० भाम्भरी** के अनुसार, "योजना सम्बन्धी मामलो मे केन्द्र तथा राज्यो के मध्य समायोजन की स्थापना के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना की गयी। इसकी स्थापना के मुख्य उद्देश्य थे—(1) योजना की सहायता के लिए राष्ट्र के स्रोतो तथा परिश्रम को सुदृढ़ करना तथा उनको गतिशील करना, (2) सभी मत्हवपूर्ण क्षेत्रो मे समरूप आर्थिक नीतियो के अपनाने को प्रोत्साहित करना, (3) देश के सभी भागो के तीव्र तथा सन्तुलित विकास के लिए प्रयास करना।

राष्ट्रीय विकास परिषद के प्रमुख कार्य इस प्रकार है—(1) राष्ट्रीय योजना की प्रगति पर समय-सयय पर विचार करना, (2) राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली आर्थिक तथा सामाजिक नीतियो सम्बन्धी विषयो पर विचार करना, (3) राष्ट्रीय योजना के निर्धारित लक्ष्यो व उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए सुझाव देना।

पचवर्षीय योजना के निर्माण मे राष्ट्रीय विकास परिषद की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जब तक योजना पर राष्ट्रीय विकास परिषद की स्वीकृति नही मिल जाती तब तक योजना प्रारूप योजना का अन्तिम रूप धारण नही करता। राष्ट्रीय विकास परिषद मे राज्यो के मुख्यमन्त्रियों की सदस्यता तथा योजना आयोग द्वारा निर्धारित कार्यक्रमो पर उनकी स्वीकृति के कारण योजना को राज्यो की ओर से एक प्रकार की पूर्व-स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। माइकेल ब्रेचर के अनुसार, "राष्ट्रीय विकास परिषद ने योजना के निर्धारण मे दृष्टिकोण की एकरूपता एवं कार्य-सचालन

---

[1] **बलराज मेहता** : "योजना आयोग का नया स्वरूप क्या हो ?" राजस्थान पत्रिका (जोधपुर), 22 दिसम्बर, 1989, पृ० 4।

में समानता उत्पन्न की है। परिषद् के सदस्य सत्ताधारी नीति के निर्माता है, उनके मत की योजना आयोग तथा मन्त्रिमण्डल किसी भी स्थिति मे उपेक्षा नही कर सकते है।"[1]

भारत में आर्थिक नियोजन के राजनीतिक परिणाम (Political Implications of Economic Planning)

भारत मे योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिपद सविधानेत्तर संस्थाएँ है जो व्यवहार मे मन्त्रिमण्डल और संसद से भी अधिक प्रभुत्वशाली हो गयी है। यथार्थ मे इन दोनो सस्थाओ की रचना न तो सविधान द्वारा की गयी है और न किसी संसदीय अधिनियम द्वारा, फिर भी व्यवहार मे ये नीति-निर्माता निकाय वन गये है। व्यवहार मे इनके सुझाव नीति निर्देशन (Policy Directives) वन गये है जिनका पालन न केवल राज्यो के मन्त्रिमण्डल करते है अपितु हमारी ससद को भी करना होता है। राष्ट्रीय विकास परिषद के सम्वन्ध मे तो कहा जाता है कि उसने योजना यायोग को भी मात दे दी है और उसका दर्जा मात्र शोध संस्थान के तुल्य हो गया है। आयोग तथा परिषद ने हमारी सम्पूर्ण राज-व्यवस्था को प्रभावित किया है। आर्थिक नियोजन के राजनीतिक प्रभावो का विवेचन निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(1) आर्थिक नियोजन और मन्त्रिमण्डल।
(2) आर्थिक नियोजन और संसद।
(3) आर्थिक नियोजन और लोकतन्त्र।
(4) आर्थिक नियोजन और वित्त आयोग।
(5) आर्थिक नियोजन और संघीय व्यवस्था।
(6) आर्थिक नियोजन और केन्द्रीयकरण एव विकेन्द्रीयकरण की समस्याएँ।
(7) जनता के सहभागिता की समस्याएँ।

(1) आर्थिक नियोजन और मन्त्रिमण्डल (Planning and the Cabinet)—भारत सरकार का शासन मन्त्रिपरिषद करती है और मन्त्रिपरिषद अपने कार्यो के लिए सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। प्रत्येक मन्त्रालय पर यह जिम्मेदारी है कि अपने कार्यक्षेत्र मे सरकारी नीति निर्धारित करे, उसे अमल मे लाये और साथ ही उन नीतियो की समीक्षा करता रहे। किन्तु योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद जैसे निकायो के अस्तित्व मे आने से नीति-निर्माता के रूप मे मन्त्रिमण्डल का दर्जा घट गया है। अब महत्वपूर्ण निर्णय योजना आयोग तथा परिषद ही लेती है। अनेक मन्त्रियो को अपने विभागो के बारे मे लिये गये निर्णयो का पता बहुत बाद मे लगता है। आर्थिक नीति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्नो के निर्धारण मे मन्त्रिमण्डल की अपेक्षा आयोग और विकास परिषद की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। योजना आयोग की बढ़ती हुई भूमिका को देखते हुए इसको एक 'सर्वोपरि मन्त्रिपरिषद' कहा गया है। **अशोक चन्दा** के अनुसार, "आयोग के साथ मन्त्रिमण्डलो के आशिक परिचय ने सवैधानिक स्थिति को विकृत कर दिया है और आयोग के लिए यह सम्भव बना दिया है कि वह नीति सम्बन्धी मामलो मे तथा यहाँ तक कि दिन-प्रतिदिन के मामलो मे भी हस्तक्षेप करे।"[2]

फिर भी इस व्यवस्था की प्रशसा ही की गयी है। प्रो० हेन्सन भारत की वर्तमान योजना व्यवस्था के प्रशंसक हैं जिसके अन्तर्गत योजना निर्माण के कार्य मे भाग लेकर योजना लक्ष्यो मे प्रतिबद्धता अनुभव करते है। उनके शब्दो मे, "भारतीय व्यवस्था का प्रमुख गुण यह है कि उसने

1 Michael Breacher : *Nehru : A Political Biography*, 1959, p 521.
2 "It has been defined as the economic cabinet merely for the union but also for the states." —Ashok Chanda . *Federalism in India*, 1953, p. 281.

योजना को राजनीतिक स्वरूप प्रदान किया है।" योजना निर्माण मे मन्त्रियो की उपेक्षा नही की गयी। मन्त्रियो को आयोग के साथ सम्वद्ध किया गया है जिससे मन्त्रिमण्डल तथा आयोग के बीच तालमेल स्थापित हो गया है। प्रशासकीय दृष्टि से भारतीय नियोजन मे आज भी मन्त्रियो की विशिष्ट भूमिका है। योजना के क्रियान्वयन का दायित्व भी मन्त्रियो के ऊपर ही डाला गया है।

कभी-कभी योजना आयोग के राजनीतिज्ञ सदस्यो और तकनीकी विशेषज्ञो मे गम्भीरतम मतभेद भी उत्पन्न हुए है। आयोग मे योजनामन्त्री की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले योजना मन्त्रियो के काल मे योजना आयोग की अपेक्षा योजनामन्त्री ही निर्णायक रहे है।[1] अतः यह कहना सगत प्रतीत नही होता कि आर्थिक नियोजन से भारत मे मन्त्रिमण्डल की स्थिति मे कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया है।

(2) **आर्थिक नियोजन और संसद** (Planning and the Parliament)—अशोक चन्दा का मत है कि योजना आयोग ने भारतीय ससद को अर्थशून्य एवं गौण सस्था वना दिया है और भारत मे ससदीय प्रणाली को निरस्त (Supersede) कर दिया है। के० एम० मुन्शी ने भी कहा है कि "वस्तुत. आज देश मे ससद शासन नही करती वल्कि योजना आयोग सरकार का नियन्त्रण एव पथ-प्रदर्शन करता है और मजे की वात यह है कि आयोग ससद के प्रति उत्तरदायी नही है।" ससदीय प्रणाली मे जनता की सम्प्रभुता ससद मे प्रतिविम्वित होती है और ससद के माध्यम से उस पर कार्यवाही की जाती है। मन्त्रिमण्डल पर ससद का नियन्त्रण होता है और ससद मन्त्रियो के कार्यों की आलोचना कर सकती है। मन्त्रिपरिषद अपने कार्यों के लिए सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। मन्त्रिपरिषद के अधिकार अन्तत. लोकसभा मे निहित है और लोकसभा से ही मन्त्रिपरिषद को शक्तियाँ प्राप्त होती है।

आर्थिक नियोजन के फलस्वरूप जहाँ नीति-निर्माता निकाय के रूप मे ससद की स्थिति दुर्बल हुई है; वही ससद की स्थिति मात्र रवड़ की मुहर के तुल्य भी हो गयी है। उसे योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा निर्मित योजनाओ पर मुहर लगानी होती है और इन निकायो पर उसका प्रभावशाली नियन्त्रण कतई नही है।

यथार्थ मे उपर्युक्त आलोचना तथ्यहीन है। जिस ढग से संसद अपनी विशेष रूप से गठित समितियो के माध्यम से पचवर्षीय योजनाओ के विभिन्न पहलुओ की जाँच कर रही है उससे इन योजनाओ की अधिक गहन और विस्तृत जाँच सुनिश्चित हुई है और उससे देश मे नियोजित विकास के राष्ट्रीय प्रयास के सवसे अधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने में मदद मिली है। इन समितियो मे तथा सदन मे दिये गये सुझावो और टिप्पणियो से इन योजनाओ को अन्तिम रूप से तैयार करने मे मदद मिली है।[2]

फिर केन्द्र और राज्यो मे योजनामन्त्री होते हैं, जो क्रमश. संसद और राज्य विधानमण्डलों के प्रति उत्तरदायी होते है। पचवर्षीय योजनाओ को अन्तिम रूप देने के वाद उन्हे ससद के समक्ष स्वीकृति के लिए प्रेषित किया जाता है। ससद द्वारा स्वीकृत पचवर्षीय योजना को ही सम्बद्ध अधिकारी क्रियान्वित करते हैं। अतः यह करना ठीक नही है कि आर्थिक नियोजन से भारत मे ससदीय-प्रणाली निरस्त कर दी गयी है।

(3) **आर्थिक नियोजन और लोकतन्त्र** (Planning and the Democracy)—व्यष्टिवादी अर्थशास्त्री आर्थिक नियोजन को अलोकतान्त्रिक मानते हैं। उनकी धारणा है कि आर्थिक नियोजन

---

1 J. D. Sethi : *India in Crisis*, 1975, pp. 54-55.

2 तृतीय पचवर्षीय योजना (प्रस्तावना)।

से जहाँ वैयक्तिक पहल समाप्त होती है वहाँ दूसरी ओर केन्द्रीयकृत सर्वाधिकारवादी ढाँचा खडा हो जाता है। आर्थिक नियोजन से अत्यधिक केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति वढती है और स्थानीय संस्थाओ की स्वायत्तता समाप्त हो जाती है।

आज की जटिल सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियो मे नियोजन को अलोकतान्त्रिक कह देना वैसा ही है जैसा यह कह देना कि भोजन करने से स्वास्थ्य खराब होता है। आधुनिक औद्योगिक समाज में परम्परावादी व्यष्टिवादी आर्थिक सिद्धान्तो का कोई महत्व नही है। जहाँ भारत मे आर्थिक नियोजन का सवाल है, उसे यथासम्भव लोकतान्त्रिक वनाने का प्रयास किया गया है। जनता द्वारा निर्वाचित सरकार द्वारा ही योजना आयोग के सहयोग से योजना वनायी जाती है। फिर योजना का निर्माण निम्न इकाइयो से प्रारम्भ होता है। जब दूसरी पंचवर्षीय योजना बनायी जा रही थी तो योजना आयोग ने राज्यो को निर्देश दिया कि वे पंचायतो, खण्डो और जिलो मे योजना का प्रारूप आमन्त्रित करें। इससे राज्य की योजना मे स्थानीय लोगों की आवश्यकता को दृष्टि मे रखा जा सकता है और साथ ही गाँवो और जिलों की योजनाओ को एकीकृत करके राज्यो की योजना को अन्तिम रूप दिया जा सकता है। किन्तु इससे एक कठिनाई पैदा हो गयी है कि निम्न धरातलो पर निर्मित योजनाएँ जहाँ वहुत महत्वाकाक्षी थी वही योजना आयोग के निर्दिष्ट ध्येयो से मेल नही खाती थी। इसके फलस्वरूप तीसरी पचवर्षीय योजना के निर्माण काल में आयोग ने कतिपय प्रमुख क्षेत्र निर्धारित कर दिये, जैसे कृषि, सहकारिता, प्राथमिक शिक्षा, ग्राम्य उद्योग, आदि और इन्ही क्षेत्रो मे निम्न इकाइयो को विवेकसम्मत योजना वनाने को कहा गया।

लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक माना जाता है कि देश में समृद्धि एवं सम्पन्नता की स्थिति हो। जनता सुखी, सन्तुष्ट और खुशहाल तभी रह सकती है जब उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो। वह गरीवी और बेकारी से ही पीड़ित न हो। वह अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इसीलिए तो स्वतन्त्रता के वाद हमारी राष्ट्रीय सरकार ने योजनाबद्ध विकास का मार्ग अपनाया। भारत मे आर्थिक समृद्धि के लिए किया जाने वाला कोई भी प्रयास लोकतन्त्र विरोधी कैसे हो सकता है? प्रो० लास्की ने तो कहा भी था कि "आर्थिक स्वाधीनता के अभाव मे राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रताएँ व्यर्थ है।" आर्थिक नियोजन आर्थिक स्वाधीनता की ही कल्पना को साकार करने का प्रयास है।

(4) **आर्थिक नियोजन और वित्त आयोग** (Planning and the Finance Commission)—भारतीय संविधान के अनुच्छेद 280 मे एक निष्पक्ष वित्त आयोग की व्यवस्था की गयी है। वित्त आयोग का कार्य राज्यो की जरूरतो को पूरा करने के लिए तथा विभिन्न क्षेत्रो मे व्याप्त असमानताओं को कम करने हेतु वित्तीय सहायता एव वित्तीय अनुदानो की सिफारिश करना है। वित्त आयोग एक सवैधानिक संस्था है तथा अनुच्छेद 275 के अनुसार, यह राज्यो को दी जाने वाली केन्द्रीय सहायता और अनुदान का स्वरूप एवं मात्रा तय करता है। 1950 मे योजना आयोग के गठन के पश्चात् एक विवादास्पद स्थिति उत्पन्न हो गयी। **अशोक चन्दा** लिखते हैं, "एक सर्वोपरि आर्थिक संस्था के रूप मे योजना आयोग ने सविधान द्वारा स्थापित वित्त आयोग के क्षेत्र मे हस्तक्षेप कर संविधान के लक्ष्य को समाप्त कर दिया और कार्यों मे ऐसा विघ्न उपस्थित हो गया है जिसमे योजना आयोग के विचार वित्त आयोग पर प्रभावी होते हैं।"[1]

वित्त आयोग और योजना आयोग के कार्यों का स्वरूप लगभग समान है। राज्यो को केन्द्र से मिलने वाली सहायता के लिए दोनो ही आयोग केन्द्रीय सरकार को अपनी संस्तुति प्रस्तुत करते हैं। ऐसा कहा जाता है कि विकासोन्मुख ससाधनो के वितरण मे योजना आयोग का कार्यक्षेत्र

1 Ashok Chanda : *Federalism in India*, p 196.

एवं भूमिका वढ गयी है जिससे वित्त आयोग का कार्य अर्थशून्य हो गया है जैसा कि **ए० टी० एपेन** ने लिखा है, "यथार्थ मे योजना आयोग ने वित्त आयोग को आर्थिक क्षेत्रों मे पदच्युत कर दिया है। वित्त आयोग का कार्यक्षेत्र राज्यो के गैर-योजना वजट से ही रह गया है। योजना आयोग की प्रभावकारी भूमिका से वित्त आयोग की भूमिका कम हो गयी है। भारत मे केन्द्रीय नियोजन ने वित्त आयोग की भूमिका के सम्वन्ध मे सविधान-निर्माताओ की आकाक्षाओ पर पानी फेर दिया है। ऐसी स्थिति मे निष्पक्ष सवैधानिक सस्था—वित्त आयोग—की उपयोगिता पर एक प्रश्न-चिह्न लग गया है।"[1]

यह एक निराली ही प्रवृत्ति दिखलायी देती है कि एक राजनीतिक संस्था ने वित्त आयोग जैसी सवैधानिक सस्था के महत्व को घटा दिया है। वित्त आयोग की घटती हुई स्थिति को देखते हुए **के० सन्थानम्** ने स्पष्ट कहा था, "जहाँ दो आयोगो—वित्त आयोग एवं योजना आयोग—के कार्य एक-दूसरे पर अतिक्रमण करें वहाँ कभी-कभी विवादास्पद स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। जहाँ वित्त आयोग एक सवैधानिक सस्था है, जिसके कार्य सीमित है वहाँ दूसरा आयोग मूलतः एव संघ राज्यो की वित्तीय स्थिति से सम्वद्ध है जव तक कि दोनो आयोग कार्य करते हैं, दोनो के कार्यों मे प्रभावशाली समन्वय लाने की जरूरत है।" **प्रो० एम० वी० माथुर** ने तो यहाँ तक सुझाव दिया है कि वित्त आयोग का योजना आयोग मे विलय किया जाना चाहिए।

वस्तुतः केन्द्रीय योजना के साथ-साथ केन्द्रीय देखरेख अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा विकास की गति मन्द पड़ सकती है। वर्तमान स्थिति मे वित्त आयोग भी कई दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है। इसका कार्य योजना आयोग के कार्यों का पूरक होना चाहिए। हमारे सुझाव मे वित्त आयोग एक स्थायी सस्था वना दिया जाना चाहिए। गैर-राजनीतिक और निष्पक्ष सस्था होने के कारण राज्यो के विकास सूचकाक एकत्रित करने मे इसकी बहुत अधिक उपयोगिता है। अशोक चन्दा का सुझाव है कि सविधान मे समुचित सशोधन करके दोनो ही आयोगो के कार्यों एव कार्यक्षेत्रो को स्पष्ट कर दिया जाये ताकि उसके मध्य किसी प्रकार का विरोध एव विवाद उत्पन्न न हो।

(5) आर्थिक नियोजन तथा सघीय व्यवस्था (Planning and the Federal System)—आर्थिक नियोजन ने हमारी सघीय राज्य-व्यवस्था को अत्यधिक प्रभावित किया है। **के० सन्थानम्** के अनुसार, "नियोजन-व्यवस्था ने नीति और वित्त सम्वन्धी सभी मामलो मे राज्य की स्वायत्तता को एक छाया का रूप प्रदान कर दिया है।" ग्रेनविल ऑस्टिन ने लिखा है कि भारतीय सघवाद के अन्तर्गत केन्द्रीय प्रभाव रहा है। अशोक चन्दा ने लिखा है कि योजना ने भारत मे लोकतन्त्र व सघवाद दोनो को मात दे दी है।

प्रो० ए० एच० हेन्सन का कहना है कि भारतीय संविधान-निर्माताओ के मन मे स्थिति स्पष्ट नही थी। उन्होने शायद नियोजन को केन्द्र एव राज्यो के मध्य समायोजन की व्यवस्था माना हो किन्तु उनकी यह आकांक्षा साकार नही हो पायी। राष्ट्रीय विकास परिषद जो केन्द्र और राज्यो के वीच आपसी सहयोग और सलाह के लिए वनायी गयी थी, आर्थिक योजना बनाने वालो के लिए वाद-विवाद का मंच वनकर रह गयी। प्रत्येक राज्य नियोजन के लिए अधिक-से-अधिक साधन प्राप्त करने हेतु प्रतिस्पर्द्धा करने लगा। योजनाओ के निर्माण मे राज्यों का सहयोग अत्यन्त सीमित रहा है। वित्तीय सहायता के लिए राज्य केन्द्र पर अधिक निर्भर हो गये। सामाजिक और आर्थिक सेवाओ के विषय मे योजना आयोग एवं राज्यो के मध्य सघर्ष उत्पन्न हुआ है।

---

1 A. T. Appen "A Critic of Indian Fiscal Federation," *Public Finance*, Vol. No. 4, 1969, p. 537.

योजना का एक परिणाम यह हुआ कि राज्यो को संवैधानिक रूप से आवटित क्षेत्रों मे भी अपने-आपको निःसहास महसूस करना पडा। शिक्षा, दवाइयाँ, जन-स्वास्थ्य, कृषि, सहकारिता, समाज कल्याण व औद्योगिक आवास-व्यवस्था जैसे विषयो पर राष्ट्रीय योजनाओं द्वारा राज्यों की स्वायत्तता पर कुठाराघात हुआ है। शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के विश्वविद्यालयों के विभागो का विस्तार कार्यक्रम केन्द्रीय सरकार से उपलब्ध धनराशि पर निर्भर करता है, प्राध्यापको के वेतन मे वृद्धि भी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग पर निर्भर करती है। आर्थिक नियोजन के फलस्वरूप संघीय केन्द्रीयकरण इतना अधिक बढा है कि **के० सन्थानम्** ने कहा है, "नियोजन ने सघवाद को निरस्त नही किया है परन्तु केन्द्रीयकरण बहुत अधिक मात्रा में आया है और नीति और वित्त सम्बन्धी मामलो मे समूची नियोजन-व्यवस्था ने राज्य की स्वायत्तता को एक छाया का रूप प्रदान कर दिया है।"

भारत में संघवाद पर नियोजन के प्रभाव (Impact of Planning on Federalism in India)—कुछ आलोचको ने तो आयोग को समानान्तर सरकार तथा 'सुपर केबिनेट' की संज्ञा दे डाली है। संघवाद पर नियोजन के प्रभाव को निम्नलिखित शीर्षको मे समझा जा सकता है :

(अ) **नियोजन की विषय-वस्तु**—नियोजन अपने आप मे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति लिये होता है क्योकि इसका सम्बन्ध शासन के सभी विषयो से होता है। शासन के सभी विषयों पर योजना आयोग योजना बनाता है अर्थात् राज्य सूची के विषयो पर भी वह एक सीमा तक छाया रहता है। एक सघात्मक व्यवस्था मे केन्द्र और राज्यो के मध्य विषयो का बँटवारा होता है जबकि योजना आयोग के माध्यम से एकात्मकता की प्रवृत्ति का विकास होता है।

(ब) योजना प्रारूप की अन्तिम स्वीकृति केन्द्रीय संसद द्वारा—योजना प्रारूप का अन्तिम निर्णय केन्द्रीय संसद के हाथो मे है। इस प्रकार व्यवहार में वास्तविक निर्णय शक्ति केन्द्रीय कार्य-पालिका के हाथो मे है और उसके निर्णयो की क्रियान्विति राज्य कार्यपालिकाओ को करनी होती है। राज्यो के पास अपने पृथक् योजना बोर्ड नही है, अत. केन्द्र द्वारा स्थापित और शासित योजना आयोग का राज्य सरकारो पर व्यापक प्रभाव होता है।

(स) योजना आयोग में केन्द्रीय मन्त्रियो का वर्चस्व—प्रधानमन्त्री योजना आयोग का अध्यक्ष होता है और केन्द्रीय वित्त, आयोजन, गृह और कृषि मन्त्रियो को इसका सदस्य बना दिया जाता है। इससे योजना आयोग मे केन्द्रीय मन्त्रियो का वर्चस्व स्थापित हो जाता है। अतः योजना आयोग की रचना भारतीय सघवाद को केन्द्र के अनुकूल प्रभावित करने की क्षमता रखती है।

(द) योजना का निर्माण—योजना आयोग सम्पूर्ण देश की योजना के लिए कुछ आधार-भूत विषय और प्राथमिकता निश्चित करता है। चूंकि प्रत्येक राज्य की समस्या अलग-अलग है, इसलिए उनकी मूल समस्याओ का निराकरण नही हो पाता है। योजना आयोग ने प्रारम्भ मे यह सोचा था कि केन्द्र तथा राज्य की समस्याएँ एक ही प्रकृति की होगी। इसलिए आयोग ने अपनी नीतियों में एकरूपता कायम करने की कोशिश की, जबकि संघवाद एकरूपता पर इतना अधिक बल नही देता है।

(य) योजना की क्रियान्विति—राज्य योजनाओ को लागू करने वाले अभिकरण मात्र समझे जाते है। केन्द्र निर्देश देता है और राज्यो को योजना सम्बन्धी निर्देश कार्यान्वित करने होते है।

(प) धन सम्बन्धी पक्ष—राज्य सरकारो की एक बहुत बड़ी शिकायत यह रही है कि धन सम्बन्धी अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण आयोजना के क्षेत्र मे केन्द्रीय सरकार का प्रभाव बहुत

अधिक रहा है। इस सम्वन्ध मे एक लम्बे समय तक आलोचना का एक विन्दु यह भी रहा है कि केन्द्र योजना सहायता की राशि को पक्षपातपूर्ण ढंग से वाँटता है। यह भी कहा जाता है कि केन्द्र की योजना राशि सभी राज्यो की सम्मिलित योजना राशि से भी कही अधिक तेजी से वढ रही है। इतना ही नही, केन्द्रीय शक्तियो द्वारा राज्य को ये आदेश दिये जाते है कि वे अपने विकास कार्यों को किस प्रकार व्यवस्थित करें। केन्द्र के पास अधिक लचीले वित्तीय साधन हैं और विधान द्वारा अपने इस प्रदत्त अधिकार के आधार पर विशेष सुविधाओ का लाभ उठाते हुए केन्द्र अपनी स्थिति को मजवूत कर रहा है। विदेशो से मिलने वाली भारी आर्थिक सहायता भी केन्द्र की स्थिति को सुदृढ वनाती है और विकास के नाम पर केन्द्र को अपने साधनो को समृद्ध वनाने का सुअवसर देती है। कृषि, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे विकास की जिम्मेदारी राज्य सरकारो पर है। केन्द्र के पास अपने विकास कार्य कम हैं किन्तु वित्तीय साधन राज्यो की तुलना मे वहुत विपुल और लचीले हैं। इसलिए केन्द्र ऐसी स्थिति मे है कि वह वित्तीय सहायता के माध्यम से राज्यो की नीतियो और योजनाओ पर अपनी इच्छाओ को आरोपित कर सकता है। इसके फलस्वरूप सविधान मे प्रस्तावित सघ व्यवस्था की आत्मा का तो हनन हुआ ही है, साथ ही राज्यो से सम्वन्धित वित्तीय साधनो और स्रोतो का भी समुचित विकास नही हो सका है। इन्ही स्थितियो का लाभ उठाते हुए केन्द्र एकरूपता आरोपित करने के नाम पर अपने साधनो का दुरुपयोग करता है। केन्द्र सरकार राज्यो पर उन योजनाओ को हाथ मे लेने के लिए दवाव डालती है जो राज्य सरकार की दृष्टि से अवाछनीय है और जिनकी क्रियान्विति भी आसानी से नही की जा सकती। ऐसे उदाहरणो की कमी नही है जवकि केन्द्र की सहायता के वन्द होने पर राज्यो ने अपनी कितनी ही परियोजनाओ को भी वन्द कर दिया है। यह भी कहा जाता है कि केन्द्रीयकरण का एक लाभ जो कि सन्तुलित विकास के रूप मे देखा जाना चाहिए था, देश को नही मिल सका है। जिस प्रकार व्यक्तियो के विषय मे यह कहा जाता है कि मालदार लोग अधिक मालदार और गरीव लोग अधिक गरीव वने है, ठीक उसी प्रकार योजनाओ के कारण राज्यो की भी यही दशा हुई है। अनेक राज्यो की यह मान्यता रही है कि विकास की योजनाओ के आरम्भ से पूर्व राज्यो मे जो असन्तुलित स्थिति थी उसे योजना व्यवस्था ठीक नही कर सकी है। केन्द्र द्वारा आवण्टित प्रोजेक्ट्स (Projects) समान रूप से नही वाँटे जाते। कम औद्योगिक क्षेत्रो मे उद्योग लगाने की औद्योगिक नीति को भी केन्द्र प्रभावशाली ढग से लागू नही कर सका है। केन्द्र सरकार ने विकसित राज्यो के पक्ष में ऐसे कितने ही निर्णय लिये हैं जिनसे केन्द्रीयकृत वित्तीय सहायता केवल ऐसे केन्द्रीय सस्थानो को ही मिल सकी है जो विकसित प्रदेशो मे उपस्थित थे।

(फ) राष्ट्रीय विकास परिषद—वदलते राजनीतिक परिप्रेक्ष्य मे राष्ट्रीय विकास परिषद को 'सहकारी सघवाद' का सम्वल कहना समीचीन होगा। केन्द्र एव राज्यो मे योजना से सम्वन्धित महत्वपूर्ण मामलो मे समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से यह सर्वोच्च नीति-निर्माता निकाय के रूप मे प्रकट हुई है। के० सन्थानम् का कथन है कि राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थिति सम्पूर्ण भारतीय सघ के उच्च मन्त्रिमण्डल के समकक्ष सी है अर्थात् उसने एक ऐसे मन्त्रिमण्डल का रूप धारण कर लिया है जो भारत सरकार और साथ ही सभी राज्यो की सरकारो के लिए कार्य कर रहा है।

डॉ० सी० पी० भाम्भरी ने लिखा है कि योजना सम्वन्धी मामलो मे केन्द्र तथा राज्यो के मध्य समायोजन की स्थापना के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना की गयी है।

पिछले एक दशक से राष्ट्रीय विकास परिषद की वैठको मे एक नवीन प्रवृत्ति देखने को मिलती है। राज्यो के मुख्यमन्त्री खुले तौर से केन्द्रीय दवावो का विरोध करते हुए पाये गये है। सन् 1969 मे कुछ राज्यो ने चौथी योजना के प्रारूप को औपचारिक रूप से अस्वीकृति प्रदान

की। केरल और पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्रियों ने कहा कि उन्हें तव बुलाया गया जवकि योजना का प्रारूप बिल्कुल तैयार था तथा उसमे किसी प्रकार के परिवर्तन की गुंजाइश नही थी। मार्च 1977 के वाद राष्ट्रीय विकास परिषद की वैठकों में राज्यों के मुख्यमन्त्रियो ने राज्यो के लिए अधिकतम वित्तीय संसाधनो की मांग की। अव राज्यो मे केन्द्र सरकार से भिन्न राजनीतिक दलो की सरकारें होने के कारण सौदेवाजी की प्रवृत्ति वढती जा रही है।

सरकारिया आयोग के समक्ष **'योजना आयोग तथा आर्थिक नियोजन'** की प्रचलित पद्धति की आलोचना करते हुए विभिन्न राज्य सरकारों ने निम्नलिखित शिकायते दर्ज करायी है.[1]

1. कई राज्य सरकारो का कहना है कि योजना आयोग की स्थापना इस मान्यता से हुई थी कि यह संघ तथा राज्य दोनो के लिए विशेषज्ञ सलाहकार निकाय के रूप में कार्य करेगा और "रोजमर्रा के प्रशासनिक कार्यों से अपने आपको मुक्त रखेगा", कुछ वर्षों से संघ सरकार के एक अग के रूप मे कार्य करने लगा है।

2. राज्य सरकारो की एक शिकायत यह है कि उन्हे संघ द्वारा दिये गये कठोर और विस्तृत निर्देशों का पालन करना पड़ता है। वह भी केवल इसलिए क्योकि योजना निधि प्राप्त करने के लिए उन्हें केवल संघ सरकार पर निर्भर रहना पड़ता है।

3. केन्द्र सरकार राज्य सूची मे शामिल विपयो पर मुख्यत केन्द्रीय रूप से प्रायोजित स्कीमो के रूप मे होने वाले अनुवर्ती खर्च का भार अपने ऊपर लेती है। उदाहरणार्थ, कृषि और ग्रामीण विकास कार्यक्रम अधिकाशतः राज्य के विषय है, फिर भी उसके लिए लगभग 43 प्रतिशत परिव्यय का निर्धारण केन्द्रीय क्षेत्र की योजना मे किया गया है। ग्रामोद्योग और लघु उद्योग के क्षेत्र मे भी केन्द्र का योजनागत परिव्यय कुल परिव्यय का लगभग 52 प्रतिशत रखा गया है। स्वास्थ्य (चिकित्सा सहित), आवास, शहरी विकास और जलपूर्ति, जो कि विशेप रूप से राज्य सूची मे हैं, के अधीन केन्द्रीय क्षेत्र की योजना मे परिव्ययों का निर्धारण अत्यधिक मात्रा मे किया गया है।

राज्यों द्वारा केन्द्रीय रूप से आयोजित स्कीमो की आलोचना के कारण हैं—इन स्कीमों को लागू करने से पहले राज्यो के साथ परामर्श न किया जाना, इस सम्बन्ध मे ससाधनो के अन्तरण मे मनमानी करना या विवेक शक्ति का इस्तेमाल करना; व्यापक मार्गनिर्देशो के माध्यम से विस्तृत कार्यान्वयन राज्यो पर छोड देने की वजाय केन्द्र सरकार द्वारा छोटे-से-छोटे ब्यौरे की जाँच करना; आदि।

4. राष्ट्रीय विकास परिपद समन्वयकारी संस्था के रूप मे कार्य नही कर सकती क्योकि—इसकी वैठक जल्दी-जल्दी नही होती और अधिक अवधि के लिए नही होती। वर्ष 1952 से अव तक 40 वैठकें की गयी है। यह परिपद एप्रोच लेख (Approach Paper) और प्रारूप योजनाओ (Draft Plans) को अनुमोदित करती है लेकिन योजना की प्रगति पर नजर नही रख पाती। विचार-विमर्श (Conference) की प्रक्रिया मे मुख्यमन्त्रियो के घिसे-पिटे भाषण होते हैं जिनमे परस्पर विचार-विमर्श अत्यन्त कम होता है। राज्यों को अपने विचारो को निश्चित रूप देने के लिए निर्धारित किया गया समय प्राय: अपर्याप्त होता है।

क्या संघवाद निरस्त हुआ है ?—प्रो० पाल एच० ऐपलबी का मत है कि केन्द्रीय सरकार अपनी नीतियो के क्रियान्वयन के लिए राज्य सरकारो पर आश्रित है फिर योजना आयोग की तुलना मे राष्ट्रीय विकास परिषद नीति-निर्माता निकाय के रूप मे अधिक शक्तिशाली है। राष्ट्रीय विकास परिपदों मे राज्यो के मुख्यमन्त्रियो को स्थान दिया गया और ये परिपद की कार्यवाहियो मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। योजनाओ की अन्ततोगत्वा स्वीकृति राष्ट्रीय विकास परिपद के

---

[1] **केन्द्र-राज्य सम्बन्ध आयोग रिपोर्ट,** „ I, (भारत सरकार, 1988) पृ० 345-369।

द्वारा होती है, अतः यह कहना उचित नही प्रतीत होता है कि आर्थिक नियोजन से भारत मे संघ-व्यवस्था समाप्त हो गयी है।

(6) **आर्थिक नियोजन और केन्द्रीयकरण एवं विकेन्द्रीयकरण की समस्याएँ**—आर्थिक नियोजन के परिणामस्वरूप भारत मे राजनीतिक और आर्थिक केन्द्रीयकरण मे वृद्धि हुई है। योजना आयोग की भूमिका केन्द्रीयकरण पर वल देती है जवकि संविधान में विकेन्द्रीयकरण पर वल दिया गया है और पंचायती राज की स्थापना के प्रयत्न किये जाते रहे हैं। एक असमंजस की स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि हमारी राजनीतिक व्यवस्था का उद्देश्य विकेन्द्रीयकरण हो अथवा केन्द्रीयकरण।

(7) **जनता की सहभागिता की समस्याएँ**—आर्थिक नियोजन पचवर्षीय योजनाओ को ऊपर से थोपने की एक प्रक्रिया है जवकि हमारा सविधान और राजनेता व्यवस्था मे जनसाधारण की सहभागिता की आवश्यकता पर वल देते रहे है। ऐसी स्थिति में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मे चुनौतीपूर्ण समस्या यह है कि योजनाओ के क्रियान्वयन मे **जनसहभागिता** कैसे विकसित की जाय।

निष्कर्ष

भारत मे योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद तथा उनके द्वारा निर्मित योजनाओ ने राजनीति व्यवस्था को प्रभावित किया है किन्तु इससे यह अभिप्राय नही है कि हमारी राज-व्यवस्था के स्वरूप एवं ढाँचे में कोई आमूल-चूल परिवर्तन आ गया हो। संसदात्मक लोकतन्त्र और सघात्मक व्यवस्था हमारे प्रमुखतम राजनीतिक स्तम्भ हैं। संसद आज भी नीति-निर्माता निकाय के रूप मे संविधान का केन्द्र-विन्दु है। आर्थिक नीतियो के निर्माण मे संसद की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस प्रकार राज्यो की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी नही कही जा सकती। **ए० एन० झा** ने ठीक ही लिखा है कि योजना का कार्यान्वयन, चाहे वह कानून द्वारा हो या प्रशासकीय कार्यवाही द्वारा हो, राज्यो के हाथो मे है। **प्रो० जे० डी० सेठी** ने सम्पूर्ण योजना ढाँचे पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "भारत में नियोजन के सम्वन्ध मे निर्णय लेने की सत्ता अनेक निकायो में निहित है। योजना आयोग के अतिरिक्त राष्ट्रीय विकास परिषद, ससद, मन्त्रि-मण्डल, इत्यादि को कही-न-कही योजनाओं के निर्माण मे निर्णय लेना ही पड़ता है। योजनाओ के क्रियान्वयन मे वित्त मन्त्रालय, योजना आयोग, प्रधानमन्त्री, सचिवालय और राज्य सरकारो की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।"[1]

फिर भी यह एक बुनियादी प्रश्न है कि आधुनिक परिस्थितियो में विभाजित और समवर्ती शक्तियो की संवैधानिक अनिवार्यता के साथ आयोजना के वृहत स्तर के केन्द्रीयकरण की आवश्यकता का कैसे समाधान किया जाय? दूसरे शब्दो मे, यह देखना है कि संघ किस प्रकार से संविधान निर्धारित ऐसे क्षेत्रो मे, जो केवल राज्यो की अधिकारिता मे आते है या जो समवर्ती अधिकारिता के विषय हैं, अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप किये वगैर तथा विना किसी प्रतिकूल प्रतिक्रिया के आयोजना के राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

अधिकांश राज्य सरकारो ने सरकारिया आयोग के सामने यह विचार रखा था कि योजना आयोग को संघ सरकार द्वारा प्रभावित हुए विना या आदेश प्राप्त किये विना न केवल स्वतन्त्र रूप से कार्य करना चाहिए वल्कि उसे वस्तुपरक सिद्धान्तो के आधार पर निष्पक्ष निकाय के रूप में भी काम करना चाहिए।[2]

---

1 J. D. Sethi *India in Crisis*, 1975, p. 155

2 केन्द्र-राज्य सम्बन्ध आयोग रिपोर्ट, भाग I (भारत सरकार, 1988), पृष्ठ 346।

11

दलीय व्यवस्था एवं भारतीय संघवाद

[PARTY SYSTEM AND INDIAN FEDERALISM]

किसी भी देश की संवैधानिक व्यवस्था का निर्धारण उस देश विशेष मे विद्यमान दल प्रणाली से होता है। सघात्मक राजनीतिक व्यवस्था मे विद्यमान दल-प्रणाली की सामर्थ्य, राष्ट्रीय और प्रादेशिक राजनीतिक नेतृत्व की महत्ता, राजनीतिक दलों की शक्ति संरचना, राष्ट्रीय और प्रादेशिक दलों की तुलनात्मक शक्ति, आदि तत्व संघ व्यवस्था के व्यावहारिक क्रियान्वयन को प्रभावित करते हैं। संघात्मक प्रणाली वाले देशों मे शासन के विभिन्न स्तरों के साथ-साथ दल-प्रणाली के विभिन्न स्तर (levels) दिखलायी पडते है। स्विट्जरलैण्ड मे दलो के संगठन का बुनियादी आधार कैण्टन है और सयुक्त राज्य अमरीका मे राष्ट्रीय स्तर के दल राज्य-स्तरीय दलों के संघ हैं। विकेन्द्रीयकृत ढीलाढाला दलीय सगठन संघ व्यवस्था के सरचनात्मक पहलू का परिणाम होता है।[1]

सघात्मक शासन प्रणाली मे विद्यमान पृथक्-पृथक् प्रदेशो या क्षेत्रो के कारण राजनीतिक दलो के निर्माण और विकास में आसानी होती है। संघात्मक प्रदेशों के आकार, संख्या, एकता और विविधता से दलीय राजनीति प्रभावित होती है। यदि किसी सघ के प्रदेशों का आकार विशाल हो और सख्या कम हो तो क्षेत्रीय राजनीतिक दलो के निर्माण की सम्भावना अधिक रहती है। यदि किसी सघ के घटक प्रदेश मे एकता (homogeneity) पाया जाती है तो सुदृढ़ और संगठित क्षेत्रीय दल के विकास की सम्भावना बढ जाती है। यदि संघ के घटक प्रान्तो को स्वायत्तता की काफी मात्रा उपलब्ध है तो इससे राजनीतिक क्षेत्रीयता (political regionalism) का विकास होगा।

सघ व्यवस्था का व्यवहार मे कार्यान्वयन लिखित सविधान और बुनियादी लक्षणों पर उतना निर्भर नही करता जितना विद्यमान दल प्रणाली (Pattern of Party System) पर निर्भर करता है। जिस देश मे केन्द्र और राज्य स्तर पर एक ही दल की सरकार निर्मित होती है वहाँ केन्द्र-राज्य सम्बन्धो के संचालन हेतु गैर-सवैधानिक सूत्र विकसित हो जाते है और इससे उच्च श्रेणी की केन्द्रीयकृत व्यवस्था का अभ्युदय होता है। जिस देश मे प्रादेशिक दल शक्तिशाली है वहाँ व्यवहार मे विकेन्द्रीकृत संघ व्यवस्था का जन्म होता है। संघ व्यवस्था मे प्रादेशिक दलों का उदय और उनकी बढती हुई शक्ति 'राज्यो की स्वायत्तता की अवधारणा' को सम्बल प्रदान

---

1 David B Truman, "Federalism and the Party System", in *Federalism : Mature and Emergent* (ed.), W. McMohon, 1955, p. 133.

करती है और प्रादेशिक माँगो के प्रति चेतना जाग्रत करती है। प्रादेशिक स्तर के राजनीतिक दल केन्द्र-राज्य सन्तुलन का निर्माण करके संघात्मक प्रक्रिया (Federalising Process) को गतिशील बनाते है।[1]

भारत में एक-दल प्रधान व्यवस्था एवं संघवाद
(ONE DOMINANT PARTY SYSTEM AND FEDERALISM)

यह सकल्पना की जाती है कि जब केन्द्र और राज्यो मे एक ही राजनीतिक दल की सरकारें होगी तो संघीय व्यवस्था व्यावहारिक रूप से एकात्मक प्रणाली मे परिवर्तित हो जाती है। इसी आधार पर कतिपय विद्वानो का विचार है कि चूंकि 1967 तक भारत मे आमतौर से केन्द्र और राज्यो मे कांग्रेस दल की सरकारें थी अतः भारतीय शासन एकात्मक प्रणाली के रूप मे कार्य करता रहा। इस कालावधि मे राज्यो में सरकारो के निर्माण तथा उनकी मूलभूत नीतियो के निर्धारण, आदि मे कांग्रेस पार्टी के केन्द्रीय नेतृत्व का महत्वपूर्ण हाथ रहा। उदाहरण के लिए, ससद तथा राज्य विधानसभाओं के लिए प्रत्याशियो के चयन, राज्यो में मन्त्रिमण्डल के निर्माण, मुख्यमन्त्री के चयन और प्रादेशिक कांग्रेस के नेताओ के बीच झगडो को तय करने मे कांग्रेस के केन्द्रीय नेतृत्व मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। जवाहरलाल नेहरू के करिश्मावादी व्यक्तित्व के कारण राज्यो की राजनीति मे दल के केन्द्रीय नेतृत्व का काफी प्रभाव बढ गया था। नीतियो के निर्माण मे भी कांग्रेस कार्यकारिणी ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और जमीदारी उन्मूलन, भूमि सुधार, प्रारम्भिक शिक्षा, आदि विषयो पर राज्य सरकारो का मार्ग निर्देशन किया। 1963 मे कामराज योजना के अधीन छ. मुख्यमन्त्रियो को अपना पद त्यागकर दल की सेवा का व्रत लेना पडा। कई राज्यो मे अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत केन्द्र सरकार ने राष्ट्रपति शासन की स्थापना का निर्णय किया। केरल विधानसभा मे साम्यवादी दल के बहुमत के बावजूद राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा की गयी। कहने का अभिप्राय यह है कि सन् 1967 तक राज्यो पर केन्द्रीय सरकार का कठोर नियन्त्रण रहा जिसका मूल कारण एक-दलीय प्रभुत्व था।

यह निष्कर्ष निकालना भी तर्कसगत नही है कि एक-दलीय प्रभुत्व के कारण सघ व्यवस्था एकात्मक प्रणाली मे परिवर्तित हो जाती है। सन् 1967 तक के दलीय प्रभुत्व काल मे भी राज्यो की कांग्रेस सरकारो और केन्द्रीय सरकार के बीच मतभेद उत्पन्न होते रहे हैं। इस काल मे कई राज्यो मे प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले मुख्यमन्त्री थे जिनको कांग्रेस दल का हाईकमाण्ड अपने पूर्ण नियन्त्रण मे नही रख सका। बम्बई राज्य के मोरारजी देसाई, पं० बगाल के बी० सी० राय, उत्तर प्रदेश के गोविन्दवल्लभ पन्त, पजाब के प्रतापसिंह कैरो ऐसे ही मुख्यमन्त्री थे। इस काल मे पजाब के मुख्यमन्त्री रामकिशन ने 1965 मे केन्द्रीय सरकार द्वारा पजाब में सीमा सुरक्षा दल (B S F) के भेजे जाने का विरोध किया। मैसूर (कर्नाटक) के मुख्यमन्त्री एस० निजलिंगप्पा ने मैसूर और महाराष्ट्र के सीमा सम्बन्धी झगडो को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा प्रस्तावित हाई पावर कमीशन को समर्पित करने से इन्कार कर दिया। प० बगाल के मुख्यमन्त्री डॉ० बी० सी० राय ने योजना आयोग को चुनौती देते हुए बगाल मे कुछ प्रोजेक्ट्स की स्थापना के लिए विदेशी मुद्रा का प्रत्यक्ष रूप से प्रबन्ध करने की धमकी दी। इसी प्रकार नयी दिल्ली और प० बगाल के मध्य डॉ० राय के मुख्यमन्त्रित्व काल मे ही 'कोयले की खदानो के अधिग्रहण से सम्बन्धित अधिनियम, 1957' (The Coal Bearing Areas Acquisition and Development Act, 1957) विवाद का मुद्दा बन गया। राज्य सरकार ने इस अधिनियम की वैधता को सर्वोच्च न्यायालय मे चुनौती दी। बाद मे केन्द्र का इस मामले को लेकर राज्य के प्रति रवैया थोड़ा उदार हो गया था। फिर भी राज्य ने न्यायालय से मुकदमा वापस नहीं लिया।

1 Phul Chand, "Federalism and the Indian Political Parties", in *Indian Parties and Politics* (ed.), L. M. Singhis, 1972, pp. 147-49.

मारकुस एफ० फ्राण्डा[1] ने पश्चिमी बंगाल के सन्दर्भ में विशेष अध्ययन करते हुए अपनी पुस्तक 'वेस्ट बंगाल एण्ड दि फेडरालाइजिंग प्रोसेज इन इण्डिया' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यदि केन्द्र तथा राज्यो मे एक ही दल की सरकार हो तो इसका यह तात्पर्य नही कि केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को अपनी नीतियो की क्रियान्विति के लिए विवश कर सके। दामोदर घाटी निगम के मामले मे केन्द्रीय सरकार ने पश्चिमी बंगाल सरकार के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया।

पश्चिमी बंगाल मे कांग्रेस दल बहुत सुदृढ रूप से बना हुआ संगठन था, जो अपनी शक्ति को राष्ट्रीय दल से स्वतन्त्र होकर स्थानीय स्रोतो से प्राप्त कर रहा था, इसलिए यह राज्य, दलीय मामलों मे केन्द्रीय व्यक्तियो के हस्तक्षेप के प्रयासो को प्रभावशाली ढंग से हटाने में समर्थ रहा है। वस्तुत' अनेक वार केन्द्रीय दलीय नेता पश्चिमी बंगाल कांग्रेस दल की जिला व स्थानीय इकाइयो को नयी दिल्ली से नियन्त्रित करना चाहते थे। उन्होने राज्य संगठन मे केन्द्रीय दलीय नेताओ के पक्षधर प्रत्याशियो को आरोपित करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त, उन्होंने विरोधियों को भी अलग किया जो दल के वर्तमान नेतृत्व को उखाडना चाहते थे। लेकिन अनेक अवसरो पर केन्द्रीय नेतृत्व वर्ग के निर्देशो का प्रतिरोध करने में राज्य के दल की प्रभावशीलता सिद्ध हुई।

कहने का अभिप्राय यह है कि यदि एक-दल प्रधान व्यवस्था मे भी राज्य मे दलीय प्रभाव के स्रोत स्थानीय हो तो राज्य का दल केन्द्रीय नेताओ के हस्तक्षेप के प्रयासो को प्रभावशाली ढंग से रोक सकता है। अत. यह परिकल्पना पूर्ण रूप से ठीक नही प्रतीत होती कि केन्द्र और राज्य सरकारो मे एक ही राजनीतिक दल सत्ता मे होगा तो संघात्मक शासन एकात्मक शासन मे परिवर्तित हो जायेगा।

भारत में संघवाद : राजनीतिक दलों के दृष्टिकोण
(INIDIAN FEDERALISM ; VIEWS OF POLITICAL PARTIES)

स्वाधीनता के बाद से अब तक भारत मे अनेक राजनीतिक दलो का निर्माण हुआ है। कई राजनीतिक दल आज भी विद्यमान हैं और उनमे से कई टूट चुके है, विभाजित हो चुके है और उनका स्थान नये दलों ने ले लिया है। यहाँ हम देखने का प्रयत्न करेंगे कि सघ व्यवस्था के बारे मे राजनीतिक दलो के क्या दृष्टिकोण रहे हैं ?

(1) **कांग्रेस**—काग्रेस मजबूत केन्द्र के पक्ष मे है। काग्रेस केन्द्र को इतना शक्तिशाली रखना चाहती है जिससे वह न केवल सघ सरकार की जिम्मेदारियो को पूरा कर सके बल्कि राज्य सरकारो को दी गयी बहुत-सी जिम्मेदारियो को भी व्यावहारिक रूप दे सके। कांग्रेस का मुख्य लक्ष्य पंचवर्षीय योजनाओ के आधार पर देश का सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण करना है। वह धन तथा आय के समतायुक्त वितरण के आधार पर देश मे समाजवादी समाज के निर्माण हेतु कृत संकल्प है। इस ध्येय की प्राप्ति हेतु केन्द्र एव राज्यो की सरकारो की नीतियो पर नियन्त्रण आवश्यक है। इसलिए काग्रेस का लक्ष्य 'केन्द्रीयकृत संघवाद' है।[2] 1980-88 के सत्तारूढ 'इन्दिरा काग्रेस' का इस सम्बन्ध मे दृष्टिकोण पुराने काग्रेस दल के समान ही है।

(2) **भारतीय साम्यवादी दल**—भारतीय साम्यवादी दल देश के सघीय संविधान मे परिवर्तनो की माँग करता है जिससे केन्द्रीय सरकार राज्यो के मामलो मे हस्तक्षेप न कर सके। दल राज्यो के मध्य पायी जाने वाली क्षेत्रीय विपमताओं को दूर किये जाने पर बल देता है। वित्तीय और आर्थिक क्षेत्रो मे राज्यो को अधिक अधिकार दिये जाने का साम्यवादी दल समर्थन करता

1 Marcus F. Franda, *West Bengal and Federalising Process in India*, 1968
2 "Centralised federalism therefore has been the objective of the Congress"—*M Venkatarangaiya*, "The Impact of Political Parties on Indian Federalism", in *Indian Parties and Politics* (ed.), L. M. Singhis, 1929, p. 25.

है। सातवी अनुसूची मे दल इस प्रकार सशोधन चाहता है ताकि राज्यो की शक्ति में वृद्धि हो सके।

सरकारिया आयोग को प्रस्तुत अपने ज्ञापन मे भाकपा ने व्यक्त किया है : (1) अनुच्छेद 356 मे सशोधन किया जाय। राष्ट्रपति के राज्य विधानसभा के विघटन और निलम्बन तथा राज्य मन्त्रिमण्डल की बर्खास्तगी के व्यापक अधिकारों को समाप्त किया जाये; (2) वित्त आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा राज्यों मे परामर्श करके तैयार किये गये और संसद द्वारा अनुमोदित पैनल की सिफारिश के आधार पर की जानी चाहिए; (3) योजना आयोग को एक सवैधानिक निकाय बनाया जाना चाहिए; (4) राष्ट्रीय विकास परिषद को सवैधानिक दर्जा दिया जाना चाहिए। भारतीय साम्यवादी दल ने स्पष्ट कहा है, "हम एक सुदृढ़ केन्द्र का समर्थन करते है। किन्तु हम एक अशक्त परिसंघ के मत से सहमत नहीं है वरन् हम एक सुदृढ़ केन्द्र चाहते हैं और साथ ही अधिक अधिकार और वित्त के साथ एक सघीय एकक चाहते हैं। हमारा विचार है कि केन्द्र तभी प्रबल हो सकता है जबकि संघीय एकक भी प्रबल हो ... ।"

(3) **मार्क्सवादी साम्यवादी दल**—मार्क्सवादी साम्यवादी दल 'राज्य स्वायत्तता' का प्रबल समर्थक है। ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया अण्डर कांग्रेस रूल' (India under Congress Rule) में लिखा है कि "भारतीय संघ मे सम्मिलित सभी राज्यों को अधिक-से-अधिक स्वायत्तता प्राप्त होनी चाहिए।" मार्क्सवादी दल ने सन् 1971 के चुनाव घोषणा-पत्र मे समवर्ती सूची को राज्य सूची मे परिवर्तित करने का सुझाव दिया। दल केन्द्र-राज्य सम्बन्धो मे आमूल-चूल परिवर्तन चाहता है। कुछ वर्षों पूर्व दल ने सुझाव दिया था कि—(i) राज्यपालो के पद समाप्त कर दिये जाने चाहिए, (ii) राष्ट्रपति शासन से सम्बन्धित प्रावधान हटा दिये जाने चाहिए, (iii) समवर्ती सूची के विषय राज्य सूची मे मिला दिये जाने चाहिए, (iv) कुल आय के 75 प्रतिशत स्रोत राज्यो को दिये जाने चाहिए, (v) राज्यो में कार्यरत समस्त कर्मचारियो पर राज्य सरकार का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए।

1978 मे पश्चिमी बगाल की मार्क्सवादी सरकार ने 'राज्यो को स्वायत्तता' देने की दृष्टि मे एक विस्तृत मसविदा केन्द्रीय सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया। सरकारिया आयोग को प्रस्तुत अपने ज्ञापन मे मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने व्यक्त किया है : राज्य स्वायत्तता के बिना भारत की एकता नही रहेगी। अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यो के पास होनी चाहिए न कि केन्द्र के पास। राज्यपाल का पद समाप्त कर दिया जाये, यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो यह पद ऐसे किसी व्यक्ति द्वारा भरा जाये जिसे राज्य विधानमण्डल का विश्वास प्राप्त हो। केवल सघ सेवाएँ और राज्य सेवाएँ होनी चाहिए, अखिल भारतीय सेवाएँ नही होनी चाहिए। केन्द्र द्वारा की गयी कुल वित्तीय उगाही मे से 75 प्रतिशत प्रत्येक राज्य को मिलना चाहिए।

(4) **डी० एम० के० और अन्ना डी० एम० के०**—डी० एम० के० ने सविधान मे संशोधन की सलाह दी ताकि भारत स्वशासी भाषायी राज्यो का एक विकेन्द्रित सघ बन जाये जिन्हे भारत से पृथक् होने का अधिकार प्राप्त हो। इस दल ने प्रस्ताव रखा कि केन्द्रीय सरकार सभी राज्यो की सहमति से बनायी जाय तथा उनके नियन्त्रण मे केवल प्रतिरक्षा एव विदेश सम्बन्ध, इत्यादि राष्ट्रीय हित के विषय रहें। सितम्बर 1970 मे डी० एम० के० ने 'राज्य स्वायत्तता शासन सम्मेलन' आयोजित किया। डी० एम० के० ने तमिलनाडु के लिए पृथक् ध्वज की भी माँग की। डी० एम० के० का विचार है कि वर्तमान सविधान मे राज्यो को दयनीय रूप मे केन्द्र सरकार पर निर्भर रहना पडता है तथा केन्द्र सरकार न तो राज्यो की जनता की भावनाओ का आदर करती है और न ही उनकी समस्याओ तथा आवश्यकताओ को समझने का प्रयत्न करती

है। अतः राज्यो को अधिकतम स्वायत्त शासन के अधिकार दिये जाने चाहिए ताकि जनता शीघ्रतापूर्वक स्थायी उन्नति कर सके।

डी० एम० के० की माँग थी कि आर्थिक नियोजन राज्यो से प्रारम्भ होना चाहिए तथा प्रत्येक राज्य मे अलग से 'योजना आयोग' होने चाहिए। केन्द्र-राज्य सम्बन्धो के अध्ययन हेतु डी० एम० के० सरकार ने 'राजमन्नार' समिति की नियुक्ति की। इसने छ प्रमुख सिफारिशें की : (i) एक अन्तर्राष्ट्रीय परिषद की स्थापना की जाये जिसका अध्यक्ष प्रधानमन्त्री हो तथा राज्यो के मुख्यमन्त्री उनके सदस्य हो। राज्यो को प्रभावित करने वाला विधेयक इस परिषद के परामर्श के बाद संसद मे रखा जायेगा। (ii) योजना आयोग तोड दिया जाये। राज्यो में अपने आयोजन मण्डल हो और ये निकाय उन्हे परामर्श देने का कार्य करें। (iii) वित्त आयोग स्थायी आधार पर स्थापित किया जाये तथा राज्यो के पक्ष मे करो का पहले से अधिक वितरण हो ताकि उन्हे केन्द्र पर कम-से-कम निर्भर रहना पड़े। (iv) केन्द्रीय एव समवर्ती सूची के अनेक विषयो को राज्य सूची मे स्थानान्तरित कर दिया जाये। (v) राज्यपाल की नियुक्ति के लिए प्रक्रिया अपनायी जाये और राष्ट्रपति किसी उच्चाधिकार प्राप्त निकाय के परामर्श से राज्यपाल नियुक्त करें। (vi) राज्यो के उच्च न्यायालय राज्यो के क्षेत्राधिकार के सभी मामलो के लिए उच्चतम न्यायालय हो। राजमन्नार समिति प्रतिवेदन के आधार पर 16 अप्रैल, 1974 को मुख्यमन्त्री करुणानिधि ने 'पूर्ण राज्य स्वायत्तता के साथ संघीय ढांचा स्थापित' करने की माँग की।

इस सम्बन्ध मे अन्ना डी० एम० के० के विचार डी० एम० के० समान ही है। प्रादेशिक दल होने के कारण दोनो दल 'राज्य स्वायत्तता' के प्रबल समर्थक है।

(5) **अकाली दल**—अकाली दल राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीयकरण तथा 'राज्यो को अधिक स्वायत्तता' दिये जाने का समर्थक है। अकाली दल के नेताओ का कहना है कि विदेश विभाग, प्रतिरक्षा और सचार व्यवस्था, आदि कुछ विषयो को छोड़कर शेष सभी विषयो के सम्बन्ध मे सत्ता राज्यो को सौंप दी जानी चाहिए।

अकाली दल, डी० एम० के० और अन्ना डी० एम० के० जैसे क्षेत्रीय दल अपने क्षेत्र विशेष मे भी सत्ता से बाहर होने पर तो बहुत अधिक अनुत्तरदायी आचरण की प्रवृत्ति अपना लेते है। उदाहरण के लिए, 1982-83 से अकाली दल के एक वर्ग द्वारा 'राज्य स्वायत्तता' के नाम पर 'खालिस्तान आन्दोलन' जैसी राष्ट्र विरोधी और विघटनकारी प्रवृत्ति को परोक्ष समर्थन दिया जा रहा है। इन क्षेत्रीय दलो द्वारा यदा-कदा किये गये ये कार्य 'राज्य स्वायत्तता' सम्बन्धी इनके विचारो पर सभी चिन्तनशील व्यक्तियो मे गहरी शका की स्थिति खडी कर देते है।

(6) **तेलगु देशम्**—आन्ध्र प्रदेश मे सत्तारूढ तेलगु देशम् केन्द्र के अधिकार सीमित करने के पक्ष मे है। एन० टी० रामाराव के अनुसार केन्द्र के पास मात्र रक्षा, विदेशी मामले, सामान्य संचार तथा मुद्रा विभाग रहने चाहिए और शेष विभाग स्वतन्त्र रूप मे राज्यो के अधीन होने चाहिए। सरकारिया आयोग को प्रस्तुत अपने ज्ञापन मे तेलगु देशम् ने कहा कि राज्यपाल का पद समाप्त किया जाये, केन्द्र सरकार के पदो पर दफ्तरशाही के विभिन्न स्तरो पर राज्यो के अधिकारियो के पर्याप्त प्रतिनिधित्व की व्याख्या करके राज्यो के हितो की रक्षा की जाये, अन्तर्राज्यिक परिषद की स्थापना की जाये तथा समवर्ती सूची से सम्बन्धित मामलो पर कार्यवाही करने से पहले संघ राज्यों को अपने पूरे विश्वास मे ले।

(7) **जनता पार्टी**—1977 मे गठित जनता पार्टी चुनाव घोषणा-पत्र मे 'आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीयकरण' पर बल दिया गया था, लेकिन व्यवहार मे सत्ता के विकेन्द्रीयकरण की दिशा मे कार्य नहीं किया गया। इसके द्वारा नौ राज्यो की विधानसभाओ को एक साथ भंग करके संघीय व्यवस्था पर प्रहार किया गया। इसके अतिरिक्त जनता पार्टी के

नेताओ ने पश्चिमी बगाल की मार्क्सवादी सरकार द्वारा प्रस्तुत 'राज्य स्वायत्तता' के मसविदे पर विचार करना भी उचित नही समझा ।

सरकारिया आयोग को प्रस्तुत अपने ज्ञापन मे जनता पार्टी ने कहा है—राज्यों की विधायी शक्तियो पर केन्द्र की अतिक्रमण करने की प्रकृति पर अकुश लगाया जाना चाहिए; राज्यपाल की नियुक्ति सम्बन्धित राज्य सरकार की सहमति से की जानी चाहिए; अनुच्छेद 356 को हटा दिया जाना चाहिए या उसमे सशोधन किया जाना चाहिए, केन्द्रीय रिजर्व पुलिस और सीमा सुरक्षा बल जैसे अर्द्ध सैनिक बलो का प्रयोग राज्य सरकार के सिविल प्राधिकारियो से परामर्श किये बिना राज्य मे नही किया जाना चाहिए ।

जनता पार्टी के विभाजन और टूटने से जिन राजनीतिक दलों की स्थापना हुई, उनमे दो दल 1981-82 मे अपनी कुछ स्थिति रखते है । ये है भारतीय जनता पार्टी और लोकदल ।

(8) **भारतीय जनता पार्टी**—भारतीय जनता पार्टी की नीति अनेक बातो के सम्बन्ध में पुराने जनसंघ दल से मिलती हुई है और इस आधार पर सामान्यतया यह समझा जाता है कि भारतीय जनता पार्टी केन्द्र-राज्य सम्बन्धो मे केन्द्रीय सरकार को अधिक शक्तिशाली बनाने के पक्ष मे है । इस विचार की इस तथ्य से पुष्टि होती है कि 6 मई, 1980 को जारी किये गये आधारभूत नीति वक्तव्य मे दल को जिन पाँच निष्ठाओ से प्रतिबद्ध बतलाया गया, उनमें प्रथम निष्ठा '**राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय समन्वय**' है लेकिन स्थिति का एक अन्य पक्ष यह भी है कि यह दल राज्य सरकारो पर केन्द्र के अनुचित नियन्त्रण का विरोध करता रहा है । अटलबिहारी वाजपेयी के शब्दो मे, "वह एक मजबूत केन्द्र के पक्ष मे है जो देश की एकता और अखण्डता की रक्षा करने मे समर्थ हो किन्तु उसे राज्यो के सविधान प्रदत्त अधिकारो के हनन का कोई अधिकार नही होना चाहिए ···राज्यों को और अधिक वित्तीय अधिकार दिया जाना एक उचित बात है ताकि वे जनता के प्रति अपने बढते हुए दायित्व को पूरा कर सकें ।"[1] सरकारिया आयोग को प्रस्तुत अपने ज्ञापन मे भाजपा ने व्यक्त किया है : (1) ऐसा कुछ भी नही किया जाना चाहिए जिससे देश की एकता कमजोर हो, (2) राज्यो के ससाधनो की अन्तरण की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए ताकि वह इनके दायित्वो के अनुरूप हो, (3) वित्त आयोग के स्वरूप मे उचित रूप से परिवर्तन किया जाये, (4) राज्यपाल को शक्तियो का दुरुपयोग करने से रोकने के लिए सविधान के सगत उपबन्धो मे सशोधन किया जाये । इस प्रकार भारतीय जनता पार्टी केन्द्र-राज्य सम्बन्धो के सन्दर्भ मे वैधानिक सीमाओ का पालन करने वाले 'शक्तिशाली केन्द्र' के पक्ष मे है ।

(9) **लोकदल**—केन्द्र-राज्य सम्बन्धो के विषय मे लोकदल की नीति बहुत स्पष्ट नही है, लेकिन सामान्यतया यह सत्ता के विकेन्द्रीयकरण का समर्थक और राज्यो पर केन्द्र के अनुचित नियन्त्रण का विरोधी है। दल के अध्यक्ष चरणसिंह अपने नीति वक्तव्य मे कहते है, "केन्द्र शक्तिशाली रहेगा, लेकिन राज्यो को भी स्वायत्तता प्राप्त होगी ।"

इस प्रकार भारत के राजनीतिक दलो को सघवाद के सन्दर्भ मे उनके विचारो के आधार पर तीन वर्गों मे रखा जा सकता है . **प्रथम वर्ग** मे वे दल आते हैं जो शक्तिशाली केन्द्र पर आधारित संघवादी व्यवस्था को बनाये रखना चाहते है। इन्दिरा काग्रेस इसी श्रेणी में है । **द्वितीय श्रेणी** मे वे दल आते है जो वर्तमान सवैधानिक ढाँचे और केन्द्रीय सरकार की शक्तिशाली स्थिति को बनाये रखना चाहते हैं किन्तु उनका आरोप है कि शासक दल (1971-76 के काल मे सत्ता काग्रेस और 1980-82 के काल मे इन्दिरा काग्रेस) सवैधानिक प्रावधानो का प्रयोग दलीय हितो की पुष्टि करते हुए राज्यो पर अनुचित नियन्त्रण स्थापित कर रहा है । उनका

---

1 राजस्थान पत्रिका, 4 नवम्बर, 1983 ।

विचार है कि राज्यो के हितो की रक्षा हेतु सवैधानिक प्रावधानो मे परिवर्तन की आवश्यकता तो नही है, लेकिन केन्द्र के शासक दल की इन प्रवृत्तियो पर अकुश जरूरी है। जनता पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, लोकदल और कांग्रेस 'एस' इसी श्रेणी मे आते हैं। **तृतीय श्रेणी** में वे दल आते है जो केन्द्र-राज्य सम्बन्धो मे आमूल-चूल परिवर्तन करते हुए राज्यो को अधिक अधिकार दिये जाने का समर्थन करते है। ऐसे दलो मे डी० एम० के०, अन्ना डी० एम० के०, अकाली दल, तेलगु देशम्, भारतीय साम्यवादी दल और मार्क्सवादी दल प्रमुख हैं।

दल व्यवस्था : केन्द्रीयकरण का कारण (Party System . The Factor of Centralisation)—ऐसा कहा जाता है कि सविधान-निर्माताओ ने भारत मे केन्द्रीय सरकार को अत्यन्त शक्तिशाली बनाया है। स्वाधीनता के बाद विकसित होने वाली दल प्रणाली ने इसे और अधिक केन्द्रीयकृत कर दिया। सन् 1950 से 1967 तक तथा 1971 से मार्च 1977 तक भारतीय राजनीति मे काग्रेस दल की प्रधानता रही। केन्द्र मे नेहरू, पटेल जैसे नेता मौजूद थे। केन्द्र तथा राज्यो मे काग्रेस का एकछत्र शासन था। एकदलीय प्रभुत्व ने केन्द्रवाद को बढ़ावा दिया।

दल व्यवस्था : राज्य स्वायत्तता का कारण (Party System : The Factor of State Autonomy)—मारकुस फ्राण्डा ने पश्चिमी बगाल के सन्दर्भ मे संघीय प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि यदि केन्द्र तथा राज्यो मे एक ही दल की सरकार हो तो इसका यह तात्पर्य नही कि केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारो को अपनी नीतियो की क्रियान्विति के लिए विवश कर सके। दामोदर घाटी निगम के मामले पर फ्राण्डा लिखते है कि "सवैधानिक और विधायी शक्तियो के बावजूद केन्द्रीय दल एवं सरकारी नेता अपनी बात मनवाने मे असफल रहे और फलस्वरूप राज्य को तथ्यपूर्ण रियायतें (Substantial concessions) देनी पडी।" फ्राण्डा का कहना है कि पश्चिमी बगाल भारत की एक-दल प्रधान व्यवस्था में भी केन्द्र-राज्य सम्बन्धो की दृष्टि से स्वतन्त्र निर्णय लेने की हैसियत बना सका, क्योकि राज्य मे सुदृढ संगठित दल व्यवस्था मौजूद थी। कांग्रेस दल की प्रधानता (dominant) के युग मे भी राज्य पर्याप्त स्वायत्त एवं शक्तिशाली था, इसके कई कारण हैं—(i) **प्रथम**, स्थानीय नेताओ के व्यक्तित्व पर राज्य का काग्रेस दल निर्भर करता था न कि राष्ट्रीय नेताओ के व्यक्तित्व पर; (ii) **द्वितीय**, विभिन्न चुनावो मे काग्रेस दल की सफलता मिलने का कारण राज्यस्तरीय संगठन एवं नेतृत्व शक्ति था; (iii) **तृतीय**, राज्यस्तरीय काग्रेस दल का गठन केन्द्रीय दल से पृथक् था और राज्य के दलीय मामलो मे केन्द्रीय हस्तक्षेप बर्दाश्त नही करता था। इन्ही कारणो से पश्चिमी बंगाल राज्य मे कांग्रेस दल स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखते हुए बिना किसी केन्द्रीय दबाव के कार्य करता था। कांग्रेस एकाधिकार के युग मे दलीय व्यवस्था की ऐसी प्रकृति से ही राज्य स्वायत्तता की रक्षा सम्भव हुई।

प्रादेशिक दलों का उदय : संघवाद का बदलता स्वरूप (The Emergence of Regional Parties : New Dimensions of Federalism)—चतुर्थ आम चुनाव के बाद (1967) शक्ति का सन्तुलन राज्यो की तरफ झुकने लगा। नेहरू के बाद कई राज्यो मे मुख्यमन्त्री शक्ति के केन्द्र बन गये और वे केन्द्र को प्रभावित करने लगे। अधिकतर राज्यो मे गैर-काग्रेसी दलो की (प्रादेशिक दलो की) सरकारें बनी। ये सरकारें संघ सरकार के नियन्त्रण मे उस सीमा तक नही रहना चाहती थी जिस सीमा तक काग्रेस दल की राज्य सरकारें रहती थी। प्रादेशिक दलो जैसे—द्रमुक, अन्नाद्रमुक, मार्क्सवादी दल, अकाली दल, आदि द्वारा शासित राज्य सरकारो ने राज्य स्वायत्तता की माँग की।

दल व्यवस्था : संघ प्रणाली मे सन्तुलन का माध्यम (The Party System : Balancer of the Federal System)—दल व्यवस्था सघात्मक राज्यो मे मोटे रूप से तीन कार्य करती

हैं—प्रथम, केन्द्र और राज्यो के बीच जोड़ने वाली कड़ी के रूप मे, द्वितीय, केन्द्र और राज्यो के बीच तनाव उत्पन्न करने वाले तत्वों के रूप मे, और तृतीय, सघ व्यवस्था का विघटन करने वाले तत्वों के रूप मे। भारत मे दल व्यवस्था केन्द्र और राज्यो के बीच जोडने वाली कड़ी के साथ-साथ तनाव उत्पन्न करने वाले तत्वो के रूप मे देखी जा सकती है। एक-दल प्रधान काग्रेस युग मे केन्द्र-राज्य सम्बन्धो का समायोजन करने वाला मच काग्रेस सगठन ही था। चौथे, छठे, आठवे और नवें लोकसभा चुनावो के पश्चात् राजनीतिक दलो की विविधता के कारण सघ व्यवस्था मे तनाव और खिचाव का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इन तनावो और खिचावो मे भी सघ व्यवस्था के विघटन की कोई सम्भावना नही है, इसलिए यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि भारत मे दल प्रणाली मे इतना लोच है कि वह सघीय ढाँचे के सन्तुलन चक्र (Balan e wheel) के रूप मे उभरने की क्षमता रखती है।

दलीय व्यवस्था एवं भारतीय संघवाद के बदलते आयाम
(PARTY SYSTEM AND CHANGING DIMENSIONS OF INDIAN FEDERALISM)

भारत की राजनीतिक व्यवस्था मे राजनीतिक दलो की भूमिका एव कार्यप्रणाली की दृष्टि से दो काल निर्धारित किये जा सकते है। पहला काल सन् 1947 से 1967 एव 1971 स 1976 तक माना जा सकता है जिसकी विशेषता रही है—'एक-दल प्रधान व्यवस्था' (Uni-Party Dominance), दूसरा काल 1967 से 1971 एव 1977 से 1979 एवं 1980 से 1990 तक माना जा सकता है जिसकी विशेषता रही है 'प्रतियोगी दल व्यवस्था' (Competitive Party System)। 'एक-दल प्रधान व्यवस्था' के युग मे सघवाद का जो स्वरूप था उसमे 'प्रतियोगी दल व्यवस्था' के युग से थोडी भिन्नता दिखायी देती है। यहाँ इन दोनो ही प्रतिमानो (Models) का विश्लेपण करने का प्रयत्न किया जायेगा :

(1) **एक-दल प्रधान व्यवस्था प्रतिमान और संघवाद** (1947-1967 तथा 1971-1977) —सन् 1947-67 तथा 1971-मार्च 1977 की कलावधि मे भारत की राजनीति काग्रेस के इर्द-गिर्द घूमती रही है। कांग्रेस की प्रधानता का कारण उसके हाथ मे केन्द्र तथा राज्य सरकारो की शक्ति होना तथा उसका प्रभावशील नेतृत्व रहा है। 1949 के कालाश मे नेहरू का चमत्कारी व्यक्तित्व और 1971-मार्च 1977 के कालाश मे स्व० श्रीमती गाधी का करिश्माती व्यक्तित्व सर्वत्र छाया रहा।

काग्रेस की प्रधानता से सघ व्यवस्था का पर्यावरण प्रभावित होता रहा। डॉ० फूलचन्द लिखते है, "इससे भारत का सघात्मक ढांचा एकात्मक संरचना की तरह दिखायी पडने लगा। यदि सविधान के माध्यम से केन्द्र राज्यो पर अपनी इच्छा नही थोप सकता तो अब वह दलीय उपकरणों के मार्ग से अपनी इच्छा थोपने लग गया। भारत जो कि सिद्धान्त मे सघ था, व्यवहार मे एकात्मक प्रणाली बन गया।"[1]

काग्रेस की प्रधानता के कालांश मे संसद तथा राज्य विधानमण्डलो मे उसका अच्छा-खासा बहुमत था। राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनो से ही कांग्रेस का संगठन केन्द्रीय रहा है। प्रान्तीय काग्रेस समितियाँ अखिल भारतीय कांग्रेस समिति से मार्ग निर्देशन लेती रही हैं, अखिल भारतीय काग्रेस समिति, काग्रेस कार्य समिति से निर्देशन लेती रही और कांग्रेस कार्य समिति अपने नेता, जिसे 'हाई कमाण्ड' कहा जाता है, के प्रभाव मे कार्य करती रही है। इस प्रकार कांग्रेस दल में 'हाई कमाण्ड' प्रधान होता है—समूचे निर्णयों और नीतियों की खान होता है। जब काग्रेस दल सत्ता

---

[1] "This gave the Indian Federation the appearance of a unitary structure. What the centre could not impose on the states through the apparatus of constitution, it could enforce through party channels. India, though federal in theory, became monolithic in practice."
—Phul Chand, *Ibid.*, pp. 162-66.

मे होता है तो हाई कमाण्ड मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करता है, राज्य मन्त्रिमण्डल के बारे मे निर्णय लेता है और सम्पूर्ण राज्य मन्त्रिमण्डल को अपना सहायक उपकरण मानता है।[1] राज्य विधान-सभा के लिए दलीय प्रत्याशियो का चयन, प्रादेशिक काग्रेस के नेताओं के मतभेदो का निवारण और दलीय अनुशासन लागू करने का कार्य भी हाई कमाण्ड ही करता है। पार्टी का ससदीय बोर्ड राज्य स्तर पर दल और सरकार के सम्बन्धो मे समन्वय स्थापित करने का कार्य करता है। हाई कमाण्ड के इशारे पर दल की राज्य शाखाएँ भग की जा सकती हैं और तदर्थ समितियाँ नियुक्त की जा सकती है। राज्य स्तरीय नेतृत्व यथार्थ मे केन्द्रीय नेतृत्व के सहायक के रूप मे कार्य करता है और जवाहरलाल नेहरू और इन्दिरा गाधी ने दलीय नेतृत्व का केन्द्रीयकरण कर दिया। अगस्त 1963 मे कामराज योजना के तहत् दल के हाई कमाण्ड ने छः मुख्यमन्त्रियो को पद छोडने के लिए वाध्य किया मानो मुख्यमन्त्री केन्द्रीय नेतृत्व के अनुचर हो। काग्रेस दल यथार्थ मे साम्यवादी दल के 'लोकतान्त्रिक केन्द्रीयकरण' (democratic centralism) सिद्धान्त के आधार पर कार्य करता है जहाँ सत्ता का वहाव ऊपर से नीचे की तरफ होता है।[2] काग्रेस कार्य समिति ने जमीदारी उन्मूलन, भूमि सुधार, सहकारी खेती तथा प्राथमिक शिक्षा जैसे विषयो पर राज्य सरकारो को नीति-सम्बन्धी निर्देशन दिये जबकि ये विषय राज्य सरकारो के क्षेत्राधिकार मे आते है। कांग्रेस कार्य समिति ने 'राष्ट्रीय विकास परिषद' के पूरक के रूप मे कार्य करते हुए राज्य सरकारो के आचरण को प्रभावित करने मे केन्द्रीय सरकार की भुजा के रूप कार्य किया है।[3] प्रशासनिक सुधार आयोग के केन्द्र-राज्य सम्वन्ध अध्ययन दल ने इसी ओर सकेत करते हुए लिखा है, "जहाँ केन्द्र और राज्यो मे एक ही दल की सरकारें होती हैं वहाँ केन्द्र-राज्य सम्बन्धो के निर्धारण हेतु गैर-सवैधानिक उपकरण विकसित हो जाते हैं। काग्रेस दल के शासनकाल मे ऐसे उपकरण वडे सक्रिय थे और केन्द्र-राज्य सम्बन्धो का सचालन करते थे।"[4]

सन् 1971 के लोकसभा के मध्यावधि चुनाव मे श्रीमती इन्दिरा गाधी के नेतृत्व में सत्तारूढ़ कांग्रेस दल को दो-तिहाई से अधिक वहुमत मिला। इस अभूतपूर्व विजय ने राज्य राजनीति पर प्रधानमन्त्री का वर्चस्व स्थापित कर दिया। प्रधानमन्त्री ने राजस्थान मे मोहन लाल सुखाड़िया, आन्ध्र प्रदेश मे ब्रह्मानन्द रेड्डी और मध्य प्रदेश मे श्यामाचरण शुक्ल को मुख्य-मन्त्रियो के पद से हटाकर अपने विश्वस्त व्यक्तियो को इन पदो पर सत्तारूढ किया। 1972 के विधान सभा चुनावो मे अधिकांश राज्यो मे कांग्रेस दल की विजय ने प्रधानमन्त्री की शक्ति को अत्यधिक बढा दिया। केन्द्र की वढती हुई शक्ति ने केन्द्र-राज्य विवादो को निर्जीव बना दिया। राज्यो के काग्रेसी विधानमण्डलीय दलो द्वारा मुख्यमन्त्रियो का चयन प्रधानमन्त्री पर छोड़ दिया गया। श्रीमती इन्दिरा गाधी की इच्छा के कारण ही विधानसभा के सदस्य न होने के बावजूद भी

1 "When the party is in power, the high command nominates the Chief Minister of a state, decides about his cabinet and treats the entire state ministry as subordinate agency."—G. Rama Reddy, "Uni-party Dominance in Centre-State Relations—Andhra Pradesh Experience." —B. L. Maheshwari (ed), *Ibid*, p. 144.

2 "The functioning of most of the national parties is based on the communist idea, of democratic centralism in which the power flows from the top to the bottom" —K. Santhanam: 'Political Parties and Indian Democracy, "*Journal of Constitutional and Parliamentary Studies*, 1972, 6 (I), 1

3 "The working committee also supplemented the National Development Council and became an arm of the central government reaching out influence state behaviour in legislative areas inaccessible to direct central control" —Stanley A. Kochanek, *The Congress Party of India: The Dynamics of One-Party Democray*, 1968, p. 184.

4 "Where a single party has control over affairs at the centre as well as in the states an alternative and extra-constitutional channel become availaale for the operation of centre-state relationship. In practice this channel has been very active during congress party rule and has governed the tenor of centre-state relationship."

बिहार मे केदार पाण्डे और अब्दुल गफूर, मध्य प्रदेश मे प्रकाशचन्द सेठी, गुजरात मे घनश्याम ओझा और उत्तर प्रदेश मे हेमवतीनन्दन बहुगुणा मुख्यमन्त्री बनाये गये।

26 जून, 1975 की आपात कालीन घोषणा के साथ ही केन्द्र की शक्तियो मे अपार वृद्धि हुई। भारत रक्षा कानून और आन्तरिक सुरक्षा ऐक्ट के कारण केन्द्रीय सरकार की स्थिति अत्यन्त सुदृढ हो गयी। प्रधानमन्त्री के हाथो मे सत्ता का केन्द्रीयकरण होने से राज्य राजनीति को प्रभावित करने मे उसकी स्थिति निर्णायक हो गयी। प्रधानमन्त्री द्वारा उन मुख्यमन्त्रियों को अलग करने का सफल प्रयास किया गया जो दल मे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम करके संघीय व्यवस्था के अनुरूप राज्य का प्रशासन चला रहे थे। आपातकाल मे 42वें सविधान संशोधन के माध्यम से भारत की सघात्मक व्यवस्था को पूरी तरह एकात्मक रूप देने का प्रयत्न किया गया। सविधान मे एक नया अनुच्छेद 257A जोड़ा गया जिसमे यह उल्लेख किया गया कि भारत सरकार को किसी भी राज्य मे सशस्त्र या अन्य पुलिस दल कानून और व्यवस्था की गम्भीर स्थिति को नियन्त्रण मे लाने के लिए भेजने का अधिकार है।

आपातकाल मे राज्यो के मुख्यमन्त्रियो की स्थिति अत्यन्त दयनीय और उपहासात्मक थी। उडीसा की मुख्यमन्त्री नन्दिनी सत्पथी को हटना पडा। उडीसा मे केन्द्रीय हस्तक्षेप को उचित ठहराते हुए काग्रेस के महासचिव ए० आर० अन्तुले का कहना था कि "उड़ीसा मे जो परिस्थितियाँ पैदा हो गयी थी, उनके कुप्रभावो से जनता को बचाने के कर्तव्य के रूप मे प्रधानमन्त्री का हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो गया था।"[1] पश्चिमी बगाल के मुख्यमन्त्री सिद्धार्थ शंकर राय को अपने पद से हटाने के लिए सभी सम्भव प्रयास किये गये।

(2) **प्रतियोगी दल व्यवस्था प्रतिमान और संघवाद 1967-1971, 1977-1979 एवं 1980-90**—सन् 1967 से 1971 तथा मार्च 1977 से 1979 व 1980-90 कालाश मे भारतीय राजनीति मे प्रतियोगी दल व्यवस्था का प्रतिमान विकसित हुआ। 1967 के चौथे आम चुनाव के बाद तमिलनाडु, बगाल, बिहार, पजाब और उडीसा मे काग्रेस दल की हार हुई। चुनाव के बाद हरियाणा, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश मे दल-बदल के कारण काग्रेस सरकार का पतन हुआ। इस प्रकार केन्द्र मे काग्रेस दल सत्तारूढ़ था और लगभग आठ राज्यो मे गैर-कांग्रेसी सरकारें अस्तित्व मे आयी।

इस प्रतियोगी दल व्यवस्था ने सघवाद को कैसे प्रभावित किया? इस सम्बन्ध मे तीन विचार रखे गये हैं: पहला विचार यह है कि राज्यो मे गैर-काग्रेसी सरकारो के निर्माण से केन्द्र तथा राज्यो के बीच वाद-विवाद उत्पन्न हुआ और कुछ लोगो ने यह विचार व्यक्त किया कि राज्यो मे गैर-कांग्रेसी सरकारो की स्थापना भारत की सघीय व्यवस्था के लिए अत्यधिक खतरनाक है और इससे केन्द्र तथा राज्यों के बीच गम्भीर टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। दूसरा विचार प्रो० रजनी कोठारी ने रखा है। उनका कहना है कि गैर-कांग्रेसी सरकारो से निपटना केन्द्र के लिए आसान है और केन्द्रीय नेताओं ने गैर-काग्रेसी मुख्यमन्त्रियो से ऐसे सम्बन्ध स्थापित किये जिससे शासन के मामले मे दोनो मे सहयोग हो सके। वास्तव मे, गैर-कांग्रेसी मुख्यमन्त्रियो से निपटना केन्द्रीय काग्रेसी सरकार के लिए ज्यादा आसान सिद्ध हुआ, बजाय कांग्रेसी मुख्यमन्त्रियो के जो कांग्रेस दल और केन्द्रीय सरकार के मामलो मे भी दखल देने की कोशिश करते थे, क्योकि वे अपने को महज मुख्यमन्त्री नही, काग्रेस का अखिल भारतीय नेता मानते थे। केन्द्रीय नेतृत्व को तमिलनाडु के अन्नादुराई, उडीसा के आर० एन० सिंहदेव, उत्तर प्रदेश के चरणसिंह और पजाब के गुरनामसिंह जैसे गैर-काग्रेसी मुख्यमन्त्रियो का विश्वास प्राप्त करने मे सफलता मिली। यहाँ

---

[1] दिनमान, 9-15 जनवरी, 1977, पृ० 19।

तक कि अक्सर ये मुख्यमन्त्री अपनी कठिनाइयो के सम्बन्ध में और अपने साझीदारो से मतभेद पैदा होने पर इनसे सलाह लेते थे। जो लोग यह समझते थे कि राज्यो मे भिन्न-भिन्न दलो की सरकारो के बनने से सघ या संघ प्रणाली टूट जायेगी, उन्होने एक तो काग्रेस और प्रतिपक्षी दलो के नेताओ के पुराने सम्बन्धों को भुला दिया और इस बात की भी उपेक्षा कर दी कि भारतीय सघ प्रणाली मे इतनी लोच है कि वह नये नेताओ और नये दलो को भी अपने अन्दर स्थान दे सके।[1] तीसरा विचार राजगोपालाचारी और के० सन्थानम् ने रखा। चतुर्थ आम चुनाव के परिणामो को दृष्टि मे रखते हुए प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ राजगोपालाचारी ने कहा था कि "अब एक सच्ची सघीय व्यवस्था का उद्भव हो रहा है", के० सन्थानम् ने यह दावा किया था कि "भारत का राजनीतिक हिमखण्ड पिघल चुका है और देश का वास्तविक राजनीतिक विकास वास्तव में आरम्भ हो गया है।"

क्या प्रतियोगी दल व्यवस्था प्रतिमान से सघ व्यवस्था संकट मे पड़ सकती है? मार्च 1977 के बाद भी प्रतियोगी दल व्यवस्था प्रतिमान उभरा था। केन्द्र मे जनता पार्टी की सरकार थी और कई राज्यो मे गैर-जनता सरकारें कार्यरत थी। मार्च 1977 के पश्चात् केन्द्र की जनता पार्टी सरकार ने तथा जनवरी 1980 के पश्चात् केन्द्र की इन्दिरा काग्रेस सरकार ने नौ राज्यो की विधानसभाओ के विघटन कराये जाने के जो भी कारण बताये हो लेकिन तथ्य यह है कि केन्द्र मे सत्तारूढ़ पार्टी यह समझती थी कि यदि देश के बड़े राज्यो मे विरोधी दलो की सरकारें रही तो अनेक राजनीतिक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती है।

1967 के बाद भारत मे जो गैर-काग्रेसी सरकारे बनी उनमे अधिकाश सरकारें अनेक छोटे-छोटे राजनीतिक दलो द्वारा निर्मित मिली-जुली सरकारे (Coalition Governments) थी। इन सरकारो के विभिन्न घटको के बीच संगठन और एकता का अभाव था। इसी कारण ये मिली-जुली सरकारें केन्द्र के लिए गम्भीर समस्या नही बन पायी। किन्तु कई राज्यो मे क्षेत्रीय दलो का प्रभाव और वर्चस्व बढता जा रहा है। जम्मू और कश्मीर मे नेशनल कान्फ्रेंस, पजाब मे अकाली दल, बंगाल और त्रिपुरा मे मार्क्सवादी दल, तमिलनाडु और पाण्डिचेरी मे डी० एम० के० अथवा अन्नाद्रमुक, केरल मे वामपन्थी मोर्चा, आन्ध्र मे तेलगु देशम्, आदि। आज भी आन्ध्र प्रदेश का तेलगु देशम् तथा कर्नाटक की जनता पार्टी राज्य स्वायत्तता की माँग कर रही है। पूर्व मे भी डी० एम० के० एव मार्क्सवादी दल द्वारा शासित राज्य केन्द्र से छोटे-छोटे मसलो पर विवाद बढ़ाते रहे हैं और राज्य स्वायत्तता की माँग करने लगे। अतः सशक्त क्षेत्रीय दलो से शासित राज्य केन्द्र से टकराव की स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं।

डॉ० एस० पी० अय्यर ने इस दृष्टिकोण का खण्डन किया है कि प्रतियोगी दल व्यवस्था प्रतिमान से संविधान द्वारा स्थापित संघीय व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने का भय है।[2] इस सम्बन्ध मे वे लिखते है कि—(1) राज्यों की आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर है कि वे केन्द्रीय सरकार से कोई स्थायी टकराव नही ले सकते; (2) राज्यों मे पाये जाने वाले दलों में इतने गुट है कि वे केन्द्र के विरुद्ध संगठित रूप मे कार्य नही कर सकते। (3) कोई भी केन्द्र को इस कारण अप्रसन्न नही करेगा क्योकि अपनी विकास योजनाओं के लिए राज्य को पूर्णरूप से केन्द्रीय सरकार पर ही निर्भर रहना पड़ता है। (4) सविधान के अनुच्छेद 249, 251, 253, 256, आदि ऐसे प्रावधान है कि केन्द्र सरकार विरोधी दलो द्वारा शासित राज्य सरकारो को आसानी से दबा सकती है।

---

1 रजनी कोठारी : भारत में राजनीति (अनुवाद), पृ० 137।
2 S. P. Aiyar : *United Asia* (Bombay, March-April, 1967), pp. 88-96.

संघवाद का निर्धारक सत्तारूढ़ दल का संगठनात्मक ढांचा (The Determinant of the Federal System, The Organisational Structure of the Ruling Party)

सत्तारूढ़ दल के सगठनात्मक ढांचे पर भी सघवाद का क्रियान्वयन बहुत कुछ निर्भर करता है। किसी भी दल की सगठनात्मक सरचना सदैव एक-सी नही रहती। राजनीतिक कारकों की गतिशीलता क कारण सगठनात्मक सरचना मे गत्यात्मकता रहती है। कभी-कभी केन्द्रीय दलीय नेतृत्व एकात्मक शैली से कार्य करता है और राज्य स्तरीय नेतृत्व एव दलीय इकाइयों की पूर्ण उपेक्षा कर देता है। कभी-कभी राज्य स्तरीय नेतृत्व एवं दलीय सगठन स्वायत्त रूप से आचरण करता है और केन्द्रीय नेतृत्व की उपेक्षा कर देता है। ऐसा तभी होता है जबकि केन्द्रीय नेतृत्व गुटीय राजनीति के भँवर मे उलझा हुआ हो। पहली अवस्था मे **कठोर संघीय ढांचा** (Tight Federal Form) विकसित होता है और दूसरी अवस्था मे **ढीला संघीय ढांचा** (Loose Federal Form) पनपता है। राजनीतिक दल के सगठन मे जितनी ज्यादा गुटबन्दी होगी उतना ही ढीला सघीय ढांचा पनपेगा और केन्द्रीय स्तर पर दल मे जितनी एकता होगी उतनी ही कठोर सघीय व्यवस्था उभरेगी।[1]

कांग्रेस और जनता पार्टी एव जनता दल के परिप्रेक्ष्य मे इसे और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। कांग्रेस का संगठन कठोर (Tight) था और जनता पार्टी एवं जनता दल का सगठन ढीला (Loose)। कांग्रेस दल मे हाई कमान बेताज का सम्राट था। कांग्रेस के अनेक महत्वपूर्ण निर्णय हाई कमान के द्वारा ही लिये गये तथा उनका क्रियान्वयन भी बड़ी तत्परता से हुआ। राज्यो के मुख्यमन्त्रियों की नियुक्ति और पदच्युति बहुत हद तक हाई कमान की इच्छा पर ही निर्भर थी। राज्यो मे मन्त्रिमण्डल निर्माण करते समय मुख्यमन्त्री हाईकमान से स्वीकृति लेते थे। राज्य मन्त्रिमण्डल मे कौन मन्त्री सम्मिलित होगे, मन्त्रिमण्डल छोटा बनाया जाये या बड़ा, उसका कब विस्तार किया जाये, आदि से सम्बन्धित निर्णय हाई कमान के हाथो मे केन्द्रित हैं।

जनता पार्टी का सगठन ढीला (Loose) था। पार्टी का हाई कमान कांग्रेस दल की भाँति शक्तिशाली नही था। राज्यो मे अलग-अलग घटको की सरकारें रही और केन्द्रीय नेतृत्व घटको मे विभाजित रहा। तात्कालिक हरियाणा और उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्रियो ने जनता ससदीय बोर्ड और पार्टी अध्यक्षो के निर्देशो की स्पष्ट उपेक्षा की। उत्तर प्रदेश के तात्कालिक मुख्यमन्त्री बनारसीदास तो 'मुख्यमन्त्री के विशेषाधिकार' (Prerogative) की चर्चा करने लगे और पार्टी हाई कमान की स्वीकृति के बिना ही उन्होने अपना मन्त्रिमण्डल गठित कर लिया। अर्थात् दल के केन्द्रीय नेतृत्व का राज्यों के दलीय सगठन एव सरकारो पर कठोर नियन्त्रण नहीं था। इससे लगता है कि जनता पार्टी के शासन काल मे ढीली-ढाली सघ व्यवस्था का प्रतिरूप पनपने लगा। हाल ही मे गठित जनता दल का संगठन भी ढीला ही लगता है जिसमे अन्ततोगत्वा ढीली-ढाली सघ व्यवस्था का 'प्रतिमान' (Model) ही विकसित होगा।

निष्कर्ष

दल प्रणाली और सघीय व्यवस्था का घनिष्ठ सम्बन्ध है और यदि भारत के अधिकांश राज्यो मे सुसगठित क्षेत्रीय दलो की सरकार का निर्माण हो जाये जो केन्द्र मे सत्तारूढ़ दल से भिन्न दल के हो तो केन्द्रीय सरकार के लिए उस रीति से काम करना कठिन हो जायेगा जिस रीति से 'एक-दल प्रधान व्यवस्था' मे केन्द्रीय सरकार कार्य करती है।

भारत मे राजनीतिक दलो की स्थिति मे परिवर्तन के साथ-साथ सघवाद का स्वरूप भी बदलता रहा है। केन्द्र तथा राज्यो के बीच तनावो का कारण विभिन्न राजनीतिक दलो की विचारधाराओ का अन्तर एक महत्वपूर्ण कारक रहा है। भारत मे संघवाद की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि राजनीतिक दलो मे सामंजस्य एव समझौते की भावना किस सीमा तक विकसित होती है। राजनीतिक दलो की आपसी कटुता एवं टकराहट से संघ प्रणाली की दीवारें भी डगमगाने लग सकती हैं।[2]

---

1 O P Goyal · *India : Government and Politics* (New Delhi, 1977), p. 96

2 डॉ० बाबूलाल फड़िया एव श्रीपाल जैन : **भारतीय संघ व्यवस्था** (कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर, 1982), पृ० 203।

12

भारत में राज्य स्वायत्तता की माँग : संघवादी व्यवस्था का मूल्यांकन

[DEMAND FOR STATE AUTONOMY : EVALUATION OF THE FEDERAL SYSTEM]

भारत में केन्द्र और राज्यो के बीच शक्तियो का वितरण आरम्भ से ही वाद-विवाद का विषय रहा है। संविधान-निर्मात्री सभा मे भी अनेक सदस्यों की ओर से यह आपत्ति उठायी गयी थी कि शक्ति-विभाजन की यह योजना भारतीय संघ के इकाई राज्यों को 'नगरपालिकाओं' का स्थान प्रदान करती है। संविधान लागू होने के बाद भी भारतीय संविधान की संघीयता को सन्देह की दृष्टि से देखा जा रहा है और राज्य सरकारों की सीमित शक्तियो को दृष्टि मे रखते हुए कुछ संविधान-शास्त्री उसे एक संघीय संविधान स्वीकार करने को तैयार नही हैं।

सविधान द्वारा केन्द्र सरकार को विस्तृत शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं और राज्यो को निस्सन्देह कम शक्तिशाली बनाया गया है। सविधान लागू होने के बाद से 1967 के चतुर्थ आम चुनाव तक भारत मे केन्द्र और राज्य सरकारो के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे और उनके बीच कोई विशेष संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न नही हुआ जिसका मूल कारण केन्द्र और अधिकांश राज्यों मे एक ही राजनीतिक दल (कांग्रेस दल) का सत्तारूढ़ होना था। सन् 1967 के आम चुनावो ने एकदलीय आधिपत्य का अन्त कर दिया और भारतीय सघ के आठ घटक राज्यो मे कांग्रेस दल को बहुमत प्राप्त न हो सका; फलस्वरूप इन राज्यो मे गैर-कांग्रेसी मिश्रित सरकारो का निर्माण हुआ जिसके पश्चात् केन्द्र और राज्यो के बीच शक्तियों के वितरण और सामजस्य की समस्या उत्पन्न हुई। राज्य सरकारो की ओर से स्वायत्तता की माँग की गयी और यह माँग तमिलनाडु में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी जहाँ द्रविड मुनेत्र कडगम (डी० एम० के०) जैसे प्रादेशिक दल ने भारतीय सघ से पृथक् होने की धमकी दी और यह नारा दिया कि "भारत भारत वालो के लिए और तमिलनाडु तमिल लोगो के लिए।"

1977 के लोकसभा एवं राज्य विधानसभाओ के निर्वाचनो का विलक्षण परिणाम रहा है—केन्द्र मे सत्तारूढ पार्टी से भिन्नता रखने वाली पार्टियो का राज्यो मे उदय। फलस्वरूप केन्द्र-राज्य सम्बन्ध पर नये सिरे से बहस महत्वपूर्ण हो गयी। राज्यो मे शासन करने वाली पार्टियां केन्द्र मे और अधिक स्वतन्त्र होने की माँग करने लगी। राज्यो की केन्द्र पर अत्यधिक वित्तीय निर्भरता की स्थिति ने एक बड़ी सीमा तक सत्ता के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बढाया, अतः केन्द्र पर राज्यो की वित्तीय निर्भरता दूर करने के लिए पश्चिमी बगाल की वामपन्थी

सरकार ने मांग की कि केन्द्र के राजनीतिक और आर्थिक अधिकारो मे कमी करके राज्यो को अधिक-से-अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाये।

राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ
(MEANING OF STATE AUTONOMY)

भारतीय सघ मे राज्यों की स्वायत्तता से अभिप्राय है कि राज्यो के आन्तरिक मामलो मे केन्द्रीय सरकार की दखलन्दाजी कम हो तथा सविधान द्वारा प्रदत्त विषयो पर उन्हें निरपेक्ष सत्ता प्रयोग करने का अधिकार हो। राज्यो को अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण स्वायत्त बनाया जाये ताकि ये जनकल्याण के कार्यों को अपनी योजनाओ और विचारो के अनुसार स्वतन्त्र और निर्वाध रूप से कर सकें। यह स्वायत्तता वित्तीय क्षेत्र मे लगभग पूरी हो। केन्द्र की राजनीतिक तौर प्रशासनिक शक्तियाँ भी न्यूनतम रहे। उसका कार्य विदेश सम्बन्ध, रक्षा, मुद्रा और जनसंचार के विषयो तक सीमित और सकुचित कर दिया जाये। उसकी कराधान की शक्ति मात्र इतनी हो जिससे वह इन कार्यों के लिए पर्याप्त साधन जुटा सकने मे समर्थ हो। केन्द्र को मजबूत रखते हुए भी राज्यों को इतनी वित्तीय शक्ति प्रदान की जाय जिससे वे साधनो के अभाव मे अपने को असहाय और अप्रभावशाली महसूस न करें।

राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ न तो राज्यों की स्वतन्त्रता से है और न सम्प्रभुता से। यह एक ऐसा वैधानिक दर्जा है जिसमे राज्यो को कतिपय निर्दिष्ट क्षेत्रो मे पूर्ण स्वतन्त्रता तथा कम-से-कम केन्द्रीय हस्तक्षेप का आश्वासन प्राप्त होता है। राज्यो को अपने एक निश्चित क्षेत्र मे स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अधिकार ही स्वायत्तता है।

कर्नाटक के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री स्व० देवराज अर्स के शब्दों मे, "आज की सघीय सरकार अपने कमजोर राजनीतिक चरित्र के कारण बडे भागीदार की भूमिका निभाने मे असमर्थ है। जिन परिस्थितियो के कारण सविधान-निर्माताओं ने एकात्मकता की ओर झुकाव रखा था, वे परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। अब सविधान मे सशोधन करके केन्द्र और राज्यो को सघवादी ढाँचे मे 'समान और स्वायत्त भागीदार' बनाया जाना चाहिए। इसी से भारतीय सघ व्यवस्था प्रभावशाली ढग से काम करेगी।"[1] 11 फरवरी, 1978 को जम्मू-कश्मीर के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री स्व० शेख अब्दुल्ला ने कलकत्ता मे 'कश्मीर मेले' का उद्घाटन करते हुए इस बात की मांग की कि तीस वर्ष पूर्व की परिस्थितियाँ अब नही रही हैं। अत. अब राज्यो को अधिक अधिकार दिये जाने चाहिए, जिससे वे अपना विकास कर सके। केन्द्र तथा राज्यो के समस्त सम्बन्धो पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए।"

राज्य स्वायत्तता की मांग : कैसी और किस तरफ से ?
(THE DEMAND FOR STATE AUTONOMY FROM WHICH SIDE)

भारत मे मार्क्सवादी दल, अकाली दल, नेशनल कान्फ्रेंस, तेलगु देशम् तथा अखिल भारतीय द्रविड मुनेत्र कडगम दलो द्वारा शासित राज्यो मे समय-समय पर केन्द्रीय सरकार के अधिकारो मे कटौती करके राज्य सरकारो के अधिकारो मे वृद्धि किये जाने की मांग प्रस्तुत की गयी है। जनता पार्टी के शासन काल मे गैर जनता पार्टी के मुख्यमन्त्रियो जैसे ज्योति वसु, प्रकाशसिंह बादल, शेख अब्दुल्ला, एम० जी० रामचन्द्रन, देवराज अर्स, आदि ने मांग की कि केन्द्र व राज्यो के सम्बन्धो मे सन्तुलन की स्थिति होनी चाहिए और केन्द्र के पास कुछ अधिकारो को छोडकर शेष सभी अधिकार राज्यो के पास होने चाहिए अर्थात् राज्यो को स्वायत्तशासी बनाया जाये।[2]

---

[1] नन्दकिशोर त्रिखा : "सघ और राज्य—एक और गोष्ठी : नतीजा कुछ नही", दि नवभारत टाइम्स, 23 दिसम्बर, 1978, पृ० 4।

[2] *The Sunday* (Calcutta), 2 April, 1978, pp. 22-29.

पश्चिमी बंगाल की मार्क्सवादी सरकार स्वायत्तता की माँग का बिगुल बजाने मे अगुआ बनी हुई है। इसी उद्देश्य से वहाँ की सरकार ने एक विस्तृत मसविदा (Memorandum) तैयार किया और इस मसविदे को पश्चिमी बगाल के मन्त्रिमण्डल ने स्वीकृत कर अन्य राज्य सरकारों तथा केन्द्र की तात्कालिक मोरारजी देसाई सरकार को भेजा। राज्यो की स्वायत्तता के सन्दर्भ मे पश्चिमी बगाल के मुख्यमन्त्री ज्योति वसु ने तात्कालिक प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई से भी बातचीत की और सुझाव दिया कि सभी मुख्यमन्त्रियो का सम्मेलन बुलाया जाये तथा इस पर राष्ट्रीय बहस चलाने हेतु वातावरण बनाया जाये।

राज्यों की स्वायत्तता के सन्दर्भ मे प्रस्तुत मसविदे मे निम्नलिखित सुझाव महत्वपूर्ण हैं : (1) भारतीय संघ को 'राज्यो का परिसघ' घोषित किया जाय। (2) राज्य विधानसभाएँ जो कानून पास करेंगी उनमे किसी प्रकार की केन्द्रीय अनुमति की आवश्यकता नही हो। (3) राज्यो में कभी भी राष्ट्रपति शासन लागू न किया जाये। सविधान के अनुच्छेद 356 और 357 को जिसके तहत् भारतीय संघ के राष्ट्रपति को राज्यो की विधानसभाओ को भग करने के अधिकार प्राप्त हैं समाप्त किया जाय। (4) लोकसभा के समान राज्यसभा का निर्वाचन प्रत्यक्ष कराया जाये और तीस लाख से अधिक आबादी वाले राज्यों को राज्यसभा मे समान प्रतिनिधित्व देना होगा। (5) कुल राष्ट्रीय राजस्व का 75 प्रतिशत भाग राज्य सरकारो को व्यय हेतु प्रदान किया जाय। (6) राज्य के सभी कर्मचारी राज्य सरकार के अधीन होगे। राज्य मे आई० ए० एस० (भारतीय प्रशासनिक सेवा) तथा आई० पी० एस० (भारतीय पुलिस सेवा) अधिकारी न हो और इन पदो को समाप्त किया जाये अथवा आई० ए० एस०, आई० पी० एस० व सी० आर० पी० (केन्द्रीय आरक्षी दल) जैसी सेवाओ को राज्य के अधीन किया जाये। (7) राज्यों मे स्वशासन के अधिकार के सरक्षण के लिए संविधान के अनुच्छेद 248 मे इस प्रकार सशोधन किया जाये जिससे किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर कानूनन राज्य विधानसभाओ का पूर्ण अधिकार बना रहे। (8) सविधान के अनुच्छेद 249 को रद्द किया जाना चाहिए। (9) योजना आयोग की कार्यप्रणाली मे भी फेर-बदल किया जाना चाहिए। (10) राज्यो को कर लगाने और वसूल करने का अधिकार पूर्ण रूप से मिलना चाहिए। (11) सविधान के अनुच्छेद 280 की धारा 2 और 7 को समाप्त करना चाहिए। (12) केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के वाणिज्य सम्बन्धित सविधान के अनुच्छेद 302 मे निहित अधिकारो को खत्म करना चाहिए। (13) सविधान के अनुच्छेद 200 तथा 201 को भी खत्म किया जाये। (14) राज्य की क्षमतानुसार राज्य विधानसभाओ को केन्द्र के समकक्ष सार्वभौम क्षमता मिलनी चाहिए।[1]

पश्चिमी बगाल के मार्क्सवादी वित्तमन्त्री अशोक मित्र ने आर्थिक स्वायत्तता के समर्थन मे जोरदार तर्क दिये। उन्होंने कहा कि केन्द्र को सभी प्रत्यक्ष करो और अधिकाश अप्रत्यक्ष करो के नियन्त्रण का अधिकार है। केन्द्र के पास विदेशी मुद्रा का सुरक्षित कोष भी है जिससे वह अपने घाटे की वित्त व्यवस्था को कम कर सकता है जबकि वह विदेशी मुद्रा राज्यो द्वारा पैदा की जाती है। उन्होने यह भी कहा कि जनता पार्टी के नये कार्यक्रम मे ग्रामीण विकास पर जोर दिया गया है जो राज्यो द्वारा कार्यान्वित होगा। यदि राज्यो को अधिक वित्तीय शक्तियाँ नही दी गयी तो उन्हे उत्तरदायित्व देने का कोई लाभ नही होगा।[2]

राज्य स्वायत्तता के दूसरे प्रमुख समर्थक थे जम्मू-कश्मीर राज्य के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री स्व० शेख अब्दुल्ला जिन्होने दिल्ली मे आयोजित एक सम्वाददाता सम्मेलन मे कहा कि 'भारतीय सविधान

---

[1] दिनमान, 25 दिसम्बर से 31 दिसम्बर, 1977, पृ० 21-22।

[2] *The Times of India* (New Delhi), 12 July, 1977, p. 1.

की धारा 370 को सभी राज्यों पर लागू किया जाये और राज्यो को अधिक-से-अधिक अधिकार दिये जायें ताकि राज्य सरकारें समस्याओ के निपट सकने मे सक्षम हों।'[1] पंजाव के भूतपूर्व अकाली मुख्यमन्त्री प्रकाशसिंह बादल के अभिमत मे केन्द्र की सुदृढता राज्यो की सुदृढता पर निर्भर करती है। अकाली दल ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र मे भी राज्यो की अधिक स्वायत्तता का समर्थन इस आधार पर किया था कि राज्य ही लोक-कल्याण एव सामाजिक विकास की योजनाओ को क्रियान्वित करने वाले निकाय है, अत उन्हे स्वायत्त बनाना चाहिए।[2]

तमिलनाडु की डी० एम० के० और अन्ना डी० एम० के० सरकारें भी राज्य स्वायत्तता की प्रवल समर्थक रही हैं। आन्ध्र मे तेलगु देशम् और कर्नाटक की जनता पार्टी सरकार भी राज्य-स्वायत्तता की माँग कर रही हैं। पजाव के अकाली दल द्वारा उग्र आन्दोलन प्रारम्भ किया गया और आन्दोलन मे एक माँग यह थी कि उनके द्वारा 1973 मे पारित 'आनन्दपुर साहिव प्रस्ताव' को स्वीकार किया जाये। इस प्रस्ताव मे एक माँग यह की गयी है कि केन्द्र सरकार का अधिकार देश की प्रतिरक्षा, वैदेशिक सम्वन्ध, सचार, रेलवे और मुद्रा तक ही सीमित रहना चाहिए। उपर्युक्त परिस्थितियो के सन्दर्भ मे केन्द्र-राज्य सम्वन्धो पर पुनर्विचार के लिए केन्द्र सरकार द्वारा 24 मार्च, 1983 को 'सरकारिया आयोग' की नियुक्ति की गयी। आयोग को संविधान के ढाँचे के अन्तर्गत ही केन्द्र-राज्य सम्बन्धो की स्थिति की समीक्षा करने का कार्य सौंपा गया। तमिलनाडु राज्य मे फरवरी 1967 से फरवरी 1976 तक डी० एम० के० दल की सरकार पदारूढ रही। इसके पहले मुख्यमन्त्री अन्नादुराई ने कहा था कि "हमे सविधान-निर्माताओ द्वारा निर्धारित राज्यों की स्वायत्तता के सिद्धान्त और व्यवहार को अपनाना चाहिए। संघात्मक संविधान मे आदर्श केन्द्र द्वारा सिर्फ उतनी ही शक्तियाँ व्यवहार मे लानी चाहिए कि देश की सम्प्रभुता और एकता की रक्षा हो सके। राज्यो को सविधान की ओर से स्वायत्तता प्राप्त है और उसके साथ नगरपालिकाओ के समान व्यवहार नही किया जा सकता।" द्रविड मुनेत्र कडगम प्रादेशिकता तथा क्षेत्रीयता का प्रवल समर्थक रहा तथा राज्यो की स्वायत्तता का प्रचण्ड हामी। कई वार इस दल ने भारतीय संघ से पृथक् होने की आवाज वुलन्द की। सन् 1970 मे इस दल ने मद्रास मे 'राज्य स्वायत्तता सम्मेलन' आयोजित किया तथा केन्द्र की कटु आलोचना की।[3] अप्रैल 1971 मे मुख्यमन्त्री करुनानिधि ने यहाँ तक कहा कि यदि उनकी राज्य स्वायत्तता की माँग स्वीकार नही की गयी तो वे तमिलनाडु को भारतीय सघ से विलग करने हेतु आन्दोलन करेंगे।[4] सन् 1970 मे तमिलनाडु सरकार ने केन्द्र और राज्यो के अधिकाश क्षेत्रो के निर्धारण हेतु मद्रास उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश राजमन्नार की अध्यक्षता मे एक समिति का गठन किया। डॉ० राजमन्नार के अतिरिक्त लक्ष्मण स्वामी मुदालियर तथा डॉ० पी० चन्द्र रेड्डी इस समिति के सदस्य थे।[5] राज्य स्वायत्तता के परिप्रेक्ष्य मे राजमन्नार समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये।[6] प्रथम, एक अन्तर्राज्यीय परिषद (Inder-State Council) स्थापित की जाये जिसका अध्यक्ष प्रधानमन्त्री हो तथा राज्यो के मुख्यमन्त्री या उनके नामित व्यक्ति उसके सदस्य हो। इस परिषद से परामर्श किये विना ससद मे ऐसा कोई विधेयक प्रस्तुत न किया जाये जिससे एक या अधिक राज्य प्रभावित होते हो। प्रतिरक्षा और विदेशी सम्वन्धो के अतिरिक्त इस परिषद से परामर्श किये

---

[1] जान्हवी (नयी दिल्ली), नवम्बर, 1978, पृ० 33-34।

[2] *The Sunday*, 2 April, 1978, p 19.

[3] D C Gupta, *Indian Government and Politics* (New Delhi, Vikas, 1972), p. 121.

[4] उपर्युक्त।

[5] *The Competition Master*, July 1971, p 760

[6] *Report of Centre-State Enquiry Committee* (Madras, 1971).

बिना ऐसा कोई निर्णय न किया जाये जिससे एक या अधिक राज्यों के हित प्रभावित होते हों। **द्वितीय**, योजना आयोग को समाप्त कर दिया जाये तथा उसके स्थान पर एक संवैधानिक निकाय स्थापित किया जाये जिसमे राज्यो को सलाह देने के लिए विज्ञान, तकनीक, कृषि और अर्थ विशेषज्ञ हो। राज्यो के अपने योजना मण्डल हो जो उन्हें परामर्श देने का कार्य करें। **तृतीय**, वित्त आयोग स्थायी आधार पर स्थापित किया जाये तथा राज्यो के पक्ष मे करों का पहले से अधिक वितरण हो ताकि उन्हे केन्द्र पर कम-से-कम निर्भर रहना पड़े। **चतुर्थ**, राजमन्नार समिति ने केन्द्रीय एवं समवर्ती सूची के अनेक विषयो को राज्य सूची मे स्थानान्तरित करने की सिफारिश की। **पंचम**, समिति का सुझाव था कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे राज्यो का पर्याप्त प्रतिनिधित्व होना चाहिए। **षष्ठ**, राज्यो के उच्चतम न्यायालय राज्यो के क्षेत्राधिकार के सभी मामलो के लिए उच्चतम न्यायालय हो। **सप्तम**, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति राज्य के मन्त्रिमण्डल अथवा उसी उद्देश्य से बनायी गयी किसी उच्चाधिकार निकाय के परामर्श से की जाय। **अष्ठम्**; राज्यो को उनके औद्योगिक विकास के लिए विदेशी मुद्रा प्रदान की जाये। **नवम्**, समिति का यह भी सुझाव था कि राज्य मे किसी निजी या सरकारी क्षेत्र मे औद्योगिक लाइसेंस देने का अधिकार राज्यो को होना चाहिए।

डी० एम० के० की भाँति ही अन्ना डी० एम० के० ने मार्च 1977 मे सम्पन्न चुनावों के अवसर पर अपना जो घोषणापत्र प्रकाशित किया उसमे राज्य स्वायत्तता पर बल दिया।[1]

राज्य स्वायत्तता के समर्थन में तर्क
(ARGUMENTS IN FAVOUR OF STATE AUTONOMY)

राज्यो की स्वायत्तता के समर्थन मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते है :

(1) स्वायत्तता स्वतन्त्रता नही है और राज्य स्वायत्तता की माँग संघीय ढाँचे के अन्तर्गत ही की जा रही है, अत इससे विघटन का खतरा नही है।

(2) राज्यो के कार्य दिन-प्रतिदिन बढते जा रहे हैं। आर्थिक नियोजन और ग्रामीण विकास सम्बन्धी बढते हुए कार्यों को देखते हुए उन्हें वित्तीय साधनो की दृष्टि से केन्द्र का मुँहताज बनाये रखना ठीक नही। आय मे पृथक् वित्तीय साधन होने से विकास सम्बन्धी कार्यों एवं दायित्वो के निर्वाह मे अधिक सुविधा होगी।

(3) केन्द्र और राज्यो मे पृथक्-पृथक् राजनीतिक दलो की सरकारें होना स्वाभाविक है। किन्तु यह देखा गया है कि राज्यो को अनुदान देते समय केन्द्रीय सरकार सौतेला व्यवहार करती है। वह उन राज्यो के साथ सौम्य व्यवहार करती है जहाँ उससे मेलजोल रखने वाली राज्य सरकार है और उन राज्यो के साथ कठोर रुख अपनाती है जहाँ उसकी विचारधारा से भिन्नता रखने वाली राज्य सरकार है। राज्य स्वायत्तता मे यह दोहरा मापदण्ड समाप्त होगा।

(4) अनुदानो की प्रक्रिया एव शैली को लेकर भी भेदभाव की शिकायत की जा रही है। जहाँ गेहूँ पर सरकार 23 रुपये प्रति क्विण्टल का अनुदान देती है वहाँ चावल पर यह अनुदान सिर्फ 4 पैसे प्रति क्विण्टल आता है। इस अनुदान का लाभ उत्तरी राज्यो को तो मिलता है जहाँ लोग गेहूँ अधिक खाते है मगर चावल उगाने और खाने वाले दक्षिणी राज्यो को इसका कोई लाभ नही मिलता। इस तरह के भेदभाव मिटाने मे भी राज्यो की आर्थिक स्वायत्तता कारगर साबित हो सकती है।[2]

---

1 The *Hindustan Times*, 16 February, 1977, p 2.
2 डॉ० श्यामलाल मांडावत, "राज्यो की आर्थिक स्वायत्तता कहाँ तक ?" राजस्थान पत्रिका (जयपुर), 23 अगस्त, 1978, पृ० 5-6।

(5) राज्य स्वायत्तता से ही भारत मे सच्ची सघात्मक व्यवस्था की स्थापना हो सकेगी। फिलहाल तो राज्यो की स्थिति नगरपालिकाओ जैसी है। राज्य सूची के विषयो मे भी केन्द्रीय सरकार जब चाहे हस्तक्षेप कर सकती है और राष्ट्रपति शासन के शस्त्र द्वारा राज्यो की बहुमत वाली निर्वाचित सरकार को अपदस्थ कर सकती है। राज्य स्वायत्तता की अवधारणा के क्रियान्वयन से ही 'समान और स्वायत्त भागीदारी' वाली सघ व्यवस्था अस्तित्व मे आयेगी।

(6) राज्य स्वायत्तता से राज्यो मे उत्तरदायित्व की भावना विकसित होगी। वे अपनी आय के अधिकतम स्रोत ढूंढेंगे और केन्द्र पर निर्भर रहना छोड देंगे। आज कई राज्य अनापशनाप खर्च बढाते जा रहे है क्योकि वे जानते हैं कि अन्त मे केन्द्रीय सरकार 'ओवरड्राफ्ट' अनुदान आदि द्वारा उनकी मदद करेगी।

राज्य स्वायत्तता के विपक्ष में तर्क
(ARGUMENTS AGAINST STATE AUTONOMY)

केन्द्रीय सरकार (चाहे कांग्रेस दल की हो अथवा जनता पार्टी की) की दृष्टि मे राज्य स्वायत्तता की अवधारणा से सघ व्यवस्था दुर्बल होगी और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि मे खतरनाक परिणाम होगे। इसके विपक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं .

(1) कुल मिलाकर देश की सुदृढता ही राज्यो की स्वायत्तता की सर्वोत्तम गारण्टी है क्योकि किसी प्रकार वह मजबूती समाप्त हो जाये तो न तो भारतीय सघ की प्रभुसत्ता रहेगी और न ही राज्यो की स्वायत्तता रह सकेगी। देश आर्थिक संकट और राजनीतिक उथल-पुथल से गुजर रहा है। बदलती हुई परिस्थितियो मे राज्य स्वायत्तता की मांग करना देश को अराजकता, विघटन तथा विनाश की ओर ले जाना है।

(2) यदि अनुच्छेद 370 को सभी राज्यो पर लागू किया जाये तो क्या स्थिति उत्पन्न होगी ? चूंकि अनुच्छेद 370 के अनुसार भारतीय ससद द्वारा पारित कोई भी कानून जम्मू-कश्मीर राज्य मे मान्य नही होगा। भारतीय संघ के राष्ट्रपति को यह भी अधिकार नही है कि वह वहाँ की विधानसभा को भंग कर सके। स्पष्ट है कि यदि सभी राज्यो को अनुच्छेद 370 के तहत् ला दिया जाये तो भारत की अखण्डता को खतरा हो सकता है। शेख अब्दुल्ला की इस मांग से कि अनुच्छेद 370 को सभी राज्यो पर लागू किया जाये, यह मशा स्पष्ट हो जाती है कि शेख अब्दुल्ला अनुच्छेद 370 को संविधान का स्थायी प्रावधान बनाना चाहते थे ताकि उनके दल की राजनीतिक दुकानदारी चलती रहे।

(3) राजमन्नार समिति के सुझाव तो संविधान की आत्मा को ही बदलने वाले खतरनाक विचार हैं। यदि समिति के प्रतिवेदन को मान लिया जाये तो राज्य लगभग स्वायत्तशासी हो जायेंगे। न्याय, योजना, विदेशी मुद्रा, औद्योगिक लाइसेंस सब कुछ ही राज्यो के हाथो मे चले जाने के बाद मे क्या राज्यो की स्थिति स्वाधीन राष्ट्रो से कुछ कम होगी ? वस्तुत. समिति का प्रतिवेदन क्षेत्रीयता को बढाने वाला और राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुँचाने वाला है।

(4) आज भारतीय सघ के घटक राज्य स्वायत्तता की मांग कर रहे है और स्वायत्तता के बाद उनकी अगली मांग स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता हो सकती है। प्रादेशिक दलो द्वारा शासित राज्य सरकारो की स्वायत्तता की मांग के पीछे कही विदेशी ताकतो का हाथ तो नही जो भारत को खण्डित करना चाहते है।

(5) राज्यो को और अधिक स्वायत्तता देने मे राज्यो मे छोटी-छोटी तानाशाहियाँ स्थापित हो जायेंगी। राज्य के भीतर निर्णय और कार्य की शक्ति मुख्यमन्त्रियो के हाथो मे घनीभूत हो जायेंगी, साम्राज्य निर्माण की प्रवृत्ति बढेगी और देश का सन्तुलन लड़खड़ा जायेगा।

(6) सविधान के अनुच्छेद 356 व 357 के अनुसार भारतीय संघ के राष्ट्रपति राज्यों

के वित्तीय संकट उत्पन्न होने पर, वैधानिक व्यवस्था असफल होने पर व आपातकालीन स्थिति में राज्य के राज्यपाल की सलाह पर राज्य विधानसभा को भंग करने का अधिकार रखते हैं। इन अधिकारों के अभाव मे भारतीय संघ, जिसे संविधान मे अंगीकृत किया गया है, के स्वरूप को धक्का पहुँचेगा और वह नष्ट भी हो सकता है। इस माँग का आधार कांग्रेसी शासन के दौरान राज्य विधानसभाओ को अधिक सख्या मे भग होना कहा जा सकता है। इसके लिए वर्तमान सरकार को इस अधिकार का दुरुपयोग न होने की सुरक्षा प्रदान करनी होगी।

(7) क्षेत्रीय दलो और उनके नेताओ द्वारा राज्यो की स्वायत्तता की माँग एक सुनियोजित और गम्भीर राजनीतिक चाल है, जिसके द्वारा कुछ तत्व अपने व्यस्त राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते है। मार्क्सवादियो ने प्रारम्भ से ही राज्यो के विघटन की माँग का समर्थन किया है। इस कडी मे तेलगाना विद्रोह स्मरण किया जा सकता है। कुछ समय पूर्व राज्यो के पुनर्गठन की माँग उठी थी। अब राज्यो की स्वायत्तता के माध्यम से ये लोग आम जनता मे इस बात को चर्चा का मुद्दा बनाना चाहते हैं ताकि लोकमत का झुकाव उनकी तरफ हो सके।

राज्यों पर केन्द्रीय नियन्त्रण के उपकरण
(THE MEANS OF CENTRAL CONTROL OVER THE STATES)

भारतीय संघ राज्यो पर केन्द्रीय नियन्त्रण के प्रमुख उपकरण इस प्रकार है :

(1) **संसद की व्यापक विधि निर्माण शक्तियाँ**—सविधान द्वारा केन्द्र और राज्यो के बीच विधायी शक्तियो का बँटवारा अवश्य किया गया है, परन्तु निम्नलिखित परिस्थितियो में ससद उन विषयो पर भी कानून बना सकती है जो राज्य सूची मे दिये गये है—(क) यदि राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दे कि राष्ट्रीय हित के लिए यह आवश्यक है कि ससद राज्य सूची मे दिये गये किसी विषय भी कानून बनाये तो संसद उस पर कानून बना सकती हैं। (ख) राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा हो जाने पर संसद राज्य सूची मे सम्मिलित विषयो पर भी कानून बना सकती है। केन्द्रीय ससद की शक्ति की व्यापकता का तीन और बातों से पता चलता है : **प्रथम**, यदि समवर्ती सूची मे सम्मिलित किसी विषय पर ससद भी कानून बनाये और राज्य का विधानमण्डल भी तथा उन दोनो मे कोई विरोध हो तो संसद द्वारा निर्मित कानून मान्य होगा। **द्वितीय**, अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को प्राप्त हैं। **तृतीय**, यदि राज्य विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत किसी विधेयक का सम्बन्ध किसी निजी सम्पत्ति पर कब्ज़ा करने अथवा उच्च न्यायालयो की शक्तियो को कम करने से हो तो राज्यपाल के लिए यह जरूरी है कि उस विधेयक को वह राष्ट्रपति के पास उनकी स्वीकृति के लिए भेजे।

(2) **संसद किसी नवीन राज्य का निर्माण कर सकती है और किसी भी राज्य की सीमा घटा या बढ़ा सकती है**—अमरीका या आस्ट्रेलियाई सघ व्यवस्था में केन्द्र राज्यो की इच्छा के विरुद्ध उनकी सीमाओ मे हेरफेर नही कर सकता, परन्तु भारत मे केन्द्रीय ससद नवीन राज्यों का निर्माण कर सकती है और राज्यों के आकार को घटा या बढा सकती है। ऐसा करने के लिए संसद को राज्यों की अनुमति प्राप्त नही करनी पडती।

(3) **राज्य सभा में सभी राज्यों का समान प्रतिनिधित्व नहीं**—विश्व की अधिकांश संघ व्यवस्थाओ मे ससद के उच्च सदन का संगठन राज्यों की समानता के सिद्धान्त के आधार पर किया गया है। समानता का सिद्धान्त इसलिए अपनाया गया जिससे केन्द्रीय संसद पर बडे राज्य का आधिपत्य कायम न हो सके। परन्तु भारत के उच्च सदन अर्थात् राज्यसभा में सभी राज्यों का बराबर सख्या मे प्रतिनिधित्व नही होता।

(4) **राज्यों के अपने संविधान नहीं हैं**—अमरीका और स्विट्जरलैंड मे राज्यो के अपने पृथक् सविधान हैं और उनमें सशोधन करने की शक्तियाँ भी राज्यो के विधानमण्डलों को ही प्राप्त

है। परन्तु भारत मे एक सविधान है जो केन्द्र और राज्य दोनो की संरचना और शक्तियों का उल्लेख करता है। राज्यो को यह अधिकार प्राप्त नही कि वे भारतीय सविधान की उन धाराओं का सशोधन कर सकें जिनका उनकी सरचना और प्रकार्यों से सम्बन्ध है। भारतीय सविधान मे सशोधन प्रक्रिया की शुरुआत केवल ससद ही कर सकती है।

(5) **अखिल भारतीय सेवाएँ तथा राज्यपाल**—अखिल भारतीय सेवाएँ जैसे भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई० ए० एस०) तथा भारतीय पुलिस सेवा (आई० पी० एस०) पर भारत की संघीय सरकार का नियन्त्रण है। इन सेवाओ से सम्बन्धित उच्च अधिकारी राज्यो मे अनेक महत्वपूर्ण पदो पर नियुक्त होते हैं। अतएव इन अधिकारियो के माध्यम से ही केन्द्रीय सरकार राज्यो की सरकारो पर नियन्त्रण रख सकती है। जहाँ तक राज्यपाल का प्रश्न है, उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं तथा वह राज्य मे केन्द्र के एजेण्ट के रूप मे कार्य करता है।

(6) **आपातकालीन घोषणा**—अमरीका, आस्ट्रेलिया, स्विट्जरलैण्ड जैसे संघों मे केन्द्र को यह शक्ति प्राप्त नही है कि वह राज्यो की स्वायत्तता (autonomy) समाप्त कर सके। परन्तु भारत मे आपातकाल की घोषणा किये जाने पर सविधान एकात्मक रूप धारण कर लेता है। आपातकाल मे केन्द्रीय ससद उन विषयो पर कानून बना सकती है जो राज्य सूची मे सम्मिलित हैं। जब राष्ट्रपति यह घोषणा कर देता है कि किसी राज्य की सरकार सविधान की धाराओ के अनुसार नही चलायी जा सकती तो राज्य की विधानसभा भंग कर दी जाती है। अप्रैल 1977 मे तथा फरवरी 1980 मे राष्ट्रपति ने एक साथ नौ राज्यो की विधानसभाओ को भग करके इस तथ्य को उजागर कर दिया है कि भारतीय सघ के घटक राज्यों की स्थिति बड़ी दयनीय है।

(7) **वित्तीय दृष्टि से राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता**—वित्तीय दृष्टि मे भी राज्यों को केन्द्र का मुँह ताकना पडता है। केन्द्र पर राज्यो की आर्थिक निर्भरता दिन-प्रतिदिन बढती जा रही है जिसके कई कारण हैं—(i) सविधान मे केन्द्र तथा राज्यो के मध्य आय के ससाधनो का वितरण इस ढग से किया गया है कि केन्द्र राज्यों की तुलना मे अधिक लाभदायक स्थिति मे है। उदाहरणार्थ, राज्यो को कृषि भूमि पर सम्पदा शुल्क, राजस्व, कृषि आय पर आय-कर, आदि विषयो पर ससाधन सौंपे गये हैं। प्रशासनिक दृष्टि से भूराजस्व इकट्ठा करना बड़ा कठिन होता है और राजनीतिक दृष्टि से कृषि आय पर कर लगाना राज्य सरकार के लिए घाटे का सौदा माना जाता है। इसके विपरीत, केन्द्र के पास निगम कर, निर्यात कर तथा आबकारी कर जैसे महत्वपूर्ण ससाधन हैं। (ii) राज्य सरकारें अधिकाशत लोक-कल्याण और विकास सम्बन्धी कार्य करती हैं। सामाजिक कल्याण के विभिन्न क्षेत्रो जैसे स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा, आदि मे राज्य सरकारो का खर्च अनवरत रूप मे बढता जा रहा है। राज्य सरकारो के दायित्व बढ़ते गये किन्तु ससाधनो मे उस गति से वृद्धि नही हुई जिससे उन्हे घाटे का बजट अपनाने पडे। (iii) अपनी वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए राज्य सरकारे केन्द्र की भाँति विदेशो से ऋण नही ले सकती। (iv) राज्यो को दिये जाने वाले कतिपय अनुदान केन्द्रीय सरकार की स्वविवेकी शक्ति के अन्तर्गत आते हैं और राज्यो को बराबर यह शिकायत रही है कि केन्द्रीय सरकार इन अनुदानो का वितरण करते समय पक्षपातपूर्ण आचरण करती है। (v) नियन्त्रक एव लेखा परीक्षक सारे देश की वित्तीय स्थिति की देखभाल के लिए उत्तरदायी होता है और उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं। यद्यपि राज्यो के अपने लेखा परीक्षक होते हैं परन्तु उन्हे इसी केन्द्रीय पदाधिकारी के नियन्त्रण और निर्देशन मे कार्य करना होता है। (vi) अनुच्छेद 360 के अन्तर्गत राष्ट्रपति वित्तीय आपात् की घोषणा करके राज्यो की वित्तीय स्वतन्त्रता को मर्यादित कर सकता है।

पिछले 30 वर्षों मे राज्य [illegible]

केन्द्रीय सरकार पर निर्भर होते चले गये। राज्यो की इस ऋणग्रस्तता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार से लिये गये ऋण 1961 मे 20 अरब 14 करोड रुपये से बढकर 1971 मे 63 अरब 65 करोड रुपये तथा 1978 के बजट अनुमानो के अनुसार 1 खरब 13 अरब 69 करोड़ रुपये हो गये जो कि राज्यो की कुल ऋणग्रस्तता का लगभग 70 प्रतिशत है। इस प्रकार राज्यो की ऋणग्रस्तता इस स्थिति मे पहुँच गयी है कि ऋण अदायगी तथा ब्याज की रकम मिलकर नयी केन्द्रीय सहायता से अधिक हो जाती है।

यह कहना गलत है कि राज्य प्रतिष्ठित नगरपालिकाएँ मात्र है

(IT IS WRONG TO SAY THAT THE STATES IN INDIA HAVE BEEN REDUCED TO THE POSITION OF GLORIFIED MUNICIPALITIES)

राज्य स्वायत्तता की माँग के समर्थको का मत है कि संविधान के कई ऐसे तत्व है जो राज्यो की स्वायत्तता को सीमित करते हैं। आपात् उद्घोषणा के समय संघात्मक राज्य एकात्मक राज्य मे परिणत हो जाता है; राज्यो की वित्तीय स्वायत्तता विनष्ट हो जाती है और राज्य की सम्पूर्ण सत्ता सघीय कार्यपालिका के हाथो मे केन्द्रीयभूत हो जाती है। के० सन्थानम् ने तो यहाँ तक कहा कि नियोजन व्यवस्था ने नीति और वित्त सम्बन्धी सभी मामलो मे राज्यो की स्वायत्तता को एक छाया का रूप प्रदान कर दिया है। क्या इसमे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत मे राज्यो का दर्जा नगरपालिकाओ के समतुल्य है। हम इस विचार से सहमत नही हैं कि भारत के राज्यो को केवल नगरपालिकाओ का स्थान प्राप्त है। डॉ० अम्बेडकर ने कहा था कि "राज्यो को नगरपालिकाओ का स्तर देकर संविधान ने केन्द्र को अत्यधिक शक्तियाँ प्रदान कर दी है, यह एक गम्भीर शिकायत की जाती है। यह दृष्टिकोण न केवल अत्युक्तिपूर्ण ही है, साथ ही सविधान के उद्देश्यो के सम्बन्ध मे एक भ्रान्त धारणा पर आधारित है।" निम्नलिखित कारणो से हम राज्यो को स्वाधीन अथवा स्वायत्तशासी ही कहेगे :

(1) राज्यो की सरकारें केन्द्र द्वारा निर्मित नहीं की गयी हैं—नगरपालिकाओ अथवा नगर निगमो का निर्माण राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है। राज्यो की सरकारें जब चाहे तब नगरपालिकाओ को भग कर सकती हैं, उनकी शक्तियो को घटा-बढ़ा सकती है। परन्तु भारतीय सघ मे सम्मिलित राज्यो का निर्माण पूर्णतया केन्द्र की इच्छा पर अवलम्बित नही है। राज्यो को सभी शक्तियाँ सविधान से प्राप्त हैं। डॉ० अम्बेडकर के शब्दो मे, "राज्य अपनी विधायी तथा कार्यपालिका शक्तियो के लिए किसी प्रकार भी केन्द्र पर आश्रित नही है। इस सम्बन्ध मे राज्य तथा केन्द्र एक ही स्तर पर हैं।"[1]

(2) नागरिक दोहरे शासन के अन्तर्गत रहते हैं—लॉर्ड ब्राइस के मतानुसार, संघात्मक शासन की पहचान यह है कि नागरिक दोहरे शासन—केन्द्रीय शासन और राज्य के शासन—के अन्तर्गत रहे। दो प्रकार की विधियो—ससद द्वारा निर्मित विधि और राज्य विधान-मण्डलो द्वारा निर्मित विधियो—का पालन करें तथा नगरपालिका द्वारा लगाये गये करो के अतिरिक्त दोहरे करो—केन्द्र द्वारा लगाये गये करो व राज्य द्वारा लगाये गये करो—का भुगतान करें। इस परिप्रेक्ष्य से तो हम भारतीय शासन-व्यवस्था को सघ व्यवस्था का ही प्रतिमान (मॉडल) कह सकते हैं। यह ठीक है कि भारत मे दोहरी नागरिकता नही है, किन्तु दोहरी नागरिकता सघ शासन का अनिवार्य लक्षण भी नही है। सघ शासन के अनिवार्य लक्षण तो ये है कि दो प्रकार की सरकारें हो, दो प्रकार के शासनाधिकारी हो, दो तरह के कानून हो और नागरिको को कम-से-कम दो तरह के कर देने पड़ें। डॉ० अम्बेडकर ने ठीक कहा था कि "यह (भारतीय सविधान)

[1] *Constituent Assembly Debates*, Vol VII, p. 33.

एक द्वैध शासन की स्थापना करता है, केन्द्र में संघ सरकार है तथा उसके चारों ओर परिधि में राज्य सरकारें है। संविधान द्वारा निश्चित पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में इन्हें प्रभुसत्ता प्राप्त है।"[1]

(3) **संविधान की सातवीं सूची में संशोधन करने के लिए कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक है**—हमारे संविधान की सातवीं अनुसूची केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का बँटवारा करती है। इस अनुसूची में तीन सूचियाँ दी गयी है—संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। संघ सूची में 97 विषय हैं। इन पर संसद विधि निर्माण कर सकती है। राज्य सूची में 66 विषय है जिन पर राज्यों के विधानमण्डल विधि निर्माण करते है। समवर्ती सूची में 47 विषय हैं जिन पर संसद और राज्य विधानमण्डल दोनों ही कानून बना सकते है। संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि सातवीं अनुसूची में किया गया संशोधन तब तक प्रभावी नही होगा जब तक उसे कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति प्राप्त नही होती। इसका अभिप्राय है कि केन्द्रीय सरकार शक्तियों के बँटवारे को मनमाने तरीके से परिवर्तित नही कर सकती है। डॉ० अम्बेडकर ने संविधान सभा में स्पष्ट कहा था, "यह कथन असत्य है कि राज्यों को केन्द्र के अधीन रखा गया है। केन्द्र अपनी इच्छा से विभाजन रेखा बदल नही सकता।"[2]

(4) **आपातकालीन घोषणा संसद के समक्ष रखी जायेगी**—यह ठीक है कि संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि राष्ट्रपति आपात् स्थिति की घोषणा कर सके और उस घोषणा का यह प्रभाव होता है कि संविधान का संघात्मक रूप एकात्मक रूप में परिवर्तित हो जाता है। फिर भी यह ध्यान रखना जरूरी है कि यदि दो महीने के भीतर संसद इस घोषणा का समर्थन नही करती है तो यह घोषणा स्वमेव समाप्त हो जायेगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राष्ट्रपति संसद की इच्छा के बिना शक्ति का उपयोग दो महीने से अधिक समय के लिए नही कर सकता। संसद के दोनों सदनों में सभी राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं। अतएव वे इस बात को अवश्य देखेंगे कि राज्यों के अधिकारों के साथ खिलवाड़ न की जाये।

(5) **राज्यों की सरकारों ने कई बार केन्द्र का सफलतापूर्वक विरोध किया है** –राज्य सरकारों ने केन्द्र की नीतियों का कई बार सफलतापूर्वक विरोध किया है। उदाहरण के लिए, हिन्दी के प्रश्न पर पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडु की सरकारें इतनी उत्तेजित हो गयी थी कि केन्द्रीय सरकार को हिन्दी के विस्तार की अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा।

(6) **केन्द्रीय सरकार अपनी नीतियों के क्रियान्वयन हेतु राज्य सरकारों पर आश्रित**—पॉल एच० एपिलबी का मत है कि केन्द्रीय सरकार अपनी नीतियों के क्रियान्वयन के लिए राज्य सरकारों पर आश्रित है और आज तो योजना आयोग की तुलना में राष्ट्रीय विकास परिषद नीति-निर्माता निकाय के रूप में अधिक शक्तिशाली है। राष्ट्रीय विकास परिषद में राज्यों के मुख्य-मन्त्रियों को स्थान दिया गया है और ये परिषद की कार्यवाहियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ए० एन० झा ने लिखा है कि योजना का क्रियान्वयन, चाहे वह कानून द्वारा हो या प्रशासकीय कार्यवाही द्वारा, राज्यों के हाथ में ही है।

निष्कर्षत, भारत के राज्यों को नगरपालिकाओं का दर्जा प्राप्त है, ऐसा कहना ठीक नही है। वे 'राज्य' ही हैं भले ही संविधान ने एक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना की हो।

राज्य स्वायत्तता : कितनी और क्यों ?
(STATE AUTONOMY : HOW MUCH ?)

राज्य स्वायत्तता के विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करने के उपरान्त भी संघ व्यवस्था पर बदली

---

1 *Ibid*
2 *Ibid.*

हुई परिस्थितियों में पुनर्विचार किया जाना आवश्यक है। राज्यों को आर्थिक दृष्टि से अपने पैरो पर खड़ा करने के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्र के कतिपय कर सम्बन्धी अधिकार राज्यो को हस्तान्तरित कर दिये जायें। आय-कर मे भागीदारो के अलावा यदि उत्पादन शुल्क लगाने का अधिकार राज्यो को दिया जाये और राज्यो को अपनी आवश्यकतानुसार आवश्यक ऋण लेने का अधिकार प्राप्त हो जाय तो राज्य आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्वी हो जायेगे। उन्हे अनुदान अथवा ऋण के लिए समय-समय पर केन्द्र की ओर मुँह नही ताकना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त, संघ सूची के कतिपय विषय ऐसे हैं जो बिना केन्द्र की वास्तविक शक्ति को आँच पहुँचाये राज्यो को सौपे जा सकते हैं। जैसे :

(i) राष्ट्रीय मार्ग अभी केन्द्र के अधीन हैं, परन्तु इन मार्गों की देखरेख का सारा जिम्मा राज्यो पर है। अत यह विषय राज्यो को सौपा जा सकता है।

(ii) इस समय राज्य सरकार कोई लाटरी बिना भारत सरकार की स्वीकृति के जारी नही कर सकती। यह अंकुश बेमानी है और इसे समाप्त किया जाना चाहिए।

(iii) संघ सूची के अनुसार व्यापार सस्थान केवल मात्र केन्द्र की स्वीकृति से स्थापित अथवा समाप्त किये जा सकते है। बैंक जैसी सस्थाओ को छोडकर अन्य व्यापारिक सस्थान स्थापित करने का अधिकार राज्यो को होना चाहिए।

(iv) इस समय लगभग सभी महत्वपूर्ण उद्योगो के लाइसेंस जारी करना केन्द्र के हाथ मे है। यह स्थिति समाप्त की जानी चाहिए। केन्द्र के पास केवल वे उद्योग होने चाहिए जो देश की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक हो। अन्य उद्योगों के सम्वन्ध मे राज्यो को अपनी आवश्यकतानुसार विकास करने की छूट होनी चाहिए।

(v) सविधान मे केन्द्र को अधिकार दिये गये हैं कि खनिज-पदार्थों के विकास के लिए वह आवश्यक कानून बनाये। केन्द्र का यह अधिकार केवल उन खनिज-पदार्थों तक ही सीमित रखा जाना चाहिए जो सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो, जैसे—यूरेनियम, पेट्रोलियम, आदि।

(vi) योजना आयोग के माध्यम से केन्द्र ने राज्यो के वे अधिकार हथिया लिये है जो संविधान द्वारा केन्द्र को प्रदान नही किये गये हैं। योजना का एक परिणाम यह हुआ कि राज्यो को सवैधानिक रूप से आबंटित क्षेत्रो मे अपने आपको नि.सहाय महसूस करना पड़ा। शिक्षा, दवाइयाँ, जनस्वास्थ्य, कृषि, सहकारिता, समाज कल्याण व औद्योगिक आवास व्यवस्था जैसे विषयो पर राष्ट्रीय योजनाओ द्वारा राज्यो की स्वायत्तता पर कुठाराघात हुआ। अत. योजना आयोग के संगठन मे आमूलचूल परिवर्तन होना चाहिए। जहाँ तक योजना आयोग के सदस्यों की नियुक्ति का प्रश्न है पश्चिमी वगाल मन्त्रिमण्डल का यह सुझाव ठीक प्रतीत होता है कि ये नियुक्तियाँ राष्ट्रीय विकास परिषद् की सहमति से की जानी चाहिए।

(vii) राज्यो के छोटे और बडे सभी प्रकार के कर्मचारियो पर राज्य सरकारो का नियन्त्रण होना चाहिए। अखिल भारतीय सेवाओ को समाप्त कर दिया जाये और भविष्य मे केवल मात्र केन्द्रीय सेवाएँ केन्द्र के लिए और राज्य सेवाएँ राज्य के लिए हो।

(viii) केन्द्र को केवल सघ सूची से सम्बन्धित विषयो पर कानून बनाने का अधिकार होना चाहिए। शेष विषयो पर कानून बनाने की शक्ति राज्यो मे निहित होनी चाहिए, तदनुसार सविधान का अनुच्छेद 249 समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

(ix) 42वे सविधान सशोधन द्वारा सघ सूची मे एक विषय और
जिसके अनुसार केन्द्र को यह अधिकार मिल गया था कि वह किसी समय
भी राज्य में भेज दे [illegible] स्वायत्तता पर कठोर आघात था
इस प्रावधान को [illegible] गया है।

(x) संविधान के अनुच्छेद 356 तथा 357 का भी दुरुपयोग अधिक हुआ है। इस अधिकार का दुरुपयोग केन्द्र की कांग्रेस सरकार ने सबसे पहले सन् 1959 में किया जबकि उसने संविधान द्वारा स्थापित केरल की साम्यवादी सरकार और विधान सभा को भंग कर प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। जनता पार्टी द्वारा शासित केन्द्रीय सरकार ने अप्रैल 1977 में तथा कांग्रेस (आई०) की सरकार ने फरवरी 1980 में नौ राज्यों में एक साथ राष्ट्रपति शासन लागू किया तो प्रचलित अभिसमय का उल्लंघन किया चूंकि किसी भी राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन लागू करने के सम्बन्ध में रिपोर्ट नहीं दी थी। इस प्रकार अनुच्छेद 356 राज्यों की प्रशासनिक स्वायत्तता का अन्त करने वाला है, अतः यह प्रावधान संविधान से निकाल देना चाहिए।

(xi) भारतीय संविधान के अनुच्छेद 263 में एक अन्तर्राज्य परिषद (Inter-state Council) की स्थापना का प्रावधान है लेकिन व्यवहार में अब तक अन्तर्राज्य परिषद की स्थापना नहीं की गयी है। 'प्रशासनिक सुधार आयोग' और 'राजमन्नार समिति' के द्वारा अपनी सिफारिशों में इस बात पर बल दिया गया है कि केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के सुचारु संचालन के लिए 'अन्तर्राज्य परिषद' की स्थापना की जानी चाहिए। वस्तुतः अन्तर्राज्य परिषद् इस सम्बन्ध में उपयोगी कार्य कर सकती है। इस परिषद् का कार्य केन्द्र तथा राज्यों के आपसी सम्बन्धों के सभी विषयों पर केन्द्रीय सरकार को परामर्श देना ही हो सकता है।

(xii) केन्द्रीय सरकार को राज्य के राज्यपाल पद पर नियुक्त करते समय सम्बन्धित राज्य के मन्त्रिमण्डल के दृष्टिकोण को ध्यान में रखना चाहिए।

(xiii) इस विषय पर उच्चस्तरीय विचार-विमर्श होना चाहिए कि राज्यों के वित्तीय साधनों में वृद्धि के लिए क्या किया जा सकता है। राज्यों के राजनीतिक अधिकारों की अपेक्षा राज्यों की वित्तीय शक्तियों एवं साधनों का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है और राज्य सरकार के निरन्तर घाटे के बजट एवं आय के सिकुड़ते साधनों के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न विचारणीय है कि इन्हें वित्तीय सुदृढ़ता किस प्रकार प्रदान की जा सकती है। राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न महज राजनीतिक दृष्टि एवं आधार से परे राज्यों की प्रशासनिक जिम्मेदारी, जनहित के काम और विकास की दुरूहताएँ, आदि के सन्दर्भ में विचारणीय है।[1]

सरकारिया आयोग की रिपोर्ट (अक्टूबर 1987)

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के सम्पूर्ण ढांचे पर विचार करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने सरकारिया आयोग (मार्च 1983) की नियुक्ति की।

तीन सदस्यीय सरकारिया आयोग ने अपनी एक सर्वसम्मत रिपोर्ट में कहा है कि राज्यों को अधिक अधिकार देने के लिए संविधान संशोधन की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि संविधान में पहले ही राज्यों को उनके क्षेत्र में अधिक स्वतन्त्रता देने का प्रावधान है।[2]

आयोग ने अपनी रिपोर्ट में इसके साथ यह भी कहा है कि केन्द्र राज्यों के विशेषाधिकार छीन रहा है, उनके क्षेत्र में दखल कर रहा है और विषयों की राज्य सूची को कम कर समवर्ती सूची का विस्तार कर संविधान का उल्लंघन कर रहा है। आयोग ने इस बात की पुष्टि में कई अधिसूचनाओं का उल्लेख किया है। उदाहरण के तौर पर केन्द्र ने शनैः-शनैः 85 प्रतिशत उद्योग अपने हाथ में ले लिये हैं. जबकि संविधान लागू होने के प्रारम्भिक वर्षों में राज्यों को काफी

---

1 रहमत बेगम . 'भारतीय संघ और राज्यों की स्वायत्तता', लोकतन्त्र समीक्षा (नयी दिल्ली), जनवरी-मार्च, 1977, पृ० 91-93।

2 कुलदीप नायर · "सरकारिया आयोग की रिपोर्ट : संविधान में राज्यों को पहले ही अधिक स्वतन्त्रता", राजस्थान पत्रिका (जोधपुर), 6 दिसम्बर, 1987, पृ० 1।

अधिकार प्राप्त थे। संवैधानिक व्यवस्था विफल होने की आड लेकर केन्द्र ने जिस तरह धारा 356 के तहत् राज्यो मे समय-समय पर सत्ता प्राप्त की उसकी आयोग ने कड़ी आलोचना की है।

रिपोर्ट मे कहा गया है कि इस समय राज्यो मे राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए न तो केन्द्र जवाबदेह है और न राज्यपाल जो अपने हाथ मे शासन के अधिकार लेता है। आयोग ने सुझाव दिया है कि नियमो को संहिताबद्ध किया जाये, जो राज्यपालो को दिशा दे सके। आयोग ने सिफारिश की है कि अन्तर्राज्य परिषद गठित की जाये जिसका सविधान की धारा 263 मे प्रावधान है। अन्तर्राज्य परिषद की सहायता के लिए एक स्थायी सचिवालय व कई स्थायी समितियाँ गठित की जायें ताकि केन्द्र व राज्यों के बीच निरन्तर सम्पर्क बना रहे।

सरकारिया आयोग के अनुसार, "सविधान के मूल स्वरूप मे कोई प्रबल परिवर्तन न तो उचित है और न ही आवश्यक।"

निष्कर्ष

नये सन्तुलन की खोज—कमजोर केन्द्र विखराब को प्रोत्साहित करता है तथा दूसरी ओर कमजोर राज्यो के कारण केन्द्र मे तानाशाही प्रवृत्तियो का घर रखने का खतरा भी है : आपातकाल का अनुभव इसका ताजा उदाहरण है जबकि राज्यो को आज्ञाकारी शिशुओ से बदतर बना दिया गया और केन्द्र द्वारा संवैधानिक शक्तियो के अपहरण पर राज्य सरकारें चूं तक नहीं कर सकीं। अत: केन्द्र और राज्यो के बीच सम्बन्धो की एक सन्तुलनकारी स्थिति को अपनाये जाने की आवश्यकता है।"[1]

राज्यो की वित्तीय दुर्दशा ऐसी है कि राज्य सरकार अपने बलबूते पर कोई योजना चालू नही कर सकती और अकाल, सूखा व बाढ़ जैसे प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करने के लिए केन्द्र से अनुनय-विनय करती हैं। हर छोटे-से काम के लिए मुख्यमन्त्रियो को बार-बार दिल्ली दरबार मे हाजिरी देनी पडती है। राज्य विधानसभा द्वारा पारित प्रस्ताव राष्ट्रपति की स्वीकृति की प्रतीक्षा मे पडे रहते है।

राष्ट्रीय एकता व सुरक्षा की दृष्टि से केन्द्र के सशक्त होने की आवश्यकता निर्विवाद है तो जनहितकारी कार्यों के विस्तार तथा सेवाओ को क्षमतावान बनाने के लिए राज्यो की साधिकारिता भी तर्कसंगत ठहरती है। अत: राज्यो की स्वायत्तता एव उनके शासनाधिकार के विस्तार का प्रश्न वस्तुपरक कसौटी पर जांचा व परखा जाये। इस प्रश्न पर विचार करते समय देश की स्थिति, अब तक का अनुभव एवं देशवासियो की आकाक्षा व आवश्यकताओ को आधार बनाया जाना चाहिए। भारत की संघात्मक व्यवस्था और केन्द्र-राज्य सम्बन्धो का सार्वाधिक प्रमुख तथ्य यह है कि राज्यो को सशक्त बनाने का अर्थ केन्द्र को अशक्त बनाना नही है और केन्द्र-राज्य सम्बन्धो की कोई ऐसी समस्या नही है जो सविधान के वर्तमान ढांचे में हल न की जा सके।

---

[1] **राजस्थान पत्रिका**, 18 दिसम्बर, 1987, पृ० 4।

13

भारतीय संविधान का दर्शन : मौलिक अधिकार

[THE PHILOSOPHY OF THE CONSTITUTION : FUNDAMENTAL RIGHTS]

मौलिक अधिकारों की आवश्यकता और महत्व
(NECESSITY AND IMPORTANCE OF FUNDAMENTAL RIGHTS)

व्यक्ति और राज्य के आपसी सम्बन्धो की समस्या सदैव से ही बहुत अधिक जटिल रही है और वर्तमान समय की प्रजातन्त्रीय व्यवस्था मे इस समस्या ने विशेष महत्व प्राप्त कर लिया है। यदि एक ओर शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए नागरिको के जीवन पर राज्य का नियन्त्रण आवश्यक है तो दूसरी ओर राज्य की शक्ति पर भी कुछ ऐसी सीमाएँ लगा देना आवश्यक है जिससे राज्य मनमाने तरीके से आचरण करते हुए व्यक्तियो की स्वतन्त्रता और अधिकारो के विरुद्ध कार्य न कर सकें। मौलिक अधिकार व्यक्ति स्वातन्त्र्य और अधिकारो के हित मे राज्य की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाने के श्रेष्ठ उपाय हैं।

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने विश्व को 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व' का सन्देश दिया था। क्रान्ति के उपरान्त फ्रास की राष्ट्रीय सभा ने 1789 के नवीन सविधान मे **'मानवीय अधिकारों की घोषणा'** (Declaration of the Rights of Men) को शामिल करके नागरिको के कुछ अधिकारो को सवैधानिक रूप देने की प्रथा प्रारम्भ की। इसके बाद सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान मे 1791 मे प्रथम दस सशोधनो द्वारा व्यक्तियो के अधिकारो को सविधान का अग बनाया गया। ये सशोधन ही सामूहिक रूप से 'अधिकार-पत्र' (Bill of Right) कहलाये। इसका प्रभाव अन्य यूरोपियन राज्यो के संविधानो पर पडा। प्रथम महायुद्ध के बाद अनेक पुराने राज्यो और युद्ध के बाद स्थापित अनेक नवीन राज्यो के सविधानो मे मौलिक अधिकारो का समावेश किया गया। इस सम्बन्ध मे जर्मनी का वीमर संविधान तथा आयरलैण्ड का सविधान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। द्वितीय महायुद्ध के काल मे मौलिक अधिकारो का विचार और भी लोकप्रिय रहा और युद्ध के बाद भारत, बर्मा, जापान, आदि जिन देशो के संविधानो का निर्माण हुआ उन सभी मे मौलिक अधिकारो का समावेश किया गया। 1945 मे स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन 'संयुक्त राष्ट्र सघ' के द्वारा भी 10 दिसम्बर, 1984 को 'मानवीय अधिकारो की सार्वलौकिक घोषणा' (Universal Declaration of Human Rights) के नाम से अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार-पत्र स्वीकार किया गया। इस प्रकार मौलिक अधिकारो के विचार ने वर्तमान समय मे एक सर्वमान्य धारणा का रूप ग्रहण कर लिया है।

मौलिक अधिकारों का महत्व
(IMPORTANCE OF FUNDAMENTAL RIGHTS)

सविधान के अन्तरग भाग के रूप मे मौलिक अधिकारो का बहुत अधिक महत्व है।

सर्वप्रथम, मौलिक अधिकार प्रजातन्त्र के आधार-स्तम्भ है। वे उन परिस्थितियों का निर्माण करते है जिनके आधार पर बहुमत की इच्छा निर्मित और क्रियान्वित होती है। वे इस दृष्टि से भी प्रजातन्त्र के लिए अनिवार्य है कि उनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास की सुरक्षा प्रदान की जाती है और उन आधारभूत स्वतन्त्रताओ तथा स्थितियों की व्यवस्था की जाती है जिनके बिना उचित रूप मे नागरिक जीवन व्यतीत नही किया जा सकता। जी० एन० जोशी इस सम्बन्ध मे लिखते हैं, **"एक स्वतन्त्र प्रजातन्त्रात्मक देश में मौलिक अधिकार सामाजिक, धार्मिक और नागरिक जीवन के प्रभावदायक उपयोग के एकमात्र साधन है। इन अधिकारों के बिना प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्त लागू नहीं हो सकते और सदैव ही बहुमत के अत्याचार का भय बना रहता है।"**[1]

द्वितीय, मौलिक अधिकार एक देश के राजनीतिक जीवन में एक दल विशेष की तानाशाही स्थापित होने से रोकने के लिए नितान्त आवश्यक हैं। इसमे सन्देह नही कि वर्तमान समय मे निरंकुश राजाओ के व्यक्तिगत शासन का भय समाप्त हो गया है लेकिन प्रजातन्त्रात्मक राज्यो में 'बहुमत तानाशाही' का भय बराबर बना हुआ है। मौलिक अधिकार शासकीय और बहुमत वर्ग के अत्याचारो से व्यक्ति की, विशेष रूप से अल्पसंख्यको की, रक्षा करते है और इस प्रकार बहुमत के अत्याचारी शासन की आशका का अन्त करते है।

तृतीय, मौलिक अधिकार व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक नियन्त्रण के बीच उचित सामंजस्य की स्थापना करते हैं। इनके द्वारा एक ओर तो व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को कानून द्वारा निश्चित सीमाओं में रहने के लिए बाध्य किया जाता है और दूसरी तरफ नागरिकों को शासन के स्वेच्छाचारी सचालन के विरुद्ध जनमत के निर्माण हेतु उचित अवसर प्रदान किये जाते है।

जब मौलिक अधिकारो को वैधानिक रूप से स्थिर कर दिया जाता है तो उनके महत्व और सम्मान मे अधिक वृद्धि हो जाती है। इससे उन्हे साधारण कानून से अधिक उच्च स्थान और पवित्रता प्राप्त हो जाती है। इससे वे अनुल्लंघनीय बन जाते है और विधायी, कार्यपालिका व न्यायिक सत्ता के लिए उनका पालन आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार मौलिक अधिकार नागरिको को न्याय और उचित व्यवहार की सुरक्षा प्रदान करते है और राज्य के बढ़ते हुए हस्तक्षेप तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के बीच सन्तुलन स्थापित करते हैं। **नागरिकों के मौलिक अधिकार मानवीय स्वतन्त्रता के मापदण्ड और संरक्षक दोनों ही है। इस कारण उनका अपना मनोवैज्ञानिक महत्व है। आज के युग में कोई राजनीतिक दार्शनिक उनकी अपेक्षा नही कर सकता।**[2]

भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों के उल्लेख की आवश्यकता
(NECESSITY FOR THE PROVISION OF FUNDAMENTAL RIGHTS IN INDIAN CONSTITUTION)

संविधान मे मौलिक अधिकारो के उल्लेख की उपयोगिता एक विवादपूर्ण विषय है। इस सम्बन्ध मे सर आइवर जैनिंग्ज, डायसी और कुछ दूसरे ब्रिटिश लेखको का विचार है कि सविधान मे मौलिक अधिकारो का उल्लेख न केवल अनुचित वरन् कठिन स्थिति पैदा करने वाला भी होता है। व्यवहार मे ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका और स्विट्जरलैण्ड, आदि देशों के संविधानो में नागरिको के मौलिक अधिकारो का कोई उल्लेख नही है किन्तु भारतीय सविधान मे ब्रिटेन, आदि देशो के सविधान का अनुसरण न करते हुए विस्तृत अधिकार-पत्र की व्यवस्था

---

1 G N. Joshi : *The Constitution of India*, p. 63
2 *The Leader Constitutional Supplement*, 18th Jan., 1950.

की गयी है। वास्तव मे, सविधान मे इस मार्ग को अपनाया जाना स्वाभाविक भी था और अनिवार्य भी। ब्रिटेन और स्विट्जरलैण्ड, आदि देशो मे वैधानिक परम्पराओ और राजनीतिक जागरूकता का उच्च स्तर है और इस कारण सविधान मे किसी प्रकार के अधिकारो का उल्लेख न होने पर भी नागरिको द्वारा लगभग सभी नागरिक स्वतन्त्रताओ और अधिकारो का उपभोग किया जाता है, किन्तु वर्तमान स्थिति मे भारत मे इन दोनो ही बातो का अभाव होने के कारण सविधान मे अधिकारो के उल्लेख के बिना व्यवहार मे अधिकारो के उपयोग की आशा नही की जा सकती है।

इसके अलावा भारतीय संविधान सभा के सदस्यो ने ब्रिटिश शासन के अत्याचार प्रत्यक्ष रूप मे देखे थे और बहुतो के द्वारा इन अत्याचारो की भयानकता स्वय अनुभव की गयी थी। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से उनके द्वारा यह सोचा गया कि ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी जानी चाहिए, जिसमे शासन अब जनता पर इस प्रकार के अत्याचार न कर सके। भारत मे प्रजातन्त्र नया-नया ही स्थापित किया जा रहा था और इस कारण भी नागरिको के अधिकारो को विधानमण्डल की इच्छा पर छोडना उचित नही समझा गया। इस सम्बन्ध मे **डॉ० अम्बेडकर** ने भारतीय संविधान सभा मे कहा था, **"भारत मे इन अधिकारों को विधानमण्डलो या सरकार की इच्छा पर छोड़ देना उचित नहीं था क्योकि भारत मे लोकतन्त्र अब तक पूर्ण रूप से पनप नहीं पाया है, इसलिए इन अधिकारो को सविधान मे रख दिया गया।"**[1]

मौलिक अधिकार का अर्थ
(MEANING OF FUNDAMENTAL RIGHTS)

वे अधिकार जो व्यक्ति के जीवन के लिए मौलिक तथा अनिवार्य होने के कारण सविधान द्वारा नागरिको को प्रदान किये जाते है और जिन अधिकारो मे राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नही किया जा सकता, मौलिक अधिकार कहलाते है।

व्यक्ति के इन अधिकारो को निम्न आधारो पर मौलिक अधिकार कहा जाता है—**प्रथम,** व्यक्ति के पूर्ण मानसिक, भौतिक और नैतिक विकास के लिए ये अधिकार बहुत आवश्यक है। इनके अभाव मे उनके व्यक्तित्व का विकास रुक जायेगा। इसलिए लोकतन्त्रात्मक राज्य मे प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव के मौलिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं। इन अधिकारो को मौलिक कहने का **द्वितीय** कारण यह है कि उन्हे देश की मौलिक विधि अर्थात् सविधान मे स्थान दिया जाता है और साधारणतया सवैधानिक सशोधन प्रक्रिया के अलावा इनमे और किसी प्रकार से परिवर्तन नही किया जा सकता है। गोपालन बनाम मद्रास राज्य के विवाद मे मुख्य न्यायाधीश पातजलि शास्त्री ने कहा था, **"मौलिक अधिकारों की मुख्य विशेषता यह है कि वे राज्य द्वारा पारित विधियों से ऊपर है।"**[2] **तृतीय,** मौलिक अधिकार साधारणतया अनुल्लघनीय हैं अर्थात् व्यवस्थापिका, कार्यपालिका या बहुमत दल द्वारा उनका अतिक्रमण नही किया जा सकता है। **चतुर्थ,** मौलिक अधिकार न्याययोग्य (Justiciable) होते हैं अर्थात् न्यायपालिका इन अधिकारो की रक्षा के लिए सभी आवश्यक कदम उठा सकती है।

मौलिक अधिकार की व्यवस्था भारतीय संविधान की सर्वाधिक प्रमुख व्यवस्थाओं में से एक है।

---

[1] "Democracy in India is only a top dressing on the Indian soil which is essentially undemocratic In the circumstance, it is wiser not to trust the legislature to prescribe the form of administration This is the justification for incorporating them in the constitution." —*Dr. Ambedkar*

[2] "Permanent characteristic of state made laws is the hallmark of Fundamental Rights." —*Justice Patanjali Shastri.*

भारतीय संविधान के अधिकार-पत्र की विशेषताएँ
(SALIENT FEATURES OF INDIAN BILL OF RIGHTS)

यद्यपि मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध मे भारतीय संविधान द्वारा सयुक्त राज्य अमरीका और अन्य आधुनिक संविधानो से प्रेरणा ली गयी है लेकिन भारतीय संविधान का अधिकार-पत्र अधिकारो और उनसे सम्बद्ध व्यवस्था के सम्बन्ध में वैसे ही नही है जैसे कि अन्य सविधानो के अधिकार-पत्र हैं। भारतीय संविधान के अधिकार-पत्र की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है :

(1) **सर्वाधिक विस्तृत अधिकार-पत्र** (Most Comprehensive Bill of Rights)—भारतीय सविधान का तृतीय भाग जिसमे मौलिक अधिकारो का विवेचन किया गया है, विश्व के अन्य किसी भी सविधान मे दिये गये अधिकार-पत्र से विस्तृत है। मौलिक अधिकार के सम्बन्ध मे संविधान के कुल 23 अनुच्छेद (अनुच्छेद 12 से 30 और 32 से 35) है और इनमे से कुछ अनुच्छेद तो असाधारण रूप से लम्बे हैं। उदाहरण के लिए, सविधान के 19वे अनुच्छेद के मूल रूप मे 450 शब्द थे, अब तक हुए संशोधनो से इसके आकार मे वृद्धि हो गयी। अधिकार-पत्र के इतने अधिक व्यापक होने का एक प्रमुख कारण यह रहा है कि प्रत्येक अधिकार के साथ प्रतिबन्धो की भी व्यवस्था की गयी है। मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध मे पूर्ण और स्पष्ट व्यवस्था के प्रयास मे ही अधिकार-पत्र इतना विस्तृत हो गया है।

(2) **मौलिक अधिकार व्यावहारिकता पर आधारित** (Fundamental Rights based on Pragmatism)—भारतीय सविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार कोरे सिद्धान्तो की अपेक्षा वास्तविकता पर आधारित और सम्पूर्ण समाज के लिए उपयोगी है। उदाहरण के लिए, सभी व्यक्तियो हेतु समानता के अधिकार को स्वीकार करते हुए भी पिछडे हुए और दलित वर्गों के विकास के लिए सविधान मे विशेष व्यवस्थाएँ की गयी है, शिक्षा और सस्कृति की स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत अल्पसख्यको के शिक्षा और भाषा सम्बन्धी हितो की रक्षा का प्रबन्ध किया गया है और धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार की व्यवस्था इस दृष्टिकोण से की गयी है कि समाज मे धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहन मिले।

(3) **मौलिक अधिकार सीमित है, निरंकुश नहीं** (Fundamental Rights are Limited, not Absolute)—भारतीय संविधान द्वारा प्रदान किये गये मौलिक अधिकार असीमित नही है वरन् सविधान के द्वारा ही उन पर प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये है। इस सम्बन्ध मे भारतीय सविधान और अमरीकी सविधान मे अन्तर यह है कि अमरीकी सविधान मे मौलिक अधिकारो पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाये गये हैं, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने पुलिस शक्ति (police force) के सिद्धान्त के आधार पर राज्य को सामान्य हित मे मौलिक अधिकारो पर आवश्यक और उचित नियन्त्रण लगाने की शक्ति दे दी है। इस प्रकार अन्तिम रूप मे भारतीय सविधान और अमरीकी सविधान मे कोई अन्तर नही है। भारतीय सविधान द्वारा जो कार्य प्रत्यक्ष रूप से किया गया है अमरीकी सविधान द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से किया गया है।

(4) **प्राकृतिक या अगणित अधिकारो के लिए कोई स्थान नहीं** (No Place for Natural or Unenumerated Rights)—भारतीय सविधान के अन्तर्गत प्राकृतिक या अगणित अधिकारो के लिए कोई स्थान नही है और सविधान केवल उन्ही अधिकारो को स्वीकार करता है जिनका वर्णन सविधान के तीसरे भाग मे किया गया है। इस सम्बन्ध मे अमरीकी संविधान की स्थिति भिन्न है। अमरीकी संविधान के नवम् संशोधन मे उल्लेख है कि **"संविधान मे कुछ अधिकारो को शामिल कर देने का यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि अन्य अधिकार जिन पर सभी का स्वामित्व है, अपेक्षित अथवा अमान्य होगे।"** इसके आधार पर अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने यह शक्ति प्राप्त कर ली है कि सविधान मे वर्णित अधिकारो के अलावा भी मानव जीवन के

लिए आवश्यक समझे जाने वाले अन्य अधिकारों को लागू करा सकता है। भारतीय संविधान मे अगणित अधिकारो के लिए कोई स्थान नही है और सर्वोच्च न्यायालय सविधान मे उल्लिखित अधिकारो के अलावा अन्य अधिकारो को लागू करने की कार्यवाही नही कर सकता।

(5) **मौलिक अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था** (Provision for the Protection of Fundamental Rights)—भारतीय सविधान मे वर्णित मौलिक अधिकार केवल कागजी प्रतिज्ञाएँ मात्र नही हैं। वे पूर्ण वैधानिक अधिकार है और सविधान ने न्यायालयो को आज्ञा दी है कि वे देखे कि नागरिको के मौलिक अधिकारो का हनन न होने पाये। सविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत नागरिक अपने अधिकारो की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालयो की शरण ले सकता है और न्यायपालिका, व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के ऐसे सभी कानूनो और कार्यों को अवैधानिक घोषित कर देगी जो मौलिक अधिकारो को अनुचित रूप से प्रतिबन्धित करते हो। सविधान के द्वारा अधिकारो की रक्षा के लिए जिस प्रकार के उपचारो की व्यवस्था की गयी है, वे पर्याप्त प्रभावशाली और महत्वपूर्ण है।

भारत मे मौलिक अधिकारों की मांग (Demands for Fundamental Rights in India)

मौलिक अधिकारो के विचार का सूत्रपात सन् 1215 मे इगलैण्ड के मेग्ना कार्टा से हुआ। भारत मे मौलिक अधिकारो की घोषणा के लिए सबसे पहले सन् 1895 मे मांग की गयी।[1] भारत मे अग्रेजी राज्य का स्वरूप पूर्णत: स्वेच्छाचारी था। अपनी इस स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति के कारण अग्रेजी सरकार लोगो पर मुकदमा चलाये बिना उन्हे नजरबन्द कर देती थी। सरकार के इन अत्याचारो की प्रतिक्रियास्वरूप स्वाधीनता आन्दोलन के नेताओ ने प्रारम्भ से ही नागरिको के मूल अधिकारो पर जोर देना शुरू कर दिया था। दैहिक स्वतन्त्रता, जीवन रक्षा के अधिकार, आदि कुछ ऐसे अधिकार थे जिन्हे धीरे-धीरे ब्रिटिश ससद ने भारतीय शासन के सन्दर्भ मे मान्यता दी थी।[2]

1915 मे श्रीमती एनी बिसेण्ट द्वारा प्रवर्तित भारतीय सविधान विधेयक या 'होमरूल विधेयक' मे मूल अधिकारो की मांग प्रस्तुत की गयी। 1925 मे 'दि कॉमनवेल्थ ऑफ इण्डिया बिल' मे अधिकारो की भी घोषणा निहित थी। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने 1927 मे 'मद्रास अधिवेशन' मे एक सकल्प पास कर निर्धारित किया कि भारत के भावी सविधान का आधार मूल अधिकारो की घोषणा होनी चाहिए। सकल्प मे इस बात पर जोर दिया गया कि "आम जनता के शोषण को समाप्त करने के लिए राजनीतिक स्वाधीनता मे भूखों मर रहे करोडो लोगो की वास्तविक आर्थिक स्वाधीनता को अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए।" सर्वदल सम्मेलन द्वारा नियुक्त नेहरू समिति (1928) ने जिस भावी सविधान की सस्तुति की थी, उसमे मौलिक अधिकार निहित थे। मार्च 1931 के करांची अधिवेशन मे कांग्रेस ने मूल अधिकारो की मांग को दोहराया। एक सकल्प मे कहा गया कि "स्वाधीन भारत के किसी भी सविधान को मौलिक अधिकारो की गारण्टी देनी चाहिए।" इन अधिकारो मे सगठन बनाने की स्वाधीनता, अभिव्यक्ति और समाचार-पत्र निकालने की स्वाधीनता, स्वतन्त्र व्यवसाय तथा धर्म अपनाने की स्वाधीनता, लिंग के किसी बन्धन के बिना सभी नागरिको के बराबर अधिकार और दायित्व, वैयक्तिक स्वाधीनता, आदि शामिल होनी चाहिए। सन् 1946 मे ब्रिटिश केबिनेट मिशन ने इस बात को स्वीकार किया कि भारत के सविधान मे मौलिक अधिकारो की लिखित गारण्टी देना आवश्यक है। केबिनेट

---

1 डॉ० एस० पी० साठे : जवाहर लाल नेहरू तथा मौलिक अधिकार : 'संसदीय पत्रिका', अप्रैल-जून 1975, पृ० 10।

2 विश्व प्रकाश गुप्त . 'लोकतन्त्र समीक्षा', जनवरी-मार्च 1960, पृ० 140।

मिशन ने अन्य बातो के साथ-साथ मौलिक अधिकारो पर भी रिपोर्ट देने के लिए एक सलाहकार समिति की गठन की सिफारिश की।

संविधान सभा मे मौलिक अधिकार (Fundamental Rights in the Constituent Assembly)

22 जनवरी, 1947 को संविधान सभा ने 'उद्देश्य प्रस्ताव' स्वीकार किया। 'उद्देश्य प्रस्ताव' स्वीकार करने के दो दिन बाद सविधान सभा में अल्पसंख्यको, मौलिक अधिकारो और कबाइली क्षेत्रो के सम्बन्ध मे प्रतिवेदन देने के लिए परामर्म समिति की नियुक्ति की गयी। परामर्श समिति ने 27 फरवरी, 1947 को पांच उपसमितियो की नियुक्ति की जिनमे से एक मूल अधिकारो के सम्बन्ध मे थी। मौलिक अधिकारो सम्बन्धी उपसमिति की 27 फरवरी, 1947 को बैठक हुई और उसने संवैधानिक परामर्शदाता बी० एन० राव के द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रस्तावो पर विचार किया। इन प्रस्तावो पर मौलिक अधिकारो को दो श्रेणियो—वाद सापेक्ष तथा वाद निरपेक्ष मे बाँटा गया था। उपसमिति के अनेक सदस्य बी० एन० राव के प्रस्तावो के विरुद्ध थे किन्तु अन्त मे उन्होंने उनकी योजना स्वीकार कर ली। मौलिक अधिकारो से सम्बन्धित इस उपसमिति के सदस्य थे—जे० बी० कृपलानी, मीनू मसानी, के० टी० शाह, अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर, के० एम० मुन्शी, सरदार हरनामसिंह, मौलाना आजाद, डॉ० अम्बेडकर, हंसा मेहता, सरदार पटेल, के० एम० पन्निकर तथा राजकुमारी अमृतकौर, आदि।

संविधान सभा मे मौलिक अधिकारो के बारे मे खुलकर वाद-विवाद हुआ। जब अनुच्छेद 22 मे एक बन्दी बनाये गये व्यक्ति को कुछ सवैधानिक अधिकार दिये गये और साथ ही निवारक नजरबन्दी की भी व्यवस्था की गयी तो बख्शी टेकचन्द ने इसे निरंकुशता का प्रपत्र कहा। पण्डित ठाकुरदास ने इसे सविधान सभा की एक महान् असफलता घोषित किया। अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर तथा डॉ० अम्बेडकर ने इन प्रावधानो का प्रबल समर्थन किया। धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार भी बहुचर्चित रहा। सविधान मे यह तर्क उपस्थित किया गया कि धार्मिक स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति और धर्मनिरपेक्ष राज्य की धारणा—ये दोनो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ हैं। **एच० वी० कामठ** ने कहा कि "जब मै यह कहता हूँ कि राज्य किसी धर्मविशेष के साथ सम्बन्ध न रखे तो उसका यह अर्थ कदापि नही कि राज्य धर्मरहित या धर्मविरोधी हो जाय।" डॉ० अम्बेडकर ने कहा कि "धर्मनिरपेक्ष राज्य का यह अर्थ नही कि हम लोगो की धार्मिक भावनाओ की ओर ध्यान नही देंगे।"

डॉ० अम्बेडकर ने सविधान के मूल अधिकारो सम्बन्धी भाग को 'सर्वाधिक विवादास्पद एवं आलोचित' भाग कहा था। सविधान सभा ने इसके विचार पर 38 दिन लगाये थे। अन्त मे सविधान सभा ने मूल अधिकारो को सात श्रेणियो मे स्वीकार किया था। जब संविधान सभा ने मूल अधिकारो की व्यवस्था की तो वह **अमरीकी संविधान के 'बिल ऑफ राइट्स', सयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पारित 'मानवीय अधिकारो के सार्वलौकिक घोषणा-पत्र'** (Universal Declaration of Human Rights) **तथा 'फ्रांसीसी मानव अधिकारो की घोषणा' से अवश्य प्रभावित हुई।**

सविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार

(FUNDAMENTAL RIGHTS GRANTED BY THE CONSTITUTION)

भारतीय संविधान द्वारा भारतीय नागरिको को 7 मौलिक अधिकार प्रदान किये गये थे किन्तु 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकार के रूप मे समाप्त कर दिया गया है। अब सम्पत्ति का अधिकार केवल एक कानूनी अधिकार (Legal right) के रूप मे है। इस प्रकार अब भारतीय नागरिको को अग्र 6 अधिकार प्राप्त हैं·

---

1 विश्व प्रकाश गुप्त : **'लोकतन्त्र समीक्षा'**, जनवरी-मार्च, 1960, पृ० 145-50।

(1) समानता का अधिकार, (2) स्वतन्त्रता का अधिकार, (3) शोषण के विरुद्ध अधिकार, (4) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, (5) संस्कृति तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, (6) सवैधानिक उपचारो का अधिकार।

(1) समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14-18) (Right to Equality)

समानता का अधिकार प्रजातन्त्र का आधार-स्तम्भ है, अतः भारतीय संविधान द्वारा सभी व्यक्तियो को कानून के समक्ष समानता, राज्य के अधीन नौकरियो का समान अवसर और सामाजिक समानता प्रदान की गयी है एव समानता की स्थापना के लिए उपाधियो का निषेध किया गया है।

कानून के समक्ष समानता (अनुच्छेद 14) (Equality before the Law)—अनुच्छेद 14 के अनुसार भारत के राज्य-क्षेत्र मे राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता या कानून के समान संरक्षण से वचित नही करेगा। अनुच्छेद के प्रथम भाग के शब्द '**कानून के समक्ष समानता**' ब्रिटिश सामान्य विधि की देन है और इसके द्वारा राज्य पर यह बन्धन लगाया गया है कि वह सभी व्यक्तियो के लिए एक-सा कानून बनायेगा तथा उन्हें एक समान लागू करेगा। सर आइवर जैनिग्ज के अनुसार इसका अर्थ यह है कि "**समान परिस्थितियो मे सभी व्यक्तियो के साथ कानून का व्यवहार एक-सा होना चाहिए।**" '**कानून का समान संरक्षण**', वाक्य अमरीकी सविधान से लिया गया है और इसका तात्पर्य यह है कि अपने अधिकारो की रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से न्यायालय की शरण ले सकता है।

कानून के समक्ष समानता का तात्पर्य यह नही है कि औचित्यपूर्ण आधार पर और कानून द्वारा मान्य किसी भेदभाव की भी व्यवस्था नही की जा सकती है। यदि कानून पर लगाने के सम्बन्ध मे धनी और गरीब मे और सुविधाएँ प्रदान करने मे स्त्रियो और पुरुषो मे भेद करता है तो इसे कानून के समक्ष समानता का उल्लघन नही कहा जा सकता।

धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध (अनुच्छेद 15) (Prohibition of Discrimination on Grounds of Religion, Race, Caste, Sex or Place of Birth)—कानून के समक्ष समानता के साथ-साथ अनुच्छेद 15 मे कहा गया है कि "**राज्य के द्वारा धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान, आदि के आधार पर नागरिकों के प्रति जीवन के किसी क्षेत्र में भेदभाव नहीं किया जायेगा।**" कानून के द्वारा निश्चित किया गया है कि सब नागरिको के साथ दुकानो, होटलो तथा सार्वजनिक स्थानो जैसे, कुओ, तालाबो, स्नानगृहो, सडको, आदि पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नही किया जायेगा।

राज्य के अधीन नौकरियो का समान अवसर (अनुच्छेद 16) (Equality of Opportunity in Matters of Public Employment)—अनुच्छेद 16 के अनुसार, "**सब नागरिकों को सरकारी पद पर नियुक्ति के समान अवसर प्राप्त होंगे और इस सम्बन्ध में केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान या इनमें से किसी के आधार पर सरकारी नौकरी या पद प्रदान करने मे भेदभाव नहीं किया जायेगा।**" इसके अन्तर्गत राज्य को यह अधिकार है कि वह राजकीय सेवाओं के लिए आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित कर दे। ससद कानून द्वारा सघ मे सम्मिलित राज्यो को अधिकार दे सकती है कि वे उस पद के उम्मीदवार के लिए उस राज्य का निवासी होना आवश्यक ठहरा दें। इसी प्रकार सेवाओ मे पिछडे हुए वर्गों के लिए स्थान सुरक्षित रखे जा सकते है।

अस्पृश्यता का निषेध (अनुच्छेद 17) (Abolition of Untouchability)—सामाजिक समानता को और अधिक पूर्णता देने के लिए अस्पृश्यता का निषेध किया गया है। **अनुच्छेद 17 में** कहा गया है कि "**अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी अयोग्यता का लागू करना एक दण्डनीय अपराध होगा।**" हिन्दू समाज से अस्पृश्यता के विष को समाप्त करने के लिए ससद के द्वारा 1955 मे

'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम' (Untouchability Offences Act) पारित किया गया है जो पूरे भारत पर लागू होता है। इस कानून के अनुसार अस्पृश्यता एक दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है।

उपाधियो का निषेध (अनुच्छेद 18) (Abolition of Titles)—ब्रिटिश शासनकाल मे सम्पत्ति, आदि के आधार पर उपाधियाँ प्रदान की जाती थी, जो सामाजिक जीवन मे भेद उत्पन्न करती थी। अतः नवीन सविधान मे इनका निषेध कर दिया गया है। अनुच्छेद 18 मे व्यवस्था की गयी है कि **"सेना अथवा विद्या सम्बन्धी उपाधियो के अलावा राज्य अन्य कोई उपाधियाँ प्रदान नहीं कर सकता।"** इसके साथ ही भारतवर्ष का कोई नागरिक बिना राष्ट्रपति की आज्ञा के विदेशी राज्य से भी कोई उपाधि स्वीकार नही कर सकता।

अनुच्छेद 18 की उपर्युक्त व्यवस्था के बावजूद भारत में 1950 से ही भारत रत्न, पद्म विभूषण, पद्म भूषण और पद्म श्री, आदि उपाधियाँ भारत सरकार द्वारा प्रदान की जाती थी। मार्च 1977 मे जनता पार्टी की सरकार के गठन के बाद महान्यायवादी ने परामर्श दिया कि ये उपाधियाँ अनुच्छेद 18 की धारा 1, 2 और 3 के शब्दो तथा भावना के अनुरूप नही है। अतः जुलाई 1977 मे संसद द्वारा एक विधेयक पारित कर इन उपाधियो को समाप्त कर दिया गया। 1980 में राजनीतिक स्थिति मे पुनः परिवर्तन के साथ ससद के द्वारा एक प्रस्ताव पारित कर पुनः इस प्रकार की उपाधियाँ प्रदान करना आरम्भ कर दिया गया है।

(2) **स्वतन्त्रता का अधिकार** (Right of Freedom) (**अनुच्छेद 19-22**)

भारतीय सविधान का उद्देश्य विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वाधीनता सुनिश्चित करना है, अत संविधान के द्वारा नागरिको को विविध स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गयी हैं। इस सम्बन्ध मे अनुच्छेद 19 सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।[1]

मूल सविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा नागरिको को 7 स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गयी थी और इनमे छठी स्वतन्त्रता 'सम्पत्ति की स्वतन्त्रता' थी। 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा सम्पत्ति के मौलिक अधिकार के साथ-साथ 'सम्पत्ति की स्वतन्त्रता' भी समाप्त कर दी गयी है और अब नागरिको को 6 स्वतन्त्रताएँ ही प्राप्त हैं

विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Speech and Expression)—भारत के सभी नागरिको को विचार करने, भाषण देने और अपने तथा अन्य व्यक्तियो के विचारो के प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त है। प्रेस भी विचारो के प्रचार का एक साधन होने के कारण इसी में प्रेस की स्वतन्त्रता भी शामिल है। मूल संविधान में विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र बहुत व्यापक था और अपमान लेख तथा वचन, न्यायालय अपमान, शिष्टाचार या सदाचार पर आघात और राज्य की सुरक्षा के हित में ही इसे सीमित किया जा सकता था। **रमेश थापर** वनाम **मद्रास राज्य** के विवाद मे सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी व्याख्या मे कहा है कि **"अपराध के लिए उत्तेजित करने और सार्वजनिक व्यवस्था भंग करने के कामो को उपर्युक्त व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकता।"** अत. सविधान के **'प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951'** द्वारा विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को और सीमित कर दिया गया और अब राज्य जिन आधारो पर विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर युक्ति-युक्त प्रतिबन्ध लगा सकता है, वे इस प्रकार हैं—**राज्यों की सुरक्षा, विदेशी राज्यो से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार, न्यायालय अपमान, मानहानि या अपराध के लिए उत्तेजित करना।** 1963 के 16वे संशोधन द्वारा स्वतन्त्रता पर एक और प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। अब यदि कोई

[1] अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त अधिकार केवल 'नागरिको' को ही प्राप्त है, किसी विदेशी को नही।

व्यक्ति भारत से उसके किसी भाग को अलग करवाने का प्रचार करे, तो राज्य के द्वारा उसकी विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है।

सक्षेप मे, अनुच्छेद 19 (2) मे निम्नलिखित आधारो का उल्लेख है जिनके आधार पर नागरिको की वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर निर्बन्धन लगाये जा सकते हैं :

1. राज्य की सुरक्षा;
2 विदेशी राज्यो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो के हित मे,
3. लोक व्यवस्था (Public order),
4. शिष्टाचार या सदाचार के हित मे (Decency or Morality),
5. न्यायालय अपमान (Contempt of Court);
6. मानहानि;
7 अपराध के लिए उत्तेजित करना (Incitement to an offence);
8 भारत की प्रभुता एव अखण्डता।

प्रेस भी विचार और अभिव्यक्ति का ही एक साधन है। आपातकाल मे प्रेस द्वारा संसद और राज्य विधानमण्डलो की कार्यवाहियो के प्रकाशन पर रोक लगा दी गयी थी, अब 44वें सवैधानिक संशोधन द्वारा व्यवस्था की गयी है कि प्रेस ससद तथा राज्य विधानमण्डलो की कार्यवाही के प्रकाशन के सम्बन्ध मे पूर्ण स्वतन्त्र है और राज्य के द्वारा इस सम्बन्ध मे प्रेस पर प्रतिबन्ध नही लगाया जा सकेगा। "बम्बई उच्च न्यायालय की एकल पीठ ने जून, 1988 मे एक ऐतिहासिक निर्णय देते हुए कहा है कि "अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार दूरदर्शन पर भी लागू होता है।" न्यायमूर्ति ने अपने निर्णय मे कहा, "दूरदर्शन पर दिखाये जाने वाले कार्यक्रमो मे यदि बिना किसी कानूनी आधार के कोई काट-छाँट की जाय, तो इस प्रकार की कार्यवाही को अवैध घोषित किया जा सकता है।"[1]

हडताल करने का अधिकार अनुच्छेद 19 (1) (क) के अन्तर्गत कोई मूल अधिकार नही है; अतएव किसी भी व्यक्ति को हड़ताल करने से रोका जा सकता है। प्रदर्शन जब हड़ताल का रूप धारण कर लेता है तो वह विचारो के अभिव्यक्त करने का साधन मात्र नही रह जाता है।

अस्त्र-शस्त्र रहित तथा शान्तिपूर्वक सम्मेलन की स्वतन्त्रता (Freedom to Assemble Peaceably and without Arms)—व्यक्तियो द्वारा अपने विचारो के प्रचार के लिए शान्तिपूर्वक और बिना किन्ही शस्त्रो के सभा या सम्मेलन किया जा सकता है तथा उनके द्वारा जुलूस या प्रदर्शन का आयोजन भी किया जा सकता है। यह स्वतन्त्रता भी असीमित नही है और राज्यो के द्वारा सार्वजनिक सुरक्षा के हित मे इस स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है।

समुदाय और संघ के निर्माण की स्वतन्त्रता (Freedom to form Association and Unions)—सविधान के द्वारा सभी नागरिको को समुदायों और सघ के निर्माण की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है, परन्तु यह स्वतन्त्रता भी उन प्रतिबन्धो के अधीन है, जिन्हे राज्य साधारण जनता के हितो को ध्यान में रखते हुए लगा सकता है। इस स्वतन्त्रता की आड मे व्यक्ति ऐसे समुदायो का निर्माण नही कर सकता जो षड्यन्त्र करें अथवा शान्ति और व्यवस्था को भग करें।

भारत राज्य क्षेत्र मे अबाध भ्रमण की स्वतन्त्रता (Freedom to Move Freely throughout the Territory of India)—भारत के सभी नागरिक बिना किसी प्रतिबन्ध या विशेष अधिकार-पत्र के सम्पूर्ण भारत के क्षेत्र मे घूम सकते है। इस अधिकार पर राज्य सामान्य जनता के हित और अनुसूचित जातियो के हित मे उचित प्रतिबन्ध लगा सकता है।

1 *The Times of India*, 28 June, 1988.

भारत राज्य क्षेत्र में अबाध निवास की स्वतन्त्रता (Freedom to Reside and Settle in any Part of the Territory)—भारत के सभी नागरिक अपनी इच्छानुसार स्थायी या अस्थायी रूप से भारत मे किसी भी स्थान पर बस सकते हैं। भ्रमण और निवास के सम्बन्ध मे सविधान द्वारा की गयी यह व्यवस्था इकहरी नागरिकता के नितान्त अनुरूप है, किन्तु राज्य के द्वारा सामान्य जनता के हित और अनुसूचित जातियो के हित मे इस पर उचित प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

वृत्ति, उपजीविका या कारोबार की स्वतन्त्रता (Freedom to Practice any Profession or to Carry on any Occupation, Trade or Business)—सविधान ने सभी नागरिको को वृत्ति, उपजीविका, व्यापार अथवा व्यवसाय की स्वतन्त्रता प्रदान की है, किन्तु राज्य जनता के हित मे इन स्वतन्त्रताओ पर उचित प्रतिबन्ध लगा सकता है। राज्य किन्ही व्यवसायों को दूर करने के लिए आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित कर सकता है अथवा किसी कारोबार या उद्योग को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से स्वय अपने हाथ मे ले सकता है।

इस प्रकार संविधान द्वारा प्रदान की गयी उपर्युक्त स्वतन्त्रताएँ सीमित नही है और इनमें से प्रत्येक पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये है। सविधान सभा के कुछ सदस्यो द्वारा इन प्रतिबन्धों की आलोचना की गयी थी। प्रो० के० टी० शाह ने कहा था, "**वास्तव मे, 19वें अनुच्छेद द्वारा प्रदान की गयी ये स्वतन्त्रताएँ इतनी सन्देहपूर्ण हो गयी है कि इन स्वतन्त्रताओं की खोज करने के लिए दूरबीन** का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।"[1] सरदार हुक्मसिंह और कुछ अन्य सदस्यो ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये थे।[2] लेकिन विद्वान व्यक्तियो के इन तर्कों के बावजूद असीमित स्वतन्त्रता की बात को स्वीकार नही किया जा सकता है। वास्तव मे, एक सभ्य समाज के अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति को असीमित रूप मे कोई अधिकार या स्वतन्त्रता प्राप्त नही हो सकती है। इन प्रतिबन्धो के होते हुए भी ये स्वतन्त्रताएँ इस दृष्टि से सुरक्षित है कि इन स्वतन्त्रताओ पर केवल युक्तियुक्त प्रतिबन्ध ही लगाये जा सकेंगे और प्रतिबन्ध की युक्तियुक्तता या औचित्य का निर्णय न्यायालय ही करेगा। **चिन्तामणि राय बनाम मध्य प्रदेश** राज्य के विवाद मे न्यायालय ने यह निर्णय किया है कि "**विधानमण्डल द्वारा युक्तियुक्त या उचित प्रतिबन्ध का निर्धारण अन्तिम नहीं होगा, यह अधिकार न्यायालय को प्राप्त होगा।**" भारत का सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय नागरिको की स्वतन्त्रता की रक्षा के प्रति पर्याप्त सजग है और प्रतिबन्धो के औचित्य के आधार पर कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा '**पश्चिमी बंगाल सुरक्षा कानून की धारा 38**' और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा '**पाकिस्तानी शरणार्थी आगमन नियन्त्रण कानून, 1947 की धारा 7**' को अवैध घोषित किया जा चुका है। '**मद्रास राज्य बनाम बी० जी० राव**' तथा '**रसीद अहमद बनाम केन्द्रीय सरकार**' तथा और अन्य भी ऐसे अनेक विवादो के उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमे न्यायालय के द्वारा व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के अनुचित नियन्त्रणो से नागरिक स्वतन्त्रताओ की रक्षा की गयी है।

42वें संवैधानिक सशोधन (1976) द्वारा संसद को अधिकार दिया गया था कि उसके द्वारा राष्ट्र-विरोधी समुदायो और गतिविधियो पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता था। शासक दल के प्रभाव मे संसद के द्वारा इस शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता था। अतः 43वे सवैधानिक संशोधन (1977) द्वारा संसद की इस शक्ति को समाप्त कर दिया गया है।

अपराध की दोषसिद्धि के विषय में संरक्षण (अनुच्छेद 20) (Protection in Respect

---

1 *Constituent Assembly Debates*, p 714

2 *Ibid*, p. 714.

of Conviction for Offences)—अनुच्छेद 20 मे कहा गया है कि "किसी व्यक्ति को समय तक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता जब तक कि उसने अपराध के समय में लागू कानून का उल्लंघन न किया हो।" इसके साथ ही एक अपराध के लिए व्यक्ति को एक ही दण्ड दिया जा सकता है और किसी अपराध मे अभियुक्त व्यक्ति को स्वयं अपने विरुद्ध गवाही के लिए वाध्य नहीं किया जा सकता।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा जीवन की सुरक्षा (अनुच्छेद 21) (Protection of Life and Personal Liberty)—अनुच्छेद 21 मे जीवन के अधिकार को मान्यता प्रदान की गयी है। इसमें कहा गया है कि "**किसी व्यक्ति को उसके प्राण तथा दैविक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता।**"

44वें संवैधानिक सशोधन (1979) द्वारा जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार को और अधिक महत्व प्रदान किया गया है। अब आपातकाल मे भी जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार को समाप्त या सीमित नही किया जा सकता।

वन्दीकरण की अवस्था मे संरक्षण (अनुच्छेद 22) (Protection against Arrest and Detention in Certain Cases)—अनुच्छेद 22 के द्वारा बन्दी बनाये जाने वाले व्यक्ति को कुछ अधिकार प्रदान किये गये है। इसमे कहा गया है कि उसके अपराध के बारे मे अथवा बन्दी बनाने के कारणों को बतलाये बिना किसी व्यक्ति को अधिक समय तक बन्दीगृह मे नही रखा जायेगा। उसे वकील से परामर्श करने और अपने बचाव के लिए प्रबन्ध करने का अधिकार होगा तथा बन्दी बनाये जाने के बाद 24 घण्टे के अन्दर-अन्दर (इसमे बन्दीगृह से न्यायालय तक जाने का समय शामिल नही है) उसे निकटतम न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया जायेगा। अनुच्छेद 22 के द्वारा बन्दी बनाये जाने वाले व्यक्तियो को जो अधिकार प्रदान किये गये है वे दो प्रकार के अपराधियो पर लागू नही होगे। प्रथम, शत्रु देश के निवासियो पर और द्वितीय, **निवारक निरोध अधिनियम (Preventive Detention Act) के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियो पर।**

निवारक निरोध
(PREVENTIVE DETENTION)

अनुच्छेद 22 के खण्ड 4 मे निवारक निरोध की चर्चा की गयी है और यह भारतीय संविधान की सबसे अधिक विवादास्पद धारा है। यद्यपि सविधान मे निवारक निरोध की परिभाषा नही दी गयी है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि **निवारक निरोध का तात्पर्य वास्तव मे किसी प्रकार का अपराध किये जाने से पूर्व और बिना किसी प्रकार की न्यायिक प्रक्रिया के ही नजरबन्दी** है। निवारक निरोध का उद्देश्य व्यक्ति को अपराध के लिए दण्ड देना नहीं, वरन् उसे अपराध करने से रोकना है।

सामान्यकाल और संकटकाल दोनो मे लागू (Preventive Detention Applicable in Peace Time and in War Time)—निवारक निरोध के सम्बन्ध मे विशेष बात यह है कि भारतीय संविधान के अनुसार निवारक निरोध सामान्यकाल तथा सकटकाल दोनो मे लागू होगा। इतिहास मे अन्य किसी भी प्रजातन्त्रात्मक राज्य मे ऐसी व्यवस्था नही पायी जाती है। ब्रिटेन और अमरीका, आदि प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे केवल युद्धकाल मे ही इसका आश्रय लिया जाता रहा है, लेकिन भारतीय संविधान युद्ध और शान्ति—दोनो समयो के लिए निवारक निरोध की व्यवस्था करता है।

निवारक निरोध अधिनियम, 1950 (Preventive Detention Act, 1950)—अनुच्छेद 22 के भाग 4, 5 और 6 के अन्तर्गत निवारक निरोध का जो उल्लेख किया गया है, उसके अन्तर्गत ससद के द्वारा 1950 ई० मे निवारक नजरबन्दी अधिनियम पारित किया गया। समय-

समय पर इस अधिनियम की अवधि बढ़ायी जाती रही है और यह अधिनियम 31 दिसम्बर, 1969 तक चला। इस काल मे विरोधी दलो द्वारा अनेक बार यह आरोप लगाया गया कि शासन के द्वारा इस अधिनियम की व्यवस्था का उपयोग अपने राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए किया जा रहा है। 1969 मे ससद मे काग्रेस को आवश्यक बहुमत प्राप्त न होने के कारण इस अधिनियम की अवधि नही बढ़ायी जा सकी।

आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम, 1971 (Maintenance of Internal Security Act, 1971—MISA)—7 मई, 1971 को राष्ट्रपति ने **'आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अध्यादेश'** जारी किया और जून 1971 में इस अध्यादेश ने कानून का रूप प्राप्त कर लिया। इस कानून को ही बोलचाल मे 'मीसा' के नाम से जाना जाता है। 'मीसा' की व्यवस्था निवारक निरोध अधिनियम से भी कठोर है।

निवारक निरोध अधिनियम के अन्तर्गत नजरबन्दी की अधिकतम अवधि एक वर्ष थी। मीसा के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी कि एक व्यक्ति को परामर्शदाता मण्डल से सलाह प्राप्त किये बिना संकटकाल की अवधि मे अधिक-से-अधिक 21 माह तक नजरबन्द रखा जा सकता था। इस कानून द्वारा किसी भी ऐसे व्यक्ति को नजरबन्द किया जा सकता है जो कि भारत की प्रतिरक्षा, सुरक्षा, समाज के लिए आवश्यक आपूर्ति और सेवाओ की सुरक्षा के विरुद्ध कार्यवाही करता है। 'मीसा' की इस व्यवस्था को 1974, 1975 और 1976 मे राष्ट्रपति द्वारा विविध आदेश जारी कर और अधिक कठोरता प्रदान कर दी गयी।

निवारक निरोध के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति (Present Position about Preventive Detention)

निवारक निरोध कानून की व्यवस्था सविधान सभा मे अत्यधिक विवाद का कारण बनी थी और सविधान लागू किये जाने के बाद भी अनेक पक्षो द्वारा इसकी आलोचना की गयी। 1975 मे घोषित आपातकाल के अन्तर्गत तो निवारक निरोध और 'मीसा' की व्यवस्था का बहुत अधिक दुरुपयोग किया गया था। अतः निवारक निरोध और 'मीसा' के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक था। 1977 मे सत्तारूढ जनता पार्टी द्वारा अपने चुनाव घोषणा-पत्र मे 'मीसा' की व्यवस्था को समाप्त करने का आश्वासन दिया गया था। केन्द्र मे जनता पार्टी की सरकार बनने के बाद जनता पार्टी के एक वर्ग और कुछ विरोधी दलो द्वारा यह माँग की गयी कि शान्तिकाल मे किसी भी रूप मे निवारक निरोध कानून की व्यवस्था नही होनी चाहिए। लेकिन इसके साथ ही इस सम्बन्ध मे यथार्थ स्थिति के आधार पर विचार किया गया। 23 और 24 दिसम्बर, 1978 को दिल्ली मे राज्यो के मुख्यमन्त्रियो का जो सम्मेलन हुआ उसमे सभी मुख्यमन्त्रियो ने विचार व्यक्त किये, **"राज्य सरकारो के द्वारा कानून और व्यवस्था बनाये रखने का कार्य निवारक निरोध कानून के बिना नहीं किया जा सकता।"**[1]

44वें सवैधानिक सशोधन द्वारा ऐसे कुछ प्रबन्ध किये गये जिससे शासक वर्ग द्वारा निवारक निरोध कानून की व्यवस्थाओ का दुरुपयोग न किया जा सके। 1971 मे जारी किया गया 'आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम' (मीसा) 44वे सवैधानिक संशोधन के प्रतिकूल था और इस कारण अप्रैल 1979 मे यह स्वत ही रद्द हो गया।

भारत मे केन्द्र और राज्यो दोनो को ही निवारक निरोध कानून बनाने और लागू करने का अधिकार प्राप्त है। अत. केन्द्र स्तर पर 'मीसा' की व्यवस्था समाप्त हो जाने पर भी अधिकाश राज्यो मे निवारक निरोध की व्यवस्थाएँ लागू रही।

---

[1] Inder Malhotra : Why Preventive Detention—Concensus among Cms
—*The Times of India*, October, 6, 1978.

राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम (National Security Act)—24 सितम्बर, 1983 को सरकार ने 'राष्ट्रीय सुरक्षा अध्यादेश' के नाम से एक और निवारक निरोध अध्यादेश जारी किया, जिसका उद्देश्य साम्प्रदायिक और जातीय बलवो और देश की सुरक्षा के लिए खतरनाक अन्य गतिविधियों के लिए उत्तरदायी व्यक्तियो को निरुद्ध करना है। अध्यादेश अब राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनितम (National Security Act) अधिनियम बन गया है। इसके अधीन निरोध की तिथि मे 10 दिनो के भीतर निरोध के आधार बताये जाने का उपबन्ध है। निरुद्ध व्यक्ति निरोध की विधिमान्यता को न्यायालय मे चुनौती दे सकता है।

1984 मे पजाब मे आतंकवाद से उत्पन्न विशेष स्थिति मे निपटने के लिए 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून' की व्यवस्था को और कठोर बनाया गया। इस प्रसंग मे 5 अप्रैल, 1984 को राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश जारी किया, जो केवल 'पजाब और केन्द्र-शासित क्षेत्र' चण्डीगढ के सम्बन्ध मे था।

इसके अतिरिक्त 22 जून, 1984 को 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (दूसरा संशोधन) अध्यादेश, 1984' जारी किया गया। अध्यादेश मे कहा गया कि यह जम्मू-कश्मीर राज्य के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत मे लागू होगा और इसके आधार पर 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून' की व्यवस्था मे निम्न परिवर्तन करते हुए इसे और कठोर बना दिया गया :

प्रथम, यह सशोधन किया गया कि किसी व्यक्ति को नजरबन्दी के आदेश की अवधि खत्म होने या आदेश रद्द हो जाने अथवा वापस ले लिये जाने के बाद नया आदेश जारी करके उसे नजरबन्द किया जा सकेगा। **द्वितीय**, मुख्य प्रावधान यह किया गया कि नजरबन्दी के हर कारण पर अदालतो को अलग-अलग विचार करके फैसला करना होगा। अभी तक स्थिति यह थी कि नजरबन्दी के अनेक कारणो मे से किसी एक को भी अदालत अवैध पाती थी, तो नजरबन्दी को गैर-कानूनी घोषित करके नजरबन्द को रिहा करने का फैसला देती थी। अब ऐसा नही हो सकेगा।

तृतीय, यह स्पष्ट किया गया है कि एक व्यक्ति के खिलाफ दूसरी बार नजरबन्दी आदेश जारी करने पर सम्पूर्ण नजरबन्दी की कुल अवधि पंजाब और चण्डीगढ के अशान्त प्रदेशो मे दो वर्ष और शेष देश मे एक वर्ष से ज्यादा नही होगी।

आर्थिक क्षेत्र मे 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून' की श्रेणी का एक कानून 'विदेशी मुद्रा संरक्षण व सरकारी निरीक्षक अधिनियम, 1974' (COFEPOSA) 19 दिसम्बर, 1974 से लागू है। 13 जुलाई, 1984 को एक अध्यादेश के आधार पर इस अधिनियम को सशोधित कर तस्करो के लिए नजरबन्दी की सीमा एक वर्ष से बढ़ाकर दो वर्ष कर दी गयी है।

राष्ट्रीय सुरक्षा अध्यादेश और कानून की वैधता को 1981 मे ही सर्वोच्च न्यायालय मे चुनौती दी गयी। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने दिसम्बर, 1981 के निर्णय मे 'राष्ट्रीय सुरक्षा अध्यादेश और कानून' की वैधता को स्वीकार किया है, लेकिन साथ ही आदेश दिया है उपर्युक्त कानून के अधीन नजरबन्द व्यक्तियो के हितो की रक्षा की जानी चाहिए। यह भी नि दिया गया है कि सरकार के द्वारा इस अधिकार का कम-से-कम और अधिक-से-अधिक स के साथ ही प्रयोग किया जाना चाहिए।

फरवरी 1981 मे ससद मे राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम प्रस्तावित करते हुए और जून 1984 मे इस अधिनियम की व्यवस्थाओ को कठोर बनाते हुए तत्कालीन गृहमन्त्री और स द्वारा यह आश्वासन दिया गया कि इस कानून का प्रयोग जमाखोरो, कालाबाजारियो, समा विरोधी और देश की सुरक्षा के लिए खतरनाक तत्वो के विरुद्ध ही किया जायगा। लेकिन यह आशका बनी हुई है और व्यावहारिक राजनीति को देखते हुए यह निराधार भी नही है कि

प्रकार के कानून और उसकी कठोर व्यवस्थाओ का प्रयोग शासक दल द्वारा राजनीतिक उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है।

निवारक निरोध या 'मीसा' की आलोचना (Criticism of Preventive Detention or MISA)

संविधान सभा मे निवारक निरोध सम्वन्धी व्यवस्था की कटु आलोचना की गयी। **पं० ठाकुरदास भार्गव** ने इसे 'असफलताओं का शिरोमणि' वताया और **बख्शी टेकचन्द** ने इसे '**दमन और निरंकुशता का पत्र**' कहा था। न्यायालयो के द्वारा भी निवारक निरोध की व्यवस्था पर गम्भीर आक्षेप किये गये है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश महाजन ने अपने एक निर्णय मे कहा था कि "**निवारक निरोध कानून प्रजातान्त्रिक संविधानो के प्रतिकूल है एवं विश्व के अन्य किसी भी प्रजातान्त्रिक राज्य में वे नहीं पाये जाते है। यह आश्चर्य है कि इसे भारतीय संविधान मे मौलिक अधिकारो के अध्याय में स्थान दिया गया है।**" **न्यायाधीश मुखर्जी** द्वारा भी अपने एक निर्णय में 'निवारक निरोध कानून' की आलोचना की गयी है। 44वे संवैधानिक संशाधन द्वारा निवारक निरोध के दुरुपयोग के विरुद्ध पर्याप्त व्यवस्था की गयी है, लेकिन फिर भी इसकी निम्न आलोचनाएँ की जाती हैं :

(1) दो महीने की नजरवन्दी का समय भी अधिक है। यह अवधि 15 दिन या अधिक-से-अधिक एक माह होनी चाहिए।

(2) वन्दी को निरोध की अवधि मे शारीरिक यातना दी जा सकती है, इससे बचाव का कोई उपाय नही किया गया है।

(3) निरोध की अवधि मे वन्दियो के परिवार के भरण-पोषण की कोई व्यवस्था नही की गयी है।

(4) शान्तिकाल मे निवारक निरोध के उपयोग को रोकने या दलीय हितो के लिए इसका प्रयोग होने से रोकने की व्यवस्था नही है।

निवारक निरोध या 'मीसा' का औचित्य (Justification of Preventive Detention or MISA)

निवारक निरोध की व्यवस्था की इन आलोचनाओ के वावजूद इस वात से इन्कार नही किया जा सकता कि संविधान निर्माण के समय की परिस्थितियो मे और आज की परिस्थितियो मे भी निवारक निरोध की व्यवस्था कुछ सीमा तक आवश्यक और उपयोगी है। सविधान-निर्माता इस तथ्य से परिचित थे कि अपनी विध्वंसकारी करतूतो से देश की स्वतन्त्रता के लिए सकट उत्पन्न करने वाले तत्वो की कमी नही है, अत. इन विध्वसकारी कार्यों पर रोक लगाने के लिए निवारक निरोध की व्यवस्था व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के प्रतिकूल नही है। **गोपालन** वनाम **मद्रास राज्य** के विवाद मे न्यायाधीश **पातंजलि शास्त्री** ने निवारक निरोध की उपयोगिता इन शब्दो मे स्वीकार की थी, "**इस भयावह उपकरण की व्यवस्था जिसका प्रजातान्त्रिक संविधान में कोई स्थान नहीं है, जो मौलिक अधिकार की पवित्रता के प्रतिकूल और संविधान में की गयी प्रतिज्ञाओं के विरुद्ध है, उन समाज-विरोधी तथा विध्वंसकारी तत्वो के विरुद्ध की गयी है, जिससे नवजात प्रजातन्त्र के राष्ट्रीय हित को खतरा है।**"[1]

इस प्रकार **निवारक निरोध की व्यवस्था एक भरी हुई वन्दूक के समान है**, जिसका किसी भी रूप मे प्रयोग किया जा सकता है तथा जो व्यक्ति की रक्षा भी कर सकती है और उसकी हत्या

---

1 "This sinister looking feature so strangely out of a place in a democratic constitution, which invests personal liberty with the sacro-santity of a fundamental right and so incompatible with the promises of the preamble is doubtless designed to prevent an abuse of freedom by anti-national and subversive elements, which might endanger the national welfare of the infant republic"

—Justice Patanjali Shastri in *Gopalan* vs *State of Madras.*

भी । अतः बन्दूकें का प्रयोग बहुत अधिक सावधानी से और विवेकपूर्ण ही किया जाना चाहिए ।

(3) **शोषण के विरुद्ध अधिकार** (Rights against Exploitation) (अनुच्छेद 23 और 24)

अनुच्छेद 23 के द्वारा बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य जबरदस्ती लिया हुआ श्रम निषिद्ध ठहराया गया है, जिसका उल्लघन विधि के अनुसार, दण्डनीय अपराध है । भारत मे सदियो से किसी-न-किसी रूप मे दासता की प्रथा विद्यमान थी, जिसके अनुसार हरिजन, खेतिहर श्रमिको तथा स्त्रियो पर विभिन्न प्रकार के अनाचार किये जाते थे । नवीन सविधान के अन्तर्गत मानवीय शोषण के इन सभी रूपो को कानून के अनुसार दण्डनीय घोषित कर दिया गया है । इस अधिकार का एक महत्वपूर्ण अपवाद है । राज्य सार्वजनिक उद्देश्य से अनिवार्य श्रम की योजना लागू कर सकता है, लेकिन ऐसा करते समय राज्य नागरिको के बीच धर्म, मूलवश, जाति, वर्ण या सामाजिक स्तर के आधार पर कोई भेदभाव नही करेगा ।

बाल श्रम का निषेध—अनुच्छेद 24 मे कहा गया है कि 14 वर्ष से कम आयु वाले किसी बच्चे को कारखानो, खानो या अन्य किसी जोखिम भरे काम पर नियुक्त नही किया जा सकता, लेकिन बच्चो को अन्य प्रकार के कार्यों मे लगाया जा सकता है । भारत के विभिन्न भागो मे शोषण का एक रूप बन्धक मजदूरी के रूप मे प्रचलित था, जिसे समाप्त करने के लिए 1975-76 में कुछ कदम उठाये गये । वस्तुत शोषण के विरुद्ध अधिकार का उद्देश्य एक वास्तविक सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है ।

(4) **धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार** (Right to Freedom of Religion) (अनुच्छेद 25-28)

भारतीय सविधान के अनुच्छेद 25 से 28 तक धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान करते है । इन अनुच्छेदो मे प्रदत्त स्वतन्त्रताओ का उल्लेख बहुत अधिक व्यापक शब्दो मे और धार्मिक अल्पसख्यको की पूर्ण सन्तुष्टि को ध्यान मे रखकर किया गया है ।

अन्तःकरण की स्वतन्त्रता—अनुच्छेद 25 मे कहा गया है कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबन्धो के अधीन रहते हुए सभी व्यक्तियो को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा कोई भी धर्म अगीकार करने, उसका अनुसरण एव प्रचार करने का अधिकार प्राप्त होगा । सिखो द्वारा कृपाण धारण करना और लेकर चलना धार्मिक स्वतन्त्रता का अग माना गया है ।

धार्मिक मामलो का प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता—अनुच्छेद 26 प्रत्येक धर्म के अनुयायियो को निम्न अधिकार प्रदान करता है :

(क) धार्मिक सस्थाओ तथा दान से स्थापित सार्वजनिक सेवा सस्थाओ की स्थापना तथा उनके पोषण का अधिकार ।

(ख) धर्म सम्बन्धी निजी मामलो का स्वय प्रबन्ध करने का अधिकार ।

(ग) चल और अचल सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार ।

(घ) उक्त सम्पत्ति का विधि के अनुसार सचालन करने का अधिकार ।

वस्तुतः अनुच्छेद 26, अनुच्छेद 25 का एक उपसिद्धान्त मात्र है ।

धार्मिक व्यय के लिए निश्चित धन पर कर की अदायगी से छूट—अनुच्छेद 27 मे कहा गया है कि राज्य किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिए बाध्य नही कर सकता है, जिसकी आय किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिए विशेष रूप से निश्चित कर दी गयी हो ।

राजकीय शिक्षण संस्थाओ मे धार्मिक शिक्षा निषिद्ध—भारत राज्य का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष राज्य का है, जिसे धार्मिक क्षेत्र में निष्पक्ष रहना है । अतः अनुच्छेद 28 मे कहा गया है कि

"राजकीय निधि से संचालित किसी भी शिक्षण संस्था में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा प्रदान नही की जायगी। इसके साथ ही राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त या आर्थिक सहायता प्राप्त शिक्षण संस्था मे किसी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य नही किया जा सकेगा।"

किन्तु अन्य अधिकारो की भाँति ही धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार भी प्रतिबन्धरहित नही है। राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता एव स्वास्थ्य, इत्यादि के हित मे इसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। इसी प्रकार आर्थिक, राजनीतिक या अन्य किसी प्रकार के सार्वजनिक हित की दृष्टि से राज्य धार्मिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप कर सकता है। राज्य सामाजिक हित और सुधार सम्बन्धी कार्य भी कर सकता है, चाहे ऐसा करते हुए धार्मिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप ही क्यो न करना पडे।

इस प्रकार सार्वजनिक हित की दृष्टि से उचित प्रतिबन्धो के साथ सविधान के अन्तर्गत सभी व्यक्तियो के लिए धार्मिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गयी है।

(5) **संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार** (Cultural and Educational Rights) (अनुच्छेद 29 और 30)

हमारे संविधान के द्वारा भारत के सभी नागरिको को सस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी स्वतन्त्रता का अधिकार भी प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 29 के अनुसार, "**नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति सुरक्षित रखने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।**" यह भी कर दिया गया है कि किसी राजकीय या राजकीय सहायता से सचालित शिक्षण सस्था मे प्रवेश के सम्बन्ध मे मूलवश, जाति, धर्म और भाषा या इनमे से किसी के आधार पर भेदभाव नही किया जायेगा।

अनुच्छेद 30 के अनुसार धर्म या भाषा पर आधारित सभी *अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी* रुचि की शैक्षणिक संस्थाओ की स्थापना तथा उनके प्रशासन का अधिकार होगा। यह भी व्यवस्था की गयी है कि शिक्षण सस्थाओ को अनुदान देने मे राज्य इस आधार पर भेदभाव नहीं करेगा कि वे धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के अधीन है।

44वें संवैधानिक सशोधन द्वारा सम्पत्ति के मूल अधिकार को समाप्त करने का जो कार्य किया गया है उसके सम्बन्ध मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इससे अल्पसंख्यको के अपनी रुचि की शिक्षण सस्थाओं की स्थापना तथा इन शिक्षण सस्थाओ के प्रशासन के अधिकार पर कोई आघात नही पहुँचेगा।

(6) **संवैधानिक उपचारो का अधिकार** (Right to Constitutional .emedies) (अनुच्छेद 32)

संविधान मे मौलिक अधिकारो के उल्लेख से अधिक महत्वपूर्ण बात उन्हे क्रियान्वित करने की व्यवस्था है, जिसके बिना मौलिक अधिकार अर्थहीन सिद्ध होगे। संविधान-निर्माताओ ने इस उद्देश्य से संवैधानिक उपचारो के अधिकारो को भी सविधान मे स्थान दिया है, जिसका तात्पर्य है कि नागरिक अधिकारो को लागू करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयो की शरण ले सकते है। इन न्यायालयो के द्वारा व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित उन सभी कानूनो और कार्यपालिका के कार्यो को अवैधानिक घोषित कर दिया जायेगा जो अधिकारों के विरुद्ध हो। संवैधानिक उपचारों के अधिकारो की व्यवस्था के महत्व को दृष्टि मे रखते हुए डॉ० अम्बेडकर ने कहा था, "**यदि कोई मुझसे यह पूछे कि संविधान का वह कौन-सा अनुच्छेद है जिसके बिना संविधान शून्यप्राय हो जायेगा**, तो इस अनुच्छेद (अनुच्छेद 32) को छोड़कर मैं और किसी अनुच्छेद को ओर संकेत नहीं कर सकता। यह तो संविधान का हृदय तथा आत्मा है।"[1] भूतपूर्व मुख्य

---

[1] "Article 32 (Rights to Constitutional Remedies) is the heart and soul of the constitution."
—Dr. Ambedkar, *C. A. D.*, Vol. III, No. 23, p. 593.

ायाधीश गजेन्द्र गडकर ने इसे 'भारतीय संविधान का सबसे प्रमुख लक्षण' और सविधान द्वारा
थापित 'प्रजातान्त्रिक भवन की आधारशिला' कहा है।[1]

उच्चतम न्यायालय को मूल अधिकारो के प्रवर्तित कराने के लिए समुचित निर्देश, आदेश
ा रिट जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार. पृच्छा, उत्प्रेषण और
मान प्रकार के रिट सम्मिलित हैं, जारी करने की शक्ति प्राप्त है। यह अनुच्छेद (Ardicle 32)
च्चतम न्यायालय को नागरिको के मूलाधिकारो का सजग प्रहरी बना देता है। न्यायाधीश श्री
ातंजलि शास्त्री ने कहा है कि "उच्चतम न्यायालय मूल अधिकारो के सरक्षण के पवित्र कार्य का
ालन करने वाले सजग प्रहरी के समान है।" संक्षेप में,

सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयो के द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों की
क्षा के लिए निम्न पांच प्रकार के लेख जारी किये जा सकते है :

(अ) बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए यह लेख
सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह उस व्यक्ति की प्रार्थना पर जारी किया जाता है जो यह समझता है
कि उसे अवैध रूप से वन्दी बनाया गया है। इसके द्वारा न्यायालय, बन्दीकरण करने वाले
अधिकारी को आदेश देता कि वह बन्दी बनाये गये व्यक्ति को निश्चित समय और स्थान पर
उपस्थित करे, जिससे न्यायालय बन्दी बनाये जाने के कारणो पर विचार कर सके। दोनों पक्षो
की बात सुनकर न्यायालय इस बात का निर्णय करता है कि नजरबन्दी वैध है या अवैध, और
यदि अवैध होती है तो न्यायालय बन्दी को फौरन मुक्त करने की आज्ञा दे देता है। इस प्रकार
अनुचित एव गैर-कानूनी रूप से बन्दी बनाये गये व्यक्ति बन्दी प्रत्यक्षीकरण के लेख के आधार पर
स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं।

(ब) परमादेश (Mandamus)—परमादेश का लेख उस समय जारी किया जाता है जब
कोई पदाधिकारी अपने सार्वजनिक कर्तव्य का निर्वाह नही करता। इस प्रकार के आज्ञापत्र के
आधार पर पदाधिकारी को उसके कर्तव्य ना पालन करने का आदेश जारी किया जाता है।

(स) प्रतिषेध (Prohibition)—यह आज्ञापत्र सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों
द्वारा निम्न न्यायालयो तथा अर्द्ध-न्यायिक न्यायाधिकरणो को जारी करते हुए आदेश दिया जाता
है कि इस मामले मे अपने यहां कार्यवाही स्थगित कर दें, क्योंकि यह मामला उनके अधिकार-
क्षेत्र के बाहर है।

(द) उत्प्रेषण (Certiorari)—यह आज्ञापत्र अधिकाशत: किसी विवाद को निम्न
न्यायालय से उच्च न्यायालय मे भेजने के लिए जारी किया जाता है जिससे वह अपनी शक्ति से
अधिक अधिकारो का उपयोग न करे या अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हुए न्याय से प्राकृतिक
सिद्धान्तो को भग न करे। इस आज्ञापत्र के आधार पर उच्च न्यायालय निम्न न्यायाधीशो से
किन्ही विवादो के सम्बन्ध मे सूचना प्राप्त कर सकते हैं।

(य) अधिकार-पृच्छा (Quo-warranto)—जब कोई व्यक्ति ऐसे पदाधिकारी के रूप मे
कार्य करने लगता है, जिसके रूप मे कार्य करने का उसे वैधानिक रूप से अधिकार नही है तो
न्यायालय अधिकार-पृच्छा के आदेश द्वारा उस व्यक्ति से पूछता है कि वह किस आधार पर इस
पद पर कार्य कर रहा है और जब तक वह इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नही देता, वह कार्य
नही कर सकता।

व्यक्तियो के द्वारा साधारण परिस्थितियो मे ही न्यायालयों की शरण लेकर अपने मौलिक
अधिकारों की रक्षा की जा सकती है। लेकिन युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह जैसी

1 Gajendra Gadkar : *The Constitution of India—Its Philosophy and Basic Postulates*, pp, 60, and 63.

परिस्थितियो मे, जबकि राष्ट्रपति के द्वारा सकटकाल की घोषणा कर दी गयी हो, मौलिक अधिकारो की रक्षा के लिए कोई व्यक्ति किसी न्यायालय से प्रार्थना नही कर सकेगा । इस प्रकार संविधान के द्वारा सकटकाल मे नागरिको के मौलिक अधिकारो (जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार को छोडकर) को स्थगित करने की व्यवस्था की गयी है ।

'सम्पत्ति का अधिकार'—जो अब मूल अधिकार नहीं रह गया है ('Right to Property'—Which ceases to be a Fundamental Right)

भारतीय नागरिको को वर्तमान समय मे (1979 मे और उसके बाद) सम्पत्ति का अधिकार मूल अधिकारो के रूप मे प्राप्त नही है, लेकिन 44वे सवैधानिक संशोधन (30 अप्रैल, 1979) के पूर्व तक सम्पत्ति का अधिकार मूल अधिकार के रूप मे प्राप्त था । 1950 से लेकर 1978 तक इस अधिकार के सम्बन्ध मे अनेक संवैधानिक सशोधन हुए और यह अधिकार बहुत अधिक विवाद का विषय रहा, अत. आज भी सवैधानिक इतिहास की दृष्टि से इस अधिकार का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है ।

प्रारम्भ मे सविधान मे सम्पत्ति का मूल अधिकार दो स्थानो पर दिया गया था, अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के उपखण्ड (च) मे और अनुच्छेद 31 मे ।

अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) (च) मे प्रत्येक नागरिक को 'सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन' का मूल अधिकार दिया गया था जिस पर राज्य, उसी अनुच्छेद के खण्ड (5) के अनुसार, साधारण जनता के हितो के अथवा किसी अनुसूचित जनजाति के हितो के सरक्षण के लिए युक्तियुक्त निर्वन्धन लगा सकता था । **अनुच्छेद 31 के खण्ड** (1) मे यह उपबन्धित था कि कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वचित नही किया जायगा । उसी अनुच्छेद के खण्ड (2) मे यह उपबन्धित था कि राज्य सम्पत्ति का वैवश्यक अर्जन अथवा अधिग्रहण केवल सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ही करेगा और जिस विधि द्वारा ऐसा अर्जन अथवा अधिग्रहण किया जायगा वह इसके लिए प्रतिकार (compensation) का उपबन्ध करेगा ।

सविधान द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति के इस मूल अधिकार मे सन् 1951 से ही जो विभिन्न संशोधन किये गये वे निम्न प्रकार हैं :

प्रथम संशोधन, 1951—मूल रूप से सविधान मे जो व्यवस्था की गयी, उसके अनुसार ऐसे कानून का निर्माण नही किया जा सकता था, जिसके अन्तर्गत किसी की भी व्यक्तिगत सम्पत्ति बिना उचित मुआवजे के लेने की व्यवस्था हो । पर 1951 के प्रथम सवैधानिक सशोधन द्वारा इसमे परिवर्तन कर यह निश्चित कर दिया है कि जमीदारी और जमीदारी के अन्त से सम्बन्धित विधेयक मुआवजे की व्यवस्था के न होते हुए भी वैध समझे जायेंगे । इसमे यह भी घोषित कर दिया गया है कि यदि राज्य भूमि या अन्य जायदाद सम्बन्धी कोई कानून बनाता है और उससे सम्पत्ति के उपर्युक्त अधिकार का पूर्ण या आशिक खण्डन होता है, तब भी यह कानून मान्य समझा जायेगा । इस प्रकार प्रथम सशोधन, *1951* के अनुसार राज्य बिना मुआवजे के भी व्यक्ति की भूमि ले सकता है ।

चतुर्थ संशोधन, 1955—1951 के प्रथम सशोधन से जमींदारी उन्मूलन के मार्ग मे आने वाली कठिनाइयाँ तो समाप्त हो गयी लेकिन अन्य प्रकार की सम्पत्ति ग्रहण करने के मार्ग मे कठिनाइयाँ वैसी ही बनी रही । अनुच्छेद 31 की व्याख्या करते हुए न्यायपालिका ने निर्णय दिया था कि न केवल क्षतिपूर्ति वरन् पर्याप्त क्षतिपूर्ति की व्यवस्था की जानी चाहिए और क्षतिपूर्ति की पर्याप्तता का प्रश्न न्यायालय द्वारा विचारणीय होगा । ऐसी स्थिति मे आर्थिक सुधार करने के लिए सविधान मे संशोधन करना आवश्यक हो गया । **1955 में संविधान मे चतुर्थ संशोधन** कर निश्चित किया गया कि **"सम्पत्ति ग्रहण करने के बदले में राज्य के द्वारा क्षतिपूर्ति दी जानी**

चाहिए। लेकिन क्षतिपूर्ति की मात्रा विधानमण्डल द्वारा निर्धारित की जायेगी और क्षतिपूर्ति की जांच न्यायपालिका द्वारा नही की जा सकेगी।"

गोलकनाथ विवाद मे सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय और सविधान में 24वाँ संशोधन—संविधान लागू किये जाने के बाद से ही समझा जाता था कि यद्यपि मौलिक अधिकार संविधान की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था है, लेकिन संविधान की अन्य व्यवस्थाओ के समान ही संसद मौलिक अधिकारो मे भी परिवर्तन कर सकती है। 1951 मे **शंकरीप्रसाद बनाम बिहार राज्य** तथा 1966 में संविधान के 17वें संशोधन पर निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा भी इस स्थिति को स्वीकार किया गया था। लेकिन 17 फरवरी, 1967 को सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा **गोलकनाथ** विवाद मे जो निर्णय दिया गया उससे स्थिति परिवर्तित हो गयी। इस बहुमत निर्णय मे सर्वोच्च न्यायालय ने अपने ही पुराने निर्णयो को अस्वीकार करते हुए कहा कि संसद मौलिक अधिकारों मे कोई परिवर्तन नही कर सकती।

उपर्युक्त निर्णय से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि ससद आर्थिक और सामाजिक प्रगति की दशा मे आगे बढने के लिए या सविधान मे दिये गये नीति निर्देशक तत्वो को कार्य रूप मे परिणत करने के लिए कोई कार्य नही कर सकती। अत. सविधान मे इस प्रकार का सशोधन करने के प्रस्ताव पर विचार किया जाने लगा, जिससे गोलकनाथ विवाद मे दिया गया निर्णय रद्द हो सके। इसके अतिरिक्त, मार्च 1971 के लोकसभा चुनावो मे कांग्रेस पार्टी द्वारा **'गरीबी, बेरोजगारी और सामाजिक असमानता'** को समाप्त करने का संकल्प व्यक्त किया गया था। अतः 1971 मे 24वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह निश्चित कर दिया गया कि संसद को सविधान के किसी भी उपबन्ध को (जिसमे मौलिक अधिकार भी आते हैं) संशोधित करने का अधिकार होगा।

25वां संवैधानिक संशोधन, 1971—इसके द्वारा अनुच्छेद 31 को संशोधित कर तथा अनुच्छेद 31 (ग) के बाद कुछ शब्दो को जोड़कर यह व्यवस्था की गयी है कि सम्पत्ति के सार्वजनिक दृष्टि से अर्जन और उसके मुआवजे को राशि की न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी।

29वां संवैधानिक संशोधन, 1972—इस सशोधन द्वारा केरल के भूमि सुधार के दो कानूनो को सविधान की 9वी सूची मे शामिल कर लिया गया और अब इन्हे न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती। इस सवैधानिक सशोधन द्वारा यह निश्चित किया गया कि यदि भूमि के सीमाकरण से व्यक्तिगत जोत की भूमि भी प्रभावित होती है तो राज्य के द्वारा वह भूमि प्राप्त की जा सकती है और व्यवस्थापिका द्वारा इस भूमि के बदले मे ऐसा मुआवजा निश्चित किया जा सकता है, जो भूमि के बाजार मूल्य से कम हो अर्थात् न्यायालय को मुआवजे की धनराशि पर विचार करने का अधिकार नही होगा। **34वां सवैधानिक सशोधन, 1974** और **40वां सवैधानिक सशोधन, 1976** भी इसी आशय के थे।

44वें सविधान सशोधन अधिनियम, 1978 के पूर्व सम्पत्ति के मूल अधिकार के विषय मे सविधान के भाग 3 मे स्थूल रूप से निम्नलिखित चार प्रत्याभूतियाँ विद्यमान थी :

(1) प्रत्येक नागरिक को सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का अधिकार होगा जिस पर राज्य युक्तियुक्त निर्बन्धन लगा सकेगा।

(2) विधि के प्राधिकार के बिना किसी भी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित नही किया जायेगा।

(3) राज्य केवल सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ही व्यक्ति की सम्पत्ति का वैवश्यक अर्जन अथवा अधिग्रहण करने की विधि बना सकेगा।

(4) ऐसी विधि मे सम्पत्ति के मालिक को उसकी सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के बदले

मे एक धनराशि देने का उपवन्ध होगा परन्तु इस धनराशि (money) की पर्याप्तता के विषय मे किसी न्यायालय के समक्ष प्रश्न नही उठाया जा सकेगा ।

सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति

संविधान लागू किये जाने के वाद से ही अनेक पक्षो द्वारा यह सोचा जा रहा था कि भारतीय संविधान द्वारा नागरिको को प्रदान किया गया सम्पत्ति का मूल अधिकार सामाजिक आर्थिक न्याय की प्राप्ति मे वाधक वन रहा है और इस कारण सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रूप मे नही वनाये रखा जाना चाहिए। 1977 मे सत्तारूढ जनता पार्टी द्वारा अपने चुनाव घोषणा-पत्र मे भी कहा गया था कि "**सम्पत्ति का अधिकार एक मूल अधिकार के रूप में नहीं रहेगा वरन् यह केवल एक कानूनी** अधिकार होगा।" अत सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध मे **44वें संवैधानिक संशोधन** (1978) मे निम्न प्रकार से व्यवस्था की गयी है .

सविधान (44वां सशोधन) अधिनियम, 1978 के फलस्वरूप अनुच्छेद 19(1) (च) और अनुच्छेद 31 को अपने सभी उपखण्डो समेत निरसित कर दिया गया है तथा इसके साथ ही संविधान के भाग 12 मे एक नया अध्याय 4 जोड दिया गया है। इस नये अध्याय का शीर्षक है 'सम्पत्ति का अधिकार', और इसमे केवल एक ही अनुच्छेद है, अनुच्छेद 300—क । इस अनुच्छेद मे कहा गया है कि "कोई व्यक्ति विधि के अधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से,वंचित नही किया जायगा ।"

अत. सम्पत्ति के अधिकार के सम्वन्ध गे चार उपवन्धो मे से एक को छोडकर शेष तीन उपवन्ध अव लुप्त हो गये हैं और केवल एक वचा है और वह भी मूल अधिकार के रूप मे नही रहा, केवल एक वैधानिक अधिकार के रूप मे बच रहा है ।

दूसरे शब्दो मे, अव सम्पत्ति को अन्य मूल अधिकारो की भांति सवैधानिक सरक्षण प्राप्त नही है । अव यह एक कानूनी अधिकार है, सवैधानिक अधिकार नही ।

इसका तात्पर्य यह है कि राज्य को वैयक्तिक सम्पत्ति लेने का अधिकार प्राप्त है, किन्तु ऐसा करने के लिए उसे किसी विधि का प्राधिकार प्राप्त होना चाहिए। कार्यपालिका के आदेश द्वारा किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वचित नही किया जा सकता है। राज्य ऐसा केवल अपनी विधायिनी शक्ति के प्रयोग द्वारा ही कर सकता है, कार्यपालिका के आदेश द्वारा नहीं। वजीर चन्द वनाम ए० पी० राज्य के मामले मे जम्मू और कश्मीर की पुलिस के आदेश द्वारा पिटीशनर की सम्पत्ति जब्त कर ली गयी थी। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि विधि के प्राधिकार के विना पिटीशनर की सम्पत्ति जब्त करना अविधिमान्य था।

मौलिक अधिकारों का मूल्यांकन
(EVALUATION OF FUNDAMENTAL RIGHTS)

भारतीय संविधान मे वर्णित मौलिक अधिकारो की प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारो पर आलोचना की जाती है

(1) **सर्वप्रथम,** मौलिक अधिकारो की इस आधार पर आलोचना की गयी है कि इसमे कुछ ऐसी वातो को छोड दिया गया है, जिन्हे मौलिक अधिकार घोषित किया जाना चाहिए था। इस श्रेणी मे काम करने का अधिकार, कुछ परिस्थितियो मे राज्य से सहायता प्राप्त करने का अधिकार और निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, आदि को रखा जा सकता है।

लेकिन उपर्युक्त आलोचना करने वाले व्यक्ति भूल जाते हैं कि किसी भी देश के सविधान द्वारा देश मे विद्यमान साधनो के आधार पर ही अधिकार प्रदान किये जा सकते हैं और भारत राज्य के पास इतने आर्थिक साधन नही हैं कि अब तक भी इन अधिकारो को लागू किया जा सके। इतना होने पर भी भारतीय संविधान के निर्माता इन अधिकारो की ओर से उदासीन नही थे,

मूल सविधान के अन्तर्गत संकटकालीन परिस्थितियो मे मौलिक अधिकारो के स्थगन की जो व्यवस्था की गयी, उसके सम्बन्ध मे यह आशा की गयी थी कि शासन के द्वारा अत्यन्त विशेष परिस्थितियो मे ही कम समय के लिए ही इस शक्ति का प्रयोग किया जायेगा लेकिन जून 1975 मे लागू किये गये और 19 माह तक जारी रहने वाले आपातकाल मे इस शक्ति का निश्चित रूप से दुरुपयोग किया गया और इस दुरुपयोग ने यह आशका उत्पन्न की कि भविष्य मे भी ऐसा किया जा सकता है। अत 44वें सवैधानिक संशोधन के आधार पर ऐसी कुछ व्यवस्थाएँ की गयी हैं जिससे शासन द्वारा अपनी शक्तियो का दुरुपयोग करते हुए नागरिक अधिकार और स्वतन्त्रताओ पर अनावश्यक और अनुचित प्रतिवन्ध न लगाये जा सके।

मौलिक अविकारों के स्थगन की व्यवस्थाएँ कुछ सीमा तक राष्ट्रीय सुरक्षा के हित मे आवश्यक होने पर भी इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि भारतीय सविधान मे राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यकता से अधिक सावधानी बरती गयी है। ऐसी स्थिति मे, **मानवीय स्वतन्त्रता और अधिकारो की रक्षा के लिए स्वयं व्यक्तियो और न्यायालयो द्वारा पर्याप्त सजगता का परिचय दिया जाना चाहिए।**

मूल कर्तव्य
(FUNDAMENTAL DUTIES)

1950 मे लागू किये गये भारतीय सविधान मे नागरिको के केवल अधिकारो का ही उल्लेख किया गया था, मूल कर्तव्यो का नही। लेकिन 1976 मे सविधान का व्यापक सशोधन करते समय यह अनुभव किया गया कि सविधान मे नागरिको के मूल कर्तव्यो का भी उल्लेख किया जाना चाहिए। अत. सविधान के चतुर्थ भाग के बाद भाग 'चतुर्थ अ' जोडा गया, जिसमे मूल कर्तव्यो की व्यवस्था की गयी है। ये 10 मूल कर्तव्य निम्नवत् है :

(1) भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा कि वह सविधान का पालन करे और उसमे आदर्शों, सस्थाओ, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।

(2) स्वतन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय मे सँजोये रखे और उनका पालन करे।

(3) भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे बनाये रखे।

(4) देश की रक्षा करे और आह्वान किये जाने पर राष्ट्र की सेवा करे।

(5) भारत के सभी लोगो मे समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का विकास करे, जो धर्म, भाषा, प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो और ऐसी प्रथाओ का त्याग करे जो स्त्रियो के सम्मान के विरुद्ध है।

(6) हमारी समन्वित सस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और उसका संरक्षण करे।

(7) प्राकृतिक पर्यावरण की जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और अन्य जीव भी है, रक्षा करे और उनका सवर्धन करे तथा प्राणीमात्र के प्रति दया भाव रखे।

(8) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।

(9) सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे व हिंसा से दूर रहे।

(10) व्यक्तिगत और सामूहित गतिविधियों से सभी क्षेत्रो मे उत्कर्ष की ओर बढने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरन्तर बढते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नवीन ऊँचाइयो को छू सके।

जापान, इटली, सोवियत सघ, चीन और अन्य अनेक यूरोपियन देशो के संविधान में

अधिकारो के साथ-साथ कर्तव्यो का भी उल्लेख है और अब भारत मे भी नागरिक कर्तव्यों के उल्लेख से यह आशा की गयी है कि भारतीय नागरिको को अपने कर्तव्यो का अधिक स्पष्ट रूप मे बोध होगा और वे अधिक अच्छे रूप मे इनका पालन कर सकेंगे।

कर्तव्यों का मूल्यांकन (An Evaluation of the Duties)—इसमे कोई सन्देह नही कि समाज मे हमे जो अधिकार मिलते है उनके बदले हमे कुछ ऋण भी चुकाने पडते हैं। ये ऋण ही हमारे कर्तव्य है। प्रो० लास्की के शब्दो मे, "किसी भी व्यक्ति को असामाजिक कृत्य करने का अधिकार नही दिया जा सकता। जब तक कि मैं बदले मे समाज को कुछ न दूं तब तक मुझे समाज से कोई भी सुख-सुविधा हासिल करने का अधिकार नही है।" हर नागरिक का यह दायित्व है कि वह सविधान और कानूनो का पालन करे, देश की सुरक्षा के लिए कटिबद्ध रहे तथा सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान न पहुँचाये। इस दृष्टि से यदि कर्तव्यो को लें तो वे निर्विवाद माने जायेंगे। परन्तु जिस रूप मे कर्तव्य हमारे संविधान मे रखे गये हैं, उनसे विद्वान लेखक सन्तुष्ट नही हैं। सविधान के इस भाग की निम्नलिखित आधारो पर आलोचना की गयी है :

(1) **कुछ कर्तव्य सर्वथा अस्पष्ट हैं** (Some of the duties have not been clearly worded)—आलोचको का कहना है कि सविधान मे ऐसे शब्दो का प्रयोग करना चाहिए जिनका अर्थ एकदम स्पष्ट हो। परन्तु 'कर्तव्यो' वाले भाग मे कुछ ऐसे शब्दो का इस्तेमाल किया गया है जिनका मनमाना अर्थ लगाया जा सकता है। 'मिली-जुली सस्कृति' (Composite culture), 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' (Scientific temper), 'अन्वेषण और सुधार की भावना' (Spirit of enquiry and reform) तथा 'मानववाद' (Humanism), आदि ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ सर्वथा अस्पष्ट है।

(2) **कुछ कर्तव्यों को मात्र दोहराया गया है** (Duties are Repetitive)—कई ऐसे कर्तव्य हैं जिन्हे मात्र दोहराया गया है। उदाहरण के लिए, तीसरा कर्तव्य कहता है कि नागरिक को भारत की सम्प्रभुत्ता की रक्षा करनी चाहिए, लगभग वही बात चौथे कर्तव्य के अन्तर्गत इन शब्दो मे रखी गयी है कि नागरिको को देश की रक्षा करनी चाहिए। छठे कर्तव्य के अन्तर्गत जिस 'मिली-जुली सस्कृति' की बात कही गयी, लगभग वही बात पांचवें कर्तव्य मे भी आ जाती है।

(3) **कर्तव्यो को लागू करने के लिए दण्डात्मक व्यवस्था का अभाव** (No coercive machinery for the enforcement of Duties)—स्वर्णसिंह समिति ने यह सुझाव दिया था कि मौलिक कर्तव्यो की अवहेलना करने वालो को दण्ड दिया जाये और उसके लिए ससद उचित कानूनो का निर्माण करे। परन्तु अभी तक ऐसा कुछ नही किया गया है। वास्तव मे कर्तव्यो के वर्तमान रूप को देखते हुए दण्ड की व्यवस्था की ही नही जा सकती।

मौलिक अधिकार, संसद और सर्वोच्च न्यायालय (Fundamental Rights, Parliament and Supreme Court)

मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध मे संसद तथा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपनायी गयी स्थिति भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का एक बहुत अधिक विवादपूर्ण प्रश्न बन गयी है।

संविधान लागू किये जाने के बाद से ही समझा जाता था कि यद्यपि मौलिक अधिकार सविधान की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था है लेकिन संविधान की अन्य व्यवस्थाओ के समान ही ससद मौलिक अधिकारो मे भी परिवर्तन कर सकती है। 1951 ई० मे शंकरीप्रसाद बनाम बिहार राज्य तथा 1965 मे सविधान के 17वे संशोधन पर निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा भी इस स्थिति को स्वीकार किया गया था। लेकिन 27 फरवरी, 1967 को सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा 'गोलकनाथ विवाद' मे जो निर्णय किया गया, उससे स्थिति परिवर्तित हो गयी। इस निर्णय मे सर्वोच्च न्यायालय ने अपने ही पुराने निर्णय को अस्वीकार करते हुए कहा कि संसद मौलिक

अधिकारो में परिवर्तन नही कर सकती। अपने ऐतिहासिक निर्णय मे, जिनके पक्ष में 6 और विपक्ष मे 5 न्यायाधीश थे, मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव ने कहा, **"मुझे यह मानने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं कि संविधान के द्वारा जो मौलिक अधिकार दिये गये हैं, वे सर्वोपरि हैं तथा राष्ट्रीय हित में विचारे गये हैं तथा बनाये गये हैं। इसलिए उनका परित्याग नहीं किया जा सकता……अतः हम लोग घोषित करते हैं कि इस निर्णय के बाद संसद को संविधान के भाग 3 के किसी उपबन्ध को इस तरह संशोधित करने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा, जिनसे मौलिक अधिकार छिन जायें या सीमित हो जायें।"** अपनी बात पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि **"मौलिक स्वतन्त्रताओ की महत्ता इतनी सर्वोपरि है कि दोनों सदनों के समस्त सदस्यों द्वारा सर्वसम्मति से पारित विधेयक भी इनके प्रयोग को अप्रभावी नहीं बना सकता है।"**

सर्वोच्च न्यायालय ने अपने इस निर्णय के आधार पर **प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवें संशोधन** को अवैध कर दिया होता, लेकिन इस सम्बन्ध मे न्यायाधीशों द्वारा व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया गया और उनके द्वारा अपने निर्णय की **'पूर्वव्यापी मान्यता'** (Doctrine of Retroactivity) देने से इन्कार कर दिया गया।

गोलकनाथ विवाद मे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये इस निर्णय की देश मे व्यापक प्रतिक्रिया हुई। राजनीतिज्ञो और विद्वत वर्ग के एक बहुत बड़े समूह द्वारा कहा गया है कि इस निर्णय के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय देश की सवैधानिक व्यवस्था मे वह स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, जो स्थिति न तो संविधान-निर्माता उसे देना चाहते थे और न ही औचित्यपूर्ण है। भारतीय प्रजातन्त्र मे देश की जनता के हितो का सर्वोच्च प्रतिनिधित्व भारतीय ससद के द्वारा ही किया जा सकता है और संसद ही इस बात के सम्बन्ध मे निर्णय कर सकती है कि देश की जनता को किस सीमा तक मौलिक अधिकार एवं स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होनी चाहिए। "गोलकनाथ विवाद मे सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा दिया गया निर्णय तो निर्वाचन के समय जनता द्वारा लिये गये प्रजातान्त्रिक निर्णय में अविश्वास प्रकट करता है और इस दृष्टि से प्रजातन्त्र की आधारभूत धारणा के नितान्त विरुद्ध है।" वास्तव मे, यह तो एक "राजनीतिक निर्णय था, जिसने न्यायपालिका और संसद के बीच एक अत्यन्त अप्रिय और विवादपूर्ण स्थिति को जन्म दिया।" भूतपूर्व महान्यायवादी **एम० सी० सीतलवाड** ने इस निर्णय पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि **"गोलकनाथ मामले में बहुमत निर्णय संवैधानिक दृष्टिकोण से उचित प्रतीत नहीं होता है।"**[1] विख्यात विधिवेत्ता **पी० के० त्रिपाठी** के अनुसार, **"यह तो जनता की सरकार के स्थान पर न्यायपालिका की सरकार स्थापित करने का एक प्रयत्न था।"**[2]

इसके अतिरिक्त बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप आर्थिक और सामाजिक प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने के लिए मौलिक अधिकारो मे परिवर्तन करने की आवश्यकता उत्पन्न हो सकती है और यदि ऐसी स्थिति मे मौलिक अधिकारो को सशोधित नही किया जाता है तो यह बात भारतीय प्रजातन्त्र और स्वय मौलिक अधिकारो के लिए भी अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकती है। एक अन्य विचारणीय बात यह है कि सविधान के भाग 4 में नीति निर्देशक तत्वो का उल्लेख है और यदि ससद को मौलिक अधिकारो मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन की शक्ति नही दी जाती है, तो ससद निर्देशक तत्वो को, जो सविधान-निर्माताओ द्वारा निर्धारित राज्य के लक्ष्य है, कार्यरूप मे परिणित नही कर सकती है। अत. सविधान मे इस प्रकार के सशोधन करने के प्रस्ताव पर

---

[1] M. C Setalvad's note in Forum on Right to Property in *The Indian Pol. Sc. Review*, Delhi, Vol V, No 2, pp. 201-202.

[2] *Ibid.*, pp. 167-68.

विचार किया जाने लगा, जिससे गोलकनाथ विवाद में दिया गया निर्णय रद्द हो सके। स्वर्गीय संसद सदस्य नाथपाई द्वारा इस आशय का विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया गया, लेकिन तत्काल ही इस पर विचार नहीं हो सका। इसके बाद मार्च 1971 के लोकसभा के चुनावों में राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा 'गरीबी, बेरोजगारी और सामाजिक असमानता को समाप्त करने' का संकल्प व्यक्त किया गया था अतः 28 जुलाई, 1971 ई० को 24वां संशोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया गया। लोकसभा और राज्यसभा द्वारा भारी बहुमत में पारित कर दिये जाने के बाद इसे राज्यों के विधान-मण्डलों द्वारा भी पारित किया गया और 1971 में ही इसने कानून का रूप ग्रहण कर लिया। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा यह निश्चित कर दिया गया है कि संसद को संविधान के किसी भी उपबन्ध को जिसमें मौलिक अधिकार भी आते हैं, संशोधित करने का अधिकार होगा।

इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं कि संविधान में किया गया 24वां संशोधन नितान्त आवश्यक था। इसके बाद मौलिक अधिकारों को सीमित करने के लिए संविधान में 25वां और 29वां संशोधन किया गया। यदि 24वां संशोधन न किया गया होता, तो संविधान का 25वां और 29वां संशोधन सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिया जाता।

संवैधानिक संशोधनों को चुनौती और सर्वोच्च न्यायालय का ऐतिहासिक निर्णय

1971 और 1972 के वर्ष में संविधान में जो 24वें, 25वें, 26 और 29वें संशोधन किये गये, उन्हें सितम्बर, 1972 में सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी। प्रधान न्यायाधीश श्री सीकरी की अध्यक्षता में 14 न्यायाधीशों की पूर्ण पीठ द्वारा चुनौती याचिका (केशवानन्द भारती केस) पर विचार किया गया।

लगभग 6 महीने की, अब तक की सबसे लम्बी सुनवाई के बाद 23 अप्रैल, 1973 को सर्वोच्च न्यायालय ने अपना ऐतिहासिक निर्णय दिया। इस निर्णय में 1967 का गोलकनाथ बनाम पंजाब सरकार सम्बन्धी निर्णय रद्द कर दिया गया और 13 में से 7 न्यायाधीशों ने संसद को यह अधिकार दिया कि वह मूल अधिकारों में कमी, कटौती या उन्हें पूर्णतया समाप्त भी कर सकती है, लेकिन इसमें उन्होंने अपना यह अधिकार सुरक्षित रखा कि वे संशोधनों की छानबीन करके यह निर्णय कर सकें कि वे संविधान के मूल स्वरूप और भावना के विपरीत तो नहीं हैं। जिन 6 अन्य न्यायमूर्तियों ने इससे पूर्ण सहमति नहीं प्रकट की, उन्होंने भी यह अधिकार दिया है कि मूल अधिकारों में संशोधन किया जा सकता है। बहुमत निर्णय और अल्पमत निर्णय में अन्तर आमतौर पर इस बात पर है कि मौलिक अधिकारों को संशोधित करने के संसद के अधिकार की सीमा क्या है। बहुमत के 7 न्यायमूर्तियों ने संसद को पूर्ण अधिकार दिया है और केवल इतना प्रतिबन्ध लगाया है कि जो भी संशोधन हो, वे संविधान की मूल मान्यताओं, व्यवस्थाओं और भावनाओं के विपरीत न हों। इसका तात्पर्य यह है कि उन्होंने मूल अधिकारों में व्यापक कटौती तक के लिए संसद को अधिकार दिया है। इसके विपरीत, अल्पमत वाले 6 न्यायमूर्तियों ने कहा है, **"संशोधन के अधिकार का इस प्रकार प्रयोग नहीं किया जा सकता कि जिससे मूल अधिकार खत्म हो या उनमें व्यापक कटौती हो।"**

13 न्यायमूर्तियों ने अलग-अलग 11 निर्णय दिये हैं और इन निर्णयों के कुल लगभग 1,700 पृष्ठ हैं। अधिकांश समर्थित निर्णयों के प्रमुख मुद्दे ये हैं : (1) **गोलकनाथ विवाद में दिया गया निर्णय रद्द हो चुका है।** (2) **संविधान के अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संसद को यह अधिकार नहीं है कि वह संविधान के मूल स्वरूप या उसकी आधारभूत धाराओं को बदल सके।** (3) **24वां संशोधन, 1971 वैध है।** (4) **25वें संविधान संशोधन, 1971 की धाराएं 2 (अ)**

और (ब) वैध हैं। (5) 25वें संशोधन की धारा 3 का प्रथम खण्ड वैध है, लेकिन इसका दूसरा खण्ड अर्थात् संविधान की धारा 31 (स) अवैध है। 31 (स) के अनुसार कोई भी ऐसा कानून जिसके अन्तर्गत यह निर्णय किया गया है कि वह निर्देशक तत्वों को लागू करने के लिए बनाया गया है, को किसी भी न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती है। (6) 29वाँ सविधान सशोधन वैध है। (7) इस निर्णय मे यह कहा गया है कि संविधान की धारा 31(2) के अन्तर्गत प्रयुक्त शब्द 'राशि' का अर्थ यह नही है कि मुआवजा मनमाना निश्चित हो या उसका सम्पत्ति के मूल्य से कोई उचित सम्बन्ध न हो।

इस निर्णय मे सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात को स्वीकार किया कि सर्वोच्च न्यायालय की तुलना मे संसद की सत्ता उच्च है, लेकिन ससद के द्वारा भी अपने सभी कार्य सविधान द्वारा निर्धारित मोटी सीमाओ के अन्तर्गत रहते हुए ही किये जा सकते है। इस प्रकार सविधान के सशोधनो पर विचार करने का न्यायपालिका का अधिकार सुरक्षित रखा गया।

42वां संवैधानिक संशोधन और 1980 का न्यायिक निर्णय—तत्कालीन शासन के द्वारा 'केशवानन्द भारती' विवाद के सम्बन्ध मे 1973 मे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय को पसन्द नही किया गया था। **प्रथम**, इस निर्णय मे 25वें सवैधानिक सशोधन की धारा 3 के दूसरे खण्ड अर्थात् सविधान की धारा 31 (स) को अवैध कर दिया गया था और **द्वितीय**, इस निर्णय मे सविधान के मूल ढांचे की धारणा का प्रतिपादन करते हुए सवैधानिक सशोधन पर विचार और निर्णय का न्यायपालिका का अधिकार सुरक्षित रखा गया था। अत: 1975 मे घोषित आपातकाल मे शासन द्वारा उपर्युक्त स्थिति को समाप्त करने का निश्चय किया गया।

42वें सवैधानिक संशोधन (1976) के आधार पर यह निश्चित किया गया कि ससद की सविधान मे सशोधन करने की शक्ति की कोई सीमा नही है और किसी भी सवैधानिक सशोधन को इसके अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकेगी कि इसमे अनुच्छेद 368 द्वारा बतलायी गयी प्रक्रिया को नही अपनाया गया है। इनके साथ ही निर्देशक तत्वो को मौलिक अधिकारो पर वरीयता की स्थिति प्रदान की गयी और यह व्यवस्था की गयी कि सविधान के निर्देशक तत्वो की क्रियान्विति के लिए बनाये गये किसी भी कानून को इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकती कि ये कानून सविधान में दिये गये किसी अधिकार को सीमित या समाप्त करते है।

42वें संवैधानिक सशोधन को 1979 मे सर्वोच्च न्यायालय मे चुनौती दी गयी। इस सम्बन्ध मे प्रस्तुत याचिका की पैरवी करते हुए प्रसिद्ध विधिवेत्ता एन० ए० पालखीवाला ने कहा कि "42वे सवैधानिक संशोधन द्वारा सविधान के बुनियादी ढांचे को नष्ट कर दिया गया है, अतः इसे अवैध घोषित किया जाना चाहिए।"

सुनवाई के बाद 9 मई, 1980 को सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय[1] मे 42वे सविधान सशोधन की वैधता को स्वीकार किया। उनके अनुसार, "इससे संविधान के बुनियादी ढांचे अथवा उसके आवश्यक तत्वो को किसी प्रकार से कोई क्षति नही पहुंचती, अतः अवैध घोषित नही किया जा सकता।"

लेकिन पाँच-सदस्यीय सविधान पीठ ने (31 जुलाई, 1980 को मिनर्वा मिल केस मे) अपने बहुमत निर्णय (4-1) मे 42वें सवैधानिक संशोधन के दो प्रावधानो, खण्ड (Section) 4 और खण्ड 55; को अवैध घोषित कर दिया, क्योकि इनसे संविधान के मूल ढांचे को आघात पहुँचता है और ये केशवानन्द भारती विवाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय का

---

[1] *The Indian Experss*, 10 May, 1980.

उल्लघन करते हैं। 42वें संवैधानिक मंशोधन के जिन खण्डो को अवैध घोषित किया गया ये इस प्रकार है :

खण्ड 4 मे व्यवस्था थी कि निर्देशक तत्वो को लागू करने के लिए संसद जिन किन्हीं कानूनो का निर्माण करे, उन्हें इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि ये कानून सविधान मे दिये गये किसी आधार को सीमित या समाप्त करते हो।

खण्ड 55 मे व्यवस्था थी कि "संसद द्वारा सविधान मे किये गये किसी भी संशोधन को (जिसमे सविधान का भाग 3 भी शामिल है) इसके अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर न्यायालय मे चुनौती दी जा सकेगी कि इसमें अनुच्छेद 368 द्वारा बतलायी गयी प्रक्रिया को नही अपनाया गया है।[2]

इस प्रकार ससद की कानून निर्माण की शक्ति को सीमित कर दिया गया है और संसद द्वारा निर्मित कानूनो तथा सवैधानिक सशोधनो की न्यायपालिका द्वारा जांच की जा सकेगी। इस बात पर पुन बहस छिड गयी है कि किसी प्रश्न की सवैधानिकता अथवा असवैधानिकता के प्रश्न पर अन्तिम निर्णय की शक्ति ससद को प्राप्त होनी चाहिए या सर्वोच्च न्यायालय को।

---

1 The Question of primary of the Directives over the Fundamental Rights has aroused a good deal of controversy, partly as a result of the Supereme Court judgements, and the Congress (I) government's repeatedly affirmed policy of giving priority to the Directive Principles In the *Minerva Mills Case Judgement* (July 31, 1980) the Supreme Court struck down two vital clauses of the 42nd Constitutional Amendment. The court held by a majority decision that Parliament cannot alter the basic structure of the constitution and that the Fundamental Right will have precedence over the Directive Principles of the Constitution The Superme Court had also ruled earlier in the famous Kesavananda Bharti Case in 1973 that although by *Article* 368, Parliament has been given the power to amend the constitution that power cannot be exercised so as to alter the basic structure **of the constitution.**

14

भारतीय संविधान का दर्शन : राज्य-नीति के निर्देशक तत्व

[THE PHILOSOPHY OF THE CONSTITUTION : DIRECTIVE PRINCIPLES OF STATE POLICY]

राज्य-नीति के निर्देशक तत्व हमारे संविधान की संजीवनी व्यवस्थाएँ हैं। इन सिद्धान्तों मे हमारे संविधान का और उसके सामाजिक न्याय दर्शन का वास्तविक तत्व निहित है। ये तत्व हमारे सविधान की प्रतिज्ञाओ और आकाक्षाओ को वाणी प्रदान करते हैं। सविधान निर्देशक सिद्धान्तो का मार्ग प्रशस्त करता है और निर्देशक सिद्धान्त एवं उनका क्रियान्वयन संविधान को सामाजिक शक्ति से अभिसिंचित करते है। निर्देशक सिद्धान्तो का प्रयोजन शान्तिपूर्ण तरीको से सामाजिक क्रान्ति का पथ-प्रशस्त कर कुछ सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यो को तत्काल सिद्ध करना है। इस प्रकार की सामाजिक क्रान्ति के माध्यम से संविधान सामान्य व्यक्ति की बुनियादी आवश्यकताओ की पूर्ति करना और हमारे समाज की सरचना मे परिवर्तन करना चाहता है। सविधान के भाग चतुर्थ, जिसमे राज्य-नीति के निर्देशक तत्वो का विवेचन किया गया है, उद्देश्य उस सामाजिक और आर्थिक-क्रान्ति को मूर्त रूप प्रदान करना है, जिसे स्वाधीनता के पश्चात् पूरा करना बाकी रह गया था।

निर्देशक तत्वो का अर्थ और उद्देश्य (Meaning and Objectives of Directive Principles)

संविधान के चतुर्थ भाग मे अनुच्छेद 36 से 51 तक निर्देशक तत्वो का उल्लेख किया गया है। राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्त देश की विभिन्न सरकारों और सरकारी अभिकरणो के नाम जारी किये गये निर्देश है, जो देश की शासन-व्यवस्था के मौलिक तत्व है। दूसरे शब्दो मे, निर्देशक सिद्धान्त कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को दिये गये ऐसे निर्देश है जिनके अनुसार उन्हे अपने अधिकारो का प्रयोग इस प्रकार करना होता है कि इन सिद्धान्तो का पूरा और उचित रूप से पालन हो। ये सिद्धान्त ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की घोषणाएँ हैं।[1] ये सिद्धान्त पथ-प्रदर्शन तथा ऊँची-ऊँची आकांक्षाओ के घोषणा-पत्र हैं।[2] **डॉ० राजेन्द्र प्रसाद** के अनुसार, "राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का उद्देश्य जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करने वाली सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना है।"[3] इन निर्देशक तत्वो की प्रकृति के सम्बन्ध मे संविधान के अनुच्छेद 37 में स्पष्ट रूप

---

1 "They are parade of high sounding sentiments."

2 **संविधान सभा वाद-विवाद, खण्ड V, पृ० 316।**

3 "Theory are Manifesto of aims and aspirations."

मे कहा गया है कि "इस भाग (4) मे दिये गये उपबन्धो को किसी भी न्यायालय द्वारा बाध्यता नही दी जा सकेगी, किन्तु तो भी इसमें दिये हुए तत्व देश के शासन मे मूलभूत है और विधि निर्माण मे इन तत्वो का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।"[1] संविधान की प्रस्तावना मे जिन उद्देश्यो को प्रकट किया गया है उन्हे व्यावहारिक रूप देने के लिए राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तो को स्थान दिया गया है। जिस प्रकार 1935 के भारत सरकार अधिनियम मे गवर्नर जनरल तथा गवर्नरो के लिए अनुदेश-पत्र जारी किये गये थे, उसी तरह नये संविधान मे निर्देशक सिद्धान्त हमारे शासनकर्ताओ के लिए हिदायतें या अनुदेश है। ये सिद्धान्त कार्यपालिका तथा विधानमण्डल के लिए निर्देशन है कि उन्हे किस तरह शासन संचालन करना है। **डॉ० अम्बेडकर** के अनुसार, "राज्य के नीति के निर्देशक सिद्धान्त सन् 1935 के अधिनियम मे जारी किये गये अनुदेश-पत्रो, के समान ही हैं। बस अन्तर केवल यही है कि अधिनियम मे गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरो को निर्देशन दिये गये थे जबकि इस संविधान मे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को निर्देश दिये गये है।"[2] **सर आइवर जैनिंग्स** के अनुसार, "भारतीय संविधान का यह भाग फेबियन समाजवाद की ही स्थापना करता है, जबकि 'समाजवाद' शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है।"[3] **प्रो० पायली** के अनुसार, "निर्देशक तत्व भारतीय प्रशासको के आचरण के सिद्धान्त हैं।"[4] **जी० एन० जोशी** के शब्दो मे, "इन निर्देशक तत्वो का विधानमण्डलो को कानून बनाते समय और कार्यपालिका को इन तत्वो को लागू करते समय ध्यान रखना चाहिए। ये उस नीति की ओर संकेत करते हैं जिसका अनुसरण संघ और राज्यो को करना चाहिए।" न्यायाधीश **केनिया** के अनुसार, "निर्देशक तत्वो मे राष्ट्र की बुद्धिमत्तापूर्ण स्वीकृति बोल रही है, जो संविधान सभा के माध्यम से अभिव्यक्त हुई थी।" संक्षेप मे, ये सिद्धान्त शासन की नीतियो को निर्दिष्ट करने के लिए विधान मे निहित किये गये है। **डॉ० पायली** ने इसे "आधुनिक संवैधानिक प्रशासन की एक नवीन विशेषता बतलाया है, जिसकी प्रेरणा हमे आयरिश संविधान से ही मिली है। ये सिद्धान्त प्रजातन्त्रात्मक भारत का शिलान्यास करते है। जब भारत सरकार इन्हे कार्यरूप मे परिणत कर सकेगी तो भारत एक सच्चा लोककल्याणकारी राज्य कहला सकेगा।"[5]

निर्देशक सिद्धान्तो को संविधान का अंग बनाने मे संविधान-निर्माताओ का उद्देश्य क्या था ? इन आधारभूत सिद्धान्तो का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य स्थापित करना है। सामूहिक रूप से ये सिद्धान्त भारत मे आर्थिक एवं सामाजिक लोकतन्त्र की रचना करते हैं। निर्देशक सिद्धान्त का वास्तविक महत्व इस बात का है कि ये नागरिको के प्रति राज्य के दायित्व के द्योतक है। संविधान की प्रस्तावना मे जिन आदर्शो की प्राप्ति की इच्छा प्रकट की गयी है, ये उन आदर्शो की ओर बढने के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करते है। जिन आदर्शों की प्राप्ति भारतीय राज्य का लक्ष्य है, ये उन आदर्शों की गणना है।

---

1 ' There fundamental in the governance of the Country "

2 The Directive Principles are like the instruments of instruction which were issued to the Governor General and the Governor of colonies. What is called 'Directive Principles' is merely another name for the Instrument of Instructions The only difference is that they are instructions to the Legislature and Executive. —*Dr. Ambedkar*

3 Sir Ivor Jennings claims that Ghosts of Sidney and Beatrice Webb stalk through the pages of the entire text and this part of the constitution expresses, 'Fabian Socialism without the work 'Socialism'.

4 " They lay down a code of conduct for the administrators of India In short they guide the path which will lead the people of India to achieve the noble ideas which the 'Preamble', of the constitution proclaims . Justice—social, economic and political liberty, equality and fraternity." —*M. V. Pylee*

5 पायली, एम० वी० . इण्डियन कान्स्टीट्यूशन, पृ० 330।

निर्देशक सिद्धान्तों तथा मौलिक अधिकारों में अन्तर (Distinction between Directive Principles and Fundamental Rights)

भारतीय संविधान के भाग तीन मे मौलिक अधिकारो तथा भाग चार मे निर्देशक सिद्धान्तो का वर्णन मिलता है। राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तो तथा मौलिक अधिकारो मे बडा भारी अन्तर है। मौलिक अधिकार जहाँ नागरिको को ऐसी सुविधाएँ प्रदान करते है जिन्हे उनके सर्वांगीण विकास की आवश्यक शर्त कहा जा सकता है, वहाँ राज्य की नीति के निर्देशक तत्व मनुष्यो के इस सर्वांगीण विकास की आवश्यक परिस्थितियो के निर्माण के लिए कुछ निषेध आज्ञाएँ है। **ग्लेडहिल** के अनुसार, "मौलिक अधिकार राज्य के लिए कुछ निषेध आज्ञाएँ है। इनके द्वारा राज्य को यह आदेश दिया गया है कि उसे लोगो के इन अधिकारो मे अनुचित हस्तक्षेप नही करना चाहिए। राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्त इसके विरुद्ध यह बतलाते है कि राज्य को क्या करना चाहिए।" दोनो मे मूल अन्तर इस प्रकार है .

(1) जहाँ मौलिक अधिकार न्यायालयो द्वारा लागू हो सकते है, वहाँ राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्त न्यालालयो द्वारा लागू नही हो सकते। दूसरे शब्दो मे, प्रथम वादयोग्य (justiciable) हैं तथा द्वितीय वादयोग्य नही (non-justiciable) हैं।

(2) मौलिक अधिकार नकारात्मक है जबकि निर्देशक सिद्धान्त सकारात्मक है। मौलिक अधिकारो की प्रकृति इस रूप मे नकारात्मक है कि ये राज्यों के किन्ही कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। इसके प्रतिकूल नीति निर्देशक तत्व राज्य को किन्ही निश्चित कार्यों को करने का आदेश देते हैं।

(3) जहाँ मौलिक अधिकारो के द्वारा राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना की गयी है, वहाँ नीति निर्देशक सिद्धान्तो द्वारा आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना होती है। ग्रेनविल ऑस्टिन ने इसी कारण इन निर्देशको को 'घोषणा' कहा है—आर्थिक स्वाधीनता की घोषणा।

(4) मौलिक अधिकारो का कानूनी महत्व है जबकि निर्देशक सिद्धान्त 'नैतिक आदेश' (Moral precepts) मात्र है। जी० एन० जोशी ने इसी कारण लिखा है कि "राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्त मानवीय आदर्शवाद के ढेर है जिन्हे ऐसे व्यक्तियो ने संग्रहीत किया है जो दीर्घकालीन स्वातन्त्र्य संघर्ष के पश्चात् स्वप्निल भावातिरेक की स्थिति मे थे।"

(5) मौलिक अधिकारो को (अनुच्छेद 20 तथा 21 मे वर्णित अधिकारो को छोड़कर) अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत घोषित आपातकालीन स्थिति ये प्रवृतन काल मे स्थगित (suspend) किया जा सकता है। जबकि निर्देशक तत्वो का जब तक क्रियान्वयन नही होता तब तक वे स्थायी रूप से स्थगन की अवस्था मे ही बने रहते है।

(6) मौलिक अधिकार सार्वभौम (absolute) नही है, उन पर कुछ प्रतिबन्ध (limitations) हैं। जबकि निर्देशक सिद्धान्तो पर कोई प्रतिबन्ध नही है।

उपर्युक्त भेदो के अतिरिक्त मौलिक अधिकार और निर्देशक तत्वो मे महत्व सम्बन्धी भेद भी है। हमारे मूल संविधान द्वारा मौलिक अधिकारो को निर्देशक तत्वो की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान की गयी थी। इसी आधार पर **कुरेशी** बनाम **बिहार राज्य** के मुकदमे मे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो ने यह विचार प्रकट किया था कि "राज्य को चाहिए कि वह निर्देशक सिद्धान्तो को लागू कराने के लिए कानून बनाये लेकिन उनके द्वारा बनाये गये कानूनो से मौलिक अधिकारो को हानि नही पहुँचनी चाहिए, नही तो उनकी सुरक्षा सम्बन्धी धाराएँ निरर्थक समझी जायेंगी।" लेकिन प्रारम्भ से ही एक वर्ग का विचार था कि निर्देशक तत्वो को मौलिक अधिकारो की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिए। श्री बी० एन० राव ने संविधान निर्माण के समय ही स्पष्ट कहा था कि संघर्ष की स्थिति मे मौलिक अधिकारो की अपेक्षा निर्देशक

सिद्धान्तो को प्रमुखता दी जानी चाहिए, अन्यथा जनहितकारी व्यवस्थापन सम्भव नही हो सकेगा। संविधान का चतुर्थ संशोधन अधिनियम प्रस्तुत करते हुए श्री नेहरू ने कहा था कि "जहाँ कही किसी मौलिक अधिकार एव निर्देशक सिद्धान्त मे परस्पर विरोध हो, वहाँ निर्देशक सिद्धान्तो को वरीयता दी जानी चाहिए।"

मौलिक अधिकारों तथा निर्देशक तत्वो के बीच सम्बन्ध
(RELATION BETWEEN FUNDAMENTAL RIGHTS AND DIRECTIVE PRINCIPLES)

निर्देशक सिद्धान्तो तथा मौलिक अधिकारो के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा दोनो की आपसी घनिष्ठता समय, परिस्थिति एव शासक वर्ग की मशा के अनुसार बदलती रही है। मौलिक अधिकार और निर्देशक सिद्धान्तो के आपसी सम्बन्धो को निम्नलिखित 5 चरणो मे विभाजित किया जा सकता है [1]

1. पहला चरण 1950 से 1966;
2. दूसरा चरण : 1967 से 1971,
3. तीसरा चरण 1972 से 1975,
4. चौथा चरण . 1976 से 1980, एव
5. पाँचवाँ चरण 1980 से अब तक।

(1) **पहला चरण** 1950 से 1966—इस काल मे नीति निर्देशक सिद्धान्तो के क्रियान्वयन हेतु मौलिक अधिकारो मे संशोधन किया गया। इस काल में इस दृष्टिकोण का विकास हुआ कि नीति निर्देशक सिद्धान्त मौलिक अधिकारो की तुलना मे निम्न स्थिति रखते है। फिर भी इस मान्यता का विकास हुआ है कि निर्देशक सिद्धान्तो के क्रियान्वयन हेतु मौलिक अधिकारो को संशोधित किया जा सकता है। मद्रास राज्य बनाम चम्पाकम दोराइराजन[2] के मामले मे उच्चतम न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न विचारार्थ आया कि मूल अधिकार और निर्देशक तत्वो के विरोध की स्थिति मे किसको प्राथमिकता दी जायेगी। न्यायालय ने निर्णय दिया कि ऐसी स्थिति मे मूल अधिकार निर्देशक तत्वो पर अभिभावी होगे। न्यायालय ने कहा कि "नीति निर्देशक तत्व, जिन्हे अनुच्छेद 37 द्वारा स्पष्टतया न्यायालयो द्वारा अप्रवर्तनीय घोषित किया गया है, भाग 3 मे दिये गये उपबन्धो पर अभिभावी (override) नही हो सकते है जिन्हे अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत अनुचित लेखो या निर्देशो के द्वारा स्पष्टतया प्रवर्तनीय बनाया गया है। मूल अधिकारो वाला अध्याय पवित्रतम अध्याय है" नीति निर्देशक तत्व मूल अधिकारो के अनुरूप और उनके सहायक के रूप मे रहेगे। हमारे विचार से भाग 3 और 4 के उपबन्धो को इसी दृष्टिकोण से समझना चाहिए। किन्तु यदि किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण नही हुआ है तो राज्य उस सीमा तक नीति निर्देशक तत्वो को कार्यान्वित कर सकता है।

मूल संविधान मे अनुच्छेद 31 (4) और 31 (6) के द्वारा विभिन्न राज्यो मे बनाये गये जमींदारी उन्मूलन अधिनियमो को न्यायालय की परिधि से इस आधार पर बाहर रखने की कोशिश की गयी थी कि इन अधिनियमो को अनुच्छेद 31 (2) के आधार पर चुनौती नही दी जा सकती। अर्थात् इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकती कि 'प्रतिकार' अथवा 'मुआवजा' कम दिया गया है। लेकिन संविधान-निर्माताओ ने यह नही सोचा था कि इन अधिनियमो को किसी अन्य आधार पर भी अवैध घोषित किया जा सकता है। वास्तव मे यह हुआ कि जमींदारो ने जमींदारी उन्मूलन विधेयक को अनुच्छेद 14 के द्वारा प्रदत्त विधि के समक्ष समानता के विरुद्ध

---

1 J R. Siwach, *Dynamics of Indian Government and Politics*, 1985, p. 67.

2 ए० आई० आर०, 1951, सु० को० 228।

बताया। **कामेश्वर सिंह** वनाम **बिहार राज्य** के मुकदमे मे पटना उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि न्यायालय 'प्रतिकर' के प्रश्न की जाँच इसलिए कर सकते है ताकि वे यह देख सकें कि उस कानून से अन्य मूल अधिकारो से सम्बन्धित प्रावधानो (उदाहरण के लिए, 14वाँ अनुच्छेद) का उल्लघन तो नही होता है। इस प्रकार 14वे अनुच्छेद के आधार पर पटना के उच्च न्यायालय ने विहार भूमि सुधार कानून, 1950 को अवैध घोपित कर दिया। कुछ अन्य राज्यो मे जमीदारो ने उच्चतम न्यायालय मे भी अपील की। उच्चतम न्यायालय ने भी पटना उच्च न्यायालय के निर्णय का समर्थन किया।

वस्तुत. भूमि सुधार कानूनो का लक्ष्य निर्देशक तत्वो का क्रियान्वयन था किन्तु वे न्यायिक वाद-विवाद के विपय वन गये, जिसके कारण संविधान का प्रथम सशोधन करने का निश्चय किया गया।

प्रथम संविधान सशोधन—सविधान के प्रथम सशोधन (1951) द्वारा मुख्य रूप से तीन संशोधन किये गये—(1) सविधान मे एक नयी नवी अनुसूची जोडी गयी। मूल सविधान मे केवल आठ अनुसूचियाँ थी। नवी अनुसूची मे वे सभी भूमि सुधार अधिनियम सम्मिलित कर दिये गये जो उस समय तक अलग-अलग राज्यो द्वारा पारित किये गये थे। इस प्रकार प्रथम सविधान संशोधन ने नवी अनुसूची जोडकर सविधान मे ऐसा भाग वना दिया जिसमे किसी कानून को रख देने से उसे न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) के बाहर निकाला जा सकता है। (2) एक नया अनुच्छेद 31-ए जोडा गया जिसका अभिप्राय यह है कि राज्य द्वारा भूसम्पत्ति अधिग्रहण अथवा जागीरदारी अधिकारो की समाप्ति या अल्पीकरण को इसलिए अवैध घोपित नही किया जा सकता कि उसके द्वारा मूल अधिकारो का अतिक्रमण होता है। एक और नया अनुच्छेद 31-बी जोडा गया जिसमे यह उल्लेख किया गया कि नवी अनुसूची मे उल्लिखित भूमि सुधार अधिनियमो की सवैधानिकता को इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकती कि वे मूल अधिकारो का हनन करते है अथवा उनको सीमित करते है।

चतुर्थ संविधान सशोधन—सम्पत्ति के मौलिक अधिकार मे फिर से 1955 मे सशोधन की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि न्यायालयो ने व्यवस्थापिका के अधिकार मे हस्तक्षेप करने की कोशिश की। 'श्रीमती बेला वनर्जी वनाम पश्चिमी वगाल राज्य' के मुकदमे मे उच्चतम न्यायालय ने निर्णय देते हुए यह मत व्यक्त किया कि 'प्रतिकर' या 'मुआवजा' तभी न्यायोचित माना जा सकता है जवकि अधिग्रहण की गयी सम्पत्ति के मूल्य के वरावर हो। सम्पत्ति का यथार्थ मूल्य चुकाया जाना चाहिए तथा प्रतिकर या मुआवजा पर्याप्त होना चाहिए।

इसी सन्दर्भ मे 'द्वारिकादास श्रीनिवास वनाम शोलापुर स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी' नामक मुकदमे का उल्लेख भी किया जा सकता है। इस मिल के प्रवन्ध मण्डल ने बिना किसी पूर्व सूचना के मिल को एकाएक वन्द कर दिया। सरकार ने इस मिल का प्रवन्ध एक अध्यादेश द्वारा अपने हाथो मे ले लिया। न्यायालय ने इस अध्यादेश को इसलिए अवैध घोपित कर दिया क्योकि उसमे कम्पनी को पर्याप्त मुआवजा या प्रतिकर नही दिया गया था। सरकार का कहना था कि उसने सम्पत्ति को अपने हाथो मे नही लिया है, केवल उसका प्रवन्ध करने का दायित्व ग्रहण किया है। न्यायालय द्वारा दिये गये उपर्युक्त निर्णयो ने सरकार को सम्पत्ति के अधिकार मे सशोधन के लिए वाध्य किया। फलस्वरूप 1955 मे सविधान मे चतुर्थ और सम्पत्ति के मूल अधिकार मे दूसरा संशोधन करना पड़ा।

चतुर्थ संशोधन द्वारा निम्नलिखित व्यवस्था की गयी . (1) अनुच्छेद 31 (2) मे परिवर्तन करके प्रतिकर की राशि की पर्याप्तता या अपर्याप्तता के प्रश्न को न्यायालयो के क्षेत्र से वाहर रख दिया गया। इसके अनुसार किसी भूमि अथवा सम्पत्ति का अधिग्रहण करने से सम्वन्धित कानून

बनाते समय संसद को उसके बदले दिये जाने वाले प्रतिकर सम्बन्धी सिद्धान्त अथवा उसकी राशि निश्चित करने का पूर्ण अधिकार होगा और न्यायालयो मे अब उसे इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकेगी कि उसके अन्तर्गत दिया जाने वाला मुआवजा पर्याप्त नही है। (2) नया अनुच्छेद 31 (2-ए) भी जोडा गया, जिसके द्वारा सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन अथवा अधिग्रहण की सुनिश्चित व्याख्या कर दी गयी। (3) अनुच्छेद 31-ए मे परिवर्तन करके अनुच्छेद 31-ए(1) के अनुसार यह भी स्पष्ट किया गया कि कुछ विशेष प्रकार के कानूनो को अनुच्छेद 14, 19 तथा 31 का उल्लघन करने वाला नही माना जायेगा। (4) नवी अनुसूची मे कुछ और अधिनियम जोड दिये गये।

सत्रहवां सविधान सशोधन—चतुर्थ सशोधन के बाद भी कुछ इस प्रकार के निर्णय न्यायालयो द्वारा दिये गये जिनके कारण सन् 1965 मे 17वें सशोधन की आवश्यकता पडी। 1961 मे उच्चतम न्यायालय ने रैयतवाडी भूमि को मद्रास राज्य से केरल राज्य मे हस्तान्तरण के सम्बन्ध मे लागू किये गये 'केरल कृषि भू-सम्बन्धी अधिनियम, 1961' को इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया गया कि 'रैयतवाडी भूमि' शब्द अनुच्छेद 31-ए(2) के अन्तर्गत विवेचित 'सम्पदा' अथवा 'जागीर' (Estate) शब्द की परिभाषा मे नही आता है, अत उक्त कानून को अनुच्छेद 31-ए(1) के अधीन अनुच्छेद 13, 19 और 31 पर अतिक्रमण करने से मुक्त नही माना जा सकता।

17वें सशोधन द्वारा निम्नलिखित व्यवस्था की गयी · (1) अनुच्छेद 31-ए(1)(B) मे, 'सम्पदा' अथवा 'जागीर' की विवेचना को अधिक विस्तृत करके रैयतवाडी प्रथा के अधीन जमीन भी इसी शब्द के अन्तर्गत आ गयी। (2) नवी अनुसूची में कुछ भूमि सुधार सम्बन्धी अधिनियमो को और सम्मिलित किया गया।

(2) **दूसरा चरण** . 1967 से 1971—इस काल मे इस विचारधारा का प्रचलन हुआ कि मौलिक अधिकार अपरिवर्तनीय (Unamendable) हैं। सन् 1967 मे गोलकनाथ[1] के मामले मे उच्चतम न्यायालय ने अपने बहुमत के निर्णय मे यह कहा कि संसद मूल अधिकारो मे सशोधन नही कर सकती है। इस निर्णय से उच्चतम न्यायालय द्वारा 1951 मे 'शकरीप्रसाद केस' तथा 1965 मे 'सज्जनसिंह केस' मे अपने ही द्वारा दिये गये निर्णयो को उलट दिया। 10 फरवरी, 1970 को उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय मे बैंको के राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित अध्यादेश तथा कानून को निम्न आधारो पर अवैध घोषित कर दिया (1) उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय मे कहा कि 'मुआवजा' अथवा 'प्रतिकर' की राशि इतनी कम नही होनी चाहिए कि वह न्यायोचित प्रतीत न हो। 'प्रतिकर' वास्तव मे 'प्रतिकर होना चाहिए, उसके नाम पर दिया गया धोखा या भुलावा मात्र नही।' उच्चतम न्यायालय ने अध्यादेश तथा कानून को इसलिए अवैध घोषित किया था कि उसमे मुआवजा अथवा प्रतिकर निर्धारित करने वाले सिद्धान्त अप्रासगिक एवं असगत थे और मुआवजे की राशि इतनी कम थी कि उसे मुआवजा या प्रतिकर की संज्ञा नही दी जा सकती। (2) बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम अनुच्छेद 19(1)(एफ) पर भी अतिक्रमण करता है अर्थात् सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाता है। इसी प्रकार वज्रवेलू[2] (1968) और मेटल कॉरपोरेशन (1969)[3] मामलो मे 'प्रतिकर' का अर्थ बाजार भाव से लगाया।

---

1 AIR, 1967 SC, 1643
2 *P. Vajravelu Mudaliar vs. Special Controller*, AIR, 1966, SC, 1017
3 *Union of Ind a vs The Metal Corporation of India Ltd.*, AIR, 1966, SC, 637.

संक्षेप में, इस चरण मे न्यायालयो ने राज्य की नीति के निर्देशक तत्वो तथा मूल अधिकारो के बीच के सम्भावित विरोधाभास या असंगति की स्थितियो मे समन्वय के सिद्धान्त का प्रयोग करने की अपेक्षा व्यापक रूप से मूल अधिकारो को अभिभावी घोषित करने की भूल की।

(3) **तीसरा चरण** · 1972 से 1975— इस काल मे इस धारणा का प्रचलन हुआ कि मौलिक अधिकारो मे परिवर्तन-सशोधन सम्भव है और कतिपय मौलिक अधिकार तो निर्देशक तत्वो के अधीनस्थ हैं।

गोलकनाथ केस के बाद नीति निर्देशक तत्वो की स्थिति निम्न तथा अधीनस्थ की बन गयी थी। अब सरकार और संसद के दृष्टिकोण मे क्रान्तिकारी मोड आया। सन् 1971 के लोकसभा चुनावो मे श्रीमती इन्दिरा गाधी और उनके दल को अभूतपूर्व विजय मिली। श्रीमती इन्दिरा गाधी ने स्पष्ट कहा कि "हम निर्देशक तत्वो की क्रियान्विति हेतु कृतसकल्प है और इस हेतु मौलिक अधिकारो को भी सशोधित करना पडा तो हम करेंगे।" **शासक वर्ग द्वारा अपनाये गये इसी दृष्टिकोण** के अनुरूप संविधान मे 24वें और 25वें सशोधन किये गये। मौलिक अधिकारो और निदेशक तत्वो के आपसी सम्बन्धो की दृष्टि से ये दोनो ही संविधान सशोधन अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं।

24वें सविधान सशोधन (1971) द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि ससद को सविधान के किसी भी अनुच्छेद (जिनमे मौलिक अधिकार भी शामिल है) मे सशोधन करने का अधिकार है। 25वें संविधान संशोधन (1971) द्वारा अनुच्छेद 31 मे 'प्रतिकर या क्षतिपूर्ति' शब्द को हटाकर 'धनराशि' (Amount) शब्द रखा गया। इस सशोधन द्वारा अनुच्छेद 31 मे एक नया खण्ड 31-सी जोड़ा गया जिसमे कहा गया है कि निर्देशक तत्वो के अन्तर्गत अनुच्छेद 39 की भौतिक सम्पत्ति के स्वामित्व और नियन्त्रण तथा धन के उत्पादन के साधनो के केन्द्र से सम्बद्ध धाराओ को प्रभावी बनाने के लिए पारित किया गया कोई भी कानून इस आधार पर अवैध नही ठहराया जा सकेगा कि वह अनुच्छेद 14, 19 या 31 मे दिये गये मौलिक अधिकारो का अतिक्रमण करता है।

सन् 1973 मे केशवानन्द भारती केस मे इन सविधान सशोधनो को सर्वोच्च न्यायालय मे चुनौती दी गयी। न्यायालय ने अपने 1973 के निर्णय मे इस बात को तो स्वीकार किया कि निर्देशक तत्वो की क्रियान्विति के लिए मौलिक अधिकारो को सशोधित किया जा सकता है। लेकिन 25वें सवैधानिक संशोधन के इस प्रावधान को अवैध घोषित कर दिया कि निर्देशक तत्वो की क्रियान्विति के लिए निर्मित कानूनो को न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकेगी। इस निर्णय मे उच्चतम न्यायालय ने 'बुनियादी ढाँचे की अवधारणा' (Basic Structure Concept) का प्रतिपादन किया और कहा कि ससद संविधान के बुनियादी ढाँचे मे परिवर्तन नही कर सकती।

(4) **चौथा चरण** : 1976 से 1980—यद्यपि केशवानन्द भारती केस मे उच्चतम न्यायालय ने इस बात को मान लिया कि मौलिक अधिकारो मे संशोधन-परिवर्तन सम्भव है तथापि ससद और सरकार इस निर्णय से सन्तुष्ट नही थे क्योकि इस निर्णय ने इस धारणा का प्रतिपादन किया कि सविधान एक बुनियादी ढाँचे का निर्माण करता है जिसे ससद अपनी सविधान सशोधन शक्ति से बदल नही सकती। इसी कारण से आपातकाल के दिनो (1976) मे 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया गया। इस संविधान सशोधन के खण्ड 4 मे कहा गया है कि "निर्देशक तत्वो को लागू करने के लिए ससद जिन किन्ही कानूनो का निर्माण करे उन्हे इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकेगी कि ये कानून सविधान मे दिये गये किसी अधिकार को सीमित या समाप्त करते हैं।"

इस प्रकार सविधान सशोधनो को न्यायिक पुनर्निरीक्षण (Judicial Review) से बचा

लिया गया। इस तरह यह संशोधन संविधान की बुनियादी धारणा में आमूलचूल परिवर्तन कर देता है और मौलिक अधिकारों की स्थिति गौण बन जाती है।

(5) **पांचवां चरण : 1980 और उसके बाद**--सन् 1979 मे 'मिनर्वा मिल केस' में 42वें संविधान संशोधन के कतिपय अंशो को उच्चतम न्यायालय मे चुनौती दी गयी। लम्बी सुनवाई के बाद उच्चतम न्यायालय ने 42वें संशोधन के दो प्रावधानो—खण्ड 4 व खण्ड 55 को अवैध घोषित कर दिया क्योंकि इनसे संविधान के बुनियादी ढांचे को आघात पहुँचता है और केशवानन्द भारती विवाद मे उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय का उल्लंघन करते हैं।

इस निर्णय (मिनर्वा मिल केस—1980) के बाद वर्तमान समय मे स्थिति यह है : संविधान के अनुच्छेद 39 के भाग 'ब' और 'स' (आर्थिक और सामाजिक न्याय से सम्बद्ध निर्देशक तत्व) की क्रियान्विति के लिए तो मौलिक अधिकारों को सीमित किया जा सकेगा, लेकिन अन्य निर्देशक तत्वो की क्रियान्विति के लिए ऐसे किसी कानून का निर्माण नही किया जा सकेगा जो मौलिक अधिकारो को सीमित या संशोधित करता हो। इस प्रकार वैधानिक अर्थों मे पुनः मौलिक अधिकारो को निर्देशक तत्वो पर वरीयता की स्थिति प्राप्त हो गयी है।

दोनो एक-दूसरे के पूरक हैं—मौलिक अधिकार और निर्देशक तत्वो मे उपर्युक्त वर्णित सम्बन्ध से यह निष्कर्ष नही निकाला जाना चाहिए कि इनमे कोई अन्तर्निहित विरोध या संघर्ष है, अपितु वस्तुतः वे एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनो का लक्ष्य एक ही है और वह है—व्यक्तित्व का विकास तथा लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना। ग्रेनविल ऑस्टिन ने लिखा है, "संविधान मे इन्हे (मौलिक अधिकार और नीति निर्देशक तत्व) इस आशा और अपेक्षा मे सम्मिलित किया गया था कि एक दिन भारत मे वास्तविक स्वाधीनता का वृक्ष लहलहायेगा।" 'अधिकार' और 'तत्व' इस प्रकार भारत के भूत और वर्तमान को भविष्य से जोड देते है तथा भारत मे सामाजिक क्रान्ति के लक्ष्य को शक्ति प्रदान करते है। भूतपूर्व न्यायाधीश श्री के० सदानन्द हेगड़े ने कहा है कि "सिद्धान्ततः एक ही संविधान के दो भागो मे कोई असंगति नही हो सकती। राज्य-नीति के निर्देशक तत्वो को अपनाकर हमारे संविधान-निर्माताओं ने कोई असंगति उत्पन्न नहीं की। उनका प्रयत्न वैयक्तिक अधिकार और सामाजिक कल्याण मे समन्वय स्थापित करना था।"[1] डॉ० गजेन्द्र गडकर ने भी कहा है कि "भारतीय लोकतन्त्र संविधान के भाग तीन मे नागरिको को दिये गये मौलिक अधिकारो का पालन करते हुए भाग चार के निहित सामाजिक-आर्थिक सिद्धान्तो को क्रियान्वित करने के लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्न करने को वचनबद्ध है।" **चन्द्रभवन बोर्डिंग एण्ड लॉजिंग, बंगलौर बनाम मैसूर राज्य** के विवाद मे सर्वोच्च न्यायालय ने अधिक स्पष्टतापूर्वक कहा कि "व्यापार की स्वतन्त्रता का अर्थ शोषण करने की स्वतन्त्रता नही है। संविधान के उपबन्धो को प्रगति-मार्ग बाधाओं के अनुरूप खड़ा नही किया जा सकता। यह सोचना मिथ्या धारणा है कि हमारे संविधान मे केवल अधिकारों की व्यवस्था है, कर्तव्यो की नही। जबकि तीसरे भाग मे प्रदान किये गये अधिकार मूल अधिकार हैं, चौथे भाग में दिये गये निर्देश देश के शासन मे मूलभूत हैं। संविधान के तीसरे और चौथे भाग मे दिये गये उपबन्धों मे हमे कोई विरोध प्रतीत नही होता है। वे एक-दूसरे के पूरक है।" वास्तव मे, इन दोनो के बीच किसी प्रकार का संघर्ष नही हो सकता है, ये एक-दूसरे के पूरक है और आवश्यकता इस बात की है कि मौलिक अधिकार और निर्देशक तत्वो के सम्बन्ध मे सभी संबद्ध पक्षो द्वारा इसी दृष्टिकोण को अपनाया जाय।

निर्देशक सिद्धान्तों का वर्गीकरण (Classification of the Directive Principles)

संविधान के 36वें अनुच्छेद से लेकर 51 तक, सोलह अनुच्छेदो मे राज्य-नीति के निर्देशक

---

1 के० सदानन्द हेगडे : **भारतीय संविधान मे राज्य-नीति के निर्देशक तत्व**, 1972, पृ० 2-3।

सिद्धान्तो का वर्णन है। इनमे विभिन्न क्षेत्रो मे राज्य के कार्य-क्षेत्र पर विचार किया गया है, जैसे आर्थिक, सामाजिक, वैधानिक, शिक्षा-सम्बन्धी तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र। इनको तीन भागों में विभाजित करके सरलता से देखा जा सकता है।

(1) **लोक-कल्याणकारी तथा समाजवादी राज्य की स्थापना करने वाले सिद्धान्त**—भारतीय संविधान के निर्माताओ का उद्देश्य भारत मे लोक-कल्याणकारी एव समाजवादी राज्य की स्थापना करना था, इस दृष्टि से अधिकांश निर्देशक सिद्धान्तो द्वारा आर्थिक और सामाजिक न्याय के सम्बन्ध मे व्यवस्था की गयी है। निर्देशक सिद्धान्तो का सार तत्व सविधान के अनुच्छेद 38 मे दिया गया है। उससे संविधान की प्रस्तावना की प्रतिध्वनि सुनायी देती है। राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करे, जिसमे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओ को अनुप्राणित करे, भरसक कार्य-साधक के रूप मे स्थापना और सरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।

निर्देशक सिद्धान्तो मे कहा गया है कि (i) राज्य लोगो के जीवन-स्तर को सुधारने और स्वास्थ्य-सुधार के लिए प्रयास करेगा। (ii) राज्य जनता मे दुर्बलतर अंगो मे मुख्यतया अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित आदिम जातियो के शिक्षा तथा अर्थ-सम्बन्धी हितो की विशेष सावधानी से रक्षा करेगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा। (iii) राज्य प्रत्येक स्त्री-पुरुष को समान रूप से जीविका के साधन प्रदान करने का प्रयत्न करेगा। (iv) राज्य देश के भौतिक साधनो के स्वामित्व और नियन्त्रण की ऐसी व्यवस्था करेगा कि अधिक-से-अधिक सार्वजनिक हित हो सके। (v) राज्य इस बात का ध्यान रखेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनो का केन्द्रीयकरण न हो। (vi) राज्य प्रत्येक नागरिक को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, समान कार्य करने के लिए समान वेतन प्रदान करेगा। (vii) राज्य श्रमिक पुरुषो और स्त्रियो के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालको की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न होने देगा। (viii) राज्य प्रयास करेगा कि सभी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार पा सकें, शिक्षा पा सकें, एव बेकारी, बीमारी और अगहीनता, आदि दशाओ मे सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सकें। (ix) वैज्ञानिक आधार पर कृषि का सचालन करना भी राज्य का कर्तव्य होगा। (x) राज्य संविधान के प्रारम्भ होने से दस वर्ष से लेकर चौदह वर्ष तक की आयु के बालको के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करेगा।

(2) **गांधी विचारधारा से सम्बन्धित निर्देशक तत्व**—गांधीजी ने हमे सामाजिक उत्तरदायित्व के सार तत्व की शिक्षा प्रदान की है। उनकी विचारधारा का प्रभाव भी इन सिद्धान्तों मे कई स्थानो पर देखा जा सकता है, जैसे—(i) सविधान के अनुच्छेद 43 के अनुसार राज्य कुटीर उद्योगो को बढावा देगा। (ii) अनुच्छेद 40 के अनुसार राज्य पचायतो का सगठन करेगा। राज्य पिछडी हुई और निर्बल जातियो की विशेष रूप से शिक्षा तथा आर्थिक हितों की उन्नति करेगा। (iii) अनुच्छेद 47 के अनुसार राज्य नशीली वस्तुओ के प्रयोग को औषधियो के अतिरिक्त विशेष उद्देश्यो के लिए मना करेगा। (iv) अनुच्छेद 46 के अनुसार राज्य कृषि और पशु-पालन को आधुनिक ढंग से संगठित करेगा। (v) अनुच्छेद 49 के अनुसार राज्य राष्ट्रीय और ऐतिहासिक महत्व वाले स्मारको और स्थानो की सुरक्षा करेगा। (vi) अनुच्छेद 50 के अनुसार, राज्य न्यायपालिका को कार्यपालिका मे अलग करने के लिए कदम उठायेगा। (vii) अनुच्छेद 44 के अनुसार, राज्य सारे देश के लिए एक समान दीवानी तथा फौजदारी कानून बनाने का यत्न करेगा। इस प्रकार उपर्युक्त अंश राष्ट्रपिता बापू के दृष्टिकोण से मिलते-जुलते है।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बढ़ावा देने वाले निर्देशक तत्व**—सविधान अनुच्छेद 51 के

और सम्मानपूर्वक सम्बन्धो को बनाये रखने का प्रयास करेगा। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों तथा सन्धियों की तरफ मान बढ़ायेगा। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो को पंच-फैसलो द्वारा निपटाने की रीति को बढ़ावा देगा।

(4) कतिपय नये निर्देशक तत्व—42वें संशोधन द्वारा कतिपय नये निर्देशक तत्व भी सविधान मे जोडे गये है। अनुच्छेद 39 की धारा (एफ) को बदल दिया गया है। इसका उद्देश्य बच्चो तथा नवयुवको को शोषण से बचाना तथा उनके स्वस्थ विकास के लिए उपयुक्त अवसर तथा सुविधाएँ उपलब्ध कराना है। अनुच्छेद 39 के बाद एक नया अनुच्छेद 39(ए) जोड दिया गया है। इसमे समान न्याय दिलाने तथा मुफ्त कानूनी सहायता उपलब्ध करने की व्यवस्था है। अनुच्छेद 43 के बाद एक नया अनुच्छेद 43(बी) जोड दिया गया है। उसमे उद्योगो के प्रबन्ध मे कर्मचारियो के भाग लेने की व्यवस्था है। अनुच्छेद 48(बी) के अनुसार वनो तथा अन्य जीवों की सुरक्षा की व्यवस्था है।

नीति निर्देशक तत्वों की आलोचना
(CRITICISM OF DIRECTIVE PRINCIPLES)

जिस समय सविधान का निर्माण हो रहा था, उस समय सविधान सभा मे और बाहर भी राज्य की नीति के निर्देशक तत्वो सम्बन्धी उपबन्धो की बहुत आलोचना हुई थी। सविधान के स्वीकृत होने के पश्चात् भी अनेक विद्वानो ने कई आधारो पर इन उपबन्धो की आलोचना की है। निर्देशक तत्वो के विरुद्ध की जाने वाली आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :

(1) वैधानिक शक्ति का अभाव (Lack of Legal Sanction)—संविधान के राज्य की नीति के निर्देशक तत्वो को एक ओर तो देश के शासन मे मूलभूत माना है किन्तु साथ ही वे वैधानिक शक्ति प्राप्त या न्याय योग्य नही है अर्थात् न्यायालय उपर्युक्त सिद्धान्त को क्रियान्वित नही करा सकते है। अत आलोचको की राय मे ये निर्देशक तत्व 'शुभ इच्छाएँ' (Pious wishes), 'नैतिक उपदेश' (Moral precepts) या ऐसी राजनीतिक घोषणाओ के समान हैं जिनका कोई सवैधानिक महत्व नहीं हो। सविधान सभा के एक सदस्य श्री नासिरुद्दीन ने उन्हें 'नववर्ष के प्रथम दिन पास किये गये शुभकामना का प्रस्ताव' जैसी वस्तु कहा था और प्रो० के० टी० शाह के शब्दो मे, "यह एक ऐसा चैक है जिसका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड दिया गया है।" प्रो० ह्वीयर ने इन निर्देशक तत्वो को 'उद्देश्यो और आकांक्षाओ का घोषणा-पत्र' कहा है और श्री एन० आर० राघवाचारी उन्हे "ललित पदावली मे व्यक्त उच्च ध्वनित भावनाओ की ऐसी पंक्तियाँ कहते हैं जिनका वैधानिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है।" सर बी० एन० राव के शब्दो मे, "राज्य के नीति निर्देशक तत्व राज्य के अधिकारो के लिए नैतिक उपदेश के समान हैं और वे इस आलोचना के पात्र हैं कि सविधान मे नैतिक उपदेशों के लिए उचित स्थान नहीं है।"[1] आलोचको का कहना है कि यदि सविधान मे नैतिक उपदेश करना ही अभीष्ट था, बाइबिल की दस पवित्र आज्ञाओं को संविधान मे क्यो नही लिया गया ?

(2) अस्पष्ट तथा अतार्किक रूप से सग्रहीत (Vague and Illogically Arranged)—नीति निर्देशक तत्वो के विरुद्ध यह भी आलोचना की जाती है कि वे किसी निश्चित या सगतपूर्ण दर्शन पर आधारित नही है। वे अस्पष्ट है, उनमे क्रमबद्धता का अभाव है और उनमे एक ही बात को बार-बार दोहराया गया है। उदाहरण के लिए, उन तत्वो मे पुराने स्मारकों की रक्षा जैसे महत्वहीन प्रश्न अपेक्षाकृत अत्यन्त महत्वपूर्ण आर्थिक तथा सामाजिक प्रश्नो के साथ मिला दिये गये है। प्रो० श्रीनिवासन के शब्दो, मे "इस अध्ययन मे कुछ बेढगे तरीके से आधुनिक को पुरातन

---

1 *Constituent Assembly Debates*, Vol III, p. 470.

के साथ और तर्क तथा विज्ञान द्वारा सुझाये गये उपबन्धो को विशुद्ध रूप से भावुकता पूर्वाग्रह पर आधारित उपबन्धों के साथ मिला दिया गया है।"[1]

(3) **एक प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य में अस्वाभाविक** (Unnatural in Sovereign State)—एक प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य मे इस प्रकार के सिद्धान्तो को ग्रहण करना अस्वाभाविक भी लगता है। एक उच्च सत्ता अधीनस्थ को आदेश दे सकती है, जैसा कि 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में ब्रिटिश संसद द्वारा गवर्नर जनरल और गवर्नरो को आदेश दे दिये गये थे, लेकिन एक प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य को इस प्रकार के आदेश देने की आवश्यकता पडे, यह अस्वाभाविक जान पडता है। विधिवेत्ताओ की दृष्टि मे एक प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य के लिए इस प्रकार के आदेशो का कोई औचित्य नही है।

(4) **व्यावहारिक एव अनुचित** (Impractical and Unsound)—इन तत्वो की व्यावहारिकता व औचित्य को भी कुछ आलोचको के द्वारा चुनौती दी गयी है। उदाहरण के लिए, मद्यनिषेध से सम्वन्धित निर्देशक तत्वो की स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था के प्रतिपादको द्वारा उग्र आलोचना की गयी है। उनका कहना है कि ये तथाकथित सुधार राष्ट्रीय कोष पर भारस्वरूप होगे। इसके अतिरिक्त, यह भी कहा जाता है कि नैतिकता थोपी नही जा सकती है। मद्यनिषेध शराबियो को नैतिक प्राणी वनाने के वजाय शराव के अवैध व्यापार को जन्म देगा। यह व्यवस्था इस दृष्टि से भी अव्यावहारिक प्रतीत होती है कि अनेक राज्य सरकारो द्वारा कई वार मद्यनिषेध की व्यवस्था का अन्त कर सार्वजनिक क्षेत्र मे **'मद्य विक्रय गृहो'** (Wine shops) की स्थापना की गयी है। ऐसी स्थिति मे **डॉ० जेनिग्ज** के ये शब्द वहुत कुछ सीमा तक उचित प्रतीत होते हैं कि **"आने वाली सदी में ये तत्व निस्सन्देह निरर्थक हो जायेंगे।"[2]**

(5) **संवैधानिक द्वन्द्व के कारण** (Basis of Constitutional Crisis)—सवैधानिक विधिवेत्ताओ ने यह आशका व्यक्त की है कि ये तत्व भारतीय शासन मे सवैधानिक द्वन्द्व और गतिरोध के कारण वन सकते हैं। संविधान सभा मे सन्थानम् ने यह आशका व्यक्त की थी कि इन निर्देशक तत्वो के कारण राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री अथवा राज्यपाल और मुख्यमन्त्री के वीच मतभेद उत्पन्न हो सकते है। प्रश्न यह है कि प्रधानमन्त्री इन सिद्धान्तो का उल्लघन करता है तो स्थिति क्या होगी? एक पक्ष कहता है कि राष्ट्रपति इस आधार पर किसी भी विधेयक पर निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है कि वह शासन के मूलभूत सिद्धान्त निर्देशक तत्वो के विरुद्ध है। भारतीय सविधान के प्रसिद्ध लेखक **श्री दुर्गादास बसु** के द्वारा भी उपर्युक्त विचार व्यक्त किया गया है। इस प्रकार की घटनाएँ राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के वीच तीव्र मतभेद को जन्म देगी और इससे संसदात्मक प्रजातन्त्र को गम्भीर आधात पहुँच सकता है।

नीति निर्देशक तत्वों का महत्व
(IMPORTANCE OF DIRECTIVE PRINCIPLES)

नीति निर्देशक तत्वो की जो आलोचना की गयी है उसका यह तात्पर्य नही लिया जाना चाहिए कि वे विल्कुल व्यर्थ और महत्वहीन है। वास्तव मे, सवैधानिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से नीति निर्देशक तत्वो का वहुत अधिक महत्व है। **न्यायमूर्ति हेगड़े** के अनुसार, यदि हमारे सविधान के कोई भाग ऐसे हैं जिन पर सावधानी और गहराई से विचार करने की आवश्यकता है तो वे है भाग तीन और चार। उनमे हमारे सविधान का दर्शन निहित है और एक लेखक के शब्दो मे, "वे हमारे सविधान की अन्तरात्मा है।" **डॉ० पायली** के अनुसार, "इन निर्देशक तत्वो का

---

1 N Srinivasan *Democratic Govt in India*, p 182.

2 Jennings. *Some Characteristics of Indian Constitution*, p. 31.

महत्व इस बात मे है कि ये नागरिकों के प्रति राज्य के सकारात्मक दायित्व हैं।"[1] इन तत्वों के महत्व का अध्ययन निम्नलिखित रूपो मे किया जा सकता है :

(1) **असंगत तथा असामयिक होने के तर्क गलत** (Directive Principles are neither Inconsistent nor out of date)—नीति निर्देशक तत्वो के सम्बन्ध मे प्रो० जैनिग्ज और श्रीनिवासन जैसे व्यक्तियो की यह आलोचना नितान्त अनुचित है कि ये तत्व असगत तथा असामयिक हैं। वास्तव मे, ये विचार केवल विदेशी नही हैं वरन् इस अध्याय के अनेक उपबन्ध पूर्णरूप मे भारतीय हैं। यद्यपि 21वी सदी मे ये सिद्धान्त पुराने पड़ जायँगे और अव्यावहारिक हो जायँगे लेकिन कम-से-कम 20वी सदी के भारत मे ये सिद्धान्त उपयोगी तथा व्यावहारिक प्रतीत होते है। पुनः प्रो० एम० वी० पायली के शब्दो मे, **"यदि कभी ये सिद्धान्त पुराने पड़ जायेंगे तो इनका आवश्यकतानुसार संशोधन किया जा सकता है, क्योंकि संशोधन प्रक्रिया अत्यन्त सरल है। जब तक इनके सशोधन करने का समय आयेगा, तब तक भारत इनका पूरा लाभ उठा चुका होगा और भारत भूमि मे आर्थिक लोकतन्त्र की जडें गहरी हो चुकी होंगी। सविधान का निर्माण वर्तमान समस्याओ को सुलझाने के लिए होता है। यदि हम वर्तमान का निर्माण सुदृढ़ नींव पर करें तो भविष्य की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।"**[2]

(2) **निर्देशक तत्वों के पीछे जनमत की शक्ति** (Power of Public Opinion behind the Principles)—यद्यपि इन निर्देशक तत्वो को न्यायालय द्वारा क्रियान्वित नही किया जा सकता, लेकिन इसके पीछे जनमत की सत्ता होती है, जो प्रजातन्त्र का सबसे बडा न्यायालय है। अत. जनता के प्रति उत्तरदायी कोई भी सरकार इनकी अवहेलना का साहस नही कर सकती। शासन द्वारा किया गया इनका बार-बार उल्लघन देश मे शक्तिशाली विरोध को जन्म देगा। व्यवस्थापिका के भीतर शासन को विरोधी दल के प्रहारो का सामना करना पडेगा और व्यवस्थापिका के बाहर इसे निर्वाचन के समय निर्वाचको को जवाब देना होगा। निर्देशक तत्वो के पीछे जनमत की इस शक्ति के कारण शासक दल को इनकी क्रियान्विति के प्रति पर्याप्त उत्साह का परिचय देना होगा। प्रो० पायली के अनुसार, **"ये निर्देशक तत्व राष्ट्रीय चेतना के आधारभूत स्तर का निर्माण करते हैं और जिनके द्वारा इन तत्वों का उल्लंघन किया जाता है, वे ऐसा कार्य उत्तरदायित्व की स्थिति से अलग होने की जोखिम पर ही करते हैं।"** आलोचक राघवाचारी भी स्वीकार करते है कि **"जो शासन सत्ता पर आधिपत्य बना ले, उसे इस अनुदेश-पत्र का आदर करना ही होगा····आगामी आम चुनाव मे उसे इस सम्बन्ध में निर्वाचको को जवाब देना ही पड़ता है।"** ऐसी स्थिति मे श्री अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने संविधान सभा मे ठीक ही कहा था कि **"कोई भी लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल सविधान के चतुर्थ भाग के उपबन्धो के उल्लघन का साहस नहीं कर सकता है।"**[3]

(3) **चरम सीमाओं से रक्षा** (An Insurance against Extremes)—हमारे सविधान-निर्माता इस तथ्य से पूर्णतया परिचित थे कि प्रजातान्त्रिक राज्य मे परिवर्तनशील जनमत के परिणामस्वरूप विभिन्न समयो मे विभिन्न राजनीतिक दल सत्तारूढ हो सकते है। कभी दक्षिणपन्थी दल शासन सत्ता पर अधिकार कर सकता है और कभी कोई वामपन्थी दल। निर्देशक तत्व दोनो प्रकार की सरकारो को मर्यादित रखेंगे तथा उन्हे किसी प्रकार का एक तरफ झुकाव रखने से

---

1 "The real importance of the Directive Principles is that they contain positive obligations of the state, towards its citizens" —*M V. Pylee*

2 M V Pylee *Constitutional Government in India*, p. 341

3 "No ministry responsible to the people can afford light-heartedly to ignore the provision in part IV of the Constitution." —*Alladi Krishnaswamy Aiyer*

रोकेंगे। **श्री अमरनन्दी** के अनुसार, **"संविधान के निर्देशक तत्व इस बात का आश्वासन देते हैं कि अनुदार दल अपनी नीति के निर्धारण में इन तत्वों की पूर्ण अवहेलना नहीं कर सकेगा और एक उग्रवादी दल अपने दल के आर्थिक या अन्य कार्यक्रम को पूरा करने के लिए संविधान का अन्त करना आवश्यक नहीं समझेगा। इस प्रकार निर्देशक तत्व वाम और दक्षिण पन्थ की चरम सीमाओ से सुरक्षा प्रदान करते है।"**

(4) **नैतिक आदर्शों के रूप में महत्व** (Importance as Moral Ideals)—यदि निर्देशक तत्वों को केवल नैतिक धारणाएँ ही मान लिया जाय, तो इस रूप मे भी उनका अपार महत्व है। **ब्रिटेन मे मेग्ना कार्टा, फ्रांस में मानवीय तथा नागरिक अधिकारो की घोषणा तथा अमरीकी संविधान की प्रस्तावना** को कोई कानूनी अनुशक्ति प्राप्त नही, फिर भी इन देशो के इतिहास पर इसका प्रभाव पडा है। इसी प्रकार उचित रूप मे यह आशा की जा सकती है कि ये निर्देशक तत्व भारतीय शासन की नीति को निर्देशित और प्रभावित करेंगे। **एलेन ग्लेडहिल** के शब्दो मे, **"अनगिनत व्यक्तियो के जीवन नैतिक आदर्शो के फलस्वरूप सुधरे है और ऐसे उदाहरण भी मिलने कठिन नहीं है जबकि उच्च आदर्शो का राष्ट्रों के इतिहास पर प्रभाव पड़ा हो।"**[1]

(5) **संविधान की व्याख्या में सहायक** (Helpful in the Interpretation of the Constitution)—सविधान के अनुसार निर्देशक तत्व देश के शासन मे मूलभूत है जिसका तात्पर्य यह है कि देश के प्रशासन के लिए उत्तरदायी सभी सत्ताएँ उनके द्वारा निर्देशित होगी। न्यायपालिका भी शासन का एक महत्वपूर्ण अग होने के कारण यह आशा की जा सकती है कि भारत मे न्यायालय संविधान की व्याख्या के कार्य मे निर्देशक तत्वो को उचित महत्व देंगे। **प्रो० एलेक्जेण्ड्रोविच** का मत है, " · **चूंकि निर्देशक सिद्धान्तो में संविधान सभा की आर्थिक और सामाजिक नीति बोल रही है और क्योंकि उसमें हमारे संविधान-निर्माताओ की इच्छा की अभिव्यक्ति है, इसलिए हमारे न्यायालयो का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे मौलिक अधिकारों सम्बन्धी उपबन्धों की व्याख्या करते समय राज्य की नीति के निर्देशक तत्वो पर पूरा-पूरा ध्यान दें।**"[2] भारतीय न्यायालयो ने कई वार मौलिक अधिकार सम्बन्धी विवादो मे निर्णय देते समय निर्देशक सिद्धान्तों से मार्गदर्शन लिया है। **बम्बई राज्य** वनाम **एफ० एम० बालसराय** वाले विवाद मे सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 47 के आधार पर निर्णय दिया है कि शासन ने मादक द्रव्य निषेध अधिनियम पास करके उचित प्रतिवन्ध ही लगाया था। पुन. न्यायालय ने **बिहार राज्य** वनाम **कामेश्वरसिंह** वाले विवाद मे अनुच्छेद 39 के प्रकाश मे यह निर्णय दिया था कि जमीदारी के अन्त का उद्देश्य वास्तविक जनहित ही था। इसी प्रकार **विजय वस्त्र उद्योग** बनाम **अजमेर राज्य** के विवाद मे उच्चतम न्यायालय ने **अनुच्छेद 43 के प्रकाश** मे **न्यूनतम पारिश्रमिक अधिनियम** को उचित ठहराया। **श्री एम० सी० सीतलवाड** के शब्दो मे, **"राज्य-नीति के इन मूलभूत सिद्धान्तों को वैधानिक प्रभाव प्राप्त न होते हुए भी इनके द्वारा न्यायालयो के लिए उपयोगी प्रकाश-स्तम्भ का कार्य किया जाता है।"**[3]

(6) **शासन के मूल्यांकन का आधार** (Basis of the Evaluation of Government)—नीति निर्देशक तत्वो द्वारा जनता को शासन की सफलता व असफलता की जाँच करने का मापदण्ड भी प्रदान किया जाता है। शासक दल के द्वारा अपने मतदाताओं को निर्देशक सिद्धान्तो के सन्दर्भ मे अपनी सफलताएँ वतानी होगी और शासन शक्ति पर अधिकार करने के

---

1 Alen Gledhill *The Republic of India*, p 161.
2 Prof. H. C Alexandrowitch *Constitutional Development in India*, pp 106-107.
3 "They served as useful beacon light to the Courts." —*M. C. Setalvad*

इच्छुक राजनीतिक दल को इन तत्वो की क्रियान्विति के प्रति अपनी तत्परता और उत्साह दिखाना होगा। इस प्रकार निर्देशक तत्व जनता को विभिन्न दलो की तुलनात्मक जाँच करने योग्य वना देंगे।

(7) **कार्यपालिका प्रधान इनका दुरुपयोग नहीं कर सकते है** (Executive Head cannot Exploit Provisions)—निर्देशक तत्व के पक्ष मे अन्तिम वात यही कही जा सकती है कि यद्यपि विधान सभा के सदस्यो तथा कुछ सविधान-वेत्ताओ ने यह भय प्रकट किया है कि राष्ट्रपति या राज्यपाल इस आधार पर किसी विधेयक पर अपनी सम्मति देने से इन्कार कर सकते है कि वह निर्देशक तत्वो के प्रतिकूल है, लेकिन व्यवहार मे ऐसी घटना की सम्भावना कम है, क्योकि संसदात्मक शासन प्रणाली मे नाममात्र का कार्यपालिका प्रधान लोकप्रिय मन्त्रिपरिपद् द्वारा पारित विधि को अस्वीकृत करने का दुरसाहस नही कर सकता है। डॉ० अम्वेडकर के शब्दो मे, **"विधायिका द्वारा पारित विधि को अस्वीकृत करने के लिए राष्ट्रपति या रायज्पाल निर्देशक तत्वो का प्रयोग नहीं कर सकते।"**

वास्तव मे, निर्देशक तत्व भारतीय शासन के सर्वोच्च सिद्धान्त है। सर्वोच्च **न्यायालय** के न्यायाधीश श्री केनिया ने '**गोपालन वनाम मद्रास राज्य**' के विवाद पर निर्णय देते हुए कहा था, **"क्योकि राज्य की नीति के निर्देशक तत्व सविधान मे शामिल है, इसलिए वे वहुमत दल के अस्थायी आदेश मात्र ही नहीं हैं, वरन् उनमे राष्ट्र की बुद्धिमत्तापूर्ण स्वीकृति बोल रही है जो सविधान सभा के माध्यम से व्यक्त हुई थी।"**

निर्देशक तत्वों का क्रियान्वयन और उपलब्धियाँ
(IMPLEMENTATION AND ACHIEVEMENTS WITH REGARD TO DIRECTIVE PRINCIPLES)

नीति निर्देशक तत्वो के क्रियान्वयन की समस्या पुलिस राज्य को कल्याणकारी राज्य और सविधान द्वारा स्थापित राजनीतिक लोकतन्त्र को आर्थिक लोकतन्त्र मे परिवर्तन करने की समस्या है। यह कार्य इतना वडा है कि इसे तुरन्त सम्पन्न नही किया जा सकता। इसे पूरा करने के लिए दीर्घकालीन प्रयत्न, प्रचुर धन और तीव्र गति से आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक विकास आवश्यक है।

परन्तु राज्य ने यह कार्य प्रारम्भ कर दिया है और इस दिशा मे कई महत्वपूर्ण वातें की गयी है **प्रथमत**, सात पचवर्षीय योजनाओ के आधार पर कृपि और उद्योगो की उन्नति, शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाओ का प्रसार, नौकरी व कार्य के साधनो मे वृद्धि, राष्ट्रीय आय व लोगो के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के प्रयत्न किये गये है। **द्वितीय**, युवक वर्ग व वालको की शोषण से रक्षा करने के लिए अनेक कानून पास किये गये है, बीमारी और दुर्घटना के विरुद्ध सुरक्षा के लिए कुछ सीमा तक मजदूर वर्ग मे बीमा योजना लागू की गयी है व बेरोजगारी बीमा योजना को लागू करने और रोजगार की सुविधाएँ वढाने के प्रयास किये जा रहे है। राज्य सामाजिक कल्याण की दिशा मे तेजी से आगे वढ रहा है। **तृतीय**, हिन्दू कोड विल के कई अशों जैसे हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955; हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956, आदि को पारित करके देश के सभी वर्गों के लिए समान विधि सहिता प्राप्त करने के प्रयत्न किये जा रहे है। **चतुर्थ**, अस्पृश्यता निवारण के लिए और अनुसूचित तथा पिछडी हुई जातियो के वालको को उदारतापूर्वक छात्रवृत्ति और अन्य सुविधाओ द्वारा शिक्षित करने का कार्य भी हुआ है। **पचम**, यद्यपि अव भी नि.शुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा और सवके लिए पर्याप्त स्वास्थ्य सेवा का प्रवन्ध अधूरा ही है, तथापि इन दिशाओ मे भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। अन्तिम स्थान मे लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीयकरण और सामुदायिक विकास योजनाओ द्वारा ग्राम पचायतो को अधिक सशक्त वनाने का प्रयास किया जा चुका है। गरीवो को 'मुफ्त कानूनी सहायता' प्रदान करने के लिए न्यायमूर्ति पी० एन०

भगवती की अध्यक्षता मे एक समिति गठित की गयी। कई राज्यों ने वृद्ध और असहाय लोगों के लिए पेंशन (Old age Pension) की व्यवस्था की है। सामाजिक सुरक्षा पेंशन के लिए सातवें वित्त आयोग ने राज्यो को 264·08 करोड़ रुपये (1979-84) दिये जाने का प्रावधान किया।[1] बाल श्रमिको के हितो के संरक्षण हेतु केन्द्रीय वाल श्रमिक बोर्ड का गठन किया गया है तथा राज्यों से कहा गया कि वे जिला स्तर पर ऐसे ही वोर्डों का गठन करें।[2]

1969 के वाद की राजनीति मे तत्कालीन शासक वर्ग द्वारा निरन्तर यह संकल्प व्यक्त किया गया कि निर्देशक तत्वो को अधिक तीव्र गति के साथ क्रियान्वित किया जायगा। 1970 से 1976 के वर्षो मे इस दृष्टि से कुछ कार्य भी किये गये, यथा—14 प्रमुख बैंको का राष्ट्रीयकरण, राजाओ के प्रिवीपर्स की समाप्ति, सम्पत्ति के मौलिक अधिकार को सीमित करने हेतु संविधान मे 24वाँ, 25वाँ, 29वाँ और 34वाँ संशोधन और तस्कर व्यापार विरोधी कार्यवाहियाँ, आदि। 1972 मे बन्धक मजदूरी की समाप्ति और स्त्री-पुरुष को समान वेतन दिलाने का अध्यादेश भी जारी किया गया। 1976 मे ही ससद के द्वारा 'शहरी भूमि सीमाकरण कानून' पारित किया गया, जिसके अनुसार चार श्रेणी के शहरो मे शहरी भूमि की सीमा 500 वर्गमीटर से 2,000 वर्गमीटर निश्चित की गयी। 1971 के लोकसभा चुनावों से ही **'गरीबी, बेरोजगारी और असमानता'** को दूर करने का नारा भी जोर-शोर से लगाया गया, लेकिन इस सम्बन्ध में जैसा ठोस कार्य अपेक्षित था, वैसा नही किया गया।

1977 से भारत की राजनीतिक स्थिति मे परिवर्तन हुआ है। 1977 मे सत्तारूढ जनता पार्टी द्वारा अपने चुनाव घोषणा-पत्र मे 'सम्पत्ति के मूल अधिकार' को समाप्त करने और समस्त जनता को 'रोजी-रोटी का अधिकार' प्रदान करने की बात कही गयी थी। 'सम्पत्ति के मूल अधिकार' को सामाजिक-आर्थिक समानता के मार्ग मे वाधक मानकर 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा 'सम्पत्ति के मूल अधिकार' को समाप्त कर दिया गया। निर्देशक तत्वों की क्रियान्विति की दिशा मे अभी हाल ही मे कुछ ठोस कार्य भी हुआ है, जैसे पश्चिमी बंगाल और केरल की सरकारों द्वारा बेरोजगार लोगो के लिए बेरोजगारी भत्ते की व्यवस्था करना। लेकिन यह व्यवस्था बहुत सीमित रूप मे ही की जा सकी है।

निर्देशक तत्वो की क्रियान्विति पर जव हम विचार करें, तब हमारे द्वारा इस तथ्य को दृष्टि मे रखा जाना चाहिए कि सर्वाधिक प्रमुख निर्देशक तत्वों का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 39 मे किया गया है और ये निर्देशक तत्व **'आर्थिक तथा सामाजिक न्याय'** से सम्बन्धित हैं। 'संविधान सभा वाद-विवाद' (C A. D.) के अध्ययन से भी स्पष्ट है कि 'निर्देशक तत्वों का उद्देश्य' आर्थिक तथा सामाजिक असमानता एव अन्याय को दूर कर आर्थिक-सामाजिक न्याय, दूसरे शब्दो मे अधिकाधिक सम्भव सीमा तक आर्थिक-सामाजिक समानता की स्थापना करना है। जब हम इस दृष्टि से आज की स्थिति पर विचार करते है तो पाते हैं कि निर्देशक तत्वो की क्रियान्वित के सम्बन्ध मे स्थिति सन्तोषजनक नही है। सामाजिक समानता स्थापित करने की दिशा मे थोडा कार्य भले ही हुआ हो, लेकिन आर्थिक समानता स्थापित करने की दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई है। आर्थिक असमानता का जो अनुपात संविधान लागू किये जाने के समय था, आज उसमे थोडी भी कमी होने के वजाय वहुत अधिक वृद्धि हुई है। 'समाजवादी ढाँचे का समाज, समाजवाद, लोक-कल्याणकारी राज्य, भारतीय समाजवाद' समय-समय पर ऐसे कई नारे भूतपूर्व और वर्तमान शासक वर्ग के द्वारा लगाये गये हैं, लेकिन एक तरफ भीषण गरीबी और दूसरी तरफ अन्तहीन

1 *The Times of India*, September 12, 1981, p. 6.
2 *The Tribune*, September 24, 1981, p 9

विलासिता, निरन्तर बढती हुई बेरोजगारी और अशिक्षा की जो स्थिति देखी जाती है, वह इस प्रश्न को जन्म देती है कि क्या शासक वर्ग की निर्देशक तत्वो मे, दूसरे शब्दो मे आर्थिक तथा सामाजिक न्याय मे कोई आस्था है ।

देश मे आर्थिक विषमता बढ रही है क्योकि मात्र 10% लोग राष्ट्रीय उत्पादन का अधिकांश हिस्सा हजम कर जाते हैं और इसी कारण से देश मे कुछ परिवारो का राष्ट्रीय उत्पादन पर एकाधिकार बढता गया है । आज भी देश की 48% जनसख्या गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन कर रही है । देश मे 2 करोड आवास मकानो की कमी है । प्रतिवर्ष मात्र 4 लाख मकान बनते हैं जबकि आवश्यकता प्रतिवर्ष 50 लाख मकानो की होती है । 2 प्रतिशत जनसख्या के पास आवश्यक शौचालय (sanitation facilities) है, 6 लाख लोख प्रतिवर्ष तपेदिक से मरते हैं, 25 लाख लोग कोढ से ग्रसित है, 90 लाख लोग अन्धे है और प्रति 17,600 लोगो पर एक डॉक्टर की सुविधा उपलब्ध है । लाखो बच्चे जोखिम भरे स्थानो पर श्रम करते हे । छठी योजना की कुल राशि का मात्र एक प्रतिशत (905 करोड़ रुपये) प्राथमिक शिक्षा पर खर्च किया गया जो यह इगित करता है कि इसे कितना कम महत्व दिया गया है ।

इन आँकड़ो से यह प्रकट होता है कि पचवर्षीय योजनाओ के माध्यम से निर्देशक सिद्धान्तो के क्रियान्वयन हेतु अभी बहुत कुछ करना शेष है । कितने आश्चर्य की बात है कि भारत दुनिया के प्रथम पन्द्रह औद्योगिक देशो मे स्थान रखता है और तकनीकी दृष्टि से प्रशिक्षित मानव शक्ति वाले राष्ट्रो मे हमारा तीसरा स्थान है, हमारे यहाँ दुनिया की सबसे बड़ी शिक्षा-व्यवस्था है तथापि विश्व बैंक के सर्वे के आधार पर हम दुनिया के सबसे निर्धनतम दस देशो मे से एक हैं ।

15

भारतीय संविधान का दर्शन : धर्मनिरपेक्षता

[THE PHILOSOPHY OF THE CONSTITUTION : SECULARISM]

भारतीय संविधान की प्रस्तावना मे भारत को एक धर्मनिरपेक्ष (पन्थ निरपेक्ष) राज्य घोषित किया गया है।[1] भारतीय संविधान मे धर्म अथवा जाति का भेदभाव किये बिना प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार प्रदान किये गये है। भारत मे राज्य का कोई धर्म नही है, इसलिए वह धर्मतन्त्रात्मक राज्य से भिन्न है। कतिपय विद्वानो के अनुसार भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य नही है क्योंकि भारत में राजनीति और धर्म को एक-दूसरे से पूर्ण रूप से पृथक् नही किया गया है। ऐसे विचारको का कहना है कि भारत मे सभी धर्मों के आधारभूत मानवीय सिद्धान्तो को स्कूली बच्चो के शिक्षा पाठ्यक्रमो के अन्तर्गत नैतिक शिक्षा के रूप मे मान्यता दी गयी है; महावीर, गौतम बुद्ध, मुहम्मद साहब तथा रामायण के अन्तर्गत उल्लिखित उच्च मानदण्डो को शिक्षा पाठ्य-क्रमो मे यत्र-तत्र स्थान दिया गया है। ऐसी स्थिति मे यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है ? वास्तव मे यह प्रश्न कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है अथवा नही, मूलतः इस बात पर निर्भर करता है कि धर्मनिरपेक्षता का क्या अर्थ है।

धर्मनिरपेक्षता से अभिप्राय (Meaning of Secularism)

धर्मनिरपेक्ष राज्य से तात्पर्य है कि राज्य अपने कार्यों के लिए धर्म को आधार नही बनाता राज्य का अपना कोई धर्म नही होता तथा धर्म के नाम पर राज्य नागरिको के मध्य किसी प्रकार का भेदभाव नही करता। राज्य धर्म को व्यक्ति के आन्तरिक विश्वास की वस्तु समझता है तथा धर्म और राजनीति की पृथकता मे विश्वास करता है। राजनीतिक क्षेत्र मे धर्मनिरपेक्षतावाद से अभिप्राय है कि राज्य व शासन के अधिकारियो की नियुक्ति व चुनाव, शासन का कार्यक्रम व नीतियाँ, शासन द्वारा आर्थिक सहायता का वितरण, इत्यादि धर्म के आधार पर न हो। राजनीतिक दलो व अन्य सस्थाओ का संगठन एव उनकी रचना धार्मिक आधार पर न की जाये। कोई राज-कीय धर्म न हो और कानून तथा न्यायालय धर्म के आधार पर पक्षपात न करे। यह ऐसा सिद्धान्त है जो देश के नागरिको मे धर्म, सम्प्रदाय, लिग, रग, विश्वास, राष्ट्रीयता, जन्म, आदि पर भेदभाव नहीं करता। सभी को अपनी इच्छानुसार किसी धर्म को अपनाने या छोड़ने का अधिकार होता है।

धर्मनिरपेक्षता के दो रूप हो सकते हैं—**पहला**, राज्य धर्म विरोधी हो, उसकी धर्म विरोधी

---

[1] भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'भारत का संविधान' (हिन्दी अनुवाद संस्करण) मे 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द के बजाय 'पन्थ निरपेक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है जो अधिक उपयुक्त है। सही मायने में भारत 'धर्मनिरपेक्ष, राज्य न होकर 'पन्थ निरपेक्ष' राज्य है। 'Secular' शब्द का अनुवाद 'पन्थ निरपेक्ष' ही होना चाहिए।

विचारधारा हो तथा वह उसी पर आचरण करे। दूसरा, राज्य धर्मों की ओर उदासीन हो, किसी धर्म को सरक्षण न दे, किसी धर्म से द्वेष न करे, नागरिको को अपनी रुचि का धर्म मानने की स्वतन्त्रता दे और आवश्यकता पड़ने पर यदि राज्य किसी कार्य या जनहित के कार्य में किसी धर्म की किसी बात को बाधक पाता हो तो उसे अपने लिए अमान्य घोषित कर सके। भारत मे दूसरे अर्थ मे ही धर्मनिरपेक्षता को अंगीकार किया गया है।

डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार, "धर्मनिरपेक्ष होने का तात्पर्य अधर्मी होना अथवा सकुचित धार्मिकता पर चलना नही होता वरन् उसका तात्पर्य पूर्णतः आध्यात्मिक होना होता है।" डॉ० अम्बेडकर के अनुसार, "धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह नही है कि हम लोगों की धार्मिक भावनाओं का आदर नहीं करेंगे। इसका तो केवल यही अर्थ है कि राज्य लोगों पर किसी धर्म को नही थोपेगा।" डोनाल्ड स्मिथ के शब्दों मे, "धर्मनिरपेक्ष राज्य वह राज्य है जिसके अन्तर्गत धर्म विषयक व्यक्तिगत एवं सामूहिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है, जो व्यक्ति के साथ व्यवहार करते समय धर्म को बीच मे नही लाता, जो संवैधानिक रूप से किसी धर्म से सम्बन्धित नही है और न किसी धर्म की उन्नति की चेष्टा करता है और न ही किसी धर्म के मामले मे हस्तक्षेप करता है।"

ऑक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य ऐसे सिद्धान्त से है जिसमे नैतिकता, ईश्वर की मान्यता अथवा भावी जीवन की कल्पना पर आधारित न होकर केवल मानव के लौकिक जीवन मे उसके कल्याण पर ही आधारित होनी चाहिए। वैब्स्टर के तीसरे नवीन विश्वकोष की परिभाषा के अनुसार धर्मनिरपेक्षता जीवन अथवा किसी अन्य विषय से सम्बन्धित वह दृष्टिकोण है जो इस धारणा पर आधारित होता है कि सामाजिक नैतिकता के सिद्धान्तो के निरूपण में धर्म अथवा किसी भी प्रकार के धार्मिक विचारो को शामिल नही किया जाना चाहिए। अतः नैतिक मानदण्डो अथवा आचरण का निर्धारण धर्म से सम्बन्धित न होकर केवल वर्तमान लौकिक जीवन एवं सामाजिक कल्याण से ही सम्बन्धित होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि धर्मनिरपेक्ष समाज मे शिक्षा, सामाजिक जीवन तथा राजनीति से सम्बन्धित सभी प्रश्नो के विषय मे निर्णय धर्मेतर तार्किक एव अवैयक्तिक आधार पर किया जाना चाहिए। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता एक नये प्रकार का स्वतन्त्र विचार है जिसका उद्देश्य भक्ति तथा धर्म के स्थान पर भौतिक माध्यम से मानव जीवन का विकास करना है।

संक्षेप मे, धर्मनिरपेक्ष राज्य का यही अर्थ होता है कि राज्य विभिन्न धर्मों मे से किसी एक के साथ पक्षपात न करे और न किसी धर्म को राजकीय धर्म घोषित किया जाय। धर्मनिरपेक्ष राज्य का यह काय नही है कि राज्य धर्म का विरोध करता रहे या वह व्यक्तियों को नास्तिक होने के लिए प्रोत्साहित करे। भारतीय सविधान के परिप्रेक्ष्य मे टी० के० टोपे ने लिखा है, "भारत के धर्मनिरपेक्ष होने का यह अर्थ नही है कि ईश्वर के अस्तित्व को नही माना जाता। भारतीय सविधान मे ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता प्रदान की गयी है। देश के प्रमुख पदाधिकारियो को पद ग्रहण करते समय ईश्वर के नाम पर शपथ लेनी पडती है।" धर्मनिरपेक्ष राज्य सभी धर्मों के अनुयायियो को समान सरक्षण तथा स्वतन्त्रता देता है। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र मे राज्य 'लैसे फेयर' (*Laisse faire*) की नीति अपनाता है।

धर्मनिरपेक्ष सिद्धान्त : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(THE CONCEPT OF SECULARISM : HISTORICAL BACKGROUND)

धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी विचार की उत्पत्ति रोमन साम्राज्य के समय मे हुई जब सीजर सभी ईसाई धर्मावलम्बियो से राज्य निष्ठा की अपेक्षा करता था और जो लोग राज्य निष्ठा को स्वीकार नही करते थे उन्हे सत्रस्त किया जाता था। इसी काल मे सेण्ट मार्क द्वारा ईसा के जीवन-चरित्र मे लिपिबद्ध ईसा के उपदेश पर कि "जो सीजर का है वह सीजर को दो और जो ईश्वर

का है वह ईश्वर को दो", धर्म के राजनीतिक पृथक्करण की नीव पड़ी। उसी समय से लौकिक सत्ता एव चर्च के प्रभाव-क्षेत्रो की सीमाओ का निर्धारण करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। पुनर्जागरण और मानववाद के दर्शन और प्रचार मे धर्मनिरपेक्ष मूल्यो को महत्व दिया गया, जिससे चर्च की शक्ति कम अवश्य हुई, फिर भी चर्च और राज्य के बीच सघर्ष चलता रहा और प्रोटेस्टैण्ट और कैथोलिक राज्यो के अन्तर्गत चर्च राज्य के सम्बन्धो मे कोई विशेष अन्तर न था। मैकियावली जैसे दार्शनिक ने धर्म और राजनीति को पृथक् कर धर्मनिरपेक्षता की दिशा मे एक महत्वपूर्ण एव ठोस आधार प्रस्तुत किया। उसने यह स्पष्ट किया कि राज्य और धर्म दो भिन्न चीजे हैं और राजनीति पर धर्म का कोई प्रभाव नही होना चाहिए। 16वी शताब्दी मे मार्टिन लूथर, काल्विन, आदि के नेतृत्व मे पोपशाही के विरुद्ध एक क्रान्ति हुई थी जिसे धर्म-सुधार आन्दोलन कहा गया। इस धर्म-सुधार आन्दोलन ने व्यक्ति को धर्माधिकारियो के नियन्त्रण और धर्मशास्त्रियो की दासता से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न किया। धर्म-सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप धर्मनिरपेक्ष सिद्धान्त को बल मिला। आगे चलकर धर्म व्यक्ति के निजी क्षेत्र का विषय बन गया, राज्य और धर्म एक-दूसरे से पृथक् हो गये। अमरीकी सविधान के निर्माण के बाद चर्च का राज्य से पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया गया। अन्य लोकतान्त्रिक देशो के सविधानो मे आगे चलकर इसी आदर्श का अनुसरण किया गया।

धर्मनिरपेक्षता की धारणा एवं गांधी और नेहरू की विरासत (The Concept of Secularism : Legacy of Gandhi and Nehru)

भारत ऐसा देश है जिसमें अनेक धर्मों के मानने वाले, अनेक जातियो के, अनेक भाषा-भाषी एवं अनेक नस्लो के लोग रहते है। पहले के नेता इस तथ्य से परिचित थे, इसीलिए वे राष्ट्रीय शिक्षा एवं बहुलवादी समाज की बात करते थे।

प्रारम्भ मे कांग्रेस की बागडोर उच्च वर्ग के ही लोगो के हाथो मे थी, किन्तु वे भी टकराव का मार्ग पसन्द नही करते थे। अरविन्द, तिलक, लाजपतराय जैसे कांग्रेस के उग्रवादी नेताओं ने जनसाधारण को साथ लेने के उद्देश्य से और उनमे ब्रिटिश विरोधी भावना जाग्रत करने के लिए काली पूजा, गणेश उत्सव, शिव उत्सव, गो रक्षा, आदि धार्मिक उत्सवो तथा नारों का सहारा लिया। किन्तु ये नारे केवल एक ही धर्म के अनुयायियों को आकृष्ट करते थे। फलतः अन्य धार्मिक समुदायो में धार्मिक पुनर्जागरण की लहर आयी।

सन् 1920 के दशक मे जब गांधी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अग्रणी नेता के रूप में उभरे तब उन्होने यह अनुभव किया कि शक्तिशाली ब्रिटिश राज के विरुद्ध वास्तविक सघर्ष छेडने के लिए यह आवश्यक था कि विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोगो के बीच एकता हो। 1919-22 मे असहयोग एवं खिलाफत आन्दोलन के अवसर पर गांधीजी ने पहली बार हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायो को सयुक्त करने का प्रयत्न किया। किन्तु इसके बाद गांधी द्वारा स्थापित एकता सकट मे पड़ गयी क्योकि यह एकता शुद्ध रूप से धार्मिक आन्दोलन के समर्थन के लिए भावनात्मक आकर्षण पर आधारित थी। तिलक एवं अरविन्द की परम्परा में गांधीजी ने भी 'राम-राज्य' आदि हिन्दू शब्दावली का प्रयोग किया। प्रार्थना सभाओ मे कीर्तन को अपनाया और गौ-रक्षा जैसे आन्दोलनो का समर्थन किया जिनका आकर्षण मुख्यतः हिन्दुओ के लिए था। उन्होंने वैज्ञानिक आधार पर कांग्रेस की धर्मनिरपेक्ष छवि विकसित करने के लिए कांग्रेस की उग्रवादी परम्परा मे कोइ आधारभूत परिवर्तन करने का प्रयत्न नही किया। वस्तुतः गाधीजी जो स्वय बड़े धार्मिक और जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति थे, यह विश्वास करते थे कि धर्म को राज-नीति से अलग नही किया जा सकता। वे धर्म की सार्वभौमिकता मे विश्वास करते थे और धर्म के माध्यम से विभिन्न धार्मिक समुदायों को मिलाने का प्रयत्न करते थे। वह कट्टर हिन्दू परिवार मे

जन्मे थे और अधिकाश मे हिन्दू मान्यताओ का पालन करते थे। यद्यपि यदा-कदा अन्य धर्मों की मान्यताओ एव रीतियो का भी अनुसरण करते थे।

गांधीजी राजनीति मे धर्म का समावेश करके राजनीति का आध्यात्मिकरण करना चाहते थे। उनके अनुसार धर्म से शून्य राजनीति मृत्यु का एक जाल है। जब वे राजनीति मे धर्म के प्रवेश की बात करते थे तो उनका आशय था कि "राज्य मे रहने वाले प्रत्येक नागरिक को बिना किसी बाधा के अपना धर्म पालन करने का पूर्ण अधिकार हो—राज्य है तो किसी धर्म का सरक्षण करे और न किसी धर्म के उचित विकास मे बाधक हो। सक्षेप मे, राज्य का अपना कोई विशेष धर्म या सम्प्रदाय नही होना चाहिए, किन्तु राज्य धर्मरहित भी न हो। राज्य को नीति धर्म के शाश्वत और सार्वभौमिक नियमो—सत्य, अहिंसा, प्रेम, सेवा, आदि का पूर्ण पालन करना चाहिए।"

जवाहरलाल नेहरू ने धर्मनिरपेक्षता के प्रति अपनी गहन निष्ठा रखी। उनका अभिमत था कि धर्मनिरपेक्षता का मार्ग भारत की एकता को सुदृढ करने वाला है। उन्होंने कहा, "भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है इसका अर्थ धर्महीनता नही, इसका अर्थ सभी धर्मों के प्रति समान आदर भाव तथा सभी व्यक्तियो के लिए समान अवसर है।" नेहरू को धर्म अथवा ईश्वर से घृणा नही थी। धर्म के वैज्ञानिक और स्वस्थ दृष्टिकोण से उन्हे कोई चिढ़ न थी किन्तु उनके जीवन-दर्शन मे अन्धविश्वास, कट्टरता, कर्मकाण्ड और सस्कारवाद को स्थान न था। धर्म से उनका आशय था निष्ठापूर्वक सत्य की खोज करना, सत्य के लिए सब कुछ बलिदान करने को उद्यत रहना। गांधीजी और नेहरू की धर्मनिरपेक्षता का यही संकल्प कांग्रेस को विरासत मे मिला और इसी को बाद मे सविधान मे भी शामिल किया गया।

तालिका

भारत के प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय : सदस्य संख्या

(1981 की जनगणना के अनुसार)[1]

धर्म	सदस्यता	प्रतिशत
हिन्दू	549,779,481	82·64
मुसलमान	75,512,439	11 35
ईसाई	16,165,447	2·43
सिख	13,078,141	1·96
बौद्ध	4,719,796	0 71
जैन	3,206,038	0·48
अन्य धर्म	2,766,285	0 42
धर्म जिनका उल्लेख नही है	60,217	0·01

भारत में धर्मनिरपेक्षता क्यों ? (Why Secularism in India ?)

भारत एक धर्मप्रधान देश रहा है, फिर भी यह विचारणीय प्रश्न है कि भारत मे धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को क्यो अपनाया गया। पश्चिम के कतिपय प्रगतिशील देशो ने अपने यहाँ के प्रचलित प्रधान धर्म को राज्य धर्म के रूप मे ग्रहण कर रखा है। फिर भारत मे नये संविधान और लोकतन्त्र की स्थापना करते समय धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त क्यो अपनाया गया ? भारतीय सस्कृति का मूल मन्त्र ही धर्म रहा है, धर्म ही भारतीयो का प्राण रहा है, उनका सम्पूर्ण जीवन

---

[1] स्रोत : मनोरमा इयर बुक, 1989 : इस जनगणना मे असम को सम्मिलित नही किया गया है।

धर्म से ओत-प्रोत रहा है। पुरुषार्थत्रय धर्म, अर्थ और काम के अन्तर्गत धर्म को ही प्रथम स्थान दिया गया है। महर्षि वेदव्यास ने महाभारत मे लिखा है कि "धर्म से ही अर्थ की प्राप्ति होती है, धर्म से ही काम की प्राप्ति होती है, फिर ऐसे धर्म का सेवन क्यो न किया जाय? भारत मे धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को अपनाये जाने के निम्नलिखित कारण है :

(1) राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान भारत मे साम्प्रदायिक राजनीति का विकास हुआ जिसके परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ। इसके सविधान-निर्माताओ ने यह शिक्षा ली कि धर्म और सम्प्रदाय को राज्य एवं राजनीति से पृथक् रखा जाय।

(2) भारत मे धार्मिक अल्पसख्यको के हित मे धर्मनिरपेक्षता का आदर्श ही सबसे बड़ा कारगर संरक्षण है। पाकिस्तान के निर्माण के वाद भी 11 करोड मुसलमान भारत मे विद्यमान हैं। मुसलमानों के अलावा सिख, पारसी, जैन, बौद्ध, आदि अन्य अल्पसंख्यक धर्मावलम्बी है अतः भारत मे धर्मनिरपेक्ष राज्य की नींव रखी गयी।

(3) भारत मे नये संविधान द्वारा लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली की स्थापना की गयी है और लोकतन्त्र मे सभी नागरिको को समानता का अधिकार प्राप्त होता है। एक ऐसे देश में जिसमे विभिन्न धर्मो के अनुयायी हो, यदि राज्य किसी धर्म विशेष को संरक्षण देता है या किसी धर्म से द्वेष रखता है अर्थात् किसी धर्म के मानने वालो को उच्चतर या निम्नतर स्तर देता है तो राज्य नागरिको मे समानता नही बरत सकता।

(4) लोकतन्त्र का आधार व्यक्ति के मानवीय अधिकार है। इन अधिकारो में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बहुत ही महत्वपूर्ण है। धार्मिक स्वतन्त्रता इसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अग है। किसी व्यक्ति पर कोई विशेष धर्म लादना अथवा कोई विशेष धर्म मानने या न मानने पर उसके साथ विभेद करना उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप करना है। यह हर व्यक्ति का अधिकार है कि वह उसी धर्म का पालन करे जिसे वह अपने लिए ठीक समझता हो। राज्य यदि इसमे बाधा डालता है तो वह लोकतान्त्रिक नही रह सकता।

डोनाल्ड यूजिन स्मिथ के अनुसार, "चूंकि भारत मे अनेक सम्प्रदाय और मत-मतान्तर हैं, इसलिए भारत मे राज्य द्वारा किसी विशेष धर्म को मान्यता देना अच्छा नही समझा गया।" धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता पर जोर देते हुए प्रसिद्ध विधिवेत्ता डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने लिखा है, "यह राष्ट्रीय एकीकरण का एक साकार विचार है जिसमे राष्ट्रीय जीवन की बिखरी हुई सम्पन्नता को पल्लवित करने की क्षमता है।"

धर्मनिरपेक्षता हमारी राष्ट्रीयता का आधार है। हमारे जीवन मूल्यो का सार तत्व विभिन्न धर्मो के बीच हजारो वर्षो से चले आ रहे सहअस्तित्व का निचोड़ है। यह सत्य और अहिंसा, सहिष्णुता और करुणा तथा मानव मात्र की एकता की धारणा के प्रति हमारी निष्ठा से विकसित हुई है। धर्मनिरपेक्षता-विविधता मे एकता और हमारे देश की गौरवमयी विभिन्नताओ के प्रति हमारे आदर का प्रतीक है। धर्मनिरपेक्षता अन्य सभ्यताओ और संस्कृतियो के सर्वोत्तम तत्वों के साथ हमारे आत्मविश्वास भरे सम्पर्क की दीर्घ परम्परा का परिणाम है।

भारत मे धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म का विरोध या अधार्मिकता नही है। इसका अर्थ है सर्वधर्म समभाव—सभी धर्मों को समान आदर देना, चाहे वह बहुसख्यकों का धर्म हो या अल्पसख्यको का। धर्मनिरपेक्षता मे हर व्यक्ति को पूजा और प्रचार की पूरी स्वतन्त्रता शामिल है। लेकिन राज्य का कोई धर्म नही है और वह धर्म के आधार पर अपने किसी भी प्रकार के भेदभाव और पक्षपात का निषेध करता है।

भारतीय सविधान में धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी प्रावधान (Constitutional Provisions about Secularism)

भारत के सविधान मे धर्मनिरपेक्ष राज्य के दो आधार हैं, सर्वप्रथम, सविधान की प्रस्तावना मे न केवल भारतीय गणतन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो का जैसे—न्याय, स्वतन्त्रता, समानता एव भ्रातृत्व का उल्लेख किया गया है वरन् स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि प्रत्येक नागरिक को अन्य स्वतन्त्रताओ के साथ व्यक्तिगत रूप से मान्य सिद्धान्तो मे विश्वास और उपासना करने की भी स्वतन्त्रता प्राप्त है। सविधान की प्रस्तावना मे स्पष्ट कहा गया है, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता सभी नागरिको को प्राप्त होगी। 42वें सविधान संशोधन द्वारा सन् 1976 में सविधान की प्रस्तावना मे 'धर्मनिरपेक्षता' (पन्थ निरपेक्षता) शब्द जोडकर हमारे सविधान की धर्मनिरपेक्ष धारणा को स्पष्टता प्रदान की गयी है। द्वितीय, सविधान मे धर्मनिरपेक्ष राज्य का दूसरा आधार नागरिको के धार्मिक स्वतन्त्रता के मूल अधिकार के रूप में है। सविधान के अनुच्छेद 25 से 28 नागरिको के धार्मिक स्वतन्त्रता के मूल अधिकार का उल्लेख करते हैं।

भारतीय सविधान मे धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित है :

(1) **अन्त.करण की और धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता**—अनुच्छेद 25 के अनुसार सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के उपबन्धो के अधीन रहते हुए सब व्यक्तियो को अन्त.करण की स्वतन्त्रता तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार है। लेकिन इस अनुच्छेद को कोई बात किसी ऐसी वर्तमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव अथवा राज्य के लिए किसी ऐसी विधि के बनाने मे रुकावट नही डाल सकती जो (क) धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओ का विनियमन अथवा निर्बन्धन करती हो; (ख) सामाजिक कल्याण और सुधार उपबन्धित करती हो अथवा हिन्दुओ की सार्वजनिक प्रकार की धर्म संस्थाओ को हिन्दुओ के सब वर्गों और विभागो के लिए खोलती हो।

(2) **धार्मिक कार्यों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता**—अनुच्छेद 26 ने व्यवस्था की है कि "सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी विशेष विभाग को—(क) धार्मिक और पूर्व प्रयोजनो के लिए सस्थाओ की स्थापना और पोषण का, (ख) अपने धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयो के प्रबन्ध करने का, (ग) जगम और स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का, और (घ) ऐसी सम्पत्ति का विधि के अनुसार प्रशासन करने का अधिकार होगा।

(3) **किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि के लिए करों के संदाय के बारे में स्वतन्त्रता**—अनुच्छेद 27 के अनुसार यह स्पष्ट किया गया है कि किसी भी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की बढोत्तरी के लिए कर देने के लिए बाध्य नही किया जा सकता।

(4) **कतिपय शिक्षा संस्थाओ में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के बारे में स्वतन्त्रता**—अनुच्छेद 28 के अनुसार सरकारी शिक्षण संस्थाओ मे धार्मिक शिक्षा की मनाही की गयी है। राज्य से मान्यता प्राप्त या राज्य निधि से सहायता पाने वाली शिक्षण सस्था मे उपस्थित होने वाली किसी ऐसी संस्था मे मे दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा मे भाग लेने के लिए या ऐसी सस्था मे या उसे संलग्न स्थान मे की जाने वाली धार्मिक उपासना मे उपस्थित होने के लिए तब तक बाध्य नहीं किया जायेगा जब तक कि उस व्यक्ति ने या यदि वह अवयस्क है तो उसके सरक्षक ने इसके लिए अपनी सहमति नही दे दी है।

इसके अतिरिक्त संविधान मे यत्र-तत्र अनेक ऐसे उपबन्ध हैं जिनसे धर्मनिरपेक्षता की स्थापना होती है। जैसे, संविधान का अनुच्छेद 14 समानता के अधिकार को मान्यता देता है। इसी के अधीन सभी नागरिको को राजनीतिक क्षेत्र मे समान अधिकार दिये गये हैं और धर्म, जाति, वंश, आदि के आधार पर कोई विभेद नही किया गया है। संविधान का अनुच्छेद 15 धर्म, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर विभेद को वर्जित घोषित करता है। संविधान के अनुच्छेद 29 के अनुसार अल्पसंख्यको को अपनी विशिष्ट भाषा, लिपि या संस्कृति को बनाये रखने का अधिकार दिया गया है। अनुच्छेद 30 मे विभिन्न अल्पसख्यक वर्गों को अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा-संस्थाओं को स्थापित करने और उनके प्रशासन का अधिकार दिया गया है और यह भी कहा गया है कि आर्थिक सहायता देने के मामले मे सरकार इस आधार पर विभेद न करेगी कि वह संस्था किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध मे है। संविधान का अनुच्छेद 325 यह घोषणा करता है कि धर्म, वंश या जाति के आधार पर किसी भी व्यक्ति को निर्वाचक नामावली मे सम्मिलित किये जाने के लिए अपात्र न समझा जायेगा।

भारतीय संविधान के धर्मनिरपेक्ष प्रावधानो का स्वरूप *(Nature of the Constitutional Provisions regarding Secularism)*

कुछ विचारको का कहना है कि भारतीय संविधान के धर्मनिरपेक्ष प्रावधान मात्र दिखावा हैं और वास्तव मे भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य कहना उचित नही है। उनका कहना है कि भारत में राज्य सक्रिय रूप से धार्मिक मामलो मे भाग लेता है। भारतीय संविधान विभिन्न धर्मों को आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित करने की व्यवस्था करता है। सरकार के प्रतिनिधि धार्मिक उत्सवो मे सम्मिलित होते है। धार्मिक नेताओ के जन्म-दिवस मनाये जाते हैं और उन अवसरो पर सरकारी छुट्टी होती है। रेडियो द्वारा विभिन्न धार्मिक कार्यक्रम प्रसारित किये जाते हैं। राज्य विधायिनी वर्गीकरण के नाम पर विभिन्न धर्मों के मानने वालो के बीच भेदभाव कर सकता है और विभिन्न धर्मों के नियमो में सार्वजनिक हित मे सुधार के नाम पर परिवर्तन कर सकता है।

वस्तुतः भारत मे राज्य धार्मिक मामलो मे बिल्कुल पृथक् नही है। वह धार्मिक मामलों मे रुचि लेता है। लेकिन विभिन्न धर्मों के बीच कोई विभेद न करके समानता के सिद्धान्त को अपनाता है। भारत इन अर्थों मे एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है कि वह एक धर्मतन्त्र की स्थापना नही करता। स्मिथ के अनुसार, धर्मनिरपेक्षता मूल रूप से दो बातो पर निर्भर करती है—धार्मिक स्वतन्त्रता एवं कानून के समक्ष समानता। भारत का संविधान इन दोनों शर्तों को पूरा करता है। इन अर्थों मे भारत निःसन्देह एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। स्मिथ के शब्दों में, "भारत उसी अर्थ में धर्मनिरपेक्ष है जिस अर्थ में भारत को प्रजातन्त्र कहा जा सकता है।"

भारतीय धर्मनिरपेक्षता : व्यावहारिक पक्ष (Secularism in Practice)

भारत मे सरकार इस बात के लिए वचनबद्ध है कि वह अल्पसंख्यको के प्रति चाहे वे धार्मिक, सांस्कृतिक या भाषायी कोई भी क्यों न हों, किसी किस्म का भेदभाव नहीं होने देगी। भारत में सभी धर्मों के मानने वाले सम्मान और इज्जत के साथ रहते है। उन्हे न केवल कानून द्वारा समान अधिकार और संरक्षण की गारण्टी प्राप्त है बल्कि वे देश के महत्वपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन में सक्रियता से भाग ले रहे हैं। इस बात को कोई भूल नही सकता कि मौलाना अबुल कलाम आजाद और रफी अहमद किदवई भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के प्रमुख सेनापतियों में थे। भारतीय संविधान के निर्णय मे डॉ० बी० आर० अम्बेदकर की प्रमुख भूमिका रही है। दो प्रमुख मुस्लिम नेता जाकिर हुसैन और फखरुद्दीन अली अहमद और एक सिख ज्ञानी जैलसिंह राष्ट्रपति के सर्वोच्च पद को सुशोभित कर चुके हैं। बहुत-से राज्यों मे मुसलमान, सिख और ईसाई राज्यपाल, मुख्यमन्त्री, आदि ऊँचे पदों पर हैं। हमारे एकमात्र फील्ड मार्शल मानेकशा

पारसी हैं। एयर चीफ मार्शल लतीफ मुसलमान, एयर मार्शल इजीनियर पारसी तथा एयर चीफ मार्शल अर्जुनसिंह सिख थे। हमारे नौसेना अध्यक्ष रह चुके परेरा ईसाई तथा कर्सेटजी पारसी थे। वर्तमान मे हमारे देश के गृहमन्त्री श्री मुफ्ती मोहम्मद मुसलमान है। सेना मे वरीयता के लिए पुरस्कार प्राप्त करने वाले शूरवीरो में मुसलमान, सिख और ईसाई सभी धर्मों के लोग होते हैं।

भारतीय धर्मनिरपेक्षता : समस्याएँ और चुनौतियाँ (Problems and Challenges of Secularism in India)

धर्मनिरपेक्षता की नीति आज कसौटी पर है। लोक व्यवहार मे आमतौर पर यह देखा गया है कि धर्मनिरपेक्षता का उपयोग मात्र एक वर्ग के हित मे किया जा रहा है। अल्पसख्यको के नाम पर शासन का सारा सोच-विचार व्यवहार केवल मुसलमानो के हित मे हो रहा है। जहाँ कही अन्य धर्मावलम्बी अल्पसख्या मे हैं वहाँ उन्हे भी लुभाया जाता है परन्तु बहुसंख्यको को निरन्तर कोसा जा रहा है। इस व्यवहार के पीछे विचारपूर्ण दृष्टिकोण न होकर राजनीतिक स्वार्थमात्र रहा है। धर्मनिरपेक्षता की दुहाई देने वाले सभी नेता दिल्ली के इमाम अब्दुल्ला बुखारी से मुसलमानो के वोट दिलवाने की फरियाद करते दिखायी देते हैं और मिजोरम मे क्रिश्चियन चर्च की दुहाई देकर वे चुनाव लड़ते हैं।[1]

डॉ० पी० बी० गजेन्द्र गडकर ने धर्मनिरपेक्ष राज्य की निम्नलिखित प्रमुख समस्याएँ बतलायी हैं :

(1) साम्प्रदायिकता आज की सर्वाधिक गम्भीर समस्या है। यदि राज्य नागरिको की सम्पत्ति व जीवन की साम्प्रदायिक हिंसा से रक्षा नही कर सकता तो धर्मनिरपेक्ष राज्य एक मजाक बनकर रह जायेगा।

(2) धर्मनिरपेक्ष राज्य के लिए दूसरी बड़ी समस्या हिन्दू धार्मिक सस्थाओ मे राज्य का बहुत अधिक हस्तक्षेप है।

(3) वर्तमान भारत मे तीसरी बड़ी समस्या कानूनी ढाँचे मे धार्मिक निजी कानून की स्थिति है।

(4) चौथी व अन्तिम समस्या धर्मनिरपेक्ष राज्य को आधारभूत रूप से परिभाषित करने की है।

डॉ० गजेन्द्र गडकर के अनुसार कई समस्याओ के होते हुए भी भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य कहना समीचीन होगा। भारत उसी अर्थ मे धर्मनिरपेक्ष है जिस अर्थ मे भारत को प्रजातन्त्र कहा जा सकता है।[2] भारतीय राजनीति व शासन मे कई अप्रजातान्त्रिक विशेषताओ के होते हुए भी ससदीय प्रजातन्त्र वहाँ कार्यशील है और वह पर्याप्त क्षमता से कार्य कर रहा है। इसी तरह धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श स्पष्ट रूप से सविधान मे विद्यमान है और इसे महत्वपूर्ण प्रयासो के माध्यम से क्रियान्वित किया जा रहा है। सक्षेप मे, यह आशा की जा सकती है कि राजनीतिक जागरूकता बढाने और जनतन्त्रीय मूल्यो के परवान चढ़ने के साथ धर्मनिरपेक्षता का स्वरूप भी निखरता जायेगा।[3]

---

1 क० च० कुलिश : "कांग्रेस के सामने अस्तित्व का सकट", राजस्थान पत्रिका (जोधपुर), 14, नवम्बर, 1989।

2 पी० बी० गजेन्द्र गडकर, "भारत में धर्मनिरपेक्षा", इकबाल नारायण (सम्पादित), भारतीय सरकार एवं राजनीति, खण्ड 1, 1974, पृ० 98।

3 एस० एम० सईद, भारतीय राजनीतिक प्रणाली, 1978, पृ० 366।

16

संविधान संशोधन एवं सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन

[THE CONSTITUTIONAL AMENDMENTS AND SOCIO-ECONOMIC CHANGES]

संविधान एक जीवित और परिवर्तनशील प्रलेख है। देश और काल की बदलती हुई परिस्थितियो के अनुसार संविधानों में परिवर्तन परम आवश्यक हो जाता है। संविधान स्थायी नही होते; यदि ऐसा मान लिया जाय तो संविधानो की तुलना धर्मशास्त्र से की जाने लगेगी। लॉर्ड मैकाले के अनुसार, "यदि किसी आदर्श संविधान मे संशोधन प्रक्रिया का अभाव है तो वह संविधान जड़ बन जायगा, उस राष्ट्र की जनता आगे बढती जायगी किन्तु संविधान पिछड़ जायगा। यदि संविधान में सरलता से परिवर्तन नही किया जा सका तो क्रान्ति ही प्रगति का अन्तिम उपाय होगी।"[1] **हरमन फाइनर** के अनुसार, "अपने निर्माण के दस वर्ष बाद प्रत्येक संविधान पुराना पड जाता है। आवश्यकतानुसार यदाकदा परिवर्तन द्वारा ही उसे आद्योपान्त (up-to-date) रखा जा सकता है।" **मल्फोर्ड** के शब्दों में, "ऐसा सविधान जिसमे संशोधन नही किया जा सकता है, उसे बुरे समय की बुरी-से-बुरी निरंकुशता कहा जा सकता है।"[2] **मुनरो** के अनुसार, "ऐसे संविधान का अनुमान नही लगाया जा सकता जिसमे सशोधन विधि का अभाव हो।"[3]

डॉ० फाइनर के अनुसार, "सविधान का स्वत्व उसके लेख से नही बल्कि उसके संशोधन करने के ढंग से निश्चित किया जाता है। संशोधनो का अर्थ है पुन. रचना या पुनर्निर्माण।"[4] **डॉ० सुभाष काश्यप** की धारणा उल्लेखनीय है : "संविधान ही राज्य के विभिन्न अगो का गठन कर उन्हे शरीर देता है, शक्ति देता है, इस शरीर गठन और अंग व्यवस्था के पीछे राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक आस्थाओ-आकांक्षाओ की प्रेरणा होती है। प्रत्येक नयी पीढी और नये युग के साथ कुछ नयी चेतनाओ, प्रेरणाओं का जन्म होता है, किसी भी संविधान की महानता इसी मे है कि वह नष्ट हुए बिना बदलती हुई सामाजिक मान्यताओ के अनुरूप ढाला जा सके। इसके लिए

---

1 **लॉर्ड मैकाले** लिखते है, "क्रान्ति का सबसे प्रमुख कारण यह है कि जहाँ राष्ट्र उन्नति के पथ पर अग्रसर होते हैं, संविधान वही के वही यथावत् खडे रहते है।"

2 "An unamendable constitution is the worst tyranny of time or rather the very tyranny of time." —Mulforde

3 "... It is impossible to conceive of an unamendable constitution as anything but a contradiction in terms." —Munro

4 "Indeed, the essence of a constitution is its flexibility as compared with ordinary laws We might define of a constitution as its process of amendment For to amend is to deconstitute or reconstitute."
—Herman Finer : *The Theory and Practice of Modern Governments*, 1965, p. 127.

आवश्यक है कि सविधान मे आन्तरिक दृढता के साथ एक लोच या लचीलापन हो, एक नम्यता और परिवर्तनशीलता हो।"[1]

सविधान मे सशोधन कई कारणो से आवश्यक हो जाते हैं :

प्रथम, सविधान लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र है, स्वयमेव एक लक्ष्य नही। उसे कोई पवित्रता प्राप्त नही, वह समय व राज्य की आवश्यकताओ के अनुरूप ही होना चाहिए। आधुनिक युग मे जबकि विज्ञान व तकनीकी प्रगति ने मानव की आवश्यकताओ तथा उनकी पूर्ति मे एक क्रान्ति ला दी है, कोई सविधान अनम्य स्थायित्व का दावा कर यह नही कह सकता कि वह परिवर्तनशील परिस्थितियो के अनुकूल होने की क्षमता भी रखता है। पायली के शब्दो मे, "बदलती हुई परिस्थितियो के अनुरूप होने के लिए सशोधन की अत्यधिक आवश्यकता है नही तो क्रान्तिकारी सामाजिक उथल-पुथल के परिणामस्वरूप सविधान के अचानक ही समाप्त हो जाने की सम्भावना हो सकती है।"[2]

द्वितीय, शान्तिपूर्ण एवं सवैधानिक उपायो से सामाजिक और आर्थिक न्याय की उपलब्धि के लिए नये सवैधानिक सशोधनो द्वारा परम्परावादी मान्यताएँ बदली जानी होगी।

तृतीय, सविधान के आदर्शों एव ध्येयो को पूरा करने के लिए सविधान के उन उपबन्धो को संशोधित करना आवश्यक है जो उनसे मेल नही खाते।

चतुर्थ, सविधान मे यथोचित सशोधनो द्वारा कोई नयी बात उनमे जोडी जा सकती है।

पंचम, सविधान को जनता की इच्छाओ-आकांक्षाओ का प्रतिविम्बन करना चाहिए। यदि वर्तमान सविधान आज की आवश्यकताओ की पूर्ति नही करता तो उसमे परिवर्तन कर देना चाहिए।"[3]

भारतीय संविधान : नम्यता और अनम्यता (लचीलेपन और कठोरता) का सामंजस्य (Indian Constitution : A Mixture of Flexibility and Rigidity)

भारतीय संविधान अपनी निराली संशोधन प्रक्रिया के फलस्वरूप नम्यता और अनम्यता का सामंजस्य उपस्थित करता है। डॉ० अम्बेडकर ने सविधान सभा मे आशा व्यक्त की थी कि इस संविधान मे नम्यता और अनम्यता की बुराइयाँ नही रहेगी और लचीलापन भारत के सविधान की एक विशेषता मानी जायगी। पं० जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा था कि "हम चाहते हैं कि संविधान को यथाशक्ति ठोस और स्थायी बनायें, किन्तु संविधान शाश्वत नही होता। उसमे कुछ नम्यता होनी चाहिए। यदि सविधान को अनम्य और अपरिवर्तनीय बना दिया जाय तो देश की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है और एक सजीव, क्रियाशील, सावयव राष्ट्र के हित मे बाधा पडती है। जो भी हो, हमे कुछ अन्य बडे राष्ट्रो जैसा संविधान नही बनाना चाहिए जो इतना अनम्य हो कि उसे आसानी से बदलती हुई परिस्थितियो के अनुरूप न ढाला जा सके।" प्रो० के० सी० ह्वीयर ने अपनी पुस्तक 'मॉडर्न कान्स्टीट्यूशन' मे लिखा है कि भारत का संविधान अनम्यता और नम्यता के बीच का सन्तुलित मार्ग ग्रहण करता है। डॉ० इकबाल नारायण का अभिमत है कि "तकनीकी दृष्टि से भारतीय सविधान जटिल सविधानो की श्रेणी मे आता है लेकिन जब तक हम परिचालन सूचियो के सन्दर्भ मे अनम्यनीयता के सार-तत्व का विश्लेपण नही करते तब तक इसे हम मात्र जटिल संविधान कहकर सार्थक अभिव्यक्ति नही दे पायेंगे।"[4]

---

1 डॉ० सुभाष काश्यप संवैधानिक विकास और स्वाधीनता सघर्ष, 1972, पृ० 350।
2 पायली · भारतीय संविधान, पृ० 366।
3 दिनमान, 25-31 जनवरी, 1976, पृ० 15।
4 इकबाल नारायण : भारतीय सरकार एवं राजनीति, 1974, पृ० 140।

हमारे सविधान-निर्माता दुष्परिवर्तनशील सविधान के दोषो से परिचित थे। वे जानते थे कि सविधान के स्थायित्व, स्थिरता तथा दृढता का आधार उसकी स्वस्थ एवं शान्तिपूर्ण सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने की क्षमता तथा आवश्यकतानुसार उसे बदल सकने की योग्यता है। भारतीय संविधान मे यह लोच है कि वह परिवर्तनशील समाज के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चल सकता है। परन्तु यह लोच इतनी अधिक भी नही है कि सविधान के बुनियादी आदर्श ही टूट जायें। संविधान का एक बुनियादी ढाँचा है, जिसे नष्ट या परिवर्तित नही किया जा सकता। डॉ० अम्बेडकर ने कितना उपयुक्त कहा है कि "मैं अनुभव करता हूं कि यह सविधान व्यावहारिक है, लचीला है और इसमे शान्तिकाल व युद्धकाल मे देश की एकता बनाये रखने की सामर्थ्य है।"[1]

भारत के संविधान में संशोधन-प्रक्रिया (Amendment Process in the Indian Constitution)

ब्राइस और डायसी ने सविधानो का वर्गीकरण किया है। वे उन सविधानो को लचीला मानते है जिनको ससद साधारण कानूनो की भाँति साधारण बहुमत से बदल सकती है। उनके मतानुसार वे संविधान कठोर है जिनके बदलने के लिए एक विशेष प्रक्रिया होती है। भारत का संविधान न तो इतना लचीला है जितना कि इगलैण्ड का और न ही इतना कठोर है जितना सं० रा० अमरीका का। भारतीय सविधान के निर्माता यह चाहते थे कि सविधान इतना कठोर न बन जाय कि उसमे बदलती हुई परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तन न किया जा सके और न ही यह इतना लचीला बन जाय कि सत्तारूढ़ दल केवल अपनी सुविधा के लिए इसमे बार-बार परिवर्तन कर लें। अत. उन्होने बीच का मार्ग अपनाया।

सवैधानिक सशोधन की प्रक्रिया का वर्णन सविधान के भाग 20, अनुच्छेद 368 मे किया गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार संविधान मे सशोधन तीन प्रकार से हो सकता है :

(1) **प्रथम**, हमारे सविधान मे कतिपय अश ऐसे हैं जिनको ससद केवल साधारण बहुमत से परिवर्तित कर सकती है। ऐसे उपवन्ध निम्नलिखित हैं .

(i) अनुच्छेद 2, 3 व 4 जो संसद को कानून द्वारा यह अधिकार दिलाते है कि वह नये राज्यो को प्रविष्ट कर सकें, सीमा परिवर्तन द्वारा नये राज्यो का निर्माण कर सकें और तदनुसार प्रथम व चतुर्थ अनूसूची मे परिवर्तन कर सकें।

(ii) अनुच्छेद 73(2) जो संसद की किसी अन्य व्यवस्था के होने तक राज्य मे कुछ सुनिश्चित शक्तियाँ निहित करता है।

(iii) अनुच्छेद 100(3) जिसमे संसद की नयी व्यवस्था के होने तक संसदीय गणपूर्ति का प्रावधान है।

(iv) अनुच्छेद 75, 97, 125, 148, 165(5) तथा 221(2) जो द्वितीय अनुसूची मे परिवर्तन की अनुमति देते हैं।

(v) अनुच्छेद 105(3) ससद द्वारा परिभाषित किये जाने पर ससदीय विशेषाधिकारो की व्यवस्था करता है।

(vi) अनुच्छेद 106 जो संसद द्वारा पारित किये जाने पर समद-सदस्यो के वेतन एवं भत्तो की व्यवस्था करता है।

(vii) अनुच्छेद 118(2) जो संसद के दोनो सदनो द्वारा स्वीकृत किये जाने पर प्रक्रिया से सम्बन्धित विधि की व्यवस्था करता है।

---

1 **संविधान-निर्मात्री सभा वाद-विवाद, खण्ड XI, पृ० 972-81।**

(viii) अनुच्छेद 120(3) जो संसद द्वारा किसी नयी व्यवस्था के न किये जाने पर 15 वर्षों के उपरान्त अग्रेजी को संसदीय भाषा के रूप मे छोडने की व्यवस्था करता है।

(ix) अनुच्छेद 124(1) जिसमे यह व्यवस्था है कि संसद द्वारा किसी व्यवस्था के न होने तक सर्वोच्च न्यायालय मे 7 न्यायाधीश होगे।

(x) अनुच्छेद 133(3) जो संसद द्वारा नयी व्यवस्था न किये जाने तक उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को भेजी गयी अपील को रोकता है।

(xi) अनुच्छेद 135 जो संसद द्वारा किसी अन्य व्यवस्था के न किये जाने तक सर्वोच्च न्यायालय के लिए एक सुनिश्चित अधिकार-क्षेत्र नियत करता है।

(xii) अनुच्छेद 169(1) जो कुछ शर्तों के साथ विधान परिपदो को भंग करने की व्यवस्था करता है।

दूसरे शब्दो मे यह कह सकते हैं कि हमारे सविधान मे यह सारे उपबन्ध ऐसे है जिन्हे अथवा जिनके प्रभाव को बिना किसी सवैधानिक सशोधन के ससद सामान्य विधि प्रक्रिया के द्वारा अर्थात् साधारण बहुमत द्वारा बदल सकती है।

(2) द्वितीय श्रेणी मे सविधान के कतिपय विशिष्ट प्रावधान है जो वास्तव मे सघ एव राज्यो, दोनो से सम्बन्धित है। इनके सशोधन के लिए सशोधन विधेयक को दो चरणो को पार करना होता है : सर्वप्रथम, सशोधन विधेयक को ससद के किसी भी सदन मे प्रस्तुत किया जा सकता है। ससद के प्रत्येक सदन मे विधेयक को सदन की कुल सख्या के बहुमत तथा उपस्थित व मतदान मे हिस्सा लेने वाले सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत से पारित किया जाना आवश्यक है। द्वितीय, ससद द्वारा उपयुक्त प्रक्रियानुसार जब विधेयक पारित हो जाता है तो वह दूसरे चरण मे प्रवेश करता है, जिसमे उक्त सशोधन विधेयक को सघ के राज्यो मे से कम-से-कम आधे राज्यो के विधानमण्डलो द्वारा स्वीकृति मिलनी चाहिए। उसके बाद राष्ट्रपति की सहमति से ससद मे आवश्यक सशोधन लागू होगा। सविधान-सशोधन की यह प्रक्रिया इन विभिन्न साधनो के लिए आवश्यक है, जो निम्नाकित विषयो से सम्बन्धित हैं :

(i) अनुच्छेद 54—राष्ट्रपति का निर्वाचन।

(ii) अनुच्छेद 55—राष्ट्रपति की निर्वाचन-प्रणाली।

(iii) अनुच्छेद 72—सघ की कार्यपालिकाशक्ति की सीमा।

(iv) अनुच्छेद 162—संघ के राज्यो की कार्यपालिका शक्ति की सीमा।

(v) अनुच्छेद 241—केन्द्र प्रशासित क्षेत्रो के लिए उच्च न्यायालय।

(vi) भाग 5 का अध्याय 4—सघ की न्यायपालिका।

(vii) भाग 6 का अध्याय 5—राज्यो के उच्च न्यायालय।

(viii) भाग 11 का अध्याय 1—सघ और राज्यो के विधायी सम्बन्ध।

(ix) अनुच्छेद 368—सविधान मे संशोधन प्रक्रिया।

(3) तृतीय श्रेणी मे सविधान के अन्य समस्त उपबन्ध रखे जा सकते हैं जो उपर्युक्त दो श्रेणियो मे नही हैं। इनको सशोधित करने के लिए संसद के किसी सदन मे विधेयक प्रस्तुत किया जा सकना है। ससद के प्रत्येक विधेयक को सदन की कुल सदस्य सख्या के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान मे हिस्सा लेने वाले सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत से पारित किया जाना आवश्यक है। उसके बाद राष्ट्रपति की सहमति मिलने पर विधेयक पारित माना जायेगा और सविधान मे आवश्यक सशोधन लागू होगा।

संसद की सविधान मे संशोधन की क्षमता पर विवाद और उसका आंशिक निराकरण—

संविधान लागू किये जाने के बाद से यही समझा जाता था कि संसद मौलिक अधिकारों सहित संविधान की सभी व्यवस्थाओं में परिवर्तन कर सकती है। लेकिन 27 फरवरी, 1967 को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा गोलकनाथ विवाद में जो निर्णय दिया गया उसमे स्थिति परिवर्तित हो गयी। इस निर्णय मे सर्वोच्च न्यायालय ने अपने ही पुराने निर्णयो को अस्वीकार करते हुए कहा कि संसद मौलिक अधिकारो मे कोई परिवर्तन नही कर सकती है। उपर्युक्त निर्णय से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि संसद आर्थिक और सामाजिक प्रगति की दशा में आगे बढ़ने के लिए कोई कार्य नही कर सकती थी। अत. संविधान में संशोधन करना आवश्यक हो गया और 1971 **में संविधान में 24वाँ संशोधन किया गया।** इस संवैधानिक संशोधन द्वारा यह निश्चित कर दिया गया है कि संसद को संविधान के किसी भी उपबन्ध को (जिसमें मौलिक अधिकार भी आते है) संशोधित करने का अधिकार होगा।

24वें संवैधानिक संशोधन के बाद भी संसद की संविधान में संशोधन करने की क्षमता पर एक नियन्त्रण बना हुआ है। 1973 ई० के **'केशवानन्द भारती** बनाम **केरल राज्य'** और 1980 के मिनर्वा मिल्स विवाद मे सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा है कि संसद मौलिक अधिकार सहित संविधान के किसी भी भाग मे परिवर्तन कर सकती है, लेकिन **'संविधान का एक मूल ढांचा'** (Basic Structure of the Constitution) है जिसे समाप्त नही किया जा सकता। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने संसद की संविधान मे संशोधन करने की शक्ति की सीमा निर्धारित कर दी है, लेकिन यह स्पष्ट नही किया है कि संविधान के मूल ढांचे मे कौन-कौन सी व्यवस्थाएँ आती है।

संशोधन प्रक्रिया की एक अस्पष्टता का निराकरण—24वें संवैधानिक संशोधन (1971) द्वारा संशोधन प्रक्रिया की एक अस्पष्टता को दूर कर दिया गया है। इस संवैधानिक संशोधन मे यह कहा गया है जब कोई संविधान संशोधन विधेयक संसद के दोनो सदनों से पारित होकर राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए रखा जाय, तो राष्ट्रपति को उस पर अपनी अनुमति दे देनी होगी।

संशोधन पद्धति की आलोचना (Criticism of the Amending Process)

यद्यपि संविधान निर्माताओ ने एक आदर्श संशोधन पद्धति अपनाने का प्रयत्न किया, लेकिन फिर भी जो संशोधन पद्धति अपनायी गयी है उसमे कुछ अस्पष्टताएँ और त्रुटियाँ निम्नलिखित हैं:

1. **राज्य विधानमण्डलो से पुष्टि के लिए समय-सीमा निर्धारित नहीं**—यद्यपि संशोधन पद्धति की कुछ अस्पष्टताएँ 24वें संवैधानिक संशोधन द्वारा दूर कर दी गयी है, लेकिन अब भी कुछ अस्पष्टताएँ शेष है। संविधान यह निर्धारित नही करता कि संविधान के द्वितीय वर्ग मे सम्बन्धित संशोधन विधेयक जब संसद द्वारा पारित कर राज्य विधानमण्डलो के पास भेजा जायेगा, तो राज्य विधानमण्डल कितने समय के अन्दर विधेयक को स्वीकार अथवा अस्वीकार करेगा। राज्य विधान-मण्डल अनावश्यक दूरी का मार्ग अपनाकर संशोधन कार्य में बाधक बन सकता है।

2 **संशोधन विधेयक पर दोनों सदनो के मतभेदो को दूर करने की व्यवस्था नहीं**—यदि साधारण विधेयक के सम्बन्ध मे संसद में दोनो सदनो के बीच मतभेद की स्थिति उत्पन्न हो, तो अनुच्छेद 107 के अन्तर्गत राष्ट्रपति दोनो सदनों की सम्मिलित बैठक बुला सकता है, लेकिन संविधान संशोधन विधेयक पर मतभेद की स्थिति मे दोनो की सम्मिलित बैठक की व्यवस्था नहीं की गयी है। मतभेदो को सुलझाने की व्यवस्था के अभाव मे राज्यसभा कुछ उदाहरणो में संविधान संशोधन के कार्य मे बाधक बन गयी है। 1970 ई० मे राज्यसभा मे 'राजाओं के प्रिवीपर्स

उन्मूलन सम्बन्धी संविधान संशोधन विधेयक अस्वीकार कर दिया था और अगस्त 1978 ई० में राज्यसभा ने लोकसभा द्वारा पारित 44वें संवैधानिक संशोधन विधेयक की 5 धाराओं को रद्द कर दिया था। अक्टूबर 1989 में राज्यसभा ने पंचायत राज से सम्बन्धित 64वें संविधान संशोधन विधेयक को अस्वीकृत कर दिया था जबकि लोकसभा इसे पारित कर चुकी थी। अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राज्यसभा के हाथ में संविधान संशोधन विधेयक को अन्तिम रूप से अस्वीकृत करने की शक्ति हो, इसे लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। भूतकाल में ऐसी स्थितियाँ रही हैं जबकि लोकसभा और राज्यसभा की दलीय संरचना में अन्तर था, भविष्य में भी स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं और ऐसे उदाहरणों में राज्यसभा अपनी इस शक्ति के आधार पर जनता की आकांक्षाओं के मार्ग में बाधक बन जाती है।

3 **संविधान में संशोधन हेतु राज्य विधानमण्डलों के पास पहल की शक्ति नहीं**—संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत सामान्यतया राज्य विधानमण्डलों को भी संविधान के संशोधन में पहल करने का अधिकार होता है, लेकिन भारतीय संविधान द्वारा राज्य विधानमण्डलों को इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त संविधान में संशोधन के सभी प्रस्तावों पर राज्य विधानमण्डलों की पुष्टि आवश्यक नहीं है। ऐसे अनुच्छेद संख्या में बहुत थोड़े हैं, जिनके सम्बन्ध में कम से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक है। संविधान का बहुत बड़ा भाग ऐसा है, जिसमें संशोधन की शक्ति संघीय संसद को एकाकी रूप में सौंपी गयी है। आलोचक इस आधार पर कहते हैं कि राज्य विधानमण्डलों को संशोधन कार्य में पर्याप्त शक्ति प्रदान कर संघात्मक सिद्धान्तों की अवहेलना की गयी है।

4. **संविधान संशोधन विधेयकों पर जनमत संग्रह की व्यवस्था का अभाव**—लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं के अन्तर्गत सामान्यतया संविधान संशोधन विधेयकों के सम्बन्ध में लोकनिर्णय या जनमत संग्रह (Referendum of Plebiscite) की व्यवस्था की जाती है, जिससे संसद में बहुमत प्राप्त दल मनमानी न कर सके और संविधान संशोधन के प्रसंग में अन्तिम शक्ति जनता के हाथ में रहे लेकिन भारतीय संविधान के अन्तर्गत जनता को संशोधन संविधान विधेयक स्वीकार या अस्वीकार करने की शक्ति प्रदान नहीं की गयी है। लोकसभा द्वारा पारित 44वें संवैधानिक संशोधन में 'संविधान के मूल ढाँचे' (Basic Structure of the Constitution) के सम्बन्ध में लोकनिर्णय की व्यवस्था का प्रस्ताव था, लेकिन राज्यसभा ने इसे अस्वीकार कर दिया। आलोचकों के अनुसार, संवैधानिक संशोधन या संविधान के मूल ढाँचे के सम्बन्ध में भी लोकनिर्णय की व्यवस्था का अभाव एक ओर तो लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों का निरादर है, दूसरी ओर इससे संसद में बहुमत प्राप्त दल को मनमानी करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

संविधान संशोधन-प्रक्रिया—कतिपय विशेषताएँ (Amendment Procedure—Some Features)

संविधान संशोधन की शक्ति प्रदान करने वाले अनुच्छेद 368 से यह स्पष्ट होता है कि संविधान में परिवर्तन करने का अधिकार संसद में निहित है और संशोधन के लिए अलग संस्था के गठन की आवश्यकता नहीं है। राज्यों के विधानमण्डल संशोधन सम्बन्धी विधेयक का प्रस्तुतीकरण नहीं कर सकते। संशोधन का प्रस्ताव संसद के किसी भी दल में रखा जा सकता है। संशोधन सम्बन्धी विधेयक उसी प्रकार पारित होने चाहिए जिस प्रकार अन्य विधेयक। संविधान संशोधन सम्बन्धी विधेयकों को जनता के द्वारा पुष्टीकरण नहीं होता। संसद में संशोधन सम्बन्धी विधेयक प्रस्तुत करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति अनिवार्य नहीं है। संविधान के प्रत्येक अंश में संशोधन किया जा सकता है।

के० सी० व्हीयर के अनुसार भारत मे सविधान की सशोधन प्रक्रिया सन्तुलित है। यह न तो अधिक जटिल है और न एकदम लचीली। **पायली** के अनुसार, "संघात्मक शासन होने के कारण सशोधन प्रक्रिया में राज्यो को उचित महत्व दिया गया है।"[1] ऐलेक्जेण्डरोविच के मतानुसार "भारतीय सविधान मे सशोधन की सुन्दर प्रक्रिया है क्योंकि इनमे लचीलेपन एव जटिलता की 'अति' मे बचा गया है।" **डॉ० सुभाष काश्यप** का मत है कि "इस प्रकार आवश्यकता पडने पर सविधान मे संशोधन होते रहेंगे क्योंकि हमारा सविधान कोई निर्जीव प्रलेख मात्र नही है—किसी भी जीवित सविधान के लिए यह जरूरी है कि वह समय के साथ कदम मिलाकर चले।" **जैनिग्स**[2] का मत उपर्युक्त विचारो के प्रतिकूल है और आज गलत साबित हो चुका है। वे लिखते है कि "एक सविधान जो मात्र किसी विशेष औपचारिक प्रक्रिया द्वारा ही बदला जा सके अनिवार्यत अधिक अमनीयता है बनिस्पत उसके जो साधारण विधान द्वारा परिवर्तित किया जा सके। लेकिन अनमनीयता की मात्रा दो घटको पर निर्भर है। **प्रथम**, सशोधन प्रक्रिया के दौरान उपस्थित कठिनाइयो की मात्रा पर निर्भरता। **द्वितीय**, सविधान की विषय-सामग्री पर निर्भरता। भारतीय सविधान को जो घटक इतना अधिक अमनीयता बना देता है वह सशोधन की जटिल प्रक्रिया तो है ही, इसके अतिरिक्त, यह तथ्य भी उत्तरदायी है कि सविधान इतना अधिक जटिल है और वह कानून के इतने व्यापक क्षेत्र से सम्बन्धित है कि सवैधानिक वैधता की समस्या अनिवार्यत अक्सर उठ खडी होती है।"

भारतीय संविधान में महत्वपूर्ण संशोधन (Leading Amendments in the Indian Constitution)

सन् 1950 से अब तक सविधान के महत्वपूर्ण सशोधन इस प्रकार है ·

पहला संशोधन, 1951 · सविधान के प्रथम सशोधन द्वारा विभिन्न राज्यो द्वारा पारित भूमि सुधार और जमीदारी उन्मूलन अधिनियमो का मान्यकरण किया गया और सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध मे न्यायालयो का अधिकार क्षेत्र सीमित कर दिया गया। सविधान मे एक नयी 9वी अनुसूची जोड़कर इन अधिनियमो की सूची दे दी गयी और सम्पत्ति के अधिकार सम्बन्धी अनुच्छेद 31 मे दो नये अनुच्छेद 31(क) और 31(ख) बढा दिये गये। इसके अतिरिक्त, प्रथम सशोधन अधिनियम ने संविधान के अनुच्छेद 15, 19, 85, 87, 174, 176, 314, 342, 372 और 376 मे भी सशोधन किये। इस प्रकार प्रमुख सशोधन का सम्बन्ध शैक्षणिक एव सामाजिक दृष्टि मे पिछड़े हुए लोगो से, अन्तरराष्ट्रीय हितो को ध्यान मे रख वाक्स्वातन्त्र्य पर रोक लगाने से, तथा जमीदारी उन्मूलन से सम्बद्ध समस्याओ से था।

दूसरा संशोधन, 1952 · द्वितीय संशोधन के द्वारा लोकसभा मे प्रतिनिधित्व सम्बन्धी अनुच्छेद 81(1)(ख) मे सशोधन किया। सन् 1951 की जनगणना से यह स्पष्ट हो गया कि यदि लोकसभा मे 500 निर्वाचित सदस्य होने चाहिए तो एक व्यक्ति द्वारा प्रत्येक साढे सात लाख व्यक्तियो का प्रतिनिधित्व न होकर अधिक सख्या का प्रतिनिधित्व होगा। दूसरे सशोधन के द्वारा जनसख्या एवं प्रतिनिधि सख्या का परस्पर अनुपात बदल दिया गया।

तीसरा संशोधन, 1954 तृतीय संशोधन द्वारा सप्तम अनुच्छेद की तीसरी सूची की

---

1 "ऐसा कोई अन्य संघात्मक संविधान नही है जो इस प्रकार नम्य तथा अनम्य दोनो ही प्रकार की संशोधन प्रक्रिया का प्रयोग करे। यह विशेषता केवल भारतीय संविधान मे ही है।"

—पायली · **भारतीय संविधान**, पृ० 354।

2 जैनिग्स . **सम करेक्टेरिस्टिक्स ऑफ दि इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन**, लन्दन ऑक्सफोर्ड, 1953।

33वीं प्रविष्टि में संशोधन किया गया। इससे समवर्ती सूची के विषयो मे वृद्धि हुई ताकि आवश्यकता पडने पर नये विषयों पर संघ सरकार का नियन्त्रण स्थापित हो सके।

चौथा संशोधन, 1955 : चतुर्थ संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31, 31(क) और 305 मे संशोधन किये गये। इस संशोधन द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि राज्य सार्वजनिक प्रयोजन के लिए कानून द्वारा किसी सम्पत्ति को अर्जित करें तथा कानून मे प्रतिकर की राशि का उल्लेख कर दें तो ऐसे कानून पर किसी न्यायालय मे इस आधार पर आपत्ति नही की जा सकती कि प्रतिकर अपर्याप्त है।

पाँचवां संशोधन, 1955 पंचम् संशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेद 3 मे संशोधन किया गया। अब यह निश्चित कर दिया गया कि राज्यो की सीमा में परिवर्तन करने के सम्बन्ध में राज्यों को अपनी राय प्रकट करने का जो अधिकार संविधान द्वारा प्राप्त है उसके बारे मे राय प्रकट करने का समय राष्ट्रपति द्वारा निश्चित कर दिया जाये। यदि उस निश्चित समय के भीतर राज्य सरकारें अपनी राय नहीं दे देती तो केन्द्रीय संसद उस सम्बन्ध मे कानून पारित कर सकती है।

छठवां संशोधन, 1956 : षष्ठ संशोधन द्वारा संविधान की सप्तम अनुसूची की प्रथम सूची मे एक और प्रविष्टि 92(क) जोड दी गयी। संविधान के इस संशोधन द्वारा केन्द्र को अन्तर्राज्यिक खरीद और बिक्री पर कर निश्चित करने का अधिकार दे दिया गया। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या बढावी गयी और उच्च न्यायालय के निवृत्ति प्राप्त न्यायाधीशो को सर्वोच्च न्यायालय मे विधि-व्यवसाय करने की अनुमति दे दी गयी।

सातवां संशोधन, 1956 सप्तम् संशोधन द्वारा राज्यो के पुनर्गठन की योजना को क्रियान्वित किया गया। इस संशोधन द्वारा राज्यो की तीन श्रेणियो—क-ख-ग को समाप्त कर सारे देश को चौदह राज्यो तथा छ केन्द्र-शासित क्षेत्रो मे पुनर्गठित कर दिया गया।

आठवां संशोधन, 1959 : अष्टम् संशोधन द्वारा अनुच्छेद 334 मे परिवर्तन किया गया और अनुसूचित जातियो व आदिम जातियों के विशेष आरक्षण की अवधि दस वर्ष से बढाकर बीस वर्ष अर्थात् 1970 तक कर दी गयी।

नवां संशोधन, 1960 : नवम् संशोधन द्वारा प्रथम अनुसूची मे इस प्रकार संशोधन किया गया कि बेरूबाड़ी क्षेत्र पाकिस्तान को समझौते के अनुसार सौंपा जा सके।

दसवां संशोधन, 1961 : इस संशोधन द्वारा दादरा और नगर हवेली नामक दोनों बस्तियों को भारत का अंग बना दिया गया।

ग्यारहवां संशोधन, 1961 : इस संशोधन द्वारा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति की निर्वाचन-प्रणाली में कुछ परिवर्तन किये गये तथा अनुच्छेद 66(1) व 71 में संशोधन किये गये। अब उप-राष्ट्रपति के चुनाव के लिए दोनो सदनों की संयुक्त बैठक बुलाना आवश्यक घोषित कर दिया गया। संशोधन के बाद राष्ट्रपति के चुनाव को इस आधार पर अवैध घोषित नही किया जा सकता कि 'निर्वाचक मण्डल' का गठन पूर्ण नही हुआ है।

बारहवां संशोधन, 1962 : इस संशोधन द्वारा गोआ, दामन और द्यू को भारत का अंग घोषित किया गया।

तेरहवां संशोधन, 1962 : इस संशोधन द्वारा नागालैण्ड को भारत का एक नया राज्य घोषित किया गया तथा संविधान मे एक नया अनुच्छेद 37(क) जोडकर इस नये राज्य पर लागू होने वाले विशेष उपबन्धो को मान्यता दी गयी।

चौदहवां संशोधन, 1962 : इस संशोधन द्वारा पाण्डिचेरी को विधिवत् भारत का अंग

और एक सघ-राज्यक्षेत्र घोषित किया गया। अनुच्छेद 81 तथा चतुर्थ अनुसूची में सशोधन कर पाण्डिचेरी को ससद के दोनो सदनो मे प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की गयी। इस सशोधन ने ससद को अधिकार दिया कि वह विधि द्वारा हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, गोआ-डामन-ड्यू तथा पाण्डिचेरी, आदि सघ-राज्यक्षेत्रो मे विधानमण्डलों और मन्त्रिपरिषदो की स्थापना कर सकती है।

पन्द्रहवां संशोधन, 1963 : इस सशोधन द्वारा उच्च न्यायालय के अधिकारों में कुछ वृद्धि की गयी तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की निवृत्ति ग्रहण करने की आयु 60 वर्ष से बढाकर 62 वर्ष कर दी गयी।

सोलहवां संशोधन, 1963 · इस सशोधन द्वारा अनुच्छेद 19 मे संशोधन करके राज्य को यह अधिकार दिया गया कि वह राष्ट्र की प्रभुसत्ता और एकता के हित मे भाषण, अभिव्यक्ति, सम्मेलन, आदि की स्वतन्त्रता के मूल अधिकारो पर कानून द्वारा युक्ति-युक्त प्रतिबन्ध लगा सकता है। इस सशोधन द्वारा किसी भी राज्य के भारतीय सघ से पृथक् होने तथा सघ को भग करने के प्रयास को अवैध घोषित कर दिया गया। यह भी निश्चित किया गया कि विभिन्न विधान-मण्डलो की सदस्यता के प्रत्याशियो को भारत की अखण्डता बनाये रखने की एव प्रभुसत्ता की रक्षा की शपथ ग्रहण करनी होगी।

सत्रहवां संशोधन, 1964-65 : इस सशोधन द्वारा अनुच्छेद 31(क) में प्रयुक्त 'एस्टेट' शब्द को स्पष्ट किया गया तथा नवी अनुसूची में संशोधन किये गये। इस अनुसूची में 44 अधि-नियम जोडे गये। इस सशोधन द्वारा सम्पत्ति के अधिकार की व्याख्या की गयी।

अठारहवां संशोधन, 1966 · इस सशोधन के द्वारा अनुच्छेद 3 मे संशोधन करके यह स्पष्ट किया गया कि इस अनुच्छेद की धारा (क) से (च) मे प्रयुक्त 'राज्य' शब्द मे 'संघ-राज्यक्षेत्र' भी शामिल है। सशोधन मे यह भी स्पष्ट किया गया कि अनुच्छेद 3(क) के द्वारा ससद को दी गयी शक्ति के अन्तर्गत किसी राज्य का अथवा सघ-राज्यक्षेत्र का एक भाग किसी दूसरे राज्य या राज्यक्षेत्र मे मिलाकर भी एक नये राज्य या सघ-राज्यक्षेत्र का गठन किया जा सकता है।

उन्नीसवां संशोधन, 1966 . इस सशोधन द्वारा निर्वाचन न्यायाधिकरणो का अन्त कर दिया गया तथा निर्वाचन सम्बन्धी विवादो के सीधे उच्च न्यायालयो मे ले जाये जाने की व्यवस्था की गयी।

बीसवां संशोधन, 1966 . इन सशोधनो द्वारा उत्तर प्रदेश तथा कुछ अन्य राज्यो मे कुछ जिला न्यायालयो की नियुक्ति, स्थानान्तरण तथा निर्णयो को वैधता प्रदान की गयी। ऐसा करने के लिए बीसवें सशोधन ने सविधान मे एक नया अनुच्छेद 233(क) जोडा। इस संशोधन की आव-श्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय ने अपने दो निर्णयों के द्वारा बहुत-से जिला न्याया-धीशो की नियुक्ति को अवैध घोषित कर दिया था।

इक्कीसवां संशोधन, 1969 . इस सशोधन द्वारा आठवी अनुसूची मे सिन्धी भाषा को जोडा गया, जिससे 15 राष्ट्रीय भाषाएँ हो गयी।

बाईसवां संशोधन, 1969 . इस सशोधन द्वारा सविधान मे नया अनुच्छेद 224(क) जोड दिया गया। इस सशोधन द्वारा ससद को अधिकार दिया गया कि वह कानून द्वारा असम राज्य मे कुछ कबायली क्षेत्रो का एक स्वायत्त उपराज्य बना सकती है।

तेईसवां संशोधन, 1969 . इस सशोधन द्वारा अनुसूचित जातियो तथा जनजातियो और आग्ल भारतीयो की सरकारी नौकरियो मे आरक्षण और विधानसभाओ मे उनके आरक्षण की अवधि को 1970 से अगले दस वर्ष के लिए बढा दिया गया। इस सशोधन द्वारा नागालैण्ड

से लोकसभा और राज्य विधानसभा दोनों की सदस्यता में आंग्ल भारतीयों के लिए आरक्षण समाप्त कर दिया गया।

चौबीसवाँ संशोधन, 1972 : केन्द्रीय वित्तमन्त्री गोखले ने 28 जुलाई, 1971 को लोकसभा में 24वाँ संशोधन विधेयक पेश किया। इस संशोधन विधेयक का उद्देश्य संसद को संविधान के किसी भी अनुच्छेद को (जिनमें मौलिक अधिकार भी शामिल हैं) संशोधन करने का अधिकार देना था। संसद का यह अधिकार सर्वोच्च न्यायालय ने 'गोलकनाथ' के सुविख्यात विवाद निर्णय में सीमित कर दिया था। इस संशोधन अधिनियम द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि संसद को संविधान में संशोधन करने का अधिकार है। संविधान का अनुच्छेद 368 स्वयं उसे यह अधिकार देता है। इस अधिनियम द्वारा 'संशोधन' शब्द का विस्तार किया गया और यह अभिप्राय लिया गया कि संशोधन में 'सम्मिलित करना, परिवर्तन करना और इसे हटाना' भी शामिल है। अनुच्छेद 368 संविधान में संशोधन की शक्ति भी प्रदान करता है और उस संशोधन की प्रक्रिया का निर्देश भी करता है। इस संशोधन ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जब संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित किसी संविधान संशोधन विधेयक को राष्ट्रपति के सम्मुख रखा जायगा, तब वे अपनी स्वीकृति देने से मना नहीं करेंगे।

पच्चीसवाँ संशोधन, 1971 . 2 दिसम्बर, 1971 को लोकसभा ने 24वें संशोधन पर अपनी स्वीकृति दे दी। अब संसद को मूल अधिकारों में परिवर्तन करने की शक्ति प्राप्त हो गयी। पच्चीसवाँ संशोधन दो भागों में बँटा हुआ है अनुच्छेद 31 में संशोधन तथा नये अनुच्छेद 31(ग) का समावेश। संविधान के 31(क) अनुच्छेद में 'प्रतिकर' शब्द को हटाकर 'धनराशि' शब्द रख दिया और यह स्पष्ट कर दिया कि यह जरूरी नहीं होगा कि सरकार सम्बद्ध कानून में निर्देशित रकम या धनराशि नकद ही दे अर्थात् यह राशि बॉण्डों या प्रतिभूतियों के रूप में भी दी जा सकती है।

नये अनुच्छेद 31(ग) में कहा गया है कि निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत अनुच्छेद 39 की भौतिक सम्पत्ति के स्वामित्व और नियन्त्रण तथा धन के उत्पादन के साधनों के केन्द्रण से सम्बद्ध धाराओं को प्रभावी बनाने के लिए पास किया गया कोई भी कानून इस आधार पर अवैध नहीं ठहराया जा सकता कि वह अनुच्छेद 14, 19 या 31 में दिये गये मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करता है। इस संशोधन में यह प्रावधान भी है कि राज्य किसी निजी सम्पत्ति के अधिग्रहण सम्बन्धी विधि निर्माण से पूर्व इस विषय में राष्ट्रपति की सम्मति ले।

इस संशोधन की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि कतिपय न्यायालयी निर्णयों के कारण संविधान के निर्देशक सिद्धान्तों पर अमल करना कठिन हो गया था। **विधिमन्त्री गोखले** ने स्पष्ट कहा कि "हम न्यायपालिका को कमजोर नहीं करना चाहते, परन्तु हम न्यायपालिका को संसद के अधिकारों में हस्तक्षेप भी नहीं करने देंगे।"

छब्बीसवाँ संशोधन, 1971 : इस संशोधन ने संविधान के अनुच्छेद 291 तथा 362 को, जो देशी नरेशों के प्रिवीपर्सों तथा विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में थे, रद्द कर दिया और अनुच्छेद 363 के बाद 363(क) के एक नये अनुच्छेद को जोड़ने का प्रावधान किया जिसके आधार पर राष्ट्रपति द्वारा राजाओं को दी गयी मान्यता समाप्त हो जाती है।

सत्ताइसवाँ संशोधन, 1972 इस संशोधन द्वारा मिजोरम तथा अरुणाचल नामक दो केन्द्रशासित इकाइयों का गठन किया गया तथा साथ ही मणिपुर के राज्य बन जाने पर वहाँ की अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष उपबन्ध किये गये। इसके साथ ही इस क्षेत्र के पाँच राज्यों और दो केन्द्रशासित क्षेत्रों के प्रशासन में समन्वय और सहयोग के लिए एक पूर्वोत्तर सीमान्त परिषद् की स्थापना की गयी।

अट्ठाइसवाँ संशोधन, 1972 : इस सशोधन द्वारा एक नये अनुच्छेद 312(क) का सविधान मे प्रवेश हुआ तथा अनुच्छेद 314 को समाप्त कर दिया गया । इसके द्वारा ससद को कतिपय प्रशासनिक सेवाओ के अधिकारियो की सेवा शर्तों मे परिवर्तन तथा सेवा समाप्ति का अधिकार दिया गया । इसी सशोधन के अनुसार भारतीय नागरिक सेवा अधिकारियो के विशेषाधिकार समाप्त कर दिये गये ।

उन्नीसवाँ सशोधन, 1972 : इस सशोधन द्वारा सविधान की 9वी अनुसूची मे परिवर्तन किया गया तथा केरल भूमि सुधार अधिनियमो को इसमे स्थान दिया गया ।

तीसवाँ संशोधन, 1972 · इस सशोधन द्वारा अनुच्छेद 133 मे परिवर्तन किया गया । इस सशोधन से पूर्व सर्वोच्च न्यायालय मे ऐसे दीवानी विवादो की अपील की जा सकती थी जिनमे विवादग्रस्त राशि या मम्पत्ति बीस हजार रुपयो से अधिक हो । परन्तु अब सम्पत्ति के मूल्य पर दृष्टिपात न करते हुए विचाराधीन मामले के संवैधानिक महत्व के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय मे सुनवाई हो सकती है ।

इकत्तीसवाँ संशोधन, 1973 . इस सशोधन का सम्बन्ध लोकसभा के सगठन से है । इस सशोधन द्वारा अनुच्छेद 81 और 330 को सशोधित किया गया है । इस संशोधन के अनुसार लोकसभा की अधिकतम सदस्य सख्या 545 निश्चित की गयी है, जिनमे से 525 को भारतीय सघ के राज्यो की जनता द्वारा निर्वाचित किया जायगा और 30 केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व करेंगे । आंग्ल भारतीय वर्ग के प्रतिनिधि के रूप मे राष्ट्रपति द्वारा दो सदस्य मनोनीत किये जा सकते हैं ।

बत्तीसवाँ संशोधन, 1974 : आन्ध्रप्रदेश के दो क्षेत्रो—आन्ध्र और तेलगाना—के बीच एक लम्बे समय से विवाद चला आ रहा था । यह विवाद इतना भयंकर हो गया कि सन् 1973 मे लोकप्रिय सरकार को भग कर राष्ट्रपति शासन लागू करना पडा । इस विवाद को हल करने के लिए सितम्बर 1973 मे एक छ-सूत्री प्रस्ताव रखा गया । सभी सम्बद्ध पक्षो द्वारा इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया । इस प्रस्ताव को कार्यरूप देने के लिए ससद ने बत्तीसवाँ सविधान विधेयक पारित किया । इस सविधान सशोधन द्वारा राज्य स्तर पर एक योजना मण्डल की स्थापना की जायगी, जिसकी सहायता के लिए आन्ध्र और तेलगाना मे दो उपसमितियाँ गठित होगी । आन्ध्र राज्य के विभिन्न क्षेत्रो की शिक्षण सस्थाओ एव शासकीय सेवाओ मे दोनो क्षेत्रो को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जायगा और एक निर्धारित सीमा तक जिला स्तर पर स्थानीय व्यक्तियो की ही भर्ती की जायगी । सेवाओ के क्षेत्र मे उत्पन्न होने वाले विवादो को दूर करने के लिए एक उच्चाधिकार प्राप्त 'प्रशासनिक न्यायाधिकरण' स्थापित किया जायगा ।

तैंतीसवाँ संशोधन, 1974 · इस सशोधन द्वारा सविधान के अनुच्छेद 141(3) तथा 190(3) मे परिवर्तन किया गया है । इस सशोधन का मुख्य उद्देश्य ससद तथा विधानमण्डलो के लिए चुने गये प्रतिनिधियो से बलात् पदत्याग करवाने के राजनीतिक प्रयत्नो को रोकना है । यह सशोधन गुजरात और बिहार के जन-आन्दोलन मे विधानसभा सदस्यो से दबाव द्वारा लिये जा रहे त्यागपत्रो को दृष्टि मे रखते हुए किया गया था । जब तक लोकसभा या विधानसभा के अध्यक्ष की जाँच के आधार पर यह विश्वास न हो जाये कि त्यागपत्र वास्तविक है या दबावपूर्ण, तब तक उनके त्याग-पत्र अब स्वीकृत नही माने जायेंगे ।

चौंतीसवाँ संशोधन, 1974 . इस सशोधन द्वारा विभिन्न राज्यो द्वारा पारित सुधार कानूनो को संविधान की नवम् अनुसूची मे स्थान देकर उनकी सवैधानिक वैधता स्वीकार कर ली गयी । कुल मिलाकर नवम् अनुसूची मे अब 86 अधिनियम हो गये ।

जुलाई 1972 मे राज्यो के मुख्यमन्त्रियों ने एक सम्मेलन मे केन्द्रीय सरकार से भूमि सीमा निर्धारण करने का सुझाव दिया। इन सुझावो के आधार पर तेरह राज्यों ने बीस भूमि सुधार अधिनियम पारित किये। कई उच्च न्यायालयो ने इन अधिनियमो को रोकने हेतु स्थगन आदेश दे दिये। अतः अधिनियमो को सवैधानिक सरक्षण दिया जाना आवश्यक था।

पैंतीसवाँ संशोधन, 1974 · इस सशोधन द्वारा भारत के उत्तरी सीमान्त स्थित हिमालयी सरक्षित राज्य सिक्किम को वहाँ की जनता की इच्छा के अनुसार एक सहराज्य का स्तर प्रदान किया गया। सरक्षित राज्य मे सहराज्य बनने के कारण सिक्किम को भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मे अपने प्रतिनिधियो के माध्यम से भाग लेने का अधिकार मिल गया।

छत्तीसवाँ संशोधन, 1975 . इस सशोधन द्वारा सिक्किम को भारत के साथ मिला लिया गया और भारतीय सघ का बाईसवाँ राज्य स्वीकार किया गया।

सैंतीसवाँ संवैधानिक संशोधन (अप्रैल 1975) : इस सवैधानिक संशोधन द्वारा अरुणाचल प्रदेश मे गोवा, पाण्डिचेरी व मिजोरम प्रदेश के समान ही लोकप्रिय शासन की व्यवस्था की गयी है। अब अरुणाचल प्रदेश मे एक लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल व 30 सदस्यों की विधान सभा होगी।

अड़तीसवाँ सवैधानिक संशोधन (2 जुलाई, 1975) : इस सवैधानिक सशोधन के अनुसार राष्ट्रपति, राज्यपालो और उपराज्यपालो द्वारा उद्घोषित आपात्कालीन स्थिति वाले अध्यादेश को न्यायालयो की सुनवाई के क्षेत्राधिकार से अलग कर दिया गया, अर्थात् इन विषयो पर न्यायालयो को विचार करने का अधिकार नही है। इस सवैधानिक सशोधन द्वारा सविधान के अनुच्छेद 123, 212, 229(ख), 352, 359 और 360 को सशोधित किया गया है।

सविधान के अनुच्छेद 123 के अन्तर्गत संसद के विश्राम काल मे राष्ट्रपति के द्वारा जो आदेश जारी किये जाते है, इस सवैधानिक सशोधन के अनुसार उनकी जाँच करने का अधिकार भी न्यायालय को नही होगा। इस सम्बन्ध मे राष्ट्रपति का समाधान हो जाना ही अध्यादेश जारी करने के लिय पर्याप्त है और न्यायालय इस बात की जाँच नही कर सकेगा कि तुरन्त कार्यवाही करने के लिए बाध्य करने वाली परिस्थितियाँ विद्यमान है अथवा नही। इसी प्रकार राज्यपाल और केन्द्र-शासित क्षेत्रो मे प्रशासन द्वारा अध्यादेश जारी करने की शक्तियो की जाँच भी न्यायालय मे नही हो सकती।[1]

इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 356 मे एक पाँचवें उपखण्ड को जोड़कर उस अनुच्छेद मे सशोधन किया गया है। सशोधन का आशय यह है कि शासन मे इसके कुछ विपरीत होने पर भी यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाय कि राज्य या राज्यो मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसमें राज्य का शासन उस सविधान के उपबन्धों के अनुसार नही चलाया जा सकता, तो वह सम्बन्धित राज्य के विषय मे सकटकाल की उद्घोषणा कर सकेगा। ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा जो कार्य करेगा, उनके बारे मे कोई मुकदमा अदालत मे नही लाया जा सकेगा।

उन्तालीसवाँ संवैधानिक सशोधन[2] **(अगस्त 1975)** : इस संवैधानिक संशोधन द्वारा यह

---

[1] 44वे सवैधानिक सशोधन (1979) द्वारा जो व्यवस्थाएँ की गयी है, उसके कारण 38वाँ सवैधानिक सशोधन समाप्त हो गया है।

[2] 44वे सवैधानिक सशोधन (1979) द्वारा जो व्यवस्थाएँ की गयी हैं, उनके कारण 38वाँ सवैधानिक सशोधन और 39वे सशोधन द्वारा चार पदाधिकारियो के चुनाव विवादो की सुनवाई के सम्बन्ध मे की गयी व्यवस्था समाप्त हो गयी है।

व्यवस्था की गयी है कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष और प्रधानमन्त्री इन चार पदाधिकारियो के निर्वाचन को उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकेगी।

सशोधन मे व्यवस्था की गयी है कि इन चार उच्च पदाधिकारियो के चुनाव विवादो की सुनवाई के लिए ससद के द्वारा एक नवीन समिति का गठन किया जायगा और संसद द्वारा इस सम्बन्ध मे किये गये व्यवस्थापन को किसी न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकेगी।

इस सवैधानिक सशोधन द्वारा सविधान की नवी अनुसूची को भी संशोधित किया गया है। इस अनुसूची को सशोधित करते हुए उनमे 1951 ई० के जनप्रतिनिधित्व अधिनियम (1974 और 1975 मे किये गये सशोधनो सहित) और अन्य चुनाव कानूनो, तस्कर विरोधी व्यवस्थापन, आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम (MISA) और सामाजिक तथा आर्थिक मसलो पर केन्द्र तथा राज्य के 37 अन्य कानूनों को नवीं अनुसूची मे शामिल कर उन्हे सवैधानिक वैधता प्रदान की गयी है।

जनप्रतिनिधित्व अधिनियम में संशोधन (Amendment in Peoples Representation Act)—संसद के द्वारा 6 अगस्त, 1975 को चुनाव कानून सशोधन विधेयक पारित कर जनप्रतिनिधित्व अधिनियम और भारतीय दण्ड संहिता मे कुछ सशोधन कर दिये है। ये संशोधन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि प्रधानमन्त्री की याचिका के सम्बन्ध मे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपना 7 नवम्बर का निर्णय इन संशोधनो के प्रकाश मे ही दिया गया। ये सशोधन इस प्रकार है : -

प्रथमतः, किसी व्यक्ति द्वारा उम्मीदवार प्रकट करने की तिथि नामाकन के दिन से मानी जायेगी। **द्वितीय**, यदि अपनी ड्यूटी के अन्तर्गत कोई अधिकारी किसी उम्मीदवार के सरक्षण की व्यवस्था करता है तो ऐसे कार्य भ्रष्ट तरीके मे नही गिने जा सकते है और इन कार्यो के लिए सरकारी अधिकारियो का प्रयोग कोई भ्रष्ट तरीका नही माना जा सकता है। **तृतीय**, यह संशोधन किया गया कि चुनाव आयोग ने किसी दल को यदि कोई प्रतीक चिह्न प्रदान किया है; तो उस प्रतीक चिह्न का प्रयोग करना, किसी धार्मिक या राष्ट्रीय प्रतीक चिह्न का प्रयोग करना नही समझा जायगा और उसे एक भ्रष्ट तरीका नही कहा जा सकता। **चतुर्थ**, वर्तमान समय मे यह व्यवस्था है कि चुनाव मे भ्रष्ट आचरण का दोषी पाये जाने वाले व्यक्ति को 6 वर्ष की अवधि के लिए चुनाव लडने के अयोग्य घोषित कर दिया जाता है और इस काल मे उसे मताधिकार से भी वचित कर दिया जाता है। अब यह व्यवस्था की गयी है कि राष्ट्रपति चुनाव आयोग से प्राप्त परामर्श के आधार पर इस आयोग की अवधि को निर्धारित कर सकेगा।

'**जनप्रतिनिधित्व अधिनियम**' मे इन सभी सशोधनो को शुरू से ही प्रभावी (with retrospective effect) माना जायगा अर्थात् इन कानूनो को प्रारम्भ से ही जनप्रतिनिधित्व अधिनियम का अंग समझा जायगा।

चालीसवां संवैधानिक संशोधन, 1976 · सविधान के 40वे सशोधन द्वारा केन्द्र तथा राज्यों द्वारा निर्मित 64 कानूनो को 9वी अनुसूची मे शामिल कर दिया गया है। अब इन कानूनो को न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती। यह कानून मुख्य रूप से भूमि सुधार, शहरी भूमि सीमाबन्दी, आवश्यक वस्तुओ, बन्धुआ मजदूरी की समाप्ति, तस्करो की सम्पत्ति जब्त करना, आपत्तिजनक सामग्री के प्रकाशन आदि से सम्बन्धित है। इस संशोधन का उद्देश्य भारत की सामुद्रिक सीमा से आगे 188 मील तक महासागर मे देश की आर्थिक गतिविधियो को नियन्त्रित करने के लिए कानून बनाने का अधिकार संसद को देना है।

इकतालीसवां संवैधानिक संशोधन, 1976 : 41वें संविधान संशोधन द्वारा अनुच्छेद 316(2) में परिवर्तन किया गया। इसके अनुसार राज्यों के लोकसेवा आयोगो के सदस्यो तथा अध्यक्ष की सेवा-निवृत्ति आयु को 60 वर्ष से बढ़ाकर 62 वर्ष कर दिया गया है। इस संशोधन

का उद्देश्य राज्यो के लोकसेवा आयोग के सदस्यो व अध्यक्ष के पद को और अधिक आकर्षक बनाना है।

42वां संवैधानिक संशोधन, 1976
(FORTY-SECOND CONSTITUTIONAL AMENDMENT, 1976)

1971 के लोकसभा चुनावो के बाद से ही तत्कालीन शासक दल के एक वर्ग द्वारा इस बात का प्रतिपादन किया जा रहा था कि देश की सामाजिक-आर्थिक प्रगति के लिए सविधान मे व्यापक परिवर्तन किये जाने की आवश्यकता है। 1975 मे आपातकाल की घोषणा के बाद यह बात जोर-शोर के साथ कही गयी। इस पृष्ठभूमि मे तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष द्वारा 26 फरवरी, 1976 को सविधान सशोधन के प्रश्न पर विचार करने के लिए **सरदार स्वर्णसिंह** की अध्यक्षता मे एक समिति की स्थापना की गयी। समिति की रिपोर्ट और रिपोर्ट पर विचार के आधार पर विधेयक तैयार कर लोकसभा मे प्रस्तावित किया गया और उसे **'42वें सविधान संशोधन विधेयक'** का नाम दिया गया। 18 दिसम्बर, 1976 को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद इसने ही 42वें सवैधानिक सशोधन का रूप प्राप्त किया। सवैधानिक सशोधन मे कुल **59 प्रावधान** थे और यह भारतीय सविधान का सर्वाधिक व्यापक और सर्वाधिक विवादास्पद सवैधानिक सशोधन है। इस सवैधानिक सशोधन द्वारा सविधान के विभिन्न प्रावधानो मे निम्न प्रकार से सशोधन किया गया है:

प्रस्तावना—इसके द्वारा सविधान की प्रस्तावना मे **'धर्म निरपेक्ष'** और **'समाजवादी'** शब्द जोडे गये तथा राज्य की एकता के साथ **'और अखण्डता'** शब्द जोड़े गये।

मूल कर्तव्यो की व्यवस्था—इसके द्वारा अधिकारो के साथ-साथ कर्तव्यो की व्यवस्था करते हुए नागरिको के 10 **मूल कर्तव्य** निश्चित किये गये।

मौलिक अधिकार और नीति निर्देशक तत्त्व*—इसके द्वारा ससद को राष्ट्र विरोधी गतिविधियो पर नियन्त्रण या रोक का अधिकार दिया गया चाहे इसमे मौलिक अधिकार सीमित होते हो।

इसके द्वारा मौलिक अधिकार की तुलना मे निर्देशक तत्वो को प्रमुखता की स्थिति प्रदान की गयी। यह कहा गया कि निर्देशक सिद्धान्तो को लागू करने के लिए ससद जिन किन्ही कानूनो का निर्माण करे, उन्हे इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकेगी कि ये कानून सविधान मे दिये गये किसी अधिकार को सीमित या समाप्त करते हो।[1]

इसके द्वारा निर्देशक तत्वो मे कुछ नवीन तत्व जोडे गये, यथा बच्चो को स्वस्थ रूप मे विकास के लिए अवसर और सुविधाएँ प्रदान करना, समाज के कमजोर वर्गो को नि शुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था करना, औद्योगिक सस्थानो के प्रबन्ध मे कर्मचारियो को भागीदार बनाना व देश के पर्यावरण की रक्षा तथा उसमे सुधार।

राष्ट्रपति—राष्ट्रपति केवल एक औपचारिक प्रधान है, इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखित रूप मे उल्लेख किया गया . 'राष्ट्रपति अपने कार्यो के सम्पादन मे मन्त्रिपरिषद से प्राप्त परामर्श के आधार पर कार्य करेगा।'

आपातकालीन उपबन्ध—**प्रथम**, यह व्यवस्था की गयी कि अनुच्छेद 353 के अन्तर्गत आपातकाल की घोषणा पूरे देश के लिए एक साथ की जा सकती है या देश के किसी एक अथवा

---

* ताराकित व्यवस्थाएँ 43वे और 44वे सवैधानिक संशोधन द्वारा समाप्त कर दी गयी है।

1 इस व्यवस्था को 'मिनर्वा मिल्स विवाद' (1980) मे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया है।

कुछ भागो के लिए। द्वितीय, यह निश्चित किया गया कि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत समद द्वारा एक बार मे एक वर्ष के लिए सकटकाल लागू किया जा सकता है।

केन्द्र-राज्य सम्बन्ध—इसके द्वारा शिक्षा, नाप-तौल, वन और जगली जानवर तथा पक्षियो की रक्षा—ये विषय राज्य सूची मे निकालकर समवर्ती सूची मे रख दिये गये।

माथ ही यह व्यवस्था की गयी कि भारत सरकार द्वारा सघ की कोई सशस्त्र सेना या अन्य कोई बल राज्य के अन्तर्गत कानून या व्यवस्था के सम्बन्ध मे उत्पन्न किसी गम्भीर प्रश्न से निबटने के लिए भेजी जा सकेगी। जब कभी ऐसे सशस्त्र बल का प्रयोग किया जायेगा, तो वह केन्द्र सरकार द्वारा दिये गये आदेशों का ही पालन करेगा।

संसद की सर्वोच्चता*—42वे सवैधानिक सशोधन का एक प्रमुख उद्देश्य 'ससद की सर्वोच्चता' स्थापित करना बतलाया गया। अत यह व्यवस्था की गयी कि, 'संसद द्वारा संविधान मे किये गये किसी भी सशोधन को (जिसमे सविधान का भाग 3 भी शामिल है), इसके अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकेगी कि इसमे अनुच्छेद 368 द्वारा बतलायी गयी प्रक्रिया को नही अपनाया गया है।'

*ससद और राज्य विधानसभाओ का कार्यक्रम 5 वर्ष के स्थान पर 6 वर्ष कर दिया गया।

***सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयो की शक्तियो में कमी**—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा कई रूपों मे सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयो की शक्ति मे कमी की गयी। प्रथम, इस सशोधन के अनुसार देश का कोई भी न्यायालय सवैधानिक सशोधन की वैधता पर विचार नही कर सकता। सर्वोच्च न्यायालय राज्य के कानून की वैधता पर और उच्च न्यायालय केन्द्र के कानून की वैधता पर विचार नही कर सकता। इसके अतिरिक्त, सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय द्वारा किये जाने वाले न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रक्रिया को कठिन बना दिया गया तथा प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रो मे न्यायाधिकरणो (Tribunals) की स्थापना की व्यवस्था कर न्यायालयो के क्षेत्राधिकार को सीमित करने का प्रयत्न किया गया।

संक्षिप्त समीक्षा—तत्कालीन शासक वर्ग के द्वारा इस सवैधानिक सशोधन के चाहे जो भी लक्ष्य और उद्देश्य बतलाये गये हो, वस्तुत इस सवैधानिक सशोधन का सर्वप्रमुख उद्देश्य प्रधानमन्त्री और कार्यपालिका के हाथ मे सत्ता का अधिकाधिक केन्द्रीकरण ही था। भूतपूर्व महाधिवक्ता श्री सी० के० दफ्तरी के शब्दो मे, "**42वें संवैधानिक संशोधन का उद्देश्य और लक्ष्य व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता स्थापित करना घोषित किया गया था लेकिन वस्तुतः इसकी रचना प्रधानमन्त्री पद मे मूर्तिमान कार्यपालिका की पूर्ण सत्ता स्थापित करने के लिए की गयी थी। इस प्रकार 42वे संवैधानिक संशोधन के उद्देश्य और लक्ष्य के सम्बन्ध मे जनता को भ्रम में डाला गया।**"[1]

प्रसिद्ध सविधान विशेषज्ञ एन० ए० पालकीवाला के अनुसार, 42वाँ सवैधानिक सशोधन चार प्रकार से सविधान के मूलभूत ढाँचे को परिवर्तित कर देता या उसे नष्ट कर देता है :

(1) यह सविधान की सर्वोच्चता समाप्त कर ससद (जो सविधान की कृति है) की सर्वोच्चता स्थापित करता है और सविधान को ससद के अधीन बनाता है।

(2) मौलिक अधिकारो की 'वाद-योग्यता' (Justiciable) को परिसीमित करता है।

(3) कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के मध्य स्थापित सन्तुलन समाप्त कर कार्यपालिका की शक्तियाँ अविरल रूप से बढ़ाता है।

---

* तारांकित व्यवस्थाएँ 43वे और 44वे सवैधानिक सशोधन द्वारा समाप्त कर दी गयी हैं।

1 "The aims and objects of the 42nd Constitutional amendment was proclaimed to establish the supremacy of the legislature, but in truth and in fact, it was designed to establish the absolute of the executive personified by the Prime Minister People were misled on 42nd amendment"

—*C. K. Daphtary*

(4) उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किसी कानून को अवैध घोषित किये जाने पर भी यह उस कानून की क्रियान्विति की व्यवस्था करता है।[1]

छठी लोकसभा के चुनाव के समय जनता पार्टी के द्वारा जो चुनाव घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया, उसके राजनीतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत एक प्रमुख बात 42वें संवैधानिक संशोधन को रद्द करने की कही गयी। लेकिन सत्ता प्राप्त करने के बाद 42वें संवैधानिक संशोधन के सभी प्रावधानों को रद्द करने के बजाय इस सम्बन्ध मे गुणावगुण के आधार पर व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया गया। 42वें संवैधानिक संशोधन की कुछ बाते 43वे संवैधानिक संशोधन (1977) और 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) द्वारा रद्द कर दी गयी हैं। 42वे संवैधानिक संशोधन की कुछ बातो को परिवर्तित राजनीतिक स्थिति मे भी उपयोगिता के आधार पर बनाये रखा गया।

43वें संवैधानिक संशोधन, 1977 : इसके द्वारा 42वे संवैधानिक संशोधन की कुछ आपत्तिजनक व्यवस्थाओ, विशेषतया न्यायपालिका से सम्बन्धित ऐसी व्यवस्थाओ को रद्द कर दिया गया। प्रथम, संसद की यह शक्ति समाप्त कर दी गयी कि वह राष्ट्र-विरोधी समुदायो और गतिविधियो पर नियन्त्रण लगा सके। वास्तव मे, संसद द्वारा शासक दल के प्रभाव मे इस शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता था। 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार तथा शक्ति मे कमी कर दी गयी थी और न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रक्रिया को कठिन बना दिया गया था। 43वे संवैधानिक संशोधन द्वारा 42वे संवैधानिक संशोधन की उपर्युक्त व्यवस्थाओ को रद्द कर दिया गया तथा सर्वोच्च न्यायालय एव उच्च न्यायालयो की शक्ति और न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध मे अब पुन वही व्यवस्था हो गयी है जो 42वे संवैधानिक संशोधन के पूर्व थी।

44वाँ संवैधानिक संशोधन, अप्रैल 1979 · 42वें संवैधानिक संशोधन की अनेक आपत्तिजनक बातो को रद्द करने के लिए विधि मन्त्री द्वारा 15 मई, 1978 को 44वाँ संवैधानिक संशोधन विधेयक लोकसभा मे प्रस्तावित किया गया। लोकसभा से पारित होने के बाद राज्यसभा द्वारा इस संशोधन विधेयक को 5 संशोधनों सहित पारित किया गया। ऐसी स्थिति मे लोकसभा के सामने दो मार्ग थे। प्रथम, समस्त संशोधन विधेयक को छोड दिया जाय। द्वितीय, राज्यसभा द्वारा विधेयक मे किये गये संशोधनो सहित उसे स्वीकार कर लिया जाय। लोकसभा और शासन द्वारा इस सम्बन्ध मे दूसरा मार्ग अपनाया गया। संसद के दोनो सदनो द्वारा संशोधन विधेयक को पारित किये जाने के बाद अप्रैल 1979 तक 14 राज्यो की विधानसभाओ द्वारा भी इसे स्वीकार कर लिया गया (विधेयक पर कम-से-कम 11 राज्यो के विधानमण्डलो की स्वीकृति आवश्यक थी) और 30 अप्रैल, 1979 को राष्ट्रपति द्वारा हस्ताक्षर किये जाने के बाद इसने 44वे संवैधानिक कानून, 1979 का रूप ले लिया। 19 जून, 1979 को भारत के राष्ट्रपति द्वारा जारी एक अधिसूचना के अनुसार

---

1 In four respects at least, the Forty-second Amendment does alter or destroy the basic structure of the Constitution.

First, it overthrows the supremacy of the Constitution and instals Parliament (a creature of the Constitution) as the supreme authority to which the Constitution is to be subservient, the instrument becomes master

Secondly, the amendment enacts that the eternal values enshrined as fundamental rights in the Constitution will no longer be justiciable or operate as brakes, on legislative and executive action in most fileds.

Thirdly, the balance between the executive, the legislature and judiciary is rudely shaken and the executive at the centre gains enormously in power at the expense of the other organs of the State, particularly the judiciary

Fourthly, the Amendment envisages the enforcement of laws even after they are held unconstitutional by a majority of the Supreme Court or the High Court

सरकार ने 44वें सवैंधानिक सशोधन कानून, 1978 की 45 धाराओ मे से 39 को तत्काल लागू कर दिया । शेप धाराएँ अगस्त 1979 मे लागू की गयी है । इस संवैधानिक सशोधन के मुख्य प्रावधान निम्न प्रकार हैं :

मूल अधिकार—सम्पत्ति के मूल अधिकार को रद्द कर दिया गया । अब सम्पत्ति का अधिकार **केवल एक कानूनी अधिकार है मूल अधिकार नही ।** इस प्रकार अब भारतीय नागरिको को 6 मूल अधिकार ही प्राप्त हैं । इसके साथ ही 19वें अनुच्छेद की छठी स्वतन्त्रता (सम्पत्ति की स्वतन्त्रता) को समाप्त कर दिया गया है । इस प्रावधान को तत्काल लागू किया गया है ।

इस संवैधानिक संशोधन द्वारा ऐसी व्यवस्था कर दी गयी है कि **व्यक्ति के जीवन और शारीरिक स्वाधीनता के अधिकार** (अनुच्छेद 21) को शासन के द्वारा **आपातकाल में भी स्थगित या सीमित नहीं** किया जा सकता ।

'निवारक निरोध कानून' (अनुच्छेद 22) से सम्बन्धित व्यवस्था मे ऐसे कुछ परिवर्तन किये गये है, जिससे शासन के द्वारा इस कानून के आधार पर नागरिको की स्वतन्त्रता को अनुचित रूप मे लम्बे समय तक सीमित या समाप्त न किया जा सके ।

आपातकालीन प्रावधान—ऐसी व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया है कि संविधान के आपातकालीन प्रावधानो का शासन द्वारा दुरुपयोग न किया जा सके । **प्रथम**, राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपातकाल की घोषणा तभी की जा सकेगी, जबकि मन्त्रिमण्डल लिखित रूप मे राष्ट्रपति को ऐसा परामर्श दे । द्वितीय, यह आपातकाल युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में ही घोषित किया जा सकेगा । **तृतीय**, घोषणा के एक माह के अन्दर ससद के विशेष बहुमत से इसकी स्वीकृति आवश्यक होगी और इसे लागू रखने के लिए प्रति 6 माह बाद स्वीकृति आवश्यक होगी । **चतुर्थ**, लोकसभा मे उपस्थित एव मतदान मे भाग लेने वाले सदस्यो के साधारण बहुमत से आपातकाल की घोषणा समाप्त की जा सकती है । आपातकाल पर विचार हेतु लोकसभा की बैठक लोकसभा के 1/10 सदस्यो की माँग पर अनिवार्य रूप से बुलायी जायेंगी । **पंचम**, अनुच्छेद 356 के आधार पर राज्य मे सवैंधानिक व्यवस्था भंग होने की स्थिति मे जो आपातकाल घोषित किया जायेगा, उसे एक बार प्रस्ताव पास कर ससद 6 माह के लिए लागू कर सकेगी । संसद द्वारा एक वर्ष से अधिक अवधि के लिए राज्य मे राष्ट्रपति शासन जारी रखने का प्रस्ताव तभी पारित किया जा सकेगा जबकि इस प्रकार का प्रस्ताव पारित किये जाने के समय अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत संकटकाल लागू हो और चुनाव आयोग यह प्रमाणित कर दे कि वर्तमान समय मे राज्य के चुनाव करवाना सम्भव नही है ।

38वें संवैधानिक संशोधन को रद्द कर दिया गया है जिसमे व्यवस्था की गयी थी कि राष्ट्रपति द्वारा 352वें अनुच्छेद के अन्तर्गत की गयी सकटकालीन घोषणा को न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकेगी ।

राष्ट्रपति—इस सवैंधानिक सशोधन के द्वारा राष्ट्रपति की स्थिति 42वे सवैंधानिक सशोधन की तुलना मे कुछ **गौरवपूर्ण** बनाने का प्रयत्न किया गया है । इसमें व्यवस्था है कि मन्त्रिमण्डल द्वारा राष्ट्रपति को जो भी परामर्श दिया जायगा, राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल को उस पर दुबारा विचार करने के लिए कह सकेंगे; लेकिन पुनर्विचार के बाद मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति को जो भी परामर्श देगा राष्ट्रपति उस परामर्श को स्वीकार करेंगे ।

मूल संविधान के अनुच्छेद 71 द्वारा राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री और लोकसभा अध्यक्ष के चुनाव विवादो की भी सुनवाई का अधिकार अन्य चुनाव विवादो की भाँति उच्च न्यायालयो तथा सर्वोच्च न्यायालय को दिया गया है । 39वें संवैधानिक सशोधन द्वारा उपर्युक्त चार पदाधिकारियों से सम्बन्धित चुनाव विवादो की सुनवाई का उच्च न्यायालयो तथा सर्वोच्च न्याया-

लय का अधिकार ममाप्त कर दिया गया था। **इस संवैधानिक संशोधन द्वारा 39वें संवैधानिक संशोधन की उपर्युक्त व्यवस्था को रद्द कर दिया गया।** अब उपर्युक्त चार पदाधिकारियों के चुनाव विवादो की सुनवाई 39वें सवैधानिक मशोधन मे पूर्व की भांति उच्च न्यायालय या मर्वोच्च न्यायालय ही करेगे।

लोकसभा तथा विधानसभाएँ—लोकमभा और राज्य विधानमण्डलो का कार्यकाल पुन· 5 वर्ष कर दिया गया है।

लोकमभा और विधानमभाओ की गणपूर्ति तथा मदम्यो के विशेपाधिकार आदि के मम्बन्ध मे पुन. वही व्यवम्था कर दी गयी है जो 42वें मवैधानिक मशोधन के पूर्व थी।

इम मबके अतिरिक्त यह व्यवस्था की गयी है कि अनुच्छेद 368 की प्रक्रिया को अपनाते हुए ससद और राज्य विधानमभा द्वारा मविधान मे जो भी मशोधन किये जायेगे उन्हे उसी प्रकार से उच्च न्यायालयो तथा मर्वोच्च न्यायालय मे चुनौती दी जा सकेगी, जिस प्रकार से उन्हे 42वें मवैधानिक मशोधन के पूर्व चुनौती दी जा मकती थी।

इस प्रकार 44वे मवैधानिक मशोधन द्वारा **भारतीय संविधान को पुनः सामान्य स्थिति मे लाने का प्रयत्न किया गया है।**

45वाँ संवैधानिक संशोधन, 1980 अनुसूचित जातियो और जनजातियो के लिए आरक्षण की अवधि 25 जनवरी, 1980 को समाप्त होने वाली थी। अत 45वे सवैधानिक सशोधन द्वारा आरक्षण अवधि को अगले 10 वर्षो तक अर्थात् 25 जनवरी, 1990 तक के लिए बढा दिया गया।

46वाँ संवैधानिक संशोधन, जुलाई, 1982 . इस मवैधानिक मशोधन का उद्देश्य बिक्री-कर (Sales-tax) की वसूली की खामियो को दूर कर बिक्री-कर की वसूली के कार्य को सरल बनाना है। इस मवैधानिक मशोधन द्वारा कुछ वस्तुओ के मम्बन्ध मे बिक्री-कर की समान दरें और वसूली की एकसमान व्यवम्था को अपनाया गया है। ममद के दोनो सदनो द्वारा भारी बहुमत से यह सशोधन विधेयक पारित किया गया।

47वाँ सवैधानिक संशोधन, 26 अगस्त, 1982 इम मवैधानिक सशोधन द्वारा 14 और भूमि सुधार कानूनो को मविधान की 9वी अनुसूची मे शामिल किया गया है। इस प्रकार अब सविधान की नवी अनुसूची मे 202 अधिनियम हो गये। इन कानूनो को मविधान की नवी अनुसूची मे इम उद्देश्य से शामिल किया गया है कि न्यायालय मे इनकी वैधता को चुनौती नही दी जा सके।

48वाँ संवैधानिक संशोधन, 26 अगस्त, 1984 यह सवैधानिक सशोधन सीमित और सामयिक राजनीतिक उद्देश्य मे किया गया है और केवल पजाब राज्य तथा उसकी वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध मे है। पजाब मे 6 **अक्टूबर**, 1983 को राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था और 44वे सवैधानिक सशोधन (1979) के अनुसार राष्ट्रपति शासन की अधिकतम अवधि एक वर्ष ही हो सकती है। इस सन्दर्भ मे 6 अक्टूबर, 1984 को पजाब मे राष्ट्रपति शासन समाप्त करना पडता।

लेकिन पजाब मे तत्कालीन स्थिति को देखते हुए 6 अक्टूबर, 1984 के बाद भी राष्ट्रपति शासन बनाये रखने की आवश्यकता समझी गयी। अत सविधान के अनुच्छेद 356 की धारा 5 मे परिवर्तन कर यह व्यवस्था की गयी कि पजाब मे राष्ट्रपति शासन अधिकतम दो वर्ष की अवधि तक अर्थात् जरूरी होने पर 6 **अक्टूबर**, 1985 तक के लिए लागू रखा जा सकता है।

49वाँ संवैधानिक संशोधन, अगस्त 1984 इस सवैधानिक सशोधन के आधार पर सविधान की छठी अनुसूची के अन्तर्गत त्रिपुरा मे स्वायत्तशासी जिला परिषद की स्थापना की गयी है। इस मवैधानिक सशोधन के पूर्व छठी अनुसूची असम, मेघालय और मणिपुर पर लागू होती थी और ऐसे प्रशासनिक ढाँचे की व्यवस्था करती है जिसमे जनजातियो की विशिष्ट परम्पराओ की रक्षा

हो तथा साथ ही उनके आर्थिक हितो का संवर्धन हो। यह संशोधन **छठी अनुसूची को त्रिपुरा तक विस्तृत कर देता है।** 'त्रिपुरा जन-जातीय क्षेत्र स्वायत्त जिला परिषद अधिनियम, 1979' के अधीन त्रिपुरा मे 'स्वायत्तशासी जिला परिषद' कार्य कर रही है। 49वे संवैधानिक संशोधन द्वारा जन-जातियो की आकाक्षाओ के अनुरूप इसे संवैधानिक वैधता प्रदान की गयी है। यह माँग लम्बे समय मे और सभी दलो द्वारा की जा रही थी। त्रिपुरा राज्य मे 29 प्रतिशत जनसख्या जनजातियो की है और आशा की जाती है कि इस संवैधानिक संशोधन से त्रिपुरा की जनजातियो का विकास अधिक अच्छे प्रकार से हो सकेगा।

50वां संवैधानिक संशोधन, अगस्त 1984 इस संवैधानिक संशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेद 33 को संशोधित करते हुए राज्य सम्पत्ति की सुरक्षा का दायित्व निभाने वाले सुरक्षा बलो (Security forces), गुप्तचर सगठनो मे लगे हुए व्यक्तियो और विभिन्न सैन्य बलो के दूर-सचार कार्य में लगे हुए व्यक्तियो के मौलिक अधिकारो को प्रतिबन्धित कर दिया गया है। इन सुरक्षा बलो मे अधिक अनुशासन की आवश्यकता को दृष्टि मे रखते हुए ऐसा किया गया है। इस संवैधानिक संशोधन के पूर्व सशस्त्र बलो या लोक-व्यवस्था बनाये रखने का भार वहन करने वाले बलो से सम्बद्ध सदस्यो के मौलिक अधिकारो को सीमित करने का ही प्रावधान था।

51वां संवैधानिक संशोधन, अगस्त 1984. इस संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद 330 और अनुच्छेद 332 को संशोधित किया गया है। अनुच्छेद 330 को संशोधित करते हुए मेघालय, नागालैण्ड, अरुणाचल और मिजोरम की अनुसूचित जनजातियो को लोकसभा मे आरक्षण प्रदान कर दिया गया है। इसी प्रकार अनुच्छेद 332 को संशोधित करते हुए नागालैण्ड और मेघालय की विधानसभाओ मे जनजातियो के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी है।

52वां संवैधानिक संशोधन, जनवरी 1985—**दलबदल पर कानूनी रोक की व्यवस्था :** भारत मे दल-बदल तो 1937 मे ही होता रहा है, दल-बदल का यह नाटक अपनी सारी कुरूपता के साथ 1967 से चल रहा था। अत विवेकशील व्यक्तियो द्वारा इसी समय से दल-बदल पर कानूनी रोक लगाने की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। इस सम्बन्ध मे 1968, 1973 और 1979 मे संवैधानिक संशोधन के लिए प्रयत्न भी किये गये, लेकिन राजनीतिक दलो, विशेष-तया शासक दल मे आवश्यक रुचि और इच्छा शक्ति का अभाव होने के कारण कुछ नही किया जा सका। अन्ततोगत्वा आठवी लोकसभा के चुनाव के बाद ससद मे दोनो सदनो ने **52वां संविधान संशोधन विधेयक,** 1985' सर्वसम्मति से पारित कर दिया। इस संवैधानिक संशोधन के प्रमुख रूप मे ये प्रावधान है

1. निम्न परिस्थितियो मे ससद/विधानसभा के सदस्य की सदस्यता समाप्त हो जायगी :

(i) यदि वह स्वेच्छा से अपने दल से त्यागपत्र दे दे।

(ii) यदि वह अपने दल या उसके द्वारा अधिकृत व्यक्ति की अनुमति के बिना सदन मे उसके किसी निर्देश के प्रतिकूल मतदान करे या मतदान मे अनुपस्थित रहे। परन्तु यदि 15 दिन के अन्दर दल उसे इस उल्लंघन के लिए क्षमा कर दे, तो उसकी सदस्यता पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा।

(iii) यदि निर्दलीय रूप मे निर्वाचित कोई सदस्य किसी राजनीतिक दल मे शामिल हो जाय।

(iv) यदि कोई मनोनीत सदस्य शपथ लेने के 6 माह बाद किसी राजनीतिक दल मे शामिल हो जाय।

2 किसी राजनीतिक दल के विघटन पर सदस्यता समाप्त नही होगी, यदि मूल दल के कम से कम एक-तिहाई सांसद और विधायक दल छोड़ दे।

3. इसी प्रकार विलय की स्थिति में भी दल-बदल नहीं माना जायगा, यदि किसी दल के कम से कम दो-तिहाई सदस्य उसकी स्वीकृति दे दें।

4. दल-बदल पर उठे किसी भी प्रश्न या विवाद पर अन्तिम निर्णय सदन के अध्यक्ष का होगा और किसी भी न्यायालय को उसमे हस्तक्षेप का अधिकार नही होगा।

5 सदन के अध्यक्ष को इस विधेयक को कार्यान्वित करने के लिए नियम बनाने का अधिकार होगा।

इस प्रकार दल-बदल पर कानूनी रोक लगायी गयी है, लेकिन विघटन और विलय को दल-बदल की परिधि के बाहर कर दिया गया है।

कुछ क्षेत्रों मे इस सवैधानिक सशोधन की इस आधार पर आलोचना हुई है कि इसके माध्यम से 'द्विपतन्त्र' की स्थापना की जा रही है और विधायकों पर दल का अकुश कडा किया जा रहा है। प्रसिद्ध विधिवेत्ता **श्री एन० पालकीवाला** के शब्दो मे, 'यह कानून विधायकों के असहमति व्यक्त करने के अधिकार का हनन करता है और उन्हे आत्मविहीन तथा अन्त.करण रहित वस्तुओ मे बदल देता है।'[1] वास्तव मे, इस प्रकार की आलोचना मे कोई सार नही है। यह तथ्य है कि भारत मे पिछले 18 वर्षों मे जो दल-बदल हुए, अधिकाश मे उनका कारण अन्त करण नही वरन् सत्ता, पद-लोलुपता और अन्य लाभ ही रहे हैं।

इस सवैधानिक सशोधन की एक कमी यह है कि विघटन और विलय को दल-बदल की परिधि के बाहर कर दिया गया है। यदि इन्हे दल-बदल की परिधि के बाहर न रखा जाता तो, दल-बदल विरोधी व्यवस्था अधिक प्रभावकारी होती।

दल-बदल रोकने की दिशा मे यह विधेयक शुभारम्भ ही माना जा सकता है। समस्या के पूरे निराकरण के लिए बहुत कुछ और करना पडेगा। वस्तुत: दल-बदल की समस्या के दो पहलू हैं—एक, नैतिक और दूसरा, वैधानिक। हमारे नैतिक मूल्यो मे जो भी भारी गिरावट आयी है—दल-बदल उसका एक कुत्सित परिणाम है। दल-बदल का उपचार भी दोनो ही स्तर पर करना होगा।

53वां संवैधानिक संशोधन, 1986 इस सवैधानिक सशोधन द्वारा केन्द्र-शासित क्षेत्र मिजोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया गया है। मिजोरम की सांस्कृतिक विशिष्टता को बनाये रखने की दृष्टि से उसे विशेष स्थिति भी प्रदान की गयी है।

54वां संवैधानिक संशोधन, 1986 इस सवैधानिक संशोधन द्वारा सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की सेवा शर्तों (वेतन, भत्ते, पेन्शन और सेवा-निवृत्ति वेतन) मे उल्लेखनीय सुधार किया गया है। अब सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का वेतन 10 हजार रुपये मासिक, सर्वोच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों एवं उच्च न्यायालयो के मुख्य न्यायाधीशो का वेतन 9 हजार रु० व उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो का वेतन 8 हजार रु० मासिक होगा।

55वां संवैधानिक संशोधन, 1986 इस संवैधानिक संशोधन द्वारा केन्द्र-शासित क्षेत्र अरुणाचल प्रदेश को भारतीय सघ के अन्तर्गत राज्य का दर्जा प्रदान किया गया है। अरुणाचल प्रदेश मे शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से अरुणाचल राज्य के राज्यपाल को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त होंगे।

56वां संवैधानिक संशोधन, 1987 गोआ जिले को दमन और दीव से अलग करके उसे पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया गया है। इस प्रकार अब भारतीय सघ मे 25 राज्य हो गये है।

---

[1] दिनमान, 10-16 फरवरी, 1985, पृ० 25।

57वाँ संवैधानिक संशोधन, 1987 : यह संवैधानिक संशोधन गोआ राज्य की विधान-सभा के सम्बन्ध मे है। संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार इसमे कम से कम 30 सदस्य होंगे। अन्तरिम काल में गोआ, दमन और दीव की विधानसभा में से दमन और दीव के दो सदस्य अलग हो जायेंगे और शेष विधानसभा गोआ की विधानसभा के रूप मे कार्य करेगी। प्रशासनिक निर्णय के अनुसार गोआ राज्य की विधानसभा मे 40 सदस्य होगें।

58वाँ संवैधानिक संशोधन, 1987 : इस सवैधानिक सशोधन द्वारा अनुच्छेद 330 और 332 को संशोधित करते हुए अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम और नागालैण्ड मे जन-जातियो के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। इस सवैधानिक सशोधन द्वारा की गयी व्यवस्था अस्थायी है और यह व्यवस्था 2000 ई० के बाद होने वाली प्रथम जनगणना के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रो के निर्धारण तक लागू रहेगी। इन राज्यो मे से जिन राज्यों की विधानसभाओ के सभी सदस्य जनजाति क्षेत्रो से सम्बन्धित हैं, तो एक सदस्य के अतिरिक्त अन्य सभी स्थान जब जनजातियो से भरे जायेंगे, अथवा जनजातियो के लिए उनकी जनसख्या के अनुपात मे स्थान सुरक्षित रखे जायेंगे।

59वाँ संवैधानिक संशोधन (मार्च 1988) . इस सवैधानिक संशोधन के आधार पर व्यवस्था की गयी कि पंजाब मे अधिकतम तीन वर्ष की अवधि के लिए राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। इसी सवैधानिक सशोधन के आधार पर सरकार ने पजाब मे लोगो के जीवन के अधिकार को स्थगित करने की शक्ति प्राप्त कर ली।

60वाँ संवैधानिक संशोधन (दिसम्बर 1988) : सविधान के अनुच्छेद 276 मे सशोधन कर राज्यो और स्थानीय निकायो को यह अधिकार दिया गया है कि वह अधिकतम 2,500 रुपये तक व्यवसाय कर लगा सकें।

61वाँ संवैधानिक संशोधन (1989) . इस सवैधानिक सशोधन के आधार पर मताधिकार के लिए न्यूनतम आवश्यक आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गयी है। इस संवैधानिक सशोधन से लगभग 4 करोड़ 70 लाख मतदाता बढ गये।

62वाँ संवैधानिक संशोधन (जनवरी 1990) . इसके अनुसार सविधान के अनुच्छेद 334 को सशोधित करते हुए लोकसभा और राज्य विधानसभाओ मे अनुसूचित जातियो व जनजातियो के लिए आरक्षण की व्यवस्था को अगले दस वर्ष अर्थात् 25 **जनवरी**, 2000 ई० तक के लिए बढा दिया गया है।

63वाँ संवैधानिक संशोधन (जनवरी 1990) . 59वें संवैधानिक सशोधन द्वारा शासन को शक्ति दी गयी थी कि वह पजाब मे लोगो के जीवन के अधिकार को स्थगित कर सकती है। 63वें सशोधन द्वारा 59वें सशोधन की यह व्यवस्था रद्द कर दी गयी है।

64वाँ संवैधानिक संशोधन, 1990 : इस संशोधन द्वारा पजाब मे राष्ट्रपति शासन की अवधि अगले 6 माह के लिए बढायी गयी है।

संविधान संशोधन की राजनीति (Politics of Constitutional Amendment)

सविधान संशोधन का भारत की राजनीतिक परिस्थितियो मे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। कभी-कभी तो राजनीतिक तूफान को शान्त करने के लिए सविधान मे द्रुतगति से सशोधन हुए और कभी-कभी सविधान सशोधन के परिणामस्वरूप भारतीय राजनीति में ही तूफान आ गया। यह तथ्य सर्वविदित है कि संविधान के प्रथम दस वर्षो मे 9 संशोधन हुए और बाद के 29 वर्षो मे 52 सशोधन हो चुके हैं। 28 फरवरी, 1967 को भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने **गोलकनाथ** वनाम **पंजाब** राज्य के मुकदमे में ऐतिहासिक निर्णय देकर भारतीय संसद के सामने एक चुनौती प्रस्तुत कर दी। सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संसद मौलिक अधिकारो के अध्याय मे

किसी प्रकार का सशोधन नही कर सकेगी और यदि वह ऐसा करती है तो उसके द्वारा पारित अधिनियम अवैध होगा। इसी निर्णय के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय ने 10 फरवरी, 1970 को बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम को अवैध घोषित कर दिया। 15 दिसम्बर, 1970 को सर्वोच्च न्यायालय ने राष्ट्रपति के नरेशो के प्रिवीपर्स व विशेपाधिकार समाप्त करने सम्बन्धी आदेश को गैर-कानूनी बताया। वस्तुत. सर्वोच्च न्यायालय बनाम सरकार व ससद के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा हो गयी। देश मे एक राजनीतिक विवाद उठ खडा हुआ कि ससद सर्वोच्च है या सर्वोच्च न्यायालय? प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने मतदाताओ को उनके आर्थिक कार्यक्रमों पर निर्णय प्रकट करने के लिए 24 दिसम्बर, 1970 को मध्यावधि चुनाव की घोषणा की। चुनावो मे कांग्रेस को दो-तिहाई मे भी अधिक बहुमत प्राप्त हुआ। इस अभूतपूर्व विजय ने सरकार को अपने आर्थिक कार्यक्रम लागू करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की।

ससद द्वारा सविधान मे किया गया प्रत्येक सशोधन समय की पुकार है। भारतीय संसद ने सशोधन तभी किये है जबकि उनकी विशेष आवश्यकता महसूस हुई।[1] सविधान मे संशोधन तब किये गये जब न्यायिक निर्णयो के द्वारा संविधान के कुछ विशेष अनुच्छेदो मे कमी बतायी गयी या संविधान-निर्माताओं के इरादो की गलत तरीके मे व्याख्या की गयी। कई सशोधनो का ध्येय तो राज्य-नीति के निर्देशक तत्वो को व्यावहारिक रूप से क्रियान्वयन करने से रहा है।[2] मूल अधिकारो के अध्याय मे भी ससद द्वारा कभी-कभी इसीलिए सशोधन किये गये कि वे समाजवादी समाज की रचना मे रोडा अटका रहे थे। कई बार कार्यपालिका और ससद ने महसूस किया कि मूलभूत अधिकारो की प्रत्याभूति सामाजिक और आर्थिक न्याय तथा प्रगतिशील परिवर्तन और समाजवाद की राह का अवरोध बन गयी है। न्यायपालिका की वर्तमान कार्य-पद्धति गरीबो को शीघ्र न्याय प्रदान करने मे असमर्थ है और भूमि सुधारो के लिए सविधान मे सशोधन करना अनिवार्य है। सविधान-सशोधन के फलस्वरूप ही बैंको का राष्ट्रीयकरण हुआ, नरेशो की मान्यता समाप्त की गयी, सम्पत्ति के अधिकार को सीमित किया गया और बाद मे समाप्त कर दिया गया, आई० सी० एस० वर्ग के विशेपाधिकार समाप्त हुए और विदेशी बीमा कम्पनियो का राष्ट्रीयकरण हुआ। यदि '**रमेश थापर** बनाम **मद्रास राज्य**' के विवाद मे सर्वोच्च न्यायालय प्रगतिशील निर्णय देता तो प्रथम सशोधन की आवश्यकता ही नही होती। यदि '**पश्चिमी बंगाल** बनाम **बेला बनर्जी**' विवाद मे न्यायालय मुआवजे की प्रगतिशील दृष्टिकोण के आधार पर व्याख्या करता तो चतुर्थ सशोधन की क्या जरूरत थी?[3] यदि '**गोलकनाथ** बनाम **पंजाब राज्य**' के विवाद मे न्यायालय ने ससद के मूल अधिकारो मे सशोधन के अधिकारो को छीना न होता तो 24वे, 25वे और 26वें सशोधन की आवश्यकता ही क्यो पड़ती? यदि गुजरात और बिहार मे विधायको को जबर्दस्ती त्यागपत्र देने के लिए बाध्य नही किया जाता तो 33वें सशोधन की कोई आवश्यकता नही थी। यदि आन्ध्र प्रदेश मे राजनीतिक विवाद उत्पन्न न होता तो 32वें संशोधन की आवश्यकता ही नही थी।

सत्ताधारी दल ने कभी-कभी ससद मे अपने अटूट बहुमत के नशे मे सविधान सशोधन की प्रक्रिया का दुरुपयोग भी किया है। उदाहरणार्थ, 42वे सविधान सशोधन द्वारा आपातकाल मे सविधान के मूलभूत ढाँचे को विकृत करने का प्रयत्न किया गया था। मार्च 1977 के लोकसभा चुनावो मे 'सविधान सशोधन' भी एक चुनावी मुद्दा था।

---

[1] गजेन्द्र गडकर, पी० बी० . **लॉ, लिबर्टी एण्ड सोशल जस्टिस**, 1965।

[2] हेन्सन एण्ड डगलस **इण्डियाज डेमोक्रेसी**, विकास, 1974, पृ० 45-47।

[3] डॉ० मोहम्मद सैयद . **अवर कॉन्स्टीट्यूशन फॉर हैव्ज ऑर हैवनाट्स**, 1975।

संविधान संशोधन और सामाजिक परिवर्तन (Constitutional Amendments and Social Change)

यह सर्वविदित है कि सामाजिक परिवर्तन राष्ट्रीय विकास का द्योतक होता है। सामाजिक परिवर्तन एक ऐसी सामाजिक क्रान्ति है जिसमे आर्थिक और राजनीतिक विकास की प्रक्रिया का सूत्रपात होता है। सामाजिक क्रान्ति से अभिप्राय इतना ही नही है कि मात्र प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था ही वदले, अपितु व्यवस्था सरकार के हाथो से निकलकर सही अर्थो मे साधारण जनता के पास आ जाय तथा उसी के अभिक्रम और निर्णय से सचालित भी हो। ऐसी व्यवस्था मे शासन साध्य न होकर साधन वन जायेगा और जनता शासित न होकर शासक वन जायेगी।

भारत मे समाजवादी समाज की रचना मे शान्तिपूर्ण सामाजिक क्रान्ति के नेतृत्व का महान दायित्व हमारी ससद के कन्धो पर ही है। सामाजिक क्रान्ति के अभाव मे आर्थिक समानता और आर्थिक समानता के अभाव मे राजनीतिक स्वाधीनता एक भ्रम वनकर रह जायेगी। विगत पच्चीस वर्षो का ससदीय इतिहास यह सिद्ध करता है कि हमारी ससद सर्वतोन्मुखी विकास की अभिलाषा को सँजोये परिवर्तन और राष्ट्र पुनर्निर्माण की उत्थानकारी सेवा मे समर्पित है।[1] भारत जैसे लोकतन्त्रात्मक समाज मे सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात ससदीय विधियो द्वारा ही शान्तिपूर्ण शैली से सम्भव है।[2] यह प्रसन्नता का विषय है कि हमारी ससद सवैधानिक सशोधन के परिप्रेक्ष्य मे ऐसी विधियो का लगातार निर्माण करती जा रही है जिनसे हमारे लोगो का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सास्कृतिक उत्थान सम्भव है।[1]

यदि सविधान के प्रथम सशोधन से 63वे सशोधन तक के इतिहास का विश्लेषण किया जाय तो कहा जा सकता है कि हमारी ससद ने सविधान के व्यापक और आवश्यक सशोधनो द्वारा सविधान को सामाजिक और आर्थिक न्याय के समाजवादी चार्टर का अनूठा प्रलेख वना दिया है। सविधान के प्रथम सशोधन द्वारा अनुच्छेद 15 मे परिवर्तन करते हुए सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गो की उन्नति के लिए राज्य को विशेष शक्ति दी गयी। इस सशोधन द्वारा अनुच्छेद 31 के वाद 31-अ तथा 31-व जोड़े गये। 31-अ तथा 31-व के अनुसार जमीदारी प्रथा पर चोट की गयी और सामन्तवाद की पुरानी दीवारे ढहने लगी। चतुर्थ सशोधन द्वारा जनता के हित मे अनिवार्य तौर पर सरकार सम्पत्ति ग्रहण कर सकेगी तथा जो क्षतिपूर्ति की दर विधि द्वारा निश्चित की जायगी, उसके वारे मे कोई न्यायालय अपनी राय नही दे सकेगा। अष्टम सशोधन द्वारा अनुसूचित जातियो व आदिम जातियो के लिए विशेष आरक्षण की अवधि दस वर्ष के लिए और वढा दी गयी। सत्रहवे सशोधन द्वारा भूमि सुधार कानूनो के क्रियान्वयन हेतु पहल की गयी और रैयतवारी जैसी शोषणयुक्त व्यवस्था पर प्रहार किया गया। तेईसवे सशोधन द्वारा अनुसूचित जातियो एव जनजातियो के लिए सरकारी नौकरियो मे आरक्षण की अवधि अगले दस वर्ष के लिए और वढा दी गयी। 24वे सशोधन द्वारा ससद की सविधान मे सशोधन करने की शक्तियो पर सर्वोच्च न्यायालय और राष्ट्रपति दोनो का अनुचित प्रतिवन्ध हटाया गया है। इस सशोधन से यह सिद्ध हो गया है कि भारतीय जनता सर्वोच्च न्यायालय को उस रूप मे कभी पसन्द नही करेगी कि वह ससद की प्रगतिशील नीतियो पर किसी भी प्रकार का अकुश लगाये। सविधान के पच्चीसवे सशोधन द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को समाजवाद की स्थापना के उद्देश्य

---

1 ढिल्लो, जी० एस० . **ट्वण्टी-फाइव ईयर्स ऑफ पार्लियामेण्ट**, योजना, 26 जनवरी, 1975, पृ० 18।

2 कुप्पास्वामी, वी० **सोशल चेन्ज इन इण्डिया**, विकास, दिल्ली, पृ० 156-59।

3 कोठारी, रजनी **भारत में राजनीति**, पृ० 84।

से सीमित करने का प्रयास किया गया है। छब्बीसवाँ सशोधन भूतपूर्व देशी रियासतो के नरेशो के विशेषाधिकारो और शाही थैलियो को समाप्त करता है। अट्ठाइसवाँ सशोधन आई० सी० एस० अधिकारियो के विशेषाधिकारो को समाप्त करता है। उन्तीसवे सशोधन द्वारा यह निश्चित हो गया है कि यदि भूमि के समीकरण से व्यक्तिगत जोत की भूमि भी प्रभावित होती है तो राज्य के द्वारा वह भूमि प्राप्त की जा सकती है। चौंतीसवे सशोधन द्वारा भूमि सुधार कानूनो को सविधान की नवम् अनुसूची मे स्थान दिया गया। बयालीसवे सशोधन द्वारा नीति निर्देशक सिद्धान्तो को मूल अधिकारो की तुलना मे वरीयता प्रदान की गयी। चौवालीसवे सशोधन द्वारा सम्पत्ति के अधिकारो को समाप्त कर दिया गया। पैंतालीसवे सशोधन द्वारा समाज के पिछड़े वर्गो के लिए आरक्षण की अवधि सन् 1990 तक बढा दी गयी। 47वे सशोधन द्वारा 14 और भूमि सुधार कानूनो को सविधान की नवी अनुसूची मे शामिल किया गया, 49वे और 51वें सशोधन द्वारा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की जनजातियो के विकास का मार्ग प्रशस्त किया गया और 52वें सवैधानिक सशोधन द्वारा एक गम्भीर राजनीतिक बुराई 'राजनीतिक दल-बदल पर रोक' लगाने की व्यवस्था की गयी।

सविधान संशोधन से विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के विशेषाधिकार छीने गये है, सामन्तवाद एव जमीदारी प्रथाओ का उन्मूलन हुआ है और पिछड़े हुए वर्गो के विकास हेतु विशिष्ट प्रावधानो की व्यवस्था हुई है। सम्पत्ति के परम्परावादी अधिकार को आर्थिक न्याय के परिप्रेक्ष्य मे सीमित किया गया ताकि कमजोर वर्ग के शोषण को रोका जा सके और समतायुक्त समाज का निर्माण हो। वस्तुत सविधान सशोधन मे महान सृजनात्मक शक्ति निहित है। इनमे एक राष्ट्र की शान्ति, प्रगति और समृद्धि की योजना निर्धारित की गयी है। इनमे एक कल्याणकारी समाज और न्याययुक्त सामाजिक व्यवस्था की स्थापना को परिकल्पना की गयी है।

ससद तथा संविधान संशोधन (Parliament and Constitutional Change)

सविधान मे सशोधन की शक्ति ससद मे निहित है और भारतीय ससद सविधान के किसी भी भाग मे अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत परिवर्तन कर सकती है। शकरी प्रसाद और सज्जनसिंह के विवादो मे सर्वोच्च न्यायालय ने ससद की सशोधन सम्बन्धी अप्रतिम शक्ति को स्वीकृति दे दी थी। किन्तु बाद मे **गोलकनाथ** विवाद मे न्यायालय ने कहा कि संविधान के मूल अधिकारो मे सशोधन का कोई भी कानून, अगर सविधान के भाग 3 अनुच्छेद 13(2) का पालन नही करता तो अवैध होगा।' ससद को सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय से पूर्व की स्थिति में लाने के लिए सन् 1967 मे प्रसोपा के नेता **स्वर्गीय नाथ पै** ने अपना सविधान सशोधन विधेयक प्रस्तुत किया, जो राजनीतिक दलो के आपसी मतभेदो के कारण पारित न हो सका। पचम लोकसभा के निर्वाचन के उपरान्त ससद ने चौबीसवाँ सविधान संशोधन पारित करके अपनी खोयी हुई शक्ति को पुन प्राप्त कर लिया। अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि ससद सविधान के किसी भी उपबन्ध मे परिवर्तन करने मे सक्षम है। डॉ० **लक्ष्मीमल्ल सिघवी** के शब्दो मे, गोलकनाथ के मुकदमे को लेकर एक बहुत बडी बहस राष्ट्रीय स्तर पर चली और उसके परिणामस्वरूप अनुच्छेद 368 मे 24वाँ सशोधन हुआ और उसे न्यायालय ने व्यवहारत: स्वीकार किया।[1] लेकिन गोलकनाथ के विवाद के निर्णय को अस्वीकार करते हुए भी **केशवानन्द भारती** के मुकदमे मे बहुमत से न्यायालय ने यह फैसला किया कि **संविधान के मूल ढाँचे** (Basic Structure) को समाप्त नही किया जा सकता। इस तथ्य पर कोई एकमत नही रहा कि उसका मूल ढाँचा क्या है।

---

[1] दिनमान, 25-31 जनवरी, 1976, पृ० 15।

केशवानन्द भारती के विवाद को सामने रखकर मूल ढाँचे की बात की जाय तो कहना पडेगा कि उसकी कोई सूची अभी तक नही बनी है। डॉ० सिंघवी के अनुसार, "हमारी गणतन्त्रात्मक राज्य प्रणाली मे धर्मनिरपेक्षता और वैधानिक समानता के जो तत्त्व है वे अनिवार्य अंग कहे जा सकते है।" न्यायमूर्ति श्री चन्द्रचूड़ ने यह मत प्रकट किया है कि विधिनियम (रूल ऑफ लॉ) और न्यायिक समीक्षा (जुडीशियल रिव्यू) भी हमारी व्यवस्था के अनिवार्य अग है। एन० ए० पालकीवाला के अनुसार सविधान के मूल ढाँचे या अनिवार्य अंग मे निम्न 9 तत्व है—(i) सविधान की सर्वोच्चता, (ii) भारत की प्रभुसत्ता, (iii) देश की अखण्डता, (iv) गणतन्त्रीय शासन विधान, (v) लोकतन्त्रात्मक जीवन-पद्धति, (vi) धर्मनिरपेक्षता, (vii) स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका, (viii) सघ व्यवस्था, एव (xi) कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के मध्य स्थापित समीकरण।[1] पालकीवाला आगे लिखते है, "केशवानन्द विवाद मे सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय का प्रभाव दूरगामी होगा। न्यायालय ने यह स्वीकार कर लिया है कि सम्पत्ति का अधिकार सविधान के बुनियादी ढाँचे का अग नही है और इस अधिकार को बदला जा सकता है। अतः आर्थिक न्याय की स्थापना हेतु ससद विधियो का निर्माण कर सकती है और सविधान मे जैसा चाहे वैसा सशोधन भी कर सकती है। ससद की सशोधन शक्ति पर केवल एक ही मर्यादा है जिसके अनुसार ससद संविधान के मूलभूत ढाँचे को नही बदल सकती।"[2]

वस्तुतः मूलभूत ढाँचा एक सैद्धान्तिक बात है। वास्तव मे, सविधान को बदलने की बात जब भी आती है तब यह देखना जरूरी हो जाता है कि हम क्या बदलना चाहते है? सशोधन से पूर्व हमें यह देखना चाहिए कि 'हमारे विकास और सामाजिक न्याय मे वर्तमान व्यवस्था कहां तक योगदान दे रही है और किस सीमा तक उसे रोक रही है? यदि संविधान का कोई प्रावधान राष्ट्र के विकास और उन्नति मे बाधक है तो अविलम्ब उसे बदला जाना चाहिए।'

संविधान संशोधन और संविधान सभा का विचार (Constitutional Change and Idea of Constituent Assembly)

'गोलकनाथ विवाद' मे निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने अभिमत प्रकट किया कि सविधान मे सशोधन करने के लिए संविधान सभा बुलानी पडेगी। मुख्य न्यायाधीश के० सुब्बाराव ने अपने एक भाषण मे स्पष्ट कहा कि "यदि ससद मूल अधिकारो को छीनना या कम करना चाहती है तो उसे जनता की सहायता से नयी सविधान सभा का गठन करना चाहिए।"[3] संसद को अवशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त है और इस अधिकार के तहत् कानून बनाकर सविधान सभा का निर्माण किया जा सकता है। यदि ससद स्वय को सविधान सभा के रूप मे परिवर्तित करती है तो यह अवैध कार्य होगा क्योंकि ऐसा कार्य करने हेतु उसने जनता से सत्ता (मेण्डेट) प्राप्त नहीं की है।[4] दूसरी तरफ कुछ लोगो का विचार है कि सविधान मे परिवर्तन के लिए सविधान सभा के गठन की कोई आवश्यकता नही है। हमारी संसद संविधान सभा से अधिक जनता की प्रतिनिधि सस्था है। जनता ने सविधान तैयार करने का अधिकार कठिन सघर्ष से प्राप्त किया है। इसके निर्माण मे अनेक प्रमुख विधिवेत्ताओ ने भी भाग लिया है। इस देश मे जो कुछ भी किया जाये वह जनता

---

1 पालकीवाला, एन० ए० : शुड वी आल्टर अवर कॉन्स्टीट्यूशन, इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया, 4 जनवरी, 1976, पृ० 8-9।

2 वही, पृ० 8।

3 के० सुब्बाराव : प्रोपर्टी राइट्स अण्डर दि कॉन्स्टीट्यूशन—फोरम ऑफ फ्री एण्टरप्राइज, 1968, पृ० 23।

4 वही, पृ० 24।

की इच्छाओ के अनुसार ही होना चाहिए ।[1] डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी का मत है कि सविधान सशोधन एक गहरा नाजुक विषय है और इसे पूरा सोच-समझ के बाद ही किया जाना चाहिए । इसके लिए एक आयोग की नियुक्ति होनी चाहिए । सविधान सशोधन पर गोष्ठियाँ आयोजित की जाये जिसमे विधायक, समाज-सेवी, विधि-विशेषज्ञ एव जनता के विभिन्न वर्गों के लोग भाग ले । देश भर मे आयोजित इन गोष्ठियो के आधार पर आयोग एक प्रतिवेदन तैयार करे, तभी सशोधनो को पूरे राष्ट्र की समझ और सहमति मिल पायेगी ।[2] **न्यायमूर्ति पी० एन० भगवती** ने कहा है कि "सविधान मे जो भी परिवर्तन किया जाय वह पूरी वैधानिक तथा सामाजिक-कानूनी जाँच के बाद होना चाहिए । इस सम्बन्ध मे सविधान की एक-एक धारा की जाँच की जाय कि राष्ट्र की प्रगति के बारे मे वह कहाँ तक बाधक हुई है । इसके लिए तथ्य और आँकडे वैज्ञानिक विधि से जुटाने होगे ।[3] सविधान सशोधन के लिए सविधान सभा की कोई आवश्यकता नही है । आज तक सविधान मे सभी सशोधन ससद ने ही तो किये है । सविधान द्वारा ससद को न केवल साधारण विधि-निर्माण का ही कार्य सौपा गया है अपितु वह सविधान मे यथोचित सशोधन भी कर सकती है । कार्यपालिका और मन्त्रिमण्डल सविधान सशोधन के परिप्रेक्ष्य मे ससद का नेतृत्व एव सहयोग करें और ससद मे वाद-विवाद द्वारा सविधान मे आवश्यक परिवर्तन कर लिया जाना ही उचित प्रतीत होता है ।

भारतीय संविधान का पुनर्निरीक्षण—कितना बदले और क्यो ? (Review of the Constitution—Change for What and Why ?)

पश्चिमी बंगाल वकील सम्मेलन ने अपने प्रस्ताव मे कहा कि "सविधान को पूर्ण समीक्षा करनी होगी ताकि उसमे उचित परिवर्तन कर उसको वर्तमान परिस्थिति के तकाजे तथा जनता की आवश्यकताओ की कारगर पूर्ति के लिए जीवन्त दस्तावेज बनाया जा सके ।"[4] **डॉ० सिंघवी** का मत है कि "अब तक जो भी सशोधन हुए वे समस्या-केन्द्रित थे । अब समय आ गया है कि पूरे सन्दर्भ को जाँचा-परखा जाये क्योकि सविधान के एक भाग मे महत्वपूर्ण परिवर्तन करने पर दूसरे भाग मे परिवर्तन करना पडेगा ।"[5]

हमारे सविधान के गहन अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कतिपय विषय मे सवैधानिक स्थिति स्पष्ट भी नही है । ऐसा लगता है कि सविधान-निर्माताओ ने इसका निर्माण करते समय व्यावहारिकता के स्थान पर सैद्धान्तिकता पर अधिक ध्यान दिया था । देश का वातावरण एव परिस्थितियाँ भी तेजी से बदल रही है और इन विशेष परिस्थितियो से सविधान की अनेक धाराएँ मेल नही खाती है । सन् 1971 के बाद जब देश मे सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की गति तेज हुई तब सविधान मे भी सशोधन की सख्या तेजी से बढी । गणतन्त्र के प्रथम 21 वर्षों मे जहाँ 23 सशोधन हुए वहाँ बाद के 5 वर्षों मे 17 सशोधन करने पडे । बीस-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम लागू होने के बाद न्याय पर आधारित आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था कायम रखने के लिए और भी सशोधन करने पड़ेंगे । देश एक जबर्दस्त सामाजिक परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है और बार-बार सशोधन की आवश्यकता होगी । सविधान मे सशोधन कितना अहम् सवाल हो गया है, इसका अनुमान केवल इससे मिलता है कि पाँच दिनो के कॉंग्रेस के कामागातामारू नगर अधिवेशन (जनवरी 1976) मे बीसियो बार सविधान मे सशोधन की चर्चा उठी ।

---

1 हिन्दुस्तान, 29 फरवरी, 1976, पृ० 1 ।
2 दिनमान, 15-21 फरवरी, 1976, पृ० 4 ।
3 हिन्दुस्तान, 2 मार्च, 1976, पृ० 1 ।
4 हिन्दुस्तान, 2 मार्च, 1976, पृ० 1 ।
5 दिनमान, 25-31 जनवरी, 1976, पृ० 15 ।
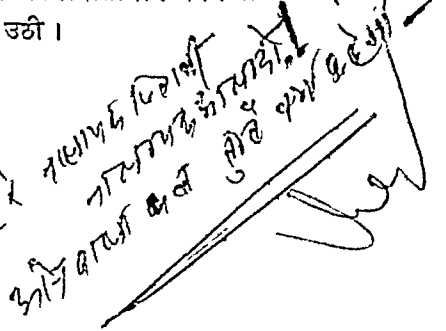
(v) एक माह से अधिक की अवधि तक यदि आपातकाल लागू रखना हो तो इस प्रकार के प्रस्ताव का अनुमोदन लोकसभा तथा राज्यसभा दोनो से होना आवश्यक है। लोकसभा के विघटन की स्थिति मे केवल राज्यसभा का अनुमोदन ही आवश्यक है। आपातकाल मे मौलिक अधिकारो के निलम्बन के लिए दिये गये आदेश को भी यथाशीघ्र ससद के दोनो सदनो के सामने रखा जाना चाहिए।

(6) **विशेष अधिकार** (Special Power)—अन्त मे राज्यसभा को दो ऐसे अनन्य अधिकार भी प्राप्त है जो लोकसभा को प्राप्त नही है, और जिनका प्रयोग अकेले राज्यसभा ही करती है। इस प्रकार की शक्तियो का सम्बन्ध देश के सघीय ढाँचे से है और राज्यसभा को राज्यो का मात्र प्रतिनिधि होने के नाते इस प्रकार की दो शक्तियाँ प्राप्त हैं:

(i) **अनुच्छेद** 249 के अनुसार राज्यसभा उपस्थित और मतदान मे भाग लेने वाले दो-तिहाई सदस्यो के बहुमत से राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर सकती है। राज्यसभा द्वारा ऐसे प्रस्ताव पास कर दिये जाने पर संसद उस विषय पर कानून का निर्माण कर सकती है। ऐसा प्रस्ताव प्रारम्भ मे एक वर्ष के लिए लागू होता है, लेकिन यदि राज्यसभा चाहे तो हर बार इसे एक वर्ष के लिए बढाया जा सकता है।

(ii) सविधान के **अनुच्छेद** 312 के अनुसार राज्यसभा ही अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास कर नयी अखिल भारतीय सेवाएँ स्थापित करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को दे सकती है। राज्यसभा जब तक इस प्रकार का प्रस्ताव पारित न कर दे, तब तक ससद या भारत सरकार किन्ही नवीन अखिल भारतीय सेवाओ की व्यवस्था नही कर सकती हैं।

राज्यसभा की शक्तियो के इस अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि **राज्यसभा न केवल द्वितीय सदन वरन् द्वितीय महत्व का सदन ही है। शक्तियो की दृष्टि से इसकी स्थिति 'ब्रिटिश लॉर्ड सभा' और 'अमरीकी सीनेट' के बीच मे ही कहीं है।** वास्तव मे, सविधान-निर्माताओ द्वारा राज्यसभा को प्रथम सदन के सहायक और सहयोगी सदन की भूमिका ही प्रदान की गयी है, प्रतिद्वन्द्वी सदन की नही। लोकसभा की तुलना मे निर्बल होते हुए भी उसकी स्थिति और उसकी शक्तियों का महत्व है। **पायली के शब्दो मे, राज्यसभा एक निरर्थक सदन या व्यवस्थापन पर केवल रोक लगाने वाला सदन ही नहीं है। वास्तव मे, राज्यसभा शासनतन्त्र का एक आवश्यक अंग है, केवल दिखाने मात्र का दूसरा सदन नहीं है।"**[1]

राज्यसभा का आलोचनात्मक मूल्यांकन

राज्यसभा की स्थिति प्रारम्भ से ही पर्याप्त विवाद का विषय रही है यद्यपि सविधान सभा का एक बहुत बड़ा बहुमत राज्यसभा की स्थापना के पक्ष मे था लेकिन दूसरी ओर सदस्यो के द्वारा द्वितीय सदन की उपयोगिता पर सन्देह व्यक्त करते हुए एकसदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना के प्रस्ताव भी लाये गये थे। संविधान सभा के प्रमुख सदस्य **डॉ० अम्बेडकर** भी द्वितीय सदन के बहुत अधिक पक्ष मे नही थे।[2] सविधान लागू किये जाने के बाद भी अनेक बार इसकी आलोचना करते हुए इसे समाप्त कर देने तक की बात कही गयी है। राज्यसभा के प्रति की गयी आलोचनाओं का प्रमुख रूप से दो रूपो मे अध्ययन किया जा सकता है:

(1) **रचना सम्बन्धी आलोचनाएँ** (Criticisms regarding Composition)—रचना की दृष्टि से राज्यसभा की बहुत अधिक आलोचना की जाती है और इस प्रकार की आलोचना के

---

1 "These provisions make the council an important part of the Government machinery and not an ornamental super-structure or an inessential adjunct It was not designed to play the humble role of an unimportant advisor, not an occasional check on hasty legislation" —M V. Pylee *India's Constitution*, p. 198

2 "I cannot say that, I am very strongly prepossessed in favour of a second chamber." —*B. R. Ambedkar.*

अनेक आधार है। सर्वप्रथम, यह कहा जाता है कि संघात्मक व्यवस्था में द्वितीय सदन का गठन संघात्मकता अर्थात् राज्यों की समानता के सिद्धान्त के आधार पर किया जाना चाहिए, लेकिन भारत मे राज्यसभा के गठन में अमरीका की सीनेट या आस्ट्रेलिया संघ के द्वितीय सदन के समान संघात्मकता के सिद्धान्त का पालन नही किया गया है। राज्यसभा का गठन दलगत आधार पर होता है और राज्यसभा के सदस्यों द्वारा दलगत आधार पर ही कार्य किया जाता है। श्री गिरधारीलाल के शब्दो मे "यह राज्यसभा नहीं वरन् राज्य विधानमण्डलो के राजनीतिक दलों की एक सभा है।[1] ऐसी स्थिति मे राज्यसभा के गठन का विशेष उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

द्वितीय, राज्यसभा के अधिकाश सदस्य अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर अपना पद ग्रहण करते है और इस बात का बहुत अधिक डर रहता है कि किन्ही व्यक्तियो द्वारा धन की शक्ति या अन्य भ्रष्ट साधनो के आधार पर राज्यसभा का चुनाव जीत लिया जायेगा। व्यवहार मे ऐसी कुछ घटनाएँ प्रकाश मे भी आयी है।

तृतीय, राज्यसभा के सदस्यो को राज्य विधानसभाओं द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के आधार पर निर्वाचित किया जाता है। इस सम्बन्ध मे दोष यह है कि भारतीय संघ के कुछ राज्यो की विधानसभाओ मे क्षेत्रीय दलो को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त है और आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के कारण ये क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय व्यवस्थापिका मे भी प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते है, जिसे राष्ट्रीय हित मे नही कहा जा सकता।

चतुर्थ, राज्यसभा के 12 सदस्यो को राष्ट्रपति के द्वारा मनोनीत किया जाता है और मनोनयन की यह प्रणाली नितान्त अप्रजातान्त्रिक है। कार्यपालिका के द्वारा अपनी इस शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता है।

पंचम, व्यवहार के अन्तर्गत राज्यसभा का प्रयोग एक राजनीतिक शरण-गृह के रूप मे किया गया है। राज्यसभा मे प्राय. ऐसे लोगो को स्थान दिया जाता है जो प्रत्यक्ष चुनाव से दूर भागते है या उन्हे प्रत्यक्ष चुनाव में जनता द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है। इस प्रकार राजनीतिक दलो, विशेष रूप से सत्तारूढ पक्ष द्वारा अवकाशप्राप्त, अयोग्य तथा विशेष गुटो के प्रतिनिधियो को इस सभा मे स्थान देकर राज्यसभा को केवल अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति का साधन बना लिया जाता है।

(2) **शक्ति सम्बन्धी आलोचनाएँ** (Criticisms regarding Power)—संविधान के द्वारा राज्यसभा को जो अधिकार एव शक्तियाँ प्रदान की गयी है, उसके आधार पर इसे एक निरर्थक तथा अनुपयोगी सदन कहा जाता है। सही रूप मे राज्यसभा की स्थिति यह है कि यह साधारण विधेयको के सम्बन्ध मे 6 महीने तथा वित्त विधेयको के सम्बन्ध मे 14 दिन की देरी लगा सकती है। यह मन्त्रिमण्डल को नाममात्र के लिए प्रभावित कर सकती है, क्योकि इसे मन्त्रिपरिषद् को पदच्युत करने की शक्ति प्राप्त नही है। इसके द्वारा जिन अन्य कार्यों को किया जाता है जैसे राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन मे भाग लेना, राज्य सूची के विषयो को राष्ट्रीय महत्व का घोषित करना या अखिल भारतीय सेवाओ की व्यवस्था के लिए प्रस्ताव पारित करना, उनके सम्बन्ध मे आलोचको का कहना है कि यह कार्य संविधान द्वारा स्थापित अन्य किन्ही भी संस्थाओ या अधिकारियो को सौंपे जा सकते है। केवल इन कार्यों को करने के लिए राज्यसभा के अस्तित्व का कोई औचित्य नही है। आलोचको के अनुसार राज्यसभा की समाप्ति से भारतीय संविधान के कार्यकरण पर कोई विपरीत प्रभाव नही पडेगा। **द्वितीय,** राज्यसभा को वित्तीय और अवित्तीय

---

1. "It is plainly speaking not a Council of States, but a council of political parties in the State Assemblies." —*Girdhari*

विधेयकों के सम्बन्ध में देर लगाने की जो शक्ति प्राप्त है वह हानिकारक सिद्ध हुई है और विशेष परिस्थितियों मे बहुत अधिक हानिकारक सिद्ध हो सकती है। **तृतीय**, आलोचकों के अनुसार लोकसभा की कार्यविधि और गठन इस प्रकार का है कि इसके द्वारा कानून निर्माण मे न तो अनावश्यक जल्दबाजी को अपनाया जा सकता है और न ही निरंकुशता को। अत लोकसभा पर थोडा या अधिक अंकुश रखने के लिए राज्यसभा का कोई औचित्य नही है।

व्यवहार में लोकसभा तथा राज्यसभा में सम्बन्ध
(RELATIONSHIP BETWEEN LOK-SABHA AND RAJYA SABHA IN PRACTICE)

राज्यसभा के विरुद्ध एक अतिरिक्त तर्क यह है कि व्यवहार के अन्तर्गत अनेक बार लोकसभा और राज्यसभा मे आपसी विरोध की स्थिति उत्पन्न होती रही है। **मोरिस जोन्स** लिखते है कि **"संस्थाओ का यह स्वभाव होता है कि वे निष्ठाओ को जन्म देती है और जब दो संस्थाओ की स्थिति प्रायः समान होती है तो उनमें मतभेदों का उत्पन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है।"**[1]

सर्वप्रथम इस प्रकार की स्थिति 1953 मे उत्पन्न हुई, जब राज्यसभा ने अपने सदस्य और विधि मन्त्री श्री विश्वास को निर्देश दिया कि वे लोकसभा मे उपस्थित न हो। द्वितीय घटना भी 1953 मे ही घटी, जबकि राज्यसभा ने एक प्रस्ताव पास कर माँग की कि या तो राज्यसभा की अलग लोक लेखा समिति होनी चाहिए या वर्तमान लोक लेखा समिति में राज्य सभा के भी 7 सदस्यो को प्रतिनिधित्व देकर इसे लोकसभा की 'लोक लेखा समिति' के स्थान पर ससद की लोक-लेखा समिति' का रूप दिया जाना चाहिए। लोकसभा ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए इसे असंवैधानिक बताया। अन्त मे पं० नेहरू ने हस्तक्षेप कर इस व्यवस्था को अपनाया कि लोक लेखा समिति तो लोकसभा की ही समिति रहेगी, लेकिन इस समिति को सहयोग देने के लिए राज्यसभा अपने 7 सदस्यो को नामांकित करेगी। 1954 मे जब लोकसभा के सदस्य **श्री एन० सी० चटर्जी** ने राज्यसभा को **'उत्तरदायी आचरण का दोषी'** बतलाया और 1963 **मे जब श्री एच० वी० कामथ ने राज्यसभा की तुलना 'ब्रिटिश लॉर्ड सभा'** मे की, तब भी ऐसी ही स्थितियाँ उत्पन्न हो गयी।

राज्यसभा अपनी स्थिति के प्रति कुछ आवश्यकता से अधिक ही सजग रही है और कभी-कभी इसने लोकसभा के कार्यों मे अनुचित रूप से बाधा डाली है। इस प्रकार की एक स्थिति 1970 मे देखी गयी है कि जबकि राज्यसभा ने लोकसभा द्वारा पारित प्रिविपर्स समाप्ति का संविधान सशोधन विधेयक अस्वीकार कर दिया। ऐसी स्थिति मे अनेक सदस्यो ने राज्यसभा को **'आर्थिक और सामाजिक प्रगति में बाधक'** बतलाते हुए इसे समाप्त करने की माँग की। मार्च 1973 मे कांग्रेस के वरिष्ठ सदस्य **विभूति मिश्रा** ने एक गैर-सरकारी प्रस्ताव रखा, जिसमे माँग की गयी कि संवैधानिक सशोधन के आधार पर राज्यसभा को समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

सन् *1977-79* के वर्षों मे लोकसभा और राज्यसभा की दलीय सरचना मे भेद रहा और इस स्थिति ने इन दोनो सदनो के बीच विरोध की घटनाओ को जन्म दिया। सर्वप्रथम राज्यसभा ने बैंकिंग सेवा आयोग विधेयक के सम्बन्ध मे लोकसभा के विचार का विरोध किया और 1977-78 के वार्षिक बजट मे भी सशोधन किये। लेकिन इन दोनो बातो के सम्बन्ध मे राज्यसभा का विचार स्वीकार नही हुआ। इसके बाद 1978 मे लोकसभा ने 44वाँ सशोधन विधेयक पारित कर राज्यसभा मे भेजा, तब राज्यसभा ने इस विधेयक को 5 सशोधनो सहित

---

1 "It is the habit of institut[illegible] o loyalties and when two institutions are side by side, it is easy [illegible] nd feeling to run high." [illegible] Morris Jones *Parliament of*

पारित किया और लोकसभा को राज्यसभा द्वारा किये गये ये संशोधन स्वीकार करने पड़े। इसी प्रकार, 'विशेष अदालत विधेयक' में भी राज्यसभा के द्वारा जो संशोधन किये गये, लोकसभा ने उन्हें स्वीकार कर लिया।

फरवरी 1980 में भारत के संसदीय इतिहास में पहली बार 'राष्ट्रपति के अभिभाषण । धन्यवाद प्रस्ताव' में ऐसे वाक्य जुड़वाये, जो नयी सरकार की आलोचना करते है। 75 के ‌ वले 80 के बहुमत से जोड़े गये ये वाक्य है : "लेकिन खेद है कि अभिभाषण में गैर-कांग्रेसी शासन वाली राज्य विधानसभाओं में दल-बदल की चिन्तापूर्ण कोशिशों का कोई उल्लेख नहीं है। न ही उसमें संघीय सिद्धान्तों की घोर उपेक्षा करते हुए मनमाने ढंग से राज्य विधानसभाएँ भंग करने की कोशिशों पर ही चिन्ता प्रकट की गयी है। अभिभाषण यह आश्वासन भी नहीं देता कि सरकार संविधान को तोड़ने-मरोड़ने और लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों तथा आधार का उल्लंघन करने व ऐसी उन कोशिशों को प्रोत्साहन नहीं देगी।" इन संशोधनों का महत्व इतना ही है कि ये केवल संसदीय कार्यवाही में दर्ज हो गये, पर राजनीतिक दृष्टि से यह राज्यसभा के स्वतन्त्र चरित्र उजागर करते हैं और राजनीतिक स्थिति में हुए भारी परिवर्तन के बावजूद शक्ति सन्तुलन बना रखने की चेष्टा का परिचय देते है।

लोकसभा और राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल तथा दोनों सदनों के सदस्यों चुनाव की पद्धतियों का जो भेद है, उसके कारण भविष्य में भी इन सदनों की दलीय ‌ न में भेद हो सकता है और इसके कारण दोनों सदनों में आपसी विरोध की स्थितियाँ पैदा हो सकती है।

राज्यसभा का महत्व और औचित्य (Importance and Justification of the Council o States)

इस प्रकार की आलोचनाओं और कभी-कभी लोकसभा और राज्यसभा में ‌ विरोध की घटनाओं के बावजूद राज्यसभा का अस्तित्व पर्याप्त उपयोगी और लाभदायक रहा है यदि यह **'देवताओं का सदन'** नहीं बन पायी तो दूसरी ओर इसने अपने आपको **'दुष्टों और ‌ क्रियावादियों का सदन'** भी नहीं बनने दिया है। राज्यसभा का महत्व और औचित्य पूर्णतया ‌ है। **प्रथम,** राज्यसभा को संविधान के संशोधन के विषय में लोकसभा के समान शक्ति प्राप्त है **द्वितीय,** राज्यसभा में से भी मन्त्रियों की नियुक्तियाँ की जाती हैं। 1966 में जब श्रीमती ‌ प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त हुईं, उस समय वे राज्यसभा की ही सदस्य थी। **तृतीय,** इस ‌ में भी राज्यसभा के महत्व का आभास होता है कि केन्द्रीय मन्त्री प्राय राज्यसभा में ‌ रहते है और विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद में भाग लेते है। इस प्रकार राज्यसभा ‌ नीतियों तथा कार्यों पर प्रभाव डालने में समर्थ है और व्यवहार में अनेक बार इसने शासन नीतियों तथा कार्यों को प्रभावित किया है। राज्यसभा उन सभी कार्यों को करती हैं जो ‌ रूप में द्वितीय सदन के द्वारा किये जाते हैं और भारत जैसे विशाल और संघात्मक व्यवस्था व देश के लिए संघात्मक व्यवस्थापिका का द्विसदनात्मक होना नितान्त स्वाभाविक और आव श्यक है। सामान्यतया राज्यसभा का कार्यकरण सफल रहा है और इसके अस्तित्व के औ पर भी कोई सन्देह नहीं किया जाता है। **प्रो० जितेन्द्र रंजन** ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि **न तो अमरीकी सीनेट की भाँति अत्यधिक शक्तिशाली है और न ही ब्रिटिश लार्ड सभा या फ्रांस चतुर्थ गणतन्त्र की गणतन्त्रीय परिषद की भाँति अत्यधिक दुर्बल। जापानी व्यवस्था की तरह ‌ सदन की निषेधात्मक शक्ति (Veto Power) को हमारे संविधान में स्वीकार नहीं किया गया है इसे सिर्फ दुहराने की पर्याप्त शक्ति दी गयी है, निषेध की नहीं। राज्यसभा न केवल ‌ की दृष्टि से विश्व का सबसे अधिक श्रेष्ठ द्वितीय सदन है, वरन् यह आधुनिक प्रजातन्त्र**

योग्य तथा द्वितीय सदन के उद्देश्यों की पूर्ति करने की दृष्टि से भी सर्वाधिक सन्तुलित द्वितीय सदन है।"[1]

आवश्यकता इस बात की है कि राज्यसभा के द्वारा अपने आपको लोकसभा का सहायक और सहयोगी समझा जाय, प्रतिद्वन्द्वी नहीं। पं० नेहरू ने 6 मई, 1953 को राज्यसभा में बिलकुल ठीक ही कहा था कि "दोनों सदनों के द्वारा परस्पर सहयोग के आधार पर कार्य किया जाना चाहिए क्योंकि इन दोनों में से कोई एक नहीं, वरन् दोनों एक साथ मिलकर ही भारत की संसद का निर्माण करते हैं और भारतीय संसद के रूप में जाने जाते है।"

लोक सभा
(HOUSE OF THE PEOPLE)

संघीय संसद के निम्न सदन या लोकप्रिय सदन को लोकसभा का नाम दिया गया है। लोकसभा की सख्या समय-समय पर परिवर्तित होती रही है। 1971 में लोकसभा में चुनाव के समय इसके निर्वाचित सदस्यों की सख्या 520 थी; 1971 के अन्त में 27वां संशोधन करते हुए इसकी सदस्य सख्या 524 की गयी और 1974 में भारतीय संविधान में 31वां संशोधन किया गया है। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद 81 और अनुच्छेद 330 को संशोधित करते हुए लोकसभा की अधिकतम सदस्य सख्या 547 (545 निर्वाचित व 2 मनोनीत) निश्चित की गयी है, जिसमें से 525 को भारतीय संघ के राज्यों की जनता द्वारा और 20 को केन्द्र-शासित क्षेत्रों की जनता द्वारा निर्वाचित किया जायेगा तथा दो सदस्य राष्ट्रपति के द्वारा आग्ल भारतीय वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में मनोनीत किये जायेंगे। इसके अतिरिक्त 1974 में दिये गये 34वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार सिक्किम का भी लोकसभा में एक प्रतिनिधि होगा। वर्तमान में इनकी सदस्य सख्या 544 (542 निर्वाचित व 2 मनोनीत) है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 82 में यह भी व्यवस्था है कि प्रत्येक जनगणना के अनुसार 'परिसीमन आयोग' (Delimitation Commission) संसद के आदेशानुसार विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व में आवश्यक परिवर्तन करेगा। निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन निर्वाचन आयोग की देखरेख और संसद की अन्तिम स्वीकृति के अधीन किया जाता है। 1971 की जनगणना के आधार पर परिसीमन आयोग के द्वारा अगली लोकसभा की सदस्य सख्या के सम्बन्ध में निर्णय लिये गये हैं। 42वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार अनुच्छेद 82 में संशोधन करते हुए व्यवस्था की गयी है कि लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में सदस्यों की सख्या 2001 तक वही रहेगी जो 1971 की जनगणना के आधार पर निर्धारित की गयी है। यह व्यवस्था 'राष्ट्रीय जनसख्या नीति' के आधार पर की गयी है, जिससे किन्हीं राज्यों को जनसख्या में वृद्धि के आधार पर लोकसभा या विधानसभाओं में अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो सके। वर्तमान समय में विभिन्न राज्यों और केन्द्रशासित क्षेत्रों को लोकसभा में प्राप्त प्रतिनिधित्व तथा भविष्य के सम्बन्ध में किये गये निर्णयों को आगे की तालिका के आधार पर समझा जा सकता है। लोकसभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा होता है। भारत में 18 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्ति को वयस्क माना गया है। अब लोकसभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र 'एकल सदस्यीय' (Single Member Constituencies) रखे गये हैं। ये निर्वाचन क्षेत्र इस प्रकार निर्धारित किये जायेंगे कि लोकसभा का एक सदस्य कम-से-कम 5 लाख जनसख्या का प्रतिनिधित्व करे। इस सम्बन्ध में अधिकतम सीमा बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार निर्धारित की जाती रहेगी। मूल संविधान में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों हेतु 10 वर्ष की अवधि के लिए स्थान सुरक्षित रखने थे, किन्तु बाद

---

[1] Jitendra Ranjan *Modern Review*, May 1954

में यह अवधि बढ़ा दी गयी। संविधान के 23वें संशोधन के अनुसार उनके लिए 1980 तक स्थान सुरक्षित किये गये थे और 54वें संवैधानिक संशोधन (1980) के अनुसार यह व्यवस्था जनवरी, 1990 तक के लिए की गयी थी जिसे हाल ही में 62वें संवैधानिक संशोधन (दि॰ ... 1989) द्वारा अगले 10 वर्ष अर्थात् 25 जनवरी, 2000 तक के लिए कर दिया गया है।

राज्य	कुल सदस्य संख्या	अनुसूचित जातियां	अनुसूचित ...ति
1 उत्तर प्रदेश	85	18	—
2 बिहार	54	8	5
3. महाराष्ट्र	48	3	4
4 आन्ध्र प्रदेश	42	6	2
5. मध्य प्रदेश	40	5	8
6 तमिलनाडु	39	7	-
7. कर्नाटक	28	4	—
8 गुजरात	26	2	4
9 राजस्थान	25	4	3
10 उड़ीसा	21	3	5
11. केरल	20	2	--
12. असम	14	1	2
13 हरियाणा	10	2	—
14. जम्मू-कश्मीर	6	—	—
16. हिमाचल प्रदेश	4	1	—
16. त्रिपुरा	2	—	1
17 मणिपुर	2	—	1
18. पंजाब	13	3	—
19 प॰ बंगाल	42	8	3
20. मेघालय	2	—	2
21 नागालैण्ड	1	—	—
22. सिक्किम	1	—	—
23 मिजोरम	1	--	—
24. अरुणाचल प्रदेश	2	—	--
25 गोआ	1	--	—
केन्द्र-शासित क्षेत्र			
1 दिल्ली	7	1	—
2 पाण्डिचेरी	1	--	—
3 चण्डीगढ़	1	1	—
4. दादरा तथा नगर हवेली	1	—	1
5. अण्डमान	1	—	--
6. लक्षद्वीप	1	—	1
7. दमन व दीव	1	—	—
	542	78	42

संविधान के अनुच्छेद 81 मे उल्लेख है कि **"प्रतिनिधित्व का अनुपात यथासम्भव समस्त देशो मे समान रखने का प्रयत्न किया जायगा।"** लेकिन यह बात उन राज्यो तथा केन्द्रशासित क्षेत्रो पर लागू नही होगी जिनकी जनसख्या 60 लाख से कम है। इसी प्रकार अनुच्छेद 330 द्वारा अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजाति से क्षेत्रो के लिए स्थानो के आरक्षण (Reservation) के सम्बन्ध मे जो व्यवस्था की गयी है, वह नागालैण्ड पर लागू नही है, क्योकि 1971 की जनगणना के अनुसार नागालैण्ड की 88 6 प्रतिशत जनसख्या जनजाति क्षेत्र से सम्बन्धित है। 31वें सवैधानिक सशोधन के अनुसार यह व्यवस्था असम के जनजाति क्षेत्रो, नागालैण्ड, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम क्षेत्र पर भी लागू न होगी।

निर्वाचक तथा सदस्यो की योग्यता (Electors and Qualifications for the Members)—लोकसभा के चुनाव मे उन सभी सदस्यो को मतदान का अधिकार होगा जो भारत के नागरिक है, जिनकी आयु 18 वर्ष या अधिक है, जो पागल और दिवालिया नही है और जिन्हे ससद के कानून द्वारा किसी अपराध, भ्रष्टाचार या गैर-कानूनी व्यवहार के कारण मतदान से वचित नही कर दिया गया है।

लोकसभा की सदस्यता के लिए सविधान के अनुसार निम्नलिखित योग्यताएँ होनी आवश्यक है

(1) वह व्यक्ति भारत का नागरिक हो,

(2) उसकी आयु 25 वर्ष या इससे अधिक हो,

(3) भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत वह कोई लाभ का पद धारण न किये हुए हो,

(4) वह किसी न्यायालय द्वारा पागल न ठहराया गया हो तथा पागल न हो।

इन योग्यताओ के अतिरिक्त अन्य योग्यताएँ निर्धारित करने का अधिकार सविधान के द्वारा ससद को दिया गया है। इस अधिकार के अन्तर्गत ससद ने 1951 मे **'जनप्रतिनिधित्व अधिनियम'** (Peoples Representation Act) पास कर ससद के सदस्यो के लिए निम्न योग्यताएँ निश्चित की है·

(1) अनुसूचित जातियो से सम्बन्धित सुरक्षित स्थानों के उम्मीदवारो के लिए आवश्यक है कि वे अनुसूचित जाति के सदस्य हो। इसी प्रकार जनजाति से सम्बन्धित सुरक्षित स्थान के उम्मीदवारो के लिए आवश्यक है कि वे जनजाति के सदस्य हो। ये व्यक्ति समस्त भारतीय क्षेत्र मे किसी भी स्थान से अनुसूचित जाति या जनजाति के सदस्य हो सकते है।

(2) असम की जनजातियो के लिए सुरक्षित स्थान के उम्मीदवार बनने हेतु उसी जनजाति का होना और उस ससदीय निर्वाचन क्षेत्र या उस जिले के किसी अन्य निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना आवश्यक है।

(3) अन्य किसी स्थान से उम्मीदवार होने के लिए भारत मे किसी भी ससदीय निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना आवश्यक है अर्थात् किसी निर्वाचन क्षेत्र से उसका नाम मतदाता सूची मे होना चाहिए।

(4) निर्वाचन सम्बन्धी अपराध के लिए दोषी पाये गये व्यक्ति को निर्वाचन आयोग द्वारा एक निश्चित समय अथवा जीवन भर के लिए ससद का चुनाव लडने के लिए अयोग्य घोषित किया जा सकता है।

(5) उसने किसी अपराध के लिए दो वर्ष से अधिक सजा न पायी हो और उसे जेल से छूटे हुए पाँच वर्ष से अधिक हो गये हो।

(6) उसे सरकार से सम्बन्धित किसी ठेके मे हिस्सेदार न होना चाहिए और न सरकार से सम्बन्धित किसी कारखाने मे उसका हित होना चाहिए।

(7) उसे बेईमानी या राजद्रोह के कारण सरकारी नौकरी से न निकाला गया हो। इस प्रकार से अपराध के 5 वर्ष बाद ही वह ससद की सदस्यता प्राप्त कर सकता है।

कार्यकाल (Term)—42वे सवैधानिक सशोधन (1976) के पूर्व तक लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष था लेकिन इस सवैधानिक सशोधन द्वारा लोकसभा का कार्यकाल बढाकर 6 वर्ष कर दिया गया। अब 44वे सवैधानिक सशोधन (1978) द्वारा पुन: यह 5 वर्ष कर दिया गया है। प्रधानमन्त्री के परामर्श के आधार पर राष्ट्रपति के द्वारा लोकसभा को समय के पूर्व भी भंग किया जा सकता है। ऐसा अब तक चार बार 1970, 1977, 1979 और 1984 मे किया गया है। सकट-काल की घोषणा लागू होने पर ससद विधि द्वारा लोकसभा के कार्यकाल मे वृद्धि कर सकती है, जो एक बार मे एक वर्ष से अधिक न होगी।

लोकसभा के अधिवेशन राष्ट्रपति के द्वारा ही बुलाये और स्थगित किये जाते है और इस सम्बन्ध मे नियम यह है कि लोकसभा की बैठक की अन्तिम तिथि और दूसरी बैठक की प्रथम तिथि मे 6 माह से अधिक अन्तर नही होना चाहिए। लोकसभा और राज्यसभा दोनो की गणपूर्ति (Quorum) कुल सख्या का दसवां भाग है।

ससद सदस्यों के विशेषाधिकार (Privileges of the Members of Parliament)

ससद सदस्यों को कतिपय विशेषाधिकार प्राप्त है। ससदीय विशेषाधिकारो का उद्देश्य ससद की स्वतन्त्रता, प्राधिकार और गरिमा की रक्षा करना है। ये ऐसे विशेषाधिकार हैं जिनके बिना ससद-सदस्य अपने कृत्यों का निर्वहन नही कर सकते। सविधान के अनुच्छेद 105 मे ससद के सदनो तथा उनके सदस्यों के विशेषाधिकारो एव उन्मुक्तता का उल्लेख किया गया है। इस अनुच्छेद के खण्ड (3) मे उपबन्ध किया गया है कि ससद के प्रत्येक सदन और उन सदस्यों तथा समितियो की शक्तियां, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियां वही होगी जो कि ससद समय-समय पर कानून बनाकर परिभाषित करे और जब तक ऐसी परिभाषा नही की जाती ये वैसी ही होगी जैसी कि इस सविधान के प्रारम्भ अर्थात 26 जनवरी 1950 को ब्रिटेन की संसद के 'हाउस ऑफ कॉमन्स', उसके सदस्यो तथा समितियों की थीं।" अभी तक इन विशेषाधिकारो के सम्बन्ध मे ससद ने कोई व्यापक कानून नही बनाया है। अतः ऐसे किसी कानून के अभाव मे ससद-सदस्यो को वे ही विशेषाधिकार प्राप्त है जो कि ब्रिटेन के संसद सदस्यो को प्राप्त हैं। 23 मार्च, 1967 को लोकसभा-अध्यक्ष ने कहा है कि "ससद के विशेषाधिकारो की परिभाषा करने के लिए कानून बनाया जाय तो वह अच्छी बात है।"[1] ससदीय कार्यमन्त्री ने भी कहा है कि "विशेषाधिकारो की परिभाषा करने का प्रश्न विचाराधीन है।"[2] संविधान के अनुच्छेद 105 मे ससद के सदनो तथा ससद सदस्यो के विशेषाधिकारो का उल्लेख किया गया है। ये विशेषाधिकार इस प्रकार है :

(1) ससद मे या उसकी समिति मे कही हुई किसी बात या दिये गये मत के आधार पर किसी भी न्यायालय की कार्यवाही से उन्मुक्ति।

(2) न्यायालयो को ससद की कार्यवाही की जांच करने का निषेध।

(3) सभा के सत्र के दौरान तथा उसके चालीस दिन पहले और चालीस दिन बाद तक दीवानी मामलो मे सदस्यो की गिरफ्तारी से उन्मुक्ति।

---

[1] लोकसभा वाद-विवाद, 23-3-1967, का० 752-62।

[2] लोकसभा वाद-विवाद, 21-6-1967, अ० प्र० सं० 3090।

(4) किसी सदस्य की गिरफ्तारी, निरोध, कारावास तथा रिहाई के सम्बन्ध मे तुरन्त सूचना प्राप्त करने का सदन को अधिकार है।

(5) सदन के सदस्यो को विचार-अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी।

(6) ससद-सदस्यो को जूरी सदस्यो के रूप मे नियुक्त नही किया जा सकता।

(7) जब सदन गोपनीय बैठक के लिए बैठता है तो उस समय कोई भी व्यक्ति, जो सदन का सदस्य नही है, सभाकक्षो और दीर्घाओ, इत्यादि मे नही रह सकता।

प्रत्येक सदन स्वय अपने विशेषाधिकारो का रक्षक है। न केवल यह किसी ऐसे विषय का एकमात्र निर्णायक है जो किसी प्रकार विशेषाधिकार को भग करता हो बल्कि यदि वह उचित समझे तो किसी भी ऐसे व्यक्ति को कारावास का दण्ड दे सकता है या उसकी भर्त्सना कर सकता है, जिसे वह अपमान का दोषी समझता हो। सभा की किसी ऐसे व्यक्ति को दण्ड देने की शक्ति जो सभा का अपमान करे या उसके किसी विशेषाधिकार को भग करे सबसे महत्वपूर्ण विशेषाधिकार है। इसी शक्ति के कारण संसद के विशेषाधिकार वास्तविक बनते है।

सांसदो का वेतन एवं सुविधाएँ—ससद सदस्यो को वेतन और भत्ता ससदीय नियमो के अनुसार प्राप्त होगा। अधिनियम के अनुसार वर्तमान समय मे ससद के सदस्यो को 1,500 रुपये मासिक वेतन, 1,250 रुपये मासिक भत्ता व अधिवेशन के दिनो, समितियों की बैठको मे तथा सौपे गये अन्य कार्यो के दौरे आदि की स्थिति मे 150 रुपये प्रतिदिन भत्ता मिलता है। यह भत्ता संसद सत्र प्रारम्भ होने से तीन दिन पहले तथा समाप्त होने के तीन दिन बाद तक मिलता है। रेल पास के अलावा भी बैठको अथवा सत्रो मे भाग लेने के लिए प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी का एक-एक व्यक्ति का किराया मिलता है। विमान से सफर करने पर सवा गुनी राशि और सडक द्वारा एक रुपया प्रति किलोमीटर यात्रा व्यय दिया जाता है। टेलीफोन एव आवास तथा नि.शुल्क चिकित्सा सुविधा की सुविधाएँ मिलती है। ससद सदस्य को प्राप्त होने वाले वेतन तथा भत्तो को आय-कर से छूट प्राप्त होती हे।

1976 मे एक कानून पारित कर भूतपूर्व ससद सदस्यो के लिए पेन्शन की व्यवस्था की गयी है जो उनकी ससद की सदस्यता के कार्यकाल के आधार पर 300 रु० और 500 रु० के बीच होगी।

लोकसभा के अध्यक्ष का पद (Office of the Speaker)

अध्यक्ष का पद ससदीय शासन-प्रणाली मे बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विश्व में जहाँ पर भी ससदीय पद्धति की सरकार है, वहाँ ससद के निम्न सदन के स्पीकर को विशेष महत्व और दर्जा प्राप्त होता है। सविधान के अनुसार, अध्यक्ष का निर्वाचन लोकसभा स्वय करती हे।

अध्यक्ष का कार्यकाल—अध्यक्ष निर्वाचन के समय से लेकर, उस लोकसभा के विघटन के बाद अगली लोकसभा की पहली बैठक से फौरन पहले तक अपने पद पर रहता है। वह दुबारा चुना जा सकता हे। अध्यक्ष यदि लोकसभा सदस्य न रहे तो उसे अपना छोड़ना पड़ता है। लोकसभा के विघटन पर, यद्यपि अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष दोनों लोकसभा के सदस्य नही रहते, केवल उपाध्यक्ष ही अपना पद छोड देता हे। जब भी अध्यक्ष का पद रिक्त हो जाता हे, इस सम्बन्ध मे एक अधिसूचना गजट मे प्रकाशित की जाती है। अध्यक्ष को अपने सारे कार्यकाल मे अपने पद के कृत्यो का निर्वहन करना पड़ता है। स्थान से अनुपस्थित होने या बीमारी की दशा मे वह अपने काम उपाध्यक्ष को नही सौंप सकता। अध्यक्ष किसी भी समय उपाध्यक्ष को पत्र लिखकर अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है।

अध्यक्ष का हटाया जाना—अध्यक्ष को लोकसभा मे, उसके उस समय के सदस्यो के बहुमत से सकल्प पारित करके, उनके पद से हटाया जा सकता है। ऐसे सकल्प को प्रस्तावित करने के

लिए कम-से-कम चौदह दिन की सूचना देनी पडती है। चौदह दिन का हिसाब लगाते समय प्रारम्भ और अन्त के दोनो दिन छोड दिये जाते है। जो सदस्य अध्यक्ष को पदच्युत करने के सकल्प की सूचना देना चाहे उसे यह सूचना लिखित रूप मे सचिव को देनी पडती है। लोकसभा की बैठक मे, जब अध्यक्ष को पदच्युत करने के सकल्प पर विचार हो रहा हो तो वह सभा की अध्यक्षता नही करेगा।

अध्यक्ष द्वारा शपथ ग्रहण—अध्यक्ष को अपना पद सँभालने पर शपथ नही लेनी पडती और न प्रतिज्ञा ही करनी पडती है। वह लोकसभा के सदस्य के नाते ही शपथ ग्रहण करता है।

अध्यक्ष की शक्तियाँ और कृत्य—लोकसभा का सबसे महत्वशाली रूढिगत और औपचारिक प्रधान लोकसभा का अध्यक्ष है। सभा मे उसका प्राधिकार सर्वोच्च है। यह प्राधिकार अध्यक्ष की अनन्य निष्पक्षता पर आधारित है। उसकी शक्तियो तथा उसके कर्तव्यो का उल्लेख नियमो मे तथा कुछ हद तक सविधान मे किया गया है। जिन नियमो के अनुसार उसे अपना काम करना होता है, वे नम्य है और कुछ मामलो मे उसे अपने विवेक से काम लेना पडता है। उसके कर्तव्य बडे कठिन है, जो इस प्रकार है

(1) जहाँ तक ससद के दोनो सदनो के परस्पर सम्बन्धो का प्रश्न है, उनमे कुछ मामलो मे सविधान ने अध्यक्ष को विशेष स्थिति प्रदान की है। यह निर्णय अध्यक्ष ही करता है कि कौन से विषय 'धन' सम्बन्धी विषय है क्योकि ये लोकसभा के अनन्य अधिकार-क्षेत्र मे आते है। यदि अध्यक्ष किसी विधेयक के सम्बन्ध मे यह प्रमाण-पत्र दे दे कि यह धन विधेयक है तो उसका निर्णय अन्तिम होता है।

(2) जब भी दोनो सदनो के बीच किसी विधान के सम्बन्ध मे मतभेद होने पर संयुक्त बैठक बुलायी जाती है तो उसकी अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है और बैठक के सम्बन्ध मे प्रक्रिया नियम उसके निदेशो तथा आदेशो के अन्तर्गत लागू होते है।

(3) जब किसी प्रश्न के पक्ष और विपक्ष मे बराबर-बराबर मत आते हैं तो स्पीकर निर्णायक मत (casting vote) देता है।

(4) सविधान के अनुसार उसे लोकसभा की बैठक स्थगित करने या गणपूर्ति न होने की दशा मे बैठक निलम्बित करने की भी शक्ति प्राप्त है।

(5) उसे यह शक्ति प्राप्त है कि वह अपने विवेक से किसी ऐसे सदस्य को अपनी मातृभाषा मे बोलने की अनुमति दे दे जो अपने विचार हिन्दी या अग्रेजी मे भलीभाँति व्यक्त नही कर सकता।

(6) कार्य की स्थिति को ध्यान मे रखते हुए अध्यक्ष सभा की बैठक के प्रारम्भ तथा समाप्त होने का समय नियत करता है और निर्णय करता है कि सभा की बैठक किस-किस दिन होगी। वह यह भी निर्णय करता है कि किस समय सभा की बैठक अनिश्चित काल के लिए या किसी अन्य दिन, या उस दिन के किसी समय तक के लिए स्थगित की जाती है।

(7) सदन के नेता से परामर्श करके वह सरकारी कार्य का क्रम निर्धारित करता है और यदि उसका समाधान हो जाय कि उस क्रम मे परिवर्तन करने का समुचित आधार है तो उसे वह बदल सकता है।

(8) अध्यक्ष को लोकसभा मे दलो तथा समूहो को मान्यता देने की भी शक्ति प्राप्त है।

(9) वह लोकसभा की कार्यवाही का संचालन करता है।

(10) लोकसभा की गुप्त बैठको मे अध्यक्ष ही यह निर्णय करता है कि कार्यवाही का वृत्तान्त कैसे तैयार किया जाय और ऐसे अवसरो पर किस प्रक्रिया का पालन किया जाये।

(11) लोकसभा मे व्यवस्था बनाये रखना अध्यक्ष की जिम्मेदारी है और वह सदस्यो से नियमो का पालन करवाता है। कौल तथा शकधर के अनुसार, "सभा मे व्यवस्था बनाये रखना

अध्यक्ष का मूल कर्तव्य है। उसकी अनुशासनात्मक शक्तियो का उद्‌गम सभा नियम है और अनुशासन सम्बन्धी मामलो मे उनके निर्णय को सिवाय मुख्य प्रस्ताव के माध्यम से और किसी प्रकार चुनौती नही दी जा सकती।" अध्यक्ष किसी सदस्य के भाषण की असगत बातो या उसमे दोहरायी जाने वाली बातो को रोक सकता है। जब कोई सदस्य किसी के लिए कोई अनुचित या अपमानजनक बात कहे तो अध्यक्ष उसे रोक सकता है और उससे कह सकता है कि या तो अपने शब्द वापस ले या उनके लिए खेद प्रकट करे। अध्यक्ष अपने स्वविवेक का प्रयोग करके वाद-विवाद मे प्रयुक्त अपमानजनक या अश्लील शब्दो या किसी ऐसे सदस्य द्वारा कही गयी किसी बात को कार्यवाही के वृत्तान्त से निकाल सकता है, जिसे बोलने की अनुमति न दी गयी हो। जो सदस्य उच्छृखल व्यवहार का दोषी हो उसे अध्यक्ष सभा का त्याग करने के लिए कह सकता है। यदि कोई सदस्य अध्यक्ष के अधिकार की अवहेलना करे और लगातार सभा की कार्यवाही मे बाधा डालता रहे तो अध्यक्ष उसका नाम लेकर उसे सभा से निलम्बित कर सकता है। यदि लोकसभा मे शोरगुल और अव्यवस्था हो तो वह सभा को स्थगित कर सकता है या उसका कार्य निलम्बित कर सकता है।

(12) यह अध्यक्ष ही तय करता है कि कब किस सदस्य को बोलने का अवसर दिया जाय और उसे कितनी देर बोलने दिया जाय। जब भी आवश्यक हो वह भाषणो की समय सीमा निर्धारित कर सकता है।

(13) वह सभा के विचार के लिए प्रश्न प्रस्तावित करता है और उन प्रस्तावो को सभा के निर्णय के लिए उसके सामने रखता है। सदस्य जो व्यवस्था का प्रश्न उठाते है, उन पर अध्यक्ष ही अपना निर्णय देता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है।

(14) अध्यक्ष सकल्पो तथा प्रस्तावो की ग्राह्यता का निर्णय करता है। प्रश्नो की ग्राह्यता के समान उसे सकल्पो तथा प्रस्तावो को स्वीकार करने के सम्बन्ध मे भी सामान्य रूप से विवेकाधिकार है। वह यह निर्णय करता है कि मन्त्रिपरिषद पर अविश्वास का प्रस्ताव नियमानुकूल है या नही और कटौती प्रस्ताव अर्थात् अनुदानो की माँग मे कटौती करने का प्रस्ताव नियमो के अन्तर्गत ग्राह्य है या नही।

(15) अध्यक्ष को यह शक्ति प्राप्त है कि वह विधेयको तथा संकल्पो के सम्बन्ध मे रखे गये संशोधनो मे से कुछ को सभा के सामने पेश करने के लिए चुन सकता है और किसी भी ऐसे सशोधन को सभा के सामने रखने से इन्कार कर सकता है जो उसके विचार मे तुच्छ हो।

(16) लोकसभा मे याचिकाएँ पेश करने के लिए भी अध्यक्ष की स्वीकृति आवश्यक है।

(17) लोकसभा के नेता के परामर्श से वह बजट, विनियोग विधेयक और वित्त विधेयक पर सभा द्वारा विचार के लिए दिन और समय नियत करता है।

(18) उसकी सहमति के बिना किसी सदस्य, सभा या उसकी सहमति के विशेषाधिकार भग के सम्बन्ध मे कोई भी प्रश्न सभा मे नही उठाया जा सकता।

(19) सभी ससदीय समितियो पर अध्यक्ष का सर्वोच्च नियन्त्रण है। वह उनके सभापतियों की नियुक्ति करता है और उनके काम के सगठन या उनके द्वारा अपनायी जाने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध मे ऐसे निर्देश दे सकता है जो वह आवश्यक समझे। वह उनके साथ समय-समय पर परामर्श करता है और उनका मार्ग-दर्शन करता है। समितियो के सम्बन्ध मे कुछ शक्तियाँ अध्यक्ष के लिए आरक्षित है। कोई समिति पहले से अध्यक्ष से अनुमति लिये बिना ससद भवन से बाहर अपनी बैठक नही कर सकती और न उसकी पूर्व स्वीकृति लिये बिना राज्य सरकार के अधिकारियो को गवाही देने के लिए बुला सकती है।

(20) सभा की कतिपय समितियाँ जैसे 'कार्य मन्त्रणा समिति', 'सामान्य प्रयोजन समिति'

और 'नियम समिति' अध्यक्ष के नेतृत्व में ही काम करती है और अध्यक्ष ही उनका सभापति होता है।

(21) जहाँ तक लोकसभा या उससे सम्बन्धित मामलों का प्रश्न है, उनके बारे में संविधान तथा नियमों की व्याख्या करने का अधिकार अध्यक्ष को है और कोई भी सरकार उस सम्बन्ध में अध्यक्ष के साथ वाद-विवाद नहीं कर सकती।

(22) अध्यक्ष अपने आसन पर बैठकर जो विचार प्रकट करता है वह उनके सम्बन्ध में सार्वजनिक रूप में या समाचारपत्रों में किसी वाद-विवाद में नहीं पड़ता।

(23) अध्यक्ष सभा में निधन सम्बन्धी निर्देश भी करता है, सभा की अवधि समाप्त होने पर विदाई भाषण देता है और साथ ही महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के सम्बन्ध में औपचारिक अवसरों पर भी भाषण देता है।

(24) लोकसभा के नियमों के अन्तर्गत अध्यक्ष को यह शक्ति प्राप्त है जब कोई विधेयक पास हो जाय तो वह उसमें प्रत्यक्ष गलतियों को शुद्ध करता है और अन्य ऐसे परिवर्तन कर सकता है जो सभा द्वारा स्वीकृत संशोधनों के आनुषंगिक हों।

(25) जब कोई विधेयक संसद द्वारा पारित कर दिया गया है और उस समय सभा में हो तो अध्यक्ष से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के लिए भेजने से पहले उस पर हस्ताक्षर करके उसे प्रमाणित करे।

(26) अध्यक्ष सचिवालय का प्रमुख है जो कि उसके नियन्त्रण तथा निदेशों के अन्तर्गत कार्य करता है। लोकसभा के समस्त कर्मचारियों, उसके परिसर तथा सुरक्षा के सम्बन्ध में अध्यक्ष का अधिकार सम्पूर्ण है। सभी अजनबी, आगन्तुक तथा समाचारपत्रों के संवाददाता उसके अनुशासन तथा आदेशों के अधीन हैं।

(27) लोकसभा के सदस्यों के अधिकारों की रक्षा उसकी जिम्मेदारी है। वह सदस्यों के लिए समुचित सुविधाओं की व्यवस्था करता है। अध्यक्ष की अनुमति लिये बिना किसी भी सदस्य को सभा के परिसर में न तो गिरफ्तार किया जा सकता है और न फौजदारी या दीवानी कानून के अन्तर्गत कोई आदेशिका उसे दी जा सकेगी।

(28) लोकसभा के अध्यक्ष को मन्त्रियों से पूछे जाने वाले प्रश्नों के सम्बन्ध में विभिन्न शक्तियाँ दी गयी हैं। यद्यपि प्रश्नों की ग्राह्यता के सम्बन्ध में मार्गदर्शक सिद्धान्त नियमों में दिये गये हैं, परन्तु उनका निर्वचन करने की शक्ति अध्यक्ष के हाथ में है। अध्यक्ष यह फैसला कर सकता है कि किसी प्रश्न का मौखिक के स्थान पर लिखित उत्तर उपयुक्त होगा।

उपर्युक्त शक्तियों तथा कृत्यों से स्पष्ट है कि हमारी लोकसभा के अध्यक्ष की विशाल शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों एवं अधिकारों के प्रयोग से ही वह हमारी विशाल सभा का सफलतापूर्वक संचालन एवं नेतृत्व करता है।

संसदीय शासन के विकास में अध्यक्ष की भूमिका—अध्यक्ष की कोई राजनीति नहीं होती उसे संसदीय शासन के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना होता है। उसके पास और कुछ नहीं होता, केवल अपने व्यक्तित्व, अपनी आवाज, महत्त्व और गौरव से ही वह सदन की व्यवस्था को बनाये रखता है। सारे सदन की सत्ता उसके पीछे होती है। श्री जी० वी० मावलंकर लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष थे। सन् 1952 से 27 फरवरी, 1956 तक वे लोकसभा के अध्यक्ष रहे। 27 फरवरी, 1956 को उनका देहान्त हो गया। पूरे देश में उनके असामयिक देहावसान पर शोक मनाया गया। उन्होंने अपने कार्यकाल में अनेक ऐसी परम्पराएँ डालीं कि उन्हें लोकसभा का पिता कहा जाता है। उन्होंने यह घोषणा की कि वे अध्यक्ष के पद पर निष्पक्ष रहने की परम्परा का तो पालन करेंगे किन्तु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ेंगे। उनका

तर्क था कि जिस संस्था के झण्डे के नीचे उन्होंने स्वाधीनता की लडाई लड़ी है, उससे कैसे सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है ? उन्होंने लोकसभा का मार्गदर्शन निष्पक्षता, गरिमा तथा प्रतिष्ठा के साथ किया। उन्होंने विधानमण्डल के पीठासीन अधिकारियों को निष्पक्ष रहने का परामर्श दिया। मावलकर के पश्चात् श्री अनन्तशयनम् आयंगर को 8 मार्च, 1956 को अध्यक्ष पद पर निर्वाचित किया गया। उन्होंने 1962 तक अध्यक्ष पद पर कार्य किया। वे अपने कर्तव्य-पालन मे बहुत कठोर थे और कभी-कभी सदन की कार्यवाही मे हँसी-मजाक का पुट भी ला देते थे। जब श्री आयंगर को बिहार का राज्यपाल बनाया गया तो उनके स्थान पर सरदार हुकमसिंह को तीसरी लोकसभा का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। दूसरी लोकसभा के उपाध्यक्ष के रूप मे उन्होंने पूरे देश मे विशिष्ट ख्याति अर्जित कर ली थी और तीसरी लोकसभा की अध्यक्षता के कार्य को उन्होंने अपनी योग्यता, प्रतिभा तथा संसदीय विद्वत्ता से कुशलतापूर्वक चलाया। चतुर्थ लोकसभा की अध्यक्षता का भार श्री संजीव रेड्डी पर डाला गया। इस समय बदली हुई दलीय स्थिति मे उन्हे कार्य करना पड़ा। सदन में कांग्रेस दल का उतना बहुमत नही था जितना कि पूर्व की लोकसभाओं मे था। उन्होंने अध्यक्ष-पद पर निर्वाचित होते ही कांग्रेस दल से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। संजीव रेड्डी ने राष्ट्रपति पद का चुनाव लडने हेतु लोकसभा की अध्यक्षता से त्याग-पत्र दे दिया। उनके बाद श्री गुरुदयालसिंह ढिल्लन को लोकसभा का अध्यक्ष बनाया गया। डॉ० ढिल्लन के दूसरी बार अध्यक्ष पद पर चुने जाने पर प्रधानमन्त्री ने अपने भाषण मे कहा था—"सभा का पिछले दो वर्ष का समय शान्तिपूर्ण नही कहा जा सकता। सभा मे छोटे-बड़े हंगामे, जटिल संवैधानिक मामले, प्रक्रिया सम्बन्धी विवाद, कुछ व्यवस्था के प्रश्न उठाये जाते रहे हैं। किन्तु श्री ढिल्लन ने सदैव संसदीय आचरण के मूल सिद्धान्तो को कायम रखते हुए तथा अपनी सौजन्यता एव निष्पक्षता जो उनकी विशेषताएँ है मे ढील नही आने दी।" श्री ढिल्लन के मन्त्रि-पद ग्रहण करने के बाद श्री बलीराम भगत को अध्यक्ष पद पर आसीन किया गया। वे लोकसभा के छठे अध्यक्ष थे। उन्होंने कहा था "क्योंकि लोकसभा का अध्यक्ष सभी दलों के प्रति समान रूप से उत्तरदायी है इसलिए उसका निष्पक्ष होना बहुत आवश्यक है। इस दिशा मे भूतपूर्व अध्यक्षो ने जो नियम, आदर्श और परम्पराएँ कायम की है, मै उनका यथाशक्ति अनुकरण करूँगा।" श्री बलीराम भगत (जनवरी, 1975-मार्च 1975) के बाद श्री नीलम संजीव रेड्डी और उसके बाद के० एस० हेगडे ने लोकसभा की उच्च परम्पराओ को निष्ठापूर्वक सँवारा और सुदृढ़ किया। 1980-89 की लम्बी अवधि तक श्री बलराम जाखड लोकसभा के 'स्पीकर' पद पर आसीन रहे। श्री रविराय दिसम्बर 1989 मे नवी लोकसभा चुनावो के बाद स्पीकर पद पर सर्वसम्मति से निर्वाचित हुए। श्यामलाल शकधर लिखते है "अनन्तशयनम् आयंगर के अध्यक्ष काल मे सभा की कार्यवाहियों मे गतिशीलता तथा सजीवता देखने को मिली, सरदार हुकमसिंह ने अध्यक्ष पद को प्रतिष्ठा, गरिमा तथा कृत्यो और विचारो मे परिपक्वता द्वारा उन्नत बनाया। डॉ० संजीव रेड्डी ने अपना कार्यकाल निष्पक्षता तथा सभा की कार्यवाहियो मे सजीवता से पूर्ण किया।"[1] इस प्रकार भारत मे संसदीय शासन के विकास मे अध्यक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उनका व्यक्तित्व एव योगदान सराहनीय रहा है जिससे संसद की मान-मर्यादा बढी है।

अध्यक्ष की वास्तविक स्थिति (Actual Position of the Speaker)

अध्यक्ष सदन की प्रतिष्ठा, शक्ति तथा गौरव का द्योतक है। भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री नेहरू के शब्दो मे, "अध्यक्ष सभा का प्रतिनिधि है। वह सभा की गरिमा और उसकी स्वतन्त्रता का प्रतीक है और चूंकि सभा राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है, अत एक तरह से अध्यक्ष राष्ट्र की स्वतन्त्रता और आजादी का प्रतीक बन जाता है। अत यह उचित ही है कि अध्यक्ष का पद

[1] श्यामलाल शकधर : भारतीय संसद, नयी दिल्ली, 1978, पृ० 43।

सम्मानित पद है। उसकी स्वतन्त्र स्थिति है और उस पद पर वही व्यक्ति आसीन होने चाहिए जो साधारण रूप से योग्य तथा निष्पक्ष हो।" लोकसभा के भूतपूर्व सचिव एम० एन० कौल के अनुसार, "यद्यपि साधारणतया अध्यक्ष अध्यक्षता करता है, निगरानी रखता है तथा विवादों को नियन्त्रित करता है, लेकिन उसकी स्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण है कि किसी भी संकट में उसकी शक्तियाँ राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो सकती हैं।''' यथार्थ में भारतीय संसदीय व्यवस्था मे लोकसभा का अध्यक्ष उस सन्तुलन-चक्र के समान है, जिससे कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के सम्बन्ध मे, सरकार की ओर से मैं यह कहूँगा कि हम यह चाहेंगे कि माननीय अध्यक्ष अब और हमेशा सदन की स्वतन्त्रता की रक्षा प्रत्येक प्रकार के खतरे मे करेंगे—कार्यपालिका के अतिक्रमण के खतरे से भी। यह खतरा हमेशा बना रहता है कि एक राष्ट्रीय सरकार अल्पसख्यकों के विचारो का दमन करने का प्रयत्न करे और ऐसी स्थिति मे अध्यक्ष का यह दायित्व हो जाता है कि सदन के प्रत्येक सदस्य तथा प्रत्येक इकाई के एक प्रभुत्वपूर्ण सरकार से रक्षा करे।"

अध्यक्ष के निर्णय नजीरे हैं जिनसे आगे आने वाले अध्यक्षों, सदस्यो तथा अधिकारियों का पथ-प्रदर्शन होता है। ऐसी नजीरो का सग्रह कर लिया जाता है और समय आने पर यही या तो प्रक्रिया नियमों मे परिवर्तित हो जाती है और/या परिपाटियो के रूप मे इनका अनुसरण किया जाता है। अध्यक्ष के निर्णयों को केवल प्रस्ताव रखकर ही चुनौती दी जा सकती है, वैसे उन पर आपत्ति नही उठायी जा सकती। जो सदस्य अध्यक्ष के विनिर्णय पर विरोध प्रकट करता है वह सभा और अध्यक्ष के अवमान का दोषी होता है। अध्यक्ष अपने निर्णय के कारण बताने के लिए बाध्य नही होता। अध्यक्ष द्वारा दिये गये विनिर्णय या व्यक्त किये गये विचार या दिये गये वक्तव्य की आलोचना नही की जा सकती।

लोकसभा का अध्यक्ष भारतीय ससदीय समूह का पदेन सभापति होता है जो भारत मे अन्तर्ससदीय सघ के राष्ट्रीय समूह के रूप और राष्ट्रमण्डल ससदीय सस्था की मुख्य शाखा के रूप मे काम करता है। वह राज्यसभा के सभापति के परामर्श से विदेशो को जाने वाले विभिन्न ससदीय प्रतिनिधि मण्डलो के लिए सदस्यो का नाम निर्देशन करता है। कभी-कभी वह स्वय इन प्रतिनिधियो का नेतृत्व करता है।

ससदीय सचिवालय और सदन की इमारत अध्यक्ष के नियन्त्रण मे होती है। इस दिशा मे सारा प्रशासन अध्यक्ष के आदेश से ही चलता है। सदन के कार्य को चलाने सम्बन्धी सारे अधिकार भी अध्यक्ष को प्राप्त होते है।

प्रो० पायली के अनुसार कुछ ही वर्षों के भीतर लोकसभा के अध्यक्ष पद ने सदन की गरिमा को अपनी निष्पक्षता द्वारा बनाये रखा है। प्रारम्भ मे मावलकर जैसे अध्यक्ष इस विचारधारा के थे कि सदन मे वह निर्दलीय व्यक्ति के समान आचरण करे किन्तु सदन के बाहर वह दलगत निष्ठाएँ रख सकता है। परन्तु बाद के अध्यक्षों जैसे नीलम सजीव रेड्डी तथा गुरुदयाल सिंह ढिल्लन ने अध्यक्ष-पद धारण करते ही दल की राजनीति से सन्यास ले लिया। अध्यक्ष को भारत मे सातवाँ स्थान प्राप्त है, जो सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के बराबर का है।

अध्यक्ष को लोकसभा के अभिभावक का-सा दायित्व निभाना होता है। सदन मे व्यक्तिगत आरोप-प्रत्यारोप के बजाय स्वस्थ विचारो के आदान-प्रदान को समुचित अवसर प्रदान करना होता है।

ऐर्स्किन मे ने कहा है—"अध्यक्ष की तटस्थता मे विश्वास प्रक्रिया के सफल रूप से सचालन के लिए अनिवार्य है। बहुत-सी परिपाटियाँ ऐसी है जिनका उद्देश्य न केवल यह है कि अध्यक्ष की तटस्थता बनी रहे बल्कि यह भी कि उसकी तटस्थता को सभी स्वीकार करे।" भारत मे

अध्यक्षता करने वाले व्यक्तियों ने दलगत राजनीति से ऊपर उठकर कार्य किया है जिससे उनकी गरिमा में वृद्धि हुई है ।

भारतीय अध्यक्ष की ब्रिटिश और अमरीकी अध्यक्ष से तुलना (Comparison of Indian Speaker with British and American Speaker)

ब्रिटेन की भाँति भारत मे लोकसभा के अध्यक्ष का दर्जा बहुत सम्मान का है । भारत के अध्यक्ष की स्थिति इगलैण्ड और अमरीका के वीच की स्थिति है । इसका कारण यह है कि भारत मे लोकसभा का अध्यक्ष न तो अपना सम्बन्ध राजनीतिक दलो मे और दलगत राजनीति से इतना तोड लेता है जितना ब्रिटेन मे, और न ही पद ग्रहण करने के बाद वह इतना पक्षपात करता है जितना अमरीकी प्रतिनिधि सदन का अध्यक्ष । भारत मे अध्यक्ष अपने चुनाव के बाद अपने दल से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद नही करता है परन्तु सक्रिय दलीय राजनीति मे भाग नही लेता है । वह सदन की कार्यवाही अत्यन्त निष्पक्ष रूप से चलाता है । **सरदार हुकमसिंह** का यह कथन भारतीय अध्यक्ष की निष्पक्षता का कितना सुन्दर उदाहरण है—"....आपको मालूम होगा कि एक तरफ जहाँ विरोधी दलो के कुछ सदस्यो ने मेरी निष्पक्षता को चुनौती दी है, वही दूसरी ओर सत्तारूढ दल के सदस्यो ने प्रतिपक्ष के प्रति मेरे झुकाव की शिकायत की है । क्या प्रतिक्रिया का यह अन्तर्विरोध मेरी निष्पक्षता का प्रमाण नही है ?"[1] फिर भी भारत मे अध्यक्ष को वह सम्मान नही मिल पाया जो ब्रिटेन मे अध्यक्ष को प्राप्त है । वहाँ अध्यक्ष अपने दल से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रखता है और उसका निर्वाचन भी निर्विरोध होता है । अध्यक्ष के निर्वाचन के समय **पी० जी० मावलंकर** ने कहा कि यदि कुछ विरोधी दलो के सदस्यो ने आपका विरोध किया है उसका भाव आपका व्यक्तिगत विरोध करना नही था, वह विरोध तो मात्र इसलिए था कि आप कांग्रेसी उम्मीदवार थे ।"[2] 18 दिसम्बर, 1954 को तो लोकसभा मे अध्यक्ष के विरुद्ध प्रस्ताव भी पेश किया गया । विरोधी दल आम चुनाव मे अध्यक्ष के विरुद्ध प्रत्याशी भी खडा करते रहे है । सदन मे अध्यक्ष के निर्वाचन के समय भी विपक्षी दलो ने अपने प्रत्याशी खड़े किये है । **श्री मॉरिस जोन्स** अपनी पुस्तक '*Parliament in India*' मे एक स्थान पर लिखते है "**अध्यक्ष पदधारी व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह निष्पक्षतापूर्वक आचरण करे और सभी व्यक्तियो को उसकी निष्पक्षता में पूर्ण विश्वास हो ।**"[3] अध्यक्ष की निष्पक्षता मे सभी व्यक्तियो का विश्वास हो इसके लिए आवश्यक है कि लोकसभा के सदस्य द्वारा अध्यक्ष चुने जाने के बाद अपनी दलगत निष्ठाओ का त्याग कर दिया जाये ।

लोकसभा की शक्तियाँ और कार्य
(POWERS AND FUNCTIONS OF LOK-SABHA)

भारतीय ससद के दो सदनो मे लोकसभा लोकप्रिय सदन है, क्योकि इसके गठन का आधार जनसख्या है और लोकसभा के सदस्यो को जनता के द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्वाचित किया जाता है । ससदीय व्यवस्था का यह निश्चित सिद्धान्त है कि कानून निर्माण और प्रशासन पर नियन्त्रण की अन्तिम शक्ति लोकप्रिय सदन को ही प्राप्त होती है । भारतीय संविधान द्वारा भी लोकसभा को राज्यसभा की तुलना मे उच्च स्थिति प्रदान की गयी है । ससद लोकसभा, राज्यसभा तथा राष्ट्रपति से मिलकर बनती है, लेकिन लोकसभा संसद की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई है । लोकसभा की शक्तियाँ तथा उसके कार्यों का अध्ययन अग्र रूपों मे किया जा सकता है :

---

1 **दिनमान**, 10 मई, 1966, पृ० 9 ।

2 **दिनमान**, 11-17 जनवरी, 1976, पृ० 17 ।

3 Morris Jones ; *Parliament in India*, p 269.

(1) विधायी शक्ति (Legislative Power)—संविधान के अनुसार भारतीय संसद संघीय सूची, समवर्ती सूची, अवशेष विषयों और कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण कर सकती है। यद्यपि संविधान के द्वारा साधारण अवित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्ति प्रदान की गयी है। संविधान में कहा गया है कि इस प्रकार के विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं और दोनों सदनों में पारित होने पर ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए भेजे जायेंगे। लेकिन इसके साथ ही दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न हो जाने पर राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाये जाने की व्यवस्था है और लोकसभा में सदस्य संख्या राज्यसभा की संख्या की दुगनी से भी अधिक होने के कारण सामान्यतया इस बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय लोकसभा की इच्छानुसार ही होता है। इस प्रकार कानून निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति लोकसभा के पास है और राज्यसभा साधारण अवित्तीय विधेयक को 6 महीने तक रोके रखने के अलावा और कुछ भी नहीं कर सकती है। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किये जाते रहे हैं।

(2) वित्तीय शक्ति (Financial Power)—भारतीय संविधान द्वारा वित्तीय क्षेत्र के सम्बन्ध में शक्ति लोकसभा को ही प्रदान की गयी है और इस सम्बन्ध में राज्यसभा की स्थिति बहुत गौण है। अनुच्छेद 109 के अनुसार वित्त विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं, राज्यसभा में नहीं। लोकसभा से पारित होने के बाद वित्त विधेयक राज्यसभा में भेजा जाता है और राज्यसभा के लिए यह आवश्यक है कि उसे वित्त विधेयक की प्राप्ति की तिथि के 14 दिन के अन्दर-अन्दर विधेयक लोकसभा को लौटा देना होगा। राज्यसभा विधेयक में संशोधन के लिए सुझाव दे सकती है, लेकिन इन्हें स्वीकार करना या न करना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। संविधान यह भी व्यवस्था करता है कि यदि वित्त विधेयक प्राप्त होने के बाद 14 दिन के अन्दर राज्यसभा सिफारिशों सहित या सिफारिशों के बिना वित्त विधेयक लोकसभा को न लौटाये, तो निश्चित तिथि के बाद वह दोनों सदनों से पारित मान लिया जायेगा। वार्षिक बजट और अनुदान सम्बन्धी माँग भी लोकसभा के समक्ष ही रखी जाती है और इस प्रकार के समस्त व्यय की स्वीकृति देने का एकाधिकार लोकसभा को ही प्राप्त है।

(3) कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति (Power of Control over Executive)—भारतीय संविधान के द्वारा संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना की गयी है, अतः संविधान के अनुसार संघीय कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल संसद (व्यवहार में लोकसभा) के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक अपने पद पर रहता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक प्रकार से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रख सकती है। संसद के सदस्य मन्त्रियों से सरकारी नीति के सम्बन्ध में व सरकार के कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं तथा उनकी आलोचना कर सकते हैं। संसद सरकारी विधेयक अथवा बजट को स्वीकार करके, मन्त्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकार करके अथवा किसी सरकारी विधेयक में कोई ऐसा संशोधन करके, जिससे सरकार सहमत न हो, अपना विरोध प्रदर्शित कर सकती है। वह कामरोको प्रस्ताव (Adjournment Motion) पास करके भी सरकारी नीति की गलतियों को प्रकाश में ला सकती है। अन्तिम रूप से लोकसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास करके कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद को उसके पद से हटाया जा सकता है।

कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति के अन्तर्गत ही लोकसभा संघीय लोकसेवा आयोग, भारत के नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक, वित्त आयोग, भाषा आयोग व अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग, आदि की रिपोर्ट पर विचार करती है।

(4) **संविधान संशोधन सम्बन्धी शक्ति** (Power of amending the Constitution)—जहाँ एक ओर लोकसभा को सामान्य विधेयक पारित करने का अधिकार प्राप्त है, वहाँ दूसरी ओर संविधान मे सशोधन और परिवर्तन करने का अधिकार भी प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में संशोधन कार्य संसद के द्वारा ही किया जा सकता है और इसी अनुच्छेद मे उस प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है, जिसे संविधान के सशोधन मे अपनाना होता है। सविधान के संशोधन के सम्बन्ध मे लोकसभा और राज्यसभा की स्थिति समान है; क्योंकि सविधान संशोधन विधेयक दोनो मे से किसी भी सदन मे प्रस्तावित किये जा सकते है और उन्हे तभी पारित समझा जायेगा, जबकि उन्हे **संसद के दोनो सदन अलग-अलग अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत से पारित कर दें।** संविधान के अधिकांश प्रावधानो मे अकेली सघीय ससद के द्वारा ही परिवर्तन किया जा सकता है, केवल कुछ ही प्रावधानो मे सशोधन के लिए भारतीय सघ के आधे राज्यो के विधानमण्डलो की स्वीकृति आवश्यक होती है।

भारतीय ससद की संविधान सशोधन सम्बन्धी शक्ति पिछले वर्षो बहुत अधिक वाद-विवाद का विषय रही है। इस प्रकार के वाद-विवाद का एक प्रमुख विन्दु यह रहा है कि ससद मौलिक अधिकारो को सीमित करने वाला सवैधानिक सशोधन कर सकती है अथवा नही। 1951 और 1965 मे तो सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय मे ससद की इस शक्ति को स्वीकार किया था लेकिन 27 फरवरी, 1967 को गोलकनाथ विवाद मे बहुमत से निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि 'ससद कोई ऐसा सवैधानिक सशोधन नही कर सकती, जो मौलिक अधिकारो को छीनता या कम करता हो।' 1971 मे 24वे सवैधानिक सशोधन के आधार पर गोलकनाथ विवाद मे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय को रद्द कर दिया गया। 24वें सवैधानिक सशोधन को सर्वोच्च न्यायालय मे चुनौती दी गयी लेकिन 22 अप्रैल, 1973 के ऐतिहासिक निर्णय मे इसे वैध घोषित किया गया। लेकिन उसके साथ ही इस निर्णय मे यह कहा गया कि अनुच्छेद 368 **के अन्तर्गत संसद को यह अधिकार नहीं है कि वह संविधान के मूल स्वरूप या उसके आधारभूत ढाँचे को ही बदल दे या नष्ट कर दे।**

(5) निर्वाचन मण्डल के रूप मे कार्य (Function as an Electoral College)—लोकसभा निर्वाचन मण्डल के रूप में भी कार्य करती है। **अनुच्छेद** 54 के अनुसार लोकसभा के सदस्य राज्यसभा के सदस्यो तथा राज्य विधानसभाओ के सदस्यो के साथ मिलकर राष्ट्रपति को निर्वाचित करते हैं। अनुच्छेद 66 के अनुसार लोकसभा और राज्यसभा मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करती है। लोकसभा के द्वारा सदन के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को निर्वाचित किया जाता है तथा यह वह उन्हे पदच्युत भी कर सकती है।

(6) जनता की शिकायतों का निवारण (Redress of Public Grivances)—लोकसभा के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचित होकर आते है, अत: उनके द्वारा जनता की शिकायतें, जनता के विचार और भावनाएँ सरकार तक पहुँचायी जाती हैं। लोकसभा के सदस्यगण इस बात की चेष्टा करते है कि सरकार अपनी नीतियो का निर्माण एव कार्यो का सम्पादन जनता के हितो को ध्यान मे रखते हुए करे। यदि सैद्धान्तिक अध्ययन के स्थान पर वास्तविक अध्ययन किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि लोकसभा सबसे अधिक प्रमुख रूप मे यही कार्य सम्पादित करती है।

(7) विविध कार्य (Miscellaneous Functions)—लोकसभा कुछ अन्य कार्य भी करती है जो इस प्रकार है :

(i) लोकसभा और राज्यसभा मिलकर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा सकती है।
(ii) उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटाने के लिए राज्यसभा प्रस्ताव पास कर दे, तो इस प्रस्ताव का लोकसभा द्वारा अनुमोदन आवश्यक होता है।
(iii) लोकसभा और राज्यसभा मिलकर सर्वोच्च न्यायालय एव उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव पास कर सकती है।
(iv) राष्ट्रपति द्वारा सकटकाल की घोषणा को दो महीने के अन्दर-अन्दर ससद से स्वीकार कराना आवश्यक है अन्यथा इस प्रकार की घोषणा दो महीने बाद स्वयं ही समाप्त मान ली जाती है।
(v) यदि राष्ट्रपति सर्वक्षमा (Amnesty) देना चाहे तो उसकी स्वीकृति ससद से लेनी आवश्यक है।

लोकसभा की शक्तियो के उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यदि ससद देश का सर्वोच्च अग है, तो लोकसभा ससद का सर्वोच्च अग। जनता का प्रतिनिधि सदन होने के कारण लोकसभा ससद का महत्वपूर्ण, शक्तिशाली एव प्रभावशाली अग है। व्यवहार की दृष्टि से यदि लोकसभा को ससद कह दिया जाय, तो अनुचित न होगा।

नवीं लोकसभा : संरचनात्मक पहलू
(NINTH LOK SABHA STRUCTURAL ASPECT)

ससदीय मामलो के अग्रेज विशेषज्ञ वाल्टर बेगहॉट ने कहा था कि हर ससद अपना खास स्वरूप विकसित कर लेती है। नवनिर्वाचित नवी लोकसभा भी इसका अपवाद नही। पूर्ववर्ती आठवी लोकसभा मे यह इस मायने मे भिन्न है कि 60 प्रतिशत सदस्यो के दोबारा चुने जाने की परम्परा के विपरीत इस बार पुराने सदन के 30 प्रतिशत प्रतिनिधि ही लौट पाये है। नई लोकसभा के 525 सासदो में से 371 चेहरे नये है।

इस बार लोकसभा मे किसी दल को बहुमत नही प्राप्त है। यह स्थिति पिछली लोकसभा से ठीक विपरीत है जब तत्कालीन सत्तारूढ पार्टी ने चौथाई-पाँच बहुमत के मद मे एक तरह अन्धे होकर लोकसभा को कभी गम्भीरता से नही लिया लेकिन अब कोई भी दल इस सदन की उपेक्षा नही कर सकता है।

मौजूदा लोकसभा मे एक ओर प्रतिष्ठित पत्रकार और पूर्व पुलिस अधिकारी, न्यायाधीश और प्रबन्धक, शिक्षाविद और धर्म प्रचारक जैसे लोग है तो पाँचवाँ हिस्सा शिव सेना, अकाली दल (मान), हिन्दू महासभा, भाजपा और बहुजन समाज पार्टी जैसे विपरीत विचारधारा वाले दलो से मिलकर बना है जो किसी एक मुद्दे पर एकमत हो ही नही सकते।

धर्म के प्रति कट्टर आस्था रखने वाले जितने लोग इस लोकसभा मे है उतने पहले कभी नही रहे। मुस्लिम लीग के बनातवाला और सुलेमान सैत के साथ-साथ राम जन्म भूमि मुक्ति यज्ञ समिति के अध्यक्ष महत अवैधनाथ, हिंदवी स्वराज्य की हामी शिवसेना के चार सासद, युवा धर्मोपदेशक उमा भारती, विश्व हिन्दू परिषद के भद्रनाथ पाण्डे आदि प्रमुख हैं। फिर पजाब से चुनकर आये सात उग्रवादी सासद भी है जिनमे से कुछ पर आतकवाद फैलाने से लेकर हत्या तक के आरोप हैं। बहुजन समाज पार्टी और उग्रवादी वामपन्थी सगठन इण्डियन पीपुल्स फ्रण्ट ने भी पहली बार सदन का मुँह देखा है। भाजपा मे भी आक्रामक तेवर रखने वाले सासद है, इनमे से दो राम नाईक और राम कापसे बम्बई से हैं। महिलाओ की सख्या पिछली ससद के मुकाबले भले ही घटकर 44 मे 26 रह गयी हो लेकिन जो महिलाएँ इस बार आई है वे अपने क्षेत्र मे अग्रणी है। भाजपा के टिकट पर जीतने वाली सातो महिलाएँ नेतत्त्वर कार्यकर्त्री है।

इस बार सौभाग्य से संसद मे अच्छी तादाद मे पहुँचे शिक्षाविद् और पत्रकार बहस को नये आयाम दे सकते है। गुमानमल लोढा और ललित विजयसिंह अपने पुराने अनुभवो मे कानून बनाने वाली सर्वोच्च संस्था को भी लाभ पहुँचा सकते हैं। बडी संख्या मे दिग्गज नेताओ के पहुँचने से बहस मे वजन तो आयेगा ही, सदस्यो के व्यवहार पर भी अंकुश बना रहेगा। प्रेक्षको का मानना है कि पिछली लोकसभा से एकदम विपरीत नौवी लोकसभा मे प्रखर, विवादास्पद और हंगामा करने वाले हर तरह के व्यक्तित्व है, कट्टरपन्थियो, उग्रवादियो और कड़वी जबान वालो के चलते यह संसद पिछली के मुकाबले कही ज्यादा हंगामेदार साबित हो सकती है।[1]

भारत में संसदीय समितियाँ (Parliamentary Committees in India)

विश्व की समस्त व्यवस्थापिकाओ के सामने एक समस्या यह है कि कम-से-कम समय मे अच्छे-से-अच्छा व्यवस्थापन किस प्रकार से हो सके? वर्तमान मे सभी संसदे व्यवस्थापन-कार्य के भार से दबी हुई हैं। वे बढते हुए व्यवस्थापन कार्य को निपटा नही पाती है और यदि संसद व्यवस्थापन कार्य मे शीघ्रता बरते तो कार्य का स्तर स्वाभाविक रूप से निम्न कोटि का होगा। संसद की इन कठिनाइयो के निराकरण के लिए इंगलैण्ड मे समिति-प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। आधुनिक विधान-तन्त्रो में समितियो की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है, उनसे कई लाभ है—**प्रथम**, समितियों मे सदन के कारण या पिछली बैंचो पर बैठने वाले सदस्यो को भी व्यवस्थापन के कार्य मे भाग लेने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है। **द्वितीय**, समितियो मे विधेयको पर निष्पक्षता के साथ सूक्ष्म विचार होता है, ऐसी सूक्ष्मता के साथ विचार करना संसद में कदापि सम्भव नही है। **तृतीय**, समितियो द्वारा सदन का पर्याप्त समय बच जाता है। समितियाँ एक प्रकार से सदन की आँख, कान, हाथ और मस्तिष्क है। **चतुर्थ**, समितियो के सदस्य अपनी दलगत आस्थाओ के आधार पर मतदान नही करते है। **पंचम**, समितियो मे सदस्यगण निर्बाध रूप से और अपनी अन्तरात्मा के अनुसार समस्याओ के मूल्याकन के आधार पर और दलगत निर्देश की चिन्ता किये बिना मतदान करते हैं। **हरमन फाइनर** के अनुसार, "हाल मे जो समितियो का प्रादुर्भाव हुआ है उसका कारण उन्नीसवी या बीसवी शताब्दी की व्यवस्थापन कार्य की वृद्धि है। आधुनिक सरकार के कर्तव्यो की व्यापकता के कारण समितियो मे होने वाली कार्यवाही को सदन मे किये जाने से उससे अधिक समय लगेगा। समिति प्रणाली का मुख्य उद्देश्य अन्य संस्थाओ व अन्य समयों के लिए कार्य हटाकर लोकसदन के कार्यभार की अधिकता को कम करना है।" संक्षेप मे, समिति-व्यवस्था द्वारा सदन का समय बच जाता है और उसको विशेषज्ञो का परामर्श भी प्राप्त हो जाता है।

कौल तथा **शकधर** के अनुसार, "संसद अपना बहुत-सा कार्य समितियो के माध्यम से करती है। इन समितियों को कार्य की कुछ ऐसी विशेष मदों को निपटाने के लिए नियुक्त किया जाता है जिसके लिए विशेषज्ञो द्वारा या ब्यौरेवार विचार करने की आवश्यकता है।"[2] भारत मे समितियो की व्यवस्था मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारो के परिणामस्वरूप शुरू हुई थी। लेकिन उन दिनो की समितियाँ सरकार के निर्णय तथा उसके हस्तक्षेप से स्वतन्त्र नही थी। उन्हे कोई शक्तियाँ या विशेषाधिकार प्राप्त नही थे। नये संविधान के लागू होने के बाद केन्द्रीय विधान-मण्डल की स्थिति बिलकुल बदल गयी और समितियो की व्यवस्था मे भी बहुत अधिक परिवर्तन आया। वस्तुत. अब तो संसदीय समितियाँ संसद का लघुरूप ही बन गयी हैं। संसद के दोनो सदनो मे समिति व्यवस्था कुछ मामलो के छोड़कर एक जैसी है। उनकी नियुक्ति, कार्यकाल, कृत्य और कार्यवाही चलाने की

---

1 **इण्डिया टुडे**, 31 दिसम्बर, 1989, पृ० 62।

2 कौल तथा शकधर : **संसदीय प्रणाली तथा व्यवहार**, पृ० 696।

प्रक्रिया लगभग एकसमान है। यह प्रक्रिया संविधान के अनुच्छेद 118(1) के अन्तर्गत दोनो सदनो द्वारा बनाये गये नियमो के उपबन्धो द्वारा विनियमित होती है।

सामान्यत. ससदीय समितियाँ दो प्रकार की होती हैं—स्थायी समितियाँ तथा तदर्थ समितियाँ। स्थायी समितियो का निर्वाचन या नियुक्ति प्रतिवर्ष या आवधिक रूप मे की जाती है तथ इनका कार्य लगभग अनवरत रूप से चलता रहता है। तदर्थ समितियो की नियुक्ति आवश्यकतानुसार तदर्थ आधार पर की जाती है तथा जैसे ही उनको सौंपा गया काम समाप्त हो जाता है और प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया जाता है, वे समाप्त हो जाती है।

प्रमुख स्थायी समितियां है :

(1) कार्य मन्त्रणा समिति,
(2) गैर-सरकारी सदस्यो के विधेयको तथा संकल्पो सम्बन्धी समिति,
(3) याचिका समिति,
(4) लोक लेखा समिति,
(5) प्राक्कलन समिति,
(6) विशेषाधिकार समिति,
(7) अधीनस्थ विधान समिति,
(8) सरकारी उपक्रम समिति,
(9) सरकारी आश्वासनो सम्बन्धी समिति,
(10) सदन मे अनुपस्थित रहने वाले सदस्यो सम्बन्धी समिति,
(11) नियम समिति,
(12) अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के कल्याण सम्बन्धी समिति,
(13) ग्रन्थालय समिति,
(14) सामान्य प्रयोजन समिति,
(15) आवास समिति,
(16) लाभ के पदो सम्बन्धी सयुक्त समिति।

(1) **कार्य मन्त्रणा समिति** (Business Advisory Committee)—इस समिति मे पन्द्रह सदस्य होते हैं। इसका सभापति स्वय अध्यक्ष होता है। सदस्यो के नाम-निर्देशन अध्यक्ष करता है। कार्य-मन्त्रणा समिति का गठन जन-निर्वाचन के बाद ही लोकसभा के गठन के बाद किया जाता है। इस समिति का कार्यकाल निश्चित नही है। अन्य समितियो की भाँति यह समिति उस समय तक कार्य करती है जब तक कि नयी समिति नाम-निर्दिष्ट नही की जाती। व्यवहार मे प्रतिवर्ष मई मे नयी समिति गठित की जाती है। वर्ष के मध्य मे भी रिक्त स्थानो की पूर्ति की जाती है परन्तु ऐसे सदस्य समिति के अवशेष कार्यकाल तक ही कार्य कर पाते है। इस समिति को यथासम्भव अधिक प्रतिनिधि रूप देने के लिए कुछ प्रमुख सदस्यो को चुन लिया जाता है, जो किसी दल से सम्बद्ध न हो और प्रतिपक्षी दलो के कतिपय ऐसे गुटो के सदस्य चुने जाते है, जिन्हें इस समिति मे प्रतिनिधित्व न मिला हो। इस समिति का कार्य सरकारी विधेयकों का समय निश्चित करने हेतु सिफारिश करना है। **पायली** के अनुसार, "इसका काम कार्य-सारणी बनाना तथा सदन के कार्य को भली-भाँति विनियमित करना है।" समिति को यह बताने की शक्ति है कि प्रस्तावित कार्यक्रम मे विधेयक के विभिन्न प्रक्रम या अन्य कार्य किन-किन समयो मे पूरे होने चाहिए। यह समिति ऐसे अन्य कार्य भी करती है, जो कि समय-समय पर अध्यक्ष द्वारा उसे सौंपे जाते है। विधेयक, बजट, राष्ट्रपति का अभिभाषण, अनुदान की माँगे, आदि प्रश्नो पर भी समिति विचार

करती है। सच तो यह है कि वर्तमान मे यह परम्परा बन गयी है कि सरकार के समय मे सभा मे जितना भी कार्य किया जाता हो वह सब समय निश्चित करने के लिए 'कार्य-मन्त्रणा समिति' के सामने रख दिया जाता है। इस समिति के कार्यवृत्त को गोपनीय माना जाता है और उसे सभापटल पर नही रखा जाता। कई बार इस समिति ने प्रक्रिया सम्वन्धी विषयो पर भी विचार किया है।

(2) **गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों तथा संकल्पों सम्बन्धी समिति** (The Committee on Private Members Bills and Resolutions)—इस समिति मे पन्द्रह सदस्य होते है। इस समिति का मुख्य कार्य अशासकीय सदस्यो द्वारा पुन. स्थापित किये गये विधेयको की जांच करना, उनको श्रेणीवद्ध करना, उनके द्वारा रखे गये संकल्पो पर विचार करना और तदनुसार सिफारिश करना है। इस समिति मे उपाध्यक्ष को अवश्य लिला जाता है। इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि इसमे सदन की सभी विचारधाराओ के प्रतिनिधि आयें। इस समिति का कार्य-काल एक वर्ष है जो प्रत्येक वर्ष एक मई को प्रारम्भ होता है और अगले वर्ष 30 अप्रैल को समाप्त होता है। यह समिति अशासकीय सदस्यो के विधेयको तथा सकल्पो के लिए समय नियत करती है। इस समिति के द्वारा सविधान में सशोधन करने वाले गैर-सरकारी सदस्यो के विधेयको की जांच की जाती है। समिति की सिफारिशें उसकी रिपोर्ट मे रहती हैं जो उसके सभापति द्वारा या उसकी अनुपस्थिति में, किसी अन्य सदस्य द्वारा, सभा को पेश की जाती है। समिति की रिपोर्ट का अनुमोदन सभापति करता है।

(3) **याचिका समिति** (The Committee on Petition)—लोकसभा का अध्यक्ष 'याचिका समिति' का नाम निर्देशन करता है। इस समिति का कार्यकाल एक वर्ष है। इस समिति में कम-से-कम 15 सदस्य होते हैं। इनका नाम-निर्देशन सभा में विभिन्न दलो तथा समूहो की सख्या के अनुपात में किया जाता है। यह समिति बहुत पुरानी समिति है तथा इसका प्रादुर्भाव सन् 1921 से माना जाता है। यह समिति प्रत्येक याचिका की जांच करती है, जो लोकसभा मे पेश किये जाने के वाद उसे सौंपी गयी मानी जाती है। समिति का यह कर्तव्य है कि याचि-काओं मे की गयी विशिष्ट शिकायतो के सम्बन्ध में सभा को रिपोर्ट दे और उससे पहले ऐसा साक्ष्य ले जैसा कि उचित समझे। समिति यह भी निर्देश दे सकती है कि यचिका पूरी की पूरी, या उसका सार, सभा के सभी सदस्यो मे परिचालित की जाये। समिति की बैठक मे किसी अन्य व्यक्ति को आने नही दिया जाता। यदि समिति यह महसूस करे कि समिति के सदस्यो के अतिरिक्त कोई अन्य सदस्य अपने विशेष ज्ञान के कारण समिति की सहायता कर सकता है तो उस सदस्य को सभापति के आदेश के अनुसार समिति की बैठक मे बुलाया जा सकता है। जब समिति की रिपोर्ट सभा को पेश कर दी जाये तो उसकी प्रतियाँ, समिति द्वारा की गयी सिफारिशो के विषयो से सम्बद्ध मन्त्रालय को भेज दी जाती हैं। मन्त्रालयो से कहा जाता है कि वे ऐसे विवरण दें, जिनमें वताया गया हो कि उन्होने समिति की सिफारिशो पर क्या कार्यवाही की है या क्या कार्यवाही करने का विचार है। इस प्रकार जो जानकारी प्राप्त होती है, वह एक ज्ञापन के रूप मे समिति के सामने रख दी जाती है। समिति मन्त्रालयो से प्राप्त तथ्यो का अध्ययन करती है और उनके सम्बन्ध मे उपचारस्वरूप की जाने वाली कार्यवाहियों का सुझाव देती है।

(4) **लोक-लेखा समिति** (The Public Accounts Committee)—'**लोक-लेखा समिति**' का मुख्य काम है विनियोग लेखो की जांच करना, जिसमे भारत सरकार के खर्चे के लिए संसद द्वारा अनदत्त राशियो का विनियोग दिखाया जाता है। इसके साथ ही भारत सरकार के वार्षिक वित्तीय लेखे और सभा के सामने रखे गये ऐसे अन्य लेखो की परीक्षा करना समिति का काम है, जिनकी परीक्षा करना समिति उचित समझे। भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन

की जाँच करते समय समिति को इन बातों का निश्चय करना होता है कि (क) लेखों में जिस राशि का विवरण दिखाया गया है वह वैधानिक रीति से उपलब्ध थी तथा जिस सेवा या प्रयोजन के लिए वह व्यय की गयी है, उनके लिए वह निर्धारित थी। (ख) जिस प्राधिकारी ने व्यय का नियन्त्रण किया है वह उसके अधिकारों के अनुरूप है। (ग) प्रत्येक पुनर्विनियोग इस विषय पर सक्षम अधिकारी द्वारा बनाये गये नियमों के अनुकूल किया गया है। (घ) समिति सामान्यत. उन मामलों की भी जाँच करती है जिनमें घाटा होता है या वित्तीय अनियमितताएँ पायी जाती हैं या जहाँ खर्चे से कोई लाभ नही होता। घाटे या अपव्यय का कोई मामला जब भी इसके समक्ष लाया जाता है तभी सम्बद्ध मन्त्रालय विभाग से पूछा जाता है कि घाटे या अपव्यय की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए उसने क्या कार्यवाही की है ?

'लोक-लेखा समिति' में अधिकाधिक 15 सदस्य होते हैं जिन्हें सभा प्रतिवर्ष अपने सदस्यों में से आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के अनुसार एकल सक्रमणीय मत के माध्यम से चुनती है। कोई मन्त्री इस समिति का सदस्य नही चुना जाता और यदि कोई सदस्य समिति का सदस्य निर्वाचित होने के बाद मन्त्री नियुक्त हो जाता है, तो उस नियुक्ति की तिथि से वह समिति का सदस्य नही रहता। सन् 1954-55 से राज्यसभा के 7 सदस्यों को भी 'लोक-लेखा समिति' में लिया जा रहा है। समिति के सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष से अधिक नही हो सकता। समिति का कार्यकाल समाप्त होने से पहले, प्रत्येक वर्ष नयी समिति का निर्वाचन किया जाता है। 'लोक-लेखा समिति' का सभापति अध्यक्ष द्वारा समिति के सदस्यों में से नियुक्त किया जाता है।

इस समिति को आरम्भ से ही सम्मान दिया गया है और अधिकांश मामलों में इसकी सिफारिशें लागू की गयी हैं। समिति की सिफरिशों ने देश के वित्तीय प्रशासन को सुधारने में बहुत अधिक योगदान दिया है। विगत वर्षों में इस समिति का प्रभाव कार्यपालिका पर और भी अधिक पड़ा है। इसकी सिफारिशों या टिप्पणियों के आधार पर सरकार को कई मामलों में जाँच कार्य निष्पादन समीक्षा करनी पडी, वित्तीय अनियमितता और जालसाजी के कई मामलों में जाँच करानी पडी, कई स्वायत्तशासी निकायों के कार्यकरण में सुधार करना पडा, कई मामलों में प्रक्रिया सरल बनानी पडी और वित्तीय नियन्त्रण कठोर करना पडा। इस समिति ने विगत 40 वर्षों में 600 से भी अधिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किये हैं। समिति के प्रतिवेदनों का समाचारपत्रों द्वारा प्रचार किया जाता है।

'लोक-लेखा-समिति' में सभी दलों के सदस्य होते हैं किन्तु इस समिति ने सदा एक मत से प्रतिवेदन प्रस्तुत किये हैं तथा सभी मामलों पर निष्पक्षता से विचार किया है। **प्रो० हीरेन मुकर्जी** के अनुसार, 'समिति द्वारा व्यय तथा प्रशासनिक त्रुटियों की जाँच-पडताल का काफी प्रभाव पडता है तथा इससे सरकारी विभागों में अकार्यकुशलता एवं लापरवाही जैसे दोष नही आ पाते। सरकारी धनराशि को खर्च करते समय प्रशासन सावधानी बरतता है तथा प्रशासनिक कार्यवाही में कार्यकुशलता बनी रहती है।'[1]

(5) **प्राक्कलन समिति** (The Estimates Committee)—लोकसभा प्राक्कलनों पर काफी लम्बे समय तक विचार करती है किन्तु समयाभाव के कारण यह प्राक्कलनों के तकनीकी पहलुओं पर विचार नही कर पाती। अत: इस हेतु लोकसभा ने एक समिति बनायी है जिसे 'प्राक्कलन समिति' कहते हैं। 'प्राक्कलन समिति' के प्रमुख कृत्य इस प्रकार हैं

(1) समिति ऐसे प्राक्कलनों की जाँच करती है जिनकी जाँच करना वह उचित समझे या जो सभा या अध्यक्ष द्वारा विशेष रूप से जाँच के लिए सौंपे गये हों।

---

[1] हीरेन मुकर्जी : **'लोक-लेखा समिति'**; कश्यप : **संविधान और संसद**, 1976, पृ० 266।

(ii) अनुमानो मे अन्तर्निहित नीति के अनुकूल किसी प्रकार की मितव्ययता, सगठन मे सुधार अथवा प्रशासन मे सुधार सम्भव है, इस पर समिति अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है।

(iii) समिति प्रशासन मे मितव्ययता लाने के लिए तथा उसकी कार्यक्षमता बढाने के लिए वैकल्पिक नीतियाँ सुझाती है।

(iv) समिति यह भी निश्चित करती है कि अनुमानो मे निहित नीति की सीमा के अन्तर्गत धन का समुचित वितरण किया गया अथवा नही ?

(v) यह सुझाव देना भी समिति का कार्य है कि ससद के समक्ष अनुमानो को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय ?

समिति प्रत्येक वर्ष अपने कार्यकाल के प्रारम्भ मे किसी मन्त्रालय या मन्त्रालयो या सरकारी उपक्रमो के प्राक्कलनो के किसी अश से सम्बन्धित विषय अगले वर्ष मे जाँच करने के लिए चुन लेती है। समिति के लिए यह आवश्यक नही कि किसी एक वर्ष के सारे प्राक्कलनो की जाँच करे। समिति प्रत्येक वर्ष तीन या चार मन्त्रालयो को चुन लेती है और ज्यो-ज्यो उसकी जाच पूरी होती रहती है, वह अपनी रिपोर्ट लोकसभा मे पेश करती है। जाँच के लिए प्राक्कलनो का चुनाव इस सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है कि सभी मन्त्रालयो के महत्वपूर्ण प्राक्कलन प्रत्येक लोकसभा की अवधि मे कम-से-कम एक बार समिति के सामने आ जाये।

'प्राक्कलन समिति' मे तीस सदस्य होते हैं, जिनका चुनाव लोकसभा के सदस्यो मे से प्रति वर्ष सानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार एकल सक्रमणीय मत के माध्यम से होता है। यह परम्परा बन गयी है कि विभिन्न दल और समूह समिति के सदस्यो के रूप मे अपने सदस्यो का नाम-निर्देशन करते समय इस बात का ध्यान रखते है कि जहाँ तक सम्भव हो एक-तिहाई सदस्य प्रतिवर्ष सेवा से निवृत्त हो जायँ और दो-तिहाई सदस्य फिर से समिति के सदस्य चुने जायँ। इस परम्परा से सदस्यों के अनुभवो का लाभ उठाया जा सकता है। यह भी परम्परा है कि किसी मन्त्री को समिति का सदस्य नही चुना जाता।

विगत 40 वर्षों की अवधि मे 'प्राक्कलन समिति' ने 600 से अधिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किये हैं। इस समिति ने लगभग सभी महत्वपूर्ण मन्त्रालयों तथा विभागो के कार्यों की छानबीन की है। इसने अपने प्रतिवेदनो मे अपना काम प्राक्कलनो और व्यय की जाँच तक ही सीमित नही रखा। इसने मितव्ययता और कार्यकुशलता से सम्बन्धित संगठनात्मक मामलों पर भी विचार किया है। समिति के प्रतिवेदनों का विभिन्न मन्त्रालयो एव विभागो के सगठन और कार्यकरण पर काफी प्रभाव पड़ा है। सरकार ने समिति के आग्रह पर अपनी नीतियो और कार्यक्रमो मे अनेक परिवर्तन किये हैं। समिति के सुझाव और टिप्पणियाँ खर्च को विनियमित करने और भविष्य के लिए प्रस्ताव और योजनाएँ बनाने के मामले मे लाभप्रद मार्गदर्शक सिद्ध हुई है। समिति के समक्ष उपस्थित होने वाले अनेक सरकारी अधिकारियो ने इस बात को स्वीकार किया है कि समिति से हुए विचार-विमर्श उपयोगी रहे हैं और इससे उन्हे बहुत लाभ हुआ है।

(6) **विशेषाधिकार समिति** (The Committee on Privileges)—संसद के प्रत्येक सदन को सामूहिक रूप से और उसके सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से कुछ विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्राप्त है। इन विशेपाधिकारो का उद्देश्य सभा, उसकी समितियो तथा सदस्यो की स्वतन्त्रता, प्राधिकार और गरिमा की रक्षा करना है। विशेषाधिकार से सम्बन्धित विषय पर विचार का प्रश्न विशेषाधिकार समिति को सौपा जाता है। नयी लोकसभा के प्रारम्भ मे और उसके बाद समय-समय पर अध्यक्ष समिति का नाम-निर्देशन करता है। इस समिति मे अधिकाधिक 15 सदस्य

होते हैं। समिति का गठन करते समय अध्यक्ष विभिन्न दलों तथा समूहों को उनकी संख्या के अनुपात मे प्रतिनिधित्व देता है। संसद के नेता तथा कानून-मन्त्री को सामान्यतया समिति में शामिल किया जाता है। यदि उपाध्यक्ष समिति का सदस्य हो तो वह उसके सभापति के रूप मे काम करता है।

सामान्यतया विशेषाधिकार के लगभग सभी प्रश्नो को संसद समिति को सौंप देती है और अपना निर्णय तभी करती है जब समिति की रिपोर्ट सभा मे पेश हो जाय। अध्यक्ष अपने आप भी विशेषाधिकार के किसी प्रश्न को समिति को सौंप सकता है जिससे वह उसकी जाँच व समीक्षा कर सके और रिपोर्ट दे सके। समिति का यह कर्तव्य है कि उसे विशेषाधिकार का जो प्रश्न सौंपा जाय, वह उसकी जांच करे, प्रत्येक मामलो के तथ्य के सम्बन्ध मे यह निर्णय करे कि विशेषाधिकार भंग हुआ है या नही। समिति को यह भी बताना पड़ता है कि किस प्रकार का विशेषाधिकार भंग हुआ और किन परिस्थितियों के कारण ऐसा हुआ है। अध्यक्ष के अनुरोध पर समिति सभा के विशेषाधिकारो से सम्बन्धित प्रक्रिया के प्रश्नो पर भी विचार करती है। समिति को व्यक्तियों को बुलाने और कागज तथा अभिलेखो के मँगाने की भी शक्ति प्राप्त है।

(7) अधीनस्थ विधान समिति (The Committee on Subordinate Legislation)—लोककल्याणकारी राज्य मे अधीनस्थ विधान एक आवश्यकता बन गया है। संसद किसी कानून मे मोटे तौर पर सिद्धान्त निर्धारित कर देती है तथा कार्यपालिका उन सिद्धान्तो के अनुसार औपचारिक और प्रक्रिया सम्बन्धी ब्यौरा तैयार करती है, जो नियमो तथा विनियमो के रूप में होती है। इसे 'अधीनस्थ विधान' कहते हैं जिस पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। लोकसभा अपनी 'अधीनस्थ विधान समिति' के माध्यम से यह नियन्त्रण रखती है। समिति का मुख्य कार्य इस बात की जाँच करना और सभा को रिपोर्ट देना है कि नियम, विनियम, उपनियम, आदेश बनाने की संविधान द्वारा प्रदत्त या संसद द्वारा प्रत्यायित शक्तियो का प्रयोग उचित ढंग से प्रत्यायोजन की सीमाओं मे किया जा रहा है या नहीं। व्यवहार मे यह समिति भारत सरकार या किसी अन्य अधीनस्थ अधिकारी द्वारा बनाये गये सभी आदेशों की समीक्षा करती है, जो गजट मे प्रकाशित किये गये हों। यह समिति राज्य सरकारों द्वारा बनाये गये आदेशों की समीक्षा नही करती। इस समिति मे 15 सदस्य होते हैं जिनका नाम-निर्देशन अध्यक्ष करता है। विभिन्न दलो मे से सदस्यो का नाम-निर्देशन करते समय अध्यक्ष उन सदस्यों को प्राथमिकता देता है जिन्हें कानून का ज्ञान तथा अनुभव होता है। समिति का कार्यकाल उसकी नियुक्ति की तिथि से एक वर्ष तक होता है। समिति का पुनर्गठन सामान्यतया प्रत्येक वर्ष मे मई मास के अन्त मे किया जाता है। विधि आयोग ने समिति की प्रशंसा करते हुए कहा है कि "इसमे कोई सन्देह नही कि समिति ने बहुत अच्छा काम किया है और कर रही है और वह 'अधीनस्थ विधान' पर नियन्त्रण रखती है।" सेसिल कार के अनुसार, "समिति का काम बहुत उत्साहपूर्ण रहा है और वह एक स्वतन्त्र संस्था के रूप मे काम कर रही है।"

(8) सरकारी उपक्रम समिति (The Committee on Public Undertaking)—सरकारी उपक्रमो पर संसद का समुचित नियन्त्रण रखने के प्रश्न पर पहली बार 1953 मे लोकसभा मे चर्चा की गयी। यह सुझाव दिया गया कि विभिन्न श्रेणियो के सरकारी निगमो, कम्पनियो तथा संस्थाओ के मामलो की जांच करने के लिए एक अलग संसदीय समिति बनायी जाय। 24 नवम्बर, 1961 को सरकार ने राज्य के उपक्रमो सम्बन्धी एक संयुक्त समिति की नियुक्ति का फैसला किया। 1 मई, 1964 को 'सरकारी उपक्रम समिति' गठित की गयी। समिति मे अधिकाधिक 10 सदस्य होते हैं जिनका चुनाव लोकसभा अपने सदस्यो मे से सानुपातिक प्रतिनिधित्व

के सिद्धान्त के अनुसार एकल सक्रमणीय मत के माध्यम से करती है। कोई मन्त्री समिति का सदस्य नही चुना जाता है। समिति के सभापति की नियुक्ति अध्यक्ष द्वारा समिति के सदस्यो मे से की जाती है। इसी रीति से चुने गये राज्यसभा के 5 सदस्य भी समिति मे लिये जाते है। इस प्रकार समिति मे कुल 15 सदस्य हो जाते हैं। समिति के मुख्य कार्य हैं—(1) ऐसे सरकारी उपक्रमो की रिपोर्ट तथा लेखो की जाँच करना जो विशेष रूप से समिति को इस प्रयोजन के लिए सौंपे गये हो, (2) सरकारी उपक्रमो के सम्बन्ध मे नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट पर विचार करना, (3) सरकारी उपक्रम की स्वायत्तता तथा कार्यकुशलता के सन्दर्भ मे इस बात की जाँच करना कि सरकारी उपक्रमो का प्रवन्ध स्वस्थ व्यावहारिक सिद्धान्तो तथा बुद्धिमत्तापूर्ण व्यावसायिक व्यवहार के अनुसार किया जा रहा है या नही।

यह एक स्थायी समिति है फिर भी इसका गठन हर वर्ष किया जाता है। प्रत्येक नयी समिति प्रत्येक वर्ष जाँच के लिए 8 से 10 तक उपक्रम चुनती है और इस चयन मे ऐसे विषयों को ध्यान मे रखती है जिन पर ससद मे गम्भीर चर्चा हुई। केन्द्रीय सरकार के 125 उपक्रमों मे से समिति ने अव तक 55 उपक्रमो के वारे मे एक बार से अधिक जाँच की है तथा अपनी रिपोर्ट दी है।

(9) **सरकारी आश्वासनो सम्बन्धी समिति** (The Committee on Government Assurances)—मन्त्री समय-समय पर ससद मे आश्वासन, प्रक्रियाएँ तथा वचन देते रहते है। इन आश्वासनो का उचित समय मे पालन करवाने हेतु लोकसभा ने सरकारी आश्वासनो के सम्बन्ध मे एक समिति का गठन किया है, जिसे 'सरकारी आश्वासनो सम्बन्धी समिति' कहा जाता है। इस समिति मे अधिकाधिक 15 सदस्य होते हैं, जिनका नाम-निर्देशन अध्यक्ष करता है। समिति के सदस्यो की पदावधि अधिकाधिक एक वर्ष होती है। समिति उन आश्वासनो, प्रतिज्ञाओं और वचनो की सवीक्षा करती है, जो मन्त्रीगण समय-समय पर सभा मे प्रश्नोत्तर काल के दौरान या विधेयकों, सकल्पो, प्रस्तावों आदि पर चर्चा के दौरान देते है। हाल ही मे समिति ने यह देखा कि सम्बन्धित आश्वासनो के निवटाने के मामले मे स्थिति काफी विगड गयी है। समिति ने कहा है कि जिन आश्वासनो को पूरा नही किया गया है, उनकी क्रियान्विति मे विलम्ब के कारण उनका महत्व कम हो जाता है। इसलिए समिति ने अपने नियम मे यह परिवर्तन कर दिया कि आश्वासन के परिपालन मे सरकार ने जो कार्यवाही की हो, उसके विवरण मन्त्री द्वारा सभापटल पर रखे जायँ। ऐसे भी उदाहरण हुए है, जव समिति ने सम्बन्ध मन्त्रालय के अधिकारियो से कहा है कि वे समिति के सामने उपस्थित होकर कुछ आश्वासनो के परिपालन के सम्बन्ध मे सरकार द्वारा की गयी कार्यवाही के विषय मे साक्ष्य दे।

(10) **सदन मे अनुपस्थित रहने वाले सदस्यो सम्बन्धी समिति** (The Committee on the absence of Members from Sittings of the House)—सदस्यों की अनुपस्थिति की अनुमति के प्रार्थना-पत्रो और तत्सम्बन्धी विषयो पर विचार करने के लिए एक समिति बनायी गयी है जिसे 'सभा मे बैठको से सदस्यों की अनुपस्थिति सम्बन्धी समिति' कहा जाता है। इस समिति मे 15 सदस्य होते है जिनका नाम-निर्देशन अध्यक्ष करता है। इस समिति के मुख्य कार्य है—(i) सभा की बैठकों से अनुपस्थित सदस्यो से प्राप्त सभी प्रार्थना-पत्रो पर विचार करना; और (ii) प्रत्येक ऐसे मामलो की छानवीन करना जहाँ कोई सदस्य बिना अनुमति के सभा की सारी बैठकों से 60 दिन या अधिक समय तक लगातार अनुपस्थित रहा हो और यह रिपोर्ट देना कि क्या इस अनुपस्थिति को क्षमा कर दिया जाय या कि उस मामले की परिस्थितियो मे यह उचित है कि सभा उस सदस्य के स्थान के रिक्त होने की घोषणा कर दे।

(11) नियम समिति (The Rules Committee)—'नियम समिति' का नाम-निर्देशन अध्यक्ष करता है और उसके 15 सदस्य होते है। अध्यक्ष पदेन इस समिति का सभापति होता है। उपाध्यक्ष, सदन नेता और सभा मे सभापति तालिका के सदस्य, सामान्यतया इस समिति के सदस्य के रूप मे नाम-निर्देशित किये जाते है। समिति के सदस्यो के अतिरिक्त अन्य सदस्यो को भी समिति की विशेष बैठको मे आमन्त्रित किया जा सकता है। इस समिति का कार्य सभा की प्रक्रिया तथा उसके कार्य-संचालन के विषयो पर विचार करना और नियमो मे आवश्यक संशोधन या वृद्धि करने की सिफारिश करना है। नियमो मे संशोधनो तथा वृद्धि की सभी प्रस्थापनाओ पर पहले सचिवालय विचार करता है और उसके बाद सभापति के अनुमान से उन्हें समिति के सामने ज्ञापनो के रूप में रखा जाता है। समिति की सिफारिशें रिपोर्ट के रूप मे सभापटल पर रखी जाती है।

(12) अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण सम्बन्धी समिति—इसमे दोनो सदनो के सदस्य शामिल है। यह अनुसूचित जाति एवं जनजातियो के कल्याण मे सम्बन्धित उन सभी मामलो पर विचार करती है जो केन्द्रीय सरकार के अधिकार क्षेत्र मे आते हैं और इस बात पर नजर रखती है कि इन वर्गों से सम्बन्धित संवैधानिक रक्षोपायो का उचित क्रियान्वयन किया जाये।

(13) ग्रन्थालय समिति—ग्रन्थालय समिति, जिसमे दोनो सदनो के सदस्य शामिल होते हैं, ससद के ग्रन्थालय से सम्बन्धित मामलो पर विचार करती है।

(14) सामान्य प्रयोजन समिति—यह समिति सभा के कार्यों सम्बन्धी ऐसे मामलो पर विचार करती है जो किसी अन्य संसदीय समिति के यथोचित अधिकार क्षेत्र मे नही आते और अध्यक्ष/सभापति को सलाह देती है।

(15) आवास समिति—यह समिति सदस्यो के लिए आवास और अन्य सुविधाओं की व्यवस्था करती है।

(16) लाभ के पदो सम्बन्धी संयुक्त-समिति—यह समिति लाभ के पदो सम्बन्धी नियन्त्रण रखने का कार्य करती है।

तदर्थ समितियाँ—ऐसी समितियो को मोटे तौर पर दो श्रेणियो मे वर्गीकृत किया जा सकता है—(क) ऐसी समितियाँ जिन्हे विशिष्ट विषयो पर विचार करने तथा अपना प्रतिवेदन देने हेतु दोनो सदनो द्वारा अथवा अध्यक्ष/सभापति द्वारा समय-समय पर तत्सम्बन्धी प्रस्ताव पारित करके गठित किया जाता है (उदाहरण के तौर पर राष्ट्रपति के अभिभाषण के समय कतिपय सदस्यो के आचरण सम्बन्धी समिति, पचवर्षीय योजनाओं के प्रारूप सम्बन्धी समिति आदि) और (ख) विधेयको सम्बन्धी प्रवर अथवा सयुक्त समितियाँ, जो विशिष्ट विधेयको पर विचार करने तथा उन पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए नियुक्त की जाती है। ये समितियाँ अन्य तदर्थ समितियो से भिन्न है क्योकि ये विधेयको के बारे मे होती हैं और इनमे अपनायी जाने वाली प्रक्रिया प्रक्रिया सम्बन्धी नियमो और अध्यक्ष/सभापति द्वारा दिये गये निर्देशो से निर्धारित होती है।

भारत में संसदीय समितियो की स्थिति (Position of the Committees in India)

भूतपूर्व ससद सदस्य एस० एस० कोठारी के अनुसार, "समितियाँ सामान्यतया सामजस्यपूर्ण ढग से कार्य करती है और उनका उद्देश्य समान होता है। अपनी कार्यविधि मे किये जाने वाले विभिन्न उपक्रमो के अध्ययन के दौरो के दौरान सदस्यो मे मित्रता की भावना उत्पन्न होती है। उक्त भावना से न केवल समिति को कार्य करने मे सहायता प्राप्त होती है बल्कि सदन मे चर्चा के दौरान पैदा हुई कटुता कम होती है।" 'प्राक्कलन समिति' के सभापति श्री सिन्हा के अनुसार, "समिति की रिपोर्टों मे महत्वपूर्ण प्रामाणिक जानकारी होने की वजह से जनसाधारण और विद्वत्जनो दोनो के लिए ही रिपोर्ट बहुत शैक्षणिक महत्व की है।" 'सरकारी उपक्रम समिति'

के सभापति श्री शर्मा के अनुसार, "समिति के सुझावों और सिफारिशो को प्रबन्ध वर्ग ने बहुत हद तक स्वीकार ही नही कर लिया है अपितु ससद और इसके जरिये जनता के प्रति इन उपक्रमो के उच्च पदाधिकारियों के बीच दायित्व की भावना भी जाग्रत हुई है।"

भारत मे ससदीय समितियो ने सफलतापूर्वक कार्य करके ससदीय कार्य को सरल, दक्ष तथा सुगम बनाया है। ये समितियाँ ससद के विवेचन मे दक्षता तथा विशेष अनुभवो का समावेश करने मे सहायक हुई हैं। ससदीय समितियो द्वारा की जाने वाली जाँच और आलोचना के भय से अधिकारी गलती होने के भय से अनुचित निर्णय लेने से घबराते है। 'लोक-लेखा समिति' और 'प्राक्कलन समिति' ने अनेक ठोस कार्य किये है। सरकार ने समितियों के प्रतिवेदनो का समुचित आदर किया है और उनके सुझावों के क्रियान्वयन हेतु लगातार कदम उठाये हैं।

भारतीय संसद में कानून बनाने की प्रक्रिया (The Law-making Process in the Parliament)

संसद का महत्वपूर्ण कार्य कानून बनाना है। विधान सम्बन्धी सभी प्रस्ताव विधेयको के रूप मे संसद के सामने आने चाहिए। प्रत्येक विधेयक के **तीन वाचन** होते है' **पहले वाचन** से अभिप्राय है—विधेयक को पेश करने की अनुमति का प्रस्ताव, जिसके पास होने पर विधेयक पेश किया जाता है अथवा विधेयक का पास किया जाना, जो कि पहले ही गजट मे प्रकाशित किया जा चुका हो। **दूसरे वाचन** मे विधेयक के सिद्धान्तों और उसके उपबन्धो पर समान रूप से चर्चा की जाती है और **तीसरे वाचन** मे इस प्रस्ताव की चर्चा होती है कि विधेयक को पास किया जाये।

विधेयकों का वर्गीकरण—विधेयक दो प्रकार के होते है—सरकारी विधेयक और गैर-सरकारी विधेयक। यह वर्गीकरण इस बात पर आधारित है कि उन्हे किसी मन्त्री ने पेश किया है या किसी गैर-सरकारी सदस्य ने। सरकारी विधेयक दो प्रकार के होते है—धन विधेयक और साधारण विधेयक। धन तथा वित्तीय विधेयको के कुछ विशेष पहलू होते है अत' उनके निर्माण की प्रक्रिया साधारण विधेयको की निर्माण प्रक्रिया से भिन्न होती है।

धन विधेयक—साधारणतया आय-व्यय से सम्बन्धित सभी विधेयक धन विधेयक कहे जाते हैं। संविधान के अनुच्छेद 110 मे धन विधेयक की परिभाषा दी गयी है। इस अनुच्छेद के अनुसार यदि किसी विधेयक मे निम्नलिखित विषयो मे से अथवा किसी से सम्बन्ध रखने वाले उपबन्ध हो तो वह धन अथवा वित्त विधेयक कहलायेगा :

(क) किसी कर का आरोपण, उत्पादन, परिहार, परिवर्तन या विनियमन;

(ख) भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने का अथवा कोई प्रत्याभूति देने का विनियमन अथवा भारत सरकार द्वारा लिये गये अथवा लिये जाने वाले किन्ही वित्तीय आधारो से सम्बद्ध विधि का संशोधन;

(ग) भारत की सचित निधि अथवा आकस्मिक निधि को अभिरक्षा, ऐसी किसी निधि मे धन डालना अथवा उसमे से धन निकालना;

(घ) भारत की सचित निधि मे धन का विनियोग;

(ङ) किसी व्यय को भारत की सचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना अथवा ऐसे किसी व्यय की राशि को बढाना,

(च) भारत की सचित निधि के या भारत के लोक-लेखे के लिए धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा या निकासी करना अथवा संघ या राज्य के लेखाओ का लेखा परीक्षण, अथवा

(छ) उपखण्ड क से च तक मे उल्लिखित विषयो मे से किसी का आनुषगिक कोई विषय।

कोई विधेयक केवल इस कारण से धन विधेयक न समझा जायगा कि वह जुर्मानों या अन्य अर्थदण्डों के आरोपण का, अथवा अनुज्ञप्तियों के लिए फीसों की या अभियाचना का उपबन्ध करता है। यदि इस सम्बन्ध में कोई प्रश्न उत्पन्न हो जाय कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उस सम्बन्ध में लोकसभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होता है। जब अध्यक्ष किसी विधेयक के बारे में यह निर्णय दे दे कि यह धन विधेयक है तो वह उस पर एक प्रमाण-पत्र देता है। धन विधेयक केवल लोकसभा में ही पेश किया जा सकता है। लोकसभा द्वारा पास किये जाने के बाद यह राज्यसभा की सिफारिश के लिए भेजा जाता है और राज्यसभा से यह अपेक्षा की जाती है कि विधेयक प्राप्त होने के 14 दिन की अवधि के भीतर, अपनी सिफारिशों सहित, यदि कोई हों, उस विधेयक को लोकसभा को लौटा दे। लोकसभा राज्यसभा द्वारा की गयी सभी या किसी सिफारिश को स्वीकार कर सकती है या उन्हें अस्वीकार कर सकती है। यदि लोकसभा राज्यसभा द्वारा की गयी किसी सिफारिश को स्वीकार कर ले, तो राज्यसभा द्वारा जिन संशोधनों की सिफारिश की गयी है और जिन्हें लोकसभा ने स्वीकार किया है, उनके सहित उस विधेयक को दोनों सदनों द्वारा पारित किया मान लिया जाता है परन्तु यदि लोकसभा राज्यसभा की किसी भी सिफारिश को स्वीकार नहीं करती तो यह मान लिया जाता है कि संसद के दोनों सदनों ने उस विधेयक को उस रूप में पास किया है जिस रूप में कि लोकसभा ने पूर्व में पास किया था। यदि राज्यसभा चौदह दिन की निश्चित अवधि में उस विधेयक को नहीं लौटाती है तब भी यह मान लिया जाता है कि विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित हो चुका है। ऐसे दो उदाहरण हैं जबकि राज्यसभा ने अपनी सिफारिशों सहित धन विधेयक लौटाये। दोनों मामलों में लोकसभा ने राज्यसभा की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया।[1]

धन विधेयक के पेश करने के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश आवश्यक है। कोई धन विधेयक सदनों की संयुक्त समिति को नहीं सौंपा जा सकता। धन विधेयकों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के अधिकार भी सीमित हैं। धन विधेयकों को राष्ट्रपति सामान्य विधेयकों की भाँति पुनर्विचार के लिए नहीं लौटा सकते।

साधारण विधेयक—साधारण विधेयक मन्त्रियों अथवा संसद के निजी सदस्यों द्वारा संसद के किसी भी सदन में रखे जा सकते हैं। इन विधेयकों को पारित होने के लिए निम्नलिखित स्थितियों में से गुजरना पड़ता है :

(1) विधेयक का प्रस्तुतीकरण एवं प्रथम वाचन—जिस दिन विधेयक संसद में प्रस्तुत किया जाना हो उससे लगभग एक सप्ताह पूर्व विधि मन्त्रालय से विधेयक की दो प्रमाणित प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। किसी विधेयक के प्रभारी सदस्य की प्रार्थना पर अध्यक्ष यह आदेश दे सकता है कि उस विधेयक को गजट में प्रकाशित कर दिया जाय। जो मन्त्री कोई विधेयक पुर:स्थापित करना चाहता हो, उसे विधेयक के पुर:स्थापन के लिए सभा की अनुमति माँगने के प्रस्ताव की लिखित सूचना सात दिन पूर्व देनी पड़ती है। विधेयक के पुर:स्थापन के लिए नियत तिथि को अध्यक्ष प्रभारी मन्त्री को बुलाता है और वह विधेयक को पुर:स्थापित करने की अनुमति का प्रस्ताव रखता है। जब अध्यक्ष इस प्रस्ताव को मतदान के लिए रखता है और प्रस्ताव स्वीकार हो जाता है, तब मन्त्री द्वारा विधेयक पुर:स्थापित किया जाता है। यदि विधेयक को पुर:स्थापित करने की अनुमति के प्रस्ताव का विरोध किया जाय तो अध्यक्ष प्रस्ताव रखने वाले सदस्य और उसका विरोध करने वाले सदस्य का संक्षिप्त भाषण करवा सकता है। परम्परा यह है कि विधेयक के

---

1 राज्यसभा द्वारा लौटाये गये विधेयक हैं—प्रथम, ट्रावनकोर-कोचीन विनियोग (लेखा अनुदान) विधेयक, 1956 और 'संघ उत्पादन शुल्क (वितरण) विधेयक, 1957'।

पुर:स्थापित करने का विरोध नही किया जाता। इस प्रकार विधेयक का पुर:स्थापन ही विधेयक का प्रथम वाचन कहलाता है और इसके बाद उसे सरकारी गजट मे प्रकाशित किया जाता है। सदन का अध्यक्ष विधेयक के प्रस्ताव की प्रार्थना पर उस विधेयक को भारतीय गजट मे पुर:-स्थापना से पहले भी छपवा सकता है। ऐसी स्थिति मे पुर.स्थापना की उपयुक्त लम्बी प्रक्रिया की आवश्यकता नही रहती।

(2) **द्वितीय वाचन**—ज्यों ही किसी विधेयक की पुर:स्थापना पूरी हो चुकती है और उस विधेयक की प्रतियाँ सदन के सदस्यो मे बाँट दी जाती हैं, उसका दूसरा वाचन शुरू हो जाता है। साधारणतया किसी विधेयक की पुर स्थापना तथा द्वितीय वाचन के बीच दो दिन का अन्तर रहता है। परन्तु यदि अध्यक्ष विधेयक को महत्वपूर्ण समझे तो उस विधेयक के दूसरे वाचन की तुरन्त आज्ञा दे देता है। उस समय विधेयक का प्रस्तावक निम्न प्रस्तावो मे से कोई एक प्रस्ताव रखता है . (i) विधेयक का तुरन्त वाचन किया जाय, (ii) विधेयक प्रवर समिति के पास भेजा जाय, (iii) विधेयक पर जनमत जानने के लिए उसे प्रसारित किया जाय, (iv) विधेयक को राज्यसभा की सहमति से दोनो सदनो की प्रवर समिति को सौप दिया जाय। साधारणतया अति आवश्यक सरकारी या विवाद रहित विधेयको को छोडकर अन्य विधेयको पर तत्काल विचार नही किया जाता है।

(3) **समिति स्तर**—यदि सदन विधेयक को प्रवर समिति मे भेजने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है, तो विधेयक पर एक समिति नियुक्त की जाती है। समिति के सदस्यो के नाम प्रस्ताव मे ही निश्चित कर दिये जाते है। इस समिति मे बिल का प्रस्तावक अवश्य होता है। प्रवर समिति का सभापति सदन के अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किया जाता है। प्रवर समिति विधेयक की प्रत्येक धारा पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करती है और उसमे आवश्यकतानुसार सशोधन करती है। जब प्रवर समिति बिल की प्रत्येक धारा पर विचार कर चुकती है तो यह अपनी रिपोर्ट सदन को पेश करती है। रिपोर्ट पर सभापति के हस्ताक्षर होते है।

(4) **प्रतिवेदन स्तर**—समिति का प्रतिवेदन प्राप्त होने पर उसे तथा संशोधित बिल को छाप दिया जाता है और इसकी प्रतियाँ सदन के सभी सदस्यो को दे दी जाती हैं। इसके बाद बिल का प्रस्तावक निम्न प्रस्ताव रख सकता है—(i) प्रवर समिति द्वारा रिपोर्ट किये हुए बिल पर विचार किया जाये, (ii) समिति के पास बिल को पुन: भेजा जाय; या (iii) बिल को जनमत के लिए पुन: प्रसारित किया जाये।

यदि सदन बिल पर उसी रूप मे विचार करना स्वीकार कर लेता है जिस तरह वह प्रवर समिति द्वारा सशोधित रूप मे पेश किया गया हो, तो फिर उसकी प्रत्येक धारा पर बहुत सूक्ष्म रूप से सदन मे विचार होता है। इस अवस्था मे गरमागरम बहस होती है। बिल की यह अवस्था सबसे महत्वपूर्ण है। इसके बाद बिल की प्रत्येक धारा पर मतदान लिया जाता है।

(5) **तृतीय वाचन**—यह विधेयक की एक सदन मे अन्तिम अवस्था होती है। इस अवस्था मे विधेयक के सामान्य सिद्धान्तो पर बहस होती है और भाषा की अशुद्धियो को दूर करके के लिए कुछ संशोधन रखे जा सकते है। इसके बाद सारे विधेयक पर मतदान होता है। इस अवस्था मे विधेयक प्राय स्वीकार नही किये जाते है।

(6) **दूसरा सदन**—दूसरे सदन मे सामान्यतया विधेयक के सम्बन्ध मे वही प्रक्रिया अपनायी जाती है। दूसरे सदन द्वारा विधेयक को अस्वीकृत कर दिये जाने पर या उसमे ऐसे सशोधन किये जाने पर जो कि प्रथम सदन को स्वीकार्य न हो तो राष्ट्रपति दोनो सदनो की एक संयुक्त बैठक बुला सकता है और संयुक्त बैठक मे बहुमत के आधार पर मामला तय होगा।

(7) **राष्ट्रपति की अनुमति**—जब कोई विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास हो जाता है तो उस पर राष्ट्रपति की अनुमति लेना परमावश्यक है। जब कोई विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जाता है तो राष्ट्रपति या तो अपनी अनुमति दे देते हैं या वह अपने संशोधन के सहित विधेयक को संसद के पास पुनर्विचार के लिए भेज देते हैं किन्तु यदि संसद उसे पुनः पारित कर दे तो राष्ट्रपति को अपनी अनुमति देनी ही पड़ेगी। राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् वह विधेयक कानून बन जाता है।

राज्यसभा में प्रारम्भ होने वाले विधेयकों पर लोकसभा की प्रक्रिया—ज्योंही कोई विधेयक राज्यसभा में पुरःस्थापित किया जाता है, उसकी प्रतियाँ यथाशीघ्र लोकसभा के सदस्यों को उनकी जानकारी के लिए बाँट दी जाती है। राज्यसभा में पुरःस्थापित किसी विधेयक को दोनों सदनों की संयुक्त समिति को सौंपने का राज्यसभा प्रस्ताव पारित कर सकती है। राज्यसभा द्वारा पारित विधेयक को लोकसभा के सभापटल पर रखे जाने के बाद किसी भी समय सम्बद्ध मन्त्री उस पर विचार करने की सूचना दे सकता है। जिस दिन प्रस्ताव कार्य सूची में रखा गया हो, उस दिन मन्त्री यह प्रस्ताव करता है कि विधेयक पर विचार किया जाय। उसके बाद विधेयक के सिद्धान्त या उसके सामान्य उपबन्धों पर चर्चा होती है। विधेयक किसी समिति को सौंपा जा सकता है। संशोधन पर विचार तथा विधेयक के पास करने की प्रक्रिया वही है जो कि लोकसभा में प्रारम्भ में होने वाले विधेयकों के सम्बन्ध में नियमों में दी गयी है। यदि विधेयक को बिना किसी संशोधन के पास कर दिया जाय, तो राज्यसभा को सन्देश के माध्यम से सूचना दे दी जाती है और यदि संशोधन के सहित विधेयकों को पास किया गया है तो राज्यसभा से कहा जाता है कि वह संशोधनों से सहमत हो।

भारतीय संसद में विपक्ष की भूमिका (Role of Opposition in Indian Parliament)

संसदीय लोकतन्त्र में प्रतिपक्षी दलों का विशिष्ट महत्व है। सरकार का कार्य शासन चलाना होता है और विपक्ष का कार्य सरकार की नीतियों की आलोचना करना एवं वैकल्पिक नीतियाँ प्रस्तुत करना होता है। विरोधी दल सरकार व संसद का महत्वपूर्ण अंग होता है क्योंकि वह सरकार को सतर्क रखता है ताकि वह अपना कार्य ध्यानपूर्वक एवं भली-भाँति करे। यदि विपक्ष न हो तो सरकार अपने दल के बहुमत के बल पर मनमानी करेगी जिससे नागरिक स्वतन्त्रता का हनन होगा। यदि संसदीय सरकार में एक विरोधी दल विद्यमान है तो नागरिकों के हितों को भली प्रकार सुरक्षित रखा जा सकता है। **जैनिंग्स** के अनुसार, "यदि यह जानना कि अमुक देश की जनता स्वतन्त्र है या नहीं तो यह जानना आवश्यक है कि वहाँ पर विरोधी दल है या नहीं और है तो कहाँ पर है?"[1] सरकार पर आक्षेप करने का मुख्य उत्तरदायित्व विरोधी दल पर ही है। विरोधी दल जनता के असन्तोष का केन्द्र होता है। विरोधी दल का कार्य उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सरकार का कार्य। यदि विरोधी दल न हो तो हम उसे प्रजातन्त्र नहीं कह सकते। **जे० बन्धोपाध्याय** के अनुसार, "बन्दी शिविर, सैनिक शासन, गुप्त पुलिस और सशस्त्र विद्रोह तानाशाही देशों के मुख्य लक्षण हैं। प्रजातन्त्र में संसदीय विरोधी दल इन लक्षणों की जगह एक विकल्प प्रस्तुत करता है। एक प्रभावशाली संसदीय विरोधी दल की तरह कार्य करके ही एक राजनीतिक दल जो निर्वाचनों में पराजित हो गया हो फिर शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा सत्ताधारी बन सकता है। तभी आदर्श सरकार के रूप में प्रजातन्त्र सफल हो सकता है।"[2] भारतीय संसद में विरोधी दल की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए **डॉ० सुशील चन्द्र सिंह** ने लिखा है, "कुछ समय

---

1. Sir Ivor Jennings : *British Constitution*, 1959, p. 82.
2. J. Bandhopadhyay : *Theory and Practice of Parliamentary Opposition*, 1714-1830, p. 2.

मे ससद के कार्यों में महान प्ररिवर्तन हो गया है । वह अब मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण नही रखती । यह प्रशासन की देखभाल भी नही करती । ससद तो अब वाद-विवाद और आलोचना का केन्द्र बन गयी है। यह कार्य विरोधी दल करता है । विरोधी दल ससद के कार्यों पर एकाधिकार जमाता जाता जा रहा है । सत्ताधारी दल के सदस्य शायद ही कभी अपनी सरकार के कार्यों की आलोचना करते हो । यह कार्य विरोधी दल का है ।"[1]

विरोधी दल के कार्य—जो दल विपक्ष मे होते है उन्हे एक निश्चित भूमिका निभानी होती है । विपक्ष को सत्तारूढ दल की तरह जनहित मे कार्य करना होता है । मोरारजी देसाई के अनुसार निम्नलिखित कार्य करके यह देखना विपक्ष का कार्य है कि देश के हितो की सुरक्षा की जा रही है । **प्रथम**, सरकार के लोकतान्त्रिक तथा देश के हितों मे किये गये कार्यो का समर्थन करके; **द्वितीय**, सरकार के उन प्रयासो का विरोध करके जिनको वे देश के लिए अहितकर समझते है; **तृतीय**, कम-से-कम स्तर तक लाने के लिए सभी सवैधानिक तथा शान्तिपूर्ण उपायो से प्रकाश मे लाना ।[2] ससदीय शासन-प्रणाली मे विरोधी दल के प्रमुख कार्य इस प्रकार है :

(1) **आलोचना**—विरोधी दल का मुख्य कार्य यह है कि वह शासन की आलोचना करे और उसकी नीतियो का विरोध करे । प्रश्नो, स्थगन-प्रस्तावो एव वाद-विवादो के द्वारा विरोधी दल सरकार की भूलें प्रकाश मे लाता है । टियरने के अनुसार, "विरोधी दल का कर्तव्य यह है कि वह कोई प्रस्ताव नही करता, हर बात का विरोध करता है और शासन को पद से हटाने का प्रयत्न करता है । **जैनिंग्स** ने लिखा है कि "ससद शासन नही कर सकती । वह आलोचना करने से अधिक और कुछ नही कर सकती ।" यदि ससद का मुख्य कार्य आलोचना करना है, तो विपक्ष उसका अत्यन्त प्रमुख भाग है ।

(2) **शासन की नीति को प्रभावित करना**—शासन की नीतियो पर विरोधी दल की आलोचना का प्रभाव अवश्य पडता है । दूसरे शब्दो मे, विपक्ष शासकीय नीतियों को परिमार्जित करता है । विपक्ष द्वारा समय-समय पर की गयी आलोचना से जनता को सरकार की नीतियो व उसके कृत्यो का अनौचित्य अवश्य मालूम होता रहता है ।

(3) **लोकतन्त्र का संरक्षण**—विपक्ष की आलोचना का एक अप्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि शासन जनमत के प्रति जागरूक बना रहता है । **क्विण्टिन हॉग** के शब्दो मे, "विरोधी दल के न होने की अवस्था मे अधिनायकवाद छा सकता है ।" **जैनिंग्स** ने भी लिखा है, "जब तक विपक्ष विद्यमान है, अधिनायकवाद नही हो सकता ।"

(4) **वैकल्पिक सरकार का प्रयास**—विरोधी दल सदैव वैकल्पिक सरकार बनाने के लिए तैयार रहता है । जब कभी लोकसभा मे सरकार पराजित हो जाये तो विपक्ष को सरकार बनाने का मौका मिल सकता है और अराजकता से बचा जा सकता है ।

भारत में विरोधी दल की विशेषताएँ—विगत वर्षों का इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि भारत मे ससदीय सस्थाएँ क्रियाशील हैं, किन्तु उनके अग के रूप मे विरोधी दल की कतिपय महत्वपूर्ण विशेषताएँ उभरी है, जो इस प्रकार है :

(1) **मान्यता प्राप्त विरोधी दल का लम्बे समय तक अभाव**—भारत की लोकसभा मे मान्य विरोधी दल का अभाव है । किसी भी दल की पर्याप्त सख्या यानी 54 (सदन की कुल संख्या

---

1 सुशील चन्द्र सिंह . ससदीय सरकार मे विरोधी दल का स्थान, लोकतन्त्र **समीक्षा**, अप्रैल, 1969, पृ० 29 ।

2 मोरारजी देसाई : संसद तथा राज्य विधानसभाओ मे विपक्ष की भूमिका—शकधर : **संविधान और संसद**, 1976, पृ० 370 ।

का दसवाँ भाग) नही है कि उसे आधिकारिक मान्यता प्राप्त हो। चतुर्थ लोकसभा में संगठन कांग्रेस को ही कुछ समय तक मान्य विरोधी दल की स्थिति प्राप्त हुई थी। पांचवी लोकसभा मे कोई मान्यता प्राप्त विरोधी दल नही था। छठी लोकसभा के प्रारम्भ मे कांग्रेस (इ) और जनता पार्टी ने मान्यता प्राप्त विरोधी दल के रूप मे कार्य किया। श्री यशवन्तराव चह्वाण, सी० एम० स्टीफन तथा जगजीवनराम को क्रमश. विपक्ष के नेता की मान्यता दी गयी थी। सातवीं और आठवी लोकसभा मे कोई मान्यता प्राप्त विरोधी दल नही था। नवी लोकसभा मे कांग्रेस 'इ' को विरोधी दल की मान्यता प्रदान की गयी है। राजीव गांधी विपक्ष के मान्यता प्राप्त नेता है।

(2) **अनुत्तरदायी दल**—भारत के विरोधी दल अनुत्तरदायी भी है। सत्ता प्राप्त करने के लिए विपक्षी दलो ने लोकतन्त्र की रक्षा के नाम पर आपस मे गठबन्धन करके देश मे अराजकता फैलाने मे भी सकोच नही किया है।

(3) **बुनियादी सिद्धान्तों पर एकता का प्रभाव**—ससद मे राजनीतिक दलो मे मूलभूत सिद्धान्तो पर एकता नही पायी जाती। यदकदा देखा गया है कि विरोधी दल एक-दूसरे का विरोध करते हैं और कतिपय दल सरकार का भी साथ देते है।

(4) **दुर्बल विपक्ष**—डॉ० सिंघवी के अनुसार, भारतीय संसद मे प्रतिपक्ष का प्रभाव क्षीण है, प्रतिपक्ष उतना मुखर, जागरूक, आत्मनिष्ठ और प्रबुद्ध नही है जितना तीसरी और चौथी लोकसभा मे था। आज ससद केवल सीमित सतर्कता की साधन रह गयी है। अब संसद का स्वर पहले जैसा प्रबल नही रहा है और वह सरकार को पहले की भाँति अनुशासित रखने मे असमर्थ है।

(5) **अवसरवादी**—भारत मे प्रतिपक्ष अवसरवादी कहा जा सकता है। वह सदैव ऐसे अवसरो की खोज मे रहता है ताकि सरकार पर छींटाकसी की जा सके, चरित्रहनन किया जा सके और जनता मे सरकार की छवि को बिगाडा जा सके। केवल शासक दल को बदनाम करने मे ही प्रतिपक्ष अपने कर्तव्य की इतिश्री मान बैठता है।

(6) **असंवैधानिक तरीको मे विश्वास**—प्रतिपक्ष कभी-कभी असंवैधानिक तरीको को अपनाने मे नही हिचकिचाता है। एक बार तो प्रतिपक्षी दलो ने लोकसभा मे सत्याग्रह करने की व्यापक योजना भी बना डाली। संसद मे शोर-शराबा करना, बहिर्गमन करना, धरना, घेराव, बन्द, आदि मार्ग अपनाना भी प्रतिपक्षी राजनीति का अग सा बन गया है।

(7) **नकारात्मक दृष्टिकोण**—विरोधी दलो का दृष्टिकोण हर मामले मे नकारात्मक ही रहा है। कानून का पालन करना विपक्ष का प्रथम कर्तव्य है परन्तु वे महत्वपूर्ण मामलो मे जनभावनाओ को उभारते हैं जिससे ऐसा लगता है कि वे अराजकता को उचित ठहरा रहे है। ससद मे जब कभी सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हेतु विधेयकों को प्रस्तुत किया गया तो अधिकाश विपक्षी दलो ने उनका भी विरोध किया। एक ससद सदस्य **श्री पट्टाभिरामा** के अनुसार, "विपक्ष का सम्पूर्ण दृष्टिकोण नकारात्मक एवं विनाशकारी है।"

विरोधी दलों की भूमिका का विश्लेषण (Analysis of the Role of Opposition Parties)

हमारी संसद मे विरोधी दलो की भूमिका सदैव चर्चा का विषय रही है। कांग्रेस की आन्तरिक फूट से भारत मे विरोधी दलो का विकास हुआ है। भारतीय संविधान सभा मे नाममात्र का भी विपक्ष नही था। संविधान सभा मे अधिकाश मुस्लिम सदस्य देश विभाजन के समर्थक थे और पाकिस्तान निर्माण के बाद वे यहाँ मे चले गये। सन् 1952 मे सम्पन्न प्रथम जन-निर्वाचन मे अनेक विरोधी दल अस्तित्व मे आये। इनमे सोशलिस्ट पार्टी महत्वपूर्ण थी जो वस्तुत: कांग्रेस का ही अभिन्न अग थी। आचार्य जे० बी० कृपलानी के नेतृत्व में किसान मजदूर पार्टी अस्तित्व मे

आयी। प्रथम जन-निर्वाचन के बाद भारतीय राजनीति की जो तस्वीर उभरी वह प्रतिपक्षी दलो की दृष्टि से सन्तोषजनक नही थी। कांग्रेस दल को 364 स्थान प्राप्त हुए जबकि भारतीय साम्यवादी दल को 26, सोशलिस्ट पार्टी को 12, किसान मजदूर प्रजा पार्टी को 10 और जनसघ को केवल 3 स्थान मिले। डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कतिपय दलो के सहयोग मे नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी नाम से एक दल की स्थापना की किन्तु उन्हे विपक्षी दलो को मिलाने मे कोई विशेष सफलता नही मिली। यह बात सच है कि उस समय संख्या में कम होते हुए भी गुण की दृष्टि से विपक्ष सत्तारूढ दल से टक्कर ले सकता था। प्रधानमन्त्री श्री नेहरू द्वारा विपक्ष को लगातार प्रोत्साहन दिया गया जिससे विपक्ष को काफी बल मिला। द्वितीय और तृतीय लोकसभा मे भी सत्तारूढ दल की संख्या पूर्ववत् बनी रही। श्री नेहरू के नेतृत्व मे कांग्रेस को भारी विजय मिली जो वास्तव मे समाजवाद की विजय थी। भारतीय साम्यवादी दल सहित अन्य समाजवादी दलो को सत्तारूढ दल की भारी सफलता के कारण काफी धक्का लगा। नेहरूजी के समाजवाद की ओर बढते हुए झुकाव को देखते हुए श्री राजगोपालाचारी ने 1959 मे स्वतन्त्र दल की स्थापना की। उनका विचार था कि समाजवाद और उससे जुडी सरकार के हाथो मे आर्थिक शक्तियो के केन्द्रीयकरण की नीति भारतीय लोकतन्त्र के लिए घातक सिद्ध होगी। चतुर्थ जन-निर्वाचन मे लोकसभा मे सत्तारूढ दल की सख्या घटकर 280 हो गयी जो सरकार बनाने के लिए न्यूनतम सख्या से 20 ही अधिक थी। कांग्रेस दल को अनेक राज्यो मे स्पष्ट बहुमत नही मिला। विरोधी दलो ने सत्ता के लिए सिद्धान्तहीन समझौता करके जनता मे अपनी मूर्ति को धुंधला कर दिया। राज्यो मे सयुक्त विधायक दल अपने ही विरोधाभासो के कारण अधिक समय तक टिक नही सके। साम्यवादी दल दक्षिणपन्थी, वामपन्थी तथा नक्सली गुटो मे विभक्त हो गया। स्वतन्त्र दल यथास्थितिवाद का सूचक बन गया और उसे सामान्य जनता पूंजीवाद और सामन्तवाद का प्रतिनिधि मानने लग गयी। जनसघ अपनी साम्प्रदायिकता के लिए बदनाम् हो गया और उसे आर्थिक क्षेत्र मे दक्षिण-पन्थी कहा जाने लगा। समाजवादी दल भी कई टुकड़ो मे विभक्त हो गया। सन् 1969 मे कांग्रेस के विभाजन से सगठन कांग्रेस अस्तित्व मे आयी। सगठन कांग्रेस ने अपनी सारी शक्ति श्रीमती इन्दिरा गांधी को अपदस्थ करने मे लगा दी। पंचम लोकसभा के चुनावो मे विपक्षी दलो को करारी हार मिली और उन्होने एकीकरण द्वारा सत्तारूढ दल का विकल्प बनाने के लिए प्रयास प्रारम्भ किये। कुछ कारणो मे विपक्षी दल एक दल मे मिलकर अपने अस्तित्व को समाप्त नही करना चाहते। इसीलिए उन्होनें संघीय दल का उपाय सुझाया। पूर्व संयुक्त विधायक दलो की सरकारो के निराशाजनक कार्यों से इस उपाय को बल तथा समर्थन नही मिला।

छठी लोकसभा चुनावो के बाद मतदाताओ ने देश मे पहली बार एक सगठित प्रतिपक्ष की स्थापना कर दी। कांग्रेस के लोकसभा मे 155 सदस्य थे और वह न केवल सगठित था अपितु सख्या की दृष्टि से भी बलशाली था। कांग्रेस दल के नेता श्री चह्वाण को विरोधी पक्ष के नेता के रूप मे कैबिनेट स्तर के मन्त्री के बराबर सुविधाएँ और मान्यताएँ दी गयी। प्रतिपक्षी दल कांग्रेस को ससद के बाहर भी मान्यता दी गयी। रेडियो और दूरदर्शन पर विरोधी दल के नेता को अपने विचार प्रसारित करने का समय दिया गया। लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के निर्वाचन मे प्रधानमन्त्री और विपक्ष के नेता के मध्य गजब की सहमति देखी गयी। कई विधेयक ध्वनिमत से पारित हुए और सरकार को रचनात्मक सहयोग देने मे विपक्ष ने झूठी दलीय प्रतिष्ठा को बाधक नही बनने दिया। किन्तु जनता पार्टी शासन के उत्तरार्द्ध मे सरकार और विपक्ष के सम्बन्ध धीरे-धीरे कटुतापूर्ण बनते गये। 1980 मे गठित सातवी लोकसभा और 1984 मे गठित आठवी लोक सभा मे विपक्ष की स्थिति कमजोर ही रही। नवी लोक सभा मे राजीव गांधी के नेतृत्व मे विपक्ष

अत्यन्त सगठित और मजबूत है। लोक सभा मे कांग्रेस 'इ' सबसे बड़ा दल है। अत. सत्तारूढ़ दल को विपक्ष के प्रति अपना दृष्टिकोण सदैव विनम्र और उदार रखना होगा। यदि विरोध पक्ष थोड़ा गुस्सा भी करता है, थोड़ी अड़गेबाजी करता है यानी संसदीय प्रक्रिया के अन्दर रहकर सरकार को बेनकाब करने का प्रयास करता है तो उसे असहिष्णु नही बनना चाहिए। सत्तारूढ दल को विपक्ष से राष्ट्रीय मामलो पर परामर्श की स्थायी परम्परा का निर्माण करना चाहिए, विपक्ष की बात को ध्यान से सुनना चाहिए ताकि संघर्ष की राजनीति के स्थान पर सहयोग की राजनीति की शुरूआत हो सके।

ससद मे विरोधी दलो ने सदैव सरकार का विरोध ही किया हो ऐसी बात नही है। विरोधी दलो ने तीनो बार अर्थात् 1962 मे जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया, 1965 तथा 1971 मे जब पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया तो सरकार को पूर्ण सहयोग दिया।

विरोधी दल शासन की आलोचना कर सकते है परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि गैर-कानूनी तरीको से सत्ता को हथियाने का प्रयत्न करें जिसे वह चुनाव द्वारा प्राप्त करने मे असफल रहे है। जनतन्त्र तभी चल सकता है जब अल्पमत निश्चित अवधि तक सत्तारूढ दल का नेतृत्व स्वीकार करे और गलत तरीकों से उसे अपदस्थ करने की कोशिश न करे। सरकार को हटाने के लिए भूख-हड़ताल करना, जन-आन्दोलन, जनता को कर न देने के लिए कहना उतने ही गलत तरीके हैं जितने कि हिंसात्मक उपाय।

भारत मे विपक्ष को अपनी भूमिका बदलनी होगी। उसे जनता को शिक्षित करना तथा उन्हें इस विश्वास मे लेना होगा कि विपक्ष सत्तारूढ दल की तुलना मे जनता की सेवा अच्छे ढंग से कर सकता है। विपक्ष द्वारा की जाने वाली सत्तारूढ दल की आलोचना ऐसी होनी चाहिए कि यदि उसे सरकार चलानी पड़े तो उनकी अपनी नीति ही उनके कार्यकलापो मे खण्डित न होती हो। सत्तारूढ दल को भी विपक्ष के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलना होगा। **मोरारजी देसाई** के अनुसार, "जब सत्तारूढ दल के द्वारा विपक्ष की आवाज दबा दी जाती है तब विपक्ष के सदस्यो को चीखना-चिल्लाना पड़ता है जिससे लोकसभा की कार्यवाही रुक जाती है।" अत सत्तारूढ दल को विपक्ष से राष्ट्रीय मसलो पर परामर्श करना चाहिए तथा विपक्ष की बात को ध्यान से सुनना चाहिए ताकि संघर्ष की राजनीति के स्थान पर सहयोग की राजनीति की शुरूआत हो सके।

संसद की भूमिका : समीक्षा (Parliament's Changing Role : A Critical Estimate)

इस राजनीतिक यथार्थ को नकारा नही जा सकता कि वास्तव मे देश के शासन और नीति के आधारभूत निर्णय संसद नही लेती, बल्कि निर्णय प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद द्वारा लिये जाते हैं। उन निर्णयो की संरचना मे ससद से कही अधिक हिस्सेदारी होती है। मन्त्रिपरिषद के सदस्यो और उनमे भी अधिक प्रशासनिक अधिकारियो की, जो तथ्यो और आंकड़ो का विश्लेषण और उनकी व्याख्या करते है। निष्कर्ष यह है कि नीति सम्बन्धी मूल निर्णय क्रमश. ससद के प्रांगण से हटकर सचिवालय के विभागीय प्रकोष्ठो मे या मन्त्रियो के द्वारा कभी-कभी मन्त्रिपरिषद की उपसमितियो मे लिये जाने लगे है। आज ससद की भूमिका केवल इतनी है कि वह शासन से जानकारी माँगे, यदाकदा मन्त्रियो से प्रश्नो द्वारा जिरह करे, समितियो के माध्यम से नीतियो और शासन द्वारा कार्यान्वयन का मूल्यांकन करे, न्यूनाधिक सशोधनो के साथ विधेयकों को पारित करे, और बहुमत को सरकार चलाने की सुविधा जुटाये। वस्तुत. संसद कानून बनाती नही, बल्कि प्रस्तुत विधेयको को कुछ परिवर्तनो के साथ पारित ही करती है। इसी प्रकार ससद नीतियाँ नही बनाती बल्कि शासन द्वारा निर्मित नीतियो की समीक्षा करती है। उन पर लोकमत की अभि-व्यक्तियो के प्रकटीकरण और प्रस्तुतीकरण का अवसर जुटाती है। इस परिप्रेक्ष्य मे संसद सत्ता की

नहीं, बल्कि प्रभाव की संस्था के रूप मे कार्य करती है। आज के सासद के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि यदि वह मन्त्रिपरिषद का सदस्य नहीं है तो उसकी भूमिका (i) सरकार को सही दिशा मे प्रभावित करने मे है, (ii) शासन की जांच-पड़ताल और उसके मूल्याकन मे है, (iii) किसी नीति या विधि के समर्थन या विपक्ष मे लोकमत सगठित करने मे और सार्वजनिक राय का अभिव्यक्ति देने मे है, (iv) अपने ससदीय दल के भीतर की राजनीति मे प्रभावी रचनात्मक भाग लेने में है, और (v) अपने क्षेत्र, राज्य या देश के किसी अन्य भाग की समस्याओ को संसद के समक्ष रखने में है। ससद सदस्य की एक भूमिका अपने राजनीतिक दल मे और ससद तथा ससदीय समितियों मे है, तो दूसरी भूमिका देश मे और अपने क्षेत्र मे है, क्योकि वह ससद और जनता के बीच विचार, सम्पर्क और संचार का सवाहक है।

विगत कुछ वर्षो से हमारी राजनीतिक व्यवस्था मे ससदीय शक्ति का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ है। **डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिघवी** के अनुसार, "यह सत्य है कि कानून बनाने की एवं कर और शुल्क लगाने की सर्वोपरि सत्ता ससद मे निहित है, किन्तु वास्तविकता यह है कि विधि अधिनियमो का गर्भाधान और जन्म मन्त्रालयो मे होता है, ससद मे केवल मन्त्रोच्चारण के साथ उनका उपनयन संस्कार होता है और उन्हे औपचारिक यज्ञोपवीत दे दिया जाता है।"[1] **प्रो० जे० डी० सेठी** के अनुसार, "सिद्धान्तत. जब तक संसद की मर्जी हो मन्त्रिमण्डल सत्तारूढ़ रह सकता है लेकिन व्यवहार मे मन्त्रिमण्डल ने ससद के काम और उसके अधिकार अधिकाधिक मात्रा मे हथिया लिये है और जिसे मन्त्रिमण्डलीय तानाशाही कहते हैं, उसकी आगवानी की है। भारत मे हम एक कदम और आगे बढ़ गये हैं और प्रधानमन्त्री को इजाजत दी गयी है कि वे मन्त्रिमण्डल तथा ससद दोनो के अधिकार हथिया ले। पं० नेहरू ने अनेक सूक्ष्म तरीको से ऐसा किया और श्रीमती गाँधी ने बगैर किसी झिझक के।"

हाल ही मे प्रसिद्ध पत्रकार कुलदीप नायर[2] ने अपने एक बहुचर्चित लेख मे ससद के गिरते हुए स्तर पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—

(1) पिछले 10-15 वर्षो से संसद के स्तर में तेजी से गिरावट आयी है। 1971, 77 व 80 के चुनावो के फलस्वरूप समाज के कुछ घटिया स्तर के लोग भी संसद में पहुँच गये हैं। 1989 के लोकसभा चुनावो में कांग्रेस "इ" ने अनेक अपराधी किस्म के लोगों को प्रत्याशी बनाया। पहले कांग्रेस ने, फिर जनता ने, फिर पुन कांग्रेस (इ) ने योग्यता को नजरन्दाज किया और व्यक्ति निष्ठा के लिए लोगों को पुरस्कृत किया। इसका नतीजा यह निकला है कि संसद हाथ उठाने वालों का सदन रह गया है। ये लोग न तो अपने मतदाताओं और न उनको परेशान करने वाली समस्याओं के हल के लिए अपने को उत्तरदायी मानते हैं।

(2) मुख्य काम जिससे अधिकतर सासद व्यस्त रहते हैं वह है पैसा कमाना। चुनाव जीतने मे पाँच से आठ लाख रुपया खर्च करने के बाद वे उस खर्च की पूर्ति मे लग जाते हैं और कम से कम अगले चुनाव का खर्च निकालने की कोशिश मे लगे रहते है।

(3) संसदीय क्षेत्र मे सबसे अधिक गिरावट अध्यक्षो व उच्च सदनो के सभापतियो के स्तर मे आयी है। ये लोग दलीय हो गये है और मुश्किल से ही ऐसी व्यवस्था देते है जिसमे सकीर्णता न हो। मावलकर व अनन्तशयनम् आयंगर के दिन चले गये जो 'अम्पायर' का काम करते थे। नौ वर्ष तक लोकसभा स्पीकर रहे बलराम जाखड़ अनवरत राजनीतिक दखलन्दाजी करते रहते थे।

---

1 डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिघवी · "सुनो सासद", धर्मयुग (नई दिल्ली), 20 जनवरी, 1980, पृ० 39।

2 कुलदीप नायर : "गिरावट की हद", राजस्थान पत्रिका (जयपुर), 22 नवम्बर, 1981।

वे उसी भाँति आचरण करते थे जिस भाँति एक राजनीतिज्ञ व्यवहार करता है। मधु लिमये के शब्दों में "अध्यक्ष शासक दल की कठपुतली बन गये।" सरकार को परेशान भरी बहसों से बचाने के लिए अध्यक्ष उसकी मदद करते रहे।

(4) मन्त्री यदि किन्ही प्रश्नों का जवाब नही देते तो उन्हे कुछ नही कहा जाता। अध्यक्ष केवल यह कहकर अपना पल्ला छुडा लेते हैं कि उत्तर बाद मे दिया जायेगा। बाद मे उत्तर सदन के पटल पर रख दिये जाते हैं और सदस्यों को पूरक प्रश्न पूछने का अवसर ही नही मिलता।

(5) जब कभी कोई असल समस्याएँ सामने आती है तो ससद को विश्वास मे ही नहीं लिया जाता। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से लिये गये ऋण की शर्तों के बारे मे कोई बहस नहीं हुई। इससे कम राशि के ऋणो पर भी ब्रिटिश ससद मे, जिसकी परम्पराओं का हम पालन करते है, विचार हुए है। छठी पंचवर्षीय योजना पर अन्तिम रूप दिये जाने के पूर्व ससद मे बहस नहीं हुई। अब 7,500 करोड के मिराज सौदे को भी बिना संसद मे विचार किये अन्तिम रूप दे दिया गया। जनता शासन मे जगवार सौदे के बारे मे भी ऐसा ही हुआ था।

(6) कुछ मन्त्री तो उस समय संसद मे मौजूद ही नही होते जब उनसे सम्बन्धित सवालो पर विचार होता है।

(7) बहुत से सासदो को इस बात मे कोई रुचि नही होती कि सदन मे क्या हो रहा है। सामान्यत. उपस्थिति भी बहुत कम होती है।

(8) प्रधानमन्त्री (राजीव गाँधी) भी ससद की उपेक्षा करते रहे। 1985 के शरदकालीन सत्र के पहले दिन ही वे ओमान के लिए चल पडे थे और जब सी ए जी (CAG) की रिपोर्ट पर सदन मे हगामा मचा तो वे राजधानी मे होते हुए भी सदन मे नहीं गये। "नेहरू सत्र के दौरान नियमित रूप से सदन मे पहुँचते थे जबकि राजीव हफ्ते मे एक-एक घण्टे के लिए ही दोनो सदन मे देखे गये, वह भी जब उनके मन्त्रालय से सम्बन्धित सवालो की बारी होती।"[1]

निष्कर्ष—हमारी ससदीय कार्यप्रणाली मे सुधार की आवश्यकता है। एक ससदीय सुधार आयोग का निर्माण किया जाना चाहिए। इस आयोग मे वरिष्ठतम सासद तथा विशेषज्ञ शामिल किये जाने चाहिए। इस आयोग को ससदीय कार्यप्रणाली के सम्बन्ध मे अपनी सिफारिशें देश के सामने रखनी चाहिए ताकि ससद लोकतान्त्रिक मूल्यो की मजूषा बन सकें।

यदि ससद को राजनीतिक व्यवस्था का केन्द्र रहना है तो सभी सम्बद्ध तत्वो को राष्ट्रीय आधार पर इसकी गरिमा बनाये रखने के लिए प्रतिबद्ध रहना चाहिए। ससद सदस्य सरकार, विपक्ष तथा जनतन्त्रात्मक कार्यविधि मे विश्वास रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति का फर्ज इसकी गरिमा बनाये रखता है। हम आशा करते है कि हमारी संसद भारतीय राजनीति मे एक मध्यस्थ के रूप में, सरकार और जनता के बीच एक संचार माध्यम के रूप मे तथा राजनीति व्यवस्था मे विभिन्न शक्तियो के बीच समीकरण बनाये रखने मे सफल होगी।

---

[1] इण्डिया टुडे, 31 अगस्त 1989, पृ० 28।

23

सर्वोच्च न्यायालय तथा न्यायिक पुनर्विलोकन

[SUPREME COURT AND JUDICIAL REVIEW]

स्वतन्त्र और सभ्य राज्य की प्रथम पहचान स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका है। कोई भी समाज बिना विधानमण्डल के रह सकता है, किन्तु ऐसे किसी सभ्य राज्य की कल्पना नही की जा सकती जिनमे न्यायपालिका की कोई व्यवस्था न हो।

भारतीय सविधान-निर्माता एक ऐसा अखिल भारतीय सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय बनाने के लिए कृतसकल्प थे जिसे फौजदारी और दीवानी दोनो प्रकार का क्षेत्राधिकार प्राप्त हो। सर्वोच्च न्यायालय इसी सकल्प की पूर्ति करता है। हमारी न्याय-व्यवस्था के शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय है जो भारत के मुख्य न्यायाधीश तथा कुछ अन्य न्यायाधीशो से मिलकर बनता है। उसका क्षेत्राधिकार अत्यन्त व्यापक है। वह अभिलेख न्यायालय है और उसके क्षेत्राधिकार मे प्रारम्भिक, अपीलीय और परामर्शीय सभी प्रकार के मामले आ जाते हैं।[1] वस्तुत भारत मे सविधान और लोकतन्त्र की रक्षा का दायित्व सर्वोच्च न्यायालय का ही है। स्वाधीन भारत मे सर्वोच्च न्यायालय का कार्यकरण बहुत गौरवमय रहा है तथा आम जनता मे व्यक्ति के संवैधानिक अधिकारो तथा स्वाधीनता के प्रहरी के रूप मे उसके प्रति अटूट श्रद्धा और सम्मान है।[2]

सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता क्यों ? (Why a Supreme Court ?)

वस्तुत लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था की दृष्टि से हमारे देश मे सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता निम्न कारणो से महसूस की गयी .

(1) **संघात्मक शासन व्यवस्था के कारण—जी. एन. जोशी** के अनुसार, "संघात्मक शासन मे कई सरकारो का समन्वय होने के कारण सघर्ष अवश्यम्भावी है। अत सघीय नीति का यह आवश्यक गुण है कि देश मे ऐसी न्यायिक संस्था हो जो सघीय कार्यपालिका एव व्यवस्थापिका तथा इकाइयों की सरकारो से स्वतन्त्र हो।" शासकीय सत्ता का केन्द्रीय तथा राज्यो की सरकारो के मध्य विभाजन संघीय सविधान की विशेषता है। किसी भी शक्ति-विभाजन की प्रक्रिया मे क्षेत्राधिकार के प्रश्न को लेकर सघ तथा राज्यो मे वाद-विवाद पैदा होना स्वाभाविक है। शक्ति विभाजन सविधान के अनुसार होता है इसलिए इन सभी विवादो का निर्णय एक सविधान मे अंकित व्यवस्था के अनुसार ही होना चाहिए। न्याय की यह माँग है कि ऐसे सभी विवादो का निर्णय एक निष्पक्ष एव स्वतन्त्र प्राधिकारी के द्वारा किया जाय। सघीय सविधान मे सर्वोच्च

---

1 काश्यप, सुभाष · **संवैधानिक विकास और स्वाधीनता**, पृ. 348।

2 *Ibid.*, p. 349 and V. S. Despande · *Journal of the Indian Law Institute*, Oct.-Dec. 1973, p. 531

राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर **तदर्थ न्यायाधीशों** (Adhoc Judges) की नियुक्ति कर सकता है। इस प्रकार की तदर्थ नियुक्तियाँ करते समय भारत के मुख्य न्यायाधीश को उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से सलाह लेनी होगी जिसमें से न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाय। भारत में तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति कनाडा में प्रचलित ऐसी ही प्रथा के समान है। सर्वोच्च या संघीय न्यायालय के पदनिवृत्त न्यायाधीश को राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति प्राप्त कर सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनाया जा सकता है।

मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्ति और तत्सम्बन्धी विवाद (Appointment of the Chief Justice of India and Controversy about that)—सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में संविधान लागू किये जाने के समय से लेकर 1972 ई. तक यह परम्परा चली आ रही थी कि मुख्य न्यायाधीश के सेवानिवृत्त होने के बाद उसके स्थान पर दूसरे मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा सेवानिवृत्त होने वाले मुख्य न्यायाधीश से परामर्श अवश्य ही लिया जाता था और यह नियुक्ति न्यायाधीशों की वरिष्ठता के आधार पर की जाती थी। केवल एक बार 1964 में श्री जफर इमाम को उनकी वरिष्ठता के बावजूद सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का पद नहीं प्रदान किया गया, लेकिन यह निर्णय बहुत कुछ सीमा तक श्री जफर के स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों के आधार पर किया गया था। लेकिन अप्रैल 1973 में जब प्रधान न्यायमूर्ति श्री सीकरी सेवानिवृत्त हुए तो तीन न्यायाधीशों (श्री शेलट, श्री हेगडे और श्री ग्रोवर) की वरिष्ठता का उल्लंघन करके **श्री अजीतनाथ रे** को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया था। श्री अजीतनाथ रे की नियुक्ति के सम्बन्ध में श्री सीकरी से परामर्श नहीं लिया गया था। समस्त देश के विधि जगत में इस नियुक्ति का घोर विरोध किया गया। अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायाधीश **श्री सीकरी** ने प्रतिक्रिया व्यक्त की कि, "**सरकारी निर्णय राजनीतिक था।**" **श्री छागला ने कहा, "यह न्यायिक इतिहास का सर्वाधिक अँधेरा दिन है।"** सर्वोच्च न्यायालय बार एसोसिएशन ने इसे **पूर्णतया राजनीतिक और गुण से सम्बन्ध नहीं** (Purely Political and having no relation to merits) बतलाया। लेकिन दूसरी ओर सरकारी पक्ष का प्रतिपादन करते हुए मन्त्री **श्री कुमारमंगलम्** ने संसद में कहा कि मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति मात्र वरिष्ठता के आधार पर नहीं की जा सकती और **न्यायाधीश का दृष्टिकोण, उनका सामाजिक दर्शन हवा का रुख पहचानने की उनकी शक्ति और संसद की सर्वोच्चता को मान्यता—सर्वोच्च न्यायाधीशों के पद पर नियुक्ति के महत्त्वपूर्ण आधार होने चाहिए।**"[1] उन्होंने स्पष्ट कहा कि "यह आज की सरकार के विवेक पर निर्भर है कि वह अपनी दृष्टि में उपयुक्त व्यक्ति को नियुक्त करे। देश के सर्वोच्च न्याय आसन पर बैठने वाले दृष्टिकोण व दर्शन भी उपयुक्त होना चाहिए।" इस विचार पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध विधिवेत्ता पालकीवाला ने कहा : "अनुभव से हमें सीखना चाहिए कि राजनीति में न्याय के तत्वों का प्रवेश उचित है पर न्याय में राजनीति का प्रवेश विनाशकारी है। सरकार का यह दावा कितना असंगत है कि उसे सर्वोच्च न्यायालय में ऐसे न्यायाधीश नियुक्त करने का अधिकार है जो सत्ताधारी दल के दर्शन में आस्था रखते हैं। मान लीजिए एक ऐसा दल सत्ता में पहुँचे जिसकी विचारधारा संविधान के विपरीत हो, तो ऐसी अवस्था में न्यायाधीश संविधान का पालन करेंगे या सत्ताधारी दल के दर्शन का।" इस नियुक्ति के विरोध में सर्वोच्च न्यायालय के तीनों न्यायाधीशों—**श्री शेलट श्री हेगडे और श्री**

---

1 "The outlook and the social philosophy of the judge, his response to the winds of change and his recognition of the sovereignty of parliament should be the principle criteria for the appointment of the chief justice." —*Kumar Mangalam*

ग्रोवर ने त्यागपत्र दे दिया। समस्त देश में व्यापक रूप से शंका व्यक्त की गयी कि मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में अपनायी गयी यह नवीन सरकारी नीति न्यायपालिका को कार्यपालिका की चेरी बना देगी और इससे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा प्रतिष्ठा पर आघात पहुँचेगा। समस्त स्थिति पर विचार करने के लिए 11 और 12 अगस्त को दिल्ली में सर्वोच्च न्यायालय अधिवक्ता संघ के तत्त्वावधान में **'अखिल भारतीय अधिवक्ता सम्मेलन'** हुआ जिसमें लगभग 700 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। सम्मेलन में यह प्रस्ताव पास किया गया कि उच्च और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति अधिवक्ता संघ और न्यायाधीशों का प्रतिनिधित्व करने वाली समितियों की सिफारिश पर होनी चाहिए और उच्च न्यायालयों या सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के पद पर सर्वाधिक वरिष्ठ न्यायाधीश को ही नियुक्त किया जाना चाहिए। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और सम्मान को बनाये रखने की दृष्टि से उपर्युक्त सुझाव निश्चित रूप में विचार योग्य है।

सन् 1977 में पुन. 1973 के ही ढंग पर मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति की गयी। जनवरी 1977 में मुख्य न्यायाधीश श्री अजीतनाथ रे के कार्यकाल की समाप्ति पर वरिष्ठता के आधार पर श्री एच. आर. खन्ना को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए था। लेकिन जस्टिस खन्ना की नियुक्ति करने के स्थान पर जस्टिस **मिर्जा हमीदुल्ला बेग** को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया। अखिल भारतीय अधिवक्ता संघ द्वारा इस नियुक्ति की आलोचना की गयी और अपनी वरिष्ठता का उल्लंघन किये जाने के विरोध में न्यायाधीश एच. आर. खन्ना के द्वारा त्यागपत्र दे दिया गया।

मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति और विवाद का निराकरण (फरवरी 1978)—1977 में सत्तारूढ़ शासक वर्ग न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और उसकी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए वचनबद्ध था। अत मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति के सम्बन्ध में वरिष्ठता के सिद्धान्त को पुन स्वीकार करते हुए फरवरी 1978 में श्री वाई. वी चन्द्रचूड़ को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया। अजीतनाथ रे के कार्यकाल की समाप्ति पर तत्कालीन शासक दल के कुछ नेताओं और कुछ विख्यात विधिवेत्ताओं ने कहा कि श्री चन्द्रचूड़ को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। उनका कहना था कि मुख्य न्यायाधीश से जिस वैचारिक स्वतन्त्रता और निष्पक्षता की आशा की जाती है, उनका उनमें दु खद अभाव रहा है। अप्रैल 1976 में बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) के मामले में उन्होंने साहसपूर्ण निर्णय नहीं दिया। **वी एम तारकुण्डे** के अनुसार, "बन्दी प्रत्यक्षीकरण मामले में सर्वोच्च न्यायालय का फैसला कानूनी दृष्टि से तो कमजोर है ही, जनता और देश के लिए भी यह गम्भीरतम खतरे से भरा है। वह न्याय की धारणा का ही मखौल है।" श्री छागला के द्वारा भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया गया, लेकिन इस प्रकार की आपत्तियों को अस्वीकार करते हुए सरकार द्वारा सोचा गया कि मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सुनिश्चित परम्पराओं को अपनाया जाना चाहिए। शासन का यह कार्य न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा उसके सम्मान को बनाये रखने की दृष्टि से उचित है। वस्तुत मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त निश्चित किये जाने चाहिए, जिनमें कि न्यायिक क्षेत्र की इन सर्वोच्च नियुक्तियों के सम्बन्ध में शासन के द्वारा मनमाना आचरण न किया जा सके और न्यायाधीश पद तथा न्यायाधीश पदधारी व्यक्ति विवाद के विषय न बनें। विधि आयोग ने भी अपनी 80वीं रिपोर्ट में कहा है कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में वरिष्ठता के सिद्धान्त का कड़ाई से पालन किया

जाना चाहिए ।[1] न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा और लोकतन्त्र के सुचारु संचालन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है ।

न्यायाधीशों की योग्यताएँ (Qualifications for the Judges)—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो मे निम्नलिखित योग्यताओ का होना आवश्यक है :

(1) वह भारत का नागरिक हो ।

(2) वह किसी उच्च न्यायालय अथवा ऐसे दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयो मे लगातार कम-से-कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश के रूप मे कार्य कर चुका हो ।

या

किसी उच्च न्यायालय अथवा न्यायालयो मे लगातार, 10 वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) रह चुका हो ।

या

राष्ट्रपति के विचार मे एक पारगत विधिवेत्ता हो ।

यह अन्तिम उपबन्ध वस्तुत नियुक्ति के क्षेत्र को व्यापक करने के लिए रखा गया है । इस उपबन्ध के अनुसार किसी विश्वविद्यालय मे पढाने वाला कोई विख्यात न्यायशास्त्री सर्वोच्च न्यायालय मे न्यायाधीश पद पर नियुक्त किया जा सकेगा ।

संविधान मे यह स्पष्ट रूप से लिखित है कि सर्वोच्च न्यायालय का कोई भी न्यायाधीश भारत राज्य क्षेत्र मे किसी न्यायालय अथवा किसी अन्य पदाधिकारी के न्यायालय मे वकालत नही कर सकता है और न वह किसी न्यायालय मे किसी अन्य रूप मे कार्य कर सकता है ।

कार्यकाल तथा महाभियोग (Term and Impeachment)—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सेवानिवृत्ति की आयु 65 वर्ष है । यद्यपि सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान की भाँति भारतीय सविधान मे आजीवन कार्यकाल की व्यवस्था नही की गयी है, फिर भी वर्तमान व्यवस्था व्यवहारत वैसी ही है, क्योकि भारत मे औसत आयु को देखते हुए 65 वर्ष की आयु बहुत होती है । इसके अतिरिक्त, सविधान के अनुच्छेद 128 मे किसी सेवानिवृत्त न्यायाधीश की नियुक्ति करने की भी विशेष व्यवस्था की गयी है । इस अवस्था के पूर्व वह स्वय त्यागपत्र दे सकता है । इसके अतिरिक्त, सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसके पद से केवल प्रमाणित दुर्व्यवहार या अक्षमता के आधार पर ही हटाया जा सकता है । इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार ससद को प्राप्त है । कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन ससद के दोनो सदनो को अलग-अलग अपने कुल सदस्यो की संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यो के दो-तिहाई मत से प्रस्ताव पास करना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जायेगा । उसके बाद राष्ट्रपति उस न्यायाधीश की पदच्युति का आदेश जारी करेगा । इस सम्बन्ध मे यह आवश्यक है कि न्यायाधीश के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव एक ही सत्र मे स्वीकार होना चाहिए और न्यायाधीश को अपने पक्ष के समर्थन तथा उसकी पैरवी का पूरा अवसर प्रदान किया जायेगा ।

वेतन, भत्ते और सेवा शर्तें (Salary, Allowances and Service Conditions)—सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो के वेतन 1950 से ही स्थिर चले आ रहे थे और उनमे वृद्धि की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी । अत 54वे संवैधानिक संशोधन (1982) द्वारा संविधान की द्वितीय अ[illegible] 'द' (Part D) को सशोधित करते हुए

[1] *The Times of India*, 30 January, 1[illegible]

सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते और सेवा शर्तों में उल्लेखनीय सुधार किया गया है। अब इस प्रसंग में स्थिति निम्न प्रकार है :

सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को अब 10 हजार रुपये मासिक वेतन और 1,250 रुपये मासिक भत्ता प्राप्त होगा। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को 9 हजार रुपये मासिक वेतन और 750 रुपये मासिक भत्ता प्राप्त होगा। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को स्टाफ कार और प्रति माह 150 लीटर पैट्रोल की सुविधा भी प्राप्त होगी।

न्यायाधीशों के लिए पेन्शन और सेवानिवृत्ति वेतन (ग्रेच्युटी) की व्यवस्था सर्वप्रथम 1976 में की गई थी। 1986 में पेन्शन, ग्रेच्युटी तथा अन्य सेवा शर्तों में भी उल्लेखनीय सुधार किया गया है। पेन्शन की अधिकतम सीमा मुख्य न्यायाधीश के लिए 60 हजार रुपये वार्षिक व अन्य न्यायाधीशों के लिए 54 हजार रुपये वार्षिक है। ग्रेच्युटी 30 हजार रुपये से बढ़ाकर 50 हजार रुपये कर दी गयी है। न्यायाधीशों की नियुक्ति के बाद उनके वेतन, भत्ते आदि में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। उन्हें वेतन व भत्ते भारत की संचित निधि से दिये जायेंगे जिस पर भारतीय संसद को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

उन्मुक्तियाँ (Immunities)—न्यायाधीशों को अपने सभी कार्यों और निर्णयों के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान की गयी है, किन्तु न्यायालय के किसी निर्णय या किसी न्यायाधीश की किसी सम्मति की शैक्षणिक दृष्टि से आलोचनात्मक विवेचना की जा सकती है। न्यायाधीशों पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने किसी प्रेरणा या हितवश एक विशेष प्रकार का निर्णय दिया। संसद के द्वारा भी महाभियोग के प्रस्ताव पर विचार करने के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीशों के आचरण पर विचार नहीं किया जा सकता है। न्यायालय को अधिकार प्राप्त है कि वह अपना सम्मान बनाये रखने और शत्रुतापूर्ण आलोचना से अपनी रक्षा करने के लिए किसी भी तथाकथित अपराधी के विरुद्ध न्यायालय के अवमान की कार्यवाही कर सके। सन् 1953 में इस न्यायालय के एक निर्णय पर '**टाइम्स ऑफ इण्डिया**' द्वारा की गयी एक टिप्पणी के कारण उस समाचार-पत्र के सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक के विरुद्ध न्यायालय अवमान की कार्यवाही की गयी थी।[1] न्यायालय अवमान की कार्यवाही न केवल प्रतिष्ठा की रक्षा करने हेतु वरन् ऐसे कार्य को रोकने के लिए भी की जा सकती है, जिसका इसकी निष्पक्ष निर्णय की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका हो। '**दीक्षित** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**' के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसा ही निर्णय दिया था।[2]

सर्वोच्च न्यायालय का अवस्थापन
(ESTABLISHMENT OF THE SUPREME COURT)

संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार दिया गया है कि वह स्वयं अपना अवस्थापन (Establishment) रखे और उस पर पूरा नियन्त्रण भी रखे। इस सम्बन्ध में संविधान-निर्माताओं का उचित रूप में यह मत था कि यदि इस प्रकार की व्यवस्था न हो तो न्यायालय की स्वाधीनता केवल एक भ्रम ही सिद्ध होगी। सर्वोच्च न्यायालय के पदाधिकारियों और कर्मचारियों की सब नियुक्तियां मुख्य न्यायाधीश द्वारा या उसके द्वारा इस कार्य पर लगाये गये किसी अन्य न्यायाधीश या पदाधिकारी द्वारा की जाती हैं। इन पदाधिकारियों की सेवा शर्तें भी इस न्यायालय द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं, उन पर होने वाला व्यय तथा न्यायालय के अवस्थापन के अन्य व्यय भारत की संचित निधि से किये जाते हैं।

1 In the matter of the Editor, Printer and Publisher, *The Times of India*, 1980, *Supreme Court Reporter*, p. 215.

2 All India Reporter 1954, *Supreme Court*, p. 743.

सर्वोच्च न्यायालय की कार्यविधि (Procedure of the Supreme Court)--सर्वोच्च न्यायालय की कार्यविधि के सम्बन्ध मे सविधान ने कुछ व्यवस्थाएँ की हैं। इसके अतिरिक्त, सविधान ने भारतीय संसद को भी इस सम्बन्ध मे नियम बनाने का अधिकार प्रदान किया है तथा अन्य बातो पर सर्वोच्च न्यायालय स्वयं भी राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर नियम निर्मित करने की क्षमता रखता है। इसकी कार्यविधि के सम्बन्ध मे सविधान द्वारा निम्न व्यवस्थाएँ की गयी हैं ·

(1) जिन विषयो का सम्बन्ध सविधान की व्यवस्था मे हो या जिसके अन्तर्गत सवैधानिक प्रश्न उपस्थित हो या जिसमे विधि के अभिप्राय को स्पष्ट करने की आवश्यकता हो या जिन विषयो पर विचार का कार्य भारत के राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय को सौपा हो, उनकी सुनवाई सर्वोच्च न्यायालय के कम-से-कम 5 न्यायाधीशो द्वारा की जायेगी।

(2) सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख किसी ऐसे मुकदमे की अपील भी उपस्थित की जा सकती है जिसकी सुनवाई के उपरान्त यह विचार किया जाय कि उसमे संविधान की व्याख्या करना आवश्यक है या कानून के अभिप्राय को तात्त्विक रूप से प्रकट करना होगा। इस प्रकार के विवाद प्रारम्भ मे पाँच से कम न्यायाधीशो के सामने उपस्थित हो सकते हैं, पर यदि यह स्पष्ट हो जाय कि उसमे संविधान की व्याख्या या कानून के रूप का स्पष्टीकरण होना आवश्यक है तो उसे भी कम-से-कम पॉच न्यायाधीशों के समक्ष उपस्थित किया जायेगा और उनकी व्याख्या के अनुसार ही उसका निर्णय होगा।

(3) सर्वोच्च न्यायालय के समस्त निर्णय खुले तौर पर किये जायेगे।

(4) सर्वोच्च न्यायालय के समस्त निर्णय बहुमत के आधार पर होगे। बहुमत के निर्णय से असहमत न्यायाधीश अपना पृथक् निर्णय दे सकता है। वह अन्य किसी प्रकार से बहुमत के निर्णय को प्रभावित नही कर सकेगा। बहुमत निर्णय ही मान्य होगा।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the Supreme Court)

भारत के सर्वोच्च न्यायालय को काफी व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं, यहाँ तक कि विश्व के अन्य किसी भी न्यायालय का क्षेत्राधिकार शायद ही इतना व्यापक हो। इसके क्षेत्राधिकार का अध्ययन निम्नलिखित तीन रूपो मे किया जा सकता है (1) **प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार**, (2) **अपीलीय क्षेत्राधिकार**, **और** (3) **परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार।**

(1) **प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार** (Original Jurisdiction)—सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार को दो वर्गों म रखा जा सकता है

(क) **प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार** (Original Exclusive Jurisdiction)—**श्री दुर्गादास बसु** का कहना है कि, "**यद्यपि हमारा संविधान एक सन्धि या समझौते के रूप मे नही है, फिर भी संघ तथा राज्यों के बीच व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकारो का विभाजन किया गया है। अतः अनुच्छेद 131 संघ तथा राज्यो या राज्यो के बीच न्याय-योग्य विवादों के निर्णय का प्रारम्भिक तथा एकमेव क्षेत्राधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौंपता है।**"[1] सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत निम्न विषय आते है

(i) भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यो के बीच विवाद।

(ii) भारत सरकार, राज्य या कई राज्यो तथा एक या अधिक राज्यो के बीच विवाद।

(iii) दो या दो से अधिक राज्यो के बीच विवाद, जिससे कोई ऐसा प्रश्न अन्तर्निहित हो

---

[1] D. D Basu · *Introduction to the Constitution of India*, p. 223.

जिस पर किसी वैध अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर हो। न्यायालय से इस अधिकार के सम्बन्ध मे निर्णय की याचना की जानी चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय को केवल संघ सरकार तथा राज्य सरकारो के पारस्परिक विवादो के सम्बन्ध मे प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार प्राप्त है अर्थात् उपर्युक्त प्रकार के विवाद केवल सर्वोच्च न्यायालय मे ही उपस्थित किये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि 26 जनवरी, 1950 के पूर्व जो सन्धियाँ और सविदाएँ भारत संघ और देशी राज्यो के बीच की गयी थी और यदि वे इस समय भी लागू है, तो उनके ऊपर उत्पन्न हुआ विवाद सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के बाहर है।

(ख) **समवर्ती प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार** (Concurrent Original Jurisdiction)—संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारो को लागू करने के सम्बन्ध मे सर्वोच्च न्यायालय के साथ-साथ उच्च न्यायालयो को भी अधिकार प्रदान किया गया है। संविधान के **अनुच्छेद** 32(1) द्वारा विशेष रूप से सर्वोच्च न्यायालय को उत्तरदायी ठहराया गया है कि वह "**मौलिक अधिकारों को लागू कराने के लिए समुचित कार्यवाही करे।**" इस प्रकार मौलिक अधिकारो को लागू करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय किसी के द्वारा आवश्यक कार्यवाही की जा सकती है।

(2) **अपीलीय क्षेत्राधिकार** (Appellate Jurisdiction)—सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के साथ-साथ सविधान ने अपीलीय क्षेत्राधिकार भी प्रदान किया है। उसे समस्त राज्यो के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित चार वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है :

(i) **संवैधानिक** (Constitutional)—संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद मे सविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई सारमय प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, तो उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय मे की जा सकती है। यदि राज्य के उच्च न्यायालय ने ऐसा प्रमाणपत्र देना अस्वीकार कर दिया है तो सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी अपील की अनुमति प्रदान कर सकता है यदि उसको यह विश्वास है कि उस विषय मे सविधान की व्याख्या का कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न निहित है। '**निर्वाचन आयोग** वनाम **श्री वेंकटराव**' (1953) वाले मुकदमे मे यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या किसी संवैधानिक विषय मे अनुच्छेद 132 के अधीन किसी अकेले न्यायाधीश के निर्णय की अपील भी सर्वोच्च न्यायालय मे की जा सकती है अथवा नही। सर्वोच्च न्यायालय ने इसका उत्तर 'हाँ' मे दिया। इसके फलस्वरूप यह न्यायालय सविधान का अन्तिम सरक्षक और व्याख्याकर्ता बन जाता है।

(ii) **दीवानी** (Civil)—इस सम्बन्ध मे मूल सविधान के अन्तर्गत जो व्यवस्था थी, उसे 1972 मे हुए सविधान के 30वे सशोधन द्वारा परिवर्तित कर दिया गया है। इसके पूर्व यह व्यवस्था थी कि उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय मे केवल ऐसे ही दीवानी विवादो की अपील की जा सकती थी, जिसमे विवादग्रस्त राशि 20 हजार रुपये से अधिक हो। इस व्यवस्था के सम्बन्ध मे विधि आयोग ने अपनी सिफारिश मे कहा कि दीवानी विवादो की सर्वोच्च न्यायालय मे अपील के सम्बन्ध मे धनराशि की जो सीमा है, वह हटा दी जानी चाहिए। इस सिफारिश के अनुसार 30वाँ संवैधानिक सशोधन किया गया, जिसके द्वारा अनुच्छेद 133 को सशोधित करते हुए अब धनराशि की सीमा हटा दी गयी है और यह निश्चित किया गया है कि उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय मे ऐसे सभी दीवानी विवादो की अपील की जा सकेगी जिसमे उच्च न्याया-

लय द्वारा यह प्रमाणित कर दिया जाय कि इस विवाद मे कानून की व्याख्या से सम्बन्धित सारपूर्ण प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। 30वें संशोधन द्वारा की गयी यह व्यवस्था निश्चित रूप से अधिक उचित और तर्कपूर्ण है।

(iii) **फौजदारी**, (Criminal)—संविधान सभा मे **श्री पी. के. सेन** और अन्य कुछ सदस्यों ने सुझाव दिया था कि "**मृत्युदण्ड के सभी मामलों में सर्वोच्च न्यायालय को अपील का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।**" लेकिन श्री के. एम. मुन्शी और अन्य सदस्यो ने यह तर्क दिया कि इससे सर्वोच्च न्यायालय का कार्यभार बहुत अधिक बढ जायेगा और इंग्लैण्ड आदि देशो मे भी इस प्रकार की व्यवस्था नही है। वर्तमान वैधानिक व्यवस्था श्री मुन्शी के विचार के अनुरूप ही है।

फौजदारी विवादो मे उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील निम्न विषयो मे सर्वोच्च न्यायालय मे की जा सकती है :

(क) यदि उच्च न्यायालय ने अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति की उन्मुक्ति का आदेश रद्द कर उसे मृत्युदण्ड दे दिया हो।

(ख) उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय से अभियोग विचारार्थ अपने पास मँगवाकर अभियुक्त को प्राणदण्ड दिया हो।

(ग) अगर उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विचार के योग्य है, तो अपील की जा सकती है।

(iv) **विशिष्ट** (Special Appeals)—यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 132 से 134 तक उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय मे अपील की व्यवस्था की गयी है लेकिन फिर भी कुछ मामले ऐसे हो सकते है, जो उपर्युक्त श्रेणी मे नही आते, लेकिन जिसमे सर्वोच्च न्यायालय का हस्तक्षेप आवश्यक हो सकता है। अत अनुच्छेद 136 द्वारा साधारण कानून से भिन्न अपील सम्बन्धी विशिष्ट अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार, "**इस अध्याय** के किसी भी उपबन्ध के होते हुए भी सर्वोच्च न्यायालय भारत के राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण द्वारा दिये गये किसी भी निर्णय, आज्ञप्ति निर्धारण, दण्ड या आदेश करने की अनुमति प्रदान कर सकता है। इस सम्बन्ध मे एकमात्र अपवाद केवल यह है कि सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील नही की जा सकती है।" सर्वोच्च न्यायालय को यह जो विशिष्ट अपीलीय शक्ति प्रदान की गयी है, उसके द्वारा इसका प्रयोग असाधारण परिस्थितियो मे ही किया जाता है।

सर्वोच्च न्यायालय को अब तक भारतीय संघ के सभी पदाधिकारियों के चुनाव सम्बन्धी विवादो पर निर्णय देने का अधिकार प्राप्त था, 39वे **संवैधानिक संशोधन** (अगस्त 1975) के आधार पर व्यवस्था की गयी कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष और प्रधानमन्त्री—इन चार उच्च पदाधिकारियो के चुनाव को उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती है। 44वे संवैधानिक सशोधन (अप्रैल 1978) द्वारा 39वें संवैधानिक संशोधन को रद्द कर दिया गया है और अब सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय उपर्युक्त चार उच्च पदाधिकारियो के चुनाव विवादो की उसी प्रकार से सुनवाई कर सकते है जिस प्रकार से उसके द्वारा यह कार्य 42वें संवैधानिक सशोधन के पूर्व किया जाता था।

अपीलीय क्षेत्राधिकार के दृष्टिकोण से भारत का सर्वोच्च न्यायालय विश्व मे सबसे अधिक शक्तिशाली है। सम्भवतया सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को लक्ष्य करते हुए ही **28 जनवरी, 1950 को सर्वोच्च न्यायालय** के उद्घाटन के अवसर पर भाषण देते हुए श्री एम.

सी सीतलवाड ने कहा था कि ' इस न्यायालय के प्रादेश (Writs) बीस लाख वर्ग मील के विस्तृत प्रदेश में लागू होगें, जिनमें लगभग 30 करोड़ व्यक्ति (1990 मे 82 करोड़) निवास करते हैं। यह कहना सत्य होगा कि स्वरूप और विस्तार की दृष्टि से इस न्यायालय का क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ राष्ट्रमण्डल के किसी भी देश के सर्वोच्च न्यायालय तथा संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र तथा शक्तियो से व्यापक हैं।

(3) **परामर्शीय क्षेत्राधिकार** (Advisory Jurisdiction)—संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार से विभूषित किया है। अनुच्छेद 143 के अनुसार यदि कभी राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न पैदा हुआ है, जो सार्वजनिक महत्त्व का है, तो वह उक्त प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श माँग सकता है। इस न्यायालय पर सवैधानिक दृष्टि से ऐसी कोई बाध्यता नहीं है कि उसे परामर्श देना ही पड़ेगा।

अनुच्छेद 143 का खण्ड (2) राष्ट्रपति को अधिकार देता है कि वह सविधान के लागू होने के पूर्व किसी सन्धि, समझौते आदि के सम्बन्ध मे उठे विवादो को इस न्यायालय के पास उसकी सम्मति जानने के लिए भेज सके। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से 1949 और 1950 के बीच हुए भारत सरकार और देशी रियासतो के समझौते आते है। ऐसे विवादो मे न्यायालय के लिए परामर्श देना अनिवार्य है और न्यायालय के परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करना राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर करता है। अब तक राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से सात बार परामर्श माँगा है, जिनमे "केरल शिक्षा विधेयक' (Kerala Education Bill), 1974 मे राष्ट्रपति के चुनाव पर सर्वोच्च न्यायालय मे माँगी गयी सम्मति और 1978 में विशेष अदालत विधेयक पर माँगी गयी सम्मति अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार मुकदमेबाजी को रोकने और उसे काफी सीमा तक कम करने में सहायक होता है।[1] लेकिन सयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया के सर्वोच्च न्यायालयो द्वारा सलाहकारी भूमिका अदा करना पसन्द नही किया गया है। **इस सम्बन्ध में भारत की व्यवस्था ब्रिटेन, कनाडा और वर्मा के अनुरूप है।**

सर्वोच्च न्यायालय के उपर्युक्त क्षेत्राधिकार के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निम्नलिखित अन्य रूपो मे कार्य किया जाता है

(4) **अभिलेख न्यायालय** (Court of Record)—अनुच्छेद 129 सर्वोच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय का स्थान प्रदान करता है। अभिलेख न्यायालय के दो आशय है.

(i) इस न्यायालय के अभिलेख सब जगह साक्षी के रूप मे स्वीकार किये जायेगे और उन्हे किसी भी न्यायालय मे प्रस्तुत किये जाने पर उनकी प्रामाणिकता के विषय मे किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता।

(ii) इस न्यायालय के द्वारा 'न्यायालय अवमान' (Contempt of Court) के लिए दण्ड दिया जा सकता है वैसे तो यह बात प्रथम स्थिति मे स्वत ही मान्य हो जाती है, लेकिन भारतीय सविधान मे सर्वोच्च न्यायालय को उसका अवमान करने वालो को यह दण्ड देने की व्यवस्था विशिष्ट रूप से कर दी गयी है। डॉ अम्बेडकर के शब्दो मे, **"अभिलेख न्यायालय वह न्यायालय होता है, जिसके अभिलेखो का साक्ष्य की दृष्टि से मूल्य हो और जब उन्हे किसी न्यायालय मे पेश किया जाय, तो उन पर कोई सन्देह या ऐतराज न किया जा सके। सच तो यह है कि अवमान के लिए दण्ड दे सकने की शक्ति तो इस स्थिति का एक आवश्यक परिणाम है।"**

---

[1] M V Pylee · *Constitutional Government in India*, p 439

(5) **मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक** (Guardian of Fundamental Rights)— भारत का सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक है। अनुच्छेद 32(1) सर्वोच्च न्यायालय को विशेष रूप से उत्तरदायी ठहराता है कि वह "**मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए समुचित कार्यवाही करे।**" न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए **बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध अधिकारपृच्छा और उत्प्रेषण** के लेख जारी कर सकता है। किसी व्यक्ति के अधिकारों पर आक्रमण होने पर वह सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के अब तक के कार्य के आधार पर निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा के प्रति सदा सजग रहा है तथा इस कार्य में यह सफल भी रहा है।

मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय दिये हैं। **'रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य'** विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 32 इन्हें मौलिक अधिकारों के संरक्षक की स्थिति प्रदान करता है। **'गोपालन बनाम मद्रास राज्य'** विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने 'निवारण निरोध अधिनियम के खण्ड 14' को अवैध माना और **'ब्रजभूषण बनाम दिल्ली राज्य'** के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने प्रेस की स्वतन्त्रता का समर्थन किया और कहा कि सामान्य शान्तिकालीन स्थिति में प्रेस को नियन्त्रित करना अनुचित है। इस श्रेणी के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण निर्णय हैं **'बम्बई राज्य** बनाम **बम्बई शिक्षा समाज'**, **'रशीद अहमद** बनाम **केन्द्रीय सरकार'**, **'शिब्बन लाल** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य'**; 'गोलकनाथ बनाम **पंजाब राज्य'** के विवाद में तो सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों को सीमित या संशोधित नहीं किया जा सकता। चौदह बैंकों के राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी कानून को भी सर्वोच्च न्यायालय ने इस आधार पर अवैध घोषित किया कि इससे सम्पत्ति के मौलिक अधिकार का हनन होता था। **'केशवानन्द भारती** बनाम **केरल राज्य'** के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 31(सी) के दूसरे खण्ड को अवैध घोषित कर दिया क्योंकि इससे मौलिक अधिकारों पर आघात पहुँचता था। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने इसी निर्णय को दोहराते हुए **'मिनर्वा मिल्स तथा अन्य** बनाम **भारत सरकार'** के विवाद में 9 मई, 1980 को निर्णय देते हुए 42वें संवैधानिक संशोधन की धारा 4 और 55 को अवैध घोषित किया गया। 'केशवानन्द भारती' और 'मिनर्वा मिल्स', दोनों ही विवादों में निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने इस स्थिति को अपनाया कि निर्देशक तत्त्वों को मौलिक अधिकारों पर वरीयता की स्थिति प्रदान नहीं की जा सकती और मौलिक अधिकार से सम्बन्धित प्रावधानों में ऐसा कोई संशोधन नहीं किया जा सकता, जिससे संविधान का मूल ढाँचा प्रभावित होता हो।

इस सबके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति या संविधान के संरक्षण की शक्ति प्राप्त है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता (Independence of Judiciary)

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था का आधार स्तम्भ है। इसमें तीन आवश्यक शर्तें निहित हैं—**प्रथम**, न्यायपालिका को सरकार के अन्य विभागों के हस्तक्षेप से उन्मुक्त होना चाहिए। **द्वितीय**, न्यायपालिका के निर्णय व आदेश कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के हस्तक्षेप से मुक्त होना चाहिए। **तृतीय**, न्यायाधीशों को भय या पक्षपात के बिना न्याय करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

एक स्वतन्त्र न्यायपालिका ही निष्पक्ष न्याय प्रदान कर सकती है। अतः भारतीय संविधान द्वारा न्यायपालिका को स्वतन्त्र रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया है। न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाये रखने के लिए संविधान में अग्रलिखित व्यवस्थाएँ हैं :

(1) **न्यायाधीशों की नियुक्ति (Appointment of Judges)**—संविधान के द्वारा सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को सौंपा गया है जो आवश्यकतानुसार मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों से परामर्श भी लेता है।

(2) **लम्बी कार्यावधि और कार्यावधि की सुरक्षा (Long-term and Security of Tenure)**—भारत में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर आसीन रहते हैं। उन्हें साधारणतया पदच्युत नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को केवल सिद्ध कदाचार अथवा अक्षमता के आधार पर हटा सकता है। लेकिन वह ऐसा तभी कर सकता है जब इस हेतु संसद के प्रत्येक सदन की समस्त संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों में से कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत के द्वारा समर्थित प्रस्ताव उसके समक्ष रखा जाय। पदच्युति की इस प्रक्रिया को व्यवहार में लानाया जाना अत्यधिक कठिन होता है।

(3) **कार्यप्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने की शक्ति (Powers to Make Rules to Regulate their Procedure)**—सर्वोच्च न्यायालय को अपनी कार्यप्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने का अधिकार है। लेकिन नियम संसद द्वारा निर्मित विधि के अन्तर्गत होंगे तथा उन पर राष्ट्रपति का अनुमोदन आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त, इसके निर्णय या आदेश भारत राज्य क्षेत्र के भीतर सभी न्यायाधीशों को मान्य होंगे।

(4) **कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण (Control over Personnel)**—न्यायालय को कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण के अभाव में उनकी स्वतन्त्रता को आघात पहुँच सकता है। अतः सर्वोच्च न्यायालय को अपने कर्मचारी वर्ग पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है। न्यायालय के सभी अधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों द्वारा की जाती है। सेवा शर्तें भी न्यायालय द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं।

(5) **उन्मुक्तियाँ (Immunities)**—सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय तथा कार्य आलोचना से परे हैं। संसद भी न्यायाधीशों के किन्हीं भी ऐसे कार्यों पर, जिसे कर्त्तव्य पालन करते हुए किया है, विचार-विमर्श नहीं कर सकती।

(6) **अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत करने पर प्रतिबन्ध (Prohibition of Practice after Retirement)**—संविधान एक अवकाश प्राप्त न्यायाधीश को भारतीय क्षेत्र में किसी न्यायालय या अधिकारी के समक्ष वकालत करने से मना करता है। लेकिन संविधान विशेष प्रकार के कार्य के सम्पादन के लिए उनकी नियुक्ति की अनुमति देता है। उदाहरणार्थ, विशेष जाँच-पड़ताल तथा अन्वेषण करना।

वर्तमान समय में मुख्य न्यायाधीश को 10,000 रुपये मासिक व अन्य न्यायाधीशों को 9,000 रुपये मासिक वेतन मिलता है एवं उन्हें अन्य भत्ते और सुविधाएँ भी प्रदान की जाती हैं। संविधान में यह भी उपबन्धित है कि वित्तीय आपात को छोड़कर अन्य किसी भी स्थिति में न्यायाधीशों के वेतन और भत्तों में कमी नहीं की जायेगी। सर्वोच्च न्यायालय को संसद के नियन्त्रण से स्वतन्त्र रखने के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि सर्वोच्च न्यायालय के सभी व्यय 'भारत की संचित निधि' पर भारित होंगे।

1973 और 1977 में जिस प्रकार क्रमश श्री ए. एन. रे तथा श्री एम. एच. बेग को मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्त किया गया, वह सर्वोच्च न्यायालय और समस्त न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को आघात पहुँचाने वाला था। लेकिन 1978 से इस सम्बन्ध में पुनः वरिष्ठता के सिद्धान्त को अपना लिया गया है और आशा की जा सकती है कि आगे भी इस सिद्धान्त का पालन किया जायेगा। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए ऐसा किया जाना आवश्यक है।

संविधान के प्रावधानो से स्पष्ट है कि न्यायपालिका को स्वतन्त्र और निष्पक्ष बनाने के प्रयास किये गये हे किन्तु **व्यवहार** मे ऐसा लगता है कि संवैधानिक प्रावधानो मे कई कमियाँ है तथा सत्ताधारी दल के नेताओं ने संविधान के पवित्र उपबन्धो के साथ खिलवाड किया है और उस ओर बढ़ने की चेष्टा की है जिसे *'प्रतिबद्ध न्यायपालिका* (Committed Judiciary) कहा जाता है। इस दिशा मे निम्न तर्क दिये जा सकते है

(1) **नियुक्ति की प्रक्रिया**—न्यायाधीश की नियुक्ति या मनोनयन वस्तुत. एक राजनीतिक मामला है। केन्द्रीय गृह एवं कानून मन्त्री का निर्णय ही अन्तिम होता है क्योकि वे प्रधानमन्त्री के विश्वस्त सलाहकार होते है जिनका निर्णायक मत होता है।

(2) संविधान मे ऐसी कोई व्यवस्था नही है जिससे किसी न्यायाधीश को अवकाश ग्रहण करने के बाद राज्यपाल या राजदूत जैसे बड़े पद लेने से वर्जित किया जा सके।

(3) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का प्रतिमान कार्यपालिका के जिद्दी आचरण से खंडित होता है। कभी-कभी कार्यपालिका अपने विवेक के नाम पर न्यायाधीशो के निर्णय पलटने का प्रयास करती है या संवैधानिक संशोधन का नया कानून लाकर न्यायालय को उस न्यायिक अधिकार से वंचित करने की कोशिश करती है। केन्द्रीय या राज्य विधान सभाओ द्वारा निर्मित कानूनों को संविधान की अनुसूची IX मे रखने का विचित्र उपाय सर्वोच्च व उच्च न्यायालयो को एक चेतावनी देने की तरह है कि वे हस्तक्षेप करने का साहस न करे।

(4) कतिपय राजनीतिज्ञो ने संसद के बाहर और भीतर न्यायाधीशो के आचरण की आलोचना की है, उससे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर बुरा प्रभाव पडा है। यह संवैधानिक प्रावधानो का स्पष्ट उल्लंघन भी है क्योकि न्यायाधीशो का आचरण सदन मे स्पष्ट विशेष प्रस्ताव रखे बिना चर्चित नही किया जा सकता।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता व निष्पक्षता को प्रशासकीय हस्तक्षेप से बचाने हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं·

1. न्यायाधीशो की नियुक्ति देश के विख्यात न्यायविदो तथा कानून वेत्ताओ द्वारा निर्मित सूची मे से होनी चाहिए।

2 सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयो मे सेवानिवृत्ति आयु 70 वर्ष होनी चाहिए।

3. सेवानिवृत्ति के बाद अन्य कोई नियुक्ति स्वीकार करने पर प्रतिबन्ध का प्रावधान होना चाहिए।

4. न्यायाधीशों को जन सम्पर्क से बचना चाहिए। उन्हे ऐसा आचरण करना चाहिए कि कोई उनकी अस्मिता पर सन्देह न कर सके।

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन या संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय (Judicial Review in India or Supreme Court as Guardian of the Consititution)

न्यायिक पुनर्विलोकन से अभिप्राय है—न्यायालय द्वारा कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के कार्यों की वैधता की जाँच करना अर्थात् न्यायालय द्वारा कानूनो तथा प्रशासकीय नीतियो की संवैधानिकता की जाँच तथा ऐसे कानूनो एवं नीतियो को असंवैधानिक घोषित करना जो संविधान के किसी अनुच्छेद पर *अतिक्रमण* करती है।[1] **कारविन** के शब्दो मे, "न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review) का अर्थ न्यायालयो की उस शक्ति से है, जो उन्हे अपने न्याय-क्षेत्र के अन्तर्गत लागू होने वाले व्यवस्थापिका के कानूनो की वैधानिकता का निर्णय देने के सम्बन्ध मे तथा

---

1 Kuldip Nayar : Why Judicial Review ? *The Indian Express*, 2 April, p. 4.

कानूनों को लागू करने के सम्बन्ध में प्राप्त है, जिन्हें वे अवैध और व्यर्थ समझे ।"[1] न्यायमूर्ति मार्शल ने सन् 1803 में **मार्बरी** बनाम **मेडीसन** के मामले में 'ज्यूडिशियल रिव्यू' की व्याख्या करते हुए कहा था कि न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालयों द्वारा अपने समक्ष पेश विधायी कानूनों तथा कार्यपालिका अथवा प्रशासकीय कार्यों का वह निरीक्षण है जिसके द्वारा वह निर्णय करता है कि क्या यह एक लिखित संविधान द्वारा निषिद्ध किये गये हैं अथवा उन्होंने अपनी शक्तियों से बढ़कर कार्य किया है या नहीं ? वस्तुत यह निर्णय करना कार्यपालिका का कार्य है कि कानून असंवैधानिक है या नहीं । सर्वोच्च न्यायालय के इसी अधिकार को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार कहा गया है । सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति और शक्ति का मूल्यांकन न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के परिप्रेक्ष्य में आसानी से किया जा सकता है ।

न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त का इतिहास लगभग 187 वर्ष पुराना है । इस सिद्धान्त का उद्भव संयुक्त राज्य अमरीका की शासन-प्रणाली में सर्वप्रथम दिखलायी पड़ता है । कालान्तर में भारत, जापान आदि देशों की शासन-प्रणालियों में भी आंशिक रूप से इस सिद्धान्त का प्रस्फुटन हुआ । प्राय अधिकांश शासन-व्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय को पुनर्निरीक्षण की शक्ति संविधानप्रदत्त नहीं है, अपितु अनौपचारिक रूप से ही न्यायालयों ने इसे हस्तगत किया है । धीरे-धीरे न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अधिकार एक महती परिपाटी बन गया और संवैधानिक विकास के विभिन्न आयामों में गरिमामय स्थान का परिचायक बन गया है ।

भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्निरीक्षण के सिद्धान्त का उल्लेख संविधान के उपबन्धों में कहीं नहीं मिलता है । फिर भी न्यायिक निरीक्षण के सिद्धान्त के आधारभूत तत्त्वों की मौजूदा स्थिति के कारण इस सिद्धान्त का स्वत विकास हुआ । साधारणतया न्यायिक निरीक्षण की तीन अपरिहार्य शर्तें हैं—(1) लिखित तथा कठोर संविधान, (2) केन्द्र एवं राज्यों के मध्य शक्ति विभाजन, तथा (3) मौलिक अधिकारों की व्यवस्था । भारतीय शासन विधान इन सभी शर्तों को पूरा करता है, अत स्पष्ट संवैधानिक उपबन्धों के अभाव में भी न्यायिक निरीक्षण के सिद्धान्त का चयन हुआ और अनेक निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने इसका प्रयोग किया है और कार्यपालिका तथा संसद के इन कार्यों तथा विधियों को असंवैधानिक घोषित किया जो संविधान के प्रावधानों के विरुद्ध थे ।[2]

भारतीय संविधान के अनेक प्रावधानों में न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार का सुदृढ आधार उपबन्ध है जिससे परोक्ष रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संविधान-निर्माता सर्वोच्च न्यायालय को ऐसा अधिकार सौंपने के इच्छुक रहे हैं ।

सर्वप्रथम, अनुच्छेद 13 में यह प्रावधान किया गया है कि यदि किसी कानून द्वारा राज्य मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है तो उस कानून को अवैध घोषित किया जा सकता है । संविधान के अनुच्छेद 32 द्वारा अपने मूल अधिकारों का उल्लंघन होने पर कोई भी नागरिक संवैधानिक उपचार प्राप्त करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है । इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों के संरक्षण के लिए कार्यपालिका और संसद के द्वारा निर्मित कानूनों का पुनर्विलोकन कर सकता है ।

द्वितीय, संविधान के अनुच्छेद 246 के अन्तर्गत संघ और राज्यों की विधायी सीमा का उल्लेख किया गया है । सर्वोच्च न्यायालय ऐसे किसी भी कानून को अवैध घोषित कर सकता है

1 Corvin E S *Essay on Judicial Review*, *Encyclopaedia of Social Science*, Vol VII, p. 457.

2 Justice Mukherjee *Supreme Court Journal*, 1951, p. 579

जिससे संघ अथवा राज्यों ने अपने क्षेत्राधिकार को तोड़ा हो। इसका अभिप्राय यह है कि यदि संघ-सूची के विषयों पर कोई राज्य कानून बनाता है तो वह कार्य संविधान के प्रतिकूल होगा और सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैधानिक घोषित करेगा। संविधान के अनुच्छेद 254 में यह प्रावधान किया गया है कि समवर्ती-सूची के किसी विषय पर यदि किसी राज्य विधानसभा द्वारा निर्मित कानून संघ संसद द्वारा निर्मित किसी कानून से संघर्ष में है तो राज्य का कानून अवैध माना जायेगा।

तृतीय, संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में संशोधन का अधिकार एकमात्र केन्द्रीय संसद को ही प्रदान नहीं किया गया है अपितु उसमें राज्य-विधानसभाओं की भी निश्चित भूमिका का उल्लेख है। यदि कोई संशोधन विधान की प्रक्रिया के अनुसार नहीं होता तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है।

चतुर्थ संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार ऐसे मामलों में जहाँ संविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित है, सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। अतः यह स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय को संवैधानिक मामलों पर निर्णय देने का अन्तिम अधिकार है।

न्यायमूर्ति मुखर्जी के अनुसार 'भारत ने संसदीय सम्प्रभुता के बजाय संवैधानिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को मान्यता दी गयी है। इस दृष्टि से भारत का संविधान अंग्रेजी संविधान के बजाय अमरीकी संविधान से मिलता-जुलता है। शासन के समस्त उपकरण संविधान के अधीन हैं और न्यायालय को उनके कार्यों की वैधता की जाँच करने की शक्ति प्राप्त है।"[1] **डी डी बसु** के अनुसार, "यह अधिकार सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से हमारे संविधान का आधारभूत सिद्धान्त है। यह सर्वोच्च न्यायालय द्वारा गोपालन के प्रकरण में स्वीकृत किया गया है।"[2]

भारत में सर्वोच्च न्यायालय ने पिछले कई वर्षों में कई अभियोगों के सिलसिले में कुछ ऐसे फैसले दिये हैं, जिनमें न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है। **'गोपालन** वनाम **मद्रास राज्य'** के मुकदमे में 'निवारक निरोध अधिनियम' के 14वें खण्ड को असंवैधानिक घोषित किया गया। **'स्वर्ण नियन्त्रण अधिनियम'** के कतिपय अंशों को सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के प्रतिकूल घोषित किया। **'इब्राहीम बजीर** वनाम **बम्बई राज्य'** के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने पाकिस्तानी शरणार्थियों के आगमन पर नियन्त्रण लगाने के लिए 1949 में जो कानून बनाया था उसके खण्ड 7 को इसलिए अवैध घोषित कर दिया क्योंकि यह भारत के किसी भी भाग में निवास के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाता था। **'गोलकनाथ** वनाम **पंजाब राज्य'** के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पूर्व-निर्णयों को बदल डाला तथा मूल अधिकारों को अक्षुण्ण घोषित किया। **'बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम'** को सर्वोच्च न्यायालय ने इसलिए अवैध घोषित कर दिया कि उसमें निहित क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त अप्रासंगिक है। राजाओं के प्रिवीपर्स तथा विशेषाधिकारों को राष्ट्रपति के अध्यादेश द्वारा समाप्ति को भी सर्वोच्च न्यायालय ने अवैध करार दिया। अप्रैल 1973 में शासन की **अखबारी कागज सम्बन्धी नीति** के सिलसिले में समाचारपत्रों के लिए दस पृष्ठों की सीमा बाँधने की नीति को न्यायालय ने अवैध घोषित किया। इससे पूर्व 'बम्बई पुलिस कानून' को सर्वोच्च न्यायालय ने अवैध घोषित किया। इसी प्रकार **केशवानन्द भारती की याचिका** पर विचार करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने 22 अप्रैल, 1973 को 25वें संविधान संशोधक अधिनियम की धारा 3 का दूसरा खण्ड अर्थात् संविधान के अनुच्छेद 21(स) को अवैध घोषित किया। सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी विचार प्रकट किया कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन कर सकती है परन्तु यदि किसी संशोधन से संविधान का बुनियादी ढाँचा प्रभावित होता है तो

1 Justice Mukherjee. *Ibid*, p 262.
2 D. D Basu *Commentary on the Constitution of India*, Vol I, 1965, p. 157.

सर्वोच्च न्यायालय ऐसे संशोधन को असंवैधानिक घोषित कर सकता है। इस प्रकार भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का स्पष्ट चलन हो गया है।

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन—प्रकृति और सीमाएँ

(JUDICIAL REVIEW IN INDIA—NATURE AND LIMITATIONS)

यद्यपि भारतीय संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान की गयी है, फिर भी भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं है, जितना कि वह संयुक्त राज्य अमरीका में है। वस्तुतः ऐसे कुछ कारण हैं, जिन्होंने भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था को संयुक्त राज्य अमरीका की तुलना में सीमित कर दिया है। **सर्वप्रथम,** अमरीकी संविधान अत्यधिक संक्षिप्त है और संविधान की इस संक्षिप्तता के कारण संघीय शासन और इकाइयों के बीच विभिन्न प्रकार के विवाद उत्पन्न होते रहते हैं और इसके परिणामस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र इस बात के कारण अपेक्षाकृत सीमित है कि भारत के संविधान में संघ और राज्यों के मध्य कानून निर्माण की शक्तियों का विभाजन पर्याप्त विस्तार के साथ कर दिया गया। संघ और राज्यों के मध्य संघर्ष की स्थिति को कम-से-कम करने के लिए एक समवर्ती सूची की भी व्यवस्था की गयी है, जिसके सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति केन्द्र को प्राप्त है। इन विस्तृत उपबन्धों के कारण मुकदमेबाजी और दूसरे शब्दों में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र सीमित हो गया है।

द्वितीय, अमरीका का अधिकार-पत्र निरपेक्ष (Absolute) शब्दावली में लिखा गया है, लेकिन मानवीय अधिकारों की प्रकृति ही ऐसी है कि वे निरपेक्ष नहीं हो सकते। अतः इन अधिकारों के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए **'पुलिस शक्ति'** (Police Power) और **'सामान्य कल्याण'** (General Welfare) जैसे शब्दों का आश्रय लिया गया। कार्यपालिका 'पुलिस शक्ति' और 'सामान्य कल्याण' के आधार पर अधिकारों की सीमा निश्चित करती है और सर्वोच्च-न्यायालय इस बात की जाँच करता है कि कार्यपालिका ने अपनी शक्ति का प्रयोग उचित रूप में किया है अथवा नहीं। इस प्रकार अमरीकी संविधान के 'पुलिस शक्ति' और 'सामान्य कल्याण' जैसे शब्दों ने सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बहुत व्यापक कर दिया है, लेकिन भारतीय संविधान-निर्माता भारत में ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होने देना चाहते थे। इसलिए भारत में प्रत्येक मौलिक अधिकार के साथ-साथ उनकी सीमाएँ भी संविधान ने ही निश्चित कर दी गयी हैं और इससे न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र सीमित हो गया है।

उपर्युक्त कारण अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और इस सम्बन्ध में **सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर इन दोनों देशों की संवैधानिक व्यवस्थाओं में ही निहित है।** अमरीकी संविधान में **'कानून की उचित प्रक्रिया'** (Due Process of Law) शब्दावली को अपनाया गया है लेकिन भारतीय संविधान में अमरीकी संविधान की शब्दावली के स्थान पर जापानी संविधान की शब्दावली **'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया'** (Procedure Established by Law) को अपनाया गया है। संविधान में की गयी इस व्यवस्था के आधार पर अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून की वैधानिकता की जाँच दो बातों के आधार पर कर सकता है. (i) संघ या राज्य, जिसके भी विधानमण्डल ने उस कानून को बनाया है, उसके द्वारा इसका निर्माण उसकी कानून निर्माण की क्षमता के अन्तर्गत था भी या नहीं। (ii) वह 'कानून की उचित प्रक्रिया' की शर्तों को पूरा करता है अथवा नहीं। इस प्रकार यदि विधानमण्डल द्वारा बनाया गया कोई कानून पूर्णतया उसकी शक्तियों के अन्तर्गत हो, तो भी यदि वह कानून की उचित प्रक्रिया के अर्थात् प्राकृतिक न्याय के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों के विरुद्ध हो, तो उसे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा असंवैधानिक घोषित किया

जा सकता है। लेकिन भारतीय संविधान में 'कानून की उचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) की शब्दावली के स्थान पर 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure Established by Law) की जापानी शब्दावली को अपनाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय संघीय या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित किसी कानून को अवैधानिक तभी घोषित कर सकता है, जबकि सम्बन्धित विधानमण्डल ने इस कानून का निर्माण करने में अपनी कानून निर्माण की क्षमता का उल्लंघन किया हो। महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय यह निश्चित करने में कि अमुक कानून संवैधानिक है या नहीं प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों को या उचित-अनुचित की अपनी धारणाओं को लागू नहीं कर सकता। यदि हमारे संघ राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाया गया कोई कानून ऐसा है, जिसका निर्माण करने में वह सक्षम है, तो उसकी संवैधानिकता को चुनौती देना भारत के सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र के बाहर की बात है। श्री एलेक्जेण्ड्रोविच के शब्दों में, **"भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की कल्पना एक अतिरिक्त विधान निर्माता के रूप में नहीं की गयी अपितु एक ऐसे निकाय के रूप में की गयी है जिसे अभिव्यक्त कानून को लागू करना है।"**

भारत में सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति और न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रकृति के सम्बन्ध में **दुर्गादास बसु** लिखते हैं, "न्यायिक सर्वोच्चता के स्थान पर हमारे संविधान में संवैधानिक सीमाओं के अन्तर्गत विधायी सर्वोच्चता को स्वीकार किया गया है। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय ऐसे नियम को रद्द कर देगा, जो संवैधानिक सीमाओं के प्रतिकूल है लेकिन इसके द्वारा प्राकृतिक न्याय की धारणा या संविधान के आदर्शों के आधार पर व्यवस्थापिका द्वारा पारित अधिनियमों को रद्द या संशोधित नहीं किया जा सकता। भारत में न्यायपालिका की स्थिति इंग्लैण्ड और अमरीका के बीच में ही है।"[1]

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की जो सीमाएँ हैं, उनका उल्लेख **सीरवाई** के द्वारा अधिक अच्छे प्रकार से किया गया है "भारत में किसी कानून को केवल इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता कि वह न्यायालय की सम्मति में स्वतन्त्रता या संविधान की भावना के किसी सिद्धान्त का अतिक्रमण करता है, जब तक कि वे सिद्धान्त संविधान में समाविष्ट न हों। **किसी संविधि की संवैधानिकता पर निर्णय देते हुए न्यायालय को कानून की बुद्धिमता या बुद्धिहीनता, उसके न्याय या अन्याय से कोई सम्बन्ध नहीं है।**"[2]

अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय उसकी कानून की उचित प्रक्रिया वाली धारा के आधार पर लगभग 'एक **तीसरा सदन या उच्च विधानमण्डल**' (Super Legislature) बन गया है और न्यायाधीश ह्यूज (Hughes) ठीक ही कहते हैं कि **'हम एक संविधान के अन्तर्गत तो रहते हैं लेकिन संविधान वैसा ही है, जैसे कि सर्वोच्च न्यायालय कहता है।'**' लेकिन हमारे देश में सर्वोच्च न्यायालय को निश्चित रूप से ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं है। अमरीका में जहाँ न्यायिक सर्वोच्चता को अपनाया गया है, भारत में न्यायिक सर्वोच्चता और विधायी सर्वोच्चता के बीच समन्वय स्थापित किया गया है।

न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना
(CRITICISM OF THE JUDICIAL REVIEW)

यदि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के प्रयोग का अध्ययन किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यतया सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी शक्ति का प्रयोग विवेकपूर्वक ही किया है, लेकिन अभी हाल ही के वर्षों में, विशेषतया 1967 में गोलकनाथ विवाद

---

1 D. D. Basu. *Commentary on the Indian Constitution*, pp 404-405,
2 H. M. Seervai. *Constitutional Law of India*, p. 56,

गे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किये गये निर्णय से लेकर 1973 तक के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों मे ऐसी कुछ प्रवृत्तियाँ देखी गयी है, जिन्होंने इसे आलोचना का पात्र बना दिया है। इस ... की आलोचना के प्रमुख आधार इस प्रकार है

(1) **अनुदारवादी शक्ति के रूप में कार्य** (It Acts as Conservative Force)—इसम सन्देह नही कि सर्वोच्च न्यायालय ने अब तक व्यक्ति स्वतन्त्रता और नागरिक अधिकारो के ... के रूप मे कार्य किया है, लेकिन यह भी तथ्य है कि सम्पत्ति सम्बन्धी प्रश्नो पर इसने एक अनुदारवादी न्यायालय और शक्ति के रूप मे कार्य किया।[1] 1950-51 मे इसने जमींदारी और जागीरदारी उन्मूलन के अन्तर्गत पारित कुछ भूमि सुधार कानूनों को अवैध घोषित किया, 1953 मे ... **स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी**' के शासन द्वारा अधिग्रहण को अवैध ठहराया और ' ... वनाम **केरल राज्य**' मे केरल कृषि सम्बन्धी अधिनियम को अवैध घोषित किया। सर्वोच्च न्यायाल ने अपनी अनुदारवादिता का सर्वाधिक परिचय 1967 के '**गोलकनाथ विवाद**' मे 6-5 के वहुमत यह निर्णय देकर दिया कि '**संसद ऐसा कोई अधिनियम पारित नहीं कर सकती, जो** ... **अधिकारों को छीनता या सीमित करता हो।**" कुछ विधि-विशेषज्ञों और सन्तुलित दृष्टिकोण रखने वाले संसद सदस्यों द्वारा भी सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय की आलोचना की गयी। भूतपूर्व महान्यायवादी **एम सी सीतलवाड** द्वारा इसे 'राजनीतिक निर्णय' की संज्ञा दी गयी और संसद सदस्य **सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी** ने लिखा कि "इस देश मे प्राधिकार का संघर्ष उस समय छिड़ा गोलकनाथ विवाद मे सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि संसद को संविधान के मौलिक अधिकार सम्बन्धी अध्याय मे संशोधन करने का अधिकार नही है। इस निर्णय से ऐसा लगने लगा कि ... देश मे न्यायालय, अधिकांशतया किसी विशेष वर्ग के हितो का प्रतिनिधित्व करते है। कानून ... व्याख्या करते हुए न्यायालय पूरी तरह से उस सामाजिक उद्देश्य की उपेक्षा नही कर सकते हैं जि संविधान ने सामने रखा है।"[2] इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने बैंको के राष्ट्रीयकरण और प्रिवीप के अन्त सम्बन्धी आदेशो को अवैध घोषित किया। सर्वोच्च न्यायालय के इन निर्णयो पर टिप्प करते हुए **मोहनकुमार मंगलम्** ने लिखा था कि ' इन तीनों ही निर्णयों से सरकार की समा वादी नीतियो से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण व्यवस्थापन वाजी पर लग गये थे। गोलकनाथ मामले मे कृषि से सम्बन्धित सुधारो के कानूनों की वैधता संदिग्ध थी। बैंक राष्ट्रीयकरण का मामला हमारे देश की वित्तीय व्यवस्था को पुनर्गठित करने मे सम्बन्धित था ताकि देश के चन्द लोगों ... उस पर नियन्त्रण हटे और वह सरकारी नियन्त्रण तथा नेतृत्व मे आये। राजाओं को अमान्य घोषि करना प्राचीन साम्राज्यवादी एवं सामन्ती व्यवस्था के पुनरावशेषो पर अन्तिम प्रहार था। य समाजवाद के पक्ष मे एक महान कदम था।"[3]

एक जनकल्याणकारी राज्य मे न्यायपालिका से यह आशा की जाती है कि वह राज्य जनकल्याण की दिशा मे आगे बढाने मे सहायक होगी लेकिन भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने ... कुछ निर्णयो के आधार पर इस लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायक बनने के बजाय बाधक होने का कार्य किया है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रदर्शित इस अनुदारवादिता के कारण ही समय-सम

1 "It has worked as a conservative court, when questions of property came before it ... decision." —T. K. Tope, *The Constitution of India* (1971), p. 36

2 द्विवेदी, सुरेन्द्रनाथ **संसद** वनाम **कार्यपालिका और न्यायपालिका**—शकधर (सं पादित, **संविधान और संसद**, 1976, पृ 234।

3 S. Mohankumar Mangalam *Judicial Appointments*, Oxford, 1973, p. 25.

पर सर्वोच्च न्यायालय को पुनर्गठित करने और इसके अधिकारों को सीमित करने की मांग की जाती रही है।

(2) **सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने पूर्व निर्णयों में परिवर्तन** (Supreme Court changes its Previous Decisions)—सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रयोग पर एक प्रमुख आपत्ति यह की जाती है कि सर्वोच्च न्यायालय अपने पूर्व निर्णयों में अनवरत परिवर्तन करता रहा है, जिसके परिणामस्वरूप संवैधानिक कानून की समस्त आस्थाओं के प्रति भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों को वैधानिक दृष्टि से यह अधिकार प्राप्त है कि वे अपने पूर्व निर्णयों पर पुनर्विचार कर उनमें परिवर्तन कर सकें और **न्यायमूर्ति हेगड़े** इसे **'न्यायिक पुनर्विलोकन का अनिवार्य अंग मानते हैं'**[1] लेकिन 1967-73 के काल में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णयों को जिस प्रकार से परिवर्तित किया है, उसे उचित नहीं कहा जा सकता है।

मोहनकुमार मंगलम् ने अपनी पुस्तक में इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से तीन उदाहरण दिये हैं।[2]

प्रथम, 1952 में शंकरी प्रसाद और 1965 में सज्जनसिंह के मामले में, प्रथम में सर्वसम्मति और द्वितीय में बहुमत निर्णय से, सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात को स्वीकार किया कि संसद मूल अधिकारों सहित संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती है यदि इस सम्बन्ध में निर्धारित प्रक्रिया का पालन किया जाय, लेकिन 1967 के 'गोलकनाथ विवाद' में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि "संसद को संविधान के भाग 3 के किसी उपबन्ध को इस तरह से संशोधित करने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा, जिससे कि मौलिक अधिकार छिन जायें या सीमित हो जायें।"

द्वितीय, 1969 के **गुजरात राज्य** बनाम **शान्तिलाल मंगलदास**' के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि संविधान के चतुर्थ संशोधन के बाद क्षतिपूर्ति की पर्याप्तता या अपर्याप्तता पर विचार करना न्यायालय के क्षेत्राधिकार के बाहर है, लेकिन जब 1969 में ही **'बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम'** को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी, तो सर्वोच्च न्यायालय ने इसे इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया कि इसमें निहित क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त अप्रासंगिक हैं।

तृतीय, 1965 के **'उस्मान अली खान बनाम सागरमल'** के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने सर्वसम्मति में निर्णय दिया कि देशी रियासतों के भारतीय संघ में विलय और प्रिवीपर्स आदि से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था राजनीतिक है, न कि वैधानिक और इससे सम्बन्धित दायित्वों को राष्ट्र न्यायालय द्वारा क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। लेकिन 1971 में जब प्रिवीपर्स की समाप्ति और नरेशों की मान्यता वापस लेने से सम्बन्धित आदेशों को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी तो सर्वोच्च न्यायालय ने शासन के आदेश को अवैध घोषित कर दिया।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने निर्णयों में अनवरत परिवर्तन ने कानून की अनिश्चित अवस्था को जन्म दिया है, इससे अधिक हानिप्रद और कुछ नहीं हो सकता कि देश का कानून ही अनिश्चित हो।

(3) **संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण** (Encroachment of Constitutional

---

[1] "Overruling earlier decision is an essential part of Judicial review."
—K. S. Hegde : *Crisis in Indian Judiciary* (1973), p. 47.

[2] S. Mohankumar Mangalam : Judicial [illegible] *Analysis of the Recent Controversy over the Appointment of the Chief Justice* [illegible] 16-25.

Limitations)—सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 1967-71 के काल में जिस प्रकार से न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग किया गया, उससे यह नितान्त स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए भारतीय राज-व्यवस्था में वह भूमिका अदा करने की चेष्टा की जो संविधान-निर्माता उसे नहीं देना चाहते थे। भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन को अपनाते हुए भी इसकी सीमाएँ निर्धारित की गयी हैं और भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन उस विस्तार तक नहीं है, जिस विस्तार तक यह व्यवस्था अमरीका में है। भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमाएँ स्पष्ट करते हुए पं. नेहरू ने संविधान सभा में कहा था :

"इन सीमाओं के भीतर कोई भी न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय अपने आपको विधान-मण्डल का तृतीय सदन नहीं बना सकता है। कोई भी सर्वोच्च न्यायालय या न्यायपालिका सम्पूर्ण जनता की प्रतिनिधि संसद की इच्छाओं का विरोध नहीं कर सकती। यदि हम यहाँ-वहाँ कोई त्रुटि करते हैं, तो वह हमें हमारी त्रुटि बता सकती है। लेकिन अन्तिम रूप में, जहाँ तक समुदाय के भविष्य का सम्बन्ध है, कोई न्यायपालिका इसमें बाधक नहीं हो सकती।"[1]

न्यायालय भी सामान्यतया अपनी इन सीमाओं को स्वीकार करता रहा है। स्वयं न्यायमूर्ति एस. आर. दास के शब्दों में, **"न्यायालय संविधान का विश्लेषण एवं व्याख्या कर सकता है तथा उसके वास्तविक अर्थ का पता लगा सकता है, परन्तु एक बार इसको सम्पन्न करने के बाद वह अपनी बुद्धिमत्ता या नीति को चुनौती नहीं दे सकता। संविधान सर्वोच्च है। न्यायालय के द्वारा संविधान को उसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए, जैसा कि वह है चाहे वह उसके आदर्श संविधान के पूर्वाग्रहों से भले ही मेल न खाता हो।"**

लेकिन 1967 के गोलकनाथ विवाद और तदुपरान्त दिये गये कुछ निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति पर संविधान द्वारा लगायी गयी सीमाओं का अतिक्रमण किया है।

(4) **सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन अस्थिरता**—न्यायिक पुनर्विलोकन के कारण सदैव ही इस बात का भय रहता है कि संसद द्वारा निर्मित कानून और शासन द्वारा अपनायी गयी नीति न्यायपालिका द्वारा अवैध घोषित की जा सकती है। ऐसी स्थिति में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता का वातावरण बना रहता है जो कि निश्चित रूप में समस्त व्यवस्था के लिए बहुत अधिक हानिकारक है। न्यायिक पुनर्विलोकन के आलोचकों का कथन है कि न्यायपालिका के द्वारा अपने आपको कानूनी प्रश्नों तक सीमित रखा जाना चाहिए। भूतपूर्व केन्द्रीय विधिमन्त्री **गोखले** के अनुसार, "न्यायालय कानूनी मामलों पर ही अपना फैसला दे सकते हैं, राजनीतिक तथा आर्थिक मामलों पर उन्हें निर्णय देने का कोई अधिकार नहीं है। संसद व विधानमण्डल, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का समान रूप से महत्त्व है। न्यायपालिका का महत्त्व कम नहीं है लेकिन आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न न्यायपालिका के क्षेत्र से बाहर हैं।"[2]

(5) **संसद और न्यायपालिका के बीच संघर्ष की स्थिति को जन्म**—न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के कारण जब संसद द्वारा निर्मित कानूनों को न्यायपालिका के द्वारा असंवैधानिक घोषित

---

1 "Within limits no judge and no Supreme Court can make itself a third chamber. No Supreme Court and no Judiciary can stand in judgement over the sovereign will of parliament representing the will of entire community. If we go wrong here and there it can point it out, but in the ultimate analysis, where the future of the community is concerned no Judiciary can come in the way."

—Pt. Nehru *C. A. D.*, Vol IX, p. 1195.

2 *The Times of India*, 1st Sept., 1971.

मौलिक अधिकारो में संशोधन और सर्वोच्च न्यायालय (Amendments in Fundamental Rights and Supreme Court)—पिछले वर्षों से इस बात पर भी वाद-विवाद किया जाता रहा है कि संसद को मौलिक अधिकारों में संशोधन की शक्ति प्राप्त है अथवा नहीं। यह प्रश्न निश्चित रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन से ही सम्बन्धित है। मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में इस प्रकार का समस्त विवाद अनुच्छेद 13 पर केन्द्रित रहा है जिसमें कहा गया है कि '**वे समस्त कानून, जो इस संविधान के प्रभावी होने के पूर्व क्रियाशील थे, उस सीमा तक अवैध होंगे जिस सीमा तक वे संविधान के तीसरे भाग की व्यवस्थाओं के प्रतिकूल हों।"**

"राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बनायेगा जो इस भाग द्वारा दिये गये अधिकारों को छीने या उनमे कटौती करे और कोई भी प्रस्तावित कानून जो इस व्यवस्था के प्रतिकूल हो, अवैध होगा।"

1952 में शंकरीप्रसाद और 1965 में सज्जनसिंह के मामलों में धारा 13 के शब्द 'कानून' की इस प्रकार से व्याख्या की गयी है कि संवैधानिक संशोधन को 13वें अनुच्छेद के शब्द कानून के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता, अतः संसद संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया के आधार पर मौलिक अधिकारों में परिवर्तन कर सकती है। लेकिन गोलकनाथ विवाद' में कानून शब्द के अन्तर्गत संवैधानिक संशोधन' को भी सम्मिलित करते हुए यह निर्णय किया गया कि संसद मौलिक अधिकारों को सीमित नहीं कर सकती।

गोलकनाथ विवाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये इस निर्णय की देश में व्यापक प्रतिक्रिया हुई और यह माँग की गयी कि संसद की प्रभुसत्ता के मामले को सन्देह से ऊपर उठाया जाय। अतः 1971 में संविधान में 24वां संशोधन कर निश्चित किया गया कि संसद को संविधान के किसी भी उपबन्ध को, जिसमें मौलिक अधिकार आते हैं, संशोधित करने का अधिकार होगा। 1973 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा भी अपने निर्णय में इस संवैधानिक संशोधन की वैधता को स्वीकार कर लिया गया।

वस्तुतः **संसद को मौलिक अधिकारो मे संशोधन की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। संसद की इस शक्ति के पक्ष मे निम्न तर्क दिये जा सकते हैं :**

(1) देश की जनता के सर्वोच्च हितों का प्रतिनिधित्व संसद द्वारा ही किया जा सकता है, किसी न्यायालय द्वारा नहीं।

(2) संसद को इस प्रकार की शक्ति से वंचित करना प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के ही प्रति अविश्वास होगा।

(3) यह नितान्त आवश्यक है कि संविधान तथा कानून सामाजिक परिवर्तन और समुदाय की परिवर्तनशील आवश्यकताओं के अनुरूप बदलें, ऐसा न होने पर सामाजिक-आर्थिक प्रगति में रुकावट पहुँचेगी।

(4) स्वयं संविधान में किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में मूल अधिकारों को निलम्बित करने की व्यवस्था है अतः यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ये अधिकार परिवर्तनशील हैं।

(5) यह सुझाव अव्यावहारिक है कि जब मौलिक अधिकारों में संशोधन की आवश्यकता का अनुभव किया जाय, उसी समय संविधान सभा को आहूत किया जाय।

(6) अनुच्छेद 368 (संसद द्वारा संविधान में संशोधन) में निहित शक्ति का स्वरूप प्रभुत्व जैसा है, जिस पर कोई सीमा नहीं लगायी जा सकती है।

(7) यदि संसद को संविधान में संशोधन की शक्ति न दी जाय तो सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के लिए क्रान्ति के मार्ग को अपनाना होगा, जिसे उचित नहीं कहा जा सकता।

वस्तुत, भारतीय संविधान के निर्माताओं ने संसदीय सर्वोच्चता और न्यायिक पुनर्विलोकन के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है और उस समन्वय को बनाये रखा जाना चाहिए। शासन के द्वारा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का सम्मान किया जाना चाहिए और "**स्वयं न्यायाधीशों के द्वारा अपनी शक्तियो के विस्तार को दृष्टि में रखने की अपेक्षा, इन शक्तियों की सीमाओं को दृष्टि में रखा जाना चाहिए।**"[1]

प्रमुख वाद
(LEADING CASES)

1 **शंकरी प्रसाद** बनाम **भारत संघ** (1952)—इस मामले मे संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 की विधिमान्यता को चुनौती दी गयी थी। चुनौती का आधार यह था कि संशोधन संविधान के भाग 3 मे दिये गये मूल अधिकारो का अतिक्रमण करता है जो अनुच्छेद 13(2) द्वारा वर्जित है, अत अवैध है। अनुच्छेद 13 यह उपबन्धित करता है कि राज्य ऐसी कोई विधि नही बनायेगा जो नागरिकों के भाग 3 मे दिये गये अधिकारो को कम करती है या छीनती है। पिटीशनरो ने यह तर्क दिया कि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत पारित 'संवैधानिक संशोधन' भी अनुच्छेद 13 मे प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत विधि है और भाग 3 मे दिये गये अधिकारो के विरुद्ध होने के नाते वह असंवैधानिक है। सर्वोच्च न्यायालय ने पिटीशनरो के तर्क को अस्वीकार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि संविधान के संशोधन की शक्ति, जिनमे मूल अधिकार भी शामिल है, अनुच्छेद 368 मे निहित है। अनुच्छेद 13 मे प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत केवल कानून आते है जो सामान्य विधायी शक्ति के प्रयोग द्वारा निर्मित किये जाते है, न कि संवैधानिक संशोधन जो संवैधानिक शक्ति के प्रयोग द्वारा पारित किये जाते है। अतएव अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत पारित संवैधानिक संशोधन संवैधानिक होगे, भले ही वे मूल अधिकारो के विरुद्ध क्यो न हो।

2 **सज्जनसिंह** बनाम **राजस्थान राज्य** (1965)—इस मामले मे उपर्युक्त प्रश्न सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष पुन विचारार्थ आया। इसमे संविधान के 17वे संशोधन अधिनियम की वैधता को चुनौती दी गयी थी। इस मामले मे सर्वोच्च न्यायालय ने शंकरी प्रसाद के मामले मे दिये हुए अपने निर्णय का अनुमोदन किया। न्यायालय ने यह कहा कि यदि संविधान निर्मातागण मूल अधिकारो को संशोधन से परे रखना चाहते होते तो निश्चित ही उन्होने इसके बारे मे संविधान मे स्पष्ट उपबन्ध का समावेश किया होता।

3. **गोलकनाथ** बनाम **पंजाब राज्य** (1967)—एक व्यक्ति हेनरी गोलकनाथ काफी सम्पत्ति छोडकर 20 जुलाई, 1953 को मर गया। प्रस्तुत वाद मे, याचिकादाता गोलकनाथ के पुत्र, पुत्री तथा पौत्रियाँ थे। जालन्धर क्षेत्र के अतिरिक्त आयुक्त ने गोलकनाथ के पास 418 एकड भूमि को पंजाब सिक्यूरिटी ऑफ लैण्ड टेन्योर्स एक्ट की धारा 10 के प्रावधानो के अन्तर्गत 'अतिरिक्त भूमि' घोषित किया जिसकी पुष्टि वित्त आयुक्त ने अपने आदेश दिनाक 2 जनवरी, 1952 द्वारा की गयी। याचिकादाताओं ने वित्त आयुक्त के निर्णय को संविधान के अनुच्छेद 19(1)(एफ) तथा 14 के विरुद्ध होने के कारण चुनौती दी। इसके अतिरिक्त, संविधान के प्रथम, चतुर्थ एव सत्रहवे संशोधन को भी चुनौती दी गयी जो कि क्रमश 1951, 1955 एव 1964 मे पारित किये गये थे। इसके अतिरिक्त, इसी तरह के कुछ वाद मैसूर लैण्ड रिफोर्म एक्ट, जिसने भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित की थी, के विरुद्ध दायर किये गये कि वह संविधान की मूल भावना अनुच्छेद

---

1 "Judges should be aware to the restraint on their powers rather than the extent of their powers."
—T. K. Tope, *The Constitution of India*, p. 313.

19(1)(एच) एवं 14 के विरुद्ध हैं। पंजाब तथा मैसूर राज्यों ने तर्क दिया कि उक्त अधिनियम संविधान के 17वें संशोधन द्वारा संरक्षित हैं अत: अब अनुच्छेद 31(ए) के संशोधित रूप द्वारा उक्त अधिनियमों को नवीं सूची में शामिल किये जाने से वह वैध कानून है। जबकि प्रार्थीगणों ने अनुच्छेद 32 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय में उक्त अधिनियमों को चुनौती दी।

सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख विचारणीय प्रश्न था कि क्या संसद संविधान के भाग 3 (मौलिक अधिकारों) में संशोधन कर सकती है? क्या अनुच्छेद 368 संसद को ऐसा संशोधन करने का अधिकार देता है?

इस मामले में न्यायालय ने 6/5 के बहुमत से निर्णय दिया। बहुमत निर्णय ने स्थिर किया कि संसद सम्प्रभु नहीं तथा संविधान के मूल अधिकारों वाले भाग में कोई संशोधन नहीं कर सकती। ऐसा अनुच्छेद 13(2) के प्रावधानों के विरुद्ध है। अनुच्छेद 368 द्वारा संसद को ऐसी शक्ति प्राप्त नहीं होती कि वह संविधान में जो चाहे संशोधन कर सके। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पूर्ववर्ती निर्णय शंकरीप्रसाद बनाम भारत संघ (1951) तथा सज्जनसिंह बनाम राजस्थान राज्य (1965) को बदल दिया। उक्त निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय किया था कि संसद द्वारा अनुच्छेद 369 द्वारा किया गया संशोधन अनुच्छेद 13(2) 'क' विधि' शब्द की परिभाषा से अलग है। परन्तु इन वादों में दिये गये निर्णयों को बदलते हुए गोलकनाथ वाद में न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 368 के अनुसार किया गया संशोधन अनुच्छेद 13(2) में वर्णित विधि की परिभाषा के अन्तर्गत आता है, अत. अवैध व असंवैधानिक है। न्यायालय ने कहा कि संसद द्वारा पारित कोई अधिनियम जो कि नागरिकों के मूल अधिकारों को कम करता है, समाप्त करता है या उनमें संशोधन करता है, शून्य होगा।

गोलकनाथ वाद में प्रतिपादित सिद्धान्त—(i) संसद नागरिकों के मूल अधिकारों से सम्बन्धित भाग 3 में ऐसा कोई संशोधन नहीं कर सकती जो उनमें कोई कमी करे या उन्हें समाप्त करे। (ii) सर्वोच्च न्यायालय के पूर्ववर्ती निर्णय उस पर बाध्यकारी नहीं हैं। (iii) इस वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने 'prospective over ruling' के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए संसद द्वारा पारित पूर्व अधिनियमों को वैध घोषित कर दिया। (iv) अनुच्छेद 368 संसद को संविधान संशोधन का कोई विशेष अधिकार प्रदान नहीं करता, केवल प्रक्रिया बतलाता है।

4. **केशवानन्द भारती मुकदमा**— सन् 1970 में केरल के एडनर मठ के स्वामी केशवानंद भारती ने केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1969 की वैधता को चुनौती दी तथा उसमें कहा गया कि उसके द्वारा मौलिक अधिकार जो संविधान के अनुच्छेद 25, 26, 14, 19(2) एवं 31 के अन्तर्गत प्राप्त हैं, उनका उल्लंघन हो रहा है। गोलकनाथ मुकदमे के निर्णय के रद्द और 24वें तथा 25वें संवैधानिक संशोधन की उपधारा 2(अ) और 2(ब) और उपधारा 3 के प्रथम भाग की पुष्टि करते हुए उच्चतम न्यायालय ने 25वें संशोधन अधिनियम के दूसरे भाग पर आपत्ति की और निर्णय दिया कि यद्यपि धारा 368 संसद को संविधान में संशोधन का अधिकार देती है परन्तु 'संविधान के मूलभूत ढाँचे को बदलने के लिए क्षमता प्रदान नहीं करती।'

केशवानन्द भारती केस पर विचार-विमर्श करते समय सर्वोच्च न्यायालय को भय था कि यदि संसद को संविधान संशोधन की पूरी शक्ति दे दी गयी तो उस शक्ति को कार्यपालिका अपने को शक्तिशाली बनाने में प्रयोग करेगी और इस प्रकार सम्भावना है कि वह न्यायपूर्ण तरीके से संविधायी शक्ति प्राप्त कर लेगी। सर्वोच्च न्यायालय ने अब स्वीकार कर लिया था कि धारा 368 के अन्तर्गत संसद को उसके अन्दर कार्यविधि पालन की शर्त के साथ संविधान संशोधन की शक्ति प्राप्त है और यह शक्ति संविधायी शक्ति है, साधारण विधायी शक्ति नहीं। परन्तु उनको ऐसी

शक्ति से उत्पन्न परिणामो से भय था और उनका मत था कि सविधान के ऐसे आधारभूत लक्षण है जो ससद की संविधायी शक्ति की परिधि के वाहर होने चाहिए। न्यायाधीशो के एक पक्ष का मत था कि 'यद्यपि ससद की सशोधन की शक्ति की सकुचित रूप से सीमित परिभाषा नही की जा सकती और वह सभी धाराओ पर लागू होती है, परन्तु वह इस हद तक असीमित नही है कि उसके अन्दर सविधान के तादात्म्य अथवा उसके मूल लक्षणो को बदला जाय, अथवा उनको सक्षिप्त किया जा सके।' इन मूल लक्षणो को स्पष्ट करते हुए न्यायाधीशो के दूसरे पक्ष ने विचार प्रकट किया कि संसद को सविधान के ऐसे मूल लक्षणो के आधारभूत तत्त्वो को कमजोर करने की शक्ति नही, जैसे भारत की सम्प्रभुता तथा हमारी राज्य व्यवस्था का लोकतन्त्रवादी स्वरूप। प्रथम तो संविधान के मूल ढाँचे के अनिवार्य तत्त्वो को ही निश्चित शब्दो मे स्पष्ट करना कठिन अथवा असम्भव प्राय है, फिर इस विचार मे सहमत होना भी कठिन है कि सविधान मे कोई ऐसी चीज है जिसके कारण ससद भारतीय जनता के नाम मे सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करते हुए सशोधन नही कर सकती, विशेषकर जबकि वह सविधान मे दी शर्तो के अनुसार कार्य करे।

जहाँ तक ससद की सविधान सशोधन की शक्ति का सम्बन्ध था, गोलकनाथ केस के निर्णय से 'भारती केस' का निर्णय काफी उन्नत कदम था। इसमे इस तथ्य को स्वीकार किया कि (i) धारा 368 के विस्तृत शब्दो मे नि सन्देह ही मूल अधिकारो को संशोधित अथवा सक्षिप्त करने का अधिकार निहित है, (ii) सशोधन की शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नही और अपनी शक्ति के आधार पर ससद सविधान के किसी भी उपबन्ध को सशोधित या संक्षिप्त या वस्तुत निरसित (Repeal) कर सकती है (iii) सशोधन की शक्ति की परिधि मे मूल अधिकार सम्मिलित है और इसमे विभिन्न धाराओ को भी घटाने-बढाने अथवा बदलने की शक्ति शामिल है जिसमे सम्पत्ति का अधिकार भी है, और (iv) यह कि ससद को दी गयी सशोधन की सवैधानिक शक्ति का दुरुपयोग हो सकता है, इस तथ्य की शक्ति के अस्तित्व और विस्तार की रचना मे कोई प्रारम्भिकता नही। अब सर्वोच्च न्यायालय की मुख्य शिकायत यह थी कि ससद न्यायपालिका से सीमित न्यायिक निर्णय का अधिकार भी ले लेने का प्रयत्न कर रही है। उसके मतानुसार न्यायिक निर्णय का अधिकार क्षेत्र सविधान के आधारभूत ढाँचे का एक भाग है।

5 **बैंक राष्ट्रीयकरण का मामला**--19 जुलाई, 1969 को भारत सरकार ने एक अध्यादेश द्वारा 14 प्रमुख बैंको, जिनकी विनियोजित पूँजी 50 करोड रुपये से अधिक थी, का राष्ट्रीयकरण कर दिया। अध्यादेश मे वे सिद्धान्त विहित किये गये थे जिनके अनुसार प्रतिकर (Compensation) दिया जाना था। 19 अगस्त, 1969 को संसद ने अध्यादेश को अधिनियम का रूप दे दिया। पिटीशनकर्ता आर सी कपूर ने उक्त अध्यादेश तथा अधिनियम की सवैधानिकता को चुनौती दी तथा यह कहा कि यह उचित प्रतिकर की व्यवस्था नही करता है।'

सर्वोच्च न्यायालय का बहुमत का निर्णय सुनाते हुए न्यायमूर्ति श्री शाह ने कहा कि 'यदि विहित सिद्धान्त अर्पित सम्पत्ति के प्रतिकर नियत करने के लिए सुसगत है तो उसको चुनौती नही दी जा सकती है, किन्तु एक ही सिद्धान्त हर प्रकार की सम्पत्ति के लिए प्रतिकर नियत करने के लिए उचित नही हो सकता है। एक प्रकार की सम्पत्ति के लिए प्रतिकर नियत करने वाला सिद्धान्त दूसरे प्रकार की सम्पत्ति के प्रतिकर नियत करने के लिए सर्वथा असगत हो सकता है। प्रतिकर नियत करने वाले सिद्धान्तो के चुनाव मे विधायिका का निर्णय अन्तिम है, लेकिन चुने हुए सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य स्वामी को उसकी सम्पत्ति का पूरा प्रतिदान देना होना चाहिए। उक्त अधिनियम मे प्रतिकर का निर्धारण किसी सुसगत सिद्धान्त के अनुसार नही किया गया है, इसलिए वह असंवैधानिक है। न्यायालय ने कहा कि प्रतिकर नियत करने के लिए कारोबार (Undertaking)

जो एक इकाई के रूप मे लेना चाहिए, उसके घटको को अलग-अलग करके नही। सघटको का कुल मूल्य इकाई का भी मूल्य हो, यह आवश्यक नही और विशेषकर जब सम्पत्ति एक सगठित एव चालू कारोबार के रूप मे हो। प्रस्तुत मामले मे कुछ प्रकार की सम्पत्ति के लिए कोई प्रतिकर नही दिया गया है, जैसे ख्यातिलाभ (goodwill)। यही नही, बैंको की भूमि और भवनो के मूल्याकन का तरीका उनके लिए प्रतिकर नियत करने के लिए सुसंगत नही है और न ही दायित्वो के कुल मूल्य के निर्धारण की विधि ही सुसगत है। स्पष्ट है कि बैंको को उनके कारोबार का 'उचित-प्रतिदान' (a ture recompense) नही दिया गया है, अत यह सर्वथा अनुच्छेद 31(2) के विरुद्ध है। बैंक राष्ट्रीयकरण केस मे दिये गये निर्णय का निष्कर्ष यह निकलता है कि जब तक 'प्रतिकर' शब्द अनुच्छेद 31(2) मे रहेगा, तब तक प्रतिकर की पर्याप्तता का प्रश्न न्यायालय के पुनर्विलोकन से परे नही किया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के इस विनिश्चिय की व्यापक आलोचना हुई। सरकारी पक्ष की ओर से लोगो ने कहा कि यह निर्णय देश के समाजवादी एव आर्थिक विकास मे बाधक है, देश के राज-नीतिज्ञो ने भी सर्वोच्च न्यायालय के अनुदारवादी दृष्टिकोण को लेकर उस पर व्यापक प्रहार किये। इस मामले से उत्पन्न कठिनाइयो को दूर करने के लिए सविधान मे सशोधन करके 25वाँ एवं 26वाँ संशोधन किया गया। इसके द्वारा अनुच्छेद 31 के खण्ड (2) मे सशोधन करके 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर 'राशि' शब्द रखा गया।

6 **प्रिवीपर्स का मामला**---25 जून, 1967 को अखिल भारतीय काग्रेस ने प्रिवीपर्स समाप्त करने तथा भूतपूर्व राजाओ को प्राप्त सुविधाओ को निरस्त करने के लिए एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव के आधार पर सविधान का 24वाँ सशोधन बिल ससद के समक्ष प्रस्तुत हुआ जो 2 सितम्बर, 1970 को लोकसभा द्वारा पास हो गया किन्तु राज्यसभा मे उसे सफलता नही प्राप्त हो सकी। फलत 5 सितम्बर, 1970 को राष्ट्रपति ने एक आदेश अनुच्छेद 366(22) के अन्तर्गत इसे जारी कर दिया।

प्रार्थी माधवराव सिंधिया ने इस आदेश को निम्नाकित आधारो पर विवादित किया (i) राष्ट्रपति को राजाओ को प्राप्त मान्यताओ को वापस लेने का अधिकार नही है। (ii) प्रिवीपर्स पाने का अधिकार अनुच्छेद 19(1)(एफ) तथा 31 के अन्तर्गत सम्पत्ति है तथा इसे अपहृत करना बिना किसी मुआवजे के अवैध है।

न्यायालय ने बहुमत मे यह निर्णय दिया कि राष्ट्रपति का यह कृत्य एक प्रशासनिक कृत्य है न कि राजनीतिक है। प्रिवीपर्स अथवा राजाओ को प्राप्त मान्यता को वापस करना राष्ट्रपति का राजनीतिक कार्य नही है। यदि राजाओ के राज्यो को मिलाये जाने का इतिहास देखा जाये तो यह साफ दिखायी पड़ेगा कि यह एक स्थायी प्रबन्ध किया गया था जिसमे परिवर्तन स्टेट पॉलिसी के आधार पर नही किया जा सकता है। सविधान के अनुच्छेद 291 के अन्तर्गत यूनियन ऑफ इण्डिया प्रिवीपर्स देने के लिए बाध्य है। यह भी कहा गया कि राजा अब भारत के नागरिक है और राज्य अपने नागरिको के विरुद्ध कोई कार्य नही कर सकता।

सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय मे विनिश्चित सिद्धान्त है---(i) ब्रिटिश सम्राट की शक्तियाँ भारत के राष्ट्रपति को प्राप्त नही है। (ii) भूतपूर्व राजा आदि भारत के नागरिक है तथा राज्य अपने नागरिको के विरुद्ध कोई कार्य नही कर सकता। (iii) प्रिवीपर्स सम्पत्ति है।

इस निर्णय के परिणामस्वरूप प्रिवीपर्स समाप्त करने के कार्य पर रोक लग गयी थी और बाद मे इसे 26वाँ सशोधन अधिनियम पारित करके दूर कर दिया गया।

7. **शिब्बनलाल सक्सेना बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**---सन् 1954 मे पिटीशनर को निवारक

निरोध अधिनियम के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया था। उसे नजरबन्द करते समय दो कारण बताये गये थे। बाद में एक कारण रद्द कर दिया गया था। सरकार की ओर से यह तर्क दिया गया कि गिरफ्तारी के लिए दूसरा कारण ही पर्याप्त है। सर्वोच्च न्यायालय ने उपरोक्त तर्क को अस्वीकार कर दिया और कहा कि गिरफ्तारी असंवैधानिक है।

8 **ए के. गोपालन** बनाम **मद्रास राज्य**—ए. के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य के वाद में अनुच्छेद 21 में प्रयुक्त पदावली के अर्थान्वयन का प्रश्न सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष सर्वप्रथम आया था। इस वाद में ए. के गोपालन को निवारक निरोध अधिनियम, 1950 के अधीन निरुद्ध कर जेल में बन्द कर दिया गया था। पिटीशनर ने अपने निरोध की वैधता को निम्नलिखित आधारों पर चुनौती दी थी—(i) इससे उसके अनुच्छेद 19 में प्रदत्त समस्त भारत में भ्रमण की स्वाधीनता के अधिकार का अतिक्रमण होता है जो दैहिक स्वाधीनता का एक आवश्यक तत्त्व है। (ii) निरोध अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करता है क्योंकि यह व्यक्ति के दैहिक स्वाधीनता को विधि द्वारा विहित प्रक्रिया के विरुद्ध वंचितीकरण को प्राधिकृत करता है। संक्षेप में, पिटीशनर का कथन था कि निवारक निरोध अधिनियम अनुच्छेद 19 एवं 21 दोनों का अतिक्रमण करता है, अतः असंवैधानिक है।

सर्वोच्च न्यायालय ने पिटीशनर के सभी तर्कों को अस्वीकार कर दिया और यह निर्धारित किया कि यद्यपि स्वाधीनता एक व्यापक अर्थ वाला शब्द है किन्तु अनुच्छेद 21 से इसके क्षेत्र को दैहिक विशेषण लगाकर सीमित कर दिया गया है और इस अर्थ में दैहिक स्वाधीनता का अर्थ शारीरिक स्वाधीनता मात्र से है। न्यायालय के बहुमत के अनुसार अनुच्छेद 19 एवं 21 स्वाधीनता के अधिकार के दो विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 19 में प्रयुक्त समस्त भारत में भ्रमण का अधिकार अनुच्छेद 21 में प्रदान किये गये दैहिक स्वाधीनता से बिल्कुल भिन्न है। अनुच्छेद 21 के अधीन पारित दैहिक स्वाधीनता को वंचित करने वाली विधि की वैधता का इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि वह अनुच्छेद 19(5) के अधीन अयुक्तियुक्त निर्बन्धन लगाती है। इस वाद में यह कहा गया है कि पिटीशनर को उसकी दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार वंचित किया गया था, अतः उपरोक्त निरोध विधि संवैधानिक है।

किन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने अपने बाद के निर्णयों में ए. के. गोपालन के वाद में दिये गये दैहिक स्वाधीनता के सीमित अर्थ को अस्वीकार कर दिया और उसका बहुत व्यापक अर्थ लगाया है। न्यायालय के अनुसार, दैहिक स्वाधीनता का अधिकार केवल शारीरिक स्वतन्त्रता प्रदान करने तक ही सीमित नहीं है, वरन् यह एक विस्तृत अर्थ वाली पदावली है जिसके अन्तर्गत वे सभी प्रकार के अधिकार शामिल हैं जो व्यक्ति की दैहिक स्वाधीनता को पूर्ण बनाते हैं।

सार्वजनिक हित (जन-हित) संरक्षण से सम्बन्धित मामले
(PUBLIC INTEREST LITIGATION CASES)

पिछले दशक (1980-90) से सर्वोच्च न्यायालय के दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन आ रहा है और वह एक अनुदारवादी न्यायालय के स्थान पर प्रगतिशील दृष्टिकोण वाले न्यायालय का रूप ग्रहण करता जा रहा है, वह वैयक्तिक हितों के संरक्षक के साथ-साथ सामाजिक हित के संरक्षक के रूप में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करने लगा है।

संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन न्याय पाने का हक उसी व्यक्ति को है जिसके मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है किन्तु अपने नवीनतम निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने आंग्ल विधि के उक्त नियम में परिवर्तन कर दिया है और अनुच्छेद 32 के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है। न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि अनुच्छेद 32 के अधीन कोई संस्था या सार्वजनिक

हित से उत्प्रेरित कोई नागरिक किसी ऐसे व्यक्ति के सवैंधानिक या विधिक अधिकारो के प्रवर्तन के लिए रिट फाइल कर सकता है, जो निर्धनता अथवा किसी अन्य कारण से न्यायालय मे रिट फाइल करने मे सक्षम नही है। न्यायाधीश श्रीकृष्ण अय्यर के अनुसार 'वाद-कारण' और 'पीड़त व्यक्ति' की सकुचित धारणा का स्थान 'वर्ग कार्यवाही', 'लोकहित मे कार्यवाही' की विस्तृत धारणा ले रही है। ऐसे मामले व्यक्तिगत मामलो से भिन्न होते है। वैयक्तिक मामलो से वादी और प्रतिवादी होते है जबकि सार्वजनिक हित सरक्षण से सम्बन्धित मामले किसी एक व्यक्ति के बजाय ऐसे 'समूह' के हितो के सरक्षण पर बल देते है जो कि शोषण और अत्याचार का शिकार होता है और जिसे सवैंधानिक और मानवीय अधिकारो से वचित कर दिया जाता है।[1] हाल ही मे सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसे कई मामलो पर विचार किया है। कतिपय ऐसे मामले यहां प्रस्तुत किये जा रहे है

1. **आगरा प्रोटेक्शन होम केस** (Agra Protection Home Case)—आगरा प्रोटेक्शन होम केस मे लगभग 70-80 लडकियाँ रहती थी। इन लडकियो के बारे मे इण्डियन एक्सप्रेस अखबार मे यह खबर छपी कि उनके साथ मानवीय स्तर का व्यवहार नही हो रहा है। इन लडकियो के रहने और कार्य करने के लिए मनुष्योचित परिस्थितियाँ प्रदान नही की गयी है। यहाँ तक कि उनके लिए कोई स्नानघर नही है और लेट्रिन भी बिना दरवाजे की है। इन लडकियो के लिए यह सम्भव नही था कि वे अपने अधिकारो के लिए न्यायालय मे जा सके चूंकि सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से वे अलाभकर स्थिति मे थी। ऐसी स्थिति मे सर्वोच्च न्यायालय ने कानून के दो प्रोफेसरो को इन लडकियो की ओर से पैरवी करने की स्वीकृति प्रदान की।[2]

2 **बिहार (भागलपुर) जेल के विचाराधीन कैदियो का मामला** (Bihar Undertrail Prisoners Case)— इस मामले की शुरुआत पुलिस आयोग के सदस्य के. एफ. रुस्तमजी द्वारा इण्डियन एक्सप्रेस मे लिखे गये एक लेख से हुई। इस लेख मे उन्होने लिखा कि बिहार की जेलो मे सैकडो कैदी सड रहे है, उनके मामले वर्षों से विचाराधीन (Undertrail) पडे हैं। लेख मे ऐसे सात कैदियो के नाम दिये गये जिन्हे जेल मे पाच साल से भी अधिक समय हो गया था और उन पर अभी तक मुकदमा प्रारम्भ नही हुआ। इस खबर के आधार पर एडवोकेट श्रीमती हिगोरानी ने सविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय मे एक याचिका दायर की। प्रेस की खबर के आधार पर उन्होने भी ऐसे सात विचाराधीन कैदियो के नाम का उल्लेख याचिका मे किया था, किन्तु याचिका मे कहा गया कि ऐसे सैकडो कैदी है जो बिहार की जेलो मे वर्षो से सड रहे है और उनके मामलो की सुनवाई भी प्रारम्भ नही हुई है। इस याचिका के आधार पर भारत का सर्वोच्च न्यायालय सक्रिय (Activised) हो गया और न्यायिक सक्रियता (Judicial

---

1 "Public interest litigation may be contrasted with private litigation where thers is only a dispute between A and B. It is an individual dispute which the court adjudicates. That is what we have been doing all these years. But public interest litigation is litigation which is initiated not for the benefit of one individual but for the benefit of a class or group of persons—those who are either the victims of exploitation or oppression or who are denied their constitutional or legal rights. This is the kind of litigation which we are now trying to promote."

—Justice P. N. Bhagwati *Indian Express* (Express Magazine), January 31, 1982 p. 1.

2 "This is the kind of Public interest litigation which is now coming before the Supreme Court—litigation initiated for the benefit of a class of people which is denied its Constitutional and legal rights, but which by reason of its social or economic disabilities can not approach the Courts for relief,"

action) का परिचय दिया। न्यायालय ने बिहार राज्य को नोटिस दिये और उससे पूछा कि वह उन कैदियो की सूची मय हलफनामे के सर्वोच्च न्यायालय मे प्रस्तुत करे जिनके मामले वर्षो से विचाराधीन है तथा जिनको जेलो मे 18 महीनों से अधिक का समय व्यतीत हो चुका है। जब बिहार सरकार ने हलफनामा प्रस्तुत किया तो पता चला कि बिहार की जेलो मे इस प्रकार के हजारो कैदी वर्षो से सड रहे है। यह याचिका कैदियो की ओर से नही थी फिर भी सर्वोच्च न्यायालय ने इस याचिका के माध्यम से हजारो कैदियो को मुक्त करवाया।[1] सर्वोच्च न्यायालय ने पूछा कि इतने सारे व्यक्ति जेलो मे क्यो भरे हुए है ? इन कैदियो को जमानत पर क्यो नही छोडा गया ? आमतौर से जब किसी व्यक्ति के मामले पर विचार करना होता है और विचार (trail) मे अधिक समय लगने की सम्भावना होती है तो उसे जमानत (bail) पर छोड़ दिया जाता है। इन कैदियो को प्रति 24 दिन बाद मजिस्ट्रेट के सामने लाने का नियम है किन्तु वे जमानत के लिए आवेदन प्रस्तुत करने मे असमर्थ थे। चूंकि वे इतने गरीब थे कि कानूनी सहायता प्राप्त करने मे असमर्थ रहे थे। यदि न्यायालय जमानत के सिद्धान्त भी निर्धारित कर दे तब भी ऐसे कैदियों की रक्षा सम्भव नही होगी क्योकि वे किसी वकील को अपनी पैरवी करने के लिए प्रस्तुत करने मे असमर्थ है। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि फौजदारी मुकदमो मे भी अपराधी को कानूनी सहायता (Legal aid) प्राप्त करने का मौलिक अधिकार है। उसे सहायता अनिवार्य रूप से प्रदान की जानी चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने इस अधिकार की रचना "रचनात्मक व्याख्या की प्रक्रिया' (a process of creative interpretation) के अन्तर्गत की; जबकि तथ्य यह है कि 'कानूनी सहायता' प्राप्त करना भारतीय सविधान मे मूलभूत अधिकार नही है।[2]

3. **बम्बई के पटरीवासियो का मामला** (The Case of the Bombay Pavement dwellers)—यह मामला भी सार्वजनिक हित सरक्षण से सम्बन्धित है। मुख्य न्यायाधीश के सामने एक पत्रकार ओलगा तेलिस ने बम्बई के पटरीवासियों का मामला उठाया और न्यायालय ने अन्तरिम आदेश जारी करके पटरीवासियों की सुरक्षा का इन्तजाम किया।

4. **सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन** (Sunil Batra V/s Delhi Administration) के मामले मे एक आजीवन कारावास का दण्ड भुगत रहे कैदी के साथ जेल वार्डन द्वारा क्रूर एव अमानवीय व्यवहार के विरुद्ध एक-दूसरे कैदी ने पत्र द्वारा न्यायालय को इस अमानवीय घटना की सूचना भेजी। न्यायालय ने इस पत्र को बन्दी प्रत्यक्षीकरण रिट मानकर जेल-प्राधिकारियो के विरुद्ध निर्देश जारी किया कि उक्त कैदी के साथ अमानवीय व्यवहार न किये जायें और अपराधी व्यक्ति को दण्ड देने की उचित कार्यवाही की जाये। बन्दी प्रत्यक्षीकरण रिट का प्रयोग केवल अवैध कारावास से विमुक्ति के लिए ही नही वरन् जेल मे कैदियो के विरुद्ध किये गये सभी प्रकार के अमानवीय व्यवहारो के विरुद्ध सरक्षण प्रदान करने के लिए भी किया जा सकता है।

---

1 There was no petition on behalf of those persons. The petition which was field was merely a Habeas Corpus petition in the name of seven specified persons. But the Court on the basis of the petition, gave relief to a large number of undertrial prisoners. That is a typical instance of public interest litigation.

2 "So we held that legal aid to an indigent accused in a Criminal trial is a fundamental right and it must be accorded to him. The Court, evolved this right by a process of creative interpretation because strictly speaking the right to legal aid is not a fundamental right under the Constitution." —*Justice P. N. Bhagwati*

5. **पुलिस ड्राइवर का केस** (The Case of Police Driver)—सर्वोच्च न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की बैंच ने दिल्ली पुलिस के एक ड्राइवर सिपाही की उस रिट याचिका को स्वीकार कर लिया जिसमें अन्य विभागों के ड्राइवरों की तुलना में उसको नीची वेतन शृंखला देने को चुनौती दी गयी है।[1] रिट याचिका स्वीकार करते हुए बैंच ने कहा कि अनुच्छेद 14 में इस को स्पष्ट निर्देश है कि 'कानून के सामने समानता' के सिद्धान्त से किसी व्यक्ति को वंचित नहीं रखा जा सकता। न्यायमूर्ति चिनप्पा रेड्डी, ए. पी. सेन व बहारुल इस्लाम ने अपने फैसले में कहा कि यदि समान काम के लिए समान वेतन न दिया जाय तो संविधान में निहित समानता का सिद्धान्त लोगों के लिए बेमानी हो जायेगा। बैंच ने रणधीरसिंह के इस तर्क को स्वीकार किया कि वह दूसरे विभागों में कार्यरत ड्राइवरों से कम काम नहीं करता। न्यायालय ने केन्द्रीय सरकार को निर्देश दिया कि नारायनसिंह को भी रेलवे सुरक्षा दल के ड्राइवरों को दिये जाने वाला वेतन ही दे। न्यायाधीशों ने आदेश दिया कि उच्च वेतन शृंखला 1 जनवरी, 1973 से दी जानी चाहिए जिस दिन वेतन आयोग की सिफारिश अमल में लायी गयी थी। न्यायालय ने कहा कि दिल्ली पुलिस के ड्राइवरों में वर्गीकरण व उनको नीची वेतन शृंखला का सुझाव अनुचित और तर्कहीन है।

6. **चमारों का केस** (Case of Chamars)—चमारों का केस यह सिद्ध करता है कि सर्वोच्च न्यायालय समाज के दुर्बल वर्गों की सुरक्षा के लिए कितना जागरूक है। यह मामला उत्तर प्रदेश के कतिपय जिलों के चमारों का है। इन जिलों में चमार लोग वर्षों से चमड़े, मरे हुए पशुओं की हड्डियाँ आदि बेचने के पुश्तैनी धन्धे में लगे हुए हैं। जिला परिषदों ने हड्डियाँ इकट्ठी करने व बेचने के कार्य को ठेके पर देना प्रारम्भ कर दिया। चमार लोग यह कहते हुए न्यायालय में उपस्थित हुए कि इससे उनकी जीविका प्रभावित होती है क्योंकि ठेके अब ठेकेदारों को दिये जाते जो केवल थोड़े से चयनित चमारों के माध्यम से यह कार्य करेंगे। ये चमार उनके नियन्त्रण में होंगे और इस प्रकार उनका आर्थिक शोषण होगा। ठेकेदार उनको न्यूनतम मजदूरी भी नहीं देंगे क्योंकि ठेके में इसका कोई उल्लेख नहीं है। इससे नव-जमींदारी प्रथा पनपेगी। इस मामले की सुनवाई इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने की और एक बैंच ने रिट याचिका को खारिज कर दिया। मामला इसके बाद सर्वोच्च न्यायालय के सामने लाया गया। न्यायालय के पास चमारों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बारे में पूरे तथ्य नहीं थे। न्यायालय इस तथ्य से अपरिचित था कि चमार लोग किस प्रकार से अपना पुश्तैनी धन्धा करते हैं और ठेकेदारों की नियुक्ति से उनके पुश्तैनी धन्धे पर क्या प्रभाव पड़ने वाला है? सर्वोच्च न्यायालय ने इनकी जाँच करने के लिए एक जाँच आयोग नियुक्त किया जिसमें डॉ उपेन्द्र बक्सी तथा कृष्णा महाजन जैसे कानूनविद् रखे गये। इस जाँच आयोग ने कानपुर जिले के सरसोल उपखण्ड में जाकर यह पता लगाया कि चमार लोग मृत जानवरों की चमड़ी का व्यवसाय किस प्रकार करते हैं, ठेकेदारी प्रणाली से उनकी जीविकोपार्जन की वृत्ति पर क्या प्रभाव पड़ने वाला है, ठेकेदारी प्रणाली में कितने लोग काम करते हैं आदि। न्यायालय ने राज्य सरकार को निर्देश दिया कि जाँच आयोग का खर्चा जमा कराये।

इस प्रकार इस मुकदमे से पता चलता है कि सर्वोच्च न्यायालय ने समाज के दुर्बल वर्गों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का पता लगाने के लिए नयी प्रणाली की शुरुआत की। राज्य सरकार से न्यायालय ने कहा कि वह अपने सहकारी विभाग को निर्देश दे कि वह चमारों को सह

---

[1] **राजस्थान पत्रिका** (जयपुर), फरवरी 25, 1982।

मंचों मे संगठित करके उनमे ठेका लेने की सामर्थ्य विकसित करे ताकि वाह्य व्यक्तियो के वजाय वे स्वयं ठेका ले सकें।

7. तिलोनिया (अजमेर जिला) के श्रमिकों का केस (Case of Construction Workers in Tillonia)—तिलोनिया के श्रमिको (Construction workers) का मामला वंकर राय ने, जो कि वहाँ एक शोध संस्थान चलाते है, न्यायालय के समक्ष रखा है। उनका कहना है कि वहाँ जो हरिजन महिलाएँ कार्य करती है उन्हे कम मजदूरी दी जाती है यह मजदूरी न्यूनतम मजदूरी से भी कम है और उसमे से भी कुछ मजदूरी की पेनाल्टी क्लाज (Penalty Clause) के अन्तर्गत कटौती कर दी जाती है। न्यायालय का अभिमत है कि न्यूनतम मजदूरी दिये बिना काम लेना अनुच्छेद 23 का उल्लघन है और यह प्रकार एक से वेगार (forced labour) है। यह मामला अभी न्यायालय के पास विचाराधीन है और यह एक सार्वजनिक हित सरक्षण (Public interest litigation) याचिका है। यदि यह याचिका सफल होती है तो हजारों श्रमिको को लाभ होगा।

8. बन्धुआ मुक्ति मोर्चा वनाम **भारत संघ**—इस मामले मे एक सस्था ने पत्र द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को सूचित किया कि हरियाणा राज्य के फरीदकोट जिले की पत्थर खानो मे काफी संख्या मे श्रमिक अमानवीय दशा मे कार्यरत है और उनमे से अनेक वन्धुआ श्रमिक भी है। न्यायालय ने पत्र को रिट मानकर दो अधिवक्ताओ का एक आयोग नियुक्त किया जिसने जाँच करके न्यायालय को रिपोर्ट दी कि संस्था का आरोप सत्य है। न्यायमूर्ति श्री भगवती ने बहुमत का निर्णय सुनते हुए अभिनिर्धारित किया कि जनहित वाद के ऐसे मामले मे सरकार को आपत्ति करने के वजाय स्वागत करना चाहिए ताकि सरकार समुचित कदम उठाकर वन्धुआ मजदूरो को मुक्त कर सके या उनकी स्थिति में सुधार कर सके।

9. रूदल शाह वनाम **बिहार राज्य** के मामले मे सर्वोच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उसे अनुच्छेद 32 के अधीन राज्य के कार्यों द्वारा पीडित व्यक्तियो को प्रतिकर प्रदान करने की शक्ति प्राप्त है। प्रस्तुत मामले वे रूदल शाह को किसी अपराध मे अभियोजित किया गया था किन्तु सेशन न्यायालय द्वारा उसे 30 जून 1968 को विमुक्त कर दिया गया था। किन्तु उसके वावजूद राज्य प्राधिकारियो के अनुत्तरदायित्वपूर्ण आचरण के कारण 14 वर्ष तक हजारी वाग जेल मे सडना पडा और और 16 जून 1982 को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप करने पर जेल से रिहा किया गया। सर्वोच्च न्यायालय ने विहार राज्य को निर्देश दिया कि वह रूदल शाह को 35,000 रुपये प्रतिकर देकर क्षतिपूर्ति करे क्योकि उसके अधिकारियो के उपेक्षापूर्ण आचरण के कारण उसे 14 वर्ष अवैध रूप से जेल मे रहना पडा।

10. एशियाड श्रमिक केस, 1982 (Asiad Worker's Case, 1982)—सितम्बर 1982 मे सर्वोच्च न्यायालय ने 'एशियाड श्रमिक' नामक केस मे एक ऐतिहासिक निर्णय दिया। एशियाड के सिलसिले मे जो निर्माण कार्य चल रहा था उसमे हजारो श्रमिक लगे हुए थे। इन लोगों को निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी दी गयी। जिन लोगो से काम लिया गया उनमे छोटे-छोटे वच्चे भी शामिल थे। एक समाजसेवी संस्था पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स ने सर्वोच्च न्यायालय का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। इस सस्था ने एक पत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय को सूचित किया था कि एशियाड प्रोजेक्ट से काम करने वाले श्रमिको के मूल अधिकारो और विधिक अधिकारो का उल्लघन किया गया है तथा विभिन्न श्रमिक विधियो का उल्लघन किया गया है और श्रमिको को न्यूनतम मजदूरी नही दी गयी है। इस पत्र को अनुच्छेद 32 के अधीन एक रिट के रूप मे स्वीकार किया गया और न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि देश

के श्रमिक वर्ग वे चाहे जिस क्षेत्र में हों, सीधे या किसी संगठन के माध्यम से अपने संवैधा एव विधिक अधिकारो की सरक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय में आवेदन दे सकते हैं। न्यायालय के प्रक्रियात्मक नियमो का भी पालन करना आवश्यक नहीं। वे न्यायालय को अप अधिकारों के उल्लंघन के बारे मे पत्र द्वारा सूचित कर सकते हैं और न्यायालय का यह पर कर्त्तव्य है कि वह श्रमिको के साथ हो रहे अमानवीय व्यवहारो को रोकने के लिए सम्बन्ध प्राधिकारियो (भारत सरकार, दिल्ली प्रशासन और ठेकेदारो) को समुचित निर्देश दें ताकि विभिन्न श्रमिक विधियो को भलीभाँति लागू किया जाये और श्रमिको का शोषण न हो। इ मामले मे दिल्ली प्रशासन का कहना था कि कम मजदूरी दिये जाने के लिए ठेकेदार उत्त हैं, प्रशासन नही। निर्धारित मजदूरी से कम मजदूरी दिये जाने को न्यायालय ने 'जबरी मजदूरी (forced labour) बतलाया। न्यायालय ने अपने निर्णय में यह कहा था कि जबरी मजदूरी अर्थ केवल यह नही है कि जोर-जबर्दस्ती द्वारा किसी से काम लिया जाये। "यदि आर्थिक मजबूरी की वजह से किसी को बहुत कम मजदूरी से सन्तोष करना पड़े तो इसे भी 'जबरी मजदूरी' ही कहेंगे।"

लोकतन्त्र मे 'लोक हितवाद' विधि शासन का एक आवश्यक तत्त्व है। विधि शासन केवल धनी और सुविधासम्पन्न वर्ग के अधिकारो की नही वरन् निर्बलतम वर्ग के लोगो के अधिका का संरक्षण करता है और उन्हे न्याय प्रदान करता है। 'लोक हितवाद' की अवधारणा सर्वोच्च न्यायालय को देश के निर्धन और कमजोर वर्ग के लोगो के अधिकारों के सजग प्रहरी के रूप प्रतिष्ठित करता है और उस पुरानी सकीर्ण विचारधारा को छोड़ देता है जिसके अनुसार केव वही व्यक्ति न्यायालय मे आवेदन दे सकता था जिसके स्वय के मूल अधिकारो का राज्य द्वार अतिक्रमण हुआ हो। अब जनहित के मामले में समाज का कोई भी व्यक्ति या संस्था न्यायालय म आवेदन दे सकता है। न्यायालय का दरवाजा केवल उद्योगपतियो, ठेकेदारो, तस्करो, शराब सम्राटों और धनी लोगो के लिए नही वरन् देश की करोड़ो शोषित गरीब जनता के लिए खुला है। जनहित निर्णयो ने न्याय को जनता के दरवाजे तक पहुँचा दिया है जिसका उल्ले हमारे संविधान के अनुच्छेद 39(क) मे किया गया है।

पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स बनाम भारत राज्य के अपने ऐतिहासिक निर्ण मे सर्वोच्च न्यायालय ने इस तर्क को अस्वीकार कर दिया कि लोक हितवाद को बढावा देने न्यायालय मे वादियो की सख्या मे वृद्धि होगी और उनके निपटारे मे विलम्ब होगा।

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का बदलता हुआ दृष्टिकोण : न्यायिक सक्रियतावाद
(A NEW ACTIVIST SUPREME COURT : JUDICIAL ACTIVISM)

किसी भी लोकतन्त्र या 'कानून के शासन' का मूल आधार स्वतन्त्र, निष्पक्ष एव न्याय व्यवस्था होती है। ऐसी न्याय व्यवस्था अल्पव्ययी, सरल, बोधगम्य तथा शीघ्रगामी होनी चाहिए। विलम्बकारी न्याय व्यवस्था अन्यायकारी तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने वाली होत है। दुर्भाग्य से भारत को ऐसी ही दोषपूर्ण न्याय प्रणाली विरासत मे मिली है। बहुत चाहने भी स्वतन्त्र भारत के संविधान निर्माता इस व्यवस्था से छुटकारा नही पा सके। उन्होंने वर्तम सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयो के रूप मे स्वतन्त्र, निष्पक्ष और सक्षम न्याय व्यव की स्थापना तो कर ली किन्तु उसका औपनिवेशिक अथवा सामन्तशाही स्वरूप बना रहा। प गरीब देश के अपढ निवासियो की आवश्यकता के अनुसार सुबोध, सस्ती तथा तत्काल न्यायप्रद बन सकी। विदेशी शासको का निजी हित तो उसी की स्थापना में था कि न्याय महँगा, विलम्बकारी दुर्लभ तथा उच्च-वर्गीय हितो को साधने वाला हो। उनकी साम्राज्यवादी अहं भावना को पु

करने के लिए तो यह ठीक था कि वादी-प्रतिवादी अंग्रेजी भाषा वकीलों के माध्यम से मोटी रकमें खर्च करके 'माई लार्ड' कहते हुए अदालतो मे पहुँचें और नीचे से ऊपर तक अदालतों मे लड़-लड़कर अपनी जिन्दगी खपा दें। एक या दो क्षेत्रो को छोड़कर भारत के आजाद हो जाने के पश्चात् भी उसी व्यवस्था को जारी रहने दिया तथा न्यायपालिका का स्वरूप पहले की तरह निषेधात्मक, अलगावपूर्ण, गरीबो के लिए शोषणकारी तथा परदेशी बना रहा। इस वादी-प्रतिवादी व्यवस्था मे न्यायाधीश ऊँचे भाड़े पर नियुक्त वकीलो के द्वारा जुटाये गये साक्ष्य के सहारे चलते है, चाहे उसका दुष्परिणाम कितना ही घातक क्यों नही निकलता हो।

किन्तु प्रसन्नता की बात है कि पिछले दशक मे सर्वोच्च न्यायालय ने समय की मांग को पहचाना तथा भारतीय जनता की आवश्यकता को समझा है। उसने यह मान लिया है कि 'न्याय' या 'जस्टिस' का स्वरूप केवल कानून न होकर सामाजिक एव आर्थिक भी है। उसने यह स्वीकार कर लिया है कि न्याय व्यवस्था को आम जनता की जीवन दशा को सुधारने तथा उसे मूलभूत मानवीय अधिकार दिलाने के लिए '**सक्रिय**' भागीदार बन जाना चाहिए।[1] इस '**सक्रिय' या 'क्रिया प्रधान' दृष्टिकोण** (Judicial Activism) को अपनाने के कारण भारतीय न्याय व्यवस्था का स्वरूप बदलता जा रहा है और वह निषेधात्मक के स्थान पर विधेयात्मक अथवा रचनात्मक बन गयी है। अब उसकी यह मान्यता है कि कानून अतीत से चिपकी हुई रूढ़िवादी स्थायी व्यवस्था मात्र नही है, तथा गरीबो को इस न्याय व्यवस्था मे भिखारी के बजाय सम्मानजनक भागीदार बनाया जाना चाहिए। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक क्षेत्रो मे अभूतपूर्व कार्य किया है।

सर्वप्रथम, उसने जनहितकारी विवादो को मान्यता दी है। इसके अनुसार, कोई भी व्यक्ति किसी ऐसे समूह या वर्ग की ओर से मुकदमा लड़ सकता है जिसको उसके कानूनी या सवैधानिक अधिकारो से वंचित कर दिया गया हो। सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि गरीब, अपंग अथवा सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से दलित लोगो के मामले मे आम जनता का कोई आदमी न्यायालय के समक्ष 'वाद' ला सकता है। न्यायालय अपने सारे तकनीकी तथा कार्य-विधि सम्बन्धी नियमों की परवाह किये बिना उसे लिखित रूप मे देने मात्र से ही कार्यवाही करेगा। ऐसे मामलों की शुरूआत संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने की थी। भारत मे इसकी शुरूआत भागलपुर (बिहार) की जेल के विचाराधीन बन्दी रखे गये कैदियो से हुई। इनके विषय मे पुलिस आयोग के सदस्य श्री के. एफ. रुस्तमजी ने एक लेख लिखा तथा श्रीमती हिंगोरानी के वकील ने धारा 32 के अन्तर्गत उनके मामलो को सर्वोच्च न्यायालय मे उठाया। बिहार की इन जेलो मे सैकड़ों विचाराधीन कैदी किसी अदालती कार्यवाही के बिना ही वर्षो से सड रहे थे। इनकी ओर से न कोई जमानत देने वाला था और न कोई वकील था। अतएव जनहित मे सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि बिना कारण किसी को जेल मे बन्दी न रखा जाय। यदि उस पर मुकदमा चलाने मे 18 माह से अधिक समय लग रहा हो तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाय। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने गरीब और असहाय लोगों की ओर जनहित चलाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मुकदमा लड़ने का अधिकार दे दिया है। पहले यह अधिकार केवल व्यक्तिगत या निजी मामले मे न्याय प्राप्त करने के लिए दिया गया था। आगरा सुरक्षा गृह, फर्टीलाइजर कारपोरेशन कामगार संघ आदि मामले इसी श्रेणी मे आते है।

दूसरे, इसके अन्तर्गत धारा 21 की नवीन व्याख्या की गयी है, आम आदमी के जीवन और सुरक्षा को वास्तविक बनाने का प्रयास किया गया है। इस धारा मे यह कहा गया है कि

[1] "The Supreme Court has adopted a pro-active approach for the last two years, particularly having regard to the peculiar socio-economic conditions prevailing in the Country." —Justice P. N. Bhagwati · *Indian Express*, January 31, 1982.

'विधि द्वारा स्थापित कार्यविधि के अतिरिक्त किसी व्यक्ति को उसके जीवन तथा निजी ... से वंचित नही किया जायेगा।' पहले यह माना जाता रहा है कि कार्यपालिका या सरकार न कोई कार्यविधि अपनाकर व्यक्ति की स्वतन्त्रता या जीवन को छीन सकती है। किन्तु मे गाँधी के मामले मे सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय लिया है कि कार्यविधि भी विवेक सम्म उत्तम तथा न्यायपूर्ण होनी चाहिए। सरकार की प्रत्येक कार्यवाही विवेकपूर्ण तरीके से स होनी चाहिए। संविधान के अन्तर्गत मौलिक अधिकारों की प्रत्येक धारा मे 'विवेकपूर्णता' अनिवार्य शर्त है। इस तरह सर्वोच्च न्यायालय ने कार्यविधि का विवेकसंगत, उत्तम तथा होना अनिवार्य बना दिया है। इस निर्णय के अनुसार अब यह आवश्यक हो गया है कि के समक्ष पक्ष या विपक्ष दोनो को ठीक ढंग से प्रस्तुत किया जाये। अब यह सरकार का द. बना दिया गया है कि वह निर्धन पक्षकार को कानूनी सहायता (legal aid) प्रदान करे, न्य अदालती कार्यवाही विलम्ब एव व्ययकारी होने के कारण न्याय के स्थान पर अन्याय प्रदान क लग जाती है। इसी प्रकार फौजदारी मामलो मे अनावश्यक विलम्ब को भी 'विवेकपूर्ण' माना गया है। इसी आधार पर बिहार जेल के कैदियो जो अधिकतम सम्भावित सजा बिना अदालती कार्यवाही के ही भुगत चुके थे, बिना शर्त रिहा कर दिया गया। अपनी व्याख्या के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय राज्य को शीघ्रगामी न्याय दिलाने के लिए अधिक अद स्थापित करने, अधिक संख्या मे न्यायाधीश नियुक्त करने तथा अन्य विविध उपाय करने के आ भी दे सकता है।

तीसरी बात, इसके अन्तर्गत सुप्रीम कोर्ट ने नागरिको की प्रतिष्ठा की सुरक्षा की अधिक ध्यान दिया है। सर्वोच्च न्यायालय ने प्रत्येक व्यक्ति की इस अधिकारिता को स्वीकार है कि वह निर्धन, असमर्थ अथवा सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से पिछड़े व्यक्ति, समूह या वर्ग के न्यायालय के समक्ष वाद प्रस्तुत कर सकता है, यह वाद राज्य सरकार, सरकारी अधिकारी प्राधिकरण के विरुद्ध लाया जा सकता है। बम्बई के पटरीवासियो या सुनील बत्रा के म.. मे सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि धारा 21 मे जीवन का अर्थ केवल भौतिक अस्तित्व सुरक्षा मात्र न होकर उन सभी नैसर्गिक शक्तियो से है जिनके द्वारा जीवन का उपभोग किया है तथा मनुष्य की आत्मा वाह्य जगत मे संचरण करती है। उसमे मानव प्रतिष्ठा के साथ यापन के अधिकार को उक्त मौलिक अधिकार के अन्तर्गत शामिल किया गया है। इसका यह हुआ कि निर्दयता, क्रूरता मनुष्य को अमानवीय या पाशविक यातना या सजा देना आदि सम्भव नही है। यद्यपि भारतीय संविधान मे इसका उल्लेख नही है किन्तु 'मानव अधिकारो सार्वभौम घोषणा' के सन्दर्भ मे तथा 'नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारो के अन्तर्राष्ट्रीय झौते' के अधीन घोषित अधिकारो को मानव प्रतिष्ठा के अन्तर्गत शामिल कर लिया गया आगरा होम, दिल्ली नारी निकेतन तथा एयरपोर्ट प्राधिकरण के मामलो मे इसी दृष्टि बिन्दु अपनाते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि धारा 14 का समान कानूनी सरक्षण स स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध गारण्टी देता है। उत्तर प्रदेश के चमारों के विषय मे सर्वोच्च न्याय ने स्वयं उनकी सामाजिक-आर्थिक दशाओ को जाँचने के लिए एक आयोग गठित किया तथा सरकार को उस आयोग के व्यय भार को जुटाने का आदेश दिया। वह इस निष्कर्ष पर कि चमारो का धन्धा ठेके पर उठा दिये जाने से उन्हे न्यूनतम मजदूरी भी नही मिलेगी। यही सुप्रीम कोर्ट ने घोषणा कर दी है कि यदि निर्धारित न्यूनतम वेतन से कम मजदूरी दी है तो उसे धारा 25 के अन्तर्गत बेगार मानेंगे तथा उसी के अनुसार निर्णय देंगे। अकेला निर्णय हजारो-लाखो श्रमिको को लाभ पहुँचाने वाला सिद्ध होगा। न्याय' का अर्थ 'कानूनी न्याय' न देकर संविधान की प्रस्तावना मे वर्णित 'सामाजिक-आर्थिक एवं राजनी

न्याय है। इस तरह सामान्य नागरिकों को व्यापक न्याय दिलाने के विषय मे न्यायपालिका राज्य की सहभागी बन रही है।

चौथी बात, सुप्रीम कोर्ट ने पूर्णत: स्पष्ट कर दिया है कि कार्यपालिका के 'स्वविवेक' पर नियन्त्रण किया जाना चाहिए। उसके लिए विवेक तथा 'अ-स्वेच्छाचारिता' को आधार समझना चाहिए। 'राज्य' अथवा 'कार्यपालिका' का अर्थ प्रत्येक प्रकार की सार्वजनिक सत्ता है। कस्तूरीमल रेड्डी के विवादो मे सर्वोच्च न्यायालय का यह दृष्टिकोण रहा है कि राज्य के स्वविवेक का आधार सविधान के चतुर्थ अध्याय मे वर्णित 'राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त' होना चाहिए। उसमे 'सार्वजनिक हित' के मानदण्ड को प्रस्तुत कर दिया गया है।

अन्त में, सर्वोच्च न्यायालय की यह मान्यता बन गयी है कि यद्यपि न्यायाधीश या न्यायालय का काम कानून बनाना या निर्माण करना नही है, लेकिन वह कानून की रूपरेखाओ मे रंग अवश्य भरता है अथवा विधि की सूखी हड्डियो पर रक्त मांस अवश्यमेव चढाता है। इस तरह वह कानून के निर्माण मे भी भाग ले रहा है। न्यायाधीश एक ऐसा सृजनात्मक कलाकार है जिसमे न्यायमूर्ति पी. एन. भगवती के अनुसार अरस्तू और प्लेटो दोनो के गुण पाये जाते है। एक ओर वह 'विधि के शासन' का संस्थापक है तो दूसरी ओर, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार न्याय प्रदान करने वाला 'दार्शनिक राजा' भी है। उदाहरणार्थ, हाल ही मे सर्वोच्च न्यायालय ने हरियाणा सरकार की इस बात के लिए निन्दा की है कि उसने एक महिला को, जिसका पति एक सरकारी गाडी मे कुचलकर मर गया था, मिलने वाले मुआवजे मे कमी करने के लिए न्यायालय की शरण ली। सर्वोच्च न्यायालय ने हरियाणा सरकार की विशेष याचिका को रद्द करते हुए इसे 'शर्मनाक' बताया। सरकारी वकील ने तर्क दिया था कि मृतक वृद्ध होने के कारण कमाने लायक नही था अतः विधवा मुआवजे की हकदार नही है।[1]

इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय का स्वरूप सक्रिय या विधेयात्मक बन गया है और आम जनता के सामाजिक-आर्थिक उत्थान मे बराबर का भागीदार बन रहा है। एक ओर, उसने सविधान की निषेधात्मक एव उच्च वर्गोन्मुख धाराओ को रचनात्मक तथा जनोन्मुख बनाया है, तो दूसरी ओर, जनहितकारी विवादो मे प्रत्येक व्यक्ति को भाग लेने का अधिकार देकर, औचित्यपूर्ण कार्य-विधि के सिद्धान्त की स्थापना करके, मानव प्रतिष्ठा के विस्तृत अर्थ ग्रहण करके तथा वाद सम्बन्धी, विशेषत. निर्धन एवं दुर्बल पक्षकारो को समान धरातल पर लाकर उसने आम जनता की काया पलट करने मे भारी योगदान किया है।[2] वास्तव मे, यह मान्यता कि राज्य या किसी भी सार्वजनिक सत्ता के कार्य 'कानून के ऊपर' नही है, तथा वे स्वेच्छाचारी या मानव प्रतिष्ठा के प्रतिकूल नही हो सकता, एक साहसपूर्ण कदम है। सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी बता दिया है कि 'सार्वजनिक हित' का आधार क्या है तथा 'स्वविवेक' का उपयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए ? अब यह कहा जा सकता है कि भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ससार के अन्य सभी सर्वोच्च न्यायालयों की तुलना मे अद्वितीय तथा जनहितकारी बन गया है। किन्तु विधि आयोग तथा विधि मन्त्रालय की नवीन गतिविधियो के सन्दर्भ मे यह कहना कठिन है कि राज्य अथवा सरकार ने सर्वोच्च न्यायपालिका के नवीन स्वरूप को सहर्ष स्वीकार कर लिया है।

---

1 **राजस्थान पत्रिका** (सम्पादकीय), मई 7, 1982, पृ. 4।

2 "So far the Court has been enforcing the fundamental rights of only the affluent, the well-to-do, the middle classes, companies, businessmen, industrialists, etc. But during the last two to three years, we have been dealing with the fundamental rights of the poor and weaker sections are involved."
—*Justice P. N. Bhagwati*

24

भारत में नौकरशाही : स्वरूप एवं भूमिका

[BUREAUCRACY IN INDIA · ROLE AND NATURE]

मविधान के निर्दिष्ट लक्ष्यो और आदर्शों की प्राप्ति मे प्रशासको एव लोक-सेवको भूमिका मन्त्रियों और विधायको से कम महत्त्वपूर्ण नही होती है। राज्यो के कार्य-क्षेत्र के वढने साथ-साथ सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन में शासनतन्त्र का प्रभाव भी वढ़ता जा रहा है। ॰ नागरिक जीवन का कोई भी पहलू राज्य के प्रभाव क्षेत्र से वाहर नही है। राज्य प्रशासकीय अ कारियो एव लोक सेवको के माध्यम से ही अपने वढे हुए उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है वस्तुत देश मे अमनचैन, व्यवस्था और स्थिरता वनाये रखने के लिए योग्य, दक्ष एवं क्षमताशी प्रशासन का होना नितान्त आवश्यक है। भारत जैसे विकासशील देश मे प्रशासन का ढांचा अं उसका स्वरूप सरकारी नीतियों और योजनाओ के क्रियान्वयन को काफी हद तक प्रभावित करते हैं

नौकरशाही से अभिप्राय
(BUREAUCRACY MEANING)

लोकसवा को 'नौकरशाही' भी कहा जाता है। नौकरशाही लोक सेवाओ के दोपो ओर सकेत करती है। साधारणत. इससे यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि नागरिक सेवा के क चारी लालफीताशाही के दोप से घिरे रहते हैं तथा वे जनहित की उपेक्षा करते हैं। नौकरश उस व्यवस्था को कहते हैं जिसके अन्तर्गत सरकारी कर्मचारी अपने को जनता का सेवक न सम कर स्वामी समझने लगते हैं, जनहित की उपेक्षा करते हैं, नियमो और विनियमो का कठोरता पालन करते है और कार्य मे विलम्ब होता है। वस्तुतः नौकरशाही के तरीके अनमनीय, यान्त्र हृदयहीन एवं औपचारिक हो जाते हैं। वे जनता से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर' और अपनी श्रेष्ठता का दावा करते हैं। फाइनर ने इसे 'मेज का शासन' कहकर पुकारा हैं सक्षेप मे नौकरशाही एक कार्यकुशल, प्रशिक्षित तथा कर्त्तव्य-परायण सरकारी कर्मचारियो विशिष्ट सगठन है जिसमे 'पद सोपान' तथा 'आज्ञा की एकता' के सिद्धान्त का कड़ाई से . . किया जाता है।

भारत मे उपनिवेशकालीन ब्रिटिश राज के युग मे प्रशासन मे नौकरशाही की सर्वोपरि थी। ब्रिटिश शासन काल से ही भारतीय प्रशासन नौकरशाही प्रधान रहा है। आई. सी ए अफसरो का ऐसा हुजूम तैयार किया गया जो शक्ति और डण्डे के वल पर शासनतन्त्र की बा खीचते रहे। आई. सी. एस. की सदस्यता गरिमा का प्रतीक मानी जाती थी और शासन स. मे इस वर्ग के अधिकारी छाये रहे। स्वाधीनता के उपरान्त आई. ए. एस. वर्ग के अफसरो एक और पृथक् जमात खड़ी हो गयी जिसे कुशल और सक्षम प्रशासन का प्रतिरूप स्वीकार क

लिया गया। इसी नौकरशाही ने विगत 45 वर्षों तक शासन सत्ता का स्वाद चखा, शासकीय पदो को गौरवान्वित किया और लोकशाही की उपेक्षा की।

भारतीय नौकरशाही की विशेषताएँ (Characteristics of the Indian Bureaucracy)

भारतीय नौकरशाही की विशेषताएँ निम्नलिखित है :

(1) **स्थायित्व**—लोक सेवा के सदस्य स्थायी रूप से अपने पदो पर रहते है। लोक सेवा के सदस्य युवाकाल मे सेवा मे प्रवेश करते है और एक निश्चित आयु के बाद पद-निवृत्त हो जाते है।

(2) **राजनीति से तटस्थता**—लोक सेवा के सदस्य राजनीतिक दलबन्दी मे सक्रिय भाग नही लेते। वे राजनीतिक दलो के सदस्य नही होते, राजनीतिक आन्दोलन और निर्वाचन में भाग नही लेते। किसी भी दल की सरकार सत्ता मे हो, उनका कार्य तो सरकार की नीतियो का क्रियान्वयन है।

(3) **व्यावहारिक**—लोक सेवाओ के सदस्य पेशेवर कहे जा सकते है। सरकारी कर्मचारियो का मुख्य कार्य सरकारी सेवा करना है जिसके लिए सामान्य दक्षता की आवश्यकता पड़ती है, यद्यपि व्यावसायिक एवं प्राविधिक सरकारी सेवाओ के हेतु विशिष्ट तकनीकी शिक्षा प्राप्त कर्मचारियो की नियुक्ति की जाती है।

(4) **पदसोपान**—लोकसेवाओ का संगठन पदसोपान के सिद्धान्त पर होता है। पदसोपान का शाब्दिक अर्थ है उच्चतर व्यक्ति द्वारा निम्नतम व्यक्तियो पर शासन। यह एक क्रमिक सगठन है जिसमे निम्नस्तरीय व्यक्ति उच्चस्तरीय व्यक्ति या पदाधिकारी के प्रति उत्तरदायी रहते है।

इन सैद्धान्तिक विशेषताओ के अतिरिक्त नौकरशाही की निम्नलिखित विशेषताएँ भी व्यावहारिक अध्ययन मे प्रकट होती हैं :

(1) **भ्रष्टाचार**—हमारे देश के अधिकाश शासकीय कार्य नागरिक सेवा के कर्मचारियो के द्वारा ही किये जाते है। गांवो की अशिक्षित जनता अपने-अपने छोटे-छोटे कार्यो के लिए पटवारी, ग्राम सेवक, तहसील कार्यालय के क्लर्कों तथा जिले के अधिकारियो की तरफ देखती है। कृषि के लिए खाद लेना हो या सरकारी बैंक से कर्ज या पटवारी से कोई पट्टा तो रिश्वत का सहारा लेना ही पडता है। यदि किसी असावधानी से पुलिस के चंगुल मे कोई फँस जाता है तो उसकी कमर टूट जाती है।

(2) **राजनीति में संलग्नता**—सर्वोच्च स्तर पर वड़े-वडे अफसर ऊपर से तटस्थ दिखलायी देते हैं किन्तु उनका राजनीति से कही न कही तादात्म्य भी रहता है। वे अपने विचारो को छिपाकर सरकारी निर्णयो पर प्रभाव डालते रहते है।[1]

(3) **लालफीताशाही**—भारत की प्रशासनिक सेवाओ में लालफीताशाही अथवा अनावश्यक औपचारिकता पायी जाती है। अधिकारीगण प्रक्रिया की औपचारिकता में विश्वास करते हुए नियमो और विनियमो का पालन कठोरता के साथ करते है। इसके परिणामस्वरूप कार्य की सम्पन्नता मे विलम्ब होता है और महत्त्वपूर्ण निर्णय शीघ्र नही लिये जा सकते। नौकरशाही प्रक्रिया की औपचारिकताओ को अपना उद्देश्य वना लेती है और जनता की सेवा की उपेक्षा करती रहती है। औपचारिकता का अत्यधिक पालन करते-करते कर्मचारीतन्त्र मशीन की तरह वन गया है और इसकी निर्णय क्षमता क्षीण हो गयी है। अधिकारीगण उत्तरदायित्व वहन करना पसन्द नही करते, हर वात का उत्तरदायित्व दूसरो पर डालते रहते हैं।

---

1 "Administration is becoming increasingly political. Even if the bureaucrats want to remain neutral and follow the rules the politicians would hardly permit it."
—V. M. Sinha, *The Indian Politic-Administrative System*, 1984, p. 145.

(4) **शासन करने की अहं वृत्ति**—भारत की नौकरशाही मे एक झूठा अहं आज भी समाया हुआ है कि वे जनता के स्वामी हैं न कि सेवक । शासन करने के लिए ही वे बड़े-बड़े पद धारण कर रहे हैं न कि जनता की सेवा करने के लिए । आजादी के बाद भी नौकरशाही देश की जनता से अपना तादात्म्य स्थापित नही कर सकी । सामान्य जनता के सुख-दु ख से अधिकारीगण कितने अलग-अलग रहते है इसका अवलोकन गाँवो मे जाकर आसानी से किया जा सकता है ।

(5) **विशेषज्ञो की उपेक्षा**—भारतीय प्रशासन विविधज्ञ प्रधान है । उदार शिक्षा प्राप्त अधिकारियो का एक विशिष्ट वर्ग ही समूचे शासन मे प्रशासकीय पदो को ग्रहण करता है । ऐसे विविधज्ञ प्रशासक कभी वित्त विभाग के उच्च पदो पर नियुक्त किये जाते है तो कभी सिंचाई, बिजली, यातायात, शिक्षा आदि अन्य विभागो की देखभाल करते है । यदि आज वे जिलाधीश के रूप मे कार्य करते है तो कल उन्हे शिक्षा सचालक अथवा सहकारी विभाग के सचिव के रूप मे नियुक्त किया जा सकता है । सक्षेप मे, विविधज्ञ प्रशासक को 'सब मर्ज की एकमात्र दवा' मान लिया गया है ।

(6) **त्रिस्तरीय सेवा संरचना**—सघ शासन के विचार के साथ केन्द्रीय सेवाएँ अखिल भारतीय सेवाओ से अलग होकर स्वतन्त्र रूप मे उभरी और इस तरह अखिल भारतीय सेवाओ (All India Services), केन्द्रीय सेवाओ (Central Services) तथा प्रान्तीय सेवाओ (Provincial Services) के रूप मे एक त्रिकोणात्मक सेवा सरचना जन्मी जो स्वतन्त्र भारत को अंग्रेजी राज्य से विरासत मे मिली । इन तीनो प्रकार की उच्च सेवाओ मे विभिन्न सेविवर्ग अथवा 'काडर्स' बने, जिनकी ज्येष्ठ, कनिष्ठ आदि कितनी ही सेवा श्रेणियो के रूप मे इन लोक सेवाओ का विकास हुआ ।

(7) **अभिजनवादी प्रतिबद्धता**—वैसे तो ससार के सभी देशो मे योग्यता आधारित लोक-सेवाएँ अपने आप मे 'एलीट' होती है और वे जनसाधारण का प्रतिनिधित्व नही कर सकती । भारत मे जहाँ का समाज, जाति, धर्म, क्षेत्र एव भाषा की सीमाओ मे बँधा हुआ जड़ था वहाँ यह प्रशासक वर्ग एक नयी जाति के रूप मे उभरकर नया अभिजन वर्ग बन गया है ।

(8) **अनुत्तरदायी सेवा संरचना**—ब्रिटिश शासन काल मे नौकरशाही को जो शासक की भूमिका मिली थी वह बहुत कुछ इसलिए सम्भव हो सकी कि अग्रेज राजनीतिज्ञ लन्दन मे रहते थे और सेवा के महत्वपूर्ण अधिकारी अग्रेज ही होते थे । अत स्वाभाविक था कि नौकरशाही को शक्ति प्रदान की जाये और उस पर विश्वास किया जाये । परिणामस्वरूप नौकरशाही एक ऐसे तन्त्र के रूप मे सामने आयी जिस पर जनता, कानून एव राजनीतिज्ञो का कोई अकुश नही था । ब्रिटिश सरकार उन्हे अपना प्रतिनिधि मानती थी और भारत की जनता उन्हे अपना शासक समझती थी । औपनिवेशिक काल की स्थिति मे शासन सेवाओ पर जो भी नियन्त्रण होते है, उन्हे विकसित नही होने दिया । परिणाम यह निकला कि लोक सेवाएँ कानून की प्रतीक और सरक्षक से अधिक कानून की मालिक बन गयी । अकुशो के अभाव मे अनुत्तरदायी बन गयी थी और हजारो मील दूर से उन पर नियन्त्रण करने वाला भारत सचिव उनका नाममात्र का नियन्त्रक बना रहा । अतः स्वतन्त्र भारत को प्रशासनिक क्षेत्र मे जो विरासत मिली उसमे अनुत्तरदायी सेवाएँ एक बहुत बड़ी विशेषता थी ।

लोक सेवाओं के कार्य (Functions of Civil Services)

लोक सेवको के प्रमुख कार्य इस प्रकार है :

(1) **नीति निर्माण**—यद्यपि नीति निर्माण करना मन्त्रियो व ससद का कार्य है किन्तु व्यवहार मे यह कार्य लोक सेवको के हाथो मे आ गया है । वे न केवल मन्त्रियो के सलाहकार है अपितु अपने कार्यों में निपुण होने के कारण नीति निर्माता भी बन गये हैं ।

(2) **सलाह देना**—प्रशासक राजनीतिक कार्यपालिका के परामर्शदाता है। वे अपने कार्यों मे प्रशिक्षित होने के कारण विशेषज्ञ होते है, अत. अनुभवहीन मन्त्री उनकी सलाह का सदैव आदर करते है।

(3) **नीति को कार्यान्वित करना**—सरकार की नीतियो को कार्यान्वित करना लोक प्रशासको का ही कार्य है। नीतियाँ कितनी ही अच्छी हो, यदि उनको कार्यान्वित करने वाले कर्मचारी अच्छे और प्रतिवद्ध नही हैं तो नीतियाँ महत्त्व शून्य रह जायेगी।

(4) **विधि निर्माण कार्य**—विधि निर्माण आज प्रशासको का दायित्व हो गया है। प्रदत्त व्यवस्थापन के अन्तर्गत वनने वाले समस्त नियमो, उपनियमो का निर्माण प्रशासकीय अधिकारी ही करते है। कानूनो का प्रारूप प्रशासकीय सचिवो द्वारा ही वनाया जाता है और उनके वताये तर्कों के आधार पर ही मन्त्रीगण संसद मे विधेयको का संचालन करते है।

(5) **अर्द्ध-न्यायिक कार्य**—वर्तमान मे प्रशासकीय कानून तथा प्रशासकीय अधिनिर्णय के फलस्वरूप प्रशासक न केवल शासन करते है अपितु न्याय भी करते हैं।

(6) **विकास अभिकरण के रूप में**—भारत जैसे विकासशील देश मे, वहाँ लोक सेवाएँ देश के योग्य एव प्रवुद्धवर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं, उनसे यह अपेक्षा किया जाना स्वाभाविक है कि वे आर्थिक विकास मे एक नये प्रकार के प्रशासनतन्त्र को विकसित करे। कल्याण राज्य, समाजवाद आदि नारे जव देश की राजनीति मे मौलिक परिवर्तन का दवाव डालते हैं तो नौकरशाही एक अवरोध वनकर खड़ी हो जाती है। फलस्वरूप विकास की राजनीति मे राजनीतिज्ञ वनाम प्रशासक के सघर्ष जिसे प्रतिवद्ध नौकरशाही की समस्या भी कहा जाता है, सामने आ जाती हैं। भारत मे विकास प्रशासन का तन्त्र गत वर्षो मे इतनी तेजी से फैला है कि प्रशासन अपने आप मे राजनीति हो गया है और राजनीति प्रशासन की लालफीताशाही और नौकरशाही मनोवृत्ति की सहभागिनी लगती है। लोक-सेवाओ की यह नयी भूमिका और कार्य भारत के सन्दर्भ मे उनके लिए सम्भावनाओ और चुनौतियो का क्षेत्र एक साथ प्रस्तुत कर रहे है। विकास प्रशासन के माध्यम से वे सशक्त शासन क्षेत्र वन सकती है, किन्तु यदि वे इनमे असफल रही तो राजनीति उनकी सारी ऐतिहासिक विशेषताओ को समाप्त कर उन्हे लोक सेवको के स्थान पर सामान्य कर्मचारी वनाकर छोड़ देगी।

(7) **लोक सेवक के रूप मे**—लोकतन्त्र मे 'लोक सेवक' शब्द केवल अप्रत्यक्ष सेवा करने का नाम नही है। राजनीतिज्ञो के आदर्शों की अनुपालना मात्र से ही एक सच्चे लोक सेवक का चित्र नही उभरता। विकासशील जनतन्त्र उनसे यह अपेक्षा करता है कि लोक सेवाएँ अपनी भूमिका निभाने के लिए जनसाधारण के साथ तादात्म्य स्थापित करे। वे प्रतिनिधि सेवाएँ वन सके, जनसाधारण को सरकारी नीतियाँ समझा सके। उनका सहयोग प्राप्त कर सके और उन्हे प्रशिक्षित कर सरकार के साथ नये समाज की सरचना मे भागीदार वन सके। शासक को शासित वन कर नागरिक के साथ निर्माण का कार्य करना साम्यवादी देशो मे तो हुआ है, परन्तु लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था मे यह एक नया प्रयोग है। भारतीय लोक सेवाएँ यदि इस कार्य के लिए अपने को नही ढाल सकी तो उनकी अन्य भूमिकाएँ भी अपूर्ण रह जायेंगी।

भारत में नौकरशाही का ढाँचा
(STRUCTURE OF BUREAUCRACY IN INDIA)

ब्रिटिश शासनकाल मे भारतीय प्रशासनिक सेवाएँ बहुत ही अधिक तीव्र गति से वदली और विकसित हुई हैं। इसका प्रमुख कारण यह माना जा सकता है कि ब्रिटिश शासन में साम्राज्यवाद तथा प्रशासनिक सुधार दोनो ही दृष्टियो से भारतीय लोक सेवाओ को एक प्रमुख क्षेत्र माना था। मैकाले, डल्हिगटन तथा ली फर्नहाम आदि प्रसिद्ध अग्रेजो ने भारत की प्रशासनिक सेवाओ को एक विशिष्ट ढाँचे मे ढालने के लिए गम्भीर प्रयत्न किये और आज भी भारतीय प्रशासन मे जिस

अखिल भारतवर्षीय सामान्य सेवाओ का वर्चस्व है, वह इन्ही महानुभावो की बौद्धिक परिकल्पना का परिणाम है। लम्बे विकास ने इन सेवाओ को अनाम-बेनाम (Anonymous), तटस्थ (Neutral) एवं स्वामिभक्ति (Loyalty) की विशेषताओ से सुदृढ बनाया है। भारतीय सेवाओ के इतिहास मे सन् 1854 सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वर्ष था जबकि लार्ड मैकाले की अध्यक्षता मे 'कमेटी आन इण्डियन सिविल सर्विसेज' का गठन हुआ। इस कमेटी ने आई. सी. एस. के लिए जो सिफारिशें की थी वे न्यूनाधिक रूप मे आज भी भारतीय प्रशासनिक सेवाओ के गठन और कार्य-प्रणाली की आधार-स्तम्भ हैं।

सन् 1920 के आस-पास भारत मे तीन प्रकार की सेवाएँ स्पष्ट नजर आने लगी थी :

(1) केन्द्रीय सेवाएँ, जो सर्वोच्च सरकार के प्रत्यक्ष तथा स्थायी नियन्त्रण मे थी।

(2) इम्पीरियल सेवाएँ, जो भारत के राज्य सचिव के सरक्षण मे कार्य कर रही थी और

(3) प्रान्तीय सेवाएँ।

साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी सरकार का प्रमुख ध्येय देश मे शान्ति एव व्यवस्था बनाये रखते हुए राजस्व एकत्रित करना था अतः उसने लोककल्याणकारी तथा विकास कार्यो की ओर कोई ध्यान नही दिया। इसके स्वाभाविक परिणामस्वरूप तकनीकी एव विशेषीकृत लोक सेवाओ का न तो केन्द्रीय स्तर पर और न प्रान्तीय स्तर पर विकास हो सका और यदि कही विशेषीकृत सेवाएँ उद्भव भी हो सकी तो अन्य सामान्य सेवाओं के अधीन रहकर कार्य करना होता था।

भारत के गणतन्त्रीय सविधान ने अखिल भारतीय सेवाओ अर्थात् आई ए. एस., आई. पी. एस सेवाओ को इसी रूप मे कार्य करते रहने का निश्चय किया और इन सेवाओ की व्यवस्था सविधान के संघीय सूची मे सातवी अनुसूची के अन्तर्गत की और राज्यसभा को यह अधिकार प्रदान किया कि भविष्य मे यदि अखिल भारतीय सेवाओ मे वृद्धि करने की आवश्यकता पड़े तो वह ऐसा कर सकती है। इसी प्रकार सविधान ने यह भी व्यवस्था कर दी है कि इन सेवाओ के चयन हेतु केन्द्रीय स्तर पर सघीय लोक सेवा आयोग तथा राज्य स्तर पर प्रत्येक राज्य का अपना लोक सेवा आयोग। इसके साथ ही साथ सविधान ने इन आयोगो के गठन, कार्यप्रणाली तथा शक्तियों का भी विवेचन कर दिया है। संघीय सरकार, जो कि 97 संघीय विषयो एव 47 समवर्ती सूची के विषयो का प्रशासन सचालित करती है, को यह अधिकार दिया गया है कि वह आवश्यकतानुसार कुछ नवीन केन्द्रीय लोक सेवाओ का निर्माण भी कर सकती है। इन केन्द्रीय लोक-सेवाओ मे से कुछ सेवाएँ जैसे—प्रतिरक्षा, रेलवे, डाक एव तार विभाग आदि का तो इतिहास काफी पुराना है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संघीय ससद ने अखिल भारतीय वनसेवा का निर्माण किया है। इसी प्रकार राज्यो ने भी अपने-अपने राज्यो के प्रशासन-संचालन हेतु केन्द्रीय सरकार का अनुकरण किया है। अपने-अपने राज्यों मे उन्होने विशेषज्ञ सेवाओ के अनेक नवीन काडर बनाये हैं। इन सेवाओ की नियुक्ति हेतु स्वतन्त्र लोक सेवा आयोगो की स्थापना हुई है। लोक-सेवाओं का यह स्वरूप प्रत्येक राज्य मे अपना अलग-अलग है, परन्तु ऐतिहासिक उपलब्धि (Legacy) ने इस सगठन को एकात्मक स्वरूप देने मे काफी सहायता की है। वर्तमान समय में भारत मे तीन अखिल भारतीय सेवाएँ हैं, दस सुसगठित केन्द्रीय सेवाएँ हैं (भारतीय विदेश सेवा के अतिरिक्त) और अनेक प्रथम श्रेणी की प्रान्तीय सेवाएँ हैं। ये निम्न प्रकार हैं .

अखिल भारतीय सेवाएँ—(1) भारतीय प्रशासनिक सेवाएँ; (2) भारतीय पुलिस सेवा, (3) भारतीय वन सेवा।

केन्द्रीय सेवा प्रथम श्रेणी—(1) भारतीय आयकर सेवा; (2) भारतीय रेलवे अकाउण्ट्स सर्विस, (3) भारतीय चुंगी और केन्द्रीय एक्साइज सेवा, (4) भारतीय आडिट एव अकाउण्ट्स

सेवा; (5) भारतीय प्रतिरक्षा अकाउण्ट्स सेवा; (6) भारतीय डाक सेवा, (7) भारतीय रेलवे ट्रैफिक सेवा, (8) मिलिट्री भूमि एवं छावनी सेवा, (9) भारतीय आर्डिनेन्स फैक्ट्रीज सेवा, (10) केन्द्रीय सूचना सेवा।

राज्यों में प्रायः निम्न सेवाएँ पायी जाती है—(1) राज्य प्रशासनिक सेवा; (2) राज्य पुलिस सेवा; (3) राज्य आडिट एवं अकाउण्ट्स सेवा; (4) राज्य शिक्षा सेवा; (5) राज्य कोऑप-रेटिव सेवा; (6) राज्य नियोजन सेवा; (7) राज्य जेल सेवा; (8) राज्य वाणिज्यिक कर सेवा।

भारत में प्रशासक-राजनीतिक सम्बन्ध
(MINISTER CIVIL SERVANT RELATIONSHIP IN INDIA)

रजनी कोठारी ने नौकरशाही, कार्यपालिका तथा राजनीतिक दल को एक ही निरन्तरता का भाग मानते हुए उसे सरकार का चौथा अग बताया है। प्रशासन चूंकि राजनीति का एक अभिन्न अंग है, अत. राजनीतिक सरकारो से यह अपेक्षा की जाती है कि वे प्रशासन की ऐसी स्थिति में रखे जिससे वह राजनीतिक उद्देश्यो की उपलब्धि का प्रभावी यन्त्र वन सके। मन्त्री जो कि प्रशासन का राजनीतिक अध्यक्ष होता है और नित्य प्रति के सामान्य प्रशासन को चलाता है, वही प्रशासन नौकरशाही तथा प्रशासनिक प्रक्रियाओ की सभी गतिविधियो का समग्र रूप एक उत्तर-दायी केन्द्र है और जनतन्त्र का बहुत कुछ स्वरूप इसी मन्त्री प्रशासक के सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होता है।

ऐसा कहा जाता है कि मन्त्री का प्रशासन पर नियन्त्रण आवश्यक एव उपयोगी ही नही बल्कि एक ऐसी केन्द्रीय विशेषता है जो प्रशासन को शासन से जोडती है। संसार के विकसित देशो में जनतन्त्र मे प्रशासनतन्त्र के यदि प्रतिमान ढूंढे जायें तो इग्लैण्ड, अमरीका, फ्रास तथा रूस को चार विभिन्न मॉडलो के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है। इन देशो मे सरकार की प्रकृति के *अनुसार प्रशासनतन्त्र की प्रकृति का निर्माण हुआ है।* *ब्रिटेन मे जहाँ नौकरशाही तटस्थ, अनाम* तथा योग्यता पर आधारित है, वही अमरीका मे वह अर्द्धराजनीतिक, विशेषज्ञ, योजना आधारित तथा उच्चस्तरीय स्तर पर अनुबन्धो द्वारा सचालित होती है। फ्रास की व्यवस्था नौकरशाही को केन्द्रीय स्थान देती है और उसे राजनीति की पूरक मानती है। सोवियत रूस प्रतिवद्ध नौकरशाही का चरम उदाहरण उपस्थित करता है, अत. इन व्यवस्थाओं मे मन्त्री-प्रशासक सम्बन्ध प्रशासन की इन विशिष्टताओ द्वारा निर्धारित होते हैं। फिर, संसदीय एव अध्यक्षीय व्यवस्थाएँ भी इस सम्बन्ध को संचालित करने मे अपना योगदान देती है। वास्तव मे, यह सम्बन्ध न मालिक-नौकर का सम्बन्ध है, न डॉक्टर-मरीज का, न व्यवस्थापक-प्रवन्धक का, बल्कि वह उन सहयोगियो का मित्रता-पूर्ण सम्बन्ध है, जिसमे सामान्य अधीनस्थ के भाव अन्तर्निहित है।

-मन्त्री अपने विभाग की प्रशासकीय नीति बनाता है, प्रशासनिक ढाँचे का निर्धारण करता है, अपने विभाग के अधिकारियो व कर्मचारियो की नियुक्ति, सेवास्थिति तथा अनुशासन की समस्याएँ सुलझाता है, दैनिक प्रशासन पर परिवेक्षण करता है। समन्वय उसका विशेषाधिकार है और संसदीय नियन्त्रण भी उसी के माध्यम से सचालित होता है।

प्रशासक या लोक सेवक जो मन्त्री के विपरीत विशेषज्ञ, योग्य, स्थायी और गैर-राज-नीतिक एवं नियुक्ति प्राप्त व्यक्ति होता है, अपने काम का उत्तरदायित्व इस राजनीतिक मन्त्री के माध्यम से समद एवं जनता के प्रति निभाता है। भारत मे, जहाँ ब्रिटिश पद्धति की राजनीति व प्रशासन लम्बे काल से रहा है, लोक सेवक विशेषतः एवं अपरिपक्व रूप से अपनी भूमिकाएँ निभाते रहे है। स्वतन्त्रता के बाद उस सम्बन्ध मे जो जटिलताएँ आयी है उसके अनेक कारण है। प्रशासन का भीमकाय विस्तार, मन्त्रियो की दुर्वल स्थिति, प्रशासन का केन्द्रीय स्वरूप, राजनीति-करण का जोश, विशेषज्ञ का प्रशासन मे पदार्पण आदि कुछ ऐसी बाते है जिन्होने मन्त्री प्रशासक

के सम्बन्ध मे कुछ उलझनें पैदा की हैं। मन्त्री यह माँग करने लगे हैं कि प्रशासक उसके इतने अधीन होने चाहिए कि वे अपनी नीतियों को उनसे क्रियान्वित करा सकें और उनकी तटस्थता या योग्यता राजनीतिक विकास के मार्ग मे बाधा न बने। इसी प्रकार राजनीतिक विकास के बाद अपनी केन्द्रीय स्थिति से अपदस्थ किये जाने वाले प्रशासक ये कहने लगे हैं कि राजनीतिक नियन्त्रण का अर्थ राजनीतिक हस्तक्षेप नही होना चाहिए।

प्रशासनिक स्वायत्तता का नारा राजनीतिज्ञों द्वारा प्रशासनिक गैर-जिम्मेदारी कहा जा रहा है, और इसी प्रकार कठोर नियन्त्रण की बात प्रशासको द्वारा राजनीतिक अराजकता कही जाने लगी है। इस प्रकार मन्त्री का यह नियन्त्रण प्रशासनिक दृष्टि से यद्यपि आवश्यक व व्यावहारिक माना जाता है किन्तु इससे जो समस्याएँ जन्म लेती हैं वे राजनीतिक प्रकार की अधिक हैं। प्रशासको का कहना है कि मन्त्री का नियन्त्रण उनकी तटस्थता को तोड़ता है, उनमे अनुशासनहीनता को जगाता है और उन्हे राजनीतिक हस्तक्षेप का शिकार बनाकर अक्षमता एवं भ्रष्टाचार की ओर प्रवृत्त करता है। इसके विपरीत, मन्त्री का पक्ष यह कहकर समर्थित किया जाता है कि मन्त्री के कठोर नियन्त्रण के बिना प्रशासक नीति की अनुपालना नही करते और स्वयं निहित स्वार्थों के प्रतिनिधि बन जाते हैं। ऐसी स्थिति मे वे जनतन्त्र की प्रगति को धीमा करते हैं और समाज को राजनीतिक ह्रास की ओर ले जाते हैं।

किन्तु यह नियन्त्रण और सम्बन्ध किस प्रकार का हो ? उसकी प्रकृति क्या हो ? आदि प्रश्न सदैव जटिल रहे हैं। ए. डी. गोरवाला, पॉल एच एपलबी, अशोक चन्दा, प्रशासनिक सुधार आयोग तथा अन्य संस्थाओं एव व्यक्तियों द्वारा किये गये अध्ययन इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण माने गये है, परन्तु अभी भी निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि मन्त्री तथा लोक सेवकों के सम्बन्ध वर्तमान मे किस प्रकार के हैं तथा वे कैसे होने चाहिए ?

राजनीतिक-नौकरशाही सम्बन्ध निम्नलिखित कारको एव परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं :

(1) **राजनीतिक दल की प्रकृति**—मन्त्री अपने राजनीतिक दल का एक प्रभावशाली नेता होता है। उसका नौकरशाही पर कुछ प्रभाव इस बात पर निर्भर होता है कि वह कहाँ तक सुगठित है तथा उसकी विचारधारा विभिन्न विषयों पर कहाँ तक सुस्पष्ट है तथा उसकी जनता के मध्य कितनी मान्यता है ? वह विभिन्न दलों के सहयोग से सत्तारूढ़ हुआ है या उसका विधानमण्डल में स्पष्ट बहुमत है।

(2) **मन्त्रिमण्डल मे स्थिति**—यदि मन्त्रिमण्डल मे सम्बद्ध मन्त्री की स्थिति प्रभावपूर्ण है तथा उसके पीछे राजनीतिक समर्थन विद्यमान है तो वह अपने सचिव या अन्य विभागीय अधिकारियो से समक्ष प्रभावशाली सिद्ध होगा, किन्तु इन सबसे पहले स्वय प्रधानमन्त्री की स्थिति का शक्तिशाली होना आवश्यक है।

(3) **सामाजिक एवं आर्थिक कारक**—प्राय. मन्त्री तथा लोक सेवकों के मध्य मतभेद उनकी विभिन्न सामाजिक संस्कृतियो के कारण होते हैं।

(4) **लोक सेवकों की प्रस्थिति**—ताँव, कोठारी व रॉय के अध्ययनों से पता चलता है कि राजनेताओं तथा नौकरशाही के मध्य न तो लक्ष्य सम्बन्धी समरूपता होती है और न ही वे एक-दूसरे के प्रति सद्भाव रखते हैं। नौकरशाही अभी भी पुरानी मान्यताओं पर आधारित है। प्रशासक समझते हैं कि वे एक उच्च शिक्षा प्राप्त वर्ग के प्रतिनिधि हैं तथा वे ही समग्र राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा जनहित को समझते हैं। उनका सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एव राजनीतिक स्तर उनके मन्त्री के साथ सम्बन्धों को प्राप्त करता है।

(5) **वैयक्तिक विशेषताएँ एवं लक्ष्य**—जाति, धर्म, भाषा, विचार व पृष्ठभूमि सम्बन्धी एकता मन्त्री एव प्रशासन के पारस्परिक सम्बन्धों को बड़ा प्रभावित करती है, भारतीय मन्त्री यह

प्रयास करते रहते हैं कि किसी तरह अपने जानकार प्रशासको को लाया जाय ताकि उन पर भरोसा किया जा सके। स्वय लोक सेवक के अपने उद्देश्य उसको प्रेरित करते है और वह शीघ्र पदोन्नतियो, सेनानिवृत्ति के पश्चात् नियुक्तियो, आर्थिक लाभ, स्वजनो की नियुक्तियों आदि की दृष्टि मे मन्त्री का अनुगामी बन जाये।

(6) **नीति निर्माण का स्तर तथा अभिकरणो का प्रकार**—मन्त्री एवं लोकसेवकों के सम्बन्ध विभागीय नीति या निर्णय निर्माण के स्तरों पर भी निर्भर करते है। उच्च स्तर पर उनके सम्बन्ध बराबरी और सहयोग, मध्य स्तर पर आदेश-अनुपालक तथा निम्न स्तर पर स्वामी-सेवक जैसे होते है।

प्रोफेसर सी पी. भाम्भरी ने प्रधानमन्त्री एव नौकरशाही के सम्बन्धो तथा अन्य राष्ट्रीय महत्त्व की घटनाओ का विश्लेषण करते हुए बताया है कि मन्त्री की राजनैतिक स्थिति दुर्बल होने पर नौकरशाही हावी हो जाती है। शक्तिशाली नौकरशाही ने दलीय नेताओ के साथ पारस्परिक लाभों के लिए समझौता कर लिया हैं। स्वयं नौकरशाही ने अपने आपको कांग्रेस दल के उद्देश्यो की पूर्ति का एक साधन बनने दिया। असन्तुष्ट एवं अवमानित अधिकारियो ने प्रेस, संसद तथा विरोधी दलो का भी सहारा लिया है।

यह भी अनुभव किया गया है कि सत्ता परिवर्तन होने, सरकारो के अस्थायित्वो तथा मिले-जुले रूप के कारण और मन्त्रियो के अज्ञान के कारण लोक सेवक हावी हो जाते है। इटली, फ्रास तथा 1967 की मिली-जुली सरकारो का अनुभव तथा भारत मे जनता पार्टी का शासन नौकरशाही की बढ़ती हुई शक्तियो का परिचायक रहा है। अपने अवाछनीय सम्बन्धों को छिपाने के लिए सरकारो के बनने से पूर्व पुरानी पत्रावलियो को जला दिया जाता है। इसका मूल कारण मन्त्री-लोक सेवक के मध्य स्वार्थपूर्ण साँठ-गाँठ है। इस साँठ-साँठ का कारण यह दोषपूर्ण धारणा है कि उनमे परस्पर पूर्ण सहयोग या लगाव होना चाहिए। उनमे एकता व प्रतिबद्धता राजनीतिज्ञ का नौकरशाहीकरण तथा नौकरशाही का राजनीतिकरण कर देती हैं।

प्रोफेसर भाम्भरी की मान्यता है कि "भारत की नौकरशाही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीको से राजनीति मे दखल देती रहती है। भारत में नौकरशाही न केवल तटस्थ है अपितु कानून से भी आगे बढकर राजनीतिक शक्तियो का प्रयोग करती है। बहुत बार तो यह देखा गया है कि मन्त्री लोग अपने विभागीय अधिकारियो को भी नियन्त्रण मे नही रख पाते है।"[1] इसी प्रकार प्रोफेसर शान्ति कोठारी ने जिला स्तर पर राजनीतिज्ञों और प्रशासको के सम्बन्धो का अध्ययन करते हुए पाया है कि "राजनीतिज्ञ और प्रशासक के कार्यों मे विभाजन का रूढिवादी दृष्टिकोण अत्र व्यवहार मे देखने को नही मिलता है।"[2]

प्रोफेसर भाम्भरी का कहना है कि सेवा निवृत्ति के तुरन्त बाद भारत के अनेक उच्चस्तरीय प्रशासको ने किसी न किसी राजनीतिक दल की सदस्यता ग्रहण करके सक्रिय राजनीति मे पदार्पण किया और यह तथ्य इस धारणा की पुष्टि करता है कि 'स्वाधीनता के बाद में भारतीय नौकरशाही

---

1 "Indian Bureaucracy has been involved in politics and political activity in a number of ways,...They were not only neutral in politics, they exercised more powers in reality than the law permits Many times Ministeres were found wanting in effectively controlling their departmental bureaucracy."
—C. P. Bhambri · *Bureaucracy and Politics in India*, (Delhi, Vikas, 1971), p. 267

2 "That the conventional notion of a clear cut and clean division of function · administrators and political leader does ont obtain in practice." —Shanti Kothari Ramashray Roy : *Relation between Politicians and Administrators at the District* (New Delhi, IIPA, 1969), p. 160.

राजनीति मे हस्तक्षेप करती रहती है।"[1] सी. सी. देसाई, एन. डांडेकर, एच. एम. पटेल, लांबो प्रभु आदि स्वतन्त्र पार्टी के सक्रिय सदस्य रहे, जबकि वे सभी एक समय सरकार के उच्च प्रशासनिक पदो पर आसीन थे। वी. शंकर जिन्होंने कि सरदार पटेल के साथ रियासतो के एकीकरण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, राजाओ के साथ मिलकर बाद के दिनो मे सरकारी नीति का विरोध करने लग गये।[2] ऐसा भी कहा जाता है कि स्वाधीनता के बाद अनेक प्रशासकों ने कांग्रेस पार्टी के नेताओं से गहरी मित्रता कर ली और अपने न्यस्त स्वार्थों की पूर्ति करने लगे।[3] हाल ही मे रोमेश भण्डारी, नटवरसिंह, के. एन नारायण, मणिशंकर अय्यर आदि लोग इसी प्रकार राजनीति मे आये हैं।

मोरिस जोन्स के अनुसार मन्त्रियो और प्रशासको के सम्बन्धो मे विकार पैदा हो सकते हैं यदि प्रशासक मन्त्री की जी-हुजूरी करता है, प्रत्येक कार्य मन्त्री को खुश रखने के लिए करता है, उचित कार्य को भी मन्त्री की नाराजगी के डर से नही करता, और इस प्रकार प्रशासन के मानदण्डो को गिरा देता है। भारत में ऐसे अफसरो की कमी नही जो अपने दरबारी दृष्टिकोण के कारण मन्त्रियो के पैर छूते हैं और उनके गलत कामो की आलोचना न करके उनका बेड़ा भी गर्क कर देते हैं।

दमन और आतंक के यन्त्र के रूप में नौकरशाही की भूमिका

आज भी भारतीय प्रशासन का चरित्र एक दमनकारी नौकरशाही का है। पश्चिम बगाल मे जनवादी आन्दोलनो को पुलिस और नौकरशाही के आतंक का निरन्तर अनुभव होता रहा है। चार्ल्स बीतलहाइम का निष्कर्ष है, दमन और टैक्सों की वसूली आज भी नौकरशाही के मुख्य उद्देश्य हैं। लोगो को आज भी वैसे ही नौकरशाहो और पुलिस अधिकारियों से जूझना पड़ता है और वे उनके साथ वैसा ही नफरत भरा और वहशियाना वर्ताव करते हैं जैसा कि ब्रिटिश काल मे करते थे। अनेक मामलो मे नौकरशाही और पुलिस के कर्मचारी अपने पदों और स्थिति से पूरा मुनाफा कमाने की कोशिश करते है।[4]

गाँवो के निवासी स्थानीय अधिकारियो के दमन और शोषण से अत्यधिक दु.खी रहते हैं। इनमे मालगुजारी के इन्सपेक्टर, वन विभाग के कर्मचारी और डाकतार कर्मचारी तक शामिल है। जमींदारों के इशारे पर अक्सर खेतिहर मजदूरो और गरीब किसानो को आतंक का शिकार बनाया जाता है। अलान बील्स ने एक घटना का जिक्र करते हुए लिखा है कि एक किसान को जब जगलो के गार्ड ने बाँस इकट्ठा करते हुए देखा तो उससे 15 रुपये रिश्वत माँगी और न देने पर उसे पीटने की धमकी दी। घटना उसी किसान की जुबानी इस तरह से है : 'जब वह गार्ड मुझे पीटने जा रहा था, तो शिव नामक आदमी ने उसे मुझे मारने से मना किया तो वह शिव पर गुस्से से पागल हो गया। उसने शिव से झगड़ा किया और उस पर जगल के कानून-कायदे तोडने का इलजाम लगाया। अन्त मे गार्ड ने मुझसे दस रुपये लिये और पड़ौस के गाँव मे चला गया। अगले दिन वह गार्ड एक चौकीदार को साथ लाया और उसे शिव के घर से सारा लकड़ी का सामान जब्त कर

---

1 "The fact that many civil servants in India have associated with one political party or the other after their retirement and became its active members, has given rise to general and somewhat eroneous contention that during the post-independence period the Indian bureaucracy has involved in politics." —C. P. Bhambri : *Ibid*. p. 266.

2 R. B. Jain : *Contemporary Issue in Indian Administration*, (New Delhi, Vikas, 1976), pp 163-64.

3 *Ibid*

4 चार्ल्स बीतलहाइम · इण्डिया इण्डिपेण्डेण्ट, पृ. 118-19।

लेने का हुक्म दिया। चौकीदार ने सारा सामान बाहर निकाल लिया। फिर गार्ड ने कहा, "मैं यह सारा सामान जला दूंगा।' शिव ने उसे ऐसा न करने की प्रार्थना की और उसे उसकी माँग के अनुसार रुपये देने का वायदा किया। अन्त मे वह 50 रुपये लेने के लिए राजी हुआ और शिव के खिलाफ मुकदमा दायर करने की धमकी देकर चलता बना।"

भारत के गाँवो के लिए उपर्युक्त घटनाओ मे कोई नवीनता नही है। पुलिस, नहर विभाग, वन विभाग, मालगुजारी वसूल करने वाले कर्मचारी रिश्वत और आतंक को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं। भारत की तरह जिन अल्प-विकसित देशो ने आजादी के वाद अपने प्रशासनिक ढाँचे को पूरी तौर से नहीं वदला, वहाँ इस तरह का भ्रष्टाचार और दमन समाप्त नही हो सकता।

प्रतिबद्ध नौकरशाही : भारतीय सन्दर्भ
(COMMITTED BUREAUCRACY . INDIAN CONTEXT)

प्रतिवद्ध नौकरशाही[1] का दृष्टिकोण नौकरशाही के परम्परागत दृष्टिकोण **"तटस्थता"** से जुडा हुआ है। भारत मे लोकसेवा का परम्परागत गुण तटस्थता है। तटस्थता एवं निष्पक्षता ब्रिटिश लोक सेवा की प्रमुख विशेषता रही है। इसके अन्तर्गत तीन वाते शामिल है—**प्रथम**, जनता को विश्वास होना चाहिए कि लोक सेवा सभी प्रकार के राजनीतिक पक्षपात एव दवाव से मुक्त है। **द्वितीय**, मन्त्रियो को यह विश्वास होना चाहिए कि सत्ता मे चाहे जो दल आये, लोकसेवा की उन्हे निष्ठा प्राप्त रहेगी। **तृतीय**, लोक सेवाओ के नैतिक साहस का आधार यह मान्यता है कि पदोन्नति या अन्य पुरस्कार राजनीतिक मान्यताओ या पक्षपातपूर्ण कार्यो पर नही निर्भर करते वल्कि योग्यता एवं कुशलता पर निर्भर करते हैं।

ब्रिटेन मे नौकरशाही की तटस्थता से अभिप्राय है कि राजनीति का कार्य नीतियो का निर्धारण होता है और प्रशासन का कार्य उन नीतियो के कार्यान्वयन का होता है। सरकारे वदलती रहती हैं परन्तु प्रशासनिक अधिकारी स्थायी होते है और जो भी दल सत्ता में आता है, उसके द्वारा निर्धारित नीतियो का क्रियान्वयन करते है। सोवियत राजनेता उस समय आश्चर्यचकित रह गये जव उन्होने ब्रिटेन मे यह देखा कि मजदूर मन्त्रिमण्डल के साथ भी वही प्रशासनिक टीम थी जो चर्चिल और उनके साथियो को सलाह देते थे।

नौकरशाही की "प्रतिवद्धता" से दो अर्थ लिये जा सकते है, **प्रथम**, नीतियो और सवैधानिक आदर्शो के प्रति प्रतिवद्धता और **द्वितीय**, राजनीतिक दल एव राजनेता के प्रति प्रतिवद्धता।

सभी प्रशासक यह चाहेगे कि कार्यकुशलता, दक्षता, परिणाम-प्राप्ति या उत्पादन आदि क्षेत्रो मे वे सम्पूर्ण निष्ठा के साथ प्रतिवद्ध हो। लोक सेवक सरकार की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक नीतियो के सम्वन्ध मे अपने निष्पक्ष विचार रखे और जब नीतियो का निर्माण हो जाये तो निष्ठा के साथ भावात्मक रूप से जुड जाये। यदि "प्रतिवद्धता" शव्द से यही आशय है

---

1 डॉ. नरेन्द्र कुमार सिंघी ने अपनी पुस्तक 'व्यूरोक्रेसी : पोजीसन्स एण्ड पर्सन्स' मे राजस्थान की नौकरशाही का व्यवहारवादी अध्ययन करते हुए यह पाया कि 62 6 प्रतिशत उच्च अधिकारी यह महसूस करते है कि देश के वर्तमान सामाजिक-आर्थिक वातावरण मे लोकतन्त्र हानिप्रद व्यवस्था है। 56 2 प्रतिशत प्रशासनिक अधिकारी यह महसूस करते हैं कि हमारी वर्तमान दुर्दशा का कारण "समाजवाद" पर अत्यधिक वल देना है। वे मानते हैं कि आर्थिक स्थिति के पिछड़ने का कारण सार्वजनिक उद्यमो पर अधिक वल देना है। 75 प्रतिशत प्रशासनिक अधिकारी यह कहते हुए पाये गये कि आर्थिक नियोजन की भारतीय विधि त्रुटिपूर्ण है, कहने का अभिप्राय यह है कि हमारी नौकरशाही, लोकतन्त्र, समाजवाद और आर्थिक नियोजन से प्रतिवद्ध नही है, उनमे कम विश्वास करती है।—नरेन्द्र कुमार सिंघी। **व्यूरोक्रेसी पोजीशन्स एण्ड पर्सन्स** (अभिनव पव्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1974), पृ. 288-300।

पाल मे निहित है जिन्हे वह स्वय या अधीनस्थ पदाधिकारियो द्वारा सम्पादित करता है। वह मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करता है तथा उसके परामर्श पर अन्य मन्त्रियो की। वह महाधिवक्ता, लोक-सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा इसके सदस्यो की नियुक्ति करता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति के सम्बन्ध मे उससे परामर्श लिया जाता है। राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियाँ राज्य सूची मे उल्लिखित विषयो से सम्बन्धित है। समवर्ती सूची के विषयो पर राष्ट्रपति की स्वीकृति के अन्तर्गत वह अपने अधिकार का प्रयोग करता है। राज्य सरकार के कार्य के सम्बन्ध मे वह नियमो का निर्माण करता है। वह मन्त्रियो के बीच कार्यो का वितरण भी करता है। उसे मुख्यमन्त्री से किसी भी प्रकार की सूचना माँगने का अधिकार है। राज्य के मुख्यमन्त्री का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के सभी निर्णयो से अवगत कराये। वह मुख्यमन्त्री को किसी मन्त्री के व्यक्तिगत निर्णय को सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के समक्ष विचार के लिए रखने को कह सकता है।

विधायी शक्तियाँ (Legislative Powers)—राज्यपाल राज्य की व्यवस्थापिका का एक अविभाज्य अग होता है। वह व्यवस्थापिका के अधिवेशन बुलाता है और स्थगित करता है और वह व्यवस्थापिका के निम्न सदन को विघटित भी कर सकता है। महानिर्वाचन के बाद विधानमण्डल की पहली बैठक मे वह एक या दोनो सदनो को सम्बोधित करता है। इसके अतिरिक्त भी वह विधानमण्डल के एक या दोनो सदनो को किसी विधेयक के सम्बन्ध मे सन्देश भेज सकता है।

राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक पर उसकी स्वीकृति आवश्यक है। वह विधेयक को अस्वीकृत कर सकता, या उसे पुनर्विचार के लिए विधानमण्डल को लौटा सकता है। अगर विधानमण्डल दूसरी वार विधेयक पारित कर देता है तो राज्यपाल को स्वीकृति देनी ही होगी। वह कुछ विधेयको को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भी सुरक्षित रख सकता है। उदाहरण के लिए, वे विधेयक जो सम्पत्ति के अनिवार्य रूप से हस्तगत करने या उच्च न्यायालय की शक्ति मे कमी से सम्बन्धित हो, राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए संरक्षित किये जा सकते है।

राज्यपाल आवश्यकता पडने पर विधानमण्डल की बैठक के बीच की अवधि मे अध्यादेश जारी कर सकता है। इन अध्यादेशों का वही बल तथा प्रभाव होता है जो राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियम का होता है। यह अध्यादेश विधानमण्डल की बैठक प्रारम्भ होने के 6 सप्ताह बाद क्रियाशील रहता है। यदि 6 सप्ताह के पहले ही विधानमण्डल उस अध्यादेश को अस्वीकृत करने का प्रस्ताव पास कर दे तो ऐसी स्थिति मे अध्यादेश को रद्द या समाप्त समझा जायेगा। राज्यपाल की अध्यादेश जारी करने की शक्ति पर कुछ प्रतिवन्ध है। वह राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई ऐसा अध्यादेश जारी नही कर सकता है, जिस प्रकार का विधेयक विधानसभा मे पेश करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होती, या उस प्रकार के विधेयक पर राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा विचार होना आवश्यक समझता या यदि विधान-मण्डल का उसी प्रकार का कानून राष्ट्रपति द्वारा विचार करने के लिए रोका जाता और राष्ट्रपति की स्वीकृति न मिलने पर वह अमान्य समझा जाता।

वह राज्य विधानपरिषद के सदस्यो को ऐसे लोगो मे से नामजद करता है जिन्हे साहित्य, कला, विज्ञान, सहकारिता आन्दोलन तथा समाज सेवा के क्षेत्र मे विशेष तथा व्यावहारिक ज्ञान हो। अगर वह ऐसा समझे कि विधानसभा मे आग्ल-भारतीय समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नही हुआ है, तो वह इस वर्ग के कुछ सदस्यो को मनोनीत कर सकता है। इस प्रकार राज्यपाल को विधायी क्षेत्र मे भी व्यापक शक्तियाँ प्राप्त है।

वित्तीय शक्तियाँ (Financial Powers)—राज्यपाल को कुछ वित्तीय शक्तियाँ भी प्राप्त

में प्रादेशिक भाषागत तथा अन्य विघटनकारी निष्ठाएँ जोर पकड़े हुए है, इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं की सम्भावना विरल नहीं है और मौके पर उपस्थित एकमात्र ऐसा व्यक्ति राज्यपाल ही है जो सारी स्थिति को समझकर उचित कार्यवाही, जिसमें मन्त्रिमण्डल की पदच्युति भी शामिल है, कर सकता है।"

(3) **विधानसभा का अधिवेशन बुलाना** (To Summon the Legislature)—सामान्य रूप से राज्यपाल मुख्यमन्त्री के परामर्श पर विधानसभा का अधिवेशन बुलाता है; किन्तु असाधारण परिस्थितियों मे राज्यपाल स्वविवेक से भी विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है। यदि राज्यपाल के अनुसार कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण मामले हैं, जिन पर तुरन्त विचार किया जाना चाहिए, तो **अनुच्छेद** 174 के अन्तर्गत वह विधानमण्डल के अधिवेशन की कोई भी तिथि निश्चित कर सकता है। इस सम्बन्ध मे वह मुख्यमन्त्री के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है चाहे मुख्यमन्त्री को विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। श्री संथानम और अन्य कुछ विद्वानों के द्वारा ऐसा ही विचार व्यक्त किया गया है।

इसके अलावा यदि राज्यपाल को मुख्यमन्त्री के बहुमत मे सन्देह हो जाय तो वह मुख्यमन्त्री से शीघ्र अधिवेशन बुलाने के लिए कह सकता है और मुख्यमन्त्री द्वारा उसके परामर्श को स्वीकार न किये जाने पर स्वयं अधिवेशन बुला सकता है। **डॉ. एल. एम. सिंघवी** के अनुसार, **"मन्त्रिमण्डल के बहुमत की जाँच करना वह अपना ऐसा स्वविवेकीय अधिकार समझ सकता है जिसके लिए वह मन्त्रिमण्डल के परामर्श के विरुद्ध भी अपनी इच्छानुसार विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है।"**[1]

(4) **विधानसभा को भंग करना** (To Disolve the Legislature)—उत्तरदायी शासन की धारणा के अनुसार सामान्यतया यह माना जाता है कि विधानसभा को भंग करने का कार्य राज्यपाल उसी समय करेगा, जबकि मुख्यमन्त्री उन्हे ऐसा करने के लिए परामर्श दे, लेकिन विशेष परिस्थितियो मे राज्यपाल विधानसभा भग करने के सम्बन्ध मे मुख्यमन्त्री के परामर्श को मानने से इन्कार कर सकता है या मुख्यमन्त्री के परामर्श के विना ही विधानसभा भंग कर सकता है। ऐसे उदाहरण है जिनमे इस सम्बन्ध मे राज्यपाल ने अपने ही विवेक से कार्य किया। 1953 मे ट्रावनकोर कोचीन में पराजित मन्त्रिमण्डल ने राज्यपाल को विधानसभा भग करने की सलाह दी, जिसे उसने अस्वीकार कर दिया। इसी प्रकार 1969 से श्री नरेशचन्द्र सिंह लगभग एक सप्ताह तक मध्य प्रदेश के मुख्यमन्त्री रहे, इसी बीच उनका बहुमत समाप्त हो गया और उन्होंने त्यागपत्र देकर विधानसभा भग करने की माँग की जिसे राज्यपाल ने अस्वीकार कर दिया। 1984 मे जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल श्री जगमोहन द्वारा फारुख अब्दुल्ला मन्त्रिमण्डल की विधानसभा भग करने की सिफारिश को स्वीकार नही किया गया। 1976 मे तमिलनाडु के राज्यपाल द्वारा मुख्यमन्त्री के परामर्श के विना ही विधानसभा को भग किया गया है। न्यायाधीश **श्री सूरज प्रसाद** और विधानशास्त्री **श्री संथानम** का विचार है कि विधानसभा को भग करने के सम्बन्ध मे राज्यपाल स्वविवेक से कार्य कर सकता है।

इसके अलावा भी राज्यपाल के द्वारा स्वविवेक से कुछ कार्य किये जा सकते है। वह मुख्यमन्त्री से किसी विषय मे सूचना माग सकता है, वह मुख्यमन्त्री से कह सकता है कि वह किसी

---

1 "Notwithstanding any difference of opinion with the Chief Minister and the Council of Minister the Governor is entitled to summon the House to meet at same time and place as he thinks fit and he can justifiable treat that is a matter in which he is required to act in his discretion under the constitution."

—Dr. L. M. Singhvi, *The Statesman*, Nov. 12, 1967.

ऐसे मामले को, जिस पर किसी मन्त्री ने अकेले निर्णय कर लिया हो, समस्त मन्त्रिपरिषद के सामने रखे। विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक वह पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता है या राष्ट्रपति के पास विचार के लिए भेज सकता है। 1957 में केरल के राज्यपाल द्वारा केरल शिक्षा विधेयक राष्ट्रपति के पास स्वीकृत के लिए भेजा गया था और इस सम्बन्ध में मुख्यमन्त्री से कोई परामर्श नहीं लिया गया था।

इन सब बातों से यह नितान्त स्पष्ट है कि यद्यपि राज्यपाल को राज्य की कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान नहीं कहा जा सकता, लेकिन इसके साथ ही **'वह केवल नाममात्र का अध्यक्ष नहीं है। वह एक ऐसा अधिकारी है जो राज्य के शासन में महत्त्वपूर्ण रूप से भाग ले सकता है।''**[1]

राज्यपाल, केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में (Governor, as Agent of the Central Government)—भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल की दोहरी भूमिका है। **प्रथमतः** वह राज्य का प्रधान है और **द्वितीय**, वह राज्य में संघीय सरकार का अभिकर्ता या प्रतिनिधि है। संविधान-निर्माता भारत में एक ऐसी संघीय व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जिसमें 'सहयोगी संघवाद' (Co-operative Federalism) की धारणा के आधार पर केन्द्र और राज्य में सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो सके और प्रशासनिक एकरूपता तथा राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके और उनके द्वारा राज्यपाल के पद की व्यवस्था इस लक्ष्य की पूर्ति के एक साधन के रूप में की गयी है। **श्री के. एम मुन्शी** ने विधानसभा में कहा, **''राज्यपाल संवैधानिक औचित्य का प्रहरी और वह कड़ी है जो राज्य को केन्द्र के साथ जोड़ते हुए भारत की एकता के लक्ष्य को प्राप्त करती है।''**[2] राज्यपाल की नियुक्ति के लिए जिस पद्धति को अपनाया गया है वह भी इस बात को स्पष्ट करती है कि राज्यपाल की राज्य के केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि के रूप में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल के द्वारा निम्न कार्य किये जाते हैं

(1) भारतीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार के बीच सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया और **अनुच्छेद** 256 तथा 257 में कहा गया है कि इस दृष्टि से केन्द्रीय सरकार राज्यों की कार्यपालिकाओं को आवश्यक निर्देश दे सकती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को राष्ट्रीय महत्त्व की सड़कों तथा संचार साधनों की रक्षा का भार सौंपा जा सकता है और **अनुच्छेद** 258 के अन्तर्गत केन्द्र सरकार अपने कुछ प्रशासनिक कार्य भी राज्य सरकार को हस्तान्तरित कर सकती है। केन्द्रीय सरकार के द्वारा राज्य सरकारों को इस प्रकार के निर्देश-आदेश राज्यपाल के माध्यम से ही दिये जाते हैं और राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह देखे कि राज्य सरकार इन निर्देश-आदेशों का पालन कर रही है अथवा नहीं। यदि राज्य का मन्त्रिमण्डल राज्यपाल को राष्ट्रपति के निर्देशों के विरुद्ध कार्य करने की सलाह देता है तो वह इस प्रकार की सलाह को अस्वीकार कर सकता है और राज्य सरकारों को राष्ट्रपति के निर्देश मानने के लिए बाध्य कर सकता है। यदि राज्य मन्त्रिमण्डल केन्द्रीय सरकार के निर्देश के अनुसार कार्य नहीं करता है तो राज्यपाल मन्त्रिमण्डल को चेतावनी दे सकता है तथा इसे संविधान के विरुद्ध कार्य मानकर **अनुच्छेद** 356 के अन्तर्गत

---

[1] "Governor is neither a figure head nor a rubber stamp but a functionary designed to play a vital role in the administration of the affairs of the state."

—M. V. Pylee., *Ibid.*, p. 238.

[2] "The Governor is the watchdog of constitutional propriety and the link which binds the state to the centre, thus securing the Unity of India —*K M Munshi.*

उससे मन्त्रणा प्राप्त कर सकते है। अपने निर्दलीय व्यक्तित्व के आधार पर राज्यपाल राज्य के शासन की ढुलमुल और अस्थायी राजनीति मे स्थायित्व और स्थिरता लाने की स्थिति मे होता है। यदि राज्यपाल प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला और कार्यशील व्यक्ति हो तो वह विरोधी पक्ष और मन्त्रिमण्डल के बीच अनेक मतभेदों को दूर कराने मे सहायक सिद्ध हो सकता है। राज्य शासन को सुगम सुचारु और कार्यकुशल बनाने मे राज्यपाल का बहुत अधिक महत्त्व होता है। **श्री एम वी पायली** के अनुसार, "**राज्यपाल मन्त्रिमण्डल का सूझ-बूझ वाला परामर्शदाता है जो राज्य की अशान्त राजनीति में शान्त वातावरण पैदा कर सकता है।**"[1] **श्री के. एम. मुन्शी** स्वीकार करते है कि "**कुछ परिस्थितियों में राज्यपाल द्वारा बहुत अधिक हितकारी और प्रभावशाली रूप में कार्य किया जा सकता है।**" डॉ. अम्बेडकर भी राज्यपाल के पद का महत्त्व स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि '**जबकि राज्यपाल को स्वयं कोई शक्ति प्राप्त न होगी, उसका यह कर्त्तव्य होगा कि वह महत्त्वपूर्ण मामलो के सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल को उचित सलाह दे। ऐसा कार्य राज्यपाल किसी दल के प्रतिनिधि के रूप मे नहीं वरन् सम्पूर्ण जनता के प्रतिनिधि के रूप में करेगा जिससे कि राज्य मे निष्पक्ष, विशुद्ध और कुशल प्रशासन की स्थापना हो।**" राज्यपाल के इस महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य को लक्ष्य करते हुए **श्री वी. जी. खेर** ने सविधान सभा मे कहा था, "**एक अच्छा राज्यपाल बहुत लाभ पहुँचा सकता है और एक बुरा राज्यपाल दुष्टता भी करता है यद्यपि संविधान में उसको बहुत कम शक्ति दी गयी है।**"[2]

श्री दुर्गादास बसु और एम सी सीतलवाड ने अपनी रचनाओं मे राज्यपाल के कुछ स्वविवेकी कार्यो का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है

(1) **मुख्यमन्त्री की नियुक्ति** (Appointment of the Chief Minister)—राज्यपाल का पहला कार्य मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करना है। राज्य की विधानसभा मे किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है और बहुमत वाले राजनीतिक दल ने अपना नेता चुन लिया है, तो राज्यपाल के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह उसी व्यक्ति को मुख्यमन्त्री पद पर नियुक्त करे लेकिन यदि राज्य की विधानसभा मे दलीय स्थिति स्पष्ट नही है या बहुमत वाले दल मे नेता पद के लिए एक से अधिक दावेदार है, तो इस सम्बन्ध मे राज्यपाल स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है। ऐसी स्थिति मे स्वय राज्यपाल के द्वारा ही निर्णय किया जायेगा कि किस व्यक्ति के नेतृत्व मे स्थायी सरकार का गठन हो सकता है।

व्यवहार के अन्तर्गत भी ऐसी कुछ परिस्थितियाँ आयी है जबकि राज्यपाल ने स्वविवेक से मुख्यमन्त्री को नियुक्त किया। 1952 मे श्री सी राजगोपालाचार्य मद्रास राज्य विधानमण्डल के सदस्य भी नही थे और न ही कांग्रेस दल को विधानसभा मे बहुमत प्राप्त था, लेकिन फिर भी राज्यपाल श्री प्रकाश ने टी प्रकाशम के बहुमत प्राप्त होने के दावे की अवहेलना करते हुए श्री सी. राजगोपालाचार्य को मुख्यमन्त्री पद ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित किया। 1957 मे उड़ीसा मे श्री हरेकृष्ण मेहताब तथा 1983 मे उड़ीसा तथा केरल के मुख्यमन्त्रियो की जिस प्रकार से नियुक्तियाँ की गयी वह भी राज्यपाल द्वारा स्वविवेक से किया गया कार्य ही था। चतुर्थ आम चुनाव के बाद तो इस सम्बन्ध मे राज्यपाल द्वारा स्वविवेक का प्रयोग किये जाने के अवसर और

---

[1] "A sagacious councillor and advisor to the Ministry, one who can throw oil on the troubled waters of the state-politics" —M. V. Pylee, *India's Constitution*, p. 234.

[2] "A Governor can do a great deal of goods, if he is a good Governor and he can do a great deal of mischief if he is a bad governor, inspite of the very little power given to him under the on, aming" G. Kher, *C. A. D*, Vol. VII

अधिक आये । इन चुनावों के तुरन्त बाद राजस्थान में संयुक्त मोर्चे के नेता महारावल लक्ष्मण सिंह और कांग्रेस दल के नेता मोहनलाल सुखाड़िया ने मुख्यमन्त्री पद के लिए दावा किया । इस स्थिति के प्रारम्भ में यद्यपि संयुक्त मोर्चे के नेता को अधिक समर्थन प्राप्त था लेकिन राज्यपाल ने संयुक्त मोर्चे के नेता के दावे की अवहेलना करते हुए कांग्रेस दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया । पंजाब में 1970 में गुरनामसिंह का दावा अस्वीकार कर प्रकाशसिंह बादल को मुख्यमन्त्री नियुक्त किया । 1969 में उत्तर प्रदेश में सत्ता कांग्रेस द्वारा समर्थित भारतीय क्रान्ति दल के नेता चरणसिंह और विरोधी दलों के नेता गिरधारीलाल ने मुख्यमन्त्री पद के लिए दावा प्रस्तुत किया, लेकिन राज्यपाल ने गिरधारीलाल के दावे को अस्वीकार कर चरणसिंह को मुख्यमन्त्री बनाया । 1 मार्च, 1973 को श्रीमती सत्पथी के बाद राज्यपाल ने प्रगति दल के नेता बीजू पटनायक को सरकार बनाने का अवसर नहीं दिया, यद्यपि श्री पटनायक बहुमत का दावा कर रहे थे । इसी प्रकार 1977 में जम्मू-कश्मीर के मुख्यमन्त्री शेख अब्दुल्ला के त्यागपत्र के बाद कांग्रेस विधानमण्डल दल के नेता को सरकार बनाने का अवसर नहीं दिया गया, यद्यपि कांग्रेस दल को जम्मू-कश्मीर विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त था और कांग्रेस विधानमण्डल दल के नेता द्वारा स्थायी सरकार देने की क्षमता का दावा किया जा रहा था । 1984 में सिक्किम, जम्मू-कश्मीर और आन्ध्र-प्रदेश में राज्यपाल द्वारा मुख्यमन्त्रियों की नियुक्ति में ऐसे आचरण को अपनाया गया है, जिसे 'स्वविवेक के विवेकहीन प्रयोग' के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता ।

(2) **मन्त्रिमण्डल को भंग करना** (To Dismiss the Ministry)—राज्यपाल को यह भी स्वविवेक शक्ति प्राप्त है कि वह मन्त्रिपरिषद को अपदस्थ कर राष्ट्रपति से सिफारिश करे कि सम्बन्धित राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाय । राज्यपाल के द्वारा प्रमुखतया निम्न परिस्थितियों में मन्त्रिमण्डल को भंग किया जा सकता है

(i) यदि राज्यपाल को विश्वास हो जाय कि मन्त्रिमण्डल का विधानसभा में बहुमत समाप्त हो गया है तो राज्यपाल मुख्यमन्त्री को त्यागपत्र देने या विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर अपना बहुमत प्रमाणित करने के लिए कह सकता है । ऐसी स्थिति में यदि मुख्यमन्त्री अधिवेशन बुलाने के लिए तैयार न हो तो राज्यपाल मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है । पश्चिमी बंगाल में राज्यपाल धर्मवीर द्वारा 1968 में अजय मुखर्जी मन्त्रिमण्डल को इसी आधार पर पदच्युत किया गया था ।

(ii) यदि किसी मन्त्रिमण्डल के प्रति विधानसभा में अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो जाने पर मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र न दे तो राज्यपाल उसे पदच्युत कर सकता है ।

(iii) यदि मन्त्रिमण्डल संविधान के अनुसार कार्य न कर रहा हो या उसकी नीतियों से राज्य या देश को खतरा हो या उसके द्वारा केन्द्र और राज्य में संघर्ष की स्थिति को जन्म दिया जा रहा हो, तब भी मन्त्रिमण्डल को पदच्युत किया जा सकता है । जनवरी 1976 में तमिलनाडु मन्त्रिमण्डल को इसी आधार पर पदच्युत किया गया था ।

(iv) यदि स्वतन्त्र ट्रिब्यूनल द्वारा मुख्यमन्त्री को भ्रष्टाचार के आरोप में दोषी घोषित किया गया हो तो राज्यपाल उसे पदच्युत कर सकता है ।

इन सबके अलावा उत्तर प्रदेश के चरणसिंह मन्त्रिमण्डल को तो 1970 में इस आधार पर पदच्युत कर दिया गया कि शासन में भागीदार सबसे बड़े दल सत्ता कांग्रेस ने उसे समर्थन देना बन्द कर दिया ।

श्री एम. वी पायली लिखते हैं कि "**यद्यपि ये सामान्य परिस्थितियाँ नहीं है फिर भी एक ऐसे देश में, जहाँ लोकतान्त्रिक संस्थाएँ अभी तक विकास की ही दशा में है और कुछ भागों**

थे और राज्यपाल को केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करने के अवसर कम मिलते थे। लेकिन जब राज्यो मे विरोधी दलो की सरकारे स्थापित हो गयी तो राज्यपाल को केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि रूप मे कार्य करने का अवसर मिला। **द्वितीय**, चतुर्थ आम चुनाव के बाद भारतीय संघ के लगभग आधे राज्यो मे मिली-जुली सरकारे स्थापित हुई थी और ये मिली-जुली सरकारे एकदलीय सरकारो की तुलना मे कमजोर थी। इन मिले-जुले मन्त्रिमण्डलो की रचना किसी वैचारिक साम्य के आधार पर नही, वरन् कांग्रेस विरोधवाद के आधार पर हुई थी और इन मन्त्रिमण्डलों मे स्थायित्व का नितान्त अभाव था। मार्च 1967 मे लेकर मार्च 1972 के पाँच वर्षो मे देश के विभिन्न राज्यों मे 24 बार सरकारो का पतन हुआ तथा 15 बार राज्यो मे राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। इन परिस्थितियों मे यह स्वाभाविक था कि राज्यपाल अनेक बार स्वविवेक से कार्य करते और राज्यपाल ने जितनी अधिक सीमा तक स्वविवेक से कार्य किया, उतनी ही अधिक सीमा तक यह पद विवाद का विषय बन गया। इस प्रकार के विवाद मुख्यतया राज्यपाल द्वारा मुख्यमन्त्री की नियुक्ति, पदच्युति और विधानसभा को भंग करने आदि प्रश्नो को लेकर उत्पन्न हुए।

1967 के पूर्व 1957 मे केरल के राज्यपाल का आचरण विवाद का विषय बन चुका था, 1967 के प्रारम्भ से ही एक के बाद एक ऐसे अनेक अवसर आये। राजस्थान मे 1967 के विधानसभा चुनाव मे किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही हुआ था, ऐसी स्थिति मे विरोधी दलो ने महारावल लक्ष्मणसिंह के नेतृत्व मे संयुक्त मोर्चा बनाया और इस सयुक्त मोर्चे द्वारा बहुमत का दावा किया गया। संयुक्त मोर्चे के द्वारा अपने बहुमत का राष्ट्रपति के सामने भी प्रदर्शन किया गया था, लेकिन इस पर भी राज्यपाल ने संयुक्त मोर्चे के नेता को सरकार बनाने का अवसर नही दिया। इस सम्बन्ध मे उनके चुनाव के बाद बने संयुक्त मोर्चे को स्वीकार न करने और निर्दलीय सदस्यों की स्थिति को कम महत्त्वपूर्ण बतलाने के तर्क दिये गये, जिन्हे औचित्यपूर्ण नही कहा जा सकता।

राजस्थान मे 1967 ई. मे जो कुछ घटित हो चुका था, उसकी पुनरावृत्ति 1982 ई. मे हरियाणा मे हुई। हरियाणा के घटनाचक्र का विशेष आपत्तिजनक तथ्य यह है कि राज्यपाल श्री जी. डी. तपासे द्वारा 'लोकदल-भाजपा सयुक्त दल' के नेता श्री देवीलाल को निर्देश दिया गया कि ये 24 मई को प्रात 10 बजे अपने समर्थक विधानसभा सदस्यो को राजभवन मे राज्यपाल के सम्मुख उपस्थित कर अपने बहुमत का परिचय दें लेकिन राज्यपाल ने 23 मई की संध्या को ही कांग्रेस 'आई' विधानसभा दल के नेता श्री भजनलाल को मुख्यमन्त्री पद पर नियुक्त कर दिया। न केवल सभी विपक्षी नेताओ वरन् प्रेस के द्वारा भी राज्यपाल के इस कार्य की कटु आलोचना की गयी। राज्यपाल ने विपक्ष की इस माँग को भी स्वीकार नही किया कि 'मुख्यमन्त्री के बहुमत की जाँच के लिए' विधानसभा की बैठक जल्दी ही बुलायी जाय। निष्पक्ष और सन्तुलित समझे जाने वाले समाचार-पत्र (दि टाइम्स ऑफ इंडिया) ने इस घटनाचक्र पर टिप्पणी करते हुए अपने सम्पादकीय मे लिखा।

'**तथाकथित विधि विशेषज्ञों की कोई व्याख्या इस तथ्य को नहीं छिपा सकती कि उन्हें** (श्री भजनलाल को) न केवल अशोभनीय जल्दबाजी वरन् चालाकी के आधार पर मुख्यमन्त्री बनाया गया। इसके अतिरिक्त यह कार्य उस समय किया गया, जिस समय वह पूर्णतया स्पष्ट था कि उन्हे (श्री भजनलाल) विधानसभा मे बहुमत प्राप्त नही है।"

पश्चिमी बगाल मे डॉ. पी. सी. घोष के नेतृत्व मे 17 विधायकों ने अजय मुखर्जी मन्त्रिमण्डल से अपना समर्थन वापस ले लिया तो राज्यपाल धर्मवीर ने मुख्यमन्त्री से कहा कि वे 23 नवम्बर, 1967 तक विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर अपने बहुमत का परिचय दे। मुख्यमन्त्री

ने राज्यपाल का परामर्श यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि विधानसभा का अधिवेशन पिछले अधिवेशन की समाप्ति के बाद 6 महीने की अवधि मे कभी भी बुलाया जा सकता है और वे राज्यपाल के परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य नही है। इस पर राज्यपाल ने अजय मुखर्जी मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर पी. सी घोष को मुख्यमन्त्री बना दिया। इस घटना के सम्बन्ध मे पश्चिमी बगाल के राज्यपाल के आचरण की आलोचना का आधार यह है कि इन्ही परिस्थितियो मे अन्य राज्यो के राज्यपालो द्वारा इस प्रकार के आचरण को नही अपनाया गया था। उदाहरण के लिए, ऐसी ही परिस्थितियो मे बिहार के राज्यपाल अनन्त शयनम आयगर और हरियाणा के राज्यपाल ने अपने काग्रेसी मुख्यमन्त्रियो से आग्रह नही किया कि उन्हें विधानसभा का अधिवेशन जल्दी ही बुलाना चाहिए।

सितम्बर 1970 मे उत्तर प्रदेश मे और भी अधिक विवादपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई। इस समय भारतीय क्रान्ति दल के नेता चरणसिंह सत्ता काग्रेस के सहयोग से मुख्यमन्त्री पद पर आसीन थे लेकिन सत्ता काग्रेस और चरणसिंह के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाने पर सत्ता काग्रेस ने चरणसिंह मन्त्रिमण्डल से अपना समर्थन वापस ले लिया। इस स्थिति मे यद्यपि चरणसिंह राज्य विधानसभा का अधिवेशन जल्दी से जल्दी बुलाकर विधानसभा मे अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए तैयार थे लेकिन राज्यपाल गोपाल रेड्डी ने उन्हे ऐसा करने के लिए अवसर न देते हुए चरणसिंह मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर दिया। राज्यपाल के इस कार्य की विविध पक्षो द्वारा कटु आलोचना की गयी। 1973 मे उत्तर प्रदेश और उडीसा के राज्यपाल का आचरण भी आलोचना और विवाद का विषय बना और 1973-74 मे जब बिहार के राज्यपाल डॉ भण्डारे ने सार्वजनिक रूप से राज्य के मन्त्रियो पर भ्रष्टाचार का आरोप लगाया तब इस विवाद ने जन्म लिया कि क्या राज्यपाल का यह कार्य औचित्यपूर्ण है। 1983 मे सिक्किम के राज्यपाल तल्यार खाँ और मुख्यमन्त्री नरबहादुर भण्डारी के बीच ऐसे ही अशोभनीय विवाद की स्थिति देखी गयी। अब यह बात स्पष्ट हो गयी है कि इस स्थिति का मूल कारण 'राज्यपाल पदधारी का असयत आचरण' ही था।

1967 से ही राज्यपाल का पद विवाद की स्थिति मे पड गया। ऐसी स्थिति मे पश्चिमी बगाल के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री अजय मुखर्जी ने राष्ट्रपति से निम्नलिखित प्रश्नो पर सर्वोच्च न्यायालय की सलाह लेने का आग्रह किया

(i) क्या राज्यपाल, विधानमण्डल का मत जाने बिना मन्त्रिमण्डल को भग कर सकता है?

(ii) क्या राज्यपाल अपने व्यक्तिगत स्वविवेक (individual discretion) के आधार पर राष्ट्रपति को सन्देश कर सकता है कि मन्त्रिमण्डल ने विधानमण्डल का विश्वास खो दिया है?

(iii) क्या राज्यपाल विधानसभा का अधिवेशन बुलाने के विषय मे दिया हुआ मन्त्रिमण्डल का परामर्श अस्वीकार कर सकता है?

(iv) यदि मुख्यमन्त्री राज्यपाल के आदेश पर विधानसभा का अधिवेशन नही बुलाता तो क्या राज्यपाल इसे सविधान का उल्लघन मानते हुए मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त (dismiss) कर सकता है?

(v) यदि राज्यपाल के परामर्श को मन्त्रिमण्डल द्वारा न माना जाय तो क्या वह अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेज सकता है?

(vi) विधानसभा मे शक्ति परीक्षण होने तक क्या राज्यपाल मन्त्रिमण्डल के परामर्श को अस्वीकार कर सकता है?

(vii) क्या राज्यपाल विधानसभा को भग करने सम्बन्धी मुख्यमन्त्री के प्रस्ताव को अस्वीकार कर सकता है?

राष्ट्रपति को संवैधानिक संकट की रिपोर्ट दे सकता है। जब कभी केन्द्रीय सरकार द्वारा राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण किसी कार्यक्रम को अपनाया जाता है तो राज्यपाल पर यह भार आ जाता है कि वह यह देखे कि राज्य सरकार इस कार्यक्रम को पूरा करने की दिशा मे आगे बढ रही है अथवा नही।

(2) केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप मे राज्यपाल का एक महत्त्वपूर्ण कार्य राज्य के प्रशासन के सम्बन्ध मे समय-समय पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजना है, जिसमे उसके द्वारा अपनी ओर से सुझाव भी दिये जाते हैं। राज्यपाल अपना पद ग्रहण करते समय सविधान की रक्षा करने की शपथ लेता है और इस दृष्टि से उसका सबसे प्रमुख कार्य यह देखना है कि राज्य सरकार सविधान के अनुसार कार्य कर रही है अथवा नही। यदि राज्य मे सविधान के अनुसार कार्य नही हो रहा है तो राज्यपाल इस सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को रिपोर्ट देता है और इस प्रकार की रिपोर्ट के आधार पर राज्य मे राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। राज्यपाल राष्ट्रपति को इस प्रकार की रिपोर्ट स्वविवेक से ही भेजता है और इस सम्बन्ध मे वह राज्य मन्त्रिमण्डल की सलाह मानने के लिए बाध्य नही है। राज्य मे राष्ट्रपति शासन लागू होने पर राष्ट्रपति राज्यपाल को जो भी प्रशासनिक, विधायी और वित्तीय कार्य सौंपे राज्यपाल उन सबको पूरा करता है और केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप मे राज्य के शासन का सचालन करता है।

(3) **अनुच्छेद** 200 के अनुसार राज्य विधानमण्डल द्वारा पास किये गये किसी विधेयक को राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है। उदाहरण के लिए, सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण या उच्च न्यायालय की स्वीकृति की शक्तियो को कम करने से सम्बन्धित विधेयक राज्यपाल के द्वारा राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखे जायेगे। राज्यपाल इस सम्बन्ध मे स्वविवेक से ही कार्य करता है।

(4) **अनुच्छेद** 213 के अनुसार, राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया है, किन्तु उसे कुछ विषयो के सम्बन्ध मे अध्यादेश जारी करने के पूर्व राष्ट्रपति से स्वीकृति लेनी होती है।

इन सबके अलावा राज्यपाल केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप मे यह देखता है कि राज्य सरकार सकीर्ण प्रान्तीयतावाद को न अपनाकर समस्त सघ के हितो को ध्यान मे रखे। 19-20 **मार्च**, 1976 के राज्यपाल सम्मेलन मे तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी ने कहा था कि, "**संकीर्ण प्रान्तीयतावाद पर विजय प्राप्त करने मे राज्यपाल की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है।**"[1]

सविधान निर्माताओ के द्वारा तो सम्भवतया यह सोचा गया था कि राज्यपाल की प्रथम भूमिका राज्य के सवैधानिक अध्यक्ष के रूप मे तथा द्वितीय भूमिका राज्य मे केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि के रूप मे होगी लेकिन व्यवहार के अन्तर्गत अनेक बार राज्यपाल की यह द्वितीय भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। ऐसा विशेष रूप से उस समय होता है जबकि केन्द्र मे एक राजनीतिक दल की सरकार हो और राज्य मे किसी एक विरोधी राजनीतिक दल की या कुछ विरोधी दलो की मिली-जुली सरकार। व्यवहार के अन्तर्गत जब कभी राज्यपाल की इन दोनो भूमिकाओ मे परस्पर विरोध की स्थिति उत्पन्न हुई है तब राज्यपाल ने केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि के रूप मे अपनी भूमिका को ही अधिक महत्त्व दिया है। **के वी राव** इस सम्बन्ध मे लिखते हैं कि, "**आज जैसी उसकी स्थिति है उसे केन्द्र द्वारा नियुक्त किया व हटाया जाता है। राज्यपाल वही है जो**

1 "Governor has a role to play in overcoming parochialism."
—P. M. in Governor's Conf. on March 20, 1976 (*Times of India*, 23-3-76.)

केन्द्र उसे बनाना चाहता है. वास्तव में ऐसा कुछ नहीं है जो राज्यपाल अपने आप कर सके। उसकी भूमिका उस पर निर्भर है जो पीछे बैठा व्यक्ति अपनी डोरियो से कर रहा है।"[1]

विरोधी दल सामान्य रूप मे यह शिकायत करते रहे है कि केन्द्र का शासक दल राज्यपाल पद का उपयोग अपने राजनीतिक लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए करता है। **श्री इकबाल नारायण** के अनुसार, **"उसे राज्यों में गैर-कांग्रेस सरकारों को गिराने के लिए केन्द्र के कथित षड्यन्त्र के तन्त्र के रूप में देखा गया है।"[2]** अभी 1984, 1988 एव 1989 के घटनाचक्र ने स्पष्ट किया है कि राज्यपाल को सन्देह और अविश्वास की दृष्टि से देखना अकारण नही है। **सर्वप्रथम**, सिक्किम के राज्यपाल तलयार खाँ द्वारा नर बहादुर भण्डारी को मुख्यमन्त्री पद से हटाकर बी. बी. गुरु ंग को मुख्यमन्त्री बनाया गया, जो मात्र 12 दिन तक इस पद पर कार्य कर सके। **इसके बाद** जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल जगमोहन द्वारा फारुख अब्दुल्ला सरकार को पदच्युत कर जी एम. शाह को मुख्यमन्त्री बना दिया गया और अगस्त 1984 मे आन्ध्र के राज्यपाल रामलाल द्वारा एन. टी. आर. सरकार को पदच्युत कर भास्कर राव को मुख्यमन्त्री बना दिया गया। इनमे **अन्तिम स्थिति** तो निश्चित रूप से 'रामलाल और भास्कर राव के बीच सविधान को पलीता लगाने का षड्यन्त्र मात्र' थी। 1984 की प्रथम दो स्थितियो के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता है कि राज्यपाल पदधारी व्यक्तियो ने अपनी स्वविवेक की शक्तियो का प्रयोग विवेकपूर्वक नही किया।[3] अगस्त 1988 मे राज्यपाल द्वारा नागालैण्ड मे राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करना तथा अप्रैल 1989 मे कर्नाटक के राज्यपाल वेंकटसुब्बैया द्वारा राज्य मे राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करना स्वविवेकी शक्ति के निष्पक्ष एव तर्कसगत प्रयोग के उदाहरण नही है।[4]

उपर्युक्त स्थितियाँ न तो राज्यपाल पद के हित मे हैं और न ही भारतीय राजव्यवस्था के हित मे। आवश्यकता इस बात की है कि राज्यपाल की केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप मे भूमिका और राज्य सवैधानिक प्रधान के रूप मे भूमिका मे सामजस्य स्थापित किया जाय। राज्यपाल पदधारी को केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार—दोनो का विश्वास प्राप्त होना ही चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि राज्यपाल की केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप मे भूमिका और राज्य के सवैधानिक अध्यक्ष के रूप मे भूमिका मे सामजस्य स्थापित किया जाय।

चौथे आम चुनाव के उपरान्त राज्यपाल की भूमिका (Governor's Role after the Fourth General Election)

चौथे आम चुनाव को **'मतपत्र के माध्यम से राजनीतिक क्रान्ति'** का नाम दिया जाता है क्योकि इन चुनावो ने भारत की राजनीतिक स्थिति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया। इन चुनावों के बाद विभिन्न राज्यो मे राज्यपाल की भूमिका महत्त्वपूर्ण और साथ ही विवादपूर्ण हो गयी। जिन तत्त्वो ने इस स्थिति को जन्म दिया था, उनमे **प्रथम** थी भारतीय सघ के लगभग आधे राज्यों मे गैर कांग्रेसी दलों की सरकारो की स्थापना। जब राज्यो मे केन्द्र के ही समान राष्ट्रीय कांग्रेस की सरकारे थी, उस समय तक मुख्यमन्त्री भी व्यवहार मे केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि ही हुआ करते

---

1 K. V. Rao's Paper on '*The Role of State Government in India*', in Indian Political Science Review, Delhi, No 3 and 4 (1968), p 175

2 Iqbal Narain, *Twilight or Dawn—Political Change in India*, 1967-71, p 94

3 "On August 16, the then Governor of Andhra Pradesh Mr Ram Lal conspired with Mr Bhaskar Rao to lead on assault on the constitution, when he arbitrarily and wrongly held that Mr Rama Rao had lost his majority in the state assembly and dismissed him to swear in the fellow conspirator as Chief Minister"

—'The People Triumph.' *The Times of India*, Sep 17, 1984—Editorial

4 B L Fadia & R K Menaria '*Sarkaria Commission Report and Centre state Relations*', (1990) pp 93-94

करें। मुखर्जी ने अधिवेशन बुलाने मे टालमटोल की। राज्यपाल ने मुखर्जी सरकार को बर्खास्त कर दिया और पी. सी. घोष के नेतृत्व मे नया मन्त्रिमण्डल बनाया किन्तु उसे कार्य नही करने दिया गया। अन्त मे विधानसभा भंग कर दी गयी और नये चुनाव कराये गये। मजे की बात यह थी कि अजय मुखर्जी व उनके साथी फिर से बहुमत मे आ गये। उन्होंने राज्यपाल का ऐसा अभिभाषण तैयार किया जिसमे उनकी खुद की आलोचना थी। यह माँग की गयी कि धर्मवीर को राज्य से हटा दिया जाये। धर्मवीर ने पूरा अभिभाषण नही पढ़ा। मन्त्रिमण्डल और राज्यपाल के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी। परिणामस्वरूप धर्मवीर को कर्नाटक मे स्थानान्तरित कर दिया गया।

4. **तमिलनाडु** (1976)—तमिलनाडु मे डी. एम. के. दल की सरकार थी और करुणानिधि मुख्यमन्त्री थे। केन्द्रीय सरकार करुणानिधि से नाराज थी क्योकि आपात्कालीन अवधि मे उन्होंने केन्द्र के अनुचित निर्देशो का पालन नही किया। इस सरकार के 5 वर्ष पूरे होने मे मात्र 50 दिन शेष थे। राज्यपाल के. के. शाह ने केन्द्र के एजेण्ट की भूमिका अदा करते हुए प्रतिवेदन भेजा कि राज्य सरकार के समस्त मन्त्री भ्रष्टाचार मे लिप्त है तथा कानून और व्यवस्था की स्थिति बिगड़ी हुई है। इस प्रतिवेदन के आधार पर मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त करके राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

तमिलनाडु के राज्यपाल श्री खुराना की विवादास्पद भूमिका (जनवरी 1988)—तमिलनाडु के राज्यपाल श्री सुन्दरलाल खुराना जनवरी 1988 मे विवादास्पद भूमिका के कारण बहुचर्चित हो गये। एम. जी. रामचन्द्रन के निधन के बाद राज्यपाल राज्य की स्थिति ठीक तरह मे नही सँभाल पाये। उन्होंने श्रीमती जानकी रामचन्द्रन को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जबकि उन्हे विधानसभा मे स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही था। श्रीमती रामचन्द्रन विधानसभा मे अपना बहुमत सिद्ध नही कर पायी और विधानसभा मे जो मारपीट और धक्कामुक्की हुई वह अत्यन्त लज्जास्पद और अभूतपूर्व थी। इसके परिणामस्वरूप श्री खुराना को अपना पद छोडना पडा। यद्यपि बी. के. नेहरु और एल. पी. सिंह जैसे विद्वान प्रशासको ने राज्यपाल की कार्यवाही को उचित बतलाया[1] तथापि श्री खुराना की गलती यह है कि उन्होने एक अल्पमतीय सरकार को सत्तारूढ कर दिया। उन्हे बहुत पहले ही राष्ट्रपति शासन की सिफारिश कर देनी चाहिए थी।[2]

5. **हरियाणा** (1984)—मई 1982 मे हरियाणा विधानसभा के चुनाव हुए जिसमे लोकदल-भाजपा गठबन्धन की संख्या सबसे ज्यादा थी और राज्यपाल जी डी. तपासे उन्हे अपने समर्थको को लेकर राजभवन मे उपस्थित होने का निर्देश दिया। किन्तु, उससे एक दिन पूर्व ही राज्यपाल ने भजनलाल को मुख्यमन्त्री पद की शपथ दिलायी। उस समय 90 विधायको मे मे भजनलाल के पास केवल 42 विधायक ही थे।

6. **सिक्किम** (1984)—1984 मे राज्यपाल तारयार खाँ ने नरबहादुर भण्डारी की ऐसी सरकार को बर्खास्त किया जिसे विधानसभा मे स्पष्ट बहुमत प्राप्त था।

7. **आन्ध्र प्रदेश** (1984)—राज्यपाल रामलाल ने केन्द्रीय नेताओ को खुश करने के लिए अगस्त 1984 मे एन टी. रामाराव की उस सरकार को बर्खास्त किया जिसे विधानसभा का स्पष्ट बहुमत प्राप्त था और रामाराव तीन दिन के भीतर विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर अपने बहुमत का परिचय देने के लिए तैयार थे।

8 **जम्मू-कश्मीर** (1984)—राज्यपाल जगमोहन ने 1984 मे डॉ. फारूख अब्दुल्ला की

---

1 राजस्थान पत्रिका, 2 फरवरी, 1988।

2 इण्डिया टुडे, 15 फरवरी, 1988, पृ. 22-23।

सरकार को बर्खास्त कर जी. एम शाह को मुख्यमन्त्री बनाया जबकि जी एम. शाह और उनके साथी दल-बदलू थे।

9 **राजस्थान के राज्यपाल वसन्त दादा पाटिल की भूमिका** (1987)—राजस्थान के राज्यपाल वसन्त दादा पाटिल राज्यपाल के गरिमामय पद पर रहते हुए भी महाराष्ट्र की राजनीति मे आये-दिन दखल देते रहे। क्या राज्यपाल पद पर आसीन प्रतिष्ठित पदधारी को दलीय राजनीति मे भाग लेना उचित है।

10. **कुमुद बेन जोशी** बनाम **एन टी रामाराव**—आन्ध्र प्रदेश मे राज्यपाल कुमुद बेन जोशी बनाम मुख्यमन्त्री एन टी. रामाराव के बीच लम्बे समय तक तनातनी चलती रही। लोक आयुक्त की नियुक्ति (1989) को लेकर मामले ने ऐसा तूल पकडा कि मुख्यमन्त्री को राज्यपाल के बारे मे राष्ट्रपति से शिकायत करनी पडी। रामाराव के अनुसार कुमुद बेन ने राजभवन को राजीव भवन मे बदल दिया, वहाँ काग्रेसी नेता इकट्ठे होते है और राजभवन से ही काग्रेस की नीतियाँ बनती है। राज्यपाल सरकार को सूचित किये बिना जिलों के दौरो पर चली जाती है, काग्रेस के कार्यक्रमों मे भाग लेती है, बिलो को रोक लेती है। गणतन्त्र दिवस पर उन्होने केन्द्र सरकार की प्रशंसा की किन्तु राज्य सरकार की उपलब्धियों के बारे मे एक भी शब्द नही कहा।

11 **गोविन्द नारायण सिंह** बनाम **भगवत झा आजाद**---बिहार मे गोविन्द नारायणसिंह और भगवत झा आजाद क्रमश राज्यपाल व मुख्यमन्त्री के पद पर लगभग एक साथ ही आये। दोनो ही काग्रेस (इ) मे जुडे हुए थे। लेकिन कुछ ही महीनो मे राज्यपाल और मुख्यमन्त्री मे भिडन्त इस सीमा तक बढी कि राज्यपाल गोविन्द नारायण सिंह सीधे दिल्ली मुख्यमन्त्री की शिकायत करने जा पहुँचे। राज्यपाल की नाराजगी का भी एक दिलचस्प किस्सा है। जिस मोटर-लाच से राज्यपाल को गगा मे नौका विहार करना था उसी मोटर लाच से मुख्यमन्त्री ने कुछ समय पूर्व पहुँचकर नौका विहार कर लिया। इससे राज्यपाल क्रुद्ध हो गया। कुछ समय बाद बिहार के विश्वविद्यालयो मे कुलपतियो की नियुक्ति को लेकर भी दोनो मे रिश्ते इस इस सीमा तक बिगड गये कि राज्यपाल ने प्रधानमन्त्री को मुख्यमन्त्री की शिकायत करते हुए लिखा, "मुख्य-मन्त्री राज्यपाल की सांविधानिक शक्ति नही जानते। उनसे बहस करना कुश्ती लडने की तरह है।" मुख्यमन्त्री भगवत झा के अनुसार राज्यपाल इन्दिरा कांग्रेस के असन्तुष्टों को प्रोत्साहित करते है।

12 **पांडेय** बनाम **पटनायक**—उडीसा मे बी एन पाडेय तथा मुख्यमन्त्री जानकी वल्लभ पटनायक दोनो ही इन्दिरा काग्रेस से जुडे हुए रहे है। राज्यपाल पाडेय ने दिल्ली मे आयोजित राज्यपाल सम्मेलन मे मुख्यमन्त्री पटनायक की आलोचना करते हुए कहा कि पटनायक का नेतृत्व विकास और प्रगति के प्रति सर्वथा उदासीन है। भूतपूर्व मुख्यमन्त्री नदिनी सतपथी की राज्यपाल द्वारा सार्वजनिक प्रशसा आदि कुछ ऐसे कारण थे कि राज्यपाल और मुख्यमन्त्री के मतभेद पराकाष्ठा पर पहुँच गये और दोनो के विवाद का समापन राज्यपाल के त्यागपत्र से हुआ।

13 **राज्यपाल के वी कृष्णाराव की भूमिका**—राज्यपालो के संवैधानिक व्यवहार का यह हाल है कि नागालैण्ड के राज्यपाल जनरल के वी. कृष्णाराव के खिलाफ गौहाटी उच्च न्यायालय ने कडी टिप्पणी की है। नागालैण्ड विधानसभा के विघटन मे राज्यपाल की भूमिका की कडी टीका करते हुए न्यायालय ने कहा है कि उसे किसी भी प्रकार स्वीकार नही किया जा सकता। 16 अगस्त 1988 को जनरल राव ने तथ्यो को तोड-मरोडकर जो रिपोर्ट केन्द्र को दी, उच्च ालय के अनुसार उसमे उसी राजनीतिक नैतिकता व लोकतन्त्र का खातमा किया गया था, े राज्यपाल ने दुहाई दी थी। विधानसभा के अध्यक्ष ने स्पष्ट व्यवस्था दी थी कि चूंकि (इ) ार्टी मे भी टूट हो गई है, इसलिए विधानसभा के विघटन का सवाल पैदा नही होता। केन्द्र के इशारे पर जनरल राव ने विघटन की सिफारिश कर दी।

अजय मुखर्जी ने अपने पत्र मे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये थे लेकिन केन्द्रीय सरकार ने उनकी उपेक्षा करते हुए कहा कि इन प्रश्नो पर सर्वोच्च न्यायालय के परामर्श की कोई आवश्यकता नही। अत यह स्वाभाविक ही था कि राज्यपाल का पद और अधिक आलोचना का विपय बनता। इन परिस्थितियो मे अनेक लोगो ने यह मत व्यक्त किया कि राज्यपाल को सघीय सरकार के अनुचित प्रभाव से मुक्त करने के लिए राज्यपाल की नियुक्ति के तरीके को बदला जाना चाहिए। **डॉ. रामसुभगसिंह** ने सुझाव दिया कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा एक ऐसी परिपद की सहायता से की जानी चाहिए जिसमे निष्पक्ष परामर्श देने वाले व्यक्ति हो। **डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी** के द्वारा भी ऐसा सुझाव दिया गया और प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा भी अपने 19 जून, 1969 के प्रतिवेदन मे सिफारिश की गयी कि राज्यपाल की नियुक्ति के विपय मे सम्बन्धित राज्यो के मुख्यमन्त्रियो मे परामर्श अवश्य ही लिया जाना चाहिए।

राज्यपालों के लिए निर्देश-पत्र

(INSTRUMENT OF INSTRUCTIONS TO GOVERNORS)

1967 के बाद राज्यपाल की स्थिति के सम्बन्ध मे जो तीव्र विवाद उत्पन्न हुआ था उसका सबसे प्रमुख कारण यह था कि राज्यपाल पदधारी व्यक्तियों के द्वारा अपनी शक्तियो का प्रयोग किन्ही निश्चित मापदण्डो के आधार पर नही किया गया था और समान परिस्थितियों मे भी विभिन्न राज्यो के राज्यपालों के आचरण मे भेद था। ऐसी स्थिति मे अनेक पक्षों द्वारा यह सुझाव दिया गया कि राज्यपाल के मार्ग निर्देशन के लिए कुछ सिद्धान्त निश्चित किये जाने चाहिए। प्रशासनिक सुधार आयोग (1969) का मत था कि राज्यपालो द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले स्वविवेकाधिकारों को किस रूप मे इस्तेमाल किया जाय इससे सम्बन्धित मार्ग निर्देशन अन्तर-राज्य परिषद द्वारा तैयार किये जाने चाहिए तथा केन्द्र द्वारा अनुमोदित किये जाने के बाद राष्ट्रपति के नाम से जारी किये जाये। कुछ राज्यपालो के द्वारा स्वय भी इस प्रकार के निश्चित निर्देशो की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। अत दिसम्बर 1970 के राज्यपाल सम्मेलन मे सिद्धान्त रूप मे इस बात को स्वीकार किया गया कि राज्यपाल के मार्ग-निर्देशन के लिए कुछ सिद्धान्त निश्चित किये जाने चाहिए। अत राष्ट्रपति ने जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल **श्री भगवान सहाय** की अध्यक्षता मे 5 सदस्यो की एक समिति नियुक्त की और इसे राज्य मन्त्रिमण्डल के साथ सम्बन्ध निश्चित करने का कार्य सौपा गया। समिति के अन्य सदस्य थे . **श्री बी. गोपाला रेड्डी, श्री अली यावर जंग, बी. विश्वनाथन् और एम. एम. धवन**। समिति ने अपनी रिपोर्ट मे निम्न सिफारशे की

(i) यदि विधानसभा का विश्वास प्राप्त करने के विषय मे कोई मुख्यमन्त्री विधानसभा का अधिवेशन बुलाने के उत्तरदायित्व से पीछे हटता है तो राज्यपाल उस मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है।

(ii) मन्त्रिमण्डल के बहुमत का प्रश्न सामान्य रूप से विधानसभा द्वारा निश्चित किया जाना चाहिए। यदि कोई मुख्यमन्त्री बहुमत के प्रश्न को विधानसभा द्वारा निश्चित कराने से मना करता है तो इसका अर्थ है कि उस मन्त्रिमण्डल का बहुमत समाप्त हो गया।

(iii) यदि वैकल्पिक सरकार नही बन सकती हो तो राज्यपाल के पास राष्ट्रपति को विधानसभा भग करने सम्बन्धी रिपोर्ट देने के अलावा और मार्ग नही है।

(iv) यदि कोई व्यक्ति सदन का सदस्य न हो, या कोई मनोनीत सदस्य हो तो उसे मुख्यमन्त्री नही बनाना चाहिए।

(v) यदि मिली-जुली सरकार के कोई भागीदार मुख्यमन्त्री से मतभेद हो जाने के कारण त्यागपत्र दे देते है, तो मुख्यमन्त्री के लिए त्यागपत्र देना आवश्यक नही है लेकिन यदि इस प्रकार के त्यागपत्र से विधानसभा मे उसके बहुमत पर सन्देह होता है तो उससे यह आशा की जाती है

कि वह राज्यपाल को परामर्श देकर विधानसभा का जल्दी से जल्दी अधिवेशन बुलायेगा और विधानसभा में अपने बहुमत का परिचय देगा।

(vi) संयुक्त विधायक दल सरकार के मुख्यमन्त्री को सम्बद्ध दलों और गुटों के द्वारा औपचारिक रूप से चुना जाना चाहिए।

(vii) राष्ट्रपति के सचिवालय में एक विशेष कक्ष (Special cell) स्थापित किया जाना चाहिए जिसके द्वारा विभिन्न राज्यों में समय-समय पर घटित होने वाली राजनीतिक और संवैधानिक घटनाओं के सम्बन्ध में अधिकारिक सूचनाएँ रखी जायें। इस कक्ष के द्वारा किसी विशेष मामले के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की अनुमति से राज्यपाल को समस्त जानकारी दी जानी चाहिए जिससे राज्यपाल को निर्णय लेने में सरलता हो।

(viii) राज्यपाल राज्य का अध्यक्ष है, राष्ट्रपति का अभिकर्त्ता नहीं और उसके कर्त्तव्य संविधान में ही निर्धारित किये गये हैं।

उपर्युक्त सिफारशें करते हुए भी समिति ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर बल दिया कि **न तो भविष्य में उत्पन्न होने वाली सभी परिस्थितियों के सम्बन्ध में सोचा जा सकता है और न ही इस सम्बन्ध में निश्चित निर्देश किये जा सकते हैं कि विभिन्न परिस्थितियों में राज्यपाल अपनी भूमिका किस प्रकार निभायेंगे।** भारत सरकार के मत में ये विषय उपयुक्त परम्पराओं के विकास पर छोड़ दिये जाने चाहिए और सख्ती से इस्तेमाल करते हुए मार्ग निर्देशन तैयार करना न तो व्यवहार्य होगा और न ही उचित। इस सम्बन्ध में सहकारिता आयोग का अभिमत है कि "यह न तो व्यवहार्य होगा और न ही वांछनीय होगा कि राज्यपाल द्वारा स्वविवेकाधिकार का इस्तेमाल करने के लिए मार्गदर्शन हेतु मार्ग-निर्देशों का एक सम्पूर्ण सैट तैयार किया जाय ... ऐसी दो स्थितियाँ पैदा हो ही नहीं सकती जो एक जैसी हों तथा जिनमें राज्यपाल को अपने स्वविवेकाधिकार का इस्तेमाल करना पड़े।"[1]

राज्यपाल पद से सम्बन्धित कतिपय महत्त्वपूर्ण विवाद
(IMPORTANT CONTROVERSIES RELATED WITH THE OFFICE OF THE GOVERNOR)

1. **केरल** (1959)—सन् 1957 में केरल राज्य में साम्यवादी दल को बहुमत मिला और नम्बूदरीपाद को मुख्यमन्त्री नियुक्त किया गया। यह भारत की पहली गैर-कांग्रेसी सरकार थी। किन्तु इस सरकार के खिलाफ कांग्रेस पार्टी से प्रेरित विपक्षी दलों ने जबरदस्त आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया और राज्यपाल रामकृष्णराव ने राष्ट्रपति को यह प्रतिवेदन भेजा कि राज्य में अराजकता की स्थिति है और संविधान के अनुसार शासन चलाना सम्भव नहीं है। केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया।

2. **राजस्थान** (1967)—1967 में चौथे आम चुनाव के बाद राजस्थान में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। यद्यपि कांग्रेस सबसे बड़ा दल था लेकिन विरोधी दलों ने एक संयुक्त मोर्चा बना लिया जिसके नेता महारावल लक्ष्मणसिंह थे। संयुक्त मोर्चे की सदस्य संख्या कांग्रेस से बहुत अधिक थी। फिर भी राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द ने महारावल लक्ष्मणसिंह के बजाय मोहनलाल सुखाड़िया को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जिसकी सर्वत्र आलोचना हुई।

3. **पश्चिम बंगाल** (1967)—1967 के चौथे आम चुनाव में पश्चिम बंगाल में अजय मुखर्जी के नेतृत्व में एक मिली-जुली सरकार बनी। कुछ ही दिनों के बाद डॉ. पी. सी. घोष के नेतृत्व में 17 विधायकों ने दल-बदल किया और मुखर्जी की सरकार अल्पमत में आ गयी। राज्यपाल धर्मवीर ने अजय मुखर्जी से कहा कि वे अति शीघ्र विधानसभा बुलाकर अपना बहुमत सिद्ध

1 केन्द्र-राज्य सम्बन्ध, आयोग रिपोर्ट भाग I (1988), पृ. 124.

14. कर्नाटक के राज्यपाल वेंकट सुब्बैया की भूमिका—अप्रैल 1989 मे कर्नाटक की जनता सरकार को जिस तरह गिराया गया वह राज्यपाल द्वारा विधायिका के अधिकारों को हडपने की एक और मिसाल है। मुख्यमन्त्री बोम्मई को राज्य विधानसभा मे बहुमत प्राप्त था, वे विधानसभा मे बहुमत सिद्ध करने को तैयार थे किन्तु राज्यपाल ने मानो तय कर लिया था कि बोम्मई को विधानसभा या राजभवन मे अपना बहुमत साबित करने का कोई मौका नही देना है। वे जैसे केन्द्र सरकार की कठपुतली बन गये थे। मुख्यमन्त्री को यह बताये बिना कि वे बहुमत का समर्थन खो बैठे हैं, राज्यपाल ने सीधे राष्पति को रिपोर्ट भेज दी।

सन् 1988 व 1989 मे उपर्युक्त मसलों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य प्रदेशो मे भी विवाद देखे गये हैं। उदाहरण के लिए, कर्नाटक मे राज्यपाल सुब्बैया और मुख्यमन्त्री बोम्मई के मध्य विधान परिषद में सीटो पर मनोनयन को लेकर, केरल मे राज्यपाल रामदुलारी सिन्हा और मुख्य-मन्त्री नयनार के मध्य कालीकट विश्वविद्यालय के मसले को लेकर भयकर विवाद देखे गये।

15. असम के राज्यपाल हरिदेव जोशी की भूमिका—हरिदेव जोशी ने दिसम्बर 1989 मे असम के राज्यपाल पद से त्यागपत्र राष्ट्रपति को प्रेषित कर दिया और वे राजस्थान के मुख्य-मन्त्री पद की शपथ ग्रहण करने जयपुर भागे। विधिक तौर पर राष्ट्रपति द्वारा उनका त्यागपत्र स्वीकार नही किया गया था और असम मे राज्यपाल पद पर अन्य किसी व्यक्ति को शपथ नही दिलायी गयी थी अत· जोशी का त्यागपत्र प्रेषित कर सीधे जयपुर चले आना, कांग्रेस (इ) विधायक दल की बैठक मे भाग लेना, विधायक दल का नेता निर्वाचित हो जाना, मुख्यमन्त्री पद की शपथ लेने का राजस्थान के राज्यपाल का निमन्त्रण स्वीकार कर लेना आदि सभी कुछ सावैधानिक प्रावधानों का उल्लघन कहा जा सकता है। राज्यपाल का पद गहरी जिम्मेदारी और गरिमा का पद है। इस पद पर रहते हुए कोई भी व्यक्ति किसी भी तरह की राजनीतिक गतिविधियो मे भाग नही ले सकता।

निष्कर्ष—राज्यपाल के कार्य एक साथ विविध और महत्त्वपूर्ण है। सामान्य समय में राज्य के सावैधानिक प्रमुख के रूप मे और केन्द्र एवं राज्य के मध्य महत्त्वपूर्ण कडी के रूप मे कार्य करते हुए तथा कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों मे जबकि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत उद्घोषणा की जाय, राज्यपाल सघ का एजेन्ट बन जाता है, वह रिक्त स्थान को भरता है और उस थोडी अवधि मे भी, जबकि उसे सहायता देने और परामर्श देने के लिए मन्त्रिपरिषद् उपलब्ध नही रहती कार्य-पालक सरकार की निरन्तरता को सुनिश्चित करता है। राज्यपाल सविधान द्वारा परिकल्पित व्यवस्था का प्रमुख अधिकारी है। कोई भी दूसरा सावैधानिक अधिकारी अपने कर्त्तव्यो के अति-रिक्त इन उत्तरदायित्वो को पूरा नही कर सकता। सक्षेप मे, यह ऐसा पद है जिसके बिना राज्य शासन मे काम नही चल सकता।

आज कुल स्थिति ऐसी बन गई है कि राज्यपाल पद के लिए दो ही विकल्प बचे हैं—या तो इसे समाप्त कर दिया जाय अथवा इसे दलीय राजनीति से ऊपर रखा जाय।

यदि इन दोनो मे से किसी एक विकल्प को स्वीकार नही किया गया तो वह दिन दूर नही जब राज्य सरकारें राज्यपालो के खिलाफ काले झण्डो का प्रदर्शन करवायेंगी और राज्य प्रमुख के रूप में उन्हें मानने से इन्कार कर देंगी। यह हमारे लोकतन्त्र के लिए काली घडी होगी। दुर्भाग्य-वश हम उसी ओर दौड रहे हैं।

28

राज्य-मन्त्रिपरिषद तथा राज्य-राजनीति में मुख्यमन्त्री

[THE COUNCIL OF MINISTERS AND THE OFFICE OF THE CHIEF MINISTER IN STATE POLITICS]

राज्य-मन्त्रिपरिषद
(COUNCIL OF MINISTERS)

हमारे संविधान के अनुसार राज्य में राज्यपाल को परामर्श देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद की व्यवस्था की गयी है।[1] राज्यपाल द्वारा स्वविवेक से किये गये कार्यों के अतिरिक्त अन्य शासन सम्बन्धी कार्यों में मन्त्रिपरिषद उसे मन्त्रणा देती है।

संगठन (Organisation)—राज्य मन्त्रिपरिषद का अध्यक्ष मुख्यमन्त्री होता है। मुख्यमन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है तथा मुख्यमन्त्री के परामर्श पर वह अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। प्रायः राज्यपाल विधानसभा में बहुमत दल के नेता को मन्त्रिमण्डल के निर्माण हेतु आमन्त्रित करता है। यदि किन्हीं परिस्थितियों में किसी दल का विधानसभा में स्पष्ट बहुमत नहीं होता तो इस सम्बन्ध में राज्यपाल अपने स्वविवेक से कार्य करता है। मुख्यमन्त्री द्वारा दी गयी मन्त्रियों की सूची को राज्यपाल स्वीकार कर लेता है। संवैधानिक शब्दों में मुख्यमन्त्री और मन्त्रिपरिषद के सदस्य राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त ही अपने पद पर पदासीन रहते हैं। यथार्थ में मन्त्रिपरिषद उस समय तक पदारूढ़ रहती है जब तक कि राज्य-विधानसभा का उसमें विश्वास रहता है। साधारणतया, मन्त्रिपरिषद के सभी सदस्य राज्य-विधानमण्डल के सदस्य होते हैं। किन्तु, ऐसे व्यक्ति को भी मन्त्री या मुख्यमन्त्री बनाया जा सकता है जो राज्य के विधानमण्डल के किसी भी सदन का सदस्य न हो। विधानानुसार मन्त्रियों को छः मास की अवधि के भीतर विधानमण्डल के किसी भी सदन का सदस्य बन जाना आवश्यक है, अन्यथा उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ेगा।

राज्य-मन्त्रिपरिषद में संघीय मन्त्रिपरिषद के समान ही चार प्रकार के मन्त्री हो सकते हैं—मन्त्रिमण्डल स्तर के मन्त्री, राज्यमन्त्री, उपमन्त्री तथा संसदीय सचिव। मन्त्रिपरिषद की अवधि साधारणतया पाँच वर्ष है। व्यवहार में इसकी अवधि विधानसभा में उसके दलीय बहुमत पर निर्भर करती है।

यदि राज्य मन्त्रिपरिषद की तुलना संघीय मन्त्रिपरिषद से की जाये तो दोनों में तीन प्रमुख अन्तर हैं—प्रथम, राज्य मन्त्रिपरिषद का अध्यक्ष मुख्यमन्त्री कहलाता है जबकि संघीय

[1] भारतीय संविधान, अनुच्छेद 163।

मन्त्रिपरिषद का अध्यक्ष प्रधानमन्त्री कहलाता है। द्वितीय, राज्य का राज्यपाल कुछ कार्य स्वविवेक मे करता है जबकि संघीय मन्त्रिपरिषद राष्ट्रपति को सभी कार्यो के लिए परामर्श देती है। तृतीय, कुछ राज्यो में एक मन्त्री अनिवार्यतः अनुसूचित जातियो एवं जनजातियो से सम्बन्धित कार्य करता है, जबकि संघीय मन्त्रिपरिषद मे इस प्रकार का कार्य करने वाला मन्त्री नही होता।

मन्त्रिपरिषद के कार्य (Functions)—संघीय मन्त्रिपरिषद के समान ही राज्य मन्त्रिपरिषद भी अनेक प्रशासकीय, विधायिनी तथा वित्तीय कार्य करती है। मन्त्रिपरिषद ही राज्य मे वास्तविक कार्यपालिका है। मन्त्रिपरिषद ही विधानमण्डल की पथप्रदर्शक तथा शासन की धुरी है। मन्त्रिपरिषद सम्पूर्ण राज्य के सुप्रबन्ध के लिए उत्तरदायी है। यह एक विचारशील और नीति-निर्णायक निकाय है। मन्त्रिमण्डल ही वह कड़ी है जो शासन के कार्यपालिका अग को व्यवस्थापिका से जोडती है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने-अपने विभागो का प्रबन्ध करते हैं और अपने कार्यों के लिए सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होते है। मन्त्रिमण्डल ही राज्य के बडे-बडे अधिकारियो की नियुक्ति का निर्णय करता है। राज्य शासन के विभिन्न विभागो मे तालमेल बैठाना भी मन्त्रिमण्डल का ही काम है। विधानसभा के प्रत्येक अधिवेशन के प्रारम्भ मे मन्त्रिमण्डल ही व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार करता है। यह निर्णय करना मन्त्रिमण्डल का कार्य है कि विधानसभा के किस अधिवेशन मे किस-किस विधेयक को प्रस्तावित किया जाये। विधानमण्डल के सदस्य होने के कारण मन्त्रीगण विधानमण्डल की वैठको मे भाग लेते है, पूछे गये प्रश्नो का उत्तर देते हैं तथा विधि-निर्माण प्रक्रिया मे सक्रिय रूप से हाथ बँटाते हैं। विधानसभा में प्रस्तुत किये जाने से पूर्व मन्त्रिपरिषद द्वारा वजट को स्वीकृत किया जाता है। विभिन्न मदो पर खर्च की जाने वाली राशि का निर्धारण, विभिन्न करो का राज्य की जनता पर लगाया जाना, स्थानीय सस्थाओ को दिये जाने वाले अनुदानों की राशि का निर्धारण आदि सभी मन्त्रिपरिषद के ही कार्य है। वित्तमन्त्री द्वारा वजट विधानसभा मे प्रस्तुत किया जाता है। जिन न्यायिक कृत्यो का सम्पादन राज्यपाल करता है, वह मन्त्रिपरिषद के परामर्श से ही किये जाते है क्योकि इस पर अन्तिम निर्णय मन्त्रिपरिषद ही लेती है।

राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद (Governor and Council of Ministers)

राज्यपाल नाममात्र का कार्यकारी है और मन्त्रिपरिषद वास्तविक कार्यपालिका है। सविधान के अन्तर्गत राज्यपाल को दी गयी सत्ता की एक विस्तृत सूची है। यदि इसी प्रकार स्वीकृत कर लिया जाये तो राज्यपाल वास्तविक शासक वन जाता है। "मन्त्रिगण राज्यपाल के अनुग्रह-पर्यन्त पदासीन रहेंगे" इस उपवन्ध के क्षेत्र की व्याख्या करते समय डॉ. अम्बेडकर ने कहा, "मुझे इस वात मे तनिक भी सन्देह नही कि इसमे सविधान का तात्पर्य यह है कि मन्त्रिमण्डल तब तक पदासीन रहेगा जब तक उसे विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है।" सामान्य परिस्थितियो मे राज्यपाल से मन्त्रियो की मन्त्रणा के आधार पर ही कार्य करने की आशा की जाती है। अनुच्छेद 167 के अनुसार राज्य के मुख्यमन्त्री का कर्त्तव्य है कि राज्य के प्रशासन से सम्बन्धित मन्त्रिपरिषद के निर्णयो की सूचना राज्यपाल को दे। कुछ परिस्थितियो मे राज्यपाल मन्त्रिपरिषद की सलाह के विना ही कार्य कर सकता है—जैसे राज्य मे [illegible] नन्त्र के विफल होने पर। कतिपय परिस्थितियो मे राज्यपाल मन्त्रिपरिषद को वख [illegible] है।

मन्त्रिपरिषद और विधानमण्डल (C[illegible] and Legislature)

मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से [illegible] प्रति उत्तरदायी होती अपने पद पर उसी समय तक रह स[illegible] उसे विधानसभा के [illegible] प्राप्त हो। 'कामरोको प्रस्ताव', नि[illegible] अविश्वास के [illegible]

मन्त्रिपरिषद को हटा सकती है। व्यवहार मे दलीय अनुशासन तथा प्रचण्ड दलीय बहुमत के कारण मन्त्रिपरिषद् विधानसभा पर नियन्त्रण रख सकती है।

अल्पमत मन्त्रिमण्डल (Minority Government)

भारत मे राज्यो मे संघीय शासन की भाँति ससदात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना की गयी है। ससदात्मक शासन-व्यवस्था का आधारभूत सिद्धान्त यही है कि मन्त्रिमण्डल का विधान-सभा में स्पष्ट बहुमत हो। परन्तु प्रायः यह देखा गया है कि राज्यो मे अल्पमत सरकारें भी समय-समय पर बनती रहती हैं। अल्पमत मन्त्रिमण्डल उसे कहते है जिसका राज्य विधानसभा मे स्पष्ट बहुमत नहीं होता, परन्तु वह अन्य दलो के सहयोग से विधानसभा के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते है। जो दल मन्त्रिमण्डल का समर्थन करते है वे मन्त्रिमण्डल मे सम्मिलित नही होते और केवल विधानसभा मे ही उसको पूर्ण समर्थन देते हैं। भारत के कई राज्यो मे अल्पमत मन्त्रि-मण्डल का निर्माण हुआ है। सबसे पहले श्री पत्तम थाणु पिल्ले के नेतृत्व मे केरल मे अल्पमतीय मन्त्रिमण्डल बना। सन् 1967 मे पश्चिम बगाल में श्री प्रफुल्लचन्द्र घोष के नेतृत्व मे, विहार मे श्री मण्डल के नेतृत्व मे, पंजाब मे श्री गिल के नेतृत्व मे भी जो मन्त्रिमण्डल बने थे उन्हे अल्पमतीय मन्त्रिमण्डल की ही संज्ञा दी जा सकती है। 1972-76 के काल मे श्री अच्युत मेनन के नेतृत्व मे केरल राज्य मे अल्पमतीय मन्त्रिमण्डल कार्यरत था। वस्तुत अल्पमतीय मन्त्रिमण्डल की सफलता के तीन कारण रहे है—**प्रथम**, अल्पमतीय मन्त्रिमण्डल एक अवसरवादी कार्यवाही रही है, **द्वितीय**, समर्थन देने वाला दल एवं उसके सदस्यगण स्वयं सत्ता के लोभी हो जाते हैं; और **तृतीय**, मन्त्रि-मण्डल और समर्थन देने वाले दल मे नीति सम्बन्धी अन्तर आ जाता है। सक्षेप मे, अल्पमत मन्त्रि-मण्डल एक दुर्बल सरकार के रूप मे क्रियाशील रहता है और उसे इस बात का खतरा रहता है कि उसका तख्ता कभी भी उलट सकता है।

संयुक्त मन्त्रिमण्डल या मिली-जुली सरकार (Coalition Government)

चौथे आम चुनाव की सबसे बडी विशेषता यह रही कि अनेक राज्यो में मिली-जुली सरकारें बनी। मिली-जुली सरकारो से अभिप्राय है विधानसभा मे किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत न होना एवं कुछ दल मिलकर निश्चित कार्यक्रम के आधार पर अपना एक सर्वमान्य नेता चुन लेते है और उस नेता द्वारा जो मन्त्रिमण्डल बनाया जाता है उसमे सभी दलो को उनकी सख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाता है। ऐसे मन्त्रिमण्डलों का निर्माण पश्चिम बंगाल, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि राज्यो मे हुआ। केरल को संयुक्त मन्त्रिमण्डलों का घर कहा जा सकता है। वर्तमान मे केरल की नयनार सरकार एक मिली-जुली सरकार ही है। सयुक्त मन्त्रिमण्डलो के निर्माण के चार प्रमुख कारण थे—**प्रथम**, कांग्रेस दल को सत्ता से हटाना एवं राज्यों से उसके एकाधिकार को समाप्त करना, **द्वितीय**, कांग्रेस दल को विघटित करना एवं उसकी फूट से लाभ उठाना, **तृतीय**, गैर-कांग्रेसी दलो द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम एवं नीतियो को क्रियान्वित करना, और **चतुर्थ**, कांग्रेस दल द्वारा स्वीकृत राष्ट्रीय मानदण्डों के स्थान पर नये कीतिमान स्थापित करना।

यह बात सच है कि भारत मे सयुक्त मन्त्रिमण्डल का प्रयोग सभी राज्यो में सुखद नहीं रहा। संयुक्त मन्त्रिमण्डल के विभिन्न दलो में खींचातानी एवं मतभेदो के कारण शासन-कार्य ठीक ढग से नही चल सका और कई राज्यों मे तो प्रशासनिक शून्यता उत्पन्न हो गयी। संयुक्त मन्त्रि-मण्डल के युग मे बंगाल, बिहार और हरियाणा राज्यो मे तो अराजकता बढी, प्रशासनिक कुशलता में कमी आयी और राज्यो का विकास कार्य अवरुद्ध हुआ। वस्तुतः संयुक्त मन्त्रिमण्डल के विभिन्न घटक दलो ने अपने स्वार्थों के लिए सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का भी निर्वाह नही किया। यह कितनी विचित्र बात थी कि प. बंगाल के तात्कालिक मुख्यमन्त्री अजय मुखर्जी को कई बार

उपमुख्यमन्त्री ज्योति वसु के वक्तव्यो की आलोचना करनी पड़ी। संयुक्त मन्त्रिमण्डलो के निर्माण से जहाँ एक ओर दल-बदल की राजनीति का जोर बढा वहाँ दूसरी ओर राज्य सरकारे निर्बल हो गयी। अब यह सिद्ध हो गया है कि संयुक्त मन्त्रिमण्डलो का निर्माण राष्ट्रहित मे नही है। उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल **डॉ. बी गोपालारेड्डी** ने राष्ट्रपति के नाम पत्र मे लिखा था, "साझा मन्त्रिमण्डलों के व्यवहार से सम्बन्धित दर्शन अभी कोई निश्चित स्वरूप नही पा सका है, उसका प्रामाणिक विश्लेषण होना शेष है।"[1]

मुख्यमन्त्री
(CHIEF MINISTER)

राज्य मे मुख्यमन्त्री राज्य सरकार का वास्तविक प्रधान है। संविधान के अनुसार भारत मे राज्य के शासन के लिए संसदीय ढाँचे की व्यवस्था की गयी है। यह ढाँचा केन्द्रीय सरकार के अनुरूप ही है। जिस भाँति केन्द्र मे राष्ट्रपति को सांविधानिक अध्यक्ष बनाया गया है और प्रधानमन्त्री को वास्तविक प्रधान, उसी भाँति राज्यपाल को सांविधानिक अध्यक्ष बनाया गया है और मुख्यमन्त्री को वास्तविक प्रधान।[2] वस्तुत: राज्य मे राज्यपाल उत्तरदायी मन्त्रिपरिषद् की सहायता से शासन चलाता है जिसका अध्यक्ष मुख्यमन्त्री होता है। संविधान-निर्माताओं ने यह आशा की थी कि राज्य मे मुख्यमन्त्री बहुमत दल का नेता ही नही होगा अपितु राज्य का नायक और मुख्य प्रवक्ता होगा। मुख्यमन्त्री के व्यक्तित्व और सुदृढ़ राजनीतिक स्थिति पर ही राज्य विशेष का आर्थिक विकास, सामाजिक उन्नति और व्यवस्था निर्भर है। यह सिद्ध हो चुका है कि कमजोर मुख्यमन्त्री स्थायी नीतियों का निर्माण करके राज्य के उत्थान मे महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर चुके हैं।[3]

मुख्यमन्त्री की नियुक्ति (Appointment of Chief Minister)

संवैधानिक दृष्टि से मुख्यमन्त्री की नियुक्ति सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल करते हैं।[4] मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करते समय राज्यपाल मुख्य रूप से दो मापदण्डों का सहारा लेते हैं : **प्रथम,** उसे राज्य विधानसभा मे बहुमत का समर्थन प्राप्त होगा, **द्वितीय,** यदि वह विधानसभा का सदस्य न भी हो तो उसे मुख्यमन्त्री पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकेगा, किन्तु उसके लिए मुख्यमन्त्री पद पर नियुक्त होने की तारीख मे छ: माह की अवधि मे विधानसभा का सदस्य बनना आवश्यक है।[5] अन्यथा उसे अपना पद त्यागना पड़ेगा।

संविधान मे मुख्यमन्त्री पद की योग्यताओं का वर्णन नही किया गया है। सामान्यत: मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करते समय राज्यपाल को कोई स्वविवेक प्रयोग करने की आवश्यकता नही पड़ती क्योंकि उसे बहुमत दल के नेता को ही सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करना पड़ता है। यदि वह ऐसा नही करता है, तो अत्यन्त हास्यास्पद कार्य करेगा क्योंकि बहुमत के समर्थन के बिना सरकार नही चल पायेगी। राज्यपाल को केवल उस समय अपने स्वविवेक का प्रयोग करना

---

1 इकबाल नारायण · भारतीय सरकार एवं राजनीति, 1974, पृष्ठ 282।

2 Johari, J C. · *Indian Government and Politics* 1974 p. 385.

3 फड़िया, बाबूलाल, 'सत्ता की राजनीति मे मुख्यमन्त्री का पद तथा स्थिति,' लोकतन्त्र **समीक्षा** जुलाई-सितम्बर 1973, पृष्ठ 59।

4 **भारतीय संविधान,** अनुच्छेद 164 (1)।

5 तमिलनाडु मे राजगोपालाचारी, बंगाल मे सिद्धार्थ शंकर रे, मध्य प्रदेश मे प्रकाशचन्द्र सेठी आदि पहले छ: माहो मे ही विधानसभा के सदस्य बने थे।

पड़ेगा जब विधानमण्डल मे किसी दल का स्पष्ट बहुमत न होगा। ऐसी स्थिति मे वह जिस दल के नेता को अधिक उपयुक्त समझेगा, उसे ही मुख्यमन्त्री पद की शपथ दिलवायेगा।

मुख्यमन्त्री चयन की राजनीति (Selection Politics of the Chief Minister)

मुख्यमन्त्री का चयन करना आसान नही है। अनेक राज्यो मे किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने, सिद्धान्तहीन गठबन्धनो के अस्तित्व मे आने और दल-बदल की घटनाओ के कारण मुख्यमन्त्रियो के चयन मे अनेक दुविधाएँ उपस्थित हुई। मुख्यमन्त्री चयन से सम्बन्धित अनेक विवादास्पद प्रश्न उत्पन्न हुए है जिनका सम्बन्ध साधारणतया सत्ता और जोड़-तोड की राजनीति से ही है। उनमे से कतिपय प्रश्न इस प्रकार हैं—(i) मुख्यमन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल करते है या उसे प्रधानमन्त्री की अभिरुचि का व्यक्ति होना अपेक्षित है? (ii) मुख्यमन्त्री को हाईकमान का विश्वास प्राप्त होना चाहिए अथवा राज्य के विधानमण्डल दल का? (iii) उसे बहुमत दल के अधिसंख्यी गुटो का समर्थन प्राप्त होना चाहिए अथवा सम्पूर्ण बहुमत वाले दल का?

दलीय बहुमत के अभाव मे मुख्यमन्त्री का चयन—सन् 1952 मे मद्रास विधानसभा मे किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही था। टी. प्रकाशम् के नेतृत्व मे विरोधी दलो ने सयुक्त मोर्चा गठित करके राज्यपाल को अपने 167 समर्थको की सूची पेश की। कांग्रेस दल को विधान सभा मे 155 स्थान मिले थे और वह सबसे बड़ा दल (Largest Party) था। राज्यपाल ने कहा कि सयुक्त मोर्चा चुनावोत्तर घटना है और उसका कोई निश्चित कार्यक्रम नही है, अत. उसे सरकार बनाने की स्वीकृति नही दी जा सकती। राज्यपाल ने सबसे बडे कांग्रेस दल के नेता सी. राज-गोपालाचारी को विधानपरिषद् का सदस्य मनोनीत कर मन्त्रिमण्डल के गठन हेतु नियन्त्रण दिया। सन् 1952 मे ट्रावनकोर-कोचीन मे भी राज्यपाल ने कांग्रेस विधायक दल के नेता को मन्त्रिमण्डल के निर्माण हेतु आमन्त्रण दिया। ट्रावनकोर कोचीन मे 104 सदस्यी विधानसभा मे कांग्रेस के 45 तथा सयुक्त मोर्चे के 59 सदस्य थे। 1952 मे उडीसा मे 60 सदस्यीय विधानसभा मे कांग्रेस को केवल 26 स्थान प्राप्त हुए फिर भी राज्यपाल ने कांग्रेस दल के नेता को मन्त्रिमण्डल बनाने हेतु बुलाया। 1957 मे उडीसा मे भी कांग्रेस दल का मन्त्रिमण्डल बना जबकि विधानसभा मे उसके पास अल्प स्थान थे। 1967 मे राजस्थान मे 183 सदस्यीय सदन मे कांग्रेस दल को 88 स्थान प्राप्त हुए और सयुक्त मोर्चे की शक्ति 93 सदस्यो की थी। राज्यपाल ने मोर्चे के साथी निर्दलीय सदस्यो की उपेक्षा करते हुए सबसे बडे दल के नेता श्री सुखाड़िया को मन्त्रिमण्डल के गठन हेतु बुलाया।

सन् 1965 मे केरल मे मार्क्सवादी साम्यवादी दल विधानमण्डल मे सबसे बड़ा दल था और नम्बूद्रीपाद अन्य दलो की सहायता से सरकार बनाने की स्थिति मे थे। किन्तु, राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की। सन् 1967 मे पजाब मे राज्यपाल ने सबसे बडे कांग्रेस दल के बजाय सयुक्त मोर्चे के नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। बंगाल और बिहार मे भी कांग्रेस सबसे बड़ा दल था फिर भी उसके नेता को मन्त्रिमण्डल निर्माण हेतु नही बुलाया गया।

चुनावो से पूर्व गठबन्धन और मुख्यमन्त्री का चयन—यदि जन-निर्वाचनो से पूर्व विभिन्न दलो ने न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर सयुक्त मोर्चा गठित कर लिया है तो राज्यपालो ने उनके नेता को मुख्यमन्त्री पद ग्रहण करने हेतु निमन्त्रण दिया है। सन् 1967 मे केरल के राज्यपाल ने नम्बूद्रीपाद को मन्त्रिमण्डल गठित करने हेतु बुलाया था कि क्योकि चुनावो से पूर्व ही सात दलो ने निश्चित कार्यक्रमो की घोषणा कर दी थी। सन् 1970 मे केरल मे अच्युत नेता को भी मुख्यमन्त्री बनने का मौका दिया गया क्योकि कांग्रेस, साम्यवादी दल और मुस्लिम लीग ने निश्चित कार्य-

क्रम के आधार पर चुनाव लडा था। सन् 1969 मे पंजाब मे राज्यपाल ने गुरुनाम सिंह को मन्त्रि-मण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया क्योकि अकाली दल और जनसंघ ने साझे कार्यक्रम पर चुनाव लडा था। सन् 1969 मे श्री अजय मुखर्जी के नेतृत्व मे चौदह दलो के सयुक्त मोर्चे ने बंगाल का चुनाव लडा और राज्यपाल ने उन्हें विजयोपरान्त मन्त्रिमण्डल बनाने हेतु बुलाया।

दल-बदल के बाद 'संविद' का गठन और मुख्यमन्त्री का चयन—सन् 1967 मे हरियाणा मे दल-बदल के कारण भगवत दयाल शर्मा मन्त्रिमण्डल का पतन हुआ। राव वीरेन्द्रसिंह के नेतृत्व मे जनसंघ, ससोपा, मार्क्सवादी, साम्यवादी दल और निर्दलीय विधायको का 'संविद' [सयुक्त विधायक दल] बना और राज्यपाल ने संविद नेता को मुख्यमन्त्री पद हेतु निमन्त्रण दिया। 1967 मे ही दल-बदल के कारण चन्द्रभानु गुप्त को त्यागपत्र देना पडा और चौधरी चरणसिंह के नेतृत्व मे कई दलो ने 'सविद' का गठन किया। राज्यपाल ने चरणसिंह को मुख्यमन्त्री पद की शपथ दिलायी। मध्य प्रदेश मे भी जुलाई 1967 मे गोविन्दनारायण सिंह के नेतृत्व मे दल-बदल के परिणामस्वरूप 'सविद' का गठन हुआ जिसे विधानसभा मे बहुमत का समर्थन प्राप्त था। राज्यपाल ने श्री सिंह को मन्त्रिमण्डल बनाने हेतु मुख्यमन्त्री बनाया।

कांग्रेस दल के मुख्यमन्त्रियो का चयन—कांग्रेस दल मे वही व्यक्ति मुख्यमन्त्री के पद को धारण कर सकता है जो गठजोड की राजनीति मे पारगत हो और साथ ही उसके सिर पर प्रधान-मन्त्री का वरदहस्त भी हो। कांग्रेस दल के मुख्यमन्त्रियों के लिए हाईकमान का समर्थन और साथ-साथ केन्द्र से सम्बन्धित राज्य के वरिष्ठ मन्त्री का सक्रिय सहयोग भी आवश्यक हो गया है। उदाहरणार्थ, मध्य प्रदेश में श्री प्रकाशचन्द्र सेठी, उड़ीसा मे श्रीमती नन्दिनी सत्पथी, बंगाल मे श्री सिद्धार्थ शंकर रे, गुजरात मे श्री घनश्याम ओझा, बिहार मे श्री अब्दुल गफूर, उत्तर प्रदेश मे श्री कमलापति त्रिपाठी और हेमवती नन्दन बहुगुणा को प्रधानमन्त्री ने ही मुख्यमन्त्री पद पर आसीन करवाया क्योकि ये सब उन्ही की अभिरुचि के व्यक्ति थे। सन् 1980 के विधानसभा चुनावो के बाद जगन्नाथ पहाडिया, शिवचरन माथुर (राजस्थान), अर्जुनसिह, मोतीलाल वोरा (मध्य प्रदेश), विश्वनाथ प्रताप सिह (उत्तर प्रदेश) और दरबारा सिंह (पजाब) के मुख्यमन्त्री बनने का आधार प्रधानमन्त्री की मन्शा ही बतलायी जाती है। बिहार मे श्री केदार पाण्डे को मुख्यमन्त्री पद से हटना पडा क्योकि उन्होने बिहार के वरिष्ठ नेता श्री मिश्र का आशीर्वाद खो दिया था। आन्ध्र प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश के मुख्यमन्त्रियो को हटना पडा क्योकि राजनीतिक कारणो मे दल का हाईकमान ऐसा ही चाहता था। गुजरात मे श्री माधवसिंह सोलंकी (जुलाई 1985) को मुख्यमन्त्री पद से अलग करने का निर्णय अन्ततोगत्वा हाईकमान ने ही लिया।

पिछले कुछ वर्षो से कांग्रेस (इ) के मुख्यमन्त्री ऊपर से थोपे जाने की प्रवृत्ति रही है। मोती लाल वोरा, शिवचरण माथुर, सत्येन्द्र नारायण सिन्हा, नारायण दत्त तिवारी, अमरसिंह चौधरी, श्यामाचरण शुक्ल और माधवसिंह सोलकी आदि मे से कोई भी पार्टी के सदस्यो द्वारा लोकतान्त्रिक प्रक्रिया से निर्वाचित नही हुए।

जनता पार्टी के मुख्यमन्त्रियो का चयन—जून 1977 के विधानसभा चुनावो के पश्चात् भारत के सात-आठ राज्यो मे जनता पार्टी को अच्छा-खासा बहुमत प्राप्त हुआ। जनता पार्टी के मुख्यमन्त्रियो का चयन राज्य विशेष की विधानसभा मे इसके घटक दलो की सख्या के आधार पर हुआ। उत्तर प्रदेश, बिहार और हरियाणा मे भारतीय लोकदल घटक के व्यक्तियो को मुख्यमन्त्री बनाया गया और मुख्यमन्त्री पद क्रमश रामनरेश यादव, कर्पूरी ठाकुर तथा चौधरी देवीलाल को प्राप्त हुए। राजस्थान, मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश मे जनसघ घटक के भैरोंसिह शेखावत, कैलाश जोशी और शान्ता कुमार को प्राप्त हुए। ऐसा कहा जाता है कि जनसंघ और भारतीय लोकदल

के वरिष्ठ नेताओ ने आपसी गठजोड़ के माध्यम से मुख्यमन्त्री पद अपने-अपने घटको के लिए बाँट लिए और अन्य घटको की उपेक्षा कर दी। आगे चलकर भारतीय लोकदल और जनसघ घटको के बीच मतभेद बढ़ने लगे। भारतीय लोकदल ने उत्तर प्रदेश मे कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी घटक से साँठ-गाँठ करके बनारसीदास को मुख्यमन्त्री पद पर आसीन करवाया। जनसंघ घटक ने इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप बिहार से कर्पूरी ठाकुर और हरियाणा से देवीलाल को हटने के लिए बाध्य किया और जनसंघ घटक के सहयोग से रामसुन्दरदास (बिहार) तथा भजनलाल (हरियाणा) मुख्यमन्त्री बने। ये दोनो ही सी. एफ. डी. घटक से सम्बन्धित थे। घटकवादी प्रवृत्ति के कारण ही राजस्थान मे महारावल लक्ष्मण सिंह मुख्यमन्त्री नही बन सके क्योंकि जनसघ घटक की तुलना मे भारतीय लोकदल घटक का राजस्थान मे संख्या बल कम था।[1]

विधानसभा बहुमत दल द्वारा मुख्यमन्त्री का चयन—कभी-कभी बहुमत दल मे मुख्यमन्त्री पद हेतु दो दावेदार होते हैं। ऐसी स्थिति मे बहुमत दल की बैठक मे शक्ति परीक्षण द्वारा भी मुख्यमन्त्री का चयन हो जाता है। जुलाई 1973 मे गुजरात मे मुख्यमन्त्री के पद के दो प्रत्याशी श्री चिमनभाई पटेल और श्री कान्तिलाल घिया मैदान मे थे। श्री पटेल इस बात पर अड़े कि चुनाव विधानमण्डल दल द्वारा ही किया जाय। इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया और विधान-मण्डल कांग्रेस दल को मुख्यमन्त्री चुनने का अधिकार दिया गया। विधानमण्डल मे चिमनभाई पटेल का बहुमत था अत वे मुख्यमन्त्री बनाये गये।

बहुमत के समर्थन के बावजूद अन्य मुख्यमन्त्री का चयन—कभी-कभी बहुमत का पूर्ण समर्थन होने के बावजूद अन्य व्यक्ति को मुख्यमन्त्री बनाया गया। राजस्थान मे विधानमण्डल कांग्रेस दल ने श्री सुखाड़िया के नेतृत्व मे विश्वास प्रकट किया था किन्तु उन्हे पद त्याग करना पड़ा। उत्तर प्रदेश मे कमलापति त्रिपाठी को बहुमत का समर्थन प्राप्त था। आन्ध्रप्रदेश मे सन् 1984 मे बहुमत का समर्थन प्राप्त होने के बावजूद एन. टी. रामाराव के स्थान पर भास्करराव को मुख्य-मन्त्री नियुक्त किया गया।

संविद सरकारों में मुख्यमन्त्री का चयन—सविद शासनकाल मे मुख्यमन्त्री का चयन भिन्न पद्धति से हुआ है। कई बार दल-बदलुओ को मुख्यमन्त्री बनाकर दल बदलने का मूल्य चुकाया गया है। चतुर्थ जन-निर्वाचनो के उपरान्त श्री चरणसिंह (उत्तर प्रदेश) श्री गोविन्द नारायणसिंह (मध्य प्रदेश), श्री भोला पासवान शास्त्री (बिहार) आदि दल-बदलू मुख्यमन्त्री थे। कई बार राज-नीतिक सौदेबाजी के रूप मे उपहारस्वरूप मुख्यमन्त्री का पद सौंपा गया। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश मे श्री टी एन सिंह ऐसे ही मुख्यमन्त्री बनाये गये।

मुख्यमन्त्री का चयन एवं नियुक्ति—कुछ निष्कर्ष—यह सर्वविदित है कि राज्यपालो ने मुख्यमन्त्रियो की नियुक्ति करते समय निश्चित और समान मानदण्डो का सहारा नही लिया। राज्यपालो के विरोधाभासपूर्ण आचरण के कारण राज्यो मे राजनीतिक और संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हुए। इन राजनीतिक गतिरोधो के कारण न केवल संस्थागत स्वरूप ही अपितु राज्यो का सार्वजनिक जीवन भी प्रभावित हुआ है। भारत मे मुख्यमन्त्री चयन की राजनीति का विश्लेषण करने मे निम्नलिखित तथ्य उभरते है.

(1) मुख्यमन्त्री के चयन मे राज्यपालो की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। अनेक अवसरो पर राज्यपालो ने अपने विवेक का प्रयोग किया है।

(2) मुख्यमन्त्री के चयन मे प्रधानमन्त्री और केन्द्रीय सरकार की इच्छा एव अभिरुचि अनेक अवसरो पर प्रभावशाली रही है।

---

[1] Sachchidanand Sinha *The Permanent Crisis in India—After Janta W* New Delhi, 1978) Chapter 3

(3) संविद सरकारो मे मुख्यमन्त्री का निर्धारण इस आधार पर होता था कि सबसे बड़े दल के नेता को वह पद दिया जाना चाहिए। परन्तु सविद शासनकाल मे दल-बदलू नेताओ को भी मुख्यमन्त्री बनाया गया।

(4) कांग्रेस दल मे सरकारी गुट और संगठन गुट बन जाता है। सगठन गुट सरकार के विरोधी गुट के रूप में कार्य करता है। 1966 में कामराज (संगठन गुट के नेता) राजगोपालाचारी (सरकार पक्ष के नेता) को हटाकर मुख्यमन्त्री बने। उत्तर प्रदेश के चन्द्रभानु गुप्त सम्पूर्णानन्द को हटाकर, असम में शरदचन्द्र सिन्हा तात्कालिक मुख्यमन्त्री महेन्द्र मोहन चौधरी को हटाकर इसी ढंग से मुख्यमन्त्री बने।

(5) जनता पार्टी के मुख्यमन्त्रियों का चयन घटकवाद के आधार पर हुआ।

मुख्यमन्त्री के कार्य एवं शक्तियां (Functions and Powers of the Chief Minister)

मुख्यमन्त्री राज्य-मन्त्रिपरिषद का गठन करता है। वह अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यो के बीच विभागो का वितरण करता है। वह मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह मन्त्रियो के आपसी विवादो तथा मतभेदो को सुलझाता है। वह विधानसभा का नेता होता है। वह विधानसभा के अध्यक्ष से परामर्श करके विधायी कार्यक्रम तैयार करता है। उसे यह भी अधिकार है कि राज्यपाल को परामर्श देकर विधानसभा को विघटित करा दे। वह सरकार का प्रमुख प्रवक्ता होता है और राज्य की नीतियो के निर्धारण मे उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। राज्य प्रशासन के महत्त्वपूर्ण पदो पर जिन व्यक्तियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा होती है, वस्तुतः उसका चयन मुख्यमन्त्री ही करता है। सक्षेप मे मुख्यमन्त्री पाँच प्रकार के प्रमुख कार्य करता है : (1) मन्त्रिमण्डल के अध्यक्ष होने के कारण वह मन्त्रिमण्डल का गठन करता है। (2) मन्त्रिमण्डल के अध्यक्ष होने के नाते वह मन्त्रिमण्डल की बैठको की अध्यक्षता करता है। (3) राज्यपाल को राज्य शासन या व्यवस्थापन सम्बन्धी मन्त्रिमण्डल के निर्णयो से अवगत कराता है। (4) कार्यपालिका के वास्तविक प्रधान होने के कारण उसे समस्त प्रशासन के निरीक्षण का अधिकार प्राप्त है। (5) विधानसभा मे शासकीय नीतियो तथा कार्यों की घोषणा और स्पष्टीकरण करने का उत्तरदायित्व मुख्यमन्त्री पर ही है। राज्य का पूरा शासनतन्त्र उसी के संकेतो पर संचालित होता है। वह राज्य शासन का कप्तान है और राज्य मन्त्रिमण्डल मे उसकी विशिष्ट स्थिति होती है। कार्यों एवं दायित्वों की दृष्टि से उसे प्रधानमन्त्री का लघुरूप कहा जा सकता है।

मुख्यमन्त्री और मन्त्रिपरिषद् (Chief Minister and the Council of Ministers)

मुख्यमन्त्री के परामर्श से ही राज्यपाल द्वारा अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति की जाती है। मन्त्रिपरिषद मे विभागो का वितरण करना, मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करना, किसी भी मन्त्री से उसके विभाग की सूचना प्रेरित करने को कहना, मन्त्रियों के आपसी मतभेदों तथा विवादों को सुलझाना इत्यादि सभी कार्य मुख्यमन्त्री के ही है। मुख्यमन्त्री मन्त्रिपरिषद का नेता होता है। यदि किसी मन्त्री से उसका मतभेद हो जाता है तो उस मन्त्री को त्यागपत्र देना पड़ता है। मुख्यमन्त्री के त्यागपत्र देने पर पूरी मन्त्रिपरिषद ही भंग हो जाती है।

भारत मे राजनीतिक आचरण से यह सिद्ध हो चुका है कि मन्त्रिपरिषद् के निर्माण मे मुख्यमन्त्री को अनेक तरह के दबावो मे निर्णय करना होता है। संविद मन्त्रिमण्डल के काल में मुख्यमन्त्री को सविद के निर्माणकारी दलो के दबाव में सन्तुलन कायम करते हुए मन्त्रिमण्डल का निर्माण करना पडता था। कांग्रेस दल के मुख्यमन्त्री को प्रधानमन्त्री और हाईकमान के मार्ग निर्देशन मे ही कार्य करना पड़ता है। सन् 1971 के पश्चात् अधिकांश मुख्यमन्त्रियों ने हाईकमान की मन्त्रणा से ही राज्य-मन्त्रिपरिषद् का गठन किया है। राज्य-मन्त्रिमण्डल लघु बनाया जाये

या बड़ा, उसका कब विस्तार किया जाये आदि निर्णय भी हाईकमान के हाथों में ही केन्द्रित हो गये है।

मुख्यमन्त्री और विधानमण्डल (Chief Minister and Legislature)

मुख्यमन्त्री बहुमत दल के नेता के रूप मे राज्य-विधानसभा का भी नेतृत्व करता है। वह विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है और विधानसभा अविश्वास के प्रस्ताव के द्वारा उसे अपदस्थ कर सकती है। विधानसभा मे सरकार की नीति से सम्बन्धित अधिकृत भाषण मुख्यमन्त्री का ही होता है। राज्य-विधानसभा मे विधि निर्माण की कार्यवाही के सचालन मे भी मुख्यमन्त्री की प्रभावशाली भूमिका रहती है। उसे यह भी अधिकार है कि राज्यपाल को सलाह देकर विधानसभा को भंग करा दे। मार्च 1971 मे तमिलनाडु के मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल से अनुरोध कर विधानसभा को भग करवाया। 21 जनवरी, 1972 को हरियाणा के मुख्यमन्त्री वंशीलाल ने राज्यपाल से निवेदन कर विधानसभा भग करवायी। सन् 1972 में श्रीमती नन्दिनी सत्पथी के परामर्श से ही राज्यपाल ने उड़ीसा विधानसभा को भग किया। सन् 1984 मे मुख्यमन्त्री रामकृष्ण हेगडे के परामर्श से ही राज्यपाल ने कर्नाटक विधानसभा को भंग किया था। अनेक मुख्यमन्त्रियो ने अपने इस अधिकार का प्रयोग समय-समय पर किया है।

मुख्यमन्त्री और राज्यपाल (Chief Minister and Governor)

मुख्यमन्त्री मन्त्रिपरिषद और राज्यपाल के बीच की कड़ी है। सविधान के अनुच्छेद 167 के अनुसार, राज्य के मुख्यमन्त्री का कर्त्तव्य है कि राज्य के प्रशासन से सम्बन्धित मन्त्रिपरिषद् के सभी निर्णयो और व्यवस्थापन के प्रस्तावो की सूचना राज्यपाल को दे। मन्त्रिपरिषद् द्वारा एक बार निर्णय लेने पर सामान्यतया राज्यपाल उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है। किन्तु, कतिपय परिस्थितियो मे राज्यपाल मन्त्रिपरिषद् के बिना ही कार्य कर सकता है। उदाहरण के लिए, राज्य मे सवैधानिक व्यवस्था की विफलता की स्थिति मे राज्यपाल संकटकाल की घोषणा किये जाने पर अपने विवेक के आधार पर कार्य कर सकता है।

यह भी परम्परा स्थापित हो गयी है कि राज्यपालो की नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्य के मुख्यमन्त्री से परामर्श किया जाये। चतुर्थ जन-निर्वाचन से पूर्व इस परम्परा का पालन हुआ था, किन्तु सविद सरकारो के मुख्यमन्त्रियो ने यह आरोप लगाया था कि उनके राज्य मे राज्यपाल की नियुक्ति करते समय उनसे परामर्श नही किया गया। बिहार मे श्री नित्यानन्द कानूनगो की नियुक्ति के समय मुख्यमन्त्री श्री महामाया प्रसाद से एवं उत्तर प्रदेश मे डॉ. बी. गोपाला रेड्डी की राज्यपाल पद पर नियुक्ति के समय मुख्यमन्त्री श्री चरणसिंह से परामर्श नही लिया गया।[1] ऐसा कहा जाता है कि सन् 1947 मे बिहार के मुख्यमन्त्री श्रीकृष्ण सिन्हा के फलस्वरूप राज्यपाल श्री जयरामदास दौलत को अपना पद छोड़ना पड़ा।[2]

अक्टूबर 1983 मे प. बगाल के राज्यपाल बी. डी पाण्डे का पजाब मे स्थानान्तरण कर दिया गया। प. बगाल के मुख्यमन्त्री ज्योति बसु श्रीनगर मे थे और केन्द्रीय गृहमन्त्री प्रकाश चन्द्र सेठी ने टेलीफोन से बसु को इस निर्णय की सूचना दी। मुख्यमन्त्री बसु ने उनके राज्य के राज्यपाल को स्थानान्तरित एव् नये राज्यपाल की नियुक्ति के पूर्व उनसे परामर्श न किये जाने के सामान्य शिष्टाचार के अपालन की शिकायत की थी।[3]

---

1 *The Statesman*, 10 Nov, 1967.

2 *Ibid*

3 राजस्थान पत्रिका, 11 अक्टूबर, 1983।

मुख्यमन्त्री की वास्तविक स्थिति (Actual Position of the Chief Minister)

यदि स्वाधीन भारत के मुख्यमन्त्रियो की भूमिका का वर्गीकरण किया जाये तो उनकी चार श्रेणियाँ वनायी जा सकती हैं .

(1) **शक्तिशाली मुख्यमन्त्री**—प्रथम श्रेणी मे उन मुख्यमन्त्रियो को रखा जा सकता है जो शक्तिशाली एवं प्रभावशाली राज्य नेता थे। ऐसे मुख्यमन्त्रियो का केन्द्रीय सरकार व हाईकमान पर पर्याप्त प्रभाव था। वे विधानण्डल के नेता और राज्य की जनता मे लोकप्रिय रहे हैं। उन्हे 'किंगमेकर्स' कहा जा सकता है। श्री नेहरू और श्री शास्त्री के देहान्त के उपरान्त उनके उत्तराधिकारी के चयन के मामले पर जो जोड़-तोड़ हुई उनमे शक्तिशाली मुख्यमन्त्रियो की उपक्रमिक भूमिका रही।[1] इस श्रेणी में डॉ. बी. सी. राय, श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री रविशकर शुक्ल, श्रीकृष्ण सिन्हा, श्री मोरारजी देसाई, श्री कामराज, श्री चन्द्रभानु गुप्त, श्री मोहनलाल सुखाडिया तथा श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र जैसे मुख्यमन्त्री को रखा जा सकता है।

(2) **विवादास्पद मुख्यमन्त्री**—द्वितीय श्रेणी में वे सब मुख्यमन्त्री आते है जिनका व्यक्तित्व विवादास्पद कहा जा सकता है जिन पर भ्रष्टाचार के अनेक आरोप लगाये गये। श्री प्रतापसिंह कैरो, श्री वीजू पटनायक, श्री करुणानिधि, श्री कृष्ण वल्लभ सहाय, श्री वशीलाल, श्री भजनलाल, ए. आर. अन्तुले आदि ऐसे ही मुख्यमन्त्री कहे जा सकते हैं। इनमे से अधिकाश के विरुद्ध जाँच आयोग भी विठाये गये ताकि उनके विरुद्ध आरोपो की जाँच की जा सके।

(3) **घटकों की शक्ति पर टिके मुख्यमन्त्री**—जनता पार्टी के मुख्यमन्त्रियो की शक्ति का आधार उनके घटक दलो का सख्या वल था। भैरोंसिंह शेखावत और वीरेन्द्रकुमार सकलेचा टिके रहे क्योंकि इनके राज्यो मे जनसंघ घटक का स्पष्ट वहुमत था। रामनरेश यादव, कर्पूरी ठाकुर और देवीलाल को हटाना पडा क्योंकि इनके घटको को राज्य विधानसभा मे स्पष्ट वहुमत प्राप्त नही था।

(4) **केन्द्रीय सरकार के दूत की भूमिका वाले मुख्यमन्त्री**—कतिपय ऐसे व्यक्ति भी मुख्यमन्त्री के पद पर रहे है जिनकी जडें राज्य की राजनीति मे न होकर हाईकमान के विश्वास और सहानुभूति पर टिकी हुई थी। इस श्रेणी मे श्री प्रकाश चन्द सेठी, श्री अब्दुल गफूर, श्री घनश्याम ओझा, जगन्नाथ पहाड़िया, अर्जुनसिंह, श्री शिवचरण माथुर, वावा साहव भौसले, मोतीलाल बोरा आदि को लिया जा सकता है।

(5) **दुर्वल मुख्यमन्त्री**—सविद सरकारो के युग मे कार्य करने वाले मुख्यमन्त्री को अत्यन्त निर्वल मुख्यमन्त्री कहा जा सकता है। उत्तर प्रदेश मे श्री चरणसिंह, मध्य प्रदेश मे श्री गोविन्द नारायणसिंह, वगाल मे श्री अजय मुखर्जी आदि ऐसे ही कठपुतली मुख्यमन्त्री कहे जा सकते है। जम्मू-कश्मीर के मुख्यमन्त्री श्री जी. एम. शाह और आन्ध्र के दल-वदलू मुख्यमन्त्री भास्करराव को कठपुतली मुख्यमन्त्री कहा जा सकता है। ऐसे मुख्यमन्त्री की परवाह न तो मन्त्रीगण करते है, न विधानसभा और न राज्यपाल ही। ऐसे मुख्यमन्त्री का कार्य एक 'पोस्टमेन' से अधिक नही हो सकता। यह वात सर्वविदित है कि सविद मुख्यमन्त्रियो के काल मे नौकरशाही के प्रभाव तथा दवाव मे भी अप्रतिम रूप से वृद्धि हुई।[2]

निष्कर्ष—सत्ता की राजनीति मे मुख्यमन्त्री की स्थिति राजनीतिक उतार-चढाव के साथ वदलती रही है। एक समय था जवकि मुख्यमन्त्री शक्ति के पुज थे। किन्तु कुछ समय से मुख्यमन्त्री के पद का लगातार अवमूल्यन हो रहा है।[3] सविद सरकारो के काल मे तो मुख्यमन्त्री एकदम

---

[1] Kuldip Nayar : *Between the Lines*, Allied Publishers, 1969, p. 36.
[2] C P. Bhambari : *Bureaucracy and Politics in India*, 1971, p. 54.
[3] *The Hindustan Times*, 18 July, 1973.

अशक्त ही वन गये। संविद सरकारें अधिक टिकाऊ नहीं थी और मुख्यमन्त्री का अधिकाश समय अपने अस्तित्व की सुरक्षा मे ही व्यतीत हो जाता था। इससे राज्यो मे प्रशासनिक शून्यता का वातावरण फैला। सन् 1971 के पश्चात् अधिकांश मुख्यमन्त्री हाईकमान के सरक्षण मे ही पल्लवित एव पोषित हुए है, अतः इस पद की 'सस्थागत स्वायत्तता' समाप्त हो गयी है।

मुख्यमन्त्री की स्थिति तीन वातो पर निर्भर करती है—प्रथम, उसे किस सीमा तक केन्द्रीय नेताओ का सरक्षण एवं सहयोग प्राप्त है? द्वितीय, राज्य की गुटीय राजनीति मे उसका गुट कितना सशक्त है? तृतीय, राज्य विधानसभा मे उसकी क्या स्थिति है और राज्य के विकासात्मक कार्यो को क्रियान्वित करने मे उसकी कितनी अभिरुचि है?

मुख्यमन्त्री का पद वहुत कुछ उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। यदि राज्यपाल दुर्वल व्यक्तित्व वाला है और विधानसभा मे उसके दल को पर्याप्त वहुमत प्राप्त है एवं दल में उसकी स्थिति सुदृढ है तो मुख्यमन्त्री की शक्तियो मे स्वतः वृद्धि हो जाती है। वर्तमान मे राज्यो मे एक-दलीय प्रभुत्व के वावजूद भी गुटीय राजनीति की जो प्रवृत्तियाँ उभरी हैं, उसमे कोई भी मुख्यमन्त्री अपनी स्थिति के प्रति आस्थावान नही रह सकता। आन्ध्र प्रदेश इसका ताजा-उदाहरण है। सन् 1978-82 (पाँच वर्षों तक) आन्ध्र प्रदेश मे काग्रेस (इ) का विधानसभा मे स्पष्ट वहुमत था, फिर भी एक के वाद एक—चार मुख्यमन्त्री—डॉ. चेन्ना रेड्डी, टी. अंजैया, वेंकटराम रेड्डी और विजय भास्कर रेड्डी वदले गये।

29

राज्य-विधानमण्डल और उसकी कार्य-प्रणाली

[STATE LEGISLATURE AND ITS WORKING]

विधानमण्डल लोकतन्त्र के मन्दिर है।[1] संविधान के द्वारा भारत के प्रत्येक राज्य में एक विधानमण्डल की व्यवस्था की गयी है। राज्य विधानमण्डल मे राज्यपाल और एक या दो सदन सम्मिलित हैं।[2] राज्य विधानमण्डल के निम्न सदन को 'विधानसभा' कहते है तथा उच्च सदन को 'विधान परिषद' कहते हैं। **डॉ. सुभाष काश्यप** लिखते है कि "राज्य विधानमण्डल का निम्न सदन विधानसभा है जिसके सदस्य सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित सदस्य होते हैं। कुछ राज्यों मे विधान परिषद् नामक उच्च सदन भी है जिसमें नाम-निर्देशित और परोक्ष रूप से निर्वाचित सदस्य होते हैं।"[3] यदि राज्य की विधानसभा का एक विशेष बहुमत चाहे तो जिस राज्य मे द्वितीय सदन नही है वहाँ उसकी स्थापना हो सकती है और जहाँ द्वितीय सदन कार्यरत है वहाँ उसको समाप्त किया जा सकता है। इस हेतु राज्य विधानसभा को केवल एक प्रस्ताव पारित करना होता है, जिसके आधार पर संसद कानून द्वारा उपर्युक्त व्यवस्था कर देती है। वर्तमान मे उत्तर प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र और बिहार राज्यो मे द्विसदनात्मक विधानमण्डल एवं शेष राज्यो मे एकसदनात्मक व्यवस्थापिका है।[4] जहाँ विधानमण्डल का एक ही सदन है वहाँ उसे 'विधानसभा' भी कहा गया है। **पायली** के अनुसार, "विधानसभा की रचना लोकसभा के ढाँचे पर है तथा विधान परिषद् की राज्यसभा से समानता है।"[5]

राज्य विधानसभा (The Legislature Assembly)

राज्य विधानमण्डल का निम्न सदन 'विधानसभा' कहलाता है। विधानसभा जनता का सदन है। विधानसभा के सदस्यो का मतदाताओ द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन होता है। निर्वाचन के लिए प्रत्येक चुनाव-क्षेत्र भौगोलिक आधार पर निर्वाचन-क्षेत्रो मे इस प्रकार विभाजित किया जाता है कि विधानसभा का प्रत्येक सदस्य कम-से-कम 75 हजार जनसंख्या का प्रतिनिधित्व

---

1 निवार्थी वेंकट सुब्बया : 'आन्ध्र प्रदेश विधानमण्डल', शकधर : **संविधान और संसद**, 1976, पृ. 381।

2 **भारतीय संविधान**, अनुच्छेद 168।

3 काश्यप, सुभाष : **संवैधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष**, रिसर्च, 1973, पृ. 348।

4 पायली : **भारतीय संविधान**, 1975, पृ 230।

5 वही, पृ. 230।

करें। राज्य की विधानसभा मे कितने सदस्य होगे, यह उस राज्य की जनसख्या पर निर्भर है। सविधान के अनुसार राज्य की विधानसभा के सदस्यो की अधिकतम सख्या 500 और न्यूनतम 60 होगी।[1] प्रत्येक जनगणना के उपरान्त प्रत्येक राज्य की विधानसभा की सदस्य सख्या का निर्धारण तथा विधानसभा निर्वाचन क्षेत्रो मे राज्य का विभाजन इस प्रकार किया जाता है कि राज्य की जनसख्या और उसकी विधानसभा की सदस्य संख्या का अनुपात राज्य-भर मे समान रहे।[2] प्रत्येक राज्य की विधानसभा मे अनुसूचित एवं आदिम जातियो के लिए उनकी सख्या के अनुपात मे स्थान सुरक्षित रखे गये हैं।[3] यदि आंग्ल-भारतीय समुदाय का विधानसभा मे पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही हुआ है तो राज्यपाल उस समुदाय के कुछ सदस्यो को मनोनीत कर सकता है।

विधानसभा के सदस्यो की वही योग्यताएँ है जो लोकसभा के सदस्यो की हैं—(1) वह भारत का नागरिक हो, (2) उसकी आयु कम-से-कम 25 वर्ष हो, (3) वह शासकीय सेवा मे न हो, (4) उसमे वे सभी योग्यताएँ हो जो ससद ने कानून द्वारा निर्धारित की हो, तथा (3) वह अन्य शर्तें पूरी करता हो—यानी वह दिवालिया, पागल न हो एव उसने किसी अन्य विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा व्यक्त न की हो।

राज्य-विधानसभा की अवधि 5 वर्ष है।[4] इस अवधि के उपरान्त विधानसभा विघटित हो जाती है। विधानसभा के कार्यकाल को वढाया भी जा सकता है। सविधान मे यह प्रावधान है कि सकटकालीन स्थिति मे केन्द्रीय ससद विधि द्वारा विधानसभा की अवधि को एक बार मे एक वर्ष वढा सकती है। ऐसा ससद कितनी ही बार कर सकती है। किन्तु यह वढायी हुई अवधि सकटकाल की समाप्ति के उपरान्त छ. माह तक चलती रहती है। पाँच वर्ष की अवधि से पूर्व भी विधान-सभा का विघटन किया जा सकता है। ऐसा विघटन मुख्यमन्त्री के परामर्श पर राज्यपाल द्वारा उस समय किया जाता है जवकि विधानसभा में कोई भी दल सरकार वनाने की स्थिति मे नही होता। ऐसी स्थिति मे विधानसभा को भग करके नये चुनाव कराये जा सकते हैं। यदि राज्य मे सविधान के अनुसार शासन नही चलाया जा सकता तो राष्ट्रपति सकटकाल की घोपणा कर सकते हैं और विधानसभा को भंग कर सकते हैं।

सविधान के अनुसार विधानसभा की गणपूर्ति सख्या कुल सदस्यो का 1/10 भाग है[5] परन्तु वह संख्या 10 से कम नही होनी चाहिए। एक वर्ष मे कम-से-कम विधानसभा के दो सत्र होने चाहिए तथा किन्ही दो सत्रो के मध्य मे छ· माह से अधिक का अन्तर नही होना चाहिए। विशिप्ट परिस्थितियो मे विधानसभा का विशेप सत्र भी बुलाया जा सकता है।[6]

जम्मू और कश्मीर राज्य का अपना अलग संविधान है। इस सविधान के अनुसार राज्य-विधानसभा मे निर्वाचित सदस्यो की सख्या 100 है। इनमे से 25 स्थान राज्य के उन क्षेत्रों के लिए हैं जो पाकिस्तान के अधिकार में है।

---

1 **भारतीय संविधान,** अनुच्छेद 170 (1)।

2 राज्य की विधानसभा की सदस्य-सख्या का निर्धारण तथा प्रत्येक राज्य का विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रो मे विभाजन का कार्य केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी तथा केन्द्रीय संसद द्वारा निर्धारित प्रणाली द्वारा किये जाने की व्यवस्था की गयी है।

3 स्थानो को सुरक्षित रखे जाने की व्यवस्था स्थायी नही है और 25 जनवरी, 1990 तक वनी रहेगी।

4 **भारतीय संविधान,** अनुच्छेद 172 (1)।

5 **भारतीय सविधान,** अनुच्छेद 189 (3)।

6 **भारतीय संविधान,** अनुच्छेद 174 (1)।

भारतीय सघ के 25 राज्यो की विधानसभाओं की सदस्य-सख्या इस प्रकार है :

क्रम संख्या राज्य का नाम	विधानसभा की सदस्य-संख्या
1. आन्ध्र प्रदेश	294
2. असम	126
3. विहार	324
4. गुजरात	182
5. हरियाणा	90
6. केरल	140
7. मध्य प्रदेश	320
8. हिमाचल प्रदेश	68
9. महाराष्ट्र	288
10. कर्नाटक	224
11. उडीसा	147
12. पंजाव	118
13. राजस्थान	200
14 तमिलनाडु	234
15. उत्तर प्रदेश	425
16 प. वगाल	294
17. जम्मू और कश्मीर	76
18. नागालैण्ड	60
19. मणिपुर	60
20 मेघालय	60
21. सिक्किम	32
22. त्रिपुरा	60
23. मिजोरम	60
24. अरुणाचल प्रदेश	60
25. गोआ[1]	40

विधान परिषद
(THE LEGISLATIVE COUNCIL)

26 जनवरी, 1950 को जब सविधान लागू हुआ तब छ· राज्यो अर्थात् विहार, वम्वई, मद्रास, पजाव, उत्तर प्रदेश और पश्चिम वंगाल के विधानमण्डलो मे दो सदनो की व्यवस्था करने के लिए अनुच्छेद 168 मे उपवन्ध किया गया था। कुछ राज्यों मे 1950 के वाद विधान परिपदें स्थापित की गयी जवकि कुछ अन्य राज्यो मे इस प्रकार की परिषदें समाप्त कर दी गयी। सक्षेप मे मैसूर (अव कर्नाटक) राज्य की स्थापना राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 के द्वारा की गयी थी और वहाँ विधान परिषद की स्थापना की गयी थी। आन्ध्र प्रदेश राज्य मे विधान परिपद अधिनियम, 1957 के द्वारा विधान परिपद की स्थापना की गयी। वम्वई पुनर्गठन अधिनियम,

[1] संविधान संशोधन 57 के अनुसार।

1960 के अधीन बम्बई राज्य को महाराष्ट्र और गुजरात नाम के दो राज्यों में विभाजित किया गया। इस अधिनियम द्वारा महाराष्ट्र राज्य में विधान परिषद की स्थापना भी की गयी। जम्मू और कश्मीर संविधान के अन्तर्गत, जो 26 जनवरी, 1957 को लागू किया गया था, जम्मू और कश्मीर राज्य मे भी विधान परिषद की स्थापना की गयी ।

पश्चिम बंगाल और पंजाब में विधान परिषदो का अन्त क्रमशः पश्चिम बंगाल विधान परिषद (उत्पादन) अधिनियम, 1969 और पंजाब विधान परिषद (समाप्ति) अधिनियम, 1969 के द्वारा अगस्त 1969 में कर दिया गया था।

मई 1985 में केन्द्र सरकार ने आन्ध्रप्रदेश विधान परिषद की समाप्ति को स्वीकृति दे दी। इस हेतु राज्य विधानसभा ने एक से अधिक बार प्रस्ताव पारित कर केन्द्र सरकार को बाध्य कर दिया कि वह विधान परिषद् की समाप्ति हेतु संसद मे पहल करे।[1]

इस अवसर पर विधान परिषदो के औचित्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना अनिवार्य हो गया है। आन्ध्रप्रदेश के अतिरिक्त बिहार, जम्मू-कश्मीर, तमिलनाडु, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश एवं महाराष्ट्र राज्यो मे विधान परिषदो की व्यवस्था है एवं इन परिषदो मे 444 विधायको की संख्या आन्ध्रप्रदेश के विधायको को निकाल देने के बाद भी शेष बचती है जिन पर भारी व्यय किया जाता है।

विधान परिषदो के समर्थक जिन आधारो पर इसके औचित्य को सही सिद्ध करते हैं उनमे से प्रमुख यह है कि ये परिषदें विशेष हितो का प्रतिनिधित्व करती हैं, संशोधी सदन के रूप मे काम करती हैं, कानूनो की कमियो को दूर करती हैं, उन पर उच्चकोटि का वाद-विवाद करती है तथा जनमत के निर्माण मे सहायता करती हैं। ये सभी तर्क इनके द्वारा की गयी भूमिका से स्वतः ही खण्डित हो जाते हैं। वास्तव मे तो विधान परिषदें दलगत हितो की पूर्ति के सिवाय तो मात्र गरीब देश की गरीब जनता पर एक आर्थिक भार ही सिद्ध हुई हैं।

इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि विधान परिषदों का उपयोग उन लोगो को विधायक बनाने के लिए किया गया जो या तो विधान सभाओ का चुनाव हार गये अथवा निर्वाचित होने की आशा एवं सामर्थ्य नही रखते। दलीय हितो की पूर्ति के लिए विधान परिषदो का खुलकर उपयोग हुआ है जिसके परिणामस्वरूप इस संस्था ने अपनी बची हुई प्रतिष्ठा को भी समाप्त कर दिया।

विधान परिषदो का संगठन भी उसके अनुपयोगी होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। विधान परिषद के 33 प्रतिशत सदस्य विधानसभा द्वारा एवं इतने ही स्थानीय निकायो की ओर से चुने जाते है, लगभग 8 प्रतिशत स्नातको द्वारा और 8 प्रतिशत ही शिक्षको की ओर से चुने जाते हैं, शेष सदस्यो को मनोनीत किया जाता है। इसका मनोनयन भी व्यवहार मे पूर्णत. राजनीति पर आधारित होता है।

राज्यसभा की भाँति विधान परिषद् को विस्तृत अधिकार भी नही दिये गये है। संविधान संशोधन एवं राष्ट्रपति के निर्वाचन मे इसका अधिकार शून्य है तथा किसी अन्य विधेयक के क्षेत्र में भी इसे विधानसभा के समकक्ष नहीं रखा गया है। इसे अधिक से अधिक निलम्बन का निषेधाधिकार, (सामान्य विधेयको पर अधिकतम चार माह तथा वित्त विधेयकों पर अधिकतम 14 दिन) प्राप्त है। इन अर्थों में इसकी भूमिका नाममात्र की है और इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए संविधान मे इसे ऐच्छिक संस्था रखा गया था।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक कारणों से विधान परिषदों की

1 जनवरी 90 मे आन्ध्र विधानसभा ने प्रस्ताव पास करके केन्द्र से आग्रह किया है कि आन्ध्र मे पुनः विधान परिषद् की स्थापना की जानी चाहिए।

व्यवस्था को गहरा आघात पहुँचा है एवं भारत जैसे गरीव मुल्क मे इसका कोई औचित्य नजर नही आता है।

विधान परिषद : संगठन (The Legislative Council : Organisation)

राज्य-विधान परिषद मे कम-से-कम 40 तथा अधिक-से-अधिक उस राज्य की विधानसभा की कुल सदस्यता के एक-तिहाई सदस्य होने चाहिए।[1] इस सीमा के अन्तर्गत राज्य की विधान परिषद का निम्नलिखित आधार पर सगठन होगा :

(1) विधान परिषद के एक-तिहाई सदरयो का निर्वाचन राज्य की स्थानीय सस्थाओं जैसे नगरपालिका, जिला वोर्ड आदि के सदस्यों द्वारा होगा।

(2) कुल सदस्यो के $\frac{1}{12}$ सदस्य विश्वविद्यालयों से कम-से-कम तीन वर्ष पुराने स्नातको या उनके समान योग्यता वाले राज्य के निवासियो द्वारा चुने जायेगे।

(3) कुल सदस्यो के 1/12 सदस्य राज्य की माध्यमिक शिक्षा संस्थाओ तथा उससे उच्च स्तर की शिक्षा संस्थाओ के कम-से-कम तीन वर्ष पूर्व पुराने शिक्षको द्वारा चुने जायेगे।

(4) कुल सदस्यो के $\frac{1}{3}$ सदस्य राज्य की विधानसभा के सदस्यो द्वारा उन व्यक्तियो मे से चुने जायेंगे जो विधानसभा के सदस्य नही है, तथा

(5) शेष $\frac{1}{6}$ सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जायेंगे।

उपर्युक्त चार वर्गो के सदस्यो के चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा होते हैं तथा अन्तिम वर्ग के सदस्यो की नामजदगी राज्यपाल साहित्य, कला, विज्ञान और समाज सेवा आदि के ऐसे व्यक्तियो मे से करता है जो इन क्षेत्रो के विशेषज्ञ होते हैं।

विधान परिषद का सदस्य होने के लिए किसी भी व्यक्ति को कम-से-कम तीस वर्ष की उम्र का अवश्य होना चाहिए। अन्य अर्हताएँ ठीक वैसी ही है, जैसी विधानसभा के सदस्यो के लिए हैं।

विधान परिपद के सदस्यो का चयन 6 वर्ष की अवधि के लिए किया जाता है किन्तु $\frac{1}{3}$ सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते रहते हैं। इस प्रकार विधान परिषद एक स्थायी सदन है जिसे विघटित नही किया जा सकता है।

विधान परिपद का कार्य सचालन करने के लिए एक सभापति तथा एक उपसभापति परिषद के सदस्यो द्वारा ही निर्वाचित किये जाते हैं। विधान परिषद को इन्हे पद से हटाने का अधिकार है। विधान परिषद की वैठकें तभी आरम्भ की जा सकती हैं जवकि सदन मे कुल सदस्यो का 1/10 भाग उपस्थित हो किन्तु यह संख्या 10 से कम नही होनी चाहिए। संविधान के अनुसार विधान परिषद की वर्ष मे कम से कम दो वैठकें होना आवश्यक है तथा इन दोनो वैठकों के वीच छः मास से अधिक का अन्तर नही होना चाहिए।

सविधान-निर्मात्री सभा के अनेक सदस्य विधान परिपद की स्थापना-के पक्ष मे नही थे। उनके विचार से राज्यो में एक विधानसभा का होना पर्याप्त था तथा द्वितीय सदन अनावश्यक था। उनका मत था कि राज्य इस आलकारिक एवं अनावश्यक शौक का व्यय सहन कर सकने की आर्थिक क्षमता भी नही रखते हैं। इसी कारण सविधान सभा ने इस प्रश्न का निर्णय विभिन्न राज्यो की विधानसभाओ पर छोड दिया।

---

[1] सविधान द्वारा राज्यो की विधान परिपदों की सदस्य संख्या निर्धारित नही है। केवल अधिक से-अधिक और कम-से-कम सख्या का ही निर्धारण है।

विभिन्न राज्यों की विधान परिषदों की रचना इस प्रकार हुई :

राज्य	कुल सदस्य संख्या	विधान सभा द्वारा निर्वाचित	स्थानीय संस्थाओं द्वारा निर्वाचित	स्नातकों द्वारा निर्वाचित	शिक्षकों द्वारा निर्वाचित	मनोनीत
1. बिहार	96	34	34	8	8	12
2 जम्मू व काश्मीर	36	22	6	—	2	6
3 तमिलनाडु	63	21	31	7	5	9
4. कर्नाटक	63	21	21	6	6	9
5 उत्तर प्रदेश	108	39	39	9	9	12
6 महाराष्ट्र	78	30	22	7	7	12

विधानसभा का अध्यक्ष (Speaker)

विधानसभा के अध्यक्ष का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रतिष्ठायुक्त माना गया है। अध्यक्ष सदन की मर्यादा एवं सदस्यो के विशेषाधिकारो का संरक्षक होता है। यह सदन मे सामंजस्य एवं तालमेल स्थापित करता है। वह विभिन्न गुटो, दलो एव हितों के आपसी तनावों और मतभेदो को दूर करके विधानसभाओ मे समदीय परम्पराओं की रक्षा करता है। संघात्मक शासन वाले भारतीय सविधान के अनुसार अध्यक्ष का यह महान उत्तरदायित्व है कि राज्य व्यवस्थापिका ससदीय आचरणो के अनुरुप कार्य करें ताकि राष्ट्रीय व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित परम्पराओ तथा विनिमयो का पालन हो सके।[1]

अध्यक्ष का निर्वाचन—विधानसभा के अध्यक्ष का निर्वाचन मदन द्वारा होता है। राज्यपाल द्वारा निश्चित तिथि को अध्यक्ष पद हेतु विधानसभा मे मनोनयन-पत्र आमन्त्रित किये जाते है। उन मनोनयन-पत्रों को सदन के सम्मुख रखा जाता है और उन पर वाद-विवाद नही होता है। जिस प्रत्याशी को सफलता मिलती है उसे अध्यक्ष निर्वाचित कर दिया जाता है। राज्यपाल द्वारा उसे अपने पद की शपथ दिलायी जाती है। यदि किसी समय अध्यक्ष विधानसभा के सदस्य नही रहते हैं तो उन्हे अपना पद रिक्त करना पड़ता है। वह किसी भी समय अपना त्यागपत्र दे सकते हैं। अध्यक्ष अपना त्यागपत्र उपाध्यक्ष के पास भेजता है। विधानसभा के सदस्य एक प्रस्ताव द्वारा अध्यक्ष को हटा भी सकते हैं। ऐसे प्रस्ताव को विधानसभा मे प्रस्तुत करने के लिए 14 दिन की सूचना देना अनिवार्य है।[2] अध्यक्ष को राज्य संचित निधि से वेतन मिलता है। अध्यक्ष विधान सभा सचिवालय का प्रधान होता है।

अध्यक्ष के कार्य—विधानसभा अध्यक्ष के कार्यों का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष उसकी निष्पक्षता है। उसके कार्य लोकसभा अध्यक्ष के कार्यों से मिलते-जुलते हैं। वह विधानसभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह विधानसभा मे शान्ति एव व्यवस्था कायम रखता है। सदन के नियमो की व्याख्या भी अध्यक्ष ही करता है। वह सदस्यो के बोलने का क्रम निर्धारित करता है। सदन मे प्रश्न पूछने एवं प्रस्ताव रखने की भी अनुमति अध्यक्ष ही प्रदान करता है। अध्यक्ष सदन मे गम्भीर अव्यवस्था अथवा अशान्ति उत्पन्न होने पर उसे स्थगित कर सकता है। धन विधेयक के

[1] "The speaker is the custodian of the rights and privileges of the members He brings out adjustment and establishes relationship among the diverse units of the House through the application of regulatory norms and standards of decency"
—Dr. C. M. Jain *State Legislatures in India*, S. Chand, 1972 p. 90.

[2] भारतीय संविधान, अनुच्छेद 174।

सम्बन्ध मे अध्यक्ष का ही निर्णय अन्तिम माना जाता है। यदि कोई सदस्य सदन का अनुशासन भंग करता है तो अध्यक्ष उसे बाहर जाने के लिए बाध्य कर सकता है। अध्यक्ष सदन में मतो की गणना करता है तथा निर्णय की घोषणा करता है। वह निर्णायक मत का भी प्रयोग करता है। वह विधानसभा द्वारा पारित विधेयक का प्रमापीकरण करता है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति मे उपाध्यक्ष सदन की बैठक की अध्यक्षता करता है एवं अध्यक्ष की समस्त शक्तियो का प्रयोग करता है।

अध्यक्ष की स्थिति—विगत वर्षो से विधानसभा का अध्यक्ष पद बहुत अधिक चर्चा और विवाद का विषय बन गया है। 29 नवम्बर, 1967 ई. को पश्चिम बगाल की विधानसभा के अध्यक्ष ने सदन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया। विधानसभा को स्थगित करते हुए अध्यक्ष ने कहा कि उनकी इस कार्यवाही के तीन कारण हैं—**प्रथम,** उनकी राय मे राज्यपाल द्वारा सयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल का विघटन असवैधानिक है; **द्वितीय,** राज्यपाल द्वारा डॉ. प्रफुल्लचन्द्र घोष की मुख्यमन्त्री पद पर नियुक्ति अवैध है; और **तृतीय,** डॉ घोष के परामर्श से विधानसभा की बैठक बुलाना सर्वथा अनुचित है। सवैधानिक प्रावधानो के अनुसार ऐसा कार्य करना अध्यक्ष के क्षेत्राधिकार से बाहर है। इसी प्रकार पंजाब विधानसभा के अध्यक्ष श्री जोगिन्दर सिह् मान ने 6 मार्च, 1968 को स्वय के विरुद्ध रखे गये 'अविश्वास प्रस्ताव' को अवैधानिक कहकर सदन मे प्रस्तुत ही नही होने दिया। उसके तुरन्त बाद उन्होने सदन को दो महीनो के लिए स्थगित कर दिया। सदन को अचानक स्थगित कर देने से राज्य मे वैधानिक संकट उत्पन्न हो गया क्योकि इस समय विधानसभा का बजट अधिवेशन चल रहा था एवं बजट का पारित करना अनिवार्य था। वस्तुत: अध्यक्ष की यह कार्यवाही राजनीति प्रेरित ही थी। तमिलनाडु विधानसभा के अध्यक्ष ने नवम्बर 1972 मे यह कहते हुए सदन की कार्यवाही को स्थगित कर दिया कि करुणानिधि (मुख्यमन्त्री) सरकार को जनता का पुनः विश्वास प्राप्त करना चाहिए। जबकि इससे पूर्व स्पीकर के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रखा जा चुका था। उन्होने सदन को कार्यवाही करने से रोका और विचित्र स्थिति पैदा कर दी। 'नई दुनिया' ने अपने सम्पादकीय मे लिखा है, "हमारे संसदीय लोकतन्त्र मे सबसे पहले प बंगाल के विधानसभा अध्यक्ष के रूप मे श्री विजय बनर्जी द्वारा फैलाया गया गन्द अब और भी अधिक फैल गया है। मार्च 1968 मे वह उस समय पंजाब तक फैल गया था जिस समय तत्कालीन विधानसभा अध्यक्ष श्री जोगिन्दर सिह् मान ने अपनी एकपक्षीय कार्यवाही से राज्य-विधानमण्डल पर पक्षाघात कर दिया था। अब श्री मथिआलगन (अध्यक्ष तमिलनाडु विधानसभा) द्वारा पुनः बुनियादी मुद्दे खड़े कर दिये गये हैं—क्या अध्यक्ष के अधिकार परिभाषित किये जाने चाहिए या फिर उसे एक ऐसे सर्वशक्तिशाली अध्यक्ष के रूप मे विकसित होते रहने देना चाहिए जो न केवल किसी सरकार की वैधता का निर्णायक हो, बल्कि विधानसभा को एक नियन्ता और स्वामी के रूप मे मनमाने ढंग से चलाये।"[1]

राज्य विधानसभाओ के अध्यक्ष निर्वाचन के बाद भी अपने दल से सम्बन्ध बनाये रखते हैं। केरल विधानसभा के स्पीकर (1982) ने करुणाकरण सरकार को बचाने के लिए एक दिन मे आठ बार अपने 'निर्णायक मत' का प्रयोग किया। उनके निर्वाचन के सम्बन्ध मे भी किसी परम्परा का विकास नही हुआ है। अध्यक्ष पद के निर्वाचन मे विरोधी दल के प्रत्याशी उसका विरोध करते रहे हैं। उसके निर्णय भी कभी-कभी पक्षपातपूर्ण होते है और प्रतिपक्षी दलो के सदस्यो को अनेक बार अध्यक्ष की आज्ञा का उल्लघन करते हुए भी देखा गया है।

सच्चाई यह है कि अध्यक्ष सदन का सेवक है। उसे राजनीतिक विवादो मे नही उलझना चाहिए। **डॉ. रणजीत सिंह दरड़ा** के अनुसार, "अध्यक्ष सदन की स्वतन्त्रता एवं गरिमा के प्रतीक

---

1 **नयी दुनिया,** 22 नवम्बर, 1972।

होते हैं, वे सदन के अधिकारो एव सुविधाओं के संरक्षक होते हैं, अत: उन्हें सदन के किसी एक वर्ग का सरक्षण नही करना चाहिए····विधानमण्डल के अध्यक्ष को स्वय को सदन से ऊपर समझने की भूल नही करनी चाहिए।"[1]

हाऊस ऑफ कॉमन्स मे यह प्रथा है कि अध्यक्ष को, जब-जब भी सदन उठता है, तब-तब ही सदन से स्थगन की मजूरी लेनी पडती है। भारत मे जब इस सम्बन्ध मे कानून और नियम बनाये गये थे तो इस विश्वास के साथ यह अधिकार सदन के अध्यक्ष को दे दिये गये थे कि वह सदन के नेता और सम्बन्धित सचेतको के साथ सम्पर्क रखकर सदन की इच्छा-अभिलाषाओ के अनुसार ही कार्यवाही करेगा। अब, जबकि प बंगाल, पंजाब और तमिलनाडु मे अध्यक्षो ने अपने पद का दुरुपयोग किया है, यह प्रश्न उठता है कि क्या सम्बन्धित नियम मे सशोधन करके यह व्यवस्था कर दी जाय कि प्रत्येक अध्यक्ष को सदन के समक्ष यह प्रस्ताव रखना होगा कि सदन अमुक तिथि और समय तक स्थगित कर दिया जाये और उसे सदन से ही निर्णय का पालन करवाना होगा। दुर्गादास के शब्दो मे, "इसमे अध्यक्ष द्वारा अपनी इच्छानुसार या राजनीतिक उद्देश्यो से कार्य किये जाने पर अंकुश लग जायेगा।"[2]

राज्य-विधानमण्डल की शक्तियाँ एवं कार्य (Powers and Functions of the State Legislature)

विधानमण्डल राज्य का विधायिका अंग है, इसका मुख्य कार्य विधि-निर्माण है और विधि-निर्माण मे दोनो सदन (अथवा जहाँ एक सदन है वहाँ केवल विधानसभा) भाग लेते हैं। राज्य विधानमण्डल के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं :

(1) **विधायी शक्तियाँ**—राज्य-विधानमण्डल राज्य-सूची तथा समवर्ती-सूची के विषयो पर कानूनो का निर्माण करता है। राज्य का विधानमण्डल किन्ही भी परिस्थितियो मे संघ-सूची के किसी भी विषय पर विधि-निर्माण नही कर सकता। राज्य विधानमण्डल को समवर्ती-सूची मे दिये गये विषयो पर कानून बनाने का अधिकार इस शर्त पर प्राप्त है कि वह संसदीय विधि के प्रतिकूल न हो। राज्य-सूची के सभी विषयों पर राज्य-विधानमण्डल कानून बना सकता है। परन्तु इस क्षेत्र मे भी उसकी कानून निर्माण-शक्ति पर कतिपय प्रतिबन्ध हैं; जैसे (i) सकटकाल की घोषणा के समय ससद राज्य-सूची के सभी विषयों पर कानून बना सकती है। (ii) यदि राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से राज्य-सूची के किसी विषय पर राष्ट्रीय हित मे ससद को कानून बनाने का सुझाव एक प्रस्ताव द्वारा पारित करके दे तो राज्य-सूची के विषयो पर भी केन्द्रीय ससद कानून बना सकती है। (iii) कतिपय ऐसे विषय हैं जिन पर विधि-निर्माण करने से पूर्व राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है। (iv) कुछ विधेयक राज्य-विधानमण्डल मे प्रस्तावित किये जाने के पूर्व उन पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है।

साधारण विधेयक विधानमण्डल के किसी भी सदन मे प्रस्तुत किये जा सकते हैं किन्तु धन विधेयक केवल निम्न सदन मे ही रखे जाते है। विधानमण्डल के दोनो सदनो द्वारा पारित हो जाने पर विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति हेतु भेजा जाता है। राज्यपाल के हस्ताक्षर होने के बाद ही कोई विधेयक कानून बनता है।

(2) **कार्यपालिका शक्तियाँ**—राज्य का मन्त्रिमण्डल विधानसभा के ही प्रति उत्तरदायी है। विधानसभा अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ कर सकती है।

---

1 दरड़ा, रणजीतसिंह : **भारतीय संविधान : स्वरूप एवं व्यवहार**, 1973, पृ. 238।

2 दुर्गादास **नयी दुनियाँ**, 22 नवम्बर, 1971, पृ. 4।

विधान-परिषद मन्त्रियो से केवल प्रश्न और पूरक प्रश्न पूछ सकती है। मन्त्रिपरिषद का विधान-सभा मे वहुमत है या नही, इनका निर्णय विधानसभा की बैठक मे उसके सदस्यो द्वारा ही किया जा सकता है। विधानसभा 'कामरोको प्रस्ताव', 'निन्दा प्रस्ताव', 'अविश्वास प्रस्ताव' और 'प्रश्न' पूछकर मन्त्रिपरिषद पर नियन्त्रण रखती है।

(3) **वित्तीय शक्तियाँ**—राज्य के वजट को विधानमण्डल द्वारा ही स्वीकृति प्रदान की जाती है। वित्त मामले मे विधानसभा की शक्तियाँ विधान परिषद से भी अधिक है। वस्तुत. अनुदान की माँगो पर मतदान का अधिकार विधानसभा को ही होता है। वजट मे निहित राशियो मे वह कमी कर सकती है, लगाये जाने वाले करो मे छूट दे सकती है। किन्तु, यदि ये परिवर्तन मन्त्रिमण्डल की इच्छा के विरोध मे किये जाते हैं तो इसका अर्थ मन्त्रिमण्डल के प्रति अविश्वास होगा तथा उसे त्यागपत्र देना पडेगा।

(4) **अन्य कृत्य**—विधानसभा राष्ट्रपति के निर्वाचन मे भाग लेती है।[1] सविधान के कतिपय प्रावधानों मे सशोधन के लिए भी विधानसभा के सहयोग की आवश्यकता पडती है। यदि राज्य मे विधान परिषद है तो उसके एक-तिहाई सदस्यों का निर्वाचन विधानसभा करती है।

विधानसभा तथा विधान परिषद की शक्तियों की तुलना (Comparison between the Assembly and the Council)

विधानमण्डलो मे द्वितीय सदन की आवश्यकता के सम्बन्ध मे विचारक सर हेनरी मेन ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये है कि "Any kind of second chamber is better than none" वस्तुत· द्वितीय सदन एक पुनरीक्षण संस्था है। सविधान द्वारा विधानसभा को विधान परिषद के निर्माण एव समाप्ति हेतु केन्द्रीय ससद से सिफारिश करने का अधिकार है परन्तु जिन-जिन राज्यो में द्वितीय सदन है वहाँ वे उपयोगी सिद्ध हुए है। इसका विशेष कारण यह है कि इस सदन को प्रदेश के सभी विषयो के विशेषज्ञों एवं विद्वानो का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है जवकि विधानसभा के सदस्य क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के आधार पर आम जनता द्वारा सीधे निर्वाचित होते हैं।[2]

यदि विधानसभा और विधान परिषद की शक्तियो का तुलनात्मक विवेचन किया जाये तो यह प्रकट होता है कि विधान परिषद एक आलंकारिक सदन है—

(1) **साधारण विधेयको के सम्बन्ध में**—साधारण विधेयक विधानमण्डल के किसी भी सदन मे प्रस्तुत किये जा सकते है। साधारण विधेयक दोनो सदनो द्वारा स्वीकृत होने चाहिए। यदि विधानसभा द्वारा कोई विधेयक पारित होने के वाद विधान परिषद द्वारा उसे अस्वीकृत कर दिया जाता है या परिषद के समक्ष विधेयक रखे जाने की तिथि से तीन माह वाद तक विधेयक पारित नही किया जाता या विधान परिषद ऐसे सशोधन पेश करे जिन्हे विधानसभा स्वीकार न करे, तो विधानसभा उस विधेयक को पुन. पारित करके परिषद को भेजती है यदि परिषद पुन· उसको अस्वीकार करे, ऐसे सशोधन प्रस्तुत करे जो विधानसभा को स्वीकृत न हो तथा यदि इस वीच एक माह का समय व्यतीत हो जाये, तो विधेयक (विधान परिषद की अस्वीकृति के वाद भी) दोनो सदनो द्वारा पारित माना जायेगा। इस प्रकार विधान परिषद चार माह की देरी कर सकती है, विधेयक को रोक नही सकती।[3]

(2) **कार्यपालिका पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में**—विधानसभा ही कार्यपालिका को अपदस्थ

---

[1] **भारतीय संविधान**, अनुच्छेद 54।

[2] शकधर, श्यामलाल : **संविधान और संसद**, पृ. 428।

[3] **भारतीय संविधान**, अनुच्छेद 197।

कर सकती है। राज्य के मन्त्रीगण विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी नही है। विधान परिषद केवल प्रश्न पूछ सकती है तथा मन्त्रिपरिषद की आलोचना कर सकती है।[1]

(3) **वित्तीय मामलो के सम्बन्ध मे**—वित्त विधेयक केवल विधानसभा मे ही रखे जा सकते है। विधानसभा द्वारा पारित होने पर वित्त विधेयक विधान परिषद को भेजा जाता है। विधान परिषद 14 दिन के भीतर विधेयक वापस करती है।[2] परिषद द्वारा सुझाये गये सशोधनो को स्वीकार या अस्वीकार करना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। यदि 14 दिन के भीतर परिषद वित्त विधेयक को नही लौटाती है, तब भी वह दोनो सदनो द्वारा पारित माना जायेगा।

प्रो. पायली के अनुसार, "इस प्रकार विधान परिषद को केवल 'निलम्बन का निषेधाधिकार' (Suspensory Veto Power) ही प्राप्त है। साधारण विधेयकों को परिषद तीन मास तथा वित्त विधेयको को एक मास के लिए रोक सकती है। इन उपबन्धों द्वारा विधानसभा का सर्वोपरि होना स्पष्ट हो जाता है।[3] यही नही विधानसभा परिषद को मिटा भी सकती है।

राज्य विधानमण्डलों की शक्तियो पर प्रतिबन्ध (Restrictions on the Power of the State Legislatures)

सविधान के अनुसार राज्य-विधानमण्डलो की शक्तियों पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये है:

(1) कतिपय ऐसे विषय है जिन्हे राज्य-सूची मे समाविष्ट किया गया है परन्तु उन पर राज्यो के विधानमण्डल उस समय तक कानूनो का निर्माण नही कर सकते जब तक कि उन पर भारत के राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति प्राप्त न हो जाय।

(2) कतिपय ऐसे विषय हैं जिन पर राज्य विधानमण्डल कानूनो का निर्माण कर सकता है, परन्तु उन्हे राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजता है।[4]

(3) सकटकालीन अवसरो पर संघीय संसद राज्य-सूची के सभी विषयों पर कानून बना सकती है।

(4) समवर्ती सूची के विषयो पर राज्य-विधानमण्डल-कानून बना सकता है परन्तु यदि वह ससद के किसी भी कानून के विरोध मे है तो ऐसी स्थिति मे ससद द्वारा निर्मित कानून ही मान्य रहेगा।

(5) यदि किन्ही कारणो से राज्य का शासन सविधान के अनुसार नही चलाया जा सकता है तो राष्ट्रपति राज्य-विधानसभा भी भग कर सकते है ताकि नये चुनावो की व्यवस्था की जा सके।

(6) राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पारित करके राज्य-सूची के किसी भी विषय को केन्द्रीय संसद को सौंप सकती है। ऐसे विषय पर केन्द्रीय ससद एक वर्ष तक कानूनो का निर्माण कर सकती है और इस अवधि मे वृद्धि की जा सकती है।

कानून-निर्माण की प्रक्रिया
(LAW-MAKING PROCEDURE)

साधारण विधेयको के सम्बन्ध में—साधारण विधेयक मन्त्रिपरिषद के किसी सदस्य या विधानमण्डल के किसी भी सदस्य द्वारा विधानमण्डल के किसी भी सदन मे रखे जा सकते हैं।

---

1 दरडा, रणजीतसिंह · भारतीय सविधान : स्वरूप एवं व्यवहार, 1972, पृ. 239।
2 भारतीय संविधान, अनुच्छेद 198।
3 पायली भारतीय सविधान, 1975, पृ 237।
4 भारतीय संविधान, अनुच्छेद 201।

यदि विधेयक मन्त्रिपरिषद के किसी सदस्य द्वारा रखा जाता है तो इसे **'सरकारी विधेयक** (Public bill) और यदि राज्य विधानमण्डल के किसी अन्य सदस्य द्वारा रखा जाता है तो इसे **'निजी सदस्य विधेयक'** (Private member's bill) कहा जाता है। राज्य विधानमण्डल को भी कानून निर्माण के लिए लगभग वैसी ही प्रक्रिया अपनानी होती है, जैसी प्रक्रिया संसद के द्वारा अपनायी जाती है। ऐसे विधेयकों को कानून का रूप ग्रहण करने के लिए निम्नलिखित अवस्थाओं में गुजरना होता है :

(1) **विधेयकों की प्रस्तुति तथा प्रथम वाचन**—सरकारी विधेयकों के लिए कोई पूर्व सूचना (Notice) देने की आवश्यकता नहीं है परन्तु निजी सदस्य विधेयकों के लिए एक महीने की पूर्व सूचना जरूरी है। सरकारी विधेयक साधारणतया सरकारी गजट मे छाप दिया जाता है और इस पर किसी भी समय आवश्यकता के अनुसार विचार किया जा सकता है। निजी सदस्य विधेयक को प्रस्तुत करने के लिए तारीख निश्चित कर दी जाती है। निश्चित तिथि को विधेयक पेश करने वाला सदस्य अपने स्थान पर खड़ा होकर उस विधेयक को पेश करने के लिए सदन से आज्ञा मांगता है और इसके बाद विधेयक के शीर्षक को पढ़ता है। यदि विधेयक बहुत महत्त्वपूर्ण होता है तो विधेयक पेश करने वाला सदस्य विधेयक पर एक संक्षिप्त भाषण भी दे सकता है। यदि उस सदन मे उपस्थित और मतदान मे भाग लेने वाले सदस्य बहुमत से विधेयक का समर्थन करते हैं, तो विधेयक सरकारी गजट मे छाप दिया जाता है। यही विधेयक का प्रथम वाचन समझा जाता है।

(2) **द्वितीय वाचन**—प्रथम वाचन के बाद विधेयक प्रस्तावित करने वाला सदस्य प्रस्ताव रखता है कि उसके विधेयक का द्वितीय वाचन किया जाय। इस अवस्था मे विधेयक के सामान्य सिद्धान्तो पर ही वाद-विवाद होता है, उसकी एक-एक धारा पर बहस नहीं होती है। जब इस प्रकार के वाद-विवाद के बाद कोई विधेयक पारित हो जाता है, तो उसे **'प्रवर समिति'** (Select Committee) के पास भेज दिया जाता है।

(3) **प्रवर समिति अवस्था**—दूसरे वाचन के बाद विवादपूर्ण विधेयकों को प्रवर समिति के पास भेज दिया जाता है। इसमे विधानमण्डल के 25 से 30 तक सदस्य होते हैं। इस अवस्था मे विधेयक की प्रत्येक धारा पर गहरा विचार किया जाता है। अनेक प्रकार के सुझाव इस अवस्था मे रखे जाते है और अन्त मे एक प्रतिवेदन तैयार किया जाता है। इस प्रतिवेदन को सदन के सम्मुख पेश किया जाता है।

(4) **प्रतिवेदन (Report) अवस्था**—प्रवर समिति द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रतिवेदन पर सदन के द्वारा विचार किया जाता है। इस अवस्था मे सदन के सदस्यो को भी अपने संशोधन और सुझाव प्रस्तुत करने का अधिकार होता है। समिति द्वारा रखे गये प्रत्येक सुझाव पर सदन मे मत-दान होता है। यदि कोई सुझाव पास न हो तो मूल धारा पर मतदान लिया जाता है। इस तरह विधेयक की प्रत्येक धारा पर विचार और वाद-विवाद करके उसे स्वीकार किया जाता है। विधि-निर्माण की समस्त प्रक्रिया मे यह अवस्था सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

(5) **तृतीय वाचन**—प्रतिवेदन अवस्था की समाप्ति के कुछ समय बाद उसका तृतीय वाचन प्रारम्भ होता है। इस अवस्था मे विधेयक के साधारण सिद्धान्तो पर फिर से बहस की जाती है और विधेयक मे भाषा सम्बन्धी सुधार किये जाते है। इस अवस्था मे विधेयक की धाराओ मे कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता, या तो सम्पूर्ण विधेयक को स्वीकार कर लिया जाता है या अस्वीकार। इसके बाद मतदान मे भाग लेने वाले सदस्यो के बहुमत द्वारा अस्वीकृत होने पर इसे सदन द्वारा स्वीकृत समझा जाता है।

विधेयक दूसरे सदन मे—एक सदन द्वारा विधेयक स्वीकार कर लिये जाने पर, जिन राज्यो मे विधानमण्डल का एक ही सदन है, वहाँ विधेयक राज्यपाल के पास भेज दिया जाता है और

जिन राज्यो मे विधानमण्डल के दो सदन हैं, वहाँ विधेयक दूसरे सदन मे भेज दिया जाता है। द्वितीय सदन मे भी विधेयक को उन्ही अवस्थाओ से होकर गुजरना पड़ता है, जिन अवस्थाओ मे होकर विधेयक प्रथम सदन मे गुजरा था। यदि विधेयक विधानसभा द्वारा पारित होने के पश्चात् विधानपरिषद द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है या परिषद तीन महीने तक विधेयक पर विचार पूरा नहीं कर पाती या परिषद विधेयक मे ऐसे संशोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार नही होते, तो विधानसभा उस विधेयक को पुनः स्वीकृत करके परिषद के पास भेजती है। तब यदि परिषद पुन. विधेयक अस्वीकृत कर देती है अथवा दुबारा विधेयक पास नही करती या परिषद विधेयक मे पुनः संशोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार्य नही होते तो विधेयक विधान परिषद द्वारा पारित किये जाने के बिना ही दोनो सदनो द्वारा पास हुआ समझ लिया जाता है।

राज्यपाल की स्वीकृति---विधेयक दोनो सदनो द्वारा स्वीकृत होने पर राज्यपाल की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल या तो उस विधेयक पर अपनी स्वीकृति दे देता है अथवा कुछ सुझावो सहित विधानमण्डल के पास दुबारा भेज सकता है। यदि राज्य विधानमण्डल उस विधेयक को राज्यपाल द्वारा सुझाये गये संशोधनो सहित या रहित रूप से दुबारा पास कर देता है तो राज्यपाल को विधेयक पर अपनी स्वीकृति देनी ही होगी। राज्यपाल की स्वीकृति के बाद यह विधेयक कानून बन जायेगा। अनेक बार राज्यपाल कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज देता है, ऐसे विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करने के बाद ही कानून बन पाते हैं।

वित्त विधेयक
(MONEY BILLS)

वित्त विधेयक पारित करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे कुछ विशेष बातें हैं। संविधान के अन्तर्गत वित्त विधेयक वे होते है जिनका सम्बन्ध निम्न बातों से हो :

(1) किसी कर को लागू करने, परिवर्तन करने या व्यवस्थित करने से सम्बन्धित विधेयक।

(2) ऋण लेने, राज्य द्वारा अनुग्रह प्रदान करने अथवा राज्य के किसी आर्थिक कर्त्तव्य से सम्बन्धित विधेयक।

(3) राज्य की संचित निधि (Consolidated fund) और आकस्मिक निधि (Contingency fund) पर किसी भी रूप मे प्रभाव डालने से सम्बन्धित विधेयक।

उपर्युक्त विषयो के अतिरिक्त उन्हे भी वित्त विधेयक समझा जायेगा जिसे विधानसभा का अध्यक्ष वित्त विधेयक घोषित कर दे।

जहाँ तक विधेयकों की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वे केवल विधानसभा मे ही प्रस्तुत किये जा सकते है और विधानपरिषद को वित्त विधेयको के सम्बन्ध मे लगभग वे ही अधिकार प्राप्त हैं जो राज्यसभा को केन्द्रीय वित्त विधेयको के सम्बन्ध मे है। विधानसभा द्वारा पारित वित्त-विधेयक विधानपरिषद के पास विचारार्थ भेज दिया जाता है। यदि परिषद उस विधेयक को प्राप्ति की तिथि से चौदह दिन बाद तक न लौटावे, तो वह विधेयक दोनो सदनो द्वारा स्वीकृत समझा जायेगा। यदि परिषद चौदह दिन की अवधि मे विधेयक को अपने संशोधन सहित लौटा भी दे, तो इन संशोधनो को स्वीकार या अस्वीकार करना विधानसभा पर निर्भर करता है। विधानसभा इन संशोधनो के साथ या इन संशोधनो के बिना, जिस रूप मे भी विधेयक को राज्यपाल के पास भेजना चाहे, भेज सकती है और राज्यपाल की स्वीकृति से यह विधेयक कानून का रूप ग्रहण कर लेता है।

भारत में राज्य विधानसभाओं के विघटन की राजनीति
(POLITICS OF THE DISSOLUTION OF THE STATE ASSEMBLIES)

नौ राज्यों की विधानसभाओं का विघटन (1977)

मार्च 1977 में लोकसभा चुनाव मे भारी विजय प्राप्त करने के बाद कांग्रेसी सरकारों वाले राज्यो की विधानसभाओ को भंग करने का निर्णय केन्द्र की जनता पार्टी सरकार ने लिया था। सर्वोच्च न्यायालय ने तब जनता पार्टी सरकार के निर्णय को सविधान सम्मत करार दिया था।

18 अप्रैल, 1977 को तात्कालिक जनता पार्टी गृहमन्त्री चरणसिंह ने नौ राज्यो—उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान विहार, उडीसा और पश्चिम बंगाल—के मुख्यमन्त्रियो को सलाह दी कि वे सम्बद्ध विधानसभाओ को भग करने के लिए राज्यपालो को परामर्श दे और तत्काल चुनाव करायें। मुख्यमन्त्री ने विधानसभा चुनाव कराने के पीछे मुख्य तर्क यह दिया कि इन नौ राज्यो के मतदाताओ ने लोकसभा चुनाव मे कांग्रेस को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया है। लोकसभा का चुनाव मात्र चुनाव न होकर एक क्रान्ति थी। राज्यों की कांग्रेसी सरकारे जनता की सच्ची प्रतिनिधि नही रही। राज्यो के काग्रेसी मुख्यमन्त्रियो ने केन्द्रीय सरकार की इस सलाह को सविधान और लोकतन्त्रीय परम्पराओ के पूर्णतया विरुद्ध बताया। चार कांग्रेसी राज्यो की ओर से सर्वोच्च न्यायालय मे एक याचिका दर्ज की गयी जिसमे यह आरोप लगाया गया कि गृहमन्त्री ने इन राज्यों मे कानून व्यवस्था विगड़ने का जो तर्क दिया है, वह सही नहीं है और क्योकि यह मामला राज्यो और केन्द्र के विवाद का है, इसलिए सर्वोच्च न्यायालय को ही यह सब फैसला करना चाहिए कि केन्द्रीय सरकार को सविधान के अनुच्छेद 356 का इस्तेमाल करना चाहिए या नही।

केन्द्र मे जनता पार्टी की सरकार थी और इन राज्यो मे कांग्रेस की सरकारे। राज्य-सरकारो का तर्क था—(1) गृहमन्त्री की सलाह परोक्ष रूप से धमकी है, (2) यदि मुख्यमन्त्री सलाह नही मानते हैं तो विधानसभाओ को भग कर दिया जायेगा, (3) भारत एक संघीय राज्य है जिसमे केन्द्र और राज्य दोनो अपने-अपने निश्चित क्षेत्रो मे काम चलाने मे पूरी तरह सक्षम हैं। यह तर्क सही नहीं है कि अगर केन्द्रीय सरकार के लिए चुनाव होता है तो राज्यो मे भी होना चाहिए। संसदीय चुनाव विधानसभा के चुनाव में सामने आने वाले मामलो से भिन्न मुद्दो पर लड़े गये। एक ही साथ केन्द्र और राज्यो मे लड़े गये चुनाव के परिणाम अलग हो सकते हैं। जनता पार्टी वाली केन्द्रीय सरकार का तर्क था कि नौ राज्यो मे काग्रेसी सरकारो द्वारा सत्ता मे रहने का अधिकार उसी समय समाप्त हो गया जबकि लोकसभा चुनाव मे इन राज्यो में करीव-करीव कांग्रेस का पूरा-पूरा सफाया हो गया। केन्द्रीय सरकार चाहती थी कि ये सरकारे जनता से पुनः शासनादेश प्राप्त करें।

सर्वोच्च न्यायालय ने दोनो पक्षो को सुनने के वाद यह निर्णय दिया कि केन्द्रीय सरकार अनुच्छेद 356 का इस्तेमाल करने मे स्वतन्त्र है। तदुपरान्त केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने राष्ट्रपति से सिफारिश की कि नौ राज्यो में विधानसभाएँ भग कर दी जायें, और अल्पकाल के लिए राष्ट्रपति शासन लागू किया जाये। थोड़ी आनाकानी के पश्चात् राष्ट्रपति ने मन्त्रिमण्डल की सलाह मान ली।

नौ राज्यों की विधानसभाओ का विघटन (1980)

फरवरी 1980 मे लोकसभा चुनाव मे भारी विजय प्राप्त करने के वाद गैर-कांग्रेसी सरकारो वाले राज्यो की विधानसभाओ को भंग करने का निर्णय केन्द्र की काग्रेस (इ) सरकार ने लिया। इस वार उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, विहार, पजाव तमिलनाडु, उड़ीसा, गुजरात तथा महाराष्ट्र की विधानसभाएँ भंग की गयी।

विघटन के आदेश का औचित्य सिद्ध करते हुए केन्द्रीय कानून मन्त्री शिवशकर ने निम्न-लिखित तर्क दिये है : (1) यह कदम इसलिए उठाना पडा क्योंकि इन राज्य सरकारो ने केन्द्र के साथ जान-बूझकर सहयोग न करने का रुख अपना लिया था। (2) लोकसभा ने अनुसूचित और अनुसूचित आदिम जातियों के लिए लोकसभा और विधानसभाओ मे आरक्षण की अवधि 10 साल और वढा देने का विधेयक पास किया था, उसकी सपुष्टि मे विलम्ब करके इन राज्यो ने इस सन्देह का मौका दिया कि वे आगे भी सरकार के किसी प्रगतिशील कदम को अवरुद्ध कर सकते हैं। (3) इन राज्यो मे कानून और व्यवस्था दिन-प्रतिदिन विगड़ती जा रही थी और प्रशासन ढीला पडता जा रहा था। (4) इन राज्य सरकारो ने जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावो मे जनता का विश्वास खो दिया था।

इन तर्को के वावजूद यह मानकर चलना चाहिए कि विघटन का मुख्य आधार इन राज्यो मे इन्दिरा काग्रेस की वहुमत की प्राप्ति और दूसरी तरफ गैर-कांग्रेसी पार्टियो द्वारा जनता का विश्वास खो देना है। सन् 1977 मे जनता पार्टी ने विघटन के लिए इसी आधार का इस्तेमाल करके खुद एक गलत नजीर प्रस्तुत की। वाद मे जव इन्दिरा काग्रेस ने इसी आधार या अस्त्र का इस्तेमाल अपनी स्थिति को सुधारने के लिए किया है तो वह एक दूसरी गलती है। प्रसन्नता का विषय है कि इस प्रसग मे 1989 मे केन्द्र मे जनता दल की सरकार वन जाने पर 1977 और 1980 को दोहराया नही गया।

निष्कर्ष—राज्य विधानसभाओ की शक्ति, स्थिति और सम्मान का दिन-प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है। विधानसभाएँ हाथ उठाने वालो की सभाएँ वनकर रह गयी है। अधिकतर राज्यों मे विधानसभा के सत्र सवैधानिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए बुलाये जाते हैं। विधानपरिपदो के रिक्त स्थान वर्षो से भरे नही जाते है। आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश व विहार मे वर्षों से स्वायत्त सस्थाओ के चुनाव नही हुए हैं। विधानसभाओ मे वाद-विवाद का स्तर लगातार गिरता जा रहा है। अधिकतर विधायक पार्टी नेताओ को खुश करने मे अथवा सदन मे हुड़दग उत्पन्न करने मे लगे रहते हैं। विधायक सदन मे वैठने और वाद-विवाद मे भाग लेने के वजाय सदन के वाहर राजनीति करते रहते है। सदनो मे उपस्थिति नगण्य रहती है। अधिकाश विधायक लोगो के काम निकलवाने, स्थानान्तरण करवाने, सिफारिश करने आदि 'मध्यस्थ' (दलाली) की भूमिका अदा करने मे ज्यादा दिलचस्पी लेने लगे है। ऐसे विधायको की सख्या भी वढती जा रही है जिन पर किसी न किसी प्रकार के फौजदारी अपराध मे लिप्त होने के कारण मुकदमे चल रहे हैं।

R. K
Dorendra Singh
Emerging Trends

Dorendra Singh
22/8

30

भारत में राज्यों की राजनीति : उभरती प्रवृत्तियाँ

[STATE POLITICS IN INDIA : EMERGING TRENDS]

राज्य राजनीति का महत्त्व (Importance of State Politics)

भारतीय संविधान द्वारा अपनायी गयी संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीति के तीन स्तर हैं . राष्ट्रीय राजनीति, राज्य राजनीति और स्थानीय राजनीति। इनमें राष्ट्रीय राजनीति आधुनिकतावादी तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करती है और स्थानीय राजनीति परम्परावादी तत्त्वो का; लेकिन राज्य राजनीति मे आधुनिकतावादी और परम्परागत दोनो ही प्रकार के तत्त्व देखे जा सकते हैं; वस्तुत यह इन दोनो का समन्वय है। इस प्रकार भारत की संघात्मक व्यवस्था मे राज्य वे महत्त्वपूर्ण कडियाँ हैं जिनके द्वारा गाँव, नगर और शहर की राजनीति को राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के साथ जोडने का कार्य किया जाता है।

भारत की संघात्मक व्यवस्था मे राज्य राजनीति का अपना विशेष महत्त्व है। भारतीय लोकतन्त्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि हम अपने विकास कार्यक्रमो (सामाजिक, आर्थिक न्याय से सम्बद्ध कार्यक्रमो) को किस गति से क्रियान्वित कर पाते हैं और संविधान द्वारा सभी प्रकार के विकास कार्यक्रमों से सम्बन्धित शक्तियाँ राज्यों को ही प्रदान की गयी है। भूमि सुधार कानून हो या शिक्षा मे परिवर्तन लाने का कोई कार्यक्रम; परिवार नियोजन हो या मद्य निषेध; कुटीर उद्योगों को बढावा देना हो या व्यापक सिंचाई सुविधाओ की व्यवस्था करना हो; व्यवहार मे इन सभी कार्यो को राज्य सरकारो द्वारा ही किया जा सकता है। जनसाधारण की दिन-प्रतिदिन की समस्याओं का समाधान राज्य सरकारों द्वारा ही किया जा सकता है, केन्द्रीय सरकार द्वारा नही, इसी कारण जनसाधारण की ससद और केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की अपेक्षा विधान-सभा और मन्त्रिमण्डल मे ही अधिक रुचि होती है। वस्तुतः राज्य राष्ट्रीय राजनीति की आधार-शिलाएँ हैं।

राज्य राजनीति राष्ट्रीय राजनीतिज्ञो के लिए प्रशिक्षण स्थल का भी कार्य करती है और सामान्यतया राज्य राजनीति मे सफल उतरने वाले व्यक्ति ही राष्ट्रीय राजनीति मे स्थान पाते हैं। वस्तुत राज्य ही भारतीय राजनीति और लोकतन्त्र के प्रयोग-स्थल हैं और भारतीय लोकतन्त्र की सफलता के लिए राज्य राजनीति को ही मानक बनाना होगा।

भारत की राजनीतिक व्यवस्था मे राज्य राजनीति का विशेष महत्त्व होने पर भी सामान्यतया राज्य राजनीति से सम्बद्ध साहित्य का अभाव ही देखा जाता है। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि संघीय व्यवस्था मे संघ की इकाइयों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त नही होता। इसके अतिरिक्त भारत की संघीय व्यवस्था मे तो इकाइयो के अपने अलग संविधान भी नहीं हैं

और इस कारण भारतीय तथा विदेशी विद्वानों द्वारा राज्य राजनीति पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया। **द्वितीय, माइरन वीनर** के अनुसार, इसका एक कारण यह हो सकता है कि भारतीय विद्वान इस बात से डरते रहे कि राज्य राजनीति का अध्ययन करने पर उन्हे संकीर्णतावादी घोषित कर दिया जायेगा। **तृतीय**, लगभग 40 वर्षों के संवैधानिक इतिहास मे लगभग 10 वर्ष का समय ही ऐसा रहा है, जिसमे राज्य राजनीति ने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का परिचय दिया। राज्य राजनीति की प्रभावशीलता के ये वर्ष रहे हैं—1964-70 और 1977-79 तथा 1985-90। 1947-64 के नेहरू युग मे राजनीति केन्द्रीय राजनीति की अनुगामिनी थी और 1971-77 के वर्षों मे तो राज्य राजनीति केन्द्रीय राजनीति और नेतृत्व की दासी मात्र बनकर रह गयी।

वस्तुत. सन् 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध मे हुई राजनीतिक घटनाओं से इस विषय को और भी अधिक महत्त्व मिलने लगा है। सन् 1967 मे जब लगभग 8 राज्यों के चुनाव के दौरान लोगो ने काग्रेस के अतिरिक्त अन्य दलो को अवसर दिया तो लेखको, पत्रकारो एव विद्वानो का ध्यान विशेष रूप से राज्यो की राजनीति की ओर गया। राज्यों मे उत्पन्न हुई दलीय व्यवस्था के अतिरिक्त वहाँ के सामाजिक आधार तथा सफलताओं और विफलताओ के कारणो का विश्लेषण किया जाने लगा। यह बात स्पष्ट होकर सामने आने लगी कि एक ही सावैधानिक ढाँचे और समस्त भारत की राजनीति का भाग होते हुए भी विभिन्न राज्यो की प्रक्रिया एकसमान नही है, क्योकि राजनीतिक प्रक्रिया केवल कानूनी तथा सावैधानिक समस्याओ तक ही सीमित नही होती। औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनो ही व्यवस्थाएँ ऐतिहासिक, सामाजिक, सास्कृतिक तथा आर्थिक आधारों के सन्दर्भ मे एक-दूसरे को प्रभावित करती है। इसलिए यद्यपि सभी राज्य एक ही संविधान के अनुसार शासित हैं फिर भी उनकी राजनीति परस्पर सम्बद्ध तथा उनके सामाजिक मूल्यों मे भिन्नता है। इसी प्रकार उनके राजनीतिक लक्ष्यो तथा विचारो मे भी अन्तर है। कई बार बिल्कुल पडौसी राज्यों की नीतियो, विचारो और घटनाओं मे भी बहुत अन्तर स्पष्ट दिखाई देते हैं।

राज्य राजनीति के निर्धारक तत्त्व (Determinants of State Politics)

भारत की राज्य राजनीति के विभिन्न रूप रहे है। कभी यह राष्ट्रीय राजनीति की अनुगामिनी रही तो कभी राष्ट्रीय राजनीति को निर्देशित करने वाली शक्ति। इसके अतिरिक्त अलग-अलग राज्यों की राजनीति मे भी भेद रहे हें। वस्तुत यह स्थिति राजनीति के निर्धारक तत्त्वो मे समय-समय पर परिवर्तन होने के कारण ही देखी गयी। राज्य राजनीति के निर्धारक तत्त्वो का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

(1) **संवैधानिक तत्त्व**—सविधान द्वारा जिस संघात्मक व्यवस्था की स्थापना की गयी है उसमे केन्द्रीय सरकार को राज्यो की अपेक्षा उच्च और राज्यो पर नियन्त्रण की स्थिति प्राप्त है। इसलिए जब तक कोई विशेष राजनीतिक तत्त्व न हो; राज्य राजनीति का केन्द्रीय शासन और राजनीति से प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक है। केन्द्रीय शासन द्वारा अनेक बातो के आधार पर राज्य राजनीति को प्रभावित किया जा सकता है, यथा, राज्यपाल का पद, राज्य मे राष्ट्रपति शासन लागू करना, राज्य को वित्तीय सहायता, मुख्यमन्त्री और अन्य मन्त्रियो के विरुद्ध जांच आयोग की स्थापना आदि।

(2) **राजनीतिक तत्त्व**—राज्य राजनीति को प्रभावित करने वाले सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व निश्चित रूप से राजनीतिक ही हैं। वस्तुत राजनीतिक तत्त्व के अन्तर्गत अनेक बाते आती है .

(i) **केन्द्रीय नेतृत्व, प्रमुखतया प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व**—केन्द्रीय नेतृत्व और प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व राज्यो की राजनीति को बहुत अधिक सीमा तक प्रभावित करता है। यदि केन्द्रीय नेतृत्व शक्तिशाली और प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व प्रभावशाली हैं तो राज्यो की राजनीति दबी

रहेगी। पं. नेहरू के करिश्मावादी नेतृत्व के कारण ही नेहरू काल मे राज्य राजनीति केन्द्रीय राजनीति की अनुगामिनी रही, लेकिन 1964-70 के वर्षो मे प्रधानमन्त्री पदधारी व्यक्ति का व्यक्तित्व वहुत अधिक प्रभावशाली नही वन पाया था, अत राज्य राजनीति केन्द से निर्देशित होने के वजाय उसके द्वारा केन्द्रीय राजनीति को दिशा देने की चेष्टा की गयी।

(ii) **मुख्यमन्त्री का व्यक्तित्व**—एक ही समय मे विभिन्न राज्यो की राजनीतिक स्थिति मे अन्तर देखा जा सकता है और इसका कारण है मुख्यमन्त्री का व्यक्तित्व जो राज्यों की राजनीति मे प्रमुख भूमिका सम्पादित करता है। उदाहरण के लिए, स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त डॉ. वी. सी. रॉय के नेतृत्व मे प. वगाल और गोविन्द वल्लभ पन्त के नेतृत्व मे उत्तर प्रदेश की जो महत्त्वपूर्ण स्थिति थी, वह उनके समकालीन मुख्यमन्त्रियों के अधीन अन्य राज्यों की नही थी और रॉय तथा पन्त के मुख्यमन्त्री न रहने पर प. वंगाल तथा उत्तर प्रदेश की स्थिति मे गिरावट आयी। 1980 के वाद मे ज्योति वसु, एम. जी. रामचन्द्रन, एन. टी. रामाराव, हेगड़े, डॉ. फारुख अव्दुल्ला आदि की गणना अधिक प्रभावी मुख्यमन्त्रियो के रूप मे की जा सकती है। राज्यो मे अव तक जो मुख्यमन्त्री रहे, उन्हे तीन श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है **शक्तिशाली मुख्यमन्त्री, अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली मुख्यमन्त्री और दुर्बल तथा केन्द्रीय सरकार के दूत की भूमिका वाले मुख्यमन्त्री।**

(iii) **केन्द्र और राज्यों में दलीय स्थिति**—केन्द्र और राज्यो की दलीय स्थिति द्वारा राज्य राजनीति को कई प्रकार से प्रभावित किया जाता है। **सर्वप्रथम,** यह सोचा जाता है कि यदि राज्य मे उसी राजनीतिक दल की सरकार हो, जो केन्द्र मे सत्तारूढ है तो केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार के आपसी सम्वन्ध अच्छे रहेगे। लेकिन ऐसा होना जरूरी नही है और अनेक वार इसके विपरीत दलीय स्थिति मे भी केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार के वीच अच्छे सम्वन्ध देखे गये हैं। वस्तुत केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार के सम्वन्ध अपनी दलीय संरचना पर कम और प्रधानमन्त्री और मुख्यमन्त्री के आपसी समीकरण पर अधिक निर्भर करते है। **द्वितीय,** यदि केन्द्रीय सरकार को लोकसभा मे क्षीण वहुमत ही प्राप्त हो अथवा केन्द्रीय सरकार भी गुटवन्दी से ग्रस्त हो; जैसा कि *1978-79* के वर्षो मे देखा गया है तो केन्द्रीय सरकार की राज्य राजनीति को निर्देशित करने की क्षमता सीमित हो जाती है। यदि राज्य मे उसी राजनीतिक दल का शासन हो, जिस राजनीतिक दल का केन्द्र में शासन है और मुख्यमन्त्री को दल के केन्द्रीय सगठन मे महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त हो, तो राज्य राजनीति अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का परिचय दे सकती है और उसके द्वारा केन्द्रीय राजनीति को प्रभावित करने की चेष्टा की जा सकती है। **तृतीय,** राज्य मे मिली-जुली सरकार होने पर सामान्यतया उसकी स्थिति एकदलीय सरकार की तुलना मे कमजोर होती है और केन्द्र के लिए मिली-जुली सरकार वाले राज्य की राजनीतिक स्थिति को प्रभावित करना सरल होता है। जिस राज्य सरकार को विधानसभा मे वहुत कम वहुमत प्राप्त हो या राज्य के शासक दल मे अत्यधिक गुटवन्दी के कारण मुख्यमन्त्री की स्थिति असुरक्षित हो, उसे विधानसभा के अन्दर और वाहर निरन्तर चुनौती की स्थिति का सामना करना पड रहा हो, उस राज्य सरकार की स्थिति भी मिली-जुली सरकार जैसी ही कमजोर होती है।

(3) **सांस्कृतिक-सामाजिक तत्त्व**—भारतीय संघ के कुछ राज्य सास्कृतिक-सामाजिक दृष्टि से विकसित, लेकिन कुछ अन्य वहुत पिछडे हुए है। प वंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, केरल और तमिलनाडु प्रथम श्रेणी मे, लेकिन विहार, उडीसा, राज्यस्थान आदि द्वितीय श्रेणी मे आते है। स्वाभाविक रूप से केन्द्र द्वारा प्रथम श्रेणी के राज्यों की राजनीति को प्रभावित करने का कार्य सीमित रूप मे किया जा सकता है। इस सम्वन्ध मे एक अन्य **वात** यह है कि भाषा, संस्कृति

आदि की दृष्टि से जिन राज्यो की स्थिति भारत की राष्ट्रीय स्थिति से कुछ भिन्न है, उनके साथ व्यवहार करते समय केन्द्र को विशेष सावधानी बरतनी होती है।

(4) **आर्थिक तत्त्व**—राज्यो की राजनीति आर्थिक तत्त्वो से भी प्रभावित रहती है। यदि एक राज्य मे प्राकृतिक साधनों की बहुलता है, उसका पर्याप्त औद्योगीकरण हो गया है या कृषि सम्पदा के कारण उसके पास पर्याप्त वित्तीय साधन हैं, तो उस राज्य की राजनीति के स्वतन्त्र और स्वस्थ रूप के विकसित होने की आशा की जा सकती है। महाराष्ट्र, पजाब और प. बंगाल आदि राज्य अपने पर्याप्त वित्तीय साधनो के कारण केन्द्र के प्रति कम निर्भरता की स्थिति रखते हैं, लेकिन मध्य प्रदेश और राजस्थान मे स्थिति विपरीत ही है। इस सम्बन्ध मे केरल का भी उदाहरण लिया जा सकता है जिसने अपनी विदेशी विनिमय कमाने की क्षमता का केन्द्र के साथ मोल-तोल करने मे सफलतापूर्वक प्रयोग किया है।

(5) **भौगोलिक तत्त्व**—किसी राज्य की भौगोलिक स्थिति भी उसकी राजनीति को प्रभावित करती है। **प्रथम**, भौगोलिक स्थिति उस राज्य के आर्थिक विकास को और परोक्ष रूप मे राज्य राजनीति को प्रभावित करती है। **द्वितीय**, सीमान्त पर स्थित राज्यो मे यदि कभी पृथकतावादी प्रवृत्तियो का उदय होता है तो इसका प्रमुख कारण उसकी भौगोलिक स्थिति हो सकती है। नागालैण्ड और मिजोरम आदि राज्यो की प्रवृत्ति को इसी सन्दर्भ मे समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त भारतीय सघ के कुछ राज्य क्षेत्र तथा जनसख्या की दृष्टि से विशाल तथा विविधताओं से परिपूर्ण है, लेकिन दूसरी ओर कुछ राज्य क्षेत्र तथा जनसख्या की दृष्टि से छोटे और अपेक्षाकृत कम विविधताओ वाले है। ऐसे राज्यों की राजनीति मे एक-दूसरे मे भेद होना नितान्त स्वाभाविक है।

भारत में राज्य राजनीति : सैद्धान्तिक आमुख
(STATE POLITICS IN INDIA THEORETICAL FRAMEWORK)

यद्यपि अब भी अनेक लेखक राज्यो की राजनीति को कुल भारत की राजनीति के केवल एक अग के रूप मे ही प्रस्तुत करते है, विशिष्ट ऐतिहासिक, सास्कृतिक, सामाजिक तथा वैचारिक सन्दर्भ मे मूल आधार यह है कि प्रत्येक राज्य का अपना अलग अनुभव रहा है और रहेगा। इस सिद्धान्त को आधार मानते हुए इस विषय के दो आरम्भिक विद्वानो मायरन वीनर (Myron Weiner) तथा इकबाल नारायण ने अध्ययन के लिए एक सुनिश्चित सैद्धान्तिक और तुलनात्मक ढाँचे के विकास के लिए प्रयत्न किये हैं। मायरन वीनर के अनुसार प्रत्येक राज्य एक बडी व्यवस्था (भारत) का भाग है परन्तु फिर भी हर एक का अपना निश्चित राजनीतिक अस्तित्व है। इसलिए प्रत्येक राज्य मे राजनीतिक प्रक्रिया का विश्लेषण किया जा सकता है तथा इसका (क) उन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो, जिनमे राजनीति चल रही है, और (ख) सरकार की कार्यक्षमता के साथ सम्बन्ध जोडा जा सकता है। यह विधि प्रमुख रूप से 'व्यवस्था विधि' (System approach) पर आधारित है और यह राज्यो के तुलनात्मक अध्ययन को महत्त्व देती है।[1]

इकबाल नारायण द्वारा सुझायी गयी विधि भी मूलत. "व्यवस्था विधि" पर ही आधारित है परन्तु इसमे अन्तर यह है कि इसका प्रयोग राजनीतिक विकास के सन्दर्भ मे किया गया है जिससे इसमें गति आ गयी है। इकबाल नारायण[2] ने सबसे पहले एक सैद्धान्तिक आधार के निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया है। इस आधार के पाँच तत्त्व सुझाये गये है . सस्थागत (Institutional), अवस्थात्मक (Physiological), राजनीति का स्तर (Level of Politics), सामाजिक,

---

1 Myron Weiner (ed) *State Politics in India*, (Princeton, 1986), pp 6-9.
2 Iqbal Narain, (ed) *State Politics in India* (Meerut, 1976), 2nd edition.

आर्थिक एव राजनीतिक ढाँचा (Socio-economic and Political structure) और विशिष्ट वर्गीय ढाँचा (Elite structure)। इस सैद्धान्तिक आधार पर तीन दशाओ वाले ढाँचे का निर्माण किया जा सकता है। ये दशाएँ है, सन्दर्भ सम्बन्धी (Contextual), बनावट सम्बन्धी (Structural) एव क्रिया सम्बन्धी (Operational)। सन्दर्भ, राजनीतिक व्यवस्था की बनावट और विशेष रूप मे कार्य को प्रभावित करता है। दूसरी ओर बनावट और विशेष रूप से कार्यशीलता सन्दर्भ को प्रभावित तथा एक सीमा परिवर्तित करती है। नि सन्देह यह परिवर्तन अत्यन्त धीरे, रुक-रुककर तथा कई बार न दिखायी देने वाला होता है। सन्दर्भ के तत्त्व हैं इतिहास, भूगोल, आन्तरिक ढाँचा आर्थिक विकास का स्तर और दिशा, मानवीय स्रोत, शिक्षा का स्तर और राज्य का शहरीकरण इत्यादि। बनावट स्वाभाविक रूप से, औपचारिक, सावैधानिक और राजनीतिक संस्थाओ, प्रक्रिया तथा प्रशासनिक आधार का सम्मिश्रण है। क्रियाशीलता का सम्बन्ध राजनीति मे भाग लेने वालो में भूमिका सम्बन्धी दृष्टिकोण, व्यावहारिक तत्त्व और कार्यप्रणाली मे है।

इन दोनो ही प्रणालियो का उपयोग कुछ खामियो के बावजूद राज्य स्तर पर राजनीति के सर्वेक्षण करने तथा उभरते हुए राजनीतिक आकारों और विभिन्न शक्तियो के साथ उनके सम्बन्धो को समझने के लिए किया जा सकता है।

कुल मिलाकर प्रत्येक राज्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, वहाँ का विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक ढाँचा तथा उस ढाँचे मे अपनायी गयी विकास की प्रक्रिया का प्रभाव इत्यादि वहाँ की राजनीतिक प्रक्रिया को अलग आकार प्रदान करते है। नि सन्देह यह प्रक्रिया कुल भारत की राजनीतिक, सावैधानिक एव प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत होने के कारण अनेक प्रकार से समान भी है।

राज्य राजनीति के प्रमुख लक्षण
(SALIENT FEATURES OF STATE POLITICS)

स्वतन्त्र भारत के सवैधानिक इतिहास के विभिन्न कालो मे राज्य-राजनीति के अलग-अलग और कुछ सीमा तक एक-दूसरे के विपरीत रूप देखे गये है और एक ही समय पर विभिन्न राज्यो की राजनीति के भी अलग-अलग रूप देखे जा सकते है। लेकिन फिर भी कुछ ऐसी बाते है जिन्हे कम अधिक रूप मे सभी समयो पर और लगभग सभी राज्यों की राजनीति मे देखा जा सकता है। ये ही राज्य राजनीति की प्रमुख प्रवृत्तियाँ या लक्षण है और इनका उल्लेख निम्न रूपो मे किया जा सकता है .

(1) **परम्परागत और आधुनिकता का समन्वय**—सभी राज्यो की राजनीति मे धर्म, जाति आदि परम्परागत तत्त्वों तथा वर्ग चेतना और आर्थिक हितो के दबाव आदि आधुनिक तत्त्वो का समन्वय देखा जा सकता है, यद्यपि कुछ राज्यो की राजनीति में परम्परागत तत्त्वो की प्रबलता है, कुछ अन्य राज्यो मे आधुनिकतावादी तत्त्वो की।

(2) **धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्रीयता आदि तत्त्वों का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव**—राज्य राजनीति राष्ट्रीय राजनीति की तुलना मे अधिक परम्परावादी है और धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्रीयता आदि तत्त्व राष्ट्रीय राजनीति की तुलना मे राज्य राजनीति मे अधिक प्रभावशाली हैं। यह तथ्य इस सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल है कि निर्वाचन क्षेत्र जितना छोटा होगा, परम्परावादी तत्त्व उतने ही अधिक प्रभावी होंगे। केरल की राजनीति मे धर्म के तत्त्व की बहुत अधिक प्रधानता है, बिहार, हरियाणा आदि राज्यों की राजनीति मे जाति अधिक प्रभावशाली है तो तमिलनाडु की राजनीति मे क्षेत्रीयता और भाषा के तत्त्वो की प्रबलता है।

(3) **केन्द्रीय राजनीति की तुलना में अधिक प्रतियोगी दलीय व्यवस्था**—केन्द्रीय राजनीति की तुलना में राज्यों की राजनीति मे दलीय व्यवस्था सदैव ही अधिक प्रतियोगी रही है। नेहरू काल

में जबकि केन्द्र मे काग्रेस की सत्ता को चुनौती देने की वात भी नही सोची जाती थी, कुछ राज्यो मे काग्रेस की स्थिति मजबूत नही थी। उदाहरण के लिए, द्वितीय आम चुनाव के वाद केरल मे साम्यवादी सरकार का निर्माण हुआ था, मध्य प्रदेश मे दो वार कांग्रेस की अल्पमतीय सरकार थी उडीसा मे मिली-जुली सरकार का निर्माण हुआ था। राजस्थान मे तीन मे दो आम चुनावों मे काग्रेस को वहुमत से कुछ कम स्थान प्राप्त हुए थे, आन्ध्र में एक वार काग्रेस नेतृत्व वाली सयुक्त सरकार थी और एक वार राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था। चतुर्थ आम चुनाव मे तो जनता ने लगभग आधे राज्यो मे विरोधी दलो को शासन करने का अवसर दिया और दलीय प्रतियोगिता वहुत अधिक तीव्र हो गयी। वर्तमान समय मे भी केरल, आन्ध्र, असम, मिजोरम, हरियाणा, सिक्किम, कर्नाटक, तमिलनाडु, जम्मू-कश्मीर, प. वगाल और त्रिपुरा आदि राज्यों मे केन्द्र के शासक दल से भिन्न राजनीतिक दलो की सरकारे है। **मायरन वीनर** के शब्दो मे, **"राष्ट्रीय राजनीति से जव हम राज्य राजनीति की ओर वढ़ते हैं तो दलीय प्रतियोगिता तीव्र हो जाती है।"**[1]

(4) **राज्य राजनीति का खण्डित (Segmented) स्वरूप**—संघ राज्य की एक इकाई और दूसरी इकाई मे भेद की स्थिति होना स्वाभाविक है, लेकिन भारतीय सघ के राज्यो का भी खण्डित स्वरूप है। एक ही राज्य के क्षेत्र और दूसरे क्षेत्र मे भेद की स्थिति का अनुभव किया जाता है और राज्यों के इस खण्डित स्वरूप तथा सस्कृति ने राज्यो की राजनीति को वहुत अधिक प्रभावित किया है। इस प्रकार के खण्डित स्वरूप के कुछ उदाहरण हैं . आन्ध्र प्रदेश तीन क्षेत्रो मे वँटा हुआ है—तटवर्ती आन्ध्र, रायलसीमा और तेलगाना। केरल के तीन क्षेत्र (ट्रावनकोर, कोचीन और मालावार) मध्य प्रदेश के चार क्षेत्र (विन्ध्य प्रदेश, मध्य भारत, महाकौशल और भोपाल), महाराष्ट्र के तीन क्षेत्र (पश्चिमी महाराष्ट्र, मराठवाड़ा और विदर्भ) तथा कश्मीर के तीन क्षेत्र (कश्मीर लद्दाख और जम्मू) हैं। उत्तर प्रदेश पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पूर्वी उत्तर प्रदेश मे वँटा हुआ है। राज्यो के इस खण्डित स्वरूप का एक कारण तो उनका विगत इतिहास है, जैसे एक ही राज्य के कुछ क्षेत्र 1947 के पूर्व ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत थे और कुछ देशी रियासतो के रूप मे थे। लेकिन इस स्थिति का अधिक प्रमुख कारण तो उनके आर्थिक विकास की अधिक असमान स्थिति और कही-कही पर तो वहुत अधिक असमान स्थिति है जैसे पूर्वी उत्तर प्रदेश पश्चिमी उत्तर प्रदेश की तुलना मे और तेलगाना आन्ध्र प्रदेश की तुलना मे वहुत अधिक पिछड़ा हुआ है। कही पर खण्डित स्वरूप को जन्म देने वाले ये दोनो ही तत्त्व विद्यमान हैं। शिक्षा का विकास, यातायात के साधन, नौकरियो की सुविधाएँ तथा व्यापार आदि का विकास भी विभिन्न क्षेत्रो मे एक समान नही हुआ है। जो क्षेत्र सीधे अग्रेजी सत्ता के अधीन थे वहाँ एक सुचारु प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण तो हुआ ही, साथ ही सामाजिक, शैक्षिक तथा राजनीतिक सुधार भी हुआ। इसके विपरीत देशी रियासते राजनीतिक गतिविधियो से दूर थी।

(5) **शासक दल में तीव्र गुटवन्दी**—गुटवन्दी भारत की समस्त राजनीति के रक्त मे घुली हुई है लेकिन राष्ट्रीय राजनीति की तुलना मे राज्य की राजनीति मे गुटवन्दी का विष सदैव ही अधिक तीव्र रूप मे देखा गया। नेहरू काल के जिन राज्यो मे राज्य स्तर का नेतृत्व भी वहुत प्रभावशाली था वहाँ नेहरू तथा राज्य स्तर दोनो के प्रभावशाली नेतृत्व के कारण गुटवन्दी दवी हुई थी लेकिन दोनो मे एक भी तत्त्व के न होने पर गुटवन्दी उभरकर सामने आ गयी। 1967

---

[1] Myron Weiner Political Development in Indian States in the Weiner (ed) *State Politics in India*, p 44.

से तो राज्य स्तर पर लगातार तीव्र गुटबन्दी देखी गयी है और वर्तमान स्थिति तो इस दृष्टि से निश्चित रूप से शोचनीय है।

(6) **राजनतिक दल-बदल**—राजनीतिक दल-बदल भी राज्य स्तर की राजनीति की ही प्रमुख विशेषता रही है। दल-बदल स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से ही केन्द्र और राज्य दोनो स्तरो पर जारी था लेकिन 1967 से राज्य स्तर पर दल-बदल बहुत ही अधिक बढ़ गया। 1971-72 के चुनाव परिणामो को देखकर यह आशा की गयी थी कि अब राज्यो की विधान-सभा मे सत्ता कांग्रेस को पर्याप्त बहुमत प्राप्त हो जाने के कारण दल-बदल स्वत. ही लगभग रुक जायगा लेकिन ऐसा नही हुआ। सन् 1985 मे 52वाँ सविधान संशोधन पारित होने के बाद यह आशा बँधी कि दल-बदल की दूषित प्रवृत्ति पर अकुश लग सकेगा। लेकिन 1988 में नागालैण्ड मे और 1989 मे कर्नाटक मे दल-बदल की घटनाएँ इतनी दिलचस्प ढंग से हुईं कि जिनके परिणामस्वरूप राज्य सरकारे अल्पमत मे आ गई और राज्यपालों ने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश कर दी।

(7) **राजनीतिक अस्थिरता**—राज्य स्तर के शासक दल मे तीव्र गुटबन्दी और राजनीतिक दल-बदल ने राज्यो की राजनीति मे एक अन्य तत्त्व को जन्म दिया है और वह है राजनीतिक अस्थिरता या राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण। राज्य राजनीति मे राजनीतिक अस्थिरता की यह स्थिति 1966 से लगभग निरन्तर रूप मे चली आ रही है और कम-अधिक रूप मे भारतीय संघ के सभी राज्य इस स्थिति को भुगत चुके है और भुगत रहे हैं।

(8) **केन्द्र द्वारा राज्य राजनीति को प्रभावित करने के उचित-अनुचित प्रयत्न**—राज्यो मे राजनीतिक अस्थिरता का एक कारण यह भी रहा है कि केन्द्र द्वारा राज्य राजनीति को प्रभावित करने के उचित-अनुचित सभी प्रकार के प्रयत्न किये गये। सविधान द्वारा केन्द्रीय सरकार को राज्यों पर नियन्त्रण की जो शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं, उनका न केवल संवैधानिक वरन् राजनीतिक, दलीय और गुटीय हितो के लिए प्रयोग किया गया। 1959 में केरल, 1967 मे राजस्थान 1968 मे प. बंगाल, 1970 मे उत्तर प्रदेश, 1973 में उड़ीसा, 1975 में उत्तर प्रदेश और 1977 मे कर्नाटक मे राष्ट्रपति शासन लागू करना केन्द्र द्वारा राज्य राजनीति को प्रभावित करने के अनुचित प्रयत्न ही समझे जाते हैं। 1977 मे केन्द्र की जनता सरकार द्वारा 9 राज्यों की विधानसभाओं को भंग करना और 1980 में इन्दिरा कांग्रेस द्वारा 9 राज्यों की विधानसभाओं को भंग किया जाना भी इसी प्रकार के प्रयत्न रहे हैं।

राज्य राजनीति के विभिन्न रूप और काल
(DIFFERENT PHASES AND FORMS OF STATE POLITICS)

स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर अब तक राज्य राजनीति के विभिन्न रूप देखे गये है। कभी तो राज्य राजनीति अपने ही सन्दर्भ में प्रभावशून्य थी; कभी उसके द्वारा राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ मे भी अपने प्रभाव का परिचय दिया गया। राज्य राजनीति के विभिन्न रूपों की दृष्टि से इसे निम्न कालो मे विभाजित कर अध्ययन किया जा सकता है :

प्रथम काल—प्रभावशून्यता का काल (1947 से 19[illegible])

नेहरू काल की भारतीय राजनीति के सर्वप्रमुख [illegible] केन्द्रीय और राज्य सत्ता पर कांग्रेस का एकाधिकार और श्री नेहरू का करिश्मा[illegible] [illegible]। इन दोनों तत्त्वों ने राज्य राजनीति को प्रभावशून्य कर दिया और राज्य राज[illegible] [illegible] मर्यादित होती रही। इस काल की राज्य राजनीति के कुछ प्रमुख लक्षण हैं

(i) **केन्द्र तथा राज्यों में एक ही दल** [illegible] केरल को छोड़कर इस काल के राज्यों में भी [illegible] प्राप्त थी, जो केन्द्र

था। राज्य स्तर पर भी ऐसी राजनीतिक शक्तियो का प्रभाव था जिनके द्वारा काग्रेस दल के प्रभाव को वास्तविक चुनौती देने का कार्य किया जा सके।

(ii) **राज्य सरकारों की अपेक्षाकृत नगण्य स्थिति**—केन्द्र के साथ-साथ राज्यो की सत्ता पर भी काग्रेस दल के एकाधिकार और श्री नेहरू के अन्यधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व ने राज्य सरकारो की स्थिति को नगण्य कर दिया था। राज्य सरकारे सामान्यतया अनेक महत्त्वपूर्ण बातो के सम्बन्ध मे केन्द्र से निर्देशित होती थी, लेकिन प बगाल, 1960 के पूर्व बम्बई और बाद मे क्रमश. महाराष्ट्र तथा गुजरात और गोविन्द वल्लभ पन्त के मुख्यमन्त्रित्व मे उत्तर प्रदेश आदि राज्यो की स्थिति इस सम्बन्ध मे अवश्य ही अपवाद थी। इस काल मे केन्द्र और राज्यो या राज्यो के बीच परस्पर विवाद उभरकर सामने नही आ पाये, क्योकि यदि ऐसे कोई विवाद होते थे तो उन्हे काग्रेस कार्य समिति की बैठको मे या मुख्यमन्त्री की प्रधानमन्त्री के साथ औपचारिक बैठको मे हल कर लिया जाता।

(iii) **राज्यो में गुटबन्दी**—नेहरू काल मे केन्द्रीय नेतृत्व मे मतभेद अवश्य थे, लेकिन वे श्री नेहरु के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण दबे रहे। केन्द्र की तुलना मे राज्यो के शासक वर्ग मे बहुत अधिक गुटबन्दी थी। जिन राज्यो के मुख्यमन्त्री प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले थे, उन राज्यो मे यह गुटबन्दी दबी रही, लेकिन कम प्रभावशाली मुख्यमन्त्रियो के राज्यो मे यह उभरकर सामने आ गयी और कुछ राज्यो मे तो इतनी तीव्रता प्राप्त कर ली कि सम्बन्धित राज्यो के हितो को बहुत अधिक आघात पहुँचा।

(iv) **मुख्यमन्त्री राज्य राजनीति के शक्ति पुंज**—सघात्मक व्यवस्था वाले और विविधताओ से परिपूर्ण भारत जैसे देश मे प्रादेशिक सामन्तो का उदय होना नितान्त स्वाभाविक है और श्री नेहरू के रहते हुए भी राज्य राजनीति मे ऐसे शक्ति पु जो का उदय हुआ। श्री बी. सी रॉय, गोविन्द वल्लभ पन्त और श्री देसाई राज्य स्तर के लगभग स्वाभाविक शक्ति पु ज थे और श्री कामराज, सजीवा रेड्डी तथा सुखाडिया ने राजनीतिक चातुर्य मे यह स्थिति प्राप्त कर ली थी, श्री अतुल्य घोष और एस. के पाटिल राज्य स्तरीय संगठन पर नियन्त्रण स्थापित कर प्रादेशिक सामन्त बन गये थे।

राज्य राजनीति के इस प्रथम काल मे एक रचनात्मक कार्य हुआ जिससे राज्य राजनीति को प्रभावित किया और कुछ समय के लिए नवीन विवादों को भी जन्म दिया और वह था, **भाषावार राज्यों का निर्माण।** इस काल मे भाषा के आधार पर देश मे राज्यो की माँग के आन्दोलन शुरू हो गये और अन्त मे सरकार को इस माँग को स्वीकार करना पड़ा। सन् 1953 मे भाषा के आधार पर आन्ध्र प्रदेश का गठन किया गया और फिर राज्य पुनर्गठन आयोग की भी नियुक्ति की गयी। राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों पर सन् 1956 मे भाषा के आधार पर राज्यो का पुनर्गठन किया गया। इस प्रक्रिया से फिर एक बार कुछ राज्यो का विभाजन हुआ, कुछ मामलो मे अलग-अलग राज्यो से निकाले गये क्षेत्रो को मिलाकर नये राज्य बनाये गये और कहीं-कहीं पर कुछ छोटे राज्यो को समान भाषा वाले पड़ौसी राज्यो मे मिला दिया गया। सन् 1948 और 1956 के पुनर्गठन के परिणामस्वरूप अनेक राज्यो मे जनसंख्या के स्वरूप, बहुसख्यक तथा अल्पसंख्यक वर्गो की स्थिति, प्रशासनिक व्यवस्था तथा राजनीतिक विशिष्ट समूह (Elite group) मे काफी परिवर्तन आये। इससे भारत का राजनीतिक मानचित्र अधिक सुसगत हो गया। पहले यह आशका थी कि इससे भारत की राष्ट्रीय एकता को आघात पहुँचेगा, लेकिन यह आशंका निराधार थी और स्वाभाविक रूप मे गलत सिद्ध हुई।

द्वितीय काल—प्रभावशालिता के उदय का काल (मई 1964—जनवरी 1967)

नेहरू के जीवन काल में ही भारत ने राज्य आधारित क्षेत्रीय राजनीति में प्रवेश कर लिया

था, उनकी मृत्यु ने इस प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान कर दी।[1] चीन के हाथों पराजय, बिगडती हुई आर्थिक स्थिति और स्वयं अपने गिरते हुए स्वास्थ्य ने श्री नेहरू की स्थिति को जिस अनुपात मे आघात पहुँचाया था, प्रादेशिक सामन्त और राज्यो की राजनीति उसी अनुपात मे अधिक प्रभावशाली हो गये। श्री नेहरू ने 1963 मे 'कामराज योजना' के माध्यम से केन्द्र और राज्य राजनीति पर पुन पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करना चाहा था; लेकिन इसमे उन्हे आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई। उत्तर प्रदेश मे सत्ता परिवर्तन नेहरू की इच्छानुसार नही हुआ और गुजरात मे नेहरू की इच्छा के विरुद्ध नेतृत्व परिवर्तन हुआ। **जे. डी. सेठी** भी लिखते हैं कि 'नेहरू के अन्तिम दिनो में राजसत्ता केन्द्र से राज्यो की ओर उन्मुख हो गयी थी।' इस काल की राज्य राजनीति के प्रमुख लक्षण हैं :

(i) **नेहरू के उत्तराधिकारियों के चयन में राज्य नेताओं की भूमिका**—नेहरू काल की तुलना मे उत्तर नेहरू काल मे राज्य राजनीति के कर्णधार कितने अधिक प्रभावशाली हो गये थे, इसका परिचय उस समय मिला जबकि मई 1964 और जनवरी 1966 मे प्रधानमन्त्री पद रिक्त हुआ और नेहरू के उत्तराधिकारी के चयन मे राज्य नेताओं ने बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। 1966 मे तो राज्य नेताओं की भूमिका सबसे प्रमुख और निर्णयकारी थी। **वीनर** के शब्दो मे, **"व्यवहार के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री के चयन की प्रक्रिया से संसदीय-नेतृत्व की अपेक्षा राज्यो के नेतृत्व ने निर्णयकारी भूमिका अदा की।"**

(ii) **राज्यों में तीव्र गुटबन्दी**—उत्तर नेहरू काल मे निरन्तर बढते हुए असन्तोष और कांग्रेस मे शिखर व्यक्तित्व के अभाव आदि कारणों से राज्यो मे गुटबन्दी बहुत अधिक तीव्र हो गयी और विभिन्न राज्यों मे कांग्रेस के ही एक वर्ग ने कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद कर क्षेत्रीय दलो का निर्माण किया। **जनता पार्टी** (राजस्थान), **केरल कांग्रेस** (केरल) और **बंगला कांग्रेस** (प. बंगाल) आदि इस प्रकार के कुछ प्रमुख दल थे। चौथे आम चुनाव मे कांग्रेसियों द्वारा भीतर से तोडफोड करते हुए भी अपने दल को आघात पहुँचाया गया।

(iii) **विरोधी दलो द्वारा गठबन्धनो का निर्माण**—चौथे आम चुनाव के पूर्व विरोधी दलों द्वारा इस राजनीतिक सत्य को समझ लिया गया कि अकेले रहकर राज्य स्तर पर भी सत्ता प्राप्त नही की जा सकती। अत. चौथे आम चुनाव के पूर्व **'चुनाव मोर्चे'** के रूप मे और चुनावो के बाद **संविद सरकारों** के रूप मे विरोधी दलो द्वारा गठबन्धनो का निर्माण किया गया।

(iv) **क्षेत्रीयतावाद**—राजनीति मे नेहरू जैसे शिखर व्यक्तित्व के अभाव और अन्य अनेक कारणो से इस काल मे राज्यों की राजनीति मे क्षेत्रीयतावादी प्रवृत्तियाँ भी बहुत अधिक प्रबल हो गयी और कुछ राजनीतिज्ञो द्वारा तो ऐसी असंगत बाते भी कही जाने लगी जिनका तार्किक निष्कर्ष भारतीय संघ से सम्बन्ध-विच्छेद होता। इन प्रवृत्तियो की प्रबलता तमिलनाडु, पजाब और असम जैसे राज्यों मे देखी गयी।

राज्य राजनीति के प्रभावशाली होने का एक अन्य परिणाम यह हुआ कि पहले योजना सम्बन्धी कार्यो मे 'योजना आयोग' की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण थी, जिसके अध्यक्ष स्वय श्री नेहरू हुआ करते थे; लेकिन अब मुख्यमन्त्रियो ने इस बात पर जोर देना शुरू कर दिया है कि योजना सम्बन्धी अन्तिम निर्णय उनके द्वारा किये जाने चाहिए। अत योजना आयोग के स्थान पर **'राष्ट्रीय विकास परिषद' को निर्णायक भूमिका** प्राप्त हो गयी।

---

1 "In fact, India head already begun to enter an era of state based regional politics during Nehru's lifetime, his death accentuated the process"
-- Iqbal Narain, *Twilight or Dawn, Political Change in India*, 1967-71 p 26.

तृतीय काल—राजनीतिक अस्थिरता का काल (1967-70)

इस काल मे राज्य राजनीति बहुत अधिक अध्ययन, विचार और चिन्ता का विषय बन गयी। चौथे आम चुनाव के परिणामस्वरूप जब भारतीय सघ के लगभग आधे राज्यो मे गैर-काग्रेसी सरकारो का निर्माण हुआ, तब इन चुनावो को **'प्रथम वास्तविक चुनाव'** की संज्ञा दी गयी थी और सामान्य जनता तथा राजनीति के अध्ययनकर्ताओ—दोनो के ही द्वारा इन गैर-काग्रेसी सविद सरकारो से बहुत आशाएँ की गयी, लेकिन गैर-काग्रेसी सरकारो द्वारा इन आशाओ के शताश को भी पूरा नही किया जा सका। इस दृष्टि से इसे **'राज्य राजनीति में विरोधी दलों की असफलता का काल'** कहा जा सकता है। इस काल की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस प्रकार है :

(i) **राज्यों में कांग्रेस दल के एकाधिकार की समाप्ति**—अब तक राज्यो मे भी सत्ता पर काग्रेस दल का एकाधिकार था, लेकिन चौथे आम चुनाव के द्वारा राज्यो की सत्ता पर कांग्रेस के इस एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। काग्रेस उस समय के 17 मे से 8 राज्यो मे बहुमत प्राप्त करने मे असफल रही, ये 8 राज्य थे . **बिहार, केरल, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और प. बंगाल।** इस काल मे ऐसा समय आया, जबकि 17 मे से 10 राज्यो मे गैर-काग्रेसी सरकारें थी। इस प्रकार राज्यो मे एक दल की प्रमुखता के स्थान पर 'प्रतियोगी दलीय व्यवस्था' स्थापित हुई। **डॉ. सुभाष कश्यप** के अनुसार, **'इस काल की राज्य राजनीति का सबसे प्रमुख लक्षण है कांग्रेस की शक्ति का ह्रास और गैर-कांग्रेसी दलो की बढ़ती हुई शक्ति।'**

(ii) **मिली-जुली सरकारों का काल**—जनता ने किसी एक विरोधी दल को विश्वास देने के स्थान पर विभिन्न विरोधी दलो मे अपने विश्वास को बाँट दिया था, परिणामतया एकदलीय सरकार के स्थान पर मिली-जुली सरकारें स्थापित हुईं। ये मिली-जुली सरकारे वैचारिक साम्यता पर आधारित होने के बजाय बेमेल अवसरवादी गठबन्धन थी। सरकार के भागीदारो मे प्रशासन की कला, सामूहिक उतरदायित्व और इन सबके अतिरिक्त जनता के प्रति उत्तरदायित्व तथा अनुशासन की भावना का अभाव था और ये सभी तत्त्व इन सरकारो की असफलता के कारण बने।

(iii) **दल-बदल**—दल-बदल भारतीय राजनीति मे विशेषतया राज्य राजनीति मे सदैव से रहा है, लेकिन 1966 से राज्यो मे दल-बदल का प्रवृत्ति बहुत बढ गयी। चौथे आम चुनाव और फरवरी 1969 के चुनावो के बीच राज्यो और सघ शासित क्षेत्रो की विधानसभाओं के लगभग 3,500 सदस्यो मे से लगभग 550 ने अपनी राजनीतिक आस्थाओ मे परिवर्तन किया। बहुत-से विधायको ने एक से अधिक बार और दो वर्ष की अवधि मे एक हजार से अधिक दल-बदल हुए। इसकी तुलना मे चौथे आम चुनाव से पूर्व के दशक (10 वर्षो) मे दल-बदल के कुल मिलाकर 542 मामले ही हुए थे। ये दल-बदल दो-तरफा थे—काग्रेस से विरोधी दलो तथा विरोधी दलो के कांग्रेस की ओर। दल-बदल की घटनाएँ हरियाणा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, पजाब, बिहार तथा प. बंगाल के राज्यो और मणिपुर, पाण्डिचेरी के संघ शासित क्षेत्रो मे अधिक हुई। इस दल-बदल ने राज्यो की राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दिया और राज्य राजनीति को बहुत अधिक विकृत कर दिया।

(iv) **राजनीतिक अस्थिरता**—बेमेल मिली-जुली सरकारो और राजनीतिक दल-बदल का स्वाभाविक परिणाम राजनीतिक अस्थिरता ही हो सकता था और वही हुआ। चौथे आम-चुनाव के 15 माह बाद ही हरियाणा विधानसभा के चुनाव कराने पडे और दो वर्ष अर्थात् फरवरी 1969 मे उत्तर प्रदेश, प. बंगाल, बिहार और पंजाब विधानसभा के चुनाव हुए। राजनीतिक अस्थिरता का परिचय इस तथ्य से मिलता है कि फरवरी 1967 से फरवरी 1969 के दो वर्ष से काल मे बिहार मे 6 सरकारें बनी। इनमे जो सरकार सबसे अधिक चली, उसका जीवनकाल था—9 माह और 25 दिन। इस काल मे राज्यों मे राष्ट्रपति शासन लागू करना एक आम बात

हो गयी और अपवादस्वरूप केवल कुछ राज्य ही इस स्थिति से बच पाये। इस काल मे राज्यो मे राजनीतिक अस्थिरता का एक अतिरिक्त कारण था--1969 मे काग्रेस का दो पक्षो--सत्ता काग्रेस और संगठन काग्रेस--मे विभाजन।

(v) **आन्दोलनो की राजनीति**--चतुर्थ आम चुनाव के पूर्व और वाद राज्य स्तर पर आन्दोलनो की राजनीति बहुत ही अधिक वढ गयी। विद्यार्थी, मजदूर वर्ग, सरकारी कर्मचारी, बैंक कर्मचारी और व्यापारी सभी ने अपने-अपने तरीके से आन्दोलन की राजनीति को अपनाया और अनेक उदाहरणो मे राज्यो के शासक दलो ने अपने सकुचित राजनीतिक स्वार्थो की दृष्टि से इन आन्दोलनो को वढावा दिया। कुछ राजनीतिक दलो द्वारा '**अंग्रेजी हटाओ**' और '**छोटी जोत पर लगान समाप्ति**' आदि विषयो को लेकर आन्दोलन किये गये। विशेष तथ्य यह था कि राज्यो मे शासन के भागीदार दल अपनी ही सरकारो के विरुद्ध आन्दोलन मे लगे थे और चिन्ताजनक वात यह थी कि आन्दोलन मे हिसक तत्वो ने प्रवेश पा लिया था।

(vi) **केन्द्र से संघर्ष की राजनीति**--कुछ पक्षों द्वारा 1967 के प्रारम्भ मे यह आशा की गयी थी कि केन्द्र की काग्रेसी सरकार और कुछ राज्यो की गैर-काग्रेसी सरकारो के वीच अच्छे सम्बन्ध वने रहेगे. लेकिन 1967 के मध्य से ही इस स्थिति को आघात पहुँचने लगा। राज्यपाल की नियुक्ति, राज्यपाल के आचरण, राज्यो मे राष्ट्रपति शासन लागू करने, घेराव और औद्योगिक विवादो के सम्बन्ध में राज्य सरकार के दृष्टिकोण, वित्तीय साधनो के बँटवारे, राज्यों को खाद्यान्न की सहायता और केन्द्र द्वारा राज्यो और केन्द्रीय सुरक्षा दल भेजने आदि विषयो को लेकर राज्यो तथा केन्द्र के वीच विवाद एव सघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी। प. बंगाल, उत्तर प्रदेश, विहार, हरियाणा और पजाव आदि राज्यो और केन्द्रीय सरकार के बीच ही अधिक विवाद की स्थिति उत्पन्न हुई। **सी. एस पण्डित** के शब्दो मे, "**1967 के पूर्व केन्द्र और राज्यो के बीच जो भी विवाद होते थे, उन्हे दल के भीतर ही हल कर लिया जाता था, लेकिन अब यह सम्भव नही था।** अब प्रत्येक मतभेद सार्वजनिक वाद-विवाद का विषय बनने लगा।"

इन विवादो के लिए राज्य सरकारे तो दोषी थी ही, केन्द्र भी पूर्णतया दोषमुक्त नही था, क्योकि कुछ उदाहरणो मे केन्द्र के द्वारा अपनी शक्तियो का प्रयोग संवैधानिक प्रावधानो और राष्ट्रीय हितो की दृष्टि से नही वरन् अपने दलीय हितो की दृष्टि से किया गया था।

चतुर्थ--केन्द्र-निर्देशित और नियन्त्रित राज्य-नीति का काल (1971-76)

चतुर्थ आम चुनावो के परिणामो के आधार पर सोचा गया था कि अब भारतीय राजनीति मे एक दल की प्रमुखता की स्थिति सदैव के लिए समाप्त हो गयी और आगे चलकर केन्द्र मे भी मिली-जुली सरकार की स्थापना होगी। लेकिन मार्च 1971 के लोकसभा चुनाव परिणाम नितान्त विपरीत रूप मे सामने आये और अकेले सत्ता काग्रेस को लोकसभा के दो-तिहाई स्थान प्राप्त हो गये। वस्तुत. इन चुनावो के कुछ दिनों पूर्व ही राज्य राजनीति मे नवीन युग का प्रारम्भ हो चुका था।

1971-76 के काल को भारतीय सघवाद के अन्तर्गत '**अधोमुखी संघवाद का काल**' (Age of Inverted Federalism) कहा जाता है और इस काल मे प्रधानमन्त्री पद-धारी व्यक्ति द्वारा जिस प्रकार से राज्यों की राजनीति को निर्देशित और नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया गया, वह राज्य राजनीति मे निश्चित रूप से एक विकृति था और इस प्रकार के प्रयत्न इस काल के पूर्व या पश्चात् कभी नही किये गये। इस काल की राजनीति की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं :

(i) **राज्यो की राजनीति पर एकदलीय (सत्ता काग्रेस का) प्रभुत्व**--1972 मे अधिकाश राज्यो की विधानसभाओ के चुनाव हुए, सभी मे सत्ता कांग्रेस को ठोस बहुमत

प्राप्त हो गया और इस काल मे तमिलनाडु तथा केरल जैसे कुछ राज्यो को छोडकर शेष लगभग सभी राज्यों मे सत्ता काग्रेस की सरकारे स्थापित हो गयी।

(ii) **प्रधानमन्त्री द्वारा मुख्यमन्त्रियों का मनोनयन**—राज्यो मे न केवल सत्ता काग्रेस की सरकारें स्थापित हुई, वरन् इन राज्यो मे सत्ता काग्रेस के प्रादेशिक सामन्तो को पदच्युत कर प्रधानमन्त्री द्वारा अपनी इच्छानुसार मुख्यमन्त्रियो को मनोनीत किया गया। राजस्थान मे सुखाडिया और आन्ध्र मे ब्रह्मानन्द रेड्डी को अपने विधानसभा दल मे ठोस बहुमत प्राप्त था, लेकिन फिर भी उन्हे त्यागपत्र देने के लिए विवश कर क्रमश बरकतुल्ला खाँ और पी. वी. नरसिंह राव को मुख्यमन्त्री पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। इसी प्रकार पी. सी. सेठी को मध्य प्रदेश मे, एस. एस. रे को प बगाल, नन्दिनी सत्पथी को उड़ीसा, बिहार मे केदार पाण्डे और उसके बाद अब्दुल गफूर तथा गुजरात मे घनश्याम ओझा को मुख्यमन्त्री मनोनीत किया गया। लेकिन इन आयातित मुख्यमन्त्रियो मे से कतिपय मुख्यमन्त्री सफलता के साथ कार्य नही कर सके और 1973-74 के वर्षो मे आन्ध्र मे पी. वी. नरसिंह राव के स्थान पर वेगल राव, गुजरात मे घनश्याम ओझा के स्थान पर चिमन भाई पटेल और राजस्थान मे मुख्यमन्त्री पद रिक्त होने पर हरदेव जोशी द्वारा जिस प्रकार प्रधानमन्त्री की इच्छा के विरुद्ध मुख्यमन्त्री पद प्राप्त किया गया, उससे यह स्पष्ट हो गया कि मुख्यमन्त्री के चयन मे प्रधानमन्त्री के शब्द अन्तिम नहीं हो सकते।

(iii) **केन्द्र द्वारा निर्देशित राज्य राजनीति**—इस काल मे प्रधानमन्त्री द्वारा न केवल मुख्यमन्त्रियो का चयन किया गया, वरन् राज्यो की समस्त राजनीति को स्वय द्वारा लगभग पूर्ण रूप से निर्देशित-नियन्त्रित करने की चेष्टा की गयी। लगभग सभी राज्यो की **वास्तविक राजधानी 'प्रधानमन्त्री निवास'** बन गया। प्रधानमन्त्री निवास से ही राज्य मन्त्रिमण्डल के सदस्यो की सूचियाँ बनायी गयी। प्रधानमन्त्री निवास से मुख्यमन्त्री और अनेक उदाहरणो मे मुख्यमन्त्री की अवहेलना करते हुए सीधे ही राज्यो के मन्त्रियो को दिशा निर्देश दिये गये और कुछ उदाहरणो मे राज्यो के दिन-प्रतिदिन के प्रशासन मे भी हस्तक्षेप किया गया। मुख्यमन्त्रियो द्वारा प्रत्येक बात के सम्बन्ध मे दिल्ली की ओर देखना और अपना लगभग आधा समय 'प्रधानमन्त्री निवास से निर्देश लेने' मे बिताना इस काल की राज्य राजनीति की सामान्य बात थी।

प्रधानमन्त्री द्वारा यह तर्क दिया गया था कि केन्द्र द्वारा राज्यो को दिशा निर्देश राष्ट्रीय शक्ति और प्रगति के हित मे है, किन्तु वस्तुत यह समस्त कार्य सत्ता पर अपनी पकड मजबूत करने के लिए ही था।

(iv) **राज्य राजनीति में अस्थिरता, गुटबन्दी और दल-बदल**—1972 मे विधानसभा चुनावो मे जब सत्ता काग्रेस को सभी राज्यों मे ठोस बहुमत प्राप्त हो गया, तब यह सोचा गया था कि अब राज्य राजनीति से अस्थिरता गुटबन्दी और दल-बदल समाप्त हो जायेंगे, लेकिन ऐसा नही हुआ। अस्थिरता, गुटबन्दी और दल-बदल जारी रहे और इस स्थिति के लिए कुछ सीमा तक केन्द्रीय नेतृत्व भी दोषी था। अनेक राज्यों मे राष्ट्रपति शासन भी लागू किया गया, कभी तो ऐसा करना जरूरी हो गया और कभी केन्द्र द्वारा अपने दलीय या गुटीय स्वार्थो के लिए ऐसा किया गया।

इस काल की राज्य राजनीति का एक अन्य लक्षण है गुजरात और बिहार मे सरकारो के विरुद्ध जन आन्दोलन। थोडे ही समय मे यह जन आन्दोलन बहुत व्यापक हो गया और इसने केन्द्रीय नेतृत्व के लिए एक चुनौती का रूप धारण कर लिया।

पंचम काल—घटकवादी राजनीति का बोलबाला (1977 से)

मार्च 1977 के लोकसभा चुनाव से राज्य राजनीति मे एक नवीन युग प्रारम्भ हुआ

इसे राज्य राजनीति की सामान्य अवस्था कहा जा सकता है, क्योंकि इस काल मे राज्य राजनीति न तो केन्द्र से निर्देशित-नियन्त्रित थी और न ही राज्य राजनीति का नेतृत्व केन्द्र मे प्रभावशाली होने के लिए प्रयत्नशील था। लेकिन इसे इस दृष्टि से स्वस्थ स्थिति नही कहा जा सकता कि राज्य सरकारे अत्यधिक गुटवन्दी मे ग्रस्त और जनहित के सम्वन्ध मे उनकी उपलब्धियाँ लगभग शून्य रही। इस काल की राज्य राजनीति की प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस प्रकार है .

(1) **विभिन्न राज्यो में अलग-अलग राजनीतिक दलो का प्रभुत्व**—इस काल मे राज्यों की राजनीति पर किसी एक दल का प्रभुत्व नही था वरन् विभिन्न राजनीतिक दलो के बीच प्रतियोगिता की स्थिति थी। भारतीय सघ के लगभग आधे राज्यो मे जनता पार्टी का शासन था, लेकिन शेप मे अन्य राजनीतिक दलो का। **कर्नाटक, आन्ध्र में इन्दिरा काग्रेस, तमिलनाडु में अन्ना डी एम के., कश्मीर में नेशनल कॉन्फ्रेन्स, प. बंगाल और त्रिपुरा में मार्क्सवादी दल** के नेतृत्व म सयुक्त वामपन्थी मोर्चे, पजाव मे अकाली-जनता, महाराष्ट्र मे जनता पार्टी और काग्रेस के एक वर्ग तथा केरल मे काग्रेस-साम्यवादी दल का गठवन्धन सत्तारूढ था।

(11) **अत्यधिक गुटवन्दी और परिणामतया राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण**—राज्यों की राजनीति अत्यधिक गुटवन्दी से ग्रस्त थी और यथार्थ मे चाहे वहुत अधिक राजनीतिक अस्थिरता न हो, लेकिन अनेक राज्यो मे राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण वना हुआ था। वैसे तो कम-अधिक रूप मे लगभग सभी राज्यो मे यह स्थिति थी लेकिन अन्य राजनीतिक दलो की राज्य सरकारों की तुलना मे जनता पार्टी राज्य सरकारे इस व्याधि से अधिक ग्रस्त थी। जनता पार्टी की राज्य सरकारो की स्थिति वस्तुत मिली-जुली सरकारो जैसी ही थी।

(111) **स्वायत्तता की माँग और केन्द्र पर दवाव**—वदली हुई राजनीतिक स्थिति मे कुछ राज्य सरकारो और राजनीतिक दलों द्वारा राज्यो के लिए अधिक प्रशासनिक और वित्तीय अधिकार, दूसरे शब्दो मे अधिक स्वायत्तता की माँग की गयी। विशेप रूप से इस प्रकार की माँग प वंगाल, केरल, जम्मू-कश्मीर, पजाव और तमिलनाडु की राज्य सरकारो द्वारा की गयी। तमिलनाडु आदि राज्यो द्वारा अपना पुराना हिन्दी विरोध का रवैया अपनाते हुए भाषा के प्रश्न पर केन्द्र पर दवाव डालने का प्रयत्न भी किया गया।

(IV) **केन्द्र और राज्यों के वीच सामान्यतया सौहार्द्रपूर्ण सम्वन्ध**—इस काल मे विभिन्न राज्यो मे अलग-अलग राजनीतिक दलो के सत्तारूढ होने पर भी राज्यो तथा केन्द्र के वीच उस प्रकार के विवाद तथा संघर्ष की स्थिति नही थी, जिस प्रकार की स्थिति 1967-70 के वर्षो मे थी। मतभेदो के होते हुए भी वहुत कुछ सीमा तक केन्द्र और राज्यो के वीच सौहार्द्रपूर्ण सम्वन्ध वने हुए थे।

षष्ठम काल—जनवरी 1980 से राज्य राजनीति

जनवरी 1980 से पुन केन्द्र निर्देशित और नियन्त्रित राजनीति का काल प्रारम्भ हुआ। लोकसभा चुनावो के परिणामस्वरूप जव जनवरी 1980 मे केन्द्र मे इन्दिरा काग्रेस की सरकार का निर्माण हो गया, तव इस सरकार के द्वारा दल-वदल तथा अन्य तरीकों से विपक्षी दलो की राज्य सरकारो को गिराने की चेष्टाएँ प्रारम्भ कर दी गयी। सर्वप्रथम, दल-वदल के आधार पर कर्नाटक और हरियाणा मे इन्दिरा काग्रेस की सरकारो को पदासीन किया गया। इसके वाद फरवरी के मध्य मे 9 राज्यो की विधानसभाएँ भग कर मई 1980 मे वहाँ चुनाव करवाये गये। इन चुनावो मे तमिलनाडु को छोडकर अन्य सभी राज्यो मे इन्दिरा काग्रेस को वहुमत प्राप्त हुआ और केन्द्रीय नेतृत्व की सहमति से ही इन राज्यो मे मुख्यमन्त्रियो का चयन हुआ। इन मुख्यमन्त्रियो द्वारा अपने मन्त्रिमण्डलो का निर्माण केन्द्रीय नेतृत्व के निर्देशानुसार ही किया गया। इनमे से अधिकाश मुख्यमन्त्री कमजोर व्यक्तित्व वाले थे और वे राज्य प्रशासन से सम्वन्धित

प्रत्येक बात के सम्बन्ध मे केन्द्र से निर्देश की अपेक्षा रखते थे। प्रधानमन्त्री ने राज्यो मे विकास कार्यों मे खामियो का 'पोस्टमार्टम' करने के लिए राज्यो के दौरे प्रारम्भ किये। कश्मीर और मध्य प्रदेश के दौरो मे उन्होंने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों और उच्च प्रशासनिक अधिकारियो से प्रत्यक्ष बातचीत की।

पजाब मे पृथकतावादी तत्त्वो ने '**खालिस्तान**' की माँग रखी और राज्य मे सिक्ख-हिन्दू एकता को साम्प्रदायिक राजनीति का रग देने का प्रयत्न किया। असम मे विदेशियो को राज्य से बाहर निकालने से सम्बन्धित आन्दोलन सात वर्षों तक चलता रहा। केरल की माकपा के नेतृत्व वाली नयनार सरकार को त्यागपत्र देना पडा (अक्टूबर 1981) और छठी बार राज्य मे राष्ट्र-पति शासन लागू करना पडा। तमिलनाडु और राजस्थान के राज्यपालो को राष्ट्रपति ने बर्खास्त कर दिया। काग्रेस (इ) द्वारा शासित राज्यो मे केन्द्र द्वारा मनोनीत मुख्यमन्त्रियो को अपने-अपने राज्य मे असन्तुष्ट गुटो का सामना करना पडा।

सप्तम काल—राज्य स्तरीय दलों का युग (1982-90)

1982-83 मे प. बगाल, केरल, हरियाणा, त्रिपुरा, हिमाचल, नागालैण्ड, दिल्ली, जम्मू-कश्मीर, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक आदि राज्यो मे विधानसभा के निर्वाचन हुए। दिल्ली के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थान पर काग्रेस (इ) को बहुमत प्राप्त नही हुआ। फिर भी हरियाणा, हिमाचल और नागालैण्ड मे दल-बदल के द्वारा काग्रेस (इ) सरकारे पदारूढ हुई। जम्मू-कश्मीर मे नेशनल कान्फ्रेन्स, आन्ध्र प्रदेश मे तेलगू देशम तथा कर्नाटक मे जनता पार्टी की सरकारें सत्तारूढ हुई। राज्यो मे राज्य स्तरीय दलो का तत्त्व (Phenomenon of State Parties) उभरने लगा। ये राज्य स्तरीय दल 'राज्य स्वायत्तता' की माँग करने लगे। राज्य स्तरीय दलो के मुख्यमन्त्री केन्द्र-राज्य सम्बन्धो मे परिवर्तन की आवश्यकता पर जोर देने लगे। फलस्वरूप केन्द्र-राज्य सम्बन्धो पर पुनर्विचार करने के लिए 'सरकारिया आयोग' की नियुक्ति की गयी।

आन्ध्र प्रदेश मे एन. टी. रामाराव की सरकार को बर्खास्त (16 अगस्त 1984) किया गया और भास्कर राव को पदासीन किया गया, जबकि बहुमत रामाराव के साथ था। सिक्किम के राज्यपाल तल्यार खाँ ने प्रशासन मे हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया और मुख्यमन्त्री भण्डारी को बर्खास्त कर दिया। जम्मू-कश्मीर के मुख्यमन्त्री फारुख अब्दुल्ला ने केन्द्र से टकराव की नीति अपनायी जिसकी परिणति फारुख सरकार की बर्खास्तगी मे हुई। उनके स्थान पर जी. एम शाह को मुख्यमन्त्री नियुक्त किया गया। जी. एम. शाह ने नेशनल कान्फ्रेन्स से दल-बदल कर आने वाले विधायको को मन्त्री बनाकर राज्य राजनीति मे अपने अस्तित्व के लिए मार्ग खोजने आरम्भ कर दिये। कर्नाटक मे हेगडे सरकार को गिराने के पुरजोर प्रयत्न किये गये।

1985 से 1988 की अवधि मे यह देखा गया है कि राज्यो मे क्षेत्रीय दलो के प्रभाव मे वृद्धि हुई है—असम, मिजोरम और हरियाणा के चुनावो मे स्थानीय दलो को सफलता मिली। मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश और गोआ को राज्य का दर्जा प्रदान किया गया और पंजाब मे आतकवादी गतिविधियो को नियन्त्रित कर पाना कठिन हो रहा है। असम-नागालैण्ड सीमा विवाद ने उग्र रूप धारण कर लिया और कतिपय राज्यो (राजस्थान, बिहार, महाराष्ट्र) मे असन्तुष्टो की गतिविधियाँ अनियन्त्रित होती जा रही है।

नवम्बर 1989 के विधानसभा चुनावो मे कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश मे काग्रेस (इ) का सत्तारूढ होना, केरल और तमिलनाडु मे काग्रेस की बढती हुई शक्ति ने इन राज्यो की राजनीति को अधिक प्रतिस्पर्द्धी बना दिया है। दक्षिणी भारत के राज्यो मे हेगडे, रामाराव, करुणानिधि और नयनार के प्रभाव मे कमी आई। तमिलनाडु मे जय ललिता अन्ना द्रमुक की निर्विवाद नेता

के रूप मे उभरी और नवी लोकसभा चुनावो मे राज्य की जनता ने भी उनके नेतृत्व पर अपनी मुहर लगा दी।

निष्कर्ष—भारतीय राज्य व्यवस्था मे राज्य राजनीति का निश्चित रूप से महत्त्व है। अत. राज्य राजनीति के स्वस्थ विकास हेतु कुछ चिन्तन आवश्यक है। **प्रथम**, सविधान द्वारा केन्द्रीय सरकार को राज्य राजनीति पर नियन्त्रण की जो शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं केन्द्रीय सरकार द्वारा उन संवैधानिक प्रावधानो का सवैधानिक दृष्टि से और राष्ट्रीय हित मे ही प्रयोग किया जाना चाहिए, दलीय या गुटीय हित की दृष्टि से उनका प्रयोग नही किया जाना चाहिए। व्यवहार मे देखा गया है कि जब कभी केन्द्र के द्वारा अनुचित ढग से अपनी शक्तियो का प्रयोग किया गया, राज्य राजनीति मे विकृतियाँ आ गयी और केन्द्र तथा राज्यो के सम्बन्ध भी सौहार्द्रपूर्ण नही रहे।

द्वितीय—राज्य के मुख्यमन्त्री का चुनाव खुली प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया के आधार पर किया जाना चाहिए। केन्द्रीय नेतृत्व द्वारा न तो राज्य मे नेतृत्व थोपा जाना चाहिए और न ही नेतृत्व के सम्बन्ध मे निर्णय करते समय सर्वसम्मति का झूठा दिखावा किया जाना चाहिए। राज्य राजनीति मे स्थिरता और उपादेयता लाने का कार्य सही नेतृत्व के द्वारा ही किया जा सकता है।

तृतीय—राज्य राजनीति की सबसे बडी बुराई है गुटबन्दी और व्यवहार के अन्तर्गत यह उन राज्यो मे अधिक देखी गयी है जिन राज्यो मे उस राजनीतिक दल का शासन हो, जो केन्द्र मे सत्तारूढ है। इससे यह आशय लिया जा सकता है कि केन्द्रीय नेतृत्व विभाजित होता है और उसी के द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष मे राज्य मे गुटबन्दी को प्रोत्साहित किया जाता है। अत यदि केन्द्रीय नेतृत्व द्वारा स्वय को नियन्त्रित और अनुशासित रखा जाये, तो राज्य राजनीति की स्थिति मे निश्चित रूप से सुधार लाया जा सकता है।

31

भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरूप

[NATURE OF THE PARTY SYSTEM IN INDIA]

लोकतन्त्र के पहियो के रूप मे राजनीतिक दल अपरिहार्य है।[1] राजनीतिक दल बहुत बडी सीमा तक हमारे जीवन के महत्त्वपूर्ण अग बन चुके हैं। 'राजनीतिक' शब्द का उच्चारण करते समय उसमे राजनीतिक दलो की ध्वनि प्रकट होती है। लोकतन्त्र, चाहे उसका कोई भी स्वरूप क्यो न हो, राजनीतिक दलो की अनुपस्थिति मे अकल्पनीय है, इसीलिए उन्हे 'लोकतन्त्र का प्राण' (Life blood of democracy) कहा गया है। यदि राजनीतिक दलों को शासन का चतुर्थ अग (Fourth organ of the Government) कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्रो मुनरो के शब्दो मे, "लोकतन्त्रात्मक शासन दलीय शासन का ही दूसरा नाम है।" विश्व के इतिहास में कभी भी ऐसी स्वतन्त्र सरकार नही रही है जिसमे राजनीतिक दल का अस्तित्व न हो।"[2] ह्यूबर के शब्दो मे, "प्रजातन्त्रात्मक यन्त्र के चालन मे राजनीतिक दल तेल के तुल्य है।"[3] आज की प्रतिनिधिमूलक सरकार का सार यही है कि सरकार और ससद दोनो पर दल का प्रतिबन्ध रहता है। विधानमण्डल और कार्यपालिका, सरकार और ससद केवल सवैधानिक आवरण हैं। यथार्थ शक्ति का उपयोग राजनीतिक दल ही करते हैं।

दल-प्रणाली के बिना लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली कार्य ही नहीं कर सकती। शासन का चाहे ससदीय रूप हो या अध्यक्षात्मक, दल-प्रणाली के अभाव मे उसका क्रियान्वयन असम्भव है। किसी भी शासन मे हजारो लोग राज्य की समस्याओ पर सोचते हैं, किन्तु जब तक उनके विचारो और दृष्टिकोणो को दलीय आवरण द्वारा व्यवस्थित और क्रमबद्ध नही किया जाता तब तक शासन निष्क्रिय ही बना रहेगा। वस्तुत. राजनीतिक दल राजनीतिक प्रक्रिया को जोडने, सरल करने तथा स्थिर बनाने का कार्य करते हैं।[4] मैकाइवर के अनुसार, "जिस राज्य मे दल-प्रणाली नही होती उसमे क्रान्ति ही सरकार को बदलने का एकमात्र तरीका होती है।" दल-प्रणाली

---

[1] "Parties are inevitable No free country has been without them. No one has shown how representative Government could be worked without them " —*Bryce.*

[2] "All popular Government is Party Government There has never been at any time in the world's history a free Government in which political party did not exist and function." —*Munro.*

[3] "Political parties are the lubricating oil in the wheels of democratic machinery." —*Huber.*

[4] एलेन बाल . आधुनिक राजनीति और शासन, मैकमिलन, 1971, पृ. 85.

से क्रान्ति की आवश्यकता नही होती और सवैंधानिक तरीके से शासन मे परिवर्तन किया जा सकता है।

राजनीतिक दल असंख्य मतदाताओं की व्यवस्थित भीड के स्थान पर व्यवस्था की सृष्टि करते हैं, जनता का नेतृत्व करने के लिए नेता प्रदान करते है और राजनीतिक व्यवस्था को संचालन-शक्ति प्रदान करते है। **हरमन फाइनर** के शब्दो मे, "दलो के बिना मतदाता ऐसी असम्भव नीतियो का अनुसरण करने लगेंगे जो उन्हे शक्तिहीन बना देगी या विनाशकारी, और जिनसे राजनीतिक यन्त्र ध्वस्त हो जायेगा।"[1]

राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण तथा अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम साधन है। वे अमूर्त मतदाताओं को मूर्त रूप देते है। वे निर्वाचनो मे अपने प्रत्याशी खड़े करते है और अपने कार्यक्रमो तथा नीतियो का प्रचार कर मतदाताओ को प्रभावित करते है। निर्वाचन में विजयी दल सरकार का निर्माण करता है और पराजित दल विपक्ष के रूप मे आलोचना करते हैं। अत. दल-प्रणाली से प्रतिनिधि शासन को चलायमान किया जाता है।

राजनीतिक दल नागरिको को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते है। किसी देश के नागरिको की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा की दृष्टि से भी राजनीतिक दल विशेष महत्त्व रखते हैं। **प्रो. लॉस्की** के शब्दो मे, "राजनीतिक दल देश मे अधिनायकवाद से हमारी रक्षा करने के सर्वश्रेष्ठ कवच हैं।"[2]

मेरियट ने तो दलो को सरकार की 'पूरक सस्था' कहा है क्योकि वे अधिकारियो का चुनाव, सार्वजनिक नीति का निर्धारण तथा सरकार का सचालन और उसकी आलोचना करने मे सहायता प्रदान करते हैं।

मैकाइवर के शब्दो मे, "राजनीतिक दलो के अभाव मे न तो सिद्धान्तो की संगठित अभिव्यक्ति ही हो सकती है, न नीतियो का उचित विकास ही और न नियन्त्रित रूप से ससदीय चुनाव के वैधानिक उपायो अथवा मान्य सस्थाओ का सहारा लिया जा सकता है जिसके द्वारा राजनीतिज्ञ अपनी शक्ति बनाये रखने या उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते है।

राजनीतिक दलों की परिभाषा

(POLITICAL PARTIES MEANING AND DEFINITIONS)

राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे व्यक्तियो के समूह से है जो कुछ समस्याओ के रूप और उनके समाधान के सम्बन्ध मे एकमत हैं और जिन्होने सामान्य उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए मिलकर वैध ढग से काम करने का निश्चय कर लिया है। विभिन्न राजनीतिक विचारको ने दल की अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं।

न्यूमैन के अनुसार · "राजनीतिक दल एक स्वतन्त्र समाज मे नागरिको के उस व्यवस्थित समुदाय को कहते है जो शासनतन्त्र को नियन्त्रित करना चाहता है और उनके लिए जनसहमति मे भाग लेकर अपने कुछ सदस्यो को सरकारी पदो पर भेजने का प्रयास करता है।"

एडमण्ड बर्क के शब्दो में : "राजनीतिक दल कुछ लोगो का एक समूह है जो कुछ सिद्धान्तो पर सहमत होकर अपने संयुक्त प्रयासो द्वारा जनहित को आगे बढाने के लिए सगठित रहता है।"[3]

---

1 "Without parties an electorate would be either impotent or destructive by embarking on impossible policies that would only wreck the political machinery" —*H. Finer.*

2 "The parties are our best defence against the growth of caesarism in the country." —*Laski.*

3 "A political party is a body of men, united for the purpose of promoting by their joint endeavours the public interests upon some principles on which they are all agreed." —*Edmund Burke.*

लीकॉक के मतानुसार : "राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे नागरिको के समुदाय से है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप मे कार्य करते हैं। सार्वजनिक प्रश्नो पर उनके विचार एक जैसे होते हैं और वे सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग करके शासन की शक्ति हथियाना चाहते हैं।"

मैकाइवर के अनुसार : "राजनीतिक दल वह समुदाय है जो किसी विशेष सिद्धान्त या नीति के समर्थन के लिए सगठित किया गया हो और जो सवैधानिक उपायो से उस सिद्धान्त अथवा नीति को शासन का आधार बनाने का प्रयत्न करता हो।"[1]

गेटेल के शब्दो मे : "राजनीतिक दल पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप से सगठित उन नागरिको का एक समूह होता है जो एक राजनीतिक सस्था की भाँति कार्य करते हैं और जिनके ध्येय अपने मताधिकार के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियन्त्रण रखना व अपनी सामान्य नीति का सम्पादन करना है।"[2]

गिलक्राइस्ट के शब्दो मे : "राजनीतिक दल नागरिको के उस सगठित समुदाय को कहते हैं जिसके सदस्य समान राजनीतिक विचार रखते हैं, और जो एक राजनीतिक इकाई के रूप मे कार्य करते हुए शासन को अपने हाथ मे रखने की चेष्टा करते है।"[3]

इस प्रकार राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियो का निकाय होता है जो सार्वजनिक प्रश्नों पर यदि पूर्णत. नही तो कम से कम सामान्य दृष्टिकोणो मे समता रखते हो तथा सामूहिक प्रयासो द्वारा शासन को हस्तगत करके अपने उद्देश्यो के क्रियान्वयन पर विश्वास करते हो। दूसरे शब्दों मे व्यक्तियो के किसी भी समूह को, जो एक समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करता है, दल कहते हैं। यदि उस दल का उद्देश्य राजनीतिक हो तो उसे राजनीतिक दल कहा जाता है।

राजनीतिक दलों की विशेषताएं अथवा तत्त्व
(MAIN FEATURES OF ESSENTIAL ELEMENTS OF POLITICAL PARTIES)

उपर्युक्त परिभाषाओ के विवेचन से राजनीतिक दलो के निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं—(1) लम्बी अवधि के लिए सगठन, (2) कतिपय सिद्धान्तो अथवा नीतियो के बारे मे सहमति; (3) अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए शातिपूर्ण और सवैधानिक साधनो का प्रयोग और (4) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अपनी नीतियो को कार्यरूप देने की लालसा। सक्षेप मे; किसी भी राजनीतिक दल के निर्माण के लिए निम्न तत्त्वो का होना आवश्यक है :

(1) **संगठन**—दल को मजबूत एव स्थायी बनाने के लिए उसमे सगठन का होना अत्यन्त आवश्यक है। सगठन से तात्पर्य है कि दल के कुछ अपने लिखित एव अलिखित नियम, उपनियम, कार्यालय, पदाधिकारी आदि होने चाहिए। ये दल के सदस्यो को अनुशासित रखते हैं। सगठन के अभाव मे दलीय अनुयायी एक बिखरी भीड मात्र ही होगे और वे अपने उद्देश्यो को पूरा नही कर पायेंगे। वस्तुत. संगठन ही राजनीतिक दल की शक्ति का रहस्य है।

(2) **मूलभूत सिद्धान्तों की एकता**—दल व्यक्तियो का एक ऐसा समूह होता है जिसके सदस्य

---

1 "A political party is an association organised in support of some principle or policy which by constitutional means it endeavours to make the determinant of government" —*MacIver.*

2 "A party consists of a group of citizens, more or less organised, who act as a political unit and who by the use of the voting power, aim to control the government and carry out their general policies." —*Gettle.*

3 "A political party is an organised group of citizens who profess to share the same political views and who, by acting as a political unit, try to control the gevernment." —*Gilchrist.*

सार्वजनिक प्रश्नो पर एक से विचार रखते है। इन प्रश्नो की वारीकियों पर उनमें मतभेद हो सकता है, लेकिन वे सब मौलिक सिद्धान्तों पर एकमत होते है। सिद्धान्तो की एकता ही दल को ठोस आधार प्रदान करती है। सैद्धान्तिक एकता के अभाव में दल की जड़ें हिल जायेंगी और उसका विघटन हो जायेगा।

(3) **संवैधानिक उपायों का प्रयोग**—राजनीतिक दलो को अपने लक्ष्य (सत्ता प्राप्ति) की प्राप्ति के लिए सदा संवैधानिक उपायों का सहारा लेना चाहिए। जो असंवैधानिक उपायो का अनुसरण करते हैं अथवा हिंसात्मक साधनो को अपनाते हैं, उन्हे राजनीतिक दल नही कहा जा सकता।

(4) **राष्ट्रीय हित की वृद्धि**—राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय है जो उच्च आदर्शों से अनुप्राणित होता है और जिसके कार्यक्रमो और नीतियो का देशव्यापी आधार होता है, क्षेत्रीय अथवा साम्प्रदायिक नहीं। उसे किसी विशेष जाति, धर्म सम्प्रदाय या वर्ग के हित की अपेक्षा राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि हेतु चेष्टा करनी चाहिए। यदि कोई संगठन, वर्ग, जाति या सम्प्रदाय विशेष का हित साधन करते हैं तो यथार्थ मे उन्हे राजनीतिक दल नही कहा जा सकता।

राजनीतिक दलों के आधार

(BASIS FOR THE FORMATION OF POLITICAL PARTIES)

राजनीतिक दलो की उत्पत्ति के निम्नलिखित आधार हैं :

(1) **मनोवैज्ञानिक**—कई बार दलों के निर्माण का कारण मनोवैज्ञानिक भी हो सकता है। कुछ व्यक्ति प्राचीन से चिपके रहना चाहते है और किसी प्रकार के क्रांतिकारी परिवर्तन को पसन्द नही करते, जबकि दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हे अतीत से कोई लगाव नही होता और वे नित नूतन परिवर्तन करके प्रगति को ही अपना लक्ष्य बनाते है। इस आधार पर समान विचार वाले व्यक्ति राजनीतिक कार्यक्रमो को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से विभिन्न दलो में संगठित हो जाते है। इस भाँति प्राय: चार प्रकार के व्यक्ति देखने में आते है—(1) प्रथम, वे जो प्राचीन संस्थाओं एवं रीति-रिवाजो में वापस लौटना चाहते है, प्रतिक्रियावादी कहलायेंगे, (2) द्वितीय, वे जो वर्तमान मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही चाहते, अनुदारवादी कहलायेंगे; (3) तृतीय, वे जो वर्तमान परिस्थितियो मे सुधार करना चाहते है, उदारवादी कहलायेगे; (4) चतुर्थ, वे व्यक्ति जो वर्तमान संस्थाओ का उन्मूलन करना चाहते है, उग्रवादी कहलायेंगे। इस प्रकार जैसे-जैसे लोगो का स्वभाव होगा वैसे-वैसे प्रतिक्रियावादी, अनुदारवादी, उदारवादी तथा उग्रवादी दल बन जायेंगे।

(2) **वातावरण का प्रभाव**—दलो के निर्माण मे वातावरण का योग भी कम महत्त्व का नही है। जिस वातावरण में वालक रहता है उसका प्रभाव व्यापक रूप से उसके मानस पर पडता है। साम्यवादी वातावरण मे पला वालक आगे चलकर उस दल का अनुयायी वन जाता है। इंग्लैण्ड मे तो आज भी कुछ ऐसे परिवार है जिनके सदस्य अनुदारवादी दल के कार्यक्रमो मे परम्परागत रूप से विश्वास करते हैं।

(3) **धार्मिक आधार**—वहुत से लोग धार्मिक आधार पर राजनीतिक दल वना लेते है। उनका लक्ष्य अपने धर्म के अनुयायियो की रक्षा करना होता है। योरोपीय देशो में कैथोलिक दल इसी आधार पर वने। भारत मे मुस्लिम लीग, अकाली दल, हिन्दू महासभा के निर्माण का भी यही आधार था।

(4) **आर्थिक कारण**—दलो के निर्माण का आर्थिक आधार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक कार्यक्रम के अभाव मे कोई भी दल अधिक दिनो तक टिक नही सकता। राजनैतिक दलो को राष्ट्रीय महत्त्व तभी प्राप्त हो सकता है जव उनके पास आर्थिक कार्यक्रम हो। शिक्षित

जनता पर तो आर्थिक नीतियो का व्यापक प्रभाव पडता है। एक सामान्य आर्थिक कार्यक्रम द्वारा ही राजनीतिक दल समाज के विभिन्न वर्गों मे सामंजस्य उत्पन्न करने की चेष्टा करता है।

(5) **नेतृत्व**—प्राय राजनीतिक दल अपने उच्चतम नेता के व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया होता है। वह जिन आदर्शो को आगे बढाना चाहता है, उसके अनुयायी बिना सोचे-समझे उसी साँचे मे ढलते जाते है, क्योकि दल मे प्रत्येक व्यक्ति न तो विचारशील होता है और न उसमे तार्किक बुद्धि होती है। वह अपने नेता के चारो ओर घूमने वाला नक्षत्र मात्र होता है।

(6) **विचारधारा—राउसैक** के शब्दो मे, "एक राजनैतिक आन्दोलन को जीवित रखने के लिए विचारधारा का होना अति आवश्यक है। विचारधारा की अनुपस्थिति मे आन्दोलन अन्धकार तथा अनिश्चितता मे ही छलाँग लगाता रहेगा....।"[1] सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विचारधारा मे आम सहमति दल के सदस्यो को आपस मे जोडती है। उदाहरणार्थ, भारत मे नवगठित जनता पार्टी के सदस्यो को आपस मे जोडने वाली कडी गाँधीवादी विचारधारा रही है।

लार्ड ब्राइस का कथन है कि प्रत्येक जनसमुदाय मे विभिन्न विचारो के लोग पाये जाते हैं। इनमे से कुछ विचार परस्पर विरोधी होते हैं। इन विचारो का प्रतिपादन करने वाले व्यक्तियो मे से कुछ नेता बन जाते हैं और अन्य नागरिक उनका अनुमोदन और समर्थन करने लगते है। आगे चलकर इन्ही लोगो से सगठित राजनीतिक दल बन जाते हैं। इन दलो का मनोवैज्ञानिक आधार मनुष्य की चार प्रवृत्तियाँ है—सहानुभूति, अनुकरण, प्रतिरोध और प्रतिस्पर्धा। इन्ही कारणो से व्यक्ति-समूह सामान्य नीतियो और सिद्धान्तो के आधार पर अपने लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए पृथक् सगठन बना लेते है।

राजनीतिक दलों के कार्य
(FUNCTIONS OF POLITICAL PARTIES)

लोकतन्त्रीय शासन के लिए राजनीतिक दल अपरिहार्य है। राजनीतिक दल जो कार्य करते है वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। **मेरियम** के अनुसार इनके पाँच प्रमुख कार्य है—(1) पदाधिकारियो का चुनाव करना, (2) नीति-निर्धारण, (3) शासन का सचालन तथा उसकी रचनात्मक आलोचना, (4) राजनीतिक प्रचार और शिक्षण, (5) व्यक्ति और शासन के मध्य मधुर सम्बन्धो की स्थापना करना। राजनीतिक दल मुख्य रूप से निम्नलिखित कार्य करते है:

(1) **सार्वजनिक नीतियो का निर्धारण**—राजनीतिक दल जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए अपनी नीतियो और योजनाओ का जोरदार प्रचार करते हैं। वे राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक समस्याओ के विभिन्न पहलुओ से जनता को परिचित कराते है। इसीलिए राजनीतिक दलो को "विचारो का दलाल" कहा जाता है। **प्रो. लॉस्की** के शब्दो मे, "आधुनिक राज्यो के भ्रान्तिपूर्ण वातावरण मे समस्याओ का चयन करके यह आवश्यक है कि वरीयता के आधार पर कुछ को अत्यन्त शीघ्र निपटाने के लिए छाँटना चाहिए और उनके निदान जनता की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करने चाहिए। चयन का यह कार्य दलो के द्वारा ही होता है।[2]

(2) **शासन का संचालन**—राजनैतिक दल चुनावो मे बहुमत प्राप्त करके सरकार का निर्माण करते हैं। अपने दल मे से ही मन्त्री नियुक्त करते है तथा विभिन्न विधियो से अपने चुनाव घोषणा-पत्र के वायदो को पूरा करने का प्रयास करते है।

---

1 "The party is held together by its ideology and organization. An ideology is indispensible in the life of a political movement." —*Roucek.*

2 लॉस्की : ए ग्रामर ऑव् पॉलिटिक्स, पृ. 312-313

(3) शासन की आलोचना—यदि निर्वाचन मे किसी दल को बहुमत प्राप्त न हो तो वह प्रतिपक्ष के रूप मे महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। प्रतिपक्ष के रूप मे उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह शासन को सचेत रखे। वह सरकार की रचनात्मक आलोचना करके वैकल्पिक नीतियाँ प्रस्तुत करता है। विपक्षी दल शासन की कमजोरियो को जनता के सामने रखकर उसके विरुद्ध लोकमत तैयार करते है।

(4) चुनावो का संचालन—राजनीतिक दलो से ही चुनावो की सार्थकता प्रकट होती है। वे चुनाव के समय अपने चुनाव घोषणा-पत्र तैयार करते है, उनका प्रचार करते है, प्रत्याशियो को खडा करने तथा हर तरीके से चुनाव जीतने का प्रयत्न करते है। हरमन फाइनर के शब्दो मे, "राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचक या तो नितान्त असहाय हो जायेंगे या उनके द्वारा असम्भव नीतियो को ही अपनाकर राजनीतिक यन्त्र को ही नष्ट कर दिया जायेगा।"

(5) लोकमत का निर्माण—यदि शासित व्यक्तियो की सहमति मे सत्ता को प्राधिकार अर्जित करना है और यदि शासन की नीतियो पर लोकमत प्राप्त करना है तो राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। इनकी अनुपस्थिति मे जनसमुदाय एक दिशाहीन भीड के अतिरिक्त और कुछ न होगा। लार्ड ब्राइस के शब्दो मे, "लोकमत को प्रशिक्षित करने, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति मे राजनीतिक दलो के द्वारा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाता है।"

(6) शासन तथा जनता के बीच मध्यस्थ का कार्य—राजनीतिक दल जनता और सरकार के बीच मध्यस्थता करते है। वे जनता की समस्याओ और आकाक्षाओ को सरकार के सामने रखते हैं और सरकार की स्थिति से जनता को अवगत करते है। बार्कर के अनुसार, "राजनीतिक दल एक ऐसे पुल का कार्य करते हैं जिसका एक छोर समाज को छूता है और दूसरा राज्य को। यह एक ऐसा पाइप है जिससे सामाजिक विचारधारा बहती है जो राज्य के यन्त्र को तरल बनाकर उसके पहियो को घुमाती रहती है।"[1]

(7) राजनीतिक प्रशिक्षण—राजनीतिक दलो के प्रचार से नागरिको को राजनीतिक शिक्षा मिलती है। उन्हे समस्याओ के विभिन्न पहलुओ का पता लगता है। इस प्रकार से नागरिको मे राजनैतिक चेतना जाग्रत होती है।

(8) सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य—अधिकाश राजनीतिक दल जनता के सामाजिक और सास्कृतिक जीवन को उन्नत करने का भी कार्य करते है। स्वाधीनता आन्दोलन के युग मे काग्रेस ने हरिजन कल्याण तथा स्त्री-उद्धार सम्बन्धी बहुत से कार्य किये थे।

(9) दलीय कार्य—प्रत्येक राजनैतिक दल कतिपय दल सम्बन्धी कार्य भी करता है—मतदाताओ को दल का सदस्य बनाता है, सार्वजनिक सभाओ का आयोजन करता है, दल के लिए चन्दा इकट्ठा करता है आदि।

राजनीतिक दलों का विचारधारा जन्य रूप
(IDEOLOGICAL NATURE OF THE POLITICAL PARTIES)

लोग अपने स्वाभाविक दृष्टिकोणो एव विचारो (झुकावो) के अनुसार बँट जाते हैं और यह विभाजन ही राजनीतिक दलो का आधार बन जाता है। क्रान्तिकारी और प्रतिक्रियावादी दलो का अन्तर परिवर्तन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणो पर आधारित है। यह अन्तर मुख्यत. मात्रा का अन्तर है। लोग दृष्टिकोण के आधार पर अतिक्रान्तिकारी से प्रतिक्रियावादी दल तक अन्तर रखते हैं। अनेक लोग इनके बीच आते है। आधुनिक काल मे इस अन्तर को वामपन्थी और दक्षिण-पन्थी नामो मे जाना जाता है। वामपन्थी वे हैं जो क्रान्तिकारी सामाजिक आर्थिक प्रयासो का समर्थन

---

[1] बार्कर : रिफ्लेक्शन ऑन गवर्नमेण्ट, पृ 39.

करते है और दक्षिणपन्थी वे हैं जो यथास्थिति को वनाये रखने की रूढ़िवादी स्थिति के समर्थक हैं। सभी राजनीतिक दल विचारधारा जन्य नही होते। विचारधारा जन्य दल राजनीतिक दल की दी गयी परिभाषा के समकक्ष होते है। तदनुसार यह ऐसे व्यक्तियो का निकाय है जो अपने संयुक्त प्रयासो द्वारा राष्ट्रीय हितो की उपलब्धि के लिए एक होते हैं और कुछ विशेष सिद्धान्तो को स्वीकार करते हैं जिनमे उन सभी की सहमति होती है। विचारधारा जन्य दल एक कार्यक्रम तथा विश्वासो और मूल्यो के एक सेट के प्रति प्रतिवद्ध होते है। द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद से राजनीतिक दल अपने विचारधारागत विश्वासो के प्रति कम कठोर कहे गये है। अव उनकी रुचि विभिन्न वर्गों का समर्थन पाने की ओर अधिक है। इन वर्गो की माँगो तथा हितो को एक साथ नही मिलाया जा सकता।

विचारधाराओ के आधार पर राजनीतिक दलो को दक्षिणपन्थी एवं वामपन्थी रूप से विभाजित किया जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व यूरोप मे फासिस्टवादी एवं नाजीवादी दलो ने साम्यवाद के विरोध, परम्परागत मूल्यो के समर्थन तथा राष्ट्रीय गर्व एवं सम्मान आदि के नाम पर व्यापक जनसमर्थन प्राप्त किया। ये दक्षिणपन्थी दल थे। इनकी अपील मुख्य रूप से जाति, रक्त एव अतीतकालीन महानता की भावनाओ पर आधारित रहती है। ये दल अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए कैसे भी साधन अपनाने मे पीछे नही रहते। आर्थिक क्षेत्र मे दक्षिणपन्थी दल स्वतन्त्र निजी उद्यमो का समर्थन करते हैं तथा आर्थिक कार्यो पर राज्य के नियमन का विरोध करते है। भारत मे स्वतन्त्र पार्टी और जनसघ दक्षिण पन्थी समझे जाते थे।

वामपन्थी दल सामान्य रूप मे समाजवादी नीतियो का समर्थन करते है। इस दृष्टि से ये दल दो भागो मे विभाजित किये जा सकते हैं। **प्रथम**, वे जो साम्यवाद का समर्थन करते हैं और **द्वितीय**, वे जो समाजवाद का समर्थन करते हैं। कुल मिलाकर वामपन्थी दल पूंजीवाद के विरोध का समर्थन करते है और समाज की रूप रचना तथा प्रकृति मे मूलभूत परिवर्तन लाना चाहते हैं।

वहुत कम देशो मे ही राजनीतिक दल विचारधारा जन्य है। सयुक्त राज्य अमरीका और भारत मे भी राजनीतिक दल विभिन्न कारणो से विचारधारागत कठोर दृष्टिकोण नही रख पाये हैं। ग्रेट ब्रिटेन मे राजनीतिक दलो का कुछ विचारधारागत आधार अवश्य है।

भारत मे कांग्रेस दल ने 1955 तक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का समर्थन किया और उसके वाद उसने समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य अपना लिया। तव से कांग्रेस समाजवाद के समर्थन का दावा करती है, किन्तु कांग्रेस का सगठन और उस पर धनिक किसानो का आधिपत्य इसे एक ऐसा दल वना देता है जो समाजवाद का समर्थन तो करता है किन्तु मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के विचारो को भी कार्य रूप प्रदान करता है। पुराने विरोधी दलो के विलय से जन्मी जनता पार्टी भी समाजवाद और निर्धन जन के कल्याण का दावा करती थी। किन्तु यह भी सभी विचारधाराओ का एक मेल थी। वस्तुत भारत मे दक्षिण और वाम का अन्तर महत्त्वहीन है। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावो के वाद केन्द्र मे राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार को मार्क्सवादी साम्यवादी दल और भारतीय जनता पार्टी का एक साथ समर्थन मिलना यह सिद्ध करता है कि भारत मे दक्षिण और वामपन्थ की धारणा वेमतलव हो गई है।

एलेन वाल द्वारा राजनीतिक दलों का वर्गीकरण
(ALAN BALL'S CLASSIFICATION OF POLITICAL PARTIES)

एलेन वाल ने दलो की सख्या, उनकी सरचना तथा उनकी ताकत के सुनिश्चित आधार लेकर निम्नलिखित दल व्यवस्थाएँ वतायी हैं :

(1) 'अस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियां (Indistinct Two Party System)—अस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियो मे दलीय विचारधाराओ पर कम वल दिया जाता है, अधिक्रमिक संरचना का अभाव

और मतों को जीतने के कार्यों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। अमेरिका तथा आयरलैण्ड की दलीय पद्धतियो को अस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियां कहा जा सकता है।

(ii) **सुस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियां** (Distinct Two Party Systems)—सुस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियो मे दल अधिक केन्द्रीकृत होते हैं। इस पद्धति के अन्तर्गत चुनावी लड़ाई मे विचारधारा की टक्कर राजनीति को कुछ अधिक सरस बना देती है। ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी व आस्ट्रेलिया सुस्पष्ट द्विदलीय व्यवस्थाओ के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

(iii) **कार्यवाह बहुदलीय पद्धतियां** (Working Multi-Party Systems)—कार्यवाह बहुदलीय पद्धतियां वे दल पद्धतियां है जो दो से अधिक दल वाली होते हुए भी स्पष्ट द्विदलीय पद्धतियो के समान आचरण करती है—खासतौर से सरकारो की स्थिरता के सम्बन्ध मे। स्वीडन तथा नार्वे में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियाँ है जिनका विरोध उदारवादी, कृषक, अनुदारवादी, क्रिश्चियन पार्टियां जैसी कई केन्द्र से दायें की पार्टियां करती है पर बुनियादी स्थिति यह रहती है कि या तो सोशल डेमोक्रेटो की सरकार बनती है अथवा नार्वे की तरह केन्द्र से दाये की पार्टियो की स्थिर सम्मिलित सरकार बन जाती है।

(iv) **अस्थिर बहुदलीय पद्धतियां** (Unstable Multi-Party Systems)—अस्थिर बहुदलीय पद्धतियो मे सरकार की स्थिरता का अभाव होता है। ऐसी पद्धतियो वाले राज्यो मे सरकारें अधिकतर केन्द्र की पार्टियो के साथ साझेदारी से बनती है, जिनका विरोध दक्षिण और वाम की पार्टियां करती है। इस प्रकार की दल पद्धति का सर्वोत्तम उदाहरण इटली में मिलता है। इटली की संसद मे कम से कम आठ पार्टियो का प्रतिनिधित्व रहता है और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से आज तक कोई भी पार्टी बहुमत में नही आ सकी है। अस्थिर दलीय पद्धतियो वाले राज्यो मे सरकारो का पतन जल्दी-जल्दी होता रहता है लेकिन एक सरकार के पतन के बाद अधिकतर थोड़े समय मे ही दूसरी सरकार बन जाती है।

(v) **प्रभावी दल पद्धतियां** (Dominant Party Systems)—प्रभावी दल पद्धतियां वे पद्धतियां हैं जिनके अन्तर्गत दल प्रतियोगिता चलने दी जाती है लेकिन एक ऐसे दल का उदय होता है जो सब दलो पर छा जाता है। भारत प्रभावी दल पद्धति का अच्छा उदाहरण है। आजादी के बाद से अब तक (1977-80 की अवधि अपवाद है) राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस ही एकमात्र शासक दल है। बहुत-से दूसरे दल भी मौजूद है और उन्हें प्रभावी दल से खुली प्रतियोगिता की छूट दी गयी है। यहाँ तक कुछ एक प्रादेशिक दलो ने कई भारतीय राज्यों के शासन पर जब तब नियन्त्रण भी किया है।

(vi) **एक दलीय पद्धतियां** (One Party Systems)—एक दलीय पद्धतियों की सही परिभाषा करना दुष्कर है। इस श्रेणी मे मिस्र से लेकर तज़ानिया तक रखे जा सकते है। शेख मुजीब के समय में बंगलादेश तथा वर्तमान मे बर्मा भी एकदलीय पद्धतियो के प्रवर्ग मे ही रखे जाते है। इन पद्धतियो मे चुनावी प्रतियोगिता का पूर्णतया अभाव नही होता है। दल में ही गुट, चुनावी खीचतान करने की कुछ-कुछ छूट रखते है।

(vii) **सर्वाधिकारी दलीय पद्धतियां** (Totalitarion Party Systems)—सर्वाधिकारी दल पद्धतियो को एकदलीय पद्धतियो से कई बातो मे भिन्न पाते हैं। इन पद्धतियो मे सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सक्रियता के सब पहलुओं पर दल का अत्यधिक नियन्त्रण रहता है। इनमे प्रभावी विचारधारा पर बल दिया जाता है। चीन व अन्य साम्यवादी देशो मे सर्वाधिकारी एकदलीय प्रणालियां पायी जाती हैं।

...वस्था

(PAR... N INDIA)

भारत मे स्वतन्त्रता ... दलों के संगठन की ... हुई। कांग्रेस एक विशेष अस्तित्व ... मे पैदा हुई जिसने देश ...

तत्त्वों को एकत्रित किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस दल ने एक राजनीतिक दल के रूप में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया, यद्यपि महात्मा गाँधी चाहते थे कि यह केवल समाज सेवा संगठन के रूप में कार्य करें। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की राजनीति में कांग्रेस दल की भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि भारत का प्राय. एक **प्रभुत्वशाली दलीय व्यवस्था** के रूप में वर्णन किया गया। कांग्रेस आम जनता का सर्वप्रिय दल था तथा इसके योजना कार्य में सब कुछ सम्मिलित था। प्राय. इसको भारतीय समाज का लघुरूप माना जाता था जिसमें राष्ट्र के समस्त तत्त्वों का प्रतिबिम्ब था।

परन्तु इससे हमें गलत परिणामों पर नहीं पहुँचना चाहिए। कांग्रेस में ही विभिन्न तत्त्व विद्यमान थे जो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अलग-अलग विचार रखते थे। कांग्रेस दल जो आन्दोलन दल से एक राजनीतिक दल में बदल गया था, चाहता तो सब विभिन्न तत्त्वों को अपने विशालतम संगठन में समा सकता था। इसके बाद कांग्रेस दल एक केन्द्रीय दल बन गया जिसमें वामपन्थी और दक्षिणपन्थी राजनीति साथ-साथ शामिल थी। इसने दल में एक आन्तरिक शोधक रचना का गठन किया जिसमें कांग्रेस की बाहरी परिस्थितियों के अनुसार इनके भिन्न-भिन्न तत्त्व एक-दूसरे में घुल-मिल सकते थे।

यह एक तथ्य है कि भारत में कांग्रेस का प्रभाव सम्पूर्ण नहीं था। यद्यपि लोकसभा में कांग्रेस को भारी बहुमत प्राप्त था फिर भी कभी भी राष्ट्रीय चुनावों में इसे सार्वजनिक मतों का बहुमत नहीं मिला। दूसरी ओर विरोधी दलों को लोकसभा में यद्यपि कम स्थान प्राप्त थे परन्तु उनके पीछे मतदाताओं की पर्याप्त शक्ति थी और राज्य स्तर पर कांग्रेस का प्रभाव और भी कम था।

भारत में विरोध विशेषतः सरकार का विरोध था। कांग्रेस दल सत्तारूढ़ दल था अत विरोध का अभिप्राय कांग्रेस के विरोध से था। विरोधी पक्ष का प्रयास मुख्यतः कांग्रेस की आलोचना करना तथा इसको सत्ता से हटाना था।

कांग्रेस दल का देशव्यापी शक्तिशाली संगठन सुदूरवर्ती गाँवों तक फैला हुआ था। इसने स्वतन्त्रता आन्दोलन के नेतृत्व की विरासत को स्वीकार किया। इसने क्षेत्रीय एव वर्गीय हितों को एक साथ लिया। इसका कार्यक्रम पर्याप्त उदारवादी एवं लचीला था जिसके परिणामस्वरूप यह विभिन्न वर्गों की बढती हुई आकांक्षाओं से उत्पन्न विभिन्न माँगों को समायोजित कर सका। इसने कभी भी विचारधारा की दृष्टि से अतिवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया। सभी हितों को कांग्रेस दल में समायोजित कर लिया गया था इसलिए दूसरे दल उठ ही नहीं सके। कांग्रेस के कार्यक्रमों में देहाती एवं नगरीय हितों को शामिल किया गया, कुटीर उद्योगों तथा बडे उद्योगों और इसमें कृषि एव औद्योगिक हितों को मिलाया गया और इसमें परम्परावादी एव आधुनिक दोनों ही दृष्टिकोण शामिल हैं। असल में कांग्रेस दल ने सर्वसहमति एव एकीकरण प्राप्त करने का मूलभूत कार्य किया।

भारत में कांग्रेस दल की एक विलक्षण विशेषता यह थी कि यह विभिन्न दृष्टिकोणों का एक प्रकार से संविद (Coalition) बन गया था। इसमें आन्तरिक रूप से ही विरोधी दल उठ खडा हुआ। यद्यपि यह एक दलीय प्रभुता की व्यवस्था थी किन्तु फिर भी इसने सभी प्रजातान्त्रिक प्रयासों और संस्थाओं को अपनाया। ऐसी स्थिति में विरोधी दल की स्थापना के लिए कोई क्षेत्र नहीं था।

भारत में दलीय व्यवस्था की विशेषताएँ
(SALIENT FEATURES OF THE PARTY SYSTEM IN INDIA)

1947 से लेकर 1990 के काल में कम से कम तीन बार (1967, 1977 तथा 1990) ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत की दलीय व्यवस्था नवीन दिशा ग्रहण करने जा रही है; लेकिन दोनों ही बार ऐसा नहीं हो पाया और स्थिति में थोडे-बहुत परिवर्तन के बाद दलीय व्यवस्था अपने मूल

स्वरूप पर आकर टिक गयी। 1967 के चतुर्थ आम चुनाव मे भारतीय संघ के लगभग आधे राज्यों की विधानसभाओ मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही कर सकी और इन राज्यों में विरोधी दलो की मिली-जुली सरकारो 'संविद सरकारो' (Coalition Governments) की स्थापना हुई। इस स्थिति के सन्दर्भ मे भारतीय राजनीति के अनेक समीक्षकों द्वारा यह विचार व्यक्त किया गया कि अब भारतीय राजनीति मे एक दल की प्रधानता का युग समाप्त हो चुका है और भारत मे केन्द्र तथा राज्यो के स्तर पर एक दलीय सरकारो के स्थान पर मिली-जुली सरकारों की स्थापना होगी। **रजनी कोठारी** के शब्दों मे, "भारतीय राजनीति ने एक दल की प्रधानता वाली स्थिति से निकलकर उस स्थिति मे प्रवेश किया, जिसमे विभिन्न दलों में प्रधानता प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता प्रारम्भ हो गयी।"[1] लेकिन 1971 ई. के लोकसभा चुनावो और 1972 ई. के विधानसभा चुनावो मे दलीय स्थिति इस रूप मे सामने नही आयी और दलीय व्यवस्था ने पुनः अपने पुराने स्वरूप **'एक दल की प्रधानता वाली बहुदलीय पद्धति'** (Multi Party System with one Dominant Party) को ग्रहण कर लिया।

1977 ई. के लोकसभा चुनावो के परिणामस्वरूप भारत मे पहली बार केन्द्र मे सत्ता परिवर्तन हुआ और कांग्रेस के स्थान पर जनता पार्टी की सरकार स्थापित हुई। जनता पार्टी की स्थापना पाँच राजनीतिक इकाइयों—संगठन कांग्रेस, जनसंघ, भारतीय लोक दल, समाजवादी दल और चन्द्रशेखर के नेतृत्व में विद्रोही कांग्रेसियों के सम्मिलन से हुई थी और मई 1977 के प्रथम सप्ताह मे जब जगजीवनराम के नेतृत्व वाली 'लोकतन्त्रीय कांग्रेस' (Congress for Democracy) का भी इसमे विधिवत् रूप से विलय हो गया तब इस स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए आशा की जाने लगी कि बहुत शीघ्र ही भारतीय राजनीति मे 'राजनीतिक ध्रुवीकरण' (Political Polarisation) की स्थिति आ जायगी अर्थात् बहुत कुछ सीमा तक भारत में 'द्विदलीय व्यवस्था' स्थापित हो जायगी लेकिन 1977 के अन्तिम दिनो से ही इस बात के संकेत मिलने लगे और 1978 के प्रारम्भ से यह नितान्त स्पष्ट हो गया कि हम 'राजनीतिक ध्रुवीकरण' की दिशा मे आगे बढने के बजाय राजनीतिक दलों के विघटन और बिखराव की दिशा मे आगे बढ रहे है। 1979 मे स्थिति पूर्णतया इसी रूप मे सामने आ गयी और यह शंका व्यक्त की जाने लगी कि जनवरी 1980 के लोकसभा चुनाव-केन्द्र मे मिली-जुली सरकार को जन्म देंगे। लेकिन 1967-70 काल मे राज्य स्तर पर और पुन: 1977-79 के काल में राज्य स्तर पर तथा बहुत कुछ सीमा तक केन्द्रीय स्तर पर (अनेक अर्थों मे केन्द्र मे सत्तारूढ़ जनता पार्टी सरकार एक मिली-जुली सरकार ही थी और जुलाई 1979 मे वस्तुत: जनता (एस), कांग्रेस (अर्स) और अन्ना डी एम. के. की मिली-जुली सरकार स्थापित हुई थी) मिली-जुली सरकारो के प्रति भारतीय जनता का अनुभव सुखद नही था। राजनीतिक विवेचना मे मिली-जुली सरकारें राजनीतिक अस्थायित्व के साथ जुड़ी हुई देखी गयी और भारतीय सन्दर्भ मे मिली-जुली सरकारो का आशय राजनीतिक अस्थायित्व और दिशाहीन शासन के रूप मे सामने आया। अत भारतीय जनता एक ही राजनीतिक दल को शासन सत्ता सौंपने के पक्ष मे थी। इस स्थिति के परिणामस्वरूप 1980 मे लोकसभा के लगभग दो-तिहाई स्थान 'इन्दिरा कांग्रेस' के द्वारा प्राप्त किये गये और शेष स्थान विभिन्न विपक्षी दलो मे बँट गये। इस प्रकार भारतीय दलीय व्यवस्था की मूल प्रवृत्ति **'एक दल की प्रधानता वाली बहुदलीय पद्धति'** या **'बहुदलीय पद्धति में एक दल की प्रधानता'** पुनः स्थापित हो गयी। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावो के बाद हम पुनः अल्पमत (मिली-जुली सरकार) सरकार की तरफ बढ

---

[1] "India has been for sometime now moving from a dominant party system to a system of competitive dominance" —Rajni Kothari : *Politics in India*, p. 200.

रहे हैं। ऐसे संकेत हैं कि भारत की दल प्रणाली पुनः नई दिशा की ओर अपने चरण बढ़ाने को अग्रसर है।

भारत की दलीय व्यवस्था की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) बहुदलीय पद्धति (Multi-party System)—भारत में ब्रिटेन तथा अमरीका की तरह द्वि-दल पद्धति नहीं, वरन् बहुदलीय पद्धति है; लोकसभा में लगभग 15 और विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं में कुल मिलाकर 30 से अधिक राजनीतिक दल हैं। इनमें से कुछ को छोड़कर अन्य के पास कोई नीति अथवा कार्यक्रम नहीं है या उनके पास साधनों का अभाव है। मई 1981 के 9 राज्यों की विधानसभाओं के चुनाव में 8 राजनीतिक दलों को अखिल भारतीय दल के रूप में मान्यता प्रदान की गयी थी, लेकिन इनमें से कुछ का अखिल भारतीय संगठन और स्वरूप केवल कहने भर के लिए ही है और उनके प्रभाव क्षेत्र बहुत सीमित हैं। राज्यों की विधानसभाओं में इस प्रकार के अनेक दलों के अस्तित्व ने प्रशासनिक अस्थायित्व को ही जन्म दिया है और वह इस बहु दलीय पद्धति को भारतीय लोकतन्त्र के हित में नहीं कहा जा सकता है।

(2) एक राजनीतिक दल का प्राधान्य (One Dominant Party System)—चतुर्थ आम चुनाव से पूर्व मॉरिस जोन्स ने भारत की दलीय पद्धति को 'एक दल की प्रधानता वाली बहुदलीय पद्धति' की संज्ञा दी थी और 1967 से 1970 के समय को छोड़कर भारतीय राजनीति में सामान्यतया यही प्रवृत्ति रही है। बहुदलीय पद्धति में सामान्यतया राजनीतिक शक्ति का विभाजन हो जाता है और कोई भी एक राजनीतिक दल इस स्थिति में नहीं होता कि वह अपने ही बल पर सरकार का निर्माण कर सके। लेकिन 1967 ई. के पूर्व भारतीय राजनीति में सामान्यतया यह स्थिति देखने में नहीं आयी, जिसका कारण भारतीय राजनीति में कांग्रेस दल की प्रधानता थी 1967 ई. के चतुर्थ आम चुनाव ने भारतीय राजनीति में राज्य स्तर पर उस स्थिति को जन्म दिया जिसे बहुदलीय पद्धति का स्वाभाविक परिणाम कहा जा सकता है, लेकिन 1967-70 के काल कुछ राज्यों में जिन मिली-जुली सरकारों का निर्माण हुआ, सामान्य जनता को उनसे घोर निराशा प्राप्त हुई और विपक्षी दलों की शक्ति का पतन- प्रारम्भ हो गया। अतः 1971 के लोकसभा तथा 1972 के विधानसभा चुनावों में जनता ने केन्द्र तथा अधिकांश राज्यों में अकेली सत्ता कांग्रेस को अपनी सरकार के निर्माण का अवसर प्रदान किया।

जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावों के आधार पर केन्द्र में मिली-जुली सरकार की स्थापना की बात सोची गयी थी, लेकिन चुनाव परिणाम उस रूप में सामने नहीं आये और भारतीय राजनीति में एक दल की प्रधानता पुनः स्थापित हो गयी। इस प्रकार भारतीय राजनीति में 1947-67 के काल में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को प्रमुखता की स्थिति प्राप्त थी, 1967-70 के काल भारत की दलीय व्यवस्था 'प्रतियोगी दलीय व्यवस्था' के रूप में सामने आयी; लेकिन 1971 पुनः एक दल 'सत्ता कांग्रेस' को प्रधानता की स्थिति प्राप्त हो गयी और 1977 के आरम्भ तक उसे यह स्थिति प्राप्त रही। 1977-79 के काल में दलीय व्यवस्था स्पष्ट नहीं थी, कुछ सीमा तक यह 'प्रतियोगी दलीय व्यवस्था' थी और कुछ सीमा तक ऐसी बहुदलीय व्यवस्था जिसमें एक दल जनता पार्टी को प्रधानता की स्थिति प्राप्त थी। जनवरी 1980 के लोकसभा चुनाव और मई 1980 के विधानसभा चुनावों के परिणामस्वरूप इस बहुदलीय व्यवस्था में एक दल 'इन्दिरा कांग्रेस' को स्पष्ट रूप से प्रधानता की स्थिति प्राप्त हो गयी। 1984-85 के लोकसभा एवं राज्य विधान सभाओं के चुनाव परिणामों से भी कांग्रेस दल की 'प्रधानता' ही उभरी। नवम्बर 1989 के लोक सभा चुनावों के परिणामस्वरूप स्थिति में व्यापक परिवर्तन आया और एक दल की प्रधानता के युग का अन्त हुआ। केन्द्र में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ।

(3) **दलीय राजनीति, वैयक्तिक नेतृत्व पर आधारित**—दलीय राजनीति वैयक्तिक नेतृत्व पर आधारित है और व्यक्तियों के आधार पर दलो के बिगडने का क्रम चलता रहता है। भारतीय राजनीति के सर्वप्रमुख दल या शासक दल मे सामान्यतया एक ही व्यक्ति को सर्वोच्चता की स्थिति प्राप्त रही है। 1951 से 1964 के मध्य तक श्री नेहरू को यह स्थिति प्राप्त थी और बाद मे 1970-76 के काल मे तथा पुन: 1980 के प्रारम्भ मे श्रीमती गाँधी द्वारा इस स्थिति को प्राप्त कर लिया गया। दिसम्बर 1984 के चुनावो के बाद राजीव गाँधी की प्रभावक भूमिका उभरी है। इस सम्बन्ध मे 1964-69 तथा 1977-79 की स्थिति अवश्य ही अपवाद रही है, लेकिन एक अन्य तथ्य यह है कि जब भी शासक दल मे शक्तिशाली वैयक्तिक नेतृत्व का अभाव हुआ दल की शक्ति और दल के अन्तर्गत अनुशासन दोनो मे ही कमी आ गयी।

(4) **राजनीतिक दलो में विभाजन, विघटन और अस्थायित्व की प्रवृत्ति**—भारत के सभी राजनीतिक दल निरन्तर विभाजन, विघटन, बिखराव और अस्थायित्व की प्रवृत्ति के शिकार रहे है। सर्वप्रमुख दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अब तक दो बार विभाजित हो चुका है। 1969 ई. मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विभाजन हुआ और 1978 मे सत्ता कांग्रेस का। 1977 मे गठित जनता पार्टी 1980 के मध्य तक चार जनता पार्टियो मे बँट गई। जनता पार्टी (जे. पी.) भारतीय जनता पार्टी, जनता 'एस' (चरणसिंह) और जनता 'एस' (राजनारायण)। इसी प्रकार चार साम्यवादी दल हैं, जिनमे दो भली प्रकार संगठित है। विशेष बात यह है कि आज एक राजनीतिक दल का गठन होता है और कल उसमे विभाजन या विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार दलीय व्यवस्था मे अनिश्चय और अस्थायित्व की स्थिति बनी हुई है और यह निश्चित रूप से एक विकृति है।

(5) **शक्तिशाली विपक्ष**—1967-70 और 1977-79 के काल को छोड़कर भारतीय राजनीति मे सामान्यतया कमजोर और विभाजित विपक्ष की स्थिति ही रही। **मोरिस जोन्स** ने इस स्थिति की विवेचना करते हुए लिखा था कि विरोधी दलो मे टूट-फूट का कारण यह है कि उनमे आपस मे सामाजिक सहयोग कम है और दलो के अग्रगामी नेता बिना शक्ति के भी अपनी छोटी-मोटी टुकड़ियो के नेता बने रहना चाहते है और एक बडे समूह मे नही मिलना चाहते है।[1] लेकिन नवी लोकसभा के चुनाव ने ससद और देश की राजनीति मे शक्तिशाली विपक्ष को जन्म दिया है। ससद मे कांग्रेस (इ) शक्तिशाली विपक्ष की स्थिति मे है, जिसे लोकसभा मे 193 स्थान और राज्यसभा मे बहुमत प्राप्त है। राज्य स्तर पर भी अधिकांश राज्यो मे विपक्ष पर्याप्त शक्तिशाली है या कम-से-कम उसे मान्यता प्राप्त विपक्षी दल की स्थिति प्राप्त है।

(6) **अवसरवादिता की उभरती प्रवृत्ति**—भारतीय राजनीति मे अवसरवादिता सदैव से विद्यमान रही है और अभी हाल ही के वर्षो मे यह निरन्तर उग्र रूप ग्रहण कर रही है। **रजनी कोठारी** के अनुसार, "व्यक्ति का महत्त्व अभी भी राजनीति से बहुत है। भारत मे एक ही संगठन के अभिन्न अंग अलग-अलग काम करते हैं। एक ही दल की राष्ट्रीय और राज्य शाखाएँ प्रतिकूल दिशाओ मे चलती है और ऐसे गुटो व तत्त्वों से हाथ मिलाती है जो विचारधारा और नीति मे उनसे भिन्न है।"[2] जनवरी 1980 के केरल विधानसभा चुनावो मे इन्दिरा कांग्रेस और जनता पार्टी ने परस्पर सहयोग करते हुए एक ही फ्रण्ट के अन्तर्गत चुनाव लडा, जबकि राष्ट्रीय स्तर पर ये दल एक-दूसरे के कट्टर विरोधी थे और हैं। इस प्रकार की अवसरवादिता के अन्य अनेक उदाहरण उपलब्ध है।

(7) राजनीतिक दलो की नीतियों और कार्यक्रम में स्पष्ट भेद का अभाव—भारत के

---

[1] Morris Jones : *The Government and Politics in India*, p. 176.

[2] Rajni Kothari . *Politics in India*, 1972, pp. 165-66.

राजनीतिक दलो की नीतियो और कार्यक्रमो मे स्पष्ट भेद का अभाव है और इसी कारण वे जन के सम्मुख स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत करने मे असमर्थ रहे है। इस प्रकार के विचार भेद के अभाव एक कारण यह है कि आज भारत के राजनीतिक रगमच पर जितने भी पात्र दृष्टिगोचर होते उन सवको राजनीतिक प्रशिक्षण राष्ट्रीय आन्दोलन मे ही प्राप्त हुआ था। लेकिन इसका और अधिक प्रमुख कारण यह है कि स्वय राजनीतिक दलो की नीतियाँ और कार्यक्रम अस्पष्ट और अनिश्चित हैं। कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य लगभग एक दर्जन छोटे-बड़े राजनीतिक भी समाजवाद को ही अपना लक्ष्य घोषित किये हुए है। अनेक राजनीतिक दलो के पास कोई निश्चित कार्यक्रम न होने के कारण उनके द्वारा विध्वसकारी कार्यों का आश्रय लिया जाता और विघटनकारी तत्त्वो को प्रोत्साहित किया जाता है।

(8) **साम्प्रदायिक और क्षेत्रीय दल**—भारत मे अनेक राजनीतिक दल साम्प्रदायिक क्षेत्रीय आधार पर गठित हैं। ऐसे दलो मे अन्ना द्रविड मुनेत्र कडगम (Anna D. M. K.) द्र मुनेत्र कडगम (D. M. K.), अकाली दल, हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, मुस्लिम मजलिस, कांग्रेस, असम गण परिषद, सिक्किम सग्राम परिषद और अन्य अनेक दलो का नाम लिया जा है। नागालैण्ड, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम प्रदेश और अरुणाचल प्रदेश मे तो नागालैण्ड, दल और मणिपुर पीपुल्स पार्टी आदि ही प्रभावशाली हैं और अखिल भारतीय दलो का लगभग नगण्य है। लोकसभा चुनावो मे तो ये साम्प्रदायिक और क्षेत्रीय दल अपनी शक्ति प्रभाव का सीमित परिचय ही दे पाते है, लेकिन विधानसभा चुनावो मे अपनी शक्ति का देने मे सफल रहते है। 1989-90 मे शिव सेना ने भी अपनी शक्ति मे पर्याप्त वृद्धि की है एक साम्प्रदायिक दल है तथा क्षेत्रीय भी।

(9) **राजनीतिक दलो की आन्तरिक गुटबन्दी**—भारत की दल प्रणाली की एक विशेषता विभिन्न दलो की आन्तरिक गुटबन्दी हैं। लगभग सभी राजनीतिक दलो मे छोटे-छोटे पाये जाते है, एक वह गुट जो सत्ता मे है और दूसरा असन्तुष्ट गुट। इन गुटो मे पारस्परिक भेद इस सीमा तक पाया जाता है कि कभी-कभी निर्वाचन मे एक गुट के समर्थन प्राप्त को दूसरे गुट के सदस्य पराजित करने का भरसक प्रयत्न करते है। दल मे आन्तरिक गुट कांग्रेस दल मे सबसे ज्यादा पायी जाती है क्योंकि इसमे सत्ता के लिए निरन्तर सघर्ष चलता है जिसका प्रभाव सम्पूर्ण दल की प्रगति पर पडता है। अन्य राजनीतिक दलो मे भी स्थिति है। 1989 मे सत्तारूढ जनता दल या राष्ट्रीय मोर्चे के अन्य घटक भी गुटबन्दी से नही हैं। इस प्रकार की गुटबन्दी पश्चिमी देशो के राजनीतिक दलो मे नही पायी जाती है शासक दल और अन्य दलो मे गुटबन्दी की यह स्थिति भारतीय राजनीति का अभिशाप हुई है।

(10) **राजनीतिक दल-बदल**—भारत मे दल-बदल की स्थिति सदैव से विद्यमान रही लेकिन 1967 से 1970 के वर्षो मे यह प्रवृत्ति बहुत अधिक भीषण रूप मे देखी गयी। पजाब हरियाणा, उत्तर प्रदेश, विहार, राजस्थान और मध्य प्रदेश आदि राज्यो मे विशेप रूप से यह प्रवृत्ति देखी गयी कि एक राजनीतिक दल के सदस्य के रूप मे निर्वाचित विधानसभा के सदस्य द्वारा अपने निर्वाचको की अनुमति प्राप्त किये विना ही विधानसभा मे अपने राजनीतिक दलो की सदस्यता मे परिवर्तन कर लिया गया। इस प्रकार के दल परिवर्तन के परिणामस्वरूप इन राज्य मे वहुत जल्दी-जल्दी सरकारो का पतन हुआ और राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो गयी। 1971 और 1972 के लोकसभा तथा विधानसभा चुनावो के वाद दल-वदल की लगभग समाप्ति की आशा की गयी थी और जनता मे यही आशा मार्च 1977 तथा जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावों के वाद जगी थी, लेकिन ऐसा नही हो पाया। दल-वदल राजनीतिक अस्थिरता

का कारण और परिणाम दोनो ही रहा है और इसने राजनीतिक वातावरण को दूषित करने का ही कार्य किया है।

(11) **निर्दलीय सदस्यो की संख्या मे कमी**—1977 के लोकसभा तथा विधानसभा चुनावों और 1980 के लोकसभा तथा विधानसभा चुनावो मे निर्दलीय सदस्यो की सख्या मे कमी हुई है। 1977 मे लोकसभा के लिए 9, 1980 मे 8 सदस्य और 1984 मे मात्र 5 निर्दलीय चुने गये,[1] जबकि 1971 के लोकसभा चुनावो मे 30 निर्दलीय चुने गये। मई 1980 में सम्पन्न 9 राज्यों की विधानसभाओ के चुनावो मे, 2,225 स्थानो मे से 98 निर्दलीय चुने गये। लेकिन इन विधानसभा चुनावो मे निर्दलीय उम्मीदवारो की वडी संख्या थी और उनके द्वारा लगभग 12-13 प्रतिशत मत प्राप्त किये गये। ऐसी कुछ वैधानिक और राजनीतिक व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे चुनाव मे भाग लेने वाले निर्दलीय उम्मीदवारो की सख्या मे ही कमी हो जाय।

नार्मन डी पामर का यह कथन आज भी सत्य है कि "अब तक स्वस्थ दलीय व्यवस्था उभरकर नही आयी है तो निकट भविष्य मे ऐसा हो सकना कठिन मालूम होता है।"

भारत में राजनीतिक दलों की समस्याएं

(PROBLMS OF THE POLITICAL PARTIES IN INDIA)

भारत मे राजनीतिक दलो के सामने वहुत-सी समस्याएँ है। उनमे से मुख्य हैं, सगठनात्मक वित्तीय अनुशासनहीनता की समस्याएं।

(1) **सगठनात्मक समस्याएँ**—देश मे सामाजिक व्यवस्था की निहित रूपरेखा दल व्यवस्था की समस्याओं को वहुत अधिक वढा देती है। भारत एक परम्परागत स्तरित सामाजिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। धर्म, जाति तथा अन्य कई सांस्कृतिक कारण लोगो के दिमागो पर आधिपत्य जमाये हुए हैं तथा पूर्णत. विशुद्ध सैद्धान्तिक राजनीति इस सन्दर्भ मे कुछ कठिन है। पूर्णत: धर्मनिरपेक्ष सगठन को चलाना और भी अधिक कठिन है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की एक व्यापक विशेषता गुटवन्दी है जो दलो के प्रभावशाली सगठन के मार्ग मे एक मुख्य वाधा है। कांग्रेस दल में भी तीन दशको मे दो प्रमुख विभाजन हो गये। साम्यवादी दल भी तीन है—भारतीय साम्यवादी दल, मार्क्सवादी साम्यवादी दल, भारतीय साम्यवादी दल, (मार्क्सवादी लेनिनवादी) जो भारतीय साम्यवादी दल मे गुट सम्बन्धी राजनीति से पैदा हुए। अकाली दल और द्रविड मुनेत्र कडगम जैसे प्रादेशिक दल भी विभाजित हो चुके हैं। इस प्रकार गुटवन्दी सभी राजनीतिक दलो मे प्रचलित है तथा पूर्णत. विना सैद्धान्तिक आधार के केवल व्यक्तिगत मतभेद ही विभिन्न दलो का नेतृत्व करते हैं।

(2) **दल-वदल**—भारत मे दल-वदल एक सामान्य सी वात है। दल-वदल देश मे राजनीतिक स्थिरता को क्षति पहुँचाने के साथ-साथ प्रशासन तथा ससदीय सस्थाओ मे लोगो के विश्वास पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। यह दल-वदल 1967 से 1968 तक लगभग 16 सरकारो के पतन के लिए उत्तरदायी है। दल-वदल स्वस्थ दल प्रणाली के विकास मे एक वाधा है।

(3) **वित्त साधन**—भारत मे राजनीतिक दल सामान्यत: अपनी वित्तीय लेखा-जोखा, यहाँ तक कि सदस्य तथा कोष सचालन के साधनो से प्राप्त धन का ब्यौरा भी नही छापते।

व्यावहारिक रूप से सभी राजनीतिक दलो की आय का सामान्य स्रोत ससद तथा राज्य विधानसभाओ के सदस्यो पर लगाया गया चन्दा है। सभी राजनीतिक दलो की आय के मुख्य स्रोत दान थैलियाँ तथा कोष सचालन भी है। 1956 के कम्पनी अधिनियम ने पहली वार राजनीतिक चन्दो के साथ दान तथा अन्य कोषो के योगदान को सीमित कर दिया। कम्पनियो द्वारा

---

[1] G. G. Mirchandani. *The Peoples Verdict*, Vikas, 1980, p. 38.

राजनीतिक दलो को दान देने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए एक विधेयक 1968 मे पारित किया गया परन्तु राजनीतिक दलो के वित्त साधनो की गति लगातार पूर्ववत चलती रही। आय का एक कम विवादास्पद तरीका दल के नेताओ को प्राप्त थैलियाँ हैं। ये स्थानीय दल कार्यकर्ताओ द्वारा जनता तथा व्यापारी लोगो से सामान्यत. एकत्र की जाती है तथा अक्सर चुनावो के समय नेताओ को भेंट कर दी जाती हैं।

(4) **नेतृत्व का संकट**—राजनीतिक दलो मे नेतृत्व का सकट (Crisis of Leadership) पाया जाता है। प्रखर और निर्मल नेतृत्व का अभाव है। राजनीति को हमारे नेताओ ने एक गन्दा खेल बना दिया है। उनमे राजनीतिक अवसरवादिता (Political opportunism) देखने को मिलती है।

(5) **काले धन का प्रभाव**—चुनाव बहुत खर्चीले हो जाने से वास्तविक जनसेवी चुनाव मैदान मे उतरने से कतराते हैं। दलो को पूंजीपतियो और कम्पनियो से आर्थिक सहायता मिलती रही है जो लोग धन देते है, वे वदले मे अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। भूतपूर्व राष्ट्रपति नीलम सजीव रेड्डी ने यह कहा था कि 'एक व्यक्ति चुनाव मे लाखो रुपये खर्च करने के बाद ईमानदार हरगिज नही रह सकता।' यह एक ऐसा कटु सत्य है जो हमारी राजनीतिक व्यवस्था के खोखलेपन को प्रकट करता है।

(6) **जातिवाद और साम्प्रदायिकता**—जातिवाद और साम्प्रदायिकता जैसे जीवन मूल्य हमे विरासत मे मिले हैं, जिनके कारण हर दल को इन तत्त्वो के साथ समझौता करना पडता है। योग्य उम्मीदवारो की वजाय उन्हे ऐसे लोगो को चुनावी टिकट देने पडते हैं जिनकी जाति वालो का उस चुनावो के क्षेत्र मे वाहुल्य हो।

(7) **भारत में 'सह अस्तित्व की संस्कृति' का अभाव है**—विधानमण्डल मे जब दलो की सख्या अधिक हो जाती है तो कभी-कभी मिले-जुले मन्त्रिमण्डल का गठन करना पडता है। मिली-जुली सरकारे तभी ठीक प्रकार चल सकती हैं जबकि विभिन्न घटको के बीच परस्पर विश्वास हो। भारत का यह दुर्भाग्य रहा है कि हमारे नेता नीतियो के कारण नही व्यक्तिगत आधारो पर आपस मे लडते-झगड़ते रहते हैं।

संक्षेप मे, देश को सुस्पष्ट विचारधाराओ पर आधारित दो या तीन अखिल भारतीय दलो की आवश्यकता है।

32

भारत में प्रमुख राष्ट्रीय दलों की विचारधारा व कार्यक्रम

[IDEOLOGY AND PROGRAMME OF THE MAJOR NATIONAL PARTIES IN INDIA]

भारत मे प्रमुख राष्ट्रीय दल है—कांग्रेस (आई), जनता दल, भारतीय जनता पार्टी, साम्यवादी दल व मार्क्सवादी साम्यवादी दल। जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, समाजवादी पार्टी आदि भी एक समय राष्ट्रीय दल माने जाते थे, किन्तु आज उनके स्थान पर नये दलो का निर्माण हुआ है। राष्ट्रीय दल वे है जिनका प्रभाव क्षेत्र एक से अधिक राज्यो मे है तथा जिन्हे चुनावो मे आवश्यक वोट प्राप्त होते हैं। इन दलो को लोकसभा तथा राज्य विधान सभाओ मे भी सीटें प्राप्त हुई हैं।

भारत में राजनीतिक दलों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(HISTORICAL BACKGROUND OF THE POLITICAL PARTIES IN INDIA)

भारत मे राजनीतिक दलो का उद्भव और इतिहास राष्ट्रीय आन्दोलन से जुडा हुआ है। 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म (सन् 1885) 'राष्ट्रीय आन्दोलन' के रूप मे हुआ। **रजनी कोठारी** के अनुसार, "इसका संगठन चुनाव लडने के उद्देश्य से नही, विदेशी शासन के विरोध के लिए किया गया था और इसे जनता मे फैलाने के साथ-साथ विभिन्न विचारधाराओ और हितो को भी इसमे लाने का प्रयत्न किया गया।" उसके बाद मुस्लिम लीग, फारवर्ड ब्लाक, साम्यवादी दल तथा स्वराज्य दल आदि बने। एस. सी. दास ने लिखा है कि स्वराज्य दल, साम्यवादी दल और फारवर्ड ब्लाक तथा ऐसे ही अन्य सगठन कांग्रेस द्वारा समय की चुनौती सहन न कर सकने के ऐतिहासिक परिणाम है। बाद मे हिन्दू महासभा का गठन हुआ और साम्प्रदायिक राजनीति के माहौल मे यह एक राजनीतिक दल मे परिवर्तित हो गयी। प्रारम्भ मे कांग्रेस भी गर्मदल और नरमदल मे विभक्त हो गयी। 1919 तथा 1935 के अधिनियमो के क्रियान्वयन हेतु अनेक प्रान्तीय राजनीतिक दल बने, जैसे मद्रास मे जस्टिस पार्टी, बगाल मे कृषक लोक प्रजा पार्टी, पंजाब मे यूनियनिस्ट पार्टी आदि। किन्तु, ये दल बहुत ही शीघ्र विलुप्त भी हो गये।

भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग, अखिल भारतीय अनुचित जाति सघ, अखिल भारतीय हिन्दू महासभा आदि महत्त्वपूर्ण दल थे। इन दलो का प्रभाव संविधान सभा के निर्माण पर भी था। एक

बात स्पष्ट है कि ये समस्त दल और गुट किसी-न-किसी समय काग्रेस के ही अग थे और काग्रेस के विघटन के परिणामस्वरूप नये दलो का गठन हुआ ।

स्वाधीनता प्राप्ति के तुरन्त बाद गाँधी चाहते थे कि काग्रेस का राजनीतिक रूप समाप्त कर दिया जाये और उसके स्थान पर जनता मे रचनात्मक कार्य करने के लिए लोक सेवक सघ की स्थापना की जाये । उनका कहना था कि जो लोग ससद या सरकारी पदो के इच्छुक है उन्हे काग्रेस छोड देनी चाहिए और अपना अलग राजनैतिक दल बनाना चाहिए । उनके मत मे कांग्रेस एक आन्दोलन था, जिसका ध्येय पूरा हो गया है और सत्ता की राजनीति से इसका कोई सरोकार नही होना चाहिए । काग्रेस के नेताओ ने गाँधीजी के विचार को नितान्त अव्यावहारिक माना, काग्रेस ने आम निर्वाचनों मे भाग लिया और अन्य नये दलो के साथ सत्ता की राजनीति मे उसका स्थान तुलनात्मक दृष्टि से सर्वोच्च हो गया ।

भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण
(CLASSIFICATION OF INDIAN PARTIES)

भारतीय राजनीतिक दलो को चार भागो मे बाँटा जा सकता है · (1) राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल, (2) क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल, (3) स्थानीय किन्तु जातीय साम्प्रदायिक दल और (4) तदर्थ दल ।

(1) **राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल**—राष्ट्रीय अथवा अखिल भारतीय दल वे हैं जिनकी ससद तथा लोकसभा एव राज्यविधानमण्डलो मे पर्याप्त सदस्य संख्या है तथा जिनको पर्याप्त मत प्राप्त हुए है । ऐसे दल दो प्रकार के हैं—बिना विचारधारा के और विचारधारा पर आधारित दल । बिना विचारधारा वाले दलो मे काग्रेस और सगठन काग्रेस को लिया जा सकता है । विचार-धारा से अभिप्राय है, किसी विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक दर्शन मे विश्वास और प्रतिबद्धता व्यक्त करना । दोनो काग्रेस दलो को वैचारिक दृष्टि से तटस्थ दल कहा जा सकता है । काग्रेस एक ऐसा दल है जिसमे अनेक विचारधारा और हितो के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते हैं । इसे दल के बजाय एक सार्वजनिक मंच (प्लेटफार्म) कहा जा सकता है । यही हाल सगठन काग्रेस का है जिसके सारे सैनिक काग्रेस मे मिल गये हैं, केवल उसके सूबेदार ही बाहर घूम रहे हैं । प्रो. जे. डी सेठी ने ठीक ही लिखा है कि सगठन और कार्यक्रम की दृष्टि से सगठन काग्रेस 'सत्ता काग्रेस' से मिलती-जुलती है । दोनो मे केवल यही अन्तर है कि 'सत्ता काग्रेस' सत्ता मे है और 'संगठन काग्रेस' सत्ता से बाहर है ।"[1]

विचारधारा मे विश्वास करने वाले राष्ट्रीय दलो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—दक्षिणपन्थी और वामपन्थी । दक्षिणपन्थी दल जहाँ यथास्थिति को बनाये रखना चाहते हैं वहाँ वामपन्थी दल आर्थिक और सामाजिक ढाँचे मे आमूल चूल परिवर्तन चाहते है । स्वतन्त्र दल, जनसघ और भारतीय लोकदल, भारतीय परिप्रेक्ष्य मे इनके दृष्टिकोण ब्रिटिश अनुदारवादी दल से मिलते-जुलते है । वामपन्थी दल भी दो प्रकार के हैं—उदार और उग्र वामपन्थी दल । उदार दलो मे सभी समाजवादी दलो को लिया जा सकता है तथा उग्र वामपन्थी दलो मे सभी प्रकार के साम्यवादी दलो को स्थान दिया जा सकता है । उदारवादी दल, गाँधीवाद, मार्क्सवाद और फेबियनवादी सिद्धान्तो मे विश्वास करते है जबकि साम्यवादी दल क्रान्तिकारी साधनो मे विश्वास करते है । समस्त प्रकार के अखिल भारतीय दलो का दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष है उनकी सदस्यता सभी धर्मों और जातियो के लिए खुली है ।

---

1 जे डी सेठी . 'दि फ्यूचर ऑफ काग्रेस पार्टी (ओ),' **जर्नल ऑफ कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड पालियामेण्ट्री स्टडीज**, अक 4, पृष्ठ 404 ।

(2) **क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल**—ये वे दल हैं जिनका प्रभाव राज्य की सीमा तक ही है। इनमे तेलगू देशम्, डी. एम. के., अन्ना डी. एम. के., असम गण परिषद, सिक्किम सग्राम परिषद आदि प्रमुख हैं। आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, असम, सिक्किम आदि राज्यों मे ये दल प्रभावशाली हैं।

(3) **स्थानीय किन्तु जातीय साम्प्रदायिक दल**—कतिपय दल विशेष जाति या सम्प्रदाय तक ही सीमित हैं। केरल की मुस्लिम लीग, पजाव का अकाली दल तथा विहार की झारखण्ड पार्टी ऐसे ही दल हैं।

(4) **तदर्थ दल**—भारत मे ऐसे ही दल हैं जो वनते और विगडते रहते है। इन्हे छोटे-छोटे गुट कहा जा सकता है। ऐसे दलो मे केरल काग्रेस, वगला कांग्रेस, हरियाणा काग्रेस, जनता पार्टी, रामराज्य परिषद, लोकतान्त्रिक दल आदि को याद किया जा सकता है। ऐसे दल कव वन जाते और कव अस्त हो जाते है इसका पता लगाना कठिन है। ये विभिन्न दलो से निकले असन्तुष्ट नेताओं द्वारा निर्मित गुट हैं।

अगले पृष्ठ पर दिये गये चार्ट मे भारतीय राजनीतिक दलो का वर्गीकरण स्पष्ट होता है।

एकदल प्रभुत्व तथा स्थायित्व
(ONE PARTY SYSTEM AND POLITICAL STABILITY)

प्रो लॉस्की का मत है कि "ससदीय शासन एक सुनियमित द्विदलीय-पद्धति द्वारा ही सवसे अधिक सफल हो सकता है।" परन्तु **नारमन डी. पामर** का विचार है कि "एक दल प्रभुत्व नवीन विकासोन्मुख लोकतन्त्रात्मक देशो मे स्थायित्व लाता है। पुराने जनतन्त्रों मे यह काम द्वि-दलीय पद्धति द्वारा होता है।" भारतीय राजनीतिक प्रणाली को **प्रो. मेरिस जोन्स** ने "एक दल प्रभुत्व व्यवस्था" (One Dominant Party System) से सम्वोधित किया है।[1] उनके अनुसार भारत मे काग्रेस दल छाया हुआ है तथा इसके कई कारण हैं—**पहला**, काग्रेस ने देश को स्वतन्त्रता दिलाने मे वहुत सहायता की, **दूसरा**, काग्रेस जनता की निगाह मे गाँधी और नेहरू का दल था उसे मत दिया जाना चाहिए। **तीसरा**, स्वाधीनता प्राप्ति के वाद काग्रेस ही देश मे सगठित और प्रतिष्ठित दल था।[2] **चौथा**, काग्रेस विचारधारा की दृष्टि से तटस्थ मच है जिससे वामपन्थी, दक्षिण-पन्थी तथा माध्यम मार्गी इसमे स्थान पा लेते है।[3]

भारतीय राजनीति मे काग्रेस का प्रभुत्व सन् 1971 तथा 1972 के निर्वाचनो के उपरान्त और अधिक प्रचण्ड हो गया। लोकसभा तथा राज्य-विधानमण्डलो मे विपक्षी दलो की स्थिति गौण हो गयी। गैर-काग्रेसवाद के दौर ने (1967 से 1971) विपक्षी दलो को वहुत अधिक वदनाम कर दिया। गैर-काग्रेसवाद का युग अराजकता, अस्थिरता, दल-वदल तथा विवादो का युग था भारतीय राजनीति मे पचम लोकसभा के निर्वाचनो के उपरान्त श्रीमती गाँधी और उनके दल का करिश्माती नेतृत्व उभरा और देश मे अस्थिरता का वातावरण समाप्त हो गया। **मोरिस जोन्स** ने लिखा है कि "एक दल का अस्तित्व और शासन मे सर्वोपरिता राजनीति शैली के एकीकरण मे

[1] "It is not difficult to characterise India's political system as belonging to the type of the one dominant-party" —Morris Jones *Indian Government and Politics*, p. 148.

[2] "Congress thus acquires a constitution of its domination because it operates in a political society in which nothing can succeed like succees" —*Ibid*, p. 152.

[3] "काग्रेस विचारधारा के मामले मे इतनी अपार थी कि सभी राजनीतिक रुझानो का निर्वाह उसमे हो जाता था। वह एक दल मे सव दल थी। इस समन्वय का उसकी लोकप्रियता मे काफी हाथ था।"—पुष्पेश पन्त : 'राजनीतिक दल और दलगत राजनीति' साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 19 नवम्वर 1972।

भारतीय दल व्यवस्था
(Indian Party System)
राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल
क्षेत्रीय और राज्यस्तरीय दल
1. उत्कल काग्रेस
2. द्रविड मुन्नेत्र कडगम
3 नागालैंड यूनाइटेड फ्रण्ट
4 नेशनल काफ्रेन्स
5 तेलगू देशम
स्थानीय और साम्प्रदायिक दल
1. मुस्लिम लीग
2 अकाली दल
3. झारखण्ड पार्टी
तदर्थ दल
1. केरल काग्रेस
2. बगला काग्रेस
3 जनता पार्टी
4. प्रगति पार्टी
5. विशाल हरियाणा
6 लोकतान्त्रिक दल
अवैचारिक दल
1. काग्रेस
2. सगठन काग्रेस
3. जनता दल
वैचारिक दल
दक्षिणपन्थी दल
1. स्वतन्त्र
2 जनसंघ
3 भारतीय लोकदल
4 भारतीय जनता पार्टी
5. लोकदल
वामपन्थी दल
उदार समाजवादी दल
उग्र साम्यवादी दल
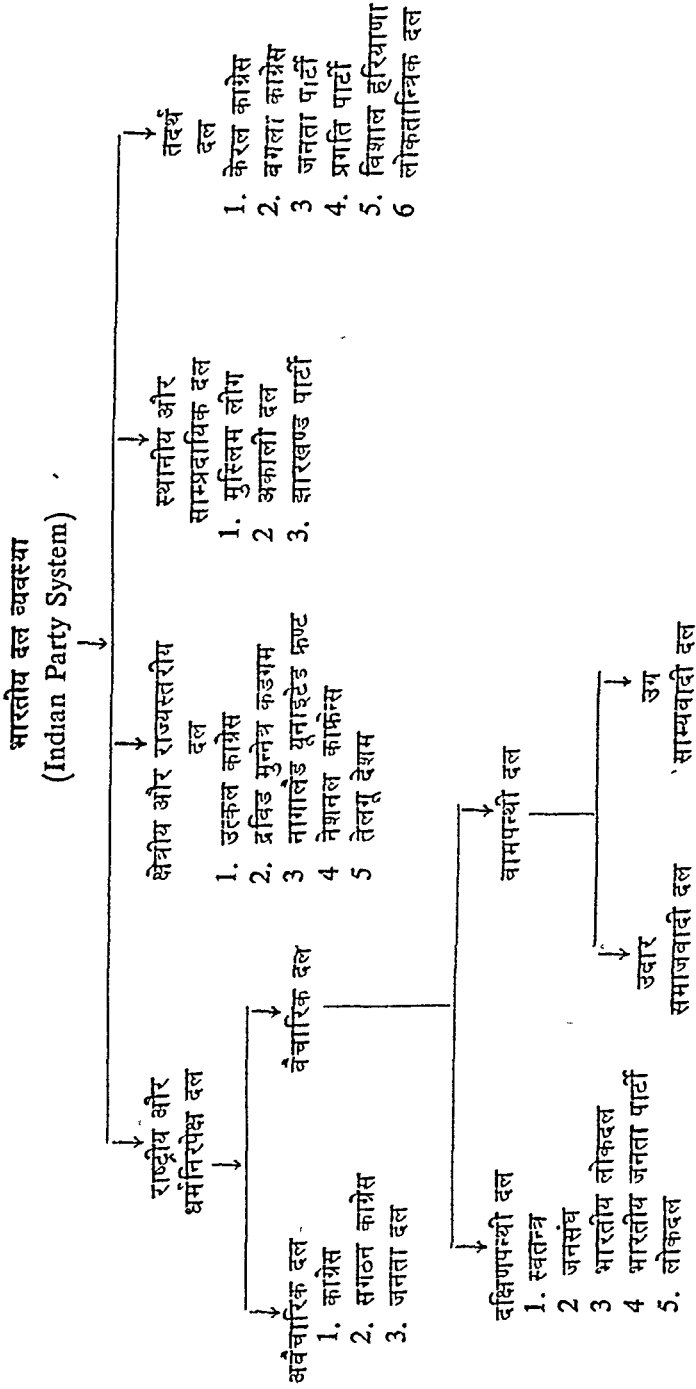
सहायक तत्त्व है।" हमारे देश में बहुदलीय-प्रणाली है और सकैण्डेवियन देशों की भाँति ध्रुवीकरण नहीं हो पा रहा है भारतीय दलो की नीतियों मे आकाश-पाताल का अन्तर है, फलतः साझा सरकारें चल नही सकती। जैसा कि **प्रो. पन्त** ने लिखा है, "फिर कांग्रेस-विरोधी खेमे का ढग काग्रेस से कम सतरंगा नही रह गया था। प्रतिपक्षधर 'सहयोगियो' मे जनसंघी भी थे संसोपाई भी, स्वतन्त्र दल वाले भी थे और पुराने काग्रेसी भी। इन विभिन्न तत्त्वो के वीच चुनाव-समझौते हो सकते थे, पर अन्तःक्रिया के वाद राजनीतिक दलो की कोई नयी, ज्यादा सार्थक भूमिका तय नही हो सकती थी।" भारत मे लम्वे समय तक गैर-काग्रेसी दल सरकार वनाने की स्थिति मे नही थे। भारत के नवजात लोकतन्त्र की प्रथम अपरिहार्य आवश्यकता राजनीतिक स्थायित्व है। जहाँ परिपक्व तथा पुराने जनतन्त्रों मे द्विदलीय-प्रणाली द्वारा स्थायित्व प्रदान किया जाता है, वहाँ भारत जैसे नवजात लोकतन्त्र मे राजनीतिक स्थायित्व एक दल द्वारा स्थापित किया जाता रहा है। इसके परिणामस्वरूप स्थायी नीतियाँ अपनायी गयी और आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं का हल ढूंढ़ा गया। शासन का स्थायित्व एकदल-प्रणाली का ऐसा गुण है कि उसके आगे उसके दोष गौण हो जाते है। अस्थायित्व लोकतन्त्र के अस्तित्व को खतरे मे डाल देता है। **प्रो. पार्क** के मतानुसार, "भारतीय लोकतन्त्र को आवश्यक स्थायित्व काग्रेस की समूचे देश मे व्याप्त शक्ति द्वारा ही प्रदान किया गया है, जो नवजात लोकतन्त्र की स्वाधीनता के वाद महती जरूरत थी।"[1]

प्रमुख अखिल भारतीय राजनीतिक दल और उनके कार्यक्रम
(MAJOR ALL INDIA PARTIES AND THEIR PROGRAMME)

1. कांग्रेस पार्टी : कांग्रेस (इ) [Congress Party . Congress (I)]

काग्रेस की स्थापना सन् 1885 मे हुई। 1907 तक काग्रेस का लक्ष्य विदेशी शासन पर दवाव डालना मात्र था। सन् 1907 से 1919 तक काग्रेस उदारवादियों और उग्रवादियो में विभक्त रही। सन् 1920 से 1947 तक काग्रेस का नेतृत्व महात्मा गाँधी ने किया और देश को स्वाधीनता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त काग्रेस एक राजनीतिक दल मे परिवर्तित हो गयी तथा केन्द्र और राज्यो के निर्वाचनो मे प्रचण्ड वहुमत प्राप्त कर सत्ता का उपयोग करने लगी। सन् 1967 के आम चुनाव मे काग्रेस की स्थिति दुर्वल हुई। सन् 1969 मे कांग्रेस दो भागों मे विभक्त हो गयी तथा 1971 एव 1972 के निर्वाचनो मे काग्रेस को पुनः प्रचण्ड विजय प्राप्त हुई। **श्री हर्षदेव मालवीय** ने लिखा है, "काग्रेस की भव्य विरासत ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध शानदार संघर्ष और स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद समाजवादी भारत तथा जनता के लिए वेहतर जीवन के प्रयास की दिशा मे प्राप्त सफलताओ से भरपूर है।[2]

काग्रेस किसका प्रतिनिधित्व करती है? इस प्रश्न का जवाव 15 सितम्वर, 1931 मे ही **महात्मा गांधी** ने लन्दन मे 'फेडरल स्ट्रक्चर कमेटी' मे भापण के दौरान दिया था, "काग्रेस मूलत. भारत मे 7 लाख गाँवो मे वसे मूक, अधभूखे करोडो लोगो का प्रतिनिधित्व करती है—चाहे वे तथाकथित ब्रिटिश भारत या भारतीय भारत के हो। काग्रेस यह मानती है कि उन्ही हितो की सुरक्षा की जानी चाहिए जो इन करोड़ो मूक लोगो के हितो का साधन करते हैं," उन ऐतिहासिक दिनो से लेकर आज तक काग्रेस निरन्तर मूक करोडो इन्सानो का प्रतिनिधित्व करती रही है। जव भी एक तरफ करोड़ों मूक लोगो तथा राष्ट्रीय हितो और दूसरी ओर कुछ वर्गीय हितो मे संघर्ष छिड़ा, काग्रेस अपनी अधिकाश जनता के हितो के साथ दृढ़ प्रतिज्ञ रही।"[3]

---

[1] "The lopsided dominance of the Congress Party may have provided the kind of political stability which India needed in the early years of independence." —*Prof. Park*.

[2] हर्षदेव मालवीय : भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास : कुछ झलकियाँ।

[3] वही।

संगठन—कांग्रेस की सदस्यता दो प्रकार की है—प्रारम्भिक और सक्रिय। कोई भी ऐसा व्यक्ति जिसकी आयु 18 वर्ष अथवा अधिक हो, कांग्रेस का सदस्य बन सकता है। सदस्य बनने के लिए दल के उद्देश्यो मे लिखित विश्वास प्रकट करना पडता है। प्रारम्भिक और सक्रिय सदस्यो के चन्दे तथा अधिकारो मे अन्तर है। सगठन की दृष्टि से ग्राम या मोहल्ला कांग्रेस समिति सगठन की आधारभूत इकाई है। ग्राम और मोहल्ला कांग्रेस समितियो के ऊपर तहसील समितियाँ होती हैं। इसके ऊपर जिला समितियाँ और प्रान्तीय समितियाँ होती है। संगठन की दृष्टि से सम्पूर्ण देश पच्चीस प्रदेशो मे विभक्त है। प्रान्तीय कांग्रेस समितियो के ऊपर कांग्रेस का राष्ट्रीय या अखिल भारतीय संगठन होता है जो एक अध्यक्ष, एक कार्यकारिणी समिति, एक अखिल भारतीय कांग्रेस समिति और कांग्रेस के खुले वार्षिक अधिवेशन से मिलकर बनता है। कांग्रेस ने विधान के एक नये संशोधन द्वारा अध्यक्ष की अवधि तीन वर्ष कर दी है। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति मे अध्यक्ष के अतिरिक्त बीस अन्य सदस्य होते है। कार्यकारिणी समिति के सदस्यो की नियुक्ति कांग्रेसाध्यक्ष, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सदस्यो मे से करता है। कार्यकारिणी समिति मे ही कांग्रेस की सर्वोच्च शक्ति निहित है। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति मे तीन प्रकार के सदस्य होते हैं—निर्वाचित, पदेन और सम्बद्ध सस्थाओ के प्रतिनिधि। कांग्रेस के ससदीय कार्यों के नियन्त्रण और समन्वय के लिए कांग्रेस कार्यकारिणी समिति एक समदीय बोर्ड की स्थापना करती है जिसमे कांग्रेसाध्यक्ष और पाँच अन्य सदस्य होते हैं।

कांग्रेस संगठन के परिप्रेक्ष्य मे 'हाईकमान' शब्द अत्यधिक प्रचलित हो गया है। यह हाईकमान क्या है? यथार्थ मे 'हाईकमान' शब्द का प्रयोग कांग्रेस दल की सर्वोच्च निर्णय और आदेश देने वाली एक लघु संस्था या गुट के सम्बन्ध में किया जाता है। इसमे वे ही व्यक्ति सम्मिलित रहते है जो दल मे सर्वोच्च स्थान रखते है। राजनीतिक सत्ता संरचना मे हाईकमान एक अदृश्य सत्ता और भावात्मक कल्पना ही है। उसकी विशाल शक्तियो का प्रयोग कभी कांग्रेस कार्यसमिति करती है तो कभी कांग्रेस का संसदीय बोर्ड। स्वाधीनता प्राप्ति मे पूर्व महात्मा गाँधी के ही हाथो मे यह सत्ता केन्द्रित हो गयी। सन् 1939 मे जब गाँधी जी की इच्छा के विरुद्ध कांग्रेस महासमिति मे सुभाष बाबू को कांग्रेस का अध्यक्ष चुना, तब गाँधी जी से प्रभावित कांग्रेस हाईकमान ने सुभाष से सहयोग नही किया और उन्हे त्यागपत्र देना पडा। गाँधी जी के बाद नेहरू और पटेल ने सामूहिक रूप से हाईकमान की सत्ता का क्रियान्वयन किया। पटेल की मृत्यु के पश्चात् नेहरू जी भारत के एकमात्र हाईकमान थे। उनका विरोध करने पर आचार्य कृपलानी और पुरुषोत्तम दास टण्डन जैसे दलीय अध्यक्षो को भी त्यागपत्र देना पडा। पण्डित जी के महाप्रयाण के पश्चात हाईकमान की इच्छा की अभिव्यक्ति सामूहिक नेतृत्व मे हुई। सिण्डीकेट ने निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित किया। कांग्रेस विभाजन के बाद प्रधानमन्त्री हाईकमान की शक्तियो का प्रतीक और प्रयोगकर्ता बन गयी। कांग्रेस के विभाजन का मूल कारण यही था कि क्या प्रधानमन्त्री सर्वोपरि है या कांग्रेस ससदीय बोर्ड? हाईकमान की सत्ता वैयक्तिक है या सामूहिक? कांग्रेस के विद्यमान ढाँचे मे न केवल कांग्रेस अध्यक्ष रस्मी प्रधान मात्र है बल्कि ससदीय बोर्ड और कार्यसमिति भी रबर की मोहर बन गयी तथा सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्रीयकरण हाईकमान में हो गया। एक समय श्रीमती इन्दिरा गाँधी और आजकल राजीव गाँधी न केवल कांग्रेस (इ) के अध्यक्ष ही हैं अपितु 'हाईकमान' भी है।

सिद्धान्त और कार्यक्रम

कांग्रेस का उद्देश्य उसके सविधान की प्रथम धारा मे स्पष्ट किया गया है—"भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्देश्य भारत के लोगो की भलाई और उन्नति है तथा शान्तिमय और सवैधानिक उपायो से भारत मे समाजवादी राज्य कायम करना है जो कि ससदीय जनतन्त्र पर आधा-

रित हो, जिसमें अवसर और राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अधिकारो की समानता हो तथा जिसका लक्ष्य विश्वशान्ति और विश्व बन्धुत्व हो।" कांग्रेस के सिद्धान्त और कार्यक्रम का सार इस प्रकार है :

सम्पत्ति का अधिकार—कांग्रेस का उद्देश्य अधिकतम लोगों को सम्पत्ति का वास्तविक स्वामी बनाना है। कांग्रेस उचित सीमा से अधिक निजी सम्पत्ति और आर्थिक शक्ति व धन सम्पदा का केन्द्रीयकरण न होने देने के लिए कृतसकल्प है। उसका इरादा सम्पत्ति को समाप्त करने का नही है अपितु वह सम्पत्ति के प्रश्न पर आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में नियन्त्रण चाहती है।

कृषि—भूमिहीन और छोटे किसानो को ऋण सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। बटाई पर खेती की व्यवस्था समाप्त की जानी चाहिए। कृषि क्षेत्र मे सुधार के लिए नयी तकनीक लाने पर जोर दिया जाना चाहिए। छोटी सिंचाई योजनाओ का तेजी से विकास किया जाना चाहिए। कांग्रेस छोटे किसानो, निजी धन्धा करने वालो तथा समाज के उपेक्षित वर्ग और क्षेत्रो को ऋण-सुविधा उपलब्ध कराना चाहती है।

उद्योग—कांग्रेस चाहती है कि औद्योगिक विकास मे सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग की प्रमुख भूमिका होनी चाहिए। सार्वजनिक उद्योग की स्वामी आम जनता है। अतएव उसका संगठन और संचालन इस ढंग से होना चाहिए कि उसके लिए अधिक पूँजी लगाने के साधन मिलें। कांग्रेस निजी क्षेत्र को भी अर्थव्यवस्था का प्रमुख अंग मानती है लेकिन उसकी कार्यप्रणाली ऐसी होनी चाहिए जो हमारे समाजवाद के लक्ष्य के अनुकूल हो। निजी उद्योगो का आधिपत्य और आर्थिक शक्ति चन्द हाथो मे ही न सिमट जाय, इस बात को ध्यान में रखकर निजी उद्योग को यथोचित प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

शहरी सम्पत्ति की सीमा—कांग्रेस शहरी सम्पत्ति की सीमा बाँधना चाहती है। शहरी सम्पत्ति की खरीद व बिक्री मे समाज-विरोधी तत्त्वों की धाँधली पर अकुश लगाना चाहती है।

रोजगार—बेरोजगारो को होने वाली परेशानी के विषय मे कांग्रेस को गम्भीर चिन्ता है। प्रभावी रोजगार कार्य के लिए न्यूनतम आर्थिक आधार को कांग्रेस ने प्राथमिकता दी है।

अच्छी खाद्य स्थिति—कांग्रेस खाद्य के बारे मे सगठित राष्ट्रीय कार्यक्रम प्रारम्भ करने पर जोर देती है। यह कार्य ऐसा होना चाहिए जिनमें भौतिक समृद्धि पैदा हो और हमारी आर्थिक प्रगति को बढ़ाने का आन्तरिक ढाँचा तैयार हो सके।

ग्रामों में सार्वजनिक निर्माण—कांग्रेस गाँवो मे सिंचाई की नहरों, नालो तथा कुओ के निर्माण पर जोर देती है। गाँवो से देहाती बाजारो तक पहुँचने के लिए अधिक तथा अच्छी सड़कों की आवश्यकता पर जोर देती है। गाँवो मे अनाज गोदाम, हाट सुविधाओं, विद्यालयो तथा स्वास्थ्य व परिवार नियोजन सुविधाएँ भी आवश्यक मानती है।

शिक्षा और बाल-कल्याण—कांग्रेस ने भावी पीढी के गुणो मे सुधार को महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय कार्य मानकर शिशुओ के समुचित पोषण की व्यवस्था को स्वीकार किया है। कांग्रेस का विश्वास है कि किसी भी शिक्षा-प्रणाली का मूल्य लक्ष्य आत्मनिर्भर और सुगठित व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए। रहन-सहन के स्तर मे सम्भव सुधार कर सकने वाली आर्थिक प्रगति के लिए हमारी शिक्षा-प्रणाली का पुनर्गठन आवश्यक है। शैक्षणिक सुविधाओं को रोजगार के अवसरों के साथ सम्बन्धित किया जाना चाहिए।

विज्ञान और टेक्नॉलाजी—कांग्रेस एक ऐसी व [illegible] की योजना चाहती है [illegible] हमारी आर्थिक योजना के साथ सगठित किया जा स[illegible] आत्मनिर्भर कार्यक्र[illegible]

न्वित करना चाहती है। देश के वैज्ञानिकों को न केवल सम्मान और दायित्वपूर्ण स्थिति प्रदान करना चाहती है, वरन् उन्हे सरकारी निर्णय लेने और उन पर अमल करने की प्रक्रिया मे भी निकट का सहयोगी वनाना चाहती है।

अल्पसंख्यक सम्प्रदाय—काग्रेस सभी अल्पसंख्यको के अधिकारो और हितो की सुरक्षा करने को कटिबद्ध है। काग्रेस चाहती है कि भाषायी अल्पसंख्यको के वच्चो को प्राथमिक स्तर पर उनकी मातृभाषा मे ही शिक्षा देने की समुचित सुविधाएँ प्रदान की जाये। संविधान मे उल्लिखित धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त के अनुरूप काग्रेस सभी अल्पसख्यको को शैक्षणिक तथा अन्य सस्थाएँ स्थापित करने तथा प्रवन्ध चलाने को पूर्ण स्वतन्त्रता दिलाने के लिए प्रयास करेगी।

वैदेशिक नीति—काग्रेस गुट-निरपेक्षता तथा फौजी गुट से दूर रहने की नीति का अनुसरण करती है। चीन से सामान्य सम्वन्ध चाहती तथा पाकिस्तान के साथ मैत्रीपूर्ण पडौसी के रूप में रहने की इच्छुक है।

कांग्रेस कार्यक्रम—कुछ झलकियाँ

नेहरू समिति प्रतिवेदन—स्वाधीनता के वाद नवम्वर 1947 मे नयी दिल्ली मे अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी की पहली वैठक हुई। इसमे निश्चय किया गया कि आर्थिक कार्यक्रम की ओर सवसे पहले ध्यान दिया जायेगा। वैठक मे एक प्रस्ताव पारित किया गया कि जिसमे कहा गया, "हमारा लक्ष्य ऐसी राजनीतिक व्यवस्था होनी चाहिए जिसमे प्रशासनिक कुशलता के साथ-साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी हो, एक ऐसा आर्थिक ढाँचा होना चाहिए जिसमे निजी इजारेदारी और सम्पत्ति के कुछ लोगो के पास इकट्ठी हुए विना उत्पादन अधिक-से-अधिक हो और जिससे शहरी और ग्रामीण अर्थव्यवस्था मे सन्तुलन रखा जा सके।" इस प्रस्ताव के आधार पर जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे एक उच्चस्तरीय समिति वनायी गयी जिसने एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। यह प्रतिवेदन एक मूल्यवान दस्तावेज है। इसमे कहा गया है कि काग्रेस का उद्देश्य व्यय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना है जिसके लिए जरूरी है कि वर्तमान आय और सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वँटवारा किया जाये और विषमताएँ न पैदा होने दी जायें। कृषि के वारे मे कहा गया है कि भूमि का उपयोग रोजगार के लिए होना चाहिए और यह नही होना चाहिए कि अपने हाथ से खेत न करने वाले जमीदार इसके द्वारा दूसरो का शोषण करे। इसमे यह भी कहा गया कि जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी जाये। निजी उद्योगो के नियमन पर भी जोर दिया गया।

भूमि सुधार समिति की रिपोर्ट—प्रसिद्ध गाँधीवादी अर्थशास्त्री जे सी. कुमारप्पा की अध्यक्षता मे एक समिति ने भूमि सुधार हेतु कुछ सुझाव दिये। समिति ने कहा कि जमीदारो का शोषण समाप्त किया जाये और हाथ से हल चलाने वालो को अधिकार दिया जाये।

ऐतिहासिक आवड़ी अधिवेशन—काग्रेस की नीति का मुख्य उद्देश्य समाजवादी लक्ष्यो को प्राप्त करने की दिशा मे 'आवडी अधिवेशन' एक महत्त्वपूर्ण कदम है। **'आवड़ी अधिवेशन'** मे कहा गया कि 'योजना इस तरह वनायी जाये जिससे समाजवादी ढग के समाज की रचना हो सके जिसमे उत्पादन के मुख्य साधनो पर समाज का स्वामित्व या नियन्त्रण हो, उत्पादन तेजी से वढाया जाय और राष्ट्रीय सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वँटवारा हो।'

नागपुर अधिवेशन—सन् 1959 मे 'नागपुर अधिवेशन' मे काग्रेस ने ऐतिहासिक प्रस्ताव पारित किया। इसमे आयोजन पर जो व्यापक प्रस्ताव पारित किया गया उसे शान्तिपूर्ण तरीको से लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज की स्थापना के लिए समाजवादी ढग की योजना तैयार करने के मार्ग मे आने वाली समस्याओ पर एक निवन्ध कहा जा सकता है। इस प्रस्ताव मे सहकारी सयुक्त

खेती अपनाये जाने पर वल दिया। नागपुर प्रस्ताव मे अनाज के राज्य व्यापार की वात भी कही गयी है।

भावनगर प्रस्ताव—काग्रेस के **भावनगर प्रस्ताव** मे कहा गया था कि, "समाजवादी समाज के विकास के लिए जरूरी है कि लोगों का रहन-सहन का तरीका वरावर बदलता जाये। इसके लिए यह जरूरी है कि सारे देश मे कृषि, व्यापार और उद्योगो मे सहकारिता का विकास हो।"

भुवनेश्वर प्रस्ताव—जनवरी 1964 मे काग्रेस के 'भुवनेश्वर अधिवेशन' मे यह वात बिल्कुल स्पष्ट हो गयी कि कांग्रेस देश के लिए किस प्रकार का समाजवाद चाहती है। लोकतन्त्र और समाजवाद पर भुवनेश्वर मे जो प्रस्ताव पास किया गया उसमे यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया गया कि योजना इस ढंग से तैयार की जानी चाहिए कि देश मे समाजवाद की स्थापना हो सके। इसमे कहा गया कि देश मे विशेषाधिकारो, विपमताओ और शोषण का अन्त हो। यह चेतावनी दी गयी कि आर्थिक विकास इस तरीके से नही होना चाहिए कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधन कुछ थोडे से हाथो में ही केन्द्रित हो जायें।

10-सूत्री कार्यक्रम—जुलाई 1969 मे काग्रेस महासमिति का 'बैंगलौर अधिवेशन' हुआ। प्रधानमन्त्री ने देश की आर्थिक नीति के सम्वन्ध मे अपने स्फुट विचारो को एक नोट का रूप दिया। इस नोट मे देश की आर्थिक स्थिति को दृढ करने के लिए कार्यसमिति से निवेदन किया गया कि वह 10-सूत्री कार्यक्रम स्वीकार करे जिसमें वडे वैंकों का राष्ट्रीयकरण हो, आम वीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण हो, आयात और निर्यात व्यापार मे सरकार का हिस्सा वढाया जाये, अनाज की बिक्री की सरकार की ओर से व्यवस्था हो, एकाधिकार और आर्थिक शक्ति के कुछ लोगों के हाथो मे केन्द्रित होने की रोकथाम की जाये, शहरी आय और सम्पत्ति की सीमा निर्धारित हो, भूमि सुधार कार्यक्रमो को तेजी से लागू किया जाये, खेतिहर मजदूरों को गुजारे लायक मजदूरी मिले और उनकी अपनी अमानत पर ऋण मिले, ग्रामीण क्षेत्रो मे पीने के पानी का प्रवन्ध किया जाय, बच्चो के लिए समाजवादी चार्टर तैयार किया जाये, भूतपूर्व नरेशो के विशेषाधिकारो और प्रिवीपर्सों को समाप्त किया जाये; 1975 तक इस वात की व्यवस्था की जाये कि समाज के सभी लोगो की बुनियादी जरूरतें पूरी हो। कार्य समिति और अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी ने इसे मजूर कर लिया।

नरौरा का 13-सूत्री कार्यक्रम—श्री देवकान्त वरुआ की अध्यक्षता मे उत्तर प्रदेश मे नरौरा मे काग्रेस नेताओ का एक सम्मेलन हुआ, जिसमे 13-सूत्री कार्यक्रम स्वीकार किया गया और काग्रेस पार्टी व सरकार से कहा गया कि इसे तीन महीने के अन्दर पूरा किया जाय। इस कार्यक्रम मे निम्न वातो पर जोर दिया गया—(1) काग्रेस शिविर आयोजित किये जाये, (2) किसान सम्मेलन आयोजित किये जायें, (3) गाँवो में हरिजनो और भूमिहीन श्रमिको को मकान वनाने के लिए ऐसे प्लाट देने का वृहत् कार्यक्रम शुरू किया जाये जो दूसरो के नाम न किये जा सकें, (4) अनुसूचित और आदिम जातियों और गाँवो के अन्य गरीव लोगो को ऋण देने के लिए अलग-अलग व्यवस्था की जाये, (5) निर्धन छात्रो की छात्रवृत्तियो मे परिवर्तन किया जाये; (6) जमाखोरी और काला-वाजारी के खिलाफ आन्दोलन शुरू किये जाये आदि-आदि।

20-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम—1 जुलाई, 1975 को प्रधानमन्त्री ने 20-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम की घोषणा की, जिसे काग्रेस दल ने स्वीकार कर लिया। नया आर्थिक कार्यक्रम हमारे समाज को न्याय पर आधारित और गतिशील बनाने की दिशा मे एक और वडा कदम था। इस कार्यक्रम के प्रमुख सूत्र है : (1) आवश्यक ... तुओ के दामो मे गिरावट के रुझान का वनाये रखना; (2) भूमि को तेजी से ... वाँटना; (3) समाज के कमजोर वर्गों लिए आवास-भूमि के आवटन को ते ... (4) मजदूरो से जवरन काम

गैर-कानूनी घोषित करना; (5) ग्रामीणों के कर्ज माफ करना; (6) खेतिहर मजदूरों के न्यूनतम मजदूरी सम्बन्धी कानूनो मे सशोधन करना; (7) शहरी भूमि व शहर बसाने योग्य भूमि समाजीकरण करना, (8) तस्करो की सम्पत्ति जब्त करना; (9) पूंजीनिवेश प्रक्रिया को ७ बनाना आदि-आदि।

इस प्रकार काग्रेस के सिद्धान्त एवं कार्यक्रम हैं—धर्म निरपेक्षता, समाजवाद तथा लोकतन्त्र काग्रेस का ध्येय समाजवादी लोकतन्त्र की स्थापना करना है। कांग्रेस चाहती है कि सम.ाव . समाज की रचना हो, जिसमे उत्पादन के साधनो पर समाज का स्वामित्व हो और राष्ट्रीय सम्पा. का विभाजन समानता के आधार पर हो। बैंको के राष्ट्रीयकरण, राजाओ के प्रिवीपर्स की समाप्ति शहरी सम्पत्ति का समीकरण, सीलिंग, सम्पत्ति के सवैधानिक अधिकार मे संशोधन काग्रेस की समाजवादी उपलब्धियाँ है। काग्रेस ने भूमि सुधार, पंचायती राज तथा सहकारिता को समाजवादी सहकारी कॉमनवेल्थ' की स्थापना के साधन माने है। काग्रेस राष्ट्रीयकरण पर अधिक बल दे रही है। काग्रेस सविधान मे आवश्यक सशोधन करना चाहती है ताकि उसे सामाजिक और आर्थिक न्याय का घोषणा-पत्र बनाया जा सके। उसके **चुनाव घोषणा-पत्र** मे कहा गया है, 'प्रतिक्रियावादी शक्तियो के एकीकरण से हमे इतिहास के सबसे नाजुक स्वातन्त्र्योत्तर सघर्ष का सामना करना पड़ रहा है, मगर हम सामाजिक परिवर्तन के अपने कार्यक्रम पर जिसे विध्वंसकारी और पुरातनपन्थी तत्वों द्वारा चुनौती दी जा रही है, अमल करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं।"[1]

कांग्रेस का विभाजन—जुलाई 1969 मे 'बगलौर कांग्रेस अधिवेशन' मे प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी और काग्रेस अध्यक्ष निजलिंगप्पा तथा सगठन के मुखियो मे खुली टक्कर हुई। इस संघर्ष मे व्यक्तिगत, क्षेत्रीय और कार्यक्रमगत स्पष्ट मतभेद उभरा। मुख्य समस्या यह थी कि काग्रेस की वास्तविक नेतृत्व-शक्ति किसके हाथ मे हो—संसदीय गुट के हाथ मे जिसका नेता प्रधानमन्त्री होता है अथवा सगठन गुट के हाथ मे जिसका अध्यक्ष काग्रेस-अध्यक्ष होता है। दोनो प्रतिद्वन्द्वी गुटो ने बाहर से शक्ति संचय का प्रयत्न किया। ससदीय गुट ने वामपन्थी, द्रमुक और अन्य क्षेत्रीय दलो का समर्थन लिया तो संगठन गुट ने स्वतन्त्र और जनसघ का। उत्तर भारत, पश्चिमी बंगाल, केरल और तमिलनाडु ससदीय गुट के साथ रहा तो पश्चिमी भारत और कर्नाटक संगठन नेताओ के साथ।

राष्ट्रपति पद हेतु प्रत्याशी चयन के प्रश्न पर काग्रेस की अन्दरूनी खीचातानी अपनी सीमा पार कर गयी। संगठन के नेताओ ने राष्ट्रपति-पद के लिए कांग्रेस उम्मीदवार के रूप मे नीलम संजीव रेड्डी के नाम की घोषणा की। श्रीमती गाँधी ने संसदीय बोर्ड की बैठक मे वी. वी. गिरि का नाम प्रस्तावित किया। जब ससदीय बोर्ड श्री गिरि के नाम पर सहमत नही हुआ तब प्रधानमन्त्री ने श्री जगजीवनराम का नाम प्रस्तुत किया। सिण्डीकेट ने दो के मुकाबले चार मत से संजीव रेड्डी को काग्रेस का अधिकृत उम्मीदवार चुना। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने समझा कि यह उन्हे प्रधानमन्त्री-पद से हटाने की चाल है। इसके बाद उन्होने मोरारजी से वित्त विभाग छीन लिया। बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया और आर्थिक नीति को वामपन्थी तथा क्रान्तिकारी रुख दिया। फिर उन्होने राष्ट्रपति के चुनाव मे काग्रेस सदस्यो को अपने अन्त करण के अनुसार वोट देने की आजादी की माँग की। काग्रेस अध्यक्ष ने इसका विरोध किया। चुनाव मे काग्रेस के अधिकृत प्रत्याशी रेड्डी की हार हुई। सगठन और प्रधानमन्त्री गुटो की टक्कर मे प्रधानमन्त्री की विजय हुई। सगठन के सिण्डीकेट नेताओ ने प्रधानमन्त्री को कांग्रेस से निष्कासित कर दिया। कार्य समिति ने ससदीय काग्रेस दल को आदेश दिया कि वह नेता को चुनने

[1] धर्मयुग, 28 फरवरी, 1971, पृ. 8।

के लिए तत्काल आवश्यक कदम उठाये। किन्तु संसदीय दल ने श्रीमती गाँधी के नेतृत्व मे पूर्ण विश्वास प्रकट किया। सिण्डीकेट कांग्रेस ने डॉ. रामसुभगसिंह को लोकसभा में और श्यामनन्दन मिश्र को राज्यसभा मे अपना नया नेता चुन लिया। काग्रेस दो भागो मे विभाजित हो गयी—एक को 'नयी काग्रेस' कहा जाने लगा और दूसरी को 'संगठन काग्रेस' के नाम से पुकारा जाने लगा। संगठन काग्रेस का 1969 में अहमदावाद मे अधिवेशन हुआ और नयी कांग्रेस का वम्बई मे अधिवेशन हुआ। यथार्थ में कांग्रेस के दोनो गुटो की लडाई नेतागिरी और सत्ता की थी, आदर्श और सिद्धान्तो की नही।

सत्ता कांग्रेस या इन्दिरा कांग्रेस (Ruling Congress or Indira Congress)

कांग्रेस के विघटन के वाद दिसम्वर 1969 के अन्त मे सत्ता काग्रेस का प्रथम अधिवेशन वम्वई मे जगजीवनराम के सभापतित्व मे हुआ। सत्ता काग्रेस के द्वारा सदस्यता और सगठन के सम्वन्ध में 1968 तक काग्रेस में जो स्थिति थी, उसे वनाये रखा गया। सम्मेलन मे पारित प्रस्तावो मे सत्ता काग्रेस का 1968 तक की राष्ट्रीय काग्रेस और अपने ही साथ उदय हुई सगठन कांग्रेस की तुलना मे अधिक समाजवादी रुझान स्पष्ट हुआ। यही प्रवृत्ति 24 जनवरी, 1971 को जारी किये गये चुनाव घोपणा पत्र मे देखी गयी, जिसकी कुछ प्रमुख वाते इस प्रकार थी :

(i) काग्रेस का विचार निजी सम्पत्ति को समाप्त करना नही, वरन् उसको मर्यादित करना और सम्पत्ति के स्वामित्व को विकेन्द्रित करना है।

(ii) भारत की अधिकाश गरीवी भूमिहीन और छोटे किसानो की है। अत: देश की आर्थिक स्थिति मे सुधार के लिए कार्यक्रम गाँवो से प्रारम्भ होगा। कृषि के विकास हेतु आधुनिक वैज्ञानिक तरीको का प्रयोग और प्रचलन किया जायगा तथा यह चेष्टा होगी की इसका लाभ छोटे तथा मध्यम किसानो और भूमिहीन कृषकों को प्राप्त हो सके।

(iii) औद्योगिक विकास मे सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो की प्रमुख भूमिका होगी। इस सम्वन्ध मे कांग्रेस ने आम वीमे के राष्ट्रीयकरण, आयात-निर्यात व्यापार मे सरकार के अधिकाधिक भाग लेने, खाद्य-निगम की कार्यवाहियों के विस्तार और ऐसे उद्योगो मे जहाँ जनता का धन लगा है, सरकार की वढती हुई भूमिका का प्रस्ताव किया है। निजी क्षेत्र की कार्यप्रणाली ऐसी होनी चाहिए, जो देश को समाजवाद की ओर ले जाने मे सहायक हो सके। घोपणा-पत्र मे रोजगार कार्यक्रमो को प्रभावी ढंग से चलाने पर भी वल दिया गया।

(iv) आय नीति के साथ वास्तविक वेतन और मूल्य नीति का अभिन्न सम्वन्ध है। सत्ता कांग्रेस इसके लिए सुसगठित नीति वनायेगी और कार्यान्वित करेगी।

(v) घोपणा-पत्र मे शिक्षा और वाल कल्याण (विशेपतया पिछड़े वर्गो) को भी मान्यता प्रदान की गयी।

(vi) घोषणा-पत्र मे धर्मनिरपेक्षता और अल्पसंख्यकों के अधिकारों एवं हितो (विशेषतया शैक्षणिक और भाषायी) की रक्षा पर वल दिया गया और उर्दू को भी उसका उपयुक्त स्थान दिलाने की वात कही गयी। सेवाओं की भर्ती मे अल्पसंख्यको के साथ कोई भेदभाव नही किया जायेगा।

(vii) विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र मे एक राष्ट्रीय वैज्ञानिक और तकनीकी योजना तैयार की जायेगी और उसे आर्थिक योजना के साथ संगठित किया जायेगा।

(viii) काग्रेस निम्न और मध्यम वर्ग की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर वडे पैमाने का आवास कार्यक्रम हाथ में लेगी।

(ix) विदेश नीति के क्षेत्र मे काग्रेस गुट निरपेक्षता तथा सैनिक गठवन्धनो से अलग र
की नेहरू नीति का अनुसरण करती रहेगी और पड़ोसी देशो के साथ मैत्री स
स्थापित करने का विशेष प्रयास किया जायगा। पाकिस्तान और चीन के
सम्वन्धो को सामान्य वनाने का प्रयास किया जायगा किन्तु इसके साथ ही देश क
प्रतिरक्षा को सुदृढ वनाने का प्रयास किया जायगा।

'गरीवी हटाओ' काग्रेस का प्रमुख नारा था और इससे सम्वन्धित घोषणा-पत्र का
अश, जिसने सत्ता काग्रेस को लोकसभा के दो-तिहाई से अधिक स्थान प्राप्त करने मे सहायता की
इस प्रकार था—**"गरीवी हटनी चाहिए। असमानता कम होनी चाहिए। अन्याय का अन्त होन
चाहिए। ये हमारे अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के आवश्यक कदम हैं। हमारा लक्ष्य है
एवं शक्तिशाली भारत—वह भारत जो अपने प्राचीन और स्थायी आदर्शों मे आस्था रखता है,
परन्तु जो अपने विचारों और उपलब्धियो में आधुनिक है तथा जो भविष्य का सामना कल्पना
विश्वास के साथ करने को तैयार है।"**

1971 और 1972 के चुनावो मे अल्पसख्यको, पिछडे हुए वर्गों और भारत के जनस
के द्वारा काग्रेस को वहुत अधिक समर्थन प्रदान किया गया और सत्ता कांग्रेस मे श्रीमती गांधी
को निर्विवाद नेतृत्व की स्थिति प्राप्त हो गयी।

काग्रेस के विभाजन के समय यह आशा की गयी थी कि सत्ता कांग्रेस एक स्पष्ट नी
और विचारधारा वाले गतिशील दल के रूप मे कार्य करेगी। विभाजन के पूर्व ही श्रीमती
14 प्रमुख वैंको का राष्ट्रीयकरण कर चुकी थी और 1971-72 के वर्षो मे सत्ता काग्रेस
द्वारा राजाओ के प्रिवीपर्स की समाप्ति और सवैधानिक सशोधन के आधार पर सम्पत्ति के अधि
कार को सीमित करने आदि कदम उठाये गये, लेकिन सत्ता काग्रेस इस दिशा मे और आगे न
वढ सकी।

पामर (Palmer) लिखते है कि इन्दिरा काल मे काग्रेस की नीति **'मध्य से बायें'** (
of Centre) रही है और दिसम्वर, 1975 के 'कामागातामारु नगर अधिवेशन' मे श्रीमती
ने स्वय कहा कि हमारी स्थिति **'मध्यममार्गीय वामपन्थ'** (Left of the Centre) की है।

सत्ता कांग्रेस—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म एक राजनीतिक दल के रूप मे नहीं, वरन्
आन्दोलन के लिए कार्य करने वाले एक आन्दोलन और सगठन के रूप मे 1885 ई में हुआ था
स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद इसने शासक दल की स्थिति को प्राप्त किया और 22 मार्च, 1977
उसे यह स्थिति प्राप्त रही। 1969 ई. मे काग्रेस का दो दलो मे विभाजन हुआ—सत्ता का
और सगठन कांग्रेस। 1971 और 1972 के चुनावो मे सत्ता काग्रेस को जितनी शानदार
प्राप्त हुई, सगठन काग्रेस और अन्य राजनीतिक दलो को वैसी ही भीषण पराजय का सामना करन
पडा। लेकिन 1972 के वाद से ही काग्रेस की लोकप्रियता मे कमी होना शुरू हो गया; 19
के आपातकाल मे काग्रेस ने अपनी शक्ति और लोकप्रियता का अधिकाश भाग खो दिया और
1977 के लोकसभा चुनावो के परिणामस्वरूप काग्रेस शासक दल की स्थिति मे नही रही। का
ने 1955 के आवड़ी अधिवेशन मे **'समाजवादी ढाँचे के समाज'** की स्थापना अपना लक्ष्य घो
किया था और अव भी उसका लक्ष्य वही है।

1977 के लोकसभा चुनाव और कांग्रेस का चुनाव घोषणा-पत्र

मार्च 1977 के लोकसभा चुनाव के सन्दर्भ मे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के द्वारा 8 फरवरी
1977 को अपना चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया गया। घोषणा-पत्र मे कांग्रेस का आदर्श
प्रकार घोपित किया गया :

'गरीबी खत्म हो, विषमताएँ कम हो और अन्याय का अन्त हो। काग्रेस एक ऐसी पार्टी है, जिसमे गतिशीलता है, जिसकी अपनी नीति है जिसका अपना कार्यक्रम है, जिसका अपना एक नेतृत्व है, जिसकी अपनी उपलब्धियाँ है और 91 वर्षों से भारतवासियों की निरन्तर और समर्पित सेवा करती रही हैं' अन्त मे कहा गया है 'काग्रेस ही जनता है, काग्रेस को वोट दें।'

घोषणा-पत्र मे 12 मुद्दे गिनाते हुए जनता से अपील की गयी कि वे दल के उम्मीदवारो को अत्यधिक बहुमत से विजयी बनायें, जिससे इन पर अमल किया जा सके। ये हैं :

(1) सर्वधर्म समभाव के आदर्श को बनाये रख सकें, अल्पसख्यको के हितो को और प्रत्येक जाति का अपने विश्वास के अनुसार अपना जीवन जीने के अधिकार को सुरक्षित रख सकें।

(2) लोकतन्त्र को सुदृढ़ और सुरक्षित बना सकें और सभी प्रकार की हिंसा और अव्यवस्था समाप्त कर सके, ताकि जनता शान्ति और मेल-मिलाप से रह सके।

(3) गरीबी, अज्ञानता, रोग और असमानता से लड सके और एक आधुनिक, समृद्ध, शक्तिशाली और समाजवादी समाज का निर्माण कर सके।

(4) एक इन्सान और दूसरे इन्सान के बीच भेदभावो को दूर कर सके और शोषण के सभी रूपो को मिटा सके।

(5) कृषि और सम्बन्धित कार्यो का विकास और आधुनिकीकरण कर सके, एक सुगठित ग्रामीण विकास कार्यक्रम को तेजी से क्रियान्वित कर सके और सार्थक ग्रामीण पुनरुत्थान में समर्थ हो सके।

(6) छोटे और अति छोटे किसान, खेतिहर मजदूरो, अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जनजातियो और पिछड़े वर्गो तथा जातियो के हितो की अभिवृद्धि कर सके।

(7) देश के औद्योगिक आधार को मजबूत बनाकर नाना रूप प्रदान कर सकें, योजना की प्राथमिकता के अधीन रहते हुए और आर्थिक सम्पदा तथा शक्ति का केन्द्रीयकरण होने दिये बिना निजी क्षेत्र को अपनी उचित भूमिका निभाने का अवसर प्राप्त कर सकें।

(8) उत्पादनशील रोजगार के अवसरो मे विस्तार लाने के लिए एक बड़ा भारी कार्यक्रम प्रारम्भ कर सकें।

(9) श्रमिक वर्ग के हितो की सुरक्षा कर सकें और उन्हे प्रबन्ध तथा अपनी मेहनत के फल के उपयोग मे हिस्सा दिला सके।

(10) मूल्य वृद्धि पर रोक लगा सकें और जीवनोपयोगी वस्तुएँ उचित मूल्यों पर जनसाधारण को उपलब्ध कर सके।

(11) सब बच्चो को प्राथमिक शिक्षा दी जा सके और माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के दायरे मे वृद्धि की जा सके।

(12) स्वास्थ्य और चिकित्सा सुविधाओ और जनसाधारण के कल्याण कार्यक्रम का विस्तार कर सके।

घोषणा-पत्र मे दल की पिछली उपलब्धियो और भावी कार्यक्रमो का उल्लेख किया गया तथा जनता के सभी वर्गो की सेवा का व्रत दोहराया गया।

चुनावों के बाद दल की स्थिति और कांग्रेस के पुनः विभाजन की पृष्ठभूमि—घोषणा-पत्र का यह दावा कि 'काग्रेस ही जनता है', लोकसभा चुनावो मे जनता के द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। उत्तर भारत मे तो काग्रेस को पूर्ण पराजय की स्थिति प्राप्त हुई और इन चुनाव परिणामो के सामने आते ही काग्रेस मे आन्तरिक द्वन्द्व प्रारम्भ हो गया। आरोप-प्रत्यारोप की इस श्रृंखला मे अप्रैल 1977 के प्रारम्भिक दिनो मे ही श्री बरुआ के स्थान पर सरदार स्वर्णसिंह को सर्वसम्मति से अन्तरिम अध्यक्ष बनाया गया। 5 और 6 मई, 1977 को दिल्ली मे अखिल भारतीय काग्रेस

समिति का अधिवेशन आयोजित किया गया और इस अधिवेशन मे 27 वर्ष बाद काग्रेस अध्य पद के लिए सघर्ष हुआ । इस सघर्ष मे **श्रीमती गाँधी के समर्थन से श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी अध्यक्ष पर निर्वाचित हुए** । श्रीमती गाँधी यह सोचती थी कि रेड्डी अध्यक्ष के रूप मे श्रीमती गाँधी के निर्देशो का पालन करेगे । लेकिन अब व्यक्तिगत नेतृत्व के स्थान पर सामूहिक नेतृत्व की स्थि। श्री और श्री रेड्डी इसके लिए तैयार नही थे । श्रीमती गाँधी ने पहले तो सत्ता काग्रेस मे रहते हुए ही उस पर अपना पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करने की चेष्टा की । इस हेतु रेड्डी के स्थान पर ..नी पसन्द के व्यक्ति को अध्यक्ष बनाने का भी प्रयत्न किया गया । लेकिन जब इसमे सफलता नही मिली, तब श्रीमती गाँधी ने काग्रेस के पुन विभाजन का मार्ग अपनाकर अपना एक अलग राजनीतिक दल खडा करने की बात सोची ।

इन्दिरा कांग्रेस की स्थापना—श्रीमती गाँधी ने अपने समर्थको का दिल्ली मे एक सम्मेलन 1 और 2 जनवरी, 1978 को आयोजित किया । इस सम्मेलन मे एक अलग राजनीतिक दल की स्थापना की गयी, जिसे आगे चलकर 'इन्दिरा काग्रेस' का नाम दिया गया । श्रीमती गाँधी न केवल इस दल की अध्यक्षा थी वरन् जैसा कि दल के नाम से ही स्पष्ट है, वे इसकी सर्वोच्च और लगभग एकमात्र नेता थी ।

फरवरी 1978 मे दक्षिणी राज्यो मे विधानसभाओ के चुनाव हुए वे बहुत अधिक सीमा तक भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस और इन्दिरा काग्रेस के बीच शक्ति परीक्षण के समान थे और इसमे सन्देह नही कि इस शक्ति के परीक्षण मे इन्दिरा काग्रेस विजयी रही । इन्दिरा काग्रेस की विजय का एक बहुत बडा कारण यह रहा कि दलित वर्गो और अल्पसख्यक वर्गों के बहुत बड़े भाग ने इस विचार को अपनाया कि उसका कल्याण इन्दिरा काग्रेस का समर्थन करने मे ही है ।

अपनी स्थापना के समय इन्दिरा काग्रेस द्वारा विधिवत् रूप से अपनी नीति और विचार-धारा का प्रतिपादन नही किया गया । दल की सर्वोच्च नेता के अनुसार दल धर्म निरपेक्षता, लोक-तन्त्र और समाजवाद मे विश्वास करता है । इन्दिरा काग्रेस द्वारा जनता पार्टी शासन का पूर्ण विरोध करने की नीति अपनायी गयी । इस दल ने जाँच आयोगों और विशेष अदालतो की स्थापना को राजनीतिक बदला लेने की कार्यवाही का करार देते हुए इनका पूर्ण विरोध करने की नीति अपनायी । 1979 के मध्य तक दल का सर्वप्रमुख कार्यक्रम था, 'जब-जब शासन द्वारा श्रीमती गाँधी या सजय गाँधी को गिरफ्तार किया जाय, तो इस गिरफ्तारी का राष्ट्रव्यापी विरोध ।' इन्दिरा काग्रेस का एक ही लक्ष्य था जनता पार्टी सरकार का पतन और लोकसभा भग करवाकर नये चुनाव की स्थिति उत्पन्न करना तथा इसमे उसे सफलता मिली ।

जनवरी 1980 के लोकसभा चुनाव और इन्दिरा कांग्रेस की नीति तथा कार्यक्रम—जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावो की विशेषता यह थी कि सत्ता प्राप्त करने की आशा रखने वाले तीन दलो या दलीय समूहो, इन्दिरा काग्रेस, जनता पार्टी और लोकदल तथा उसके सहयोगी दलो के द्वारा चुनाव के बाद होने वाले अपने ससदीय नेताओ की पूर्व घोषणा कर दी गयी थी । इस प्रकार राजनीतिक दलो के द्वारा ये चुनाव अपनी नीति और कार्यक्रम के आधार पर नही वरन् अपने नेताओ के व्यक्तित्व के आधार पर लडे गये थे ।[1]

घोषणा-पत्र मे 20-सूत्री कार्यक्रम की कीर्ति का बखान करते हुए दावा किया गया है कि वह "गरीबो, भूमिहीन, कारीगरो, हाथकरघो, बुनकरो तथा समाज के अन्य कमजोर और दबे हुए वर्गों के लिए वरदान सिद्ध हुआ था ।" घोषणा-पत्र मे विश्वास दिलाया गया कि इन्दिरा काग्रेस के सत्ता मे आने के बाद इसे फिर चालू किया जायगा । आर्थिक-सामाजिक कार्यक्रम के रूप में इसके

[1] दिनमान, 9 दिसम्बर, 1979, पृष्ठ 18 ।

अतिरिक्त भी कुछ घोषणाएँ की गयी, जैसे सिचाई सुविधाओ से रहित 5 एकड़ तक की भूमि को लगान मुक्त करने, कमजोर वर्गो को ऋण सुविधा दिलाने हेतु व्यापक कार्यक्रम अपनाने, भूमिहीनो को उन्हे मिली लेकिन जनता शासन के दौरान छीन ली गयी भूमि लौटाने तथा देश भर मे भूमि के सरकारी दस्तावेजो मे ठीक रिकार्ड दर्ज किये जाने के वचन दिये गये। हर परिवार से एक वयस्क व्यक्ति को रोजगार उपलब्ध करने और अल्पसंख्यको को सरक्षण हेतु सभी वर्गो की एक शान्ति सेना तैयार करने की योजना का वचन दिया गया। घोषणा-पत्र के मुस्लिम सम्प्रदाय से सम्बन्धित अंशो में अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय को उसका मुस्लिम चरित्र लौटाने, उर्दू को उसकी समुचित जगह दिलाने तथा अल्पसख्यक समुदायो को शिक्षा तथा नौकरियो मे आनुपातिक स्थान दिलाने की बात कही गयी।

1975 मे घोषित आपातकाल के सम्बन्ध मे इन्दिरा कांग्रेस का प्रारम्भ से ही यह विचार रहा है कि 1975 की परिस्थितियो मे आपातकाल की घोषणा जरूरी थी और आपातकाल की विभिन्न क्षेत्रो मे उपलब्धियाँ रही हैं, यद्यपि इसके साथ ही सरकारी अधिकारियो के अति उत्साह अथवा अन्य किन्ही कारणो से कुछ अवांछनीय घटनाएँ भी घटित हुई और जनता को कष्ट सहन करने पड़े। घोषणा-पत्र मे उपर्युक्त विचार को दोहराते हुए भी यह घोषित किया गया है कि 'दल प्रेस सेंसरशिप के खिलाफ है।'

घोषणा-पत्र मे दावा किया गया कि कांग्रेस ने देश को टिकाऊ सरकार और राजनीतिक स्थिरता दी और पुन. केवल कांग्रेस पार्टी (इ) और इन्दिरा गाँधी ही देश को उबार सकते है। लोकसभा चुनाव मे इन्दिरा कांग्रेस के प्रमुख नारे थे **'इन्दिरा लाओ, देश बचाओ'** तथा **'वोट उन्हें दें जो सरकार चला सकें'** और चुनाव परिणामो से स्पष्ट है कि जनता ने पर्याप्त सीमा तक इन नारो को स्वीकार किया।

इन्दिरा कांग्रेस को लोकसभा मे 351 स्थान प्राप्त हुए। आन्ध्र मे 42 मे से 41, कर्नाटक मे 28 मे से 27, गुजरात मे 26 में से 25, पजाब में 13 मे से 12 तथा उडीसा मे 21 मे से 20 सीटें जीतकर काग्रेस (आई) ने अप्रत्याशित सफलता प्राप्त की। इन्दिरा काग्रेस की विजय श्रीमती गाँधी की व्यक्तिगत जीत तो है ही, पर साथ ही उससे यह भी स्पष्ट है कि देश की जनता ने एक 'स्थिर सरकार' (Stable Government) के पक्ष मे मतदान किया।

मई 1980 मे सम्पन्न 9 राज्यो की विधानसभाओ के चुनाव मे इन्दिरा काग्रेस के नारे थे— राज्यो मे राजनीतिक स्थिरता तथा केन्द्र के साथ सहयोग करने वाली सरकारो का निर्माण। इन चुनावो मे भी तमिलनाडु के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यो मे इन्दिरा काग्रेस को भारी सफलता मिली।

जुलाई 1981 में मुख्य चुनाव आयुक्त ने काग्रेस (आई) को भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस होने की मान्यता दे दी। इसलिए अब काग्रेस (आई) ही असली काग्रेस मानी जायेगी, काग्रेस (शरद पवार) नही।

मई 1982 मे चार राज्यो की विधान सभाओं के लिए चुनाव हुए। केरल मे काग्रेस (आई) के नेतृत्व वाले मोर्चे को स्पष्ट बहुमत मिल गया। परन्तु हरियाणा और हिमाचल प्रदेश के चुनाव परिणाम काग्रेस (आई) के लिए निराशाजनक रहे। जनवरी 1983 मे काग्रेस (आई) को कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश में भारी पराजय का सामना करना पडा। फरवरी 1983 मे दिल्ली महानगर परिषद तथा नगर निगम दोनो मे काग्रेस (आई) को स्पष्ट बहुमत मिला।

नीतियाँ व कार्यक्रम—1980 के चुनाव घोषणा-पत्र के अनुसार काग्रेस (आई) के कार्यक्रम की प्रमुख बाते इस प्रकार हैं :

(1) **राजनीतिक कार्यक्रम**—पार्टी के घोषणा-पत्र मे यह कहा गया है कि देश का निर्माण लोकतन्त्र और समाजवाद के आधार पर ही किया जा सकता है। पार्टी समाचार पत्रो की स्वतन्त्रता

के लिए वचनबद्ध है। श्रीमती गाँधी के शब्दो मे, "हमारे लिए लोकतन्त्र के अलावा और को रास्ता नही है, एक ऐसा लोकतन्त्र जो धर्म निरपेक्षता पर आधारित हो तथा जिसके द्वारा लगातार समाजवादी लक्ष्य का विस्तार हो।"

(2) आर्थिक कार्यक्रम—आर्थिक क्षेत्र मे बहुत से कार्यक्रमो की घोषणा की गयी है, जैसे कि छोटे किसानों के लिए ऋण सुविधाओ का विस्तार तथा कृषि उत्पादन मे तेजी से वृद्धि ला। फिजूलखर्ची को नियन्त्रित करना तथा कारखानो के प्रवन्ध मे मजदूरो व अन्य कर्मचारियों की साझेदारी को प्रोत्साहन देना। घोषणा-पत्र मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वायदा यह किया गया है कि प्रत्येक परिवार के कम से कम एक बालिग सदस्य को उपयुक्त रोजगार दिया जायेगा। जनवरी 1982 मे इसके लिए एक निश्चित कार्यक्रम—नये बीस सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की गयी।

(3) सामाजिक कार्यक्रम—सामाजिक कल्याण की दृष्टि मे निम्नलिखित घोषणाएँ की गयी हैं : (i) बिखराव की प्रवृत्तियो का मुकाबला किया जायगा, (ii) अल्पसख्यक आयोग को मजबूत किया जायगा और उसे सवैधानिक मान्यता दी जायगी, (iii) पुलिस, सुरक्षा सेवाओ और सरकारी सेवाओ मे अल्पसख्यको को रोजगार के समान अवसर उपलब्ध होगे. (iv) उर्दू भाषा को उसका सवैधानिक दर्जा प्रदान किया जायगा।

(4) विदेश नीति—विदेश नीति के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातो पर बल दिया गया है : (i) आणविक तकनीकी का विकास शान्तिपूर्ण क्षेत्रो के लिए जारी रहेगा; (ii) पार्टी देश की गरिमा और सुरक्षा को कायम रखेगी, (iii) अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और गुट-निरपेक्षता की नीति का दृढता के साथ पालन किया जायगा, (iv) अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे राष्ट्रीय हित और आत्म सम्मान को सर्वोपरि रखने का वचन दिया गया है।

दिसम्बर 1984 के चुनाव और कांग्रेस (इ)

दिसम्बर 1984 के चुनावो हेतु जारी अपने चुनाव घोषणा पत्र मे काग्रेस (इ) ने आश्वासन दिया कि अनिवार्य जमा योजना खत्म कर दी जायगी, फसल बीमा योजना को व्यापक बनाया जायेगा, धार्मिक स्थानो का दुरुपयोग रोकने के लिए कड़ी कार्यवाही की जायेगी, भ्रष्टाचार, गरीबी, बेरोजगारी हटाने के प्रयास जारी रहेंगे, शिक्षा व्यवस्था मे सार्थक परिवर्तन किये जायेंगे और जहाँ सम्भव हो, योग्यता को दृष्टिगत रखते हुए सरकारी नौकरी के लिए डिग्री योग्यता की अनिवार्यता को हटा दिया जायेगा।[1]

घोषणा पत्र के अनुसार एकता और विघटन, स्थिरता और अराजकता के बीच केवल काग्रेस (इ) ही रास्ता दिखा सकती है। सातवी योजना के अमल के बारे मे पार्टी ने अगले पाँच वर्षो मे 5 प्रतिशत से अधिक की विकास दर का वायदा किया। अल्पसख्यको को पुलिस व सेना सहित तमाम जगहो पर पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की प्रशासनिक व्यवस्था करने, ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमो का विस्तार करने तथा सरकारी खर्चो मे कमी करने का वायदा किया।[2]

दिसम्बर 1984 मे काग्रेस (इ) ने कुल 485 स्थानो पर चुनाव लड़ा और उसे 401 स्थान लोकसभा मे प्राप्त हुए। उसे कुल 49·6 प्रतिशत मत प्राप्त हुए।[3]

नवम्बर 1989 के चुनाव और कांग्रेस (इ)

नवम्बर 1989 के चुनाव घोषणा पत्र मे काग्रेस (इ) ने कहा है कि (1) पंचायती राज और नगर पालिका विधेयको को फिर ससद मे पेश करेगी, (2) सहकारिता आन्दोलन को मजबूत

---

1 नवभारत टाइम्स, 6 दिसम्बर 1984।
2 नवभारत टाइम्स, 6 दिसम्बर 1984।
3 *India Today*, January 15, 1985, pp. 30-39.

करेगी; (3) जल्दी और कम खर्च पर न्याय दिलाने के लिए व्यापक न्यायिक सुधार करेगी; (4) महिलाओ की सामाजिक-आर्थिक प्रगति के लिए इन्दिरा महिला योजना चलायेगी; (5) प्रशासन को सवेदनशील और जनकेन्द्रित वनाया जायेगा।

1989 के लोकसभा चुनावो में कांग्रेस (इ) ने 504 स्थानो पर चुनाव लड़ा और उसे 193 सीटे प्राप्त हुई। उत्तर प्रदेश मे उसे 14, विहार मे 4, गुजरात मे 3, मध्यप्रदेश मे 8 और राजस्थान मे कभी सीट प्राप्त नही हुई। दक्षिणी राज्यो मे इस वार ज्यादा संख्या में काग्रेस (इ) सासद जीते हैं। लोकसभा मे सवसे वडा दल होने के वावजूद भी उसने सरकार वनाने का दावा पेश नही किया।

जनता पार्टी
(JANATA PARTY)

1977 मे भारत की राजनीतिक स्थिति वहुत अधिक तीव्र परिवर्तनो से गुजरी और इन परिवर्तनो मे जनता पार्टी ने सूत्रधार की भूमिका अदा की।

जनता पार्टी का गठन—1972 के वाद से ही निरन्तर यह अनुभव किया जा रहा था कि भारत के गैर-साम्यवादी राजनीतिक दलो के द्वारा परस्पर विलय के आधार पर भारतीय जनता को काग्रेस का एक विकल्प प्रदान किया जाना चाहिए। 19 माह के आपातकाल के इन दलो को यह विचार दिया कि यदि वे एक नही हुए तो उनकी राजनीतिक शक्ति समाप्त हो जायगी और इस पृष्ठभूमि मे जनवरी 1977 मे जनता पार्टी का गठन हुआ।

18 जनवरी, 1977 को तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी ने मार्च मे लोकसभा के चुनाव करवाने की घोषणा की और दूसरे ही दिन चार गैर-साम्यवादी विरोधी दलो (संगठन काग्रेस, जनसंघ, भारतीय लोकदल और समाजवादी दल) ने 'जनता पार्टी' के नाम से अपना एक सम्मिलित संगठन स्थापित करने की घोषणा की। इन चार राजनीतिक दलो के अतिरिक्त नवीन संगठन मे चन्द्रशेखर, मोहन धारिया और रामधन आदि **विद्रोही कांग्रेसी** भी शामिल हुए। श्री मोरारजी देसाई को जनता पार्टी का अध्यक्ष वनाया गया। विधिवत् रूप से एक राजनीतिक दल के गठन हेतु अनेक औपचारिकता को पूरा किया जाना आवश्यक था और इस प्रकार के समस्त कार्य मे वहुत समय लगता, इसलिए प्रारम्भ में जनता पार्टी का गठन एक सयुक्त चुनाव मोर्चे के रूप मे किया गया। लेकिन इसके साथ ही चारो दलो के नेताओ द्वारा जनता को यह वचन दिया गया कि जनता पार्टी मे उनका विलय अन्तिम है और इस सम्वन्ध मे केवल औपचारिकताएँ पूरी की जाना शेष है।

नीति और कार्यक्रम—चुनाव घोषणा-पत्र—दल के उपाध्यक्ष चौधरी चरणसिंह के द्वारा 13 फरवरी को नयी दिल्ली मे जो चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया गया, उससे जनता पार्टी की नीति और कार्यक्रम का ज्ञान होता है। इस अवसर पर कहा गया कि जनता पार्टी समाजवाद मे विश्वास करती है, मगर यह समाजवाद सत्तारूढ़ दल के समाजवाद से विलकुल भिन्न है। इसका आधार गाँधीवादी विचारधारा है। घोषणा-पत्र के दो मुख्य आधार है · **अर्थशास्त्र और प्रशासन का पूर्ण विकेन्द्रीकरण**। भारत का प्रमुख उद्योग कृषि है और इसलिए इस क्षेत्र को प्राथमिकता दी जायगी। उद्योगो मे भारी उद्योगो की अपेक्षा छोटे और ग्रामीण उद्योगो को प्रोत्साहन दिया जायगा। साथ ही **'राज्यो की स्वायत्तता'** पुन स्थापित करने का आश्वासन दिया गया। घोषणा-पत्र मे देश की जनता को ***'रोटी और स्वतन्त्रता का गाँधीवादी विकल्प'*** देने का वायदा किया गया।

घोषणा-पत्र मे **इस बात पर बल** दिया गया कि जून 1975 मे घोषित आपातकाल से आर्थिक स्थिति मे कोई ५ ... क्षति पहले की तुलना मे वहुत

और आपातकाल की उपलब्धियाँ वास्तविक नही हैं। घोषणा पत्र मे जबरदस्ती परिवार नियोजन के कार्यक्रम और गरीबो की झुग्गी झोपडियाँ तथा मध्यम वर्ग के मकानो को बेदर्दी से गिराने के कार्यक्रम की तीव्र निन्दा की गयी।

जनता पार्टी ने राजनीतिक क्षेत्र मे 12-सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की, जिसकी प्रमुख बातें हैं : आपात स्थिति उठा ली जायेगी, मौलिक अधिकारो के निलम्बन के आदेश वापस लिये जायेंगे, सभी राजनीतिक बन्दियो को रिहा किया जायगा, न्यायिक जाँच के बिना किसी भी सस्था पर प्रतिबन्ध नही लगेगा, सविधान के 42वे संशोधन को रद्द किया जायगा, धारा 352 का ऐसा सशोधन होगा कि कोई भी व्यक्ति या गुट उसका दुरुपयोग न कर सके, धारा 356 मे ऐसा सशोधन होगा कि सत्तारूढ गुट के स्वार्थ के लिए राज्यो मे राष्ट्रपति शासन लागू न हो, चुनाव प्रणाली मे तारकुण्डे समिति और अन्य विशेषज्ञो की सिफारिशो के आधार पर सुधार किये जायेंगे, मताधिकार की आयु 18 वर्ष कर दी जायगी, कानून की नजर मे सभी व्यक्तियो को समान माना जायगा, पत्र-पत्रिकाओ से सेन्सर हटा दिया जायगा, इस प्रकार का प्रबन्ध होगा कि सरकारी कर्मचारियो को गैर-कानूनी आदेश मानने के लिए बाध्य न किया जा सके।

जनता पार्टी की **अर्थ-व्यवस्था** निम्नलिखित 13 बिन्दुओ पर आधारित है : व्यक्तिगत सम्पत्ति के मौलिक अधिकार का अन्त और रोजी-रोटी का मौलिक अधिकार गाँधीवादी व्यवस्था के अनुसार अर्थ-व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण, 10 वर्ष के भीतर भुखमरी का अन्त, स्वावलम्बन के लिए अनुकूल तकनीको का विकास, खेती को प्राथमिकता और भूमि सुधार कानूनो को क्रियान्वित करने का सकल्प, गाँवो और शहर के बीच विषमता समाप्त करने के कार्यक्रम, रोजमर्रा की वस्तुओ के उत्पादन पर जोर, लघु व्यवस्था और कुटीर उद्योगो का विकास, आय, वेतन और दामो के बीच निश्चित नीति, दस हजार रुपये तक की आय पर आय-कर से छूट, ढाई एकड तक की जोत पर लगान माफ, न्यायसगत कर व्यवस्था और बिक्री-कर के बदले उत्पादन शुल्क, जल तथा ऊर्जा के प्रसंग मे राष्ट्रव्यापी नीति और वातावरण को शुद्ध रखने का कार्यक्रम।

सामाजिक क्षेत्र मे जनता पार्टी के द्वारा निम्नलिखित कार्यक्रम की घोषणा की गयी . माध्यमिक स्तर तक अनिवार्य शिक्षा व्यवस्था, निरक्षरता की समाप्ति, सभी के लिए पीने योग्य पानी की व्यवस्था, राष्ट्रव्यापी स्वास्थ्य व्यवस्था और स्वास्थ्य सम्बन्धी बीमा, ग्राम विकास का नया आन्दोलन, सस्ते दामो के मकान और सार्वजनिक आवास व्यवस्था, नगर विकास के लिए एक वैज्ञानिक नीति, सामाजिक बीमे की एक बडी योजना, जनसख्या के सम्बन्ध मे व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर बलात्कार रहित परिवार नियोजन, अनुसूचित जातियो और जनजातियो के लिए पूर्ण अधिकारो और आश्वासनो सहित नये युग का सूत्रपात, नागरिक अधिकारो के विषय मे जाँच आयोग, भ्रष्टाचार का उन्मूलन करने के लिए स्वावलम्बी व्यवस्था, नारी अधिकार तथा युवा वर्ग की समृद्धि गरीबो के लिए कानूनी सहायता तथा कम खर्चीली न्याय व्यवस्था जनता के अध्यवसाय तथा स्वावलम्बी कर्मठता को प्रोत्साहन।

विदेश नीति के क्षेत्र मे राष्ट्रीय हित, आकांक्षाएँ और प्राथमिकताएँ परिलक्षित होगी। पार्टी विशुद्ध गुट निरपेक्षता की नीति अपनायेगी और किसी भी शक्ति गुट से सम्बन्ध नही रखेगी।

सार्वजनिक जीवन और प्रशासन से भ्रष्टाचार के बारे मे संथानम् समिति की सिफारिशो को लागू करने तथा लोकपाल और लोक आयुक्त विधेयक पारित करने आदि कार्यक्रम घोषणा-पत्र मे प्रस्तुत किये गये हैं। लोकपाल और लोक आयुक्त की परिधि मे अन्यो के अलावा प्रधानमन्त्री और मुख्यमन्त्रियो को भी रखा जायगा।

जनता पार्टी का विधिवत् रूप में गठन

जनवरी 1977 मे एक 'संयुक्त चुनाव मोर्चे' के रूप मे जनता पार्टी का गठन किया गया

था, जिसे लोकसभा चुनाव मे शानदार सफलता प्राप्त हुई। चुनाव के वाद विधिवत् रूप मे जनता पार्टी का गठन मई 1977 को हुआ।

29-30 अप्रैल को संगठन कांग्रेस, जनसघ, भारतीय लोकदल और समाजवादी दल ने औपचारिक रूप मे अपने अस्तित्व को समाप्त कर जनता पार्टी मे विलय की घोषणा की। पहले इन दलो की कार्य समितियो ने विलय प्रस्ताव पारित किये और बाद मे प्रतिनिधि सम्मेलनो ने उनका अनुमोदन किया। 'लोकतन्त्रीय कांग्रेस' (Congress for Democracy) के अध्यक्ष श्री जगजीवनराम ने भी 1 मई को प्रगति मैदान की सभा मे स्वय उपस्थित होकर 'लोकतन्त्रीय कांग्रेस' के जनता पार्टी मे विलय की घोषणा की। 'लोकतन्त्रीय कांग्रेस' के द्वारा जनता पार्टी मे विलय की औपचारिकताएँ 5 मई को राष्ट्रीय समिति की बैठक बुलाकर पूरी की गयी। श्री चन्द्रशेखर को सर्वसम्मति से जनता पार्टी का अध्यक्ष चुना गया। 11 मई को चुनाव आयोग के द्वारा जनता पार्टी को राष्ट्रीय दल के रूप मे मान्यता प्रदान की गयी। जनता पार्टी के सगठनात्मक ढाँचे मे 6 महासचिव और एक कोषाध्यक्ष पद तथा कार्यकारिणी के 41 सदस्यो की व्यवस्था की गयी।

1977 मे सत्ता परिवर्तन के वाद जनता द्वारा पार्टी से वड़ी-वड़ी आशाएँ की गयी थी और मई 1977 मे विधिवत् रूप मे जनता पार्टी के गठन के समय सोचा गया था कि जनता पार्टी वहुत शीघ्र ही 'भावात्मक एकीकरण' की स्थिति को प्राप्त कर लेगी, लेकिन ऐसा नही हो पाया और जनता पार्टी मे घटकवाद तथा गुटबन्दी द्वारा निरन्तर उग्र रूप ग्रहण किया जाता रहा। इस स्थिति के चरमोत्कर्ष के रूप में जुलाई 1979 मे जनता पार्टी का विभाजन हुआ और चरणसिंह, राजनारायण, वीजू पटनायक तथा जार्ज फर्नाण्डीज व मधुलिमये के नेतृत्व मे लगभग एक-तिहाई सदस्य जनता पार्टी से अलग हो गये। इन तत्त्वो द्वारा राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ और भूतपूर्व जनसंघ तत्त्वों को साम्प्रदायिक करार देते हुए 'दोहरी सदस्यता' का विरोध करते हुए जनता पार्टी से सम्वन्ध-विच्छेद किया गया था, अत इसके द्वारा 'जनता (एस) सेक्यूलर' या लोकदल नामक दल की स्थापना की गयी। इस प्रकार लोकसभा चुनाव के पूर्व जनता पार्टी दो दलो मे विभाजित हो गयी जनता पार्टी और 'जनता (एस) सेक्यूलर।' लोकसभा चुनावो मे जनता पार्टी और जनता 'एस' की पराजय से विभाजन की यह प्रक्रिया और आगे वढी और सबसे पहले तो जगजीवनराम तथा उनके कुछ सहयोगियो द्वारा जनता पार्टी से सम्वन्ध-विच्छेद किया गया और वे 'कांग्रेस अर्स' मे सम्मिलित हुए। इसके वाद दोहरी सदस्यता के प्रश्न पर अप्रैल 1980 मे जनता पार्टी मे एक और विभाजन हुआ तथा जनता पार्टी दो दलो मे वँट गयी। जनता पार्टी (जे. पी.) और भारतीय जनता पार्टी। जुलाई 1979 मे जिस जनता 'एस' की स्थापना हुई थी, चरणसिह अपने सहयोगी राजनारायण की उपेक्षा करते हुए उस पर अपना पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करने की चेष्टा करने लगे। इस सम्वन्ध मे मतभेदो ने अप्रैल 1980 मे जनता 'एस' मे विभाजन को जन्म दिया और यह दल दो भागो मे वँट गया : जनता 'एस' (चरणसिह) और जनता 'एस' (राजनारायण)।

फरवरी 1980 मे जगजीवनराम ने जनता पार्टी के संसदीय दल के नेता-पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके अलग हो जाने से पार्टी की शक्ति को कोई विशेष आघात नही पहुँचा। जुलाई 1980 मे लोकदल जनता पार्टी से अलग हो गया। अप्रैल 1980 मे जनसघ घटक ने उससे अपना नाता तोड दिया।

इस प्रकार चार जनता पार्टी वन गयी—जनता पार्टी (जे पी.) भारतीय जनता पार्टी, जनता (एस.) चरणसिह और जनता (एस.) राजनारायण।

1980 के लोकसभा चुनावो मे जनता पार्टी को करारी हार का सामना करना पडा। उसे केवल 31 सीटें मिली। उत्तर प्रदेश मे 3 सीटें और मध्य प्रदेश मे उसे केवल 4 स्थानो पर

विजय मिली। भारतीय जनता पार्टी की स्थापना के वाद शेष जनता पार्टी का 19-20 अप्रैल, 1980 को वम्बई मे अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन मे चन्द्रशेखर को पुनः दल का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया और घोषित किया गया कि जनता पार्टी (जे. पी) मूल जनता पार्टी के लक्ष्यो को प्राप्त करने की दिशा मे दृढ़ता के साथ कार्य करेगी।

मई 1982 मे चार राज्यो की विधानसभाओ और सात ससदीय सीटो के लिए जो चुनाव हुए वे जनता पार्टी की विफलता को दर्शाते है। जनवरी 1983 मे कर्नाटक मे जनता पार्टी को अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई। कर्नाटक मे विपक्षी दलो के समर्थन से जिनमें भारतीय जनता पार्टी प्रमुख है जनता पार्टी ने सरकार वनवायी। श्री रामकृष्ण हेगडे कर्नाटक के मुख्यमन्त्री वने। मार्च 1985 मे वहाँ पुन. जनता पार्टी की सरकार वनी।

भारतीय जनता पार्टी
(BHARTIYA JANTA PARTY)

जनता पार्टी की केन्द्रीय कार्य समिति द्वारा दोहरी सदस्यता को अस्वीकार कर दिये जाने पर श्री लालकृष्ण अडवाणी द्वारा दिल्ली मे 6 अप्रैल, 1980 को जनता पार्टी के सदस्यो का एक दो दिवसीय सम्मेलन बुलाया गया, जो दोहरी सदस्यता के प्रश्न को एक सही मुद्दा नहीं मानते थे। इस सम्मेलन मे लगभग 4,000 प्रतिनिधि शामिल हुए। सम्मेलन मे भूतपूर्व जनसंघ दल को पुनर्जीवित करने के स्थान पर एक नये दल 'भारतीय जनता पार्टी' की स्थापना की गयी। श्री अटल विहारी वाजपेयी को इस नवीन दल का अध्यक्ष और श्री लालकृष्ण अडवाणी, सिकन्दर वख्त तथा मुरली मनोहर जोशी को दल का महासचिव नियुक्त किया गया। भूतपूर्व जनसंघ दल से सम्बद्ध जनता पार्टी सदस्य तो इसमे शामिल हुए ही इसके साथ ही सिकन्दर वख्त, राम जेठमलानी, शान्तिभूषण और के. एस हेगड़े जैसे व्यक्ति जिनका जनसंघ या राष्ट्रीय स्वय सेवक संघ से कोई सम्वन्ध नही रहा, भी इस पार्टी मे शामिल हुए। पार्टी ने जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति तथा गाँधीवादी अर्थदृष्टि को अपना आदर्श वनाया और 6 मई, 1980 को जारी किये गये अपने आधारभूत नीति वक्तव्य मे पार्टी को 5 निष्ठाओ से प्रतिवद्ध किया है। ये निष्ठाएँ है : राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय समन्वय, लोकतन्त्र, प्रभावकारी धर्म निरपेक्षता, गाँधीवादी समाजवाद और सिद्धान्तो पर आधारित साफ-सुथरी राजनीति।

नीति वक्तव्य मे दोहरी सदस्यता के सम्वन्ध मे कहा गया है कि जो सामाजिक व सास्कृतिक सगठन राजनीतिक गतिविधि मे सलग्न नही है, उनके सदस्यो का भारतीय जनता पार्टी स्वागत करती है। जव तक वे पार्टी की विचारधारा और कार्यक्रम मे आस्था रखेंगे, उन सगठनो की सदस्यता को पार्टी की सदस्यता के प्रतिकूल नही समझा जायगा। नीति वक्तव्य मे देश की मूलभूत समस्याओ के सम्वन्ध मे राष्ट्रीय सहमति को अपनाने की आवश्यकता पर वल दिया गया है। पार्टी ने वडे राज्यो के स्थान पर नियोजित विकास और कुशल प्रशासन की दृष्टि से छोटे राज्यो की स्थापना की आवश्यकता पर वल दिया है, लेकिन साथ ही घोषणा की गयी है कि इसे वह राजनीतिक गतिविधियो और चुनाव का मुद्दा नही वनायेगी।

पार्टी का सामाजिक आधार और राजनीतिक उपलब्धि

इसमे कोई सन्देह नही कि भारतीय जनता पार्टी मे राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ के लोगो का आधिक्य है। लगन, निष्ठा, अनुशासन और देशभक्ति इन लोगो के प्रशसनीय लक्षण है। देश मे अराष्ट्रीय तत्त्वो और अलगाववादी वातावरण को देखते हुए आज इन गुणो की नितान्त आवश्यकता है। पर कई आलोचको के अनुसार "भारतीय जनता पार्टी का धर्मनिरपेक्षता का नारा केवल सतही है, वास्तविक नही।"

मई 1980 मे 9 राज्यो की विधान सभाओ के लिए जो चुनाव हुए उनमे भारतीय जनत पार्टी को वैसी सफलता नही मिली जैसी कि अपेक्षित थी । फिर भी जनता पार्टी के शेष टुकड़ो की अपेक्षा उसे सर्वाधिक यानी 149 सीटे मिली । मध्य प्रदेश की कुल 320 सीटो मे से इस पार्टी ने 60 सीटे जीती और राजस्थान में भी उसे विरोधी दल के रूप मे मान्यता मिल सकी । राजस्थान की कुल 200 सीटों मे से भारतीय जनता पार्टी को 32 सीटे मिली । मई 1982 के लोकसभा उप चुनावो मे भारतीय जनता पार्टी ने सात मे से दो स्थानो पर विजय प्राप्त की । मध्य प्रदेश मे जवलपुर और महाराष्ट्र मे थाने मे उसके उम्मीदवार विजयी रहे । हिमाचल प्रदेश मे भारतीय जनता पार्टी ने कांग्रेस (आई) को बराबर की टक्कर दी, लेकिन सत्ता उसके हाथ से फिसल गयी केरल मे भी 'तीसरी शक्ति' बनने का भारतीय जनता पार्टी का प्रयास विफल रहा । पर आन्ध्र प्रदेश विधान सभा चुनावो मे भारतीय जनता पार्टी को छोड़कर और सभी राष्ट्रीय दलो की सदस्य संख्या कम हो गयी । दिल्ली महानगर परिषद और नगर निगम के चुनाव परिणाम पार्टी के प्रतिकूल रहे । महानगर परिषद मे पार्टी को 19 तथा नगर निगम मे 38 स्थान प्राप्त हुए । अप्रैल 198 मे पार्टी ने 'राष्ट्रीय लोकतन्त्रीय मोर्चे' की रणनीति को स्वीकार किया और लोकदल के सा गठबन्धन कर लिया । किन्तु यह गठबन्धन दिसम्बर 1984 के चुनावो से पूर्व ही टूट गया ।

लोकसभा के दिसम्बर 1984 के चुनावो के अवसर पर भाजपा ने अपने चुनाव घोषणा पत्र मे वायदा किया कि वह कोई नया टैक्स नही लगायेगी, आयकर की सीमा बढ़ाकर 30 हजा रुपये कर देगी, चुंगी और बिक्री कर को समाप्त कर देगी, देश की अखण्डता और हर नागरि की सुरक्षा का प्रबन्ध करेगी । आकाशवाणी और दूरदर्शन को पूर्ण स्वायत्तता देने का भी आश्वास दिया गया । दल ने नैतिक प्रभुत्व को बहाल करने, धर्म निरपेक्षता की सकारात्मक विचारधारा व आगे बढ़ाने, व्यापक चुनाव सुधार करने कृषि और छोटे उद्योगों को उच्च प्राथमिकता देने का भी वायदा किया ।[1] भारतीय जनता पार्टी ने 221 स्थानो पर प्रत्याशी खड़े किये और मात्र 2 प्रत्याशी ही आठवी लोकसभा के लिए चुने गये । उसे 7 68 प्रतिशत मत प्राप्त हुए ।[2] दल के अध्यक्ष श्री अटल विहारी वाजपेयी भी पराजित हुए । जून 1987 के हरियाणा विधानसभा चुनावो मे पार्टी ने शानदार सफलता हासिल की । हरियाणा की साझी सरकार मे यह पार्टी शामिल हुई ।

नवम्बर 1989 लोकसभा चुनावो के अवसर पर जारी चुनाव घोषणा पत्र मे भाजपा वायदा किया कि . (1) वह देश की रक्षा व्यवस्था मे कोई कमी नही रखेगी और परमाणु ब बनाने सहित सभी आधुनिक हथियार देश की सेवा के लिए जुटायेगी, (2) पिछड़ी जातियो के लिए नौकरियो के आरक्षण की मण्डल आयोग की सिफारिशे लागू करेगी; (3) काम के अधिका को मौलिक अधिकार बनाया जायेगा, (4) पचायतो व अन्य स्थानीय निकायो को सवैधानिक दर्जा दिया जायेगा, (5) रक्षा सौदो की व्यापक जांच करायी जायेगी, (6) मूल्यो मे स्थिरता लाय जायेगी; (7) आकाशवाणी और दूरदर्शन को स्वायत्तशासी निगम बनाया जायेगा; (8) सत्ता के विकेन्द्रीयकरण तथा आर्थिक-प्रशासनिक सुविधा के लिए बडे राज्यो का विभाजन किया जायेगा (9) भ्रष्टाचार के आरोपो की जाँच के लिए लोकपाल की नियुक्ति की जायेगी, (10) कश्मीर क विशेष दर्जा देने सम्बन्धी संविधान के अनुच्छेद 370 को समाप्त करने की मशा प्रकट की है (11) अल्पसंख्यक आयोग के बजाय मानवाधिकार आयोग बनाया जायेगा; (12) मताधिकार के प्रयोग को अनिवार्य बनाने, पुलिस के काम मे राजनीतिक हस्तक्षेप को रोकने, पर्यावरण को दूषि होने से रोकने का वायदा किया गया है ।

---

[1] **नवभारत टाइम्स**, 7 दिसम्बर, 1984 ।

[2] **राजस्थान पत्रिका**, 4 जनवरी, 1985 ।

भाजपा ने 226 सीटो के लिए चुनाव लडा और उसके 86 प्रत्याशी विजयी हुये। मध्य-प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, दिल्ली और हिमाचल प्रदेश मे भाजपा को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। भाजपा के समर्थन के बिना केन्द्र मे किसी भी दल की सरकार का निर्माण असम्भव था। भाजपा के समर्थन से ही वी पी. सिंह और जनता दल की सरकार अस्तित्व मे आयी।

लोकदल
(LOKDAL)

जुलाई 1979 मे जनता पार्टी के एक वर्ग द्वारा जनता पार्टी के एक घटक जनसघ सदस्यो की राष्ट्रीय स्वय सेवक संघ की सदस्यता और इस आधार पर उन पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाते हुए जनता पार्टी से सम्बन्ध विच्छेद कर जनता पार्टी 'एस' (सेक्यूलर) की स्थापना की गयी थी। इस दल के अधिकांश सदस्य 1977 ई. के पूर्व भारतीय लोकदल से सम्बन्धित थे, अत इसे लोकदल के नाम से भी जाना जाता रहा है। इस दल मे प्रमुखतया चरणसिंह, राजनारायण, बीजू पटनायक, मधुलिमये और जार्ज फर्नाण्डीज आदि व्यक्ति सम्मिलित हुए थे। वस्तुतः जनता पार्टी से अलग होकर 'जनता एस' बनाने का मूल कारण कोई सैद्धान्तिक मतभेद नही थे, वरन् यह 'शक्ति राजनीति के खेल' का अंग था, जिनका लक्ष्य था—मोरारजी सरकार का पतन करवाना और श्री चरणसिंह को प्रधानमन्त्री पद पर आसीन करना। मोरारजी सरकार का पतन करवाना और श्री चरणसिंह द्वारा अर्स कांग्रेस, अन्ना डी. एम. के. और अन्य कुछ तत्वो के सहयोग से केन्द्र मे एक मिली-जुली सरकार बनायी गयी जो लोकसभा में विश्वास मत प्राप्त करने मे असफल रहने के बावजूद लगभग पाँच माह चली।

लोकदल का सामाजिक आधार और राजनीतिक उपलब्धि

सितम्बर 1979 मे जनता (एस) ने अपने को लोकदल में परिवर्तित कर लिया। चौ चरणसिंह लोकदल के अध्यक्ष चुने गये। 1980 का चुनाव लोकदल ने जनता (एस) के नाम से ही लडा। 1980 के लोकसभा चुनावो मे लोकदल ने लोकसभा की 41 सीटें जीती। सीटो के हिसाब से कांग्रेस (आई) के बाद यह सबसे बडा दल था। वास्तव मे हम उसे एक क्षेत्रीय दल कहना ज्यादा उचित समझेंगे। कारण यह है कि लोकदल ने अकेले उत्तर प्रदेश मे ही 29 सीटें जीती। बिहार मे वह 5 स्थानो पर तथा हरियाणा मे 4 स्थानो पर विजयी रहा। राजस्थान व उडीसा से उसे क्रमश. दो व एक सीटें मिली। अप्रैल 1980 मे राजनारायण को लोकदल से छ वर्ष के लिए निष्कासित कर दिया गया और राजनारायण व उनके कुछ समर्थको ने 'जनता (एस) राजनारायण' की स्थापना की। मई 1980 मे हुए विधानसभाई चुनावो मे लोकदल ने नौ राज्यो मे कुल मिलाकर 116 सीटे जीती। मई 1982 के चुनावो मे लोकदल ने हरियाणा मे उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। हरियाणा विधानसभा मे यह दल कांग्रेस (आई) के बाद सबसे बड़ा दल रहा। अगस्त 1982 मे लोकदल का एक बार फिर विभाजन हुआ। कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व मे कई समाजवादी नेता अलग होकर जनता पार्टी मे चले गये। दिल्ली महानगर परिषद और नगर निगम के चुनावो के लिए लोकदल ने भारतीय जनता पार्टी के साथ तालमेल किया था। 8 अगस्त, 1983 को लोकदल एव भारतीय जनता पार्टी ने 'राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक गठबन्धन' की घोषणा की और चौ चरणसिंह इसके अध्यक्ष मनोनीत हुए हैं।

लोकदल की विचारधारा, कार्यक्रम और नीतियाँ

लोकदल का स्वरूप भूतपूर्व भारतीय क्रान्ति दल से भिन्न नही है। यद्यपि उसमे कुछ सोशलिस्ट तत्त्व विद्यमान हैं, पर मूलरूप से वह चरणसिंह की विचारधारा पर आधारित है। पार्टी के नेताओ ने अपने उद्देश्यो का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि वे लोकतन्त्र, समाजवाद, धर्म

निरपेक्षता और साम्राज्य विरोध के प्रति वचनवद्ध हैं। पिछडे वर्गों (backward classes) को समुचित संरक्षण देने के प्रति यह पार्टी प्रतिवद्ध है। पार्टी पर चरणसिह का जातीय आधार कायम है और इसी शक्ति के वल पर वे उत्तर प्रदेश, विहार और हरियाणा के कुछ भागो मे अपना प्रभाव वनाये हुए हैं।

लोकदल के कार्यक्रम की मुख्य वाते इस प्रकार हैं :

(1) **राजनीतिक कार्यक्रम**—लोकदल के चुनाव घोषणा-पत्र मे कहा गया है कि दल का उद्देश्य देश को स्वच्छ व ईमानदार शासन प्रदान करना है। घोपणा-पत्र मे वर्तमान चुनाव पद्धति मे परिवर्तन आवश्यक वतलाया गया है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर बडा वल दिया गया है। समाचार पत्रो की स्वतन्त्रता को लोकतन्त्र का अनिवार्य आधार माना गया है।

(2) **आर्थिक कार्यक्रम**—लोकदल ने निम्नलिखित कार्यक्रमो पर वल दिया है : (i) भूमि सुधार कानूनो को संविधान की 9वी अनुसूची मे शामिल किया जायेगा ताकि उन्हे अदालतो मे चुनौती न दी जा सके। (ii) विलासिता की वस्तुओ जैसे रेफ्रीजरेटर व टेलीविजन आदि के उत्पादन पर रोक लगायी जायेगी ताकि आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन बढ़ाया जा सके। (iii) ऐसे सार्वजनिक उद्योगो को जो लगातार घाटे पर चल रहे है, बन्द किया जायेगा। परन्तु इसमे वे उद्योग शामिल नही हैं जो देश की अर्थव्यवस्था के अनिवार्य अग हैं। (iv) घोषणा-पत्र मे इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि भविष्य मे पूँजी प्रधान उद्योगो की स्थापना नही की जायेगी। उन वस्तुओ के उत्पादन के लिए बडे-वडे कारखाने खडे नही किये जायेगे जिनका उत्पादन छोटे व कुटीर उद्योगो मे किया जा सकता है।

(3) **सामाजिक कार्यक्रम**—घोषणा-पत्र मे कहा गया है कि लोकदल राष्ट्रीय एकता, सर्वधर्म समभाव, लोकतान्त्रिक तथा समाजवादी समाज की स्थापना करने के सिद्धान्तो पर विश्वास करता है। लोकदल ने विशेप रूप से निम्नलिखित वातो पर वल दिया : (i) परिवार नियोजन कार्यक्रम आवश्यक है, पर इसके लिए दवाव उचित नही है। (ii) मद्यपान को कानून के माध्यम से रोकने की बात कही गयी है। (iii) निर्धन लोगो के इलाज की समुचित व्यवस्था का भी आश्वासन दिया गया है। (iv) भाषा के विषय मे कहा गया है कि देश मे किसी भी वर्ग पर कोई भाषा जबरन नही लादी जायेगी।

(4) **विदेश नीति**—लोकदल ने गुटनिरपेक्षता की नीति को जारी रखने की वात कही है। घोषणा-पत्र मे कहा गया है कि लोकदल हर प्रकार के उपनिवेशवाद के विरुद्ध है।

सक्षेप मे, लोकदल का इस विषय पर विशेष वल रहा है कि मुख्यत: ग्रामीण जनता के हितो की रक्षा और उनका सम्वर्द्धन किया जाय। इस कारण एक कठोर ग्रामीण अभिविन्यास इस दल का मुख्य लक्षण है। इसके अलावा काग्रेस विरोध को इसका एक और लक्षण समझा जाना चाहिए क्योकि वह महात्मा गाँधी से उस रूप मे प्रेरणा ग्रहण करने की शपथ लेता है जिस रूप मे चौ. चरणसिंह ने उन्हे समझा है, जिन्होने सदा ही नेहरू और उनके संगठन (काग्रेस) की इस आधार पर आलोचना की है कि वे गाँधीवादी समाजवाद से दूर चले गये।

दलित मजदूर किसान पार्टी से लोकदल
(FROM DALIT MAJDOOR KISAN PARTY TO LOKDAL)

श्री चरणसिंह के नेतृत्व मे कतिपय दलो को मिलाकर 'दलित मजदूर किसान पार्टी' (दमकिपा) का गठन 1984 के लोकसभा चुनावो से पूर्व किया गया। इसके प्रमुख घटक थे—लोकदल श्री वहुगुणा की लोकतान्त्रिक समाजवादी पार्टी और रतुभाई अडाणी (गुजरात) की जन काग्रेस।

आठवी लोकसभा चुनावो के अवसर पर जारी अपने चुनाव घोषणा-पत्र मे दमकिपा ने चुनाव जीतने के वाद राज्यों के पुनर्गठन पर विचार करने का वायदा किया। पार्टी व्यापक स्तर

पर सत्ता का विकेन्द्रीकरण करेगी। विकास योजनाएँ गाँवो को केन्द्र मानकर वनायी जायेंगी और ग्रामीण कुटीर एव लघु क्षेत्र के उद्योगो को प्रोत्साहन दिया जायेगा। गाँवों और शहरो के असन्तुलन को दूर किया जायेगा, केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को युक्तिसंगत वनाया जायेगा तथा काम के अधिकार को मौलिक अधिकार घोषित किया जायेगा।[1]

दिसम्वर 1984 के लोकसभा चुनावो मे दमकिपा ने 166 स्थानो पर प्रत्याशी खड़े किये और उसे मात्र 3 स्थान पर विजयश्री हासिल हुई। दमकिपा को 6·00 प्रतिशत मत प्राप्त हुए।[2]

मार्च 1985 के विधानसभा चुनावो में विहार, राजस्थान और उत्तर प्रदेश मे दमकिपा ने अपनी शक्ति का अच्छा परिचय दिया। उत्तर प्रदेश और विहार मे उसे अच्छी सफलता मिली। सन् 1985 मे पार्टी ने अपना नाम पुनः 'लोकदल' रख लिया। 1987 मे लोकदल दो धड़ो मे वँट गया। मई 1987 मे मुख्य चुनाव आयुक्त ने लोकदल का चुनाव चिह्न वहुगुणा के नेतृत्व वाले धड़ को प्रदान किया। जून 1987 मे लोकदल ने हरियाणा मे शानदार जीत हासिल की। उसके नेता देवीलाल के नेतृत्व मे वहाँ साझी सरकार का गठन किया गया। उत्तर प्रदेश मे फिलहाल अजीतसिंह के नेतृत्व वाले लोकदल की प्रधानता है। लोकदल का सामाजिक आधार और नेतृत्व अभी इस ढग का नही कि वह एक राष्ट्रीय पार्टी की भूमिका निभा सके।[3]

जनता दल
(JANATA DAL)

1987-88 की भारतीय राजनीति का एक प्रमुख तथ्य यह था कि इन्दिरा काग्रेस और उसके नेता राजीव गाँधी की लोकप्रियता मे तेजी से गिरावट आ रही थी, लेकिन विपक्षी दलो के विभाजित होने के कारण जनता के सम्मुख काग्रेस (इ) का कोई राष्ट्रीय विकल्प नही था। अतः 1987 के मध्य से ही उस समय के विपक्षी दलो ने इस विचार को अपना लिया कि परस्पर विलय के आधार पर एक शक्तिशाली राजनीतिक दल का निर्माण किया जाना चाहिए, जिसे जनता के सम्मुख कांग्रेस (इ) के राष्ट्रीय विकल्प के रूप मे प्रस्तुत किया जा सके। इन विपक्षी दलों के प्रयत्नो का ही परिणाम था—जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चा।

1988 के मध्य मे पहले तो लोकदल (अ) और राष्ट्रीय संजय मच का जनता पार्टी मे विलय हुआ तथा उसके वाद यह निश्चय किया गया कि जनता पार्टी, लोकदल (व) जन मोर्चा और काग्रेस (स) मिलकर एक नये राजनीतिक दल का निर्माण करेंगे। आगे चलकर काग्रेस (स) ने विलय के प्रसग में कुछ मुद्दो पर असन्तोष व्यक्त किया और अन्ततः अक्टूबर 1988 मे जनता पार्टी, लोकदल (व) और जन मोर्चे के विलय के परिणामस्वरूप 'जनता दल' की स्थापना हुई। विश्वनाथ प्रताप सिंह को इस दल के अध्यक्ष का पद प्रदान किया गया। रामकृष्ण हेगड़े दल के उपाध्यक्ष, अजीत सिंह महामन्त्री और अन्य आठ सचिवो की व्यवस्था की गई। इसके साथ ही 140 सदस्यीय राष्ट्रीय कार्यकारिणी और 22 सदस्यीय ससदीय मण्डल की व्यवस्था की गयी। देवीलाल ससदीय मण्डल के अध्यक्ष हैं।

नीतियाँ और कार्यक्रम—जनता दल की नीतियो और कार्यक्रम का परिचय उस चुनाव घोषणा-पत्र[4] से मिलता है। जिसे दल ने नवी लोकसभा के चुनावो के सन्दर्भ मे जारी किया।

---

1 **नवभारत टाइम्स**, 8 दिसम्बर 1984।

2 **राजस्थान पत्रिका**, 4 जनवरी, 1985।

3 **इण्डिया टुडे**, 15 जुलाई, 1987, पृ. 16-20।

4 जनता दल राष्ट्रीय मोर्चे की सर्वप्रमुख इकाई है और राष्ट्रीय मोर्चे द्वारा जारी किया गया चुनाव घोषणा-पत्र ही जनता दल का चुनाव घोषणा-पत्र है।

जनता दल भारतीय राजनीति का एक **'मध्यवर्ती'** (Centrist) दल है। जनता दल ने आर्थिक व सामाजिक समता के आधार पर नये समाज की स्थापना अपना लक्ष्य घोषित किया है। दल के कुछ अन्य प्रमुख कार्यक्रम इस प्रकार है : सत्ता का विकेन्द्रीकरण, गरीब-अमीर सभी व्यक्तियो के लिए समान शिक्षा, महँगाई को नियन्त्रित करना और बेरोजगारी को अधिकतम सम्भव सीमा तक दूर करना आदि। दल ने ग्रामीण विकास पर विशेष बल देने की बात कही है। दल की नीति है किसानो को उनकी उपज का लाभकारी मूल्य दिया जाय और गाँवो का पैसा गाँवो के विकास पर ही खर्च किया जाय। जनता दल पंचायत व्यवस्था और नगरीय क्षेत्र मे भी स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था को सुदृढ करने के लिए प्रतिबद्ध है।

जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चे का चुनाव घोषणा-पत्र

घोषणा-पत्र में राष्ट्रीय सम्मान को पुनः प्रतिष्ठित करने पर बल दिया है।

राजनीतिक कार्यक्रम—मोर्चा नागरिको के लोकतान्त्रिक अधिकारो को बहाल करेगा तथा काम के अधिकार और सूचना प्राप्त करने के अधिकार को मौलिक अधिकारो की सूची में शामिल किया जायेगा। मोर्चा यदि सत्ता मे आया तो तत्काल ही चुनाव सुधार कानूनो को लागू किया जायगा ताकि चुनाव मे धन और लाठी बल के प्रभुत्व को समाप्त किया जा सके। मोर्चे ने ससदीय संस्थाओं को उनका सम्मान लौटाने और जवाब देह बनाने का वचन दिया है। युवा पीढ़ी को सत्ता मे उचित भागीदारी दी जायगी।

आकाशवाणी तथा दूरदर्शन को स्वायत्तशासी निगम बनाया जायगा। प्रेस की स्वतन्त्रता पर कोई आँच नही आने दी जायगी। योजना आयोग को भी स्वायत्तता प्रदान की जायगी। राष्ट्रीय मोर्चा पंचायती राज संस्थाओं को स्वायत्तता प्रदान करने और आर्थिक तथा प्रशासनिक अधिकारो के समुचित बँटवारे के लिए आवश्यक कदम उठाने को प्रतिबद्ध है। राष्ट्रीय मोर्चा पंचायती राज संस्थाओ के नियमित चुनाव करवाने की गारण्टी देता है। सरकारी कर्मचारियो को मनमाने ढग से बर्खास्त न करने सम्बन्धी अनुच्छेद 311 को फिर से अपनाया जायगा। मजदूर विरोधी कानूनो के स्थान पर लोकतान्त्रिक कानून लागू होगे। राष्ट्रीय मोर्चा सत्ता मे आने के बाद संविधान के अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत **'अन्तर-राज्य परिषद'** की स्थापना करेगा और राज्यपाल की संवैधानिक जिम्मेदारी निर्धारित करने के लिए संविधान मे आवश्यक सशोधन करेगा।

भ्रष्टाचार उन्मूलन—घोषणा-पत्र मे राजीव सरकार पर भ्रष्टाचार और अक्षमता के नये कीर्तिमान स्थापित करने का आरोप लगाते हुए कहा गया है कि वह स्वच्छ सरकार प्रदान करने का नारा देकर सत्ता मे आई थी, लेकिन वह पूरी तरह विफल रही। राष्ट्रीय मोर्चे द्वारा भ्रष्टाचार उन्मूलन को उच्च प्राथमिकता दी जायगी। बोफोर्स तोप सौदे मे ली गई दलाली का पता लगाया जायगा और विदेशो मे जमा कराया गया धन वापस भारत लाया जायगा। सभी मन्त्रियों, सांसदो और विधायकों को प्रतिवर्ष अपनी आय और सम्पत्ति का ब्यौरा देना होगा। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार संसद मे लोकपाल विधेयक पेश करेगी, ताकि सर्वोच्च पद पर कार्यरत लोगो के खिलाफ आरोपो की जाँच हो सके।

आर्थिक कार्यक्रम—योजना की 50 प्रतिशत से अधिक राशि ग्रामीण क्षेत्रो मे खर्च की जायगी तथा बढती कीमतो पर नियन्त्रण के लिए प्रभावी कदम उठाये जायेंगे। इस दृष्टि से सार्वजनिक वितरण प्रणाली को विस्तृत तथा सुदृढ करने की बात कही गयी है। किसानो को उनकी उपज का लाभकारी मूल्य दिलाने तथा लघु उद्योग क्षेत्रों को सर्वोच्च प्राथमिकता देने की बात कही गयी है। शहरी सम्पत्ति की हदबन्दी के लिए कानून बनाया जायगा। घोषणा-पत्र मे प्रत्यक्ष एवं परोक्ष करारोपण के लिए एक दीर्घकालीन वित्तीय नीति तैयार करने की बात कही गयी है

ताकि राजस्व मे वढोत्तरी हो और भ्रष्टाचार मे कमी की जा सके। आयकर की छूट सीमा ५०
का वायदा किया गया है। स्वरोजगार को प्रोत्साहन देने के लिए शिक्षित एवं कुशल युवकों
कम व्याज पर 50 हजार रुपये तक का ऋण उपलब्ध कराने का वायदा किया गया है। भूमि
वेनामी हस्तान्तरण के मामलो को देखने के लिए भूमि न्यायाधिकरण गठित करने, उद्योगों
लिए दीर्घकालीन लाइसेन्स नीति वनाने और कम्पनी कानून मे उचित सशोधन करने की वात .
गयी है। झुग्गी-झोपडियो को रहने लायक वनाने के लिए शहरी अमीरो पर एक नयी लेवी लगा
जायगी। इन सवके अतिरिक्त घोषणा-पत्र मे वायदा किया गया है कि 2 अक्टूबर 1989 त
लिये गये छोटे सीमान्त और भूमिहीन किसानो के 10 हजार रुपये तक के ऋण माफ कर
जायेंगे।

महिला वर्ग—मोर्चे के सयोजक ने सरकारी नौकरियो मे महिलाओ के लिए 30 प्र
आरक्षण का वायदा किया घोषणा-पत्र मे कहा गया है कि महिलाओ की समस्याओ को प्राथमिकता
के आधार पर हल किया जायगा। सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से महिलाओ की स्थिति
सुधार के लिए एक अखिल भारतीय कानूनी आयोग गठित किया जायगा। पैतृक सम्पत्तियो
महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार दिलाने का वायदा किया गया है।

कमजोर वर्गों और अल्पसंख्यकों के लिए प्रावधान—अनुसूचित जाति एवं जनजाति
तथा अल्पसंख्यक आयोग को कानूनी दर्जा दिया जायगा। घोषणा-पत्र मे कहा गया है कि अनु
सूचित जातियो व जन जातियो पर अत्याचारो के मामलो की सुनवाई के लिए 'विशेष अदाल
गठित की जायेंगी। साम्प्रदायिक दगो की रोकथाम के लिए पुलिस सेवा मे 'उचित भर्ती नीति
अपनाई जायगी और 'सयुक्त दगा विरोधी दल' का गठन किया जायगा, ताकि वह निष्पक्ष होक
कार्य कर सकें। पिछडे हुए वर्गों के सम्बन्ध मे 'मण्डल आयोग' की सिफारिशो को लागू किया
जायगा। विभिन्न कार्यक्रमो के आधार पर अल्पसंख्यक वर्ग के जीवन स्तर को ऊँचा उठाया जायग
और 60 वर्ष से अधिक उम्र के सभी कमजोर वर्ग के लोगो को वृद्धावस्था पेन्शन द
जायगी।

दल का सगठनात्मक ढाँचा अभी निश्चित नही हो पाया है और समस्त व्यवस्था तद
आधार' पर चल रही है, दल ने अपना एक सिद्धान्त घोषित किया है, 'एक व्यक्ति, एक पद' औ
इस सिद्धान्त के अनुसार श्री वी. पी. सिंह ने मार्च 90 मे पुन: दल के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र
की इच्छा व्यक्त की है, लेकिन दल के आग्रह पर अभी तक (अप्रैल 90) अध्यक्ष पद पर श्री
ही वने हुए हैं। घोषणा की गई है कि 1990 मे ही दल के सगठनात्मक चुनाव करवाये जायेंगे
ऐसा हो पायेगा, इसमे निश्चित रूप से सन्देह है। जनता दल भी कांग्रेस के ही समान तीव्र गुटव
से ग्रस्त है।

नयी लोकसभा के चुनाव और उसके वाद 8 राज्यो की विधानसभाओ के चुनाव मे जन
दल ने उत्तर भारत मे अपने प्रभाव का परिचय दिया है। दल को उडीसा, उत्तर प्रदेश, विहार
हरियाणा, गुजरात और राजस्थान मे अच्छा समर्थन प्राप्त है।

साम्यवादी दल
(COMMUNIST PARTY)

एम. एन. राय की प्रेरणा से 26 दिसम्बर, 1925 को भारत मे साम्यवादी दल की
स्थापना हुई। राय की सलाह से साम्यवादी दल कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की शाखा मान लिया ग
और सन् 1928 मे कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल ने ही भारत मे साम्यवादी दल की क
निश्चित की। यथार्थ मे भारतीय साम्यवादी आन्दोलन सोवियत सघ की देख-रेख मे ही शुरू हुआ
और कई भारतीय साम्यवादियो को सोवियत सघ मे प्रशिक्षण भी दिया गया। स्वाधीनता

के समय अनेक साम्यवादी नेताओं ने कांग्रेस के साथ मिल-जुलकर कार्य किया। किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के समय कांग्रेस और साम्यवादी नेताओ के दृष्टिकोणो में आकाश-पाताल का अन्तर आ गया। जहाँ कांग्रेस जनता को ब्रिटिश राज के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान कर रही थी वही साम्यवादी जनता से आग्रह कर रहे थे कि वह ब्रिटिश सरकार से सहयोग करे। इसका कारण यही था कि सोवियत संघ और ब्रिटेन मिलकर नाजी जर्मनी के विरुद्ध महायुद्ध लड़ रहे थे। दिसम्बर 1945 मे कांग्रेस महासमिति ने सभी साम्यवादियो को अपने दल से निष्कासित कर दिया। जब भारत का नया संविधान अस्तित्व मे आया तो साम्यवादी दल ने इसे 'दासता का घोषणा-पत्र' कहा।

संगठन—साम्यवादी दल के संगठन की निम्न इकाई सैल है। इसमे दो या तीन सदस्य होते हैं। इसके बाद ग्राम, शहर, जिला एव प्रान्तीय स्तर पर 'सम्मेलन' होते हैं। प्रत्येक स्तर के सम्मेलन की एक कार्यकारिणी समिति होती है। साम्यवादी दल की सर्वोच्च शक्ति अखिल भारतीय दल कांग्रेस मे निहित होती है। इसके प्रतिनिधि राज्य सम्मेलनो द्वारा भेजे जाते है। अखिल भारतीय कांग्रेस एक राष्ट्रीय परिषद का निर्माण करती है और यह परिषद एक केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति का निर्वाचन करती है। केन्द्रीय समिति में मुख्य सचिव तथा दल के मुख्य नेता होते हैं। दल का एक केन्द्रीय नियन्त्रण आयोग भी होता है। साम्यवादी दल का सगठन लोकतान्त्रिक केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त पर आधारित है।

भारतीय राजनीति में साम्यवादी दल—स्वाधीनता प्राप्ति के बाद साम्यवादी दल ने 14 से 17 फरवरी, 1984 को अपने कलकत्ता सम्मेलन मे 'कलकत्ता थीसिस' स्वीकार की। इस 'थीसिस' के अनुसार 'स्वाधीनता' को सच्ची स्वाधीनता नही माना गया, नेहरू सरकार को पूँजीवादी हितो का रक्षक कहा गया और यह माना गया कि सरकार बडे व्यावसायिक हितो का सरक्षण करने वाली है। साम्यवादी दल का यह विश्वास था कि सरकार आग्ल-अमरीकी चंगुल मे फँसी हुई है, अत दल ने सभी क्रान्तिकारी तत्त्वो को संगठित करके एक लोकतान्त्रिक गठबन्धन तैयार करने का निर्णय लिया। दल के महासचिव रणदिवे ने तो यहाँ तक कहा कि भारत मे भी रूस की अक्टूबर क्रान्ति के समतुल्य 'अन्तिम क्रान्ति' प्रारम्भ की जा सकती है। मार्च 1947 मे पश्चिमी बंगाल सरकार ने साम्यवादी दल को अवैध घोषित कर दिया। कई साम्यवादी नेताओ को देश के विभिन्न भागो में गिरफ्तार भी कर लिया गया। साम्यवादियो ने देश के विभिन्न भागो में हड़ताल, बन्द भी आयोजित किये। तेलंगाना प्रदेश मे तो साम्यवादियो ने आतंक का राज्य ही स्थापित कर दिया। साम्यवाद की गतिविधियो से तंग आ करके केन्द्रीय सरकार ने उन्हे 'निवारक निरोध अधिनियम' के अन्तर्गत गिरफ्तार भी कर लिया। प्रथम आम चुनाव मे साम्यवादी दल ने लोकसभा के 27 स्थानो पर विजय प्राप्त की और राज्य-विधानमण्डलो मे उसे 181 स्थान प्राप्त हुए। लोकसभा मे सबसे बडा विरोधी दल होने के कारण उसके नेता ए. के. गोपालन ने गैर-कांग्रेसी दलो का सयुक्त गठबन्धन बनाने का प्रयास भी किया। दूसरे जन-निर्वाचन मे दल को लोकसभा मे 29 स्थान प्राप्त हुए। केरल राज्य मे तीसरे चुनाव मे साम्यवादियो को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और 5 अप्रैल, 1957 को उन्होने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। विश्व के इतिहास मे पहली बार चुनावो के माध्यम से साम्यवादियो को सत्ता मे आने का यह पहला मौका मिला था।

साम्यवादी दल मे कई कारणो से दरार पडने लगी। दिसम्बर 1953 की तीसरी कांग्रेस मे साम्यवादी नेताओ के मतभेद खुले तौर से सामने आने लगे। सर्वप्रथम राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक गठबन्धन के सवाल को लेकर नेताओ के [illegible] अजय घोष, पी सी. जोशी आदि का कहना था कि नेहरू सरकार प्र[illegible]तिशी[illegible] [illegible]प करती है; अत उसके साथ सहयोग किया जा सकता है। दूसरी ओर भूपेश [illegible] [illegible]द नेहरू सरकार को पूँजीवाद [illegible] मानते थे और उसका विरोध करना [illegible] मे मतभेद का दूसरा कारण

की नि.स्टालिनीकरण की नीति थी। 1962 के भारत चीन संघर्ष को लेकर भी गम्भीर मतभेद देखा जा सकता था। सन् 1964 के वाद तो साम्यवादी दल के दोनो गुट में तनाव वहुत अधिक वढा। फरवरी 1963 मे डांगे द्वारा लिखे कुछ पत्रो को लेकर के साम्यवादी दल मे गम्भीर वाद-विवाद छिड गया। दल का वामपन्थी गुट चाहता था कि डाँगे अपने पद से त्यागपत्र दे दें किन्तु डाँगे उनकी वात को मानने के लिए तैयार नही थे। ऐसी स्थिति मे दल के कतिपय प्रमुख सदस्य जैसे सुन्दरैया, ज्योति वसु, ए. के. गोपालन, नम्बूद्रीपाद, भूपेश गुप्त, प्रमोद दास गुप्ता इत्यादि दल से अलग हो गये। दोनो गुटो में समझौते के प्रयास भी किये गये किन्तु वामपक्षी गुट के लोगो ने गोपालन के नेतृत्व मे 11 सदस्यो का एक नया गुट संगठित कर लिया। इस गुट को भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) कहा जाने लगा।

विभाजन के पश्चात् साम्यवादी दल वैचारिक दृष्टिकोण से सोवियत संघ के निकट रहा है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि दल ने सत्ताधारी कांग्रेस दल के साथ सहयोग करने की नीति प्रारम्भ कर दी। साम्यवादी दल ने कांग्रेस से सहयोग करने की नीति की शुरुआत मोहन कुमार मंगलम् की 'थीसिस' के आधार पर की है। कुमार मगलम् के अनुसार साम्यवादी कांग्रेस मे घुस करके अन्ततोगत्वा सत्ता पर कब्जा कर सकते हैं। यह वात सर्वविदित है कि 1971 और 1972 के निर्वाचनो मे साम्यवादी दल ने कांग्रेस के साथ न केवल सहयोग किया अपितु चुनाव-गठवन्धन भी किया। चुनावो के पश्चात् साम्यवादी दल ने केरल और पश्चिमी वंगाल मे कांग्रेस से मिल-जुलकर मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। साम्यवादी दल को अपनी रणनीति का तात्कालिक लाभ भी प्राप्त हुआ है। अनेक भूतपूर्व साम्यवादियो को केन्द्र और राज्यो मे मन्त्रिपदो पर भी नियुक्त किया गया।

सिद्धान्त और कार्यक्रम

भारत का साम्यवादी दल कार्ल मार्क्स व लेनिन के विचारो से प्रेरणा ग्रहण करता है। साम्यवादियो का उद्देश्य पुरानी सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था को समाप्त करके एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जो मार्क्स व लेनिन के सिद्धान्तो पर आधारित थे। भारतीय साम्यवादी दल मजदूरो व किसानो के सरक्षण का दावा करता है। वह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहता है जिसमें 'असमानता, जात-पाँत' शोपण व सामाजिक कुरीतियो के लिए कोई स्थान नही होगा। सभी नागरिको को रोजगार के अवसर प्राप्त होगे तथा सामाजिक व आर्थिक सुरक्षा की गारण्टी दी जायगी।" श्री डाँगे के नेतृत्व मे साम्यवादी दल ने "चीनी कम्युनिज्म की अपेक्षा रूसी कम्युनिज्म को चुना।"

साम्यवादी दल ने हिंसात्मक कार्यवाहियो को त्याग दिया है। साम्यवादी दल कांग्रेस को प्रगतिशील दल मानता है और उसके साथ सहयोग करना चाहता है। वह सविधान मे इस प्रकार का संशोधन चाहता है ताकि संविधान-संशोधनो को किसी न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सके। दल ने सुझाव दिया है कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति ससद व विधानसभाओ द्वारा स्वीकृत नामो की सूची मे से की जाय। ससद को यह अधिकार होना चाहिए कि वह साधारण वहुमत के आधार पर प्रस्ताव पारित करके सर्वोच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश को हटा सकें। दल का सुझाव है कि एकाधिकारी पूंजीपतियो, राजाओं तथा अन्य धनी व्यक्तियो के सम्पत्ति के अधिकार को बहुत कडाई के साथ सीमित करने के लिए संविधान मे संशोधन किया जाये। जहाँ तक हो सके जन-साधारण की—जिसमे छोटी सम्पत्ति रखने वाले सम्मिलित हैं—सम्पत्ति को पूंजीपतियो, जमीदारो, सूदखोरो आदि के हमलो से वचाया जाये। दल चाहता है कि मतदाताओं की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी जाये। लोकतन्त्र व

विधानसभाओ के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को चालू किया जाये। राज्यपाल, विधान-परिषदो के पद भी समाप्त कर दिये जाये।

साम्यवादी दल चाहता है कि कृषि के क्षेत्र मे जोत की वर्तमान सीमा को काफी कम कर दिया जाये, जोत-सीमा के लिए परिवार को इकाई माना जाये और सीमा वन्दी से छूटो को समाप्त कर दिया जाये। औद्योगिक क्षेत्र मे दल की मॉंग है कि एकाधिकार पूँजीपतियो की कम्पनियो का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये। विदेशी तेल कम्पनियो और विदेशी बैंको का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये। बेरोजगारी भत्ता दिया जाये, श्रमिकों सरकारी कर्मचारियो आदि की आवश्यकता पर आधारित न्यूनतम वेतन दिया जाये। दल चाहता है कि उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध तथा सोवियत सघ व अन्य समाजवादी देशो के साथ मैत्री पर आधारित शान्ति व गुट निरपेक्षता की नीति अपनायी जाये। रगभेद के विरुद्ध और अधिक कार्यवाही की जाय तथा भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से अलग हो जाये। दल ने अपने 1971 के घोषणा-पत्र मे कहा है कि सविधान मे यह आवश्यक संशोधन कर न्यायपालिका को इस बात के लिए विवश किया जाना चाहिए कि वह कानूनो की व्याख्या निहित स्वार्थो के हित मे नही वरन् देश मे सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए करे। साथ ही न्यायपालिका को सविधान की प्रस्तावना तथा निर्देशक सिद्धान्तो मे मार्गदर्शन ग्रहण करना चाहिए।

साम्यवादी दल संवैधानिक तरीको तथा लोकतन्त्र मे विश्वास करता है। यह दल 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही,' 'क्रान्ति की अनिवार्यता' को नही दोहराता है। 1971 मे लोकसभा मे इसके 23 सदस्य निर्वाचित हुए है। इसने कांग्रेस के साथ सहयोग और समर्थन की नीति अपनायी। इस दल का प्रभाव आन्ध्र प्रदेश, पश्चिमी बगाल व केरल राज्यो मे अधिक है।

1977 के लोकसभा के चुनावो के समय श्रीमती गाँधी के विरुद्ध रोष का वातावरण बन चुका था। इसलिए कम्युनिस्ट पार्टी को भी कोई विशेष कामयाबी हासिल नही हुई। 1977 मे गठित लोकसभा में साम्यवादी दल के केवल 7 सदस्य थे।

नवम्बर 1979 मे श्री एस. ए. डाँगे ने पार्टी के चेयरमैन पद से और केन्द्रीय समिति से त्यागपत्र दे दिया। श्री डाँगे का मत था कि वामपन्थी ताकते श्रीमती गांधी के नेतृत्व मे ही आगे बढ सकती है। परन्तु साम्यवादी दल के महासचिव राजेश्वर राव श्री डाँगे की मान्यता (थीसिस) को सही नही समझते। उनके अनुसार आपातकाल मे श्रीमती गाँधी का समर्थन गलत था। 1980 मे एस. ए. डाँगे की पुत्री श्रीमती रोजा देशपाण्डे को पार्टी से निकाल दिया गया। उन्होंने और उनके साथियो ने मिलकर अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की।

1980 के लोकसभा चुनावो के लिए वामपन्थी मोर्चे का गठन किया गया था। कम्युनिस्ट पार्टी ने कुल मिलाकर 11 स्थानों पर विजय हासिल की। मई 1980 के विधानसभाई चुनावो मे कम्युनिस्ट पार्टी ने बिहार मे अपने प्रभाव को कायम रखा। तमिलनाडु और पजाब मे उसने क्रमश: 10 व 9 सीटें प्राप्त की। 1981 मे श्री डाँगे को कम्युनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया। पार्टी से निकालने के कई कारण बताये गये, जैसे दल विरोधी गतिविधियों को प्रोत्साहन देना और श्रीमती रोजा देशपाडे द्वारा संस्थापित कम्युनिस्ट पार्टी के समारोह मे भाग लेना।

कम्युनिस्ट पार्टी के अधिकाश नेता और सदस्य मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी मे शामिल हो गये है, इसलिए उसका जनाधार (mass base) अब नही के बराबर है। कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओ का कहना है कि यदि दोनो पार्टियाँ एक हो जाये तो राष्ट्र की राजनीतिक स्थिति पर उसका जबर्दस्त असर पड़ेगा। मई 1982 मे कम्युनिस्ट पार्टी ने मार्क्सवादी पार्टी के नेतृत्व मे चुनाव लडा। पश्चिम बंगाल मे वामपन्थी मोर्चे को भारी बहुमत मिला, पर केरल मे उन्हे पराजय

का सामना पडा। जनवरी 1983 मे आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक और त्रिपुरा की विधानसभाओ के लिए चुनाव हुए। आन्ध्र प्रदेश की पिछली विधानसभा मे कम्युनिस्ट पार्टी के 6 सदस्य थे; वहाँ इस पार्टी की सदस्य सख्या 6 से घटकर 4 रह गयी। कर्नाटक मे कम्युनिस्ट पार्टी को 3 स्थान मिले, जबकि त्रिपुरा मे उसके 4 उम्मीदवार विजयी रहे।

दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावो में भारतीय साम्यवादी दल ने 59 स्थानो पर प्रत्याशी खडे किये और 6 स्थानो पर उसके प्रत्याशी विजयी हुए। दल को 2 64 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। मार्च 1987 मे कम्युनिस्ट पार्टी ने मार्क्सवादी पार्टी के नेतृत्व में चुनाव लडे। पश्चिमी वगाल मे वामपन्थी मोर्चे को भारी वहुमत मिला। उसने 294 स्थानो मे से 251 पर सफलता प्राप्त की जिनमे 11 सीटें कम्युनिस्ट पार्टी की थी। केरल मे मार्क्सवादी पार्टी के नेतृत्व मे वामपन्थी मोर्चे की सरकार बनी। कम्युनिस्ट पार्टी इस सरकार मे शामिल हुई।

नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावो मे साम्यवादी पार्टी ने 50 सीटो पर चुनाव लडा और उसे 12 सीटे हासिल हुई।

साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)
(COMMUNIST PARTY-MARXIST)

सन् 1964 मे साम्यवादी दल दो भागो मे विभक्त हो गया तथा एक नये दल भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) का जन्म हुआ। इसके नेता प्रमोद दास गुप्ता, ज्योति वसु, ए के गोपालन तथा पी राममूर्ति है। 1967 ई. के चुनावो मे इस दल को भारतीय साम्यवादी दल के मुकावले मे अधिक सफलता मिली। दल को लोकसभा मे 19 एवं राज्य-विधानसभाओ मे 128 स्थान प्राप्त हुए। केरल मे नम्बूद्रीपाद के नेतृत्व मे सयुक्त सरकार का निर्माण हुआ। पश्चिमी वगाल मे अजय मुखर्जी की सयुक्त सरकार मे मार्क्सवादी साम्यवादी दल की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। सन् 1971 के चुनावो मे इसकी शक्ति मे वृद्धि हुई और लोकसभा मे इसके 25 सदस्य हो गये।

संगठन—मार्क्सवादी साम्यवादी दल का सगठन साम्यवादी दल की भाँति ही सीढीनुमा है। निम्न स्तर पर सैल होते है और उनके ऊपर, ग्राम, शहर, तालुका, जिला एव राज्य समितियाँ होती है। सभी समितियो की एक-एक कार्यकारिणी समिति होती है। केन्द्रीय समिति दल की सर्वोच्च सस्था है। केन्द्रित समिति एक पोलिट व्यूरो का चुनाव करती है। इसमे दल के प्रमुख नेता सम्मिलित होते हैं।

मार्क्सवादी दल का सामाजिक आधार व राजनीतिक उपलब्धि

किसी समय कम्युनिस्ट पार्टी ससद मे प्रमुख विपक्षी दल की भूमिका निभा रही थी और कई राज्यो की विधानसभाओ मे भी उसका अच्छा प्रभाव था। वाद मे उसका एक बडा हिस्सा टूटकर मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी वन गया। पहले जिन राज्यो मे कम्युनिस्ट पार्टी प्रभावी थी, वहाँ अव मार्क्सवादियो की प्रधानता देखने को मिलती है। जैसे-जैसे भारतीय साम्यवादी पार्टी क्षीण होती गयी, वैसे-वैसे मार्क्सवादी आगे वढते गये। अव केवल विहार ही एक ऐसा राज्य है जहाँ मार्क्सवादियो के मुकावले कम्युनिस्टो का सगठन ज्यादा मजवूत है।

1971 के मध्यावधि चुनावो मे मार्क्सवादी दल को लोकसभा की 25 सीटे मिली। पश्चिमी वंगाल इस दल का विशेष गढ है परन्तु आन्ध्र प्रदेश, केरल व त्रिपुरा मे भी इस दल का संगठन काफी मजवूत है। छठी लोकसभा मे इस दल के 22 सदस्य थे। 1980 के लोकसभा चुनाव मे मार्क्सवादी दल के 35 सदस्य चुनकर आये जिनमे से 27 पश्चिम वंगाल मे चुने गये हैं। मई 1980 के विधानसभाई चुनावो मे पार्टी को कोई विशेष सफलता नही मिली। तमिलनाडु मे

मार्क्सवादी पार्टी ने 11 सीटें जीतीं और पंजाब में उसे 5 स्थानों पर विजय मिली। मई 1982 के चुनावों में वामपन्थी मोर्चे को पश्चिमी बंगाल में उल्लेखनीय सफलता मिली। वहाँ मोर्चे को तीन-चौथाई बहुमत मिला। मोर्चे के प्रमुख घटक मार्क्सवादी पार्टी को इतनी सीटें मिली कि विधानसभा में उसे अकेले बहुमत प्राप्त हो गया। केरल विधानसभा में वामपन्थी मोर्चे को प्राप्त 63 सीटों में से मार्क्सवादी पार्टी 26 सीटें ले पायी। फिर भी केरल विधानसभा में आज भी इसी पार्टी के सबसे ज्यादा सदस्य हैं। जनवरी 1983 में त्रिपुरा में फिर से वाम मोर्चे की सरकार बनी जिसमें सबसे ज्यादा मन्त्री मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के थे।

विचारधारा, नीतियाँ तथा कार्यक्रम

मार्क्सवादी साम्यवादी पार्टी डाँगे तथा सी. पी. आई. की ऐसे संशोधनवादियों के रूप में निन्दा करती है जो अपनी वर्ग सहयोग की अवसरवादी धारणा का अनुसरण करना चाहते हैं। यह सी. पी. आई. पर आरोप लगाती है कि उसने श्रीमती गाँधी के अधीन कांग्रेस बुर्जुआ-जमींदार सरकार के साथ गठजोड़ किया जिसने आपातकालीन स्थिति की घोषणा की और सभी विरोधी नेताओं को जेलों में डाल दिया।

इस दल के नेता 'किसानों और मजदूरों की तानाशाही' कायम करना चाहते हैं। यद्यपि उन्होंने चुनाव की राजनीति का परित्याग करना उचित नहीं समझा अर्थात् वे चुनावों में भाग लेते हैं परन्तु उनका असली झुकाव लोकतन्त्रीय व वैधानिक पद्धतियों की ओर न होकर प्रदर्शन, घेराव व मोर्चों की ओर है।

मार्क्सवादी पार्टी काफी समय तक जनवादी चीन की ओर झुकी रही है। परन्तु अफगानिस्तान में रूसी कार्यवाही का समर्थन करके उसने अपने को रूस के काफी निकट कर लिया है। मार्क्सवादी पार्टी पर रूस की ओर से यह दबाव डाला जा रहा है कि वह कांग्रेस (आई) के प्रति नरम रुख अपनाये। पर मार्क्सवादी पार्टी इसके लिए तैयार नहीं है। पार्टी के विजयवाड़ा सम्मेलन (1982) के बाद महासचिव नम्बूद्रीपाद ने कहा था, "रूस ने पार्टी का जनसमर्थन देखना शुरू कर दिया है। हमारी पार्टी सोवियत रूस की मान्यता प्राप्त करने के लिए कांग्रेस (आई) के प्रति नरमी बरतने को तैयार नहीं है। मार्क्सवादी पार्टी बिना सोवियत रूस की मान्यता के 18 वर्षों तक चलती रही है।"

यदि 1977-1980, 1984 व 1989 के चुनावों के लिए जारी किये गये घोषणा पत्रों को देखें तो इस दल के कार्यक्रम का निम्नलिखित रूप हमारे सामने आता है :

संवैधानिक क्षेत्र में—मार्क्सवादी दल मजदूर वर्ग के नेतृत्व में जन लोकतन्त्र स्थापित करना चाहता है। यह लोगों की प्रभुसत्ता के आधार पर एक नया संविधान चाहता है जिसमें समानुपातिक प्रतिनिधित्व की अनुमति देगा और राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं होगा। इसके अनुसार राज्यपाल के पद और केन्द्रीय व राज्य विधानमण्डलों में दूसरे सदनों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। यह राज्यों को और अधिक शक्तियाँ प्रदान करने, सभी नागरिकों को समान अधिकार, सभी भाषाओं के लिए समानता और राज्य सरकारों को भारतीय प्रशासनिक तथा भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखने का समर्थक है। इसके अनुसार काम करने का अधिकार को मूल अधिकारों की सूची में शामिल किया जाना चाहिए और बेरोजगारी भत्ते की व्यवस्था की जानी चाहिए।

राजनीतिक क्षेत्र में—मार्क्सवादी दल एक नयी शासन प्रणाली लाना चाहते हैं जिसे 'जन लोकतन्त्र' कहा जाता है। इसके अनुसार एक सर्वहारा राज्य की स्थापना की जानी चाहिए जिसमें शोषण के लिए कोई स्थान न हो, यह समाजवाद के लिए संसदीय मार्ग को अस्वीकार

करता है। मार्क्सवादी दल 'न्यायपालिका की प्रतिबद्धता' पर बल देता है। अभिप्राय यह है न्यायपालिका जनता की इच्छा के अनुरूप कार्य करे। सामाजिक सुधार लाने के लिए जो कानून बनाये जायें उन्हे अदालतो मे चुनौती न दी जा सके। मार्क्सवादी दल की मान्यता है कि रा को शक्तिशाली बनाया जाये। उनका कहना है कि समवर्ती सूची मे शामिल विषयो पर बनाने का अधिकार केवल राज्य विधानमण्डल को ही प्राप्त हो।

आर्थिक क्षेत्र में—(1) चीनी, कपडा, जूट, सीमेण्ट व अन्य महत्त्वपूर्ण उद्योग-धन्धो तुरन्त राष्ट्रीयकरण किया जाय तथा विदेशो मे भारतीयो की जो पूँजी है, उस पर सरकार अधिकार स्थापित किया जाय, (ii) कारखानो व अन्य क्षेत्रो मे कर्मचारियो को 'प्रवन्ध कार्यों' भाग लेने का अधिकार दिया जाय, छोटे किसानो को ऋण प्राप्त करने की सुविधाएँ मिलें तथ गरीबो से कर न लेकर करो का बोझ अमीरो के ऊपर डाला जाय, (iii) जमीदारी प्रथा का पू खात्मा किया जाय तथा भूमिहीनो एवं समाज के कमजोर वर्गों के बीच तेजी मे भूमि बाँटने क काम किया जाय। किसानो, खेतिहर मजदूरो एवं गाँवो की गरीब जनता पर जो ऋण है, तत्काल रद्द किये जायें। उन्हे मकान बनाने के लिए नि:शुल्क जमीनें दी जायें। गरीब किसानो क किसी भी अवस्था मे उसके खेतो से बेदखल न किया जाय।

सामाजिक क्षेत्र में—मार्क्सवादियो ने निम्नलिखित कार्यक्रम पर बल दिया है: (1) हरिजन जनजातियो व पिछडे वर्गों के लिए सरकारी नौकरियो और विद्यालयो मे स्थान आरक्षित कि जायेंगे। जिन हरिजन भाइयो ने बौद्ध धर्म अपना लिया है, उन्हे ये सुविधाएँ बराबर मिलती रहन चाहिए, (ii) मुसलमानो और उर्दू भाषा के साथ कोई भेदभाव नही किया जायगा; (iii) अहि भाषा भाषियो पर हिन्दी नही लादी जायगी।

विदेश नीति के क्षेत्र में—मार्क्सवादियो का कहना है कि भारत का हित इसी बात मे कि वह पूँजीवादी ताकतो का विरोध करे तथा समाजवादी देशो के साथ अपने सम्बन्ध मजबू बनाये। समाजवादी वियतनाम और कपूचिया की हैग सैमरिन सरकार के साथ उसे विशेष हमद है। पार्टी तीसरी दुनिया के उन देशो का समर्थन करती है जो अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लि संघर्ष कर रहे हैं। पार्टी की यह माँग है कि भारत सोवियत मैत्री सन्धि पर पूरी तरह अमल कि जाय तथा चीन के साथ सम्बन्ध सामान्य बनाये जाये।

पश्चिम बगाल के देहाती क्षेत्रो मे भूमि सुधार कार्यक्रमो को प्रभावी ढग से लागू करने पार्टी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। मार्क्सवादी दल वहाँ सभी जिलो मे अपनी जडे जमाने सफल हुआ है।

दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावो मे मार्क्सवादी पार्टी ने 59 स्थानो पर प्रत्याशी खडे किये और उसके 22 प्रत्याशी विजयी हुए। उसे 5·96 प्रतिशत मत मिले। मई 1987 पश्चिम बगाल मे वामपन्थी मोर्चे ने लगातार तीसरी बार शानदार विजय हासिल की। इस व का मुख्य श्रेय मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को जाता है जिसे 294 विधानसभाई स्थानो मे से 18 स्थान मिले। केरल मे भी वामपन्थी मोर्चे की सरकार बनी, जिसका प्रमुख घटक मार्क्सवादी दल है

नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावो मे माकपा ने 62 स्थानो पर अपने प्रत्याशी खडे।ि और उसे 32 सीटे प्राप्त हुई।

सी. पी. आई. बनाम सी. पी. एम.
(C. P I. Vs C. P. M)

दोनो कम्युनिस्ट पार्टियो मे वास्तविक विभाजक रेखा क्या है? सी पी. एम हमेशा सी पी आई पर यह आरोप लगाती रही है कि इसने कांग्रेस समर्थक मार्ग अपनाया है जिसकी पर

परिणति इस बात मे हुई कि उसने 1975 मे श्रीमती गाँधी द्वारा आरोपित आपातकालीन स्थि
का समर्थन किया। सी पी. एम किसी भी आधार पर श्रीमती गाँधी की कांग्रेस को एक प्रग
शील सगठन के रूप मे मान्यता प्रदान करने पर तैयार नही है। सी. पी. एम. तुलनात्मक द
से लोगो की बढती हुई एकता और जागृति के आधार पर जनसघर्ष की वकालत करने पर
अधिक युयुत्सु है। यह घेराव, बन्द और छात्र संघर्ष जैसे हिंसात्मक और आन्दोलनात्मक तरी
का खुले तौर पर समर्थन करती है। यह युयुत्सु और क्रान्तिकारी परम्पराओ मे अपनी आ
व्यक्त करती है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण 'सोवियत संघ बनाम चीन' का मामला है। जबकि
पी. आई का सोवियत संघ के प्रति झुकाव रहा है, सी. पी एम. का अन्तर्राष्ट्रीय वैधता प्र
करने के लिए चीन के प्रति सौम्य दृष्टिकोण रहा है। विचारात्मक दृष्टि से सी. पी. एम.
कहना है कि सी. पी. आई 'नितान्त सशोधनवादी' और 'स्थूल वर्ग सहयोगी' है जो वही स्थि
धारण करती है जो सोवियत संघ की साम्यवादी पार्टी के नेताओ द्वारा अपनायी जाती है।
पी. एम. के नेताओ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन को सबसे बडा खतरा सशो
वाद (Revisionism) से है। माकपा के नेता ज्योति बसु का मानना है कि दोनो पार्टियो के
दृष्टिकोण मे मतैक्य नही है। "मामला माकपा के मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचार बनाम मा
के समाजवादी लोकतान्त्रिक सोच के बीच का है।"[1]

भारतीय राजनीति में वामपन्थी मोर्चे की तलाश

(THE SEARCH FOR THE LEFT ALLIANCE IN INDIAN POLITICS)

भारतीय साम्यवादी दल का 1964 में दो पक्षो मे विभाजन हुआ था और 197(
बाद इन दोनो पक्षो के बीच मतभेद बहुत अधिक बढ गये। पारस्परिक विरोध के विभिन्न का
में सबसे अधिक प्रमुख था—सत्ता कांग्रेस और श्रीमती गाँधी के प्रति दृष्टिकोण। भारतीय सा
वादी दल तत्कालीन शासक वर्ग 'सत्ता कांग्रेस' का समर्थक था और मार्क्सवादी दल प्रबल विर
और यह स्थिति 1977 से मध्य तक बनी रही।

1977 के चुनाव परिणामो को देखकर भारतीय साम्यवादी दल के काफी बडे वर्ग द्व
यह बात कही जाने लगी कि इस दल के द्वारा आपातकाल का समर्थन किया जाना अनुचित
और दल को अपनी नीति पर पुनर्विचार करना चाहिए। दोनो साम्यवादी दलो के कुछ सद
मे यह विचार भी पैदा हुआ कि एक **'वामपन्थी मोर्चे'** का गठन किया जाना चाहिए, जो भार
जनता को कांग्रेस और जनता पार्टी दोनो का विकल्प प्रदान कर सके। मार्च-अप्रैल 19?8
साम्यवादी दल और मार्क्सवादी दल के क्रमश. भटिण्डा और जालन्धर मे सम्मेलन हुए
साम्यवादी दल के द्वारा विशेष तौर पर मार्क्सवादी दल के समीप आने की कोशिश की गयी।
सम्मेलनो के बाद दोनो दलो के महासचिवो के बीच लम्बी बातचीत हुई और इस बातचीत मे
पाया गया कि फिलहाल **दोनों दलों का विलय सम्भव नहीं है; लेकिन किसानो व मजदूरो की
ऐसी समस्याएँ हैं जिनके सम्बन्ध में दोनो पक्षो द्वारा सामूहिक रूप मे जन आन्दोलन संगठित
जा सकते हैं तथा किये जाने चाहिए।** 1978-79 में भारतीय साम्यवादी दल ने स्पष्टतया
बात को स्वीकार किया कि उनके द्वारा 1975 मे आपातकाल की घोषणा और आपातकाल
श्रीमती गाँधी का समर्थन किया जाना अनुचित था। भारतीय साम्यवादी दल द्वारा अपनायी
इस स्थिति ने भारतीय साम्यवादी दल और मार्क्सवादी दल को एक-दूसरे के समीप लाने का
किया और जनवरी 1980 के लोकसभा और मई 1980 के विधानसभा चुनाव इन दोनो
द्वारा परस्पर सहयोग के आधार पर लडे गये [illegible] परिणामो से आपसी सहयोग

[1] इण्डिया टुडे, 30 अप्रैल 1989, पृ 26

प्रवृत्तियो को बल मिला। 1982 मे केरल तथा पश्चिम बगाल विधानसभा चुनाव सी पी. आई. ने मार्क्सवादी पार्टी के नेतृत्व मे लडे। मार्च 1987 मे पश्चिम बंगाल और केरल विधानसभाओ के चुनाव कम्युनिस्ट पार्टी ने मार्क्सवादी पार्टी के नेतृत्व मे लडे। इस प्रकार 1980-90 की भारतीय राजनीति का सबसे प्रमुख तथ्य भारतीय साम्यवादी दल और मार्क्सवादी दल का एक-दूसरे के समीप आना ही है; लेकिन अब भी निकट भविष्य मे इन दोनो के एक होने की सम्भावना नही है। इस सम्बन्ध मे मार्क्सवादी दल का दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए दल के महामन्त्री ई एम. एस. नम्बूद्रीपाद कहते हैं : "राजनीतिक एकता और विलय दूर की चीज है जबकि एक साथ काम करने का समय आ गया है।"

भारतीय राजनीति मे 'वामपन्थी मोर्चे' के रूप मे 'तीसरे विकल्प' के उदय की सम्भावनाएँ निश्चित रूप से कम हैं। प्रथम, तो आपसी सहयोग के बावजूद भारतीय साम्यवादी दल और मार्क्सवादी दल मे मतभेद बने हुए हैं और निकट भविष्य मे परस्पर विलय की सम्भावनाएँ बहुत कम हैं। द्वितीय, वामपन्थी दलो के प्रभाव क्षेत्र बहुत सीमित हैं और देश के एक बहुत बडे क्षेत्र मे उसे लगभग नगण्य प्रभाव ही प्राप्त है। वामपन्थी दलो को भारतीय राजनीति मे तीसरे और प्रभावी विकल्प की स्थिति प्राप्त करने के लिए एक लम्बा रास्ता तय करना होगा।

33

भारत में क्षेत्रीय और राज्य स्तर की पार्टियाँ

[REGIONAL AND STATE PARTIES IN INDIA]

कश्मीर मे नेशनल काफ्रेन्स, आन्ध्र प्रदेश मे तेलगूदेशम्, तमिलनाडु मे द्रविड मुन्नेत्र कडगम् व अन्ना द्रविड मुन्नेत्र कडगम तथा पंजाव मे अकाली दल के प्रभाव के बाद यह सवाल उठाना अस्वाभाविक नही है कि क्या भारत मे राज्य स्तरीय पार्टियाँ ही पनपेगी ? राज्य स्तरीय पार्टियाँ नयी नही है । देश ने वंगला काग्रेस, केरल काग्रेस, उत्कल काग्रेस जैसी काग्रेस नामधारी क्षेत्रीय दलो तथा विशाल हरियाणा पार्टी, गणतन्त्र परिपद, शेतकरी कामगार पार्टी, सम्पूर्ण महाराप्ट्र एकीकरण, महा गुजरात जनता परिपद्, शिवसेना जैसी राज्य पार्टियो का भी उतार-चढाव देखा है। ऐतिहासिक परिस्थितियों मे उनका विकास हुआ और अन्य परिस्थितियो मे अनेक दूसरो से मिल गयी या समाप्त हो गयी । सन् 1967 मे पजाव से लेकर पश्चिम वगाल तक और वाद मे मध्य प्रदेश तथा उडीसा मे जो सरकारे वनी उन्हे सयुक्त विधायक दल का नाम दिया गया परन्तु उन दलो की वड़ी शक्ति राज्य स्तरीय पार्टियाँ ही थी भले ही वह राव वीरेन्द्रसिंह की विशाल हरियाणा पार्टी हो, चौधरी चरणसिंह का भारतीय क्रान्ति दल हो, उडीसा के राजाओ की गणतन्त्र परिषद् या अजय मुखर्जी की वगला काग्रेस हो । दक्षिण मे अन्नादुरै की द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम् शक्तिशाली वनी ।

'राज्य स्तरीय' दलो को 'क्षेत्रीय दल' सम्वोधित करने की हमारी आदत रही है । असल मे असम गण परिषद् (असम), नेशनल काफ्रेंस (जम्मू-काश्मीर), डी. एम. के. (तमिलनाडु), अकाली दल (पजाव), शिवसेना (महाराष्ट्र), सिक्किम सग्राम परिपद् (सिक्किम) आदि सभी राज्य स्तरीय दल है । ये अलग-अलग राज्यो मे प्रभावशाली है न कि किसी **'क्षेत्र'** (Region) विशेप मे ।

क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों की विशेषता

(SALIENT FEATURES OF REGIONAL AND STATE PARTIES)

भारतीय राजनीति मे क्षेत्रीय और राज्यस्तरीय दलो की सख्या निरन्तर वढती जा रही है। इन दलो की निम्नलिखित प्रमुख विशेपताएँ है .

(1) भारतीय राजनीति मे राज्य दलो का वर्चस्व सन् 1967 के चतुर्थ आम चुनावो के वाद वढने लगा ।

(2) भारत के क्षेत्रीय दल आमतौर से राज्य स्तरीय दल ही है ।

(3) इन राज्य स्तरीय दलो की प्रमुख माँग राज्य स्वायत्तता है ।

(4) इन राज्य स्तरीय दलो की प्रमुख प्रतिस्पर्द्धा काग्रेस दल से रही है ।

(5) राज्य स्तरीय दलों की सकुचित अपील और आधार होते हैं, जैसे उपसंस्कृति, जातीयता और धर्म के तत्त्व आदि ।

राज्य स्तरीय दलों की सफलता का मूल आधार : शक्तिशाली नेतृत्व
(THE MAIN BASIS FOR THE SUCCESS OF STATE PARTIES : POWERFULL LEADERSHIP)

वैसे यह कहना भी गलत नही होगा कि उचित नेतृत्व ही राज्यस्तरीय दलो की सफलता का आधार रहा है । एक मानी मे नेता का व्यक्तित्व राज्यस्तरीय पार्टियो को शक्तिशाली बनाता है और उन्हे जीवित रखता है । उदाहरण के लिए, तमिलनाडु को लें जहां डी. एम. के. एक ऐसा दल है जो तमिल क्षेत्रीयता को आधार विन्दु मानकर बढा है । यद्यपि नाम मे यह दल क्षेत्रीय नही है क्योंकि उनकी दृष्टि मे एक समय द्रविड संस्कृति सारे भारत मे फैली थी । परन्तु केरल भाषी भी, जिनका तमिलनाडु से सबसे अधिक सामीप्य है अपने को द्रविड नही मानते और बावजूद इसके कि केरल मे तमिल भाषियो की सख्या काफी है, दोनों द्रविड पार्टियाँ वहाँ पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकी । यदि इन राज्यस्तरीय पार्टियो का इतिहास देखा जाये तो इनकी सफलता के दो तत्त्व प्रमुख रहे हैं—एक निजी पहचान कायम रखने या इस निमित्त अपने राज्य के लिए विशेष व्यवहार उपलब्ध कराने का आग्रह तथा एक नेता विशेष की छवि । यद्यपि द्रविड कड़गम का उपदेश रामास्वामी नायकर ने दिया था, पर उस कल्पना को राजनीतिक शक्ति का रूप देना अन्नादुरै की विशेषता थी । सन् 1967 के चुनावों के समय वहाँ चुनाव का बडा आकर्षण अन्ना का त्यागी-तेजस्वी नेतृत्व था जिसने कामराज के नेतृत्व को भी विफल कर दिया । उनकी मृत्यु के बाद उनका दल विभक्त हो गया और उनके अनुयायी एम. जी रामचन्द्रन ने भी अन्ना की लोकप्रियता का लाभ उठाने के लिए अपने दल का नाम अन्ना द्रविड मुन्नेत्र कडगम् रखा । पर सभी मानते हैं कि इस समय इस दल का आधार उनका करिश्माती नेतृत्व ही है । यही बात अन्य राज्यस्तरीय दलों के साथ है । बगला कांग्रेस की धुरी अजय मुखर्जी की लोकप्रियता थी, उत्कल कांग्रेस का आधार बीजू पटनायक का व्यक्तित्व था । भारतीय क्रान्ति दल हो या लोक दल (दोनो का प्रभाव सीमित क्षेत्रो मे ही रहा है), उनके आगे बढने का कारण चौधरी चरणसिह की लोकप्रियता ही रही । शेख अब्दुल्ला का नाम ही नेशनल काफ्रेन्स को आगे कर सका और डॉ. फारुख अब्दुल्ला की जीत भी कुछ शेख अब्दुल्ला की कीर्ति का परिणाम थी यद्यपि उसमे कश्मीर घाटी की क्षेत्रीयता व साम्प्रदायिकता भी भागीदार हो गयी । तेलगूदेशम् के रूप मे एक नयी चुनौती आन्ध्र प्रदेश मे उभरी है । सन् 1982 मे वहाँ पहली बार कांग्रेस को अपदस्थ होना पडा तथा कम्युनिस्ट व अन्य राजनीतिक दल भी महत्त्व शून्य हो गये । तेलगूदेशम् के अभ्युदय मे एन टी. रामाराव की व्यक्तिगत लोकप्रियता कम नही थी । उनकी प्रचार शैली तथा जनता की मुख्य आवश्यकताओ पर जोर उन्हें जनता का विश्वास दिला सका ।

केन्द्र-राज्य विवाद से ही राज्यस्तरीय दलों की स्थापना
(CENTRE-STATE DISPUTES AND THE RISE OF STATE PARTIES)

भारत जैसे विशाल देश मे केन्द्रीयकरण की सफलता की सम्भावनाएँ कम है । विभिन्न क्षेत्रो की समस्याएँ, रहन-सहन के ढग, सामाजिक मान्यताएँ और भौगोलिक यथार्थ इस बात को अनिवार्य बना देते हैं कि उनके साथ अलग-अलग ढंग से विचार किया जाये । यद्यपि भारतीय सविधान मे संघीय शासन के रूप को स्वीकारा गया, फिर भी मजबूत केन्द्र की कल्पना की गयी थी । यह बात मान ली गयी कि केन्द्र व राज्यो मे अलग-अलग दलो की सरकारें बन सकती हैं और रह सकती है उसमे संवैधानिक प्रश्नो पर यदि विवाद हो तो उसके लिए सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार दिया गया । फिर भी केन्द्र तथा राज्यो मे विवादो के ऐसे मुद्दे आये जिससे राज्यस्तरीय दलो की स्थापना हुई । द्रविड मुन्नेत्र कडगम् के शक्ति संचय का कारण केन्द्र और राज्य मे हिन्दी

भाषा को लेकर विवाद रहे। अकाली दल की शक्ति का आधार 'राज्यो को अधिक स्वायत्तता' दी जाने की माँग थी, नेशनल काफ्रेन्स की शक्ति का आधार कश्मीर का पृथक् स्वायत्त दर्जा बनाये रखने की माँग रही, तेलगूदेशम् के अभ्युदय का कारण आन्ध्र प्रदेश मे केन्द्र द्वारा हर तीसरे महीने मुख्यमन्त्री बदल की प्रवृत्ति रहा। एक बार सत्ता मे आने के बाद सभी प्रादेशिक दलों ने केन्द्र विरोधी रुख अपनाया और केन्द्र राज्य विवादो को जन्म दिया।

राज्य स्तरीय दलों का औचित्य

(A PLEA FOR STATE AND REGIONAL PARTIES IN INDIAN POLITICS)

प्राय. राज्य स्तरीय दलो की भूमिका को नकारात्मक दृष्टिकोण से देखने की हमारी आदत रही है और हम आसानी से कह देते है कि राज्य स्तरीय दल राष्ट्रीय अखण्डता के विरुद्ध है, राज्य दलो से राष्ट्रीय एकता कमजोर होती है और केन्द्र-राज्य तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है। भारतीय सघ व्यवस्था मे राज्य स्तरीय दलो की महत्त्वपूर्ण भूमिका है और उनकी सकारात्मक भूमिका (Positive role) की तर्कसंगत व्याख्या की जानी चाहिए। यह धारणा गलत साबित हुई है कि राज्य स्तरीय दलों के सत्ता मे आने से राष्ट्रीय अखण्डता भंग हुई है। यदि ऐसा होता तो तथाकथित राष्ट्रीय दल कांग्रेस डी. एम. के, अन्ना डी. एम. के., अकाली दल, नेशनल कान्फ्रेन्स, त्रिपुरा उपजाति युवा समिति जैसे प्रादेशिक दलो से समय-समय पर गठबंधन न करती।

राज्य स्तरीय दलों के अस्तित्व के कारण ही भारतीय संविधान के संघात्मक प्रावधानो के त्रियान्वयन का सफल परीक्षण हुआ है, केन्द्र की एक दलीय सरकार की निरकुशता पर अवरोध लगाने का रचनात्मक कार्य सम्पन्न हुआ है, राज्यो की अस्मिता (State identity) तथा राज्यों के अधिकार (State rights) की आवाज बुलन्द कर राज्यों की संविधान प्रदत्त स्वायत्तता की रक्षा की जा सकी है। राज्य स्तरीय दलो के कारण अनेक राज्यो में प्रतियोगी दल प्रणाली या द्विदलीय व्यवस्था (Competitive Party System) का चलन होने लगा जिससे संसदीय व्यवस्था का सचालन आसान हुआ है और सबसे महत्त्वपूर्ण रचनात्मक भूमिका अपने राज्य विशेष के लिए अधिकतम आर्थिक सुविधाओ की माँग की गई जिससे प्रादेशिक विषमता (Regional disparties) को दूर कर भारत के समुचित सर्वागीण विकास को गति मिली है। अनेक ऐसी योजनाओ और कार्यक्रमों का त्रियान्वयन करना पड़ा जो शायद राज्य पार्टियो के दबाव के बिना त्रियान्वित न होते। राज्य स्तरीय नेतृत्व ने सत्ता मे रहकर अपने दावो को उचित साबित करने के लिए अपने राज्यो के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किये है। इन राज्यो के विकास से सारे देश को ही लाभ हुआ है। तमिलनाडु, पंजाब, हरियाणा, जम्मू-कश्मीर, पश्चिमी बगाल, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक मे विकास की गति इसका प्रमाण है।

उदाहरण के लिए राजस्थान के साथ केन्द्रीय सरकार का हमेशा उपेक्षापूर्ण व्यवहार रहा और राजस्थान की विशेष भौगोलिक प्रकृति और प्रतिकूल जलवायु को ध्यान मे रखते हुए केन्द्र सरकार की तरफ से कभी पर्याप्त सहायता नही मिली। राजस्थान मे एक भी बडा उद्योग स्थापित नही किया गया। इन्दिरा गाँधी नहर जैसी परियोजना की त्रियान्विति मे भी केन्द्र से जो सहायता और सहयोग मिलना चाहिए था; वह नही मिला। राज्य की पचवर्षीय योजनाओ मे भी अन्धाधुन्ध तरीके से कटौती की जाती रही है। राजस्थान सरकार ने सातवी योजना 66 अरब की बनाई थी जिसे आधे से ज्यादा काट दिया गया और योजना केवल 30 अरब की ही मंजूर हुई। राज्य सरकार ने केन्द्र के इस रवैये के प्रति कोई विरोध प्रकट नही किया। वास्तव मे राज्य सरकार से केन्द्र के आगे दबाव और विरोध की भाषा मे अपनी माँग प्रस्तुत करने की अपेक्षा करना बेमाने होगा क्योकि कांग्रेस (इ) शासित राज्यों मे मुख्यमन्त्री केन्द्र से थोपे जाते

रहे है, उनके पीछे विधायको के समर्थन का वल नही होता, ऐसी दशा मे वे केन्द्रीय सरकार के अन्याय का विरोध नही कर पाते और उसे चुपचाप सह जाते है। कुल मिलाकर इसका नुकसान राज्य की जनता को होता है और राज्य का विकास अवरुद्ध हो जाता है। सक्षेप मे, भारत की राजनीतिक व्यवस्था मे राज्यो के द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए राज्य स्तरीय दलो का शक्तिशाली होना परम आवश्यक है।

भारत में प्रमुख राज्य स्तरीय दल
(MAJOR STATE PARTIES IN INDIA)

भारत मे प्रमुख रूप से तीन प्रकार के राज्य स्तरीय दल हैं। पहले प्रकार के राज्य स्तरीय दल वे है जो वास्तव मे जाति, धर्म, क्षेत्र अथवा सामुदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उन पर आधारित है। इसके प्रमुख उदाहरण द्रविड मुन्नेत्र कडगम् (तमिलनाडु), अकाली दल (पजाव), नेशनल कान्फ्रेंस (जम्मू-कश्मीर), शिवसेना (महाराष्ट्र), झारखण्ड पार्टी (विहार) तथा उत्तर पूर्व मे कुछ आदिवासी सगठन जैसे नागालैण्ड नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी, मिजो नेशनल फ्रण्ट आदि हैं। दूसरे प्रकार के राज्य दल वे हैं जो किसी समस्या विशेष को लेकर अथवा सदस्यो की क्षुब्धता के कारण राष्ट्रीय दलो विशेष रूप से काग्रेस से अलग होकर वने है। इनमे से अधिकतर दल केवल कुछ समय के लिए राष्ट्रीय रहे हैं, कुछ ने स्वय को राष्ट्रीय दल का स्तर देने का प्रयत्न किया है और कुछ केवल नाममात्र को रह गये है। इस प्रकार के दलो मे भारतीय क्रान्तिदल, वगला काग्रेस, उत्कल काग्रेस, केरल काग्रेस, तेलगाना प्रजा समिति, विशाल हरियाणा तथा लोकदल (श) इत्यादि सम्मिलित किये जा सकते है। तीसरे प्रकार के दल वे है जो विचारधारा तथा लक्ष्यो के आधार पर तो राष्ट्रीय दल है परन्तु उनका समर्थन केवल कुछ लक्ष्यो तथा कुछ मामलो मे केवल कुछ ही क्षेत्रो तक सीमित है। इस प्रकार के दल फारवर्ड ब्लॉक, सोशलिस्ट यूनिटी सेण्टर, मुस्लिम लीग तथा क्रान्तिकारी सोशलिस्ट पार्टी इत्यादि हैं।

कुल मिलाकर राज्य दलो का अस्तित्व केवल नाममात्र का नहीं है। न ही ये दल केवल स्थानीय स्तर पर केवल काग्रेस अथवा अन्य राष्ट्रीय दलो का दूसरा रूप है अपितु ये अपने आप मे स्वायत्त तथा महत्त्वपूर्ण है और राज्यस्तर की राजनीति मे इनकी विशेष भूमिका है।

अकाली दल, डी. एम. के., अन्ना डी. एम. के., तेलगूदेशम, नेशनल काफ्रेन्स सिक्किम सग्राम परिषद, असम गण परिषद, शिवसेना आदि इस समय प्रमुख राज्य (स्थानीय) दल हैं उनका सक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है

अकाली दल (Akalı Dal)

अकाली दल सिक्खों की मुख्य राजनीतिक व सामाजिक सस्था है। अकाली दल राज्य स्तरीय दल है क्योंकि यह पजाव तक ही सीमित है। गुरुद्वारो (सिक्ख मन्दिरो) को परम्परानिष्ठ सिक्ख समुदाय के अधिकार क्षेत्र मे लाने के लिए एक सुधार समूह के रूप मे अकाली दल का सर्वप्रथम गठन किया गया। सन् 1925 मे अकाली प्रत्यक्ष कार्यवाही के द्वारा गुरुद्वारो को वयस्क मताधिकार द्वारा सिक्ख समुदाय मे से चुनी हुई एक समिति के अधिकार क्षेत्र मे लाने मे सफल हुए। समितियो के सौ से अधिक गुरुद्वारो पर नियन्त्रण तथा उनकी दान सम्पति ने पजाव मे अकाली दल की स्थिति को पर्याप्त शक्तिशाली वना दिया। धार्मिक दृष्टिकोण से यह "पन्थ की सुरक्षा" (सिक्ख धार्मिक दल या समुदाय) के लिए वना है। राजनीतिक दृष्टि से अपने सविधान के अनुसार यह एक ऐसे "वातावरण के निर्माण के लिए वनायी गयी जिसमे सिक्ख राष्ट्रीय अभिव्यक्ति को पूरी सन्तुष्टि प्राप्त हो सके।" इसके राजनीतिक उद्देश्यो ने पजावी सूवे या पजावी भाषायी राज्य की माँग का मार्ग प्रशस्त किया।

जव पंजाव द्विभाषी राज्य था तव अकाली दल ने सरकार के साथ सन्धि घोषित कर

दी तथा 1957 के चुनावों के समय कांग्रेस के साथ मिल गये। फिर भी 1960 मे पंजाबी सूबे के समर्थन मे प्रदर्शन बढ गये। लेकिन इसके फलस्वरूप अकालियों के बीच गुटबन्दी का जन्म हुआ। लगभग तीस वर्षों तक मास्टर तारासिंह अकाली दल की एक प्रभावशाली नेता रहे। फिर भी 1962 मे उनके प्रमुख अनुयायी सन्त फतेहसिंह ने अकाली दल की एक प्रतिद्वन्द्वी शाखा की स्थापना की जो शीघ्र ही मास्टर तारासिंह के दल पर पूरी तरह छा गयी। 1966 मे अलग पंजाब राज्य की रचना करके पंजाबी सूबे के लिए अकाली दल की चिरकालिक तथा आग्रहपूर्ण माँग मंजूर कर ली। 1968 मे मास्टर तारासिंह की मृत्यु हो गयी तथा अकाली दल के दोनो पक्ष फिर से एक हो गये। 1969 के मध्यावधि चुनाव मे विधानसभा मे दोबारा गठित दल के कांग्रेस से अधिक सदस्य चुने गये। जनसंघ के साथ एक आश्चर्यजनक मेल कर अकाली दल ने पंजाब मे सरकार बनायी। 1977 के चुनावो मे अकाली दल ने जनता सरकार का समर्थन किया। जुलाई 1979 मे जनता पार्टी सरकार पर संकट के समय अकाली दल ने उसका साथ छोड दिया। जनवरी 1980 के लोकसभा चुनाव मे दल को भारी असफलता की स्थिति का सामना करना पडा। मई 1980 के विधानसभा चुनाव इस दल ने भारतीय साम्यवादी दल और मार्क्सवादी दल के साथ समझौते के आधार पर लडे और दल ने पजाब के ग्रामीण अंचलो मे अपनी लोकप्रियता का परिचय दिया। चुनाव परिणामो से यह स्पष्ट है कि दल पजाब मे कांग्रेस (इ) को चुनौती देने की क्षमता रखता है।

पहले चुनाव से ही अकाली दल पजाब मे कांग्रेस के पश्चात् दूसरे सबसे बड़े दल के रूप मे सफल रहा है। वास्तव मे अकाली दल और तीसरे नम्बर के दल के बीच का अन्तर कांग्रेस और अकाली के बीच के अन्तर से कही अधिक रहा है। सन् 1952 मे अकाली दल को वैध मतो का 24 प्रतिशत प्राप्त हुआ। सन् 1957 के चुनाव से पहले अकाली दल कांग्रेस मे सम्मिलित हो गया और इसने एक अलग राजनीतिक दल के रूप में चुनाव नही लडा। सन् 1962 मे दल को 20 7 प्रतिशत, 1967 में 24 7 प्रतिशत और 1969 मे 19·5 प्रतिशत मत मिले। सन् 1972 मे अकाली दल को 27·7 प्रतिशत और 1977 मे 31·4 प्रतिशत मत प्राप्त हुए।

ऊपर वर्णित चुनाव सफलताओं के विश्लेषण से अकाली समर्थन के बारे मे कुछ विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। पहली बात तो यह है कि पजाब मे इस दल का निश्चित आधार है जो दलीय व्यवस्था मे उथल-पुथल के बावजूद इस दल को समर्थन देता है। अध्ययनो से पता चलता है कि यह आधार मुख्य रूप से ग्रामीण सिक्ख कृषक वर्ग का है। अकाली दल इस वर्ग का आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक सभी क्षेत्रो मे प्रतिनिधित्व करता है। दूसरी विशेषता यह है कि सदैव दूसरे नम्बर का दल रहने के बावजूद अकाली दल की चुनाव जीतने की क्षमता सीमित है। सन् 1977 के चुनाव को छोड़कर इस दल का मत प्रतिशत कभी भी 30 प्रतिशत से ऊपर नही गया इसका कारण इसकी केवल एक ही धार्मिक सम्प्रदाय से अपील और आर्थिक कार्यक्रम में वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व है।

जून 1980 के चुनावो मे पराजय के बाद अकाली नेताओ को निराशा ने घेर लिया। अकाली दल कई धड़ो मे बँट गया। मुख्य धडे का नेतृत्व सन्त हरचन्द सिंह लोंगोवाल और पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री प्रकाश सिंह बादल कर रहे थे। कई मुद्दो को लेकर उन्होंने पंजाब की कांग्रेस (आई) सरकार और भारत सरकार के विरुद्ध आन्दोलन छेड दिया। अकाली दल की मुख्य माँगे रही है (i) हरियाणा, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान के पंजाबी भाषी इलाके पजाब मे शामिल किये जायें, (ii) चण्डीगढ को अकेले पंजाब की राजधानी स्वीकृत किया जाय, (iii) भाखडानांगल जैसे जल विद्युत केन्द्र पंजाब के नियन्त्रण मे रहे, (iv) पंजाब मे भारी उद्योगो

की स्थापना की जाये; (v) गुरुद्वारों की प्रबन्ध समितियों व सिक्खों के अन्य धार्मिक मामलों में सरकार हस्तक्षेप न करे। इन माँगों को लेकर अकाली दल ने न केवल धरने दिये और प्रदर्शन किये, बल्कि 'रास्ता रोको' और 'रेल रोको' जैसे आन्दोलन भी चलाये। इस समय पंजाब की स्थिति बहुत विस्फोटक है। अकाली दल के भीतर उन लोगों की संख्या तेजी से बढ़ रही है जो 'खालिस्तान' यानी 'सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सिक्ख राज्य' का समर्थन करते हैं।

अकाली दल के चुनाव घोषणा-पत्र में दावा किया गया है कि अकाली दल आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक न्याय के आधार पर खड़ा राजनीतिक दल है, जिसका उद्देश्य अधिनायकवाद का विरोध और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। अकाली दल संविधान के संघीय स्वरूप, राज्यों की स्वायत्तता और अल्पसंख्यकों के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक भाषायी हितों की रक्षा के मुद्दों पर विशेष बल देता है। यह दल पंजाब और अन्य सम्बन्धित क्षेत्रों में गुरुमुखी भाषा और लिपि के अधिकाधिक प्रयोग का विशेष समर्थक है।

अकाली दल प्रमुखतया पंजाब के कृषकों का राजनीतिक दल है। अपने आर्थिक कार्यक्रम के अन्तर्गत इसके द्वारा भूमि सुधार कानूनों की क्रियान्विति, कृषि के आधुनिकीकरण, कृषकों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलवाने, उर्वरकों के दाम घटवाने और ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगों के विकास की बात कही गयी है। सन् 1962 के चुनाव से जब से अकालीदल को ग्रामीण कृषक वर्ग का अधिक समर्थन प्राप्त हुआ है दल की नीतियों में तदनुसार परिवर्तन देखने को मिलते हैं। अब अकालीदल तथाकथित अनावश्यक भूमि सुधारों का विरोध करता है और शहरी सम्पत्ति की अधिकतम सीमा निर्धारित करने के लिए तत्पर है। इसी प्रकार उचित दाम पर अनाज की बिक्री के स्थान पर आज इसकी माँग किसानों को उचित न्यूनतम कीमत प्राप्त करवाने की है। अकाली दल 10 एकड़ तक की भूमि पर राजस्व की छूट, सिंचाई की अधिक सुविधाएँ, गाँव में बिजली, सस्ते दामों पद खाद, कृषकों को बैंकों और अन्य संस्थाओं से ऋण की सुविधाओं आदि के लिए विशेष प्रयत्नशील है। अब उसकी दूसरी रुचि पंजाब के औद्योगीकरण में भी है क्योंकि अनेक बड़े किसानों के पास खेती से कमाया व्यापक धन उद्योगों में लगाने के लिए उपलब्ध है।

पंजाब में रहने वाले हिन्दू-हरिजन और एक सीमा तक शहरी सिक्ख अकालीदल को समर्थन नहीं देते। इसी का दूसरा पहलू यह है कि अकाली दल अपनी संकीर्णता के बावजूद अकेले विधानसभा में बहुमत नहीं प्राप्त कर सकता।[1]

सितम्बर 1985 के विधानसभा एवं लोकसभा चुनावों में अकालीदल को पंजाब में ऐतिहासिक सफलता प्राप्त हुई। विधानसभा के 115 स्थानों में से 73 तथा लोकसभा के 13 स्थानों में से 7 स्थान जीतकर राज्य में पहली बार उसने अपने बलबूते पर सरकार बनायी। काफी संख्या में हिन्दू मतदाताओं ने भी अकालियों को मत दिये। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों में अकालीदल (मानगुट) को 7 स्थान प्राप्त हुये।

द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम तथा अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम (D. M K. and A. D. M. K)

तमिलनाडु राज्य में द्रविड कड़गम एक स्थानीय द्रविड़ आन्दोलन की राजनीतिक शक्ति का प्रतीक है। इसकी मूल जड़ें जस्टिस पार्टी (दक्षिण भारतीय उदारवादी संघ) में थी जो एक गैर ब्राह्मण आन्दोलन था। पेरियर के नाम से विख्यात ई. वी. रामास्वामी नाइकर जो 1938 में जस्टिस पार्टी के अध्यक्ष थे, ने राजनीति को तमिल रूप देने का कार्यक्रम शुरू किया और तमिलनाडु में एक नये राज्य द्रविड़िस्तान बनाने की माँग रखी। 1944 में पेरियर ने दल का द्रविड कड़गम के नाम से पुनः निर्माण किया और अपना लक्ष्य एक स्वतन्त्र द्रविडिस्तान की प्राप्ति

---

[1] Paul R. Brass, *Religion, Language and Politics in North India* (New Delhi, 1975), pp 374-35.

रखा। इसने तमिल समुदाय को एक पूर्ण इकाई के रूप मे राजनीतिक गतिविधियों के द्वारा ऊँचा उठाने के लिए प्रोत्साहित किया। द्रविड कड़गम एक ब्राह्मण विरोधी और धर्म विरोधी दल था।

जस्टिस पार्टी के सक्रिय सदस्य और पेरियर के मुख्य समर्थक तथा द्रविड़ कड़गम के एक समूह के नेता सी. एन. अन्नादुराई ने 1949 मे एक नये दल द्रविड मुनेत्र कड़गम का गठन किया। यह एक प्रकार से पेरियर की प्रजातन्त्र विरोधी नीति के विरुद्ध विरोध था। अन्नादुराई जनता के प्रिय महान नेता व ओजस्वी वक्ता थे, उन्होंने जल्दी ही द्रविड मुनेत्र कड़गम को तमिल राजनीति मे विशिष्ट स्थान दिला दिया। 1957 मे पहली बार द्रविड मुनेत्र कड़गम ने चुनावों मे हिस्सा लिया और 15% मत प्राप्त किये। इसके पश्चात् इसने तीव्र प्रगति की तथा 1967 के आम चुनाव मे डी. एम. के मद्रास मे सत्तारूढ दल तथा राष्ट्रीय संसद मे तीसरे बडे विरोधी दल के रूप मे आगे आया। अन्नादुराई ने मद्रास मे डी. एम. के दल की पूर्ण बहुमत की सरकार बनायी। फरवरी 1969 में अन्नादुराई की मृत्यु के पश्चात् दल मे व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धाएँ तथा मतभेद प्रारम्भ हो गये। अन्त मे करुणानिधि दल के नेता बने तथा 1969 से 1976 तक तमिलनाडु के मुख्य-मन्त्री बने रहे। जनवरी 1967 मे केन्द्रीय सरकार ने डी. एम. के सरकार को भग कर दिया। जून 1976 के चुनाव मे राज्य विधानसभा मे डी एम. के. को 48 स्थान प्राप्त हुए। हिन्दी विरोध और आगे चलकर 'राज्यों के लिए स्वतन्त्रता' इस दल की नीति और कार्यक्रम के प्रमुख आधार रहे है।

अन्ना डी. एम के—डी. एम. के. के अध्यक्ष करुणानिधि और कोषाध्यक्ष एम. जी. रामचन्द्रन के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाने पर अक्टूबर 1972 मे एम. जी रामचन्द्रन ने डी. एम. के. से अलग होकर अन्ना डी. एम. के. का निर्माण किया। अन्ना डी. एम. के. एक क्षेत्रीय दल है जिसका प्रभाव क्षेत्र तमिलनाडु और पाण्डिचेरी मे है। जून 1977 के राज्य विधानसभा चुनावों मे अन्ना डी एम. के. ने 130 स्थान प्राप्त किये तथा एम. जी. रामचन्द्रन के नेतृत्व में राज्य मन्त्रिमण्डल का गठन किया। अपनी स्थापना के समय से ही अन्ना डी एम. के की मूल-नीति यथासम्भव केन्द्र के शासक दल के साथ सहयोग करने की रही है। इसी कारण 1977 के लोकसभा तथा विधानसभा चुनाव इसने सत्ता कांग्रेस के साथ सहयोग करते हुए लड़े, लेकिन जब केन्द्र मे जनता पार्टी की सरकार बन गयी तो जनता पार्टी के समीप आने का कार्य किया और जब इसका पतन हो गया तो जनता 'एस' के साथ सरकार मे भागीदारी की। मई 1980 के विधानसभा चुनावों मे तमिलनाडु मे दो गठबन्धन थे—पहला कांग्रेस डी एम. के. गठबन्धन तथा दूसरा वामपन्थी तथा अन्य छोटे दलो के साथ अन्ना डी एम. के. गठबन्धन। इसमे अन्ना डी. एम के गठबन्धन ने सफलता प्राप्त कर तमिलनाडु मे अपनी सरकार का निर्माण किया।

तमिलनाडु के दोनों राज्य स्तरीय दलो की राज्य मे नीति एक-सी है और दोनों ही अखिल भारतीय सन्दर्भ मे केन्द्र मे सत्तारूढ दलो—चाहे कांग्रेस हो या जनता पार्टी साथ देते रहे है या साथ देने के इच्छुक रहे हैं। राबर्ट हार्डग्रेव के अनुसार, "डी. एम. के और अन्ना डी. एम. के. एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी जरूर हैं पर इन दोनों दलो की नीतियों मे कोई विशेष अन्तर नहीं है।" दोनों दलो के कार्यक्रम के खास-खास मुद्दे इस प्रकार हैं—(i) समाज के पिछडे वर्गों को समान अवसर दिये जायें तथा छूआछूत को पूरी तरह से समाप्त किया जाये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सरकार ने राज्य के लगभग 65 हजार निर्धन बच्चो को दोपहर का भोजन मुफ्त देने की योजना लागू करके एक साहसिक कदम उठाया है। 1982-83 के बजट मे इसके लिए एक अरब रुपये की व्यवस्था की गयी, (ii) अन्धविश्वास नष्ट किये जायें तथा हर क्षेत्र में 'बुद्धिवाद' (Rationalism) और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जाये, (iii) तमिल भाषा और संस्कृति का प्रचार किया जाये तथा हिन्दी के जबरन लादे जाने का विरोध किया जाये. (iv) डी. एम. के की

एक प्रमुख माँग यह रही है कि राज्यों को अधिक स्वायत्तता और वित्तीय साधन दिये जायें 1970 में डी. एम. के. ने 'राज्य स्वायत्तता सम्मेलन' आयोजित किया। राजमन्नार म़ि ।त प्रतिवेदन के आधार पर अपनी राज्य स्वायत्तता की माँग को तार्किक आधार प्रदान किया।

दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावों मे अन्ना द्रमुक को 11 सीटें प्राप्त हुईं। वैसे लोकसभा की 12 सीटों के लिए ही चुनाव लडा था। राज्य विधानसभा की 234 सीटों मे उसे 133 सीटें प्राप्त हो गयी और इस प्रकार तमिलनाडु मे राज्य राजनीति की बागडोर पुन अन्ना डी. एम के. दल के हाथों मे आ गयी।

फरवरी 1989 मे तमिलनाडु विधानसभा चुनावों मे डी. एम. के. को 147 स्थान प्राप्त हुए और करुणानिधि के नेतृत्व में 13 वर्ष बाद दल ने शासन की बागडोर सँभाली। डी. एम. के. को 33·4 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। इसके विपरीत अन्ना द्रमुक (जय ललिता) को 21·7 प्रतिशत मत और 27 स्थान एवं अन्ना द्रमुक (जानकी) को 9·1 प्रतिशत मत और 1 स्थान मिला। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों मे डी. एम. के. को एक भी सीट प्राप्त नहीं हुई जबकि अन्ना डी. एम. के. (जय ललिता) को 13 सीटें मिलीं।

नेशनल कांफ्रेन्स (National Conference)

नेशनल कांफ्रेन्स की मूल जड 1930 के दशक मे 'वाचनालय दल' के रूप मे थी। शेख मोहम्मद अब्दुल्ला इस छोटे से दल के राजनीतिक वाद-विवादों का नेतृत्व करते रहे। 'वाचनालय दल' शीघ्र ही अखिल जम्मू व कश्मीर मुस्लिम कांग्रेस मे बदल गया। 1938 मे अपने पहले अधिवेशन मे नेशनल कांफ्रेन्स ने वयस्क मताधिकार की तथा अल्पसंख्यकों के लिए स्थानों के आरक्षण की सिफारिश की। भारत के विभाजन के समय नेशनल कांफ्रेन्स के नेता जेल मे थे। भारतीय संघ मे कश्मीर के विलय के बाद शेख अब्दुल्ला प्रधानमन्त्री बने। उन्होंने भारतीय संविधान सभा पर अनुच्छेद 370 को अंगीकार करने के लिए जोर डाला, जिसके अन्तर्गत जम्मू व कश्मीर राज्य के भारत गणराज्य के साथ विशेष सम्बन्ध स्थापित किये गये।

केन्द्रीय सरकार के साथ कश्मीर के मामलों के एकीकरण की प्रक्रिया का शेख अब्दुल्ला और उनकी नेशनल कांफ्रेन्स ने विरोध किया तथा इससे इन्हे अगस्त 1953 मे कैद व नजरबन्द कर दिया गया। जनवरी 1964 मे मुख्यमन्त्री सादिक ने नेशनल कांफ्रेन्स 'कश्मीर स्वतन्त्रता आन्दोलन के सबसे पुराने दल' के उन्मूलन पर अध्यक्षता की। भूतपूर्व प्रधान बख्शी गुलाम मुहम्मद ने स्वयं अपने नेतृत्व मे नेशनल कांफ्रेन्स को पुनर्जीवित करने का निर्णय किया।

जम्मू एवं कश्मीर विधानसभा के लिए 1967 के आम चुनावों मे बख्शी की नेशनल कांफ्रेन्स ने केवल आठ स्थान प्राप्त किये, हालाकि इसने कुल मतों का 34% प्राप्त किया। यह जनता मे असन्तोष का केन्द्र बिन्दु बन गयी।

1968 के शुरू मे शेख अब्दुल्ला को बिना शर्त रिहा कर दिया। सितम्बर 1972 मे कश्मीर मे हुए नागरिक मतदान मे उसकी समर्थकों की लगभग सम्पूर्ण विजय ने नेशनल कांफ्रेन्स की राजनीतिक शक्ति के पुन उभर आने की घोषणा की। फरवरी 1975 मे शेख अब्दुल्ला तथा प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी के बीच समझौता सम्पन्न हुआ। इस समझौते के परिणामस्वरूप शेख अब्दुल्ला तथा उनकी नेशनल कांफ्रेन्स ने आत्म निर्णय व जनमत संग्रह का नारा छोड दिया तथा राज्य की 1953 की स्थिति को पुन प्रतिष्ठित किया गया। इस समझौते के आधार पर शेख के द्वारा जम्मू कश्मीर मे कांग्रेस के सहयोग से सत्ता ग्रहण की गयी, लेकिन नेशनल कांफ्रेन्स और कांग्रेस दल के सम्बन्ध तनावपूर्ण बनते गये। मार्च 1977 के चुनावों मे स्वतन्त्रता के बाद पहली बार शेख अब्दुल्ला तथा उनका दल नेशनल कांफ्रेन्स सत्ता मे आया। विधानसभा चुनावों मे नेशनल कांफ्रेन्स ने डाले गये मतों का 48% प्राप्त किया तथा मुख्यमन्त्री शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व मे सरकार का गठन किया गया।

जून 1983 मे कश्मीर विधानसभा के चुनावो में सत्तारूढ़ नेशनल कांफ्रेन्स और कांग्रेस (इ) मे जबरदस्त टक्कर हुई। नेशनल कांफ्रेन्स को 46 स्थान प्राप्त हुए और डॉ. फारुख अब्दुल्ला पुन मुख्यमन्त्री पद पर आसीन हुए। उसके वाद नेशनल कांफ्रेन्य का स्वर केन्द्र विरोधी होता रहा और डॉ. फारुख 'राज्य स्वायत्तता' की माँग करने लगे।

अक्टूबर 1983 मे श्रीनगर में प्रतिपक्षी नेताओं का सम्मेलन आयोजित करके उन्होने राज्य स्वायत्तता और केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के पुनः निर्धारण का जोरदार समर्थन किया।

जुलाई 1984 मे नेशनल कांफ्रेन्स से दल-बदल के कारण डॉ. फारुख की सरकार अल्पमत मे आ गयी और राज्यपाल जगमोहन ने उसे बर्खास्त कर दिया। केन्द्र ने फारुख अब्दुल्ला पर यह आरोप लगाया था कि वह पृथकतावादी तत्वो से मिले हुए है और भारत विरोधी गतिविधियो मे संलग्न है। जम्मू-कश्मीर की बागडोर जी. एम. शाह के हाथों में सौंप दी गयी जो नेशनल कांफ्रेन्स के प्रतिद्वन्द्वी गुट के नेता थे। दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावो में नेशनल कांफ्रेन्स ने 4 प्रत्याशी खडे किये और तीन स्थानो पर उसे विजय प्राप्त हुई। नवम्बर 1986 मे कश्मीर मे राष्ट्रपति शासन की जगह लोकप्रिय सरकार का गठन किया गया जिसका नेतृत्व डॉ. फारुख अब्दुल्ला कर रहे थे। सरकार मे नेशनल कांफ्रेन्स और कांग्रेस (इ) दोनों ही दलो के व्यक्ति शामिल थे। मार्च 1987 के विधानसभा चुनाव मे दो दलो के इस मोर्चे को भारी सफलता मिली और कश्मीर मे पुन एक मिली-जुली सरकार का गठन किया गया। नवम्बर 1989 के लोक सभा चुनावो मे नेशनल कांफ्रेन्स को 6 मे से 3 सीटें प्राप्त हुई।

मुस्लिम लीग (Muslim League)

सन् 1906 मे स्थापित यह दल देश के विभाजन के वाद भारत से लगभग समाप्त हो गया। 1970 के लगभग यह पहले केरल और फिर तमिलनाडु मे सक्रिय हो गया। मार्च 1977 के चुनावो मे इसने लोक सभा की दो सीटें (तमिलनाडु और केरल) जीती। केरल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तर भारत के कुछ राज्यो में यह दल अपने प्रभाव के लिए सचेष्ट है। मुस्लिम लीग का मुख्य उद्देश्य भारतीय मुसलमानो के हितों और मुस्लिम समुदाय के विशेष सामाजिक कानूनो आदि की रक्षा है। जनवरी 1980 के चुनावो मे मुस्लिम लीग ने लोकसभा की 3 सीटे जीती इनमे 2 केरल से तथा 1 तमिलनाडु से मिली। केरल मे इसका अच्छा प्रभाव है। 1981-82 मे लीग के नेता मोहम्मद कोया केरल के मुख्यमन्त्री भी रह चुके है। केरल मे मिली-जुली सरकारो के निर्माण मे लीग का सहयोग एक सहयोग एक प्रभावक तत्त्व है।

तेलगूदेशम् (Telugu Desham)—तेलगूदेशम् आन्ध्र प्रदेश मे नवनिर्मित राज्य स्तरीय दल है। जनवरी 1983 के आन्ध्र विधान सभा के चुनावो के 9-10 माह पूर्व इस दल की स्थापना की गयी। आन्ध्र प्रदेश कांग्रेस का गढ रहा है और तेलगूदेशम् की स्थापना कांग्रेस शासन की प्रतिक्रिया स्वरूप हुई है। इसकी स्थापना मे फिल्मी अभिनेता एन. टी रामाराव की निर्णायक भूमिका रही है। आमतौर पर यह माना जाता है कि अकेले रामाराव ने तेलगूदेशम् पार्टी का गठन किया। मगर वास्तविकता यह है कि इस राजनीतिक दल की स्थापना मे आन्ध्र प्रदेश के कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो का हाथ है जिनकी राजनीतिक आकाक्षाएँ किसी से छिपी नही। इसी सिलसिले मे 'ईनाडु' तेलुगू सामाचार पत्र के संस्थापक रामूजीराव का नाम चर्चित हो गया है जो क्षेत्रीय समस्याओं के प्रकाशन से ही लोकप्रिय हो गया। रामूजीराव और उनके साथियों ने कई वर्षों से पूरे आन्ध्र प्रदेश मे क्षेत्रीय भावनाओं पर आधारित सूचना तन्त्र की स्थापना की थी जिसके आधार पर वे किसी भी समय क्षेत्रीय दल का गठन कर सकते थे क्योकि वे समझ चुके थे कि कांग्रेस के शासन से प्रदेश के लोग क्षुब्ध हैं मगर कोई व्यावहारिक विकल्प न होने के कारण लोगो को बार-बार श्रीमती गाँधी के करिश्मे की शरण लेनी पडती थी।

जनवरी 1983 के आन्ध्र विधानसभा के चुनावो मे तेलगूदेशम् को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। उसने 289 स्थानो पर चुनाव लडा और 294 सदस्यीय विधानसभा मे उसके 202 सदस्य निर्वाचित हुए। एन. टी. रामाराव मुख्यमन्त्री बने।

तेलगूदेशम् का चुनावी कार्यक्रम इस प्रकार था :

(1) उनकी पार्टी राज्य को स्वच्छ और स्थिर प्रशासन प्रदान करेगी।

(2) लोगो को चावल दो रुपये प्रति किलो की दर से उपलब्ध कराया जायेगा।

(3) अफसरो की जवाबदेही पर विशेष ध्यान दिया जायेगा।

(4) निरर्थक और अलाभकारी खर्चों की कटौती होगी।

(5) उद्योगो, कृषि, सिचाई बिजली और ग्रामीण विकास आदि क्षेत्रो मे सलाह-मशविरे के लिए आवश्यक मंच बनाये जायेगे, जिसमे जन प्रतिनिधियो को शामिल किया जायेगा।

(6) उन सभी नियमो को खत्म कर दिया जायेगा जिन पर बेकार का खर्चा होता है।

(7) प्राथमिक पाठशालाओं के छात्रो को दोपहर का भोजन देने के लिए एक व्यापक कार्यक्रम बनाया जायेगा।

(8) तेलगू प्रदेश की सरकारी भाषा होगी, सभी कामकाज इसी भाषा मे किया जायेगा। मगर अन्य राज्यो और केन्द्र से हिन्दी ही सम्पर्क की भाषा है। अंग्रेजी एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है।

सत्तारूढ होने के बाद तेलगूदेशम् ने पडौसी राज्यो और प्रतिपक्षी दलो के साथ सहयोग की नीति अपनायी। रामाराव ने मन्दिरो की नगरी तिरुपति मे एक महिला विश्वविद्यालय की स्थापना करवायी है। वे छ हजार रुपये वार्षिक आय से कम वाले परिवारो को दो रुपये प्रति किलो की दर पर चावल दिलवाने लगे।

तेलगूदेशम् दल राज्य स्वायत्तता का प्रबल समर्थक है। विजयवाडा और श्रीनगर मे आयोजित सम्मेलनो मे दल ने केन्द्र-राज्य सम्बन्धो पर पुनर्विचार की माँग की है।

दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावों मे तेलगूदेशम् ने 32 स्थानों पर चुनाव लडा और उसे 28 सीटे प्राप्त हुई। आठवी लोकसभा मे तेलगूदेशम् सबसे बडे विपक्षी दल के रूप मे उभरा। मार्च 1985 के चुनावो मे तेलगूदेशम् ने विधानसभा की दो-तिहाई से अधिक सीटें जीती। नवम्बर 1989 के राज्य विधानसभा चुनावो मे तेलगूदेशम् को भारी पराजय का मुँह देखना पडा।

अन्य राज्यों में क्षेत्रीय और राज्य स्तर के दलों के परिदृश्य
(THE PHENOMENON OF REGIONAL OR STATE PARTIES IN OTHER STATES)

क्षेत्रीय दलो मे विशाल हरियाणा पार्टी हरियाणा राज्य मे एक समय अपना अच्छा प्रभाव रखती थी और जून 1977 के हरियाणा विधान सभा चुनावो मे इसने 4 स्थान प्राप्त किये। महाराष्ट्रवादी गोमातक दल का गोवा मे प्रभाव है और वहाँ यह दल सत्ता मे भी रहा है। मार्च 1977 मे इसने लोकसभा मे एक सीट जीती। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया का प्रभाव महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और पंजाब मे है। इसका एकमात्र ध्येय अनुसूचित जातियो के हितो की रक्षा करना है। कृषक एव मजदूर दल का प्रभाव क्षेत्र मुख्यत महाराष्ट्र और सीमित रूप मे मध्य प्रदेश तथा आन्ध्र प्रदेश है। यह दल किसानो और मजदूरो के लोकतान्त्रिक शासन की स्थापना, बिना क्षतिपूर्ति के मजदूरी प्रथा की समाप्ति, भूमि के पुनर्वितरण और भूमिहीन श्रमिको के लिए न्यूनतम वेतन निर्धारण का पक्षधर है। मार्च 1977 के लोकसभायी चुनावो मे इस दल ने जनता पार्टी के सहयोगी के रूप मे चुनाव लडा। महाराष्ट्र मे इसने 5 लोकसभायी सीटे जीती।

केरल राज्य अन्य राज्यो की तुलना मे वहुत छोटा है पर वहाँ वहुत-सी क्षेत्रीय पार्टियाँ है। काग्रेस नाम से ही कम से कम चार पार्टियाँ है—काग्रेस (आई), काग्रेस (एस), केरल काग्रेस (मणिगुट), और केरल काग्रेस (जोजेफ गुट)। कम्युनिस्ट पार्टी के नाम से दो पार्टियाँ हैं। इसी प्रकार मुस्लिम लीग के नाम पर दो दल है। जाति और सम्प्रदाय के आधार पर जितने दल केरल मे हैं उतने किसी अन्य राज्य मे नही। कर्नाटक मे स्वर्गीय देवराज अर्स ने काग्रेस की गतिविधियो से निराश होकर 'क्रान्तिरगा' की स्थापना की। जनवरी 1983 के कर्नाटक विधान सभायी चुनावो मे जनता-क्रान्तिरगा गठवन्धन को 224 सीटो मे से 95 स्थान मिले।

मेघालय की दो प्रमुख क्षेत्रीय पार्टियाँ है—आल पार्टी हिल लीडर्स काफ्रेन्स (APHLC) तथा हिल स्टेट पिपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (HSPDP), मेघालय की दोनो क्षेत्रीय पार्टियाँ स्थानीय स्वायत्तता की माँग तो अवश्य करती है, पर वे देश की एकता व अखण्डता का विरोध नही करती। 2 मार्च, 1983 को इन दोनो पार्टियो ने मिलकर लिंगदोह के नेतृत्व मे एक मिली-जुली सरकार बनायी जो सिर्फ एक महीना चल पायी। इस समय मणिपुर मे कई प्रादेशिक दल विद्यमान है, जैसे—मणिपुर हिल यूनियन (M H U), कूकी नेशनल एसेम्वली (Kuki National Assembly) और मणिपुर जनमुक्ति सेना (Manipur People's Liberation Army)। मणिपुर जनमुक्ति सेना पूरी तरह से आतंकवादियो के नियन्त्रण मे है और वह देश की एकता के लिए एक वहुत वडा खतरा है। नागालैण्ड मे इस समय कई प्रादेशिक दल सक्रिय हैं, जैसे नागा नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी (Naga National Democratic Party), यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रण्ट (United Demccratic Front) तथा नागा नेशनल काउन्सिल (Naga National Socialist Council), त्रिपुरा मे प्रक प्रमुख प्राटेशिक दल 'त्रिपुरा उपजाति युवा समिति' है। काग्रेस (आई) ने 1983 के विधान सभायी चुनावो के लिए इस पार्टी के साथ गठवन्धन किया था। मिजोरम मे भी कई प्रादेशिक दल विद्यमान हे, जिनमे पिपुल्स कान्फ्रेस (People's Conference) तथा मिजो यूनियन पार्टी (Mizo Union Party) उल्लेखनीय है। ये दोनो दल पूर्णतया राष्ट्रवादी है। वहाँ पिछले 15 वर्षो से 'मिजो नेशनल फ्रण्ट' भी सक्रिय है। लाल डेंगा के नेतृत्व मे इसने हिंसा तथा तोड़-फोड की नीति अपनायी थी। परन्तु, जून 1986 मे एक समझौता हुआ जिसके तहत मिजोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा दिये जाने का आश्वासन दिया गया। फरवरी 1987 मे मिजोरम भारत का 23वाँ राज्य वना और विधानसभा चुनावों मे मिजो नेशनल फ्रण्ट को पूर्ण वहुमत मिला और उसके नेता लाल डेंगा ने राज्य की वागडोर सँभाली।

निष्कर्ष— कम्युनिस्ट पार्टी ने पश्चिम वगाल तथा त्रिपुरा मे काग्रेस (इ) छोड सब गुटो और दलो को समाप्त प्राय कर दिया और पडौसी असम तथा विहार पर भी अपना प्रभाव क्षेत्र फैला दिया है। केरल मे उसकी स्थिति मजवूत है। पर यह इस वात का संकेत भी देता है कि अखिल भारतीय सगठन व नीतियाँ होते हुए भी मार्क्सवादी दल मूलत क्षेत्रीय दल रह गया है। यह भी पूछा जा सकता है कि क्या यही स्थिति अन्य अखिल भारतीय दलो की नही है? नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावो के वाद **जनता दल** का आधार उत्तर प्रदेश, विहार, राजस्थान और हरियाणा के कतिपय क्षेत्र हैं, **भारतीय जनता पार्टी** का आधार दिल्ली, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और गुजरात के कतिपय क्षेत्र हैं, **कांग्रेस (इ)** का आधार कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु और केरल (दक्षिणी भारत) है। क्या तथाकथित राष्ट्रीय दल **क्षेत्रीय दलों** का रूप नही ग्रहण कर रहे है?

यह सही है कि भारत के राजनीतिक नेतृत्व मे धीरे-धीरे फेर-वदल आ रहा है। पर वह क्षेत्रीय न होकर आर्थिक-सामाजिक है। श्री एन. टी रामाराव यदि अर्थ सम्पन्न परन्तु सत्ताविहीन कम्मा जाति के प्रतीक वनकर न आते तो क्या उनको जो वहुमत मिला, मिल सकता था। तेलगाना मे जहाँ रेड्डी प्रभुत्व इतना विकराल नही था—काग्रेस को काफी समर्थन मिला। तमिलनाडु का हिन्दी विरोध हो या असम की विदेशियों की समस्या हो, मूल कारण आर्थिक सुविधाओं के सरक्षण व वँटवारे का सवाल है। पंजाव का जाट सिक्ख भी यह अनुभव करता है कि धन उसके पास है, उसके पास सख्या वल भी है, पर सिवख के नाम पर मौर किसी और के वँध जाता है, सेना मे अवसरो की कमी उसके लिए पन्थ की रक्षा से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। प्रश्न है इन समस्याओं के हल का विश्वास पैदा करने का।

34

भारतीय राजनीति में दबाव समूह

[PRESSURE GROUPS IN INDIAN POLITICS]

राजनीतिक प्रक्रिया मे दबाव समूहो का विशिष्ट महत्त्व है। ऐसा भी समय था जब दबाव तथा हित समूहो को अनैतिक माना जाता था एव हेय दृष्टि से देखा जाता था। **फ्रेडरिक** ने लिखा है कि, "क्या कूडा ढोने वाले और राजनीतिशास्त्र के गम्भीर छात्र सभी इन दबाव समूहो को घटिया व तुच्छ दृष्टि से देखते थे। इन्हे ऐसी पापात्मा शक्ति माना जाता था जो लोकतन्त्र की जड़े कमजोर करने अथवा प्रतिनिध्यात्मक शासन को विचलित कर सकती थी। 'लॉबी' शब्द को हेय दृष्टि से देखा जाता था और इसे धोखा, भ्रष्टाचार, बुराई आदि का प्रतीक माना जाता था।[1] किन्तु आधुनिक काल मे दबाव तथा हित समूहो को लोकतन्त्र का पक्षपोषक एव सहयोगी माना जाने लगा है। विभिन्न देशो की राजनीतिक व्यवस्था मे इन समूहो का महत्त्व और योगदान इतना अधिक बढ गया है कि इन्हे न केवल एक आवश्यक बुराई माना जाता है अपितु राजनीतिक क्रियाशीलता एव सार्वजनिक नीतियो के प्रभावशाली क्रियान्वयन के लिए स्वास्थ्यजनक तत्त्व भी स्वीकार किया जाता है। राज-व्यवस्था मे दबाव तथा हित समूहों का अभ्युदय एवं उन्नयन कोई नूतन तथ्य नही है। सदैव ही सब प्रकार के समाज एवं शासन मे दबाव समूह विद्यमान रहे हैं। वर्तमान मे दबाव समूहो के बारे मे नवोदित तत्त्व बस यही है कि वे राजनीति मे एक संस्था के रूप मे कार्यरत हैं।[2]

दबाव समूह—अर्थ एवं परिभाषा

(PRESSURE GROUPS—MEANING AND DEFINITIONS)

'दबाव समूह' को विभिन्न नामो से सम्बोधित किया गया है। हित समूह (Interest Groups), गैर-सरकारी सगठन (Private Organisation), लॉबीज (Lobbies), अनौपचारिक सगठन (Informal Groups), गुट्ट इत्यादि शब्दो का प्रयोग दबाव गुटो के लिए किया जाता रहा है। दबाव समूहो तथा अन्य सगठनो मे अन्तर अवश्य है। सभी सगठन दबाव समूह नही होते और न हित समूह और दबाव समूह समान ही हैं। प्रत्येक देश और समाज मे सैकडो हित समूह

---

[1] "They (Pressure Groups) were held upto scorn both by muckrakers and by sane students or Politics. They were the sinister force growing at the foundations of modern democracy, of representative Government, and the word 'lobby' supposedly comprehended a whole congeries of abuses, corruption, fraud and the like"
—Friedrick, Carl. J *Constitutional Government and Democracy*, Oxford and IBH, 1966, p. 460

[2] फडिया बाबूलाल . 'भारत मे दबाव की राजनीति', **लोकतन्त्र समीक्षा**, अप्रैल-जून 1973, पृ. 92।

होते हैं, किन्तु जब वे सत्ता को प्रभावित करने के इरादे से राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो जाते हैं तो 'दबाव समूह' बन जाते हैं। 'व्यक्तियों के ऐसे समूहों को दबाव समूह कहा जाता है जो किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचकों को प्रभावित नहीं करते, लेकिन जिनका सम्बन्ध विशेष मामलों से होता है। ये राजनीतिक संगठन नहीं होते न ही चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़ा करते हैं।[1]

प्रो. मदन गोपाल गुप्ता के अनुसार, "दबाव समूह वास्तव में एक ऐसा माध्यम है जिनके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह जो प्रशासकीय और विधायी दोनों ही प्रकार के निर्णय-कर्ताओं को, सरकार पर नियन्त्रण प्राप्त करने हेतु कोई प्रयत्न किये बिना ही प्रभावित करना चाहता है, तो वह दबाव समूह कहलायेगा।"[2] **ओडिगार्ड** के अनुसार, "दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य या स्वार्थ होते हैं और जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि कर सकें।"[3] **माइरन वीनर** के शब्दों में, "दबाव समूह से हमारा तात्पर्य शासकीय व्यवस्था के बाहर किसी भी ऐसे ऐच्छिक किन्तु संगठित समूह से है जो शासकीय अधिकारियों की नामजदगी अथवा नियुक्ति, सार्वजनिक नीति के निर्धारण, उसके प्रशासन और समझौता-व्यवस्था को प्रभावित करने का प्रयास करता है।"[4]

वस्तुतः दबाव समूह ऐसा माध्यम है जिनके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह जो प्रशासकीय और संसदीय दोनों ही प्रकार के पदाधिकारियों को, सरकार पर नियन्त्रण प्राप्त करने हेतु कोई प्रयत्न किये बिना ही प्रभावित करना चाहते हैं तो दबाव गुट की श्रेणी में आयेंगे। दबाव समूहों की तुलना **'अज्ञात साम्राज्य'** (Anonymous Empire) से की जाती है। जब इनके हित संकट में होते हैं अथवा जब इन्हें कतिपय स्वार्थों की प्राप्ति करनी होती है तो वे सक्रिय बन जाते हैं। अन्यथा वे हित समूहों के रूप में निष्क्रिय ही बने रहते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर दबाव समूहों के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं

(1) दबाव समूह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नीति-निर्माताओं को प्रभावित करते हैं।
(2) दबाव समूहों का सम्बन्ध **विशिष्ट मसलों** (Special Issues) से होता है।
(3) ये राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही ये चुनाव में भाग लेते हैं।
(4) दबाव समूहों को अज्ञात साम्राज्य कहा गया है। जब उनके हित खतरे में होते हैं तो वे सक्रिय बन जाते हैं।

दबाव समूहों का महत्त्व
(GROWING IMPORTANCE OF PRESSURE GROUPS)

दबाव समूहों का महत्त्व अत्यन्त व्यापक बनता जा रहा है। अधिकांश देशों के संविधान इस बात को स्वीकार करते हैं कि वहाँ पर इस प्रकार के समूहों के विकास के लिए उपयुक्त सुविधाएँ प्रदान की जायें। ये समूह प्रशासन को जन-इच्छा के अनुकूल बनाने में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। दबाव समूहों की उपयोगिता तथा महत्त्व के प्रमुख कारण निम्नवत् हैं :

(1) **जनतान्त्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के लिए दबाव समूह**—दबाव समूहों को लोकतन्त्र

---

1. V. O. Key *Politics, Parties and Pressure Groups*, Crowell Newyork, 1964, p. 1.
2. Gupta, Madan Gopal . *Modern Govts ,—Theory and Practice.*
3. Odegard, Carr, Bernstein and Morrison *American Government*, pp. 149-150.
4. Myron Weiner *Politics of Scarcity*, 1963, p 200.

की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए लोकमत तैयार करना आवश्यक है ताकि विशिष्ट नीतियों का समर्थन अथवा विरोध किया जा सके। विभिन्न देशों में दबाव गुट विभिन्न तरीकों से अपनी बात मनवाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। लोकमत को शिक्षित करके, आँकड़े इकट्ठे करके, नीति निर्माताओं के पास आवश्यक सूचनाएँ पहुँचाकर अपने अभीष्ट की प्राप्ति करना आज जनतान्त्रिक प्रक्रिया का अंग बन गया है।

(2) **शासन के लिए सूचनाएँ एकत्रित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव** प्रत्येक देश में सरकार तथा शासन के पास आवश्यक सूचनाएँ पर्याप्त रूप से होनी चाहिए शासन की सूचनाओं के गैर-सरकारी स्रोत के रूप में दबाव समूह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दबाव समूह आँकड़े इकट्ठे करते हैं, शोध करते हैं तथा सरकार को अपनी कठिनाइयों से परिचित कराते हैं।

(3) **शासन को प्रभावित करने वाले संगठन के रूप में दबाव समूह**—आजकल दबाव समूहों का अस्तित्व एक ऐसी संस्था के रूप में है जिनके पास इस दृष्टि से काफी शक्ति होती है कि वह स्वार्थ या हित विशेष की रक्षा के लिए सरकारी मशीनरी पर उपयोगी व सफल प्रभाव डाल सकें।

(4) **सरकार की निरंकुशता को सीमित करना**—प्रत्येक शासन-व्यवस्था में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है और समूची शक्तियाँ सरकार के हाथों में केन्द्रित होती जा रही हैं। दबाव समूह अपने साधनों द्वारा सरकारी निरकुशता को परिसीमित करते हैं।

(5) **समाज और शासन में सन्तुलन स्थापित करना**—दबाव समूहों के अस्तित्व का एक लाभ यह है कि विभिन्न हितों के बीच सन्तुलन सा बना रहता है और इस प्रकार कोई भी एकमात्र प्रभावशील सत्ता उदित नहीं हो पाती। व्यापारी, श्रमिक, किसान, जातीय समुदाय, स्त्रियाँ और धार्मिक समुदाय आदि सभी अपने स्वय के हितों को प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु उनको एक-दूसरे से प्रतियोगिता करने के लिए मजबूर किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप समाज और शासन में सन्तुलन स्थापित हो जाता है और यह सन्तुलनकर्ता प्रवृत्ति (Countervailing Tendency) समाज को उस स्थिति से बचाती है जिसमें कि वह व्यक्तिगत समुदाय ही सारी शक्ति को हथिया लेते हैं।

(6) **व्यक्ति और सरकार के मध्य संचार के साधन**—दबाव समूह लोकतान्त्रिक राज्य-व्यवस्था में व्यक्तिगत हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं। ये समूह नागरिक और सरकार के बीच सचार साधन का कार्य करते हैं। **रॉडी** के अनुसार, "निर्वाचित नेता दबाव समूहों के माध्यम से अपने निर्वाचकों की इच्छा आकांक्षाओं का पता लगा लेते हैं। अत. इन्हें गैर-सरकारी सचार सूत्र कहा जा सकता है।"

(7) **विधानमण्डल के पीछे विधानमण्डल का कार्य**—दबाव समूह विधि-निर्माण में विधायकों की सहायता करते हैं। अपनी विशेषता तथा ज्ञानगुरुता के कारण ये विधि-निर्माता समितियों के सदस्यों को आवश्यक परामर्श देते हैं। इनका परामर्श और सहायता दोनों ही इतनी उपयोगी होती हैं कि इन्हें विधानमण्डल के पीछे का विधानमण्डल कहा जाने लगा है।

वस्तुत दबाव समूह लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था का दूसरा नाम है। निरकुश तन्त्र में भी इनका अभाव नहीं होता। भारत में दबाव समूहों के उद्भव के प्रमुख कारण हैं—लोक कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त, आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप की नीतियाँ और व्यक्तिवाद से समाजवाद की तरफ बढ़ता हुआ झुकाव।

दबाव समूह एवं राजनीतिक दल
(PRESSURE GROUPS AND POLITICAL PARTIES)

भारत की राज-व्यवस्था में राजनीतिक दलों एवं दबाव समूहों में अन्तर करना एक कठिन कार्य है। हमारे देश में बहुदलीय प्रणाली विकसित हुई है तथा दलों की संख्या इतनी अधिक है

कि वे गुटीय राजनीति के उपकरण बन जाते है। फिर भी राजनीतिक दलो और दबाव समूहो मे आधारभूत अन्तर है—राजनीतिक दल निर्वाचनो मे भाग लेते है जबकि दबाव समूह निर्वाचनो मे अपने प्रत्याशी खड़ा नही करते, राजनीतिक दलो के विस्तृत उद्देश्य तथा कार्यक्रम होते है जबकि दबाव समूहो के संकुचित लक्ष्य होते है। राजनीतिक दल विधानमण्डलों मे कार्य करते है जबकि दबाव समूह विधानमण्डलो के बाहर कार्य करते है।

प्रो. हरमन फाइनर का कथन है कि "जहाँ सिद्धान्त और सगठन मे राजनीतिक दल कमजोर होंगे वहाँ दबाव समूह पनपेंगे जहाँ दबाव समूह शक्तिशाली होंगे वहाँ राजनीतिक दल कमजोर होंगे और जहाँ राजनीतिक दल शक्तिशाली होंगे वहाँ दबाव समूह दबा दिये जायेंगे।"[1] परन्तु राजनीतिक दलो की सुदृढता और कमजोरी का सम्बन्ध दबाव समूहो की शक्ति और दुर्बलता से नही जोडा सकता है। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन मे संगठन और अनुशासन की दृष्टि से राजनीतिक दल काफी मजबूत है किन्तु दबाव समूह भी किसी प्रकार दुर्बल नही है। भारत और फ्रास मे सगठन और सिद्धान्त की दृष्टि से राजनीतिक दल कमजोर है किन्तु दबाव समूह को भी 'किंग मेकर्स' के रूप मे मान्यता प्राप्त हो गयी है। भारत मे तो राजनीतिक दल विभिन्न दबाव गुटो के ही संयुक्त गठजोड (Coalitions) है जो दल के भीतर दलीय दृष्टिकोणो को प्रभावित करते रहत है। **अल्मोण्ड** तथा **पॉवेल** लिखते है, "भारत तथा मैक्सिको जैसे देशों मे जहाँ एक ही दल राज्य-व्यवस्था को चलाता है वहाँ यह दल विभिन्न हितो की अभिव्यक्ति का साधन बन जाता है।"[2]

भारतीय राज-व्यवस्था मे काग्रेस दल प्रारम्भ से ही विभिन्न हितो की अभिव्यक्ति का प्रभावशाली सगठन रहा है। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान इस दल ने विभिन्न हितो और स्वार्थो मे गठजोड स्थापित करते हुए अग्रेजो की नीतियो को प्रभावित करने का प्रयास किया। स्वाधीनता के बाद यह दल राष्ट्रीय आन्दोलन' के स्थान पर एक आधुनिक राजनीतिक दल के रूप मे क्रियाशील हो गया। काग्रेस मे कई विचारधाराओ, जाति तथा समुदायो के लोग सम्मिलित हुए और पुन इसकी स्थिति पूर्व की भाँति विभिन्न हितो का सामंजस्य करने वाली सस्था के रूप मे उभरी। दूसरे दलो की भी न्यूनाधिक यही स्थिति रही है और कोई भी दल जाति, सम्प्रदाय प्रदेश आदि के हितो से मुक्त नही है। सभी प्रकार के लोग सभी दलो के सदस्य बने है और यही कारण है कि एक दल का चुनाव घोषणा-पत्र दूसरे दल के घोषणा-पत्र से लगभग मिलता-जुलता है। **अल्मोण्ड** तथा **कोलमेन** का यह विश्वास है कि भारत मे तीन कारणो से राजनीतिक दलो द्वारा हित समूहो की स्पष्ट और तीव्र अभिव्यक्ति नही हो पाती—**प्रथम**, भारत मे दलीय व्यवस्था-निर्माण की प्रक्रिया मे है, **द्वितीय**, दल, विधायिका तथा नौकरशाही मे सीमाएँ स्पष्ट नही है तथा अधिकाश कार्य नौकरशाही द्वारा किया जाता है, **तृतीय**, राजनीतिक दल सगठन और सिद्धान्त मे कमजोर है।

दबाव समूहों के तरीके
(PRESSURE GROUP TECHNIQUES)

दबाव समूह अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिए उपयुक्त साधन या तरीके अपनाते है। प्राचीन समय मे उनके साधनो को बुरी नजर से तथा घृणा से देखा जाता था, किन्तु आज इन्हे बुरा नहीं माना जाता। दबाव समूह द्वारा अपनाये जाने वाले साधक इस प्रकार है :

(1) **प्रचार व प्रसार के साधन**—अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, जनता मे अपने पक्ष मे सद्भावना का निर्माण करने के लिए और उद्देश्य प्राप्ति मे सहायक सिद्ध होने वालो के

---

1 Herman Finer . *Government of Great European Powers*, 1956, p 341
2 Almond and Powell . *Comparative Politics*, 1972, p. 85.

दृष्टिकोण को अपने पक्ष मे करने के लिए ये विभिन्न दवाव समूह अथवा वर्गीय या आर्थिक हितो के प्रभावशाली संगठन प्रेस, रेडियो, टेलीविजन और सार्वजनिक सम्बन्धो के विशेषज्ञो की सेवाओ का उपयोग व प्रयोग करते है।

(2) **आँकड़े प्रकाशित करना**—नीति-निर्माताओ के समक्ष अपने पक्ष को प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करने के लिए दवाव समूह आँकडे प्रकाशित करते है, ताकि अपनी बात को पूरा करवा सके।

(3) **गोष्ठियां आयोजित करना**—आजकल दवाव समूह विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद के लिए गोष्ठियाँ, सेमिनार तथा भाषणमालाएँ एवं वार्ताएँ आयोजित करते हैं। इन गोष्ठियो मे विधायिका तथा प्रशासिका के प्रमुख अधिकारियो को आमन्त्रित करते हैं और उन्हे अपने मत से प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

(4) **संसद की लॉबियों में सक्रिय रहना**—दवाव समूह अपने एजेण्टों के माध्यम से ससद के सभाकक्षो मे जाकर सदस्यो को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। व्यावसायिक सगठन ससद की लॉवियो मे संसद सदस्यो को प्रभावित करने के लिए चतुर वकीलो या एजेण्टो को नियुक्त करते है, जो अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु कठोर परिश्रम करते हैं। लॉवी क्षेत्र के एजेण्ट अपने न्यायसगत अधिकारो की रक्षा हेतु खुले उपायों का भी सहारा लेते हैं। विधायको के साथ सम्पर्क स्थापित करते है, उनकी गतिविधियो पर निगरानी रखते हैं और विचारधारा को वदलने का प्रयास करते हैं।

(5) **रिश्वत, बेईमानी तथा अन्य उपाय**—अपने ध्येय की रक्षा के लिए दवाव समूह रिश्वत व घूस देने से नहीं कतराते। वेईमानी के तरीको का भी यथासम्भव प्रयोग करते हैं तथा विरुद्ध हितो को अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए वदनाम करवा देते हैं। कहीं-कही पर तो आवश्यकतानुसार सुरा और सुन्दरी का भी प्रयोग करते है। प्रत्येक देश की राजधानी मे दवाव समूहो के प्रतिनिधि सक्रिय रूप से क्रियाशील रहते हैं। व्यावसायिक दवाव समूह धन खर्च कर अपने साध्यो की प्राप्ति मे लगे रहते हे। आधुनिक उपायो के प्रयोग मे व्यावसायिक दवाव समूह अन्य दवाव समूहों से सदैव आगे रहते हैं।

(6) **लॉबीइंग**—लॉवीइंग से अभिप्राय है 'सरकार को प्रभावित करना'। यह एक राजनीतिक उपाय है। लॉवीस्ट का कार्य करने वाले व्यक्ति दवाव समूह और सरकार के बीच मध्यस्थ होते है। ये लॉवीस्ट तीन प्रकार के कार्य करते हैं—सूचनाये प्रसारित करते हैं, नियोजनकर्ता के हितो की रक्षा करते है तथा विधियो के राजनीतिक प्रभावों को स्पष्ट करते हे। लॉवीस्ट के माध्यम से दवाव समूह विधि निर्माताओ को प्रभावित करते हैं और वांछित लक्ष्यो की प्राप्ति करते है।

(7) **संसद-सदस्यों के मनोनयन में रुचि**—दवाव समूह ऐसे व्यक्तियो को चुनावो मे दलीय प्रत्याशी मनोनीत करवाने मे मदद देते हैं जो आगे चलकर संसद मे उनके हितो की अभिवृद्धि में सहायक हो। ऐसा कहा जाता है कि लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था मे ससद-सदस्य दवाव समूहो की जेब मे होते हैं। चुनावो मे ससद-सदस्यो को पैसा चाहिए और पैसा दवाव समूह उपलब्ध कराते हे। वे पैसो की खोज मे दवाव समूहो के पास जाते हैं और वदले मे उन्हे दवाव समूहो की माँग का समर्थन करना पडता है।

(8) **प्रदर्शन**—कभी-कभी दवाव समूह उग्र आन्दोलनात्मक तथा प्रदर्शनकारी साधनों का भी प्रयोग करते हैं। प्राय प्रदर्शनकारी दवाव समूहो द्वारा ही ऐसे साधनो का अधिक प्रयोग किया जाता है। आजकल तो दूसरे अन्य दवाव गुट भी हड़ताल, जुलूस, रैली आदि साधनो का आमतौर से प्रयोग करने मे लगे हैं।

---

[1] **धर्मयुग**, 7 जनवरी, 1973, पृ. 8-11।

ओडिगार्ड के अनुसार दवाव समूह सामान्यतया तीन प्रकार से क्रियाशील रहते हैं—**प्रथम**, दवाव समूह चुनावो के समय सक्रिय रहते हैं, **द्वितीय**, वे विधानाग पर अपना ध्यान केन्द्रित करते है और लॉबीइंग कार्य करत है और **तृतीय**, प्रसार माध्यमो से लोकमत को अपने पक्ष मे करने की चेष्टा करते हैं।[1] वस्तुत दवाव समूहो के तरीके और उपाय सरकार के क्रियाकलापों के स्वरूप पर निर्भर करते है। यदि सरकार कम से कम आर्थिक कार्यो का सम्पादन करती है तो दबाव समूह सुपुप्त रहेगे और यदि सरकार अधिक से अधिक आर्थिक कार्य करती है, राज्य का स्वरूप सकारात्मक है तो दवाव समूह अधिक-से-अधिक सक्रिय रहेगे।

भारतीय राजनीति में दबाव समूह
(PRESSURE GROUPS IN INDIAN POLITICS)

एशिया की राजनीति के तीन अध्येताओ (काहिन, पे. पार्क एव टिकर) का यह निष्कर्ष भारत पर भी लागू होता है कि "पश्चिमी देशो की राजनीतिक प्रक्रिया मे हित समूहों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है जवकि गैर-पश्चिमी देशो मे ऐसा नही हुआ है।"[2] भारत मे अमरीकी तुलना मे दवाव समूह विकसित नहीं हो पाये है यद्यपि कतिपय व्यावसायिक संगठन दवाव समूहों के रूप मे सक्रिय अवश्य हैं। किन्तु, अन्य समुदायो के दवाव समूह मध्यवर्गीय नेतृत्व के कारण सक्रिय रूप मे राजनीतिक प्रक्रिया मे निर्णयो को आधुनिक ढंग से प्रभावित नही कर पा रहे है। आर्थिक विपन्नता के कारण दवाव समूहो की माँग तथा शासकीय सामर्थ्य के मध्य एक वडा अन्तर भारत मे दर्शनीय है। सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के चलन, राजनीतिक अधिकारो की वृद्धि, जनता को प्राप्त विशेषाधिकारो एव आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रो मे नियोजित कार्यक्रमो के विस्तार के कारण भारत की राजनीतिक संरचना मे संगठित दवाव व हित समूहों का विस्तार होता जा रहा है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—स्वाधीनता मे पूर्व भी अनेक हित समूह भारतीय राजनीति मे क्रियाशील रहे हैं। ब्रह्म समाज, धर्मसभा, तरुण बगाल ग्रुप, सत्यशोधक समाज, ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन इत्यादि हित समूह समाज-सुधार के रूप मे कार्यरत थे। सन् 1885 मे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस तथा 1906 मे मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। आमण्ड तथा कोलमेन का मत है कि दक्षिण एशिया के प्रारम्भिक आधुनिक समुदाय यथार्थ मे हित समूह ही थे न कि राजनीतिक दल। काग्रेस, मुस्लिम लीग इत्यादि का ध्येय तो मात्र मध्यम वर्ग के हितो की ही अभिवृद्धि करना था और इसलिए इन्हे प्रारम्भिक हित समूह कहा जा सकता है।[3] जैसाकि एक इतिहासकार ने लिखा है, इनका ध्येय प्रचलित वैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत शासन को प्रभावित करना मात्र ही था।[4] बाद मे काग्रेस एक राष्ट्रीय अन्दोलन मे परिवर्तित हो गयी। हित समूह से राष्ट्रीय आन्दोलन मे परिवर्तन की इस घटना ने भारतीय राजनीति मे उदित होने वाले दवाव समूह के स्वरूप और ढाँचे को अत्यधिक प्रभावित किया है। काग्रेस को एक जन-आन्दोलन के रूप में सगठित करने के ध्येय से हमारे राष्ट्रीय नेताओ ने कृपक सघो, श्रमिक सघो, छात्र समुदायों आदि का निर्माण किया। अत. यह कहना उचित होगा कि स्वाधीनता से पूर्व भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस एक ऐसा सगठन था जिससे भाँति-भाँति के हित समुदाय सगठित होकर अपने हितो की अभिवृद्धि करते थे। मुस्लिम समाज के हितो की अभिवृद्धि के लिए मुस्लिम लीग भी इस काल मे काफी सक्रिय रही है। मुस्लिम लीग के प्रभाव को सन्तुलित करने के लिए ही हिन्दू महासभा की स्थापना की गयी थी।

---

1 Odegard *American Government*, 1961, p 156

2 Kahin, Pye, Park . *Comparative Politics of Non-Western Countries*, *American Pol Sc*, *Review*, Dec. 1950 pp. 10-26

3 Almond and Coleman *The Politics of the Developing Areas*, 1970, p. 185.

4 Moreland and Chatterjee : *A Short History of India*, London, 1853, p. 427.

दवाव समूहों के प्रकार
(KINDS OF PRESSURE GROUPS)

भारत मे कई प्रकार के दबाव है। ये समूह देश की सामाजिक सरचना का प्रतिनिधित्व करते है। **प्रो. मोरिस जोन्स** के निष्कर्षो के अनुसार, "यदि भारतीय शासन-व्यवस्था को सागोपाग समझना है तो गैर-सरकारी एव अज्ञात सगठनो की गतिविधियो का अध्ययन करना उपयोगी एव अपरिहार्य है।" मोरिस जोन्स ने अपनी रचना '**दि गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया**' मे भारतीय राज-व्यवस्था की तीन भाषाएँ या प्रतिरूप व्यक्त किये है। प्रथम और तृतीय भाषा का सम्बन्ध दवाव समूहो मे ही है। वे द्वितीय भाषा का प्रतिरूप 'आधुनिक' को प्रथम तथा तृतीय प्रतिरूप 'परम्परावादी' एव 'सन्तो' की भाषा से प्रभावित मानते है।[1]

भारत मे क्रियाशील दवाव समूहो को अलमोन्ड तथा पॉवेल 'मॉडल' के आधार पर चार समूहो मे विभाजित किया जा सकता है [2]

(1) संस्थानात्मक दवाव समूह (Institutional Pressure Groups),
(2) समुदायात्मक दवाव समूह (Associational Pressure Groups),
(3) असमुदायात्मक दवाव समूह (Non-associational Pressure Groups),
(4) प्रदर्शनात्मक दवाव समूह (Anomic Pressure Groups)।

भारत में दबाव समूह

संस्थानात्मक दबाव समूह	समुदायात्मक दवाव समूह	असमुदायात्मक दबाव समूह	प्रदर्शनात्मक दबाव समूह
1 काग्रेस कार्य समिति	1 श्रमिक सघ	1 साम्प्रदायिक तथा धार्मिक समुदाय	1 सिख स्टूडेण्ड फेडरेशन
2 काग्रेस ससदीय बोर्ड	2. व्यावसायिक सघ	2. जातिगत समुदाय	2. नक्सलवादी
3 मुख्यमन्त्री क्लब	3 कृषक समुदाय	3. भाषागत समुदाय	3 नवनिर्माण समिति
4 केन्द्रीय चुनाव समिति	4. छात्र समुदाय	4 गाँधीवादी सघ	4. सर्वोदय तथा तरुण सेना
5 नौकरशाही	5. कर्मचारी सघ	5. युवा तर्क	5 गण सग्राम परिषद
6. सेना	6. साम्प्रदायिक सघ	6 सिण्डीकेट	6 अखिल असम सघ

(1) **भारतीय राजनीति में संस्थानात्मक दवाव समूह** (The Institutional Pressure Groups in Indian Politics)—सस्थानात्मक दवाव समूह राजनीतिक दलो, विधानमण्डलो,

---

1 Morris Jones *The Government and Politics of India*, 1967, p 52.

2 G A Almond and G B Powell *Comparative Politics* 1966, pp 75-77.
अन्य विद्वानो ने दवाव समूहो को अलग-अलग प्रकार से विभाजित अवश्य किया है, किन्तु उनके विभाजन का कोई सैद्धान्तिक आधार नही है। उदाहरणार्थ डॉ. एच एस. फरत्याल ने चार प्रकार के दवाव समूह माने है—विशेष हित समूह, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक हित समूह, जाति भाषा और प्रादेशिक हित समूह एव गाँधी विचारधारा पर आधारित हित समूह—डॉ एच एस फरत्याल, **दि ऑपोजिशन इन इण्डियन पार्लियामेण्ट**, 1971, पृ 228-29। प्रो एम जी गुप्ता ने भी ऐसे ही चार प्रकार के दवाव समूहों का वर्णन अपने ग्रन्थ '**एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन**' मे किया है। हेन्सन तथा डगलस ने भारत मे दो प्रकार के दवाव समूह माने है—आधुनिक और परम्परावादी दवाव समूह—हेन्सन तथा डगलस **इण्डियन डेमोक्रेसी**, **विकास**, 1972, पृ 80-90।

सेना, नौकरशाही इत्यादि में सक्रिय रहते हैं। इनके औपचारिक संगठन होते हैं, ये स्वायत्त रूप मे क्रियाशील रहते है अथवा विभिन्न संस्थाओं की छत्रछाया मे पोषित होते है, ये अपने हितो की अभिव्यक्ति करने के साथ-साथ अन्य सामाजिक समुदायो के हितो का भी प्रतिनिधित्व करते है। भारत जैसे विकासोन्मुख देश मे कई कारणो से संस्थानात्मक दबाव समूह अत्यधिक प्रभावशाली शक्ति के रूप मे कार्यरत रहते है। इनके अत्यधिक शक्तिशाली होने के कई कारण है—**प्रथम**, इनके पास संगठन का सुदृढ आधार होता है; **द्वितीय**, समुदायात्मक दबाव समूह न तो प्रभावशाली होते हैं और न उनकी अधिक संख्या होती है, **तृतीय**, संस्थानात्मक दबाव समूह निर्णय प्रक्रिया के अभिन्न अग होते हैं, और **चतुर्थ**, ये समाज के अन्य हितो का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

भारतीय राजनीति मे इस स्वरूप के संस्थानात्मक चुनाव समूहो मे कांग्रेस कार्य समिति, कांग्रेस संसदीय बोर्ड, मुख्यमन्त्री क्लब, केन्द्रीय चुनाव समिति नौकरशाही तथा सेना को लिया जा सकता है।[1]

कांग्रेस न केवल भारत का प्रमुख राजनीतिक दल है अपितु भारतीय सरकार का नेतृत्व भी लम्बे समय तक इस दल के हाथ मे रहा है। भारत की राजनीति कांग्रेस के इर्द-गिर्द घूमती है और कांग्रेस कार्य समिति कांग्रेस का 'हाईकमान' है। राष्ट्रीय आन्दोलन के युग मे 'हाईकमान' की स्थिति बेताज के सम्राट की सी थी। कांग्रेस के अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय 'हाईकमान' याने कार्यसमिति द्वारा ही लिये गये तथा उनका क्रियान्वयन भी बड़ी तत्परता से हुआ। स्वाधीनता के बाद वह दलीय 'हाईकमान' हमारी राजनीतिक धुरी का केन्द्र बिन्दु बन गया जिसके चारों ओर सरकार, संसद एव मन्त्रिगण चक्कर लगाने लगे। यदि 'हाईकमान' को स्वातन्त्र्योत्तर भारत का 'किंग मेकर्स' कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। इसी भाँति श्री जवाहरलाल नेहरू के दिवगत होने के पश्चात् श्री लालबहादुर शास्त्री और श्रीमती इन्दिरा गाँधी को प्रधानमन्त्री पद पर आरूढ़ कराने मे कार्य समिति की सक्रिय भूमिका रही है। कांग्रेस दल के अध्यक्ष पद पर कामराज का चयन कार्य समिति के फैसले से ही हुआ। गेहूँ के राष्ट्रीयकरण का महत्त्वपूर्ण निर्णय कार्य समिति के ही सुझाव से लिया गया। एक संस्थानात्मक दबाव समूह के रूप मे कार्य समिति ने देश की राजनीति और सरकारी निर्णयो को लगातार प्रभावित करके अत्यन्त प्रभावी भूमिका का निर्वाह किया।

कांग्रेस संसदीय बोर्ड भी प्रभावशाली दबाव समूह रहा है। संसदीय बोर्ड का अपना पृथक् कार्यालय तथा संगठन है। कांग्रेस दल के महत्त्वपूर्ण नेता बोर्ड मे सदस्य होते है। प्रारम्भ मे कार्य-समिति की तुलना मे संसदीय बोर्ड अत्यन्त प्रभावहीन संस्था थी। किन्तु धीरे-धीरे स्वातन्त्र्योत्तर राजनीति मे बोर्ड ने अपनी शक्तियो मे अप्रतिम वृद्धि कर ली। सन् 1957 मे संसदीय बोर्ड ने नेहरू की उपेक्षा करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् के स्थान पर डॉ राजेन्द्र प्रसाद को राष्ट्रपति पद का प्रत्याशी घोषित किया।[2] नवम्बर 1962 मे बोर्ड ने नेहरू की इच्छा के खिलाफ कृष्णामेनन को रक्षामन्त्री पद से त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया।[3] सन् 1964 मे शास्त्री के प्रधानमन्त्री बनने का मुख्य कारण यही था कि उन्हे बोर्ड के 80 प्रतिशत सदस्यो का समर्थन प्राप्त था।[4] अगस्त 1969 मे संजीव रेड्डी को संसदीय बोर्ड ने ही राष्ट्रपति पद का दलीय प्रत्याशी घोषित किया जबकि श्रीमती गाँधी ऐसा कदापि नही चाहती थी।[5] इस प्रकार भारतीय राज-व्यवस्था मे

---

1 Michael Brecher *Succession in India*, 1966, pp 167-68
2 Rao, R P *The Congress Splits*, 1971, p. 98
3 Brecher *Succession in India*, p 46
4 Nayar Kuldip *Between the Lines*, p 30
5 Rao R P, *Ibid*, pp 98-99

संसदीय बोर्ड एक प्रभावशाली संस्थानात्मक दबाव समूह है। प्रधानमन्त्री तथा मन्त्रियों को अपने निर्णयों के लिए बोर्ड का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक है, अन्यथा कभी-कभी उनकी आशाओं पर तुषारापात भी हो सकता है।

राजनीतिक निर्णय-प्रक्रिया के मुख्यमन्त्रियों की भूमिका भी दबाव गुट के ही तुल्य रही है। दबंग और शक्तिशाली मुख्यमन्त्री केन्द्रीय स्तर पर दल तथा सरकार के निर्णयों को लगातार प्रभावित करते रहे हैं। गैर-कांग्रेसी मुख्यमन्त्री तो चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् आपस में मिल-जुलकर केन्द्रीय सरकार को प्रभावित करते थे। अपने राज्यों के हितों की सुरक्षा के लिए आजकल सभी राज्य नयी दिल्ली में उच्च स्तर के अधिकारियों की नियुक्ति करते हैं जिन्हें 'राज्य लॉबी' कहना अनुचित नहीं होगा। नेहरू के उत्तराधिकारी के चयन में दस राज्यों के मुख्यमन्त्रियों की संगठित भूमिका रही और 15 जनवरी, 1966 को अनेक मुख्यमन्त्रियों ने शास्त्री के उत्तराधिकारी के चयन में श्रीमती गाँधी का खुलकर समर्थन किया।[1] राज्यों के प्रभावकारी दबाव के कारण ही केन्द्रीय सरकार जोत की सीमा कम नहीं कर सकी, कृषि पर आय-कर नहीं लगा सकी। सन् 1972-73 में तो ऐसे राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने 'मन्त्रिमण्डल की राजनीतिक समिति' को अवश्य प्रभावित किया था, जहाँ गेहूँ का उत्पादन अधिक होता है वहाँ गेहूँ की कीमतों को कम करना राजनीतिक दृष्टि से विवेकसम्मत कार्य नहीं होगा।[2] अपने-अपने राज्यों में सार्वजनिक उद्योगों की स्थापना के लिए आज भी राज्य केन्द्रीय सरकार पर दबाव डालने में नहीं चूकते। यदि केन्द्र में कमजोर नेतृत्व है तो राज्यों का दबाव सफल हो जाता है और सुदृढ़ राजनीतिक नेतृत्व है तो राज्यों का प्रभाव उतना शक्तिशाली नहीं होता।

कांग्रेस दल की केन्द्रीय चुनाव समिति भी निर्णय-प्रक्रिया को प्रभावित करती है। जन-निर्वाचनों में प्रत्याशियों के चयन का भार चुनाव समिति पर ही डाला जाता है और चुनाव समिति हजारों ऐसे प्रत्याशियों का साक्षात्कार करती है जो दलीय टिकट पाने के इच्छुक होते हैं। शास्त्री और मोरारजी ने चुनाव समिति में सक्रिय रूप से कार्य किया था। सिण्डीकेट ने शास्त्री का इसलिए प्रधानमन्त्री चुनाव में पक्ष लिया था कि उन्होंने चुनाव समिति में कार्य करते हुए सिण्डीकेट समर्थक लोगों की मदद की थी।[3]

नौकरशाही भी संगठित होकर राज्य-व्यवस्था में क्रियाशील है। उच्च सेवा में कार्यरत अधिकारियों के अपने संघ हैं जो उनके हितों की सुरक्षा करते हैं। भारतीय नागरिक सेवा तथा भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों का ऐसा ही एक संघ है जिसे 'भारतीय नागरिक तथा प्रशासनिक सेवा संघ' कहा जाता है। यह अखिल भारतीय संघ है जिसकी शाखाएँ राज्यों की राजधानियों में भी हैं। राज्यों की राजधानियों में संघ कितना शक्तिशाली है इसकी पुष्टि एक उदाहरण से की जा सकती है। एक बार मध्य प्रदेश के मुख्यमन्त्री ने एक कनिष्ठ मन्त्री के कहने पर आई. ए. एस. के कमिश्नर-पद पर कार्यरत अधिकारी को निलम्बित कर दिया था। शीघ्र ही सचिवालय में आई. ए. एस. अधिकारियों की बैठक होती है और यह निश्चय किया जाता है कि मुख्यमन्त्री को इस मामले में अपना निर्णय बदलने के लिए तैयार किया जायगा। अन्ततोगत्वा मुख्यमन्त्री को अपना पूर्व निर्णय बदलना पड़ा।[4] ऐसा माना जाता है कि नेहरू के पश्चात् निर्णय प्रक्रिया में नौकरशाही का प्रभाव लगातार बढ़ा है। शास्त्री जी के युग में शक्ति-शाली प्रधानमन्त्री सचिवालय का गठन किया गया जो देश की राजनीतिक-प्रशासकीय धुरी बन

---

1 Rao R. P *Ibid*, p 32.
2 Kochanek Stanley *Business and Politics in India*, 1974, p 69.
3 Nayar Kuldip *Between the Lines*, p 18.
4 *The Times of India*, 8 Feb, 1974, p 1

गया।[1] वरिष्ठ आई. सी. एस. अधिकारियों का प्रभाव बढ़ा। अपने प्रभाव के कारण ही इन अधिकारियों ने अपने वेतन मे वृद्धि करवा ली। आज भी 'प्रधानमन्त्री सचिवालय' की छाप समस्त विभागों के निर्णयों पर झलकती है। **प्रो. सी. पी. भाम्भरी** का मत है कि "यदि राजनीतिक नेतृत्व कमजोर होता है तो नौकरशाही के दबाव मे वृद्धि हो जाती है।"[2] **जे. डी. सेठी** लिखते हैं कि "भारत मे नौकरशाही ने स्वायत्त राजनीतिक शक्ति मे अप्रतिम वृद्धि कर ली है।"[3]

नवोदित राष्ट्रो की राजनीति मे सेना भी दबाव समूह के रूप मे विशद् भूमिका अदा कर रही है। क्या भारतीय राजनीति मे सेना को एक दबाव गुट कहा जा सकता है ? वस्तुतः सेना ने भारतीय राजनीति के निर्णयो को प्रभावित करने मे कोई भूमिका अदा नही की है। सेना पर नागरिक नियन्त्रण रहा है और अपनी माँगों के समर्थन मे भी सैनिक गुट सक्रिय नही हो पाये है। सन् 1962 मे चीनियो को नेफा से भगाने का निर्णय राजनीतिक स्तर पर ही लिया गया था न कि सैनिक स्तर पर।[4] सन् 1965 के युद्ध मे सेना ने नागरिक अधिकारियो के ही आदेश पर काम किया और 1971 के युद्ध मे भी सेना की स्थिति मे कोई परिवर्तन नही आया। जनरल मानेकशा को फील्ड मार्शल बना देने से सेना की स्थिति नही बदली। 1966 और 1969 मे राजनीतिक उत्तराधिकार के प्रश्न पर भी सेना की कोई भूमिका नही रही।[5] जहाँ गैर-पश्चिमी देशो की राजनीति मे सेना का प्रभाव दबाव गुट के रूप मे निर्णायक होता जा रहा है वहाँ भारत की राज-व्यवस्था की यह विशेषता है कि फौज राजनीतिक प्रश्नो पर चुप ही रहती है। केन्द्र मे सशक्त राजनीतिक नेतृत्व के कारण निकट भविष्य मे फौज की शैली मे परिवर्तन की कोई गुंजाइश नही है।

मार्च 1977 के चुनावो से पूर्व जनता पार्टी का निर्माण भारतीय राजनीति मे एक अभूत-पूर्व घटना है। चार-पाँच राजनीतिक दलो के सम्मिलन से कांग्रेस के विकल्प के रूप मे जनता पार्टी का निर्माण हुआ। केन्द्र और अधिकाश राज्यों मे 1977 से फरवरी 1980 तक जनता पार्टी की सरकार सत्तारूढ़ रही। इस कालावधि मे पार्टी और सरकार के मंच पर जनता पार्टी के घटक दलो की दबाव गुटों के स्वरूप वाली भूमिका उल्लेखनीय है। मोरारजी का मन्त्रिमण्डल इस आधार पर बना कि सभी गुटो को उनकी शक्ति के अनुमान मे प्रतिनिधित्व मिल जाये। 44 सदस्यो वाले केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे भालोद घटक के 12, जनसंघ 11, संगठन कांग्रेस 10, समाजवादी 4, कांफाड 3, अकाली दल 2, चन्द्रशेखर गुट के 2 मन्त्री थे। प्रधानमन्त्री पद प्राप्त करने के लिए चरणसिंह और मोरारजी का संघर्ष अपने-अपने घटको का संघर्ष था। शक्ति प्रदर्शन के लिए चरणसिंह ने 'किसान रैली' का आयोजन किया और किसान लॉवी संगठित की। जनसंघ घटक की शक्ति का आधार राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ माना जाता था। जनता पार्टी की असफलता का मुख्य कारण यही है कि वह और उसका नेतृत्व विभिन्न गुटो मे तालमेल (Consensus) स्थापित करने मे असमर्थ रहे। भारतीय राजनीति मे वही दल सत्ता मे रह सकता है जो अपने संस्थानात्मक प्रतिस्पर्द्धी गुटों मे सामजस्य बनाकर चल सके।[6]

हाल ही मे केन्द्र मे सत्तारूढ राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार भी विभिन्न गुटो का तालमेल है

---

1 Bhambari C. P. . *Bureaucracy and Politics in India*, 1971, p. 217.
2 *Ibid*, p 232
3 J D. Sethi : *India in Crisis*, 1974
4 Nayar Kuldip . *India, The Critical Years*, p 140
5 Brecher · *Succession in India*, p 169
6 Fadia : Babulal, *Pressure Group in Indian Politics* (Radiant Publishers, New Delhi, 1980) Chapter 8.

जिनमे आपसी प्रतिस्पर्द्धा शीघ्र ही उभरकर सामने आ सकती है। प्रधानमन्त्री चयन मे जनता दल के विभिन्न गुटो मे स्पष्ट प्रतिस्पर्द्धा देखी गयी।[1]

(2) **भारतीय राजनीति मे समुदायात्मक दबाव समूह** (Associational Pressure Groups in Indian Politics)—समुदायात्मक दवाव समूह हितो की अभिव्यक्ति के विशेषीकृत सघ होते है। इनकी मुख्य विशेषता विशिष्ट हितो की पूर्ति करना होता है। ये अपने आधुनिक परिवेश मे भारतीय राजनीति मे सक्रिय है। इनमे प्रमुख है—व्यावसायिक सगठन, कृषक सगठन इत्यादि।

श्रमिक सगठन श्रमिको के सघ है जो सामूहिक कार्यो द्वारा उनके हितो की रक्षा करते है। स्वाधीनता से पूर्व भी श्रमिक सघ कार्यरत थे और भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के कई नेता श्रमिक सघो मे सक्रिय रहे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन ने श्रमिको को अपने हितो की पूर्ति के लिए सगठित होने के लिए प्रोत्साहित किया। वर्तमान मे मजदूर संघो का सम्बन्ध राजनीतिक दलो से जुडा हुआ है। प्रसोपा के नेतृत्व मे हिन्द मजदूर सभा, सोशलिस्ट पार्टी के नेतृत्व में हिन्द मजदूर पचायत, जनसघ के नेतृत्व मे भारतीय मजदूर सघ, मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेतृत्व मे यूनाइटेड ट्रेड यूनियन काग्रेस, काग्रेस के नेतृत्व मे इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काग्रेस और साम्यवादी पार्टी के नेतृत्व मे ऑल इण्डियन ट्रेड यूनियन काग्रेस क्रियाशील हैं। सभी मजदूर सघो का ध्येय मजदूरो के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक हितो की रक्षा करना है। मजदूर सघो ने सरकारी नीतियो को आंशिक रूप मे ही प्रभावित किया है, वे तो राजनीतिक दलो की भुजाएँ मात्र है और उनका नेतृत्व भी राजनीतिज्ञो के हाथो मे है न श्रमिक नेताओ के हाथो मे।

व्यावसायिक हित समूहो मे आधुनिक दवाव समूह के रूप मे कार्य करने की सामर्थ्य सबसे अधिक है। व्यावसायिक सघ कई प्रकार के है जैसे उद्योग समूह, साम्प्रदायिक समूह, क्षेत्रीय समूह, अखिल भारतीय समुदाय तथा वडे व्यावसायिक घराने। व्यावसायिक दवाव समूह सगठित और अधिकारिक रूप से साधन सम्पन्न है। इनके द्वारा अपनायी जाने वाली दवाव की आधुनिक तकनीको को देखते हुए इनकी तुलना पश्चिमी देशो मे पाये जाने वाले दवाव समूहो से की जा सकती है। इनके समाचार-पत्र और पत्रिकाएँ है, "फोरम ऑफ फ्री एण्टरप्राइज' द्वारा अपने हितो का प्रचार करते है, राजनीतिक दलो को आर्थिक सहायता देते है, मन्त्रियो तथा विभागीय सचिवो से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करते है तथा ससद सदस्यो को अपने हितो से आगाह करते है। हमारी राजनीतिक प्रक्रिया मे व्यावसायिक दवाव समूहो के प्रभाव का अनुमान डालमिया उद्योग समूह पर विवीन वोस जाँच रिपोर्ट के आधार पर सहज ही मे लगाया जा सकता है। यह जाँच रिपोर्ट डालमिया जैन उद्योग-समूह की अनियमितताओ का विस्तृत प्रतिवेदन है। किन्तु उद्योग समूह के प्रतिनिधियो ने रिपोर्ट का विवरण ससद सदस्यो तक नही पहुँचने दिया, समाचार-पत्रो मे रिपोर्ट का प्रकाशन न हो सका और न ससद मे ही उस पर विस्तृत विचार हुआ। रिपोर्ट दवा दी गयी और ससदीय पुस्तकालय मे भी गायव कर दी गयी। यह उदाहरण दर्शाता है कि भारत मे व्यावसायिक दवाव समूहो का सरकारी और ससदीय मशीनरी पर कितना प्रभाव होता है।

व्यावसायिक सगठनो मे आजकल 'फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्वर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री' (FICCI) अत्यन्त आधुनिक और प्रभावशाली दवाव समूह माना जाता है। यह लगभग एक लाख से भी ज्यादा छोटी-वडी व्यावसायिक इकाइयो का प्रतिनिधित्व करता है।

---

[1] **इण्डिया टुडे**, 15 दिसम्बर 1989, पृ. 19.

विभिन्न तरीकों से फेडरेशन व्यावसायिक दृष्टिकोणो और माँगो को सरकार के सम्मुख रखता है। फेडरेशन को प्रतिवर्ष प्रधानमन्त्री द्वारा उद्‌बोधित किया जाता है। अन्य मन्त्रीगण जैसे वित्तमंत्री और वाणिज्यमन्त्री भी फेडरेशन की वार्षिक बैठको में भाग लेते हैं। बडे-बडे अधिकारी और सचिव भी फेडरेशन की गोष्ठियों मे भाग लेते हैं। फेडरेशन द्वारा की जा रही शोध का अत्यधिक आदर किया जाता है। सन् 1958 के बाद तो फेडरेशन ने 'लॉबी' कार्य हेतु संसदीय सम्बद्ध अधिकारी (Liasion officers) भी रखे है। ये अधिकारी ससद सदस्यो को फेडरेशन के दृष्टिकोणो से परिचित कराते हैं और आवश्यक आँकडे देकर व्यावसायिक हितो की अभिवृद्धि करते है। नयी दिल्ली मे 'दीवानचन्द संस्थान' का पुनर्सगठन करके फेडरेशन अप्रत्यक्ष रूप से भी लोकमत को प्रभावित करने का प्रयास करता है। अनेक विषयों पर इस संस्थान मे गोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं जिसमे मन्त्रीगण, संसद-सदस्य, सचिवगण, विशेषज्ञ आदि भाग लेते हैं। विभिन्न अवसरो पर प्रस्ताव पारित करके फेडरेशन ने सरकार की नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास किया है। यह बात सच है कि अनेक अविवादास्पद विधेयको के निर्माण तथा सुधार मे फेडरेशन ने सरकार को प्रभावित किया है किन्तु प्रमुख आर्थिक प्रश्नों, जैसे आर्थिक नियोजन, सार्वजनिक उद्यम नीति, बैंक राष्ट्रीयकरण आदि पर फेडरेशन का सरकार पर कोई प्रभाव नही पडा। सरकार की अनेक परामर्शात्मक समितियों मे फेडरेशन के प्रतिनिधि भाग लेते है और आज फेडरेशन देश मे संगठित दबाव समूह के रूप मे प्रभावशाली भूमिका अदा कर रहा है।[1]

कृषको के हित समूह भी राजनीतिक दृष्टि मे सक्रिय होते जा रहे है। सन् 1936 से ही 'अखिल भारतीय किसान सभा' (All India Kisan Sabha) एक हित समूह के रूप से सक्रिय रही है, किन्तु सभा पर साम्यवादी दल का नियन्त्रण रहा है। आज भी किसान सभा साम्यवादी दल की भुजा के रूप मे कार्यरत है। अन्य दलो ने भी अपने-अपने कृषक सगठन बनाये है, जैसे समाजवादी दल की **हिन्द किसान पंचायत** तथा वामपन्थी दलो की **संयुक्त किसान सभा** कभी-कभी सक्रिय हो जाती है। वस्तुत भारत सरकार की कृषि-नीतियो को प्रभावित करने मे किसान संघो की प्रभावशाली भूमिका नही रही है। फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि आज तक किसान लॉबी के प्रभाव के कारण ही सरकार कृषि पर आय-कर नही लगा पायी।[2] पंजाब, उत्तर प्रदेश व हरियाणा सरकार की नीतियो पर किसान लॉबी का प्रभाव रहा है। आजकल पंचायतो का राजनीतिक महत्त्व बढता जा रहा है और पंचायतो पर किसानों का प्रभाव है अत. निकट भविष्य मे कृषक लॉबी अत्यन्त शक्तिशाली हो सकती है।

मार्च 1977 के चुनावो के बाद केन्द्र मे जनता पार्टी सरकार की स्थापना से किसान लॉबी का प्रभाव बढने लगा। 'किसान सम्मेलन' और 'किसान रैली' के माध्यम से चौ. चरणसिंह ने किसानो को मजदूर सघों की भाँति संगठित करने का प्रयत्न किया। किसान लॉबी के ही कारण प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई को चरणसिंह से समझौता करना पड़ा, उन्हे मन्त्रिमण्डल के उपप्रधानमन्त्री पद पर पुन शामिल करना पड़ा। वित्त मन्त्री के रूप में अपने बजट मे चरणसिंह ने खाद, डीजल, कृषि उत्पादन आदि पर किसानो को कुछ रियायतें देने का भी प्रयत्न किया था। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे उन्हे किसानो के हितो का संरक्षक समझा जाने लगा।

हाल ही मे महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व मे किसानो के एक प्रभावशाली संगठन 'भारतीय

---

1 " It has become the best organised interest groups in the country It is the only group in India capable of sustained action and continuous day-to-day contact with both the Parliament and ranking heads of Governments "

—Kochanek, Stanley A : *Business and Politics in India*, 1974, p 323.

2 *Economic and Political Weekly*, 22 April, 1972, p 826

किसान यूनियन' का उदय हुआ है। उत्तर प्रदेश मे किसानो को संगठित करके उन्होंने उत्तर प्रदेश सरकार से टक्कर ली। 25 अक्टूबर 1988 से 31 अक्टूबर 1988 तक नई दिल्ली मे इंडिया गेट से आगे बोट क्लब पर डेढ़-दो लाख किसानों को इकट्ठा करके भारतीय किसान यूनियन ने अपनी आर्थिक माँगो को रखने का नया मार्ग ढूंढा। इसी प्रकार महाराष्ट्र में शरद जोशी के 'शेतकारी संगठन' ने भी किसान शक्ति को संगठित करने का प्रयास किया है। 14 जुलाई 1989 को दिल्ली मे किसानों की एक अखिल भारतीय संस्था '**भारतीय किसान संघ**' बनाने का प्रयत्न किया गया जिसके अध्यक्ष उत्तर प्रदेश के किसान नेता महेन्द्रसिंह टिकैत को बनाया गया। लेकिन 89 मे ही 'भारतीय किसान संघ' के दो प्रमुख नेताओं—महेन्द्रसिंह टिकैत और शरद जोशी के बीच न केवल मतभेद वरन् सीधे टकराव की स्थिति ने जन्म ले लिया और किसानों का यह अखिल भारतीय संघ भली-भाँति स्थापना के पूर्व ही टूट गया।

स्वतन्त्रता संग्राम मे युवा वर्ग का सक्रिय सहयोग रहा और आज भी हमारे विद्यार्थी राजनीतिक दृष्टि से जागरूक है। विद्यार्थी संगठनो का सम्बन्ध विभिन्न राजनीतिक दलो से रहा है और राजनीतिक दलो ने विद्यार्थी संगठनो का दुरुपयोग किया है। विद्यार्थी समुदाय श्रमिक संघो के तौर-तरीके अपनाते है और कभी-कभी यह मान लेते हैं कि उनके हित शिक्षकों और विश्वविद्यालयो के अधिकारियो के हितो से टकराते हैं। 'विद्यार्थी परिषद' का सम्बन्ध जनसंघ (भाजपा) से है तो 'स्टूडेण्ट फेडरेशन' का सम्बन्ध साम्यवादी दल से। कांग्रेस दल का अपना 'नेशनल यूनियन ऑफ स्टूडेण्ट्स संगठन' है। इन संघो को आर्थिक सहायता विभिन्न राजनीतिक दल ही करते हैं और कभी-कभी राजनीतिक दलो के आह्वान पर ये संगठन, हड़ताल, घेराव, बन्द आदि का सहारा भी लेते है।

सरकारी कर्मचारियो के भी अपने-अपने विशिष्ट संगठन हैं। ये संगठन अपने हितों के संरक्षण के लिए तथा प्रशासन द्वारा अनावश्यक हस्तक्षेप की रोकथाम के लिए विभिन्न स्तरों पर कार्य करते हैं। इनमे 'ऑल इण्डिया रेलवे मैन एसोसियेशन', 'ऑल इण्डिया पोस्ट एण्ड टेलीग्राम वर्क्स यूनियन', ऑल इण्डिया टीचर्स एसोसियेशन' आदि प्रमुख हैं। विगत वर्षों मे कर्मचारियो के दबाव समूहो ने वेतन संशोधन तथा महँगाई भत्ते की जोरदार माँग रखी है। अपनी माँगो के समर्थन मे यदाकदा ये समुदाय 'हड़तालें' और 'बन्द' भी आयोजित करते रहे हैं। वस्तुतः ये दबाव समूह सरकार की वेतन तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान करने सम्बन्धी नीति को प्रभावित करते रहे है। राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि राज्यो मे कर्मचारी संगठनो के दबाव मे आकर ही इन राज्य सरकारो द्वारा अपने कर्मचारियो को चतुर्थ वेतन आयोग द्वारा अनुशंसित वेतनमान देने पड़े जबकि उनकी आर्थिक हालत ठीक नहीं थी। इन समूहो के संगठनों को केन्द्रीय व राज्य सरकारो ने मान्यता प्रदान कर रखी है और सरकारें यदा-कदा इनके प्रतिनिधियो से चर्चा करती रहती हैं।

कई प्रकार के साम्प्रदायिक संगठन भी अपने संघो के माध्यम से विशिष्ट हितो की अभिवृद्धि मे लगे रहते है। इन संघो मे 'हिन्दू सभा,' 'कायस्थ सभा,' 'भारतीय ईसाइयों की अखिल भारतीय परिषद', 'पारसी एशोसियेशन' आदि प्रमुख हैं। इनकी माँगें विशिष्ट हैं और वे उसी परिप्रेक्ष्य मे सरकारी नीतियो को प्रभावित करते हैं।

(3) **भारतीय राजनीति में असमुदायात्मक दबाव समूह** (The Non-Associational Pressure Groups in Indian Politics)—असमुदायात्मक दबाव समूह अनौपचारिक रूप मे अपने हितों की अभिव्यक्ति करते हैं, इनके संगठित संघ नही होते और इन परम्परावादी दबाव समूहो मे साम्प्रदायिक और धार्मिक समुदाय, जातीय समुदाय, गाँधीवादी समुदाय, भाषागत समुदाय, सिण्डीकेट और युवा तुर्क प्रमुख है। साम्प्रदायिक आधार पर गठित समुदायो मे मुस्लिम

मजलिस, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, जमायत-ए-इस्लाम-ए हिन्द, जमायत-ए-इस्लाम इत्यादि प्रमुख है। जैन समाज; चर्च, वैष्णव समाज, नय्यर सेवा समाज, विश्व हिन्दू परिषद इत्यादि दवाव समूह भी इसी श्रेणी मे आते है। इनकी अपनी पृथक् पाठशालाएँ, महाविद्यालय, छात्रावास इत्यादि है। ये अपनी पृथकता बनाये रखने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते है। भारत मे अल्पसंख्यकों के अधिकाश सगठन इसी स्वरूप के हैं। ये नीति निर्माताओं तक नही पहुँच पाते फलत. स्थानीय और राज्य स्तर के प्रशासकों से लाभान्वित होने का प्रयास करते हैं। निर्वाचकों के दिनो मे ये गुट सक्रिय हो जाते है और प्रत्याशियों की जीत बहुत कुछ इनके रुख पर निर्भर करती है।

जातिगत दवाव समूहो ने प्रारम्भ से ही भारतीय राजनीति को प्रभावित किया है। स्वाधीनता के बाद की राजनीति मे जाति का महत्त्व बढा है। अपने आर्थिक और राजनीतिक हितो की प्राप्ति मे जातियाँ सगठित होने लगी और विभिन्न राज्यों मे जातिगत राजनीति का अभ्युदय हुआ। तमिलनाडु मे नाडार जाति संघ, आन्ध्र प्रदेश मे काम्मा और रेड्डी जातीय समुदाय, कर्नाटक मे लिंगायत व ओक्क लिगा, राजस्थान मे जाट और राजपूत गुट तथा गुजरात मे क्षेत्रीय महासभा सक्रिय हो गये। आज की राजनीति मे जाति को देखकर चुनाव मे विभिन्न दल प्रत्याशी खडा करते हैं, मन्त्रिमण्डल के निर्माण मे जातीय तत्त्व को दृष्टि मे रखा जाता है और मतदाता के दृष्टिकोण को भी जाति प्रभावित करती है।[1] **मेयर** के अनुसार, "जातीय संगठन राजनीतिक महत्त्व के दबाव समूह के रूप मे प्रवृत्त है।"[2] सक्षेप मे, जातीय हितो के आधार पर विभिन्न दबाव गुटो का जन्म हुआ और इन जातियों ने संगठित होकर राजनीतिक प्रतियोगिता में भाग लेना शुरू किया जिससे उनमे राजनीतिक जागरूकता और राष्ट्रीय राजनीति के प्रति रुचि उचित उत्पन्न हुई। रूडाल्फ ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जाति पर आधारित समूहो का निर्माण राजनीतिक आधुनिकीकरण के आदर्शो को स्थापित करने और संसदीय जनतन्त्र के कुशल संचालन मे सहायक हुआ है।

अनेक गाँधीवादी संगठन भी शासकीय नीतियो को प्रभावित करते है, उदाहरणार्थ, सर्व-सेवा सघ, सर्वोदय, भूदान, खादी ग्रामोद्योग संघ, गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान इत्यादि ऐसे ही समूह है। इनका नेतृत्व विनोवा भावे, जयप्रकाश नारायण, काका कालेलकर, दादा धर्माधिकारी जैसे प्रखर व्यक्तित्व वाले राष्ट्र के जाने-माने सन्त कर रहे है। संसद, विधानमण्डल और मन्त्रिगण इनको आदर की दृष्टि से देखते है और उनकी सम्मतियों और सुझावो का राजनीति मे आदर कर राष्ट्रपिता बापू के प्रति अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि गाँधीवादी गुट अपने स्वार्थो एव हितो के लिए नही अपितु सार्वजनिक कल्याण की भावना से कार्यरत है।

भारतीय राजनीति मे 1960-70 के 'सिण्डीकेट' नामक दवाव गुट ने काग्रेस और समूचे देश की राज व्यवस्था को प्रभावित करने का चमत्कारिक कार्य किया। 'सिण्डीकेट' शब्द का प्रयोग काग्रेस दल के कतिपय अत्यन्त प्रभावशाली नेताओ के लिए किया जाता है जिन्होने मिल-जुलकर निर्णय-प्रक्रिया को प्रभावित करने का निर्णय लिया था। वस्तुत. यह कतिपय मुख्यमन्त्रियो और उनके साथियों का गुट था। इस गुट ने यह तय किया कि वे साथ ही डूबते और तैरते रहेगे और मिल-जुलकर काग्रेस दल की राजनीति को प्रभावित करेंगे। उन्हे सवसे बडी चिन्ता नेहरू जी के

---

[1] "Political articulation of castes resembles in many ways those of the European and American voluntary associations and interest groups for the simple reason that caste associations and groups assume a political complexion when they turn to state for the protection and futherance of their interest." —J C Johari, *Reflections on Indian Politics New Delhi*, 1974), p 73.

[2] "Caste Groups are really acting as pressure Groups of Political significance."—*Mayer*

उत्तराधिकारी चयन करने की थी क्योंकि उनका भविष्य भी इनसे जुटा हुआ था। जब भुवने मे नेहरू बीमार हो गये तो सिण्डीकेट ने शास्त्री को मन्त्रिमण्डल मे शामिल होने में मदद की उनका ध्येय यही था कि शास्त्री नेहरू जी के उत्तराधिकारी बने। सिण्डीकेट ने अपने एक स कामराज को काग्रेस का अध्यक्ष बनवाया। सिण्डीकेट के समर्थन से ही सन् 1964 मे शास्त्री 1966 मे इन्दिरा जी प्रधानमन्त्री-पद पर आरूढ हुईं। चतुर्थ आम चुनाव के समय से इन्दिराजी मे नाराज थी और इसी कारण मोरारजी को उपप्रधानमन्त्री बनवाने मे सिण्डीकेट मदद की। परन्तु धीरे-धीरे सिण्डीकेट का प्रभाव काम होता गया। उसके बडे नेता चतुर्थ आ चुनाव मे जनता द्वारा पराजित कर दिये गये। सिण्डीकेट द्वारा मनोनीत प्रत्याशी सजीव रेड्डी राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित नही हो पाये और मोरारजी से वित्त विभाग को छीनकर गाँधी ने सिण्डीकेट पर तीक्ष्ण प्रहार किया। जैसे ही काग्रेस दल का जुलाई 1969 मे विभाजन हुआ तो सिण्डीकेट का रहा सहा प्रभाव भी समाप्त हो गया। लगभग छ सात वर्षो तक ह निर्णय प्रक्रिया मे दवाव गुट के रूप मे सिण्डीकेट का प्रभाव रहा। सिण्डीकेट ने राजनीति उत्तराधिकार के सवाल को सबसे अधिक प्रभावित किया। ऐसा लगता है कि सिण्डीकेट मेकर्स' ही बन गयी थी।

काग्रेस दल और सरकार से सम्बद्ध एक नया दवाव गुट सन् 1969 के पश्चात् भा राजनीति मे सक्रिय हुआ, जिसे युवा तुर्क (Young Turks) के नाम से पुकारा जाता है 'युवा तुर्क' से अभिप्राय है वामपन्थी विचारधारा और त्वरित आर्थिक परिवर्तन मे विश्वास कर वाले संसद-सदस्य जिनमे कतिपय भूतपूर्व साम्यवादी लोग भी हैं। काग्रेस विभाजन के प इस वामपन्थी गुट ने अनेक राजनीतिक और आर्थिक निर्णयो को प्रभावित किया है। ये शासन पूँजीवाद समर्थक नीतियो की कटु आलोचना करते हैं और समाजवादी निर्णयों के क्रियान्वयन जोर देते है। काग्रेस विभाजन के पश्चात् अनेक क्रान्तिकारी निर्णय जैसे बैंक राष्ट्रीयकरण, नरे के शाही विशेषाधिकार एव शाही थैली उन्मूलन, सामान्य बीमे का राष्ट्रीयकरण, जोत की निर्धारित करना, शहरी सम्पत्ति सीमा निर्धारण, गेहूँ के व्यापार का राष्ट्रीयकरण आदि व गुट के प्रभाव का ही परिणाम कहा जा सकता है। भारतीय सविधान के 24वे, 25वे और 2 सशोधनो पर प्रभाव भी वामपन्थी गुटो की माँग का ही प्रभाव दिखाई देता है।[1] कभी-क 'यंगटर्कस' जैसा गुट अपने हितो की पूर्ति के लिए सक्रिय रहा है। जब मार्च 1972 मे इस के एक सदस्य को राज्यसभा का टिकिट नही दिया गया तो गुट के सदस्य एक जुट होकर व मन्त्री से भी मिलने गये।[2]

भाषा के आधार पर भी दवाव गुट हमारी राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाते रहे ऐसा माना जाता है कि वर्तमान भाषायी राज्य शक्तिशाली भाषायी दवाव गुटो की राजनीति ही परिणाम है।[3] भाषायी दवाव गुटों की माँग को पूरा करने के लिए ही गुजरात, तमिलन पंजाब तथा बंगाल को भाषायी टापू का रूप दिया गया। भाषायी गुटो की माँग को पूरा करने लिए यदा-कदा नये राज्यो का निर्माण करना पड़ा है। सन् 1953 मे आन्ध्र प्रदेश का न 1960 मे बम्बई राज्य का विभाजन और महाराष्ट्र एवं गुजरात का निर्माण भाषायी गुटो दवाव का ही परिणाम था। अकाली दल ने पजाबी भाषी पृथक् राज्य की माँग की और 19 मे पजाव का विभाजन किया गया। उत्तर प्रदेश मे उर्दू भाषा को समुचित स्थान दिलाने के

1 Johari J C · Young Turks and the Radicalisation of Congress Leaderships, *The In. Journal of pol. Sc.*, April-June, 1973.

2 *Statesman* (Delhi), 28 March, 1972.

3 *The Times of India*, 23 Sep , 1973, p. 1.

'अंजुमन-तारिक-ए-हिन्द संगठन' ने लगातार संघर्ष किया। जनता की ओर से याचना-पत्र भिजवाये गये, अंजुमन के प्रतिनिधि राष्ट्रपति से मिले और अन्त मे गृह मन्त्रालय को (19 जुलाई, 1958) उनकी माँग के बारे मे सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाना पड़ा।[1]

इस प्रकार असमुदायात्मक दवाव समूह भारतीय राजनीति मे काफी प्रभावशाली रहे हैं। वडे-वडे मसलों पर सरकारी नीतियो और निर्णयो को न केवल प्रभावित ही किया है अपितु कभी कभी सरकार को इनके दवाव के कारण अपनी नीतियो मे आमूल-चूल परिवर्तन भी करना पड़ा है। ये समुदाय जितने जागरूक हैं, इनके संगठन उतने मुखर नहीं हैं।

(4) **भारतीय राजनीति में प्रदर्शनकारी दबाव समूह** (Anomic Pressure Groups in Indian Politics)--प्रदर्शनकारी दवाव समूह अनेक विकासोन्मुख राष्ट्रों की राज्य-व्यवस्था की विशेषता है और भारतीय राजनीति मे इनको एकदम नवागत तथ्य नही कहा जा सकता। प्रदर्शनकारी गुट वे हैं जो अपनी माँगो को लेकर अवैधानिक उपायो का प्रयोग करते हुए हिंसा, राजनीतिक हत्या, दंगे और अन्य आक्रामक रवैया अपना लेते हैं।[2] प्रदर्शनकारी विरोध और प्रत्यक्ष कार्यवाही कई प्रकार के हैं, जैसे जनसभाएँ, गली-कूचा बैठक, पद-यात्रा रैली, विरोध दिवस मनाना, हड़ताल, धरना, सत्याग्रह, अनशन, सार्वजनिक सम्पत्ति को हानि पहुँचाना, अग्निदाह, आवागमन अवरुद्ध करना, घेरना आदि। इनके द्वारा संगठित गुट न केवल अपना असन्तोष व्यक्त करते हैं अपितु सरकार के निवेष (Inputs) तथा निर्गत (Outputs) ढाँचे को प्रभावित करते हुए नियम-निर्माण (Rule making), नियम प्रयुक्त, (Rule application) एव नियम-अधिनिर्णयन (Rule adjudication) के स्वरूप को भी छू लेते है। ये गुट किसी विशेष नीति को बनवाने अथवा वदलने के लिए सरकार पर दवाव डालते हैं।

भारतीय राजनीति मे प्रदर्शनकारी दवाव गुटो के उदय का कारण यह माना जाता है कि सरकार लोगों की न्यायोचित माँगों की ओर ध्यान नही देती और राजनीतिक दल सभी प्रकार के लोगो की माँगों का समुचित प्रतिनिधित्व नही करते।[3] जव शान्तिपूर्ण माँगों की तरफ ध्यान नही दिया जाता तो दवाव गुट वैधानिक ढाँचे से हटकर कार्य करना प्रारम्भ कर देते है। **मायरन वीनर** के अनुसार, "भारत मे सरकार दवाव गुटों की माँगो की तरफ उस समय तक ध्यान नही देती जव तक कि जन-आन्दोलनों के माध्यम से वे अपनी शक्ति का परिचय नही देते। सरकार माँगो को इसलिए नही मानती कि वे न्यायोचित है अपितु इसलिए मानती है कि माँग करने वाले गुट ने उसे ऐसा करने के लिए वाध्य कर दिया है।[4]

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् अनेक महत्वपूर्ण निर्णय प्रदर्शनकारी गुटों के दवाव के फलस्वरूप लिये गये हैं। इन्ही के दवाव के फलस्वरूप मद्रास, वम्वई व पजाव राज्यों का विभाजन हुआ पूर्वाचल मे नये राज्यो का निर्माण करना पडा। सरकार की गौ-वध नीति के विरोध मे साधुओं ने अनशन किया एवं हिन्दी भाषा के समर्थकों ने अग्रेजी के विरोध मे सत्याग्रह किया। महाराष्ट्र मे प्रान्तीयता की सकुचित भावना के प्रसार के लिए 'शिवसेना का गठन' किया गया। शिवसेना ने हिंसात्मक और उत्तेजनात्मक उपायों का सहारा लेते हुए सरकार को प्रभावित करने का प्रयास किया कि महाराष्ट्र मे केवल स्थानीय लोगो को ही रोजगार मे प्राथमिकता दी जाय। वगाल मे नक्सलवादी गुट का उदय हुआ जिसने हिंसा, हत्या, लूटपाट आदि साधनो का प्रयोग

1 *Report of the Commission For Linguistic Minorities* (First Report), p. 42.
2 Almond and Powell *Comparative Politics*, 1972, pp. 75-76.
3 Sinha K K · Problems of Public protest in India, Bomwall and Choudhery (ed) · *Aspects of Democratic Govt. and Politics in India*, pp. 542-559.
4 Myron Weiner · *Politics of Scarcity*, 1968, p 216.

करते हुए सरकार का भूमि-सुधार, भूमि के न्यायोचित वितरण तथा भू-श्रमिकों की दैनिक . ऊ
बढ़ाने की ओर ध्यान आकर्षित किया। मार्च 1975 में गुजरात विधानसभा के विघटन का .
'नव निर्माण समिति' जैसे दबाव गुट के कारण ही लेना पड़ा। नवनिर्माण समिति ने पूरे गुजर
में हिंसा, बन्द, हड़ताल, अनशन, लूटपाट, आगजनी का उग्र वातावरण निर्मित कर दिया।
बड़े नेता ने कई दिनों तक अनशन किया और अन्त में केन्द्रीय सरकार को बड़ी अनिच्छा में वि
सभा भंग करनी पड़ी। इस प्रकार प्रदर्शनकारी दबाव समूह राजनीतिक दलों के शिकंजों में फ
कर हिंसा एवं आन्दोलन की राजनीति को प्रश्रय देने लग जाते हैं। इनके द्वारा अपनाये जाने व
असंवैधानिक तरीकों को देखते हुए उनके यथार्थ स्वरूप के बारे में सन्देह उत्पन्न होता है।

प्रदर्शनकारी दबाव गुटों के परिप्रेक्ष्य में हाल ही के असम आन्दोलन (1979 अग.
1985) का विश्लेषण किया जा सकता है। इस कालावधि में असम में 'भारत छोड़ो' का नार
गूंजने लगा। 1 नवम्बर से 17 नवम्बर तक यहाँ अनूठा 'गण सत्याग्रह' आयोजित हुआ। विदे
शियों के नाम मतदाता सूची से खारिज करने का आन्दोलन चुनाव विरोधी सत्याग्रह में बदल गया
इसलिए 14 में से 10 चुनाव क्षेत्रों में एक भी नामांकन-पत्र सातवीं लोकसभा निर्वाचन (नरी
1980) के लिए नहीं भरा गया। शेष में से एक बारपेटा के उम्मीदवारों ने अपने नाम वापस
लिये। इस बीच उपद्रवों में पुलिस की गोली से कई लोग मारे गये और हजारिका मन्त्रिमण्डल क
अस्तित्व खतरे में पड़ गया। इस आन्दोलन का सूत्रपात 'अखिल असम विद्यार्थी संघ' तथा '
संग्राम परिषद' ने उस समय किया था जबकि पुलिस ने मंगलदोई संसदीय चुनाव क्षेत्र की . दा
सूची में 26,786 ऐसे नामों का पता लगाया जो विदेशी हैं। एक सक्षम न्यायालय ने भी उ
गैर-नागरिक घोषित किया। इस फैसले से असम की जनता की आँखें खुल गयीं। गण सत्य
के बाद विद्यार्थियों ने 19 से 22 नवम्बर, 1979 तक सभी सरकारी कार्यालयों पर सामूहि
धरना दिया जो पूर्णतया शान्तिपूर्ण था। विद्यार्थियों, प्रादेशिक दलों में और असम साह
सभा में क्षोभ पैदा हो गया। वे यह मानते हैं कि विदेशी नागरिकों का प्रश्न असम के ल
के लिए जीवन मृत्यु का प्रश्न है। वे यह अनुभव करते हैं कि विदेशियों की घुसपैठ के पी
एक बहुत बड़ी चाल है। असमियाभाषी लोगों का बहुमत समाप्त करने की और उनके स्वाय
राज्य बनाने के बुनियादी अधिकारों पर कुठाराघात है। उन्हें भय है कि उनकी स्थिति =
वैसे अल्पसंख्यकों जैसी न हो जाये जैसी सिक्किम में भोटिया लेपचा लोगों की है या त्रिपुरा
त्रिपुरी लोगों की है।

असम के इन प्रदर्शनकारी दबाव गुटों के आन्दोलनात्मक तरीकों के आगे केन्द्रीय सरक
को झुकना पड़ा, मुख्य निर्वाचन आयुक्त को जनवरी 1980 के लोकसभा चुनाव स्थगित
पड़े और नयी सरकार की नेता श्रीमती गांधी को इन्हें विचार-विमर्श करने के लिए निमन्.
देना पड़ा।

असम के क्षेत्रीय, सांस्कृतिक और प्रदर्शनकारी दबाव समूहों की उपेक्षा करते हुए
सरकार ने मार्च 1983 में वहाँ विधानसभा के चुनाव सम्पन्न कराने का अतिशय महत्त्व
निर्णय ले लिया। इसका परिणाम हुआ इन समूहों के आग्रह पर असम के मूल निवासियों द्व
चुनावों का बहिष्कार करना और सरकार तथा दबाव गुटों में टकराव की स्थिति उत्पन्न हुई
राज्य में अराजकता और हिंसा का माहौल उत्पन्न हुआ।

विदेशी लॉबीज की भूमिका
(FOREIGN LOBBIES)

सभी प्रकार की राज्य-व्यवस्था में विदेशी लॉबीज भी सक्रिय रहते हैं। विदेशी
सरकारों और गैर-सरकारी हितों के संरक्षक, प्रतिनिधि विदेशी लॉबीज कहलाते हैं।[1] राजन

[1] Ghose, Shellan *Foreign Lobbies*, No. 137. Jan. 1971, pp. 51-52.

प्रतिनिधि और जासूसी के कार्य करने वाले भी विदेशी लॉबीज ही हैं। विश्व बैंक के तकनीकी विशेषज्ञ तथा आर्थिक मदद देने वाली विदेशी संस्थाओं के प्रतिनिधि भी लाबीइंग कार्य करते है। ये अपनी विचारधारा का प्रचार करते है, राजनीतिक दलो को आर्थिक सहायता देते हैं, प्रभावशाली व्यक्तियों को विदेश भ्रमण का लालच देते हैं, प्रशासको के बेटे-बेटियो के जन्म दिवस पर अच्छी खासी भेंट देते हैं अथवा विदेशी कम्पनियो मे नीति-निर्माताओ के रिश्तेदारो को ऊँचा पद दिलवाकर अपने हितों की साधना करते हैं। विगत शताब्दी मे पैट्रोलियम तथा फर्टीलाइजर्स के क्षेत्रो मे विदेशी लॉबीज भारत मे बडे सक्रिय रहे है। हमारे द्वारा कास्टिक सोडा प्लाण्ट आयात करने मे रूमानियाँ के लॉबीज का सक्रिय प्रभाव रहा है तथा दस्तूर एण्ड कम्पनी को बोकारो स्टील प्रोजेक्ट मे कार्य प्राप्त न होने के पीछे सोवियत लॉबीज का ही दबाव रहा है। जब हमारी सरकार ने विदेशी तेलशोधक कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण की पहल की तो गुजरात मे सी. आई. ए. की गतिविधियाँ बढ गयी और इसे भी फॉरेन लॉबीज की अप्रत्यक्ष कार्यवाही कहा जा सकता है।[1] 1977 के चुनाव मे जब श्रीमती गाँधी के पाँव उखड़ गये तो उन्होने आरोप लगाया कि कुछ विदेशी शक्तियों ने दुनिया के इस हिस्से मे अस्थिरता पैदा करने की नीयत से उनके खिलाफ साजिश की थी। इमरजेंसी के दौरान उन्होने दो बार दोहराया था कि एमनैस्टी इण्टरनेशनल और सोशलिस्ट इण्टरनेशनल संस्थाओं के जरिये पश्चिम, यूरोप और ब्रिटेन की सरकारें भारत मे विरोधियों की सहायता कर रही हैं। इमरजेंसी सम्बन्धी श्वेत पत्र मे आरोप लगाया गया था कि जार्ज फर्नाण्डिस को जापानी और जर्मन आर्थिक सहायता मिल रही थी। अमरीका के विसकोसिन विश्वविद्यालय के एक भारतीय शोधकर्ता आर. एस. पाण्डेय ने अपने शोध प्रबन्ध मे बताया कि सर्वोदय आन्दोलन द्वारा संचालित तथाकथित स्वयं सेवी संस्थाएँ भारतीय धन की तुलना मे कही अधिक परिमाण मे विदेशी धन प्राप्त कर रही है। ऐसा कहते हैं कि भूतपूर्व प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई के निजी सचिवालय मे कान्ति देसाई के मार्फत कई विदेशी कम्पनियों और एक इसराइली कम्पनी, कन्सोलिडेटेड पैकर्स ने भारत की विदेश नीति को अरब विरोधी और इसराइल समर्थक बनाने का प्रयत्न किया था। इसको कान्ति देसाई के एक भूतपूर्व व्यापारिक सहयोगी सुब्रह्मण्यम ने साबित करने की कोशिश की है। जार्ज फर्नाण्डिज के बारे मे सन्देह किया जाता है कि पश्चिमी जर्मनी के समाजवादी शासको ने उनकी सहायता करने के ऐवज मे भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स से एक सौदा पटा लिया जो इस उद्योग मे भारतीय हितों के विरुद्ध बैठता है। श्रीमती गाँधी ने अमराकी पत्रकार टामस पावर्स की पुस्तक के हवाले से यह कहकर जनवरी 1980 के चुनावो से पूर्व बहुत बड़े विवाद को जन्म दिया कि बंगला देश मुक्ति संग्राम के समय उनके मन्त्रिमण्डल मे एक सी. आई. ए. का एजेण्ट था। भारत मे भूतपूर्व अमरीकी राजदूत डेनियल मोयनीहन ने अपनी पुस्तक **'ए डेन्जरस फेस'** मे स्पष्ट लिखा है कि 'हमने धन देकर दो बार भारतीय राजनीति मे हस्तक्षेप किया था और धन काग्रेस दल को दिया गया था।"[2] हमारे देश मे अत्यधिक विदेशी लॉबीज की गतिविधियो का कारण यह है कि हम विदेशी सहायता पर अधिक निर्भर है। "भारत स्थित लगभग सभी कम्पनियों मे विदेशी सहयोग है और यह सहयोग सरकारी अधिकारियों को प्रभावित करने के लिए उन्हे अवसर प्रदान करता है। सरकारी अधिकारियो को विदेशी हिस्सेदारों से लुभावनी किस्म की रिश्वत मिल सकती है, मसलन उन्हें रिश्वत के रूप मे भारत से बाहर विदेशी मुद्रा प्राप्त हो सकती है जिसे वे विदेश यात्रा के दौरान

---

1 H D. Malviya C. I. A —*Its Real Face*, 1975, pp. 54-60

2 बाबूलाल फड़िया, **प्रेस ग्रुप्स इन इण्डियन पॉलिटिक्स** (रेडियण्ट पब्लिशर्स नयी दिल्ली, 1980) अध्याय 9।

खर्च कर सकते है।"[1] हाल ही मे ले जनरल हृदय कौल ने अपने एक साक्षात्कार मे स्वीकार किया है कि तोप बनाने वाली एक विदेशी कम्पनी ने उनके नाम 2·5 करोड़ रु. किसी भी देश के बैंक मे, किसी भी मुद्रा मे जमा कराने की पेशकश की, बदले मे यह कम्पनी चाहती थी कि वे भारत सरकार द्वारा खरीदी जाने वाली तोप को वरीयता क्रम मे ऊपर कर दें। जनवरी 1983 से फरवरी 1985 ले. जनरल कौल सेना के लिए मध्यम दूरी तक मार करने वाली तोपों के चुनाव के प्रभारी अधिकारी थे।[2] हमारा प्रशासनिक ढांचा भी कुछ ऐसा है कि लॉबीइंग कार्यो के लिए स्वत मार्ग प्रशस्त हो जाता है। उच्च प्रशासनिक सेवा में पदोन्नति की चालू प्रणाली के कारण यह मालूम हो जाता है कि कौन सचिव कब पदनिवृत्त होगा तथा कौन कब सयुक्त सचिव तथा सचिव बनेगा। विदेशी एजेण्ट पहले से ही उस विभागीय अधिकारी के मस्तिष्क को प्रभावित करना प्रारम्भ कर देते है, फलत समय आने पर उसका स्वार्थ सरलता से पूरा हो जाता है। हम मे से बहुतो मे राष्ट्रीय दायित्व की भावना का अभाव है जिसके परिणामस्वरूप विदेशी लॉबीज सफल हो जाते है।

भारतीय दबाव समूहों की विशेषताएँ
(THE SPECIFIC FEATURES OF INDIAN MODEL OF PRESSURE GROUPS)

प्रो. मायरन वीनर की रचना '**पॉलिटिक्स ऑफ स्कैरसिटी**' भारत मे दबाव राजनीति का विश्लेषण करने वाली प्रथम वैज्ञानिक रचना है। वीनर के बाद स्टेनली कोचनीक का ग्रन्थ '**बिजनेस एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया**' भारतीय राजनीति मे व्यावसायिक दबाव समूहो की भूमिका का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत करता है। वीनर तथा कोचनीक के निष्कर्षो के अनुसार भारत मे दबाव व हित समूहो की निम्नलिखित निराली विशेषताएँ है

(1) भारतीय राजनीति मे परम्परावादी दबाव समूह जैसे जाति, समुदाय, धर्म और प्रादेशिक गुट निर्णायक भूमिका अदा कर रहे हैं। अधिकाश राजनीतिक दल जाति और समुदाय के आधार पर ही अपने अनुयायियो को सगठित करते हैं। जातीय समुदाय को आज भी भारत मे 'बेताज के सरताज' कहा जा सकता है।

(2) अधिकाश समुदायात्मक दबाव समूहो पर राजनीतिक दलो का नियन्त्रण है। उनका नेतृत्व राजनीतिक दलों के नेताओं के हाथो मे है और उन्हे 'दल के पीछे दलीय सत्ता' कहा जा सकता है। किन्तु यह भी एक विचित्र सत्य है कि प्रमुख व्यावसायिक हित समूह दलीय नियन्त्रण से स्वायत्त है।[3]

(3) अपने राजनीतिक हितो की पूर्ति के लिए कतिपय राजनीतिक दलों ने अर्द्ध-सैनिक स्वरूप वाले गुप्त सगठनो का भी निर्माण किया है।

(4) स्वाधीनता प्राप्ति के तुरन्त बाद सार्वजनिक नीति के निर्माण मे दबाव समूहो सीमित भूमिका द्रष्टव्य है। इसके दो प्रकार थे—**प्रथम**, केन्द्र और राज्यो मे श। ो र। नेतृत्व था और **द्वितीय**, सरकार पर कांग्रेस दल का एकाधिकार था। जैसे-जैसे सशक्त ने ह्रास होता गया और कांग्रेस का एकाधिकार टूटता गया वैसे-वैसे राजनीति मे दब: प्रभाव भी बढता गया। प्रारम्भ मे दबाव गुटो की नकारात्मक भूमिका रही। वे इस व देते रहे कि सरकार राष्ट्रीयकरण न करे और भूमि पर कर मे अभिवृद्धि न करे।।व

---

1 के मैथ्यू कुरियन, **भारत में विदेशी निवेश**, मेकमिलन, (1979), पृ. 112
2 **इण्डिया टुडे**, 15 सितम्बर 1989, पृ. 20।
3 Myron Weiner, *Politics of Scarcity*, p. 232.

मे अनेक दबाव गुट सकारात्मक रूप से अपने हितो को प्रभावित करने वाली नीतियो के निर्माण मे सरकार के साथ सहयोग कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, मार्च 1974 मे सरकार की 'गेहूँ नीति' के निर्माण मे अनाज व्यापारियो के महासंघ ने सकारात्मक भूमिका अदा की।

(5) विगत कुछ वर्षो मे केन्द्रीय सरकार की नीतियो पर भारतीय सघ के राज्यों का भी प्रभाव पडने लगा है और राज्य संगठित दवाव डालने का प्रयास करने लगे हैं। राज्य लॉवीइग के लिए अधिकारी रखते है जिसमे वे ससद-सदस्यों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर सकें। संविधान के अनुच्छेद 262 तथा 263 के अन्तर्गत केन्द्रीय ससद को 'अन्तर्राज्यीय नदी-पानी विवाद' तथा 'सीमा विवाद' हल करने की शक्ति प्राप्त है और कई राज्यों के वीच ऐसे उग्रतर विवाद उलझे पड़े हैं। अत दवाव और लॉवीइंग की राजनीति द्वारा वे अपना हित वर्धन करने मे लगे है।

(6) जव राज्यो मे सविद और गैर-कांग्रेसी सरकारे कार्यरत थी तो उन्होने अपनी माँगो के समर्थन में केन्द्रीय सरकार के विरोध मे दवाव गुटो को प्रेरित किया। ऐसी माँगे, जैसे अधिक विश्वविद्यालय, इस्पात कारखाने की स्थापना, तेल शोधन कारखाने की स्थापना, सार्वजनिक उद्यम की स्थापना आदि के लिए जव कभी राज्यो मे आन्दोलन हुए तो गैर-कांग्रेसी सरकारो ने आन्दोलनकारियो के प्रति सहानुभूति का रवैया अपनाया।

(7) राजनीतिक दलों मे विद्यमान संस्थागत दवाव समूहो ने दलीय व्यवस्था को ही डाँवाडोल करने की चेष्टा की है। सत्ताधारी और विपक्षी दलो मे कार्यरत गुटों ने वहुमत सरकार की कार्य-प्रणाली को ही चुनौती दी है।

(8) विदेशी सहायता और विदेशी तकनीशियनो पर निर्भर होने के कारण विदेशी लॉवी भी हमारी नीतियो को प्रभावित करने के लिए दवाव डालते है।

(9) समुदायात्मक और प्रदर्शनकारी दवाव समूह हिंसा, जन-आन्दोलन, हडताल, अनशन और सत्याग्रह जैसे अवैधानिक साधनों का प्रयोग करते नहीं हिचकिचाते।

(10) भारत मे दवाव समूह मुख्यतया प्रशासको को प्रभावित करने मे लगे रहते है न कि नीति-निर्माण को। गुटीय नेताओ का शायद यह विश्वास है कि महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक और आर्थिक कार्यक्रम, यहाँ तक कि रचनात्मक संस्थाओं और कला एवं विज्ञान दोनो के ही विकास और उन्नयन का कार्यभार नौकरशाही के हाथो मे है।

(11) भारत मे आम धारणा दवाव समूहो की कार्य-पद्धति के प्रतिकूल है। यह अच्छा नहीं माना जाता कि हित समूह नीति निर्माताओं का मार्ग-दर्शन करे। ऐसा भी माना जाता है कि यदि एक वार सरकार दवाव गुटो के आगे झुक जाती है तो फिर कोई भी निर्णय सार्वजनिक हित मे नही लिया जा सकता।

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि भारत मे असमुदायात्मक दवाव गुट सर्वाधिक प्रभावशाली है और उनमे भी 'जाति' का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उसके वाद सस्थानात्मक दवाव समूहो ने राजनीति को प्रभावित किया है। समुदायात्मक दवाव समूहो मे केवल 'फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री' को ही आधुनिक दवाव समूह माना जा सकता है। भारतीय दवाव गुटो के स्वरूप से यह धारणा गलत सिद्ध हो जाती है कि परम्परावादी समाज मे आधुनिक दवाव समूह विकसित नहीं हो सकते। व्यावसायिक हित समूह राजनीतिक दलो से सम्बद्ध नही हैं और उनकी तुलना पश्चिमी देशों मे पाये जाने वाले दवाव गुटो से की जा सकती है। भारत मे परम्परावादी दवाव समूह अपने हितो की अभिव्यक्ति के लिए चुनाव और राजनीतिक दलो का प्रयोग करते है जबकि आधुनिक दवाव समूह मन्त्रिमण्डल और नौकरशाही को अपनी नवीनतम शोध से प्रभावित करते हैं। यदा-कदा प्रदर्शनकारी दवाव समूह

भी सक्रिय हो जाते हैं। ऐसे गुट कभी-कभी राज-व्यवस्था के अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न कर देते हैं।

दबाव समूहों की आलोचना
(CRITICISM)

विगत वर्षों मे दबाव की राजनीति आलोचना और वाद-विवाद का विषय रही है। आलोचकों ने यहाँ तक कह डाला है कि ये गुट नवजात भारतीय लोकतन्त्र पर खतरे की काली घटा के रूप मे मँडरा रहे हैं। ये सदैव अपने घटिया स्वार्थों की पूर्ति हेतु सार्वजनिक कल्याण को तुच्छ निगाह से देखते रहे हैं। इन दबाव गुटो ने हमारे सार्वजनिक जीवन मे भ्रष्टाचार, घूमखोरी और अनेक घृणित उपायो को आश्रय दे रखा है। विदेशी लॉबीज हमारी सुरक्षा सम्बन्धी गुप्त ... तक को प्राप्त करने मे सफल हो गये हैं।

भारत मे दबाव गुटो की कार्य-शैली को गुप्त रखा जाता है और जन सामान्य को उसके बारे मे कोई सूचना प्राप्त नही होती। वे गुप्त ढंग से अधिकारियो और नीति-निर्माताओं से परामर्श करते है। विधानाग के सदस्यों के लिए यह आवश्यक नही है कि वे खुले रूप से यह प्रकट करें कि उनका सम्बन्ध किन-किन गुटो से है और उन्हें उनसे किस प्रकार का लाभ मिलता है। कभी-कभी दबाव गुट रिश्वत और घूंस देकर भी प्रशासकों को अपने स्वार्थों के अनुकूल बनाने मे नही हिचकिचाते। दबाव गुटो की सफलता इस तथ्य निर्भर नही करती कि वे सही माँग प्रस्तुत कर रहे हैं अपितु इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उनका गुट कितना विशाल और वित्तीय साधनों से सम्पन्न है। दबाव गुट सरकार के विरुद्ध हिंसात्मक साधनो का भी प्रयोग करते करते हैं। **मायरन वीनर** लिखते हैं कि "गैर-पश्चिमी देशो मे हिंसा का संगठित प्रयोग किया जाता है, किन्तु अधिकांश मे हिंसात्मक कार्यवाहियाँ अचानक नहीं हो जाती अपितु संगठित होकर योजनाबद्ध होती हैं।"[1] हिंसा और जन-आन्दोलन से अराजकता उत्पन्न होती है और ऐसी अव्यवस्था राज व्यवस्था के अस्तित्व के लिए प्रत्यक्ष खतरा उत्पन्न कर देती है। सफेदपोश सरकारी कर्मचारियो के सगठनो के लिए तो हड़ताल, प्रदर्शन आयोजित करना एक फैशन हो गया है। सरकारी कर्मचारियो द्वारा अचानक कार्य बन्द कर देने से प्रशासन ठप्प हो जाता है और आम जनता को काफी असुविधा होती है। कभी-कभी तो दबाव गुट ऐसी दायित्वविहीन माँगें भी प्रस्तुत करते हैं जिनको पूरा करना सरकार के लिए सम्भव नही होता।

इन आलोचनाओं मे सत्य का अश अवश्य है, किन्तु किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए दबाव व हित समूहो से छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। साम्यवादी और अधिनायकवादी शासन व्यवस्थाओं मे भी दबाव समूह सक्रिय रहते हैं। जनतान्त्रिक व्यवस्था मे तो उन्हे संवैधानिक संरक्षण प्राप्त होता है। दबाव व हित समूह के बारे मे नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने के बजाय हमें सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाना होगा। वर्तमान लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे दबाव समूह जब 'शासक के निर्माता' (King Makers) बन बैठे है तो हमारी समस्या यह नही है कि इन्हे किस प्रकार समाप्त किया जाय, अपितु हमारी वास्तविक समस्या यह है कि उन्हे सही दिशा मे किस प्रकार मोड़ा जाय ?

हमारी राज व्यवस्था की स्थिरता और समुच्चय शक्ति को बढाने के लिए दबाव गुटो को उसमें समुचित स्थान दिया जाना चाहिए। हमारी राजनीतिक निर्णय-प्रक्रिया मे दबाव गुटो को स्थान देने के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते है—**प्रथम**, नीति-निर्माण के विभिन्न स्तरो पर शासन को प्रभावित हितो से परामर्श करने की स्थायी और अधिकाधिक आदत डालनी चाहिए।

1 Myron Weiner. *Politics of Scarcity*, 1962, pp. 200-201

द्वितीय, राज्यसभा और राज्य विधान-परिषदो मे हित समूहो के प्रतिनिधियो को अधिकाधिक स्थान दिया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे वर्तमान संविधान मे आवश्यक संशोधन किया जा सकता है। इससे हित समूहो को खुले तौर से राज-व्यवस्था मे भाग लेने का लोकतन्त्रात्मक अवसर उपलब्ध हो जायेगा और विभिन्न हित समूह आपसी वाद-विवाद के बाद सन्तुलनकारी नीतियाँ निर्मित करने मे सहायक होगे। **तृतीय**, संसद की परामर्शदात्री समितियो मे हित समूहों के सदस्यो को सह-सदस्यता प्रदान की जानी चाहिए, जिससे राजव्यवस्था की परिपक्वता मे वृद्धि होगी। **चतुर्थ**, सरकार के विभिन्न विभागो के साथ कार्यरत 'प्रतिनिधिक परामर्शदात्री समितियों के सदस्यों का मनोनयन सरकार द्वारा न होकर हित समूहो द्वारा किये जाने की परम्परा डाली जानी चाहिए। **पंचम**, अधिकाश निर्णय स्थानीय जनता को प्रभावित करते है और जिलाधीश व उपजिलाधीश स्थानीय प्रशासक होते है। अत सामान्य जनता और स्थानीय प्रशासको के मध्य गहन सम्पर्क सूत्र होने आवश्यक है। स्थानीय अधिकारियो को किसी भी निर्णय के क्रियान्वयन से पूर्व स्थानीय हितो से परामर्श करने की आदत डालनी चाहिए। उन्हे अपने निर्णय की उपयोगिता जनता मे स्पष्ट करनी चाहिए। इससे प्रशासन मे व्याप्त लालफीताशाही दूर होगी और उत्तरदायित्व की भावना पनपेगी।

दबाव तथा हित समूहो की निन्दा करने की आवश्यकता नही है। मूल बात तो यह है कि दबाव गुटो को कैसे नियन्त्रित किया जाये। इस सम्बन्ध मे हमारा सुझाव है कि संसद को एक अधिनियम पारित करके दबाव गुटों की गतिविधियों पर नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए। दबाव गुटो के लिए यह आवश्यक कर दिया जाना चाहिए कि वे अपना वार्षिक आय-कर प्रतिवेदन प्रस्तुत करें। गुटो को अपना पंजीकरण करवाना चाहिए और यदि वे अवैधानिक साधनों का प्रयोग करे तो उनका पंजीकरण समाप्त कर देना चाहिए। यह प्रसन्नता का विषय है कि हमारी सरकार ने इस सम्बन्ध मे विचार करना आरम्भ कर दिया है और हाल ही मे 'विदेशी अनुदान नियन्त्रण कानून' पारित किया गया है। इस कानून द्वारा इस बात को नियमित किया गया है कि विदेशी निकायो से कोई संस्था या व्यक्ति बिना केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से अनुदान या सहायता नही ले सकेगा।

निष्कर्षत, दबाव तथा हित समूहो से हम अपेक्षा करते हैं कि वे 'सार्वजनिक हित' की अवधारणा को स्वीकार करते हुए सार्वजनिक जीवन की अभिवृद्धि तथा उन्नति के लिए अपने आपको प्रस्तुत करेगे। विदेशी दबाव का सामना करने के लिए राष्ट्रीय इच्छा शक्ति एवं राष्ट्रीय भावना विकसित करना अपरिहार्य है। अभी तक हित समूह तथा सार्वजनिक हित के मध्य सन्तुलन स्थापित करना एक समस्या बनी हुई है।

35

भारत में निर्वाचन आयोग : संगठन, कार्य एवं

[THE ELECTION COMMISSION IN INDIA . ORGANISATION, FUNCTIONS AND ROLE]

'चुनाव व्यवस्था' लोकतान्त्रिक व्यवस्था का प्राण है। प्रत्येक शासन व्यवस्था मे किसी न किसी प्रकार की चुनाव-प्रक्रिया के महत्त्व को स्वीकार किया जाता है। किन्तु निर्वाचन प्रक्रिया तथा उस प्रक्रिया का संचालन करने वाली मशीनरी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का बुनियादी आधार है। लोकतन्त्र मे यह महत्त्वपूर्ण नही है कि चुनाव होते हैं अपितु इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि चुनाव किस भाँति होते हैं, चुनाव कितने निष्पक्ष होते हैं और आम मतदाता का निर्वाचन व्यवस्था का सचालन करने वाले अभिकरण की निष्पक्षता और ईमानदारी पर कितना विश्वास होता है ?

भारत एक लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली वाला देश है जहाँ केन्द्र, प्रदेश तथा स्थानीय स्तर पर आये दिन चुनाव होते रहते हैं। इन चुनावो के माध्यम से जनता अपने शासको (जन-प्रतिनिधियो) का चयन करती है, जनता शासको पर नियन्त्रण रखती है और सरकार को वैधता (Legitimacy) प्रदान करती है। नागरिक मताधिकार के माध्यम से ऐसी सरकार को बदल सकते हैं जो उनकी इच्छाओ का सम्मान नही करती। वस्तुत भारत जैसे देश मे निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से लोकमत की अभिव्यक्ति है।

भारत के सविधान निर्माता चुनावो के महत्त्व से परिचित थे और इसीलिए भारतीय सविधान मे उन्होने एक ऐसे साविधानिक आयोग की स्थापना की है जिसका प्रमुख कार्य सम्पूर्ण देश में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा, राज्यसभा के सदस्य एवं राज्य विधानमण्डलो के सदस्यो का निर्वाचन सम्पन्न कराना है। इस साविधानिक आयोग को 'चुनाव आयोग' (Election Commission) के नाम से जाना जाता है। जहाँ विश्व के अधिकाश शासन विधानो मे निर्वाचन को अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण विषय समझकर उसे व्यवस्थापिका की इच्छा पर छोड़ दिया गया है वहाँ भारतीय सविधान निर्माताओ ने निर्वाचन सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था के सचालन का प्रावधान संविधान के अन्तर्गत ही कर लिया है। निर्वाचन तन्त्र के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए संविधान निर्मात्री सभा मे प. हृदयनाथ कुजरू ने कहा था—"अगर निर्वाचन तन्त्र दोषपूर्ण है या निष्पक्ष नही है या गैर-ईमानदार लोगो द्वारा संचालित होता है तो लोकतन्त्र अपने उद्‌भव काल मे ही डगमगा जायगा।" स्वतन्त्र निर्वाचन तन्त्र के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भारतीय सविधान के एक पृथक अध्याय—अनुच्छेद 324 से 329 मे निर्वाचन तन्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवस्था की गई है।

भारत में निर्वाचन आयोग : संरचना एव संगठन
(ELECTION COMMISSION IN INDIA STRUCTURE AND ORGANISATION)

सांविधानिक प्रावधान—सविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत निर्वाचनो का निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करने के लिए निर्वाचन आयोग की स्थापना की गई है। निर्वाचन आयोग

मे एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य उतने निर्वाचन आयुक्त होगे जितने कि राष्ट्रपति समय-समय पर मनोनीत करें। मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तो की नियुक्ति संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग से परामर्श करके आयोग की सहायता के लिए ऐसे प्रादेशिक आयुक्तो की नियुक्ति कर सकता है जैसा कि आवश्यक समझे। निर्वाचन आयुक्तो और प्रादेशिक आयुक्तो की सेवा की शर्तें और पदावधियाँ ऐसी होगी जो कि राष्ट्रपति के नियम द्वारा निर्धारित करें। मुख्य निर्वाचन आयुक्त अपने पद से उन्ही कारणो पर और उन्ही रीतियो से हटाया जायगा जिन कारणो और रीतियो से सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश हटाया जा सकता है। अर्थात् सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर राष्ट्रपति के आदेश द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अपने पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार ससद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन ससद के दोनो सदनो को अलग-अलग अपने कुल सदस्यो की सख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यो के दो-तिहाई मत से प्रस्ताव पारित करना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जायेगा। उसके बाद राष्ट्रपति मुख्य निर्वाचन आयुक्त की पदच्युति का आदेश जारी करेगा। नियुक्ति के पश्चात् मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सेवा की शर्तों मे अलाभकारी कोई परिवर्तन नही किया जा सकता।

व्यावहारिक स्थिति—सन् 1951 मे पहली बार सविधान के अन्तर्गत निर्वाचन आयोग का गठन किया गया और तब से निर्वाचन आयोग 'एक सदस्यीय आयोग' के रूप मे कार्य करता रहा। 1952 मे आम चुनावो के सचालन हेतु दो प्रादेशिक आयुक्तो की नियुक्त की गई। प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तो की व्यवस्था को लाभदायक नही समझा गया और द्वितीय आम चुनाव के समय इसे निरस्त कर दिया गया। सन् 1956 मे प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तो के स्थान पर उपनिर्वाचन आयुक्त के पद सृजित किये गये। विभिन्न चुनावो मे उपनिर्वाचन आयुक्त के पद का उपयोग किया जाता रहा है। वैसे यह संविधिक पद नही है, इसका उल्लेख जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम मे किया गया है। 1957, 1962 तथा 1967 के निर्वाचनो का संचालन करने हेतु दो उप निर्वाचन आयुक्तो की नियुक्ति की गई। 1969 के मध्यावधि चुनावो के समय मुख्य निर्वाचन आयुक्त को सहायता देने के लिए केवल एक ही उप निर्वाचन आयुक्त था।

इस प्रकार मुख्य निर्वाचन आयुक्त को सहायता देने के लिए उपनिर्वाचन आयुक्त, सचिव, अपर सचिव, शोध अधिकारी आदि पद उपलब्ध कराये गये हैं।

सन् 1966 मे निर्वाचन सम्बन्धी विधि मे परिवर्तन करके यह प्रावधान किया गया कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त मे सन्निहित अधिकारो का प्रयोग उप-निर्वाचन आयुक्त एव आयोग के सचिव भी कर सकते हैं। इस प्रकार निर्वाचन आयुक्त की शक्तियो का हस्तान्तरण हो सकता है किन्तु आज भी सविधान के अनुसार निर्वाचन सम्बन्धी समस्त शक्तियाँ एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त मे ही समाविष्ट हैं।

इस समय श्री पेरी शास्त्री मुख्य निर्वाचन आयुक्त पद पर कार्य कर रहे हैं। 16 अक्टूबर, 1989 को राष्ट्रपति आर. वेंकटरमण ने निर्वाचन आयोग को व्यापक रूप देने के उद्देश्य से दो निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की। ये अधिकारी श्री एस एस. धनोवा और श्री वी. एस सैंगल है। श्री धनोवा और श्री सैंगल की नियुक्ति मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सहायता के लिए की गई थी। संविधान के अनुच्छेद 324 मे यह प्रावधान है कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सहायता के लिए आयुक्तों की नियुक्ति की जा सकती है। परन्तु यह प्रथम अवसर है जब इस प्रकार की नियुक्ति की गई। श्री धनोवा और श्री सैंगल क्रमशः अवकाश प्राप्त आई. ए. एस और आई. पी. एस. अधिकारी हैं।

2 जनवरी 1990 को राष्ट्रपति ने चुनाव आयुक्तो के रूप में श्री धनोवा तथा श्री सैंगल नियुक्तियां रद्द कर दी, जिसके साथ ही बहुसदस्यीय आयोग फिर एक सदस्यीय हो गया है। दोनों चुनाव आयुक्तो की ससदीय चुनाव की पूर्व सध्या पर नियुक्ति की राष्ट्रीय मोर्चे के घटक तथा अन्य विपक्षी दलों ने आलोचना की थी। सत्ता सँभालने के बाद प्रधानमन्त्री विश्वनाथ प्रतापसिंह ने अपने पहले सवाददाता सम्मेलन मे कहा था कि जिन परिस्थितियों मे दो चुनाव आयुक्तो की नियुक्ति हुई, सरकार उनकी समीक्षा करेगी।

चुनाव आयोग के कार्य (Functions of the Election Commission)

चुनावों से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था करना चुनाव आयोग का कार्य है। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप मे उसके निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है :

(1) **चुनाव क्षेत्रो का परिसीमन या सीमांकन** (Delimitation of Constituencies)—चुनाव आयोग का सर्वप्रथम कार्य चुनाव क्षेत्रो का सीमांकन होता है। प्रथम आम चुनाव मे निर्वाचन क्षेत्रो का सीमाकन 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950' के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये आदेश के आधार पर किया गया था। लेकिन यह व्यवस्था सन्तोषजनक नही पायी गयी, अतः संसद ने **'परिसीमन आयोग अधिनियम, 1952'** पारित किया। इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि दस वर्ष बाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरान्त निर्वाचन क्षेत्रो का सीमांकन किया जाना चाहिए। मुख्य चुनाव आयुक्त इस परिसीमन आयोग का अध्यक्ष होता है और उसके अतिरिक्त इनमे दो सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयो के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश होते हैं। आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक राज्य से 2 से लेकर 7 तक सहायक सदस्यो का प्रावधान है। ये सहायक सदस्य सम्बद्ध राज्य से लोकसभा अथवा राज्य विधानसभा के लिए निर्वाचित सदस्यो मे से चुने जाते है। जनता के द्वारा व्यक्तिगत अथवा संगठित रूप से आयोग के सम्मुख सुझाव या आपत्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं, जिन पर खुली बैठको में विचार आवश्यक माना गया है। इसके उपरान्त ही आयोग 'सीमांकन आदेश' की घोषणा करता है जो अन्तिम होता है तथा जिसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय मे अपील नही की जा सकती है। परिसीमन आयोग की यह समस्त व्यवस्था **'गैरीमेण्डरिंग'** (Gerrymendering) जैसी बुराइयो को सीमित करने के लिए की गयी है।

(2) **मतदाता सूचियां तैयार करना** (To Prepare Electoral Rolls)—चुनाव आयोग के द्वारा लोकसभा या विधानसभा के प्रत्येक चुनाव या मध्यावधि चुनाव के पूर्व मतदाता सूचियां तैयार करवायी जाती हैं और इस कार्य के सम्पन्न होने पर ही चुनाव होते है। मतदाता सूची तैयार करने का कार्य इस उद्देश्य से किया जाता है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रहे जो मताधिकार की योग्यता रखता है।

(3) **विभिन्न राजनीतिक दलो को मान्यता प्रदान करना** (To Recognize Different Political Parties)—चुनाव आयोग का एक महत्त्वपूर्ण कार्य विभिन्न राजनीतिक दलो को मान्यता प्रदान करना है। इस सम्बन्ध मे आयोग के द्वारा कोई आधार निश्चित किया जा सकता है। चुनाव आयोग द्वारा मान्यता प्रदान किये जाने के आधार मे समय-समय पर परिवर्तन किये जा सकते हैं और किये जाते रहे है। वर्तमान नियम के अनुसार राष्ट्रीय दलो के रूप मे किसी भी दल को मान्यता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि आम चुनाव मे उसे कम से कम चार राज्यो मे 4 प्रतिशत मत मिले हो। इस दृष्टि से दिसम्बर 1984 मे सम्पन्न आठवी लोकसभा के चुनावों मे 7 राजनीतिक दलो को राष्ट्रीय दल के रूप मे मान्यता प्रदान की गयी थी। इन्दिरा कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, जनता पार्टी, दलित मजदूर किसान पार्टी (भारतीय लोकदल), भारतीय साम्यवादी दल, मार्क्सवादी दल, कांग्रेस (स)।

(4) **राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करना** (To Allot Reserve Election Symbols to Political Parties)—आयोग मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को आरक्षित (Reserved) चुनाव चिह्न प्रदान करता है और भारत की पृष्ठभूमि में आयोग का यह कार्य निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है। यदि चुनाव चिह्न के प्रश्न पर दो राजनीतिक दलो के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाये तो उस स्थिति मे आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्ष और न्यायिक ढंग से विवाद का निबटारा करेगा। इस सम्बन्ध में आयोग के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील भी की जा सकती है।

(5) **अर्द्ध-न्यायिक कार्य** (Quasi-Judicial Functions)—संविधान के द्वारा आयोग को कुछ अर्द्ध-न्यायिक कार्य भी सौंपे गये हैं, जिसमे दो उल्लेखनीय हैं : अनुच्छेद 103 के अन्तर्गत राष्ट्रपति संसद के सदस्यों की अयोग्यताओ (Disqualifications) के सम्बन्ध मे परामर्श कर सकता है तथा 192वें **अनुच्छेद** के अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल के सदस्यो के सम्बन्ध में यह अधिकार राज्यों के राज्यपालों को दिया गया है। लेकिन संविधान अथवा जन प्रतिनिधित्व अधिनियम में कार्य को करने की कोई प्रक्रिया निश्चित नही की गयी है और इसलिए इस कार्य को करने मे आयोग ने कठिनाइयाँ अनुभव की हैं।

(6) **अन्य कार्य** (Other Functions)—आयोग को उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी सौपे गये हैं, जो इस प्रकार है—(1) राजनीतिक दलो के लिए आचार संहिता (Code of Conduct) तैयार करना; (2) राजनीतिक दलों को आकाशवाणी पर चुनाव प्रचार की सुविधाएँ दिलवाना; (3) उम्मीदवारो द्वारा किये जाने वाले कुल व्यय की राशि निश्चित करना; (4) मतदाताओं को राजनीतिक प्रशिक्षण देना; (5) चुनाव याचिकाओ आदि के सम्बन्ध मे सरकार को आवश्यक परामर्श देना।

इन सबके अतिरिक्त आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय-समय पर सरकार को अपने कार्यों के सम्बन्ध मे प्रतिवेदन देता रहेगा और चुनाव प्रक्रिया में सुधार के लिए सुझाव देता रहेगा।

निर्वाचन प्रक्रिया का प्रारम्भ इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा जारी की गयी अधिसूचना से होता है। यह अधिसूचना **'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951' की 14वीं धारा** के अन्तर्गत जारी की जाती है तथा उसे वर्तमान लोकसभा की अवधि की समाप्ति या मध्यावधि चुनाव होने की स्थिति में जारी किया जाता है। इसके उपरान्त चुनाव आयोग मतदान की तिथियो की घोषणा करता है, जिसे निर्वाचन प्रक्रिया का दूसरा चरण कहा जा सकता है। इस घोषणा मे नामजदगी, पत्रों की जाँच की तिथि, चुनाव संघर्ष से नाम वापस लेने की तिथि का उल्लेख होता है। सन् 1966 के उपरान्त उम्मीदवारों को चुनाव अभियान के लिए कम से कम 20 दिन का समय दिया जाता है।

क्या निर्वाचन आयोग एक निष्पक्ष और स्वतन्त्र संस्था है ?

अथवा

निर्वाचन आयोग की स्वतन्त्रता के लिए सांविधानिक प्रावधान

(INDEPENDENCE OF THE ELECTION COMMISSION . CONSTITUTIONAL PROVISOINS)

भारत मे निर्वाचन आयोग एक स्वतन्त्र सांविधानिक निकाय है और संविधान इस बात को सुनिश्चित करता है कि यह उच्चतम और उच्च न्यायालयो की भाँति कार्यपालिका के बिना किसी हस्तक्षेप के स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से अपने कार्यों को सम्पादित कर सके। इसकी स्वतन्त्रता को बनाये रखने की दृष्टि से अग्रलिखित प्रावधान बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—

1. निर्वाचन आयोग एक सांविधानिक संस्था है अर्थात् इसका निर्माण संविधान ने न कि कार्यपालिका या संसद ने।

2 मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तो की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं।

3. मुख्य चुनाव आयुक्त को महाभियोग जैसी प्रक्रिया से ही हटाया जा सकता है।

4. मुख्य चुनाव आयुक्त का दर्जा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के बराबर है।

5. नियुक्ति के पश्चात् मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्तो की सेवा शर्तों कोई अलाभकारी परिवर्तन नही किया जा सकता है।

6. मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य आयुक्तो का वेतन भारत की सचित निधि मे से जाता है।

सक्षेप मे, सविधान निर्वाचन आयोग के पदाधिकारियो को पूर्ण सरक्षण प्रदान करता जिससे वे अपने कार्यों को निडरता, निष्पक्षता तथा विना किसी हस्तक्षेप के सपादित कर सकें।

निर्वाचन आयोग : आलोचना
(ELECTION COMMISSION : CRITICISM)

भारत मे समय-समय पर निर्वाचन आयोग पर शासक दल के साथ पक्षपात करने के लगाये जाते रहे हैं। चतुर्थ आम चुनाव तथा विशेपतया लोकसभा के मध्यावधि चुनाव (197 के बाद इस प्रकार के आरोपो मे बहुत वृद्धि हुई है। नवम् लोकसभा चुनाव (नवम्बर 1989) दौरान भी आयोग पर कई आरोप लगाये गये। आयोग की निम्नलिखित आलोचनाएँ जाती हैं.

1. **प्रशासनिक सेवा के अधिकारियो की मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर नियुक्ति**—आलोच के अनुसार मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर आमतौर से भारतीय प्रशासनिक सेवा (I. A. S के अधिकारियो की नियुक्ति की जाती है। उन अधिकारियो को नियुक्त किया जाता है जिन्हे शास दल निष्ठावान मानता है। सत्तारूढ़ दल द्वारा अपने चहेते व्यक्तियो को मुख्य निर्वाचन आयुक्त निर्वाचन आयुक्त के पद पर पुरस्कृत किया जाता है। वे अधिकारी जिन्होने सत्तारूढ़ दल मातहत के रूप मे काम किया है चुनाव आयुक्त के रूप मे निष्पक्ष भूमिका अदा कैसे कर सकते हैं

2. **निर्वाचन आयोग मे 'आयुक्त' का एकल पद**—भारत मे निर्वाचन आयोग मे लम्बे सम तक आयुक्त का एकल पद (एक सदस्यीय) रहा है। हाल ही मे नवम् लोकसभा चुनाव (198 से पूर्व आयोग मे दो अतिरिक्त आयुक्तो को मनोनीत किया गया था, किन्तु 2 जनवरी 1990 राष्ट्रपति ने एक आदेश द्वारा उनकी नियुक्तियाँ रद्द कर दी। अब चुनाव आयोग फिर सदस्यीय बन गया है। निर्वाचन आयोग के कार्य बहुत विस्तृत और उसके उत्तरदायित्व बहुत है। अतः अन्तिम रूप से एक ही व्यक्ति द्वारा इतने लम्बे समय तक इन कार्यों को किये जाने पक्षपात और शक्ति के दुरुपयोग की आशका रहती है।

3. **निर्वाचन आयोग सत्तारूढ़ दल एवं सरकार के इशारे पर काम करता है**—सैद्धा रूप से यह कहा जाता है कि भारत मे निर्वाचन का समय व तिथियाँ निर्वाचन आयोग द्वारा की जाती हैं। लेकिन यथार्थ मे वह सत्तारूढ दल की इच्छा एव सुविधा को ध्यान मे रखकर करता है। उदाहरणार्थ, हाल ही मे लोकसभा के लिए रिक्त स्थानो पर उपचुनाव न कराने निर्णय सत्तारूढ दल की मंशा के अनुसार लिया गया। जबकि तीन राज्यो मे होने वाले वि नसभ चुनावो के साथ इन्हें सम्पन्न किया जा सकता था। निर्वाचन आयोग का यह तर्क हास्यास्पद कि संशोधित मतदाता सूचियाँ उपलब्ध न होने के कारण ही उपचुनाव नही कराये जा रहे हैं। ज पुरानी सूचियो के आधार पर विधानसभा के चुनाव हो सकते हैं तो लोकसभा उपचुनाव क्यो नह हो सकते थे? इसी प्रकार नवम् लोकसभा चुनाव की तिथियाँ भी सरकार की सुविधा को ध्यान रखते हुए घोषित की गई।

4. निर्वाचन सम्पन्न कराने के लिए राज्य सरकारों के कर्मचारियों पर निर्भरता—निर्वाचन आयोग के पास निर्वाचन कार्यों के लिए स्वतन्त्र कर्मचारी तन्त्र नही है। उसे राज्य सरकार के कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता है। ये कर्मचारी आयोग के प्रति उतने समर्पित नही होते और कई बार निष्पक्ष आचरण नहीं करते। नवम् लोकसभा चुनाव के समय प्रधानमन्त्री के निर्वाचन क्षेत्र अमेठी में जिस पैमाने पर फर्जी मतदान और बूथ पर कब्जा करने की घटनाएँ हुई उसमे स्थानीय कलक्टर (रिटर्निंग ऑफीसर) और पुलिस सुपरिन्टेन्डेण्ट की उदासीनता को देखते हुए चुनाव प्रक्रिया सम्पन्न होने से पूर्व ही उनका स्थानान्तरण कर्मचारीतन्त्र की पक्षपातपूर्ण भूमिका का पर्दा फाश कर देता है।

5. चुनाव धांधलियों को रोक पाने में असमर्थ—वर्तमान मे चुनाव आयोग चुनाव धाधलियो को रोक पाने में अपने को असहाय पाता है। चुनावो मे वाहुवल और हिंसा, मतदान स्थलो पर कब्जा (Booth Capturing), फर्जी मतदान करने की प्रवृत्ति वढती जा रही है किन्तु चुनाव आयोग मूक दर्शक वना रहता है।

6. कागजी अधिकार—चुनावी भ्रष्टाचार पर कावू पाने के चुनाव आयोग के अधिकाश अधिकार कागजो तक ही सीमित है। अगर चुनावो की व्यवस्था कारगर और भरोसेवन्द तरीके से करनी है तो आयोग के लिए कारगर अधिकारो और पर्याप्त ससाधनो की तत्काल जरूरत है। खासकर संसद मे कानून वनाकर आयोग को नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक सरीखी हैसियत दिये जाने की जरूरत है।

निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु सुझाव
(A PLEA FOR REFORMING THE ELECTION COMMISSION)

निर्वाचन आयोग के संगठन मे सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जाते हैं :

1. चुनाव आयोग एक वहुसदस्यीय स्थायी आयोग हो जिसमे 3 से 5 तक स्थायी सदस्य हों और मुख्य चुनाव आयुक्त इसका अध्यक्ष हो।

2. चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति एक ऐसी समिति के द्वारा की जाय जिसके सदस्य मुख्य न्यायाधीश, प्रधानमन्त्री तथा ससद मे विपक्ष के नेता हो।

3. राज्य स्तर पर भी इसी प्रकार चुनाव आयोग हो।

4 आयोग की निष्पक्षता को वनाये रखने के लिए इसमे वर्तमान या सेवानिवृत्त प्रशासनिक अधिकारियो को नियुक्त न कर वर्तमान या सेवानिवृत्त उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो को ही नियुक्त किया जाना चाहिए।

5 उप चुनाव के वारे मे निर्णय लेने की अन्तिम शक्ति निर्वाचन आयोग में निहित हो न कि सत्तारूढ दल की सुविधा पर।

6. निर्वाचन आयोग से पद निवृत्त होने वाले आयुक्तो को भविष्य मे किसी भी लाभ के पद पर नियुक्त न किया जाये।

तारकुण्डे समिति ने निर्वाचन आयोग मे सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये थे : (1) राज्यो मे निर्वाचन आयोग स्थापित किये जाये; (2) केन्द्रीय निर्वाचन आयोग में एक के वजाय तीन सदस्य हो तथा उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति एक ऐसी समिति की सिफारिश से करे जिसमे प्रधानमन्त्री, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा लोकसभा मे विरोध पक्ष का नेता हो।

भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष श्री लालकृष्ण अडवाणी ने निर्वचिन आयोग की निष्पक्षता को वनाये रखने के लिए तीन सुझाव दिये हैं :

(1) निर्वाचन आयोग वहुसदस्यीय होना चाहिए, (2) सेवानिवृत्ति के वाद सचिवो को

करता है। नागरिक मताधिकार के माध्यम से ऐसी सरकार को बदल सकते हैं जो उनकी ... का सम्मान नहीं करती है।

राजनीतिकरण की प्रक्रिया (Process of Politicization)

'राजनीतिकरण' का अर्थ है —राजनीतिक विकास। राजनीतिक विकास को मापने का साधन 'चुनाव' भी है। एडवर्ड शिल्स ने 'राजनीतिक लोकतन्त्र' को ही 'राजनीतिक ...' नाम दिया है। उनके मतानुसार 'विकसित राजनीतिक प्रणाली वह है जिसमें एक से अधिक ...नीतिक दल हैं और वे राजनीतिक सत्ता के लिए खुलकर प्रतियोगिता कर सकते हैं।' यह ...योगिता स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनावों के माध्यम से होती है।

चुनावों से 'राजनीतिकरण' (Politicization) की प्रक्रिया तीव्र होती है क्योंकि (i) **लोकतन्त्र का निर्माण**—लोकतान्त्रिक संस्थाओं के प्रति जनसाधारण की निष्ठा बनी रहे, ...लिए यह जरूरी है कि वालिग मताधिकार पर आधारित चुनाव समय-समय पर होते रहें। चुनाव 'लोक-निष्ठा' का प्रतीक है। चुनाव राजनीतिक भागीदारी प्रदान करते हैं और ... विशाल जनता के लिए राजनीति में हिस्सा लेने का एकमात्र साधन कहे जा सकते हैं। (ii) ...**नीतिक स्थिरता**—राजनीतिक विकास को मापने का एक साधन स्थायित्व यानी राजनीतिक स्थिरता भी है। (iii) **मतदाताओं को सक्रिय बनाना**—चुनाव राजनीतिक चेतना उत्पन्न ... का बहुत बड़ा साधन है। चुनावों के समय राजनीतिक दल लोगों में सजगता उत्पन्न करने के ... जन-सम्पर्क माध्यमों (Mass media) और स्थानीय संगठनों (Local organization) का ... करते हैं। वे जनसाधारण को 'क्रियाशील' बनाने का प्रयास करते हैं। विदेश नीति, औद्यो... लोकतन्त्र, ओवर ड्राफ्ट, कीमत नियन्त्रण, निजी क्षेत्र, सार्वजनिक क्षेत्र आदि ऐसी बातें हैं ... सम्बन्ध में एक साधारण मतदाता कुछ भी नहीं जानता। चुनावी प्रचार से इन बातों को स... का अवसर मिलता है।

भारत में चुनावी राजनीति का एक अध्ययन
(A STUDY OF ELECTORAL POLITICS IN INDIA)

भारत में अब तक लोकसभा के 9 आम चुनाव हो चुके हैं और राज्य ...धानसभा... चुनाव भी समय-समय पर होते रहे हैं। इन चुनावों के परिणामों का विश्लेषण करने से म... व्यवहार को प्रभावित करने वाले मुद्दों और कारणों का पता लगाना आसान है। यहाँ हम ... आम चुनाव से लेकर 1989 तक सम्पन्न चुनावों का संक्षेप में विवेचन करेंगे।

प्रथम आम चुनाव (1951-52)
(FIRST GENERAL ELECTION 1951-52)

भारत में प्रथम आम चुनाव लोकतन्त्र के इतिहास में एक साहसिक प्रयोग था और ...लिए अप्रैल 1950 में संविधान सभा (भारत की अन्तिम संसद) द्वारा चुनाव कानून पारित ... जाने के बाद में ही तैयारियाँ प्रारम्भ से गयी। **श्री सुकुमार सेन** को भारत का प्रथम ... आयुक्त नियुक्त किया गया और चुनाव के लिए मतदाता सूचियाँ तैयार करते हुए समस्त ... 17 करोड़ 30 लाख मतदाताओं को पंजीकृत किया गया। चुनाव आयोग ने प्रथम चुन... 14 राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय दल माना था लेकिन व्यवहार के अन्तर्गत इस चुनाव में ... बड़े राष्ट्रीय और क्षेत्रीय कुल मिलाकर 75 राजनीतिक दलों ने चुनाव में अपने ... किये। भारतीय जनता की अशिक्षा और राजनीतिक अपरिपक्वता को दृष्टि में रखते हुए ... की पद्धति बहुत सरल रखी गयी और मतदान केन्द्रों पर अलग-अलग राजनीतिक ... उम्मीदवारों के चुनाव चिह्न वाली मतपेटियाँ रखते हुए व्यवस्था की गयी कि मतदाता ... उम्मीदवार को मत देना चाहे, उसके चुनाव चिह्न वाली मतपेटी में अपना मत डाल दें। म... और जलवायु सम्बन्धी कठिनाइयों तथा चुनाव अधिकारियों की अपेक्षाकृत कम संख्या के ... प्रथम आम चुनाव में लगभग 4 माह का लम्बा समय (अक्टूबर 25, 1951 से फरवरी 1952) लगा। अधिकांश स्थानों पर मतदान कार्य जनवरी 1952 में हुआ।

प्रथम आम चुनाव से सम्बन्धित कुछ तथ्य

मताधिकार प्राप्त व्यक्तियों की संख्या—17 करोड़ 30 लाख
लोकसभा के लिए स्थानों की संख्या—489

तालिका 1

प्रथम तीन आम चुनावों की परिणाम तालिका

राजनीतिक दल	1951-52		1957		1962	
	प्राप्त स्थानों की संख्या	प्राप्त मतों का प्रतिशत	प्राप्त स्थानों की संख्या	प्राप्त मतों का प्रतिशत	प्राप्त स्थानो की संख्या	प्राप्त मतों का प्रतिशत
काग्रेस दल	364	45·0	371	47·78	361	44·7
समाजवादी दल	12	10 6	—	—	—	—
कृषक मजदूर प्रथा पार्टी	—	5 6	—	—	—	—
प्रजा समाजवादी दल	—	—	19	10·75	12	6·84
भारत का समाजवादी दल	—	—	—	—	6	2·49
साम्यवादी दल	16	3 3	27	8·92	29	1 69
जनसंघ	3	3·1	4	5·39	13	6·44
स्वतन्त्र दल	—	—	—	—	18	7·89
द्रविण मुनेत्र कडगम	—	—	—	—	7	2·02
अन्य दल	44	16·4	34	7·57	30	7·37
निर्दलीय	41	15·8	39	19·59	20	12·27
	480	100 0	494	100·0	497	100·00

लोकसभा के लिए उम्मीदवारों की संख्या—1,874
समस्त राज्य विधानसभाओं के लिए कुल स्थानों की संख्या—3,283
समस्त राज्य विधानसभाओं के लिए कुल उम्मीदवारों की संख्या—15,000
सरकार द्वारा चुनावों पर व्यय—लगभग 10 करोड़ रुपये
चुनाव संचालन के लिए सरकार द्वारा नियुक्त व्यक्ति—5 लाख 60 हजार
मतदान प्रतिशत—44·9
अवैध मत—16,35,000

"भारत में वयस्क मताधिकार को स्वीकार करने का निश्चय वस्तुतः विश्वास का कार्य था, भारत के साधारण व्यक्ति तथा उसकी व्यावहारिक बुद्धि में विश्वास। 1951-52 के प्रथम आम चुनाव में भारतीय जनता ने अपने आपको इस विश्वास के योग्य सिद्ध किया।"[1]

इन चुनावों के परिणामस्वरूप केन्द्र और अधिकांश राज्यों में कांग्रेस को विशाल बहुमत के साथ विजय प्राप्त हुई। अन्य किसी राजनीतिक दल को अखिल भारतीय स्तर पर उल्लेखनीय विजय प्राप्त नहीं हुई। कांग्रेस को लोकसभा के 489 स्थानों में से 364 पर अधिकार प्राप्त हुआ। राज्यों में मद्रास, उड़ीसा, पेप्सू और ट्रावनकोर, कोचीन के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों की विधानसभाओं में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। इन राज्यों में राजनीतिक स्थिति अस्पष्ट रही।

द्वितीय आम चुनाव (फरवरी-मार्च, 1957)
(SECOND GENERAL ELECTIONS, FEB.-MARCH, 1957)

यद्यपि द्वितीय आम चुनाव भारत के लिए कोई नवीन कार्य नहीं थे, लेकिन 1956 में राज्यों के पुनर्गठन का जो कार्य हुआ, उसने भारतीय राजनीति में कुछ अनिश्चितता का समावेश कर दिया और ऐसी स्थिति में भारत के एक वर्ग द्वारा इस बात की माँग की गयी कि चुनाव स्थगित कर दिये जाने चाहिए। लेकिन चुनाव आयोग ने साहसपूर्वक फरवरी 1957 में चुनाव करवाये और प्रथम आम चुनाव के 17 सप्ताह के स्थान पर केवल 3 सप्ताह (फरवरी-24 मार्च, 1957) में ही चुनाव कार्य सम्पन्न हो गया। इन चुनावों में आयोग द्वारा चार दलों (कांग्रेस, प्रजा समाजवादी दल, साम्यवादी दल और जनसंघ) को अखिल भारतीय स्तर पर और 19 दलों को राज्यस्तरीय दल के रूप में मान्यता प्रदान की गयी। इन चुनावों में कुल मिलाकर 45 राजनीतिक दलों द्वारा भाग लिया गया। इन चुनावों में कुल मिलाकर 49·2 प्रतिशत मतदाताओं द्वारा मताधिकार का प्रयोग किया गया।

चुनाव में कांग्रेस दल को लोकसभा के लगभग 73 प्रतिशत स्थानों (494 में से 317) और राज्य विधानसभाओं के 66.1 प्रतिशत स्थानों पर सफलता प्राप्त हुई। इस प्रकार लोकसभा में इसकी सदस्य संख्या में वृद्धि हुई, लेकिन राज्य विधानसभाओं में इसने 300 से अधिक स्थान खोये। केरल और उड़ीसा को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। इन चुनावों में प्रादेशिक शक्तियाँ भी उभरकर सामने आयी। उड़ीसा में गणतन्त्र परिषद, मद्रास में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (D. M. K.) बिहार में झारखण्ड पार्टी और तत्कालीन बम्बई राज्य में महा-गुजरात जनता परिषद और संयुक्त महाराष्ट्र समिति ने शक्ति का परिचय दिया। द्वितीय आम चुनाव पर टिप्पणी करते हुए चुनाव आयोग ने कहा, **"अनेक पिछड़े हुए क्षेत्रों में भी निर्वा-**

---

1 "It was an act of faith in the common man of India and in his practical common sense." —Election Commission *Report on the First General Elections in India, 1951-52* (Delhi, 1955). I. 10.

चकों द्वारा राजनीतिक परिपक्वता के जिस स्तर का परिचय दिया गया, उसने राजनीति के अनेक विद्यार्थी और निष्पक्ष पर्यवेक्षक में स्तम्भित रह गये ।"

तृतीय आम चुनाव (फरवरी, 1962)
(THIRD GENERAL ELECTIONS FEB., 1962)

तृतीय आम चुनाव के पूर्व चुनाव व्यवस्था मे कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये । प्रथम और द्वितीय आम चुनाव मे बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था थी । दूसरे आम चुनाव मे 91 लोकसभा निर्वाचन क्षेत्र और 584 विधानसभा क्षेत्र द्वि-सदस्यीय थे और काफी बडी संख्या मे अवैध मतों का एक कारण द्वि-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रो से उत्पन्न अस्पष्टता भी थी । अत जनवरी 1961 मे **'द्वि-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र उन्मूलन विधेयक'** पारित किया गया और तृतीय आम चुनाव मे सभी निर्वाचन क्षेत्र एक-सदस्यीय हो गये । इसके अतिरिक्त प्रथम और द्वितीय आम चुनाव मे मतदान केन्द्र पर अलग-अलग मतपेटी रखने की जो व्यवस्था अपनायी गयी थी, उसे भी दोषपूर्ण समझा जा रहा था । अत द्वितीय आम चुनाव के बाद के उपचुनावों व 1960 के केरल विधानसभा चुनावों मे मतपत्र को चिन्हित करने की पद्धति अपनायी गयी थी और केवल कुछ ही निर्वाचन क्षेत्रों को छोडकर 1962 मे इस पद्धति को राष्ट्रव्यापी आधार पर अपनाया गया । यह कुछ सुधरी हुई और साथ ही कुछ जटिल पद्धति थी, लेकिन यह इतनी सफल सिद्ध हुई कि उसके बाद अब तक इसे ही अपनाया जाता रहा है । इन चुनावों मे राष्ट्रीय और राज्यस्तरीय दल का भेद भी समाप्त कर दिया और 3 प्रतिशत से अधिक मत पाने वाले राजनीतिक दलो को उन राज्यो मे 'आरक्षित चुनाव चिन्ह' (Reserve Symbol) दिया गया, जिन राज्यो मे उन्होंने कम से कम इतने प्रतिशत मत प्राप्त किये थे ।

तृतीय आम चुनाव मे 55·4 प्रतिशत मतदाताओ द्वारा मताधिकार का प्रयोग किया गया । इन चुनावों मे कांग्रेस को लोकसभा के 410 मे से 361 स्थान प्राप्त हुए और सभी राज्यो की विधानसभाओ से भी काग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ । लेकिन इस पर भी ये चुनाव परिणाम वस्तुत काग्रेस की घटती हुई शक्ति के परिचायक थे, क्योंकि लोकसभा मे उसकी सदस्य संख्या 371 से घटकर 361 रही थी और इसे 1957 के 46 प्रतिशत मतो के स्थान पर 45 प्रतिशत मत ही प्राप्त हुए थे । इन चुनावो मे कुछ साम्प्रदायिक और क्षेत्रीय दलो का उत्थान हुआ जैसे केरल मे मुस्लिम लीग, पंजाब मे अकाली दल और मद्रास मे द्रविड मुनेत्र कडगम ।

चतुर्थ आम चुनाव (फरवरी, 1967)
(FOURTH GENERAL ELECTIONS, FEB. 1967)

तृतीय आम चुनाव के बाद भारतीय राजनीति मे तेजी से परिवर्तन हुए । अनेक विदेशी राजनीतिज्ञो द्वारा इस बात की आशंका व्यक्त की गयी थी कि पण्डित जवाहरलाल नेहरू के निधन के बाद भारत मे राजनीतिक स्थायित्व नही रहेगा और ऐसी स्थिति मे प्रजातन्त्र भी ठीक प्रकार से कार्य नही कर सकेगा । लेकिन 1964 और उसके बाद जनवरी 1966 मे जिस शान्तिपूर्ण संवैधानिक ढग से काग्रेस दल द्वारा अपने नेता का चयन किया गया, उसमे विदेशी राजनीतिज्ञ चकित रह गये । लेकिन स्थिति अच्छी नही थी और **"चतुर्थ आम चुनाव अवसाद, निराशा, अनिश्चितता और लगभग लगातार आन्दोलनों के वातावरण में सम्पन्न हुए ।"[1]**

"चतुर्थ आम चुनाव में भारतीय जनता द्वारा मतदान के आधार पर क्रान्ति लाने का कार्य किया गया ।"[2] इन चुनावों मे जनता ने पर्याप्त परिपक्वता का परिचय दिया और इमे दृष्टि मे

---

[1] Norman D. Palmer : *India's Fourth General Elections* (Asian Survey, Vol. 7, May 1967) p. 277.

[2] G. P. W. de Costa, Roots of Change in Popular Vote, *The Hindu*, March 17, 1967.

रखते हुए ही इन्हे 'प्रथम वास्तविक आम चुनाव' (First True General Election) और 'द्वितीय क्रान्ति' (Second Revolution) जैसी सज्ञा दी गयी। चुनाव परिणाम ने यह असन्दिग्ध रूप से स्पष्ट कर दिया कि भारतीय जनता परिवर्तन के लिए आतुर है और भारतीय राजनीति मे कांग्रेस दल की लोकप्रियता निरन्तर घटती जा रही है। चुनाव के परिणामस्वरूप 17 राज्यो मे से 9 (आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, हरियाणा, जम्मू और कश्मीर, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मैसूर और नागालैण्ड) मे कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ, लेकिन इन राज्यो मे भी तीसरे चुनाव की तुलना मे कांग्रेस को कम स्थान ही प्राप्त हुए थे। राजस्थान, पंजाब व उत्तर प्रदेश की विधान-सभाओं मे कांग्रेस दूसरे दलो की अपेक्षा सबसे विशाल दल था, परन्तु इसे पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो सका। केरल, उडीसा और मद्रास की विधानसभाओं मे कांग्रेस को 9, 31 और 50 स्थान प्राप्त हुए जिससे इन राज्यो मे कांग्रेस की प्रतिष्ठा को बहुत आघात पहुँचा। यद्यपि केन्द्र मे कांग्रेस सरकार बनाने की स्थिति थी, लेकिन लोकसभा मे कांग्रेस की सदस्य संख्या 361 से घटकर 281 रह गयी। कांग्रेस अध्यक्ष कामराज व अतुल्य घोष और एस. के. पाटिल जैसे कांग्रेस के महारथी भी चुनाव मे पराजित हुए थे।

इन चुनावो ने राज्यो की राजनीति मे मिली-जुली सरकारो का दौर प्रारम्भ किया और फरवरी 1967 के बाद भारतीय संघ के 9 राज्यो मे किसी एक विरोधी दल या दलो की संयुक्त सरकार स्थापित हो गयी। इन चुनावो के बाद भारतीय राजनीति मे एक दूषित प्रवृत्ति दल-बदल भी बहुत अधिक प्रबल हो गयी।

चतुर्थ आम चुनाव मे कांग्रेस की असफलता के कारण
(REASONS OF CONGRESS FAILURE IN FOURTH GENERAL ELECTIONS)

चतुर्थ आम चुनाव मे कांग्रेस की अपेक्षाकृत असफलता अनेक कारणो का सामूहिक परिणाम थी। इनमे से कुछ कारणो की विवेचना इस प्रकार से की जा सकती है

(1) इससे पूर्व के तीनो आम चुनावो मे कांग्रेस की सफलता का एक बहुत बड़ा कारण भारतीय जनता मे पं. नेहरू की लोकप्रियता थी, लेकिन चतुर्थ आम चुनाव कांग्रेस ने पं. नेहरू या उन जैसे किसी महाव्यक्तित्व के बिना ही लडा था। भारत-पाक युद्ध ने शास्त्रीजी के रूप मे राष्ट्रीय कांग्रेस और राष्ट्र को प्रभावशाली व्यक्तित्व प्रदान किया था, लेकिन वह भी अधिक समय तक नही रहे। जनवरी 1966 मे श्रीमती गाँधी ने प्रधानमन्त्री पद ग्रहण किया था, लेकिन फरवरी 1967 तक श्रीमती गाँधी का व्यक्तित्व पं. नेहरू की तुलना मे एक बौने के रूप मे ही था। (2) 1962 के पूर्व तक कांग्रेस शासन द्वारा अपनायी गयी विदेश नीति को भारतीय हितो की रक्षा मे सफल समझा जाता था, किन्तु 1962 मे चीन द्वारा भारत पर आक्रमण और भारत की पराजय ने जनता की नजरो मे कांग्रेसी शासन को असफल सिद्ध कर दिया था। कांग्रेस 1967 तक चीन से भारतीय प्रदेश मुक्त नहीं करा सकी थी, जो चीन ने 1962 की लडाई मे प्राप्त कर लिया था। (3) 1967 के पूर्व की खराब आर्थिक स्थिति ने कांग्रेस की असफलता मे सर्वाधिक योग दिया। खाद्यान्न के अभाव और महँगाई से जनता बहुत अधिक दु ख अनुभव कर रही थी और साधारण जनता के लिए अपना गुजारा कठिन हो गया था। शासन द्वारा किये गये रुपये के अवमूल्यन ने शासन की प्रतिष्ठा को गिराया और आर्थिक कठिनाइयों मे भी वृद्धि ही की। (4) विरोधी दलो द्वारा संचालित कुछ आन्दोलनो का भी चुनाव परिणामो पर प्रभाव पडा। उत्तर प्रदेश मे कर्मचारियो के महँगाई भत्ता बढाने के आन्दोलन ने कांग्रेस को नुकसान पहुँचाया और गौवध विरोधी आन्दोलन ने जनसंघ को लाभ पहुँचाया, जिसने अपने कार्यक्रम मे गौ-रक्षा को प्रमुखता प्रदान की थी। (5) विद्यार्थियो और युवा वर्ग मे कांग्रेसी शासन के प्रति बहुत असन्तोष था और मद्रास जैसे कुछ राज्यो मे तो इसने निर्णायक भूमिका अदा की। (6) भारत के अल्प-

तालिका 2

1967 में हुए चौथे आम-चुनाव के परिणाम

	कुल सीटें	कांग्रेस	स्वतन्त्र दल	जनसंघ	डी. एम. के.	संयुक्त समाजवादी दल	दक्षिण पक्ष साम्यवादी	वाम पक्ष साम्यवादी	प्रजा समाजवादी दल	रिपब्लिकन	अन्य राजनीतिक दल	गैर-दलीय
लोकसभा	520	282	44	35	25	23	23	19	13	1	13	41
आन्ध्र प्रदेश	287	165	29	6	—	1	11	9	—	(1	—	68
असम	126	73	2	—	—	4	7	—	5	—	9	25
विहार	318	128	3	25	—	68	24	4	18	1	13	33
गुजरात	168	93	66	11	—	—	—	—	3	—	2	5
हरियाणा	81	48	3	12	—	—	—	—	—	2	—	16
केरल	133	9	—	—	—	19	19	52	—	—	12	15
मध्य प्रदेश	295	197	7	78	—	10	1	—	9	—	—	24
मद्रास	234	50	20	—	138	2	2	11	4	—	—	7
महाराष्ट्र	270	203	—	4	—	4	10	1	8	5	19	16
मैसूर	216	126	16	4	—	6	1	1	20	—	1	41
उडीसा	140	31	49	—	—	2	7	1	21	—	26	3
पंजाब	104	47	—	9	—	1	5	3	—	3	26	10
राजस्थान	184	89	48	22	—	8	1	—	—	—	—	16
उत्तर प्रदेश	425	199	12	98	—	44	13	1	11	10	—	37
पश्चिमी बंगाल	280	127	1	1	—	7	16	43	7	—	47	31
जम्मू-कश्मीर	75	61	—	3	—	—	—	—	—	—	8	3
नागालैण्ड	46	—	—	—	—	—	—	—	—	—	44	2

संगठकों और दलित वर्गों के द्वारा इससे पूर्व के तीनों आम चुनावों में लगभग सामूहिक रूप से कांग्रेस का समर्थन किया जाता रहा था, लेकिन अब काफी बड़ी संख्या में अल्पसंख्यकों को कांग्रेस से निराशा हो रही थी और उनके द्वारा अलग-अलग विरोधी दलों को अपना समर्थन प्रदान किया गया। दलित वर्गों का भी साम्यवादी दल और संयुक्त समाजवादी दल की ओर झुकाव देखा गया। (7) 1967 के चुनाव के पूर्व ही कांग्रेस में गुटबन्दी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी थी और कांग्रेस के ही कुछ नेताओं द्वारा कांग्रेस से पृथक होकर अलग गुटों का निर्माण कर लिया गया था। पश्चिमी बंगाल में अजय मुखर्जी के नेतृत्व में बंगला कांग्रेस, बिहार में महामायाप्रसाद के नेतृत्व में जनक्रान्ति दल और राजस्थान में कुम्भाराम के नेतृत्व में जनता पार्टी ऐसे ही दल थे और उन्होंने कांग्रेस की पराजय को सरल कर दिया। कांग्रेस की आन्तरिक गुटबन्दी ने भी उनकी हार में बहुत अधिक योग दिया। (8) इन सबके अतिरिक्त अन्तिम कारण यह था कि जनता परिवर्तन की मनोस्थिति में थी। जनता विरोधी दलों को राजनीति में सकारात्मक भूमिका अदा करने का अवसर देना चाहती थी, जिससे उनके द्वारा की गयी ऊँची-ऊँची घोषणाओं को परखा जा सके।

इन सभी कारणों का सामूहिक परिणाम कांग्रेस की आंशिक पराजय के रूप में सामने आया।

राष्ट्रीय कांग्रेस का विभाजन और लोकसभा के मध्यावधि चुनाव
(DIVISION OF NATIONAL CONGRESS AND MID-TERM ELECTIONS OF LOK-SABHA)

कांग्रेस के मतभेद तो प्रारम्भ से ही थे, 1967 और 1969 के चुनावों ने इनमें वृद्धि की और श्री जाकिर हुसैन के उत्तराधिकारी के चयन के प्रश्न को लेकर इसने स्पष्ट फूट का रूप ग्रहण कर लिया। अत. 1969 में कांग्रेस संस्था दो पक्षों में विभाजित हो गयी : सत्ता कांग्रेस और संगठन कांग्रेस। कांग्रेस के विभाजन के बाद श्रीमती गांधी की सत्ता कांग्रेस अल्पमत में रह गयी, क्योंकि लोकसभा के 519 स्थानों में से सत्ता कांग्रेस को 220 स्थान ही प्राप्त थे। लेकिन श्रीमती गांधी के द्वारा भारतीय साम्यवादी दल, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, प्रजा समाजवादी दल, छोटे दल और निर्दलीय सदस्यों की सहायता से अपनी सरकार का संचालन किया जाता रहा। संयुक्त समाजवादी दल, भारतीय क्रान्ति दल और मार्क्सवादी दल के द्वारा कभी सरकार का समर्थन और कभी विरोध किया गया।

श्रीमती गांधी के द्वारा विविध राजनीतिक दलों के समर्थन से अपनी सरकार के संचालन में असुविधा अनुभव की जा रही थी और जनता से स्पष्ट निर्णय प्राप्त करने के पक्ष में थी। अत श्रीमती गांधी के परामर्श पर राष्ट्रपति द्वारा 27 दिसम्बर, 1970 को लोकसभा भंग कर मध्यावधि चुनाव की घोषणा की गयी।

इन चुनावों मे सगठन कांग्रेस, जनसघ, स्वतन्त्र दल और संयुक्त समाजवादी दल के द्वारा एक **'चार-दलीय मोर्चे'** का निर्माण किया गया। यह चार-दलीय मोर्चा केन्द्र में अपनी सरकार की स्थापना या पर्याप्त शक्तिशाली विरोधी दल का स्थान ग्रहण करने के प्रति बहुत अधिक आशान्वित था लेकिन चुनाव परिणाम चार-दलीय मोर्चे की आशाओं के नितान्त विपरीत रहे। कांग्रेस के द्वारा सामान्यतया भारतीय साम्यवादी दल और तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम के सहयोग से चुनाव लड़े गये। चुनावों मे कांग्रेस को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई।

1971 के चुनाव के बाद लोकसभा मे राजनीतिक दलों की स्थिति
(PARTY POSITION IN LOK-SABHA AFTER ELECTIONS OF 1971)

1971 के लोकसभा मध्यावधि चुनाव के बाद विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थिति का अध्ययन अग्र आधार पर किया जा सकता है .

तालिका 3

राजनीतिक दल	1970 के लोकसभा में स्थानों की संख्या	1971 के चुनाव में लोकसभा में प्राप्त स्थानों की संख्या	कुल वैध मतों का प्राप्त प्रतिशत
सत्ता कांग्रेस	220	350	43·6
संगठन कांग्रेस	65	16	10·6
मार्क्सवादी-साम्यवादी दल	19	25	4·9
भारतीय साम्यवादी दल	24	23	4·5
द्रविड मुनेत्र कड़गम	24	23	4·5
जनसंघ	33	22	7·5
स्वतन्त्र दल	35	8	3·1
भारतीय क्रान्ति दल	10	1	1
संयुक्त समाजवादी दल	17	3	2·4
प्रजा समाजवादी दल	15	2	2
अन्य दल व निर्दलीय	57	43	18·5
योग	519	516	100

लोकसभा चुनाव में सत्ता कांग्रेस की विजय के कारण
(REASONS OF CONGRESS VICTORY IN LOK-SABHA ELECTIONS)

1971 के लोकसभा चुनाव परिणामो ने भारतीय राजनीति के प्राय सभी देशी व विदेशी प्रेक्षको को हतप्रभ कर दिया। किसी को भी, सत्ता कांग्रेस की नेता श्रीमती गाँधी को भी, यह आशा नही थी कि सत्ता कांग्रेस को लोकसभा मे दो-तिहाई बहुमत प्राप्त हो सकेगा।[1] लेकिन ये चुनाव परिणाम प्रथम सरसरी दृष्टि मे जितने आश्चर्यजनक प्रतीत हुए, वास्तव मे उतने आश्चर्य-जनक नही थे। मतदाताओ के आचरण के पीछे कुछ महत्त्वपूर्ण कारण थे और यदि उन्हे दृष्टि मे रखा जाय, तो चुनाव परिणाम पूर्णतया स्वाभाविक दिखायी देते है। कांग्रेस की इस अप्रत्याशित समझी जाने वाली विजय के अनेक कारण थे ·

प्रथम, श्रीमती गाँधी द्वारा मध्यावधि चुनाव की घोषणा ने भारतीय जनता को मनो-वैज्ञानिक रूप से प्रभावित किया। अपनी इस घोषणा के आधार पर श्रीमती गाँधी यह प्रमाणित कर रही थी कि वह सत्ता से चिपके नही रहना चाहती और जनता का स्पष्ट निर्णय प्राप्त करने के पक्ष मे है। **द्वितीय**, लोकसभा के मध्यावधि चुनाव की घोषणा से सम्बन्धित श्रीमती गाँधी का समस्त कार्य बहुत अधिक चतुराईपूर्ण था। श्रीमती गाँधी ने अपनी इस घोषणा के आधार पर राष्ट्रीय प्रश्नो को क्षेत्रीय प्रश्नो से अलग कर दिया था और क्षेत्रीय प्रश्नो से उत्पन्न असन्तोष का जो लाभ विरोधी दलो को मिल सकता था उसे समाप्त कर दिया था। इसके अतिरिक्त, चुनाव का समय श्रीमती गाँधी के अत्यधिक अनुकूल था। **तृतीय**, सत्ता कांग्रेस की विजय राजनीतिक स्थिरता के लिए मतदान था। फरवरी 1967 से लेकर 1970 के अन्त तक भारतीय संघ के विभिन्न राज्यो को गम्भीर राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति का सामना करना पडा था, जिसके लिए मुख्यतया विपक्षी दल उत्तरदायी थे। वस्तुत चतुर्थ आम चुनावो के बाद की भारतीय राजनीति का सबसे प्रमुख तथ्य संविद सरकारो की स्थापना और उनकी असफलता था। ऐसी स्थिति मे भारतीय मत-दाता इस बात से आशंकित थे कि कही राज्य-स्तरीय राजनीति ही केन्द्रीय स्तर पर प्रकट न हो

[1] श्रीमती गाँधी ने दलीय नेता चुन जाने के समय लोकसभा के कांग्रेसी सदस्यो को सम्बोधित करते हुए स्वीकार किया था। —*Times of India*, March 19, 1971.

जाय। **चतुर्थ**, चार-दलीय मोर्चे के चुनाव नारे का पहला भाग था 'इन्दिरा हटाओ' और दूसरा भाग था 'लोकतन्त्र बचाओ' जिसमें पहला भाग ही अधिक जाना गया था—सत्ता काग्रेस का नारा था—'गरीबी हटाओ, निर्धनता, बेरोजगारी और सामाजिक असमानता की समाप्ति' के लिए मत दो। इस प्रकार के चुनाव नारों के सन्दर्भ मे मतदाताओं ने अपनी ओर से जोड़ा कि 'इन्दिराजी गरीबी और अमीरी का भेद मिटाना चाहती हैं, इसलिए यह मोर्चा इन्दिराजी को हटाना चाहता है।' ऐसी स्थिति मे मतदाताओं की पसन्द जो हो सकती थी, वही हुई। **पंचम**, सामान्य व्यक्ति सदैव ही साधारण समीकरणो मे विश्वास करते हैं। उनके लिए सत्ता काग्रेस बैंकों के राष्ट्रीयकरण व राजाओं के प्रीवीपर्स समाप्त करने के प्रयत्न आदि के कारण निर्धन जनता की, समाजवाद की प्रतीक बन गयी थी। चार-दलीय मोर्चे द्वारा इन प्रयत्नो का विरोध किये जाने के कारण मोर्चा उच्च वर्गो का, पूँजीवाद का प्रतीक बन गया था। श्रीमती गाँधी सामान्य जनता मे यह विश्वास उत्पन्न करने मे सफल हुई थी कि काग्रेस के विभाजन मे एक नवीन काग्रेस का उदय हुआ है जो समाजवादी समाज के निर्माण मे विश्वास रखती है। **षष्ठम्**, इन चुनावों मे अल्पसंख्यक वर्ग ने सामूहिक रूप से सत्ता काग्रेस का समर्थन किया था। इन चुनाव परिणामो का एक कारण सत्ता काग्रेस की अधिक साधन सम्पन्नता थी।

इन सबके अतिरिक्त, सत्ता काग्रेस की अपूर्व विजय का सबसे प्रमुख कारण था, 'श्रीमती गाँधी का व्यक्तित्व।' यदि विरोधी दलो के पास श्रीमती गाँधी के समान ही प्रभावशाली कोई व्यक्तित्व होता, तो मतदाताओ के सामने दुविधापूर्ण स्थिति भी उत्पन्न हो सकती थी, लेकिन उनके पास ऐसा कोई व्यक्तित्व नही था, जिसके नाम पर मत माँगे जा सकते।

मार्च, 1971 के लोकसभा मध्यावधि चुनाव भारतीय लोकतन्त्र के पहले ऐसे चुनाव थे जिसके अन्तर्गत जनता द्वारा '**कार्यक्रम सहित प्रधानमन्त्री**' का चुनाव किया गया था।

लोकसभा चुनाव परिणामों का राजनीतिक दलों पर प्रभाव (Impact of Lok-Sabha Election Results on Political Parties)

ये चुनाव परिणाम सत्ता काग्रेस के विरोधी राजनीतिक दलों के लिए एक तीव्र आघात के समान थे, अत. इन चुनाव परिणामो ने सभी राजनीतिक दलो को झकझोर दिया। **प्रथमतः** सगठन काग्रेस, जनसघ, स्वतन्त्र दल और संयुक्त समाजवादी दल चुनावों मे पराजय के लिए एक-दूसरे को उत्तरदायी ठहराने लगे और इन राजनीतिक दलो मे नेतृत्व के प्रति विरोधी स्वर उभरने लगे। चुनाव के समय बनाया गया चार-दलीय मोर्चा समाप्त हो गया और चौगुटे के चारो ही राजनीतिक दलो ने घोषणा कर दी कि फरवरी 1972 के विधानसभा तथा अन्य चुनाव वे अकेले अपनी ही शक्ति के बल पर लड़ेंगे। **द्वितीयतः**, चुनाव परिणामों से स्पष्ट हो गया था कि भारतीय राजनीति मे दक्षिणपन्थी दलो का कोई भविष्य नही है, अत अब दक्षिणपन्थी दलो मे भी प्रगतिशील नीतियाँ अपनाने की प्रवृत्ति प्रबल होने लगी। सगठन काग्रेस और जनसंघ मे विशेष रूप से इस प्रकार का परिवर्तन देखा गया। **तृतीयतः**, विरोधी राजनीतिक दलो विशेषतया संगठन काग्रेस का तेजी मे पतन हुआ। **चतुर्थ**, राज्य स्तर पर नयी काग्रेस के नेतृत्व मे भी परिवर्तन हुए। विशेष रूप मे राजस्थान, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश और असम मे इस प्रकार के परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन इस बात के प्रतीक थे कि अब काग्रेस के प्रादेशिक सामन्तो की स्थिति केन्द्रीय सत्ता के समर्थन और सहयोग पर निर्भर करती है।

1972 के विधानसभा चुनाव

(ASSEMBLY ELECTIONS OF 1972)

मार्च 1971 के लोकसभा चुनाव और फरवरी 1972 के विधानसभा चुनावो के बीच विश्व राजनीति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी—'**स्वाधीन बंगला देश की स्थापना।**' इस घटना ने श्रीमती गाँधी और सत्ता काग्रेस की प्रतिष्ठा मे बहुत अधिक वृद्धि कर दी।

मार्च 1972 के विधानसभा चुनावों में सत्ता कांग्रेस की विजय प्रत्याशित थी लेकिन इतने स्पष्ट रूप में और इतने बहुमत के साथ नहीं, जिस रूप में विजय प्राप्त हुई। दिल्ली को जनसंघ और पश्चिमी बंगाल को मार्क्सवादी दल का गढ़ समझा जाता था, लेकिन इन क्षेत्रों में इनकी उपस्थिति नगण्य-सी हो गयी। जिन 17 राज्यों में चुनाव हुए, उनमें कुल मिलाकर कांग्रेस को 70·4 प्रतिशत स्थान (48 5 प्रतिशत मत) प्राप्त हुए। इसके पूर्व कांग्रेस को कभी भी ऐसी विजय प्राप्त नहीं हुई थी। चुनाव परिणामों की समीक्षा एक शब्द में करना ही उचित होगा, और वह है—**श्रीमती गाँधी की विजय। श्री मल्कानी** के शब्दों में, 1971 में **यदि इन्दिरा लहर थी, तो 1972 में इन्दिरा ज्वार था।**"[1]

तालिका 4

पांचवें आम चुनावों के बाद राज्यों में राजनीतिक दलों की स्थिति

राज्य	विधानसभा में कुल स्थान	कांग्रेस	संगठन कांग्रेस	स्वतन्त्र दल	जनसंघ	भारतीय साम्यवादी दल	मार्क्सवादी दल	समाजवादी दल	अन्य दल	निर्दलीय सदस्य
आन्ध्र प्रदेश	287	219	—	2	—	7	1	—	5	53
महाराष्ट्र	270	222	—	—	5	2	1	3	12	25
कर्नाटक	216	135	24	—	—	3	—	3	6	15
गुजरात	167	139	16	—	3	1	—	—	—	8
गोवा	30	1	—	—	—	—	—	—	28 (M. G. P.)	1
दिल्ली (मैट्रोपोलिटिन कौंसिल)	56	44	2	—	5	3	—	—	1	1
हिमाचल प्रदेश	65	51	—	—	5	—	—	—	13	1
बिहार	318	167	30	—	26	35	—	33	13	12
हरियाणा	81	52	12	—	2	—	—	—	4	11
पंजाब	104	66	—	—	—	10	1	—	24 (अकाली)	3
मध्य प्रदेश	297	220	—	—	48	3	—	7	—	18
राजस्थान	184	145	1	11	8	4	—	4	—	11
असम	114	95	—	1	—	3	—	4	6	5
मणिपुर	60	17	1	—	—	5	—	3	18	16
मेघालय	60	9	—	—	—	—	—	—	32 (APHLC)	19
पश्चिमी बंगाल	280	216	2	—	—	35	14	—	8	5
त्रिपुरा	60	41	—	—	—	1	16	—	5	2
जम्मू-कश्मीर	74	57	—	—	3	—	—	—	—	9
योग	272	1926	88	16	105	112	33	57	163	231

M G. P.—महाराष्ट्रवादी गोमान्तक दल।

APHLC—All Parties Hill Leaders Conference.

1 "If there was an Indira wave in 1971, there is Indira tide in 1972."
—K. R. Malkani . "Congress is King—and it is Queen" in *Motherland* (New Delhi), March 15, 1975.

1971 के लोकसभा चुनाव और 1972 के विधानसभा चुनावों का भारतीय राजनीति पर प्रभाव

1971 के लोकसभा चुनावों के परिणाम सत्ता कांग्रेस के विरोधी राजनीतिक दलों के लिए एक तीव्र आघात के समान थे, अत. इन चुनाव परिणामों ने सभी राजनीतिक दलों को झकझोर दिया। भारतीय राजनीति पर इन चुनावों का परिणाम निम्न रूपों में पड़ा :

(1) **विपक्षी दलों के गठबन्धन का अन्त**—संगठन कांग्रेस, जनसंघ, स्वतन्त्र दल और संयुक्त समाजवादी दल चुनावों मे पराजय के लिए एक-दूसरे को उत्तरदायी ठहराने लगे और इन राजनीतिक दलों में नेतृत्व के प्रति विरोधी स्वर उभरने लगे। चुनाव के समय बनाया गया 'चार-दलीय मोर्चा' समाप्त हो गया और चौगुटे के चारों ही राजनीतिक दलों ने घोषणा कर दी कि 1972 के विधानसभा तथा अन्य चुनाव वे अकेले अपनी ही शक्ति के बल पर लड़ेंगे।

(2) **भारतीय राजनीति में करिश्मावादी नेतृत्व का उदय**—1971 के लोकसभा चुनावों मे श्रीमती गाँधी ने कहा था, **'चुनाव का मुद्दा मैं हूँ'** (I am the issue), वस्तुस्थिति यही थी और जब श्रीमती गाँधी के नेतृत्व मे सत्ता कांग्रेस ने लोकसभा के दो-तिहाई से अधिक स्थान प्राप्त कर लिये, तब भारतीय राजनीति मे लगभग सात वर्ष के अन्तराल (1964-70) के बाद श्रीमती गाँधी के रूप में पुन करिश्मावादी नेतृत्व का उदय हुआ। दिसम्बर 1971 में भारत-पाकिस्तान युद्ध मे निर्णायक विजय प्राप्त कर लेने पर श्रीमती गाँधी के इस करिश्मावादी नेतृत्व में और अधिक वृद्धि हो गयी।

(3) **केन्द्रीय सत्ता और व्यक्ति विशेष में सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीयकरण**—1971 के चुनावों ने केन्द्र मे श्रीमती गाँधी को पूर्ण सत्ता प्रदान कर दी थी और 1972 के चुनावों ने राज्यों पर श्रीमती गाँधी की पूर्ण सत्ता स्थापित कर दी। भूतकाल में प. नेहरू को भी इस प्रकार की स्थिति प्राप्त थी, लेकिन उनके द्वारा अपनी स्थिति और शक्तियों का विशेष परिस्थितियों में ही बहुत अधिक सयमित रूप में और सवैधानिक औचित्य को ध्यान मे रखते हुए प्रयोग किया गया। श्रीमती गाँधी के द्वारा संवैधानिक औचित्य की नितान्त अवहेलना की गयी। न केवल मुख्यमन्त्रियों के नामों और राज्यों की मन्त्रिपरिषदों के सदस्यों की सूची का निर्णय नयी दिल्ली में हुआ, वरन् राज्यों के शासन का संचालन भी नयी दिल्ली से किया जाने लगा।

(4) **जनता में प्रबल आकांक्षाएँ और बढ़ती हुई निराशाएँ**—1971 के लोकसभा चुनावों मे श्रीमती गाँधी का नारा था **'गरीबी हटाओ'**। इसके अतिरिक्त, श्रीमती गाँधी ने 14 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण और राजाओं के प्रिवीपर्स समाप्त करने की घोषणा आदि के आधार पर अपनी वामपन्थी और लोककल्याणकारी छवि का परिचय दिया था। इस स्थिति में श्रीमती गाँधी और उनके शासन के प्रति जनता की आकांक्षाएँ बहुत अधिक बढ़ गयी, लेकिन जब चुनावों के बाद जनता को यह आभास मिला कि सरकार ऐसा कोई प्रयत्न नहीं कर रही है तब जनता में बहुत अधिक तेजी के साथ निराशा की स्थिति और शासन के प्रति विरोध भावना बढ़ने लगी।

(5) **व्यापक जन आन्दोलन की प्रवृत्ति**—जनता मे निराशा व्यग्रता और शासन के प्रति विरोध की स्थिति तो थी ही, इस समय यह बात भी स्पष्ट हो गयी कि समस्त शासन तन्त्र बहुत अधिक भ्रष्ट है। इस स्थिति ने 1973 के उत्तरार्द्ध से व्यापक जन आन्दोलनों को जन्म दिया। 1974 ई. मे जब लोकनायक जयप्रकाश ने इस जन आन्दोलन को अपना आशीर्वाद और तत्पश्चात् निर्देशन दे दिया, तब जन आन्दोलन ने बहुत अधिक व्यापकता ग्रहण कर ली।

छठी लोकसभा के चुनाव (मार्च, 1977)

18 जनवरी, 1977 को राष्ट्र के नाम सन्देश प्रसारित करते हुए तत्कालीन प्रधानमन्त्री [illegible] गाँधी द्वारा लोकसभा को भंग करने और मार्च 1977 मे छठी लोकसभा के चुनाव करवाने

की घोषणा की गयी। इस घोषणा के साथ ही प्रेस पर सेंसरशिप और अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों पर से प्रतिबन्ध हटा दिये गये। प्रतिबन्धित संगठनों से सम्बन्धित व्यक्तियों के अतिरिक्त आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत गिरफ्तार अन्य व्यक्तियों को रिहा करने के आदेश जारी किये गये। इस प्रकार चुनाव के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता का वातावरण तैयार किया गया।

विरोधी दलों द्वारा कांग्रेस की चुनौती का सामना करने के लिए जनता के सामने कांग्रेस का विकल्प प्रस्तुत किया गया और यह विकल्प था 'जनता पार्टी' जिसका गठन भारतीय लोकदल, संगठन कांग्रेस, जनसंघ, समाजवादी दल और विद्रोही कांग्रेसियों द्वारा किया गया। जगजीवनराम द्वारा कांग्रेस से त्यागपत्र देकर **'लोकतन्त्रीय कांग्रेस'** (Congress of Democracy) का गठन किये जाने की घोषणा ने विरोधी दलों के मनोबल को ऊँचा उठाने का कार्य किया।

इन चुनावों से सम्बन्धित कुछ तथ्य इस प्रकार थे कुल स्थान—542 (इनमें से मार्च 1977 में 539 स्थानों पर चुनाव हुए।)

कुल उम्मीदवार—2,431 (दलीय उम्मीदवार 1,151, शेष निर्दलीय)

कुल मतदाता—31,83,42,602 (लगभग 31 करोड़)

चुनावों के अन्तर्गत जनता पार्टी के द्वारा जनता के सामने **'लोकतन्त्र बनाम तानाशाही'** का प्रश्न रखा गया, जबकि कांग्रेस के द्वारा 'स्थायित्व या अराजकता' के प्रश्न पर बल दिया गया। वस्तुत: जून 1975 में घोषित आपातकाल इन चुनावों का केन्द्रीय प्रश्न बन गया था। चुनाव के पूर्व कुछ सीमा तक उत्तेजना का वातावरण था। लेकिन इसके बावजूद निष्पक्ष, स्वतन्त्र और शान्तिपूर्ण ढंग से चुनाव सम्बन्धी समस्त कार्य सम्पन्न हुआ। चुनाव के परिणाम **'मतपेटी के माध्यम से शान्तिपूर्ण क्रान्ति'** के रूप में थे। भारतीय जनता ने आपातकाल के विरुद्ध मतदान कर **'राजनीतिक जागरूकता और लोकतन्त्र के प्रति अपनी प्रतिबद्धता'** का परिचय दिया था।

चुनाव परिणाम निम्न तालिका से स्पष्ट हैं:

दल का नाम	मार्च 1977 के चुनाव में उम्मीदवारों की संख्या	लोकसभा में प्राप्त स्थान	प्राप्त मतों का प्रतिशत
कांग्रेस	493	153	34·5[illegible]
जनता पार्टी/लोकतान्त्रिक कांग्रेस	423 (391+32)	298 (270+28)	43·[illegible]
भारतीय साम्यवादी दल	92	7	[illegible]
मार्क्सवादी दल	53	22	[illegible]
क्षेत्रीय दल और अन्य निर्दलीय	1278	59	[illegible]

कांग्रेस की पराजय के लिए उत्तरदायी तत्त्व

छठी लोकसभा के इन चुनावों में कांग्रेस को जो भारी पराजय का [illegible] करना पड़ा, उसके लिए उत्तरदायी तत्त्वों की विवेचना निम्न प्रकार से की जा [illegible]

(1) *1975* **में घोषित आपातकाल और आपातकालीन ज्यादतियाँ** [illegible] के द्वारा जिस आपातकाल की घोषणा की गयी, उसका कारण आन्[illegible] अराजकता उत्पन्न होने की आशंका बतलाया गया था, लेकिन साम[illegible] समझ गये कि श्रीमती गाँधी के द्वारा अपने आपको सत्ता में बनाये [illegible] घोषित किया गया था। इस आपातकाल में नरंकु[illegible] ज्याद[illegible] कुछ प्रमुख ज्यादतियाँ थीं : प्रतिष्ठित राजनी[illegible] गैर-राजनीतिक व्यक्तियों की गिरफ्तारी, [illegible] संगठनों को प्रतिबन्धित करना और [illegible]

बेघरबार करना आदि। शासक वर्ग की इन ज्यादतियों की प्रतिक्रिया होना नितान्त स्वाभाविक ही था।

(2) **परिवार नियोजन कार्यक्रम के अन्तर्गत की गई ज्यादतियाँ**—भारत के लिए परिवार नियोजन कार्यक्रम की उपयोगिता पर किसी के भी द्वारा सन्देह नही किया जा सकता, लेकिन इस कार्यक्रम को मूर्खता की सीमा तक पहुँचे हुए जिस अनुचित उत्साह के साथ अपनाया गया, उसने इस कार्यक्रम को एक लम्बे समय के लिए अलोकप्रिय और जनता को शासक वर्ग का प्रबल विरोधी बना दिया। इस कार्यक्रम का एक प्रमुख पक्ष था 'जोर-जबरदस्ती के आधार पर नसबन्दी' और इसमे सामान्य नागरिको के प्रति पशुओं जैसा व्यवहार किया गया था।

(3) **कांग्रेस में संजय गांधी का उदय और युवा कांग्रेस की भूमिका**—1975 में घोषित आपातकाल मे भारतीय राजनीति मे सजय गाँधी का उदय हुआ और शीघ्र ही सजय गाँधी '**संविधानेतर सत्ता के एक बहुत बड़े केन्द्र**' बन गये। कुछ केन्द्रीय मन्त्रियो और कुछ राज्यो के मुख्य-मन्त्रियों ने उनके चाटुकार बनकर उन्हे मनमानी करने की दिशा मे प्रत्येक सम्भव प्रोत्साहन दिया। सजय गाँधी की भूमिका मे वशानुगत शासन का खतरा अनुभव किया गया। इसके अतिरिक्त, युवा काग्रेस सन्देहपूर्ण शक्तियो का केन्द्र बन गयी और सजय गाँधी तथा युवा काग्रेस की भूमिका काग्रेस के पतन का कारण बनी।

(4) **श्रीमती गांधी के प्रति जनता के विश्वास में कमी**—1971 के समान ही 1977 के चुनावो का मुख्य प्रश्न भी श्रीमती गाँधी ही थी, अन्तर केवल यह था कि 1971 मे श्रीमती गाँधी की छवि जितनी उज्ज्वल थी, 1977 मे उतनी ही अधिक धूमिल हो गयी थी। 1975 मे आपातकाल की घोषणा, सजय गाँधी को दिया गया राजनीतिक प्रोत्साहन, आपातकालीन ज्यादतियाँ और 1971 तथा 1972 के चुनावो मे जनता के प्रति किये गये वायदो को पूरा न करने आदि तत्त्वो ने भारतीय जनता मे श्रीमती गाँधी के प्रति विश्वास को बहुत कम कर दिया। इस स्थिति के परिणामस्वरूप न केवल काग्रेस हारी वरन् स्वय श्रीमती गाँधी अपने ही निर्वाचन क्षेत्र मे हार गयी।

(5) **चुनाव के लिए गलत समय का चयन**—श्रीमती गाँधी ने 'अप्रत्याशित चुनाव' की घोषणा करते हुए सोचा कि इससे विरोधी दल चुनाव के लिए पूरी तैयारी नही कर पायेंगे और यह बात श्रीमती गाँधी की भारी विजय मे सहायक होगी। लेकिन घटनाएँ दूसरे ही रूप मे घटित हुई। रिहाई के बाद जब विरोधी दल के नेता और उनके दु ख-दर्द की गाथाएँ जनता के सामने आयी तो जनता मे उनके प्रति सहानुभूति उमडी और बहुत शीघ्र ही होने वाले चुनावो के कारण इस सहानुभूति ने उनके पक्ष मे भारी मतदान का रूप ले लिया।

(6) **विरोधी दलों को श्री जयप्रकाश का सक्रिय समर्थन**—1977 मे श्रीमती गाँधी की तस्वीर जितनी धूमिल थी, श्री जयप्रकाश की तस्वीर उतनी ही उज्ज्वल थी। ऐसी स्थिति मे श्रीमती गाँधी ने जयप्रकाश पर जो भी आरोप लगाये, श्रीमती गाँधी उनमे स्वय ही लाछित हो गयी। जयप्रकाश के द्वारा इन चुनावो मे जनता पार्टी को खुला और पूर्ण समर्थन प्रदान किया गया। जनता पार्टी के गठन और जनता पार्टी तथा लोकतन्त्रीय काग्रेस के बीच समझौते आदि सभी बातो मे जयप्रकाश की भूमिका बहुत अधिक रचनात्मक, ठोस और उपयोगी रही। 1977 के चुनाव परिणाम बहुत कुछ सीमा तक 'जयप्रकाश की विजय' के रूप मे ही थे।

(7) **विरोधी दलों द्वारा भारतीय जनता को कांग्रेस का विकल्प प्रदान करना**—अब तक काग्रेस सदैव यह प्रचार करती रही कि विरोधी दल आपसी मतभेदो के कारण शासन चलाने मे असमर्थ है। लेकिन मार्च 1977 के लोकसभा के चुनावो के पूर्व चार प्रमुख विरोधी दलो के द्वारा 'जनता पार्टी' का गठन किया गया। उनके द्वारा एक दल, एक चुनाव चिह्न और एक निश्चित

नेता की अध्यक्षता मे चुनाव लड़कर जनता को यह विश्वास दिलाने मे सफलता प्राप्त की गयी कि यह शासन करने और देश की राजनीति मे स्थायित्व बनाये रखने में समर्थ है।

(8) **श्री जगजीवनराम द्वारा मन्त्रिमण्डल और कांग्रेस से पद त्याग**—एक चुनाव मोर्चे के रूप मे जनता पार्टी का गठन तो जनवरी 1977 के अन्त मे ही हो चुका था, 3 फरवरी, 1977 की घटना ने कांग्रेस विरोधी दलो के मनोबल मे भारी वृद्धि और कांग्रेस के मनोबल मे भारी गिरावट लाने का कार्य किया और वह घटना थी, बहुगुणा और अन्य कुछ नेताओ सहित जगजीवनराम का मन्त्रिपरिषद और कांग्रेस मे त्यागपत्र। कांग्रेस के वरिष्ठ नेता जगजीवनराम द्वारा कांग्रेस छोड़े जाने का सामान्य जन के द्वारा कांग्रेस का पतन प्रारम्भ समझा गया। लेकिन वस्तुत: श्री जगजीवनराम द्वारा पद त्याग से पूर्व ही कांग्रेस विरोध की भावना बहुत अधिक तीव्र थी और श्री राम को कांग्रेस की पराजय का प्रमुख नही, वरन् गौण कारण ही समझा जाना चाहिए।

(9) **कांग्रेसी शासन की आर्थिक नीति और 1971-72 में किये गये चुनाव वायदों को पूरा करने में असफलता**—'आपातकाल से आर्थिक समृद्धि' का बहुत अधिक ढिंढोरा पीटा गया लेकिन न तो आर्थिक स्थिति अच्छी थी और न ही जनता कांग्रेसी शासन की आर्थिक नीति से सन्तुष्ट थी। बोनस के प्रश्न पर सरकारी नीति और तालाबन्दी रोकने मे शासन की असफलता से श्रमिक वर्ग असन्तुष्ट था और पुन बढती हुई महँगाई से मध्यम वर्ग। इसके अतिरिक्त, 1971 और 1972 के चुनावो मे श्रीमती गाँधी के द्वारा 'गरीबी हटाने और आर्थिक असमानता समाप्त करने' के नाम पर मत प्राप्त किये गये थे, लेकिन व्यवहार मे ऐसा करने की कोई चेष्टा नही की गयी।

इसके अतिरिक्त, युवा विद्यार्थी वर्ग मे कांग्रेसी शासन के प्रति असन्तोष बहुत अधिक प्रबल था। प. बंगाल और अन्य कुछ राज्यो मे कांग्रेस मे तीव्र गुटबन्दी ने भी कांग्रेस की पराजय मे प्रमुख भूमिका अदा की। इन चुनावो मे कांग्रेस के पास निष्ठावान् कार्यकर्ताओ का नितान्त अभाव देखा गया, जबकि इस सम्बन्ध मे जनता पार्टी की स्थिति बहुत सुखद थी। चुनावो मे कांग्रेस के द्वारा शक्ति और साधन सम्पन्नता का जो भौंडा प्रदर्शन किया गया, वह भी उसके विरुद्ध गया। वस्तुत 1973 के मध्य से ही शासन और कांग्रेस विरोधी हवा चल रही थी, आपातकाल ने उसे ऐसे आँधी-तूफान का रूप दे दिया, जिसे घोर सरकारी प्रचार के आधार पर भी नियन्त्रण कर पाना सम्भव नही था।

1977 के चुनाव परिणामों का एक अन्य पक्ष था उत्तर भारत मे जनता पार्टी को भारी समर्थन, लेकिन दक्षिण भारत मे कांग्रेस को भारी समर्थन प्राप्त होना। इस स्थिति का मूल कारण यह था कि इन चुनावो मे कांग्रेस की पराजय के लिए उत्तरदायी तीन सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व—आपातकालीन ज्यादतियाँ, परिवार नियोजन सम्बन्धी ज्यादतियाँ और संजय गाँधी तथा युवा कांग्रेस का प्रभाव—उत्तर भारत मे बहुत अधिक उग्र रूप मे थे, लेकिन दक्षिण भारत मे इन तत्त्वो की वैसी उग्रता नही थी। इसके अतिरिक्त, दक्षिण भारत की कांग्रेसी राज्य सरकारो द्वारा समाज के निम्न वर्गो को निश्चित रूप से कुछ आर्थिक लाभ पहुँचाये गये थे और कांग्रेस को इसका लाभ मिला।

जून 1977 के विधानसभा चुनाव

जून 1977 मे भारतीय संघ के 10 राज्यो की विधानसभाओ और केन्द्रशासित क्षेत्रों की जन-परिषदो के चुनाव हुए। इनके चुनाव परिणाम भी लगभग उसी रूप मे सामने आये जिस रूप मे लोकसभा चुनाव परिणाम सामने आये थे।

1977 के लोकसभा और विधानसभा चुनावों का भारतीय राजनीति पर प्रभाव

1971-72 के चुनावो और मार्च 1977 के बीच की सबसे प्रमुख घटनाएँ थीं 12 जून, 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा लोकसभा के लिए श्रीमती गाँधी ने चुनाव को अवैध घोषित करना, आपातकालीन ज्यादतियाँ और लोकतन्त्र को आघात तथा सत्ता मे संविधानेतर केन्द्र का उदय। 1 जनवरी, 77 को विपक्षी दलो मे एकता स्थापित हुई और उन्होंने चुनावी मोर्चे के रूप मे 'जनता पार्टी' का गठन किया। चुनावो का मुख्य मुद्दा था, 'लोकतन्त्र बनाम तानाशाही' और इन चुनावो मे जनता पार्टी ने स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर अपनी सरकार का गठन किया। मार्च 1977 के लोकसभा चुनावो और जून 1977 के विधानसभा चुनावो ने भारतीय राजनीति मे किस स्थिति को जन्म दिया, उसके प्रमुख तत्त्व निम्न थे

1. **केन्द्र में गुटबन्दी से ग्रस्त कमजोर सरकार और प्रधानमन्त्री पद की सत्ता एवं सम्मान को आघात**—जनता पार्टी का गठन 6 घटको—लोकदल, जनसंघ, संगठन कांग्रेस, समाजवादी दल विद्रोही कांग्रेसी और 'कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी—के विलय से हुआ, लेकिन यह विलय केवल सतही था और व्यवहार मे जनता पार्टी मे घटकवाद सदैव ही बना रहा। परिणामतया केन्द्रीय सरकार की स्थिति एक 'मिली-जुली सरकार' जैसी रही। मन्त्रिपरिषद के सदस्यो मे आपसी खीचतान, मन्त्रिपरिषद के सदस्यो द्वारा प्रधानमन्त्री के आदेश-निर्देश की अवहेलना और कुछ बातो के प्रसग मे स्वयं प्रधानमन्त्री के असामान्य व्यवहार ने एक ओर तो केन्द्रीय सरकार को कमजोर किया तथा दूसरी ओर प्रधानमन्त्री पद की सत्ता एवं सम्मान को आघात पहुँचाया। जुलाई 1979 मे जो स्थितियाँ बनीं और श्री चरणसिंह ने जिस तौर-तरीके से प्रधानमन्त्री पद प्राप्त किया उसने तो प्रधानमन्त्री पद की सत्ता और सम्मान को बहुत ही अधिक आघात पहुँचाया।

2. **केन्द्र और राज्य स्तर पर राजनीतिक अस्थायित्व**—इन चुनावो के परिणामस्वरूप जिस जनता पार्टी ने केन्द्र और उत्तर भारत के राज्यो मे पद ग्रहण किया था, वह गुटबन्दी और घटक-वाद मे ग्रस्त थी और इस बात ने केन्द्र तथा राज्य स्तर पर राजनीतिक अस्थायित्व को जन्म दिया। लगभग 28 महीने बाद केन्द्र की जनता पार्टी सरकार का पतन हो गया और जनता पार्टी शासित राज्य सरकारें अस्थायित्व की मनोस्थिति मे ही अधिक से अधिक तीन वर्ष का कार्यकाल पूरा कर सकी।

3. **राजनीतिक ध्रुवीकरण की आशा और निराशा**—विभिन्न विपक्षी दलो के विलय से जब जनता पार्टी का गठन हुआ और जब 'कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी' भी इसमे मिल गयी, तब अनेक पक्षो द्वारा यह आशा की जाने लगी कि अब भारत मे विचारधारा पर आधारित प्रमुख रूप से दो-तीन राजनीतिक दल ही रह जायेंगे। लेकिन 1978 के मध्य से ही स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार की आशा करना उचित नही था। 1979 मे ही जनता पार्टी दो दलों मे बँट गयी—जनता पार्टी और जनता 'एस', आगे चलकर ये दो पार्टियाँ 5-6 दलो मे बँट गयी। जनता पार्टी की स्थापना, उत्थान और पतन की यह गाथा न केवल जनता पार्टी वरन् भारतीय राजनीति पर भी एक व्यंग ही था।

4. **श्रीमती गाँधी के राजनीतिक नेतृत्व का पतन और उत्थान**—मार्च 1977 के चुनावो के परिणामस्वरूप श्रीमती गाँधी के नेतृत्व का पतन हुआ। न केवल श्रीमती गाँधी का राजनीतिक दल बहुमत से वंचित रहा वरन् स्वयं श्रीमती गाँधी रायबरेली चुनाव क्षेत्र से पराजित हो गयी लेकिन श्रीमती गाँधी के राजनीतिक नेतृत्व का पतन जितनी शीघ्रता मे हुआ था, उनके नेतृत्व का अभ्युदय भी उतनी ही शीघ्रता से हुआ। विभिन्न आयोगों की जाँच और प्रतिवेदनों के बावजूद श्रीमती गाँधी चिकमंगलूर से लोकसभा के लिए निर्वाचित हो गयी और जब उन्हे लोकसभा से निष्कासित कर तिहाड़ जेल भेजा गया, तो पूरे देश मे उनके समर्थन मे प्रदर्शन हुए और जनवरी 1980 के

लोकसभा चुनावों मे उन्होंने अपने लिए भारी बहुमत प्राप्त किया। श्रीमती गाँधी की सत्ता मे वापसी ने एक जुझारू नेता के रूप मे उनकी छवि को और अधिक निखारा।

5. राष्ट्रपति की प्रभावशाली और विवादपूर्ण भूमिका—मार्च 1977 के लोकसभा चुनावो के तुरन्त वाद ही तत्कालीन देसाई मन्त्रिमण्डल और तत्कालीन राष्ट्रपति वी. डी. जत्ती के बीच विवाद की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। यह विवाद 9 राज्यो की विधानसभा को भंग करने के देसाई सरकार के प्रस्ताव को लेकर था। यह विवाद तो समाप्त हो गया, लेकिन लगभग 17 महीने वाद राष्ट्रपति ने श्री चरणसिंह को सरकार वनाने के लिए आमन्त्रित किया, तव राष्ट्रपति पद पुन. विवाद का विषय वन गया। यह विवाद उस समय और अधिक उग्र हो गया, जव चरणसिंह सरकार के वहुमत समर्थन प्राप्त करने मे असफल रहने पर जगजीवनराम को सरकार वनाने के लिए आमन्त्रित करने के वजाय चरणसिंह मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर लोकसभा को भंग कर दिया गया। इस स्थिति मे जनता पार्टी ने राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने तक की धमकी दी। इस प्रकार के समस्त घटनाचक्र ने राष्ट्रपति पद की प्रतिष्ठा को निश्चित रूप से वहुत अधिक आघात पहुँचाया।

जनवरी 1980 के लोकसभा चुनाव

मार्च 1977 के लोकसभा चुनाव के आधार पर जिस मोरारजी सरकार का निर्माण हुआ था, जुलाई 1979 मे उसका पतन हो गया। इसके वाद निर्मित चरणसिंह सरकार लोकसभा मे अपना वहुमत प्रमाणित नही कर सकी। अत 20 अगस्त, 1979 को चरणसिंह सरकार द्वारा राष्ट्रपति को परामर्श दिया गया कि 'लोकसभा को भंग कर दिया जाय' और राष्ट्रपति के द्वारा 22 अगस्त, 1979 को लोकसभा भंग कर दी गयी। चुनाव आयोग के द्वारा मतदान सूचियो को संशोधित किया जाना था, लोकसभा के नवीन चुनाव जनवरी 1980 मे ही करवाये जा सके।

जनवरी 1980 के लोकसभा चुनाव के प्रसंग मे चुनाव व्यवस्था मे कुछ परिवर्तन किये गये।

25 सितम्वर, 1979 को राष्ट्रपति द्वारा एक आदेश जारी कर संयुक्त पूंजी कम्पनियो (Joint Stock Companies) द्वारा किसी भी रूप मे राजनीतिक दलों को अनुदान दिये जाने का निषेध कर दिया गया।[1] इस प्रकार के आदेश का उद्देश्य चुनाव मे धन की भूमिका को सीमित करना था लेकिन व्यवहार में ऐसा नही हो पाया।

इन चुनावो और भविष्य के चुनावो के प्रसंग मे चुनाव आयोग द्वारा मतगणना की पद्धति मे भी परिवर्तन किया गया। 1971 के पूर्व भारत मे सर्वत्र मतो की गणना मतदान केन्द्र-वार की जाती थी लेकिन 1971 मे इस पद्धति मे परिवर्तन कर एक विधानसभा क्षेत्र के सभी मतो की गणना एक साथ की जाने लगी। कुछ विपक्षी दलो द्वारा 1971 से ही यह वात कही जा रही थी कि मतगणना की इस पद्धति मे मतपत्रो की हेराफेरी की सम्भावनाएँ हैं अत चुनाव आयोग के द्वारा यह निश्चय किया गया कि जनवरी 1980 के लोकसभा चुनाव तथा भविष्य के चुनावो मे मतो की गणना के सम्वन्ध मे उसी पद्धति को अपनाया जायेगा जो 1971 ई. पूर्व प्रचलित थी, अर्थात् मतो की गणना **'मतदान केन्द्र-वार'** की जायेगी।

इन चुनावो मे केवल एक राज्य सिक्किम मे प्रयोग के रूप मे प्रत्येक मतदाता के लिए **फोटो लगे हुए परिचय-पत्र** (Identity Card) की व्यवस्था की गयी। कालान्तर मे इसे अन्य राज्यों द्वारा भी अपनाकर 'फर्जी मतदान' (Impersonation) को रोकने की दिशा मे वहुत अधिक सीमा तक सफलता प्राप्त की जा सकती है।

1980 के लोकसभा चुनाव से सम्वन्धित कुछ तथ्य निम्न प्रकार हैं :

मतदाताओं की संख्या 36,17,53,971 (लगभग 36 करोड 17 लाख)
स्थानों की संख्या जिन पर चुनाव होना था—542

---

1 G. G. Mirchandani . *The People's Verdict*, Vikas, 1980, p. 33.

लेकिन जनवरी मे 524 निर्वाचन क्षेत्रो मे ही चुनाव हुआ और श्रीनगर निर्वाचन क्षेत्र से नेशनल कान्फ्रेंस का उम्मीदवार निर्विवाद निर्वाचित हुआ ।

सुरक्षित स्थान (अनुसूचित जातियो के लिए 79 और जनजाति क्षेत्रो के लिए 40, कुल 22 प्रतिशत स्थान सुरक्षित)

मतदान प्रतिशत 56·8 (1977 मे 60·54%)

समस्त चुनाव कार्य मे शासन का खर्च 45 से 60 करोड के बीच

अवैध मत 2·43 प्रतिशत

1980 के लोकसभा चुनाव मे विभिन्न राजनीतिक दलो की स्थिति का परिचय निम्न तालिका के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है :

राजनीतिक दल	चुनाव मे खड़े किये गये उम्मीदवारों की संख्या[1]	प्राप्त किये गये स्थानों की संख्या	मत प्रतिशत, जो प्राप्त किया गया[2]
इन्दिरा कांग्रेस	488	351	42·66
जनता पार्टी	431	31	18·94
जनता 'एस' (लोकदल)	291	41	9 43
कांग्रेस अर्स	212	13	5 31
भारतीय साम्यवादी दल (C P.I.)	48	11	2·61
मार्क्सवादी दल (C.P.M)	62	35	6·05
डी. एम. के.	16	16	2·15
अन्ना डी. एम के.	24	2	2·38
अकाली दल	7	1	0·71
अन्य दल	200	16	3·25
निर्दलीय	2,828	8	6 55

अन्य राजनीतिक दलो के द्वारा जो 16 स्थान प्राप्त किये गये, उनका विवरण निम्न प्रकार है .

जम्मू-कश्मीर नेशनल कांफ्रेंस	3
मुस्लिम लीग	3
केरल कांग्रेस (मणि ग्रुप)	1
क्रान्तिकारी समाजवादी दल	4
महाराष्ट्रवादी गोमांतक पार्टी	1
अखिल भारतीय फारवर्ड ब्लॉक	3
सिक्किम जनता परिषद्	1

लोकसभा चुनाव 1980 : (सातवीं लोकसभा के चुनाव) इन्दिरा कांग्रेस की विजय और जनता पार्टी की पराजय के कारण

सातवी लोकसभा के चुनाव परिणामो के सम्बन्ध मे सामान्य अनुमान यही लगाया जाता था कि किसी राजनीतिक दल के लिए लोकसभा मे स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर पाना कठिन होगा और केन्द्र मे पहली बार **'मिले-जुले मन्त्रिमण्डल'** (Coalition Government) का निर्माण होगा । लेकिन चुनाव परिणाम इन्दिरा कांग्रेस और श्रीमती गाँधी के लिए भारी विजय के रूप मे सामने आये, उनके द्वारा लोकसभा के दो-तिहाई से अधिक स्थान प्राप्त कर लिये गये । प्रथम दृष्टि मे

[1] *People's Verdict*, p. 100.
[2] *Ibid.*, Appendix XIX.

चुनाव परिणाम जितने अप्रत्याशित प्रतीत होते है, गम्भीर विवेचना के उपरान्त उन्हे उतना ही अधिक स्वाभाविक कहा जा सकता है। सातवी लोकसभा के चुनाव में जनता पार्टी की भारी पराजय और कांग्रेस की भारी विजय के लिए उत्तरदायी तत्त्वो की विवेचना निम्न प्रकार से की जा सकती है :

(1) **श्रीमती गांधी का प्रभावशाली व्यक्तित्व**—वर्तमान समय की संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत आम चुनाव दलीय नेताओ के व्यक्तित्व पर केन्द्रित हो गये है और भारत मे यह प्रवृत्ति वहुत अधिक प्रमुख रूप से देखी जा सकती है। जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावों मे तो विभिन्न दलों के द्वारा अपने नेता पहले ही घोषित किये गये थे और इस दृष्टि से ये प्रधानमन्त्री पद के लिए चुनाव थे। इन चुनावों मे प्रधानमन्त्री पद के लिए तीन प्रत्याशी थे : श्रीमती गाँधी, श्री जगजीवनराम और श्री चरणसिह। इनमे श्रीमती गाँधी निश्चित रूप से सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व की स्वामिनी थी। अन्य दो राजनीतिज्ञो और वस्तुत: देश के किसी अन्य राजनीतिज्ञ की तुलना मे श्रीमती गाँधी अधिक चतुर, अधिक जागरूक, अधिक साहसी और 'मत प्राप्त करने की कला मे अद्भुत रूप मे प्रवीण'[1] थी। चुनाव परिणामो को सही मायने मे **'श्रीमती गाँधी की व्यक्तिगत विजय'** कहा जा सकता है।

(2) **राजनीतिक स्थायित्व और कार्यकुशल शासन के प्रति जनता की तीव्र इच्छा**—1977 मे जनता ने वहुत अधिक आशाओं-अपेक्षाओ के साथ जनता पार्टी को भारी वहुमत प्रदान किया था, लेकिन तीन वर्ष पूर्व ही जनता सरकार का पतन हो गया और जनता को पुन. चुनाव की स्थिति का सामना करना पड़ा। जनता को इस वात की आशंका हुई कि आपस मे कटे-फटे राजनीतिक दलो को केन्द्र मे सरकार वनाने का अवसर मिला तो देश में गम्भीर राजनीतिक अस्थायित्व और परिणामतया एकता और अखण्डता के लिए खतरे की स्थिति उत्पन्न हो सकती थी। जनता शासन मे शासक दल के आपसी मतभेदों के कारण सभी वातों के सम्वन्ध मे एक कमजोर, दिशाहीन और अकुशल सरकार का परिचय मिल रहा था; अत जनता ने इन्दिरा कांग्रेस की इस वात पर भरोसा किया कि 'राजनीतिक स्थायित्व और कार्यकुशल शासन' की प्राप्ति श्रीमती गाँधी के नेतृत्व मे ही की जा सकती है।

(3) **जनता पार्टी और जनता पार्टी सरकार की धूमिल प्रतिष्ठा**—1977 मे जनता ने जनता पार्टी को भारी समर्थन यह सोचकर दिया था कि जनता पार्टी एक सुसंगठित राजनीतिक दल का रूप ले लेगी, लेकिन 1977 के उत्तरार्द्ध से ही दल मे जिस प्रकार का घटकवाद देखा गया, घोर अनुशासनहीनता के जो दृश्य सामने आये और 1979 मे जिस प्रकार इस दल का विभाजन हुआ, उससे सामान्य जनता इस निष्कर्ष पर पहुँची कि देश के भाग्य को पुन. इस दल के हाथो सौंपना नासमझी का कार्य होगा। जनता सरकार के द्वारा 'राजनीतिक लोकतन्त्र की पुनर्स्थापना' आदि कुछ प्रशसनीय कार्य किये गये, लेकिन आपसी मतभेदों के कारण जनता सरकार की प्रतिष्ठा निरन्तर धूमिल होती गयी। जनता पार्टी और वाद मे जनता 'एस' (लोकदल) की मिली-जुली सरकार अव्यवस्था, असुरक्षा, अस्थिरता और अनिश्चय की प्रतीक वन गयी और जनता ने इस स्थिति के विरुद्ध अपने मत का प्रयोग किया।

(4) **जनता पार्टी में विभाजन (इन्दिरा कांग्रेस विरोधी मतों का विभाजन)**—1977 और 1980 के चुनावो मे एक प्रमुख अन्तर यह था कि 1977 मे श्रीमती गाँधी के समस्त विरोधी मतो ने एक राजनीतिक इकाई का रूप प्राप्त कर लिया था, लेकिन 1980 मे श्रीमती गाँधी के विरोधी मत विभाजित हो गये। प्रमुख रूप से यह विभाजन जनता पार्टी और लोकदल में था और इसका

---

1 'Vote getter per excellence.' —*The Poeple's Verdict*, p. 2.

लाभ इन्दिरा काग्रेस को प्राप्त हुआ। हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रो (उत्तर प्रदेश, बिहार हरियाणा; राजस्थान, मध्य प्रदेश और दिल्ली) मे जनता पार्टी और लोकदल ने सम्मिलित रूप से इन्दिरा काग्रेस की तुलना मे लगभग 55 लाख अधिक[1] मत प्राप्त किये, लेकिन इन्दिरा काग्रेस को विरोधी मत विभाजित होने के कारण उपर्युक्त राज्यो मे भी इन दलो की तुलना मे बहुत अधिक स्थान प्राप्त हुए।

(5) **जनता की आर्थिक कठिनाइयाँ**—जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावो के समय और उसके पूर्व के 6 महीनो मे जनता की आर्थिक कठिनाइयाँ बहुत अधिक बढ गयी थी। सामान्य जनता और कृषक वर्ग डीजल और कैरोसीन प्राप्त कर पाने मे भारी कठिनाइयाँ अनुभव कर रहा था, विद्युत और शक्ति (Power) की कमी और गडबड़ियाँ सामान्य जनता और कृषक वर्ग तथा उद्योग-धन्धो से जुडे हुए व्यक्तियो के लिए घोर परेशानी का कारण बन गयी थी, भारत की निर्धन जनता के भोजन के अनिवार्य अंग प्याज के भाव आसमान को छू रहे थे और अन्य खाद्य-पदार्थो के सम्बन्ध मे भी महँगाई निरन्तर बढ रही थी। यह तथ्य है कि इस प्रकार की समस्त स्थिति 1979 ई. के प्रारम्भ से ही थी और इसका उत्तरदायित्व श्री चरणसिंह के बजट और जनता 'एस' की मिली-जुली सरकार पर था, लेकिन जनता ने इस स्थिति के लिए जनता पार्टी और जनता 'एस' को समान रूप मे उत्तरदायी माना। जनता ने सोचा कि कमजोर और मिली-जुली सरकार उनकी कठिनाइयों को बढा देगी, अत श्रीमती गांधी के नेतृत्व मे शक्तिशाली सरकार का निर्माण किया जाना चाहिए।

(6) **इन्दिरा कांग्रेस को अनुसूचित जातियों और अल्पसंख्यकों का भारी समर्थन**—जनवरी 1980 के चुनावो का एक तथ्य यह है कि अनुसूचित जातियो और अल्पसख्यक वर्गों ने इन्दिरा काग्रेस को ठोस समर्थन प्रदान किया और इस समर्थन ने इन्दिरा काग्रेस की विजय मे बहुत अधिक योग दिया। यह सोचा गया था कि अपने नेता जगजीवनराम के नाम पर जनता पार्टी को अनुसूचित जातियो के एक बडे वर्ग का समर्थन प्राप्त होगा, लेकिन चुनाव परिणामो से स्पष्ट हो गया कि अनुसूचित जातियों मे श्री जगजीवनराम का प्रभाव बहुत कम और बहुत समिति है। अल्पसंख्यक वर्गों ने सोचा कि श्रीमती गांधी के नेतृत्व मे शक्तिशाली सरकार ही उन्हे सुरक्षा दे पायेगी।

(7) **हिन्दू जाति के उच्च वर्गों द्वारा जगजीवनराम की अस्वीकृति**—जनता पार्टी का एक प्रमुख घटक भूतपूर्व जनसंघ था और हिन्दू जाति के उच्च वर्गो मे जनसंघ के कुछ परम्परागत और प्रतिबद्ध मतदाता हैं, लेकिन ये मतदाता अपने गले इस बात को नही उतार पाये कि अनुसूचित जाति का व्यक्ति भारत का प्रधानमन्त्री हो। इस प्रकार श्री जगजीवनराम के नेतृत्व मे जनता पार्टी को दोहरी हानि की स्थिति का सामना करना पडा, निम्न जातियो का समर्थन वह जुटा नही पायी और उच्च जातियों के समर्थन से वह वंचित हो गयी।

(8) **चुनाव के समय की जनता पार्टी में तीव्र मतभेद**—जुलाई 1979 मे जनता पार्टी के विभाजन के बाद भी शेष जनता पार्टी एक सुसगठित राजनीतिक इकाई का रूप प्राप्त नही कर सकी; जनता पार्टी मे घटकवाद, घोर अनुशासनहीनता और तीव्र मतभेद बने रहे और इन्होने चुनावो मे जनता पार्टी को भारी आघात पहुँचाया। मतभेदो की यह स्थिति कार्यकर्ताओ तक पहुँच जाने के कारण कार्यकर्ता एकजुट और सक्रिय नही हो सके और सामान्य जनता ने सोचा कि विभाजित दल को समर्थन देना अदूरदर्शिता होगा। सितम्बर 1979 से लेकर दिसम्बर 1979 के चार माह की अवधि मे जगजीवनराम ने निरन्तर ढिलमुलपन का परिचय दिया था और जनता से यह बात छिपी नही रही थी। स्वाभाविक रूप से ऐसी स्थिति मे जनता पार्टी तथा जनता पार्टी द्वारा घोषित नेता जनता का समर्थन प्राप्त न कर सके।

---

1 *The People's Verdict*, p. 39.

तालिका 4

मई 1980 में सम्पन्न 9 राज्यों की विधानसभाओं के चुनाव परिणाम

राज्य का नाम	कुल स्थान	वर्तमान में चुनाव	इन्दिरा कांग्रेस	भारतीय जनता पार्टी	जनता (जे. पी.)	जनता 'एस' चरणसिंह	जनता 'एस' (राज ना.)	कांग्रेस अर्स	भारतीय साम्यवादी दल	मार्क्सवादी दल	अन्य क्षेत्रीय दल	निर्दलीय
उत्तर प्रदेश	425	419	305	11	4	58	4	13	7	—	—	71
मध्य प्रदेश	320	320	246	60	2	1	—	—	2	—	—	9
बिहार	324	321	167	21	13	43	1	14	24	6	झारखण्ड मुक्ति मोर्चा 12	20
राजस्थान	200	200	133	32	8	7	—	6	1	1	—	12
महाराष्ट्र	288	288	186	14	17	—	—	47	2	2	रिपब्लिकन—1 कृषक कामगार दल	14
गुजरात	182	180	141	9	21	1	—	—	—	—	—	8
उडीसा	147	146	117	—	3	13	—	2	4	—	—	7
तमिलनाडु	234	234	20	—	2	—	—	—	10	11	अन्ना डी. एम. के —128 डी. एम. के.—38	15
पंजाब	167	117	63	1	—	—	—	—	9	5	अकाली दल—37	2
	2,237	2,225	1,388	148	70	123	5	82	59	25	221	104

(9) **श्रीमती गांधी का व्यापक चुनाव अभियान**—इन चुनावो मे श्रीमती गांधी द्वारा जिस प्रकार का व्यापक चुनाव अभियान किया गया, प्रधानमन्त्री पद के अन्य दो उम्मीदवारो का चुनाव अभियान उनकी तुलना मे लगभग नगण्य था। "4 जनवरी को समाप्त होने वाले चुनाव प्रचार के 83 दिनो मे से श्रीमती गाँधी ने 63 दिन दिन-रात चुनाव दौरा किया—उन्होने 63,594 किलोमीटर की यात्रा की, 384 संसदीय निर्वाचन क्षेत्रो की 515 सभाओं मे भाषण दिया और लगभग 24 करोड़ लोगो ने उनका भाषण सुना।[1] समस्त चुनाव अभियान मे श्रीमती गाँधी ने पहल अपने हाथ मे रखी। मीरचन्दानी के शब्दो मे, "**जबकि श्रीमती गांधी संकल्प और शक्ति का परिचय दे रही थीं, उनके विरोधियो की लड़ने की इच्छा शिथिल होती दिखायी दे रही थी।**"[2] जनता पार्टी के द्वारा तो लगभग पूरे चार माह का समय व्यर्थ के विवादो मे नष्ट किया गया था। आवश्यकता जन-राजनीति को अपनाने की थी, लेकिन वे दरबारी राजनीति मे मशगूल थे।

(10) **इन्दिरा कांग्रेस के पास साधनो की अपेक्षाकृत प्रचुरता**—चुनाव बहुत कुछ सीमा तक साधनो का खेल होता है और यह तथ्य है कि इन चुनावो मे अन्य दलो की तुलना मे विशेषतया जनता पार्टी की तुलना मे, इन्दिरा काग्रेस के पास साधनो की प्रचुरता थी। इसे श्रीमती गाँधी का राजनीतिक चातुर्य ही कहा जाना चाहिए कि उस समय विपक्षी दल की स्थिति मे होते उन्होने अपने लिए शासक दलो की तुलना मे अधिक साधन जुटा लिये।

चुनाव परिणामो पर एक विचारशील नेता की सटीक टिप्पणी थी, "**श्रीमती गांधी की विजय आपातकाल या अधिनायकवाद का समर्थन नहीं, शिखर पर होने वाली उग्र विवादों की राजनीति के प्रति विरोधी मत है।**"[3]

मई 1980 के विधानसभा चुनाव

मई 1980 मे जिन 9 राज्यो की विधानसभाओं के चुनाव हुए उनमे तमिलनाडु को छोड़कर अन्य सभी राज्यो मे इन्दिरा काग्रेस को भारी सफलता प्राप्त हुई। तमिलनाडु मे अन्ना डी. एम. के द्वारा सरकार का निर्माण किया गया और असफल, किन्तु एक चुनौती पजाब मे अकाली दल द्वारा दी गयी। इन्दिरा काग्रेस द्वारा यह सफलता राज्यों मे राजनीतिक स्थिरता और केन्द्र के साथ सहयोग करने वाली सरकारो के नाम पर प्राप्त की गयी। अन्य तथाकथित राष्ट्रीय दलो द्वारा किसी भी राज्य मे अपनी शक्ति का परिचय नही दिया जा सका। चुनाव परिणाम पृष्ठ 655 की तालिका 4 से स्पष्ट है।

1980 के लोकसभा और 1980, 82 तथा 83 के विधानसभा चुनाव और भारतीय राजनीति पर उनका प्रभाव

जनवरी 1980 मे सम्पन्न लोकसभा चुनावो मे इन्दिरा काग्रेस ने 525 मे से 315 स्थान प्राप्त किये। इसके बाद मई 1980 मे 9 राज्यो की विधानसभाओ के चुनाव सम्पन्न हुए जिनमे तमिलनाडु मे अन्ना डी. एम. के. और शेष सभी राज्यो मे इन्दिरा कांग्रेस ने स्पष्ट बहुमत प्राप्त किया। मई 1982 मे जिन चार राज्यो (हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, केरल और प. बंगाल) की विधानसभाओ के चुनाव हुए उनके परिणामस्वरूप प. बगाल मे मार्क्सवादी दल की सरकार, लेकिन अन्य राज्यो मे इन्दिरा काग्रेस की सरकार का निर्माण हुआ। जनवरी 1983 मे तीन

---

1 *The People's Verdict*, p. 112.

2 While Mrs Gandhi showed stamina and determination, her opponents, will to fight seemed to will." —G. G. Mirchandani, *The People's Verdict*, p 114.

3 अटल बिहारी वाजपेयी, **दिनमान**, 27 जनवरी-2 फरवरी, 1980, पृ. 27।

राज्यो (आन्ध्र, कर्नाटक और त्रिपुरा) की विधानसभाओ के चुनाव परिणाम इन्दिरा कांग्रेस के लिए भारी आघात के रूप मे सामने आये अभी तक 'दक्षिण भारत' को 'इन्दिरा काग्रेस का गढ समझा जाता था, लेकिन इन चुनावों के परिणामस्वरूप इन्दिरा काग्रेस का यह गढ ढह गया। आन्ध्र प्रदेश मे क्षेत्रीय दल 'तेलगूदेशम्' का उदय हुआ और उसने चुनाव मे भारी बहुमत प्राप्त किया। कर्नाटक मे कुछ विपक्षी दलो (भारतीय जनता पार्टी आदि) के सहयोग से जनता पार्टी की सरकार बनी और त्रिपुरा मे मार्क्सवादी दल ने स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर सरकार बनायी। इन सभी चुनावो से भारतीय राजनीति पर प्रभाव का अध्ययन निम्न रूपो मे किया जा सकता है :

1. **प्रधानमन्त्री पद में सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीयकरण**—जनवरी 80 के लोकसभा चुनाव के बाद जिस मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ, उसे संघीय मन्त्रिमण्डल के रूप मे जुटायी गई अब तक की सबसे अधिक कमजोर टीम,[1] कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति मे केन्द्रीय शासन पर श्रीमती गाँधी का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया। इसके साथ ही श्रीमती गाँधी ने 1971-76 की कार्य शैली को अपनाते हुए राज्य सरकारो पर अत्यधिक नियन्त्रण स्थापित कर लिया।

2 **भारत राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए चुनौतीपूर्ण स्थितियाँ**—1981-84 के काल मे असम, पंजाब आदि राज्यो मे भारत राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए ऐसी चुनौतीपूर्ण स्थितियाँ देखी गयी जिन्हे पूर्व मे नही देखा गया था।

3. **नवीन प्रादेशिक दलो का उदय और उनकी बढ़ती हुई शक्ति**—जनवरी 1983 मे आन्ध्र और कर्नाटक राज्यो मे जो चुनाव हुए, उनमे तेलगूदेशम् और कर्नाटक क्रान्ति रंगा के रूप मे नवीन प्रादेशिक दलो का उदय हुआ। इसके बाद जून 1983 मे जम्मू-कश्मीर राज्य के विधान-सभा चुनावो मे नेशनल काफ्रेंस ने अपनी शक्ति का परिचय दिया।

4. **लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए घातक स्थितियाँ**—1980-84 के काल मे चुनावो से जुडी हुई एक बात 'लोकतान्त्रिक व्यवस्था' के लिए घातक स्थिति के रूप मे देखी गयी है। चुनावो के परिणामस्वरूप जम्मू-कश्मीर, आन्ध्र, कर्नाटक, त्रिपुरा और प बंगाल मे विपक्षी दलो की जिन राज्य सरकारो का निर्माण हुआ, केन्द्रीय सरकार सम्भवतया उन्हे सहन करने की मनोस्थिति नही बना पायी। कुछ राज्य सरकारो के पतन के लिए (राज्यपाल पदधारी व्यक्तियो ने) ऐसे तौर-तरीके अपनाये, जिन्हे अत्यधिक संयमित भाषा मे भी **भयानक पूर्वोदाहरण** (Dangerous precedent) कहना होगा।

5 **विपक्षी गठबन्धन की तैयारियाँ**—1980 के लोकसभा चुनावों और उसके बाद के चुनावो ने विपक्षी दलो के सामने यह तथ्य स्पष्ट किया कि अलग-अलग बने रहने पर उनकी घोर पराजय सुनिश्चित है। अत 1984 मे लोकसभा चुनावो को सामने देखकर विपक्षी दलो द्वारा चुनावी तैयारी के रूप मे गठबन्धन स्थापित करने के प्रयत्न किये गये किन्तु इसमे उन्हे विशेष सफलता प्राप्त नही हुई।

आठवीं लोकसभा के चुनाव (दिसम्बर, 1984)

चुनाव घोषणा से पूर्व का राजनीतिक दृश्य

इन चुनावो की घोषणा के पूर्व राजनीतिक दृश्य की चार प्रमुख घटनाएँ है : **प्रथम**, पिछले लगभग तीन वर्ष से पजाब मे तनाव और आतक की स्थिति, **द्वितीय**, जून 1984 के प्रथम सप्ताह में स्वर्ण मन्दिर मे सेना का प्रवेश और पंजाब मे सैनिक कार्यवाही, **तृतीय**, केन्द्र द्वारा आन्ध्र की एन. टी. रामाराव सरकार को अपदस्थ करना और जनता के दबाव पर

[1] 'The Weakest team ever assembled in a Union-cabinet.'—S. Mulgaokar, *'The long wait for the Govt. that works'*, *Indian Express*, July 26, 1980.

आठवीं लोकसभा के चुनाव परिणाम[1]

राजनीतिक दल	चुनाव के पूर्व की स्थिति	उम्मीदवारों की संख्या	प्राप्त स्थान	प्राप्त मतों का %
इन्दिरा कांग्रेस	339	481 तमिलनाडु मे अन्ना डी. एम. के. और केरल में सहयोगी दलो का समर्थन	401	51·90 (डी. सी. एम. कम्प्यूटर विश्लेपण के अनुसार)[2] 49·3 (पाक्षिक पत्रिका 'इण्डिया टुडे' के अनुसार)[3]
जनता पार्टी	21	207	10	7·03
दलित मजदूर किसान पार्टी (लोकदल)	8	168	3	5 91
भारतीय जनता पार्टी	16	226	2	7·71
तेलगूदेशम्	2	32	28	4 14
कांग्रेस (स)	5	32	4	—
कांग्रेस (ज)	2	—	1	—
मार्क्सवादी दल	36	59	22	5·80
भारतीय साम्यवादी दल	—	62	6	—
द्र. मु क.	14	—	1	—
अन्ना द्र. मु. क	3	—	12	1·72
नेशनल कांफ्रेंस (फारुख)	3	—	3	—
फारवर्ड ब्लॉक	3	—	2	—
मुस्लिम लीग	3	—	2	—
आर. एस. पी.	4	—	3	—
अन्य दल	5 (राष्ट्रीय संजय मंच-3)	—	3 (केरल कांग्रेस-2, कृपक कामगार दल-1)	
निर्दलीय	18 (16 निर्वाचित और 2 मनोनीत)	लगभग 4 हजार (कुल के लगभग 70% निर्दलीय)	7 (5 निर्वाचित और 2 मनोनीत)	

1 दिसम्बर 1984 मे लोकसभा के 508 स्थानो पर चुनाव हुए थे ।

2 *The Times o, India*, Jan. 1, 1985.

3 *India Today*, 15 January, 1985, p. 30 (All India Congress I/Vote · 49·3 percent)

रामाराव की मुख्यमन्त्री पद पर पुनर्नियुक्ति तथा **अन्तिम**, लेकिन चुनाव परिणाम को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली घटना थी—31 अक्टूबर, 1984 को श्रीमती गाँधी की हत्या। मतदाताओं ने द्वितीय घटना मे केन्द्र सरकार की अपूर्व कार्यक्षमता का परिचय प्राप्त किया और अन्तिम घटना ने इन्दिरा काग्रेस तथा उनके नेता राजीव गाँधी के प्रति भारी सहानुभूति को जन्म दिया।

31 अक्टूबर को राजीव गाँधी प्रधानमन्त्री बने और 12 नवम्बर को राजीव गाँधी को इन्दिरा कांग्रेस दल के अध्यक्ष पद पर भी प्रतिष्ठित कर दिया गया। इस परिप्रेक्ष्य मे नवम्बर के दूसरे सप्ताह मे सरकार ने निर्णय किया कि दिसम्बर मे लोकसभा चुनाव करवाये जायेंगे। मुख्य चुनाव आयुक्त श्री रामकृष्ण त्रिवेदी द्वारा 20 नवम्बर, 1984 को लोकसभा चुनाव सम्बन्धी विज्ञप्ति जारी की गयी। इस विज्ञप्ति मे कहा कि 24 दिसम्बर को 20 राज्यों और 9 केन्द्र शासित क्षेत्रो मे लोकसभा के चुनाव होंगे। बाद मे 24 दिसम्बर के साथ-साथ कुछ राज्यों मे 27 और 28 दिसम्बर भी चुनाव तिथियाँ घोषित की गयी। पंजाब मे कानून और व्यवस्था की स्थिति सन्तोषजनक न होने और असम मे मतदाता सूचियों को पुन. संशोधित करने का कार्य पूर्ण न होने के कारण इन दो राज्यो मे लोकसभा के लिए चुनाव अन्य राज्यों के साथ नही करवाये गये।

इन चुनावो मे 7 **राष्ट्रीय दलों और** 27 **प्रादेशिक दलों** द्वारा भाग लिया गया। चुनाव आयोग द्वारा इन 7 दलो को राष्ट्रीय दल की स्थिति प्रदान की गयी—इन्दिरा काग्रेस, दलित मजदूर किसान पार्टी (भारतीय लोकदल), जनता पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, कांग्रेस (एस), भारतीय साम्यवादी दल और मार्क्सवादी दल। प्रादेशिक दलो मे कुछ है . डी. एम. के., अन्ना डी. एम. के., तेलगूदेशम् (रामाराव), तेलगूदेशम् (भास्कर राव), नेशनल काफ्रेंस (फारुख गुट), नेशनल काफ्रेंस (खालिदा बेगम गुट), मुस्लिम लीग, क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी, फारवर्ड ब्लॉक, कांग्रेस (ज), जनवादी पार्टी, रिपब्लिकन दल, कृषक कामगार दल, राष्ट्रीय संजय मच आदि।

इन चुनावो मे 38 करोड मतदाता थे और चुनाव के लिए 4 लाख 80 हजार मतदान केन्द्र बनाये गये। इन चुनावों मे चुनाव से सम्बन्धित समस्त-कार्य मे शासन को लगभग 75 करोड़ रुपये व्यय करने पड़े और एक अनुमान के अनुसार, यदि उम्मीदवारो तथा उनके राजनीतिक दलो द्वारा खर्च की गयी राशि को भी इसमे शामिल किया जाय, तो कुल मिलाकर चुनाव व्यय 2 अरब रुपये से भी अधिक हुआ।

इन चुनावो मे इन्दिरा कांग्रेस का सबसे प्रमुख नारा था, '**भारत की एकता, अखण्डता और राजनीतिक स्थायित्व**' इसके साथ ही 'इन्दिरा जी की याद मे, राजीव जी के साथ मे' का नारा भी दिया गया। विपक्षी दल कोई एक ऐसा नारा नही दे पाये, जिसे 'चुनावी नारा' कहा जा सके। विपक्षी दलों द्वारा इन चुनावों के बाद केन्द्र मे मिली-जुली सरकार की सम्भावना और आवश्यकता की बात कही गयी। कुछ विपक्षी नेताओं द्वारा आज के भारत की समस्याओं को हल करने के लिए 'राष्ट्रीय सरकार' बनाने की आवश्यकता भी बतलायी गयी।

लोकसभा के 512 चुनाव क्षेत्रो के सम्बन्ध मे चुनाव की घोषणा की गयी थी, इनमे से चार चुनाव क्षेत्रो मे उम्मीदवार की मृत्यु आदि कारणो से चुनाव स्थगित करवाये गये और दिसम्बर 1984 मे 508 निर्वाचन क्षेत्रों मे चुनाव सम्पन्न हुए। इन चुनावों मे उम्मीदवारो की संख्या लगभग 5,300 थी[1] जो अपने आप मे एक रिकार्ड है। इनमे लगभग 70 प्रतिशत उम्मीदवार निर्दलीय[2] थे। निर्दलीय उम्मीदवारो की बडी संख्या ने चुनाव व्यवस्था-कार्य मे अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित की। चुनाव आयोग ने इस सम्बन्ध मे जमानत की धनराशि दस गुना

---

1 *The Times of India*, 28 Nov., 1984.
2 *Ibid*, 14 Dec., 1984.

बढाने का सुझाव दिया है, जिससे मखौल के रूप मे चुनाव लडने वाले व्यक्तियो को उम्मीदवार बनने से रोका जा सके। अपवादस्वरूप घटित कुछ घटनाओ को छोड़कर चुनाव शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुए।

चुनाव परिणाम और इन्दिरा कांग्रेस की भारी विजय के कारण

'दी टाइम्स ऑफ इण्डिया' समाचार-पत्र के सम्पादक श्री गिरिलाल जैन[1] ने इन चुनावो को **'प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी के लिए जनमत संग्रह'** का नाम दिया और वास्तव मे इन चुनावो की प्रकृति यही थी। जनता ने उम्मीदवारो तथा उनकी प्रतिष्ठा एव कार्य पर सामान्यतया विचार न करते हुए राजीव गाँधी और काग्रेस दल को मत दिया। इन्दिरा काग्रेस ने इन चुनावो मे लगभग 80 **प्रतिशत स्थान** (508 मे से 401) और 41·3 **प्रतिशत मत**[2] प्राप्त किये जो लोकसभा चुनाव मे प्राप्त सफलता का एक रिकार्ड है। चुनाव परिणामो पर टिप्पणी करते हुए इन्हे एक पंक्ति मे इन्दिरा काग्रेस और राजीव गाँधी के लिए **'अपूर्व और भारी विजय'** तथा **'विपक्ष की निराशाजनक स्थिति'** कहा जा सकता है।

ये चुनाव परिणाम जो पहली दृष्टि मे सामान्यतया 'नितान्त अप्रत्याशित' प्रतीत हुए थे, सोचने-विचारने पर अधिक सीमा तक तार्किक लगते हे। आठवी लोकसभा के चुनावो मे इन्दिरा काग्रेस की भारी विजय के कारणो की विवेचना निम्न प्रकार से की जा सकती है :

(1) **स्वर्ण मन्दिर और पंजाब में सैनिक कार्यवाही तथा सक्षम सरकार का परिचय**—सातवी लोकसभा के चुनाव (जनवरी 1980) इन्दिरा काग्रेस ने 'ऐसी सरकार चुनिए, जो शासन कर सके' के नारे के आधार पर जीने थे और देश को कार्यकुशल तथा सक्षम सरकार देने का वायदा जनता के साथ किया गया था। 1981 से मई 1984 तक पजाव मे हिंसक और आतकवादी गतिविधियो को देखकर जनता भौचक्की थी कि 'यह कैसी कार्यकुशल सरकार है जो आतंकवादी तमाशा' हाथ पर हाथ धरे बैठकर देखती जा रही है लेकिन जून के प्रथम सप्ताह मे 'स्वर्ण मन्दिर मे सेना के प्रवेश और पंजाव मे सैनिक कार्यवाही' मे जनता ने सक्षम सरकार का परिचय पाया। जनता पिछली सब बातो को भूल गयी। जनता ने अब सोचा कि भविष्य मे भी देश के किसी भाग मे उग्रवाद और आतंकवाद की स्थिति उत्पन्न हो सकती है और उस स्थिति का सामना तो इन्दिरा काग्रेस सरकार ही कर पायेगी। **'नवभारत टाइम्स'** के सम्पादकीय मे ठीक ही लिखा गया कि, देश ने काग्रेस की ओर उसी दिन मुडना शुरू कर दिया था, जिस दिन सेना ने स्वर्ण मन्दिर मे प्रवेश किया। श्रीकान्त वर्मा जब कहते है कि काग्रेस को भारी बहुमत देकर जनता ने पाँच जून की कार्यवाही पर समर्थन की मौहर लगायी है, तब वे गलत नही कहते।"[3]

(2) **इन्दिरा की हत्या और 'सहानुभूति लहर'** (Sympathy Wave)—चुनाव के तत्काल पूर्व राजनीति की सर्वाधिक प्रमुख घटना थी, 31 अक्टूबर, 1984 को श्रीमती गाँधी की हत्या, इस घटना ने इन्दिरा काग्रेस और श्रीमती गाँधी के सम्बन्ध मे जनता को सब कुछ भुलाकर उनके मन-मस्तिष्क मे इन्दिरा गाँधी के उत्तराधिकारी और इन्दिरा कागेस के लिए भारी सहानुभूति के भाव को जन्म दे दिया। 'इन्दिराजी की याद मे राजीव के साथ मे' यह नारा देकर इन्दिरा काग्रेस ने इस सहानुभूति लहर को खूब भुनाया। नवभारत टाइम्स के सम्पादक राजेन्द्र माथुर लिखते हैं : "31 अक्टूबर को सुबह जो गोलियाँ इन्दिरा गाँधी को लगी, उन्हे इस देश ने सचमुच अपने जिस्म

---

[1] "The election to the Eight Lok-sabha has turned out to be a referendum. The Indian People have voted for Rajiv Gandhi and the Congress Party."

New Trend behind the poll—Girilal jain—*The Times of India*, 30 Dec., 1984,

[2] *India Today*, 15 Jan , 1985, p. 30 (All India Congress (I) Vote · 49·3 per sent)

[3] **नवभारत टाइम्स**, 31 दिसम्बर, 1984।

के अन्दर दागी गयी गोलियाँ माना है।"[1] देश की महिला मतदाताओ मे सम्भवतया इस 'सहानुभूति लहर' का जोर अधिक था। मार्क्सवादी दल ने टिप्पणी करते हुए कहा था "मृत इन्दिरा गाँधी जीवित इन्दिरा गांधी की तुलना मे अधिक शक्तिशाली है।"[2]

विपक्षी दलो ने चुनाव परिणामो की समीक्षा करते हुए इन्हे 'सहानुभूति लहर का परिणाम' वतलाया है, वस्तुस्थिति यह है कि 'सहानुभूति लहर विपक्ष के सफाये का एक कारण तो है, लेकिन इसे एकमात्र तत्त्व नही कहा जा सकता।'

(3) **विपक्ष की टूट और अतिशय निराशाजनक व्यवहार, परिणामतया विकल्पहीनता की स्थिति**—इन्दिरा कांग्रेस की इतनी वडी विजय का सबसे वडा कारण स्वयं विपक्षी दल ही थे। विपक्ष की टूट और उनके अतिशय निराशाजनक व्यवहार के कारण जनता के सामने इन्दिरा कांग्रेस और राजीव गाँधी का कोई विकल्प ही नही था। जनता ने सोचा कि जव ये दल दो वर्ष के अधिक समय तक विलय, गठवन्धन या सीटो के वँटवारे पर वातचीत के वाद सीटो का तालमेल भी नही कर पाये, तव शासन चलाना तो दूर रहा लोकसभा मे वहुमत मिलने पर क्या ये सरकार वना भी पायेंगे। जनता ने सोचा कि 'विपक्ष को वोट देना तो फिजूल मे अपने वोट को गँवाना है।' **एन. टी. रामाराव** इन चुनाव परिणामो पर टिप्पणी करते हुए कहते है. "वे (विपक्षी दल) जनता को यह नही समझा पाये कि वे एक हैं, एकता नही वतलायी गयी वरन् भेदों को सामने लाया गया। यदि ये सव एक हो जाते या एकता का परिचय देने के लिए समान मच से वोलते तो, चुनाव परिणाम दूसरे होते, आज की तुलना के विपक्ष के लिए वहुत अच्छे होते।"[3]

इस लेखक की दृष्टि मे विपक्ष की पराजय का सवसे प्रमुख कारण यही था। चुनाव परिणामो से यह तथ्य प्रकट एव पुष्ट है कि मतदाता के समक्ष जहाँ कही इन्दिरा कांग्रेस का सशक्त एवं विश्वसनीय विकल्प था, वहाँ उसने उसे जिताया। आन्ध्र मे तेलगूदेशम्, कश्मीर मे फारुख अव्दुल्ला की नेशनल कान्फ्रेंस एवं पश्चिमी वगाल मे मार्क्सवादी मोर्चा मैदान मे डटा रहा और इन्दिरा कांग्रेस से लोहा ले सका। विपक्ष पूरे उत्तर भारत मे किसी विश्वसनीय विकल्प की सरचना नही कर पाया।

'विपक्षी दलो के एक न होने से उन्हे कितनी हानि हुई' **'मतो की अंकगणित'** (Arithmetic of Votes) के आधार पर इसका अनुमान नही लगाया जा सकता। वस्तुत. चुनाव परिणाम राजनीतिक दलो की विश्वसनीयता और उनकी छवि पर निर्भर करते हैं, जव विपक्षी अपना कोई एक नेता नही चुन पाये, सीटो का तालमेल भी नही कर पाये तव उन्होने अपनी विश्वसनीयता खो दी और खुद ही अपनी छवि को विगाड लिया। ऐसी स्थिति मे चुनाव परिणाम तो ये ही होने थे। प्रतिपक्षियो की **'अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग'** वाले चरित्र से उसे चिढ होने लगी थी।

एक न होने की भारी गलती के अतिरिक्त भी विपक्षी दलो का समस्त व्यवहार मूर्खता की सीमा तक नासमझीपूर्ण था। इन्दिरा कांग्रेस जव 'देश की एकता और अखण्डता' के नाम पर मतदाताओ को आकर्षित करने मे जुटी थी, उस समय प्रतिपक्षी नेता जातीय आधार पर हार-जीत

---

[1] राजेन्द्र माथुर, **नवभारत टाइम्स**. 30 दिसम्वर, 1984, पृ. 3।

[2] "Indira Gandhi dead is more powerful then Indira Gandhi alive."

—*India Today*, *op. cit.*, p. 26.

[3] "They could not convince people they are united, Oneness was not shown. Only diversity was expressed. If all of them sailed together or spoke from a common platform to create the impression that they were defintely together things would have been different much better."

—N. T. Rama Rao, Quoted from "*India Today*" 1985, p. 54.

का गणित लगा रहे थे। 'मिली-जुली सरकार' की बात करना भी उनकी गहरी नासमझी का ही उदाहरण था। इस सम्बन्ध मे वे भारतीय जनता के मनोविज्ञान को नही समझ पाये। समस्त विपक्ष इन्दिरा गाँधी के विरोध मे खडा था, श्रीमती गाँधी की मृत्यु के वाद विपक्ष के पास चुनाव का कोई मुद्दा ही नही रहा।

(4) **नये प्रधानमन्त्री का युवापन और स्वच्छ छवि**—केन्द्रीय वित्त मन्त्री वनाये जाने के पूर्व **विश्वनाथ प्रतापसिंह** द्वारा कही गयी निम्न वात मे कुछ और भी मिश्रित हो सकता है, लेकिन तथ्यता का पर्याप्त अंश है : **"यह चुनाव राजीव का था, राजीव इसके प्रचारक थे, राजीव प्रत्याशी थे और राजीव ही चुने गये।"**[1] भारतीय जनता पुराने, वूढे और थके-हारे नेताओ से तंग आ चुकी थी तथा इन चुनावो मे राजीव के युवापन और स्वच्छ छवि ने भारतीय मतदाताओं को अपनी ओर आकर्षित किया। युवा वर्ग (21-35 आयु वर्ग) विशेषतया इस छवि से प्रभावित हुआ। वेद प्रताप वैदिक के शब्दो मे, "40-वर्षीय राजीव उन 17 करोड नये मतदाताओं की स्वाभाविक पसन्द वन गये, जिनकी उम्र 21 से 35 वर्ष के वीच है। मतदाता राजीव की युवा छवि से प्रभावित हुए और उन्होने साफ-सुथरे जवान नेता को अपना मत दिया।"[2] इस सम्वन्ध मे यह तथ्य स्मरणीय है कि समाचार पत्रो मे अनेक वार राजीव गाँधी को 'Mr. Clean' नाम से सम्बोधित किया गया था।

राजीव युवा वर्ग और सामान्य जनता के लिए 'आशा की किरण' वन गये। राजीव का प्रत्येक शब्द जनता को 'वजनदार और प्रामाणिक' प्रतीत हुआ। जनता ने सोचा कि उन्हे पाँच वर्ष का कार्यकाल तो दिया ही जाना चाहिए। इन्दिरा कांग्रेस के प्रवक्ता **श्रीकान्त वर्मा** ठीक ही कहते हैं इन चुनाव परिणामो को राजीव लहर और एकता लहर कह सकते हैं।[3]

राजीव गाँधी के सम्वन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण वात यह है कि वे एक साथ ही 'निरन्तरता और परिवर्तन' दोनो स्थितियो के प्रतीक वन गये।

(5) **भारतीय जनता की देश की एकता और अखण्डता के प्रति प्रतिबद्धता**—इन्दिरा कांग्रेस ने देश की 'एकता और अखण्डता' के नाम पर मत माँगा था और राजीव गाँधी ने अपने चुनाव अभियान मे 'आनन्दपुर साहिव प्रस्ताव' का प्रवल विरोध किया था। यह सारी वात जनता की मनोभावना के अनुकूल थी और जनता ने इस स्वर मे अपना स्वर मिलाकर स्पष्ट किया कि देश की एकता और अखण्डता के लिए वे सव कुछ करने को तैयार है।

यद्यपि भारतीय राजनीति के विपक्षी दल भी देश की एकता और अखण्डता के लिए प्रतिवद्ध हैं लेकिन मतदाता के मन मे राष्ट्रीय सकट की आशका वैठ गयी थी और वह इस सकट का मुकावला करने के लिए एक सुगठित सरकार वनाना चाहते थे, न कि ऐसी सरकार जिसमे नेतृत्व वँटा हुआ हो।"[4] **राजीव गाँधी** के शब्दो मे, 'मतदाताओ ने देश की एकता और अखण्डता को अधिक महत्त्व दिया।'

(6) **उच्च हिन्दू जातियों का नवीन नेतृत्व को भारी समर्थन**—इन चुनावो मे जातिवादी गणित फेल हो गया। उच्च हिन्दू जाति ने जिन्हे जनसंघ और भारतीय जनता पार्टी का परम्परागत समर्थक समझा जाता था, उम्मीदवार विशेष की जाति पर ध्यान न देते हुए इन्दिरा कांग्रेस

---

1 **दिनमान**, 13-19, जनवरी, 1985, पृ. 7।

2 'इस धरती हिलाऊँ जीत का राज क्या है।'—वेदप्रताप वैदिक, **नवभारत टाइम्स**, 31 दिसम्वर, 1984, पृ. 4।

3 **नवभारत टाइम्स**, 30 दिसम्वर, 1984।

4 जवाहरलाल कौल, **दिनमान**, 13-19 जनवरी, 1985, पृ. 13।

पूर्ण पृष्ठ जोड दिया है। इतिहास के इस पृष्ठ की स्थिति क्या होती है आगे आने वाला समय ही बता सकेगा।

चुनाव मे भारी बहुमत की प्राप्ति राजनीतिक सत्ता और सुरक्षा का एक स्रोत बन सकता है, लेकिन यदि जनता की आज्ञाओ और आकांक्षाओ को न समझा जाय या समझकर भी अनदेखा कर दिया जाय, तो वह राजनीतिक तूफान का कारण भी बन सकता है। यह ठीक ही कहा गया है कि "**जनादेश व्यर्थ हैं, यदि उनके साथ सेवा की भावना न जुड़ी हुई हो।**"[1]

विधानसभा चुनाव (मार्च, 1985)
(ASSEMBLY ELECTIONS, MARCH, 1985)

मार्च 1985 के प्रथम सप्ताह मे 11 राज्यो और एक केन्द्रशासित प्रदेश पाण्डिचेरी की विधानसभा के चुनाव सम्पन्न हुए। चुनाव परिणामो पर इन्दिरा कांग्रेस और विपक्ष, दोनों ही अपने-अपने तरीके से सन्तोष व्यक्त कर सकते हैं। इंका इस बात पर सन्तोष व्यक्त कर सकती है कि मध्य प्रदेश, उडीसा, गुजरात और हिमाचल प्रदेश में उसने भारी बहुमत (लगभग 82 प्रतिशत स्थान) प्राप्त किया। बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र मे 1980 की तुलना मे कम स्थान प्राप्त करने पर भी उसने स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर सरकार बना ली। विपक्ष इस बात पर सन्तोष कर सकता है कि केवल दो राज्यों (आन्ध्र प्रदेश और सिक्किम) मे विपक्ष की सरकार बनने की सम्भावना समझी जाती थी, लेकिन विपक्ष ने तीन राज्यो मे कांग्रेस को शिकस्त देकर भारी बहुमत प्राप्त किया। इंका को यह शिकस्त आन्ध्र प्रदेश मे तेलगूदेशम्, कर्नाटक मे जनता पार्टी और सिक्किम मे सिक्किम संग्राम परिषद द्वारा दी गयी। इसके साथ ही विपक्ष ने महाराष्ट्र और राजस्थान मे एकजुट होकर इंका को कडी चुनौती दी, भले ही वह उसे सत्ता से न हटा पाया हो।

चुनाव परिणामो से यह बात स्पष्ट है कि निर्वाचक इंका को '**कोरा चैक**' (Blank cheque) देने के लिए तैयार नही है। निर्वाचको ने विधानसभा चुनावो मे अपने मताधिकार का प्रयोग राज्य स्तर पर विविध राजनीतिक दलों के नेतृत्व, उनके कार्य और राज्य की स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए किया। मतदाताओ ने स्पष्ट किया कि वे आन्ध्र मे एन. टी. रामाराव, कर्नाटक मे रामकृष्ण हेगडे और सिक्किम मे नरबहादुर भण्डारी से ही सक्षम सरकार पाने की आशा करते है। "निर्वाचको ने मध्य प्रदेश, उडीसा, गुजरात और हिमाचल प्रदेश के पदासीन मुख्यमन्त्रियो को उनके पूर्ववर्तियो की तुलना मे—अपेक्षाकृत स्थायी, स्वच्छ और उद्देश्यपूर्ण प्रशासन देने के लिए 80 प्रतिशत स्थानो से पुरस्कृत किया है। उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र और राजस्थान मे सत्तारूढ दल को अकुशलता के लिए दण्डित किया गया है। कुल मिलाकर इंका ने 1980 मे प्राप्त 1,455 स्थानों मे से 100 स्थान खो दिये।"[2]

आठवीं लोकसभा के चुनाव तथा 11 राज्यों की विधानसभाओ के चुनावों का भारतीय राजनीति पर प्रभाव

दिसम्बर 1984 मे आठवी लोकसभा के चुनाव और मार्च 1985 मे 11 राज्यो की विधानसभाओ के चुनाव सम्पन्न हुए। इन चुनावो का भारतीय राजनीति पर प्रभाव निम्न रूपो मे देखा जा सकता है :

केन्द्र में सुदृढ़ सरकार की स्थापना और 'नवीन युवा नेतृत्व के लिए प्रतिष्ठा की स्थिति—श्रीमती गाँधी की हत्या के बाद 31 अक्टूबर, 1984 को राजीव गाँधी ने प्रधानमन्त्री

---

1 Mandates are useless, if there is no sense of mission.

2 K. L. Khanna, Back to Square One—Assembly Elections and After, *The Times of India*, 13 March, 1985, p. 8.

मार्च 1985 में सम्पन्न 11 राज्यों और एक केन्द्रशासित प्रदेश की विधानसभाओं के
चुनाव परिणाम

राज्य का नाम	कुल स्थान	इन्दिरा कांग्रेस	भारतीय जनता पार्टी	दलित मजदूर किसान पार्टी (लोकदल)	जनता पार्टी	भारतीय साम्यवादी दल	कांग्रेस 'स'	मार्क्सवादी दल	अन्य क्षेत्रीय दल	निर्दलीय और अन्य
आन्ध्र प्रदेश	294	49	8	—	2	11	—	11	तेलगूदेशम्—205	8
उत्तर प्रदेश	425	266	16	86	19	—	—	2	—	36
कर्नाटक	224	66	2	—	139	4	—	2	—	11
विहार	324	193	15	44	14	13	1	1	झारखण्ड मुक्ति मोर्चा—11	32
उडीसा	147	117	1	—	21	1	—	—	—	7
गुजरात	182	149	11	—	14	—	—	—	—	8
राजस्थान	200	115	38	27	10	—	1	—	—	9
महाराष्ट्र	288	161	16	—	20	2	56	2	कृषक कामगार दल—12	19
मध्य प्रदेश	320	250	58	—	5	—	1	—	—	6
हिमाचल प्रदेश	68	55	7	1	—	—	—	—	—	5
सिक्किम	32	1	—	—	—	—	—	—	सिक्किम संग्राम परि.—30	1
पाण्डिचेरी	30	15	—	—	2	—	—	—	अन्ना द्र. मु. क.—6 द्र. मु. क—5	2
योग	2,534	1,437	172	158	246	31	59	18	296	144

पद ग्रहण किया था और आठवीं लोकसभा के चुनाव 'प्रधानमन्त्री राजीव गांधी के लिए जनमत संग्रह' के रूप में थे। जनता ने इन्दिरा कांग्रेस को लोकसभा के लगभग 80 प्रतिशत स्थान प्रदान कर इन्दिरा कांग्रेस और देश पर राजीव गांधी के नेतृत्व पर स्वीकृति की मोहर लगा दी है।

चुनावों में जनता ने 'मिली-जुली सरकार की स्थिति' को पूर्णतया अस्वीकार कर केन्द्र में सुदृढ सरकार की स्थापना की है और उसे देश की एकता और अखण्डता के मार्ग की सभी चुनौतियों को दूर कर विकास के मार्ग पर आगे बढने का जनादेश दिया।

2. क्षेत्रीय दलों की शक्ति में वृद्धि और तथाकथित अखिल भारतीय दलों को व्यावहारिक राजनीति में क्षेत्रीय दलों की स्थिति प्राप्त होना—इन चुनावों ने तेलगूदेशम्, नेशनल कान्फ्रेंस, अन्नाद्रमुक और सिक्किम संग्राम परिषद की अपने-अपने क्षेत्रों में सुदृढ स्थिति को स्पष्ट किया तथा यह भी स्पष्ट किया कि तथाकथित अखिल भारतीय तीन प्रमुख विपक्षी दलों—भारतीय जनता पार्टी, जनता पार्टी और लोकदल—के प्रभाव क्षेत्र बहुत अधिक सीमित हैं। भारतीय जनता पार्टी, मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में, जनता पार्टी कर्नाटक और उड़ीसा में तथा लोकदल उत्तर प्रदेश, बिहार और कुछ सीमा तक राजस्थान में ही अपनी शक्ति का परिचय दे पाये। इसी प्रकार कांग्रेस (स) केवल महाराष्ट्र में ही अपनी शक्ति का परिचय दे पायी। मार्क्सवादी दल का प्रभाव क्षेत्र प. बंगाल, त्रिपुरा और केरल राज्यों तक सीमित है और भारतीय साम्यवादी दल की शक्ति में निरन्तर गिरावट आयी। विपक्ष में अखिल भारतीय दलों की स्थिति क्षेत्रीय दलों जैसी देखते हुए एन. टी रामाराव जैसे कुछ नेताओं ने 'संघीय आधार पर अखिल भारतीय विपक्षी दल के गठन' की बात कही।

3. विपक्षी दलों में अपनी स्थिति के प्रति पुनर्चिन्तन—आठवीं लोकसभा के चुनाव परिणामों ने विपक्षी राजनीतिक दलों को अपनी स्थिति के प्रति चिन्तित कर उन्हें अपनी नीति और रणनीति के प्रति पुनर्चिन्तन की प्रेरणा दी है।

4. केन्द्र और राज्यों के बीच स्वस्थ सम्बन्धों की आवश्यकता—जनता ने आठवीं लोकसभा के चुनावों में इंका को भारी बहुमत प्रदान किया, लेकिन विधानसभा चुनावों में इंका और इंका नेतृत्व के इस तर्क को अस्वीकार कर दिया कि व्यवस्था और विकास के हित में राज्यों में उसी राजनीतिक दल की सरकार होनी चाहिए, जिसे केन्द्र में शासक दल की स्थिति प्राप्त है। आन्ध्र, कर्नाटक और सिक्किम में विपक्षी दलों को बहुमत प्रदान किया गया, प. बंगाल और त्रिपुरा में पहले से विपक्षी सरकार और तमिलनाडु में इंका स्थापित अन्नाद्रमुक सरकार है। केन्द्र और राज्यों के बीच स्वस्थ सम्बन्धों की स्थापना न केवल जनादेश वरन् आज की सबसे प्रमुख आवश्यकता है और यह तभी सम्भव है जब केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का सचालन दलीय भावना से नहीं वरन् देश की एकता और समस्त देश के विकास को ध्यान में रखकर किया जाय।

हरियाणा (17 जून, 1987) तथा नागालैण्ड विधानसभा (18 नवम्बर, 1987) के चुनाव परिणाम

17 जून, 1987 को हरियाणा विधानसभायी 87 सीटों के लिए चुनाव हुए। चुनाव में मुख्य रूप में इंका, लोकदल (ब) भाजपा गठबन्धन व लोकदल (अ), जनता गठबन्धन के बीच टक्कर थी। इंका को मात्र 5 विधानसभा सीटें मिलीं और लोकदल (अ) जनता गठबन्धन एक भी सीट नहीं प्राप्त कर सका। लोकदल (ब) को 58 और भाजपा को 15 सीटें प्राप्त हुईं। संसद की दोनों सीटें भी लोकदल (ब) के उम्मीदवारों को प्राप्त हुईं। हरियाणा विधानसभा के चुनाव नतीजों का सीधा अर्थ यह है कि राजीव का जादू अब उतर चुका है और वोट बटोरने की उनकी क्षमता गम्भीर सन्देहों के दायरे में आ गयी और असली सकट नेतृत्व का है। विपक्ष यह

प्रभाव जगाने में सफल रहा कि केन्द्र ने हरियाणा के हित को बलि पर चढ़ा दिया है। देवीलाल ने यहाँ तक कहा कि 1982 में कांग्रेस ने उनकी चुनावी जीत पर डाका डाला था।[1]

18 नवम्बर, 1987 को 60 सदस्यीय नागालैण्ड विधानसभा के लिए चुनाव सम्पन्न हुए। 60 सीटों के लिए 212 प्रत्याशी चुनाव मैदान में थे : इंका व नागालैण्ड नेशनल डेमोक्रेटिक फ्रण्ट ने सभी सीटों के लिए चुनाव लड़ा। भाजपा ने पहली बार दो प्रत्याशी चुनाव में खड़े किये। चुनावों में इंका को पुन बहुमत मिल गया। उसे 34 स्थान मिले। 18 स्थानों पर एन. एन. डी पी. ने विजय प्राप्त की। नागालैण्ड में इस चुनाव में खास बात यह रही है कि जनता ने क्षेत्रवाद को प्रोत्साहन नहीं दिया बल्कि राष्ट्रीय दल को ही अपना समर्थन दिया।[2]

नवम् लोकसभा के चुनाव (नवम्बर, 1989)

17 अक्टूबर 1989 को निर्वाचन आयोग ने घोषणा की कि लोकसभा के चुनाव 22, 24 व 26 नवम्बर को कराये जायेंगे। असम में चूंकि मतदाता सूची अभी तैयार नहीं है, इसलिए वहाँ चुनाव नहीं होंगे। इसके साथ ही आन्ध्र प्रदेश, गोआ, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक व सिक्किम में विधानसभा के लिए चुनाव कराये जायेंगे।

नवम् लोकसभा चुनावों में लगभग 50 करोड़ मतदाताओं ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया। इनमें 3·56 करोड़ मतदाता 18 से 21 वर्ष की आयु के हैं। लोकसभा की 529 सीटों के लिए लगभग 7000 प्रत्याशी मैदान में थे। 529 लोकसभा सीटों में से लगभग 400 सीटों पर इंका का मुकाबला सीधे विपक्ष से हुआ। इस मामले में भाजपा, जनता दल, माकपा आदि में जगह-जगह तालमेल हो गया। इंका ने 529 में से 509 सीटों पर चुनाव लड़ा। 20 सीटें उसने जम्मू-कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेन्स, तमिलनाडु में अन्नाद्रमुक व दार्जलिंग में गोरखा परिषद् के लिए छोड़ दीं।

चुनाव परिणामों ने सबको आश्चर्यचकित कर दिया। हिन्दी भाषी क्षेत्र में इंका के मजबूत गढ़ ढह गये। 1984 में जहाँ इस क्षेत्र में उसे 218 सीटें मिली वहाँ 1989 में मात्र 31 सीटों से संतोष करना पड़ा। यह चुनाव अपनी तरह की एक मिसाल है जिसमें हर राज्य या क्षेत्र के मतदाताओं ने पड़ौसी राज्यों के मतदाताओं की राय से साम्य न रखने वाला स्पष्ट और बुलंद फैसला सुनाया।

हिन्दी क्षेत्र के मतदाताओं ने अगर भाजपा के एकतरफा, साम्प्रदायिक आह्वान पर कान देकर सत्तारूढ़ पार्टी को अशत भ्रष्टाचार के संदिग्ध आरोपों के लिए खारिज करके वैकल्पिक नेता वी. पी. सिंह को समर्थन दिया तो दक्षिण के मतदाताओं ने दूसरा रुख अपनाना पसंद किया। बोफोर्स और रामजन्म भूमि बाबरी मस्जिद दोनों ही विवाद उत्तर, पश्चिम तथा कुछ हद तक पूर्व में तो मुद्दा बने जबकि दक्षिण में ये मुद्दा ज्यादा असरदार साबित नहीं हुए। इसके अलावा हिन्दी क्षेत्रों के मतदाताओं के लिए मूल रूप में दो नेताओं—राजीव गांधी और वी. पी. सिंह के बीच चुनाव था और इस टक्कर में वी. पी. सिंह को उसने एकतरफा विजय भी दिलवा दी। लेकिन दक्षिण में वी. पी. सिंह का न पहुँच पाना बहुत बड़ी भूल साबित हुई। विपक्ष इस उम्मीद में दक्षिण से आश्वस्त हो चुका था कि वहाँ के सहयोगी क्षेत्रीय नेता (रामाराव, हेगड़े, करुणानिधि) अपने ही बूते पर राष्ट्रीय मोर्चे की शक्ति में वृद्धि कर लेंगे। इससे दक्षिण के मतदाताओं को लगा कि विपक्ष का नेतृत्व उत्तर केन्द्रित है।

इस चुनाव में राजस्थानी, गुजराती, बिहारी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ या मलयाली मत-

---

[1] **इण्डिया टुडे**, 15 जुलाई 1987, पृ. 19।
[2] **इण्डिया टुडे**, 15 दिसम्बर, 1987, पृ. 26।

दाताओ ने अलग-अलग पार्टियो पर अपना गुस्सा उतारा है, पर उनके सदेशो मे एक महत्त्वपूर्ण और साफ समानता भी है। यह एक सच्चाई है कि देशभर मे मतदाताओ ने अपना फैसला भ्रष्टाचार के खिलाफ दिया। यदि राजीव की इका को बोफोर्स दलाली की कीमत चुकानी पड़ी तो देवीलाल को अपने बेटो और एन. टी. रामाराव को अपने दामादो की कीमत चुकानी पडी। इस सत्ता विरोधी लहर मे सिर्फ एक ही सत्तारूढ दल अपना अस्तित्व बचा पाया और वह है पश्चिम बगाल का वाम मोर्चा। उसे उसकी साफ-सुथरी छवि का लाभ मिला।

चुनाव परिणामो के विश्लेषण मे नवम् लोकसभा परिणामो की निम्नलिखित विशेषताएँ उभरती हे

1. ये चुनाव परिणाम केन्द्र और राज्यो मे सत्तारूढ शासन एवं दल के विरोध मे जनादेश हैं। यदि केन्द्र मे ये परिणाम सत्तारूढ इंका के विरोध मे साबित हुए तो कर्नाटक, आन्ध्र, तमिलनाडु और केरल मे ये परिणाम क्रमश जनता दल, तेलगूदेशम्, द्रमुक और माकपा के खिलाफ जनादेश प्रतीत होते हे।

2. उत्तरी भारत मे जनता दल और भारतीय जनता पार्टी को अप्रत्याशित सफलता मिली तो दक्षिण के राज्यो मे कांग्रेस (इ) ने अपना वर्चस्व कायम किया।

3. राजनैतिक जनादेश के इस भौगोलिक ध्रुवीकरण ने दोनो वडी राष्ट्रीय पार्टियो इंका और जनता दल को क्षेत्रीय पार्टियो की हैसियत मे ला दिया। उत्तरी भारत के चार राज्यो उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, विहार और राजस्थान मे इंका को मात्र 27 सीटे मिली और जनता दल को 107 सीटे। इसके विपरीत दक्षिण के चार राज्यो—कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश मे इंका को 103 सीटे मिली जबकि जनता दल को मात्र 1 सीट।

4. यह चुनाव सबसे अधिक साम्प्रदायिक भी रहा। 1984 मे भाजपा को मात्र 2 सीटे मिली थी और इस चुनाव मे उसे कुल 86 सीटें प्राप्त हुई। भाजपा ने साम्प्रदायिक रुझानो को कही नही छिपाया। इस बार हिन्दू कार्ड का हथियार राजीव गाँधी हाथ से फिसलकर भाजपा के हाथ मे आ गया। भाजपा बगैर लाग लपेट के डटी रही कि उसका उद्देश्य हिन्दू राज की स्थापना है। इसलिए उसने राम जन्मभूमि मुक्ति आन्दोलन, राम-जानकी रथ यात्राओ, रामशिला पूजन आदि मे खुले आम शिरकत की।

5. इस चुनाव मे स्वयंभू जाति आधारित दल बहुजन समाज पार्टी भी एक बडे दबाव गुट के रूप मे उभरकर आई। उत्तर प्रदेश मे इसके 72 उम्मीदवारों को 13 प्रतिशत वोट मिले तथा इसने 3 सीटो पर विजय प्राप्त की।

6. चुनाव परिणामो से साफ है कि देश की जनता बदलाव की पक्षधर है। लेकिन उसने किसी दल या गठबधन के पक्ष मे कोई स्पष्ट जनादेश भी नही दिया है।

नवीं लोकसभा के चुनावों में मतदान व्यवहार का विश्लेषण या चुनावों में इन्दिरा कांग्रेस की असफलता के कारण—आठवी लोकसभा के चुनाव मे इन्दिरा कांग्रेस ने राजीव गाँधी के नेतृत्व मे लोकसभा के 401 स्थान प्राप्त किये थे, लेकिन नवी लोकसभा के चुनाव मे इन्दिरा कांग्रेस को मात्र 193 स्थान ही प्राप्त हुए और इस दृष्टि से चुनाव परिणामो को **'इन्दिरा कांग्रेस की भारी असफलता'** का नाम दिया जा सकता है। नवी लोकसभा चुनावो के मतदान-व्यवहार का विश्लेषण या इन चुनावों में कांग्रेस की असफलता के कारणो का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है

1. बोफोर्स काण्ड, भ्रष्टाचार के अन्य आरोप और राजीव गांधी की धूमिल छवि—1971 से लेकर अब तक भारत मे लोकसभा चुनाव **'राष्ट्र के सर्वोच्च नेतृत्व पर लोक निर्णय'** के रूप मे रहे है और नवी लोकसभा के चुनाव भी अपनी प्रकृति मे **'राजीव गांधी और राजीव**

लोकसभा चुनाव–1989
विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थिति

राज्य	कुल सीट	कांग्रेस			जनतादल		भाजपा		माकपा		भाकपा		अन्य व निर्दलीय	
		1984 की स्थिति	1989 खडे	1989 जीते	खडे	जीते	खडे	जीते	खडे	जीते	खडे	जीते	खडे	जीते
अडमान	1	1	1	1	—	—	—	—	1	—	—	—	5	—
आंध्र प्रदेश	42	6	42	39	2	—	2	—	2	—	2	—	177	3
अरुणाचल प्रदेश	2	2	2	2	—	—	—	—	—	—	—	—	4	—
विहार	54	48	54	4	37	31	25	9	4	1	12	4	579	5
चण्डीगढ	1	1	1	—	1	1	1	—	—	—	—	—	24	—
दमन एव दीव	1	—	1	—	1	—	—	—	—	—	—	—	3	1
दादरा एण्ड नागर हवेली	1	-0	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1
दिल्ली	7	7	7	2	3	1	5	4	1	—	—	—	222	—
गोवा	2	2	1	—	—	—	1	—	—	—	1	—	10	1
गुजरात	26	24	26	3	14	11	12	12	—	—	—	—	209	—
हरियाणा	10	10	10	4	8	6	3	—	—	—	1	—	302	—
हिमाचल प्रदेश	4	4	4	1	2	—	4	3	1	—	1	—	35	—
जम्मू एण्ड कश्मीर	6	3	3	2	2	—	2	—	—	—	—	—	56	4
कर्नाटक	28	24	28	27	27	1	5	—	—	—	1	—	179	—
केरल	20	13	17	14	2	—	20	—	10	2	3	—	166	4
लक्षद्वीप	1	1	1	1	—	—	—	—	—	—	—	—	1	—

मध्य प्रदेश	40	40	39	8	11	3	33	27	—	—	3	—	393	1
महाराष्ट्र	48	43	47	28	21	5	32	10	2	0	2	—1	463	4
मणिपुर	2	2	2	2	—	—	1	—	—	—	1	—	9	—
मेघालय	2	2	2	2	—	—	—	—	—	—	2	—	2	—
मिजोरम	1	1	1	1	—	—	—	—	—	—	—	—	3	—
नागालैण्ड	1	1	1	1	—	—	—	—	—	—	—	—	1	—
उडीसा	21	20	21	3	19	16	6	—	1	1	1	1	84	—
पाडिचेरी	1	1	1	1	—	—	—	—	—	—	—	—	10	—
पजाब	13	6	13	2	4	1	3	—	3	—	4	—	200	10
राजस्थान	25	25	25	—	13	11	17	13	1	—	—	—	249	—
सिक्किम	1	—	1	—	—	—	—	—	—	—	1	—	3	1
तमिलनाडु	39	25	28	24	2	—	3	—	4	—	2	—1	419	13
त्रिपुरा	2	—	2	2	—	—	1	—	2	—	—	—	7	—
उत्तर प्रदेश	85	83	81	15	68	54	31	8	1	1	10	—2	875	5
प. बगाल	42	16	41	4	1	—	19	—	30	26	4	3	234	8
कुल	529	411	504	193	238	141	226	86	62	32	50	12	—	61

नोट : इस वार लोकसभा की 525 सीटो के लिए ही चुनाव हुआ है । गोवा, मध्यप्रदेश, तमितनाडु व पश्चिम वगाल की एक-एक [कुल चार] सीटो के चुनाव स्थगति कर दिये गये थे । काग्रेस [इ] ने 193, जनता दल ने 141, भारतीय जनता पार्टी ने 86, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने 32, अन्नाद्रमुक ने 11, अकाली दल [मान] ने 6, आर. एस. पी. ने 4 वहुजन समाज पार्टी, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, व नेशलन काफ्रेस ने तीन-तीन, तेलगुदेशम ने 2, काग्रेस [स], आई. पी. एफ., मुस्लिम लीग, केरला काग्रेस [एम] व यू पी सी. आई. ने एक-एक सीटे जीती हैं । दस निर्दलीय निर्वाचित हुए । जबकि ग्यारह सीटें अन्य पार्टियो के हिस्से में गईं ।

गाँधी शासन पर लोक निर्णय' के रूप मे थे। ऐसी स्थिति मे चुनाव परिणाम उसी रूप मे सामने आये, जिस रूप मे संभावित थे। राजीव गाँधी 1984 मे मि. क्लीन (Mr Clean) की छवि को लेकर जनता तक पहुँचे थे और उन्होने 'स्वच्छ सरकार तथा कार्यकुशल प्रशासन' देने की जो आशा जनता को वँधायी थी, वह '89 तक आते-आते तमाम काण्डो और विवादो मे फँसकर समाप्त हो गई। तत्कालीन प्रधानमत्री पर '**बोफोर्स दलाली काण्ड**' में लिप्त होने का आरोप भले ही कानूनी तौर पर सिद्ध न हो सका हो, लेकिन जनता ने तो समझ लिया कि राजीव गाँधी को '**मि. क्लीन**' मानने का कोई आधार शेप नही रहा है। वी. पी. सिंह ने '**भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ने का नारा**' देकर सरकार छोड़ी थी, जनता पर इसका प्रभाव पड़ा। **प्रीतिश नंदी** के शब्दो मे, 'ससदीय चुनाव मे भ्रष्टाचार मुख्य मुद्दा बन गया और जोर-शोर से उछाला गया।'[1]

जनता को राजीव गाँधी की प्रशासनिक क्षमता, उनकी सूझ-बूझ और वचनों पर भी गहरा सन्देह उत्पन्न हो गया था तथा यह अकारण नही था। पैट्रोल की कीमतो मे वृद्धि और एक सप्ताह बाद ही वापस लेने, शाहबानो विवाद के प्रसंग म अपनी स्थिति मे परिवर्तन, मानहानि विधेयक प्रस्तावित करने, वोफोर्स काण्ड के प्रसंग मे शासन द्वारा दिये गये अर्ध सत्य और विरोधाभासी वक्तव्यो ने सम्पूर्ण शासन तथा स्वयं प्रधानमन्त्री की विश्वसनीयता को समाप्त कर दिया और शासक दल के लिए यह एक बहुत बडी क्षति थी। 'राजीव वस्तुत. स्वय अपने ही छल-कपट और कलाबाजियों के शिकार हो गये थे।'[2] राजीव गाँधी ने अनेक अवसरो पर अत्यधिक असयत भाषा का प्रयोग करके भी अपनी ही प्रतिष्ठा को आघात पहुँचाया।

(2) **विपक्ष द्वारा जनता को कांग्रेस का विकल्प प्रदान करना**—उत्तर भारत मे मुख्य विपक्षी दल थे, जनता दल और भारतीय जनता पार्टी। इसी प्रकार प. बंगाल, केरल, त्रिपुरा और बिहार के कुछ हिस्सो मे मार्क्सवादी दल, भारतीय साम्यवादी दल और कुछ अन्य वामपंथी दलों का प्रभाव रहा है। जनता दल ने पहले तो क्षेत्रीय दलो के साथ मिलकर '**राष्ट्रीय मोर्चे**' का गठन किया तथा उसके बाद एक ओर भाजपा एंव दूसरी ओर वामपंथी दलो के साथ '**सीटों का लगभग तालमेल**' करने मे सफलता प्राप्त कर ली। यद्यपि इस 'चुनावी गठबंधन' की कमियाँ थी, लेकिन कुछ ऐसा अवश्य था, जिसे जनता '**कांग्रेस का काम चलाऊ विकल्प**' अवश्य ही समझ सकती थी। वी. पी. सिंह इस विपक्षी एकता की धुरी थे तथा उनकी अपेक्षाकृत स्वच्छ छवि एव लोकप्रियता का लाभ विपक्षी दलो को मिला।

भारतीय राजनीति मे विपक्ष की असफलता का सदैव ही एक प्रमुख कारण 'विपक्षी मतो का विभाजन' रहा है, इन चुनावों मे विपक्षी दलो के बीच लगभग एकता की स्थापना से विपक्षी मतो के विभाजन की स्थिति नही रही। परिणामतया विपक्षी दल उस भारी हानि से बच गये, जो अब तक उनके द्वारा उठाई जाती रही है।

(3) **कांग्रेस के परम्परागत 'वोट बैंक' में दरार**—भारतीय राजनीति मे अल्पसंख्यक वर्गों और अनुसूचित तथा जनजातियो को कांग्रेस का परम्परागत वोट बैंक समझा जाता रहा है, लेकिन 1989 के लोकसभा चुनाव मे इस परम्परागत वोट बैंक मे दरार, सम्भवतया भारी दरार पड़ गई। '**राम जन्मभूमि बाबरी मस्जिद विवाद**' मे कांग्रेस की निरन्तर बदलती हुई भूमिका के कारण कम से कम दो राज्यो उत्तर प्रदेश और बिहार मे मुसलमानो के एक बड़े वर्ग ने कांग्रेस के बजाय जनता दल को पसन्द किया। साम्प्रदायिक दगो को रोक पाने मे असफलता भी मुसलमानों

---

1 प्रीतिश नंदी : **इण्डिया टुडे**, 15 दिसम्बर 89, पृष्ठ 70.

2 'He become a victim of his own prevarications and somersaults'—Dilip Padgaonkar : Perplexed India Votes Need to Rejuvenate Congress, *The Times of India*, 22 Nov. 89, p 8.

की काग्रेस से नाराजगी का एक कारण था। चुनाव की घोषणा के बाद भी भागलपुर और बिहार के कुछ अन्य भागो मे भीषणतम साम्प्रदायिक दगे हुए और मुस्लिम समुदाय ने इसके लिए काग्रेस को ही दोषी माना। इसी प्रकार बहुजन समाज पार्टी ने अनुसूचित जातियो के एक भाग का समर्थन पाने मे सफलता प्राप्त कर ली। इस पार्टी को उत्तर प्रदेश मे 2 04 प्रतिशत मत (57 लाख मत) मिले थे और तथ्य है कि ये मत काग्रेस के मूल्य पर ही प्राप्त हुए।

(4) **राजीव सरकार की प्रशासनिक असफलताएँ**—आठवी लोकसभा चुनाव मे इन्दिरा काग्रेस को लोकसभा के दो तिहाई से अधिक स्थानो पर विजयी बनाकर जनता राजीव सरकार से एक कार्यकुशल और क्षमतावान सरकार के रूप मे कार्य करने की आशा करती थी, लेकिन 1988 के भीषण अकाल मे राहत कार्यो के अतिरिक्त अन्य किसी भी दृष्टि मे ऐसा नही हुआ। पजाब समस्या का हल होना तो दूर, उसमे नई जटिलताओ ने प्रवेश कर लिया। राजीव काल मे पंजाब मे प्रतिदिन 10 से 15 लोगो की हत्या होती रही है और जम्मू-कश्मीर राज्य मे भारत की एकता और अखण्डता को गम्भीर चुनौतियाँ दी जाने लगी। आठवी और नवी लोकसभा चुनावो मे काग्रेस का एक प्रमुख नारा 'राजनीतिक स्थायित्व' और 'भारत की एकता तथा अखण्डता' की रक्षा था, लेकिन जनता ने प्रत्यक्ष घटनाओं के आधार पर, इस चुनावी वायदे के खोखलेपन का अनुभव कर लिया था। श्रीलका मे मारे गये 1150 भारतीय सैनिक, नेपाल के साथ सम्बन्धो मे विवाद, कानून और व्यवस्था की बिगड़ती हुई स्थिति और 87-89 के वर्षो मे साम्प्रदायिक उपद्रवो की बाढ आदि बाते राजीव सरकार की प्रशासनिक असफलता के प्रमाण थे। जनता के बडे भाग ने अनुभव किया कि सर्वोच्च पद पर 5 वर्ष तक आसीन रहने के बाद भी राजीव प्रशासनिक समझ और क्षमता की दृष्टि से कोरे है। जनता ने यह भी अनुभव किया कि कम से कम अन्तिम दो वर्षो मे राजीव ऐसी '**मण्डली**' से पूर्णतया घिरे हुए हैं जिसका बडा भाग न तो जनता को जानता है और न ही उसका जनता से कोई सरोकार है।

(5) **महँगाई और असफल आर्थिक नीतियाँ**—जनता की आर्थिक सन्तुष्टि-असन्तुष्टि मतदान पर सदैव ही प्रभाव डालती है और 1989 मे भी ऐसा ही हुआ। जनता ने अनुभव किया कि राजीव की आर्थिक नीतियाँ उच्च मध्यम वर्ग और अमीर घरानो को लाभ पहुँचाने के लिए ही है। वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि तो पहले भी हो रही थी, लेकिन चुनाव के लगभग तीन महीने पहले से महँगाई नई ऊँचाइयो को छूने लगी और इसने जनता को क्रुद्ध कर दिया। 'प्याज के मूल्य ने 1980 के लोकसभा चुनावो मे जो भूमिका अदा की थी, **चाय, चीनी और बीड़ी** के मूल्यों ने '89 के लोकसभा चुनावो मे वही भूमिका अदा की।' चीनी की आसमान को छूती कीमतो ने विपक्ष को एक और मुद्दा दे दिया।

(6) **हिन्दुत्व की लहर**—भारतीय राजनीति के अधिकाश दलो के सम्बन्ध मे यह तथ्य है कि वे राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए जनता की भावनाओ के साथ कोई भी खिलवाड कर सकते हैं। 1982–86 के वर्षो मे इन्दिरा काग्रेस ने 'हिन्दुत्व को उभारकर' लोकसभा तथा विधानसभा चुनावो मे राजनीतिक लाभ प्राप्त किया था। 1989 मे **रामशिला पूजन उत्सवो** और विवादास्पद स्थल पर ही भव्य राममन्दिर के निर्माण के सकल्प ने हिन्दुत्व की लहर को जन्म दे दिया। हिन्दुत्व की इस लहर को जन्म देने मे '**विश्व हिन्दू परिषद, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ**' और **परोक्ष मे भाजपा** की भूमिका थी और भाजपा को हिन्दुत्व की इस लहर के भारी राजनीतिक लाभ प्राप्त हुए। जनता दल का भाजपा के साथ चुनावी गठबंधन था, इसलिए जनता दल को भी हिन्दुत्व की इस लहर का कुछ लाभ मिला। दूरदर्शन के संवाददाताओ के साथ बातचीत मे काग्रेस के कोषाध्यक्ष **सीताराम केसरी** ने काग्रेस की पराजय का सबसे प्रमुख कारण हिन्दू साम्प्रदायिकता और मुस्लिम साम्प्रदायिकता बतलाया है, लेकिन वस्तुत. इसे प्रमुख कारण

नही, वरन गौण कारण ही समझा जाना चाहिए। पराजय का प्रमुख कारण, तो स्वयं राजीव और उनकी सरकार की असफलता ही था। इसके अतिरिक्त यह भी एक तथ्य है कि कांग्रेस ने भी अपने तरीके से हिन्दुत्व की लहर का लाभ उठाने की चेष्टा की थी, लेकिन वह इसमे असफल रही।

(7) **कांग्रेस संगठन की कमियाँ**—1971 से कांग्रेस संगठन में एक प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई : कांग्रेस के **स्थानीय संगठन में कमजोरी और केन्द्रवादी प्रवृति में वृद्धि।** यह प्रवृति निरन्तर बढती चली गई और राजीव काल मे जब केन्द्रवादी प्रवृति का संयोग कमजोर नेतृत्व से हुआ, तो दल की सजीवता और क्षमता को दोहरा आघात पहुँचा। यह तथ्य है कि राजीव गाँधी दलीय अध्यक्ष के रूप मे दलीय मामलो का प्रबन्ध करने मे भी पूर्णतया असफल रहे।

(8) **चुनावी रणनीति की गम्भीर त्रुटियाँ**—कांग्रेस ने चुनावी रणनीति मे भी कुछ भारी भूले की। **प्रथम,** कांग्रेस ने चुनावो की अचानक घोषणा कर विपक्ष को भौचक्क और अस्त-व्यस्त करना चाहा था, लेकिन समय के पूर्व और अचानक चुनाव घोषणा ने स्वयं शासक दल को अस्त-व्यस्त कर दिया। **दूसरी** त्रुटि ने अधिक हानि पहुँचाई और वह थी, अधिकाश **मौजूदा** सांसदो को ही दुबारा उम्मीदवार बनाना। यह तथ्य है कि लगभग तीन चौथाई कांग्रेसी सासदो ने अपने निर्वाचन क्षेत्र की भलीभाँति देखभाल नही की थी और उन्हे ही दुबारा थोपे जाने को नापसन्द करना जनता के लिए नितांत अस्वाभाविक था। 'चुनाव अभियान के अन्तिम दौर मे दल के वरिष्ठ नेताओं ने अनुभव किया कि यदि उत्तर प्रदेश बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान मे 100 या 125 उम्मीदवार बदले जाते, तो स्थिति कुछ दूसरे रूप से सामने आ सकती थी।'[1] **तृतीय,** एक अन्य त्रुटि नकारात्मक, भौड़े और विचित्र विज्ञापनो की बौछार थी। अमरीकी ढंग के इन विज्ञापनो को भारतीय मतदाताओ ने पसन्द नही किया।

बेरोजगारी आदि स्थितियो के कारण **युवा और विद्यार्थी वर्ग में असन्तोष** कांग्रेस की पराजय का एक अन्य कारण था। यह तथ्य है कि नये मतदाताओ (मताधिकार की आयु कम करने से जो मतदाता बने थे) के एक बड़े भाग ने कांग्रेस विरोधी रुख ही अपनाया। कांग्रेस के पास आर्थिक साधनो की जितनी बहुलता थी, निष्ठावान कार्यकर्त्ताओं का उतना ही अधिक अभाव था। **बी. बी. सी.** (B. B. C.) ने भी कांग्रेस की पराजय मे कुछ योग दिया।

चुनाव सभावनाओ का आंकलन करने वाले कुछ व्यक्तियो ने बतलाया, **'लोग इस बार कांग्रेस को एक झटका देना चाहते हैं।'** वस्तुत 1987 से ही शासन और कांग्रेस विरोधी हवा चल रही थी, जो निरन्तर बढती गई। घोर सरकारी प्रचार के बावजूद भी उसे नियन्त्रित नही किया जा सका। जनता मे **'बदलाव की जबरदस्त इच्छा'** थी और इस इच्छा ने ही सत्ता परिवर्तन को जन्म दिया।

उत्तर भारत और दक्षिण भारत के मतदान-व्यवहार में भेद—नवी लोकसभा के चुनाव परिणाम एक दृष्टि से छठी लोकसभा (1977) के चुनाव परिणामों की पुनरावृत्ति है। 1977 के लोकसभा चुनावो के समान ही इन चुनावो मे उत्तर भारत ने कांग्रेस को अस्वीकार कर दिया, लेकिन दक्षिण भारत ने कांग्रेस को ठोस समर्थन प्रदान किया।

कुछ विश्लेषक इसे 'उत्तर-दक्षिण विभाजन' की संज्ञा देते हैं, लेकिन वस्तुत: यह **उत्तर-दक्षिण विभाजन नहीं** है। एक विशेष तथ्य यह है कि चुनाव के पूर्व दक्षिण के चारो राज्यो (तमिलनाडु, आंध्र, कर्नाटक और केरल) मे कांग्रेस विरोधी दलो की सरकारें सत्तारूढ थी और चुनाव जिस प्रकार सम्पूर्ण भारत मे 'महानायक पर जनमत संग्रह' थे, उसी प्रकार प्रादेशिक स्तर पर ये चुनाव **'प्रादेशिक नायको पर जनमत संग्रह'** थे। दक्षिण भारत मे महानायक पर जनमत संग्रह की अपेक्षा 'प्रादेशिक नायको पर जनमत संग्रह' का तत्त्व अधिक प्रबल हो गया। सम्पूर्ण भारत मे जिस प्रकार महानायक को अस्वीकार किया गया, उसी प्रकार दक्षिण-भारत के चार राज्यों मे उनके प्रादेशिक नायको को अस्वीकार किया गया। वस्तुत. इन चुनावों मे प. बंगाल के अतिरिक्त सभी राज्यों मे जनता ने 'परिवर्तन के लिए मतदान' किया है।

---

1 "Things could have been different, if 100 or 25 candidates in U. P, Bihar, M. P. and Rajasthan had been replaced, senior leaders felt." Subhash Kirpekar . Opposition group for Govt. by Rv—*Times of India*., 27 Nov. 89, p. 5.

इन चारो ही राज्यो मे प्रादेशिक शासक दल को अस्वीकार करने के सारभूत कारण थे। 1988 के तमिलनाडु विधानसभा चुनावो मे डी. एम. के. की विजय का कारण डी. एम. के. विरोधी मतो का विभाजन था। अन्ना डी एम. के की एकता और उसके बाद **'कांग्रेस अन्ना डी एम. के गठबंधन'** से 'डी एम. के विरोधी मतो' के विभाजन की स्थिति दूर हो गई और ऐसी स्थिति मे डी एम. के या उससे जुडे हुए 'राष्ट्रीय मोर्चे' की हार स्वाभाविक थी। चावल की कमी, शक्कर, कैरोसीन और पाम ऑइल आदि उचित मूल्य पर प्राप्त न होना आदि डी. एम के. से नाराजगी के अन्य कारण थे। इसके अतिरिक्त **25 मार्च '89 को राज्य विधानसभा की घटना** (जिसमे डी एम. के विधायकों द्वारा जयललिता को अपमानित किया गया) के लिए जनता ने करुणानिधि को दोषी माना। जयललिता ने अपनी प्रत्येक चुनाव सभा मे इस घटना का विवरण प्रस्तुत किया था।

केरल की जनता वामपथी लोकतान्त्रिक मोर्चे की 'नयनार सरकार' से सन्तुष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त केरल में 'आर. एस. एस' एक सतुलनकारी शक्ति के रूप मे सामने आ रहा है। 1989 के कुछ दिनो पूर्व से ही केरल मे मार्क्सवादी दल और आर एस. एस. के कार्यकर्त्ताओ के बीच **'सड़को पर लड़ाई'** की जो स्थिति चल रही थी, उस पृष्ठभूमि मे केरल मे आर एस. एस. भाजपा ने कांग्रेस को सहायता पहुँचाई और मार्क्सवादी मोर्चे का विरोध किया।[1] केरल मे कांग्रेस ने साम्प्रदायिक मुद्दे को भुनाया।

1985 के विधानसभा चुनाव मे कर्नाटक मे जनता ने जनता पार्टी को दो तिहाई बहुमत दिया था, लेकिन इससे जनता को न तो राजनीतिक स्थायित्व प्राप्त हुआ और न ही सुशासन। कर्नाटक मे जनता पार्टी ने अपने चुनाव वायदे पूरे नही किये और उसकी भीतरी कलह सारी सीमाओ को पार कर गई।

आन्ध्र मे जनता सम्भवतया एन. टी. आर. के **'सनक मिश्रित निरंकुश आचरण'** और **राजनीतिक नाटकबाजी'** से तग आ चुकी थी। अपने कामकाज के तरीके मे रामाराव ने मतदाताओ के एक बडे समूह को नाराज कर दिया। इसके अतिरिक्त 'कामा' (तेलगूदेशम समर्थक) और **'कापू'** जाति के बीच सघर्ष की शृखलाओ ने 'कापू' जाति को तेलगूदेशम से दूर कर दिया।

दक्षिण भारत का मतदाता अपनी प्रादेशिक सरकारो से इतना अधिक त्रस्त था कि उसने उनको साफ कर दिया। चूंकि इन चारो राज्यो मे प्रादेशिक शासक दलो का विकल्प केवल कांग्रेस थी, इसलिए उसे ही इसका अप्रत्याशित लाभ मिला।

उत्तर-दक्षिण के मतदान व्यवहार मे अन्तर की एक व्याख्या इस रूप में की गई है कि दक्षिण भारत मे **'कांग्रेस और नेहरू परिवार'** के प्रति अपनत्व का भाव बहुत गहरा है और जब कभी भी ऐसा लगता है कि उत्तर भारत में कांग्रेस को गम्भीर चुनौती दी जायेगी, तब दक्षिण भारत सामान्य स्थिति मे उठने वाले अन्य सभी विचारों को छोडकर कांग्रेस को भारी सहयोग देने का सकल्प धारण कर लेता है।[2] इस व्याख्या में आंशिक सत्य हो सकता है, कांग्रेस के लिए सकट की एक अन्य घडी 1977 मे भी दक्षिण भारत का मतदान व्यवहार ऐसा ही था।

इसके अतिरिक्त भी कुछ अन्य कारण थे। बोफोर्स और राम जन्मभूमि के मुद्दे दक्षिण मे अधिक असरकारी साबित नहीं हुए। दक्षिण मे **वी. पी. सिंह का न पहुँच पाना** एक बडी भूल सिद्ध हुई। दक्षिण के मतदाताओ को लगा कि विपक्ष का शीर्ष नेतृत्व **'उत्तर केन्द्रित'** है।

सभी पक्ष स्वीकार करते है कि ये चुनाव परिणाम 'बदलाव की इच्छा' के प्रतीक है। यह परिवर्तन या बदलाव कोई मामूली नही है, अपनी समग्रता मे ये भारतीय लोकतत्र की परिपक्वता का संकेत देते है। चुनावो का निष्कर्ष यह है कि कोई भी राजनीतिक दल यदि असमर्थ सिद्ध

---

1 The B J. P S. has been the helping hand *The Times of India.*, Nov 28, 89, p. 4.

2 All in the Family . The South has always reposed its trust in the Nehus family . From the Grand Father to Mother to Son '—*The Times of India*, Dec. 2, 89, p 9.

दूरदर्शन पर रामकृष्ण हेगडे ने भी लगभग यही व्याख्या प्रस्तुत की थी।

होता है तो जनता उसे बख्शेगी नही। इस अर्थ मे मतदाता ने एक सुनिश्चित राजनीतिक विवेक का परिचय दिया है। वस्तुत नवी लोकसभा के चुनाव एक **'शुद्धिकरण यज्ञ'** जैसे ही थे।

उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, सिक्किम और गोआ विधानसभाओं के परिणाम : विश्लेषण—उत्तर प्रदेश की 425 सीटों मे से 422 सीटो पर चुनाव हुए। उनमे से जनता दल ने न सिर्फ 207 स्थानो पर जीत दर्ज की बल्कि तिवारी सरकार के एक मत्री को छोडकर बाकी सब वी. पी लहर मे बह गये। इका को 98 और भाजपा को 57 सीटे प्राप्त हुई। इका की पराजय का कारण यह था कि अब तक उसके प्रति वफादार रहा, मुस्लिम समुदाय उसका साथ छोड गया। अयोध्या के मामले पर अपमान और गुस्से की वजह से मुसलमान वोट भाजपा को छोडकर बाकी विपक्षी दलो मे बँट गये। इनमे अधिकाश जनता दल के पक्ष मे गये पर कई लोगो ने बहुजन समाज पार्टी (बसपा) को चुना। बसपा इस बार अप्रत्याशित रूप से 14 सीटे लेने मे कामयाब रही और उसने राज्य के हरिजन-बहुल क्षेत्रों मे सेंध लगा दी।

आन्ध्र प्रदेश मे डा. चेन्ना रेड्डी के सगठित अभियान के सामने रामाराव का करिश्मा हवा हो गया। तेलगूदेशम् 1985 की अपनी 202 सीटो के मुकाबले सिर्फ 74 सीटें ही ले पाई जबकि इका 50 से बढकर 180 सीटो पर पहुँच गई। रामाराव की सनक भरी कार्यशैली उनके दामादो का राजनीति मे बढता हस्तक्षेप, नियुक्तियो मे कम्मा समर्थक दृष्टिकोण और महिलाओ को 30 प्रतिशत आरक्षण जैसे वादो को भुला देना तेलगूदेशम् को महँगा पडा।

कर्नाटक मे जनता दल को आपसी झगड़े और सरकार की अकर्मण्यता का परिणाम भोगना पडा। जनता दल को मिले 24 स्थानो के मुकाबले इंका को 177 सीटें मिली, भाजपा को 4 और जनता पार्टी को मात्र 2 स्थान मिले। लोगो के मन मे आपसी झगडों मे ही फँसे रहने वाले जनता दल के प्रति इतनी नफरत थी कि उन्होने इका के ऐसे दर्जनो उम्मीदवारो को राजनैतिक जीवनदान दे दिया जिन्हे वे खुद ही रद्दी की टोकरी मे फेक चुके थे।

गोवा विधानसभा के लिए चुनावो मे सत्तारूढ़ इंका और इसकी प्रतिद्वन्द्वी महाराष्ट्रवादी गोमातक पार्टी दोनो ने 40 सदस्यो वाली विधानसभा मे 18-18 सीटे जीतकर विचित्र स्थिति पैदा कर दी। दो सीटो पर चुनाव स्थगित हो जाने से सरकार के गठन का सारा दारोमदार दो निर्दलीय उम्मीदवारो पर टिक गया। राज्यपाल के सामने वहाँ राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करने के सिवा कोई विकल्प नही था।

सिक्किम मे मुख्यमन्त्री नरबहादुर भंडारी के नेतृत्व मे सिक्किम संग्राम परिषद ने विधानसभा की 32 सीटें जीत ली। यह भंडारी की व्यक्तिगत जीत है। भंडारी की सहानुभूति मे पड़े वोटो के कारण सिक्किम विधानसभा विपक्षहीन होकर रह गई है।

विधानसभाओ के चुनाव नतीजो से यह बात शीशे की तरह साफ है कि देश की जनता मे बदलाव की जबरदस्त आकाक्षा थी और सभी सत्तारूढ दलो से उसका मोह भंग हो चुका था।

9 राज्यो की विधानसभाओं और केन्द्र शासित क्षेत्र पाण्डिचेरी की विधानसभा के चुनाव—जनवरी '90 मे मणिपुर विधानसभा के चुनाव हुए और फरवरी '90 मे 8 राज्यो और केन्द्रशासित क्षेत्र पाण्डिचेरी की विधानसभा के चुनाव हुए। इन चुनावों मे मतदाताओ का व्यवहार लगभग वही रहा, जो लोकसभा चुनावो के समय था। इन चुनावो के परिणामस्वरूप महाराष्ट्र और अरुणाचल प्रदेश मे काग्रेस (इ) की सरकार बनी। केन्द्र शासित क्षेत्र पाण्डिचेरी और अन्य राज्यो मे काग्रेस विरोधी दलो की सरकारें बनी। महाराष्ट्र मे मतदाताओ ने 'शिवसेना भाजपा गठबन्धन' को अस्वीकार कर दिया।

मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश मे भाजपा को और उडीसा मे जनता दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ, लेकिन मणिपुर, गुजरात, राजस्थान और बिहार तथा केन्द्र शासित क्षेत्र पाण्डिचेरी में किसी एक राजनीतिक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त न होकर काग्रेस (इ) के विपक्षी दलों ने बहुमत प्राप्त किया। चुनाव परिणामो से स्पष्ट है कि 'मतदाताओ ने किसी एक ही दल को सब तरफ राज करने का मौका न देकर पुन: अपने विवेक का परिचय दिया है।'

विधानसभा चुनावो के परिणाम अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से स्पष्ट है.

मतदान व्यवहार : समीक्षा
(VOTING BEHAVIOUR · AN ANALYSIS)

मतदान व्यवहार का आशय यह है कि मतदाता अपने मताधिकार के प्रयोग मे किन तत्वों से प्रभावित होता है। मतदान व्यवहार मे सर्वप्रथम तो यह अध्ययन किया जाता है कि कौन-से तत्त्व व्यक्ति को मताधिकार का प्रयोग करने के लिए प्रेरित और कौन-से तत्त्व उसे इस सम्बन्ध मे निरुत्साहित करते हैं। द्वितीय स्तर पर इस बात का अध्ययन किया जाता है कि किन तत्त्वों से प्रभावित होकर व्यक्ति एक विशेष उम्मीदवार और एक विशेष राजनीतिक दल के पक्ष मे अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं। इस दृष्टि मे मतदान व्यवहार का अध्ययन चुनाव के पूर्व भी किया जाता है और चुनाव के बाद भी।

मतदान व्यवहार का अध्ययन बीसवीं सदी की ही एक प्रक्रिया है। सर्वप्रथम, **फ्रांस में 1913 में मतदान व्यवहार** का अध्ययन किया गया। इसके बाद अमरीका मे दो विश्वयुद्धो के बीच के काल मे और ब्रिटेन मे महायुद्ध के बाद मतदान व्यवहार का अध्ययन किया गया। भारत मे द्वितीय आम चुनाव के बाद इस प्रकार के अध्ययनो को अपनाया गया और अभी हाल ही के वर्षो मे भारत मे इस विषय पर प्रचुर साहित्य प्रकाशित हुआ है जो आनुभाविक एवं वस्तुनिष्ठ सर्वेक्षण पर आधारित है।

मतदान व्यवहार के अध्ययन में कठिनाइयाँ
(DIFFICULTES IN STUDYING BEHAVIOUR)

मतदान मनोवैज्ञानिक तत्त्वो से प्रेरित एक गूढ राजनीतिक प्रक्रिया है जो अनेक आन्तरिक और बाहरी तत्त्वो से प्रभावित होती है। स्वाभाविक रूप से मतदान व्यवहार के अध्ययन मे अनेक कठिनाइयाँ आती है। **सर्वप्रथम**, एक क्षेत्र का मतदान व्यवहार दूसरे क्षेत्र के मतदान व्यवहार से भिन्न होता है, इसलिए किसी एक क्षेत्र के मतदान व्यवहार के आधार पर इस सम्बन्ध मे किसी प्रकार के सामान्य निष्कर्ष निकालना सम्भव नही होता। विभिन्न क्षेत्रो मे विद्यमान प्रवृत्तियो के लम्बे समय तक अवलोकन के आधार पर ही इस सम्बन्ध मे किन्ही परिणामो पर पहुँचने की आशा की जा सकती है। **द्वितीय**, भारत जैसे विविधता वाले देश में केवल कुछ निश्चित शीर्षको के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश के मतदान व्यवहार का अध्ययन नही किया जा सकता। अत यह कठिनाई आती है कि किन क्षेत्रो का अध्ययन किया जाय और किन शीर्षको के अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाय। इस सम्बन्ध मे **तृतीय**, और सबसे प्रमुख कठिनाई यह है कि जिन व्यक्तियो का साक्षात्कार किया जाता है, उनमे से अनेक अध्ययनकर्त्ता के प्रश्नो का उत्तर नही दे पाते और व्यक्ति उत्तर देने की क्षमता रखते है वे भी जान-बूझकर ठीक-ठीक उत्तर नही देते। उनके मन मे सदैव ही यह शंका रहती है कि साक्षात्कार लेने वाला व्यक्ति या तो शासन का प्रतिनिधि है अथवा किसी विशेष राजनीतिक दल की ओर से उसके द्वारा यह कार्य किया जा रहा है। इन सबके अतिरिक्त साक्षात्कार के अन्तर्गत भाषा की कठिनाई भी सामने आती है।

उपर्युक्त कठिनाइयो या समस्याओं को पूर्ण रूप से दूर किया जाना तो सम्भव नहीं है, आंशिक रूप से ये कठिनाइयाँ तभी दूर हो सकती है जबकि अध्ययनकर्ता सम्बन्धित क्षेत्रो की राजनीति, संस्कृति और आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियो से पूर्णतया परिचित हो और उनके द्वारा लम्बे समय तक किये गये अध्ययन के आधार पर ही निष्कर्ष निकाले जाये। वास्तव मे, मतदान व्यवहार का अध्ययन बहुत समय, धन और श्रम की माँग करता है।

मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले तत्त्व
(FACTORS INFLUENCING VOTING BEHAVIOUR)

सर्वप्रथम, मतदान मे भाग लेने वाले लोगो का अनुपात जनसंख्यात्मक लक्षणो और सामाजिक आर्थिक पद के अनुसार बदलता रहता है। मतदान मे भाग न लेने की प्रवृत्ति स्त्रियो मे

पुरुषों में अधिक, निरक्षरों में साक्षरों से अधिक, कम आय समूह से ज्यादा आय समूह से अधिक तथा सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों में सामाजिक दृष्टि से उन्नत वर्गों की तुलना में अधिक होती है। मतदान में भाग न लेने की प्रवृत्ति उनमें भी अधिक होती है, जिन्हें कम राजनीतिक सूचना प्राप्त है अथवा जिन पर संचार के साधनों और अन्य दबावों का प्रभाव कम है।[1]

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्वों व चतुर्थ आम चुनाव, 1971 के लोकसभा चुनाव और मार्च 1977, जनवरी 1980 तथा दिसम्बर '84 तथा नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों के विश्लेषण में मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले तत्वों की यथास्थान व्यापक विवेचना की गई है, यहाँ पर इन तत्वों की संक्षिप्त विवेचना ही अपेक्षित है। मतदान में भाग लेने वाले व्यक्ति सामान्यतया निम्न तत्वों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं :

(1) **जातिवाद**—जातिवाद मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख तत्त्व रहा है। वैसे तो इस तत्त्व का प्रभाव भारतीय संघ के सभी राज्यों में है, लेकिन फिर भी बिहार, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान और केरल में इस तत्त्व का प्रभाव अधिक है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण और आशावर्द्धक तथ्य यह है कि यदि चुनाव के अन्तर्गत कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न या विशेष समस्या सामने हो, तो फिर जाति के तत्त्व का प्रभाव बहुत कम हो जाता है। 1971 के लोकसभा चुनाव, 1972 के विधानसभा चुनाव, 1977 के लोकसभा चुनावों और दिसम्बर '84 व नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों में यह बात देखी गयी है।

(2) **आर्थिक स्थिति**—व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति भी मतदान व्यवहार को प्रभावित करती है। सामान्यतया यदि व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति अच्छी हो तो मतदाता शासक दल के पक्ष में मतदान करते हैं, अन्यथा शासक दल के विरुद्ध। इसी कारण शासक की दल यह चेष्टा रहती है कि चुनाव **'अच्छी कृषि'** के वर्ष में हो। 1980 के लोकसभा चुनाव में जनता पार्टी की पराजय का एक प्रमुख कारण जनता की आर्थिक कठिनाइयाँ थी, जिनके लिए उन्होंने **जनता पार्टी और जनता 'एस'** को उत्तरदायी माना।

(3) **नेतृत्व**—मतदाता को प्रभावित करने वाला एक बहुत अधिक मुख्य तत्त्व नेतृत्व है और इस तत्त्व के आधार पर भारत के अब तक चुनाव परिणामों की व्याख्या की जा सकती है। प्रथम तीन आम चुनावों में कांग्रेस की विजय का कारण पं. नेहरू का व्यक्तित्व था, चौथे आम चुनाव में कांग्रेस की आंशिक पराजय का कारण यह था कि कांग्रेस के पास पं. नेहरू जैसा कोई व्यक्तित्व नहीं था। 1971 और 1972 के चुनावों में श्रीमती गाँधी ने नेतृत्व के आधार पर विजय प्राप्त की जा सकी और 1977 में कांग्रेस की भारी पराजय का कारण यह था कि श्रीमती गाँधी के व्यक्तित्व की छवि बहुत अधिक धूमिल हो गयी थी। नेतृत्व का प्रश्न चुनाव में कितना अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, यह बात 1980 के लोकसभा चुनावों से पूर्णतया स्पष्ट हो गयी है। दिसम्बर '84 के लोकसभा चुनावों में भी जनता ने नेतृत्व के प्रश्न पर ही मतदान किया। 1989 में कांग्रेस की पराजय का कारण बोफोर्स सौदे में दलाली को लेकर राजीव गाँधी की छवि का धूमिल होना था।

(4) **राजनीतिक स्थिरता और केन्द्र में सुदृढ़ सरकार की आकांक्षा**—भारतीय मतदाता सामान्यतया राजनीतिक स्थिरता और केन्द्र में सुदृढ़ शासन चाहते हैं और 1977 के पूर्व तक उनके द्वारा कांग्रेस को समर्थन प्रदान किये जाने का यह एक प्रमुख कारण रहा है। 1977 में जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि जनता पार्टी स्थायी शासन देने में समर्थ है तभी उनके द्वारा

---

1 See Dr S P. Verma and Iqbal Narain *Voting Behaviour in a Changing Society*.

इस दल को सत्ता प्रदान की गयी। 1980 तथा 1984 के लोकसभा चुनावों मे जनता द्वारा इन्दिरा कांग्रेस को भारी बहुमत प्रदान किये जाने का यह सबसे प्रमुख कारण था।

(5) **दलों की विचारधारा, कार्यक्रम और नीति**—भारतीय मतदाता यद्यपि बहुत अधिक नही, लेकिन कुछ सीमा तक दलो की विचारधारा कार्यक्रम और नीति से भी प्रभावित होते है। इस सम्बन्ध मे उनके द्वारा निषेधात्मक विचारधारा और कार्यक्रम के स्थान पर सकारात्मक विचार-धारा और कार्यक्रम को पसन्द किया जाता है। 1971 के चुनाव मे जनता ने **'गरीबी हटाओ'** के कार्यक्रम को अपना मत दिया था और 1977 मे उन्होने महसूस किया कि जनता पार्टी अन्य बातो के साथ-साथ सकारात्मक आर्थिक कार्यक्रम रख रही है।

(6) **क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति**—भारत के कुछ क्षेत्रो मे क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति भी प्रबल है। पंजाब मे अकाली दल 1967 से 1971 तक, तमिलनाडु मे डी. एम. के. और 1977 के चुनावो मे अन्ना डी एम के. की सफलता इस क्षेत्रवादी प्रवृत्ति का परिचय देती है। प बंगाल और केरल, आदि राज्यो मे कुछ क्षेत्रीय दलो की सफलता का कारण भी यही है।

(7) **भाषाई स्थिति**—भाषा का तत्त्व भी भारत मे मतदान व्यवहार को प्रभावित करता रहा है। 1967 और 1971 के चुनावों मे डी. एम के. ने हिन्दी विरोध के नाम पर समर्थन प्राप्त किया और 1977 के लोकसभा चुनावो मे दक्षिण भारत मे जनता पार्टी की असफलता का एक कारण यह रहा है कि दक्षिण भारत के व्यक्ति अब तक जनता पार्टी की भाषा नीति के सम्बन्ध मे पूर्णतया आश्वस्त नही थे।

(8) **युद्ध में सफलता-असफलता**—युद्ध मे सफलता-असफलता भी मतदान व्यवहार को प्रभावित करती है। 1962 की असफलता का 1967 मे कांग्रेस के भाग्य पर विपरीत प्रभाव पड़ा और 1971 मे युद्ध मे प्राप्त सफलता ने 1972 के विधानसभा चुनावो मे कांग्रेस की सफलता को बहुत सरल कर दिया।

(9) **सामन्तशाही व्यवस्था का प्रभाव**—मतदान व्यवहार पर सामन्तशाही व्यवस्था का प्रभाव भी देखा गया, लेकिन यह प्रभाव क्रमश कम होता जा रहा है।

(10) **स्वतन्त्रता आन्दोलन में कांग्रेस और अन्य दलों की भूमिका**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रथम तीन चुनावो मे इस तत्त्व की भूमिका प्रमुख रही; लेकिन यह क्रमश कम होती गयी और ऐसा होना नितान्त स्वाभाविक भी है।

(11) **आर्थिक साधन**—आर्थिक साधन भी मतदान-व्यवहार को प्रभावित करते है, लेकिन 1977 से चुनावो ने स्पष्ट कर दिया है कि आर्थिक साधन चुनाव को निर्णायक रूप मे प्रभावित नही कर पाते। 1984 के लोकसभा चुनावो तथा 1985 के विधानसभा चुनावो मे आर्थिक साधनो की भूमिका का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

'आन्दोलन की राजनीति' आदि कुछ अन्य तत्त्व भी मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं। चुनाव प्रचार का प्रभाव राजनीतिक दलो और उम्मीदवारो से अप्रतिबद्ध मतदाताओ पर ही पड़ता है। मतदाता अपने मताधिकार के प्रयोग मे इस बात से भी प्रभावित होता है कि जीतता हुआ उम्मीदवार कौन है। वह हारते हुए उम्मीदवार को मत देकर अपने मत को नष्ट नही होने देना चाहता।

1971 के पूर्व तक भारत मे जो चुनाव हुए, उनके अन्तर्गत कुछ क्षेत्रो मे मतदान व्यवहार उम्मीदवार पर आधारित था, लेकिन कुछ क्षेत्रो मे मतदान व्यवहार दल पर आधारित था। इस सम्बन्ध मे यह भी कहा जा रहा है कि ग्रामीण मतदाता उम्मीदवार की दृष्टि मे अधिक विचार करते है, जबकि शहरी मतदाता चुनाव प्रश्नो और दलो पर अधिक ध्यान देते है। लेकिन 1971, 1972 और मार्च 1977, जनवरी '80 और दिसम्बर '84 के लोकसभा चुनावो से स्पष्ट है कि

यदि मतदाता के सामने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न हो तो फिर उनका मतदान व्यवहार उम्मीदवार की दृष्टि से बहुत कम और इन प्रश्नों तथा दल की दृष्टि से अधिक प्रभावित होता है।

1977 के लोकसभा चुनाव और मतदान व्यवहार (1977 Lok Sabha Election and Voting Behaviour)

1977 के लोकसभा चुनावों मे भारतीय जनता का मतदान व्यवहार इससे पूर्व तक के सभी चुनावों मे बहुत अधिक भिन्न रहा। जातिवाद, क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति और सामन्तशाही व्यवस्था जैसे दूषित तत्त्व अपना कोई प्रभाव न डाल सके और इनके स्थान पर चुनावों में विशेष पृष्ठभूमि के कारण कुछ प्रमुख नवीन तत्त्वों का उदय हुआ और ये तत्त्व हैं **भारतीय जनता की लोकतन्त्र को बनाये रखने की इच्छा और आकांक्षा तथा शासन की ज्यादतियों का विरोध।** 1977 के लोकसभा चुनावों का सबसे प्रमुख प्रश्न था **'लोकतन्त्र बनाम तानाशाही'** और कांग्रेस को सत्ता से च्युत कर जनता ने लोकतन्त्र के प्रति अपनी प्रतिबद्धता और आस्था को ही स्पष्ट किया है। जनता ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वह शासक वर्ग की ज्यादतियों के विरुद्ध **'शान्तिपूर्ण विद्रोह'** करने की सामर्थ्य रखती है।

1977 के लोकसभा चुनावों के अन्तर्गत मतदान व्यवहार मे एक प्रशंसनीय प्रवृत्ति देखी गयी। चुनाव के पूर्व शासक दल की राज्य सरकारों के द्वारा संगठित वर्गों को विभिन्न रियायतें देकर उनके मतदान को प्रभावित करने की चेष्टा की गयी। **उत्तरी और पूर्वी क्षेत्रों के 6 राज्यों** (हरियाणा, पंजाब, बिहार, राजस्थान, प. बंगाल और उड़ीसा) द्वारा विशेष तौर पर इस मार्ग को अपनाते हुए **90 करोड़ की रियायतें दी गयीं**[1] और अकेले **उत्तर प्रदेश के द्वारा 103 करोड़ से अधिक की रियायतें मतदाताओं को दी गयी**[2] लेकिन चुनाव परिणाम से नितान्त स्पष्ट है कि मतदान व्यवहार पर रियायतों का प्रभाव नहीं पड़ा। इससे भारतीय मतदाताओं की परिपक्वता और जागरूकता नितान्त स्पष्ट हो जाती है।

1 जनवरी, 1980 के लोकसभा और मई 1980 के विधानसभा चुनाव तथा मतदान व्यवहार (1980 Elections and Voting Behaviour)

जनवरी 1980 के लोकसभा चुनाव की विशेषता यह थी कि चुनाव से पूर्व ही विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा अपने नेता घोषित कर दिये गये थे। इस प्रकार से चुनाव तीन व्यक्तियों के बीच संघर्ष था और ये तीन व्यक्ति थे श्रीमती गाँधी, श्री जगजीवनराम और श्री चरणसिंह। जनता के द्वारा इनमें से सर्वाधिक चतुर, सर्वाधिक जागरूक और सर्वाधिक साहसी नेता श्रीमती गांधी को प्रधानमन्त्री पद प्राप्त करने का अवसर दिया गया।

1977 के चुनाव परिणामों को जनता पार्टी द्वारा गलत रूप से ग्रहण किया गया था। जनता पार्टी सरकार के नेतृत्व वर्ग ने यह सोचा कि जनता ने एक शक्तिशाली सरकार को अस्वीकार कर दिया है जबकि जनता ने एक शक्तिशाली शासन को नहीं, वरन् संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण करने वाले शासन को अस्वीकार किया था। जनता पार्टी सरकार के द्वारा जिस निर्बलता और दिशाहीनता का परिचय दिया गया, जनता उससे असन्तुष्ट थी और 1980 में जनता ने अपनी उस असन्तुष्टि का ही परिचय दिया। जनता पार्टी मे जो अनुशासनहीनता, घटकवाद और तीव्र गुटबन्दी देखी गयी थी, जनता उसे अवांछनीय मानते हुए तत्कालीन शासक दल को एक सबक देना चाहती थी और उसने ऐसा ही किया।

इन चुनावों में जातिवाद की प्रवृत्ति प. उत्तर प्रदेश और हरियाणा के जाटों और बिहार मे ही देखी गयी। अनुसूचित जातियों और अल्पसंख्यकों के द्वारा इन्दिरा कांग्रेस को भारी समर्थन प्रदान किया गया।

---

1 *Indian Express*, 17 March, 1977

2 *Indian Express*, 14 March, 1977.

भारतीय जनता शासक वर्ग को अपने हित मे कार्य करने का पूरा अवसर देना चाहती है, इसी कारण जब केन्द्र के शासक दल द्वारा राज्यों मे केन्द्र के साथ सहयोग करने वाली सरकारों को सत्तारूढ़ करने की माँग की गयी, तब जनता ने उसे स्वीकार करते हुए राज्यो का शासन भी केन्द्र के शासक दल को सौप दिया।

लोकसभा चुनाव (दिसम्बर '84), विधानसभा चुनाव (मार्च '85) और मतदान व्यवहार

आठवी लोकसभा के चुनाव मे जनता के मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले तत्त्व थे : देश की एकता और अखण्डता के प्रति जनता की तीव्र इच्छा, राजीव गाँधी के प्रति आशाएँ-आकांक्षाएँ, राजीव और इन्दिरा कांग्रेस के प्रति सहानुभूति और अनेक गुटों मे कटे-बँटे विपक्ष के प्रति जनता की घोर निराशा। वस्तुतः यह 'राजीव गाँधी के पक्ष मे ऐसा मतदान था, जिसमे जाति, धर्म और राजनीतिक निष्ठा आदि के समीकरण उड गये। चुनाव परिणामो से पूर्णतया स्पष्ट है कि हिन्दी-भाषी राज्यो मे जातिवाद का समीकरण नाकाम रहा।'[1]

मार्च '85 के विधानसभा चुनावों मे जनता ने इंका की इस अपील को स्वीकार कर दिया कि 'राज्य स्तर पर उसी राजनीतिक दल की सरकार होनी चाहिए जिसका केन्द्र की शासन शक्ति पर अधिकार है।' 'निर्वाचको ने विधानसभा चुनावो मे अपने मताधिकार का प्रयोग राज्य स्तर पर विविध राजनीतिक दलो के नेतृत्व, उनके कार्य और राज्य की स्थिति, स्थानीय मुद्दे और उम्मीदवार की मतदाताओ के बीच छवि आदि के आधार पर किया।'[2] जिन राज्यों मे विपक्षी दल इन्दिरा कांग्रेस का विकल्प प्रदान करने की स्थिति मे थे, जनता ने उन्हे (आन्ध्र मे तेलगूदेशम्, कर्नाटक मे जनता पार्टी और सिक्किम मे सिक्किम सग्राम परिषद) अपना विश्वास सौंपा।

नवीं लोकसभा के चुनाव (नवम्बर '89), **विधानसभा चुनाव (फरवरी '90) और मतदान व्यवहार**—नवी लोकसभा के चुनाव मे जनता के मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले तत्त्व थे : बोफोर्स काण्ड-भ्रष्टाचार के अन्य आरोप और राजीव गाँधी की धूमिल छवि, राष्ट्रीय कांग्रेस के विकल्प की विद्यमानता, कांग्रेस के परम्परागत वोट बैंक मे दरार, राजीव सरकार की प्रशासनिक असफलताएँ, महँगाई और असफल आर्थिक नीतियाँ, हिन्दुत्व की लहर और विद्यार्थी तथा युवा वर्ग मे असन्तोष आदि। मतदान परिणामों मे स्पष्ट है कि यह **'परिवर्तन की ऐसी लहर'** थी जिसमे धर्म के तत्त्व का प्रभाव तो था, लेकिन जातिवादी समीकरण नाकाम रहे। परिवर्तन की इस लहर से केवल प. बंगाल राज्य ही अछूता रहा।

इन चुनावो मे **'सामन्तवाद के प्रभाव में कमी'** देखी गई। रीवा मे रीवा के महाराजा मार्तण्ड सिंह की धर्मपत्नी की पराजय और जयपुर मे भवानीसिंह की पराजय इसके प्रमाण है। दुःखद और चिन्ताजनक तथ्य यह है कि चुनाव अभियान मे बन्दूक खतरनाक सीमा तक हावी रही। संजय सिंह और स्वय वी पी. सिंह पर गोलियाँ चलना इस प्रसंग मे स्थिति की गम्भीरता को प्रकट करता है।

फरवरी '90 के विधानसभा चुनावो के परिणाम उसी रूप मे सामने आये, जिस रूप मे सभावित थे। सभी राज्यो मे लोकसभा चुनावो के मतदान व्यवहार को लगभग दोहराया गया। महाराष्ट्र मे जनता ने 'शिवसेना-भाजपा गठबंधन' को अस्वीकार कर 'इन्दिरा कांग्रेस' को पुनः

---

1 'हिन्दी भाषी राज्य जहाँ जातिवाद का समीकरण नाकाम रहा', महेश्वर दयालु गंगवार, **दिनमान**, 6-12 जनवरी, 1985, पृ. 13।

2 **दिनमान**, 10-16 मार्च, '85 पृ. 27।

सरकार बनाने का अवसर दिया। इसे राज्य स्तर पर शरद पवार के नेतृत्व को बनाये रखने की इच्छा कहा जा सकता है।

भारतीय मतदाता की जागरूकता
(CONSCIOUSNESS OF THE INDIAN VOTERS)

भारतीय मतदाता के सम्बन्ध मे अनेक पक्षो द्वारा अब तक यह समझा जाता रहा है कि यह अपनी अशिक्षा, निर्धनता और अनेक कारणो से अपने मताधिकार का उचित प्रयोग करने मे असमर्थ रहा है। लेकिन वस्तुत ऐसा मत केवल वे ही व्यक्त कर सकते हैं जिन्हे भारतीय जनता के मन और मस्तिष्क की मात्र सतही जानकारी है और जिन्होंने भारत में मतदान व्यवहार का व्यापक अध्ययन नही किया है। अपनी समस्त अशिक्षा और निर्धनता के बावजूद भारतीय जनता का मतदान ठोस विवेक पर आधारित रहा है।

स्वतन्त्रता आन्दोलन में कांग्रेस ने प्रमुख भूमिका निभायी थी और प्रथम तीन आम चुनावो तक जनता ने यह सोचा कि प. नेहरू जैसा नेतृत्व ही आर्थिक और सामाजिक प्रगति का कार्य अधिक अच्छे प्रकार से कर सकेगा। लेकिन जब स्वतन्त्रता प्राप्ति के लगभग 20 वर्ष बाद तक भी कांग्रेस इस कार्य में असफल रही ही तो जनता ने कम से कम राज्यों के स्तर पर विरोधी दलों को एक अवसर देने की बात सोची। लेकिन जब विरोधी दल राज्य स्तर पर ही राजनीतिक स्थायित्व और कार्यकुशल शासन देने मे असमर्थ रहे और कांग्रेस के विभाजन के बाद श्रीमती गांधी के नेतृत्व वाली नयी कांग्रेस ने उनमे नवीन आशाएँ पैदा की, तो उन्होने 1971 और 1972 के चुनाव मे नयी कांग्रेस को भारी समर्थन प्रदान किया। लेकिन जब कांग्रेस एक तरफ तो गरीबी हटाने मे नितान्त असफल रही और दूसरी तरफ उसने मनमाने शासन की प्रवृत्ति को अपनाया, तब जनता ने भी कांग्रेस और श्रीमती गांधी को सबक सिखाने की बात सोची। इन चुनावो के बाद विश्व के विभिन्न समाचार-पत्रो और राजनीतिज्ञो द्वारा भारतीय जनता की राजनीतिक जागरूकता की प्रशंसा की गयी।

1977 मे जनता ने बहुत अधिक आशाओ, आकाक्षाओ के साथ जनता पार्टी को शासन सौंपा था, लेकिन जनता सरकार अपनी एकता और क्षमता का परिचय नही दे पायी। जनता पार्टी मे अनुशासनहीनता, घटकवाद और तीव्र गुटबन्दी को देखते हुए जनता ने सोचा कि ऐसे विभक्त समूह को पुन शासन सौंपना राजनीतिक स्थायित्व और देश के हित मे नही होगा, अत जनता द्वारा पुन. सत्ता परिवर्तन किया गया। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय जनता के निर्णय को सही रूप मे समझा जाय। भारतीय जनता न तो अधिनायकवादी शासन की समर्थक है और न ही दिशाविहीन शासन की पक्षधर। जनादेश यह है कि शासक वर्ग सवैधानिक सीमाओ मे रहते हुए एक शक्तिशाली और कार्यकुशल शासन प्रदान करे। जनादेश की अवहेलना करने वाले शासक वर्ग को जनता द्वारा दो बार सबक दिया जा चुका है और भविष्य मे भी जनता के हितों की अवहेलना करने वाले किसी भी शासक वर्ग को जनता से वही प्राप्त होगा, 1977 ई. मे कांग्रेस को और 1980 ई. मे जनता पार्टी को प्राप्त हो चुका है। 1980 के बाद भारतीय मतदाता का रुझान 'क्षेत्रीय दलो' की तरफ बढता जा रहा है। आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक विधानसभा के चुनाव (1985) इस प्रवृत्ति का संकेत करते है।

आठवी लोकसभा के चुनाव (दिसम्बर '84 और मार्च '85 के विधानसभा चुनावो) मे मतदाता की जागरूकता इस तथ्य से स्पष्ट है कि मतदाता ने लोकसभा के मत-पत्र और विधानसभा के मत-पत्र का प्रयोग अलग-अलग आधार पर विचार करते हुए किया। मतदाता की जागरूकता का प्रमाण यह है कि वह आठवी लोकसभा के चुनाव में कर्नाटक राज्य मे 28 मे से 24 स्थानो पर इका उम्मीदवारो को विजयी बनाता है, लेकिन दो महीने बाद होने वाले विधानसभा चुनावो

मे उसी दल को एक-तिहाई स्थान भी नही (224 मे से केवल 66) देता।[1] इसी प्रकार 25 सितम्वर '85 को सम्पन्न पंजाब राज्य से लोकसभा और विधानसभा चुनावो में मतदाताओ ने 13 लोकसभा स्थानो में से 7 पर अकाली दल उम्मीदवारो और 6 पर इंका उम्मीदवारो को विजयी वनाया, लेकिन राज्य विधानसभा के 115 स्थानो में से अकाली दल को 73 और इका को केवल 31 स्थान दिये। इस प्रकार काफी वडी संख्या मे ऐसे मतदाता थे, जिन्होने लोकसभा का मत इंका को और विधानसभा का मत अकाली दल को दिया। यह स्थिति निश्चित रूप से मतदाता की जागरूकता की ही परिचायक है।[2] पंजाव चुनाव (सितम्वर 1985) मे 60 प्रतिशत से अधिक मतदान भी जनता की जागरूकता ही कहना होगा। जून 1987 मे हरियाणा में जहाँ लोकदल (व) को 87 मे से 58 स्थान प्राप्त होते हैं वहाँ इका को मात्र 5 सीटें। नवम्वर 1987 मे नागालैण्ड विधानसभा के चुनावो मे इंका को 60 मे से 34 सीटे प्राप्त हुईं वहाँ एन. एन. डी. पी. को 18 सीटें ही प्राप्त हुईं। नागालैण्ड के मतदाता का रुझान क्षेत्रवाद के वजाय राष्ट्रीय दल के समर्थन का रहा है।

नवीं लोकसभा के चुनावो और फरवरी'90 के विधानसभा चुनावो मे जनता ने निश्चित रूप से **'राजनीतिक जागरूकता और परिपक्वता'** का परिचय दिया।

---

1 दिनमान, 10-16 मार्च, 1985, पृ. 27।

2 *The Times of India*, 28 Sept, 85, p. 1.

37

भारत में चुनाव सुधार : कतिपय सुधार

[ELECTORAL REFORMS IN INDIA : SUGGESTIONS]

भारत मे अब तक लगभग 9 आम चुनाव हो चुके हैं। ये सभी चुनाव सामान्यतया शान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुए हैं, लेकिन इसके साथ ही चुनाव पद्धति और चुनावो मे कुछ ऐसी बातें देखने मे आयी हैं, जिन्होने जनता की चुनावों मे आस्था को कम किया है अथवा यदि उन्हें समय रहते नियन्त्रित नही किया गया, तो वे कालान्तर मे चुनावो के प्रति आस्था को आघात पहुँचा सकती हैं। चुनावो मे काले धन, हिंसा, मतदान केन्द्रो पर कब्जा करने की प्रवृत्तियाँ निरन्तर बढ़ रही हैं। डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के अनुसार, "हमारे संविधान ने आधुनिक उदारवादी दर्शन के सार तत्त्व सार्वभौम वयस्क मताधिकार को अपनाया है परन्तु उसके पूरे अर्थ का अभी उद्घाटन होना है; अभी उसे न्याय, स्वतन्त्रता तथा क्षमता के उदात्त लक्ष्यो की सिद्धि का शासन बनाना शेष है। यदि हमें इस महत् तथा भव्य आदर्श को यथार्थ के धरातल पर लाना है, तो हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपने निर्वाचन-प्रक्रमो के वास्तविक स्वरूप तथा त्रुटियो एवं विकृतियो का परिचय प्राप्त करें और उसकी शुद्धता की रक्षा के लिए लिए अथक प्रयास करें।"

चुनावो मे सम्बन्धित व्याधियो की विवेचना और चुनाव सुधार का विषय पिछले कुछ वर्षों से संसद और देश के प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान आकर्षित करता रहा है। अनेक पक्षों द्वारा इस सम्बन्ध मे सिफारिशें प्रस्तुत की गयी हैं, इनमे से अधिक महत्त्वपूर्ण पक्षो की सिफारिशों का अध्ययन अपना महत्त्व रखता है।

चुनाव सुधार के प्रश्न पर विचार और अध्ययन करने के लिए 'सिटिजन फॉर डेमोक्रेसी' (Citizens for Democracy) नामक संगठन की ओर से श्री जयप्रकाश नारायण ने एक समिति का गठन किया था। महाराष्ट्र उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश और प्रसिद्ध रेडिकल ह्यूमनिष्ट श्री वी. एम. तारकुंडे इसके अध्यक्ष थे। समिति को कहा गया था कि वह देश के निर्वाचन कानून मे निहित दोषो को दूर करने के उपाय खोजे। उसका प्रतिवेदन छप चुका है। सुधारो के सम्बन्ध मे कुछ अन्य योजनाएँ भी हैं। यहाँ हम इन सबका संक्षिप्त विवरण देंगे।

'तारकुंडे समिति' की सिफारिशें—'तारकुंडे समिति' का मूल लक्ष्य था स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनावो मे बाधक धन की सत्ता और सत्ताधारी दल द्वारा सरकारी साधनो एवं प्रशासकीय व्यवस्था के दुरुपयोग पर प्रतिबन्ध लगाने, निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता की व्यवस्था करने और चुनाव याचिकाओ की सुनवाई मे होने वाले असाधारण विलम्ब को रोकने के लिए रीति-नीति की खोज करना उसकी सिफारिशें हैं :

(1) मताधिकार 21 वर्ष के बजाय 18 वर्ष की आयु में ही दे दिया जाय।

(2) आय के स्रोतो का उल्लेख तथा आय-व्यय का पूरा हिसाब लिखना समस्त राजनीतिक दलो के लिए अनिवार्य कर दिया जाये और निर्वाचन आयोग इसकी जाँच कराये। उम्मीदवारो के चुनाव-खर्च के हिसाब की जाँच करायी जाये। राजनीतिक दलों द्वारा उम्मीदवारो पर किया जाने वाला खर्च उम्मीदवारो के हिसाब मे जोड़ा जाये तथा चुनाव खर्च की वर्तमान सीमा को दुगना कर दिया जाये।

(3) प्रत्येक उम्मीदवार को सरकार की ओर से छपे हुए मतदान-कार्ड नि शुल्क दिये जायें तथा प्रत्येक मतदाता के नाम का कार्ड विना टिकिट लगाये डाक से भेजने की छूट दी जाये। इसके अलावा प्रत्येक उम्मीदवार को छूट हो कि वह अपने निर्वाचन-क्षेत्र के प्रत्येक मतदाता के नाम 50 ग्राम तक प्रचार सामग्री डाक से नि शुल्क भेज सके। निर्वाचन-क्षेत्र के मतदाताओ की सूचियो की 12 प्रतियाँ प्रत्येक उम्मीदवार को सरकार की ओर से नि.शुल्क दी जायें।

(4) जो लोग राजनीतिक दलो को वर्ष मे एक हजार रुपया दान दें, उन्हे इस राशि पर आय-कर की छूट दी जाये तथा कम्पनियो पर यह प्रतिबन्ध जारी रखा जाये कि वे राजनीतिक दलो को दान नही दे सकती। कम्पनियों द्वारा विज्ञापनो के रूप मे राजनीतिक दलो को दी जाने वाली सहायता पर भी पाबन्दी लगायी जाये।

(5) लोकसभा अथवा विधानसभा के विघटन और नये चुनावो की घोषणा के समय के बाद से सरकार कामचलाऊ सरकार की तरह काम करे। वह न नयी नीतियो की घोषणा करे, न उन्हे लागू करे, न नयी परियोजनाएँ चालू करे, न उनका वादा करे, न नये ऋण अथवा भत्ते दे, और न वेतन वृद्धि की घोषणा करे, तथा ऐसे सरकारी समारोह आयोजित न करे, जिनमे मन्त्री, राज्य-मन्त्री, उपमन्त्री अथवा संसदीय सचिव भाग लें।

(6) चुनाव के दौरान मन्त्रिमण्डल के सदस्य सरकारी खर्च पर यात्रा न करें। सरकारी सवारी और विमान प्रयोग मे न लायें, उनकी सभाओ के लिए सरकारी विभाग मंच न बनाये और उनके दौरो के समय सरकारी कर्मचारी तैनात न किये जायें।

(7) जमानत की रकम लोकसभा के उम्मीदवारो के लिए 500 से बढाकर 2,000 रुपये और विधानसभाओ के उम्मीदवारो के लिए 200 से बढाकर 1,000 रुपये कर दी जाये।

(8) आकाशवाणी के सम्बन्ध मे 'चन्दा समिति' की रिपोर्ट पर अमल किया जाये तथा आकाशवाणी को निगम का रूप दिया जाये। जिस तरह ब्रिटेन मे बी. बी. सी. पर राजनीतिक दलो को पिछले चुनावो मे प्राप्त मतो के अनुपात में प्रचार का समय दिया जाता है, उसी प्रकार भारत में भी उन्हे रेडियो और टेलीविजन पर समय दिया जाये।

(9) राज्यो मे निर्वाचन आयोग स्थापित किये जायें, केन्द्रीय निर्वाचन आयोग मे एक के बजाय तीन सदस्य हो तथा उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति केवल प्रधानमन्त्री के परामर्श पर नही, अपितु तीन व्यक्तियो की एक समिति की सिफारिश पर करे। इस समिति में प्रधानमन्त्री, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा लोकसभा मे विरोध पक्ष का नेता अथवा विरोध पक्ष का प्रतिनिधि हो।

(10) निर्वाचन आयोग की सहायता के लिए केन्द्र और राज्यो मे निर्वाचन परिषदें बनायी जायें, जो उसे सलाह दे। इन परिषदो मे विभिन्न राजनीतिक दलो के प्रतिनिधि हो। इनके अलावा 'मतदाता परिषदें' भी बनायी जायँ, जो निर्वाचन के समय होने वाली बुराइयो पर निगाह रखें तथा निर्वाचकों की निष्पक्षता की रक्षा करें।

'तारकुंडे समिति' ने कुछ विवादास्पद मुद्दो पर स्पष्ट राय नही दी है। समिति ने लोक निर्णय और विधानसभा के सदस्यों के प्रत्यावर्तन (रिकॉल) की माँग तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व एवं-

सूची-प्रणाली को भी व्यावहारिक नहीं माना और यह कहकर ५... विवादास्पद विषय है, जिस पर राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा एव चिन्तन की

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का प्रस्ताव—कम्युनिस्ट पार्टी ने ि संशोधनो की माँग की है। उसने कहा है कि देश मे आनुपातिक ..नि प्रणाली लागू की जाय, निर्वाचन आयोग में तीन सदस्य हो और तिहाई बहुमत से करे तथा उनमे से कोई भी सदस्य प्रकाशकीय सेवाओ न हो।

जनसंघ का सुझाव—चुनाव प्रणाली के सम्बन्ध मे जनसंघ दल की साम्यवादी दल के एकदम समान थी। उसने भी आनुपातिक प्रतिनिधित्व का समर्थन किया।

अन्ना-द्रमुक का सुझाव—अन्ना-द्रमुक के सुझावो में कहा गया है कि वर्तन (रिकॉल) का अधिकार दिया जाये, आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली धिकार की आयु घटाकर 18 वर्ष कर दी जाये, मतदाताओ को मतदान-केन्द्र लिए कारो या अन्य सवारियो के उपयोग पर पूरी तरह प्रतिबन्ध लगा दिया ज महीने पहले सरकारो का कार्यकाल समाप्त कर दिया जाये तथा इस बीच श राष्ट्रपति और राज्यपाल सँभालें तथा चुनावो के दौरान उम्मीदवारो द्वारा लगाये विज्ञापनो का पूरा खर्च सरकार उठाये।

आठ-दलीय स्मरण-पत्र—22 अप्रैल, 1975 को प्रधानमन्त्री के साथ चच राजनीतिक दलो की ओर से सरकार को एक संयुक्त स्मरण-पत्र दिया गया, जिसमे

(1) विशेषज्ञो की एक ऐसी समिति नियुक्त की जाये, जो वर्तमान निव ऐसा विकल्प तलाशे जिससे जनता की इच्छा चुनाव-परिणामो मे अधिक ॥ 'प्रतिबिम्बित' हो सके।

(2) मताधिकार प्राप्ति की आयु 21 के बजाय 18 वर्ष मानी जाये।

(3) आम निर्वाचनो के बीच उठने वाले सार्वजनिक प्रश्नो पर सविधान मे (रेफरेण्डम) की व्यवस्था की जाये।

(4) प्रतिनिधियो के प्रत्यावर्तन का सिद्धान्त अच्छा है, लेकिन एक सर्वदलीय कर उसे इस बारे मे सिफारिश करने का काम सौंपा जाये।

(5) निर्वाचन आयोग बहु-सदस्यीय हो तथा उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति तीन चयन समिति की सिफारिश के आधार पर करे, इस समिति मे प्रधानमन्त्री, भारत के मु धीश और विरोधी दल का नेता या प्रतिनिधि हो।

(6) मुख्य निर्वाचन आयुक्त राज्यो अथवा क्षेत्रो के लिए स्थायी निर्वाचन करे।

(7) चुनावो मे गड़बड की शिकायतों की जाँच के लिए केन्द्र और राज्यों में प्रतिनिधियो और प्रमुख निर्दलीय व्यक्तियो की निर्वाचन परिषदें कायम की जायें और उन्हें स्तर दिया जाये।

(8) आकाशवाणी और टेलीविज़न को निगम का रूप दिया जाये और उन सभी नीतिक दलो को प्रचार के लिए बराबर समय दिया जाये।

(9) देश-भर मे एक दिन मे ही चुनाव कराया जाये, हर मतदान-केन्द्र पर केवल एक पेटी हो और मतगणना केन्द्र-वार हो।

संयुक्त संसदीय समिति के सुझाव—सन् 1972 मे संसद की एक संयुक्त समिति ने तीन प्रमुख सुझाव दिये थे—(1) निर्वाचन-प्रणाली मे बुनियादी परिवर्तनो के बारे मे सुझाव देने के लिए एक विशेषज्ञ समिति का गठन हो, (2) बहु-सदस्यीय निर्वाचन आयोग की स्थापना हो, तथा (3) आकाशवाणी पर चुनाव-प्रचार के लिए समस्त राजनीतिक दलो को समान मात्रा मे समय दिया जाये।

तत्कालीन मुख्य चुनाव आयुक्त श्यामलाल शकधर ने 9 जुलाई, 1981 को देश की चुनाव व्यवस्था मे आधारभूत परिवर्तनों का सुझाव दिया। इन दोनो आधारभूत परिवर्तनो के अन्तर्गत मतदाताओ को परिचय पत्र दिये जायेंगे तथा चुनावो का खर्च राज्य वहन करेंगे। यह दोनो सुधार लम्बे समय तक विचार करने के बाद वित्त मन्त्रालय के समक्ष प्रस्तुत किये गये।

1983-84 मे मुख्य चुनाव आयुक्त श्री आर के. त्रिवेदी ने चुनाव व्यवस्था की प्रमुख रूप से ये कमियाँ बतलायी थी : प्रथम, चुनावो मे धन की बढ़ती हुई शक्ति, द्वितीय, फर्जी मतदाता और तृतीय, चुनावो मे बाहुबल की शक्ति का प्रयोग तथा मतदान केन्द्रो पर कब्जा।

विविध पक्षों द्वारा किये गये उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर चुनाव व्यवस्था की गम्भीर त्रुटियो और उन त्रुटियो के उपचार का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

1. राजनीतिक दलो को प्राप्त जन समर्थन और स्थानों के अनुपात में गम्भीर अन्तर (Serious Disparity between Peoples's Support to Political Parties and Number of Seats Gained)—भारत मे साधारण बहुमत की जो निर्वाचन पद्धति अपनायी गयी है, उसके अन्तर्गत प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से वह उम्मीदवार निर्वाचित घोषित होता है जिसे सबसे अधिक मत मिले हों, चाहे विरोधी अथवा पराजित उम्मीदवारो को मिले मतो का योग उसे प्राप्त मतो से कितना ही अधिक हो। इसके परिणामस्वरूप बहुधा उस दल की सरकार बनाने का अवसर मिल जाता है जिसे देश के बहुमत का समर्थन प्राप्त नही है और छोटे दलो को उन्हे प्राप्त जन समर्थन की तुलना में बहुत ही कम स्थान प्राप्त होते हैं। महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि कांग्रेस जिसने प्रथम तीन आम चुनावो मे 70 प्रतिशत से अधिक, चतुर्थ आम चुनाव में 54 प्रतिशत, 1971 मे 68 प्रतिशत और 1980 मे लगभग 64 प्रतिशत स्थान प्राप्त किये, वह इनमे से किसी भी चुनाव मे 50 प्रतिशत मत प्राप्त नही कर सकी थी। 1980 के लोकसभा चुनावो मे एक विसंगति इस रूप में देखी गयी कि जनता पार्टी ने मतदाताओ के 18·94 प्रतिशत और जनता 'एस' (लोकदल) ने 9·43 प्रतिशत मत प्राप्त किये, लेकिन जनता 'एस' (भारतीय लोकदल) को जनता पार्टी की तुलना मे 10 स्थान अधिक प्राप्त हुए।

1984 मे सम्पन्न आठवी लोकसभा के चुनावो मे विभिन्न दलो को प्राप्त मतों के प्रतिशत और उन्हे प्राप्त स्थानो से भी यह बात नितान्त स्पष्ट है :

राजनीतिक दल	प्राप्त मत प्रतिशत	लोकसभा में प्राप्त स्थान
	51·90 डी सी. एम. कम्प्यूटर वि.	
इन्दिरा कांग्रेस	49·3 (इण्डिया टुडे)	401
जनता पार्टी	7·03	10
भारतीय जनता पार्टी	7·71	2
दलित मजदूर किसान पार्टी	5·91	3
तेलगूदेशम्	4 41	28
मार्क्सवादी दल	5·80	22
अन्ना डी. एम के.	1·72	12

लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत इस स्थिति को न्यायपूर्ण नही कहा जा सकता। अतः निर्वाचन प्रणाली की इस असगति को दूर करने के लिए कुछ क्षेत्रों से यह सुझाव दिया जाता है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाया जाना चाहिए। कुछ वर्ष पूर्व जनसंघ ने इस समस्या का अध्ययन करने के लिए एक समिति नियुक्त की थी, उस समिति ने सुझाव दिया कि देश में चुनावो के लिए **आनुपातिक प्रतिनिधित्व की 'सूची प्रणाली'** (List System) को अपनाया जाना चाहिए, जिसमे प्रत्येक राजनीतिक दल को उसे प्राप्त जन समर्थन के आधार पर विधानमण्डल मे स्थान प्राप्त हो सके। जनसंघ के पूर्व भारतीय साम्यवादी दल के द्वारा भी इसी प्रकार का सुझाव दिया गया था।

परन्तु उपर्युक्त सुझाव को स्वीकार करने मे अनेक कठिनाइयाँ हैं। सूची प्रणाली या आनुपातिक प्रतिनिधित्व का अन्य कोई रूप एक जटिल पद्धति है और भारतीय मतदाता इसका उचित रूप मे प्रयोग कर सकें, इसमे निश्चित रूप से सन्देह है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय मे भी चुनाव आयोग के पास कुल मिलाकर 50 से अधिक राजनीतिक दलो का पंजीकरण हो चुका है, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के किसी भी रूप को अपनाने पर छोटे-छोटे राजनीतिक दलो में और अधिक वृद्धि होगी, जिसका परिणाम राजनीतिक अस्थिरता हो सकता है।

वस्तुत: उपर्युक्त त्रुटि का उपचार चुनाव प्रणाली में कोई परिवर्तन नही वरन् राजनीतिक दलो की सुसंगत व्यवस्था को अपनाकर **'राजनीतिक ध्रुवीकरण'** (Political Polarisation) की अर्थात् विचारधारा पर आधारित दो प्रमुख राजनीतिक दलो के अस्तित्व की दिशा मे आगे बढना है। वर्तमान समय मे चुनाव आयोग राष्ट्रीय तथा राज्य स्तर पर उन दलो को मान्यता देता है, जिन्हे मतो का एक निश्चित प्रतिशत प्राप्त होता है। किन्तु मान्यता न प्राप्त होने वाले राजनीतिक दलो के चुनाव लड़ने पर कोई प्रतिबन्ध नही है और इस कारण मान्यता प्राप्त होने या न होने से कोई अन्तर नही पडता। व्यवहार मे प्रत्येक चुनाव के बाद राजनीतिक दलो की संख्या बढ़ती जा रही है। **डॉ. जे. डी सेठी** लिखते हैं, "भारत मे जिन सुधारो की आवश्यकता है वे ये हैं कि निर्वाचन विधि तुरन्त ही यह उपबन्धित करे कि प्रत्येक उम्मीदवार के लिए दलीय उम्मीदवार होना आवश्यक हो और सम्बन्धित दल का पंजीकरण आम चुनाव के कम से कम एक वर्ष पूर्व कराया जावे। यदि किसी दल को कुल दिये गये मतो का एक न्यूनतम निर्धारित प्रतिशत—कह लीजिए लोकसभा मे तीन प्रतिशत और राज्य विधानसभा मे पाँच प्रतिशत—प्राप्त नही हो, तो उस दल के प्रतिनिधित्व का अधिकार समाप्त हो जाना चाहिए।" यह कदम छोटे दलो को उनसे मिलते-जुलते बडे दलो मे मिलने के लिए प्रेरित करेगा और इससे राजनीतिक दलो की संख्या को कम करने मे मदद मिलेगी।

2. **चुनावों में धन की बढ़ती हुई भूमिका** (The Increasing Role of Money in the Elections)—चुनावो मे एक अत्यधिक गम्भीर दोष चुनावो मे धन की बढ़ती हुई भूमिका के रूप मे सामने आया है। हमारे कानून निर्माता इस दोष के प्रति सचेत थे और इसी कारण उनके द्वारा चुनाव मे उम्मीदवार द्वारा किये जाने वाले व्यय की सीमा निश्चित की गयी है। 1979 के मध्य तक अधिकांश राज्यो मे लोकसभा चुनाव में खर्च किये जाने वाले व्यय की सीमा 35 हजार रुपये थी। वास्तविक व्यय को देखते हुए व्यय सीमा नितान्त अवास्तविक थी। व्यय की इस सीमा को बढाने की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, अत 1980 मे इसे बढाकर अधिकाश राज्यो मे एक लाख किया गया। 1984 मे चुनाव खर्च की सीमा को पुन बढाया गया। अब स्थिति अग्र प्रकार है .

लोकसभा चुनाव के लिए[1]

	रु.
आन्ध्र, विहार, हरियाणा, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, उडीसा पजाव राजस्थान, तमिलनाडु, उ. प्र. व प. वगाल	1·50 लाख
असम, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर और मध्य प्रदेश	1·30 लाख
मणिपुर, नागालैण्ड, त्रिपुरा और दिल्ली क्षेत्र	1·00 लाख
मेघालय और पाण्डिचेरी	70 हजार
सिक्किम, अण्डमान निकोवार, चण्डीगढ, गोआ, मिजोरम व अरुणाचल प्रदेश दमण, द्वीव और लक्षद्वीप	50 हजार

विधानसभा चुनावो के लिए खर्च की सीमा अधिकाश राज्यो मे 30 हजार से 50 हजार तक है । निर्वाचन में भाग लेने वाले उम्मीदवार के लिए आवश्यक है कि वह निर्वाचन परिणाम की घोषणा के 30 दिन के भीतर निर्वाचन व्यय का हिसाव सम्बद्ध अधिकारी के पास प्रस्तुत कर दे ।

कानून मे यह सीमा विद्यमान है, लेकिन व्यावहारिक रूप मे राज्यो मे इसका कोई अस्तित्व नही है । वास्तविक रूप में चुनावो के अन्तर्गत खर्च किये जाने वाले धन की मात्रा के सम्बन्ध मे तत्कालीन ससद सदस्य कृष्णकान्त लिखते हैं, "लोकसभा सदस्य को अपने चुनाव मे ईमानदारी के साथ 3 से 4 लाख रुपये खर्च करना पड़ता है । औसतन 65 करोड़ रुपया लोकसभा के चुनावों पर खर्च होता है और लगभग 135 करोड़ रुपया विधानसभा चुनावो पर ।"[2] श्री कृष्णकान्त द्वारा यह वात 1974 मे कही गयी थी, आज 1989-90 मे तो उस समय की तुलना मे चुनाव व्यय निश्चित रूप से वहुत अधिक वढ गया है । चुनाव कार्य से परिचित व्यक्ति वतलाते है कि अव तो लोकसभा चुनाव मे औसतन 25 से 50 लाख रुपया खर्च करना होता है इसके अन्तर्गत भ्रष्ट उपायो के रूप मे खर्च की जाने वाली राशि सम्मिलित नही है । सार्वजनिक जीवन मे दखल रखने वाले विश्वसनीय सूत्र वतलाते है कि कुछ उदाहरणो मे लोकसभा उम्मीदवार ने अपने चुनाव अभियान मे 2 से 10 करोड रुपये या इससे भी अधिक और कुछ उदाहरणो मे विधानसभा उम्मीदवार द्वारा अपने चुनाव अभियान मे एक करोड रुपये या उससे अधिक धनराशि खर्च की गयी । यह स्थिति आर्थिक क्षेत्र और राजनीतिक क्षेत्र दोनो मे ही अनेक दोपो को जन्म देकर समस्त व्यवस्था को विकृत करने वाली है । 5 अक्टूवर, 1974 को ससद सदस्य अमरनाथ चावला का चुनाव अवैध घोपित करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने भी चुनावो मे धन की वढती हुई शक्ति के प्रति सचेत किया है । चुनाव मे धन की निरन्तर वढती हुई इस भूमिका के कारण ही काला धन और भ्रष्ट राजनीतिज्ञ एक-दूसरे के साथ जुड गये है । वस्तुत: चुनावो मे धन की शक्ति को नियन्त्रित करना वहुत अधिक आवश्यक हो गया है और इस सम्वन्ध मे प्रमुख निम्न सुझाव दिये जा सकते है .

(i) **राजनीतिक दलो के व्यय को उम्मीदवार के चुनाव खर्च में शामिल करना**—'अमरनाथ चावला विवाद' मे सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के वाद 19 अक्टूवर, 1974 को राष्ट्रपति द्वारा इस आशय का अध्यादेश जारी किया गया कि चुनाव मे उम्मीदवार के राजनीतिक दल द्वारा किये जाने वाले खर्च को उम्मीदवार द्वारा किये गये खर्च मे सम्मिलित नही समझा जायगा ।

इस अध्यादेश के कारण वर्तमान समय मे स्थिति यह है कि यदि किसी व्यक्ति को सत्तारूढ़ दल या सत्तारूढ होने की सम्भावना रखने वाले राजनीतिक दल के उम्मीदवार की स्थिति प्राप्त हो जाय, तो उसे प्राप्त साधनो और परिणामतया उसके चुनाव व्यय की व्यवहार मे कोई सीमा ही नही रहती । वह चुनाव लडने के लिए अपने राजनीतिक दल से नकद राशि ही नहीं; वरन्

---

1 *The Times of India*, 28 Nov , 1984.

2 Krishana Kant *Legitimate Politics* I, II and III Dec 26, 27 and 28, 1984.

जीप गाड़ियाँ और अन्य वाहन, झण्डे, बड़ी सख्या मे छोटे-बड़े पोस्टर, वीडियो टेप और प्रचार साहित्य सभी कुछ प्राप्त कर लेता है और वह जितना भी खर्च करे, सबका सब कानूनी और जायज होता है, क्योकि राजनीतिक दल द्वारा खर्च की जाने वाली राशि को उम्मीदवार के खर्च मे शामिल नही समझा जाता। 19 अक्टूबर, 1974 को जारी किये गये अध्यादेश के कारण चुनाव व्यय के सम्बन्ध मे सीमा निर्धारण का कोई महत्त्व नही रह गया है।

चुनाव मे धन की शक्ति के इस्तेमाल और प्रभाव से चिन्तित चुनाव आयोग ने सितम्बर 1982 मे ही सरकार से अनुरोध किया था कि हमे 19 अक्टूबर, 1974 से पूर्व की स्थिति को पुनः अपनाना चाहिए, जिसमे राजनीतिक दल द्वारा खर्च किये जाने वाले धन को उम्मीदवार के चुनाव व्यय मे सम्मिलित करने की व्यवस्था है। अत. 19 अक्टूबर 1974 का अध्यादेश वापस लिया जाना चाहिए, सभी राजनीतिक दलो से अलग-अलग उम्मीदवारो के लिए खर्च की गयी धन-राशि का हिसाब पूछा जाना चाहिए और स्वय उम्मीदवार, उसके राजनीतिक दल, उसके मित्र, सम्बन्धी और शुभचिन्तक सभी द्वारा चुनाव प्रसग मे खर्च की गयी धनराशि को उम्मीदवार के चुनाव खर्च मे सम्मिलित किया जाना चाहिए। चुनाव मे धन की शक्ति को नियन्त्रित करने के लिए अन्य भी कुछ कदम उठाने होगे, लेकिन इस स्थिति को प्रथम कदम के रूप में अपनाया जाना नितान्त आवश्यक है।

(ii) **राजनीतिक दलों के आय-व्यय विवरण की विधिवत् जांच**—वर्तमान समय मे भ्रष्ट राजनीति और काले धन के बीच एक गठबन्धन स्थापित हो गया है। इसे तोडा जाना नितान्त आवश्यक है। अतः राजनीतिक दलो के लिए आय-व्यय का समस्त विवरण रखा जाना अनिवार्य होना चाहिए और प्रत्येक राजनीतिक दल के लिए प्रतिवर्ष मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा निश्चित किये गये लेखा परीक्षक (Auditor) द्वारा जाँचशुदा हिसाब प्रकाशित करना अनिवार्य होना चाहिए, जिसमे आय के स्रोत और व्यय के मद पूरे विवरण सहित बतलाये जायें। राजनीतिक दल द्वारा इस सम्बन्ध मे बरती गयी किसी भी अनियमितता या लापरवाही पर चुनाव आयोग द्वारा कडा दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए और विशेष स्थिति मे आयोग को अधिकार होना चाहिए कि वह सम्बन्धित राजनीतिक दल की मान्यता समाप्त कर सके। इससे राजनीतिक दलो को प्राप्त होने वाले गुप्त अनुदानो और विदेशी सहायता पर रोक लगायी जा सकेगी।

(iii) **चुनाव प्रचार की अवधि में कमी करना**—वर्तमान समय मे नाम वापस-लेने की तिथि और चुनाव की तिथि मे कम-से-कम 20 दिन का अन्तर होना आवश्यक है। अब यह अवधि 15 या 10 दिन कर दी जानी चाहिए, इसमे भी चुनाव खर्च मे कमी होगी।

(iv) **ससद और राज्य विधानसभाओ के लिए एक साथ चुनाव की व्यवस्था**—1967 के चतुर्थ आम चुनाव तक भारत मे लोकसभा और राज्य विधानसभाओ के चुनाव एक साथ होते थे, लेकिन 1971 ई. मे यह स्थिति समाप्त हो गयी और अब तक भी पुनः यह स्थिति नही बन पायी है। यदि लोकसभा और विधानसभाओ के चुनाव एक साथ हो तो राज्य द्वारा चुनाव व्यवस्था मे किया जाने वाला खर्च और विविध राजनीतिक दलो के उम्मीदवारो द्वारा किये जाने वाले खर्च दोनो मे ही बहुत कमी हो जायेगी। इसके अतिरिक्त, लोकसभा और राज्य विधानसभाओ के चुनाव अलग-अलग होने पर सदैव ही चुनाव का वातावरण बना रहता है और यह स्थिति राज्य व्यवस्था के लिए अत्यधिक अहितकर है।

1971 ई. मे लोकसभा चुनाव से राज्य विधानसभा चुनावो को अलग करते समय यह तर्क दिया गया था कि लोकसभा चुनाव राष्ट्रीय प्रश्नो पर और विधानसभा चुनाव स्थानीय तथा राज्यस्तरीय प्रश्नो के आधार पर लडे जाते हैं। इस तर्क मे सत्यता है लेकिन बहुत अधिक महत्त्व-पूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय मतदाता पर्याप्त जागरूक हो गया है। मतदाता की जागरूकता का

प्रमाण यह है कि वे आठवी लोकसभा के चुनाव मे कर्नाटक राज्य मे 28 मे से 24 स्थान इंका को देता है लेकिन दो महीने बाद होने वाले राज्य विधानसभा चुनावो मे उसी दल को एक-तिहाई स्थान भी नही (224 मे से केवल 66) देता। इस परिप्रेक्ष्य मे मतदाताओ से सहज ही यह आशा की जा सकती है कि लोकसभा और राज्य विधानसभाओ के चुनाव एक साथ होने पर भी वे अपने दोनों मतों को अलग-अलग इकाई समझते हुए उनके सम्बन्ध मे अलग-अलग दृष्टिकोण से विवेक-पूर्ण विचार कर निर्णय कर लेगे।

(v) **चुनाव अवधि में सार्वजनिक संस्थाओ को अनुदान देने पर रोक**—चुनाव की अवधि (विधानसभा या लोकसभा भग करने के दिन से लेकर चुनाव के दिन तक) मे दलो या उम्मीदवारों द्वारा सार्वजनिक संस्थाओ को अनुदान देने पर रोक लगा दी जानी चाहिए।

(vi) **चुनाव खर्च या भार पूर्णतया या आंशिक रूप से राज्य द्वारा वहन करना**—इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख सुझाव यह दिया जा रहा है कि चुनाव खर्च का भार पूर्णतया या आशिक रूप से राज्य के द्वारा वहन किया जाना चाहिए। काग्रेस दल द्वारा नियुक्त की गयी ससदीय समिति ने भी सुझाव दिया है कि राजनीतिक दलो और उम्मीदवारो द्वारा किये गये वैध चुनाव खर्चो का बोझ धीरे-धीरे राज्य द्वारा अपने ऊपर ले लिया जाना चाहिए।

वर्तमान समय मे विश्व के कुछ देशो मे राज्य द्वारा चुनाव खर्च का भार वहन किये जाने की व्यवस्था है। स्वीडन मे सभी राष्ट्रीय राजनीतिक दलो का उनकी पिछली सफलता के आधार पर सरकार से सीधे चुनाव का समस्त खर्च दिया जाता है। दूसरी विधि मिश्रित चुनाव व्यय की है जिसे पश्चिमी जर्मनी मे अपनाया गया है। उस विधि के अनुसार सरकार चुनाव व्यय के एक हिस्से की जिम्मेदारी अपने पर लेती है तो दूसरे हिस्से की जिम्मेदारी उम्मीदवार स्वय वहन करता है। ब्रिटेन और 9 अन्य देशो में भी राजकोष से राजनीतिक सहायता दिये जाने की व्यवस्था है।

भारतीय परिस्थितियो मे राज्य द्वारा खर्च का समस्त भार अपने ऊपर लेना अव्यावहारिक हो सकता है, लेकिन **रजनी कोठारी** के सुझाव को स्वीकार किया जा सकता है। **"शासन के द्वारा दलों के शामियाने, दरी, जीप, पोस्टर छपवाने के लिए निर्धारित धनराशि आदि मूल सुविधाएँ दी जानी चाहिए, जिससे चुनाव समान शक्तियो के बीच एक खेल बन सके और चुनावो मे धन की भूमिका को कम किया जा सके।"**[1] शासन के द्वारा सभी दलो के लिए चुनाव सभाओ की व्यवस्था करने और मतदाताओ मे परची (Slips) बाँटने का कार्य और उन्हे चुनाव स्थल तक पहुँचाने का कार्य भी अपने हाथ मे लिया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे यह व्यवस्था की जा सकती है कि मतदाताओ के एक निश्चित प्रतिशत मत प्राप्त करने या अन्य कुछ शर्तों को पूरा करने वाले राजनीतिक दलो को ही शासन से यह सहायता प्राप्त होगी। 'चुनाव व्यय का भार आंशिक रूप से राज्य द्वारा वहन किया जाये', 1980-1984 तथा 1989 मे सम्पन्न आठवी लोकसभा के चुनावों मे भी इस बात को कुछ राजनीतिक दलो द्वारा अपने चुनाव घोषणा-पत्र में स्थान दिया गया था।

इस सम्बन्ध मे 1977 मे एक प्रशसनीय कार्य हुआ है। जून 1977 को **विधानसभा चुनावों** के पूर्व 4 राष्ट्रीय दलो और 8 राज्य-स्तरीय दलो को समान आधार पर **'आकाशवाणी से प्रसारण की सुविधा'** प्रदान की गयी। यह निश्चित रूप से सही दिशा मे एक प्रयास है और 1980 मे सत्ता परिवर्तन के बाद भी इसे जारी रखा गया है किन्तु नवम्बर 1989 के चुनावो मे काग्रेस (इ)

---

[1] *Times of India*, Nov. 7, 1974.

की हठधर्मिता और चुनाव आयोग की उदासीनता के कारण इसे क्रियान्वित नही किया जा सका।

चुनाव मे धन की वढती हुई शक्ति की समस्या के दो पहलू हैं। प्रथम, चुनाव मे प्रयोग किये जाने वाले धन की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि और द्वितीय, चुनावो मे काले धन का प्रयोग। इनमे दूसरी स्थिति को नियन्त्रित करने का एक प्रयत्न अभी मार्च 1985 मे किया गया है।

अव संयुक्त पूंजी कम्पनियो द्वारा राजनीतिक दलो को दिये जाने वाले दान पर प्रतिवन्ध हटा दिया गया है। यह प्रतिवन्ध 1969 ई मे लगाया गया था और इस प्रतिवन्ध का परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक दल काला धन प्राप्त करने पर वाध्य हो गये। मार्च 1985 मे की गयी इस व्यवस्था से राजनीति मे काले धन की भूमिका पूर्णतया समाप्त नही हो जायेगी लेकिन इसे स्वच्छ राजनीति की दिशा मे एक प्रयास अवश्य ही कहा जा सकता है। एक प्रमुख समाचार-पत्र के सम्पादकीय मे इसे काले धन के उदय की जडो और समाज मे भ्रष्टाचार पर प्रहार करने वाला कदम वतलाया है।[1]

अन्य कुछ उपायो को अपनाकर चुनाव मे धन के प्रभाव को कुछ कम किया जा सकता है, लेकिन वस्तुत. यह समस्या कानूनी नही वरन् व्यावहारिक राजनीति से सम्बन्धित है और चुनावो मे धन की भूमिका को कम करने का सवसे कारगर उपाय मतदाताओ द्वारा राजनीतिक जागरूकता की स्थिति को प्राप्त करना है।

दूरदर्शी राजनीतिज्ञ राजाजी ने छठे दशक मे एक पुस्तिका लिखी थी 'Rescue Democracy From Money Power'। आज इस वात की प्रासगिकता और महत्त्व निश्चत रूप से वहुत अधिक वढ गया है। लोकतन्त्र को धनिकतन्त्र मे परिणत होने से रोकने के लिए चुनावो और समस्त राजनीति मे धन की शक्ति को कम किया जाना वहुत अधिक आवश्यक है।

3 **चुनाव में वाहुवल (Muscle power) और हिंसा का प्रयोग, मतदान केन्द्रों पर कब्जा और जाली मतदान**—यह चुनावो की एक अत्यधिक गम्भीर त्रुटि और समस्या है और इसे सीमित करने के विविध उपाय किये जाने पर भी समय के साथ यह वढती चली जा रही है। चुनाव मे वाहुवल और हिंसा के प्रयोग की सवसे अधिक प्रवृत्ति तो विहार राज्य में है। इसके वाद उत्तर प्रदेश, हरियाणा, प वगाल, जम्मू-कश्मीर तथा विविध महानगरो का झोपडपट्टी क्षेत्र आता है। हिंसा के प्रयोग से जुडी हुई ही एक अन्य स्थिति चुनाव मे शराव की शक्ति का प्रयोग है। 1984 के लोकसभा और 1985 के विधानसभा चुनावो मे 'विशेष सुरक्षा व्यवस्था' और सभी एहतियाती उपाय किये जाने के वावजूद चुनाव मे हिंसा के प्रयोग और चुनाव के दिन 'मतदान केन्द्रो पर कब्जा' किये जाने की घटनाएँ पहले से कम नही हुई। अकेले विहार राज्य मे 2 और 5 मार्च, 1985 के मतदान के दिन 50 से अधिक व्यक्ति हिंसा की वलिवेदी पर चढ गये, घायलो की संख्या तो इससे वहुत अधिक थी—विहार के 34,472 मतदान केन्द्रो पर अर्द्धसैनिक वल का पहरा था, लेकिन आम नागरिक इससे भी अपने आपको सुरक्षित नही पाता था, लेकिन इन पहरेदारो की आँखो के सामने ही वन्दूकधारी मतदान केन्द्रो पर कब्जा करते रहे, मतो पर मुहर लगाते रहे और लोगो से मारपीट करते रहे।"[2] ऐसी स्थिति मे शान्ति पसन्द विवेकशील व्यक्ति जिनके मत का सवसे अधिक महत्त्व है, अपने मताधिकार के प्रयोग से घवराते और कतराते हैं। यह तथ्य है कि विहार मे वन्दूक और माफिया गिरोह के वलवूते पर चुनाव लडे जाते और जीते जाते है और विहार पुलिस इसे

---

[1] "It is arguably the most important single factor desinged to strike at the roots of black money generation and corruption in our society"
—*The Times of India*, 19 March, 1985, Editorial

[2] दिनमान, 10-16 मार्च, 1985, पृ 99।

रोकने का प्रयत्न करने के बजाय इसमे योग देती है। उत्तर प्रदेश के अनेक क्षेत्रो और अन्य कुछ राज्यो के विभिन्न क्षेत्रो मे भी स्थिति लगभग ऐसी ही है। "चिन्ताजनक बात यह देखने मे आयी है कि चुनावी हिंसा का दानव आम तौर पर शान्त समझे जाने वाले दक्षिण मे भी फैल गया। आन्ध्र मे चुनावी हिंसा ने तीन जानें ले ली और कई लोगों को घायल किया। कर्नाटक मे भी कुछ व्यक्ति घायल हुए।"[1] मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा हिंसा की रोकथाम के लिए सभी प्रयत्न किये जाने के बावजूद जब यह सब कुछ हुआ, तो 5 मार्च, 1985 को मतदाता की समाप्ति पर उन्होने खीझकर कहा—"जब तक राजनीतिक दल हिंसा के खिलाफ एक होकर जनमत जाग्रत नही करते, चुनाव आयोग तथा प्रशासन बौना और पंगु बना रहेगा—समस्या का समाधान चुनाव आयोग को अधिक अधिकार देने से नही वरन् **स्थानीय स्तर पर राजनीतिज्ञों और अवांछित तत्त्वों में साँठ-गाँठ समाप्त करने से होगा।**"[2] चुनाव मे बाहुबल और हिंसा का प्रयोग 'धन की बढती हुई भूमिका' की तुलना में भी अधिक चिन्ताजनक स्थिति है और इस स्थिति की रोकथाम के लिए सभी सम्भव कदम उठाये जाने चाहिए। इस सम्बन्ध मे कुछ सुझाव प्रमुख रूप से दिये जा सकते हैं :

प्रथम, जिन निर्वाचन क्षेत्रो मे हिंसा और बल प्रयोग की आशंका हो, वहाँ स्थानीय पुलिस को समस्त निर्वाचन क्षेत्र से पूर्णतया दूर रखते हुए अन्य राज्यो की पुलिस और अर्द्ध-सैनिक बल पर्याप्त संख्या मे तैनात किया जाना चाहिए और उसे स्थिति से निबटने के लिए सभी आवश्यक अधिकार दिये जाने चाहिए। द्वितीय, एहतियात के तौर पर दो दिन के लिए समस्त निर्वाचन क्षेत्र मे आग्नेय अस्त्रो एव अन्य हथियारो के लाने-ले-जाने पर प्रतिबन्ध न केवल लगाया, वरन् कडाई के साथ लागू किया जाना चाहिए। तृतीय, मतदान के दिन से दो दिन पहले से शराब की बिक्री पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिए। चतुर्थ, ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि हिंसा, बाहुबल की शक्ति, भ्रष्ट साधन अपनाये जाने के आधार पर चुनाव याचिकाएँ उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय मे प्रस्तुत की जायें, सम्बन्धित अदालतो के लिए 6 माह या अधिक से अधिक एक वर्ष की अवधि मे उन पर निर्णय करना अनिवार्य कर दिया जाय। प्रत्यक्ष या परोक्ष में दोषी पाये गये व्यक्तियो पर सदैव के लिए कोई भी चुनाव लडने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय और जिस किसी सरकारी कर्मचारी पर अपराधी के साथ सहयोग करने पर कर्त्तव्य पालन मे ढिलाई बरतने का आरोप सिद्ध हो, उसके विरुद्ध तत्काल कठोर कार्यवाही की जानी चाहिए। उपर्युक्त व्यवस्था करने के लिए कानूनी ढाँचे मे जो भी संशोधन परिवर्तन करना जरूरी हो, वह सभी कुछ किया जाना चाहिए।

चुनाव मे बल प्रयोग की सभी स्थितियो का मूल कारण यह है कि तथाकथित जन प्रतिनिधि, प्रशासन और गुण्डा तत्त्व के बीच गठबन्धन की स्थिति बन गयी है। अनेक तो ऐसी स्थितियाँ देखी गयी हैं, जिनमे तस्कर, माफिया और गुण्डा तत्त्व मन्त्री या जन प्रतिनिधि से आश्रय पाता है और प्रशासन पर हावी है। 'सेवाओ और प्रशासन का राजनीतिकरण' इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है[3] और इसे दूर करने के लिए समस्त व्यवस्था मे परिवर्तन जरूरी है।

जाली मतदान—बल प्रयोग और मतदान केन्द्रो पर कब्जे से ही जुडी हुई एक स्थिति जाली मतदान है और 'यह चुनाव (नवी लोकसभा का चुनाव) जाली मतदान मे तो शायद पिछले सभी रिकार्ड तोड गया।' इस बात मे सच्चाई है और लोकतन्त्र के लिए चिन्ता की बात यह है कि जाली मतदान व्यापक रूप से संगठित स्तर पर होता है।

---

1 वही।

2 वही।

3 B. Krishana : Salvaging the Services—Politicisation Must End, *The Times of India*, 16 March, 1985, p. 8.

इस स्थिति को रोकने के लिए मतदाताओ को 'फोटोग्राफी से युक्त जान-पहचान पत्र' (Identification Card) दिये जाने चाहिए। इसके साथ ही जाली मतदान को भ्रष्ट आचरण घोषित कर दिया जाना चाहिए, जिसके आधार पर निर्वाचन अवैध घोषित कर सके। निर्वाचन कानून मे ऐसा सशोधन करना भी जरूरी है जिसके फलस्वरूप पीठासीन अधिकारी के लिए जाली मतदान मे सलग्न व्यक्ति को पुलिस को सौंपना और थाने मे आवश्यक शिकायत दर्ज करना अनिवार्य हो जाय।

4. निर्दलीय उम्मीदवारों की बड़ी संख्या—अब तक के सभी चुनावों मे एक समस्या निर्दलीय उम्मीदवारो की एक बडी संख्या ने पैदा की है। यह बडी संख्या चुनाव व्यवस्था करने मे कठिनाइयाँ पैदा करती है और समस्त चुनाव दृश्य को धुधला भी कर देती है। अधिकांश निर्दलीय उम्मीदवार तो मखौल के रूप मे चुनाव लड़ते हैं या कई बार वे प्रमुख उम्मीदवारो से चुनाव मैदान से हटने के लिए धनराशि प्राप्त करने की आशा मे उम्मीदवार बन जाते हैं।

यद्यपि कुछ क्षेत्रो की ओर से प्रेरित इस सुझाव को स्वीकार नही किया जा सकता कि निर्दलीय रूप से चुनाव लडने पर कानूनी रोक लगा दी जानी चाहिए; लेकिन ऐसा कुछ अवश्य किया जाना चाहिए, जिससे 'मखौल' के रूप मे चुनाव लडने पर रोक लगे। इस सम्बन्ध मे यह सुझाव विचारणीय है कि जमानत की रकम कम से कम दस गुना बढा दी जानी चाहिए अर्थात् लोकसभा के लिए 500 रुपये से बढ़ाकर 5 हजार रुपये और विधानसभा के लिए 250 रुपये से बढाकर 2,500 रुपये कर दी जानी चाहिए। जमानत की राशि मे इससे भी अधिक वृद्धि की जा सकती है और निर्दलीय उम्मीदवार को भी शासन द्वारा कुछ सुविधाएँ देते हुए उन्हें इस राशि का लाभ दिया जा सकता है।

5. मतदाताओ की अनुपस्थिति (Absence of the Voters)—मतदाताओ की अनुपस्थिति हमारे निर्वाचको की आम विशेषता बन गयी है। वस्तुत: भारत मे अनुपस्थित मतदाताओ का प्रतिशत भी बहुत ज्यादा है। चुनावो मे अधिकांश मतदाता रुचि नही लेते और मतदान केन्द्रो पर पहुँचने की तकलीफ भी नही करते। मतदान न करने का अर्थ है मतदान के अधिकार का उपयोग न करना और लोकतन्त्रीय व्यवस्था को धोखा देना। अक्सर देखने मे आता है कि मतदान के समय मुश्किल से 60 प्रतिशत मतदाता ही अपने मत का उपयोग करते हैं। मान लीजिए एक स्थान के लिए पाँच उम्मीदवार चुनाव लड रहे हैं और पाँच ही अपने प्रभाव के अनुसार साम, दाम, दण्ड, भेद के सभी साधन अपनाये, तो मतदाता इतने रूपो मे बिखर जायेंगे कि 16 या 17 प्रतिशत मत प्राप्त करने वाला उम्मीदवार भी जीत जायेगा। ऐसी दशा मे विजयी उम्मीदवार क्या सारी जनता का प्रतिनिधि समझा जा सकता है ? सन् 1971 मे हुए लोकसभा चुनावो का विश्लेषण किया जा सकता है। इन चुनावो मे केवल 55·22 प्रतिशत मतदाताओ ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया था, अर्थात् 44·78 प्रतिशत (लगभग 12 करोड़) से अधिक मतदाताओ ने चुनाव मे भाग ही नही लिया। साढे छ करोड से अधिक मत पाने वाले कांग्रेस दल को 518 स्थानो मे से 352 स्थान मिल गये। जिस दल को कुल मतदाताओ का एक-चौथाई से भी कम समर्थन हो और कुल डाले गये मतो का भी 43 प्रतिशत ही हो, परन्तु उसके सदस्यो को सदन में दो-तिहाई से अधिक स्थान मिल जाय तो उसकी सरकार को निर्वाचित सरकार तो जरूर कहा जायेगा, लेकिन उसे सचमुच मे प्रतिनिध्यात्मक सरकार कैसे कहा जा सकता है ?

फिर अधिकतर मतदाताओ की अनुपस्थिति से चुनाव-सम्बन्धी भ्रष्टाचार को भी बढावा मिलता है और प्राय: जाली मतदान भी होता देखा गया है।

मतदान के प्रति उदासीनता और राजनीति के प्रति वितृष्णा की भावना का उन्मूलन करने के लिए चुनावो में मतदान को अनिवार्य करने का सुझाव दिया जाता है। भूतपूर्व चुनाव आयुक्त

एस पी. सेन वर्मा ने 1968 मे कहा था कि चुनावों के प्रति मतदाताओं की यह उदासीनता चुनावों को मजाक वना देती है। अतः भारतीय संसद को अनिवार्य मतदान का नियम वना देना चाहिए और जो मतदाता चुनावो मे भाग न लें उन पर कुछ दण्ड लगाया जाये, जो 50 रुपये से अधिक न हो। यदि मत न देने के कारण मतदाता को न्यायालय के सामने उपस्थित होना व जुर्माना देना पड़ेगा तो वह उदासीनता दिखाने के पहले कई वार सोचेगा। विश्व के अनेक देशो मे जैसे वेल्जियम, नीदरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, क्यूवा, आस्ट्रिया आदि देशो मे अनिवार्य मतदान की पद्धति है। इन देशो मे मतदान मे भाग न लेने पर जुर्माना किया जाता है। इसे 'मनी फाइन प्लान' (Money Fine Plan) कहते हैं। इससे मतदान का प्रतिशत निश्चित ही वढेगा।

6. **शासक दल द्वारा प्रशासनिक तन्त्र का दुरुपयोग** (Misuse of Administrative Machinery by Party in Power)—भारतीय चुनाव व्यवस्था की एक गम्भीर त्रुटि शासक दल और मन्त्रियो द्वारा 'दलीय लाभो के लिए प्रशासनिक तन्त्र के दुरुपयोग' के रूप मे सामने आयी है। जैसे ही चुनाव की घोपणा होती है, केन्द्रीय और राज्य सरकार का ध्यान विविध संगठित वर्गों को अनेकानेक रियायतें और सुविधाएँ देने की ओर चला जाता है। चुनाव के अवसर पर राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए अनेक विकास योजनाओं की घोपणा करते है (जिनमे से अधिकाश कभी भी क्रियान्वित नही होती); अनेक कारखानो, स्कूलो, कॉलेजो, अस्पतालो और पुलो के शिलान्यास किये जाते हैं। सरकारी कर्मचारियो के वेतन-भत्ते आदि मे वृद्धि की जाती है, कर्ज दिये जाते हैं, लगान माफ किये जाते है और सरकारी भवनो तथा सरकारी वाहनो आदि का दुरुपयोग किया जाता है। यह सव कुछ कितनी अधिक सीमा तक होता है; इसका उदाहरण यह है कि मार्च 1977 के लोकसभा चुनाव के पूर्व उत्तरी और पूर्वी क्षेत्र के 6 राज्यो (हरियाणा, पजाव, विहार, राजस्थान, प. वगाल और उड़ीसा) द्वारा मतदाताओं को 90 करोड़ की रियायतें दी गयी और अकेली उत्तर प्रदेश सरकार के द्वारा 103 करोड से अधिक की रियायतें मतदाताओ को दी गयी। नवम्वर 1989 के लोकसभा चुनावो के दौरान राजीव गाँधी द्वारा 50 अरव रुपये की इन्दिरा महिला योजना की घोषणा राजनीतिक दलो के लिए वनी आचार सहिता का सरासर उल्लंघन था। यह सव कुछ राजनीतिक भ्रष्टाचार के अतिरिक्त और कुछ नही है। इसलिए कानूनी तौर पर ऐसी व्यवस्था कर दी जानी चाहिए कि चुनाव की घोपणा होने के दिन से लेकर नवीन सरकार वनने के समय तक केन्द्रीय और राज्य सरकारें केवल 'काम चलाऊ सरकारें' (Care taker Govts.) के रूप मे कार्य करें। उन्हे नीति सम्वन्धी कोई घोपणा करने, किन्ही वर्गों को अतिरिक्त रियायते देने या सरकारी कर्मचारियो के वेतन-भत्ते आदि मे वृद्धि की घोषणा करने का कोई अधिकार नही हो।

7. **निर्वाचन अधिकारियों पर राजनीतिक दवाव** (Political Pressure on Election Officers)—निर्वाचन अधिकारियो पर राजनीतिक व अन्य दवाव और इसके फलस्वरूप उनके द्वारा भ्रष्टाचार को अपनाये जाने के भी कुछ उदाहरण सामने आये है। भूतपूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त सेन वर्मा ने स्वीकार किया था कि "राजनीतिक दवाव में आकर मतदाता सूचियों में गड़वड़ी की गयी, मन्त्रियो तक ने चुनाव में हस्तक्षेप किया, संसद सदस्यो तक के नाम मतदान सूची में से निकाल दिये गये ताकि वे चुनाव न लड़ सकें और प्रतिपक्षी उम्मीदवारों के नामांकन पत्र भारी संख्या मे रद्द कर दिये। चुनाव के पहले और चुनाव के वाद निर्वाचन अधिकारियो को तंग करने की शिकायतें भी कम नहीं है।" उन्होने इस सम्वन्ध मे सत्तारूढ़ राजनीतिक नेताओ से अपील की थी कि निष्पक्ष निर्वाचनो के हित मे वे निर्वाचनों के दौरान निर्वाचन अधिकारियो पर कोई भी अनुचित दवाव न डाले। वस्तुतः इस सम्वन्ध मे रोकथाम की पर्याप्त व्यवस्था नही है।

8. **निर्वाचन याचिकाओ पर निर्णय में अत्यधिक विलम्ब (Unusual Delay in Decisions over Election Petitions)**—निर्वाचन याचिका मे बहुत अधिक खर्च होता है तथा विवादो का शीघ्र निपटारा नही हो पाता है। यह चिन्तनीय है कि जब तक याचिका का निर्णय होता है, तब तक तक तो लोकसभा और विधानसभा का कार्यकाल ही समाप्त हो जाता है और विवादग्रस्त व्यक्ति अपने पद पर बना ही रहता है।

निर्वाचन याचिकाओ पर शीघ्रता के साथ निर्णय की स्थिति को अपनाना बहुत अधिक आवश्यक हैं। इस सम्बन्ध मे कानून बनाकर 6 माह या अधिक से अधिक एक वर्ष मे निर्वाचन याचिका पर निर्णय अनिवार्य किया जा सकता है। जब भ्रष्ट साधनो को अपनाकर विजयी बने सदस्यो का निर्वाचन चुनाव के शीघ्र बाद ही अवैध घोषित होते हुए देखा जायगा, तब चुनाव में भ्रष्ट साधन अपनाने पर भी कुछ रोक लगने की आशा की जा सकती है।

वर्तमान समय मे चुनाव आयोग 'चुनाव धाँधलियों' को रोक पाने मे अपने आपको असहाय पाता है और सन्दर्भ मे मुख्य चुनाव आयुक्त श्री आर के. त्रिवेदी ने कहा है—"यदि चुनाव आयोग के तहत एक निष्पक्ष अभिकरण के गठन तथा मुख्य चुनाव आयुक्त को किसी चुनाव परिणाम की घोषणा होने के बाद उसे रद्द करने का अधिकार मिले, तो चुनाव में होने वाली धाँधलियो पर रोक लगायी जा सकेगी।"[1]

इस स्थिति को अपनाने की बात सोची जा सकती है, लेकिन इसके पूर्व निर्वाचन आयोग का विस्तार कर 'तीन-सदस्यीय' या 'पाँच-सदस्यीय' आयोग बना दिया जाना चाहिए और आयोग के सदस्यो की नियुक्ति मे ऐसी पद्धति को अपनाया जाना चाहिए कि आयोग की निष्पक्षता मे सभी को विश्वास हो। इसके साथ ही आयोग के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय मे अपील की व्यवस्था की जा सकती है।

चुनाव व्यवस्था और चुनाव सुधार से सम्बन्धित अन्य कुछ विशिष्ट प्रश्न

चुनाव व्यवस्था और चुनाव सुधार से सम्बन्धित अन्य कुछ विशिष्ट प्रश्नो पर भी विचार किया जा सकता है, जो इस प्रकार हैं

1. **निर्वाचित प्रतिनिधियो को वापिस बुलाने का अधिकार**—कुछ पक्षो द्वारा यह कहा जाता है कि निर्वाचित प्रतिनिधियो को बीच मे (अवधि समाप्त होने से पूर्व ही) वापिस बुलाने का अधिकार जनता को मिलना चाहिए। सिद्धान्त रूप से यह बात ठीक है परन्तु जिस ढंग का गैर-जिम्मेदार वातावरण हमारे देश मे इस समय चल रहा है उसके रहते इस समस्या का हल होने की बजाय एक और समस्या को जन्म देने वाला ही सिद्ध होगा। जो चुनाव मे हार जायेगा वह किसी-न-किसी ढंग से विजयी उम्मीदवार को वापस बुलाने मे ही अपनी सारी शक्ति लगा देगा। इससे चुने हुए प्रतिनिधियो का सारा समय फिजूल के कामो में लगा रहेगा और वह जनता की कोई सेवा न कर सकेगा।

2. **अनिवार्य मतदान**—यह सुझाव दिया जाता है कि मतदान के प्रति उदासीनता और राजनीति के प्रति वितृष्ण की भावना का उन्मूलन करने के लिए चुनावो मे मतदान को अनिवार्य कर दिया जाये। चुनाव आयुक्त एस सी. सेन वर्मा ने 1968 मे कहा था कि चुनावो के प्रति मतदाताओं की यह उदासीनता चुनावो को मजाक बना देती है। अत भारतीय संसद को अनिवार्य मतदान का नियम बना देना चाहिए और जो मतदाता चुनावो मे भाग न ले उन पर कुछ दण्ड लगाया जाये, जो 50 रुपये से अधिक न हो। यदि मत न देने के कारण मतदाता को न्यायालय के सामने उपस्थित होना व जुर्माना देना पडेगा तो वह उदासीनता दिखाने के पहले कई बार

[1] राजस्थान पत्रिका, 26 अप्रैल, 1985, पृ. 1।

सोचेगा। विश्व मे अनेक देशो मे जैसे वेल्जियम, नीदरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, क्यूवा, आस्ट्रिया आदि देशों मे अनिवार्य मतदान की पद्धति है। इन देशों मे मतदान मे भाग न लेने पर जुर्माना किया जाता है। इसे 'मनी फाइन प्लान' कहते है। अनिवार्य मतदान होने पर मतदान का प्रतिशत निश्चित ही वढ़ेगा इससे जहाँ जाली मतदान की समस्या का समाधान होगा, वहाँ प्रतिनिधियो के चयन मे पेशेवर राजनीतिज्ञो की पकड़ कम होगी।"

∴ **मताधिकार की आयु**—इधर कुछ दिनो से हमारे देश में मताधिकार की आयु का प्रश्न भी चर्चा का विपय वना हुआ हैं। ब्रिटेन और अमरीका ने मताधिकार की आयु 21 से घटाकर 18 वर्ष कर दी जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन के पिछले आम चुनाव मे 18 और 21 की आयु के वीच मे लगभग तीन लाख नये युवक-युवतियो को अपने देश की ससद के प्रतिनिधियो के चुनाव मे मतदान देने का अधिकार मिला। वहुत से देशों जैसे लंका, पूर्वी जर्मनी, रूमानिया, यूगोस्लाविया, उत्तरी कोरिया, वियतनाम, मैक्सिको, सूडान, जाम्विया आदि मे आज मताधिकार की आयु 18 वर्ष है। यह वात तो साफ ही है कि दुनिया-भर मे हर जगह युवा वर्ग में एक नयी जागृति आयी है और वड़े-वूढो के द्वारा किये जा रहे व्यवस्था के शोषण के विरुद्ध आवाज उठी है। आज युवा वर्ग जीवन के हर एक क्षेत्र मे अपने लिए निर्णायक स्थिति चाहता है। अत: मताधिकार की आयु 18 वर्ष कर दी जानी चाहिए और उसके लिए संविधान मे आवश्यक संशोधन किया जाना चाहिए। आज 18 और 21 वर्ष की आयु के वीच लगभग पाँच करोड़ लोग है और यह वहुत अधिक उत्साह से पूर्ण वर्ग है। इससे सारे युवक समुदाय में और विशेपत: विद्यार्थी वर्ग मे तथा-कथित अनुशासनहीनता कम होगी, स्वस्थ नागरिकता और उत्तरदायित्व की भावना वढ़ेगी, उनकी युवाशक्ति को अभिव्यक्ति का मार्ग मिलेगा तथा निराशा की भावना संयमित की जा सकेगी। हाल ही मे 61वें सविधान संशोधन (1989) द्वारा मताधिकार की आयु 21 से घटाकर 18 वर्ष कर दी गयी है।

1989 मे सत्तारूढ़ राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार चुनाव सुधार की दिशा में कार्य करने के लिए वचनवद्ध है। जनवरी '90 मे विधि मन्त्री ने घोपणा की है कि चुनाव सुधारो के प्रसग मे आम सहमति पर आधारित एक व्यापक विधेयक शीघ्र ही ससद मे प्रस्तावित किया जायगा।

38

भारत में पंचायती राज की राजनीति

[POLITICS OF PANCHAYATI RAJ IN INDIA]

भारत गाँवो का देश है। गांवो की उन्नति और प्रगति पर ही भारत की उन्नति और प्रगति निर्भर करती है। गांधीजी ने ठीक ही कहा था कि "यदि गांव नष्ट होते हैं तो भारत नष्ट हो जायगा, वह भारत नही होगा, विश्व मे उसका सन्देश समाप्त हो जायगा।" भारत के सविधान-निर्माता भी इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे अतः हमारी स्वाधीनता को साकार करने और उसे स्थायी वनाने के लिए ग्रामीण शासन व्यवस्था की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया। हमारे सविधान मे यह निर्देश दिया गया है कि "राज्य ग्राम पचायतो के निर्माण के लिए कदम उठायेगा और उन्हें इतनी शक्ति और अधिकार प्रदान करेगा जिससे कि वे (ग्राम-पंचायतें) स्वशासन की इकाई के रूप मे कार्य कर सकें। वस्तुतः हमारा जनतन्त्र इस बुनियादी धारणा पर आधारित है कि शासन के प्रत्येक स्तर पर जनता अधिक से अधिक शासन कार्यो मे हाथ बँटाये और अपने पर, राज करने की जिम्मेदारी स्वय झेले। भारत मे जनतन्त्र का भविष्य इस वात पर निर्भर करता है कि ग्रामीण जनो का शासन मे कितना अधिक प्रत्यक्ष और सजीव सम्पर्क स्थापित हो पाता है ? दूसरे शब्दो मे ग्रामीण भारत के लिए पंचायती राज ही एकमात्र उपयुक्त योजना है। पंचायतें ही हमारे राष्ट्रीय जीवन की रीढ हैं। दिल्ली की संसद में कितने ही वड़े आमदी वैठें लेकिन असल मे 'पचायत' ही भारत की चाल वनायेगी।

भारत में पंचायती राज की भूमिका
(ROLE OF PANCHAYATI RAJ IN INDIA)

भारत मे ग्राम पंचायतो का इतिहास वहुत पुराना है। प्राचीनकाल मे आपसी झगडो का फैसला पचायतें ही करती थी। परन्तु अग्रेजी राज के जमाने मे पंचायतें धीरे-धीरे समाप्त हो गयी और सव काम प्रान्तीय सरकारे करने लगी। स्वाधीनता प्राप्ति के वाद राज्यो की सरकारो ने पंचायतो की स्थापना की ओर विशेष ध्यान दिया। प्रो. रजनी कोठारी के अनुसार, "राष्ट्रीय नेतृत्व का एक दूरदर्शितापूर्ण कार्य था पचायती राज्य की स्थापना। इससे भारतीय राज-व्यवस्था का विकेन्द्रीयकरण हो रहा है और देश मे एक-सी स्थानीय संस्था के निर्माण से उनकी एकता भी वढ रही है।"[1] इसकी शुरूआत का श्रेय भी जवाहरलाल नेहरू को है। पं. नेहरू का कहना था कि

---

1 Rajni Kothari, *Politics in India*, p 132.

"गाँवों के लोगों को अधिकार सौंपना चाहिए। उनको काम करने दो चाहे वे हजारों गलतियाँ करें। इससे घबराने की जरूरत नहीं। पंचायतों को अधिकार दो।"

नेहरू का लोकतान्त्रिक तरीकों में अटूट विश्वास था। सन् 1952 में उन्हीं की पहल पर सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। इसमें काफी संख्या में सरकारी कर्मचारी रखे गये और लम्बे-चौड़े दावे किये गये। यह समझा गया कि इस कार्यक्रम में जनता की ओर से सक्रिय रूप से भाग लिया जायेगा। सामुदायिक विकास कार्यक्रम का आरम्भ इसलिए किया गया था ताकि आर्थिक नियोजन एवं सामाजिक पुनरुद्धार की राष्ट्रीय योजनाओं के प्रति देश की ग्रामीण जनता में सक्रिय रुचि पैदा की जा सके। परन्तु सामुदायिक विकास के इस सरकार द्वारा प्रेरित एवं प्रायोजित कार्यक्रम ने ग्रामीण जनता को नियोजन की परिधि में तो लाकर खड़ा कर दिया, परन्तु ग्रामीण स्तर पर योजना के क्रियान्वयन में उसे इच्छुक पक्ष न बनाया जा सका। यह कार्यक्रम सरकारी तन्त्र और ग्रामीण जनता के बीच की दूरी कम करने के उद्देश्य में विफल रहा। इस विफलता का मुख्य कारण यह था कि इसे सरकारी महकमे की तरह चलाया गया और गाँवों के विकास के बजाय सामुदायिक विकास की सरकारी मशीनरी के विस्तार पर ही ज्यादा जोर दिया गया। सरकारी मशीनरी के द्वारा गाँव के लोगों की मनोवृत्ति को बदलने की आशा की गयी, परिणाम यह हुआ कि गाँवों के उत्थान के लिए खुद प्रयत्न करने के बजाय ग्रामीण जनता सरकार का मुँह ताकने लगी। एक अमरीकी लेखक रेनहार्ड बेंडिक्स लिखते हैं—"सामुदायिक विकास की सबसे बड़ी कमजोरी उसका सरकारी स्वरूप और नेताओं की लफ्फाजी थी। एक तरफ इस कार्यक्रम के सूत्रधार जनता के आगे आने की आशा करते थे, दूसरी ओर उनका विश्वास था कि सरकारी कार्यवाही से ही नतीजा निकल सकता है। कार्यक्रम जनता को चलाना था; लेकिन वे बनाये ऊपर से जाते थे।"[1]

इन बुराइयों को दूर करने का उपाय यह था कि वास्तविक सत्ता सम्पन्न लोकतन्त्रीय स्थानीय संस्थाओं को शुरू करके स्थानीय राजनीति के विष को काबू में किया जाये। बहुत-से लोगों का विचार था कि पंचायत राज इसका इलाज हो सकता है जो इसके साथ ही प्रशासनिक तनाव को भी समाप्त कर देगा। पंचायत राज को सभी बुराइयों के लिए रामबाण जैसे गुणों से सम्पन्न साधन मानने का कुछ सम्बन्ध गांधीजी की यादों और जयप्रकाश नारायण द्वारा उन्हें पुनर्जीवित करने से है। जयप्रकाश नारायण ने पंचायत राज को देशी और प्राचीन 'सामुदायिक लोकतन्त्र' के समान बताया और साथ ही इसे पश्चिम के 'जनता को हाथ बँटाने का अवसर देने वाले लोकतन्त्र' (Participating democracy) से भी अधिक आधुनिक कहा।

बलवन्तराय मेहता समिति प्रतिवेदन
(BALWANTRAI MEHTA COMMITTEE REPORT)

सामुदायिक विकास कार्यक्रम पर काफी खर्चा हो चुकने और इसकी सफलता के लम्बे-चौड़े दावों के बाद इसकी जाँच के लिए एक अध्ययन दल 1957 में नियुक्त किया गया। इस अध्ययन दल के अध्यक्ष श्री बलवन्तराय मेहता थे। अध्ययन दल को सौंपे गये कार्यों में, एक कार्य, जिसका कि दल को अध्ययन करना था; यह था, कि 'कार्य सम्पादन में अधिक तीव्रता लाने के उद्देश्य से कार्यक्रम का संगठनात्मक ढाँचा तथा कार्य करने के तरीके कहाँ तक उपयुक्त थे। इस दल ने सरकार को बताया कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम की बुनियादी त्रुटि यह है कि जनता का इसमें सहयोग नहीं मिला। अध्ययन दल ने सुझाव दिया कि एक कार्यक्रम को, जिसका कि लोगों के दिन-प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्ध है, केवल उन लोगों के द्वारा ही कार्यान्वित किया जा सकता

---

[1] Reinhard Bendix, *Nation Building and Citizenship* (New York, 1964), pp. 266-83.

है। इस अध्ययन दल की रिपोर्ट मे यह कहा गया है कि जब तक स्थानीय नेताओं को जिम्मेदारी और अधिकार नही सौंपे जाते, सविधान के निर्देशक सिद्धान्तो का राजनीतिक और विकास सम्बन्धी लक्ष्य पूरा नही हो मकता है। 'मेहता अध्ययन दल' ने 1957 के अन्त मे अपनी रिपोर्ट मे यह सिफारिश की कि लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण और सामुदायिक विकास कार्यक्रमो को सफल बनाने हेतु पचायती राज्य सस्थाओ की तुरन्त शुरुआत की जानी चाहिए। अध्ययन दल ने इसे 'लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीकरण' का नाम दिया।

इस प्रकार लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण और विकास कार्यक्रमो मे जनता का सहयोग लेने के ध्येय से पचायती राज्य की शुरुआत की गयी। इनके स्वरूप में विभिन्न राज्यो मे कुछ अन्तर है, मगर कतिपय विशेषताएँ एक-सी है। एक तो पचायती राज्य की तीन सीढियाँ है—ग्राम स्तर पर ग्राम पचायत, खण्ड स्तर पर पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला-परिषद। दूसरा, पचायती राज प्रणाली मे स्थानीय लोगो को काम करने की आजादी है और देख-रेख ऊपर से होती है। तीसरा, सामुदायिक विकास कार्यक्रम की भाँति यह शासकीय ढाँचे का अंग नही है। पचायती राज की सस्थाएँ निर्वाचित होती है और इसके कर्मचारी निर्वाचित जनप्रतिनिधियो के अधीन काम करते हैं। चतुर्थ, साधन जुटाने और जनसहयोग सगठित करने का भी इन सस्थाओ को पर्याप्त अधिकार है।

पंचायती राज की आवश्यकता तथा महत्त्व (Significance of Panchayati Raj)—पचायते बहुत पुराने जमाने मे भी विद्यमान थी मगर वर्तमान पचायती सस्थाएँ इस माने मे भी नयी है कि उनको काफी अधिकार, साधन और जिम्मेदारियाँ सौंपी गयी हैं। नाम पुराना है मगर सस्थाएँ नयी है। इनका महत्त्व और उपयोगिता निम्नलिखित बातो से स्पष्ट है :

(1) भारत मे स्वस्थ प्रजातान्त्रिक परम्पराओ को स्थापित करने के लिए पचायत व्यवस्था ठोस आधार प्रदान करती है। इसके माध्यम से शासन-सत्ता जनता के हाथ मे चली जाती है। यह व्यवस्था ग्रामवासियो मे प्रजातान्त्रिक संगठनो के प्रति रुचि स्थापित करती है।

(2) ये सस्थाएँ भारत का भावी नेतृत्व तैयार करती है, विधायको तथा मन्त्रियो को प्राथमिक अनुभव एव प्रशिक्षण प्रदान करती है जिससे वे ग्रामीण भारत की समस्याओ से अवगत होते है। इस प्रकार ग्रामो मे उचित नेतृत्व का निर्माण करने एव विकास कार्यो मे जनता की रुचि बढाने मे पचायतो का प्रभावी योगदान रहता है।

(3) पंचायती राज संस्थाएँ केन्द्रीय एव राज्य सरकारो को स्थानीय समस्याओ के भार से हल्का करती हैं। उनके द्वारा ही शासकीय शक्तियो एव कार्यों का विकेन्द्रीयकरण किया जा सकता है। प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीयकरण की इस प्रक्रिया मे शासकीय सत्ता गिनी-चुनी संस्थाओ मे न रहकर गाँव की पंचायत के कार्यकर्ताओ के हाथो मे पहुँच जाती है।

(4) पंचायतो के कार्यकर्त्ता और पदाधिकारी स्थानीय समाज और राजनीतिक व्यवस्था के बीच कड़ी है। इन स्थानीय पदाधिकारियो के बिना ऊपर से प्रारम्भ किये हुए राष्ट्र निर्माण के क्रियाकलापो का चलन मुश्किल हो जाता है। इन लोगो के सहयोग के बिना सरकारी अधिकारियो का काम भी मुश्किल हो जाता है।

(5) पचायते प्रजातन्त्र की प्रयोगशालाएँ है। ये नागरिक को अपने राजनीतिक अधिकारो के प्रयोग की शिक्षा देती है। साथ ही उनमे नागरिक गुणो का विकास करने मे मदद करती हैं।

(6) हमारी जनता इन सस्थाओ के माध्यम से शासन के बहुत करीब पहुँच जाती है। जनता और शासन के परस्पर एक-दूसरे की कठिनाइयाँ समझने की भावनाएँ पैदा होती है। इससे दोनो मे परस्पर सहयोग बढता है जो ग्रामीण उत्थान के लिए परम आवश्यक है।

संक्षेप मे, पंचायतो का मूल उद्देश्य ग्रामीण विकास के प्रयासो और जनता के बीच तारतम्य स्थापित करना है। पंचवर्षीय योजनाओ और विकास के कार्यक्रमो को सुलझाने के लिए भी पचायतो को बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है। वस्तुतः पचायती राज्य की सफलता पर ही भारतीय प्रजातन्त्र का भविष्य निर्भर करता है।

पंचायती राज पर अमल (Implementation of Panchayati Raj)—भारतीय संघ के अधिकांश राज्यो ने पंचायती राज्य संस्थाओ के गठन के लिए अधिनियम पारित किये। राजस्थान सबसे पहला राज्य है जिसने अपने यहाँ पंचायती राज की स्थापना की। 2 सितम्बर, 1959 को राजस्थान विधानसभा मे पंचायत समिति व जिला परिषद् अधिनियम पास किया। इस योजना का उद्घाटन 2 अक्टूबर, 1959 को प्रधानमन्त्री नेहरू द्वारा नागौर मे किया गया। अब अधिकांश राज्यो में पंचायती राज की स्थापना हो चुकी है। इस समय देश मे 2,19,694 पंचायतें, 3,539 पंचायत समितियाँ एवं 247 जिला परिषदें हैं।

'बलवन्तराय मेहता समिति' की सिफारिशो के अनुसार स्थानीय शासन की इस त्रिस्तरीय योजना मे पचायत समिति सबसे महत्त्वपूर्ण सस्था है। मुख्य विकास कार्य पचायत समिति को ही सौंपे गये हैं और जिला परिषद् का कार्य तो पचायत समितियो के कार्य सचालन की देखभाल एव उनमे तालमेल स्थापित करना है। रिपोर्ट मे प्रस्तावित इस रूपरेखा ने राज्यो मे पचायती राज की स्थापना करने के कार्य मे अनेक राज्य सरकारों का मार्गदर्शन किया है। इस सम्बन्ध मे महाराष्ट्र एव गुजरात की पंचायती राज योजना कुछ भिन्न है। वहाँ पंचायती राज्य सस्थाओ में जिला परिषद् को सर्वाधिक शक्तिशाली बनाया है और उसे अनेक क्षेत्रो मे कुछ निष्पादक कार्य सौंपे गये है।

पंचायती राज संस्थाओं का संगठन (Organization)—पचायती राज संस्थाओ का ढाँचा तीन स्तरो पर निर्मित है। ग्राम सभा और पंचायतें निम्नतम स्तर पर है और जिला परिषदें उच्चतम स्तर पर। इन दोनो स्तरो से मध्य मे पचायत समितियाँ है जिन्हे कुछ राज्यो मे जनपद पचायतें भी कहा गया है।

ग्राम सभा

गाँव के सभी वयस्क निवासियो को मिलाकर एक सभा बनायी जाती है जिसे 'ग्राम सभा' कहते है। आन्ध्र प्रदेश, जम्मू एवं कश्मीर, तमिलनाडु, केरल और कर्नाटक को छोड़कर अन्य राज्यो मे ग्राम सभा को कानूनी अस्तित्व प्रदान किया गया है। प्रत्येक पंचायत का यह दायित्व होता है कि वर्ष मे कम-से-कम दो बार ग्राम सभा की बैठक बुलाये। ग्राम सभा की पहली बैठक मे पचायत के लोगो के समक्ष इस बात की व्याख्या करनी होती है कि वह कौन-कौन-सी योजना तथा कार्यक्रम अपने हाथ मे ले रही है? ग्राम सभा की दूसरी बैठक मे पचायत द्वारा किये गये कार्यो की समीक्षा की जाती है और असफलता के कारण लोगो के समक्ष स्पष्ट करने होते है। उड़ीसा राज्य मे ग्राम सभा पंचायत को विशेष कार्य सौपने एवं ग्राम पंचायत के क्षेत्रो मे योग्य व्यक्तियो और स्त्रियों पर श्रम कर का सुझाव देने का अधिकार दिया गया है। ग्राम सभा को पंचायती राज व्यवस्था की आधारशिला माना जाता है। यह पंचायत के कार्य सचालन पर गहरा असर डालती है। यदि ग्राम सभा सक्रिय एव सजीव होती है तो पंचायत मे अत्यन्त कुशलता के साथ कार्य करती है किन्तु व्यवहार मे यह देखा गया है कि अधिकाश ग्राम-सभाएँ प्रभावकारी सस्थाओं के रूप मे कार्य नही कर रही हैं। 'सादिक अली समिति' का यह सुझाव था कि ग्राम सभा को कानूनी मान्यता प्रदान करनी चाहिए ताकि इसे अधिक प्रभावशाली बनाया जा सके।

पंचायत

संगठन—पचायत, जो कि ग्राम सभा की कार्यकारी इकाई होती है, ग्राम सभा द्वारा चुनी जाती है। पचायतो के चुनाव गुप्त मतदान द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्येक तीसरे वर्ष किये जाते है। पचायत के सदस्य 'पच' कहलाते हैं और उनका चुनाव प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। प्रत्येक पचायत मे उनकी सख्या गाँव की जनसंख्या के अनुपात मे 5 से 31 तक होती है। चुनावो की दृष्टि से सारे पचायत क्षेत्रो को वार्डों मे बाँट दिया जाता है और प्रत्येक वार्ड से एक पच चुना जाता है। राजस्थान मे सरपच और चुने हुए पचो के अतिरिक्त सन् 1964 से 2 महिलाओ, 1 अनुसूचित जाति के सदस्य और 1 अनुसूचित जन-जाति के सदस्य के सहयोजन की भी व्यवस्था की गयी है बशर्ते कि वे पंच के रूप मे न चुने गये हो। बिहार मे विचित्र व्यवस्था है। ग्राम पचायत के 9 सदस्यो मे से 4 सदस्य और सरपच प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किये जाते हैं और शेष 4 सदस्यों को सरपंच मनोनीत करता है। कुछ राज्यो मे महिलाओ के लिए भी पंचायत मे स्थान सुरक्षित किये हैं।

पचायत के सरपंच का चुनाव पचायत के सम्पूर्ण निर्वाचक मण्डल द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। सरपच का चुनाव कही-कही पर पंचो द्वारा भी किया जाता है। सरपंच 'मुख्य निष्पादक' के रूप मे कार्य करता है और पंचायत सचिव केवल दफ्तरी कार्य सम्पन्न करता है। सरपंच पचायत की बैठक बुलाता है और उसकी अध्यक्षता करता है। यह उसका कर्त्तव्य है कि वह पचायत का बजट तैयार करे, पंचायत की निधियों को सुरक्षित रखे तथा पचायत के खातो व अभिलेखो को ठीक रखे। अपने निर्णय को अमली जामा पहनाने के लिए पचायत की स्वयं अपनी प्रशासनिक मशीनरी होती है। सचिव तथा अन्य कर्मचारियो की नियुक्ति पचायत द्वारा की जाती है और उनका वेतन आदि भी इसकी अपनी निधियों से ही दिया जाता है। **डॉ सी. पी. भाम्भरी** के अनुसार, "पचायतो को अपने लिए निधियाँ प्राप्त करने का अधिकार होता है, उन्हे खर्च करने की भी स्वाधीनता होती है और उनके पास अपने निर्णयो को कार्यान्वित करने की मशीनरी होती है। इस प्रकार पचायत एक स्वशासित सस्था की सभी आवश्यकताओ एव शर्तों को पूरा करती है।"[1]

आय के स्रोत—पचायतो की आय के मुख्य स्रोत ये हैं—सरकार से मिलने वाले अनुदान, भवनो व गाडियो आदि पर कर, पशुओ व वस्तुओ पर चुगी का यात्री कर, वाणिज्यिक फसलो पर कर, सरकार द्वारा अनुमोदित कोई भी राज्य कर, कर्ज, उपहार आदि। पचायतो को दुकान कर, रेस्ट हाउस के प्रयोग पर फीस, पानी की दर आदि लगाने का भी अधिकार है। पंचायतो को भूमि, तालाब और बाजार से भी कुछ आय हो जाती है। कुछ विशेष प्रकार के कर लगाने के लिए पचायतो को राज्य सरकार की अनुमति लेनी पडती है।

पचायतो के दायित्व और कार्य—पंचायतों को वे ही कार्य और दायित्व सौंपे गये हैं जिनसे भारतीय लोकतन्त्र की नीव सुदृढ होती है। ग्राम विकास की जिम्मेदारी पंचायतो पर ही है। अत. ग्रामीण क्षेत्रो के विकास एवं कल्याण के समस्त कार्य पचायतें ही करती हैं। पंचायतों के कुछ प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं :

(1) पीने के स्वच्छ पानी का प्रबन्ध करना।
(2) सडको का निर्माण एव मरम्मत करना।
(3) सफाई और रोशनी का प्रबन्ध करना।
(4) अस्पतालो का प्रबन्ध करना।

---

[1] भाम्भरी, चन्द्र प्रकाश · **लोक प्रशासन**, 1970, पृ 291।

(5) पशुओं की बीमारियों की रोकथाम और उनकी नस्ल में सुधार करना।

(6) मेलों, बाजारो तथा हाटो की व्यवस्था करना।

(7) पाठशालाओं का सचालन करना।

(8) लघु सिंचाई योजनाओं का क्रियान्वयन व देखभाल करना।

(9) गोबर की खाद बनाने और वितरण की व्यवस्था का प्रबन्ध करना।

(10) ग्रामीण कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित करना।

(11) स्थानीय झगड़ो एवं मतभेदो को हल करना।

(12) अल्प बचत के सन्देश को घर-घर पहुँचाना।

(13) अपने क्षेत्र के विकास हेतु नयी ग्राम-विकास योजना बनाना।

(14) स्थानीय नागरिकों के जान-माल की रक्षा का प्रबन्ध करना।

(15) ग्रामीणो के संयुक्त प्रयत्नो को संगठित करना और उन्हें श्रम का महत्त्व समझाना।

(16) जनता के मनोरंजन की व्यवस्था करना तथा अजायबघर, सग्रहालय आदि की स्थापना करना।

(17) भिखारियो, कोढ़ियो तथा अंगहीनो की मदद करना।

(18) सहकारी क्षेत्र को प्रोत्साहित करना और सहकारी समितियो का गठन करके आर्थिक दृष्टि से उपयोगी कार्यों को मूर्त रूप देना।

(19) सामूहिक ग्राम-क्षेत्र जैसे सार्वजनिक कुओं, तालाबो और धर्मशालाओं का निर्माण करना।

(20) वाचनालयों, अखाड़ो तथा खेल के मैदानो की व्यवस्था करना।

इस प्रकार क्षेत्रीय विकास और उन्नति की सम्पूर्ण जिम्मेदारी पचायतो के ऊपर आ जाती है। वस्तुत: भारत जैसे विशाल देश के विकास के लिए इस प्रकार की विकेन्द्रित पद्धति अपनाना अत्यावश्यक है। वर्तमान मे विभिन्न राज्यो मे पंचायती राज संस्थाएँ इनमे से अनेक कार्यों का सचालन कर रही है। विगत कुछ वर्षों से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हमारी प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली लडखडा रही है। देश का आम आदमी गरीबी, अभाव, मँहगाई और बेरोजगारी से ग्रस्त है। शासन की कार्यकुशलता में कमी आ रही है। भ्रष्टाचार बढ रहा है। चोर-बाजारी और मुनाफाखोरी के कारण आवश्यक वस्तुओं का सदैव अभाव महसूस हो रहा है। अनेक स्थानो पर कानून और व्यवस्था की स्थिति बेकाबू होती जा रही है। अकाल, सूखा और अतिवृष्टि के कारण देश के आर्थिक विकास का सम्पूर्ण नियोजन ही छिन्न-भिन्न हो गया है। इस हालत को कैसे सुधारा जाय? ऐसे गम्भीर समय मे पंचायती राज संस्थाएँ निश्चित रूप मे महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकती हैं। उन्हें परम्परावादी दायित्वों के अतिरिक्त कतिपय विशिष्ट दायित्व भी सौंपे जाने चाहिए। देश की सामयिक परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य में पंचायतो को निम्नलिखित विशिष्ट दायित्व भी सौंपे जाने चाहिए :

(i) वे अपराधो की रोकथाम तथा अपराधियो की खोज करने मे पुलिस की सहायता करें।

(ii) पचायतें ग्राम-सेवक, ग्राम-शिक्षक, चौकीदारी, पटवारी, वैद्य इत्यादि शासकीय कर्मचारियो के व्यवहार की जाँच कर सकती हैं और उसकी रिपोर्ट जिलाधीश को भेज सकती हैं। जिलाधीश का कर्त्तव्य है कि वह ऐसी रिपोर्ट पर जो कार्यवाही करे, उसकी सूचना लिखित रूप से ग्राम-पंचायतो को दे।

(iii) भ्रष्ट आचरण रखने वाले और घूस लेने वाले शासकीय कर्मचारियो के सम्बन्ध मे जिलाधीश को पंचायत से अधिकृत रिपोर्ट माँगनी चाहिए और उस पर तत्काल कार्यवाही करनी चाहिए।

(iv) पंचायतो को वितरण व्यवस्था पर निगरानी रखनी चाहिए और देखना चाहिए बेईमान व्यापारी चीजो के दाम न बढ़ायें। ज्योही पता चले कि कोई समाज-विरोधी काम रहा है, शासन को उसकी सूचना दें।

(v) उपभोक्ता के हितो की देख-रेख के लिए पचायते ग्रामो मे नागरिक समितियो गठन कर सकती है।

(vi) अकाल राहत-कार्यो तथा बाढ-नियन्त्रण कार्यो मे प्रायः खूब घोटाले हुए हैं। ऐ शासकीय कार्यों का सचालन पचायतो की देखरेख मे किया जाना चाहिए ताकि धन का स[illegible] हो सके।

(vii) हरिजनो मे आये-दिन अत्याचार होते हैं। अतः उनकी रक्षा का दायित्व पचाय[illegible] पर डाला जाना चाहिए ताकि सवर्णो की मनोवृत्तियो को बदला जा सके।

(viii) पचायती राज-व्यवस्था के अन्तर्गत यह बात पूर्ण रूप से स्वीकार करनी होगी [illegible] योजनाओ का निर्माण निचले स्तर से होगा और उनका क्रियान्वयन का कार्य भी पचायतो के [illegible] होगा।

पंचायत समिति या जनपद पंचायत

पचायत समिति या जनपद पचायत पचायती राज-व्यवस्था का मध्यवर्ती स्तर है। [illegible] मध्यवर्ती स्तर को आन्ध्र प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, उड़ीसा और राजस्थान मे 'पचायत स[illegible]' कहते हैं, उत्तर प्रदेश मे 'क्षेत्र समिति', असम मे 'आंचलिक पचायत समिति'; पश्चिमी बगाल 'आंचलिक परिषद', गुजरात मे 'तालुका परिषद', मध्य प्रदेश मे 'जनपद पचायत'; कर्नाटक 'तालुका विकास परिषद्', और तमिलनाडु मे 'पचायत सघ परिषद्' कहते हैं। इनका कार्यक[illegible] तीन से पाँच वर्ष तक है। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु मे पाँच वर्ष, गुजरात, कर्ना[illegible] और प. बगाल मे चार वर्ष और आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, हरियाणा, पजाब तथा राजस्था[illegible] आदि राज्यो मे तीन वर्ष हैं। महाराष्ट्र मे पचायत समिति का कार्य बहुत ही सीमित है।

संगठन—पचायत समिति की रचना के सम्बन्ध मे सब राज्यो मे एकरूपता देखने को नह[illegible] मिलती। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि पंचायत समिति मे पदेन, सहयोगी तथा सह[illegible] सदस्य सम्मिलित होते हैं। समिति के क्षेत्र की पचायतो के सरपच पचायत समिति के पदेन स[illegible] होते है। समिति के क्षेत्र से राज्य-विधानमण्डल और ससद के लिए निर्वाचित सदस्य भी [illegible]चायत समिति के सदस्य कहलाते है। किन्तु उन्हे मतदान का अधिकार नही होता और इसलिए सहय[illegible] सदस्य कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त सभी राज्यो मे निश्चित सख्या मे स्त्रियो तथा अनुसूचित जातियो एव जनजातियो के सदस्यो को सहयोजित करने का भी प्रावधान है। अनेक राज्यो मे पचायत समिति के क्षेत्र मे कार्य करने वाली सहकारी समितियो को तथा लोक-प्रशासन, सार्वजनिक जीवन तथा ग्रामीण विकास का अनुभव रखने वाले व्यक्तियो को भी प्रतिनिधित्व दिया गया है। कई राज्यो मे पदेन सदस्यो को शामिल करने की व्यवस्था नही है। उदाहरण के लिए, मध्य प्रदेश, हरियाणा तथा पजाब मे पचायतो के पचो द्वारा निर्वाचन के आधार पर स्थानो की पूर्ति की जाती है। कर्नाटक मे तालुका विकास परिषद के सदस्य तालुके के निर्वाचक-मण्डल द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं। इस हेतु तालुको को प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रो मे विभक्त कर दिया जाता है और हर निर्वाचन-क्षेत्र दो या तीन सदस्यो को चुनता है।

अध्यक्ष का चुनाव—आन्ध्र प्रदेश, असम, गुजरात, मध्य प्रदेश, कर्नाटक तथा प. बगाल पचायत समिति के मुखिया को 'अध्यक्ष' कहा जाता है। तमिलनाडु, महाराष्ट्र, उड़ीसा तथा पजाब मे 'सभापति' या 'चेयरमेन' कहते हैं। उत्तर प्रदेश तथा बिहार मे 'प्रमुख' और राजस्थान

मे 'प्रधान' कहा जाता है। वह राजस्थान को छोड़कर अन्य सभी राज्यो मे पंचायत समिति के सदस्यो द्वारा चुना जाता है। राजस्थान मे पचायत समिति का 'प्रधान' एक निर्वाचक-मण्डल द्वारा चुना जाता है। उस निर्वाचन-मण्डल मे पचायत समिति के सब सदस्य तथा उस क्षेत्र के सब ग्राम और नगर पंचायतो के पच सम्मिलित होते हैं। उसे पंचायत समिति विशिष्ट बहुमत से पारित अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा हटा सकती है। प्रो. श्रीराम माहेश्वरी के अनुसार, "पचायत समिति के सदस्यो द्वारा अध्यक्ष या प्रधान का चुनाव इसलिए किया जाता है कि सदस्यो तथा अध्यक्ष के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो सके और समिति का काम सरलता से चल सके।"[1] फिर भी राजस्थान के 1965 के पंचायती राज चुनाव आयोग ने अप्रत्यक्ष निर्वाचन की इस प्रथा को समाप्त करने का सुझाव दिया था। निर्वाचक-मण्डल के लघु होने के कारण भ्रष्टाचार फैलने का अधिक अवसर रहता है।

पंचायत समिति के अध्यक्ष का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अध्यक्ष समिति की बैठक बुलाता है तथा उसका सभापतित्व करता है। वह खण्ड विकास अधिकारी पर प्रशासनिक नियन्त्रण रखता है। वह कर्मचारी वर्ग के किसी ऐसे सदस्य को जिसका अधिकार-क्षेत्र सम्पूर्ण खण्ड से कम हो निलम्बित या अपदस्थ कर सकता है। वह खण्ड विकास अधिकारी की चरित्र-पजिका लिखता है।

मुख्य निष्पादक—पचायत समिति का मुख्य निष्पादक खण्ड विकास अधिकारी होता है। विकास अधिकारी की सहायता विस्तार अधिकारियो द्वारा की जाती है। विकास अधिकारी पचायत समिति के कर्मचारियो की टीम का कप्तान होता है। वह विभिन्न विस्तार कर्मचारियों की क्रियाओ मे समन्वय स्थापित करता है। उनकी कठिनाइयो को दूर करता है, उनके मतभेदों को समाप्त करता है और समिति के सम्पूर्ण स्टॉफ पर प्रशासकीय नियन्त्रण रखता है।

पंचायत समिति के कार्य—भारत के अधिकाश राज्यो मे पचायत समिति पंचायती राज व्यवस्था की धुरी है। महाराष्ट्र और गुजरात को छोडकर अन्य सभी राज्यो मे वह मुख्य कर्मचारी निकाय है जिसे सामुदायिक विकास कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। पचायत समिति के कार्यों को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—**प्रथम**, नागरिक सुविधाएँ प्रदान करना तथा **द्वितीय**, विकास कार्यों को पूरा करना।

नागरिक सुविधाओ को पूरा करने के लिए पचायत समिति निम्नलिखित कार्य करती है :

(1) समिति के क्षेत्र में सडको का निर्माण तथा रख-रखाव।
(2) पीने के पानी की व्यवस्था।
(3) नालियो तथा कुण्डों का निर्माण।
(4) प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों तथा प्रसूति-केन्द्रो की स्थापना।
(5) चिकित्सकीय तथा स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था।

---

1 "किन्तु इस प्रथा ने अत्यन्त भ्रष्ट तथा कुत्सित तरीको को भी जन्म दिया है। 1965 के पंचायती राज चुनाव आयोग ने इन तरीको का विशेष रूप से उल्लेख किया था। हमे यह जानकर बडा दु:ख हुआ कि इस चुनाव ने भ्रष्टाचार के ऐसे निकृष्टतम रूप को जन्म दिया है जिसकी हम कल्पना भी नही कर सकते। कुछ चुनावों में खुले रूप से भारी घूस दी गयी, कहीं-कहीं समिति के प्रत्येक सदस्य को हजारो रुपये तक दिये गये, सदस्यो का अपहरण किया गया और उन्हे विशिष्ट स्थानो मे बन्द करके रखा गया और उन्हे लम्बी यात्राओं पर भेज दिया गया तथा उन पर अनुचित दबाव और प्रभाव डाला गया।"—श्रीराम माहेश्वरी, **'भारत में जनपद पंचायतें : एक तुलनात्मक अध्ययन'**, समाज सेवा, जनवरी 1975, पृ. 7।

(6) प्राथमिक तथा बुनियादी पाठशालाओं की व्यवस्था, प्रौढ़-शिक्षा केन्द्रों तथा वयस्क साक्षरता केन्द्रों की स्थापना ।

(7) गाँव की उन सडकों के निर्माण आदि मे सहायता देना जो गाँवों को बड़ी सडकों से जोड़ती है ।

(8) पुस्तकालय की स्थापना करना तथा उनको लोकप्रिय बनाना ।

(9) युवक संघों, महिला मण्डलों तथा किसान गोष्ठियों की स्थापना ।

(10) शारीरिक तथा सास्कृतिक कार्य-कलाप को प्रोत्साहन देना ।

विकास कार्यक्रम को पूरा करने के लिए समितियों के कुछ प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं :

(1) सामुदायिक विकास के अन्तर्गत आने वाले सभी कार्यक्रमों का क्रियान्वयन ।

(2) उन्नत बीजों की उपलब्धि तथा वितरण ।

(3) उन्नत खाद तथा उर्वरकों को उपलब्ध करना, उनका वितरण करना तथा उन्हे लोकप्रिय बनाना ।

(4) भूमि को कृषि के योग्य बनाना तथा भूमि का सरक्षण करना ।

(5) कृषि के लिए ऋण की व्यवस्था करना ।

(6) सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध करना और उसके लिए कुओं का जीर्णोद्धार करना, नये कुएँ खुदवाना, तालाबों की मरम्मत करना, सिंचाई के लघु साधनों का रख-रखाव करना आदि ।

(7) वृक्षारोपण तथा गाँवों के वनों का विकास करना ।

(8) पशुओं, भेड़ों तथा कुक्कुटों की नवीन नस्लों का प्रचलन करना ।

(9) पशुओं के रोगों की रोकथाम तथा उपचार करना ।

(10) दुग्ध-व्यवसाय तथा दूध की व्यवस्था करना ।

(11) विभिन्न क्षेत्रों मे सहकारी समितियों की स्थापना करना ।

(12) कुटीर, ग्रामीण तथा लघु उद्योगों का विकास करना ।

(13) उत्पादन तथा प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना करना ।

(14) अनुसूचित जातियों एवं पिछड़े वर्गों के लाभ के लिए सरकार द्वारा सहायता प्राप्त छात्रावासों का प्रबन्ध करना ।

समिति की आय के साधन—पचायत समिति की आय के मुख्य स्रोत हैं—राज्य सरकार द्वारा दिये जाने वाले अनुदान, भू-राजस्व का हिस्सा, करों व शुल्कों की प्राप्तियाँ, कर्ज, अंशदान, कार्यक्रमों के लिए अनुदान तथा राज्य सरकार के हस्तान्तरण आदि । पंचायत समिति का बजट अनुमोदन के लिए जिला-परिषद को भेजा जाता है, परन्तु पंचायत समिति के लिए आवश्यक नहीं है कि वह जिला-परिषद द्वारा सुझाये गये परिवर्तनों को स्वीकार करे ही । पंचायत समिति को इस बात की पूर्ण स्वाधीनता होती है कि वह राज्य योजना के ढाँचे के अन्तर्गत अपने बजटों का निर्माण करे और विकास की अपनी वार्षिक योजनाएँ तैयार करे ।

निष्कर्षतः पंचायत समिति का आधार ग्राम पंचायतें है । समिति का कार्यक्षेत्र ग्राम पचायतों के ताने-बाने से बना है । अतः बिना ग्राम पचायतों के सहयोग के पचायत समिति का कार्य सम्भव नही है । इसके लिए पचायत समिति तथा उनके क्षेत्र मे आने वाली ग्राम पंचायतों मे ताल-मेल होना आवश्यक है । समितियों को अपने दायित्व के निर्वाह हेतु अपने आय के क्षेत्रों को दोहना होगा ताकि सौंपे गये कार्यों को पूर्ण कर वे ग्राम-विकास की दिशा मे सत्ता विकेन्द्रीकरण का सही उदाहरण प्रस्तुत कर सकें ।

जिला-परिषद्

प्रत्येक राज्य मे हर जिले मे एक जिला-परिषद् होती है। राजस्थान, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, बिहार एवं महाराष्ट्र मे 'जिला-परिषद्' और असम मे इसे 'महाकोमा परिषद्' कहा जाता है। गुजरात एवं मध्य प्रदेश में 'जिला-पंचायत' तथा तमिलनाडु एवं कर्नाटक में इसे 'जिला विकास परिषद्' कहा जाता है। राजस्थान मे इसकी सदस्यता निम्न प्रकार होती है—(क) **पदेन सदस्य**—(i) जिले की सभी पंचायत समितियो के प्रधान, (ii) जिले के निर्वाचित विधानसभा सदस्य, (iii) जिले से निर्वाचित लोकसभा तथा राज्यसभा सदस्य, (iv) जिला विकास अधिकारी, जिसे मत देने का अधिकार नहीं होता। (ख) **सहयोजित सदस्य**—(i) दो महिलाएँ, (ii) अनुसूचित जाति का एक व्यक्ति, (iii) अनुसूचित जनजाति का एक व्यक्ति। (ग) **सह-सदस्य**—(i) केन्द्रीय सहकारी बैंक का चेयरमैन, (ii) जिला-सहकारी सघ का चेयरमैन। गुजरात, पंजाब एव उत्तर प्रदेश मे पंचायत समिति अपने प्रधान के अलावा जिला-परिषद् के लिए एक-एक प्रतिनिधि निर्वाचित करती है।

जिला-परिषदो का गठन मूलत. निम्नस्तरीय पंचायतो पर नियन्त्रण रखने तथा उनके कार्यो मे समन्वय करने के लिए ही किया जाता है। वस्तुत ये राज्य सरकार और निम्न स्तरीय पचायतो के मध्य एक कडी के रूप में भी कार्य करती है। महाराष्ट्र की जिला-परिषदें, पचायती राज्य सस्थाओ मे सबसे अधिक शक्तिशाली है। तमिलनाडु और कर्नाटक मे जिला-परिषद समन्वय-कारी सस्था है। राजस्थान मे जिला-परिषद का अध्यक्ष 'प्रमुख' कहलाता है। उसका निर्वाचन एक निर्वाचन-मण्डल द्वारा होता है जिसमे (क) जिला-परिषद के पदेन तथा सहयोजित सदस्य (जिला विकास अधिकारी निर्वाचक मण्डल का सदस्य नही होता), तथा (ख) जिले की सभी पचायत समितियो के पदेन तथा सहयोजित सदस्य (किन्तु एस. डी. ओ. निर्वाचक मण्डल का सदस्य नही होता) भाग लेते हैं।

जिला-परिषद के कार्य—प्रो सी. पी. भाम्भरी के अनुसार, "जिला परिषद को कोई निष्पादक कार्य नहीं सौंपे गये हैं। यह तो एक समन्वय एवं पर्यवेक्षण करने वाला निकाय है। यह एक ओर तो राज्य सरकार और दूसरी ओर पंचायतो एवं पंचायती समितियो के बीच सम्पर्क स्थापित करती है। परिषद पचायत समिति की क्रियाओ का पर्यवेक्षण करती है एवं उनमें तालमेल स्थापित करती है।"[1] साधारणतया जिला-परिषदें निम्नलिखित कार्यो का सम्पादन करती हैं :

(1) यह जिले की पंचायत समितियो के बजट का इस कार्य के लिए बनाये गये नियमो के अनुसार निरीक्षण कर सकती है।

(2) राज्य सरकार द्वारा जिलो को दिये गये तत्कालीन अनुदान को पचायत समिति मे वितरित करना।

(3) पंचायत समिति द्वारा तैयार की गयी योजनाओ मे समन्वय करना।

(4) राज्य सरकार को पंचायतो के कार्यो की सूचना देना तथा आवश्यक निर्देश प्राप्त करना।

(5) पंचायत एवं पंचायत समितियो के कार्यो मे समन्वय करना।

(6) जिले से पंचायतो और पचायत समितियो के सभी सरपचो, प्रधानो व अन्य सदस्यो की गोष्ठियाँ आयोजित करना।

(7) राज्य सरकार द्वारा जिला-परिषद को विशेष रूप से निर्दिष्ट की गयी किसी वैधानिक

[1] सी. पी. भाम्भरी . **लोक प्रशासन**, पृ 295।

अथवा कार्य निष्पादन सम्बन्धी आज्ञा को कार्यान्वित करने सम्बन्धी मामलो मे राज्य सरकार को सलाह देना।

(8) जिले से सम्बन्धित कृषि व उत्पादन कार्यक्रमों को योजनाबद्ध ढंग से पूरे करना।

जिला-परिषद की आय के साधन—जिला-परिषदो के कार्य या तो नियन्त्रण सम्बन्धी है या समन्वय मूलक या परामर्शमूलक। उसके अपने विकास कार्य नही हैं, इस कारण इनकी आय के सम्बन्ध मे विशिष्ट व्यवस्था नही की गयी है। इनकी आय के मुख्य स्रोत राज्य सरकार से प्राप्त होने वाली धनराशियां तथा पचायत समितियो से प्राप्त होने वाले दान या अशदान आदि हैं। इन्हे कोई भी करो का क्षेत्र नहीं सौंपा गया है और इन्हे अपना वजट अनुमोदन के लिए सरकार के समक्ष प्रस्तुत करना होता है।

पंचायती राज संस्थाओं के चुनावों में मतदाताओं का दृष्टिकोण
(PANCHAYATI RAJ INSTITUTIONS AND VOTING BEHAVIOUR)

पंचायती राज सस्थाओ को देश मे प्रजातन्त्र की प्रयोगशालाओ के रूप मे स्थापित किया गया है। ये प्रजातन्त्र की प्रथम पाठशालाएँ हैं। इनके माध्यम से नागरिको को शासन कार्यों की जानकारी प्राप्त होती है। जिस देश के नागरिक शासन मे हाथ वँटाते है उनमे राजनीतिक जागरूकता का उदय होता है। इस तरह पंचायतो द्वारा प्रजातन्त्र वास्तविक और व्यावहारिक रूप ग्रहण कर लेता है। पंचायतें प्रत्येक व्यक्ति के घर के दरवाजे पर प्रजातन्त्र को लाकर खड़ा कर देती हैं। भारत मे पचायती राज की बुनियाद निर्वाचन-व्यवस्था और वयस्क मताधिकार जैसे प्रजातान्त्रिक आधार स्तम्भो पर ही रखी गयी है। पचायती राज के संचालन का आधार विभिन्न स्तरो पर सस्थानात्मक चुनावो को ही बनाया गया है, ताकि—(i) ग्रामवासियो मे स्थानीय समस्याओ के प्रति रुचि बढे, (ii) लोगो मे राजनीतिक-नागरिक जागरूकता बढे, (iii) वोट देने के अधिकार के उचित प्रयोग की क्षमता का विकास हो, (iv) मताधिकार के प्रयोग का प्रारम्भिक प्रशिक्षण दिया जा सके, तथा (v) मतदाताओ की उदासीनता दूर करना क्योंकि चुनाव ही हमारे स्वराज्य की नींव है।

देश के अधिकाश भागो मे पंचायती राज का यह परीक्षण कछुए की चाल से ही चलता रहा है क्योंकि ग्रामीण मतदाताओ का दृष्टिकोण सकुचित एव रूढिवादी रहा है। गाँव के लोगो ने पचायती संस्थाओ के चुनावो मे 'पच परमेश्वर' की पवित्र भावना को भुला दिया है, जिससे पंचायती संस्थाओ का धरातल ही डगमगाने लगा है। देश के विभिन्न स्थानो पर हुए पचायती राज संस्थाओ के चुनावो का विश्लेषण करें तो यह सहज में प्रकट हो जायेगा कि ग्रामीण जनता किस तरह मताधिकार का प्रयोग करती है—(i) पचायतो के चुनावो मे मतदाता योग्यतम कार्यकर्त्ताओं को चुनने के वजाय जाति और धर्म के आधार पर मतदान करते है। (ii) पंचायतो के चुनावो मे अधिकांश मतदाता रुचि नही लेते और मतदान-केन्द्रो तक पहुँचने की तकलीफ भी नही करते। (iii) कई वार उम्मीदवार मतदाताओ को घूस देकर मत खरीदते है। (iv) ग्रामीण मतदाता राजनीतिक गुटवन्दी के आधार पर मतदान करते है, जिससे प्रत्येक गाँव की जनता दो गुटो मे विभाजित हो जाती है और ग्रामीण एकता को प्रवल आघात पहुँचता है।[1]

मतदाता की हैसियत से नागरिक के प्रमुख कर्त्तव्य हैं—वोट देना, ईमानदारी से वोट देना और समझदारी से वोट देना। गांधीवादी दार्शनिक काका कालेलकर का आग्रह है कि 'ग्रामीण मतदाताओ को चाहिए कि पचायती राज सस्थाओ मे अपने प्रतिनिधियो को उसी दृष्टि से चुनें

---

1 फडिया, वावूलाल 'पचायती राज संस्थाओ के चुनाव मे मतदाताओ का दृष्टिकोण', समाज सेवा, अप्रैल 1957, पृ. 6-7।

जिस दृष्टि से हम मरीज के लिए डॉक्टर चुनते है। वोट देने वालो को दो बातें देखनी चाहिए—प्रथम, कि व्यक्तियों द्वारा गाँवों का हित हो सकता है और द्वितीय, उन उम्मीदवारो का चरित्र ठीक है या नही।" पं. नेहरू के शब्दो मे, "मैं पंचायती राज के प्रति पूर्णतः आशान्वित हूँ। पंचायती राज संस्थाओ की सफलता की कुंजी गाँवो के हजारो-लाखो मतदाता ही हैं। बस आवश्यकता है उनकी मनोवृत्तियो को सुधारने की।"

पंचायती राज की उपलब्धियाँ एवं समस्याएं
(ACHIEVEMENTS AND PROBLEMS)

हमारे देश मे पंचायती राज की शुरूआत को एक ऐतिहासिक घटना कहा गया है। पंचायती राज संस्थाओ से अधिक प्रशसा बहुत ही कम संस्थाओ को प्राप्त हुई है। पं. नेहरू ने स्वय कहा था कि "मैं पचायती राज के प्रति पूर्णत. आशान्वित हूँ। मै महसूस करता हूँ कि भारत के सन्दर्भ में यह बहुत-कुछ मौलिक एव क्रान्तिकारी है।" प्रो. रजनी कोठारी के अनुसार, "इन संस्थाओं ने नये स्थानीय नेताओ को जन्म दिया है जो आगे चलकर राज्य और केन्द्रीय सभाओ के निर्वाचित प्रतिनिधियो से अधिक शक्तिशाली हो सकते हैं। कांग्रेस और अन्य दलो के राजनीतिज्ञ इन संस्थाओ को समझने लगे हैं। अब वे राज्य-विधानमण्डल के बजाय पंचायत समिति और जिला-परिषदो को तरजीह देने लगे हैं।[1] वस्तुतः इन संस्थाओ ने देश के राजनीतिक, आधुनिकीकरण और समाजीकरण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है तथा हमारी राजनीतिक व्यवस्था मे जन-हिस्सेदारी मे वृद्धि करके गाँवो मे जागरुकता उत्पन्न कर दी है।[2]

फिर भी यह तो कहना ही पडेगा कि पिछले 30 वर्षों का अनुभव विशेष उत्साहवर्द्धक नही रहा। ये संस्थाएँ ग्रामीण जनता मे नयी आशा और विश्वास पैदा करने मे असफल रही है। वस्तुत. जब तक ग्रामीणो मे चेतना नही आती तब तक ये संस्थाएँ सफल नही हो सकती। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि पंचायती राज व्यवस्था असफल हो गयी है। कुछ राज्यो मे तथा कुछ विशिष्ट क्षेत्रो मे इन संस्थाओ ने सराहनीय कार्य किया है। यह कार्य मुख्यत नागरिक सुविधाओ के ही सम्बन्ध मे हुआ है। पचायती राज संस्थाओ के समक्ष कुछ नयी समस्याएँ उत्पन्न हो गयी है; कुछ पहले ही थी, जिनका निराकरण करना आवश्यक हैं, ये समस्याएँ हैं :

1. **सत्ता के विकेन्द्रीकरण की समस्या**—लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की सफलता की पहली शर्त सत्ता का स्थानीय संस्थाओ को हस्तान्तरण करना है; पंचायती राज संस्थाओ को स्वायत्त शासन की शक्तिशाली इकाइयाँ बनाना था। यह तभी सम्भव है जब प्रेरणा नीचे के स्तरो से शुरू हो और उच्च स्तर केवल मार्ग निर्देशन करे। राज्य सरकारे इन संस्थाओं को अपने आदेशो का पालन करने वाला एजेण्ट मात्र न समझें, इसके लिए नौकरशाही की मनोवृत्ति मे परिवर्तन की आवश्यकता है।

2. **अशिक्षा एवं निर्धनता की समस्या**—अशिक्षा और ग्रामीणो की निर्धनता की विकट समस्या है। इसके कारण ग्रामीण नेतृत्व का विकास नही हो रहा है और वे अपने संकीर्ण दायरो से ऊपर नहीं उठ पाते हैं। किन्तु वर्तमान मे शिक्षा की दिशा मे शासन द्वारा किये गये कार्यों से हमारे उत्साह मे वृद्धि हो रही है।

3 **दलगत राजनीति**—पचायती राज की सफलता के मार्ग मे सबसे बड़ी बाधा दलगत

---

1 Kothari Rajni · *Politics in India*, p. 137.

2 Iqbal Narain has reported two major findings about Panchayati Raj in Rajasthan. They are as under, (a) Rural Comm[illegible] themselves Politicised, and (b) Some newer nexus of local and [illegible] d power structure has emerged—*The Indian Journal of Political Sc*[illegible] 1972, p. 100.

राजनीति है। पचायतें राजनीति का अखाडा बनती जा रही हैं। पंचायतो मे छोटी-छोटी वातो को लेकर झगडे हुआ करते हैं, दलवन्दी होती है और वहुत-सा समय लडने-झगडने मे निकल जाता है। यदि हमारे राजनीतिक दल पचायतो के चुनावों मे हस्तक्षेप करना वन्द कर दें तो पचायतो को गन्दी राजनीति के दलदल से निकाला जा सकता है।

4 **धन की समस्या**—धन की समस्या पचायती राज संस्थाओं के मामने शुरू से ही रही है। इन सस्थाओ को स्वतन्त्र आर्थिक स्रोत या तो दिये ही नही गये या फिर जो भी दिये गये वे अर्थशून्य हैं। परिणामत. शासकीय अनुदानो पर ही जीवित रहना पड़ता है। अतः आय के पर्याप्त एवं स्वतन्त्र स्रोत पंचायती सस्थाओ को दिये जाने चाहिए ताकि उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ वन सके।

इनके अतिरिक्त और भी कई समस्याएँ हैं, राजनीतिक जागरूकता की कमी, विकास-कार्यों की उपेक्षा, शासकीय अधिकारियो एव निर्वाचित प्रतिनिधियो मे सहयोग का अभाव आदि।[1] इसके अतिरिक्त सभी राज्यो मे राज्य के विधानमण्डल और संसद-सदस्यों को पचायती राज संस्थाओ से सम्वद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। विधान-मण्डल तथा संसद के सदस्यों की स्थिति इतनी उच्च होती है कि वे पचायती राज सस्थाओ पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं और इस प्रकार अन्य सदस्यों के अभिक्रम को कुचल देते है तथा पचायती राज संस्थाओं के कल्याणकारी विकास मे वाधा डालते हैं। विधान-मण्डल तथा ससद के सदस्यो के पास विधायी तथा राजनीतिक काम वहुत अधिक रहता है। इसलिए उनके पास इतना समय नही होता कि वे अपने विधायी कार्यों के अतिरिक्त पचायती राज की सस्थाओ की ओर पर्याप्त ध्यान दे सकें। अत. उच्चस्तरीय राजनीतिज्ञो का ग्रामीण स्थानीय शासन से सक्रिय रूप मे सम्वन्ध होना पचायती सस्थाओ के हित मे नही है। इन सभी समस्याओ का परिणाम यह हुआ कि पचायती राज अपने लक्ष्यो को प्राप्त नही कर सका।

पंचायती राज की सफलता के लिए सुझाव—भारत के लिए गांव आर्थिक समृद्धि का प्रतीक है और गाँवो का सर्वांगीण विकास पंचायतो की सफलता के द्वारा ही सम्भव है। पंचायतो की सफलता के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं :

प्रथम, पचायती राज संस्थाओ मे व्याप्त गुटवन्दी को समाप्त करना होगा,

द्वितीय, पचायतो के चुनावो मे मतदान को अनिवार्य करना होगा और जो मतदाता चुनाव मे भाग न ले उस पर कुछ दण्ड लगाया जाये, जो पचास रुपयों से अधिक न हो;

तृतीय, पचायतो की वित्तीय हालत सुधारनी होगी;

चतुर्थ, अधिकारियो को पचायतो के मित्र, दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक रूप मे कार्य करना चाहिए,

पंचम, पंचायतो के निर्वाचित प्रतिनिधियो को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए और अन्त मे, पचायतो पर विश्वास करना होगा, वे गलतियां करेंगी और हमारा दृष्टिकोण उनके प्रति उदार ही अपेक्षित है।

---

[1] पर्यवेक्षण, नियन्त्रण, समन्वय, प्रशासनिक सुधार आदि सभी प्रशासनिक समस्याओ मे से अधिकारियो और गैर-अधिकारियो के परस्पर सम्वन्धो की समस्या सवसे वडी है। इस पद्धति के वुनियादी कामकाज के सन्तोषजनक कार्यान्वयन के लिए दोनो कार्यकर्त्ताओं के वीच अच्छे सम्वन्ध होना वहुत महत्त्वपूर्ण है। एस. एन. पुराणिक . 'पचायती राज सन्दर्भ मे प्रशासन तथा राजनीति', **लोक प्रशासन**, जनवरी-मार्च, 1975, पृ. 90-98।

पंचायती राज की राजनीति
(POLITICS OF PANCHAYATI RAJ)

भारत मे पंचायती राज संस्थाओ का राजनीतिक दृष्टि से महत्त्व बढता जा रहा है। राजनीतिक दल पंचायतो के चुनावो में सक्रिय भूमिका अदा करने लगे हैं। पंचायतो को राष्ट्रीय और राज्य स्तर की राजनीति का आधार माना जाने लगा है। राजनीतिक दल और उनके नेता यह महसूस करने लगे हैं कि लोकसभा और विधानसभा निर्वाचनो मे सफलता प्राप्त करने के लिए पंचायतो, पचायत समितियो और जिला परिषदो पर कब्जा किया जाना अपरिहार्य है। सरपंचो, प्रधानो और जिला प्रमुखो के रूप मे ग्रामीण नेतृत्व विकसित हो रहा है। आने वाले वर्षों में भारतीय राजनीति की कुँजी उसी दल के हाथो मे होगी जिसे ग्रामीण नेतृत्व विकसित करने मे सफलता मिलेगी। केरल और पश्चिमी बंगाल मे मार्क्सवादी-साम्यवादी दल ने पचायती संस्थाओं पर कब्जा करके राज्य राजनीति में अपनी गहरी जड़ें जमा ली हैं। आज वस्तुतः विधायक और संसद सदस्यो की अपेक्षा नीचे के स्तर पर 'सरपंच', 'प्रधान' और 'जिला प्रमुख' अधिक प्रभावक भूमिका अदा कर रहे हैं।

पचायती राज के माध्यम से भारत में स्थानीय शासन की एक नयी और सजीव प्रणाली की नींव पड़ चुकी है। इसके रोचक राजनीतिक परिणामों पर आगे विचार किया जायेगा :

प्रथम, जिला प्रशासन और सामुदायिक विकास दोनों विभागों के कर्मचारियो को पहली वार पर्याप्त शक्तिसम्पन्न और राजनीतिक समर्थन द्वारा प्रतिरक्षित जनप्रिय संस्थाओ के एक सुसंगठित जाल (network) का सामना करना पड़ रहा है।

द्वितीय, पंचायत राज प्रणाली का तात्कालिक प्रभाव यह था कि ग्रामीण क्षेत्रों में अन्य पार्टियों की तुलना में कांग्रेस की ताकत पहले से भी ज्यादा हो गयी। कांग्रेस का संगठन अन्य पार्टियों के संगठनों से बड़ा था और इन विभिन्न नयी संस्थाओ के साथ तालमेल बैठाने में अक्षम था। ग्रामीण समाज के प्रभावशाली वर्गों का इसे पहले से ही समर्थन मिल रहा था और सबसे बड़ी बात यह थी कि सत्तारूढ़ पार्टी के रूप में यह (कांग्रेस) लोगो को बहुत कुछ दे सकती थी। कांग्रेस सरकार और स्थानीय संस्थाओ के बीच अधिकाधिक तादात्म्य का अर्थ अनिवार्यतः यह नहीं था कि 'कांग्रेस के उम्मीदवार' चुनावों मे विजयी होंगे, बल्कि यह था कि चुनावों में विजयी होने वाले उम्मीदवार—यदि वे पहले से ही कांग्रेसी उम्मीदवार नही थे—तो कांग्रेस में शामिल हो जायेंगे। कांग्रेस के पराभव से अब यह रास्ता विरोधी पार्टियो के लिए अपेक्षाकृत अधिक कारगर तरीके से खुल गया। राजनीतिक अस्थिरता वाले राज्यो मे इसका यह भी प्रभाव रहा कि गाँवों के नेताओं के साथ जोड़-तोड़ बैठाने का काम पहले की अपेक्षा अधिक जटिल हो गया।

तृतीय, कांग्रेस के आन्तरिक जीवन पर भी पंचायत राज के असर पड़े। एक ओर इन नयी संस्थाओं ने पार्टी के उत्साही कार्यकर्त्ताओं के लिए सरकारी सत्ता का एक रास्ता खोल दिया। यदि उन्हें समाज कल्याण कार्यकर्त्ता बने रहकर ही सन्तोष न हो, तो वे दल [illegible] से जिला कांग्रेस कमेटी के स्तर पर सत्ता संघर्ष की होड़ मे शामिल हो सकते हैं। इन नयी संस्थाओं के खुल जाने से पार्टी के कुछ असन्तुष्ट कार्यकर्ताओं को जगहें मिल गयीं और [illegible] पार्टी में ऊपर जाने के लिए ट्रेनिंग तथा प्रशिक्षण की सुविधाएँ उपलब्ध हो गयीं। [illegible] शायद यह थी कि कांग्रेस संगठन में नवयुवकों को आकृष्ट करने की समस्या को [illegible] थोड़ी मदद मिली। सरकार की इन नये स्तरों की संस्थाओं ने ग्रामीण क्षेत्रों [illegible] और आकांक्षाओं वाले नये लोगों को ढूंढ निकाला। दूसरी ओर निचले, [illegible] से नयी समस्याएँ सामने आयीं और नये किस्म के [illegible] पुरानी थी, वह पार्टी में ऊपर के स्तरों तक पहुँचने [illegible]

---

[1] W. H. Morris Jones, *The Government and* [illegible] pp. 227-29.

चतुर्थ, पचायती राज का दीर्घकालीन प्रभाव यह हुआ कि ग्रामीण राजनीति में गतिशीलता और होड बढ गयी। हालांकि आरम्भ मे कांग्रेस को इसका लाभ मिला, किन्तु फिर भी काग्रेस गाँव की सत्ता के उस ढाँचे को निर्बल बनने तथा टूटने से रोक नही पायी, जो अभी तक पूरी तरह से गठा हुआ था। यह आशा करना बहुत बड़ी बात थी कि गाँवो के सभी सरपच जिनमे बहुत से पहली बार कांग्रेस की ओर से चुने गये थे, जिन पदो पर चुने गये थे उनके प्रचुर अधिकारो का आचारशील ढग से न्यायोचित और समुचित दूरदर्शिता के साथ इस्तेमाल करेंगे। दूसरी ओर, राजस्तरीय काग्रेस के नेताओ के लिए ऐसे लोगो को अनुशासन के अकुश में रख पाना कोई आसान काम नही था, जिनकी पार्टी को ज्यादा जरूरत थी और जिनके लिए पार्टी की जरूरत अपेक्षाकृत कम थी। इस तरह से जितने लोग काग्रेस के मित्र बने, उतने ही काग्रेस के दुश्मन भी बन गये और इस प्रक्रिया का 1967 मे पार्टी मे होने वाली गडबडी में काफी हाथ था।

पंचम, पचायती सस्थाओ के माध्यम से सम्पर्क सूत्र की राजनीति (Linkage Politics) का विकास हुआ। गाँव, जिलो व राज्यो के मुख्यालयो से जुडने लगे। गाँवो की राजनीति पर जिले एव राज्य स्तर की राजनीति का प्रभाव पडने लगा। राज्य स्तरीय नेता ऐसी जोड-तोड करने लगे कि उनके गुट एवं पार्टी के व्यक्ति पंचायतो मे आयें ताकि उनका समर्थन आधार मजबूत हो सके। पचायती सस्थाएँ एव नेतृत्व गाँवो को राजनीति से जोडने की महत्त्वपूर्ण कडी है।

षष्ठ, पचायती राज सस्थाओ से पिछडी हुई जातियों मे नयी चेतना का विकास हुआ है और पारस्परिक उच्च जातियो की स्थिति मे ह्रास हुआ है। निम्न व मध्यम जातियाँ भी राजनीति मे अपनी भागीदारी अदा करने लगी हैं।

सप्तम, पचायतो के चुनाव उसी प्रकार लडे जाते है जिस प्रकार लोकसभा और विधानसभा के चुनाव लड़े जाते है। इससे ग्रामीण जीवन मे गुटबन्दी की भावनाएँ विकसित हुई और गाँव राजनीति के अखाडे बनते जा रहे है।

डॉ. पी. सी. माथुर ने अपने एक विद्वतापूर्ण शोध लेख मे राजस्थान मे पचायती राज की राजनीति के परिणामो को इस प्रकार बताया है—(1) परम्परावादी पंचायतो का अवसान हुआ है (Eclipse of traditional Panchayats); (ii) ग्रामीण गुटो का राजनीतिकरण हुआ है (Politicization of village factionalism); (iii) राज्य और जिला स्तरीय राजनीतिक शक्तियो एवं राजनीतिज्ञों की ग्रामीण अंचलो मे घुसपैठ हुई है (Percolation of state and district political forces and actors); (vi) नव परम्परावादी झुकावो और समीकरणों का अभ्युदय हुआ है (Emergence of neotraditional Political motivations and calculations), (v) प्रभावक जातियो का प्रभाव बढा है (Increase in the political weightage of numerically dominant castes); (vi) ग्रामीण नेतृत्व एवं जिला व राज्य स्तरीय राजनीतिक नेतृत्व मे मताचरण सम्बन्धी लिंक स्थापित हुआ है (Establishment of vote-nexus between local level political leadership and political leaders at the State and district level), (vii) राज्य एव जिला स्तरीय राजनीति का ग्रामीणीकरण हुआ है (Ruralization of political leaders in state and district politics); (viii) राज्य एवं जिला स्तरीय राजनीतिज्ञो को सन्तुलन करने के लिए स्थानीय राजनीतिज्ञों का अभ्युदय (Emergence of local counter weights to district and state level political bosses), (ix) स्थानीय एव ग्रामीण समाजो मे भौतिकवादी झुकावो का अभ्युदय (Emergence of material benefits orientation at local levels of Indian society)[1]

---

1 P. C. Mathur, "Performance of Panchayati Raj Institutions in Rajasthan . A Critical Survey" *Panchyat Sandesh* (New Delhi), October-Nov 1980, p. 14.

पंचायती राज का राजनीतिकरण : राजस्थान का एक अध्ययन
(POLITICIZATION OF PANCHAYATI RAJ : THE CASE OF RAJASTHAN)

राजस्थान मे सन् 1980 के पंचायती राज संस्थाओ के चुनाव दलीय आधार पर लडे गये थे। इससे पूर्व पंचायती राज मे जयप्रकाश नारायण के दलविहीन लोकतन्त्र के सिद्धान्त का पालन करते हुए चुनाव प्रत्यक्षत· तो दलगत आधार पर नही कराये जाते थे। दलीय आधार पर पंचायतो के चुनाव कराने की सिफारिश जनता शासन के दौरान गठित अशोक मेहता समिति ने की थी। अशोक मेहता समिति ने कहा था कि पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव दलीय आधार पर कराने से वे राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग वन सकेंगी और ग्रामसभा से लोकसभा तक राजनीतिक पार्टियो की सीधी मान्य पैठ ही जायेगी।

अक्टूवर 1983 के प्रथम सप्ताह मे जयपुर मे भारतीय जनता पार्टी के सरपंचो व प्रधानो का अपने प्रकार का पहला दो दिवसीय सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन मे मुख्य जोर इस वात पर दिया गया कि पचायती राज के प्रतिनिधि गाँवो मे कुशासन और भ्रष्टाचार का पर्दाफाश करने की विपक्ष की भूमिका निभाने के प्रति अधिक जागरूक और सतर्क रहे। भाजपा नेता यह भूल गये कि जहाँ ग्रामीण जनता ने भारतीय जनता पार्टी के मनोनीत व्यक्ति को सरपंच पद के लिए अपना प्रतिनिधि चुना है वहाँ उसे विपक्षी की भूमिका निभाने के लिए नही वल्कि विकास योजनाओ के माध्यम से सक्रिय भूमिका अदा कर उन्हे राहत पहुँचाने का उद्देश्य ही प्रमुख रहा है।

प्रदेश काग्रेस (इ) द्वारा कोटा के जिला प्रमुख की अध्यक्षता मे पचायती राज सस्थाओ की माली हालत की समीक्षा पर उपयुक्त सुझाव देने के लिए गठित कार्यकारी टोली ने भी अक्टूवर 1983 मे अपनी सिफारिशे प्रस्तुत की। कार्यकारी दल ने पंचायती राज से सम्वन्धित कार्यो मे प्रधान व प्रमुख तथा विधायक व सांसदो के वीच चली आ रही प्रतिस्पर्द्धा को भी फिर उभार दिया है। दल ने सिफारिश की है कि पंचायती राज के वारे मे सांसद व विधायको की राय से ज्यादा प्रधान व जिला प्रमुख की राय को महत्त्व दिया जाये। राजनीतिक दृष्टि से आज की पचायती राज व्यवस्था मे यह सवसे अधिक विस्फोटक स्थिति है। राज्य सरकार और मन्त्रियो के अधिक निकट रहने के कारण विधायक ऊपर से अपनी सुविधानुसार आदेश करवा लेते हैं जवकि प्रधान को अपने क्षेत्र की जनता का उतना ही प्रतिनिधित्व करने के वावजूद एक प्रकार से अपने को सरकार का मातहत मानकर चलना पडता है और विकास कार्यो मे भी उसकी इच्छानुसार कार्यवाही नही की जाती। विधायक को शिकायत यह रहती है कि पचायत समिति का सारा अमलीतन्त्र प्रधान के अधीन रहता है और उसके निर्वाचन क्षेत्र मे उसकी इच्छानुसार विकास कार्य नही हो पाते। यदि प्रधान और विधायक मे पारस्परिक सम्वन्ध मधुर व मैत्रीपूर्ण है तव तो कोई समस्या नही आती। किन्तु प्रत्येक राजनीतिक व्यक्ति की अपनी महत्त्वाकाक्षाएँ होती हैं और वे ही उसकी कार्यपद्धति तथा विचारण को प्रभावित करती रहती है। अतः यह पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा भी सत्ता-भोगी राजनीतिक दल को भीतर से खोखला और कमजोर कर सकती है।

पचायती राज मे दलगत राजनीति का प्रवेश दुधारी तलवार है। इससे एक ओर जहाँ ग्राम स्तर पर राजनीतिक दल की नीव गहरी जम जाती है और ग्राम पंचायत के माध्यम से सत्ताहीन दल को अपनी नीतियो और कार्यक्रमो को क्रियान्वित करने का समर्थन और सक्षम आधार एव अवसर सुलभ हो सकता है वहाँ दूसरी ओर जन अभिलाषाओ और आकाक्षाओं को पूरा न कर पाने पर जन-आक्रोश का भी सीधा मुकावला करना पडता है और एक संस्था की असावधानी या अकर्मण्यता का खमियाजा पूरे दल की छवि को उठाना पड़ता है।

पंचायती राज का अशोक मेहता मॉडल
(ASHOKA MEHTA MODEL OF PANCHAYATI RAJ)

एक व्यापक दृष्टिकोण से अक्सर यह सवाल उठाया जाता है कि क्या पंचायत राज स्थापना से भारत के देहातो मे शान्तिपूर्ण ढग से सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया मे सहायता मिलती है ? जनता पार्टी के सत्ता मे आने के बाद 12 सितम्बर, 1977 को मन्त्रिमण्डल सचिवालय ने पचायती राज संस्थाओ की कार्यप्रणाली का अध्ययन करने एवं प्रचलित ढांचे मे परिवर्तन सुझाने हेतु एक उच्चस्तरीय समिति नियुक्त की। श्री अशोक मेहता इस समिति के अध्यक्ष थे। इस समिति ने अपने प्रतिवेदन मे पचायती राज संस्थाओ का एक नया प्रतिमान (मॉडल) सुझाया है। समिति की सिफारिश के पीछे मूल भावना यह है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर उसे संस्थागत रूप प्रदान किया जाये। समिति द्वारा सुझाये गये पचायती राज प्रतिमान (मॉडल) की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है : **प्रथम**, जिला परिपद को मजबूत बनाया जाये तथा ग्राम पंचायत की जगह मण्डल पचायत की स्थापना की जाये। अर्थात पंचायती राज सस्थाओ के संगठन के दो स्तर (Two Tier)—जिला परिपद तथा मण्डल-पचायत हो। **द्वितीय**, जिले को विकेन्द्रीकरण की धुरी माना जाये तथा जिला परिषद को समस्त विकास कार्यों का केन्द्रबिन्दु बनाया जाय। जिला परिपद ही जिले का आर्थिक नियोजन कार्य करेंगी, समस्त विकास कार्यों मे सामजस्य स्थापित करेंगी और नीचे के स्तर का मार्ग निर्देशन करेगी। **तृतीय**, जिला परिपद के बाद मण्डल पंचायतो को विकास कार्यक्रम का आधारभूत संगठन बनाया जाना चाहिए। मण्डल पचायतो का गठन कई गाँवो से मिलकर होगा। ये मण्डल पचायते 15,000 से 20,000 जनसख्या पर गठित की जायेगी। मण्डल पचायतो को कार्यक्रम क्रियान्वयन की दृष्टि से आधारीय सगठन (Base-level organisation) के रूप मे विकसित किया जाये। धीरे-धीरे पचायत समितियाँ समाप्त हो जायेगी और उनका स्थान मण्डल पंचायतें ले लेंगी। **चतुर्थ**, पंचायती राज सस्थाएँ समिति प्रणाली के आधार पर अपने कार्यो का सम्पादन करे। **पंचम**, जिलाधीश सहित जिला स्तर के सभी अधिकारी अन्तत जिला परिपद के मातहत रखे जायें। **षष्ठ**, इन सस्थाओ के निर्वाचनो मे राजनीतिक दलो को खुले तौर से अपने चुनाव चिन्हो के आधार पर भाग लेने की स्वीकृति भी दी जाये। **सप्तम**, न्याय पचायतो को विकास पचायतो के साथ नही मिलाया जाना चाहिए। यदि न्याय पंचायत की अध्यक्षता योग्य न्यायाधीश करे और निर्वाचित न्याय पंचायत को उनके साथ सम्बद्ध कर दिया जाये तो अधिक अच्छा होगा।

अशोक मेहता समिति की सिफारिशें महत्त्वपूर्ण है। किन्तु वर्तमान ग्राम पचायतो को खत्म कर उनके स्थान पर मण्डल पचायतो का गठन कहाँ तक उचित होगा ? ग्राम पचायत की समाप्ति तो पंचायती राज की कल्पना की मूल इकाई की ही समाप्ति होगी। समिति के एक सदस्य राज चड्ढा ने इसी ओर सकेत करते हुए लिखा है कि "मुझे जिला परिषद और मण्डल पचायत से आपत्ति नही है किन्तु समिति ने ग्राम सभा की कोई चर्चा नही की है, जबकि पचायत राज सस्थाओ का धरातल तो ग्राम सभा को ही बनाया जाना चाहिए था।"[1]

राजीव सरकार द्वारा पंचायती राज संस्थाओं पर केन्द्रीय वर्चस्व स्थापित करने का प्रयत्न

राजीव गाँधी सरकार ने मई 1989 मे सविधान के 64वे सशोधन विधेयक के रूप 'पचायती राज विधेयक' लोकसभा मे विचारार्थ प्रस्तुत किया। लोकसभा से यह विधेयक पारित

---

1 Report of the Committee on Panchayati Raj Institution (New Delhi, *Government of India*, 1978) pp. 173-74.

हो गया किन्तु राज्य सभा से संशोधन विधेयक पारित नही हो सका। इस विधेयक मे निम्नलिखित मुख्य प्रावधान है :

(1) उन राज्यो को छोड़कर जिनकी जनसंख्या 20 लाख से अधिक नही है तथा जिनमे पंचायतों का गठन मध्यवर्ती स्तर पर आवश्यक नहीं होगा, प्रत्येक राज्य मे ग्राम स्तर, मध्यवर्ती स्तर और जिला स्तर पर पंचायतो का गठन किया जायेगा।

(2) पचायतो मे अनुसूचित जातियो एव जनजातियो के लिए समुचित आरक्षण होगा।

(3) प्रत्येक पंचायत मे महिलाओ के लिए 30 प्रतिशत स्थान आरक्षित होगे।

(4) पंचायतो का कार्यकाल सामान्यत· 5 वर्ष होगा।

(5) पचायतो के लिए निर्वाचक नामावली तैयार कराने का और पचायतो के सभी निर्वाचनों के संचालन का अधीक्षण, निर्देशन व नियन्त्रण भारत के निर्वाचन आयोग में निहित होगा।

(6) राज्यपाल द्वारा नियुक्त वित्त आयोग अपने-अपने राज्य मे पंचायतो के कर लगाने, वसूल करने व प्रयुक्त करने के अधिकार व राज्य द्वारा दिये जाने वाले अनुदानो आदि की व्यवस्था का पुर्ननिरीक्षण करके अपना प्रतिवेदन राज्यपालों को देंगे जो उसे विधानमण्डल द्वारा विचारार्थ प्रस्तुत करायेंगे।

(7) राज्य के विधानमण्डलो को यह अधिकार दिया गया है कि वे विधि द्वारा पंचायतो को आवश्यक कर, शुल्क, पथकर तथा अन्य प्रकार के शुल्क लगाने, वसूल करने और प्रयुक्त करने के लिए अधिकृत कर सकेंगे। राज्यो द्वारा लगाये गये व वसूल किये गये कर आदि को पंचायतो को दिये जाने की व्यवस्था कर सकेंगे तथा पंचायतो को अपने धन को जमा करने व उसका आहरण करने के लिए अधिकृत कर सकेंगे।

गैर कांग्रेस (इ) दलो द्वारा शासित राज्य सरकारों तथा विपक्षी दलो के अनेक नेताओ ने उक्त सविधान संशोधन विधेयक की आलोचना करते हुए कहा कि विधेयक के प्रावधान राज्यो की उपेक्षा करके गाँवो पर सीधा केन्द्र का नियन्त्रण स्थापित करने का एक ढंग है जिससे शक्ति के विकेन्द्रीकरण के स्थान पर उसका केन्द्रीयकरण होता दिखाई देता है। विधेयक की आलोचना का आधार यह भी था कि उसके द्वारा राज्यो की सत्ता कम की जा रही है और पचायतों को सीधे केन्द्र के अधीन रखा जा रहा है।

राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार 'पंचायती राज' के प्रसग मे ऐसी व्यवस्था करने के लिए वचन वद्ध है जिसमे पचायती राज सस्थाओ की स्वायत्तता और निश्चित समय पर इन संस्थाओं के चुनाव की गारण्टी हो जिससे राज्यो की स्वायत्त सत्ता को कोई आघात न पहुँचे।

निष्कर्ष—पचायतो के निर्वाचित प्रतिनिधि स्थानीय समाज और राजनीतिक व्यवस्था के बीच की कड़ी है। इन स्थानीय जन प्रतिनिधियो के बिना ऊपर से आरम्भ किये हुए राष्ट्र निर्माण के क्रियाकलापो का चलना मुश्किल हो जाता है। पंचायतो के गैर-सरकारी कार्यकर्ताओं की शक्ति केवल प्रशासनिक और वितरण सस्थाओ के पदो के कारण नही, वल्कि समाज के शक्तिशाली वर्गो के समर्थन के कारण है।

39

भारतीय राजनीति : भाषा और शैली

[INDIAN POLITICS : IDIOMS AND STYLE]

आधुनिक राज्यो की राजनीतिक व्यवस्थाएँ आमतौर मे पुरानी व्यवस्थाओ और पु मामलो मे तो काफी पुरानी व्यवस्थाओं का विकसित रूप है। मानवीय व्यवहार और अन्य विचारो मे होने वाले परिवर्तनो की वजह से राजनीतिक व्यवस्थाओ मे परिवर्तन होते रहते हैं और राजनीतिक व्यवस्थाएँ भी लोगो के व्यवहार और अन्य पहलुओं पर अपना असर डालती हैं। दूसरे शब्दो मे, किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था उसकी सामाजिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब होत है और दोनो के बीच होने वाली अन्त.क्रिया का राजनीतिक व्यवस्था एवं सामाजिक दशा दोनो पर असर पड़ता है।

स्वाधीनता के बाद भारत मे राजनीति की एक नयी भाषा-शैली (Idimos and Style) विकसित हो रही है। भारतीय राजनीति का पर्यावरण एव समाज तो वही पुराना बना रहा किन्तु इस पुराने समाज मे नयी राजनीतिक सस्थाएँ पोषित और पल्लवित होती रहीं। इससे एक नूतन राजनीतिक सस्कृति का अभ्युदय हुआ—पुराने समाज के साथ नयी सस्थाएँ कार्य करने लगी—वे नये रंग मे रँगती जाती और अपना रग भी चढाती रहती। भारत मे निरन्तरता और परिवर्तन (Continuity and Change) के बीच तालमेल बैठाने का अभ्यास होने लगा और एक ऐसी राजनीतिक शैली उपजी जिसे पुरातनता और नवीनता (Tradition and Modernity) दोनो प्रकार के सपनो के मोह से मुक्त कहा जा सकता है।

भारतीय राजनीति की शैली : मॉरिस जोन्स मॉडल
(IDIOMS OF POLITICS : MORRIS JONES MODEL)

प्रो. मोरिस जोन्स ने अपनी पुस्तक 'दि गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया' के अध्याय दो मे दिलचस्प विचार प्रकट किये है। उनका मत है कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर तो पश्चिमीकरण के प्रभाव लगभग पूरे हो चुके है जबकि भारतीय समाज का अभी तक पूर्णतया पश्चिमीकरण नही हो पाया है। इसके परिणामस्वरूप भारत की राजनीतिक व्यवस्था और समाज व्यवस्था मे अन्तर्विरोध पाया जाता है। यह अन्तर्विरोध अस्थिर है। समाज व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था दोनों के सबल तत्त्व इस अन्तर्विरोध को पाटने के लिए संघर्षरत है। प्रो. मॉरिस जोन्स की दृष्टि मे भारतीय राजनीति की यह एक विचित्र समस्या है और सामाजिक शक्तियो के स्वरूप को समझे बिना राजनीतिक व्यवस्था को नही समझा जा सकता। भारत की राजनीति को देखने वाला कोई भी व्यक्ति तुरन्त यह धारणा बना सकता है कि उसे ऊपर से जैसा दिखायी पड़ता है, परन्तु वैसा नही है। ऐसी हालत मे हम क्यो आशा करें कि भारत की राजनीति

किसी एक सरल शैली की है। अमरीका मे विविधता के बावजूद सर्वत्र एक शैली मिलेगी।[1] किन्तु बेल्जियम, फ्रास और इटली में राजनीति की भाषा की शैलियो की विविधता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है अर्थात् एक देश की राजनीति की शैली दूसरे देश की शैली से भिन्न हो सकती है।

राजनीति की भाषाएँ (Languages of Politics)—राजनीति की भाषा से अभिप्राय है 'ढग', 'शैली', 'मुहावरा' आदि। प्रो मोरिस जोन्स भारत की राजनीति में मोटे तौर से तीन मुख्य भाषाएँ अथवा शैलियाँ मानते है :

(1) आधुनिक (Modern),
(2) परम्परागत (Traditional),
(3) सन्तो की भाषा (Saintly)।

उनके अनुसार आधुनिक राजनीतिक सस्थाएँ 'आधुनिक भाषा' का प्रतिनिधित्व करती हैं और पुरातन सामाजिक ढाँचा 'परम्परागत भाषा' का प्रतिनिधित्व करता है। भारत मे इन दोनों का समन्वय (मिलन) हो रहा है और यही कारण है कि भारत की व्यवस्था मे दो भिन्न शैलियाँ दिखायी पड़ती हैं :

(1) **आधुनिक भाषा (Modern Idiom)**—भारत मे आधुनिक राजनीति की भाषा का बड़ा महत्त्व है। इसी के सहारे भारत के राजनीतिक जीवन का व्यापक वर्णन किया जा सकता है। राजनीति की यह आधुनिक भाषा भारत के सविधान और अदालतो की भाषा है। ससद मे बहस की भाषा है, उच्च प्रशासन की भाषा है, सभी प्रमुख राजनीतिक दलो के उच्च स्तर पर प्रचलित भाषा है, सभी आंग्ल पत्र-पत्रिकाओं की भाषा है। राजनीतिक दलो, हितो, कार्यक्रमो और प्रयोजनो की भाषा है।

राजनीति की आधुनिक भाषा की तुलना प्रो. मॉरिस्स जोंन्स ने पश्चिमी राजनीति मे पाये जाने वाले हित समूहों के विवादो (Interest Conflict of Western Politics) से की है। भारत मे इसी भाषा मे अनेक महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक सघर्षो व हितो की लडाई लड़ी जाती है। देश की अर्थ-व्यवस्था मे सरकारी क्षेत्र के आकार, सरकारी नियन्त्रण की मात्रा व स्वरूप और भूमि सुधार की दिशा व गति के बारे मे बहस इसी भाषा मे होती है, केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारो की तुलनात्मक भूमिका, सघीय ढाँचे पर योजना आयोग का प्रभाव, सविधान की व्याख्या के मार्फत सघ के सन्तुलन पर सर्वोच्च न्यायालय का असर आदि आधुनिक भाषा के अन्य उदाहरण है। राजनीतिक संगठन के स्वरूप और इन सगठनो के बीच सम्बन्धो की चर्चा आधुनिक भाषा मे होने वाले वाद-विवाद का अन्य उदाहरण है।

भारत की राजनीति की यह एक महत्त्वपूर्ण शैली है और राजनीति की लगभग सभी बाते इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। इस दृष्टिकोण से भारतीय राजनीति की तुलना ब्रिटेन और अमरीका की राजनीति से की जा सकती है।

(2) **परम्परागत भाषा (Traditional Idiom)**—आधुनिक शैली के आधार पर ही भारतीय राजनीति का अध्ययन नही किया जा सकता। मॉरिन्स जोन्स के शब्दो में, "दर्शको को पर्दे के पीछे की स्थिति का पता नही है, वे ड्रामे के बीच हो रहे ड्रामे को नही जानते।" हमे उन सामाजिक तत्त्वो का भी अध्ययन करना पड़ेगा जो राजनीति की तथाकथित आधुनिक शैली के पीछे सक्रिय है और राजनीति के स्वरूप मे परिवर्तन ले आते है।

परम्परागत भाषा के कतिपय प्रमुख घटको का वर्णन इस प्रकार किया गया—(1) भारतीय समाज का संगठन जातियो के आधार पर हुआ। जाति वर्ग की तुलना मे छोटा तथा

---

[1] "The Conversation of a American Politics may be 'tapped' at any level and any place and the Language will remain the same." —*Ibid*, p 57.

स्थानीय सोपान है। जाति ही ग्रामीण भारत के सामाजिक सोपान की बुनियादी इकाई और वास्तविक सामाजिक समूह है। (ii) कोई भी व्यक्ति एक जाति से दूसरी जाति मे नही जा सकता हर व्यक्ति उसी जाति मे रहता है जिसमे वह जन्म लेता है। (iii) हर गाँव मे कर्मकाण्डो के मामले में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च होता है, लेकिन आमतौर से इस कारण गैर-ब्राह्मण जातियो के राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से उनके इलाके मे 'असरदार' बनने मे कोई बाधा नही पडती। (iv) यह छोटी-छोटी बहुत सी दुनियाओ (जातियो की दुनिया) की भाषा है। जिस दायरे मे जाति और गाँव एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते है, वह एक अतिसूक्ष्म बक्स के समान है और ऐसे हो अन्य बक्सो मे पूर्णत. पृथक् है। इस दायरे के लोगो को ऐसे ही दूसरे दायरो (बॉक्सो) के बारे मे कोई प्रत्यक्ष अनुभव या सहज ज्ञान नही होता। उनके लिए भारत तो क्या आन्ध्र भी बाहर से अस्पष्ट ही होता है। (v) जातियो की इस दुनिया मे व्यक्ति की अपनी हैसियत होती है। (vi) इस दुनिया मे अलग-अलग व्यक्तियो के अलग-अलग हित नही होते बल्कि समूहो के हित होते हैं। (vii) इस दुनिया मे असर और शक्ति का अभाव नही होता, पर असर और शक्ति सिर्फ जाति समूहो के होते हैं। (viii) जाति के नेताओ का काम दो प्रकार का होता है—आम राय बनाये रखना अर्थात् जातियो के बीच पैदा होने वाले विवादो को ऐसे ढग से हल करना कि यथास्थिति बनी रहे अथवा यदि जरूरी हो जाये तो शान्तिपूर्ण ढग से दोनो के बीच कुछ ले-दे करके विवाद को खत्म करना। इसके साथ ही बाहर के मामलो मे गाँव का प्रतिनिधित्व करना और सरकार से गाँव के लिए सुविधाएँ और रियायतें प्राप्त करना।

प्रो. मोरिस जोन्स लिखते है, "जाति, जो मूलत: एक स्थानीय समूह था, अपने आस-पास के इलाके मे रहने वाले अपनी जाति के लोगो से सम्पर्क स्थापित करने मे सफल हो गयी है। इस कारण जाति परस्पर आश्रित व सहयोगपूर्ण और प्राकृतिक सामाजिक समूह की बजाय एक प्रादेशिक, अधिकाधिक स्वतन्त्र और अन्य जातियो से होड़ करने वाली सगठित सस्था के रूप मे उदित हो रही है।"[1]

(3) **सन्तो की भाषा** (Saintly Idiom)—सन्त-महात्माओ की राजनीति की तीसरी भाषा भारतीय राजनीति के एक कोने मे मिलेगी। यह अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण भाषा है। इसे इक्के-दुक्के लोग ही बोलते है और राजनीति के पटल पर इसे निश्चय ही छोटा दर्जा प्राप्त है। लेकिन राजनीति मे काम करने वाले सभी लोगो पर इसका असर अवश्य पडता है। इस भाषा मे राजनीति की बात करने वाले राष्ट्रीय महत्त्व के प्रमुख व्यक्ति विनोबा भावे थे। जो आत्म-त्याग, प्रेम और सत्ताविहीन शासन तन्त्र का उपदेश देते हुए देश मे मैदान भ्रमण करते थे। भूमिहीनो के लिए चलाये गये उनके भूदान आन्दोलन को आरम्भ मे जो सफलता मिली, उससे प्रभावित होकर सभी राजनीतिक दलो ने उनकी प्रशसा की। इस भाषा का भारत के सभी वर्गों के लोगो पर व्यापक असर है। कुछ लोग इसे गाँधीजी की राजनीतिक शैली के समान मानते है। इस भाषा का सम्बन्ध प्राचीन 'हिन्दू धार्मिक साहित्य मे व्यक्त आदर्शों से बडी आसानी से जोडा जा सकता है।' इस भाषा का प्रभाव इन मानदण्डो पर अवश्य है जिनके आधार पर आम जनता आमतौर से राजनीतिज्ञो के कार्यों का मूल्यांकन करती है। जब विनोबा भावे जैसा व्यक्ति दलीय राजनीति के भ्रष्टाचार की बात कहता था, तो सार्वजनिक सेवाभाव और नागरिक आत्मा की आधुनिक धारणाओ और आम सहमति के माध्यम से संचालित गैर-प्रतियोगी मान्य सत्ता के परम्परागत विचारो, दोनो पर उसका प्रभाव पडता है।[2]

---

1 *Ibid* p 59

2 'A Bhave talking of the corruption of Party Politics appeals at once to the modern nations of Public Spirit and Civil Conscience and the traditional ideas of non-competitive accepted authority working through a general consensus.' —*Ibid*, p 61.

मॉरिस जोन्स के विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(CRITICAL APPRAISAL OF MORRIS JONES IDEAS)

प्रो. मॉरिस जोन्स के विचारो की आलोचना इस प्रकार की जा सकती है :

1. प्रो. मॉरिस जोन्स का कहना है कि भारत मे राज-व्यवस्था (Indian Polity) तथा समाज व्यवस्था (Indian Society) के मध्य बहुत अन्तर है। किन्तु यथार्थ मे सामाजिक परिवर्तन और राजनीतिक विकास की दृष्टि से जो अन्तर भारत मे दिखायी पड़ता है वह एशिया और अन्य अफ्रीका के देशो मे पाये जाने वाले अन्तर से बहुत कम है। इसका मुख्य कारण है कि राजनीतिक सुधार आन्दोलन से पूर्व भारत मे सामाजिक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हो गये थे। स्वाधीनता के बाद भी भारत के नेताओ ने सविधान, कानून और राजनीतिक व्यवस्था को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम माना था। राजनीति और समाज के बीच की खाई को पाटने के लिए भारत मे अनवरत् प्रयास हुए है।

2. प्रो. मॉरिस जोन्स राजनीतिक व्यवस्था और समाज व्यवस्था के मध्य अन्तर की चर्चा करते है जबकि इस अन्तर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर भारत मे आर्थिक विकास और राजनीतिक विकास के बीच का है।

3. प्रो. मॉरिस जोन्स कहते है कि एक देश की राजनीतिक शैली दूसरे देश की शैली से भिन्न होती है। इसके साथ ही उनका मत है कि इग्लैण्ड और अमरीका जैसे देशो मे सर्वत्र राजनीति की एक ही प्रकार की शैली प्रचलित है अर्थात् इन देशो के विभिन्न भागो एव राजनीति के विभिन्न स्तरो पर ही एक प्रकार की राजनीतिक शैली दिखायी पडती है। हम इस विचार से सहमत नही है। हो सकता है कि ब्रिटिश समाज मे सर्वत्र एकता हो किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि वहाँ राजनीतिक शैलियो मे एकता हो। ब्रिटेन मे जाति-व्यवस्था नही है किन्तु वर्ग सरचना तो है ही। विभिन्न वर्गो के लोग राजनीति की अलग भाषा बोलते है। बड़े-बडे व्यवसायियो की राजनीतिक शैली गरीब, कोयला खानो मे काम करने वाले मजदूरो से निश्चित रूप से भिन्न है। अमरीका में सघीय स्तर पर राजनीति की जो शैली है वह राज्य स्तर की शैली से भिन्न है। अमरीकी काग्रेस मे राजनीति की जो शैली प्रयुक्त होती है वह मिशिगन राज्य के विधान-मण्डल की शैली से कई बार भिन्नता रखती है। अमरीका के बडे-बडे व्यवसायियो की राजनीतिक शैली गरीब लोगो की शैली से बहुत अधिक भिन्न है।

4. प्रो. मॉरिस जोन्स 'सन्तो की राजनीति' की चर्चा करते हैं। इसका अभिप्राय है राजनीति मे नैतिकता, मानवीयता और शुद्ध आचरण का बोलबाला होना चाहिए। हमारा विचार है कि इस प्रकार की भाषा तो प्राय: सभी देशो की राजनीति मे किसी न किसी रूप मे अवश्य बनी रहती है। यह मूल रूप से जनता के अराजनीतिक लोगो की भाषा है जो राजनीतिक लोगो पर नैतिकता और मूल्यो की राजनीति का मुलम्मा चढाना चाहते है।

महत्त्व (Significance)—प्रो. मॉरिस जोन्स द्वारा प्रतिपादित राजनीति की तीनो भाषाओ को जान लेने से हमे भारत के राजनीतिक जीवन के कुछ सामान्य और कुछ विशेष पहलुओ को समझने मे मदद मिलती है। उनका यह विचार कितना महत्त्वपूर्ण है कि "राज्य के मन्त्रियो को भी दोनो भाषाओ का इस्तेमाल करना पडता है। वस्तुत. यह कहा जा सकता है कि जो मुख्यमन्त्री दोनो भाषाओ मे समान रूप से निपुण है, वही सफल मुख्यमन्त्री है।"[1] अर्थात प्रो जोन्स आधुनिक और परम्परावादी शैली के मिश्रण की चर्चा करते हैं। इस सम्बन्ध मे लायड और सुसेन रूडोल्फ द्वारा की गयी खोज से बडी सहायता मिली है जिसमे परिवर्तन की शैली पर

---

1 *Ibid*, p. 60.

जोर दिया गया है जिसका आशय यह है कि परम्परागत तत्त्व स्थिर रहते हैं पर वे नयी भूमिकाओ के अनुसार अपने रूप मे परिवर्तन कर लेते हैं तथा अपने को तदनुसार ढाल देते है—इसी को उन्होंने 'परम्परागत तत्त्वो की आधुनिकता' (The Modernity of Tradition) शब्दो मे व्यक्त किया है।

प्रो. मॉरिस जोन्स का यह निष्कर्ष प्रशंसनीय है—"राजनीति की तीन अलग-अलग किस्म की और सिद्धान्ततः होड करने वाली भाषाओ का सम्मिलित और शान्तिपूर्ण तरीके से एक-दूसरे मे प्रवेश करने की प्रक्रिया स्वतन्त्र भारत के राजनीतिक जीवन की एक महान् सफलता है।"[1]

भारतीय राजनीति की शैलीगत विशेषताएँ

(STYLE OF INDIAN POLITICS · SALIENT FEATURES)

प्रत्येक देश की राजनीति की शैली दूसरे देश की राजनीति शैली से भिन्न होती है। पूंजीवादी देशो की राजनीति शैली समाजवादी एव साम्यवादी देशो की शैली से एकदम भिन्न है। तीसरी दुनिया के राज्यो मे भी आकार, ऐतिहासिक अनुभव एव भिन्न औपनिवेशिक शासन के कारण राजनीतिक शैली मे भिन्नता दिखायी पड़ती है। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय राजनीति निजी शासन प्रणाली की तलाश मे भटकती रहती है। ब्रिटिश ढांचे की राजनीतिक व्यवस्था अपनाने के बाद भी भारत मे राजनीति की ब्रिटिश शैली विकसित नही हो पायी। सक्षेप मे, भारतीय राजनीति की शैलीगत विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) **राजनीति के दो चेहरे** (Two Faces of Politics)—भारतीय राजनीति मे सर्वत्र दो चेहरे दिखायी पडते हैं। मच पर राजनीतिज्ञ जनता के सामने जो कुछ कहते हैं, आश्वासन देते हैं, यह सब कुछ औपचारिक होता है। मंच के पीछे अथवा बन्द कमरो मे राजनीतिज्ञ अपने कार्यकर्त्ता के सामने एकदम दूसरी ही भाषा का प्रयोग करते हैं। भारतीय राजनीति के बारे मे यह मुहावरा ठीक लागू होता है कि हाथी के दांत दिखाने के अलग होते हैं और खाने के अलग होते हैं।

(2) **राजनीति में चमत्कार** (Charisma in Politics)—भारतीय राजनीति मे चमत्कारो का विशेष महत्त्व है। वही नेता सफल माना जाता है जो जादुई चमत्कार दिखाने मे सिद्धहस्त हो। वर्षों तक नेहरू का चमत्कार काम करता रहा और श्रीमती गांधी की सफलता का राज उनके चमत्कारी व्यक्तित्व मे था। तमिलनाडु मे एम. जी. आर. और आन्ध्र प्रदेश मे एन. टी रामाराव का चमत्कार किसी से छुपा नही है।

(3) **बाहर से आधुनिकता का दिखावा और भीतर से रूढ़िवादिता की जड़ें** (Outer Part is Modern and Inner Part Traditional)—भारतीय राजनीति मे बाहर से सब कुछ आधुनिक लगता है—सविधान, चुनाव व्यवस्था और नौकरशाही सभी आधुनिक है। किन्तु यदि इन संस्थाओं की अन्तरग कार्यप्रणाली को देखा जाये तो अनेक रूढिवादी तत्त्व इनको प्रभावित करते हैं। चुनावो मे जाति, धर्म आदि तत्त्वो की महत्त्वपूर्ण प्रभावक भूमिका रहती है। बाहर से आधुनिकता का दिखावा भारतीय राजनीति की शैलीगत विशेषताएँ हैं।

(4) **राजनीति की सामान्तवादी शैली** (Feudalistic Style of Politics)—आज भी भारत की राजनीति मे जनता और नेता, नौकरशाही और लोकशाही का रिश्ता सामन्तवादी शैली जैसा है। नये निर्वाचित मन्त्रियो और विधायको के साथ शासितो का आचरण उसी प्रकार का है जिस प्रकार राजाओ के युग मे राजा और प्रजा का हुआ करता था। यही कारण है कि स्वाधीनता के बाद भी राजाओ, जागीरदारो और सामन्तो का अपने-अपने इलाको मे प्रभाव बना हुआ है और सभी राजनीतिक दल उनका समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करते हैं।

---

[1] *ibid*, p 70.

(5) प्रतिबद्धता से रहित राजनीति (Politics without Commitment)—भारत की राजनीति में कोई प्रतिबद्धता नही है। न तो नेता प्रतिबद्ध हैं और न जनता ही प्रतिबद्धता के आधार पर नेताओ का मूल्यांकन करती है। विचारधारा और सिद्धात अधिक प्रभावक भूमिका अदा नही करते। हर आम चुनाव के बाद प्रतिपक्षी दलो से सत्तारूढ़ दल की ओर जाने वाले दल-बदलुओ की बाढ़-सी आ जाती है और मजे की बात यह है कि ये दल-बदलू चुनाव भी जीत जाते हैं।

(6) पश्चिम की नकलची राजनीति (Copying of Western Style of Politics)—भारत की राजनीति मे पश्चिमी तौर-तरीको की नकल एक फैशन बन गया है। एक ग्रामीण इलाके का व्यक्ति विधायक या सासद बनने के बाद पश्चिमी ढंग से रहना और सोचना प्रारम्भ कर देता है। राजनीति मे पश्चिमी मुहावरो का प्रयोग किया जाता है, पश्चिमी सस्थाओ को मापदण्ड मानकर हमारी राजनीतिक सस्थाओ की तुलना की जाती है।

(7) राजनीति मे अनिर्णय की शैली (Political Style of Indecision)—भारत में तत्काल निर्णय नही किये जाते। नेता और प्रशासक निर्णयो को टालने मे बडे कुशल होते है। वर्षो तक महत्त्वपूर्ण मसले अनिर्णय की स्थिति मे टालते जाते है और अवसर आने पर उनका राजनीतिक लाभ होने का प्रयत्न करते है। हर सीधे प्रश्न का गोलमाल उत्तर देना और गोलमाल हल ढूंढना भारतीय राजनीतिक शैली की विशेषता है।

(8) आश्वासनों की राजनीति (Political Style of Assurances)—भारतीय राजनीति मे आश्वासनो का विशेष महत्त्व है। पंचायत स्तर के नेता से लेकर विधायक, सासद और मन्त्रीगण जनता को तरह-तरह के आश्वासन देते हैं। चुनावो से पूर्व तो आश्वासनो की बाढ ही आ जाती है। प्रायः ऐसे आश्वासन दिये जाते हैं जिन्हें पूरा करना सम्भव नही होता।

(9) दबाव की भाषा का प्रयोग (The Language of Pressure)—भारत के लोग और दबाव एवं हित समूह यह जानते हैं कि सरकार एवं नीति-निर्माताओ के कानो पर तब तक जूं नही रेंगती जब तक कि दबाव की भाषा का प्रयोग नही किया जाये। अत. वे प्रत्यक्ष कार्यवाही के तरीको का व्यापक प्रयोग करते हैं। वे अनशन, बन्द, हडताल, घेराव, सत्याग्रह आदि साधनों का प्रयोग विरोध प्रदर्शित करने के लिए या दबाव डालने के लिए करते है।

(10) सत्याग्रह एवं अनशन (Satyagrah and Fast-unto-death)—सत्याग्रह और अनशन भारतीय राजनीति मे पुरानी परम्परा है। राष्ट्रीय आन्दोलनो के दिनो मे गाँधी ने इनका प्रयोग किया था। स्वाधीनता के बाद भी राजनीति मे इनका प्रयोग राजनीतिक शस्त्रों के रूप मे होता रहा है। मोरारजी देसाई ने तो सन् 1974 मे गुजरात विधानसभा का विघटन कराने के लिए ससद मे अनशन एव सत्याग्रह की धमकी दी थी। गौ-वध बन्द कराने के लिए आचार्य विनोबा भावे ने 1978 मे आमरण अनशन किया।

(11) राजनीति में हिंसा (Politics of Violence)—राजनीति मे हिंसा का प्रयोग बढता जा रहा है। चुनावो के समय हिंसा का भयानक रूप उमड़कर सामने आता है। नवी लोकसभा चुनाव के अवसर पर सौ से भी अधिक लोग मारे गये।

(12) राजनीति में अपराधी (Criminals in Politics)—राजनीति का अपराधीकरण होता जा रहा है। राजनीतिक दल अपराधी किस्म के लोगो को सांसद और विधायक हेतु टिकिट देते हुए नही हिचकिचाते हैं। अपराधी तत्त्व चुनावो मे बूथ कब्जा करके परिणाम बदलने की कोशिश भी करने लगे हैं।

निष्कर्ष—भारत में राजनीति और राज व्यवस्था की अपनी शैली है। इसी कारण ससदीय प्रणाली अपनाने के बाद भी कई मामलो मे हमारी व्यवस्था इंग्लैण्ड से भिन्न है। सघात्मक व्यवस्था अपनाने के बावजूद भी हमारी सघ व्यवस्था अमरीकी संघ व्यवस्था से एकदम भिन्न है। हमारे देश की परम्परा, ऐतिहासिक विरासत और पर्यावरण की भिन्नता के कारण राजनीति की एक नयी शैली भारत मे विकसित हुई है।

40

भारत की राजनीतिक संस्कृति

[POLITICAL CULTURE OF INDIA]

किसी राजनीतिक व्यवस्था के पीछे आधार रूप से उसकी राजनीतिक संस्कृति और फिर उपसंस्कृतियाँ होती हैं जिनसे बहुत हद तक राजनीतिक व्यवस्था के चरित्र का निर्धारण होता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि राजनीति का ऊपरी ढाँचा ठीक-ठीक राजनीतिक संस्कृति को प्रतिबिम्बित करे। फिर भी दोनो का एक-दूसरे से गहरा सम्बन्ध होता है। हालांकि संस्कृति निर्णायक होती है, फिर भी दोनो एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और इस प्रक्रिया मे राजनीतिक संस्कृति मे भी बदलाव आता है। लेकिन जहाँ राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिक संस्कृति दोनो की मूल मान्यताएँ एक-दूसरे से भिन्न दिखायी दे वहाँ राजनीतिक व्यवस्था पर राजनीतिक संस्कृति के अनुसार बदलने का भारी दबाव पडता है।

राजनीतिक संस्कृति से अभिप्राय
(THE MEANING AND DEFINITIONS OF POLITICAL CULTURE)

किसी राजनीतिक संस्कृति मे उस समाज की अभिवृत्तियो, विश्वास भावनाएँ और सत्य शामिल होते हैं जिनका राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिक मुद्दो से सम्बन्ध होता है।[1] सिडनी वर्बा के अनुसार, "राजनीतिक संस्कृति मे आनुभाविक विश्वासो, अभिव्यक्तात्मक प्रतीको और मूल्यो की वह व्यवस्था सन्निहित है जो उस परिस्थिति अथवा दशा को परिभाषित करती है जिसमे राजनीतिक क्रिया सम्पन्न होती है।"[2] ल्यूशियन पाई के अनुसार, "राजनीतिक संस्कृति अभिवृत्तियो, विश्वासो तथा मनोभावो का ऐसा पुंज है जो राजनीतिक क्रिया को अर्थ एव व्यवस्था प्रदान करता है तथा राजनीतिक व्यवस्था मे व्यवहार को नियन्त्रित करने वाली अन्तर्निहित पूर्णधारणाओ तथा नियमों को बनाता है।"[3] इन परिभाषाओ से स्पष्ट है कि राजनीतिक व्यवस्था तथा राजनीतिक मुद्दो से सम्बन्धित सामाजिक दृष्टिकोणो, विश्वासो और मूल्यो से राजनीतिक संस्कृति का निर्माण होता है। कई बार यह हो सकता है कि ये अभिवृत्तियाँ सचेतन रूप से प्रकट न हो और धुँधली सी दिखाई दे। बहुत ही सरल भाषा मे राजनीतिक संस्कृति, राजनीति के प्रति लोगो की धारणाएँ हैं अर्थात् कहाँ तक नागरिक यह महसूस करते हैं कि निर्णयकारी प्रक्रिया (decision-making Process) मे भाग लेकर उसे प्रभावित कर सकते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओ से 'राजनीतिक संस्कृति' की अवधारणा की तीन विशेषताएँ प्रकट होती हैं (1) आनुभाविक आस्थाएँ या विश्वास (Empirical beliefs)—इससे अभिप्राय है कि

---

1 A. R. Ball . *Modern Politics and Government* (London, 1971) p 56.

2 Sydney Verba . *Comparative Political Culture* (ed.) Lucian Pye and Sydney Verba . *Political Culture and Political Development*, (New Jersey, 1965), p 513.

3 Lucian Pye *op cit.*, p 7.

व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक सस्थाओ, सरचनाओ और प्रक्रियाओ के बारे मे किस प्रकार से विश्वास रखता है ? इससे राजनीतिक व्यवस्था मे व्यक्ति की अभिरुचि या उदासीसता का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए, अगर कोई व्यक्ति स्वय यह आनुभाविक विश्वास रखने लग जाता है कि आम चुनाव मे उसके मत देने या नही देने मे कोई फर्क नही पडेगा तो वह सामान्यतया मत देने ही नही जायेगा। लोकतन्त्र मे लोगो की आनुभाविक आस्थाओ एव विश्वासो के आधार पर ही शासको और शासितो के पारस्परिक सम्बन्धो का नियमन होता है। (ii) **मूल्य अभिरुचियाँ** (Value Preference)—इससे यह आशय है कि राजनीतिक समाज के व्यक्ति स्वयं अपने लिए और सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए किस प्रकार की मूल्य व्यवस्था मे अभिरुचि रखते है ? अर्थात् लोगो की अभिरुचि कानून व सवैधानिक नियमो वाली व्यवस्था मे है अथवा कानूनो को वे केवल साधनमात्र समझते हैं ? लोग सामाजिक और आर्थिक न्याय चाहते हैं अथवा राजनीतिक लोकतन्त्र के ढाँचे को वरकरार रखना चाहते हैं ? वे लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता, निष्पक्ष न्यायपालिका और स्वतन्त्र प्रेस चाहते हैं अथवा उनकी रुचि तो केवल एक बात मे हो सकती है कि उनका समाज समय के साथ-साथ नही अपितु तुरन्त आगे बढ जाय। नवोदित विकासशील राज्यो मे विकास की गति तीव्र करने की लालसा इतनी गहरी है कि इसके लिए वे लोकतन्त्र को अनुपयुक्त मानकर ऐसी निरंकुश व्यवस्थाओ का स्वागत कर रहे हैं जो सौ वर्ष मे प्राप्त होने वाली अवस्था को दस वर्ष मे प्राप्त करा सके। (iii) **प्रभावी अनुक्रियाएँ** (Effective responses)—इससे अभिप्राय है कि राजनीतिक वस्तुओ, संस्थाओ और प्रतिक्रियाओ के प्रति लोगो के अनुकूल मनोभाव है, अथवा प्रतिकूल मनोभाव। उदाहरण के लिए, एक राजनीतिक समाज के व्यक्तियो को अपने राष्ट्र, देश या व्यवस्था पर गर्व हो सकता है तो किसी अन्य राजनीतिक समाज के लोगो मे इसके प्रति निराशा और घृणा तक हो सकती है।

सक्षेप मे, राजनीतिक सस्कृति से केवल राजनीति के प्रति अभिवृत्तियाँ, राजनीतिक मूल्य, विचारधाराएँ, राष्ट्रीय चरित्र और सास्कृतिक लोकाचार ही सम्मिलित नही रहता है बल्कि राजनीति की शैली, ढग और उसका तथ्यात्मक ढाँचा भी सम्मिलित रहता है।

भारत की राजनीतिक संस्कृति : अभिप्राय
(INDIA'S POLITICAL CULTURE MEANING)

जब हम भारत के सन्दर्भ मे राजनीतिक संस्कृति की चर्चा करते हैं तो हमारा अभिप्राय भारत के लोगो की अभिवृत्तियो, विश्वासो, भावनाओ और मूल्यो से है अर्थात् भारत के लोगो की राजनीतिक सस्थाओ, प्रक्रियाओ और सरचनाओ के बारे मे क्या धारणाएँ हैं ? क्या भारत की जनता राजनीतिक मुद्दों के प्रति जागरूक है ? क्या भारत की जनता राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने की क्षमता रखती है ? मोटे रूप मे भारत की राजनीति के प्रति लोगो की धारणाएँ ही यहाँ की संस्कृति का स्वरूप उजागर करती हैं।

राजनीतिक सस्कृति की अवधारणा की विशेषताओ के परिप्रेक्ष्य मे भारत की राजनीतिक संस्कृति को स्पष्ट किया जा सकता है :

(i) **भारतीय जन मानस के राजनीतिक विश्वास**—भारत मे लोकतन्त्र वरकरार है जबकि एशिया और अफ्रीका के अधिकाश देशो मे लोकतन्त्र का सूर्य अस्त हो चुका है। इससे साफ प्रकट होता है कि लोकतन्त्र की संस्थाओ और सरचनाओ मे लोगो की अटूट आस्था है। अशिक्षित होते हुए भी भारत का मतदाता गैर-जिम्मेदार नहीं कहा जा सकता है। स्वाधीनता के बाद भारत में अनवरत रूप से निर्वाचन होना और 50 से 65 प्रतिशत तक मतदाताओ का निर्वाचन प्रक्रिया मे भाग लेना यह इंगित करता है कि आज जनता का निर्वाचित लोकतन्त्र मे गहरा विश्वास है। जून 1975 मे घोषित आपातकालीन व्यवस्था मे प्रेस और न्यायपालिका की स्वतन्त्रता नियन्त्रित हो

गयी, मीसा और डी आई. आर. (भारत सुरक्षा अधिनियम) जैसे कानूनो के कारण नागरिक स्वतन्त्रता परिसीमित हो गयी, 42वें सविधान संशोधन द्वारा सविधान का लोकतान्त्रिक ढाँचा चरमराने लगा तो लोगो ने मार्च 1977 के चुनावो मे जयप्रकाश नारायण के नारे 'लोकतन्त्र वनाम तानाशाही' मे से लोकतन्त्र को कायम करने का आश्वासन देने वाली जनता पार्टी को सत्तारूढ किया। अपने ढाई वर्ष के शासनकाल मे जनता पार्टी का नेतृत्व वर्ग आपसी कलह मे उलझता रहा, कानून और व्यवस्था की स्थिति बिगडने लगी, देशव्यापी पुलिस आन्दोलन हुआ और प्रशासन मे नौकरशाही का बोलबाला बढने लगा तो जनवरी 1980 के चुनावो में श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने जनता का आह्वान किया कि 'उस सरकार को चुनिये जो काम कर सके।' भारत की जनता ने जनता पार्टी और लोकदल के नेताओ को अस्वीकार करके एक स्थिर सरकार के पक्ष मे निर्णय लिया। इससे स्पष्ट है कि लोकतन्त्र, निष्पक्ष निर्वाचन तन्त्र, प्रेस की स्वतन्त्रता, न्यायपालिका की निष्पक्षता, सवैधानिक शासन और स्थिर सरकार मे लोगो की आस्था है। लोकतान्त्रिक जीवन मार्ग मे जनता की यह दृढ आस्था ही भारतीय लोकतन्त्र का सवसे प्रमुख आधार है।

(ii) **भारत में लोगों के राजनीतिक मूल्य**—भारत मे लोगो के राजनीतिक मूल्य क्या हैं? यह राजनीतिक मूल्य ही हैं जो व्यक्ति को क्रान्ति और आवश्यकता पडने पर खून वहाने तक के लिए तैयार कर देते हैं। गाँधीजी ने भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन 'स्वराज्य' के मूल्य को जनता मे लोकप्रिय वनाकर चलाया। मोतीलाल नेहरू अपनी हजारो की आय वाली वकालत को त्यागकर स्वतन्त्रता आन्दोलन मे कूद पडे। भगतसिह ने स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राणो की आहुति दे दी। स्वाधीनता के वाद नेताओ और जनता के मूल्यो मे काफी परिवर्तन आया है। कथनी और करनी का स्पष्ट अन्तर मूल्यो के परिप्रेक्ष्य मे दिखायी देता है। सभी कहते हैं कि लोकतन्त्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद हमारे आधारभूत मूल्य हैं; किन्तु क्या हमारी सामाजिक सस्कृति मे तानाशाही के वीज छिपे हुए नही हैं। उच्च और निम्न वर्ग का अन्तर, ऊँची और नीची जातियो की शृंखला, नेता और जनता के वीच की दूरी क्या अलोकतान्त्रिक नही है? धर्मनिरपेक्षता की ओट मे क्या धर्म के आधार पर वोट नही माँगे जाते? समाजवाद की चर्चा करते हैं किन्तु क्या हमारे एक संसद सदस्य पर औसतन प्रति माह 5000 रु. से भी अधिक व्यय नही करना पडता है? क्या मन्त्री, गवर्नर और राष्ट्रपति समाजवादी राजकुमारो की तरह जीवन व्यतीत नहीं करते है?

संविधान की प्रस्तावना मे भारतीय जनता के राजनीतिक मूल्यो की चर्चा हुई। ये मूल्य हैं न्याय, स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व। प्रस्तावना मे निहित आदर्श आज भी हमारे राष्ट्रीय मूल्य हैं और युग-युग मे प्रत्येक सरकार को उनकी प्राप्ति के लिए सतत् प्रयास करना होगा।

(iii) **भारत में लोगो की प्रभावी अनुक्रियाएँ**—राजनीति, राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिज्ञो के प्रति भारत के लोगो के अनुकूल मनोभाव नही हैं। राजनीति को हेय दृष्टि से देखा जाता है। पेशेवर राजनीतिज्ञो का वाहुल्य है और अपने न्यस्त स्वार्थो की पूर्ति के लिए राजनीतिज्ञ विना किसी सिद्धान्त और विचारधारा के दल-वदल करने मे नही हिचकिचाते। वडे से वड़े राजनीतिज्ञो पर भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद के आरोप सामान्य वात हो गयी है। विगत कुछ वर्षों से भारत की राजनीति मे जो कुछ हो रहा है उससे आम जनता का मन भारी क्षोभ, ग्लानि और एक विचित्र-सी खिन्नता से भरता जा रहा है। सार्वजनिक जीवन मे नैतिक मूल्यो के अव-मूल्यन, राजनीतिक दलो के विघटन और आये दिन दल-वदल एव सरकारो (केन्द्र एव राज्य) के उलटे जाने के सन्दर्भ मे जो प्रश्न उठाया जा रहा है, वह है—क्या ब्रितानी ढंग की ससदीय व्यवस्था भारत के लिए उपयुक्त सिद्ध नही हुई?

भारत की राजनीतिक संस्कृति के आधार
(THE FOUNDATIONS OF INDIA'S POLITICAL CULTURE)

भारत की राजनीतिक संस्कृति कही समरूप मे देखने को मिलती है तो कही विविध रूप वाली है। इससे यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण वन जाता है कि राजनीतिक संस्कृति के ऐसे कौन-से आधार हैं जिनसे उनकी प्रकृति का निर्धारण होता है। यहाँ भारत की राजनीतिक संस्कृति के प्रमुख आधार का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा :

(i) **ऐतिहासिक आधार** (Historical Foundations)—किसी देश की राजनीतिक संस्कृति का महत्त्वपूर्ण आधार उसका इतिहास होता है और किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लिए अतीत से पूर्णतया नाता तोड लेना सम्भव नही है। भारत लम्बे समय तक औपनिवेशिक प्रभुत्व का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है जहाँ धीरे-धीरे वेस्टमिनिस्टर (ब्रिटिश) नमूने की सरकार का उदय हुआ। भारतीय संसद की कार्यप्रणाली ब्रिटिश संसद से मिलती है और भारत में 'कानून के शासन' की धारणा ब्रिटेन से ही आयी है।

(ii) **भौगोलिक आधार** (Geographical Foundations)—किसी देश की राजनीतिक संस्कृति का भूगोल भी महत्त्वपूर्ण नियामक कारण होता है। भारतीय उपमहाद्वीप की भौगोलिक स्थिति से राजनीतिक सस्कृति के निर्माण में भौगोलिक कारक के प्रभाव को अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। भारत के विभाजन के वाद पाकिस्तान के दो भागो की भौगोलिक दूरी इनको अन्तत पृथक् राज्य वनाकर रही, क्योंकि इन दोनो भागो की राजनीतिक संस्कृति इतनी विरोधी वन गयी थी कि किसी प्रकार का प्रयत्न यहाँ तक कि भारत का भय भी इनकी राजनीतिक संस्कृतियो को साम्य की अवस्था मे नही ला सका। स्वाधीनता के वाद भारत की विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण ही गुटनिरपेक्षता की विदेशी नीति अपनायी गयी। जनता पार्टी के सत्ता में आने के वाद भी इस नीति मे वुनियादी परिवर्तन नही हुआ।

(iii) **सामाजिक-आर्थिक संरचना का आधार** (The Foundation of Socio-economic Structures)—किसी देश की राजनीतिक संस्कृति को वनाने मे सामाजिक-आर्थिक सरचना काफी प्रभावकारी भूमिका अदा करती है। मुख्य रूप से शहरी और औद्योगिक समाज अधिक सश्लिष्ट या जटिल समाज होता है जहाँ तीव्र संचार साधनो को वढावा मिलता है। ऐसे समाज मे शैक्षिक स्तर उच्च स्तर होते है, गुटो की संख्या मे वृद्धि हो जाती है और निर्णयकारी प्रक्रिया मे भाग लेने वालों की संख्या अनिवार्यत अधिक व्यापक होती है। ग्रामीण समाज परिवर्तन तथा अभिनवीकरण के प्रति उन्मुख नही होते और जिन राज्यो का अधिकाश किसान वर्ग होता है, वे अधिक अनुदार होते हैं।

भारत मे काग्रेस सरकार ने देश का औद्योगीकरण एक पूँजीवाद मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की अभिधारणा के आधार पर करने का जिम्मा लिया। पूँजीवादी औद्योगीकरण का अर्थ है उत्पादन साधनो के मालिकों के लिए उत्पादन के प्रेरक के रूप मे मुनाफे पर आधारित और दूसरे समस्त सामाजिक सम्वन्धो का वुनियादी चरित्र प्रतिद्वन्द्विता है, इस तथ्य पर आधारित औद्योगीकरण। पूँजीवादी औद्योगीकरण का अर्थ है समुदाय के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन का यन्त्रीकरण, व्यवसायीकरण और व्यक्तियों के बीच सभी सम्वन्धों मे प्रतिद्वन्द्विता का और समाज की गाडी के पहियो को संचालित करने वाले केन्द्रीय उत्प्रेरक के रूप मे मुनाफे का समावेश कराकर सम्पूर्ण पुरानी सामाजिक-आर्थिक सरचना का रूपान्तरण।[1]

---

[1] ए. आर. देसाई. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियाँ (मेकमिलन, 1978), पृ. 81-142।

पूँजी अपने निदेश के लिए उन्ही क्षेत्रो को चुनती है जो उसे प्रारम्भिक सुविधाएँ प्रदान करते हैं। चूँकि ये सुविधाएँ पहले से ही मौजूद शहरी क्षेत्रो मे प्राप्त होती हैं अतः एक उद्यम और व्यावसायिक प्रतिष्ठान सामान्यतया शहरो अथवा शहरो के उपनगरीय क्षेत्रो मे शुरू किये जाते है। शहरो का यह और आगे औद्योगिक विस्तार स्वचालित ढग से जन उपयोगिताओ, सड़को और यातायात के साधनो, मजदूरो के लिए आवासो, स्वच्छता, स्कूलो, अस्पतालो और मनोरंजन की सुविधाओ मे समानान्तर निवेश की आवश्यकता को जन्म देता है। इस प्रकार इन निवेशो का एक वडा हिस्सा वुर्जआई, मध्यवर्ग के सम्वद्ध सार और नौकरशाही के ऊपरी तवके की जरूरतो को पूरा करने मे लगाया जाता है। इससे उच्च शहरी सांस्कृतिक परम्परा के मानकीकृत नमूने का जन्म होता है, जो पश्चिमी देशो के शहरो के रग मे रँगे लगभग सभी शहरो मे सतही, पतनशील किस्म का अधिक है। इनमे अपने फैशनेवल होटल, वातानुकूलित चलचित्रगृह और रगशालाएँ है। मन से ये लोग अव भी सामन्ती तथा अर्द्ध-सामन्ती मूल्यो से चिपके रहते है। पश्चिमी मुलम्मा चढाये उच्च और उच्च मध्य स्तरो से वना यह अभिजन एक दोगली संस्कृति विकसित करता है जो रूप मे आधुनिक है किन्तु साररूप मे पुरातनपन्थी तथा हैसियत को वनाये रखने वाली। इस प्रकार एक शहरी उच्च सास्कृतिक परम्परा का उदय हो रहा है जो प्रमुख रूप से दोगली, नकली, आम जनता से कटी हुई पूँजीवादी मूल्यो से जोडती है।

काग्रेस सरकार की कृषि नीतियो से एक विशिष्ट वर्ग को ही गाँवो मे लाभ हुआ और एक 'नये ग्रामीण अभिजन' का विकास हो रहा है। यह ग्रामीण अभिजन उच्च -जातियो एव धनाढ्य किसानो (Rich peasantry) से मिलकर वना है। ग्रामीण क्षेत्र मे ये ही लोग आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे सत्ता वाले स्थानो पर कब्जा करते रहे है। ये लोग स्थानीय नागरिक गतिविधियो, स्कूलो, वोर्डों, ग्राम पचायतों, सहकार सस्थाओ आदि पर छाये रहते हैं।

कृषीय तथा शहरी दोनो क्षेत्रो मे सरकारी की नीतियो तथा उसके समाज कल्याण उपायो से निम्नतर स्तरो की कीमत पर प्राथमिक रूप से उच्चतर स्तरो को ही फायदा मिलता है। आम जनता और मध्य वर्गो की गरीवी गम्भीर रूप से वढती जा रही है। सम्पूर्ण ग्रामीण जगत मे निचले स्तरो के वीच गहरा असन्तोष उवल रहा है जो अपने वर्ग सगठन के अभाव मे अपने सगठित वर्ग आन्दोलनो मे अभिव्यक्ति नही पा रहा है। किन्तु कभी-कभी तनावो और सघर्षो के रूप मे विस्फोटक हो जाता है।[1]

राजनीतिक सस्कृति के निर्माण मे आर्थिक सरचना से भी अधिक महत्त्व सामाजिक सरचना का होता है। समाज मे वहुलता और विविधता वाले वर्गो का होना राजनीतिक सस्कृति मे अनेक उप-सस्कृतियाँ स्थापित कर देता है, जिनमे सगरूपता या विपमता के लक्षण सम्पूर्ण राजनीतिक सस्कृति पर निर्णयकारी ढग से प्रभाव डालते है। भारत का समाज जाति, धर्म, भाषा और प्रादेशिकता के तत्त्वो से प्रभावित रहा है और राजनीतिक संस्कृति पर इन तत्त्वो का दवाव पड़े विना नही रह सकता। राजनीति की प्रक्रिया से प्रचलित सस्थाओ के जरिये जनता का समर्थन या स्वीकृति प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। चूँकि भारत की जनता जातियो मे सगठित है, इसलिए राजनीति को जाति संस्था का उपयोग करना ही पडेगा। इसके अलावा भी भारत मे अनेक उप-सस्कृतियाँ और विशेषकर दक्षिण के लोगो की उप-संस्कृति जिसे वे उप-राष्ट्रीयता तक कहते है, भारत की राजनीतिक सस्कृति मे अनेक वार तनाव व सकट के क्षण आने का कारण वनी है।

(iv) **समाज की सामान्य संस्कृति का आधार** (The Foundations of General Culture of Society)—राजनीतिक सस्कृति का पोपण भारत की सामान्य सस्कृति से ही होता है।

---

[1] ए आर देसाई : **भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियाँ** (मेकमिलन, 1978) पृ. 135-39।

राजनीतिक संस्कृति का मौलिक और स्थायी आधार समाज की सामान्य प्रकृति ही है। हमारे समाज के सामान्य विश्वास, मूल्य और दृष्टिकोण राजनीतिक विश्वासो, मूल्यो और दृष्टिकोणों को प्रभावित करते हैं। वर्ण-व्यवस्था, ऊँच-नीच, सामन्त शैली, धार्मिक मठाधीशो और पण्डितों की श्रेष्ठता हमारी सामाजिक संस्कृति की कतिपय विशेपताएँ हैं और राजनीतिक संस्कृति इनसे पोषित है।

(v) **विचारधाराओ का आधार** (The Ideological Foundation) विचारधारा राजनीतिक संस्कृति का आधुनिक कारक है। साम्यवादी विचारधारा ने सोवियत सघ और चीन की संस्कृतियो का नये रूप से सृजन किया है। विचारधारा के रूप मे भारत ने समाजवाद और गाँधीवाद को स्वीकार किया है। हम समाजवादी समाज का निर्माण करना चाहते हैं, गाँधी के सपनो का भारत बनाना चाहते हैं। राजनीति मे साधनो की पवित्रता की जो भी चर्चा हम करते हैं, वह गाँधीवादी विचारधारा का ही प्रभाव है।

(vi) **पारलौकिकता में विश्वास की सामान्य भारतीय धारणा** (The General Indian Myth of Rebirth)—भारतीय सस्कृति की यह सामान्य विशेपता है कि जनता धर्म, परलोक, ईश्वर, आध्यात्मिकता आदि मे विश्वास करती है। भारत मे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ माने गये हैं, इनमे मोक्ष की ज्यादा चिन्ता की गयी है और लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं अर्थात् यह माना जाता है कि हमारी आज की दयनीय स्थिति के कारण हमारे पूर्व जन्म के पाप है। इसकी भूमिका लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था के सन्दर्भ मे मानव को भाग्यवादी बनाती है। इससे अकर्मण्यता उत्पन्न हुई और अकर्मण्यता ने न तो नेताओं को गतिशील बनाया और न जनता को क्रान्तिकारी। हम यह बात नही समझ पाये कि परिश्रम द्वारा राष्ट्र निर्माण किया जा सकता है।

(vii) **राजनीतिक उदासीनता भारतीय परम्परा** (The Indian Tradition of Political Alienation)—भारतीय संस्कृति मे इस बात की प्रेरणा नही मिलती कि जन सामान्य राजनीति में रुचि लें। भारत मे राजनीति को तिरस्कार की दृष्टि से देखने की परम्परा रही है क्योंकि यहाँ वर्णों और जातियो मे कर्म विभाजन था। राज्य संचालन एव राज-काज का कार्य क्षत्रियो का था और बाकी जनता राजनीतिक प्रक्रिया से दूर रहती थी। यह धारणा थी कि 'कोऊ नृप होउ हमे का हानि।' इससे राजनीतिक उदासीनता की स्थिति उत्पन्न होती है और व्यक्ति राजनीति से अपने को पृथक् रखने का प्रयास करता है। यही कारण है कि आज भी चुनावो मे हमारे यहाँ अनुपस्थित मतदाताओ की सख्या बहुत अधिक रहती है। चुनावो मे अधिकांश मतदाता रुचि नही लेते और प्राय. 55-60 प्रतिशत मतदाता ही अपने मत का उपयोग करते हैं।

(viii) **अहिंसा की भारतीय परम्परा** (The Indian Tradition of Non-violence)—भारत की सामान्य संस्कृति मे अहिंसा की ऐतिहासिक परम्परा रही है। महावीर और गौतम बुद्ध ने अहिंसा का सन्देश दिया एवं 'अहिंसा परमो धर्म.' की विरासत मिली। स्वाधीनता आन्दोलन के समय महात्मा गाँधी ने अहिंसा की धारणा का राजनीति में सफलतापूर्वक प्रयोग किया। स्वाधीनता के बाद अक्सर अनशन, बन्द, हड़ताल, घेराव, दगे आदि आन्दोलनात्मक तरीकों का व्यापक प्रयोग हुआ, तथापि ऐसे लोगो को व्यापक समर्थन प्राप्त नही हो पाया। यही कारण है कि नक्सलवादी तत्त्वो को स्थायी सफलता नही मिल सकी। अहिंसा के तत्त्व इतने प्रबल हैं कि भारत की राजनीतिक व्यवस्था को आन्दोलनात्मक हिंसक तत्त्वो से आज तक बचाया जा सका है।

---

[1] दामोदर शर्मा : भारतीय राजनीतिक संस्कृति : बदले आयाम, राज्यशास्त्र समीक्षा (जयपुर), जनवरी 1979, पृ. 28-29।

मायरन वीनर के विचार : भारत में दो राजनीतिक संस्कृतियाँ
(MYRON WEINER S VIEWS . INDIA—TWO POLITICAL CULTURES)

भारत की राजनीतिक सस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से प्रो. मायरन वीनर के विचार उल्लेखनीय हैं। इस दृष्टि से लूसियन डब्ल्यू. पाई तथा सिडनी वर्वा द्वारा सम्पादित 'पॉलिटिकल कल्चर एण्ड पॉलिटिकल डेवलपमेन्ट' मे मायरन वीनर का लेख—इण्डिया : टू पॉलिटिकल कल्चर्स (India Two Political Culture) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

दो प्रकार की राजनीतिक सस्कृति—वीनर का मत है कि स्वाधीन भारत मे दो प्रकार की राजनीतिक संस्कृति का विकास हुआ है।[1] एक सस्कृति के दर्शन स्थानीय स्तर और जिला स्तर पर होते हैं। स्थानीय सस्थाओ की राजनीति, राजनीतिक दलो के स्थानीय संगठन तथा स्थानीय प्रशासनिक इकाइयो की कार्य-प्रणाली मे सस्कृति के पहले रूप की झाँकी मिलती है। इस सस्कृति मे विरतार की अभिवृत्ति पायी जाती है और अन्ततोगत्वा इसका प्रकटीकरण राज्य विधायिका, राज्य प्रशासन और राज्य सरकार मे होता है। यह संस्कृति पारम्परिक तत्त्वो के बाहुल्य से ग्रसित है तथापि इसमे अनेक आधुनिक तत्त्व भी दृष्टिगोचर होते हैं।

दूसरी प्रकार की सस्कृति के दर्शन नयी दिल्ली मे होते है। इस सस्कृति का स्वरूप भारत के नियोजको, राष्ट्रीय स्तर के राजनीतिज्ञो और वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारियो की कार्य-प्रणाली मे दिखायी देता है। यह सस्कृति भारत के अग्रेजी विरासत वाले बुद्धिजीवियो के विचार-विमर्श मे जीवन्त है। जैसे-जैसे नयी दिल्ली से राज्यो की राजधानियो और आगे भारत के गाँवो तक वढते जाते है वैसे-वैसे इस स्वरूप वाली सस्कृति का प्रभाव आँखो से ओझल होता जाता है। वह रक्षात्मक स्वरूप वाली राजनीतिक सस्कृति है जो जन सस्कृति की विरोधी कही जा सकती है। यद्यपि इस सस्कृति की अभिव्यक्ति आधुनिक भापा मे होती है तथापि इनमे अनेक पारस्परिक तत्त्व मौजूद रहते है।

पहली प्रकार की सस्कृति को जनता की उदीयमान सस्कृति (Emerging mass political culture) तथा दूसरे प्रकार की सस्कृति को विशिष्ट वर्ग (Elite political culture) की संस्कृति कहा जा सकता है।[2] यदि एक को परम्परावादी और दूसरी को आधुनिक राजनीतिक सस्कृति कहा जाय तो भ्रान्तिपूर्ण होगा।

विशिष्ट वर्ग का जन सामान्य की राजनीतिक संस्कृति पर प्रभाव—भारत जैसे विविधता वाले देश मे लोगो के राजनीतिक दृष्टिकोणो मे अन्तर पाया जाना स्वाभाविक है। यदि गुजरात मे राजनीति की गाँधीवादी शैली पायी जाती है तो आन्ध्र की राजनीति भावात्मक एव आन्दोलनात्मक स्वरूप वाली है। पश्चिमी बंगाल की राजनीति असामजस्यपूर्ण वैचारिकता की ओर झुकी हुई और शेप भारत एकदम भिन्न है।

सामाजिक और धार्मिक विविधता के बावजूद भारत के लोगो को जोडने वाले सम्पर्क-सूत्र प्राचीन काल से ही विकसित होते रहे है। प्रत्येक गाँव को अपने सीमित दायरे से बडे परिवेश मे जोडने के सम्पर्क सूत्र थे वैवाहिक पद्धति, तीर्थयात्राएँ, साधुओ की पद यात्राएँ आदि। ये तत्त्व गाँवो मे बाह्य सास्कृतिक प्रभाव लाने वाले थे। धीरे-धीरे राष्ट्रीय राजनीतिक सस्थाओ एव गतिविधियो का प्रभाव बढने लगा। यद्यपि समाजशास्त्रियो ने इस बात का क्रमबद्ध अध्ययन नही किया है कि किसानो और खेतिहर मजदूरो का, राष्ट्रीय आन्दोलन, धर्मनिरपेक्ष, लोकतन्त्रात्मक

---

1 "There thus have emerged in post-independence India two Political Culture operating at different levels of Indian Society." —*Myron Weiner*

2 "The first Political Culture can be characterized as an emerging mass political culture, the second, as an elite political culture." —*Myron Weiner*

और संघीय संस्थाओ के प्रति जो राजनीतिक जीवन का संचालन करती है, क्या दृष्टिकोण था ? इस बात का कोई भी विशेष अध्ययन नही मिलता है कि राष्ट्रीय नेताओं जैसे नेहरू और पटेल के बारे मे किसानो की कितनी जागरूकता थी ? स्वाधीनता के बाद जिन नेताओ के हाथो मे शासन की बागडोर आयी उन्होंने अपने सपनो का भारत बनाने का निश्चय किया। उनकी नीतियाँ और कार्यप्रणाली सभी को मालूम थी। वे नियोजित आर्थिक विकास, सामुदायिक विकास कार्यक्रम, भूमि सुधार, पचायती राज संस्थाओं की स्थापना, संवैधानिक व्यवस्था, स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनाव, रियासतो का स्वतन्त्र भारत मे विलीनीकरण, भाषायी आधार पर राज्यो का पुनर्गठन आदि चाहते थे। इन नीतियो का लोगो के दृष्टिकोणो और व्यवहारो पर क्या असर पड़ा, यह हमारे जानने की महत्त्वपूर्ण बात है। इन नयी नीतियो द्वारा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं और ये परिवर्तन एक नयी सामाजिक संस्कृति का निर्माण करते है।[1]

वस्तुतः भारत जैसे नव स्वतन्त्र देशो मे परिवर्तित राजनीतिक विकास एवं राजनीतिक प्रक्रियाएँ नवीन राजनीतिक संस्थाओ और सरकारी गतिविधियो का परिणाम है।[2] सबसे बड़ा परिवर्तन तो यही हुआ है कि जनता और सरकार के सम्बन्धो मे प्रभावकारी बदलाव आया है। इस बदलाव की प्रक्रिया मे शासन की गतिविधियो के तीन महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं : (i) प्रत्येक स्तर पर शासन की गतिविधियो का विस्तार होना, (ii) सत्ता का विकेन्द्रीकरण, (iii) सत्ता का लोकतन्त्रीकरण होना।[3]

भारत जैसे देश मे शासन के इन तीनो पक्षो ने लोगो के राजनीतिक दृष्टिकोण को किस सीमा तक बदला है ? भारत मे उदीयमान जनता की राजनीतिक सस्कृति तथा राजनीतिज्ञों एव नौकरशाहो की विशिष्ट वर्ग की सस्कृति मे किस सीमा तक लगाव एव अलगाव है ?

(1) शासन के क्रियाकलापों का विस्तार (The Expanding net of Government)—भारत की जन संस्कृति (Mass Political Culture) मे बदलाव लाने वाला पक्ष है शासन की गतिविधियो मे नियामकीय वृद्धि। विदेशों से किसी वस्तु को मँगाने के लिए, विक्रय हेतु दुकान खोलने के लिए अथवा कमी वाली आवश्यक वस्तु की खरीद के लिए भारत मे लोगो को किसी न किसी प्रशासनिक अभिकरण से स्वीकृति लेनी होती है। भारत मे आर्थिक नियोजन का अर्थ है कि उत्पादन और वितरण के लक्ष्य निश्चित होना, कमी वाली वस्तुओं जैसे इस्पात, लोहा, कोयला, विदेशी मुद्रा आदि का सरकार द्वारा वितरण करना आदि। कतिपय वस्तुओं के दाम निश्चित कर देना एवं उनकी खरीद के लिए परमिट के उपबन्ध आदि। सरकारी नियन्त्रण की इस व्यवस्था से व्यक्ति और शासन के सम्बन्धो मे प्रभावकारी परिवर्तन आता है। नियन्त्रण की जटिल नियामकीय व्यवस्था के संचालन हेतु हजारो की सख्या मे सरकारी कर्मचारियो की जरूरत होती है। इन सरकारी अधिकारियो द्वारा महत्त्वपूर्ण प्रशासकीय निर्णय लिये जाते हैं। ये निर्णय लेते है कि किस गाँव मे सडक बनायी जायें, किस गाँव को बिजली दी जाये और कहाँ कारखाने खोले जायें। इनके निर्णयो को प्रभावित करने के लिए गाँव के लोग जिला मुख्यालयो पर जाते हैं

---

[1] "What is less known is the impact which these various politics have had upon the attitudes and behaviour of Indians towards the state and toward Politics generally. The changes caused by them are important new socializing forces." —*Myron Weiner*

[2] "Indeed on might argue that in India as in many other new states, the changing character of Political attitudes and the Political process is increasingly the consequence of the introduction of new governmental instit[illegible] of governmental activities." —*Myron W*

[3] "Three aspects of g[illegible] been vital in this changing re[illegible] The expanding activi[illegible] ment, the dispersion of p[illegible] democratization of [illegible] —*M*

और जिले के लोग राज्यो की राजधानियो एवं नयी दिल्ली तक जाते हैं। इस सम्पर्क सूत्र का मुख्य ध्येय प्रशासन को प्रभावित करना है न कि सरकारी नीतियो मे परिवर्तन लाना।[1]

(2) **सत्ता का विकेन्द्रीकरण** (The Dispersion of Power)—भारत की राजनीतिक सस्कृति मे बदलाव लाने वाला दूसरा पक्ष है सत्ता का विकेन्द्रीकरण। भारत मे किसी न किसी रूप मे सदियो से ही सत्ता विकेन्द्रित रही है। मुगल बादशाह दिल्ली मे रहते हुए अपने गवर्नरो के माध्यम से शासन करते थे। ब्रिटिश काल मे भी स्थानीय सत्ता यथार्थ मे जिला प्रशासन मे निहित होती थी। स्वाधीनता के बाद नये सविधान मे सघ-व्यवस्था पर जोर दिया गया। कृषि सिचाई, लोक कल्याण आदि विषयो का प्रशासन राज्य सरकारो के सुपुर्द कर दिया गया। पचायती राज की व्यवस्था की गयी और तीन स्तर वाली पचायती राज व्यवस्था का सन् 1959 मे सूत्रपात किया गया। इसमे ग्राम स्तर पर ग्राम पचायत, खण्ड स्तर पर पंचायत समिति और जिला परिषद नामक सस्थाएँ होती है। अनेक प्रकार की सहकारी सस्थाएँ प्रारम्भ की गयी हैं। प्रत्येक जिले मे ऋण देने, बीज, खाद वितरित करने और किसानो को अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने हेतु पाँच सौ से भी अधिक सहकारी सस्थाएँ मिल जाती हैं। सरकार की निगाह मे पचायती राज संस्थाएँ और अनेक प्रकार की सहकारी सस्थाएँ ग्रामीण भारत के आर्थिक विकास की रीढ है। स्थानीय स्तर के राजनीतिज्ञ और दलीय कार्यकर्त्ता सत्ता के इस विकेन्द्रीयकरण के प्रबल समर्थक है क्योकि इन सस्थाओ के माध्यम से स्थानीय प्रशासन को प्रभावित करने की उनकी सामर्थ्य बढती है।[2]

(3) **सत्ता का लोकतन्त्रीकरण** (The Democratization of Power)—भारत मे जनता की राजनीतिक सस्कृति मे परिवर्तन लाने वाला तीसरी पहलू है सत्ता का लोकतन्त्रीकरण। जहाँ एशिया और अफ्रीका के अधिकाश देशो मे सत्ता की निरकुशता मे दिन-प्रतिदिन वृद्धि हुई है वहाँ भारत के कदम लोकतन्त्रीकरण की ओर बढते गये है। राजाओ के प्रिवीपर्स समाप्त किये गये, जमीदारी प्रथा का उन्मूलन हुआ और गाँवो मे जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित पचायतो मे निर्णय लेने की शक्ति निहित कर दी गयी।

भारत में विकसित होने वाली जनता की राजनीतिक संस्कृति (The Emerging Mass Political Culture)—भारत मे सरकारी क्रिया-कलापो के विस्तार, विकेन्द्रीयकरण और सत्ता के लोकतन्त्रीकरण से जन सामान्य की व्यवस्था मे भागीदारी बढने लगी है। जहाँ प्रथम आम चुनाव मे मतदाताओ की सख्या 17·50 करोड थी वहाँ नवे चुनाव मे यह सख्या 45 5 करोड़ तक पहुँच गयी।

भारत मे राजनीति मे भाग लेने से व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा मे वृद्धि होती है। अत. चुनाव के दिनो मे विधायको एव ससद सदस्यो के लिए दलीय टिकिट माँगने वालो की संख्या हजारो मे हो जाती है। प्रत्येक दलीय प्रत्याशी चुनाव जीतने के लिए उससे भी कही ज्यादा रकम खर्च करता है जितना लाभ (वेतन भत्तो से) चुनाव जीतने के बाद उसे आमतौर से मिलता है। आज भारतीय समाज मे जाति प्रतिष्ठा का आधार न रहकर राजनीतिक पद और राजनीतिक सत्ता प्रतिष्ठा के आधार बन गये है।

सत्ता के विकेन्द्रीयकरण से भारत मे राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियो के लिए

---

[1] "The ultimate aim of this Communication is to influence administration, for both villagers and businessmen are generally more concerned with influencing the application of Government Policy than bringing about a change in policy." —*Myron Weiner*

[2] "Local Politicians in the Congress Party and men of local power generally, are strong advocates of a Policy of dispersion, for it obviously enhances their position vis-a-vis local administration and the local citizenry" —*Myron Weiner*

जाति, समुदाय और धार्मिक इकाइयों का महत्त्व पहले से भी अधिक बढ गया है। निर्वाचनो में जाति और धर्म के आधार पर मतदाताओ को संगठित करना सरल हो गया है।

भारत की राजनीति मे तनाव और मतभेद बढ़ रहे है। ये तनाव जातिगत, राजनीतिक और आर्थिक कारणो के परिणाम हो सकते है। भारत के लोगो में सौदेबाजी की प्रवृत्ति बढ़ रही है किन्तु यह सौदेबाजी की प्रवृत्ति राजनीतिक सस्कृति का अभिन्न अंग नही है। व्यक्ति और समुदाय ऐसी माँगें प्रस्तुत करते है जिन्हे मध्यस्थता कराने वाला अभिकरण सामजस्य के माध्यम से कुछ ले-देकर हल खोजने का प्रयत्न करते हैं।

भारत मे शासक और शासित एवं नौकरशाही और लोकशाही के बीच नये प्रकार का रिश्ता विकसित हो रहा है। पुराने जमाने मे राजा और प्रजा का रिश्ता और ब्रिटिश काल मे मालिक और नौकर का रिश्ता स्वाधीन भारत को विरासत मे मिला था। प्रजा और नौकर की स्थिति से नागरिक (Citizen) की स्थिति मे परिवर्तन इतना आसान नही है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे निर्वाचित प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं और प्रशासनिक व्यवस्था एवं बडे से बड़े प्रशासनिक अधिकारी जनता के सेवक होते है न कि मालिक। किन्तु भारत मे पुरानी राजनीतिक आदत आज भी विद्यमान है और नये निर्वाचित शासक पुरानी परम्परा के आधार पर ही चलने का ढोग करते हैं। राष्ट्रपति वायसराय की भाँति रहते हैं, केन्द्र एवं राज्यो के मन्त्री राजाओ की भाँति रहते है। प्रशासनिक अधिकारी अपने को जनता का मालिक मानते हैं न कि सेवक। स्थानीय अधिकारी जनता की सेवा के बजाय अपने उच्च अधिकारियो को खुश रखने मे ज्यादा व्यस्त रहते हैं। प्रशासन मे रिश्वत और बक्शीस देने के लम्बे सूत्र (Channels) बने हुए हैं और भ्रष्टाचार सर्वत्र व्याप्त है। गाँव की अशिक्षित जनता अपने छोटे-छोटे कार्यों के लिए पटवारी, ग्रामसेवक, तहसील कार्यालय के क्लर्कों तथा जिले के अधिकारियो की तरफ देखती है। कृषि के लिए खाद लेना हो या सहकारी बैंक से कर्ज या पटवारी से कोई पट्टा तो रिश्वत का सहारा लेना ही पड़ता है।

भारत के कई भागो मे कतिपय विशेष गुट, जाति अथवा समुदाय शासन करना एवं सत्ता मे बने रहना अपना अधिकार समझते हैं। उदाहरण के लिए, राजपूतो को लिया जा सकता है। राजा-महाराजाओ ने स्वतन्त्रता के बाद चुनाव की राजनीति मे इसलिए सक्रिय भूमिका अदा की कि वे सत्ता मे वापस आ सकते हैं क्योंकि राजपूत एक शासक जाति है।

प्रो. वीनर का विचार है कि भारत का परम्परावादी अभिजात्य वर्ग एव पारम्परिक शासित संस्कृति भारत के धर्मनिरपेक्षवाद, राष्ट्रवाद, लोकतन्त्र और आधुनिकीकरण के विरोधी हैं। राजनीति मे नये सामाजिक समुदायो की बढती हुई भागीदारी से राजनीतिक जीवन मे एक ऐसी संस्कृति का विकास हो रहा हैं जो राजनीतिक प्रतिष्ठा के सम्बन्धों, जाति और धर्म की निष्ठाओ और सेवक-नागरिक सम्बन्धों पर आधारित है। भारत की नूतन जन राजनीतिक संस्कृति न तो पूर्णतया अधुनातन और न पारम्परिक, अपितु दोनो का समन्वित रूप है।

विशिष्ट वर्ग की राजनीतिक संस्कृति (The Elite Political Culture)—भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियो, योजना आयोग के सदस्यो और केन्द्र में सत्तारूढ दल की कार्यकारिणी समिति के सदस्यो के विचार एवं दृष्टिकोण भारतीय राजनीति में विशिष्ट वर्ग की राजनीतिक सस्कृति का निर्माण करते हे। विशिष्ट वर्ग की संस्कृति का प्रतिनिधि समूह जन सस्कृति की आलोचना करता है। उनके अनुसार लोकतन्त्र मे जाति और धर्मगत निष्ठाओ का कोई महत्त्व नही है। भा[illegible] ी रह सकती है जब सभी जाति और धर्म के लोग राष्ट्र के प्रति [illegible] -महसूस करता है कि त्याग

भावना धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। दलीय नेता सत्ता सघर्ष मे इस प्रकार उलझते जा रहे हैं कि विचारधारा और नीतियो मे उनका कोई सरोकार नही रह गया है। राष्ट्रीय स्तर पर अ-- योजनाएँ वनायी जाती हैं किन्तु उनका नीचे के स्तर पर ठीक से क्रियान्वयन नही होता है। ग्रा. मे तनाव वढता जा रहा है और ग्रामीण भारत का विकास तभी हो सकता है जवकि सहयोग अ। सामजस्य मे वृद्धि हो।

प्रो. वीनर का मत हे कि विशिष्ट वर्ग के आज के वेटे, वेटी जन संस्कृति के कट्टर वरोधी हैं और उनका गाँवो के लोगो से जीवन्त सम्पर्क नही रह गया है। भारत मे उदीयमान जनता की संस्कृति का प्रभाव एव शक्ति वढ रही है और विशिष्ट वर्ग की संस्कृति का प्रभाव धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

परम्परा, आधुनिकता एवं दो संस्कृतियाँ
(TRADITIONALISM, MODERNITY AND THE TWO CULTURES)

भारत मे उदीयमान राजनीतिक सस्कृति की विशेपताएँ हैं—विशिष्ट तत्त्वो के प्रति निष्ठा, सत्ता और पुरस्कार प्राप्ति का वहुत वडा महत्त्व एव उच्चं भावात्मक गुण—जिन्हे एक माने मे पारम्परिक नही कहा जा सकता है। फिर, यदि अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने लिए गाँव के लिए पाठशालाएँ, सड़कें, कुएँ और खाद की अधिक मात्रा में माँग करते है तो इसमे कोई रुढिवादी तत्त्व नही दिखायी देता। आज देहातो मे स्थानीय सत्ता स्रोतो पर जमीदारो और उच्च जातियो के वजाय सामान्य और नीची जातियो के लोगों का अधिकार वढ़ता जा रहा है। अत भारत की नवीन जन राजनीतिक संस्कृति, परम्परा और आधुनिकता का मिश्रित रूप है।[1]

भारत के वुद्धिजीवी और विशिष्ट वर्ग उस राजनीति मे कम दिलचस्पी दिखाते है जिसका आधार जातिगत समूह है। वस्तुतः विशिष्ट वर्ग और जनता की राजनीतिक सस्कृति का सघर्ष आधुनिकता और परम्परा का सघर्ष नही है, अपितु आधुनिकता और परम्परा के तत्त्व दोनो ही सस्कृतियो मे देखे जा सकते हैं। जन संस्कृति अधिक कार्यशील होती जा रही है और जनता लोकतान्त्रिक प्रक्रिया मे हिस्सेदारी वटोरने लगी है। इसमे राजनीतिक व्यवस्था के स्थायित्व (viability) मे वृद्धि हुई है। भारत मे लोकतन्त्र की सफलता एव आधुनिकीकरण इस तथ्य पर निर्भर करता है कि वह कितना जल्दी दोनो सस्कृतियो की खाई को पाटने मे सक्षम है।[2]

दो संस्कृतियो मे टकराव (Collision in two Cultures)

वीनर का विचार है कि विशिष्ट वर्ग की राजनीतिक सस्कृति तथा सर्वसाधारण की राजनीतिक सस्कृति के वीच जो टकराव है, वह आधुनिकता और परम्परा के वीच का टकराव नही है क्योकि परम्परावाद के तत्त्व विशिष्ट राजनीतिक सस्कृति मे भी पाये जाते हैं। वास्तव मे, यह टकराव दोनो प्रकार की राजनीतिक संस्कृतियो के वीच पायी जाने वाली विभिन्नताओ का टकराव है। यह टकराव शिक्षित और अशिक्षित व्यक्तियो, अधिक परम्परावादी और कम परम्परावादी तथा सकीर्ण विचारो और विस्तीर्ण विचारो के वीच का विरोध है। इसलिए वीनर की यह परिकल्पना है कि जनसाधारण की राजनीतिक सस्कृति और विशिष्ट वर्ग की राजनीतिक सस्कृति के वीच का यह टकराव यदि समाप्त नही होता तो इससे देश की लोकतान्त्रिक व्यवस्था को खतरा है। उनका मत है कि विशिष्ट वर्ग सर्वसाधारण की राजनीतिक सस्कृति के स्वभाव को समझने में समर्थ है, अतः यह जिन नीतियो का निर्माण करता है वह जनसाधारण की नीतियो से मेल नही

---

1 "Thus the emerging mass Political Culture is an amalgam of traditional and modern elements." —*Myron Weiner*

2 "In the long run India's success at maintaining a modernising and democratic system may depend upon the closing of the gap between her two cultures" —*Myron Weiner*

जाती । इन दो राजनीतिक सस्कृतियों के बीच बढती हुई खाई को भरना आवश्यक है क्योंकि यदि यह अन्तर बढाया गया तो एक ऐसी अवस्था आ सकती है जब राष्ट्रीय विशिष्ट वर्ग एक सर्वाधिकारपूर्ण शासन अथवा सैन्य शासन की स्थापना कर सकता है ।

भारत की राजनीतिक संस्कृति : विशेषताएं
(SALIENT FEATURES OF INDIA'S POLITICAL CULTURE)

राजनीतिक सस्कृति का अध्ययन व्यवहारवादी प्रयोगों और आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के सन्दर्भ मे एक नवीन धारणा है जिसके माध्यम से राजनीतिक व्यवस्थाओ और व्यावहारिक राजनीति को समझने मे सहायता मिलती है । जिस प्रकार प्रत्येक देश की जलवायु तथा वातावरण मे भिन्नता पायी जाती है उसी प्रकार राजनीतिक सस्कृति भी अलग-अलग होती है । किसी भी देश का अनुभव इसकी परम्परा तथा प्रवृत्ति में निहित होता है । भारत की परम्परा, प्रवृत्ति तथा संस्कार अन्य देशो से भिन्न हैं अत भारत की राजनीतिक सस्कृति वह नही है जो सोवियत संघ, अमरीका और स्विट्जरलैण्ड की है । सक्षेप मे, भारत की राजनीतिक संस्कृति की विशेषताएं इस प्रकार हैं :

(1) **राजनीति में सामन्तवादी तत्त्व** (Feudalistic Factors in Politics)—नये सविधान मे लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली पर जोर दिया गया है । गणतन्त्र, लोकतन्त्र, वयस्क-मताधिकार, निष्पक्ष न्यायालय, स्वतन्त्र, प्रेस, निर्वाचन आदि सभी कुछ लोकतन्त्रात्मक दिखायी पड़ता है किन्तु लोकतन्त्र के आचरण के नीचे भारत मे सामन्तवादी राजनीतिक संस्कृति बनी हुई है । राजनीति मे राजा-महाराजाओ की प्रभावक भूमिका रही है । भारत की जनता मन्त्रियो, विधायकों और जिले के अधिकारियो को आज भी 'माई बाप' मानती है । यहाँ नागरिको का मानस अधीनस्थता का है । हमारे जन प्रतिनिधि, मन्त्री, सासद और विधायक सामन्तो की भाँति सुविधाओ की माँग करते है व सामतो और 'राजकुमारो' की भाँति जीवनयापन करते है ।

(2) **राजनीति मे करिश्माती नेतृत्व** (Charismatic Factor in Politics)—यों तो भारत मे सम्प्रभु शक्ति मतदाताओ मे निहित है किन्तु भारत की राजनीति व्यक्ति प्रधान है । हमारी राजनीति का आधार चमत्कारी नेतृत्व है । अपने करिश्माती व्यक्तित्व के कारण जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती इन्दिरा गाँधी और जयप्रकाश नारायण की भारतीय राजनीति मे प्रभावी भूमिका रही है । सन् 1962 की पराजय के बाद भी जनता जवाहरलाल नेहरू को पूजती रही, जून 1975 की ऐतिहासिक भूल के बाद भी जनता श्रीमती गाँधी को अपना नेता मानती रही, सम्पूर्ण क्रान्ति न लाने पर भी जनता जयप्रकाश को दूसरा गाँधी कहती है ।

(3) **नारो और प्रतीको की भारतीय राजनीति** (Politics of Slogans and Symbols)—स्वाधीनता के बाद की पनपी राजनीतिक सस्कृति मे नारो और प्रतीको का विशेष महत्त्व है । समाजवाद न लाने पर भी वर्षों तक कांग्रेस 'समाजवाद' के नारे के नाम से चुनाव जीतती रही । सन् 1967 के चुनावो मे डॉ. लोहिया का 'गैर-कांग्रेसवाद', 'कांग्रेस हटाओ देश बचाओ' का नारा काम कर गया । सन् 1971 के चुनावो मे 'गरीबी हटाओ' का श्रीमती गाँधी का नारा प्रभावी सिद्ध हुआ । मार्च 1977 के चुनावों में जयप्रकाश नारायण ने 'लोकतन्त्र बनाम तानाशाही' का नारा दिया । जनवरी 1980 मे श्रीमती गाँधी का नारा था 'वह सरकार चुनिये जो काम कर सके ।' सन् 1983 मे राजीव गाँधी ने 'राष्ट्रीय एकता खतरे मे है' का नाम दिया ।

(4) **'राजनीति में सब कुछ चलता है' वाली भारतीय राजनीति** (Everything is Fair in Politics)—भारत की राजनीति मे विश्वास का अभाव है । जिन लोगो को उत्तरदायी माना जाता है, उन्हीं की बात पर जनता को भरोसा नही रहा है । राजनीतिक नेताओ के आचरण ने इस सकट को बढाने मे बहुत अधिक योगदान दिया है । आज की राजनीतिक नैतिकता का साम्य

इस उक्ति से है कि "राजनीति मे सब कुछ चलता है।" दूसरे शब्दो मे, झूठ, धोखाधड़ी और म पाप राजनीति के नाम पर किये जा सकते है। चौ. चरणसिंह का उदाहरण लिया जा सकता है जिनकी जीवन भर की प्रधानमन्त्री बनने की आकाक्षा आखिरकार पूरी हो गयी। 15 अगस्त 1979 को लाल किले के प्राचीर मे राष्ट्र को सम्बोधित करते हुए उन्होने कहा था कि उनकी सरकार मध्यावधि चुनाव के पक्ष मे नही है, क्योकि उसमे भारी खर्च होगा और उसका बो जनता पर ही पडेगा। परन्तु पाँच ही दिन बाद उसी प्रधानमन्त्री ने यह राय दी कि लोकसभा का विघटन करके नये चुनाव कराये जायें। इससे केवल यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत के जनसाधारण का नैतिक स्तर देश के तथाकथित राजनेताओ की तुलना मे कहीं अधिक ऊँचा है। साधारण व्यक्ति इस प्रकार आचरण करते हुए झिझकता है, क्योंकि उसे बदनामी का डर होता है। वह झूठ बोलते समय या धोखा देते समय लज्जा जाता है। परन्तु जहाँ तक राजनीतिज्ञो का सम्बन्ध है उनमे तनिक भी हिचक नही है।

(5) **सत्ता के इर्द-गिर्द चक्कर लगाती भारतीय राजनीति** (Politics revolving around Power)—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सत्ता को ही देश के पुनर्निर्माण का एकमात्र साधन मानने की प्रथा चल पड़ी। इसलिए हमारे राजनीतिक जीवन मे सत्ता की राजनीति का वर्चस्व स्थापित हो गया। सत्ता तक पहुँचना ही एकमात्र लक्ष्य माना जाने लगा। देश के विधानमण्डलो मे पाँच हजार स्थान प्राप्त करने की छीनाझपटी और उसके लिए होने वाली सौदेबाजी ही राजनीति कहलाने लगी। सारे राजनीतिक कार्यकलाप का निचोड केवल यह है कि येन-केन प्रकारेण चुनाव जीत लिया जाय और ससद या विधानसभा मे प्रविष्ट होते ही मन्त्री की गद्दी की ओर दौडा जाय। एक बार सत्तारूढ होने के बाद उनकी भरपूर चेष्टा यह रहती है कि वह अपनी कुर्सी पर बने रहे। राजनीतिज्ञ सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने की चेष्टा करते है, विरोध के लिए विरोध करते हैं और अन्य दलो के साथ साँठ-गाँठ और जोड-तोड के माध्यम से चुनाव जीतने की चेष्टा करते हैं। वे कभी इस बात का प्रयत्न नही करते कि ऐसा ढाँचा खडा किया जाय जिसमे सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन सम्भव हो।

(6) **भारत में राजनीति व्यवसाय है** (Politics as a Profession in India)—भारत मे राजनीति व्यवसाय है। राजनीतिज्ञो के लिए राजनीति ही उनकी रोटी है। हमारे यहाँ दूसरे व्यवसायो मे असफलता के बाद ही लोग राजनीति मे आते हैं। राजनीति असफल लोगो का जमा वड़ा बना हुआ है। इस देश के सासदो की जापान, फ्रास, पश्चिम जर्मनी के विधायको से तुलना की जाये तो उन देशो के सासद पेशेवर राजनीतिज्ञ नही मिलेगे। अपने-अपने क्षेत्रो मे सफलता के बाद 8-10 साल तक सार्वजनिक क्षेत्र मे काम करते हैं और तब राजनीति मे आते है। मगर हमारे यहाँ न तो ऐसे लोग राजनीति मे आते है और न ही राजनीतिक दल समृद्ध व्यक्तित्व के लोगों को अपनी तरफ खीचते है। हमारे राजनीतिक दल इस बात पर कभी तैयार नही होंगे कि दस योग्य उम्मीदवार सर्वानुमति से चुन लिये जायें।

(7) **भारतीय राजनीति में हिंसा और प्रत्यक्ष कार्यवाही** (Violence and Direct Action in Politics)—भारतीय राजनीति मे प्रत्यक्ष कार्यवाही के तरीको का व्यापक प्रयोग होता है। यहाँ हम अक्सर अनशन, बन्ध, हड़ताल, घेराव, सत्याग्रह आदि के बारे मे सुनते रहते है इन साधनो का प्रयोग विरोध प्रदर्शित करने के लिए या दबाव डालने के लिए होता है। लगभग सभी हित समूह और राजनीतिक दल इन साधनो को वैध मानते हैं।

(8) **राजनीतिक भ्रष्टाचार** (Political Corruption)—भारत मे राजनीतिक भ्रष्टाचार का एक बडा कारण मन्त्रियो तथा नेताओ द्वारा प्रशासन मे हस्तक्षेप करना और अपनी पार्टी के उम्मीदवारो के चुनाव के लिए धन इकट्ठा करना है। सरकारी कर्मचारियो की नियुक्तियो

पदोन्नतियों, स्थानान्तरण, परीक्षाफलो, छात्रवृत्तियो आदि सभी छोटे-बड़े मामलो मे राजनीतिक नेता, विधायक तथा संसद सदस्य गहरी दिलचस्पी लेते हैं। चुनाव लड़ने के लिए विभिन्न पार्टियाँ पूँजीपतियों और कम्पनियो से पैसा इकट्ठा करती हैं, सत्तारूढ़ होने पर उन्हे अनुचित लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करती है। आचार्य कृपलानी की इस बात में बडी सच्चाई है कि कुछ दिनों पहले यह कहा जा सकता था कि "भ्रष्टाचार प्रशासन मे केवल निम्न स्तरो पर है, पर आज किसकी हिम्मत है कि जो यह कहे कि भ्रष्टाचार उच्च स्तर मे नही है।" कुलदीप नायर लिखते हैं कि "प्रश्न यह है कि रिश्वतखोरी का दौर चल रहा है क्योंकि रिश्वत आज अपने आप में कोई समाचार नही है—प्रश्न यह है कि मन्त्री भी अब खुले आम रिश्वत लेने लगे है।"[1] जयपुर के लोग कलक्ट्रेट के कर्मचारियो की उस लम्बी हडताल को अभी तक नहीं भूल पाये हैं जबकि रिश्वत लेने के मामले मे एक कर्मचारी भ्रष्टाचार निरोध विभाग द्वारा पकड़ लिया गया तो उसके सभी सहयोगी हड़ताल पर चले गये थे।

(9) **निम्न जातियो का बढ़ता हुआ राजनीतिक महत्त्व** (Increasing Rate of Lower Castes in Politics)—लोकतान्त्रिक राजनीति मे 'वोट' के महत्त्व के कारण निम्न समझी जाने वाली जातियो का महत्त्व कई स्थान पर बढा है। निम्न जातियाँ न केवल अपने राजनीतिक स्तर के प्रति जागरुक हुई है बल्कि सत्ता को भी ग्रहण कर रही हैं।

निष्कर्ष—भारत मे एक दोगली राजनीतिक सस्कृति विकसित हो रही है। नेता और जनता लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे रहते हुए भी मन मे सामन्ती तथा अर्द्ध-सामन्ती मूल्यो से चिपके रहते हैं। आधुनिक सुविधाओ का उपयोग करते हुए भी व्यवहार पुराने सास्कृतिक मूल्यो के अनुरूप करते है। यही कारण हे कि उच्च वर्ग राजनीतिक सस्कृति (Elite Political Culture) और सामान्य जन की राजनीतिक सस्कृति (Mass Political Culture) मे काफी अन्तर है। **ल्यूसियन पाई** का विचार है कि "भारत के सन्दर्भ मे तो ऐसा लगता है कि जनसस्कृति के घेरे मे एक ऐसी राजनीतिक प्रक्रिया चल रही है जो जनसस्कृति मे स्वयं अपना एक आधुनिक तत्त्व उत्पन्न कर रही है। कालान्तर मे जनसस्कृति का यही आधुनिक तत्त्व आज की विशिष्ट वर्गीय सस्कृति के आधुनिक तत्त्व का स्थान ले सकता है और यदि ऐसा हुआ तो यह भावी भारत की 'एलीट कल्चर' 'विशिष्ट वर्ग की संस्कृति' (Elite Culture) बन सकेगी। मिश्रण की यह प्रक्रिया परम्परावादी और आधुनिक तथा 'एलीट और मास सस्कृतियो' के बीच की खाइयो को पाटती रहती है।"

---

[1] नायर कुलदीप : 'भ्रष्टाचार की दुर्गन्ध से सड़ता बिहार', राजस्थान पत्रिका (जयपुर), 8 दिसम्बर, 1981।

41

जाति और भारतीय राजनीति

[THE CASTE AND INDIAN POLITICAL]

परम्परावादी भारतीय समाज मे आधुनिक राजनीतिक सस्थाओ की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अद्भुत विशेषता है। भारत मे राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारम्भ होने के पश्चात् यह धारणा विकसित हुई कि पश्चिमी ढग की राजनीतिक संस्थाएँ और लोकतन्त्रात्मक मूल्यो को अपनाने के फलस्वरूप पारस्परिक संस्था—**जातिवाद** का अन्त हो जायगा किन्तु स्वाधीनोत्तर भारत की राजनीति मे जाति का प्रभाव अनवरत रूप से बढता गया। जहाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र मे जाति की शक्ति घटी है वहाँ राजनीति और प्रशासन पर इसके बढते हुए प्रभाव को राजनीतिज्ञो, प्रशासनधिकारियो और केन्द्र एवं राज्य सरकारो ने स्वीकार किया है।

कतिपय विद्वानों की यह मान्यता है कि लोकतान्त्रिक एवं प्रतिनिध्यात्मक सस्थाओ की स्थापना के बाद जाति व्यवस्था का भारत मे लोप हो जाना चाहिए। अन्य कुछ विद्वानो की धारणा थी कि जाति व्यवस्था परम्परागत शक्ति के रूप मे कार्य करती है तथा राजनीतिक विकास एवं आधुनिकीकरण के मार्ग मे बाधक है। इस सम्बन्ध मे रजनी कोठारी का अभिमत है कि—प्रथम कोई भी सामाजिक तन्त्र कभी पूर्णतया समाप्त नही हो सकता, अत. यह प्रश्न करना कि क्या भारत मे जाति का लोप हो रहा है, अर्थशून्य है।[1] द्वितीय, जाति व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन मे रुकावट नही डालती बल्कि इसको बढाने मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।[2] स्थानीय और राज्य स्तर की राजनीति मे जातीय संघ और समुदाय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने मे उसी प्रकार की भूमिका अदा करते है जिस प्रकार पश्चिमी देशों मे दवाव गुट (Pressure Groups)।[3] हमारे राजनीतिज्ञ एक अजीब असमंजस की स्थिति में है। जहाँ एक ओर वे जातिगत भेदभाव मिटाने की बात करते है वही दूसरी ओर जाति के आधार पर वोट बटोरने की कला मे निपुणता हासिल करना चाहते हैं।[4]

जाति का परम्परागत अर्थ एवं रूप
(TRADITIONAL MEANING AND NATURE OF CASTE)

जाति प्रथा किसी न किसी रूप मे संसार के हर कोने मे पायी जाती है, पर एक गम्भीर सामाजिक कुरीति के रूप मे यह हिन्दू समाज की ही विशेषता है। वैसे इस्लाम और ईसाई समाज

---

1 Rajni Kothari *Caste in Indian Politics* (Delhi, 1970), p. 4.
2 Rajni Kothari *Politics in India*, p. 341
3 Granvile Austin *The Indian Constitution—Cornerstone of a Nation* (Oxford, 1966), p 47.
4 "The politicians who want that caste and Communal ditinction should disappear is it the same time aware of its vote-catching power and is thus faced with a red dilemma.

भी इसके प्रभाव से अछूते नही रह सके। यह व्यवस्था एक अतिप्राचीन व्यवस्था रही है। इसका अभिप्राय पेशे के आधार पर समाज को कई भागो मे बाँट देना है। सामान्यतया यह माना जाता है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति वैदिक काल मे हुई। ब्राह्मण धार्मिक और वैदिक कार्यों का सम्पादन करते थे। क्षत्रियो का कार्य देश की रक्षा करना और शासन प्रबन्ध करना था। वैश्य कृषि और वाणिज्य सम्हालते थे तथा शूद्रो को अन्य तीन वर्णो की चाकरी करनी पड़ती थी। शुरू-शुरू मे जाति प्रथा के बन्धन कठोर न थे और वह जन्म पर नही अपितु कर्म पर आधारित थे। बाद मे जाति प्रथा में कठोरता आती गयी, वह पूरी तरह जन्म पर आधारित हो गयी तथा एक जाति से दूसरी जाति मे अन्त.क्रिया असम्भव हो गयी। अपने मौलिक रूप मे जाति प्रथा उपयोगी थी। चूँकि वह श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित थी, अत उसने आर्थिक क्षेत्र मे निपुणता के तत्त्व का समावेश किया। एक जाति का पेशा उसी जाति मे होता था। बेटा बाप से अपना पुश्तैनी पेशा सीखता था और प्राय. उसी को अपनी आजीविका के साधन के रूप मे अपना लेता था। इस प्रथा से एक जाति और बिरादरी के लोगो मे भाई-चारे की भावना को बढाया। एक जाति के लोग एक-दूसरे से भली-भाँति परिचित होते थे तथा एक-दूसरे के सुख-दु ख मे काम आते थे।

प्रो. घुरिये (Ghurye) ने जाति व्यवस्था की छ. विशेषताएँ बतायी है, जो इस प्रकार है:

(i) भारत मे जाति ऐसे समुदाय है जिसका अपना विकसित जीवन है और इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है।

(ii) भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति जानता है और जातियो के पद-सोपान मे ब्राह्मण सबसे ऊपर माना जाता है।

(iii) जातियो के आधार पर खान-पान और सामाजिक आदान-प्रदान के प्रतिबन्ध लगे रहते है।

(iv) गाँवो तथा शहरो मे जाति के आधार पर पृथकता की भावना बनी रहती है।

(v) कुछ जातियाँ कतिपय विशेष प्रकार के व्यवसायो को अपना पुश्तैनी अधिकार समझती हैं।

(vi) जातियो की परिधि मे ही वैवाहिक आदान-प्रदान होता है और जातियाँ कई उप-जातियो मे विभक्त होती हैं। उप-जातियो मे भी वैवाहिक परिसीमाएँ है।

जाति का राजनीति से सम्पर्क सूत्र
(POLITICS ATTACHED TO CASTE)

स्वाधीनता संग्राम के दौरान ऐसा दीखता था कि जनता पर जातिवाद का प्रभाव कम हो रहा है किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त जातिवाद ने फिर जोर पकड़ा और वयस्क मताधिकार व्यवस्था के देश मे लागू कर दिये जाने के परिणामस्वरूप यह एक राजनीतिक शक्ति के रूप मे उदित हुआ है। वैसे राजनीति पर जातिगत प्रभाव प्रतिनिधि व्यवस्था के लागू होने के समय से ही शुरू हो गया था किन्तु यह प्रभाव नगण्य ही था। इसके लिए उत्तरदायी थे ब्रिटिश प्रशासन, राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सीमित मताधिकार। स्वतन्त्रता की प्राप्ति ने प्रथम दो कारणो का निराकरण कर दिया और नये संविधान मे अपनायी गयी वयस्क मताधिकार व्यवस्था ने तीसरे का। फलत: जातियो के प्रभाव क्षेत्र मे आशातीत वृद्धि हो गयी। आरम्भ से तो सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उच्च अथवा श्रेष्ठ जातियाँ ही राजनीति से प्रभावित रही और राजनीतिक लाभ उन्ही तक सीमित रहे। समय के साथ-साथ मध्यम और निम्न समझी जाने वाली जातियाँ आगे आने लगी और अपने राजनीतिक प्रभाव को बढाने मे प्रयत्नशील रहने लगी। **प्रो. रूडोल्फ** के

शब्दो मे, "भारत के राजनीतिक लोकतन्त्र के सन्दर्भ मे जाति वह धुरी है जिसके माध्यम से नवीन मूल्यो और तरीको की खोज की जा रही है। यथार्थ मे यह एक ऐसा माध्यम बन गयी है कि इसके जरिये भारतीय जनता को लोकतान्त्रिक राजनीति की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।"[1]

जाति का राजनीतिक रूप : रजनी कोठारी का दृष्टिकोण

(POLITICAL DIMENSIONS OF CASTE . RAJNI KOTHARI'S APPROACH)

प्रो. रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स' (Caste in Indian Politics) मे भारतीय राजनीति मे जाति की भूमिका का विस्तृत विश्लेषण किया है। उनका मत है कि अक्सर यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या भारत मे जाति प्रथा खत्म हो रही है ? इस प्रश्न के पीछे यह धारणा है कि मानो जाति और राजनीति परस्पर विरोधी संस्थाएँ हैं। ज्यादा सही सवाल यह होगा कि जाति-प्रथा पर राजनीति का क्या प्रभाव पड रहा है और जाति-पाँति वाले समाज मे राजनीति क्या रूप ले रही है ? जो लोग राजनीति मे जातिवाद की शिकायत करते हैं, वे न तो राजनीति के प्रकृत स्वरूप को ठीक समझ पाये है और न जाति के स्वरूप को। भारत की जनता जातियो के आधार पर सगठित है अत न चाहते हुए भी राजनीति को जाति संस्था का उपयोग करना ही पडेगा। अत. राजनीति मे जातिवाद का अर्थ जाति का राजनीतिकरण है। जाति को अपने दायरे मे खीचकर राजनीति उसे अपने काम मे लाने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर राजनीति द्वारा जाति या बिरादरी को देश की व्यवस्था मे भाग लेने का मौका मिलता है।[2] राजनीतिक नेता सत्ता प्राप्त करने के लिए जातीय सगठन का उपयोग करते हैं और जातियो के रूप मे उनको बना-बनाया सगठन मिल जाता है जिससे राजनीतिक सगठन में आसानी होती है।

जाति व्यवस्था और राजनीति मे अन्त क्रिया के सन्दर्भ मे प्रो. रजनी कोठारी ने जाति-प्रथा के तीन रूप प्रस्तुत किये है . (i) लौकिक रूप (The secular aspect), (ii) एकीकरण का रूप (The integration aspect), तथा (iii) चैतन्य रूप (The aspect of consciousness)।

(i) **जाति व्यवस्था का लौकिक रूप**—रजनी कोठारी ने जाति व्यवस्था के लौकिक रूप को व्यापक दृष्टि मे देखने का प्रयत्न किया। जाति व्यवस्था की कुछ बातो पर सबका ध्यान गया है जैसे जाति के अन्दर विवाह, छुआछूत और रीति-रिवाजो के द्वारा जाति की पृथक् इकाई को कायम रखने का प्रयत्न। लेकिन इस बात की ओर बहुत ही कम लोगो का ध्यान गया है कि जातियो मे आपसी प्रतिद्वन्द्विता एवं गुटबन्दी रहती है, प्रत्येक जाति प्रतिष्ठा और सत्ता की प्राप्ति के लिए संघर्परत रहती है। उदाहरण के लिए, आजकल बिहार मे ऊँची जातियो और पिछडी जातियो के बीच सत्ता प्राप्ति का अनवरत संघर्ष चल रहा है और यही कारण है कि जनता शासन के दौरान दोनो ही मुख्यमन्त्री पिछडी और अनुसूचित जातियो से आये। जाति व्यवस्था के इस लौकिक पक्ष के दो रूप थे—एक शासकीय रूप यानि जाति की ओर गाँव की पचायत और चौधराहट। दूसरा रूप राजनीतिक था यानि जाति की आन्तरिक गुटबन्दी और अन्य जातियों से

---

1 "With the new context of Political democracy caste remains a central element of India's society while adopting itself to the values and methods of democratic politics. Indeed it has become one of the chief means by which the Indian mass has been attached to the process of democratic politics " —*Rudolphs*

2 "By drawing the caste system into its web of organisation, politics finds material for its articulation and moulds it into its one design In making politics their sphere of activity, Caste and Kin groups on the other hand, get a chance to assert their identity andto strive for position " —Rajni Kothari . *Politics in India*, 1970, p. 225.

गठजोड और प्रतिद्वन्द्विता। इन संगठनो का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता था कि स्थानीय नेताओ के समाज की केन्द्रस्थ सत्ता से किस प्रकार के सम्बन्ध थे। धर्म, व्यवसाय और प्रदेश के आधार पर इन जातियों की स्थिति बनती और बिगड़ती थी। पहले इन जातियो का सम्बन्ध जाति या गाँव की पंचायत और राजा या जमीदार से रहता था। अब जातीय पंचायतो के स्थान पर विधानसभाएँ और संसद हैं तथा राजा के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार है।

रजनी कोठारी का यह भी विचार है कि देश की राजनीति पर किसी एक जाति का प्राधान्य नही हो सका क्योकि कुछ स्थानो पर ब्राह्मणो का वर्चस्व था तो कुछ प्रदेशो मे जैसे गुजरात और मारवाड़ मे जैन, वैष्णव जैसे सम्प्रदायों के हाथ मे आर्थिक शक्ति थी।

(ii) **जाति व्यवस्था का एकीकरण रूप**—जाति का दूसरा रूप एकीकरण का है अर्थात् व्यक्ति को समाज से बाँधने का है। जाति प्रथा जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज मे स्थान नियत कर देती है। जाति के आधार पर ही उस व्यक्ति का व्यवसाय और आर्थिक भूमिका निश्चित हो जाती है। चाहे कितना भी बड़ा व्यक्ति क्यो न हो, उसका अपने समाज मे लगाव पैदा हो जाता है, जाति के प्रति उसकी निष्ठा बढने लगती है। यही निष्ठा आगे चलकर बड़ी निष्ठाओ अर्थात् लोकतन्त्र और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति भी विकसित हो सकती है। इस प्रकार जातियाँ जोड़ने वाली कड़ियाँ बन जाती है। लोकतन्त्र के अन्दर विभिन्न समूहो मे शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्विता होती है और विभिन्न जातियो मे आपस मे मिल-जुलकर गठजोड बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ताकि वे सत्ता का लाभ प्राप्त कर सकें।

(iii) **जाति व्यवस्था का चैतन्य रूप**—जाति प्रथा का तीसरा रूप चेतना बोध है। कुछ जातियाँ अपने को उच्च समझती हैं और इस कारण समाज मे उनकी विशेष प्रतिष्ठा होती है। इस कारण कुछ निम्न समझी जाने वाली जातियाँ भी अपने को उनके साथ जोडने की चेष्टा करती है। क्षत्रिय वर्ण के साथ जो प्रतिष्ठा जुडी हुई है, उसके कारण देश के विभिन्न भागो मे अनेक जातियों ने इस वर्ण का दावा किया है। कुछ जातियो मे इसी प्रकार ब्राह्मण पद का भी दावा किया है। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप जाति विशेष की स्थिति भी बदलती है। सामाजिक व्यवहार मे अलग-अलग स्तर पर अलग-अलग रूप धारण करने के कारण जाति व्यवस्था मे लोच और परिवर्तनशीलता आ जाती है। इसके लिए चार मार्ग अपनाये जाते है। **प्रथम**, सस्कृतिकरण का तरीका है। सस्कृतिकरण मे छोटी जातियाँ सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणो के रीति-रिवाजों की नकल करने लगती हैं। इसे ब्राह्मणीकरण भी कहा जाता है। **द्वितीय**, लौकिकीकरण या अब्राह्मणीकरण का तरीका है। आर्थिक उन्नति, राजनीतिक एकता और बुद्धिवाद की सार्वजनिक प्रवृत्तियो के प्रभाव से अक्सर अब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणों की नकल करने की प्रवृत्ति को छोड देती है और अन्य अब्राह्मण जातियो से मिलकर राजनीतिक व सामाजिक अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा करती हैं। **तृतीय**, महापुरुषो से सम्बन्ध जोड़ने का तरीका है। कभी-कभी कतिपय जातियाँ अपनी उच्चता सिद्ध करने के लिए अपना सम्बन्ध पौराणिक पुरुषो से जोड़ने का प्रयत्न करती है। जैसे गुजरात के पाटीदार, बंगाल के महाष्यि और राजस्थान के जाट आदि। **चतुर्थ**, आधुनिक राजनीति मे भी भागीदारी का तरीका है। कुछ जातियाँ सीधे ही आधुनिक राजनीति मे भाग लेने लगी और इस प्रकार उन्होंने समाज मे भी उच्च स्थिति प्राप्त की। आन्ध्र प्रदेश और विहार इसके उदाहरण है।

प्रो. रजनी कोठारी ने जाति के राजनीतिकरण की चर्चा करते हुए कहा है कि 'इससे पुराना समाज नयी राजनीतिक व्यवस्था के करीब आया है।' इस प्रक्रिया को उन्होने तीन चरणो में बाँटा है -

(i) **शक्ति और प्रभाव की प्रतिस्पर्द्धा—ऊँची जातियो तक सीमित रही**—भारत का पुराना समाज जव नयी व्यवस्था के सम्पर्क मे आने लगा तो सबसे पहले शक्ति और प्रभाव की स्पर्द्धा समाज की प्रतिष्ठित और जमी हुई जातियो तक सीमित रही। जिन जातियों ने उच्च शिक्षा प्राप्त करके आधुनिक बनने का प्रयत्न किया, वे प्रतिष्ठित जातियो के समक्ष आने लगीं। इन जातियो ने अधिकार और पद प्राप्त करने के लिए अपना राजनीतिक सगठन बनाया जिससे दो ऊँची जातियो मे प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिद्वन्द्विता बढने लगी। मद्रास और महाराष्ट्र मे ब्राह्मण-अब्राह्मण; राजस्थान मे राजपूत जाट, गुजरात मे बनियाँ-ब्राह्मण-पाटीदार, आन्ध्र प्रदेश मे कम्मा-रेड्डी और केरल मे इजवा-नायर द्वन्द्व इसके उदाहरण है।

(ii) **जाति के अन्दर की प्रतिस्पर्द्धी गुटबन्दी**—इस चरण मे भिन्न-भिन्न जातियो की प्रतिस्पर्द्धा के साथ-साथ जाति के अन्दर भी प्रतिस्पर्द्धी गुट बन जाते हैं। प्रतिद्वन्द्वी नेताओ के पीछे गुट बन जाते है। इन गुटो मे विभिन्न जातियों के लोग होते हैं। अपना गुट मजबूत करने के लिए उन जातियो की भी सहायता ली जाती है, जो अब तक दायरे से बाहर थीं। चुनाव मे समर्थन प्राप्त करने के लिए नीची जातियो के प्रमुख लोगो को छोटे राजनीतिक पद और लाभ मे कुछ हिस्सा देकर प्रतिस्पर्द्धी नेता अपना गुट मजबूत करने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ इस प्रकार मुखियो को इनाम और पद देकर इन जातियो का समर्थन प्राप्त करना सम्भव नही हुआ, वहाँ विभिन्न जातियो और उपजातियो मे आपसी प्रतिस्पर्द्धा पैदा करके उनका संगठन बनाने की और उन संगठनो के मध्यस्थ या बिचवइयो द्वारा समझौता करने की कोशिश की गयी। इस चरण मे पुराने ब्राह्मण और कायस्थ आदि प्रशासनिक जातियो के नेताओ के बजाय व्यवसायी और कृषक जातियो के नेताओ और कार्यकर्त्ताओ की सख्या बढी। ये नेता सौदा पटाने मे कुशल थे, ज्यादा व्यावहारिक थे और अपने वर्ग और जाति के लोगो का नेतृत्व कर सकते थे।

(iii) **जाति के बन्धन ढीले पड़ना और राजनीति को व्यापकता मिलना**—रजनी कोठारी के अनुसार तीसरे चरण मे एक ओर राजनीतिक मूल्यों की प्रधानता हुई और जाति-पाँति से लगाव कम हुआ, वहाँ दूसरी ओर शिक्षा, नये शिल्प और शहरीकरण के कारण समाज मे परिवर्तन आया। भौतिक उन्नति की नयी धारणाओं का जोर बढा। पुराने पारिवारिक बन्धन टूटने लगे और लोग काम-धन्धे के लिए शहरो मे जाकर बसने लगे। जाति की भावना ढीली पड़ने लगी और सामाजिक व्यवहार अपनी जाति तक सीमित न रहा। राजनीति मे भी व्यापकता आयी। नयी शिक्षा और नये सामाजिक व्यवहार से उत्पन्न होने वाली नयी प्रवृत्तियाँ फैलने लगी। राजनीतिक संस्थाओ का ढाँचा व्यापक होने लगा और जाति की भावना को नया रूप मिलने लगा। राजनीतिक प्रवृत्तियो ने नयी निष्ठाओ को जन्म दिया, जो पुरानी निष्ठाओ को काटती हैं। जाति अब राजनीतिक समर्थन या शक्ति का एकमात्र आधार नही रही, यद्यपि राजनीति मे इसका अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है।

प्रो. रजनी कोठारी का राजनीति मे जाति सम्बन्धी निष्कर्ष इस प्रकार है :

(1) आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था मे भाग लेने के कारण पहले तो जाति प्रथा पर पृथक्ता की प्रवृत्ति का प्रभाव पडा, बाद मे जाति भावना का सामजस्य हुआ और इसने राजनीतिक सगठन में सहायता दी।

(2) आधुनिक राजनीति मे भाग लेने से लोगो की दृष्टि मे परिवर्तन हुआ और उनकी यह समझ मे आ गया कि आज के युग मे केवल जाति और सम्प्रदाय से काम नही चल सकता।

(3) जहाँ जाति बडी होती है, वहाँ भी उसमे एकता नही रहती, उसमे उप-जातियो के भेद होते है और छोटी जातियाँ तो अपने बल पर चुनाव भी नही जीत सकती हैं। यदि कोई

प्रत्याशी अपनी ही जाति का पक्ष लेता है तो दूसरी जातियाँ उनके खिलाफ हो जाती हैं इसलिए चुनाव की राजनीति मे अनेक जातियो का गुट वनाना पडता है ।

(4) राजनीति मे आने के कारण जाति की भावना ढीली पड जाती है और अनेक नयी निष्ठाओं का उदय होता है ।

(5) आजकल राजनीति मे जातिवाद और सम्प्रदायवाद का जोर बढने की शिकायत की जाती है । ऐसा समझा जाता है कि शिक्षा प्रसार, शहरो के विस्तार औद्योगीकरण के कारण सम्प्रदाय और जाति के वन्धन ढीले पड रहे थे, वे चुनाव की राजनीति के कारण फिर से जोर पकड रहे है और इससे देश मे फूट वढ़ेगी जिसमे धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र का ढाँचा खतरे मे पड जायेगा । किन्तु प्रो. कोठारी का मानना है कि वास्तव मे जाति और राजनीति के मिश्रण से दूसरे ही परिणाम निकलते हैं । वजाय राजनीति पर जाति के हावी होने के, जाति का राजनीतिकरण हो जाता है । (It is not Politics that gets caste ridden, it is caste that gets Politicisation) राजनीति ने जाति को लीक से हटाकर नया सन्दर्भ दे दिया, जिससे उसका पुराना रूप वदल रहा है ।

(6) आधुनिकतावादी नेता जाति-पाँति पर भले ही नाक-भौ सिकोडे, परन्तु इसके द्वारा राजनीतिक शक्ति उन वर्गों या समूहो के हाथ मे पहुँच सकी, जो अव तक उससे वचित थे ।

(7) जाति के आधार पर संघ और सगठन वनते है जैसे कायस्थ सभा, क्षत्रिय संघ आदि सव मिलाकर जातीय सगठनो ने भारत की राजनीति मे वही भाग लिया है जो पश्चिमी देशो मे विभिन्न हितो व वर्गों के संगठनो ने ।

(8) जातियो और सम्प्रदायो के राजनीति मे भाग लेने के फलस्वरूप सामूहिक या राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ है और उनकी पृथकता कम होकर उनका राजनीतिक एकीकरण हुआ है ।

जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया : सैद्धान्तिक आधार
(INTERACTIONS BETWEEN CASTE AND POLITICS . THEORETICAL FRAMEWORK)

भारत मे जाति और राजनीति मे किस प्रकार का सम्वन्ध है ? इस सम्वन्ध मे चार प्रकार से विचार प्रस्तुत किये जा रहे है :

सर्वप्रथम, यह कहा जाता है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था का सगठन जाति की संरचना के आधार पर हुआ है और राजनीति केवल सामाजिक सम्वन्धो की अभिव्यक्ति मात्र है । सामाजिक सगठन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करता है ।

द्वितीय, राजनीति के प्रभाव के फलस्वरूप जाति नया रूप धारण कर रही है । लोकतान्त्रिक राजनीति के अन्तर्गत राजनीति की प्रक्रिया प्रचलित जातीय संरचनाओं को इस प्रकार प्रयोग मे लाती है जिससे सम्वद्ध पक्ष अपने लिए समर्थन जुटा सके तथा अपनी स्थिति को सुदृढ़ वना सकें । जिस समाज मे जाति को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संगठन माना जाता है उसमे यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि राजनीति इस सगठन के माध्यम से अपने आपको सगठित करने का प्रयास करे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसे हम राजनीति मे जातिवाद के नाम से पुकारते हैं वह वास्तव मे जाति का राजनीतिकरण है ।

तृतीय, भारत मे राजनीति 'जाति' के इर्द-गिर्द घूमती है । जाति प्रमुखतम राजनीतिक दल है । यदि मनुष्य राजनीति की दुनिया मे ऊँचा उठना चाहता है तो उसे अपने साथ अपनी जाति को लेकर चलना होगा । भारत में राजनीतिज्ञ जातीय समुदायो को इसलिए संगठित करते है ताकि उनके समर्थन मे उन्हें सत्ता तक पहुँचने मे सहायता मिल सके ।

चतुर्थ, जातियाँ संगठित होकर प्रत्यक्ष रूप से राजनीति मे भाग लेती है और इस प्रकार जातिगत भारतीय समाज मे जातियाँ ही 'राजनीतिक शक्तियाँ' वन गयी हैं।

जाति के राजनीतिकरण की विशेषताएँ
(CHARACTERISTICS OF CASTE POLITICISATION)

भारतीय राजनीति मे जाति की भूमिका की उभरती विशेषताएँ निम्नवत् हैं :

प्रथम, जाति व्यक्ति को वांधने वाली कड़ी है। जातीय संघो और जातीय पंचायतो ने जातिगत राजनीतिक महत्त्वाकाक्षाओ को वढाया है। जाति-पाँति को समाप्त करने वाले आन्दोलन अन्ततोगत्वा नयी जातियो के रूप मे मुखरित हुए जैसे लिंगायत, कवीरपन्थी और सिक्ख आन्दोलन स्वयं नयी जातियां वन गये।

द्वितीय, शिक्षा, शहरीकरण, औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण से जातियाँ समाप्त नही हुई अपितु उनमे एकीकरण की प्रवृत्ति को वल मिला और उनकी राजनीतिक भूमिका मे वृद्धि हुई।

तृतीय, राजनीति मे प्रधान जाति (Dominant caste) की भूमिका का विश्लेषण किया जा सकता है। प्रधान जाति न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ही शक्तिशाली होती है, वल्कि संख्या मे भी गाँव या इलाके मे ज्यादा होती है। प्रधान जाति अपने सख्या वल के आधार पर गाँव और क्षेत्र की स्थानीय सस्थाओं जैसे पंचायतो की राजनीति मे सक्रिय होती है। यदि किसी राज्य विशेष मे किसी जाति की प्रधानता होती है तो राज्य राजनीति मे जाति एक प्रभावक तत्त्व वन जाती है। हरियाणा की राजनीति के वारे मे डॉ सुभाष काश्यप ने लिखा है—"हरियाणा मे जाति और वर्ग की भावना को अपेक्षाकृत अधिक वल मिला है तथा हरियाणा के जन-जीवन मे सदा ही 'जाति' राजनीतिक दल की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण रही है। गुडगाँव और महेन्द्रगढ क्षेत्रो के अहीर, अहीर उम्मीदवार को ही मत देना चाहेगा अन्य किसी को नही यही वात राज्य के अन्य भागो के अन्य जाति के समूहो के वारे मे लागू होती है। चुनावो के समय यहाँ अक्सर एक पुरजोर नारा सुनायी पडता है—'जाट की वेटी जाट को, जाट का वोट जाट को।' आश्चर्य की वात यह है कि जाति की यह छूत हिन्दुओ तक ही सीमित नही, मुसलमान भी उनकी गिरफ्त से नही वच सके।"[1]

चतुर्थ, उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ही जातिगत समुदायो का झुकाव राजनीति की ओर हो गया था जवकि ब्रिटिश शासन ने भारत मे एक मजवूत प्रशासनिक व्यवस्था की नीव डाली थी। सवसे पहले इसका ध्यान जनगणना कार्यालय की ओर गया जहाँ जातीय समुदायो ने सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्ति के ध्येय से अपने सगठन का नामकरण कराना आवश्यक समझा। वाद मे अपनी जाति के लोगो के हितो को संरक्षण के लिए जातीय संघो ने प्रस्ताव पारित किये और शासन को अपनी माँगो के लिए प्रभावित करना प्रारम्भ किया। यहाँ तक कि कुछ जातियो ने शैक्षणिक सुविधा, शिक्षण संस्थाओ मे जातिगत आरक्षण और सरकारी नौकरियो मे आरक्षण की माँग की। मद्रास की वेनियर (Venniyars) जाति के नेता पदायची (Padayachi) ने सी. राजगोपालचारी के मन्त्रिमण्डल मे शामिल होने से इंकार कर दिया क्योकि उन्होने उनकी जातीय माँगो को मानने से इकार कर दिया था। वाद मे वे कामराज मन्त्रिमण्डल मे शामिल हो गये क्योकि उन्होने वेनियरो की माँगें स्वीकार कर ली थी।

पंचम, निर्वाचनो के दिनो मे जातिगत समुदाय प्रस्ताव पारित करके राजनीतिक नेताओ और दलो को अपने जातिगत समर्थन की घोषणा करके अपने हितो को मुखरित करते है।

---

[1] डॉ. सुभाष काश्यप . **दल-वदल और राज्यों की राजनीति** (मेरठ, 1970), पृ. 112-13।

षष्ठ, जाति की भूमिका राष्ट्रीय स्तर की राजनीति पर उतनी नहीं है जितनी स्थानीय और राज्य राजनीति पर है ।[1]

सप्तम, जाति और राजनीति के सम्बन्ध स्थैतिक न होकर गतिशील है ।[2]

जाति के राजनीतिकरण का विवेचन
(CASTE POLITICISATION · ANALYSIS)

जातिवाद का एक पक्ष यह है कि यदि कुछ जातियाँ या जाति के लोग मिलकर कोई रचनात्मक कार्य जैसे स्कूल या कॉलेज खोलना, अस्पताल, धर्मशालाएँ, मन्दिर, गुरुद्वारे आदि बनवाना, निर्धनों को आर्थिक सहायता देना आदि करते हैं तो उससे न तो किसी को हैरानी या परेशानी होगी और न कोई विद्वेष की भावना ही फैलती है । किन्तु जब कुछ जातियाँ या जाति के लोग मिलकर अन्य जाति को परेशान अथवा संत्रस्त करते है तो स्थिति भयावह अवश्य बन जाती है । आजकल प्राय. यही हो रहा है । अच्छे प्रतिभाशाली लोग केवल इसी आधार पर उपेक्षित रहते हैं कि वे किसी जाति विशेष के नही होते । जातियो के नाम से चलने वाली सस्था मे से बहुत ही कम ऐसी होती है जो पक्षपात शून्य होती है, बाकी सभी मे यह विष इस प्रकार घोला जाता है कि अच्छी प्रतिभाओ का विकास रुक जाता है । जातिवाद अथवा भारत मे जातियो का होना यदि वास्तव मे एक सामाजिक बुराई है तो उसे अभी दूर क्यो नही किया गया ? छुआछूत मिटाने के लिए यदि कानून बन सकता है तो जाति प्रथा को समाप्त करने के लिए अभी तक कानून क्यो नही बना ? यह सहज ही शंका का विषय बन जाता है । ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे राजनीतिज्ञ ऊपर से 'जाति तोडो' सम्मेलन करते हैं किन्तु अन्तरंग से जातीयता को बढावा देते है । जातिवाद के कारण अनेक ऐसे सघ बन गये है जिनमे काफी पिछडे वर्ग के लोग शामिल हैं । शोषित संघ तो अनुसूचित जातियो अथवा अनुसूचित आदिम जातियो का एक संघ है ही । इधर एक नाम 'दलित पैंथर' भी सुनाई पडने लगा है । दलित का अर्थ है रौंदा, कुचला अथवा संत्रस्त । जबकि पैंथर अंग्रेजी का शब्द है जो चीता अथवा तेंदुआ के लिए प्रयुक्त होता है । यह संगठन उग्रवादी अनुसूचित जातियो व आदिवासियो का सगठन है जो मूल रूप से जातीय आधार पर संगठित किया गया है । इसी प्रकार जाटों, गूजरो, अहीरो, वैश्यो आदि के भी अनेक संगठन हैं जिनका मुख्य आधार जाति ही है । ब्राह्मणो के कई वर्ग हैं । कान्यकुब्ज, गौड़, मैथिल, दक्षिणात्य आदि । इनकी भी अनेक सभाएँ व संगठन है जो भारतीय व प्रादेशिक आधार पर बनाये गये है—जैसे अखिल भारतीय कान्य कुब्ज सभा, अखिल भारतीय ब्राह्मण सभा आदि । इन सभाओ का मूल ध्येय जातीय भावनाओ को उकसाना है । जातीय संगठन और जातीय नेता राजनीतिक दलो और राजनीतिज्ञों से साँठ-गाँठ करके जाति का राजनीतिकरण करने मे लगे हुए है । बिहार और उत्तर प्रदेश मे आये दिन जातीय झगडो, तनावो और संघर्षो मे जाति और राजनीति की अन्त:-क्रिया ही दिखायी देती है ।

भारतीय राजनीति में 'जाति' की भूमिका
(ROLE OF 'CASTE' IN INDIAN POLITICS)

जयप्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि 'जाति भारत मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दल है ।' हेरल्ड गोल्ड के शब्दों मे, 'राजनीति का आधार होने के बजाय जाति उसको प्रभावित करने वाला एक तत्त्व है ।'

---

[1] "Caste plays a major role in state and local politics but it is marginal at the all India level." —Michael Brecher : *Succession in India* (London), p. 230.

[2] J C. Johari, *Reflection on Indian Politics* (New Delhi 1974), p. 71.

जाति-व्यवस्था भारतीय समाज का परम्परागत पक्ष है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात संविधान और राजनीतिक संस्थाओ के निर्माण से आधुनिक प्रभावो ने भारतीय समाज मे धीरे-धीरे प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। आधुनिक प्रभावो के फलस्वरूप वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन प्रारम्भ हुए और जातिगत सस्थाएँ यकायक महत्त्वपूर्ण वन गयी क्योकि उनके पास भारी संख्या मे मत थे और लोकतन्त्र मे सत्ता प्राप्ति हेतु इन मतों का मूल्य था। जिन्हे सत्ता की आकाक्षा थी उन्हे सामान्य जनता के पास पहुँचने के लिए सम्पर्क सूत्र की भी आवश्यकता थी। सामान्य जनता को अपने पक्ष मे मिलाने के लिए यह भी जरुरी था कि उनसे उस भाषा मे वात की जाय जो उनकी समझ मे आ सके। जाति-व्यवस्था इस वात को प्रकट करती थी। इस पृष्ठभूमि मे जाति की भूमिका राजनीति मे अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होती गयी। भारतीय राजनीति मे 'जाति' की भूमिका का अध्ययन निम्न शीर्षको मे किया जा सकता है

(1) **निर्णय प्रक्रिया में जाति की प्रभावक भूमिका** (Influential Role of Caste in Decision-making Process)—भारत मे जातियाँ सगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ, सविधान मे अनुसूचित जातियो और जन-जातियो के लिए आरक्षण के प्रावधान रखे गये है जिनके कारण ये जातियाँ सगठित होकर सरकार पर दवाव डालती है कि इन सुविधाओ को और अधिक वर्षों के लिए अर्थात् जनवरी 2000 तक के लिए वढा दिया जाय। अन्य जातियाँ चाहती हैं कि आरक्षण समाप्त किया जाय अथवा इसका आधार सामाजिक-आर्थिक स्थिति हो अथवा उन्हे आरक्षित सूची मे शामिल किया जाय ताकि वे इसके लाभ से वजित न रह जायँ।

(2) **राजनीतिक दलो में जातिगत आधार पर निर्णय** (Caste-oriented decisions at the level of Political Parties)—भारत मे सभी राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियो का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते हैं। प्रत्येक दल किसी भी चुनाव क्षेत्र मे प्रत्याशी मनोनीत करते समय जातिगत गणित का अवश्य विश्लेषण करते हैं। 1962 मे गुजरात के चुनाव मे स्वतन्त्र पार्टी की सफलता का राज उसका क्षत्रिय जाति के समर्थन मे छिपा हुआ था। हरिजन-मुसलमान-ब्राह्मण शक्तिपुंज वनाकर ही 1971 का आम चुनाव कांग्रेस ने जीता था। 1977 मे जनता पार्टी की विजय का कारण उसे मुसलमानो और हरिजनो के साथ उच्च जातियो का प्राप्त समर्थन था। जनवरी 1980 के सप्तम लोकसभा चुनावो मे कांग्रेस (इन्दिरा) की विजय का कारण है कि श्रीमती गाँधी हरिजनो, ब्राह्मणो और मुसलमानो का जातीय समर्थन जुटाने मे सफल हो गयी।[1] नवम्वर 1989 के लोकसभा चुनावो मे उत्तर प्रदेश और विहार मे जनता दल की अपूर्व विजय का एक कारण जाट-राजपूत समर्थन है। उत्तर प्रदेश मे वहुजन समाज पार्टी का उदय और आधार कतिपय पिछडी जातियो के समर्थन पर निर्भर है। कांग्रेस सहित सभी राज-नीतिक दलो मे जातीय आधार पर अनेक गुट पाये जाते हैं जिनमे प्रतिस्पर्द्धा की भावना विद्यमान रहती है।

(3) **जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार** (Caste-oriented voting behaviour)—भारत मे चुनाव अभियान मे जातिवाद को साधन के रूप मे अपनाया जाता है और प्रत्याशी जिस निर्वाचन क्षेत्र मे चुनाव लड रहा है उस निर्वाचन क्षेत्र मे जातिवाद की भावना को प्राय. उकसाया जाता है ताकि सम्वन्वित प्रत्याशी की जाति के मतदाताओ का पूर्ण समर्थन प्राप्त किया जा सके।

---

[1] "In fact Mrs. Gandhi succeeded gradually in building the electoral coalition which brought her to power in 1971 Muslims, harijans, brahmins plus that 'Charisma' vote which should, better be called the "trust" vote"—Babu Lal Fadia *Pressure Groups in Indian Politics* (Radiant Publishers, New Delhi, 1980), Chapter 9.

जनवरी 1980 के चुनावो मे उत्तर प्रदेश और कुछ बिहार के हिस्सो मे लोकदल की सफलता पिछडी जातियो की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओ का प्रतीक है। उत्तर प्रदेश के चुनावो मे चरणसिंह की सफलता सदैव ही जाट जाति के मतो की एकजुटता पर निर्भर रही है। केरल के चुनावों मे साम्यवादी और मार्क्सवादी दलों ने भी वोट जुटाने के लिए सदैव जाति का सहारा लिया है।

(4) **मन्त्रिमण्डलों के निर्माण में जातिगत प्रतिनिधित्व** (Caste representation in the Ministry making)—राजनीतिक जीवन मे जातीयता का सिद्धान्त इतना गहरा धँस गया है कि राज्यों के मन्त्रिमण्डल मे प्रत्येक प्रमुख जाति का मन्त्री होना चाहिए। यह सिद्धान्त प्रान्तो की राजधानियो से ग्राम पंचायतो तक स्वीकृत हो गया कि प्रत्येक स्तर पर प्रधान जाति को प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए। यहाँ तक कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे भी हरिजनो, जनजातियो, सिक्खो, मुसलमानो, ब्राह्मणो, जाटो, राजपूतो और कायस्थो को किसी न किसी रूप मे स्थान अवश्य दिया जाता है।

(5) **जातिगत दवाव समूह** (Caste as Pressure Groups)—**मेयर** के अनुसार, "जातीय सगठन राजनीतिक महत्त्व के दवाव समूह के रूप मे प्रवृत्त है।" जातिगत दवाव समूह अपने न्यस्त स्वार्थों एवं हितो की पूर्ति के लिए नीति-निर्माताओ को जिस ढंग से प्रभावित करने का प्रयत्न करते है उससे तो उनकी तुलना यूरोप और अमरीका मे पाये जाने वाले ऐच्छिक समुदायो मे की जा सकती है।[1]

अनेक जातीय सगठन और समुदाय जैसे तमिलनाडु मे नाडार जाति संघ, गुजरात मे क्षत्रिय महासभा, विहार में कायस्थ सभा आदि राजनीतिक मामलो मे रुचि लेने लगते हैं और अपने-अपने सगठित वल के आधार पर राजनीतिक सौदेवाजी भी करते है। यद्यपि देश की सभी प्रमुख जातियो को इस प्रकार पूर्णतया संगठित नही किया जा सका है। मगर जो जातियाँ इस प्रकार संगठित नही हो सकी, वे राजनीतिक सौदेवाजी मे सफल नहीं रही और उनके सदस्यो को अपनी आवाज उठाने के लिए उपद्रव और तोड-फोड का सहारा लेना पडा।[2]

(6) **जाति एवं प्रशासन** (Caste and Administration)—लोकसभा और विधानसभाओ के लिए जातिगत आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है केन्द्र एवं राज्यों की सरकारी नौकरियो एव पदोन्नति के लिए जातिगत आरक्षण का प्रावधान है। मेडिकल एव इन्जीनिरिंग कॉलेजो मे विद्यार्थी की भर्ती हेतु आरक्षण के प्रावधान मौजूद हैं। चरणसिंह सरकार ने तो अल्पकाल में एक अध्यादेश के माध्यम से पिछडी जातियो के लिए केन्द्रीय सरकार की सेवा मे आरक्षण व्यवस्था घोषित करने की मंशा प्रकट की और इस सम्वन्ध मे सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को भी ताक मे रख दिया। यदि यह अध्यादेश लागू हो जाता तो मध्यम जातियो जैसे अहीर, यादव, कुर्मी आदि को भी आरक्षण के अवसर मिल जाते। ऐसा भी माना जाता है कि भारत मे स्थानीय स्तर के प्रशासनिक अधिकारी निर्णय लेते समय अथवा निर्णयो के क्रियान्वयन मे प्रधान और प्रतिष्ठित अथवा संगठित जातियो के नेताओ से प्रभावित हो जाते है।

---

1 "Thus Political articulation of Caste resembles many ways those of the European and American voluntaey association and interest groups for simple reason that caste association and group assume a Political Complexion when they turn to the state for productions and furtherance of interest." —J. C. Johari : *Ibid.*, p 73.

2 आश्चर्य नही कि पश्चिम वंगाल तथा वडे नगरो मे उपद्रव और तोड़-फोड की राजनीति का ज्यादा जोर रहा है, वनिस्पत् उन राज्यो के जहाँ जाति के आधार पर राजनीतिक गुट या गँठजोड वने हैं।

(7) **राज्य राजनीति मे जाति (Caste in State Politics)**—माईकेल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है। यद्यपि किसी भी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावों से अछूती नही रही है तथापि बिहार, केरल, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा, राजस्थान और महाराष्ट्र राज्यो की राजनीति का अध्ययन तो बिना जातिगत गणित के विश्लेषण के कर ही नहीं सकते। बिहार की राजनीति मे राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और जनजाति प्रमुख प्रतिस्पर्द्धी जातियाँ है। पृथक् झारखण्ड राज्य की माँग वस्तुत एक जातीय माँग ही रही है। केरल मे साम्यवादियो की सफलता का राज यही है कि उन्होने 'इजावाहा' जाति को अपने पीछे सगठित कर लिया। आन्ध्र प्रदेश की राजनीति काम्मा और रड्डी जातियो के सघर्ष की कहानी है। काम्माओ ने साम्यवादी दल का समर्थन किया तो रेड्डी जाति ने काग्रेस दल का। महाराष्ट्र की राजनीति मे मराठो, ब्राह्मणो और महरो मे प्रतिस्पर्द्धा रही है। गुजरात की राजनीति मे दो ही जातियाँ प्रभावी हैं—पाटीदार और क्षत्रिय। केरल की राजनीति अपने तीन समुदायो के इर्द-गिर्द घूमती रही है—हिन्दू, क्रिश्चियन और मुसलमान। केरल की राजनीति मे अन्तिम दो प्रमुख राजनीतिक शक्तियो के रूप मे सक्रिय है। कहने को तो वहाँ सभी प्रकार के राजनीतिक दल हैं, किन्तु उन्हे ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि वे सब जातीय सगठन है। मुस्लिम लीग मुसलमानो की है, दोनो केरल काग्रेस के अधिकांश सदस्य ईसाई है। रा प्रा. सी. नायर लोगो की संस्था है। काग्रेस (इ) और दोनो साम्यवादी दलो मे एजवा जाति के अलावा हिन्दुओ के कुछ प्रमुख वर्गो का प्रभाव देखा जा सकता है। राजस्थान की राजनीति मे जाट-राजपूत जातियो की प्रतिस्पर्द्धा प्रमुख रही है। संक्षेप मे राज्यो की राजनीति मे 'जाति' का प्रभाव इतना अधिक प्रतीत हो रहा है कि टिंकर जैसे विद्वानो ने 'राज्यो की राजनीति' को 'जातियो की राजनीति' की सज्ञा दे डाली है।[1]

भारत मे राज्य राजनीति के कतिपय अध्ययनकर्ताओ के अनुसार विभिन्न राज्यो मे जाति के चार विभिन्न स्वरूप विकसित हुए है

(1) जातिवाद का **पहला स्वरूप** दक्षिणी भारत और विशेषकर तमिलनाडु मे मिलता है जहाँ ब्राह्मणो और अनेक निम्न जातियो के बीच गम्भीर संघर्ष रहा है। तमिलनाडु मे आरम्भ से ही राजनीति पर ब्राह्मणो का प्रभुत्व रहा और इसके विरुद्ध काफी दिनो से आन्दोलन चलता रहा जिसके परिणामस्वरूप रामास्वामी नायकर द्वारा द्राविड कडगम नामक सगठन की स्थापना की गयी जो बाद मे द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दल के रूप मे विकसित हुआ। तमिलनाडु मे यह आन्दोलन ब्राह्मणो को उच्च स्थानो से हटाने के लिए था। सन् 1914 से यह ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ और 1916 मे एक पृथक् राजनीतिक दल 'जस्टिस पार्टी' के नाम से स्थापित हुआ जिसका उद्देश्य गैर ब्राह्मण जातियो के हितो को विकसित तथा सुरक्षित करना था। इस संगठन का उद्देश्य सरकार का समर्थन प्राप्त करके प्रशासन और स्थानीय निकायो यहाँ तक कि शिक्षा संस्थाओ मे गैर-ब्राह्मण जातियो के लिए स्थान सुरक्षित करना था। 1922 मे सरकार द्वारा लोक सेवाओ मे निर्धारित किये गये कोटे गैर-ब्राह्मण जातियो के लिए लगभग 42% और ब्राह्मण जाति के लिए 16% स्थान निर्धारित किये गये। इससे इस बात का सकेत मिलता है कि ब्रिटिश काल मे ही गैर-ब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन मे बडी हद तक सफल हुई। 1949 मे यह आन्दोलन सी. एन अन्नादुराई के नेतृत्व मे डी. एम. के. के अधीन शुरू हुआ। ब्राह्मण विरोधी भावना के राजनीतिक महत्त्व को दृष्टि मे रखते हुए अन्य राजनीतिक दल भी जाति युद्ध मे

---

[1] "...State Politics will be Caste Politics throughout most of India for many years to come" —*Tinker*

संलग्न रहे हैं। यहाँ तक कि कांग्रेस पार्टी के द्वारा राजगोपालचारी (जो एक ब्राह्मण थे) के राजनीतिक प्रभाव को कम करने के लिए कामराज नाडार को राजनीति मे ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया। संक्षेप मे, स्वतन्त्रता से पहले और स्वतन्त्रता के बाद तमिलनाडु म ब्राह्मण और निम्न जातियो के बीच घोर टकराव रहा और इस संघर्ष मे ब्राह्मणों को पराजित होना पड़ा।

(2) जातिवाद का **दूसरा रूप** महाराष्ट्र मे देखने को मिलता है। महाराष्ट्र की राजनीति तमिलनाडु से कुछ भिन्न रही है, यद्यपि यहाँ मराठा और ब्राह्मणो के बीच संघर्ष रहा और इस संघर्ष मे मराठा जाति ने ब्राह्मणो के शताब्दियो मे चले आने वाले प्रभुत्व का अन्त किया। बीसवीं शताब्दी की दूसरी चौथाई मे राजनीतिक दलों मे भी ब्राह्मणो का आधिपत्य था, उदाहरण के लिए तिलक, गोखले गोलवालकर एस. एन. डाँगे आदि ब्राह्मण थे। स्वतन्त्रता के बाद मराठा जाति ने ब्राह्मणो को पराजित कर दिया और यह आन्दोलन 1960 मे अपनी पूर्णता को पहुँच गया जब महाराष्ट्र नामक एक पृथक् राज्य की स्थापना की गयी और मराठा जाति को राजनीति मे पूर्ण प्रधानता प्राप्त हुई। इस नये महाराष्ट्र राज्य मे मराठा जाति की सख्या 45% थी। **ए. जे. दस्तूर** के शब्दो मे, "जिस दिन महाराष्ट्र का निर्माण हुआ उस दिन से इस राज्य के राजनीतिक विशिष्ट वर्ग और राजनीतिक नेतृत्व मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और मौलिक परिवर्तन हुए। सत्ता प्रभाव और शक्ति ब्राह्मणों के हाथो से निकलकर मराठो के हाथो मे पहुँच गयी।"

(3) गुजरात, आन्ध्र और कर्नाटक जातिवाद का **तीसरा प्रतिनिधि रूप** प्रस्तुत करता है। इन तीनों ही राज्यो मे तीन मध्यमवर्गीय जातियाँ राजनीतिक संघर्ष मे रत दिखायी देती है। आन्ध्र मे यह टकराव कम्मा और रेड्डी जातियो के बीच पाया जाता है। 1934 मे आन्ध्र मे साम्यवादी दल की स्थापना के बाद से इस दल का नेतृत्व कम्मा जाति के हाथो मे रहा जबकि कांग्रेस पार्टी मे रेड्डी जाति का प्रभुत्व रहा। कर्नाटक मे यह विरोध लिंगायत तथा ओकोलीगा जातियो के बीच पाया जाता है। गुजरात मे पाटीदार और क्षत्रिय जातियो के बीच प्रतिस्पर्द्धा पायी जाती है। इन तीनों राज्यो (आन्ध्र, कर्नाटक और गुजरात) मे यह विशेषताएँ दिखायी देती हैं कि इन राज्यो मे राजनीतिक क्षेत्र में केवल दो जातियो का प्रभुत्व है जो अपनी प्रथाओ, सामाजिक स्थिति और सामाजिक-आर्थिक साधनो की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत मिलती-जुलती हैं। दूसरे शब्दों मे तमिलनाडु और महाराष्ट्र मे जहाँ असमान जातियो के बीच टकराव पाया जाता है, वहाँ इन राज्यो मे, यह प्रतिस्पर्द्धा लगभग दो समान जातियो के बीच पायी जाती है।

(4) **बिहार की स्थिति उपरोक्त** राज्यो से भिन्न है। यहाँ उच्च जातियो-ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और कायस्थ अब भी सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों के धारक हैं और उनके बीच राजनीतिक प्रतियोगिता पायी जाती है। निम्न जातियाँ अब भी पिछड़ी स्थिति मे है। राजस्थान और मध्य प्रदेश मे भी राजनीति पर उच्च जातियो का एकाधिकार है और निम्न जातियाँ उभरने का प्रयत्न कर रही हैं। अत इन राज्यो मे राजनीतिक प्रतियोगिता उच्च जाति के बीच है और कोई भी एक जाति अपने प्रभुत्व को स्थापित करने की स्थिति मे नहीं है।

जाति की भूमिका : वरदान या अभिशाप
(THE ROLE OF CASTE BLESSING OR A CURSE)

भारतीय राजनीति मे जाति की भूमिका का मूल्याकन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। कई लोग जाति को राजनीति का केन्सर मानते है। जाति प्रथा को राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे बाधक माना जाता है क्योंकि इससे व्यक्तियो मे पृथकतावाद की भावना जाग्रत होती है। राष्ट्रीय हितो की अपेक्षा अपने जातिगत हितो को अधिक महत्त्व देने लगते है। जाति निष्ठाओ का सृजन कर यह प्रथा लोकतन्त्र के विकास मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। डी. आर. गाडगिल के अनुसार,

क्षेत्रीय दबावों से कहीं ज्यादा खतरनाक बात यह है कि वर्तमान काल में जाति व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँधने में बाधक सिद्ध हुई।' प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास का स्पष्ट मत है कि परम्परावादी जाति व्यवस्था ने प्रगतिशील और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को इस तरह प्रभावित किया है कि ये राजनीतिक संस्थाएँ अपने मूलरूप में कार्य करने में समर्थ नहीं रही हैं।

दूसरी तरफ अमरीकी लेखकों **रूडाल्फ एण्ड रूडाल्फ** का मत है कि जाति व्यवस्था ने जातियों के राजनीतिकरण में सहयोग देकर परम्परावादी व्यवस्था को आधुनिकता में ढालने के साँचे का कार्य किया है। वे लिखते हैं, 'अपने परिवर्तित रूप में जाति व्यवस्था ने भारत में कृषक समाज में प्रतिनिधिक लोकतन्त्र की सफलता तथा भारतीयों की आपसी दूरी कम करके, उन्हें अधिक समान बनाकर समानता के विकास में सहायता दी है।'[1]

संक्षेप में, चाहे जाति आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक न हो तथापि राजनीति में जाति का हस्तक्षेप लोकतन्त्र की धारणा के प्रतिकूल है। जातिवाद देश, समाज और राजनीति के लिए बाधक है। विविधता की सीमाएँ होती हैं। इस देश में इतनी जातियाँ, उपजातियाँ तथा सह-जातियाँ पैदा हो गयी हैं कि वे एक-दूसरे से पृथक् रहने में ही अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा समझती हैं। यह पृथकतावादी दृष्टि राष्ट्रीय एकता के लिए अत्यधिक घातक है।

---

[1] लायड आई. रूडाल्फ एण्ड एस. हावर रूडाल्फ, **दि माडर्निटी ऑफ ट्रेडीशन** (ओरियण्ट लाग-मैन 1969), पृ. 11।

42

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता और धर्म

[COMMUNALISM AND RELIGION IN INDIAN POLITICS]

संविधान द्वारा भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है फिर भारतीय राजनीति मे धर्म की एक विशेष भूमिका है। हम धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना तो कर पाये है, किन्तु धर्मनिरपेक्ष समाज की नही। धार्मिक विभिन्नता के कारण समाज मे विभिन्न प्रकार के तनाव पैदा होते है और इन तनावो को बढाने मे राजनीतिज्ञ भी भूमिका अदा करते है। इससे उनके स्वार्थ सिद्ध होते है। बी. जी. गोखले जैसे अनेक व्यक्तियो ने आशा व्यक्त की थी कि राजनीति से धर्म के अलग हो जाने से हिन्दू और मुसलमानो के पुराने विरोध फिर कभी उत्पन्न नही होगे।[1] किन्तु पिछले 40 वर्षो मे गुजरात, बिहार, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश राज्यो मे हुई घटनाएँ इस बात का सबल प्रमाण है कि साम्प्रदायिक वैमनस्य अभी भी विद्यमान है, जो छोटी-छोटी घटनाओ से भभक उठता है और भारत की राजनीति एव शासन उससे आक्रान्त हो उठते है।

स्वाधीनता के बाद शुरू हुई चुनावो की राजनीति ने धर्म और सम्प्रदाय के नकारात्मक महत्त्व को उभारा है। किसी ने लिखा है कि, "पहले लोग समझते थे कि राजनीतिज्ञ धर्म और सम्प्रदाय का शोषण करते है पर अब हालत यह हो गयी है कि धर्म और सम्प्रदाय राजनीति का शोषण करने लगे है। एक तरह से सम्प्रदाय राजनीतिक दलो के लिए वोट बैंक बन गये है। राजनीतिक शक्ति के रूप मे धर्म और सम्प्रदाय का खूब दुरुपयोग हो रहा है। राजनीतिक दल सम्प्रदाय एव जाति की घटती-बढती निष्ठा के खिलौने बनकर रह गये है।"

साम्प्रदायिकता, एक विशेष स्तर पर पहुँचकर, साम्प्रदायिक हिंसा का रूप ले लेती है। भारत मे साम्प्रदायिकता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष, जिसके विषय में समाजशास्त्री एकमत है, यह है कि यह शहरो मे दिखायी पडती है। साम्प्रदायिकता की जडें निम्न बुर्जुआ वर्ग मे होती है। पिछडे समाज मे परम्परागत धर्म के प्रति सबसे अधिक आकर्षक इसी वर्ग मे होता है। राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ और जमाइते इस्लाम दोनो का ही आधार निम्न बुर्जुआ वर्ग है। इस समुदायो के उच्च वर्ग अपने-अपने समुदाय के निम्न बुर्जुआ वर्गो की धार्मिक भावनाओ का सफलतापूर्वक उपयोग कर अपना स्वार्थ साधते है। फलस्वरूप भारत के राजनीतिक क्षितिज पर साम्प्रदायिकता का संकट सदैव छाया रहता है।

---

1 "The Muslims in India today Constitute the largest single minority but as the problem of religion is withdrawn from the turmoil of Politics it is unlikely, that the old antagonisms between the Hindus and the Muslims will ever occur again"

—B G. Gokhale *The Making of the Indian Nation*, p. 243.

साम्प्रदायिकता का अर्थ
(MEANING OF COMMUNALISM)

साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी भावनाएँ व क्रियाकलाप आ जाते हैं जिनमें किसी धर्म अथवा भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाये और उन हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर भी प्राथमिकता दी जाये तथा उस समूह में पृथकता की भावना उत्पन्न की जाये या उसको प्रोत्साहन दिया जाये। पारसियों, बौद्धों, जैनों तथा ईसाइयों के अपने-अपने संगठन हैं, साथ ही वे अपने सदस्यों के हितों की साधना में लिप्त रहते हैं। परन्तु ऐसे संगठनों को सामान्यतः साम्प्रदायिक नहीं कहा जायेगा क्योंकि वे किसी पृथकता की भावना से प्रेरित नहीं हैं। इसके विपरीत, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा तथा अन्य कुछ संस्थाओं को साम्प्रदायिक कहा जायेगा क्योंकि वे धार्मिक अथवा भाषा समूहों के अधिकारों तथा हितों को राष्ट्रीय हितों के भी ऊपर रखते हैं। **विंसेंट स्मिथ** के शब्दों में, "एक साम्प्रदायिक व्यक्ति या व्यक्ति समूह वह है जो कि प्रत्येक धार्मिक अथवा भाषायी समूह को एक ऐसी पृथक् सामाजिक तथा राजनीतिक इकाई मानता है, जिसके हित अन्य समूहों से पृथक् होते हैं और उनके विरोधी भी हो सकते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों अथवा व्यक्ति समूह की विचारधारा को सम्प्रदायवाद या साम्प्रदायिकता कहा जायेगा।"

सामान्यतः, एक सम्प्रदायवादी का दृष्टिकोण समाज विरोधी होता है। उनको समाज विरोधी इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि वह अपने समूह के संकीर्ण हितों को पूरा करने के लिए अन्य समूहों के और सम्पूर्ण देश के भी हितों की अवहेलना करने से पीछे नहीं हटता। साम्प्रदायिक संगठनों का उद्देश्य शासकों के ऊपर दबाव डालकर अपने सदस्यों के लिए अधिक सत्ता, प्रतिष्ठा तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना होता है।

जब एक समुदाय जान-बूझकर **धार्मिक-सांस्कृतिक** भेद के आधार पर राजनीतिक माँगें रखने का निर्णय करता है तब सामुदायिक चेतना सम्प्रदायवाद के रूप में एक राजनीतिक सिद्धान्त बन जाती है। राजनीतिक स्वायत्तता को तब सांस्कृतिक स्वायत्तता सुरक्षित रखने की अनिवार्य शर्त घोषित कर दिया जाता है। बहुसंस्कृतीय समाज में सामाजिक तनाव तथा टकराव वास्तव में विभिन्न समूहों के बीच चल रहे सत्ता द्वन्द्व के लक्षण हैं। इस पारस्परिक द्वन्द्व को सैद्धान्तिक स्तर पर धर्म की शिला पर खड़ा करना एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में **सम्प्रदायवाद** का मूल सार है।[1]

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का उदय
(EMERGENCE OF COMMUNALISM IN INDIAN POLITICS)

मानव इतिहास में धर्म के नाम पर सदैव विवाद उठते रहते हैं। धर्म की दृष्टि से भारत विशेष रूप से हतभाग्य रहा है। स्वाधीनता आन्दोलन के समय अंग्रेजों ने भारत में अपना शासन बनाये रखने के लिए धार्मिक भेद-भावों का विशेष लाभ उठाया। अंग्रेजी शासनकाल में साम्प्रदायिक भावनाओं को राजनीतिक रूप मिलने का एक कारण यहाँ प्रतिनिधि या निर्वाचित संस्थाओं की स्थापना थी। अंग्रेज लोग प्रतिनिधित्व का अर्थ अलग-अलग समूहों, वर्गों, हितों, क्षेत्रों, संस्थाओं और सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व समझते थे। उन्होंने भारत के अनेक सम्प्रदायों और जातियों की समस्या को इनके स्वाभाविक अस्तित्व बोध और एक-दूसरे की आपसी वैमनस्यता की समस्या समझा और उसका उपाय- अलग-अलग धार्मिक समूहों को पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व देने में समझा।

---

1 प्रभा दीक्षित. **साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक सन्दर्भ**, मेकमिलन 1980, भूमिका।

स्वतन्त्रता के बाद पिछले 45 वर्षो मे देश मे हुई साम्प्रदायिक घटनाओ की कुल तादाद आज लगभग 5,000 ठहरती है। गृहमन्त्रालय के साम्प्रदायिक एकता प्रकोष्ठ की 1980-81 की रपट के अनुसार सन् 1977 तक साम्प्रदायिक हिंसा की जो घटनाएँ देश मे घटी, वे कुल हिंसात्मक वारदातो की 11·6 प्रतिशत ठहरती थी, 1982 तक यह प्रतिशत बढकर 17·6 हो गया और सन् 1982 के बाद तो उनमे 50 प्रतिशत की बढोतरी हुई है। सन् 1961 मे साम्प्रदायिक तनाव की दृष्टि से देश मे 61 जिले पुलिस द्वारा गडबडी वाले जिले माने गये, आज 1990 मे ऐसे जिलो की संख्या 100 हो गयी है। 88 अन्य जिले तो ऐसे माने जाते है जहाँ किसी भी समय कुछ भी हो सकता है। इन जिलो मे से 36 तो सिर्फ उत्तर प्रदेश मे हैं।

सन् 1987 मे मेरठ शहर मे भीषण साम्प्रदायिक दगे हुए जिनमे 300 लोगो की जाने जा चुकी हैं। गुजरात भी साम्प्रदायिक हिंसा के लिए संवेदनशील हो चुका है। मई 1987 मे पुरानी दिल्ली के अनेक क्षेत्रो मे साम्प्रदायिक हिंसक वारदातें हुईं और प्रशासन को कर्फ्यू लगाना पडा।

गृह मन्त्रालय के ताजा दस्तावेज के अनुसार, "किसी एक मुद्दे ने हिन्दू-मुस्लिम समुदाय के आपसी सद्भाव को इस कदर नही बिगाडा जितना कि राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद ने बिगाड दिया।" आगे कहा गया है कि "राजनीति को साम्प्रदायिकता का जामा पहनाने की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण सम्प्रदाओं के आपसी सम्बन्ध सामान्य बनाने की प्रक्रिया मे बडी बाधा पैदा हो गई है।" राम जन्मभूमि के मुद्दे को भारतीय जनता पार्टी ने अपनी हिन्दू छवि पुनर्स्थापित करने और अपने परम्परागत वोट बैंक पर अधिकार करने का अवसर देखा। पिछले महीनो मे राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार मे जो दगे हुये उनमे नई बात यह है कि साम्प्रदायिकता ग्रामीण इलाको मे भी तेजी से फैल रही है। 1988 मे 611 साम्प्रदायिक हादसो मे 55 प्रतिशत गाँवो मे हुए। 1971 मे, अति गम्भीर किस्म के दगो की संख्या 80 थी जो 1988 मे बढकर 213 पर पहुँच गई।

भारत मे साम्प्रदायिकता की समस्या ब्रिटिश शासन की समकालिक है। अग्रेजो ने भारत मे 'फूट डालो और शासन करो' (Devide and rule) की नीति अपनायी ताकि वे हिन्दुओ और मुसलमानों को लडाते रहे और भारत पर अपनी हुकूमत चलाते रहे। भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के निर्माण एव विकास मे जितना अंग्रेजो की कूटनीतिक चाल का हाथ रहा उतना ही हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच राजनीतिक संघर्ष का भी। वास्तव मे समस्या यह थी कि भारत मे बसने वाले विभिन्न वर्गो—हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई के राजनीतिक सत्ता मे हिस्सा लेने की माँग को कैसे सन्तुलित किया जाय ? भारतीय राजनीति मे ब्रिटिश सरकार, कांग्रेस तथा लीग का एक त्रिभुज बन गया जिसने साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर नये-नये गुल खिलाये। मेहता और पटवर्द्धन के शब्दो मे, "अंग्रेजी शासको ने अपने आपको हिन्दू और मुसलमानो के मध्य खडा करके ऐसे साम्प्रदायिक त्रिभुज की रचना का निश्चय किया जिसका आधारबिन्दु वे स्वयं रहे।"

भारत मे साम्प्रदायिकता विभिन्न धर्मो के निहित स्वार्थो के पारस्परिक संघर्ष की ही छद्म अभिव्यक्ति थी। इन निहित स्वार्थो ने अपने इस संघर्ष को साम्प्रदायिक जामा पहना रखा था। विभिन्न सम्प्रदायो के पेशेवर वर्गो की पदो और स्थानों की लडाई भी इसी छद्म रूप मे लड़ी जाती रही। के. बी. कृष्ण ने अपनी पुस्तक "**दी प्राब्लम ऑफ मिनारिटीज**" (1939) मे लिखा है कि—कुछ दूसरे प्रकार के भी संघर्ष थे जिन्होंने मूलत आर्थिक होने पर भी साम्प्रदायिक रूप लिया। बंगाल जैसे प्रान्तो मे, ऐतिहासिक कारणो से, किसान प्रधानत मुसलमान थे और

जमींदार मुख्यत हिन्दू। किसानो के सास्कृतिक पिछडेपन के कारण सम्प्रदायवादियो के लिए मुसलमान बटाईदारो और हिन्दू जमीदारो के बीच वास्तविक आर्थिक सघर्ष को साम्प्रदायिक संघर्ष के रूप मे प्रस्तुत और परिणित करना आसान था। इसी कारण हिन्दू महाजनो और मुस्लिम कर्जदारो के द्वन्द्व कभी-कभी इस तौर पर परिभाषित किये जाते थे मानो वे हिन्दुओं द्वारा मुसलमानो के शोषण के प्रतिफल थे और इस तरह इन्हे भी सम्प्रदायवादियो ने साम्प्रदायिक रूप दिया। जमीदार-बटाईदार का या सूदखोर कर्जदार का सघर्ष गलत तौर पर साम्प्रदायिक सघर्ष के रूप मे वर्जित हुआ।

भारत में साम्प्रदायिक राजनीति का विकास
(EVOLUTION OF COMMUNAL POLITICS IN INDIA)

अग्रेजो के आने से पूर्व भारत मे हिन्दू-मुस्लिम शासको और नवाबो के हाथो मे सत्ता थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी उनसे डरती थी। फलत उन्होने हिन्दुओं की सहायता और सहानुभूति प्राप्त करने की कोशिश की। प्लासी के युद्ध के बाद जब कभी कम्पनी के हाथ मे शासन सत्ता आने लगी तो उसने मुसलमानो के प्रति सौतेला व्यवहार किया और हिन्दुओं को नौकरियो मे प्रोत्साहन देकर मुसलमानो के प्रति उपेक्षा की नीति अपनायी। 'वहाबी आन्दोलन' के रूप मे मुस्लिम असन्तोष व्यक्त हुआ। सन् 1857 की क्रान्ति मे हिन्दुओ और मुसलमानो ने मिलकर अंग्रेजो का विरोध किया। अग्रेज इसे मुस्लिम विद्रोह मानते थे, जिसके माध्यम से मुसलमानो ने मुगल शासन की स्थापना करने की चेष्टा की थी। अत. उन्होंने मुसलमानो के विरोध और दमन की नीति अपनायी। कुछ समय बाद हिन्दुओ के विकास, उन्नति और आधुनिकीकरण की बढती हुई प्रवृत्ति से अंग्रेज उनसे भी डरने लगे। अब उन्होने मुसलमानो से मित्रता की चातुर्यपूर्ण नीति अपनायी। इसके फलस्वरूप 'मुहमडन-एग्लो ओरियण्टल डिफेन्स एसोसिएशन' की स्थापना हुई। मुसलमानो को खुश करने एव उनकी राजभक्ति प्राप्त करने के लिए सन् 1905 मे कर्जन ने बगाल का विभाजन किया। बगाल का विभाजन 'फूट डालो और शासन करो' की कुटिल नीति का ही परिणाम था। भारतीय मुसलमानो के राजनीतिक एव अन्य अधिकारो की रक्षा के लिए 1906 मे ढाका मे 'आल इण्डिया मुस्लिम लीग' की स्थापना हुई। 1908 मे लीग ने मुसलमानो को आबादी से अधिक स्थान दिये जाने की माँग की। 1909 के मार्ले-मिण्टो सुधारो मे साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् चुनावो की व्यवस्था का समावेश कर दिया गया। 1919 के लखनऊ पैक्ट के अन्तर्गत मुसलमानो की प्रतिनिधि सस्था के रूप मे लीग का अस्तित्व साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा मुसलमानो के लिए प्रतिनिधित्व गुरुता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया, जो एकदम गलत था। 1919 के ऐक्ट मे साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को न केवल मुसलमानो के लिए कायम रखा गया वरन् सिक्खो, यूरोपियनो और आग्ल-भारतीय समुदायो के लिए भी इसे अपना लिया गया। सन् 1928 के जिन्ना बाद साम्प्रदायिक राजनीति के खलनायक बन गये। सन् 1935 के अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का विस्तार किया गया। सन् 1940 मे जिन्ना ने 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया और अन्त मे 1947 मे साम्प्रदायिकता के आधार पर भारत का विभाजन हुआ। भारत की सविधान निर्मात्री सभा का शुरू मे गठन (1946) प्रान्तो की विधानसभाओ के सदस्यो के साम्प्रदायिक समूहो द्वारा अप्रत्यक्ष रीति से हुआ था।

भारत में साम्प्रदायिकता का सैद्धान्तिक आमुख : प्रभा दीक्षित का दृष्टिकोण
(COMMUNALISM IN INDIA THEORETICAL FRAMEWORK—PRABHA DIXIT'S APPROACH)

प्रभा दीक्षित ने अपनी हाल ही प्रकाशित पुस्तक **'साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक सन्दर्भ'** मे कतिपय नये दृष्टिकोण प्रस्तुत करके भारतीय राजनीति मे साम्प्रदायिकता की व्याख्या ऐतिहासिक

सन्दर्भ मे की है। लेखिका का कहना है कि सम्प्रदायवाद जान-बूझकर रचा गया एक राजनीतिक सिद्धान्त है जिसका प्रचार पुराने स्थापित विशिष्ट समुदाय का एक वर्ग राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक शक्तियो को क्षीण करने के लिए करता है। सास्कृतिक विशिष्टता का वोध साम्प्रदायिक आन्दोलन की आधारशिला है। अत अनेक धर्मो, जातियो और सस्कृतियो वाले समाज मे लोकतान्त्रिक संस्थाओ की स्थापना समुदायवादी राजनीति के लिए एक आदर्श स्थिति खड़ी कर देती है। ऐसे समाज में राजनीतिक क्षेत्रो मे प्रभावशाली वनने के लिए तथा राजनीतिक सौदेवाजी के लिए धर्म या संस्कृति का राजनीतिकरण हर समुदाय के लिए, विशेषकर अल्पसख्यको के लिए, सबसे आसान रास्ता वन जाता है। इसलिए हर समुदाय अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की रक्षा तथा सामूहिक एकता के लिए प्राणपण से जुट जाता है। मूलरूप मे वहुसंख्यक और अल्पसख्यक सम्प्रदायवाद की प्रेरक शक्ति और कार्यप्रणाली समान होते हुए भी दोनो मे एक गुणात्मक भेद है—अल्पसख्यक सम्प्रदायवाद का उद्देश्य जहाँ वहुसंख्यको के साथ समता प्राप्त करना होता है वहाँ वहुसंख्यक सम्प्रदायवाद का उद्देश्य अल्पसख्यको पर अपनी-अपनी श्रेष्ठता स्थापित करना होता है। उद्देश्य और नेतृत्व दोनो दृष्टियो मे धर्म और संस्कृति पर आधारित सभी साम्प्रदायिक आन्दोलन क्रान्ति और पुनर्निर्माण के आन्दोलन न होकर राजनीतिक और सामाजिक प्रतिक्रिया के आन्दोलन हैं।

लेखिका का कहना है कि भारत मे साम्प्रदायिकता को दोनो सम्प्रदायो—हिन्दू तथा मुसलमान के राजनीतिक महत्त्वाकाक्षा रखने वाले परम्परावादी अभिजन (Elite) लोगो ने अपने स्वार्थ के लिए सैद्धान्तिक जामा पहनाकर वढावा दिया है। हिन्दू और मुसलमान दोनो के सामाजिक ढाँचे के विश्लेषण से स्पष्ट हो जायगा कि सत्ता, सम्पत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा पर अभिजातवर्ग का लगभग स्थायी एकाधिकार था। अपनी सास्कृतिक रुझान और जीवन शैली मे यह वर्ग आम जनता से वहुत दूर था। दोनों समुदायो मे सांस्कृतिक अन्तर और विशिष्टता की चेतना इस वर्ग के स्तर पर सबसे अधिक गहरी थी। जनसाधारण के स्तर पर अन्तर की यह चेतना अस्पष्ट और सूक्ष्म थी। धर्मान्तरित मुसलमान यदि देवी-देवताओ की पूजा-अर्चना मे लगे थे तो हिन्दुओ को पीरो की मजार और दरगाहो मे जाने मे कोई आपत्ति नही थी। दोनो के सामाजिक आदर्शो और रीति-रिवाजो मे नाममात्र का भेद था। अभिजात वर्ग की संस्कृति न केवल आपस मे एक-दूसरे से भिन्न थी अपितु अपने समुदाय के जनसाधारण की संस्कृति के साथ भी इसके कोई विशेष मिलन विन्दु नही थे। अभिजात वर्ग के स्तर पर दो समुदायो के बीच जो आंशिक सास्कृतिक आदान-प्रदान हुआ उसका स्वरूप पूर्ण रूप मे उपयोगितावादी था। सामान्य रूप से दोनो समुदायों के ये वर्ग अपने-अपने समुदाय की 'उच्च सस्कृति' को सुरक्षित रखने में लीन थे। उनकी सास्कृतिक संकीर्णता और विशेप आग्रह उनके सरक्षण के वँटवारे की शैली में प्रकट है। अरवी और फारसी यदि मुसलमान शासको और सामन्तो की छाया मे फल-फूल रही थी तो संस्कृत को हिन्दू राजाओ और जमींदारो से प्रोत्साहन मिल रहा था। मुल्ला यदि मुसलमान शासको की कृपा के पात्र थे तो ब्राह्मण हिन्दू शासको की। अभिजात वर्ग द्वारा सरक्षित और सचालित इस सास्कृतिक सम्प्रदायवाद ने दो संस्कृतियो के मिश्रण से वनी एक राष्ट्रीय संस्कृति के आविर्भाव के सब मार्ग अवरुद्ध कर दिये · · · अभिजात वर्ग के राजनीतिक दृष्टिकोण और नीतियो का निर्धारण धार्मिक आदर्शो द्वारा न होकर राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थो के द्वारा होता था।

लोकतन्त्र पर आधारित राष्ट्रवाद के प्रति प्रतिवद्धता भारतीयो के लिए एक चुनौती की तरह आयी। क्या विभिन्न धर्मो और सस्कृतियो मे वँटे लोग एक राष्ट्र के रूप मे सगठित हो सकते

है ? क्या अनेक समुदायो ने इस सम्मिलित राष्ट्र मे लोकतन्त्र को अल्पसंख्यक लोग अपने हितो के अनुकूल प्रभावित कर सकते है ? धर्म, संस्कृति या इतिहास, किसी भी प्रकार की 'अतिरिक्त क्षेत्रीय निष्ठा' न होने के कारण हिन्दुओ का तादात्म्य इस नये राष्ट्रवाद के साथ होना अत्यन्त स्वाभाविक और सरल था। उन्हे किसी से कहना नही था, केवल नये आदर्शो के अनुसार आपस मे जुडना भर था। किन्तु मुसलमानो मे धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्रीय राष्ट्रवाद के प्रति निष्ठा नही थी। उन्होने पूछा . 'क्या नस्ल, धर्म, सस्कृति और इतिहास के सूत्र उन्हे एक सामुदायिक एकता मे बाँधकर हिन्दुओ मे अलग व्यक्तित्व नही प्रदान करते है ?' कुछ मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर आकर्षित हुए किन्तु अधिकाश ने राजनीतिक अलगाव के मार्ग को अपनाया। अलगाव के आन्दोलन को भावात्मक और सैद्धान्तिक आधार देने के लिए उन्होने मुसलमानो के सास्कृतिक वैशिष्ट्य पर जोर दिया। अल्पसख्यक होने के नाते उन्होने लोकतन्त्रीय राष्ट्रवाद को अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा के लिए खतरनाक पाया। लोकतन्त्र ने तलवार के स्थान पर 'सख्या' को सत्ता का निर्णायक बनाकर मुसलमानो की स्थिति एक स्थायी अधीनस्थ समुदाय की कर दी। लोकतन्त्र के रहते हुए इस स्थिति मे परिवर्तन सर्वथा असम्भव था। इस निश्चित क्षेत्र से बचने का एकमात्र मार्ग हिन्दुओ से अलगाव था। अलग सामुदायिक अस्तित्व मे यदि उन्हे पूरी सत्ता नही तो कम से कम उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग मिलना सम्भव बात थी। राष्ट्रवाद की तुलना मे सम्प्रदायवाद मुस्लिम अभिजात वर्ग के लिए अधिक लाभकारी था।

राजनीतिक मच पर मुस्लिम सम्प्रदायवाद का पदार्पण पहले होना कोई आश्चर्य की बात नही है। लोकतन्त्रीय राष्ट्रवाद से बहुसंख्यक हिन्दुओ को कोई खतरा नही था। सत्ता के भावी ढाँचे मे उनका सर्वोपरि स्थान निश्चित था। जिस राष्ट्रवाद ने हिन्दुओ की प्रभुत्ता की सम्भावना को उभारा था उसी ने सामुदायिक रूप से मुसलमानो का राजनीतिक भविष्य अन्धकारमय कर दिया था। उनके सामने अनेक प्रश्न थे क्या हिन्दुओ के समान वे भी भारतीय राष्ट्र का हिस्सा बन सकते है ? क्या इस सम्मिलन का अर्थ उनके लिए अपने सास्कृतिक वैशिष्ट्य को खोना नही होगा ? क्या एक अल्पसंख्यक समुदाय होने के नाते प्रजातन्त्र मे उनकी स्थिति महत्त्वहीन नही हो जायेगी ?

राष्ट्रवाद को लेकर उठी सब शकाओ का समाधान साम्प्रदायिक विचारधारा मे था। अत. मुसलमानो ने आरम्भ मे एक धार्मिक अल्पसख्यक समुदाय के रूप मे राजनीतिक मान्यता प्राप्त करने का प्रयास किया। उसमे सफल होने के बाद अपनी राजनीतिक आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए उन्होने एक पृथक् इस्लामी राज्य की माँग रखी। इसके विपरीत, हिन्दू सम्प्रदाय का आविर्भाव मुस्लिम सम्प्रदायवाद की प्रतिक्रिया मे हुआ है। मुसलमानो की दिन-प्रतिदिन बढती माँगो और ब्रितानी सरकार तथा काग्रेस द्वारा दी जाने वाली रियायतो ने हिन्दुओ के एक वर्ग मे दुश्चिन्ता पैदा कर दी। उनको आशका हुई कि रियायतो की इस नीति मे बहुसख्यक समुदाय के रूप मे मिलने वाले उनके अधिकारो और सुविधाओ को गहरा आघात पहुँचेगा।

प्रभा दीक्षित की मान्यता (Thesis) है कि भारतीय इतिहास की गहराई मे जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रदायवाद का मूल सत्ता के द्वन्द्व मे था, धर्म मे नही। सम्प्रदायवाद लोकतन्त्रीय राष्ट्रवाद के विरुद्ध स्थापित अभिजात वर्ग की राजनीतिक प्रतिक्रिया था, एक समुदाय की धार्मिक भावना की राजनीतिक अभिव्यक्ति नही। इसीलिए दोनो समुदायो मे सम्प्रदायवादी आन्दोलन का नेतृत्व आरम्भ से अन्त तक अभिजात वर्गो के हाथो मे रहा। साम्प्रदायिक विचार-धारा के माध्यम से इन वर्गो ने अपने समुदायो मे अपनी सर्वोपरि स्थिति सुरक्षित रखने के साथ-साथ इस नवोदित प्रगतिशील अभिजात वर्ग के बढते प्रभावो को अवरुद्ध करने की चेष्टा की जिसने धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्रीय आदर्शो को राष्ट्र निर्माण (Nation Building) का आधार चुना था।

दूसरे शब्दो मे, भारत की साम्प्रदायिक राजनीति अभिजात वर्ग के त्रिकोणीय सत्ता द्वन्द्व की परिचायक है। त्रिकोण के दो विन्दुओ पर हिन्दू व मुसलमानो के पूर्व स्थापित पारम्परिक अभिजात वर्ग है और तीसरे पर आधुनिक दृष्टि सम्पन्न प्रगतिशील भारतीयों का वर्ग है।

साम्प्रदायिकता की समस्या के कारण (Problem of Communalism Causes)—यह प्रश्न विशेष महत्त्व का है कि स्वाधीनता प्राप्ति के वाद भी भारत मे साम्प्रदायिकता के तत्त्व क्यो दिखाई देते है? स्वाधीनता से पूर्व अंग्रेजो ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनायी थी किन्तु देश के विभाजन के वाद राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पश्चात् भी साम्प्रदायिकता का रग क्यो दिखलायी देता है? इसके निम्नलिखित कारण है

Communalism

1. मुसलमानों में पृथक्करण की भावना—ऐसा माना जाता है कि मुसलमानो में पृथक्करण की भावना आज भी विद्यमान है और वे अपने को राष्ट्रीय धारा मे समाविष्ट नही कर पाये। अनेक मुस्लिम नेताओ ने स्वाधीनता के वाद इस वात का प्रचार किया कि उन्हे मुख्य राष्ट्रीय प्रवाह मे शामिल होने के लिए ऐसे राजनीतिक दलो को सहयोग देना चाहिए जिनका विश्वास धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद तथा आर्थिक न्याय मे है परन्तु इन विचारो का कोई खास प्रभाव नही पडा और अनेक मुस्लिम नेताओ और सगठनो ने इस वात का प्रचार किया कि मुस्लिम सम्प्रदाय के हितो की सुरक्षा के लिए उन्हे पृथक् रूप से भाग लेना चाहिए। 'जमायत-ए-इस्लाम' ने मुसलमानो को सलाह दी कि पहले आम चुनावो मे भाग नहीं लेना चाहिए। ऐसे ही एक दूसरे संगठन 'जमीयत-उल-उलेमा-ए हिन्द' ने भी मुसलमानो को राष्ट्रीय राजनीति से पृथक् रहने की सलाह दी। 1948 मे मुस्लिम लीग ने पृथक् निर्वाचन की माँग की। 1961 मे 'अखिल भारतीय मुस्लिम लीग' की स्थापना की गयी और यह प्रचार किया गया कि भारत में मुस्लिम लीग ही मुस्लिम हितो का संरक्षण कर सकती है। सन् 1971 के मध्यावधि चुनावो के समय नई दिल्ली में देश के अधिकाश भागो के मुस्लिम प्रतिनिधियो ने अखिरा भारतीय राजनीतिक सम्मेलन आयोजित किया। इसके पीछे जमायत-ए-इस्लाम का हाथ था। इस प्रकार अनेक धर्मान्ध मुस्लिम संगठनों ने सम्प्रदायवाद का स्वतन्त्रता के वाद भी कभी उन्मूलन नही होने दिया।

2 मुसलमानों का आर्थिक दृष्टि से पिछड़ापन—यह वात सच है कि अंग्रेजी काल से ही मुसलमान आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए रहे हैं। स्वाधीनता के बाद भी उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ नही हो पायी। शैक्षणिक दृष्टि से पिछडे होने के कारण सरकारी नौकरियो, व्यापार एव उद्योग-धन्धो मे उनकी स्थिति नही सुधर पायी। आज भी उनका आधुनिकीकरण नही हो पाया है। इससे उनमे असन्तोष वढा और उनका मनोवल भी गिरा है। कभी-कभी यह असन्तोष उग्र रूप ले लेता है और कभी-कभी यह असन्तोष हिंसा के रूप मे प्रकट होता है।

आर्थिक कारणो से साम्प्रदायिक दगों का सम्वन्ध भारत सरकार के कृषि मंत्रालय की एक शोध रिपोर्ट से भी स्पष्ट होता है। रिपोर्ट मे कहा गया है कि उत्तरी हिन्दी भापी क्षेत्र मे 50% अतिरिक्त भूमि का सही वितरण न हो पाना वढती साम्प्रदायिकता का वडा कारण है।[1]

3. पाकिस्तानी प्रचार—जव कभी भारत मे हिन्दू-मुस्लिम तनाव की कोई छुट-पुट घटना हो जाती है तो पाकिस्तानी रेडियो तथा समाचारपत्र इसको राजनीतिक तूल देने का प्रयास करते है। वे भारत सरकार की आलोचना करते है और ऐसी घटनाओ को हिन्दुओ द्वारा मुसलमानों का जातिवध (Genocide) कहकर पुकारते है। पाकिस्तान ऐसा इसलिए करता है जिससे वह भारत की धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी भावनाओ को उत्तेजित कर सके। भारत मे गरीव और अशिक्षित मुसलमान यह मान वैठते हैं कि पाकिस्तान उनके हितो की रक्षा के लिए कह रहा है।

---

1 **इण्डिया टुडे** 15 नवम्वर 1987, पृ. 65।

4. संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद—भारत के हिन्दू-सम्प्रदाय मे भी ऐसे लोग तथा गुट हैं जो धर्मान्धता की संकीर्ण भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। हिन्दू महासभा तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठनो ने हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को बराबर उत्तेजित किया है। ये लोग यहाँ तक कहते हैं कि भारत हिन्दुओं का देश है और हिन्दू धर्म के अनुयायियों को ही इस देश मे निवास करने का अधिकार है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ मुसलमानों का कट्टर विरोधी रहा है। इसके समर्थकों का मत है कि भारतीय राष्ट्रीयता का आधार 'हिन्दुत्व' ही हो सकता है। ये ऐसा मानते हैं कि ईसाई, मुस्लिम इत्यादि भारतीयता के लिए खतरा हैं। इस प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति साम्प्रदायिकता उत्पन्न करती है।

5. सरकार की उदासीनता—सरकार और प्रशासन की उदासीनता के कारण भी कभी-कभी साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं। सामान्य सी घटना प्रशासन की असावधानी के कारण कई बार साम्प्रदायिक दगो का रूप ले लेती है। शाहबानो के मामले मे राजीव सरकार ने सुप्रीम कोर्ट के फैसले को नहीं माना और साम्प्रदायिक दबाव के चलते मुस्लिम महिला विधेयक पास करवाया; अब विश्व हिन्दू परिषद् कहती है कि वह भी राम जन्म भूमि के मामले पर लखनऊ हाईकोर्ट का फैसला मानने के लिए बाध्य नहीं है।

स्वतन्त्रता के बाद हुए साम्प्रदायिक उपद्रवों के अध्ययन से पता चलता है कि उनमे वृद्धि हो रही है। किन्तु इस विषय मे स्थिति विभिन्न क्षेत्रों एवं नगरों मे भिन्न-भिन्न है। रत्ना नायडू के अनुसार, ऐसे नगर जिनमे बड़े साम्प्रदायिक उपद्रव हुए हैं, दो प्रकार के हैं। इनमे एक प्रकार के नगर वे हैं जो औद्योगिक नगर हैं और दूसरे प्रकार के वे जो दस्तकारी एवं उद्योगों के नगर हैं और जो उद्योग एवं व्यापार के आधुनिक केन्द्रों के रूप मे विकसित होने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रथम वर्ग के उदाहरण जमशेदपुर, राउरकेला आदि हैं और दूसरे वर्ग के उदाहरण मुरादाबाद, अलीगढ़, अहमदाबाद, बनारस आदि हैं।[1]

साम्प्रदायिकता के बारे मे गृहमन्त्रालय की गोपनीय रिपोर्ट मे एक टिप्पणी यह है—"थोड़े-थोड़े समय बाद भड़क उठने वाली साम्प्रदायिक हिंसा से गहन चिन्ता व्याप्त हो रही है।" एक अन्य रिपोर्ट का सार तत्त्व यह है "जनता के मन मे कानून एवं व्यवस्था के प्रति चिन्ता का मुख्य कारण विभाजक, विभेदक और अन्य आन्दोलनों को दिया जाने वाला अनुचित प्रचार (समाचार पत्रों द्वारा) है। कतिपय राजनीतिक दल और गुट किसी भी उपलब्ध बहाने की आड़ लेकर इन आन्दोलनों को खड़ा कर देते हैं।

वास्तविक अपराधी तो राजनीतिक दल हैं। साम्प्रदायिक दगो सम्बन्धी सात जाँच आयोगों की रिपोर्टों का विश्लेषण करने पर यह पाया गया है कि उन सभी में किसी न किसी रूप मे राजनीतिक दलों की आलोचना की गयी है। रघुबीर दयाल आयोग (1967) ने कहा है कि—'राजनीतिक दलों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साम्प्रदायिक या जातीय भावनाओं को नहीं उभारना चाहिए।' दत्ता आयोग (1970) ने कहा—'राजनीतिक दलों को किसी समुदाय की धार्मिक भावनाओं के नाम पर अपील करके वोट प्राप्त करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।' जोसेफ विथायथिल आयोग (1971) ने कहा—'यह भी कहना होगा कि धर्मनिरपेक्ष लोकतान्त्रिक पार्टियों मे भी सामान्य सदस्यों मे साम्प्रदायिकता का प्रवेश हो गया है। यह एक अहितकर प्रवृत्ति है जिसे सम्बद्ध दलों को रोकना चाहिए। जमशेदपुर मे 1979 मे हुए दगो की जाँच के लिए गठित आयोग ने कहा था कि "... वे (राजनीतिक दल) सम्प्रदायों को सदैव ही 'वोट-बैंक'

---

[1] Ratna Naidu, *Commercial Edge to Rural Societies —India and Malaysia* (Delhi, 1980), p. 139.

समझते है और तदनुरूप ही अपने कार्यक्रम और कार्यवाही सम्बन्धी योजना बनाते है। वोट का अर्थ है सत्ता और राजनीतिज्ञो को अन्य किसी भी बात की तुलना मे सत्ता कही अधिक प्यारी है।"

साम्प्रदायिक घटनाओ के पीछे 'विदेशी हाथ' होने का आरोप भी आजकल जोरशोर से सुनाई पड रहा है। कुछ वर्ष पूर्व जब तमिलनाडु मे हरिजनो का धर्म परिवर्तन करके उन्हे मुसलमान बनाया गया तो केन्द्रीय सरकार ने यह आकलन प्रस्तुत किया था—'इस बात के पर्याप्त सकेत है कि इस क्षेत्र मे हरिजनो का धर्म परिवर्तन करने के लिए जमायते-इस्लामी-हिन्द और अन्य कट्टर पन्थी गुट जिस उत्साह से कार्यरत है, 'उसका एक कारण आशिक तौर पर ही क्यो न हो, यह भी है कि मुस्लिम देशो और अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामी सगठनो की ओर से पिछले दो-तीन वर्षों मे धनराशि प्राप्त हो रही है।[1] इस क्षेत्र के समृद्ध और सम्पन्न मुसलमानो ने, जिनके खाड़ी के देशो और दक्षिण-पूर्व मे स्थित मुस्लिम देशो के साथ गहन व्यावसायिक सम्पर्क और सम्बन्ध है, मुस्लिम संगठनो के प्रयासो को बढावा दिया है।'[2]

कुलदीप नायर के शब्दो मे, "ये आरोप गम्भीर है और जब तक सरकार इस बारे मे कुछ निश्चित प्रमाण नही देती तो यही समझा जा सकता है कि ये आरोप भी हिन्दू वोट प्राप्त करने के लिए सत्तारूढ दल की रणनीति का ही एक भाग है।"[3]

अब जबकि हिन्दू-मुस्लिम दगो की सख्या मे वृद्धि हुई है—1982 मे 427 दगे हुए, जबकि 1988 मे 611 दंगे हुए; केन्द्रीय सरकार की राय मे "अल्पसख्यक समुदाय मे कट्टर पन्थी नेतृत्व का उभार" और "परम्परावादी मुस्लिम गुटो को अरब देशो से भारी मात्रा मे धनराशि प्राप्त होना और मुस्लिम जगत मे अन्य अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामी एकता का प्रभाव" इसका कारण है।[4]

दोनो ही सम्प्रदायो की गहन धार्मिक भावनाओ का दुरुपयोग किया जा रहा है, यह दर्शाने के लिए कि एक सम्प्रदाय दूसरे को नष्ट करने पर उतारू है, उनके रीति-रिवाजो और व्यवहारो मे अन्तर को उछाला जा रहा है। अतएव ऐसे मामलो का भी कोई स्थायी समाधान नही खोजा जा सकता कि जिन्हे सुनकर भी अधिकाश अन्य देशो मे लोग हँस ही सकते है। जैसे कि मस्जिदो के सामने सगीत या हिन्दुओ द्वारा पावन मानी जाने वाली गौ का वध अथवा हिन्दू धार्मिक समारोहो के अवसर पर मुसलमानो पर गुलाल अथवा रंग डाले जाने आदि के मामले है।

किसी भी सभ्य समाज मे ऐसे मामलों को स्थानीय समुदाय खुद ही आपस मे विचार-विमर्श करके निपटा लेते है और वे एकता के बारे मे आवश्यकता होने पर हर समुदाय मे प्रचलित-रीति-रिवाजो को ध्यान मे रखकर रियायतें बरतते हैं। कहने का तात्पर्य यह नही है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दोनो ही सम्प्रदायो के समझदार लोगो ने कभी कोशिश ही नही की है। किन्तु दोनो ही सम्प्रदायो के निहित स्वार्थी तत्त्वों के सतत् प्रचार ने एक ऐसा वातावरण बना दिया है, जिससे समस्या का हल खोजा जाना असम्भव सा ही प्रतीत होता है। पराजित राजनीतिज्ञ और पार्टियाँ विशेष रूप से दोषी हैं।

"इस प्रकार भय, अविश्वास और दोनो समुदायो के बीच एक-दूसरे के प्रति सन्देह की भावना ही साम्प्रदायिक वैमनस्य का मुख्य कारण है।" और जब सरकार समस्या के मूल कारणो

---

1 कुलदीप नायर : **'साम्प्रदायिक दंगो की पुनरावृत्ति', राजस्थान पत्रिका।**

2 कुलदीप नायर : **'साम्प्रदायिक दंगों में विदेशी हाथ', राजस्थान पत्रिका।**

3 **वही।**

4 **वही।**

की चर्चा करने के बजाय 'विदेशी धन' और 'विदेशी हाथ' की चर्चा करके ही सन्तुष्ट हो जाती हो तो समस्या का भयावह रूप धारण कर लेना स्वाभाविक ही है।[1]

साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम
(EVIL CONSEQUENCES OF COMMUNALISM)

भारतीय राजनीति मे साम्प्रदायिकता का उत्तरदायित्व किस पर डाला जाये ? यह दूसरा प्रश्न है, पर समस्या यह है कि इस साम्प्रदायिकता के कारण भारतीय जन कल्याण, राष्ट्रीय एकता और सगठन को आज कितना भयकर खतरा पैदा हो गया है जिसका कि लाभ हमारे पड़ोस के दुश्मन तक उठाने की ताक मे बैठे ह। अपने उग्र रूप मे यह साम्प्रदायिकता कितनी भयकर हो सकती है, वह तो विभक्त भारत माँ अपने कटे अगो सहित हमे हर पल दिखा रही है और अपनी मर्म व्यथा को मर्मान्तिक मूक शब्दो मे व्यक्त कर रही है। देश विभाजन की वह महान क्षति आज भी पूरी नही हो पायी है जबकि कुछ समय पहले कश्मीर, राँची, बनारस, अलीगढ, जमशेदपुर, अहमदाबाद, कोटा, भागलपुर, बदायूँ तथा जयपुर (1989) के साम्प्रदायिक दगो ने उस घाव पर और भी नमक छिडक दिया है। भारतीय राजनीति मे साम्प्रदायिक दगो के दुष्परिणाम इस प्रकार रहे है

(1) **आपसी द्वेष**—साम्प्रदायिकता से विभिन्न वर्गों मे आपसी द्वेष को बढावा मिलता है। केवल बढावा ही नही, वरन् आपसी द्वेष का एक बहुत बडा कारण ही साम्प्रदायिकता है। जब हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने हितो के लिए एक ही सरकार से लडते है तो आपस मे द्वेष, वैमनस्य हो जाना स्वाभाविक ही है। यही द्वेष कभी भयकर रूप धारण कर समाज मे आतंक फैला देता है, यही द्वेष समाज की शान्ति भग कर सकता है और यही द्वेष समाज के सदस्यो मे मार-काट फैला देता है।

(2) **आर्थिक हानि**—साम्प्रदायिकता के कारण आर्थिक हानि भी होती है। न जाने कितनी दुकानें लूटी जाती है, न जाने कितनी राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट की जाती है और न जाने कितने व्यक्ति कार्य नही कर पाते। इतना ही नही, साम्प्रदायिक दंगो पर काबू पाने के लिए न मालूम कितना धन व्यय किया जाता है।

(3) **प्राण हानि**—साम्प्रदायिकता के कारण प्राण हानि भी अत्यधिक होती है। शायद ही कोई ऐसा साम्प्रदायिक दगा हुआ हो जिसमे कुछ व्यक्तियो की जानें न गयी हो। राँची, श्रीनगर, बनारस, अलीगढ आदि के साम्प्रदायिक दगो का उदाहरण सामने है। इन दंगो मे अनेक व्यक्तियो की जानें तो गयी ही, साथ ही अनेक व्यक्ति जीवन व मृत्यु का सघर्ष करने के लिए घायलावस्था मे पडे रहे।

(4) **राजनीतिक अस्थिरता**—साम्प्रदायिकता का एक दुष्परिणाम राजनीतिक अस्थिरता भी है। साम्प्रदायिकता वह परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देती है, या उन परिस्थितियो को उत्पन्न करने मे सहायक होती है, जिससे कि देश मे राजनीतिक अस्थिरता आ जाती है।

(5) **राष्ट्रीय एकता मे बाधा**—साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता की गम्भीर शत्रु है। राष्ट्रीय एकता का तात्पर्य है, सभी लोग आपस मे एक होकर रहे, सबके हित को अपना हित माने। जबकि साम्प्रदायिकता इसके बिलकुल विरुद्ध है—इसकी मूल धारणा है कि विभिन्न सम्प्रदाय के व्यक्ति अपने-अपने हितो के लिए सघर्ष करे।

(6) **राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा**—भारत एक बहुसम्प्रदायवादी देश है। इसमे अनेक अल्पसख्यक एव बहुसख्यक व्यक्ति निवास करते है और इन्ही अल्पसख्यको और बहुसंख्यको के बीच

[1] वही।

जो साम्प्रदायिक झगडे और तनाव पैदा होते है, उनसे भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा को गम्भीर खतरा पैदा हो सकता है।

उपरोक्त दुष्परिणामो के अतिरिक्त साम्प्रदायिकता से देश मे आर्थिक उन्नति व औद्योगिक विकास मे भी बाधा पडती है। अन्य राष्ट्रो से भारत के सम्बन्धो पर भी साम्प्रदायिकता से बुरा प्रभाव पडता है।

धर्म और राजनीति में अन्तःक्रिया
(INTERACTIONS BETWEEN RELIGION AND POLITICS)

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्त्वो मे 'धर्म और साम्प्रदायिकता' अत्यन्त प्रभावशाली तत्त्व माना जाता है। धर्म का प्रयोग राजनीति मे जहाँ एक ओर तनाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है वहाँ दूसरी ओर प्रभाव और शक्ति अर्जित करने का भी धर्म माध्यम मान लिया जाता है। जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी और जय गुरुदेव की राजनीतिक शक्ति की आधारशिला उनके अपने-अपने सम्प्रदायो मे अनुयायियो का संख्या बल है। धर्म के आधार पर राजनीतिक दलो का निर्माण होता है, चुनावो मे समर्थन और मत प्राप्त करने के लिए धर्म का सहारा लिया जाता है। जनता से की जाने वाली अपीलो, उन्हे दिये जाने वाले आश्वासनो, निर्वाचनो मे प्रत्याशियो के चयन तथा मतदान व्यवहार मे धर्म का राजनीतिक स्वरूप देखने को मिलता है। स्वतन्त्रता के 45 वर्षो के बाद भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच ऐसा एकीकरण विद्यमान था, उदाहरणार्थ, हिन्दुओ और सिक्खो मे, वहाँ भी इसे रूढिवाद एव साम्प्रदायिकता के बढते हुए विरोध का खतरा पैदा हो गया है। धर्म और सम्प्रदाय धर्मनिरपेक्ष संविधान अपनाये जाने के बाद भी भारतीय राजनीति के स्वरूप को निम्नलिखित ढंग से प्रभावित करते रहे हैं

(1) **धर्म और राजनीतिक दल**—स्वाधीनता के बाद धर्म और सम्प्रदाय के आधार पर भारत मे राजनीतिक दलो का गठन हुआ है। मुस्लिम लीग, शिरोमणि अकाली दल, राम राज्य परिषद्, हिन्दू महासभा आदि राजनीतिक दलो के निर्माण मे धार्मिक और साम्प्रदायिक तत्त्वो की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यदि साम्प्रदायिकता एक रोग है और वह भी सक्रामक[1] तो इन दलो के शासन और राजनीति पर प्रभाव को सहज ही आँका जा सकता है। ये साम्प्रदायिक दल धर्म को राजनीति मे प्रधानता देते है, धर्म के आधार पर चुनावो मे प्रत्याशियो का चुनाव करते है और सम्प्रदाय के नाम पर वोट माँगते हैं। चुनावो मे धार्मिक मुद्दो जैसे गौ-वध को बन्द करवाने, राम मन्दिर का निर्माण आदि का प्रयत्न करते है। **प्रो मॉरिस जोन्स** ने लिखा है, "यदि साम्प्रदायिकता को संकुचित अर्थ मे लिया जाये अर्थात् कोई राजनीतिक पार्टी किसी विशेष धार्मिक समुदाय के राजनीतिक दावो की रक्षा के लिए बनी हो तो कुछ पार्टियाँ ऐसी है जो स्पष्ट रूप से अपने को साम्प्रदायिक कहती है जैसे मुस्लिम लीग जो भारत मे सिर्फ दक्षिण भारत मे रह गयी है और जो मालाबार मोपला समुदाय के बल पर केवल केरल मे ही शक्तिशाली है, सिक्खो की अकाली पार्टी जो सिर्फ पजाब मे ही है, हिन्दू महासभा जो सिद्धान्त रूप मे एक अखिल भारतीय पार्टी है, किन्तु मुख्य रूप से मध्य प्रदेश और उसके आस-पास के इलाको मे शक्तिशाली है।"[2] जनसघ दल के बारे मे मॉरिस जोन्स लिखते है, "जब तक कट्टरता की मनोवृत्ति से पूर्ण आर. एस. एस, जिसमे हिन्दू सास्कृतिक जोश और सैन्यवादी ट्रेनिग दोनो का संयोग है जनसघ की आड़ मे जुटकर काम करता रहेगा, तब तक साम्प्रदायिकता इस पार्टी का एक महत्त्वपूर्ण पहलू बनी रहेगी।"[3]

---

1 रामधारीसिह दिनकर ने इसे संक्रामक रोग कहा है। **'संस्कृति के चार अध्याय'**, पृ. 638।
2 मॉरिस जोन्स, **भारतीय शासन पद्धति** (अनुवाद), पृ. 190।
3 उपर्युक्त।

यदि साम्प्रदायिक को व्यापक अर्थ में लिया जाये अर्थात् सम्पूर्ण हिन्दू समाज के ही भीतर किसी सामाजिक-धार्मिक समुदाय के साथ सम्बन्ध के रूप में लिया जाये तो सभी पार्टियों में किसी न किसी स्तर पर और कुछ न कुछ मात्रा में ऐसी साम्प्रदायिकता अवश्य मिलेगी, जहाँ तक कि कांग्रेस भी इससे मुक्त नहीं है। केरल में ईसाई समुदाय के साथ कांग्रेस का ऐसा गठजोड़ रहा है कि इसे संकुचित दृष्टि से भी साम्प्रदायिक कहा गया है। यहाँ तक कि साम्यवादियों ने भी कुछ जगहों पर और कतिपय प्रयोजनों के लिए साम्प्रदायिक क्षेत्र तैयार कर लिये हैं।[1]

(2) **धर्म और निर्वाचन**—भारत में अधिकांश राजनीतिक दल और उनके नेता चुनावों में धर्म और सम्प्रदाय की दलीलों के आधार पर वोट माँगते हैं। वोट बटोरने के लिए मठाधीशों, इमामों, पादरियों और साधुओं के साथ साँठ-गाँठ की जाती है। मतदान के अवसर पर मत माँगने वाले और मतदान करने वालों के आचरण पर धार्मिक तत्त्व छाये रहते हैं। मार्च 1977 और जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावों के दिनों में दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम की भूमिका से आसानी से यह समझा जा सकता है कि धार्मिक नेता राजनीतिक दलों में मुस्लिम सम्प्रदाय के वोटों का किस प्रकार सौदा करते हैं? राजनीतिक नेता की भाँति शाही इमाम ने चुनाव सभाओं में भाषण दिये और मुस्लिम सम्प्रदाय के मतदाताओं को किसी विशेष राजनीतिक दल के पक्ष में मतदान करने के लिए प्रेरित किया। किसी संवाददाता ने लिखा है, "सवाल उठता है कि समाजवाद और गणतन्त्र की बात करने वाले अगर इमाम के नाम से वोट पाना चाहेंगे तो हो सकता है कि बलराज मधोक जैसे लोग शंकराचार्य के नाम पर वोट माँगने लगें। फिर क्या इस देश को इमाम और शंकराचार्य के बीच चुनाव करना पड़ेगा ?"[2] मिजोरम के चुनाव में जारी एक पर्चे में कांग्रेस (इ) ने कहा था कि वह ईसाई अधिकारों के लिए लड़ेगी। धर्म निरपेक्षता का हलफ उठाने के बाद भी वी. पी. सिंह लोकसभा चुनावों से पूर्व अब्दुल्ला बुखारी जैसे कट्टरवादियों से रिश्ते बनाते हैं तो स्पष्ट है कि राजनीतिक दलों की निगाहें करीब 100 महत्त्वपूर्ण चुनाव क्षेत्रों में मुस्लिम सम्प्रदाय के 20 प्रतिशत वोट हथियाने के लिए लालायित हैं।

(3) **राजनीति में धार्मिक दबाव गुट**—धार्मिक संगठन भारतीय राजनीति में सशक्त दबाव समूहों की भूमिका अदा करने लगे हैं। ये धार्मिक गुट शासन की नीतियों को प्रभावित करते हैं और कभी-कभी अपने पक्ष में अनुकूल निर्णय भी करवाते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दुओं की आपत्ति और आलोचना के बावजूद 'हिन्दू कोड बिल' पास कर दिया गया। किन्तु दूसरे सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया जा सका। स्वतन्त्रता के बाद अनेक मुस्लिम संगठनों जैसे जमीयत उल-उलेमा-ए-हिन्द, अमारते शरिया, जमायते इस्लामी आदि ने कम से कम तीन बातों के लिए सरकारी नीतियों को प्रभावित कर 'दबाव गुटों' की भूमिका अदा की है। ये तीन बातें हैं—उर्दू को सांविधानिक संरक्षण दिया जाये, अलीगढ़ विश्वविद्यालय का अल्पसंख्यक स्वरूप स्थापित किया जाये और मुस्लिम पर्सनल लॉ के बारे में कोई तब्दीली न की जाये।

(4) **धर्म के आधार पर पृथक् राज्यों की माँग**—कई बार परोक्ष रूप में धर्म के आधार पर पृथक् राज्यों की माँग भी की जाती रही है। अकाली दल द्वारा पंजाबी सूबे की माँग ऊपरी तौर से भाषायी आधार की माँग नजर आती है किन्तु यथार्थ में यह धर्म के आधार पर ही पृथक् राज्य की माँग थी। 2 नवम्बर, 1949 को मास्टर तारासिंह ने पूर्वी पंजाब में एक 'सिक्ख प्रान्त' की माँग करते हुए कहा कि पूर्वी पंजाब में हिन्दू 'संकीर्ण हृदय वाले सम्प्रदायवादी' हो गये हैं और 'सिक्खों को उनसे उचित व्यवहार की आशा नहीं रह गयी।' सन्त फतेहसिंह के अनुयायी सिक्ख 'होम लैण्ड' की माँग करने लगे। उनका कहना था कि 'उत्तर भारत में एक समाजवादी

---

1 उपर्युक्त।
2 दिनमान, 16-22 दिसम्बर, 1979, पृ 19।

लोकतन्त्रीय सिक्ख होमलैण्ड' की स्थापना ही सिक्ख राजनीति का वास्तविक एवं एकमात्र लक्ष्य है। पुराने पंजाब राज्य का विभाजन वस्तुत धर्म के आधार पर ही हुआ था। इसी प्रकार नागालैण्ड के ईसाइयो की पृथक् राज्य की माँग का आधार भी धर्मगत निष्ठाएँ ही थी।

(5) **मन्त्रिमण्डल के निर्माण में धार्मिक आधार पर प्रतिनिधित्व**—केन्द्र और राज्यो में मन्त्रिमण्डल बनाते समय सदैव इस बात को ध्यान मे रखा जाता है कि प्रमुख सम्प्रदायो और धार्मिक विश्वासो वाले व्यक्तियो को उनमे प्रतिनिधित्व मिल जाये। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे अल्पसख्यकों जैसे मुसलमानों, सिक्खो, ईसाइयो को सदैव प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

(6) **धर्म और राष्ट्रीय एकता**—धर्म और साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता के लिए घातक माने जाते है। धार्मिक मतभेदों के परिणामस्वरूप ही हमारे देश का विघटन हुआ था और उसी के कारण आज भी विघटनकारी तत्त्व सक्रिय हैं।

(7) **राज्यों की राजनीति में धर्म की प्रभावक भूमिका**—धर्म और धार्मिक समुदायो का भारतीय राजनीति मे कितना प्रभाव है, केरल और पंजाब राज्यो की राजनीति इसके लिए सन्दर्भ प्रस्तुत करती है।

केरल की राजनीति का ऊपरी आवरण चाहे वामपन्थी रंग मे रँगा हुआ नजर आये किन्तु उसका अन्तरग धार्मिक और साम्प्रदायिक गुटो के गठजोड़ से बनता है।[1] राज्य-राजनीति मे दो प्रकार के दवाव समूह पाये जाते हैं—साम्प्रदायिक और व्यावसायिक। साम्प्रदायिक दवाव समूहों मे नय्यर सर्विस सोसायटी, श्री नारायण धर्म परिपालन युगम् और अनेक ईसाई संगठन प्रमुख है। जमीदार, धनिक वर्ग, व्यापारी आदि इन्ही संगठनो से जुड़े हैं, अत ये साम्प्रदायिक व धार्मिक गुट शासन की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। प्रगतिशील समझे जाने वाले साम्यवादी दल भी केरल मे धार्मिक दवाव गुटो से अपना तालमेल विठाकर चुनावी रणनीति तैयार करते हैं।

धर्म और राजनीति की अन्त क्रिया को समझने के लिए पंजाव राज्य की राजनीति विशिष्ट महत्त्व रखती है।[2] पंजाव की राजनीति सदा ही अकाली दलो की आन्तरिक राजनीति तथा सशक्त और समृद्ध शिरोमणि गुरुद्वारा प्रवन्ध समिति के निर्वाचनो के इर्द-गिर्द घूमती रही है। अधिक दूर न जाकर पिछले एक दशक की राजनीतिक घटनाओ का विश्लेपण करे तो धर्म की राजनीतिक भूमिका का अनुमान लगाया जा सकता है।

शिरोमणि गुरुद्वारा प्रवन्धक समिति के चुनाव प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अकाली दल की राजनीति को प्रभावित करते है और अकाली दल पंजाव की राजनीति को। सिक्ख जाति के सर्वोच्च धार्मिक नेताओ द्वारा अकाल तख्त से जारी किये गये फरमान ने अकाली दल के प्रधान का चुनाव रोक दिया।[3] स्वर्ण मन्दिर के सामने स्थित अकाल तख्त की स्थापना गुरु गोविन्दसिंह ने एक राजनीतिक शक्ति के रूप मे की थी। पंजाव की राजनीति मे अकाल तख्त का स्वरूप एव भूमिका एक समानान्तर सरकार की भाँति है जिस पर समकालीन सरकार के आदेश लागू नही होते। अनेक वार धार्मिक विवादो के साथ-साथ राजनीतिक विवादो के वारे मे भी फैसले अकाल तख्त करता है।

साम्प्रदायिकता को दूर करने के सुझाव
(SUGGESTIONS FOR ERADICATING COMMUNALISM)

साम्प्रदायिकता मानवता के लिए एक गम्भीर अभिशाप है और भारत जैसे देश मे तो यह और भी घातक है। साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिए कुछ सुझाव अग्रलिखित है

---

1 "The Politics of Kerala centres round its three communities and their intra and inter-caste alignments "

2 "Another aspecct of the Political processes in the Punjab is that almost all the important Political problems of the state are marked by a Communal approach whether it is the problem of language or of the reorganisation of the state on one basis or the other." —J C Anand *"Punjab Politics—A Survey"*, Iqbal Narain, (ed) *State Politics in India*, pp. 258-59.

3 **दिनमान**, 25-31 मार्च, 1979, पृ. 22।

(1) सरकार को सदैव ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके द्वारा ऐसा कोई भी कार्य न होने पाये, जिसके द्वारा साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता है।

(2) सर्वत्र इस भावना को प्रोत्साहन दिया जाये कि सब धर्मों के लोग मिल-जुलकर रो मौन प्रार्थना करें। सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत स्थानो पर जहाँ प्रार्थना आदि के कार्यक्रम होते हैं, ऐसा वातावरण बनाया जाये।

(3) शिक्षण मे आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश किया जाये। साम्प्रदायिक या मजहबी क्रियाक्रम भिन्न चीज है।

(4) किसी भी सार्वजनिक क्षेत्र मे बहुमत के आधार पर कोई प्रवृत्ति पैदा न की जाय। सारा कार्य ऐसे ढग मे हो कि अल्पसंख्यको को अपने अल्पसंख्यक होने का भान ही न रहे।

(5) सरकार को सदैव ही इस प्रकार के कानूनो का निर्माण करना चाहिए, जो कि हर व्यक्ति पर समान रूप से लागू होते हो। कानून लागू होने मे किसी भी प्रकार का जाति, लिंग, धर्म, भाषा एवं सम्प्रदाय सम्बन्धी भेदभाव नही होना चाहिए।

(6) भारत मे विभिन्न समयो पर अनेक सम्प्रदाय सरकार मे अपने विशेष प्रतिनिधित्व की माँग करते हैं। सरकार को इन सबके इस प्रस्ताव को केवल साम्प्रदायिकता के आधार पर ठुकराना होगा और उन्हे 'एक राष्ट्र' का सबक देना होगा क्योंकि इनसे भी साम्प्रदायिकता को बढावा मिलता है।

(7) भाषा के सम्बन्ध मे भी भारत सरकार को अपनी नीति ठीक करनी होगी। यह भी भारत मे साम्प्रदायिकता का एक बहुत बडा कारण है।

धर्म की राजनीतिक भूमिका : निष्कर्ष

(POLITICAL ROLE OF THE RELIGION . CONCLUSIONS)

हमे इस बात का गर्व है कि हमारे देश मे अनेक धर्मो को मानने वाले और अनेक जातियो के लोग बसते हैं। शायद ही कोई धर्म या जाति के लोग हो जो भारत मे न पाये जाते हो। नये भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया, जिसका तात्पर्य यह था कि धर्म को राजनीति से हटा लिया जाय लेकिन व्यावहारिक रूप से धर्म का प्रभाव भारतीय जनता के मस्तिष्क से नही मिटा है और आज भी राजनीतिक एव सामाजिक क्षेत्र मे धर्म के आधार पर भेदभाव किया जाता है। राजनीतिज्ञ और राजनीतिक दल धर्म एवं सम्प्रदाय को राजनीतिक सफलता के लिए एक साधन के रूप मे अपनाते रहे हैं। मन्त्रिमण्डल के निर्माण मे तथा चुनावो के समय टिकिट के बँटवारे के लिए धार्मिक आधार पर प्रतिनिधित्व की माँग की जाती रही है। धर्मनिरपेक्षी हिन्दू नेताओ ने यदि मतदाताओं के रूप मे मुसलमानो की हैसियत समाप्त करके उन्हे महज वोटो मे बदल दिया है तो सम्प्रदायवादी मुस्लिम नेताओ ने इस वोट शक्ति को अपने सीमित लक्ष्यो की प्राप्ति का साधन बना लिया है। राजनीतिक दल इस डर से साम्प्रदायिकता से बचने की कोशिश करते हैं कि वे दूसरे सम्प्रदायो के वोट खो देंगे, परन्तु उनके स्थानीय संगठन स्थानीय झगडो का लाभ उठाने के प्रलोभन मे पड जाते हैं। सम्प्रदायिक झगड़े भले ही छिटपुट और स्थानीय हो लेकिन उनसे देश की बदनामी होती है और उसका लोकतन्त्री धर्मनिरपेक्ष स्वरूप कलंकित होता है।[1]

संक्षेप मे, भारतीय राजनीति मे धर्म एवं साम्प्रदायिकता का प्रभाव बढ़ने से धर्मनिरपेक्ष राजनीति के विकास का मार्ग अवरुद्ध हुआ है। साम्प्रदायिकता की राजनीति के अपने तर्क होते हैं उसका मुख्य ध्येय सकुचित हितो की रक्षा करना होता है। यह दायित्व राष्ट्रीय नेताओ का है वे समुदाय के सीमित तथा राष्ट्र के वृहत्तर हितो के बीच सन्तुलन स्थापित करें, समुदाय को राष्ट्र मे बदलें। यह आशा की जा सकती है कि राजनीतिक चेतना की वृद्धि और लोकतान्त्रिक मूल्यो के परवान चढने के साथ धर्मनिरपेक्षता का स्वरूप भी निखरता जायेगा।

---

1 रजनी कोठारी · **भारत में राजनीति** (अनुवाद), पृ. 227।

43

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद : पंजाब और असम आन्दोलन के विशेष सन्दर्भ में

[REGIONALISM IN INDIAN POLITICS : WITH SPECIAL REFERENCE TO PUNJAB AND ASSAM MOVEMENT]

विकासशील समाजो की एक महत्त्वपूर्ण समस्या राष्ट्रीय एकीकरण की रही है। राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया इन देशो की राजनीतिक प्रक्रिया से गहराई से जुडी हुई है। राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया के सन्दर्भ मे ही विकासशील देशो के राजनीति विकास को समझा जा सकता है। राष्ट्रीय एकीकरण के भावात्मक तत्त्वो की जब हम खोज करते हैं तो हमारा ध्यान उन जातीय, भाषागत, धार्मिक, क्षेत्रीयता पर आधारित 'परम्परागत निष्ठाओ' की ओर जाता है जो सकीर्ण क्षेत्रीयतावाद को बढावा देते हैं।

क्षेत्रीयतावाद का अर्थ
(MEANING OF REGIONALISM)

क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य एक देश मे या देश के किसी भाग मे उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक आदि कारणो से अपने पृथक् अस्तित्व के लिए जागरूक है। साधारण शब्दो मे क्षेत्रवाद का अर्थ किसी क्षेत्र के लोगो की उस भावना एवं प्रयत्नो से है जिनके द्वारा वे अपने क्षेत्र विशेष के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियो मे वृद्धि चाहते हैं।

'क्षेत्र' शब्द के बहुत सारे अर्थ है। मूल रूप से किसी क्षेत्र को जोड़ने वाली कड़ी 'सांस्कृतिक समानता' है। किसी भौगोलिक क्षेत्र को भी 'क्षेत्र' के आधार पर सम्बोधित किया जा सकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और अपने निवास के आस-पास की भूमि से उसका भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और कालान्तर मे अपने पूरे क्षेत्र के प्रति उसकी निष्ठा विकसित हो जाती है। इस दृष्टि से क्षेत्र एक तरह से समाजशास्त्रीय अभिधारणा है जो विविध सामाजिक हितो की अभिव्यक्ति की धुरी कहा जा सकता है।[1] किसी भी भू-भाग को क्षेत्र कहने के लिए कतिपय तत्त्वों का होना आवश्यक है, किन्तु आज तक उन तत्त्वो का ठीक तरह से निर्धारण नही हो सका।' यदि भौगोलिक रूप से निश्चित किसी स्थान पर कुछ प्रक्रियाएँ तथा धारणाएँ समाज के अन्य भागो से भिन्न हो और लगातार काफी समय से, चाहे अलग-अलग मात्रा मे सही, चली आ रही हो तो उस भाग को एक अलग क्षेत्र कहा जा सकता है। ये प्रक्रियाएँ और धारणाएँ

---

[1] "A region is a Profound sociological fact neglected in its being treated as the nucleus of social aggregation for multiple purposes."
—Dr. Shri Ram Maheshwari *State Government in India* (Macmillan, 1979), p. 185.

[2] *Ibid*, p 185.

भौगोलिक, धार्मिक, भाषाई, रीति-रिवाज सम्बन्धी, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास की स्थिति, रहन-सहन के ढंग और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि इत्यादि पर आधारित हो सकती है। परन्तु किसी भी क्षेत्र के पृथक् स्वरूप के लिए प्रमुख बात वहाँ के लोगो मे आपसी समानता और एकरूपता तथा अन्य क्षेत्रो से अलगाव की भावना है। इस प्रकार अनेक तत्त्वो जैसे भूगोल, जलवायु, धर्म, भाषा, रीति-रिवाज, राजनीतिक और आर्थिक विकास, ऐतिहासिक अनुभव, रहन-सहन के तरीके आदि की अन्त.क्रियाओ से किसी क्षेत्र (Region) का निर्माण हो सकता है। प्रो. श्रीराम माहेश्वरी का मत है कि क्षेत्र इनमे भी कुछ अधिक होता है, क्षेत्र के लोगो में साथ रहने की भावात्मक एकता होती है और दूसरो से अपने को पृथक् मानने की इच्छा। यदि कोई व्यक्ति यह सोचता है कि वह विदर्भ क्षेत्र का निवासी है तो इसका मतलब है कि वह अपने को महाराष्ट्रियनो से थोड़ा भिन्न मानता है, चाहे सभी महाराष्ट्रियन यह महसूस करते हो कि अन्य राज्यो से महाराष्ट्र के लोग भिन्न हैं। ऐसी भावनाएँ सास्कृतिक वास्तविकताएँ हैं और उनसे कोई भी आसानी से मुक्त नही हो सकता।[1]

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य मे क्षेत्रीयतावाद से अभिप्राय है—राष्ट्र की तुलना मे किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रान्त की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र से लगाव, उसके प्रति भक्ति या विशेष आकर्षण दिखाना। इस दृष्टि से क्षेत्रीयतावाद राष्ट्रीयता की वृहद् भावना का विलोम है और इसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति होना है। भारतीय राजनीति के सन्दर्भ मे यह एक ऐसी धारणा है जो भाषा, धर्म, क्षेत्र आदि पर आधारित है और जो विघटनकारी प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन देती है। क्षेत्रीयता की भावना सारे देश मे व्याप्त है जो कि प्राय सुनियोजित एव सुव्यवस्थित आन्दोलनो तथा अभियानो के रूप मे प्रकट होती है।

भारत में क्षेत्रीयतावाद : ऐतिहासिक विरासत
(REGIONALISM IN INDIA · HISTORICAL LEGACY)

क्षेत्रवाद आज भारतीय राजनीतिक एव सामाजिक जीवन मे एक अत्यन्त व्यापक घटना है और कम से कम निकट भविष्य मे जन साधारण के मस्तिष्क से इस धारणा के दूर होने के कोई चिह्न दिखायी नही देते। आधुनिक युग मे संचार व्यवस्था के नये साधनो, अंग्रेजी-प्रशासन व्यवस्था के तरीके और नीतियो, उपनिवेशवाद से उत्पन्न समस्याओ तथा स्वतन्त्रता के पश्चात् आधुनिकीकरण को अत्यधिक महत्त्व और तीव्रता प्रदान करने की प्रक्रियाओ ने, क्षेत्रवाद और अन्य तनावो को अधिक सचेत और सक्रिय किया है।

भारत न केवल भौगोलिक दृष्टि से एक विशाल देश है अपितु वैचारिक, परम्परा, धर्म, सस्कृति से भी इसकी विशालता प्रकट होती है। विदेशी ताकतो ने भारत की इस सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता का शोषण किया। स्वतन्त्रता की वेला पर भारत दो भागो में विभक्त था—ब्रिटिश भारत के प्रान्त एव देशी रियासतें। ब्रिटिश-भारत मे राजनीतिक चेतना तो जाग्रत हुई किन्तु ब्रिटिश भारत के प्रान्तो का विभाजन अंग्रेजो ने तार्किक आधार पर नही किया अपितु अपने न्यस्त हितों को ध्यान मे रखकर किया। देशी रियासतो मे थोडी-बहुत आन्तरिक स्वायत्तता थी। राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिए अंग्रेजो ने इन रियासतों का सहयोग प्राप्त किया। स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व के सामने सबसे बडी चुनौती राजनीतिक एकीकरण की थी। इस सन्दर्भ मे प्रारम्भिक रूप से दो समस्याएँ सामने आयी—राज्यो का भारतीय संघ मे विलीनीकरण और भारतीय सघ के अन्तर्गत केन्द्र-राज्य सम्बन्धो का निर्धारण। इन दोनो समस्याओं के सन्दर्भ में विभिन्न क्षेत्रो का भारतीय मानचित्र मे पुनर्सीमांकन एक चुनौती थी। इस तरह क्षेत्रीयतावाद का

---

[1] *Ibid*, p. 186.

उदय ब्रिटिश शासन की विरासत है। आगे चलकर भारत मे सरकारी भाषा, शिक्षा के माध्यम, राजस्व और स्रोतो के बँटवारे इत्यादि के प्रश्नो को लेकर क्षेत्रवाद की भावना मे बढ़ोत्तरी होती गयी।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के कारण
(CAUSES OF REGIONALISM IN INDIAN POLITICS)

भारतीय राजनीति मे क्षेत्रीयतावाद के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं :

(1) **भौगोलिक**—भौगोलिक दृष्टि से भारत के कई राज्य आज भी बहुत बड़े हैं। इन बड़े राज्यो जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश और राजस्थान मे छोटे-छोटे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इकाई बन सकते हैं। राजस्थान मे मारवाड़ और मेवाड़ का क्षेत्र, मध्य प्रदेश मे छत्तीसगढ का क्षेत्र आदि को यदि पृथक् राज्यो का दर्जा दे दिया जाये तो भी वे केरल, नागालैण्ड से तो बड़े राज्य ही बनेंगे।

(2) **सांस्कृतिक**—कुछ राज्यो मे कई भाषाभाषी एवं संस्कृति के लोग रहते हैं। उन्हे अपनी भाषा एव सस्कृति पर गर्व है। इसी आधार पर द्रविड़ मुनेत्र कड़गम ने भारतीय संघ से अलग होने की बात कही थी।

(3) **ऐतिहासिक**—राज्य पुनर्गठन के बाद कई पुरानी रियासतो को राज्यो मे मिला दिया गया था। आज भी इन रियासतो के ल। : यह महसूस करते हैं कि यदि उनकी रियासत का ही पृथक् राज्य होता तो वे अधिक लाभ की स्थिति मे होते। केवल ऐतिहासिक सम्बन्धो के आधार पर ही पुराने क्षेत्रो की चर्चा की जाती है। दूसरे शब्दो मे, सारे भारत का इतिहास सामान्य न होकर क्षेत्रो के आधार पर भिन्न है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सास्कृतिक विरासत, लोक परम्पराओ, सामाजिक मिथको तथा लक्षणो (Symbolism) के आधार पर क्षेत्रवाद के अस्तित्व को सहायता मिलती है।

(4) **आर्थिक कारण**—भारत के कुछ राज्यो के कुछ क्षेत्रो मे अधिक आर्थिक विकास हुआ और आर्थिक विकास की दृष्टि से कुछ क्षेत्र पिछड गये। इससे इन पिछड़े क्षेत्रो मे असन्तोष फैलने लगा और क्षेत्रीयतावाद की भावना फैलने लगी। उदाहरणार्थ, आन्ध्र प्रदेश मे तेलंगाना का क्षेत्र, राजस्थान मे दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान, महाराष्ट्र मे विदर्भ क्षेत्र मे तेज रफ्तार से विकास नही हो पाया और वे अपने लिए पृथक् राज्य की माँग करने लगे।

उड़ीसा के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री जे. बी. पटनायक ने सरकारी आंकड़ों का हवाला देते हुए कहा कि आर्थिक विकास मे पूर्वी राज्यो की उपेक्षा करने के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय आर्थिक असन्तुलन और विषमताएँ बढी हैं। उनके अनुसार अखिल भारतीय वित्तीय सार्वजनिक संस्थानों एवं निकायो द्वारा दी जाने वाली सहायता एवं वित्तीय निवेश मे पूर्वी राज्यो को उनका समुचित हिस्सा नही मिल पाता है। सन् 1985 तक प्रति व्यक्ति गैर बैंकिंग वित्तीय संस्थानो से सार्वजनिक क्षेत्र मे सहायता इस प्रकार रही है—पश्चिमी बगाल 217 रु., उड़ीसा 119 रु., असम 75 रु., बिहार 69 रु., जबकि अखिल भारतीय औसत 247 रु. रहा है। हरियाणा, कर्नाटक, तमिलनाडु और पंजाब का औसत क्रमशः 365 रु, 363 रु, 361 रु. तथा 350 रहा है।[1]

"आर्थिक स्रोत कम है और मांगो मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। माँग और उत्पादन में अन्तर का एक प्रभाव यह है कि व्यक्ति, समुदाय, वर्ग और क्षेत्र सभी स्तरो पर प्रतिस्पर्द्धा होती है।"

—रजनी कोठारी

(5) **भाषा**—भारत मे भाषागत विविधता रही है। उत्तर और दक्षिण की भाषा एक-दूसरे से भिन्न रही है। भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बढी। भाषा के

[1] *The Economic Times*, December 24, 1981, p. 3.

प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिण के राज्यो मे हिंसात्मक आन्दोलन हुए और राष्ट्रीय एकता संकट मे पड गयी ।

(6) जाति—जाति के आधार पर भी क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति वढी है। जिन क्षेत्रो मे किसी एक जाति की प्रधानता रही वहाँ क्षेत्रीयतावाद की प्रवृत्ति दिखलायी देती है। हरियाणा और महाराष्ट्र मे क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति फैलाने मे जाति प्रभावक तत्त्व रहा है।

"यद्यपि जाति व्यवस्था क्षेत्रवाद के लिए अपने आपमे वहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व नही है, परन्तु जहाँ यह आर्थिक हितो (जैसे महाराष्ट्र मे मराठा जाति), भाषायी समुदायों (तमिलनाडु मे तमिल भाषा और गैर-ब्राह्मण जातियाँ) और धर्म (पजाव मे सिक्ख धर्म और जाट जाति) के साथ जुडी हो वहाँ यह क्षेत्रवाद को प्रवल वनाने मे काफी सहायक होती है।" —रजनी कोठारी

(7) राजनीतिक कारण—राजनीतिक कारणो से भी प्रादेशिकता की माँग वढी है। राजनीतिज्ञ यह सोचते हैं कि यदि पृथक् राज्य वन जायेंगे तो उनकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति आसानी से हो सकेगी। प्रादेशिक दलो जैसे—डी. एम. के., अकाली दल, झारखण्ड पार्टी, शिव सेना आदि ने भी राजनीतिक कारणो से प्रादेशिकता की अग्नि प्रज्ज्वलित की है।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद : विश्लेषण
(REGIONALISM IN INDIAN POLITICS ANALYSIS)

प्रो. रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स इन इण्डिया' मे क्षेत्रीयतावाद की चर्चा करते हुए लिखा है कि—(1) देश के सामने एक खतरा राज्यो के संघ से अलग हो जाने का था। (2) कुछ लोगो ने आशका प्रकट की थी कि प्रान्तीयता की भावना या प्रदेश के लिए अधिक अधिकार या स्वायत्तता की माँग वढती गयी तो इससे या तो देश अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यो मे वँट जायेगा या यहाँ तानाशाही कायम हो जायगी। (3) पृथक्ता की भावना उनमे ज्यादा वलवान और खतरनाक है, जहाँ ऐसी आर्येतर जातियाँ हैं, जो भारतीय सस्कृति की धारा मे पूरी तरह नही मिल पायी है। जैसे उत्तर-पूर्व की आदिम जातियो का इलाका। (4) कुछ क्षेत्रो मे अभी भी असन्तोष है—जैसे उत्तर-पूर्व मे मीजो जाति, विहार मे छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश मे आदिवासी इलाके और गुजरात व उडीसा मे आदिवासियो का स्वायत्तता का आन्दोलन। (5) राज्यो के भीतर विशिष्ट क्षेत्रो के अलगाव के आन्दोलन उठ रहे हैं। दवे हुए वर्गों और समूहो के राजनीतिक क्षेत्र मे आने से अधिकार के लिए उनकी आकाक्षा से नयी समस्याएँ खडी हो रही हैं।[1]

भारतीय राजनीति मे क्षेत्रीयतावाद की चर्चा निम्नलिखित शीर्षको के आधार पर की जा सकती है

(1) क्षेत्रीयतावाद और पृथक् राज्यो की माँग।
(2) क्षेत्रीयतावाद वनाम अन्तर्राज्यीय झगडे।
(3) क्षेत्रीयतावाद और स्वायत्तता की माँग।
(4) क्षेत्रीयतावाद और केन्द्र-राज्य सघर्ष।
(5) क्षेत्रीयतावाद के सन्दर्भ मे उत्तर और दक्षिण की भावनाएँ।
(6) क्षेत्रीयतावाद के सन्दर्भ मे भाषावाद।
(7) क्षेत्रीयतावाद और भारतीय सघ से पृथक् होने की प्रवृत्ति।
(8) क्षेत्रीयतावाद और क्षेत्रीय राजनीतिक दलो का अभ्युदय।

1. क्षेत्रीयतावाद और पृथक् राज्यों की माँग
(REGIONALISM AND DEMAND FOR SEPARATE STATES)

क्षेत्रीयतावाद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष पृथक् राज्य की माँग रही है। आर्थिक पिछडेपन, जाति, भाषा, धर्म को लेकर विभिन्न क्षेत्रो द्वारा पृथक् राज्य की माँग समय-समय पर उठायी

[1] Rajni Kothari Politics in India, pp 330-332

गयी तथा क्षेत्रीय आन्दोलनो की शुरुआत की गयी। पृथक् राज्यों की माँग के सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष संघीय इकाइयो द्वारा पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने की माँग है। इसी माँग के तहत् हिमाचल प्रदेश को 1970 मे पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया तथा जनवरी 1972 मे त्रिपुरा एवं मणिपुर को भी पूर्ण राज्य बना दिया गया। 1987 मे मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश और गोआ को भी पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान कर दिया गया। दिल्ली के लोग भी पूर्ण राज्य की माँग करते रहे हैं। किन्तु दिल्ली को पूर्ण राज्य का दर्जा नही दिया जा सका क्योकि यह देश की राजधानी है।

इसके अतिरिक्त पृथक् राज्यो की माँग को निम्नलिखित सन्दर्भ मे देखा जा सकता है :

राज्यों का पुनर्गठन—सन् 1956 में राज्यो का पुनर्गठन किया गया। राज्यो के पुनर्गठन का मुख्य कारण भाषायी राज्यों की ही माँग थी। भाषागत राज्यो की माँगो ने राष्ट्रव्यापी असन्तोष को जन्म दिया। इसके द्वारा क्षेत्रीय भावनाओ को प्रोत्साहन मिला और राष्ट्रवादी लोगो में यह आशंका पैदा हुई कि इससे देश छोटे-छोटे टुकड़ो में विभाजित हो जायेगा और राष्ट्रीय एकता का अन्त हो जायेगा।

बम्बई राज्य का विभाजन—बम्बई राज्य मे विभाजन की माँग तीव्रतर होने लगी। यह माँग की जाने लगी कि गुजराती और मराठी भाषा के आधार पर राज्य को दो भागो मे विभाजित किया जाना चाहिए। सन् 1960 मे महाराष्ट्र और गुजरात राज्य की स्थापना हुई।

पृथक् विदर्भ राज्य की माँग—सन् 1960 के आस-पास पृथक् विदर्भ राज्य की माँग की जाने लगी। नागपुर के लोगो का कहना था कि महाराष्ट्र की स्थापना से नागपुर का महत्त्व कम हो गया क्योकि उससे पूर्व नागपुर माध्य भारत की राजधानी था।

पंजाब राज्य का पुनर्गठन—सन् 1966 में पजाब राज्य का पुनर्गठन किया गया परिणामतः पजाब, हरियाणा एव चण्डीगढ का सघीय प्रदेश बनाया गया। हिमाचल प्रदेश एक प्रशासनिक इकाई बन गया है। इस पुनर्गठन का उद्देश्य इस क्षेत्र के सभी राज्यो का तेजी से आर्थिक विकास करना और वहाँ की जनता की राजनीतिक आकांक्षाओ को सन्तुष्ट करना था।

असम राज्य का पुनर्गठन—सितम्बर 1968 मे असम पुनर्गठन की एक योजना घोषित की गयी थी। इस योजना मे राज्य के पहाडी लोगो के लिए पर्याप्त मात्रा मे स्वायत्त शासन की व्यवस्था थी जिससे पहाड़ी लोगो की आकाक्षाएँ पूरी हो और विकास सम्बन्धी क्रिया-कलाप बढ़ सकें। 'असम पुनर्गठन (मेघालय) बिल' दिसम्बर 1968 मे पारित होकर कानून बन गया और असम राज्य के अन्तर्गत 'मेघालय' का स्वायत्तशासी राज्य स्थापित हो गया।

भूतपूर्व संघीय प्रदेशो—मणिपुर तथा त्रिपुरा के लोग भी अधिक स्वायत्त शासन की माँग कर रहे थे। सरकार ने उनकी माँगो पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया और असम के मिजो जिले की जनता के लिए एक पृथक् प्रशासनिक इकाई की माँग पर विचार किया। प्रदेश की सुरक्षा और आर्थिक विकास की आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुए उत्तर-पूर्वी क्षेत्रो के पुनर्गठन के लिए कदम उठाये गये। इन परिवर्तनो को अमल मे लाने के लिए 1972 मे एक अधिनियम पारित किया गया और मणिपुर एव त्रिपुरा को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया।

आज बोरो, गारो और करबी जैसी जनजातियाँ भी असम से अलग हो जाने की भाषा बोल रही है।

आन्ध्र राज्य के विभाजन की माँग—आन्ध्र प्रदेश मे तेलंगाना की समस्या काफी जटिल बन गयी; विकास, रोजगार के अवसरो और शिक्षा-विषयक सुविधाओं के मामले मे तेलंगाना क्षेत्र के लिए 1967 मे पब्लिक एम्प्लायमेण्ट ऐक्ट' मे सरक्षणो की व्यवस्था की गयी। उसी वर्ष सर्वोच्च

न्यायालय ने इस ऐक्ट की उस व्यवस्था को असवैधानिक करार दे दिया, जिसका तेलगाना क्षे॰ को मिलने वाले सरक्षणो से सम्बन्ध था। सरक्षणो के कार्यान्वियन के ढंग से असन्तोष था और तेलगाना एवं आन्ध्र प्रदेश के अन्य भागो मे गम्भीर आन्दोलन शुरू हो गये। हिंसात्मक आन्दोलनो से वडी गम्भीर परिस्थिति पैदा हो गयी जिससे राज्य के सगठन को ही खतरा पैदा हो गया। आन्ध्र प्रदेश के लोगो मे पूरी-पूरी भावनात्मक एकता लाने के लिए वड़े भारी धैर्य, सूझ-बूझ और कुशलता की आवश्यकता थी। 1967 मे शुरू की गयी इस वड़ी नाजुक कार्यवाही का परिणाम 6-सूत्रीय फार्मूला था जो 1973 मे घोपित किया गया।

पृथक् तेलंगाना के समर्थको का कहना था कि अन्य क्षेत्रो का विकास तेलगाना के मूल्य पर किया जा रहा हे। तेलगाना आन्दोलन को देखते हुए शका व्यक्त की गयी कि तेलंगाना की समस्या भारत के कई भागो मे उपक्षेत्रीयतावाद (Sub-regionalism) की उदीयमान शक्तियो का सकेत देती प्रतीत होती है।

अन्य भागो में पृथक् राज्यो की मांग—भारत के विभिन्न भागो मे क्षेत्रीयता के आधार पर पृथक् राज्यो की माँग की जाती रही है। असम के मैदानी भागो की जनजातियो ने पृथक् संघीय क्षेत्रो की माँग की है। भूतपूर्व मैसूर रियासत के लोगो ने कर्नाटक से अलग होने की माँग की है। उत्तर प्रदेश के पहाडी क्षेत्रो, कुमायूं एवं टिहरी-गढवाल ने भी पृथक् राज्य की आकाक्षा प्रस्तुत की है। पृथक् उत्तराखण्ड राज्य की माँग का आधार आर्थिक पिछडापन ही है। यह माँग उठायी जा रही है कि उत्तर प्रदेश के आठ पहाडी जिलो को मिलाकर पृथक् राज्य गठित किया जाय जिससे कि इन क्षेत्रो का स्वतन्त्र रूप से विकास हो सके। भौगोलिकता का तत्त्व भी इसी सन्दर्भ मे महत्त्वपूर्ण है क्योकि इन पहाडी क्षेत्रो के विकास की समस्याएँ मैदानी भागो से अधिक भिन्न एवं जटिल है जिसमे पूर्वी उत्तर प्रदेश का आर्थिक पिछडापन गम्भीर विपय है। दक्षिण गुजरात के आदिवासी लोगो ने पृथक् राज्य की माँग की है। विहार, पश्चिम वगाल, उडीसा तथा मध्य प्रदेश के पन्द्रह आदिवासी जिलो को मिलाकर पृथक् झारखण्ड राज्य की आवाज बुलन्द की गयी है। इसी भाँति लोकसभा के जनवरी 1980 के चुनाव के दिनो मे पृथक् छत्तीसगढ राज्य की माँग को भी पृथक् चुनावी मुद्दा वनाया गया था। वोडो कछाडी आदिवासी असम के विभाजन की माँग कर रहे है ताकि उदयाचल राज्य की स्थापना हो सके। असम की 2 करोड 20 लाख आवादी मे से 65 लाख आदिवासी है, यानी करीव 40 प्रतिशत। 1987 के उत्तरार्द्ध मे वोडो लोगो ने राज्य के आदिवासी इलाकों मे 'वन्द की राजनीति' का सिलसिला शुरू किया और सन् 1989 मे वोडो आन्दोलन ने काफी हिंसक रूप ले लिया। अखिल वोडो छात्र यूनियन ने पृथक् राज्य की माँग की तथा उसके लिए वन्द का आह्वान किया।

2. क्षेत्रीयतावाद बनाम अन्तर्राज्यीय झगड़े
(REGIONALISM *Vs.* INTER-STATE DISPUTES)

क्षेत्रीयतावाद का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष विभिन्न राज्यो के आपसी झगड़े है। राज्यो के बीच सीमा विवादो एव नदी पानी विवादो को लेकर राज्य मे उग्र मतभेद एव तनाव वढे है। राष्ट्रीय स्रोतो के वितरण पर राज्यो के बीच कई वार सहमति नही हो पायी और राज्यो मे कई बार अधिकतम स्रोत प्राप्त करने की होड़-सी दिखलायी देने लगी। मध्य प्रदेश, गुजरात और राजस्थान के बीच नर्मदा नदी के जल के वितरण को लेकर उत्पन्न विवाद, राजस्थान और पजाव के बीच भाखडा नागल वाँध से उत्पन्न विजली के वँटवारे को लेकर विवाद, तमिलनाडु व कर्नाटक के बीच कावेरी के जल वितरण का विवाद, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक, पजाव तथा हरियाणा के बीच सीमा विवाद अन्तर्राज्यीय झगडो के मुख्य उदाहरण है, जिनमे कई वार क्षेत्रीयता की संकुचित मनोवृत्ति ने उग्र रूप धारण कर लिया और सघवाद की भावना डगमगाती प्रतीत हुई।

असम-नागालैण्ड सीमा विवाद भयकर नरसंहारों का कारण बन चुका है। 5 जनवरी, 1979 मे हथियारो से लैस नागाओ ने 55 असमियो की हत्या कर दी थी। 4 जून, 1985 को मेरापानी मे दूसरा बडा काण्ड हुआ। इस बार नागाओ के साथ उनके राज्य की सशस्त्र पुलिस भी थी। इस काण्ड मे 30 असमी मारे गये और 90 घायल हुए। असम के अधिकारी दावा करते हैं कि उनके राज्य की 878 वर्ग किमी भूमि नागालैण्ड ने दबा ली है।[1]

वस्तुत. असम और नागालैण्ड के बीच 4,973 वर्ग मील क्षेत्र पर विवाद चल रहा है। अभी हाल ही मे नागालैण्ड ने विवादास्पद क्षेत्र मे विधानसभा चुनावो (1987) के लिए 25 मतदान केन्द्र खोलने की घोषणा की तो पूरा असम उग्र हो उठा और अखिल असम छात्र सघ ने नागालैण्ड की आर्थिक नाकेबन्दी करने का कदम उठाया। प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी को यह आश्वासन देना पडा कि अगर नागालैण्ड की आर्थिक नाकेबन्दी समाप्त न की गयी तो केन्द्र सरकार विमानो के जरिये वहाँ जरूरी सामान भेजेगी।[2] असम-अरुणाचल, असम-मेघालय, मिजोरम का मणिपुर व त्रिपुरा के साथ सीमा विवाद भी बहुत कटु और चिन्ताजनक होता जा रहा है।[3]

3 क्षेत्रीयतावाद और स्वायत्तता की माँग
(REGIONALISM AND DEMAND FOR FAUTONOMY)

भारतीय सविधान द्वारा ऐसे सघवाद की स्थापना की गयी है जिसमें स्वाभाविक रूप से केन्द्र शक्तिशाली है। विगत कुछ वर्षों से माँग की जाती रही हे कि भारतीय सविधान के संघवाद से सम्बन्धित प्रावधानो का पुनर्निरीक्षण किया जाना चाहिए तथा राज्यो की केन्द्र पर अत्यधिक निर्भरता को कम कर दिया जाना चाहिए। माँग की गयी है कि राज्यो को अधिक स्वायत्तता दी जानी चाहिए। स्वायत्तता की माँग के साथ-साथ यदाकदा पृथक्तावादी नारे भी दिये जाते है। स्वायत्तता की यह माँग उन दिनो बड़ी प्रबल हो जाती है जबकि केन्द्र एवं राज्यो मे पृथक्-पृथक् राजनीतिक दलो की सरकारे होती है। पंजाब मे मास्टर तारासिह के नेतृत्व मे अकाली दल द्वारा सिक्खों के स्वायत्त राज्य की माँग उठायी गयी थी। पश्चिमी बगाल की मार्क्सवादी सरकार ने बार-बार राज्यो की स्वायत्तता की माँग दुहराई है। द्रमुक और अन्नाद्रमुक दलो ने भी राज्य स्वायत्तता की माँग का समर्थन किया है।

4. क्षेत्रीयतावाद और केन्द्र-राज्य-संघर्ष
(REGIONALISM AND CENTRE-STATE TENSIONS)

भारतीय राजनीति मे क्षेत्रीयतावाद की अभिव्यक्ति केन्द्र व राज्यो के बीच हुए विवादो मे भी हुई है। राज्यो ने कई बार केन्द्र के सुझावो और निर्देशो को मानने से इन्कार कर दिया और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का परिचय दिया है। 18 सितम्बर, 1968 को केन्द्रीय कर्मचारियो की हड़ताल का सामना करने के लिए केन्द्र ने राज्यो को निर्देश दिये। केरल की वामपन्थी सरकार के मुख्यमन्त्री नम्बूद्रीपाद ने केन्द्रीय अध्यादेश को श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इन्कार कर दिया। सन् 1968 मे पश्चिम बंगाल के दार्जिलिग और नक्सलवादी क्षेत्रो मे होने वाले उपद्रवो से चिन्तित होकर केन्द्रीय सरकार ने उपद्रव-ग्रस्त क्षेत्रो मे हथियार रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जिसे राज्य सरकार ने राज्य के मामलो मे केन्द्र के हस्तक्षेप की सज्ञा दी। केन्द्र द्वारा राज्यो मे केन्द्रीय रिजर्व पुलिस भेजने का राज्यो ने बराबर विरोध किया है। जनता पार्टी के शासन काल मे गौ-

---

[1] इण्डिया टुडे, 15 अक्टूबर, 1987, पृ. 26।
[2] नवभारत टाइम्स (जयपुर), 14 नवम्बर, 1987, पृ. 4।
[3] नवभारत टाइम्स (जयपुर), 7 नवम्बर, 1987।

हत्या प्रतिवन्ध के विपय पर केन्द्र तथा तमिलनाडु, केरल व पश्चिमी बंगाल की सरकारो के वीच विवाद उत्पन्न हुए। केन्द्र से अधिकतम वित्तीय स्रोतो को प्राप्त करने के लिए भी राज्यो ने केन्द्र के विरुद्ध सघर्प का रुख अपनाया। कई वार अन्तर्राज्यीय विवादो के समाधान मे राज्यो ने केन्द्र के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार राज्यो द्वारा केन्द्र की नीति का विरोध करना, केन्द्र के निर्देशो का पालन न करना क्षेत्रीयतावाद की नीति के द्योतक है।

5. क्षेत्रीयतावाद के सन्दर्भ में उत्तर-दक्षिण की भावनाएँ

(THE NORTH-SOUTH DIVIDE IN PERSPECTIVE OR REGIONALISM)

भारत मे उत्तर और दक्षिण के सन्दर्भ मे सोचने की प्रवृत्ति पायी जाती है। दक्षिण के लोग यह महसूस करते हैं कि उत्तरी भारत के लोगो ने सदैव हर मामले मे उनकी उपेक्षा की है। दक्षिण के चार राज्यों—तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, केरल और कर्नाटक जहाँ द्रविड भापा वोली जाती हैं—का विचार है कि राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक दृष्टि से उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत को वे लाभ नहीं मिले जो मिलने चाहिए थे। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल, योजना आयोग तथा केन्द्रीय सचिवालय मे दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के लोग ही छाये हुए हैं। दूसरी पचवर्पीय योजना मे 2,240 करोड रु. की राशि मे से दक्षिण भारत को मात्र 521 करोड़ रु. ही दिये गये। इस्पात के सभी वडे कारखाने—रूरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर उत्तरी भारत मे ही हैं। दक्षिण की अपेक्षा उत्तरी भारत मे उद्योगो का जाल विछा हुआ है। दक्षिण के राज्यो ने सरकार की भापा नीति का डटकर विरोध किया है। दक्षिण राज्य यह मानते हैं कि हिन्दी उत्तरी भारत की भापा है और उन पर हिन्दी जवर्दस्ती थोपने की एक चाल है। वे मानते हैं कि अन्य भारतीय भापाओ की भाँति हिन्दी भी एक भारतीय भापा है। अन्य द्रविड भापाओ, जैसे तमिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड से हिन्दी इतिहास एवं साहित्य की दृष्टि से अधिक समृद्ध नही है। दक्षिण के राज्य चाहते हैं कि प्रशासन की भापा के रूप मे हिन्दी के वजाय अंग्रेजी को चलाया जाना चाहिए। हिन्दी को वे उत्तरी भारत की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का परिचायक मानते हैं।

क्षेत्रीयता की इस मनोवृत्ति के कारण मार्च, 1977 के छठी लोकसभा के चुनावो मे उत्तर और दक्षिण के मताचरण मे भी काफी अन्तर पाया गया। जहाँ उत्तरी भारत मे काग्रेस के पैर पूरी तरह से उखड गये वहाँ दक्षिण भारत के राज्यो ने काग्रेस के पक्ष मे मतदान किया। जनता पार्टी को तमिलनाडु मे तीन, कर्नाटक मे दो, आन्ध्र प्रदेश मे एक और केरल मे एक भी स्थान नही मिला। इसके विपरीत, काग्रेस को मध्य प्रदेश और राजस्थान मे एक-एक स्थान मिला। उसे विहार, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पजाव, हिमाचल प्रदेश मे एक भी स्थान नही मिला। इसी प्रकार नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावो मे भी उत्तर और दक्षिण के मताचरण मे व्यापक अन्तर दिखलायी देता है। उत्तरी भारत के राज्यो मे जनता दल और भाजपा को शानदार सफलता मिली वहाँ दक्षिण के राज्यो मे काग्रेस (इ) को उल्लेखनीय विजय प्राप्त हुई।

6. क्षेत्रीयतावाद के सन्दर्भ में भाषावाद

(REGIONALISM IN THE PERSPECTIVE OF LANGUAGE)

स्वाधीनता के तुरन्त वाद मुख्य प्रश्न यह था कि देश की राष्ट्र भापा और उसकी लिपि क्या हो तथा भापायी अल्पसख्यको को किस प्रकार सरक्षण दिया जाये। संविधान ने हिन्दी को राष्ट्रभापा घोपित किया। भापा के आधार पर राज्यो का निर्माण एवं पुनर्गठन हुआ। दक्षिण के लोग हिन्दी भापा का विरोध करने लगे। वे राजभापा के रूप मे हिन्दी को पसन्द नहीं करते थे। उनका कहना था कि हिन्दी इस-स्थिति मे नही है कि वह भारत की राजभापा वन सके। भापा

को राजनीतिक हथियार के रूप मे प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बढी। भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिण के राज्यो मे हिंसात्मक आन्दोलन हुए और राष्ट्रीय एकता संकट मे पड़ गयी। मॉरिस जोन्स लिखते हैं कि "दक्षिण भारत ने हिन्दी का जोरदार विरोध किया, बंगाल ने उससे कम विरोध किया और देश के अन्य भागो के शिक्षित वर्ग के लोगो ने सीमित रूप मे ही इसका विरोध किया।"

असम मे भाषा की राजनीति असम आन्दोलन की प्रेरणा स्रोत रही है। जनगणना के आँकडो के अनुसार 1951 व 1971 के बीच राज्य में 61-62 प्रतिशत लोग ही असमिया भाषा बोलते थे। राज्य के हिन्दू जो लगभग 72 प्रतिशत हैं ऐसा सोचते है कि असमिया भाषा बोलने वाले 62 प्रतिशत लोगो मे 25 प्रतिशत लोग बगला देश के मुसलमान है। उनका यह मानना है कि इन मुसलमानो ने असमिया भाषा बोलना इसलिए शुरू किया ताकि उन्हे पहचाना न जा सके कि वे विदेशी है। असम के लोगो को भय है कि एक बार स्थिति सामान्य हुई और बगला देश से आये मुसलमान अपनी मूल भाषा बगाली का प्रयोग शुरू कर देगे और ऐसी स्थिति मे असमिया बोलने वालो का प्रतिशत 36-37 रह जायेगा।

दूसरी ओर बंगला भाषी लोग जो इस समय असम की जनसख्या के 20 प्रतिशत है, उनकी सख्या मे 25 प्रतिशत वृद्धि हो जायगी। इस प्रकार राज्यो मे बगला भाषाभाषियो का प्रतिशत 45 हो जायेगा जो असमिया भाषा बोलने वालो के प्रतिशत से आठ-नौ प्रतिशत ज्यादा होगा।

इससे "असली" असमवासी भयभीत हो जाते है। इन लोगो का कहना है कि बगाली अच्छे-अच्छे पदो पर है और असमिया भाषा को तिरस्कार की दृष्टि से देखते है।

7. क्षेत्रीयतावाद और भारतीय संघ से पृथक होने की प्रवृत्ति
(REGIONALISM AND SECESSION FROM INDIAN UNION)

(1) **द्रविड़ मुनेत्र कड़गम् की माँग**—क्षेत्रीयतावाद के आन्दोलन को प्रवल वनाने मे तमिलनाडु के द्रविड मुनेत्र कडगम् दल की प्रमुख भूमिका रही है। जून 1950 में द्रमुक ने मद्रास राज्य मे पृथकतावादी आन्दोलन सगठित किया और मद्रास राज्य को भारतीय संघ से विलग करने की इच्छा प्रकट की। जगह-जगह भारत के नक्शो को जलाया गया। द्रमुक ने यहाँ तक कहा कि मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, केरल और मैसूर राज्यो को भारतीय सघ से अलग करके एक पृथक् सम्प्रभु 'द्रविड स्थान' राज्य वनाया जाना चाहिए। मई 1962 मे राज्यसभा मे द्रमुक के नेता अन्नादुरै ने कहा कि दक्षिण के लोग उत्तर वालो से कई दृष्टि से भिन्न हैं और दक्षिण वालो की सदैव उपेक्षा की गयी है। इस प्रकार की विघटनकारी माँगो के फलस्वरूप अक्टूवर 1963 मे सविधान का 16वाँ सशोधन अधिनियम पारित किया गया। इसमे यह व्यवस्था की गयी कि भारत की अखण्डता के विरुद्ध कोई भी व्यक्ति कार्य नही कर सकेगा। इसके फलस्वरूप द्रमुक ने भारतीय सघ से अलग होने की माँग को छोड दिया और भारतीय सघ मे ही 'स्वायत्त राज्य' की माँग प्रस्तुत की। सन् 1970 मे द्रमुक के तत्त्वावधान मे 'राज्य स्वायत्तता सम्मेलन' आयोजित किया गया और राज्य स्वायत्तता की माँग की गयी। राज्य के तात्कालिक मुख्यमन्त्री करुणानिधि ने चुनौती दी कि यदि उनकी माँग स्वीकार नही की जाती है तो वे जन आन्दोलन का भी सहारा लेंगे। एक वार तो उन्होने पृथक् ध्वज की माँग की। क्षेत्रीय दल होने के कारण द्रमुक ने सदैव क्षेत्रीय भावना को भडकाया है। करुणानिधि ने तो यहाँ तक कह डाला कि राज्य की नौकरियो मे 80% स्थान स्थानीय लोगो को दिये जायेगे।

(2) **अकाली दल की माँग**—मास्टर तारासिंह के नेतृत्व मे पंजाव के सिक्ख सम्प्रदाय ने स्वाधीनता से पूर्व 'खालिस्तान' की माँग की थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त वाद मास्टर तारासिंह ने पृथक् 'सिक्ख राज्य' की माँग की। सन् 1950 से 1969 के बीच सिक्खों ने हिंसात्मक

आन्दोलनो के माध्यम से 'पंजाबी सूबे' की माँग की और 1 नवम्बर, 1966 को पंजाब का विभाजन हुआ। इससे भी सिक्ख समुदाय सन्तुष्ट नही हुआ और सिक्खो के लिए सिक्ख राज्य की माँग उठने लगी। अकाली दल के महासचिव डॉ. जगजीतसिंह ने सिक्ख जनमत को जागृत करने के लिए 'सिक्खिस्तान' की माँग हेतु विभिन्न देशो की यात्रा की। अकाली दल के कई नेता यह धमकी देने लगे कि भारतीय संघ के अन्तर्गत सिक्ख राज्य को स्वायत्तता प्रदान नही की गयी तो वे जन-आन्दोलन का सहारा लेंगे। आज भी अकाली दल राज्यो के लिए अधिक स्वायत्तता की माँग प्रस्तुत करता रहा है।

(3) **खालिस्तान की माँग** (Demand of Khalistan)—सिक्खो के लिए पृथक् राज्य 'खालिस्तान' की माँग नयी नही है। 'सिक्ख देश' की माँग भारत की आजादी के दिनो से पहले की है। खालसा पन्थ का कहना है कि सिक्खो को धोखाधडी से भारतीय गणतन्त्र मे शामिल होने के लिए मजबूर किया गया था। पन्थ यह भी कहता है कि भारत के हिन्दू बहुमत ने एकजुट होकर इस बात पर जोर देते हुए कि सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म का ही अंग है, सिक्ख धर्म को बर्बाद करने की कोशिश की और उनकी पंजाबी भाषा को एक बोली मात्र घोषित करके और पंजाब को द्विभाषी प्रदेश बनाकर उनकी भाषा को नीचा दिखाने की कोशिश की।

खालिस्तान की यह माँग आज (खासतौर से 1980-1988 की अवधि मे) एकाएक चिन्ता का विषय इसलिए बन उठी है कि पहले इसका समर्थन कुछ मुट्ठी भर उग्र तत्त्व करते थे, लेकिन अब प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसके समर्थन मे राजनीतिक दल तो आ ही गये, सिक्खो की वे संस्थाएँ भी अपने मच का उपयोग इस प्रकार की गतिविधियो के लिए करने लगी जो केवल गुरुद्वारो और शिक्षा सस्थाओ के प्रबन्ध से ताल्लुक रखती थी।

पिछले दिनो आनन्दपुर साहिब मे आयोजित शैक्षिक सम्मेलन के मंच से पृथक् सिक्ख राज्य की माँग की गयी। इसके बाद शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने जिसका गुरुद्वारा और उनकी विशाल सम्पत्ति पर नियन्त्रण है, इसी प्रकार का एक प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किया। इस पर अकाली दल के लोंगोवाल गुट का प्रभुत्व है। बाद मे पृथक् सिक्ख कौम के रूप मे संयुक्त राष्ट्र सघ की सह-सदस्यता प्राप्त करने के बारे मे अकाली दल के तलवण्डी गुट ने प्रस्ताव पास कर दिया। वे भारत संघ के अन्दर पृथक् सिक्ख राज्य चाहते हैं।

खालिस्तान आन्दोलन को विदेश मे रहने वाले सिक्खो की एक बडी संख्या का समर्थन प्राप्त है। यह आन्दोलन अमरीका मे बसे गगासिंह ढिल्लो और इग्लैण्ड मे बसे जगजीतसिंह द्वारा चलाया जा रहा है। उनका अपना ध्वज है, निर्वासित सरकार है, लन्दन मे मुख्य कार्यालय है। उत्तरी अमरीका के लगभग सभी बड़े शहरो मे गुप्त संगठन हैं और वे इस कोशिश मे लगे हुए हैं कि सयुक्त राष्ट्र मे उन्हे वही सहभागी दर्जा दिया जाये जो फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन को प्राप्त है। पृथक्तावादी आन्दोलन के सगठनो का दावा है कि कनाडा मे उनके सदस्यो की सख्या 10,000 है जो मासिक प्रतिव्यक्ति 10 डालर चन्दे के हिसाब से खालिस्तान गणतन्त्र के निर्माण के लिए प्रतिवर्ष लगभग 12 लाख डालर इकट्ठे करते है।

आनन्दपुर साहिब मे शैक्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए गंगासिंह ढिल्लो ने कहा कि खालिस्तान की माँग सिक्खो के हितो की रक्षा के लिए की जा रही है। आजादी के बाद भारत मे सिक्खो के साथ भेदभाव बरता गया है। इसलिए जरूरी है कि सिक्खो का एक पृथक् राज्य हो जहाँ उन्ही का बोलबाला हो।[1]

वस्तुतः यह तर्क काफी खोखला है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि भारत मे सिक्खो की

---

[1] दिनमान, 25-31 अक्टूबर, 1981, पृ. 47।

जनसंख्या केवल दो प्रतिशत है लेकिन सेनाओ मे ग्यारह प्रतिशत सिक्ख हैं। इसी प्रकार पुलिस व अन्य असैनिक सरकारी सेवाओ मे भी उन्हे जनसंख्या के अनुपात से अधिक स्थान प्राप्त है। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे सिक्ख हैं, राज्यपाल सिक्ख है, राष्ट्रपति (श्री जैलसिंह) सिक्ख रह चुके है तथा पजाब में जहाँ केवल आधी आवादी सिक्ख है, अव तक हमेशा सिक्ख मुख्यमन्त्री रहा है। इस प्रकार यह कहना कि भारत मे सिक्खों के हितो की उपेक्षा की जा रही हे, सरासर गलत है।

(4) **आसाम में मिजो माँग**—आसाम राज्य के मिजो पहाड़ी जिलो के नेता भारतीय संघ से पृथक् होने की लगातार माँग करते रहे है। वे एक 'स्वाधीन मिजो राज्य' की स्थापना करना चाहते थे। इस ध्येय की पूर्ति के लिए 'मिजो राष्ट्रीय फ्रण्ट' की स्थापना की गयी। मिजो लोगो ने सशस्त्र आन्दोलन का मार्ग अपनाया। 1962 के चीनी आक्रमण के समय फ्रण्ट पर प्रतिवन्ध लगा दिया गया किन्तु कछार और त्रिपुरा क्षेत्रो मे इनकी गतिविधियाँ चलती रही। सन् 1971 मे मिजो नेता मिजो राज्य की माँग के प्रश्न पर जनमत सग्रह कराने की माँग करने लगे। मिजो लोगो की राजनीतिक आकाक्षाओ को देखते हुए केन्द्रीय सरकार ने 'मिजोरम' नामक सघीय क्षेत्र की स्थापना की और सन् 1987 मे इसे पूर्ण 'राज्य' का दर्जा प्रदान किया।

(5) **आसाम में नागा आन्दोलन**—आसाम मे नागा जाति ने भी भारतीय सघ से अलग होने का आन्दोलन छेड़ा। फीजो के नेतृत्व मे नागा राष्ट्रीय परिषद की स्थापना की गयी और हिंसात्मक सघर्ष की सक्रिय गतिविधियाँ प्रारम्भ कर दी गयी। सन् 1952 मे नागा लोगो ने प्रथम आम चुनाव का वहिष्कार किया। फीजो ने यहाँ तक कहा कि वे नागा लोगों को सयुक्त राष्ट्र सघ में ले जायेंगे। 1960 मे नागाओ और केन्द्रीय सरकार के मध्य एक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप नागा राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

(6) **पृथक् तेलंगाना आन्दोलन**—1960 के दशक मे तेलगाना को पृथक् राज्य वनाने की माँग की गयी। तेलगाना के लोगो का कहना था कि उनके क्षेत्र का समुचित आर्थिक विकास नही हो रहा है। जनवरी 1969 से पृथक् राज्य के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसका नेतृत्व डॉ. चेन्ना रेड्डी एवं 'तेलंगाना प्रजा समिति' जैसे संगठन ने किया। हाल मे 1969 की तरह फिर एक वार पृथक् तेलगाना की माँग जोर पकडने लगी। पृथक् तेलगाना की माँग करने वालो को डॉ. चेन्ना रेड्डी का परदे के पीछे से समर्थन प्राप्त था। 8 जुलाई, 1985 को तेलंगाना के प्रवल समर्थक पूर्वपार्षद पद्मनाभन ने ध्वज फहराकर आन्दोलन की शुरूआत की।[1]

(7) **स्वतन्त्र गोरखालैण्ड की मांग**, 1986—प. वंगाल के पहाडी क्षेत्र के लोगो ने स्वतन्त्र गोरखालैण्ड की माँग प्रस्तुत की है। मई 1988 में दार्जिलिग एवं कालिमपोग में तीन दिन का सफल वन्द गोरखा मुक्ति मोर्चे ने आयोजित किया। नेपाल से आये गोरखा लोगो ने इस सगठन के माध्यम से यह माँग रखी कि उनका स्वतन्त्र देश गोरखालैण्ड वनाया जाये। सुभाष घीसिंग के नेतृत्व मे गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा पिछले दो वर्षों से प. वंगाल मे सक्रिय है।[2]

(8) **स्वतन्त्र कश्मीर का सपना**—हाल ही मे कश्मीर मे उग्रवादियो की गतिविधियो मे वृद्धि हुई है। अधिकांश कश्मीरी कल्पनालोक मे रहना चाहते है और उनमे यह धारणा वढती जा रही है कि उग्रवादियों के प्रयासो और इस्लामावाद की मदद से स्वतन्त्र कश्मीर की स्थापना सम्भव है। पाकिस्तान ने अपने हथकंडे वदल दिये हैं और उसने भारत के साथ विलय को निष्प्रभावी करने के लिए स्वतन्त्र कश्मीर की माँग का समर्थन करना आरम्भ कर दिया है।

---

1 राजस्थान पत्रिका, 25 ... ।

2 राजस्थान पत्रिका, 11 ...

8. क्षेत्रीयतावाद और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का अभ्युदय
(REGIONALISM AND REGIONAL POLITICAL PARTIES)

पिछले कुछ वर्षो से भारतीय राजनीति मे क्षेत्रीय दलो का निर्माण एवं प्रभाव बढ़ता ज रहा है। लगभग सभी क्षेत्रीय दलो का उदय और विकास क्षेत्रवाद के लिए उत्तरदायी अनेक कारण के मिश्रण से ही होता है। तमिलनाडु मे डी. एम. के. और अन्ना डी. एम. के., पंजाब मे अकाली दल, जम्मू-कश्मीर मे नेशनल कॉन्फ्रेंस, आन्ध्र प्रदेश मे तेलुगूदेशम् प्रधान क्षेत्रीय दल हैं। इस अतिरिक्त नागालैण्ड, त्रिपुरा और कर्नाटक मे भी क्षेत्रीय दलो का स्वर प्रवल होता जा रहा है।

अकाली दल और द्रमुक दोनो ही के कार्यक्रम से स्पप्ट होता है कि क्षेत्रीय दल राजनीति और आर्थिक क्षेत्र मे सत्ता के लिए अधिक आकृष्ट हैं न कि केवल आर्थिक और सास्कृतिक स्वरू को वनाये रखने मे।

पंजाब में क्षेत्रीय और साम्प्रदायिक आन्दोलन (1980-85) तथा आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव
(REGIONAL AND COMMUNAL MOVEMENT IN PUNJAB · THE CONTEXT OF ANANDPUR SAHIB RESOLUTION)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करने मे पंजाब की महत्वपू भूमिका रही है। भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओ को पार करके आने वाले आक्रमणकारि को सर्वप्रथम पजाव की धरती पर ही कडे प्रतिरोध का सामना करना पडा है। विदेशी अ का सामना करने की घड़ी हो अथवा आततायी शासको के विरुद्ध विद्रोह की आवश्यकता, व और संघर्ष के क्षेत्र मे पंजाव सदैव अग्रणी रहा है। इस वीरतापूर्ण सघर्ष के साथ देश-प्रेम की अ भावना भी पंजाव के इतिहास की विशेपता रही है। किन्तु कतिपय निहित स्वार्थी लोग ज के इस गौरवमय इतिहास को कलंकित करने मे लगे हुए हैं और अपने स्वार्थों की पूर्ति के पंजाव मे क्षेत्रीयता और सिक्ख साम्प्रदायिकता की भावनाएँ भड़काकर अलगाववादी प्रवृत्ति प्रोत्साहन देने लगे। पिछले दिनो अमृतसर मे शिरोमणि गुरुद्वारा प्रवन्धक कमेटी की एक वैठक तथा आनन्दपुर साहिव मे आयोजित विश्व सिक्ख सम्मेलन एव चण्डीगढ मे आयोजित सिक्ख शि सम्मेलन मे इस आशय के प्रस्ताव स्वीकार किये गये कि सिक्ख एक पृथक् राष्ट्र है और सिक्खो इस स्थिति को स्वीकार करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ मे उन्हे 'ऐसोसिएट' सदस्य के रूप मे मान्य दी जाये।

सर्वविदित है कि हिन्दू समाज मे आयी कुरीतियो, जडताओ और अन्धविश्वासो को तो के लिए एक सुधारवादी प्रयास के रूप में सिक्ख पन्थ का उदय हुआ था। 'सिक्ख' शब्द सस्कृत 'शिष्य' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है गुरु के अनुशासन मे रहने और उसका अनुकरण क वाला। गुरु नानक (सन् 1464) इस धर्म के सस्थापक थे और उन्होने अपने अनुयायियों सादा, सरल, धार्मिक आडम्बरो से मुक्त तथा पवित्र जीवन जीने का उपदेश दिया।

सिक्ख धर्म की गुरु परम्परा मे गुरु नानक थे। बाद मे नौ गुरु और हुए। गुरु गोविन्द अन्तिम दसवें गुरु थे। उन्होंने समय की आवश्यकता को देखते हुए सिक्खो को फौजी रूप दे दि औरंगजेब तथा अन्य धर्मान्ध मुगल वादशाहों के अत्याचारो का सामना करने के लिए यह समय की आवश्यकता थी। तभी से सिक्ख खालसा (पूर्ण शुद्ध) कहलाने लगे और केश व रखने के साथ-साथ अपने नाम के साथ 'सिंह' (शेर) भी लगाने लगे।

गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंह के वाद सिक्ख गुरुओं मे गुरु गोविन्दसिंह का नाम हासिक दृष्टि मे वहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होने सिक्ख धर्म का प्रचार-प्रसार करने तथा उन्हे देते रहने के लिए अकाल तख्त की स्थापना की। यह तख्त गुरु की गद्दी का प्रतीक बना इसी के माध्यम के प्रमादी सिक्ख नेता देश भर मे फैले गुरुद्वारो का प्रवन्ध तथा सिक्खो का ने

करने लगे। स्वतन्त्रता प्राप्ति तक अकाली नेताओं की सरगर्मियाँ पन्थ के रूप मे और सिक्ख शासको की राजनीति इर्द-गिर्द ही सीमित रही।

सिक्ख-भारत की राष्ट्रीय धारा से अलग हटकर रहे हो, इसका एक भी उदाहरण इतिहास मे नहीं मिलता। न ही सिक्खों ने कभी इस तरह सोचा हैं। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय जब मुस्लिम लीग के नेता अलग पाकिस्तान की माँग कर रहे थे, तभी कुछ अकाली नेताओ के दिमाग मे अलग सिखिस्तान का कीडा रेंगा। दवे स्वरों मे इस तरह की माँग भी उठायी गयी पर लोगो का समर्थन न मिलने के कारण वह दवी की दवी रह गयी।

भारत को एक राष्ट्र के रूप मे न रहने देने के लिए अग्रेजो ने मुस्लिम नेताओ के साथ-साथ अकाली नेताओ को भी विभाजन के लिए उकसाया था। अकाली दल का गठन ही इस उद्देश्य से किया गया था कि सिक्खो के लिए अलग राज्य की स्थापना की जा सके। इस योजना पर सन् 1947 मे ही अमल किया जाना था परन्तु पाकिस्तान वन जाने के वाद हुए खूनी दगो तथा शरणार्थियों की भीषण समस्या ज्वलन्त प्रश्न वनकर सामने आयी, जिसके आगे अलग राज्य की माँग उभर नही पायी। "1946-47 के दंगों मे हिन्दू-सिक्ख एकता इतनी मजवूत हो गयी थी कि दोनो के वीच कोई फर्क नही रह गया था। जव सरदार वलदेवसिंह को आजाद हिन्दुस्तान का पहला रक्षामन्त्री वनाया गया, तो यह प्रक्रिया और आगे वढी।"[1]

आजादी के वाद अकालियो ने राजनीति मे सीधे प्रवेश किया। इससे पूर्व अकाली दल सिर्फ धार्मिक विचारो वाला एक सगठन मात्र था। राजनीति से प्रत्यक्ष जुड़े होने के कारण सरदार स्वर्णसिंह, सरदार हुकमसिंह जैसे कई अकाली नेता काग्रेस मे शामिल हुए और अकाली दल से भी सम्वन्ध वनाये रहे।

हिन्दू-सिक्ख एकता मे आजादी के वाद पहला अवरोध भाषा सम्वन्धी विवाद से पैदा हुआ। यह विवाद था पंजाव वनाम हिन्दी का। आर्यसमाजियो और जनसंघियो ने जवरदस्त अभियान छेडा कि हर पजावी हिन्दू मर्दुमशुमारी मे अपनी भाषा हिन्दी लिखवाये। दरअसल, उन्ही दिनो अकाली नेता मास्टर तारासिह ने प्रस्ताव रखा था कि अगर पंजाव के हिन्दू मर्दुमशुमारी (जनगणना) मे पंजावी को अपनी मातृभाषा लिखवायेंगे तो वे सिक्खो को पंजावी के लिए गुरुमुखी के स्थान पर देवनागरी लिपि अपनाने को राजी कर लेंगे। लेकिन मास्टरजी के इस प्रस्ताव की आर्यसमाजियो तथा जनसघियो पर उल्टी प्रतिक्रिया हुई। इसके वाद जव सारे देश मे भाषायी आधार पर राज्यों की सीमाएँ तय की गयी, तो उसमे पजावी सूवे की माँग अस्वीकार कर दी गयी। इससे हिन्दू और सिक्खो के वीच दुराव और वढा। पंजाव के मामले मे केन्द्र की हठधर्मिता ने अन्तत हिन्दू-सिक्ख समस्या का रूप ले लिया और यह एक साम्प्रदायिक समस्या वन गयी। दुर्भाग्यवश स्व. नेहरू इस गलत कदम से उत्पन्न होने वाले नजीजो को पूरी तरह भाँप नहीं पाये। सिक्खो की नाराजगी को दूर करने के लिए उन्होने 1957 मे अकालियो के साथ काग्रेस की संयुक्त सरकार तो वनायी, लेकिन यह कोशिश भी उन्होंने पूरे जोर और मन से नही की। फलस्वरूप 'संयुक्त सरकार' का प्रयोग सफल नही रहा। सन् 1964 मे अलग पंजावी सूवे की माँग को लेकर अकाली दल ने सक्रिय राजनीति मे प्रवेश किया। उस समय सन्त फतेहसिंह तथा मास्टर तारासिंह आदि नेताओ ने सिक्खों को एक अलग कौम मानकर उनके लिए पजावी सूवा देने की माँग की थी। इस माँग को लेकर सन्त फतेहसिंह तथा मास्टर तारासिंह ने अनशन भी किया था। इसके वाद 1966 मे इन्दिरा गाँधी ने इस दिशा में पहल की और पंजावी सूवे की माँग को स्वीकार तो कर

---

[1] रविवार, 7-13 नवम्वर, 1983, पृ. 18।

लिया, लेकिन चण्डीगढ को पजाबी सूबे मे शामिल न करने के कारण कही-कही शंका की भावना रह ही गयी। सन् 1970 मे सन्त फतहसिंह के नेतृत्व में अकालियो ने चण्डीगढ को पजाब मे शामिल करने के लिए आन्दोलन छेडा था। 1967 मे पजाब अकाली दल को अच्छी सफलता मिली और बाद मे अकाली दल ने साझा सरकार भी बनायी। उन्ही दिनो 'सिक्ख होमलैण्ड' जैसे नारे भी लगाये जाने लगे। अकालियो को 1977 मे इमर्जेन्सी मे एकाएक बल मिला। वे जयप्रकाश जी के साथ हो गये। विपक्ष और जयप्रकाशजी के दिमाग मे इस वक्त केवल इन्दिरा गाँधी को हटाने की बात ही थी, इसलिए उन्होने अकालियो की पृथकतावादी और अन्य गलत प्रवृत्तियो को नजरअन्दाज कर दिया। आनन्दपुर प्रस्ताव 1973 मे पास हुआ था। 1978 मे इस प्रस्ताव को अकालियों के एक सम्मेलन मे, जिसमे जनता पार्टी के अध्यक्ष चन्द्रशेखर मच पर विराजमान थे, दोहराया गया। सत्ता मे आने पर अकालियो ने निरकारियो के प्रति असहिष्णुता दिखायी, तो भी केन्द्र की जनता पार्टी सरकार चुप रही, क्योकि वह अकालियो के साथ अपना समझौता गड़बड़ाना नही चाहती थी। अकालियो को कम्युनिस्टो से भी मदद और इज्जत मिली है। कम्युनिस्ट यह मानते है कि अल्पसख्यकों की साम्प्रदायिकता मे प्रगतिशील तत्त्व रहते हैं। राष्ट्रीयता (नेशनालिटीज) की विकृत और फूहड मार्क्सवादी व्याख्या कर उन्होने सिक्ख धर्म को सिक्ख राष्ट्रीयता का पर्याय बना डाला और सिक्खो के लिए एक अलग देश 'सिखिस्तान' की वकालत स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व ही कर डाली।

खालिस्तान की माँग—सन् 1980 के बाद से अकाली नेताओ और अग्रेजी पढे-लिखे कुर्सी-लोभी राजनेताओं के सम्मिलित प्रयासो से खालिस्तान आन्दोलन की आग लगायी गयी। शहरो और कस्बो मे 'सिखी खतरे मे है' के नारे लगाये गये तथा लोगो को समझाया गया कि सिक्ख हिन्दू नही हैं बल्कि एक अलग कौम है। उन्हे हिन्दू कहकर हिन्दुस्तानी आजादी के बाद से अब तक सिक्खो को ठगते आ रहे है। हमे अपना राज्य लेना चाहिए और इसके लिए लडना चाहिए।

आजादी के बाद से अब तक जब भी सिखिस्तान या पजाबी सूबे की माँग मे आन्दोलन हुए हैं, उनकी बागडोर प्राय. अकाली नेताओ के हाथ मे रही है, लेकिन अब खतरा इसलिए और भी बढ गया कि खालिस्तान की माँग करने वाले कुछ तत्त्व विदेशो से सहायता प्राप्त करने लगे। यो अकाली नेता गुटो मे बँटे हुए है परन्तु खालिस्तान की माँग को लेकर उसमे कोई खास मतभेद नही है। अकाली नेताओ ने अपनी माँगो मे स्पष्ट तो नही परन्तु परोक्ष रूप से खालिस्तान के रूप मे पृथक् राज्य ही चाहा। जैसा कि कहा गया है, पजाब को स्वायत्तता दी जाये। सिक्खो को विशिष्ट दर्जा दिया जाय। स्वायत्तता और विशिष्ट दर्जा देने की माँग परोक्ष मे पृथक् राज्य की माँग ही है। बात तब और स्पष्ट हो जाती है जब दल के प्रचारमन्त्री सुरजीतसिह जोशी ने यह घोषणा की कि सिक्खो का हिन्दुओ से कोई सम्बन्ध नही है। उल्लेखनीय है कि अकाली नेता वर्तमान शासन को हिन्दू साम्राज्य बताते रहे हैं और पजाब के शहरो व कस्बो मे जगह-जगह 'हिन्दू साम्राज्य-मुर्दाबाद' तथा 'खालिस्तान जिन्दाबाद' के नारे लिखे गये।

अकाली नेताओ के अतिरिक्त जो लोग खालिस्तान की माँग करते हैं उनमे 'सिख ब्रदरहुड' के नेता डॉ. जगजीतसिंह तथा उनके सहयोगी प्रमुख है। जगजीतसिंह पिछले कई वर्षो से पाकिस्तान, चीन और अन्य पश्चिमी देशो की सरकारो से सम्पर्क करता रहा है तथा उनसे मदद प्राप्त कर रहा है। 16 जून, 1980 को जगजीतसिंह ने भारत आकर अलग सिक्ख राज्य की घोषणा भी कर दी और स्वय को उसका राष्ट्रपति घोषित कर दिया। तथाकथित खालिस्तान का महामन्त्री सरदार बलबीरसिंह सन्धु को बनाया गया, जिसने अपना मुख्यालय दरबार साहिब अमृतसर मे स्थापित किया। 6 जून, 1980 को बलबीरसिंह सन्धु ने एक घोषणा-पत्र जारी किया

था, जिसमें कहा गया था कि हमने खालिस्तान प्राप्त करने के लिए भारत सरकार के विरुद्ध सघर्ष का विगुल वजा दिया है। पृथक् राज्य की स्थापना के लिए खालिस्तान के समर्थको ने आतकवादी और हिंसात्मक गतिविधियाँ भी आरम्भ कर दी। आतंक फैलाने और खालिस्तान का प्रचार करने तथा वहाँ रहने वाले गैर-सिक्खों पर हिंसक हमले करने की घटनाएँ इसी तरह की गतिविधियो की कड़ी है। इसके लिए वीर खालसा, सिक्ख छात्र संघ तथा खालसा मुक्तिवाहिनी जैसे संगठन भी बनाये गये।

आनन्दपुर साहिव प्रस्ताव (Anandpur Sahib Resolution)—आनन्दपुर साहिव सिक्खों का वहुत पवित्र स्थल है। यहीं पर 17 अक्टूवर, 1973 को अकाली दल की कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव पारित किया था, जिसे आगे चलकर "आनन्दपुर साहिव प्रस्ताव" कहा गया।[1] प्रस्ताव के अनुसार, अकाली दल निम्नलिखित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सक्रिय और प्रतिबद्ध रहेगा :

(1) सिक्ख जीवन पद्धति का प्रचार तथा नास्तिकता और गैर-सिक्ख विचारो को हटाना।

(2) सिक्ख पन्थ की एक पृथक् स्वतन्त्र सत्ता की भावना कायम रखना और एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना, जिसमे सिक्खो की "राष्ट्रीय अभिव्यक्ति" पूर्ण और सन्तोषजनक रूप से हो सके।

(3) गरीवी और अभाव को दूर करना तथा उत्पादन वढ़ाने का प्रयास करना, जिससे सम्पत्ति के वर्तमान अन्याययुक्त वितरण तथा शोषण के स्थान पर न्याययुक्त प्रणाली स्थापित हो सके।

(4) निरक्षरता, छुआछूत, सामाजिक विषमताओ और जाति-परक भेदभाव को, जो कि सिक्ख गुरुओ के महान् उपदेशो के विपरीत है, दूर करना।

(5) राष्ट्र को राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए तैयार करने के उद्देश्य से उचित शारीरिक विकास के लिए, अस्वास्थ्य और रोगो का उचित उन्मूलन करना और अफीम तथा अन्य मादक पदार्थों की निन्दा करना एवं उनका उपयोग वर्जित करना।

अकाली दल के कतिपय धार्मिक उद्देश्य है और वे इस प्रकार है :

(क) एक नया 'अखिल भारतीय गुरुद्वारा कानून' वनवाना, जिससे सिक्खो के धार्मिक स्थलो और समुदाय-केन्द्रो का आज की अपेक्षा अधिक उच्च और सोद्देश्य प्रबन्ध हो सके।

(ख) ससार भर के समस्त गुरुद्वारों को एक झण्डे और एक सगठन के नीचे लाना जिससे कि सिक्ख धार्मिक परिपाटियाँ और गतिविधियाँ सारे संसार मे एकरूप हों और धर्म प्रचार के लिए सव साधन एकजुट किये जायें, ताकि वे प्रभावकारी वन सकें।

(ग) निकट अतीत मे ननकाना साहिब तथ, जिन अन्य पवित्र सिक्ख धर्मस्थलो से सिक्ख काट से दिये गये हैं, उन पर नियन्त्रण तथा उन तक निर्वाध स्वनियन्त्रित आगमन का अधिकार प्राप्त करना।

अकाली दल का राजनीतिक लक्ष्य 'खालसा की प्रमुखता' की स्थापना है....एक राजनीतिक संविधान की उपलब्धि अकाली दल के आधारभूत सैद्धान्तिक पक्ष हैं। प्रस्ताव के अनुसार, अकाली दल इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सभी सम्भव उपायो का प्रयोग करेगा तथा सघर्ष करेगा, ताकि :

(1) सोच-समझकर और उद्देश्यपूर्वक पंजाव से वाहर रखे गये इलाको को तत्काल पंजाव में मिलाकर एक प्रशासकीय इकाई वनायी जाये, जिससे सिक्ख धर्म और सिक्खों के हितो की 'विशेष रूप से रक्षा की जा सके।'

ये इलाके हैं—डलहौजी (जि. गुरुदासपुर), प्[illegible] पिंजोर, कालका और अम्वाला, ऊना तहसील (जि होशियारपुर), नालागढ क्षेत्र, [illegible] [illegible] ब्लाक (जि. करनाल), सिरसा

---

1. राजस्थान पत्रिका (उदयपुर), 12 दि[illegible]।

तहसील, तोहाना तहसील, तोहाना उप-तहसील और हिसार जिले का रतिया ब्लाक, राजस्थ मे गगानगर जिले की छः तहसीले और अन्य समीपवर्ती पजाबी भाषी और सिक्ख क्षेत्र ।

(2) नये पंजाब मे केन्द्र सरकार का अधिकार देश की प्रतिरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, सचार रेलवे और मुद्रा तक ही सीमित रहे । शेष सभी विषय या महकमे 'नये पंजाब' के अधिकार-क्षेत्र में हो और उसे इन विषयो मे अपना निजी सविधान बनाने का अधिकार हो । 'नये पंजाब' को वित्त मे केन्द्र द्वारा उतना अशदान होना चाहिए, जितना लोकसभा मे उसकी सदस्य-संख्या के अनुपात से बनता है ।

(3) अन्य राज्यो में बसने वाले सिक्ख तथा अन्य सम्प्रदायो को भेदभाव से बचाने के लिए उचित संवैधानिक तथा राजनीतिक सरक्षण प्रदान किये जाये ।

(4) अकाली दल यह प्रयास करेगा कि भारत का सविधान सही अर्थो मे संघीय हो और इसकी व्यवस्था हो कि केन्द्र मे सभी राज्यो का अधिकार एव प्रतिनिधित्व समान हो ।

(5) राज्य और केन्द्रीय सरकार की सेवा मे रत सिक्खो तथा अन्य कर्मचारियो को न्याय दिलाना तथा उनकी ओर से प्रभावशाली आवाज उठाना और उनमे किसी के साथ अन्याय होने पर संघर्ष करना अकाली दल के कार्यक्रम का विशेष अंग होगा ।

(6) अकाली दल इस बात के लिए विशेष रूप से प्रयास करेगा कि सेना के तीनो अगों—स्थल, जल, वायु सेना—मे सिक्खो की जो परम्परागत स्थिति है, वह कायम रहे । दल यह भी प्रयास करेगा कि सुरक्षा प्रतिष्ठानो मे कृपाण सिक्खो की वर्दी का अंग हो ।

(7) दल की यह राय है कि सभी स्त्री-पुरुषो को, जिन्हे नैतिक गिरावट के अपराध मे किसी न्यायालय द्वारा दण्डित न किया गया हो; छोटे हथियार (रिवाल्वर, पिस्तौल) रखने का अधिकार है और इनके लिए किसी लाइसेंस की आवश्यकता नही है ।

(8) अकाली दल सार्वजनिक स्थानो पर शराब पीने और धूम्रपान करने पर प्रतिबन्ध की माँग करता है ।

ये माँगे आनन्दपुर साहिब मे दल की कार्य समिति द्वारा 13 अक्टूबर, 1973 को स्वीकार की गयी थी और कहा जाता है कि 1977 के लोकसभा के तथा उसके पश्चात् हुए पजाब विधान-सभा के चुनाव इन्ही माँगो के आधार पर लडे गये थे । पंजाब मे जब अकाली दल की सरकार बनी तो आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव को केन्द्र द्वारा कार्यान्वित कराने का कोई अभियान या आन्दोलन नही छेडा गया । 1980 के बाद चुनावो में पराजित होने के बाद अकाली दल 'आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव' को क्रियान्वित कराने के लिए आन्दोलन करने लगा, जिससे समूचा पंजाब अशान्त क्षेत्र बन गया । 'प्रस्ताव' मे उल्लिखित राजनीतिक माँगो का सम्बन्ध सिक्ख इतिहास तथा खालसा पन्थ के परिप्रेक्ष्य मे ऐसा सविधान बनाना तथा उसके अधीन ऐसे सभी क्षेत्रो को शामिल करना है जहाँ 'राज करेगा खालसा' की उक्ति पूरी हो सके ।

सिक्ख पुनरुत्थानवाद के कारण—सिक्ख पुनरुत्थानवाद की मौजूदा लहर (1980-85) के कारण क्या है ? किन चीजो से इसे तात्कालिक प्रेरणा मिलती है और मिल रही है ? प्रथम, सिक्ख समुदाय देश का सबसे ज्यादा उत्साही और उद्यमी समुदाय है । पजाब मे हरित क्रान्ति और विदेशो मे बसे पजाबियो द्वारा पैसे भेजते रहने के कारण बड़ी आर्थिक प्रगति हुई है । आर्थिक शक्तियो और सामाजिक रहन-सहन मे बदलाव के कारण अब अनेक सिक्ख युवक दाढी मुड़ाने लगे है, सिक्ख युवक-युवतियाँ गैर-सिक्खो के साथ विवाह कर रहे है । यह सब देखकर कट्टर सिक्ख नेताओ मे एक प्रकार की घबराहट पैदा हो गयी है कि सिक्खो की पहचान नष्ट होती जा रही है । सिक्खो मे पुनरुत्थानवाद की मौजूदा लहर एक प्रकार से सिक्खो को सामाजिक और सांस्कृतिक

आधुनिकीकरण से मुक्त रखने की एक बेतहाशा कोशिश है। द्वितीय, मौजूदा सिक्ख पुनरुत्थानवादी उफान का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण राजनीतिक है। पंजाब मे सम्पन्न किसान (कुलक) ज्यादातर सिक्ख हैं। अकालियो की सरकार रहने पर इनको राजनीतिक सत्ता का उपभोग करने का खासा मौका मिला था। 1980 के चुनावो मे इका की जीत के कारण इनकी राजनीतिक साख घट गयी। सम्पन्न किसानो की यह राजनीतिक निराशा 1981 के प्रारम्भ मे कम्युनिस्टो के साथ चलाये गये किसान आन्दोलन मे पहली बार प्रकट हुई। लेकिन इसके बाद आन्दोलन मे गैर-कुलक सिक्ख तत्त्व बीच मे कूद पड़े और उन्होने कुलको को आकर्षित करने के लिए आन्दोलन को सिक्खो के आन्दोलन के रूप मे पेश करने की जोरदार कोशिश की। यह ध्यान देने की बात है कि 1981 की विशाल किसान रैली के एक महीने के भीतर ही सिक्ख गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति ने वह विवादास्पद प्रस्ताव पास किया, जिसमें यह कहा था कि सिक्ख एक अलग राष्ट्र है। तृतीय, हाल के सिक्ख पुनरुत्थानवाद का एक बुनियादी कारण यह है कि सिक्ख धर्म दुनिया के धर्मों मे एक नया और युवा धर्म है और उसकी परम्पराएँ लड़ाकू हैं। सिक्खो के अन्तिम गुरु को हुए अभी तीन सौ वर्ष भी नही बीते है। अन्य धर्मों की तरह सिक्ख धर्म भी राजनीति और राजकाज के मामलो से जुडा रहा है। इस शताब्दी मे सिक्खो की लड़ाकू परम्परा और सिक्ख धर्म तथा सिक्ख राजनीति के बीच घालमेल (समन्वय) को गुरुद्वारा आन्दोलन से एक प्रकार की वैधता मिल गयी—यह घालमेल उचित लगने लगा। इसीलिए जब अकाली पंजाब को रावी-व्यास का अधिक पानी दिये जाने के लिए आन्दोलन करते हैं; तो उसे धार्मिक रूप प्रदान कर देते हैं और अपने आन्दोलन को 'धर्मयुद्ध' कहने लगते है। इसी तरह राज्यो के लिए अधिक स्वायत्तता की माँग के आन्दोलन मे भी अकालियो ने सिक्ख धर्म की सर्वोच्च सत्ता अकाल तख्त को जोड लिया और वे उससे निर्देश माँगते है।

अपने आन्दोलन मे अकालियो ने सिक्खो की धार्मिक कट्टरता को ज्यादा से ज्यादा भडकाया। सन्त जरनैलसिंह भिंडरावाले इस दौरान कट्टर सिक्खो के लिए खुमैनी के रूप मे उभरकर सामने आये। जगदेवसिंह तलवण्डी और गुरुचरणसिंह टोहरा उनके दाये और बाये हाथ बन गये। सन्त हरचन्दसिंह लोंगोवाल तो केवल नाम के वास्ते प्रधान बनकर रह गये। ये सन्त और जत्थेदार आयतुल्लाओ के सिक्ख सस्करण थे जो गुरुद्वारो से अपना सारा काम चलाने लगे। इनके उद्देश्य स्पष्ट हैं—सिक्ख धर्म को राज्य धर्म बनाना, अधिकाधिक स्वायत्तता प्राप्त करनी और इसके बाद तो आगे बातें स्वतः होती जायेंगी। इनका आन्दोलन सिक्ख पुनरुत्थानवादी (Sikh Revivalism) का आन्दोलन बन गया। ये अपने मत से अलग रखने वाले सिक्खो को अपना एक नम्बर शत्रु मानने लगे —निरकारी इनके शत्रु बन गये। अपने शत्रुओ को नेस्तनाबूद करने के लिए ये लोग किसी भी हद तक जाने को तैयार हो गये। ये लोग सिक्ख आतंकवादियो को प्रश्रय देने लगे और उन्हे गुरुद्वारो में शरण देने लगे। ये अन्य सभी नागरिको पर सिक्ख धर्म की पाबन्दियो को लागू करने की मन्शा रखने लगे।

आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव मे राज्य के लिए ज्यादा अधिकारो की माँग धार्मिक माँगो के साथ लपेट दी गयी। पंजाब की स्थिति गम्भीर बन गयी क्योंकि अकालियो ने अपने आन्दोलन को सिक्ख बनाम केन्द्र का रूप प्रदान कर दिया और सिक्ख जनता के मन मे दिल्ली के मुगल दरबार से सिक्ख गुरुओं के सघर्ष की याद को पुनरुज्जीवित करना चाहा।

आज पंजाब जल रहा है। सबसे पहले इस आग को बुझाना जरूरी है, लेकिन पंजाब की समस्या के स्थायी हल के लिए तो एक नयी शुरूआत करनी होगी—सिक्ख राजनीति और सिक्ख धर्म के बीच जो एक अटूट सम्बन्ध बन गया है, उसे तोडना होगा और सिक्ख जनता को रूढियो से

मुक्त करना होगा और उसमे आधुनिकीकरण की प्रवृत्तियो को प्रोत्साहित करना होगा। यह उ तरह का एक कठिन सैद्धान्तिक और राजनीतिक सघर्ष होगा, जो यूरोप मे चर्च को राज्य से अल करने के लिए हुआ था अर्थात धर्म को राजनीति मे हस्तक्षेप करने से रोकना होगा, ताकि दोनो वीच कोई घालमेल न हो।

अकाली अव तक इतना आगे वढ पाये तो इसका कारण यही था कि इहलौकिक अ आधुनिकीकरण की ताकतें हमारे देश मे मन्द रहीं—वे डटकर पुनरुत्थानवादी ताकतो का सामना नही करती। इन शक्तियो की कमजोरी के कारण ही अकालियो की शक्ति वढी।

अकालियों की धार्मिक माँगें स्वीकार—प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी द्वारा 27 रवरी 1983 को की गयी एक घोषणा के अन्तर्गत अकालियो की धार्मिक माँगो को स्वीकार कर लि गया। अधिकाश धार्मिक माँगो को स्वीकार करते हुए कई माह पुराने पजाब सकट के समाध की दिशा मे इसे भारत सरकार का एक महत्त्वपूर्ण कदम निरूपित किया जा सकता है। स्वी ...र की गयी माँगे है—(i) गुरुवाणी को आकाशवाणी के जालन्धर केन्द्र से रिले किया जायेगा। (ii) इण्डियन एअर लाइन्स के विमानो मे यात्रा करने वाले सिक्खो को नौ इच की कृपाण ले जाने की अनुमति होगी। इसमे छ इन्च का फाल होगा और तीन इन्च की मूठ होगी। (iii) अमृतसर मे स्वर्ण मन्दिर के निकट से मांस, शराव, सिगरेट आदि की दुकान हटा दी जायेंगी। (iv) सरक र अखिल भारतीय गुरुद्वारा कानून वनाने को भी सिद्धान्त रूप मे सहमत हो गयी। इस कानून की सीमा मे देश के सभी गुरुद्वारो को लाने की वात है। (v) चाँदनी चौक स्थित कोतवाली भवन दिल्ली गुरुद्वारा प्रवन्धक कमेटी को पूर्ण रूप से सौंप दिया जायगा।

किन्तु अकाली अपनी राजनीतिक माँगो (राज्य स्वायत्तता) पर जोर देने लगे। सन्त भिंडरांवाले के अनुसार 'अकाली मोर्चा आनन्दपुर साहिव के प्रस्ताव को मनवाने के लिए शुरू किया गया है' और 'हम तव तक लडाई जारी रखेगे, जव तक हमारी मागें नही मानी जाती।'

वहुत-से अकालियो की यह राय है कि पजाव को कश्मीर जैसा दर्जा प्रदान करके मौजूद समस्या को हल किया जा सकता है। उनका तर्क है कि कश्मीर मे मुसलमानो का वहुमत स्वीकार कर लिया गया है और उसे देश के अन्य किसी भी राज्य से ज्यादा स्वायत्तता दी गयी है। यही वात पजाव पर भी लागू की जा सकती है। लेकिन यह सुझाव जितना सहज दिख पडता है, उतना है नही। अव्वल तो शेख अब्दुल्ला ने अपने सगठन मुस्लिम कॉन्फ्रेंस का नाम वदलकर उसे 'राष्ट्रीय कॉन्फ्रेंस' का नाम दिया था और उसके दरवाजे गैर-मुसलमानो के लिए भी खोल दिये थे। दूसरे, शेख अब्दुल्ला ने कभी भी इस्लाम को राज्य का धर्म वनाने की माँग नही की थी और न ही उन्होंने इस्लामी नियम, कानून और पावन्दियो को गैर-मुसलमानो पर थोपने की कोशिश की थी। तीसरे, कश्मीर मे मुस्लिम वहुमत वहुत ज्यादा है। कश्मीर घाटी मे तो मुसलमानो की आवादी 93 प्रतिशत है, जवकि पजाव मे सिक्ख आवादी सिर्फ 53 प्रतिशत है। इसके अलावा, सिक्खो की आवादी इस तरह असमान रूप से विखरी हुई है कि 117 सदस्यो की पजाव विधानसभा मे सिर्फ 77 निर्वाचन क्षेत्रो में ही सिक्ख मतदाताओ का वहुमत है। चौथे, कश्मीर में स्वायत्तता विशेप परिस्थितियो मे प्रदान की गयी थी। अत: भारत की राजनीति और राज-व्यवस्था अव एक दूसरा 'कश्मीर' वनाने के लिए आसानी से तैयार नही हो सकती।

सन्त हरचन्दसिंह लोगोवाल उन चन्द लोगो मे से थे जो पजाव की गुत्थी सुलझाने मे मुख्य भूमिका अदा कर सकते। कई लोगो का मानना है कि अगर लोगोवाल व प्रकाशसिंह वादल और शिरोमणि गुरुद्वारा-प्रवन्धक कमेटी के अध्यक्ष गुरुचरणसिंह तोहडा जैसे उनके सहयोगी अपनी सामर्थ्य दिखाते, व्यक्तिगत और राजनीतिक खतरे झेल लेने की वहादुरी दिखाते और आतकवादी

विस्फोटो, साम्प्रदायिक हत्याओ व अलगाववादी माँगो के खिलाफ अपनी आवाजे बुलन्द करते, तो शायद आज पजाब की समस्या कही कम जटिल व कम उलझी होती ।

आगे चलकर लोंगोवाल ने साहस का परिचय देते हुए 15 जून, 1985 को आतकवाद की कडे शब्दो मे निन्दा की और राष्ट्रीय एकता तथा हिन्दू-सिक्ख सद्भाव को बनाये रखने पर बल दिया ।

पंजाब समस्या पर केन्द्र और अकाली दल में समझौता

24 जुलाई, 1985 को प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी व अकाली दल के अध्यक्ष सन्त हरचन्दसिंह लोगोवाल के मध्य पंजाब समस्या के स्थायी समाधान के लिए एक ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर हुए । समझौते का विवरण (ग्यारह-सूत्री समझौता) इस प्रकार है :

1. **मारे गये निरपराध व्यक्तियों के लिए मुआवजा**—1 सितम्बर 1982 के बाद हुई किसी कार्यवाही या आन्दोलन मे मारे गये लोगो को अनुग्रह राशि के भुगतान के साथ सम्पत्ति की क्षति के लिए मुआवजा दिया जायेगा ।

2. **सेना में भर्ती**—देश के सभी नागरिको को सेना मे भर्ती का अधिकार होगा और चयन के लिए केवल योग्यता ही आधार रहेगा ।

3. **नवम्बर के दंगो की जाँच**—दिल्ली मे नवम्बर, 84 में हुए दगो की जाँच कर रहे रगनाथ मिश्र आयोग के कार्यक्षेत्र को बढाकर उसमे बोकारो और कानपुर मे हुए उपद्रवो की जाँच को भी शामिल किया जायेगा ।

4. **सेना से निकाले गये व्यक्तियों का पुनर्वास**—सेना से निकाले गये व्यक्तियो का पुनर्वास और उन्हे लाभकारी रोजगार दिलाने के प्रयास किये जायेगे ।

5. **अखिल भारतीय गुरुद्वारा कानून**—भारत सरकार अखिल भारतीय गुरुद्वारा कानून बनाने पर सहमत । इसके लिए शिरोमणि अकाली दल और अन्य सम्बन्धियो के साथ सलाह-मशविरा और संवैधानिक जरूरत पूरी करने के बाद विधेयक लाया जायेगा ।

6. **लम्बित मुकदमों का फैसला**—सशस्त्र सेना विशेषाधिकार कानून को पजाब मे लागू करने वाली अधिसूचना वापिस ली जायेगी । वर्तमान विशेष न्यायालय केवल विमान अपहरण तथा शासन के खिलाफ युद्ध के मामले सुनेगी । शेष मामले सामान्य न्यायालय को सौप दिये जायेगे और यदि आवश्यक हुआ तो इस बारे मे कानून बनाया जायेगा ।

7. **सीमा विवाद**—चण्डीगढ की राजधानी परियोजना क्षेत्र और सुखना ताल पजाब को दिये जायेगे । केन्द्रशासित क्षेत्र के अन्य 'पजाबी भाषी क्षेत्र पजाब को तथा हिन्दी भाषी क्षेत्र हरियाणा को दिये जायेगे ।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी की धारणा थी कि यदि चण्डीगढ पजाब को दिया जाता है तो पंजाब के हिन्दी क्षेत्र भी हरियाणा को मिलने चाहिए । हिन्दी भाषी क्षेत्रो का पता लगाने का काम एक आयोग करेगा ।

ऐसे किसी निश्चय के लिए गाँव को एक इकाई माना जायेगा । आयोग 31 दिसम्बर, 1985 तक अपनी रिपोर्ट दे देगा जो दोनो पक्षो को मानना अनिवार्य होगा । आयोग का काम किसी पहलू तक सीमित होगा तथा सीमा सम्बन्धी दावों से अलग होगा जिस पर अन्य आयोग विचार करेगा ।

पजाब को चण्डीगढ और उसके बदले हरियाणा को दिये जाने वाले क्षेत्रो का हस्तान्तरण एक साथ 26 जनवरी, 1986 को होगा ।

पंजाब-हरियाणा—हरियाणा की वर्तमान सीमा के बारे मे भी कुछ दावे-प्रतिदावे है । सरकार इसके लिए एक अलग आयोग बनायेगी जिसका फैसला मानना सम्बन्धित पक्षो के लिए अनिवार्य होगा । आयोग भाषायी आधार पर गाँव को एक इकाई मानेगा ।

8. केन्द्र-राज्य सम्बन्ध—शिरोमणि अकाली दल का कहना है कि आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव पूरी तरह संविधान के ढाँचे के अन्तर्गत है तथा यह केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को इस तरह परिभाषित करने का प्रयास है कि हमारे संविधान के वास्तविक संघीय ढाँचे को उभारेगा तथा प्रस्ताव का उद्देश्य देश की एकता और अखण्डता को मजबूत करने के लिए राज्यों को और अधिक स्वायत्तता प्रदान करना है क्योंकि हमारी राष्ट्रीय एकता का मूल आधार अनेकता में एकता है।

केन्द्र-राज्यों सम्बन्धों से सम्बन्धित आनन्दपुर प्रस्ताव का भाग सरकारिया आयोग को सौंप दिया जायेगा।

9. नदी जल का बँटवारा—पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान के किसानों को रावी-व्यास से पहले की तरह सिंचाई तथा अन्य उपयोग के लिए पानी मिलता रहेगा। इस पानी की मात्रा वही होगी जो 1 जुलाई, 1985 को थी। बाकी पानी के सम्बन्ध में दोनों राज्यों के दावे एक न्यायाधिकरण को सौंपे जायेंगे। इस न्यायाधिकरण की अध्यक्षता सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश करेंगे। यह न्यायाधिकरण छह महीने में सभी रिपोर्ट दे देगा और उसका निर्णय दोनों पक्षों के लिए बाध्य होगा। इस सम्बन्ध में सभी कानूनी तथा संवैधानिक कदम शीघ्र उठाये जायेंगे।

सतलज तथा यमुना को जोड़ने वाली नहर का निर्माण कार्य जारी रहेगा और इसे 15 अगस्त, 1986 तक पूरा कर लिया जायेगा।

10 अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व—अल्पसंख्यकों के हितों के रक्षा सम्बन्धी विद्यमान निर्देश एक बार फिर सभी मुख्यमन्त्रियों को भेजे जायेंगे। प्रधानमन्त्री स्वयं सभी मुख्यमन्त्रियों को पत्र लिखेंगे।

11 केन्द्र सरकार पंजाबी भाषा को प्रोत्साहन देने के लिए कुछ कदम उठा सकती है।

इस समझौते में टकराव का अध्याय समाप्त होकर सद्भाव और सहयोग का नया अध्याय शुरू होगा जिसमें देश की एकता और अखण्डता और मजबूत होगी।

अन्त में समझौते पर प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी और शिरोमणि अकाली दल अध्यक्ष हरचन्दसिंह लोंगोवाल के हस्ताक्षर हैं।

अकाली दल द्वारा समझौते की पुष्टि—26 जुलाई, 1985 को आनन्दपुर (पंजाब) में अकाली दल ने एक बैठक में लोंगोवाल-राजीव के बीच 11-सूत्रीय ऐतिहासिक समझौते की पुष्टि कर दी। इस पुष्टि के साथ ही अकाली दल ने विभिन्न राजनीतिक व धार्मिक माँगों की पूर्ति के लिए साढ़े तीन वर्ष पूर्व शुरू किये गये 'धर्म युद्ध मोर्चे' को भी वापस लिये जाने की घोषणा की।

संयुक्त अकाली दल के अध्यक्ष बाबा जोगिन्दर सिंह व अखिल भारतीय सिक्ख छात्र फेडरेशन ने केन्द्र सरकार व सन्त लोंगोवाल के बीच हुए उपर्युक्त समझौते को अस्वीकार कर दिया। इन विरोधी गुटों ने श्री लोंगोवाल पर आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव की उपेक्षा करने का आरोप लगाते हुए कहा कि इस समझौते में प्रत्येक दृष्टि से सिक्खों तथा पंजाब के हितों को बेच दिया गया है। इसी बीच श्री हरचन्दसिंह लोंगोवाल की आतंकवादियों ने हत्या कर दी।

हरियाणा के विपक्षी दलों ने चण्डीगढ़ के प्रश्न पर उपर्युक्त समझौते का विरोध किया जबकि राजस्थान के मुख्यमन्त्री सहित सम्पूर्ण विधानसभा ने पानी के बँटवारे के प्रश्न को लेकर समझौते का कड़ा विरोध किया। प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ने हरियाणा व राजस्थान को इस बात के लिए आश्वस्त किया कि इस समझौते के लिए किसी भी सम्बद्ध राज्य के हितों की अनदेखी नहीं होने दी जायेगी। हरियाणा की नयी राजधानी के निर्माण के लिए केन्द्र सरकार ने सम्पूर्ण आर्थिक सहायता देने के लिए अपनी सहमति व्यक्त की है।

उपर्युक्त थोडे से विरोध को छोडकर उक्त समझौते का सामान्य जनता एवं राजनीतिज्ञो के एक वडे वर्ग द्वारा स्वागत किया गया। ससद के दोनो सदनो व राज्यो की विधानसभाओ ने इसे एक ऐतिहासिक समझौता निरूपित किया है।

पंजाब में चुनाव एवं अकाली दल की सरकार का गठन—25 सितम्वर, 1985 को पजाब मे विधानसभा की 115 तथा लोकसभा की 13 सीटो के लिए निर्वाचन हुए। चुनाव मे आतंकवादियो के गडवडी फैलाने की आशका तथा सयुक्त अकाली दल की वहिष्कार की अपील से अप्रभावित पजाब के एक करोड से अधिक मतदाताओ मे से करीव 62 प्रतिशत ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया। चुनाव की विशेपता यह रही कि तनावपूर्ण वातावरण के वावजूद कही भी आतककारी हिंसा, मतदान केन्द्रो पर कब्जे या पुनर्मतदान का एक भी मामला नही हुआ।

अकाली दल (लोगोवाल) ने 117-सदस्यीय विधानसभा मे 73 स्थान प्राप्त कर अपने परम्परागत प्रतिद्वन्द्वी काग्रेस (इ) से पजाव की सत्ता छीन ली। काग्रेस (इ) इस बार केवल 32 स्थान लेकर दूसरे स्थान पर रही। श्री सुरजीतसिंह वरनाला पजाव के नये मुख्यमन्त्री वनाये गये।

पजाव के चुनावो को लोकतन्त्र की विजय तथा आतंकवाद की पराजय वताया गया। किन्तु वरनाला सरकार आतकवाद का सामना नही कर सकी और अप्रैल 87 मे आतकवादियो द्वारा 79 लोगो की हत्या के वाद वरनाला सरकार को वर्खास्त कर दिया गया और पजाव मे राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। किन्तु आज भी पंजाव मे राष्ट्रपति शासन वेअसर नजर आ रहा है। प्रधानमन्त्री वी पी सिंह की पजाव यात्रा (दिसम्वर 89) से सद्भाव का माहौल वना है जो पहले के प्रयासो के मुकावले एक वडी उपलव्धि है। पर अभी कुछ कहना मुश्किल है। पजाव की राजनैतिक सचाईयाँ दीर्घकालिक प्रयासो का तकाजा करती है।[1]

असम आन्दोलन (1979-1985)
(ASSAM MOVEMENT)

असम समस्या का उद्भव

असम समस्या पजाव समस्या की तरह आठ-दस साल पुरानी नही है। उसकी शुरूआत भारत विभाजन ही नही उससे भी वहुत पहले से हुई थी। वहाँ चाय वागान मे काम करने के लिए अग्रेज वगाल, विहार, उत्तर-प्रदेश, राजस्थान आदि प्रान्तो से मजदूर और वावू लोग ले गये। असम की जातीय और सास्कृतिक पहचान के लिए चिन्तित लोग पिछली शताब्दी से संकट मँडराता हुए देखते है। उनका कहना था कि वाहरी प्रदेशो से आये लोगो के कारण असमिया लोगो की परम्परागत पहचान और सस्कृति के लिए खतरा उत्पन्न हुआ है। लेकिन पिछले छ: वर्षो से असम मे जो चिन्ता, अशान्ति और वेचैनी उत्पन्न करती रही है, वह इतनी पुरानी नही है।

तालिका 1

अखिल भारतीय सन्दर्भ में असम में जनसंख्या वृद्धि का प्रतिशत

दशाब्दी	भारत मे जनसंख्या वृद्धि का प्रतिशत	असम में जनसंख्या वृद्धि का प्रतिशत
1901-11	5·7	16·8
1911-21	0 3	20·2
1921-31	11·0	20 1
1931-41	14·2	20 5
1941-51	13·3	20 1
1951-61	21·6	35 0
1961-71	24·6	34 7
1971-81	24·75	36·30

[Source · Myron Weiner · *Sons of the Soil*, Oxford University Press, Delhi, 1978, p 93.]

1 इण्डिया टुडे, 31 दिसम्वर 1989, पृ. 46-49।

सन् 1947 मे भारत विभाजन के साथ स्वतन्त्रता मिलने पर बड़ी सख्या मे लोग इधर से उधर गये। पश्चिमी पाकिस्तान से आये शरणार्थी पूरे भारत मे जहाँ-तहाँ जाकर बस गये। लोगो ने उनका स्वागत-सत्कार किया और वे भी स्थानीय लोगो मे घुल-मिल गये। पूर्वी पाकिस्तान से भी लाखो की सख्या मे लोग भारत मे आये किन्तु वे बहुत बडे हिस्से मे फैलने के स्थान पर बंगाल और असम तक ही सीमित रह गये। इसके अलावा पूर्वी पाकिस्तान से शरणार्थियो का आना-जाना बाद मे भी जारी रहा, जबकि पश्चिमी पाकिस्तान से विस्थापितो की आवाजाही 1948 के बाद बन्द हो गयी थी।

सन् 1950 मे जब बगाल मे जगह-जगह साम्प्रदायिक दगे हुए तो पूर्वी पाकिस्तान से लाखो हिन्दू भारत आये। सन् 1964 मे पूर्वी पाकिस्तान में कई स्थानो पर साम्प्रदायिक दंगे हुए तब भी लोग भागकर भारत आये। सन् 1965 मे भारत-पाक युद्ध के समय भी यही क्रम चला। इसके बाद सन् 1971 मे बगला देश का उदय होने पर तो हद ही हो गयी, उस समय 90 लाख शरणार्थी भारत आये।

बगला देश बनते समय जो लोग भारत आये, उनमे से अधिकाश तो वापस भेज दिये गये थे, किन्तु जो यही रह गये, उनकी सख्या भी कम नही थी। पूर्वी पाकिस्तान से भारत आने और बसने वाले अधिकाश लोगो का गन्तव्य असम ही रहा, क्योकि उनके स्वजन-सम्बन्धी और मित्र परिचित भी वही बसे हुए थे। इन लोगो का उपयोग वोट बैंक के रूप मे किया जा सके, इस उद्देश्य से कई काग्रेसी नेता उन्हे भारत की नागरिकता दिलाने मे भी रुचि लेने लगे थे। सैलाब के रूप मे आये शरणार्थियो से ज्यादा संख्या उन लोगो की थी जो इक्के-दुक्के या 10-15 के समूह के रूप मे भारत आये थे। ये लोग भी असम मे ही बस गये और वहाँ के नागरिक बन गये। इस तरह असम मे घुस आये बंगलादेशियो की सख्या निरन्तर चिन्ताजनक रूप से बढी।

सन् 1971 मे वहाँ जनगणना नही हो सकी, पर यह स्पष्ट हो गया था कि असम की जनसंख्या मे एक-तिहाई लोग बगला देश से आये घुसपैठिये थे। स्वाभाविक ही इन लोगो ने असम के सामाजिक और राजनीतिक जीवन को अपनी पकड मे ले लिया। विदेशियो की निरन्तर घुसपैठ से स्थानीय सस्कृति, भारत और सामाजिक-आर्थिक जीवन के लिए खतरा पैदा हो गया। असम आन्दोलन असमी समाज पर इसी पकड के विरुद्ध शुरू हुआ था।

असम आन्दोलन की कहानी मगलदेही से शुरू होती है, जब चुनाव आयोग ने अप्रैल 1979 मे इस ससदीय क्षेत्र मे मतदाताओ की सूची तैयार करने का काम शुरू किया। दो महीने मे चुनाव अधिकारी को कथित विदेशियो के बारे मे 70 हजार शिकायते मिली जिसमे से 45 हजार से अधिक मामले सही थे। असमी लोगो के मन मे यही शकाएँ उत्पन्न हुई और अखिल असम छात्रसघ ने इस दिशा मे पहल की। बाद मे जातीयतावादी दल, पूर्वांचलीय लोक परिषद जैसे क्षेत्रीय दल व असम साहित्य सभा भी शामिल हो गये। इन सगठनो ने 13 अन्य ससदीय क्षेत्रो मे भी मतदाता सूची के अध्ययन की माँग की।

27 अगस्त, 1979 को आसू, असम साहित्य सभा, पूर्वांचलीय लोक परिषद, जातीयतावादी दल, असम जातीयतावादी युवा छात्र परिषद, असम युवा समाज और यंग लॉयर्स फोरम को मिलाकर 'असम गण सग्राम परिषद' का गठन किया गया। आन्दोलनकारियो की मुख्य माँग थी कि 'विदेशियो' का नाम मतदाता सूची से निकाला जाये और उन्हे वापस भेजा जाये।

असम मे बाहरी लोगो के आने की समस्या बहुत पुरानी है। जनगणना के अनुसार 1931 मे वहाँ की मुस्लिम जनसख्या 12,79,388 थी जो 1951 मे 19,95,938 हो गयी। सरकारी आँकडो के अनुसार 1951-61 के बीच 2,20,690 पाकिस्तानी घुसपैठियो का पता लगाकर वापस भेजा गया। 1960-71 के बीच उनकी सख्या 1,92,339 थी। 1971 मे बगला देश मुक्ति संघर्ष

के दौरान 11 लाख लोगो ने असम मे शरण ली थी लेकिन एक लाख लोग असम मे ही रह गये। 1979 मे मतदाताओ की सूची के सशोधन के दौरान विदेशियो के वारे मे 3 लाख 45 हजार शिकायतें मिली लेकिन इनकी वास्तविक सख्या वहुत अधिक वतायी गयी है।

असम आन्दोलनकारियों की माँग—आन्दोलनकारियो की माँग थी कि सन् 1951 के बाद जो भी व्यक्ति असम मे आकर वसा है, उसे नागरिक न माना जाये, उसे विदेशी समझा जाये, उसका पता लगाया जाये और ऐसे सभी व्यक्तियो के नाम मतदाता सूची से काटे जाये। उन लोगो को असम से वाहर निकालने की माँग भी असम आन्दोलन के छात्र नेता कर रहे थे। सरकार 1971 के वाद भारत आये लोगो को ही विदेशी मानने पर जोर दे रही थी। असम आन्दोलन के नेता और सरकार दोनो ही अपनी-अपनी रेखाओ को लाँघने के लिए तैयार नही हो रहे थे। सन् 1979 के वाद विदेशियो को वाहर निकालने की माँग लेकर छिड़ा आन्दोलन दिनो-दिन तीव्र होता गया।

यद्यपि यह आन्दोलन शान्तिपूर्ण रहा लेकिन इसने असम के सामाजिक और राजनीतिक जीवन को जाम-सा कर दिया। वहाँ कई वॉर पूरा असम वन्द रहा। सन् 1980 मे आन्दोलन की ताकत का पहली वार उस समय पता चला अव आन्दोलनकारियो ने चुनाव नही होने दिये।

आन्दोलनकारियो की माँग थी कि चुनाव से पहले मतदाता सूची मे सुधार होना चाहिए और उसमे से विदेशियो के नाम काटे जाने चाहिए। जव तक मतदाता सूची का संशोधन न हो तब तक चुनाव न कराये जाये। असम आन्दोलन का प्रभाव इतना जवरदस्त था कि चुनाव की घोपणा हो जाने के वाद असम की सभी लोकसभा सीटो पर चुनाव स्थगित करना पड़ा। सन् 1979 से 1983 तक असम का गाँव-गाँव आन्दोलित रहा। वहाँ के लोगो ने आन्दोलन मे खुलकर हिस्सा लिया और असम मे पैदा होने वाली कोई भी चीज वाहर नही जाने दी, यहाँ तक कि अनेक वार यातायात भी ठप्प रहा।

इसके वावजूद आन्दोलन की यह विशेपता रही कि उस दौर मे असम मे कोई तनाव, विस्फोट नही हुआ। फरवरी 1983 मे नेल्ली का नरसहार पूरे आन्दोलन मे हिंसा के विस्फोट का एक अपवाद रहा। चुनाव कराये जाये और चुनाव नहीं होने देंगे के द्वन्द्व मे दो हजार लोगो को दूसरे वर्ग के लोगो ने वर्वर ढंग से मार डाला।

असम में फरवरी 1983 के चुनाव—फरवरी 1983 के असम विधानसभा चुनावो में सभी गैर कम्युनिस्ट दलो ने चुनाव का वहिष्कार किया था। सिर्फ काग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टियो ने चुनाव में हिस्सा लिया और इस चुनाव मे काग्रेस ही जीती। वहाँ हितेश्वर साइकिया के मुख्य-मन्त्रित्व मे कांग्रेस की सरकार वनी। चुनाव मे हुई हिंसा ने असम आन्दोलन के उत्साह को ठेस पहुँचायी, उसका प्रवाह धीमा पड़ गया। फिर भी प्रश्न तो उलझा ही रहा।

असम समस्या पर समझौता—15 अगस्त, 1985 को असम आन्दोलन के नेताओ और भारत सरकार के वीच हुए समझौते से समस्या के समाधान की दिशा मे आशा की किरणे फूटी।

समझौते मे सरकार ने 1966 को आधारवर्ष माना है। समझौते की शर्तो के तहद् असम मे जनवरी 1966 और मार्च 1971 के वीच आने वाले विदेशियो का पता लगाने पर उन्हे परेशान नहीं किया जायगा, न ही उन्हे राज्य से वाहर जाने को कहा जायेगा। उपरोक्त अवधि के वीच असम में आकर वसे विदेशियों को 10 वर्ष तक मताधिकार से वंचित रहना पड़ेगा। 1971 के वाद आये विदेशियों का पता लगाकर उन्हे वापस भेजा जायगा।

असम के सर्वतोमुखी आर्थिक विकास का आश्वासन भी समझौते मे दिया गया है। असम मे तीसरा तेलशोधक कारखाना वनाया जायगा, जो गैर-सरकारी क्षेत्र मे होगा। असमी लोगो की

सांस्कृतिक, सामाजिक और भाषायी पहचान तथा विरासत की रक्षा के लिए आवश्यक संवैधानिक कानूनी और प्रशासनिक रक्षा-उपाय किये जायेंगे।

केन्द्र सरकार इस बात के लिए रजामन्द हो गयी कि 1983 में निर्वाचित असम विधान-सभा अपना कार्यकाल पूरा करने के बहुत पहले ही विसर्जित कर दी जाये।

समझौते के बाद असम विधानसभा भंग कर दी गयी और हितेश्वर साइकिया को काम-चलाऊ सरकार का नेतृत्व सौंपा गया। अखिल असम छात्र संघ और असम गण संग्राम परिषद ने आन्दोलन वापस ले लिया।

असम समझौते में ज्यादा महत्त्वपूर्ण कार्य उसे लागू करना है। समझौते से प्रभावित 8 से 10 लाख व्यक्तियों की नागरिकता का निर्णय, समस्या का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप—बांगला देश का सीधा सम्बन्ध तथा नागरिकता सम्बन्धी विवादास्पद और परस्पर विरोधी संवैधानिक एवं कानूनी प्रावधान उलझन पैदा करते हैं।

1971 के बाद आये बंगलादेशियों को पहचानने और अलग करने की समस्या कुछ जटिल है। समझौते के सूत्र 5-8 के अनुसार 25 मार्च, 1971 के बाद असम में आये लोगों को निष्कासित किया जायेगा। इन लोगों को निष्कासित कर कहाँ भेजा जायेगा, इस विषय में थोड़ा संशय है। यदि इन्हें वापस बंगला देश भेजने का उपक्रम किया गया और बंगला देश सरकार उन लोगों को वापस लेने के लिए तैयार नहीं हुई तो क्या होगा ? उस स्थिति में समस्या का निवारण कैसे होगा ?

समझौते से प्रस्तुत किये गये हल का प्रभाव पश्चिम बंगाल पर पड़ सकता है, क्योंकि इससे असम में बसे बंगला देशी बंगला की ओर ही जायेंगे। पश्चिम बंगाल सरकार ऐसे बंगलादेशियों की सम्भावित बाढ़ से चिन्तित है।

भूमि-पुत्र की धारणा
(THE SONS OF THE SOIL DOCTRINE)

क्षेत्रीयतावाद की एक अन्य प्रवृत्ति 'भूमि-पुत्र की धारणा' (*Sons of the soil*) के रूप में देखी गयी है। 'भूमि-पुत्र' की धारणा का आशय यह है कि किसी राज्य (प्रदेश) अथवा क्षेत्र के निवासियों द्वारा उस राज्य में बसने और रोजगार प्राप्त करने आदि के सम्बन्ध में विशेष संरक्षण की माँग की जाय। इस माँग के साथ यह बात जुड़ी हुई है कि जब तक उस राज्य या क्षेत्र के सभी मूल निवासियों को रोजगार प्राप्त न हो जाय, तब तक राज्य या क्षेत्र में बाहरी व्यक्तियों को रोजगार की सुविधा नहीं दी जानी चाहिए। 'भूमि-पुत्र' की धारणा का उदय तो इस सदी के छठे दशक में ही हो गया था और शिव सेना जैसे संगठन के द्वारा इसे महाराष्ट्र में अपनाया गया था, लेकिन अभी हाल ही के वर्षों में इस प्रवृत्ति को बहुत अधिक प्रबल होते हुए देखा गया।

1979 के मध्य से असम राज्य में विदेशियों के विरुद्ध जो व्यापक आन्दोलन किया जा रहा है, उसे कुछ सीमा तक भूमि-पुत्र की धारणा पर आधारित किया जा सकता है। अन्य राज्यों में भी सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी गयी हैं। उदाहरण के लिए, 10 फरवरी, 1980 को कर्नाटक के तात्कालिक मुख्यमन्त्री गुण्डूराव ने कहा कि "कर्नाटक में केवल कर्नाटकवासी व्यक्तियों को रोजगार प्रदान किया जायेगा।"[1] 1980 में उड़ीसा में मारवाड़ी वर्ग के विरुद्ध आन्दोलन की जो स्थिति देखी गयी, वह भी इसी प्रवृत्ति का एक रूप है।

यह बात उचित प्रतीत होती है कि 'सरकारी और गैर-सरकारी उद्योगों में अकुशल श्रमिक का कार्य स्थानीय व्यक्तियों को ही दिया जाय' लेकिन भूमि-पुत्र की धारणा को व्यापक स्तर पर और प्रबलता के साथ अपनाने के परिणाम राष्ट्रीय एकता के लिए घातक हो सकते हैं।

---

1 Noorani, A. G. *The Sons of the Soil Doctrine, Indian Express*—20 April, 1980, p. 6.

यह धारणा विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विकास मे भी निश्चित रूप मे बाधक होगी। स्व. प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी द्वारा 'भूमि-पुत्र' की धारणा को अस्वीकार करते हुए इसे 'राष्ट्रीय एकता के लिए घातक और विभिन्न क्षेत्रो के आर्थिक विकास मे बाधक' बतलाया गया था।[1] वस्तुत. राष्ट्रीय एकता के हित मे भूमि-पुत्र की धारणा पर अकुश रखना होगा।

क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणाम
(EVIL CONSEQUENCES OF REGIONALISM)

क्षेत्रीयता की भावना जन-जीवन मे जड पकडने के कारण आज हमारा देश केवल भारत और पाकिस्तान मे ही नही अपितु एकाधिक क्षेत्रो मे बँट गया है और प्रत्येक क्षेत्र मे लोग दूसरो पर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का बीडा उठा चुके हैं। क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणाम इस प्रकार हैं :

(1) **विभिन्न क्षेत्रो के बीच संघर्ष और तनाव**—सकीर्ण क्षेत्रवाद का प्रथम दुष्परिणाम हमे भारत में देखने को मिलता है वह यह है, कि इसके कारण विभिन्न क्षेत्रो के बीच आर्थिक, राजनीतिक यहाँ तक कि मनोवैज्ञानिक संघर्ष और तनाव दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक क्षेत्र अपने स्वार्थों या हितो को सर्वोच्च स्थान दे बैठता है और उसे यह चिन्ता नही होती कि उससे दूसरे क्षेत्रो को कितना नुकसान होगा।

(2) **राज्य तथा केन्द्रीय सरकार के बीच सम्बन्धों का विकृत होना**—भारत मे क्षेत्रीयता के कारण केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार के बीच का सम्बन्ध कभी-कभी अत्यन्त कटु रूप धारण कर लेता है। प्रत्येक क्षेत्र के हित समूह, क्षेत्रीय नेतागण, बडे-बड़े उद्योगपति या राजनीतिज्ञ अपने-अपने क्षेत्र के स्वार्थों को प्राथमिकता देते हैं और केन्द्रीय सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते है। केन्द्रीय सरकार जिसकी तरफ भी थोडा-सा झुक गयी वही विवाद का विषय बन जाता है और राज्य सरकारों का पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण नही रह पाता है।

(3) **स्वार्थी नेतृत्व व संगठन का विकास**—क्षेत्रीयता का एक और दुष्परिणाम यह होता है कि इसके फलस्वरूप अलग-अलग क्षेत्र मे कुछ इस प्रकार के नेतृत्व व सगठनो का विकास हो जाता है जो कि जनता की भावनाओं को उभारकर अपने सकीर्ण स्वार्थो की पूर्ति करना चाहते हे। इस प्रकार के नेताओ व सगठन को न तो क्षेत्रीय हितो और न ही राष्ट्रीय हितो का तनिक भी ख्याल रहता है, उनका समस्त ख्याल तो अपनी लोकप्रियता को बढाकर अपने ही स्वार्थो को सिद्ध करने पर केन्द्रित हो जाता है। ये नेतागण कभी तो भाषा के प्रश्न को लेकर हगामा मचाते हैं और कभी केन्द्रीय सरकार के पक्षपातपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध नारा लगाने के लिए सामने आ खड़े होते हैं, चाहे इनमे से कोई भी समस्या वास्तविक हो या केवल काल्पनिक।

(4) **भाषा की समस्या का अधिक जटिल होना**—क्षेत्रीयता का एक और बुरा प्रभाव यह होता है कि क्षेत्रीय वफादारी (Regional loyalty) भाषा की समस्या को सुलझाने मे सहायक के स्थान पर उसे और भी जटिल बनाने मे मदद करती है। क्षेत्रीय वफादारी का सीधा सम्बन्ध क्षेत्रीय या प्रादेशिक भाषा के प्रति विशेष लगाव से होता है जिसके कारण प्रादेशिक भाषा को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान करने की गलती उस क्षेत्र के लोग कर बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि अन्य किसी भाषा के प्रति सहिष्णुता की भावना बिलकुल ही नही रह जाती और विभिन्न भाषाभाषी क्षेत्रो के बीच भाषा के प्रश्न को लेकर कटुता बढती चली जाती है। क्षेत्रीयता का यह परिणाम जनकल्याण और राष्ट्रीय प्रगति के दृष्टिकोण से अत्यन्त घातक सिद्ध होता है।

---

1 *Ibid*

(5) राष्ट्रीय एकता को चुनौती—संकीर्ण क्षेत्रीयता राष्ट्रीय एकता के लिए एक चुनौती बन जाती है। क्षेत्रीयता के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के बीच जो तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है वह राष्ट्रीय एकता की समस्त धारणाओं और भावनाओं पर तुषारापात करती है; क्योंकि क्षेत्रीयता के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में कभी क्षेत्रीय स्वार्थों को लेकर, कभी राजनीतिक स्वशासन या पृथक् राज्य के प्रश्न को लेकर तो कभी प्रादेशिक भाषा के प्रश्न को लेकर जो झगड़े या मनमुटाव खड़े हो जाते हैं वे राष्ट्रीय एकता के लिए घातक सिद्ध होते हैं।

क्षेत्रीयतावाद को रोकने के उपाय
(MEASURES FOR CHECKING REGIONALISM)

राष्ट्रीय जीवन के लिए क्षेत्रीयता कोई अच्छी चीज नहीं है। इस पर रोक लगाना ही उचित है इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उपायों को सुलझाया जा सकता है.

(1) केन्द्रीय सरकार की नीति कुछ इस प्रकार की होनी चाहिए कि सभी उप-सांस्कृतिक क्षेत्रों (Sub-cultural regions) का सन्तुलित आर्थिक विकास सम्भव हो जिससे कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक तनाव कम से कम हो।

(2) सभी क्षेत्र के लोगों को समान आर्थिक सुविधाएँ प्रदान की जाये जिससे कि अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा व ईर्ष्या की भावना न पनप सके।

(3) भाषा सम्बन्धी झगड़ों का हल शीघ्र ही ढूँढ लिया जाय। इस सम्बन्ध में सबसे उचित हल यह है कि सभी क्षेत्रीय भाषाओं को समान मान्यता प्रदान की जाये।

(4) हिन्दी भाषा को किसी भी क्षेत्रीय समूह पर जबरदस्ती लादा न जाय। अपितु इस भाषा का प्रचार व विस्तार इस ढंग से किया जाये कि विभिन्न क्षेत्रीय समूह स्वतः ही इसे सम्पर्क भाषा (Link language) के रूप में स्वीकार कर ले।

(5) प्रचार के विभिन्न साधनों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों के सांस्कृतिक लक्षणों के विषय में लोगों के सामान्य ज्ञान को बढ़ाया जाय जिससे कि एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र के प्रति अधिक सहनशीलता की भावना को पनपा सकें।

(6) केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में सभी क्षेत्रों के नेताओं का सन्तुलित प्रतिनिधित्व हो जिससे कि क्षेत्रीय पक्षपातपूर्ण नीतियों का खण्डन हो सके और केन्द्रीय सरकार के इरादों पर किसी को भी सन्देह न रहे।

(7) जहाँ तक सम्भव व व्यावहारिक हो उप-सांस्कृतिक क्षेत्रों की उचित आकांक्षाओं की पूर्ति की जाय यदि उनका कोई बुरा प्रभाव राष्ट्रीय जीवन व संगठन पर न पड़ता हो।

(8) भारतीय संघ के राज्यों की संकीर्ण मानसिकता को दूर करने के लिए केन्द्र एवं राज्य सम्बन्धों को इस प्रकार बनाया जाना चाहिए कि उनमें असन्तोष न पैदा हो, वे मजबूत केन्द्र की आवश्यकता को समझें और केन्द्र को भी उनके सहयोग की अनिवार्यता की अनुभूति हो। इन दिनों केन्द्र-राज्य सम्बन्ध भी चर्चा का विषय बना हुआ है। इस सम्बन्ध में सरकारिया आयोग का भी गठन किया गया था जिसने सन् 1989 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इस आयोग की सिफारिशों के माध्यम से केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का पुनर्निधारण आर्थिक एवं अन्य सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में एक सन्तुलित नीति निर्धारित करने की ओर होना चाहिए।

क्षेत्रीयतावाद : आलोचनात्मक मूल्यांकन
(REGIONALISM . CRITICAL APPRAISAL)

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जन मानस में नवीन आकांक्षाएँ उठने लगी। राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व, पंचवर्षीय योजनाएँ आदि कार्यक्रम आदर्श थे, लेकिन व्यवहार में गरीबी और आर्थिक विषमता ही बढ़ती गयी। इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय एकता

और हितो की अपेक्षा क्षेत्रीयतावाद को बढावा मिलने लगा। असन्तोष के इस वातावरण में विभिन्न वर्गों द्वारा शक्ति के लिए संघर्ष की शुरूआत हुई। ऐसे नवीन राजनीतिक दलों का उदय होने लगा, जो कि क्षेत्रीय हितों को लेकर शक्ति अर्जित करने लगे।

क्षेत्रीयता के आधार पर राज्य केन्द्र से सौदेबाजी करने लगे और अपनी जड़ों को मजबूत करने के लिए राजनीतिक दल प्रादेशिकता की भावना का प्रचार करने लगे। प्रादेशिकता के आधार पर चुनावों मे उम्मीदवार का मनोनयन किया जाने लगा। सरकार के गठन में क्षेत्रीयता को मानदण्ड बनाया जाने लगा।

क्षेत्रीयतावाद का भारतीय राजनीति की शैली पर काफी प्रभाव पड़ा तथा आन्दोलनात्मक राजनीति को बढ़ावा मिला। क्षेत्रीय आन्दोलनों को चलाने के लिए आर्थिक विषमता, धर्म, जाति और भाषा का सहारा लिया गया। यथार्थ में, क्षेत्रीयता की समस्या आज भारत की राष्ट्रीय एकता के मार्ग में कण्टक बन गयी है। संघर्षात्मक प्रादेशिकता की भावना को समाप्त कर उदार सहयोगी प्रादेशिकता की भावना के प्रसार की आवश्यकता है।

डॉ. रशीदउद्दीन खाँ ने क्षेत्रीयतावाद के सकारात्मक पक्ष की चर्चा करते हुए लिखा है कि यह धारणा गलत साबित हुई कि क्षेत्रीयतावाद के कारण भारतीय संघ छिन्न-भिन्न हो जायेगा[1] अपितु यह मत अधिक सही साबित हुआ कि क्षेत्रीयतावाद या उप-राष्ट्रवाद में सह-अस्तित्व सम्भव है।[2] वस्तुतः भारत में क्षेत्रवाद सामान्यतः पृथकतावादी नहीं है। क्षेत्रवाद का लक्ष्य केवल क्षेत्र अथवा समुदाय विशेष के लिए अधिक सुविधाएँ प्राप्त करना है। इसका अनिवार्य अर्थ यह नहीं है कि वह अन्य क्षेत्रो के विकास अथवा राष्ट्र की अखण्डता के विरुद्ध है, बल्कि एक सीमा तक इस प्रकार के क्षेत्रवाद ने भारत के विकास को गति प्रदान की है। अनेक ऐसी योजनाएँ और कार्यक्रम हैं जो शायद धीमे पड़े हुए, क्षेत्रीय दबावों के कारण तीव्र हुए हैं। साथ ही क्षेत्रवादी नेतृत्व ने सत्ता में रहकर अपने दावों को उचित साबित करने के लिए अपने राज्यों के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किये हैं। इन राज्यों के विकास से सारे देश को भी लाभ होता है। तमिलनाडु, पंजाब और हरियाणा में विकास की गति इसका प्रमाण है। निःसन्देह खालिस्तान, समय-समय पर कश्मीर तथा उत्तरी-पूर्वी सीमान्त राज्यों में कुछ आन्दोलन पृथकतावादी भी हैं परन्तु उनका समर्थन और प्रभाव अधिक नहीं है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत जैसे विशाल, विविधतापूर्ण और लोकतान्त्रिक देश में क्षेत्रवाद और उपक्षेत्रवाद स्वाभाविक अवधारणाएँ हैं। पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित विकास की प्रक्रिया इसके विस्तार को संगठित और सक्रिय स्तर प्रदान करती है। यदि क्षेत्रों के बँटवारे, विकास की गति और विभिन्न समुदायों की आकांक्षाओं को कुछ सीमा तक नियन्त्रित किया जावे तो क्षेत्रवाद हानिकारक न होकर एक सामान्य संघीय प्रक्रिया तक ही सीमित रहता है और विभिन्न अल्पसंख्यकों और क्षेत्रीय वर्गों को राजनीति में भागीदारी की सन्तुष्टि मिलता है।

1 डॉ. रशीदउद्दीन खाँ : 'दि फेडरल इण्डियन [illegible]', [illegible] 1974।
2 [illegible] : [illegible] [illegible]

44

भारतीय राजनीति में भाषा

[LANGUAGE IN INDIAN POLITICS]

प्रो. मॉरिस जोन्स लिखते है, "क्षेत्रवाद और भाषा के सवाल भारतीय राजनीति के इतने ज्वलन्त प्रश्न रहे हैं और भारत के हाल के राजनीतिक इतिहास की घटनाओं के साथ इनका इतना गहरा सम्बन्ध रहा है कि अक्सर ऐसा लगता है कि यह राष्ट्रीय एकता की सम्पूर्ण समस्या है।"[1]

भारत एक बहुभाषी देश है। सन् 1902 की एक गणना के अनुसार भारत मे 179 भाषाएँ एव 544 स्थानीय भाषाएँ (Dialects) थी और सन् 1951 की जनगणना के अनुसार भारत मे 771 भाषाएँ एव स्थानीय भाषाएँ विद्यमान थी। 1961 और 1971 की जनगणनाओ ने मातृभाषाओ के रूप मे 1652 भाषाओं की गणना की थी। यदि हम स्थानीय और क्षेत्र विशेष की भाषाओ को छोड भी दें तो भारत मे प्रमुख रूप से प्रचलित भाषाओ की सख्या 15 है, जिनके अन्तर्गत देश की लगभग 90 प्रतिशत जनता आ जाती है। प्रारम्भ मे हमारे सविधान मे 14 भाषाओं को स्वीकार किया गया जिनके नाम हैं—असमी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कन्नड, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उडिया, पजाबी तमिल, तेलगू, संस्कृत एव उर्दू। बाद मे सिन्धी भाषा को भी सविधान मे सम्मिलित कर लिया गया। अत संख्या 15 हो गयी। भौगोलिक दृष्टि से भारत के पूर्व तट की चार भाषाएँ क्रमश तमिल, तेलुगू, उडिया और बगला, पश्चिमी तट की चार भाषाएँ क्रमश मलयालम, कन्नड, मराठी एव गुजराती, ठेठ उत्तर मे कश्मीरी एव उत्तर-पश्चिम मे पंजाबी और मध्य क्षेत्र की भाषा हिन्दी है। हिन्दी से सम्बन्धित राज्य है—हरियाणा, राजस्थान, बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश एवं केन्द्रशासित दिल्ली, चण्डीगढ आदि। उर्दू, सस्कृत तथा सिन्धी भाषा से सम्बन्धित कोई विशेष भाग नही है परन्तु थोडी-बहुत मात्रा मे इनका सर्वत्र प्रयोग होता है।

भाषागत विविधता (Diversity of Languages)—भाषा की विविधता भारतीय समाज की विलक्षणता है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रो की जनता भिन्न-भिन्न भाषा बोलती है। इन भाषाओ मे तथा इनकी लिपियो मे बहुत अधिक अन्तर है। उत्तर भारत का निवासी दक्षिण की भाषा नही समझ पाता और न ही दक्षिण का निवासी उत्तर की भाषा। एक राजस्थानी के लिए बंगाली भाषा-भाषी भाषा के सन्दर्भ मे विदेशी ही है। भाषागत विविधता कोई खराब बात नही है। भाषागत विविधता से एकता बढाने मे थोडी कठिनाई अवश्य होती है। किन्तु यदि एक ऐसी सम्पर्क भाषा

---

[1] मॉरिस जोन्स **भारतीय शासन एवं राजनीति** (अनुवाद), पृ. 102।

हो जो विविध भाषा-भाषी व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँधे रख सके तो इस कठिनाई का आसानी से निवारण हो सकता है ।

संविधानसभा में विचार-विमर्श (Discussions in Constituent Assembly)—संविधानसभा में जब इस प्रश्न पर वाद-विवाद हुआ कि देश की राजभाषा क्या हो तो वहाँ बहुत ही भाषा सम्बन्धी हठधर्मी देखी गयी और उत्तेजनापूर्ण दृश्य सामने आये । राजभाषा के रूप में किसी एक देशी भाषा को मान्यता देने की संविधान-निर्माताओं की आकांक्षा 'राजभाषा आयोग' के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है—"हम देश के सांस्कृतिक जीवन की अनन्यता को दृढ़ करने वाले तत्त्वों की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम की खोज करते हैं । सदियों के बाद पुन. प्राप्त इस राजनीतिक एकता के साथ-साथ भाषायी एकता भी हम पाना चाहते हैं । इस एकता की प्राप्ति हम अंग्रेजी भाषा का स्थानापन्न किसी देशी भाषा को बनाना चाहते हैं—तथा सभी प्रादेशिक भाषाओं में हिन्दी को राष्ट्रभाषा इसलिए चुना गया है कि इसके बोलने वालों की संख्या सबसे अधिक है ।"

संघ की भाषा (The Language of the Union)—संविधान के अनुच्छेद 343, 344 में संघ की भाषा के सम्बन्ध में प्रावधान इस प्रकार हैं—(1) देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी संघ की राजभाषा होगी । (2) संविधान के आरम्भ में 15 वर्ष तक अंग्रेजी भाषा का प्रयोग संघ के सरकारी कार्यों में यथापूर्व जारी रहेगा । परन्तु इस अवधि के भीतर ही राष्ट्रपति हिन्दी के साथ-साथ प्रयोग किये जाने का अधिकार प्रदान कर सकते हैं । (3) पन्द्रह वर्षों के उपरान्त भी संसद किन्हीं विशिष्ट प्रायोजनों के लिए अंग्रेजी का प्रयोग चालू रखने की अनुमति दे सकती है । परन्तु 1963 में ही संविधान के अनुच्छेद 343 (3) के अधीन राजभाषा अधिनियम प्रस्तुत किया गया जिसके अनुसार 1965 के बाद भी अंग्रेजी अनिश्चित काल तक बनी रहेगी । (4) संविधान के चालू हो चुकने के पाँच वर्ष बाद राष्ट्रपति एक भाषा आयोग की स्थापना करेंगे जो हिन्दी भाषा के प्रयोग में क्रमिक वृद्धि, अंग्रेजी के प्रयोग को धीरे-धीरे कम करना तथा तत्सम्बन्धी अन्य प्रश्नों व समस्याओं के सम्बन्ध में सिफारिशें करेगा । संविधान के चालू होने के दस वर्ष बाद राष्ट्रपति इसी प्रयोजन के लिए आयोग की स्थापना करने को बाध्य हैं । आयोग सिफारिश करते समय भारत की औद्योगिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के निवासियों के सरकारी पदों के लिए न्यायोचित दावों व हितों को भी ध्यान में रखेगा । (5) इस आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के लिए एक संसदीय समिति आनुपातीय प्रतिनिधित्व के आधार पर बनायी जायेगी जिसमें लोकसभा के 20 सदस्य तथा राज्यसभा के 10 सदस्य होंगे । यह संसदीय समिति आयोग की सिफारिशों पर अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करेगी । राष्ट्रपति इस प्रतिवेदन के आधार पर निर्देश जारी कर सकते हैं ।

संसदीय समिति ने आयोग के प्रतिवेदन की जाँच कर कहा कि संघ तथा राज्यों में अंग्रेजी के स्थान पर धीरे-धीरे हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

प्रादेशिक भाषाएँ (Regional Languages)—संविधान के अनुच्छेद 345 के अनुसार प्रत्येक राज्य के विधानमण्डल को यह अधिकार है कि वह राज्य के समस्त अथवा सरकारी कार्यों के लिए एक या अधिक भाषाएँ अंगीकार कर ले । किन्तु राज्यों के परस्पर सम्बन्धों में तथा संघ और राज्यों के परस्पर सम्बन्धों में संघ की राजभाषा ही प्राधिकृत भाषा मानी जायेगी । कुछ राज्यों में अल्पसंख्यकों के भाषा सम्बन्धी हितों की रक्षा के लिए संविधान में कुछ विशेष उपबन्ध रखे गये हैं ।

उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों और विधानमण्डलों की भाषा (Language of the Courts and Legislature)—जब तक संसद कानून द्वारा अन्यथा निर्धारित न करे, तब तक

उच्चतम न्यायालय तथा प्रत्येक उच्च न्यायालय की सब कार्यवाहियाँ तथा केन्द्रीय और राज्य के विधानमण्डलो के विधेयको, कानूनो, आदेशो, नियमो तथा अध्यादेशो का पाठ अंग्रेजी भाषा मे होगा। किसी राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की अनुमति से उच्च न्यायालय की कार्यवाही राज्य की राजभाषा मे होने की अनुमति दे सकता है, लेकिन न्यायालय का फैसला, डिक्री या आदेश अंग्रेजी मे ही होगा। यदि किसी राज्य का विधानमण्डल विधेयको, कानूनो, नियमो तथा आदेशो के लिए अंग्रेजी के वदले अन्य कोई भाषा निर्धारित करता है, तो उनका अंग्रेजी भाषा मे राज्यपाल द्वारा अधिकृत अनुवाद अधिकृत पाठ समझा जायेगा।

अल्पसंख्यकों के लिए संरक्षण (Safeguards for the Minorities)—प्रत्येक राज्य में स्थानीय अधिकारियों का यह प्रयास होगा कि वह भाषायी अल्पसंख्यकों के वालकों की शिक्षा प्राथमिक चरण मे मातृभाषा मे देने के लिए आवश्यक व्यवस्था करे। भाषायी अल्पसख्यको के लिए राष्ट्रपति एक विशेष पदाधिकारी भी नियुक्त करेगा। इस विशेष पदाधिकारी का कर्त्तव्य होगा कि संविधान के अधीन भाषायी अल्पसंख्यको के लिए जो विशेष रक्षण और सुविधाएँ उपलब्ध हैं, उनसे सम्वद्ध सव विषयो के सम्वन्ध मे, जैसे राष्ट्रपति निर्दिष्ट करे, राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दे। राष्ट्रपति ऐसे सभी प्रतिवेदनो को ससद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवायेगा तथा सम्वन्धित राज्यो की सरकारो को भी भेजेगा। सविधान मे यह भी व्यवस्था की गयी है कि सघ अथवा किसी भी राज्य मे प्रयोग होने वाली भाषा के सम्वन्ध मे यदि किसी व्यक्ति को कोई शिकायत करनी है, तो वह सघ तथा राज्य के उपयुक्त अधिकारी से कर सकता है।

भारत में राजनीति और भाषा : अन्तःक्रिया
(INTERACTIONS BETWEEN POLITICS AND LANGUAGE)

भाषा का प्रश्न राजनीतिक प्रश्न वन गया। भाषा के आधार पर राजनीतिक दलो एव राजनीतिज्ञो ने जनता को उत्तेजित करने का प्रयास किया। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगा कि कही भाषा का सवाल हमारी राष्ट्रीय एकता को खण्डित न कर दे। भारत की राजनीति मे भाषा से जुडी हुई राजनीतिक समस्याएँ इस प्रकार हैं

(1) **हिन्दी के विरोध की राजनीति**—राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त आयोग के वंगला तथा तमिलभाषी सदस्यो—डॉ सुनीति कुमार चटर्जी और डॉ. पी. सुब्बानारायण ने अपने विमति टिप्पण (Minutes of dissent) मे समन्वय अथवा मेल-जोल के दृष्टिकोण से अत्यन्त दूर के विचार प्रकट किये। इनका यह दृष्टिकोण था कि अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को प्रतिस्थापित करने मे जल्दी करने का परिणाम "अहिन्दी भाषा जनता पर हिन्दी थोपना" होगा और उससे सार्वजनिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जायेगा। इन दोनो का यह दृढ मत था कि जव तक सरकारी भाषा अर्थात् हिन्दी पूर्णत विकसित नही हो जाती, अंग्रेजी भाषा प्रयुक्त होती रहे।

(2) **भाषायी आधारो पर राज्यों का पुनर्गठन**—भाषावार राज्यों के पुनर्गठन की समस्या भारत मे जितनी गम्भीर रही है उतनी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रो मे सम्भवत. अन्यत्र कही नही रही है। स्वाधीनता के कुछ ही समय वाद इस वात के लिए जोरदार राजनीतिक दवाव दिये जाने लगे कि भारत के राज्यो के वीच की सीमाएँ भाषाओ के आधार पर बनायी जायें। सन् 1952 मे विशेषत तेलुगू भाषी लोगो मे आन्दोलन वहुत ही तीव्र हो उठा। एक प्रतिष्ठित तेलुगू नेता पोट्टी श्री रामुलु ने उन क्षेत्रो को लेकर जहाँ तेलुगूभाषियो का वहुमत था, एक अलग राज्य वनाने की माँग मनवाने के लिए आमरण अनशन का तरीका अपनाया। अनशन के परिणामस्वरूप उनकी मृत्यु हो गयी और इससे इतने जोर का हगामा उठ खडा हुआ कि नेहरूजी को भाषा के आधार पर राज्य का निर्माण करने के लिए झुकना पडा। एक वार, तेलुगू भाषाभाषियो की माँग पर सरकार के झुक जाने के वाद देश के विभिन्न भागो मे उसी तरह भाषा के आधार पर राज्य वनाने

की माँगें बढ़ने लगी। इन माँगों की जाँच-पड़ताल करने और नये राज्यो की सीमाएँ निर्धारित करने के लिए राज्य पुनर्गठन आयोग नियुक्त किया। राज्य पुनर्गठन आयोग के आधार पर राज्यो का पुनर्गठन करने के वाद भी वम्बई के नये राज्य मे भाषा के प्रश्न को लेकर निरन्तर असन्तोष वना रहा, अत सन् 1960 मे इसे दो राज्यों—गुजरात और महाराष्ट्र मे बाँटना पड़ा। आगे चलकर 1966 के पंजाब की भाषा के आधार पर ही—हरियाणा और पंजाव मे विभाजित करना पड़ा। इस तरह के अलगाव के लिए सिक्खो द्वारा वहुत जोरदार आन्दोलन चलाया गया। मास्टर तारासिंह ने कहा कि "यह प्रान्त केवल भाषा पर आधारित होगा और इसे पंजाबी सूबा नाम दिया जा सकेगा।"

(3) **भाषायी राज्यों के विवाद**—भाषा के आधार पर राज्यो का पुनर्गठन करने से राज्यो मे राजनीतिक विवाद अत्यन्त उग्र हो गये। ऐसी समस्या चण्डीगढ मे उत्पन्न हो गयी। इस प्रकार की समस्या महाराष्ट्र और कर्नाटक की सीमा पर वेलगाँव व अन्य क्षेत्रो के विवाद के रूप मे चली। महाराष्ट्र सरकार वेलगाँव नगर पर अपना अधिकार जमाना चाहती थी क्योंकि 1961 की जन-गणना के अनुसार यहाँ मराठी भाषी लोगो की संख्या 51·2 प्रतिशत थी। इसके विपरीत, कर्नाटक सरकार का दावा था कि इस नगर मे सभी भाषाओ और जातियो के लोग रहते है और जो कुछ वहुमत मराठी भाषाओं का था वह भी अव समाप्त हो गया है। वेलगाँव चूँकि सम्पूर्ण वेलगॉव तालुके का मुख्य केन्द्र है, इसलिए प्रशासनिक दृष्टि से उसे कर्नाटक मे ही रहने दिया जाना चाहिए। असम मे वगाली और असमी भाषा के प्रश्न को लेकर सन् 1972 मे उग्र विवाद उत्पन्न हो गया। कुछ अन्य प्रान्तो मे भी लोग भाषा के आधार पर अलग राज्यों के निर्माण का नारा लगाते रहते हैं। इस प्रकार भाषायी आधार पर राज्यों के टुकडे करने का एक सुनियोजित अभियान देश मे चलाया जा रहा है जो निश्चय ही देश की सुरक्षा और आर्थिक प्रगति के लिए घातक है।

(4) **भाषा के आधार पर उत्तर और दक्षिण भारत की संकुचित भावनाएँ**—भाषा के आधार पर भारत मे उत्तर और दक्षिण भारत की सकुचित मनोवृत्तियाँ पनपने लगी। दक्षिण भारत ने हिन्दी का जोरदार विरोध किया। दक्षिण भारत मे 'हिन्दी साम्राज्य' के विरुद्ध जोर-दार आवाजें उठी। हिन्दी के उत्साही समर्थकों के लिए यह मुश्किल था कि वे चुपचाप बैठे रहे। इस प्रकार भाषा के आधार पर भारत दो टुकडो मे विभाजित-सा प्रतीत होने लगा—उत्तर और दक्षिण।

(5) **भाषा के आधार पर राजनीति में नये दबाव गुटों का उदय**—भारतीय राजनीति मे भाषागत दवाव गुटो का उदय हुआ। उदाहरणार्थ, भाषा के आधार पर महाराष्ट्रियनो और गुज-रातियो ने अपने संगठन **संयुक्त महाराष्ट्र समिति और महागुजरात जनता परिषद्** वनाये थे उन्होंने लगभग पूरी तरह से राजनीतिक पार्टियो की जगह ले ली। इन संगठनो मे शुरू मे वामपन्थी लोग थे, लेकिन जल्दी ही इन्हे गैर-राजनीतिक लोगो का समर्थन प्राप्त हो गया है।[1]

(6) **अन्य भाषाओं की मान्यता का प्रश्न**—भारत के सविधान की आठवी अनुसूची मे देश की 14 प्रमुख भाषाओ को मान्यता प्रदान की गयी है, जिनका उल्लेख किया जा चुका है। वाद मे सिन्धी भाषा को भी मान्यता दे दी गयी, परन्तु समय-समय पर देश मे कुछ अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की मान्यता की आवाज भी लगायी जाती रही है। उदाहरण के लिए, राजस्थान मे राजस्थानी भाषा को मान्यता दिलाने की माँग लम्बे समय से की जा रही है। सन् 1961 की गणना के अनुसार राजस्थानी वोलने वालो की संख्या 1 करोड़ 49 लाख थी। इसी तरह ब्रज, मैथिली, कोकणी, सथाली, छत्तीसगढी आदि भाषाओं की मान्यता का प्रश्न भी जव-तव उठाया

[1] मॉरिस जोन्स, उपर्युक्त, पृ. 96।

जाता रहा है और इन क्षेत्रीय भाषाओं के आधार पर प्रान्तों के निर्माण की बात भी की जाती रही है यद्यपि भारत सरकार ने इन मांगों को अब तक दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया है।

(7) **भाषा के मसले पर राजनीतिक हलचल**—भाषा के प्रश्न को लेकर राजनीतिक हलचलें बढ़ने लगी। सी. डी. देशमुख ने जो 1950 में वित्तमन्त्री थे, इसी सवाल को लेकर केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। इसी प्रकार एम. सी. छागला ने भी सरकार की भाषा-नीति के विरोध में मन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया।

(8) **उर्दू भाषा के सवाल को चुनावी मसला बनाना**—राजनीतिक दल उर्दू भाषा के सवाल को चुनावी मसला बनाने में नहीं हिचकिचाते। अल्पसंख्यक मुस्लिम मतदाताओं को प्रभावित करने के लिए कांग्रेस (आई) के 1980 के घोषणापत्र में आश्वासन दिया गया था, जो इस प्रकार है—"उर्दू भाषा को उसके ऐतिहासिक, सामाजिक महत्त्व के अनुरूप उचित स्थान दिलाया जायेगा उर्दू को कुछ राज्यों में खास-खास क्षेत्रों में सरकारी कामकाज में व्यवहार के लिए दूसरी भाषा के रूप में मान्यता दी जायेगी।"[1] जनवरी 1980 के चुनावों से पूर्व उत्तर-प्रदेश की लोकदल सरकार ने तीसरी भाषा के रूप में स्कूलों में उर्दू को पढ़ाया जाना अनिवार्य कर दिया था। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों से पूर्व उत्तर-प्रदेश में उर्दू को दूसरी राज भाषा बनाये जाने के फैसले को लेकर बदायूँ में दंगे हुये और दो दर्जन लोगों की जानें गयीं। हास्यास्पद स्थिति यह है कि एक वोट बैंक को खुश करने के लिए यहाँ तक कहा जा रहा है कि उर्दू हमारे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम की भाषा रही है।

(9) **भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्या**—नये भाषायी राज्यों के निर्माण के उपरान्त भी भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्या बनी हुई है, जो शासन से अनेकानेक प्रकार के संरक्षणों की माँग कर रहे हैं। उत्तर-प्रदेश में उर्दू का सवाल, कर्नाटक में मराठी भाषा-भाषियों का सवाल, पंजाब में हिन्दी भाषा-भाषियों की स्थिति भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्याएं उत्पन्न करती हैं। कर्नाटक में बसे मलयालियों और तमिलों में अब असुरक्षा की भावना पैर जमाने लगी है। कन्नडिगाओं का गुस्सा धीरे-धीरे सुलग रहा है और 1982 के हिंसक आन्दोलन में तो जैसे ज्वालामुखी फट ही पड़ा।[2]

(10) **सर्वमान्य शिक्षा नीति के निर्माण में कठिनाइयाँ**—भाषा सम्बन्धी समस्याओं का ही परिणाम है कि हम स्वतन्त्रता प्राप्ति के 45 वर्षों के उपरान्त भी किसी ऐसी शिक्षा नीति (Education Policy) का निर्माण नहीं कर सके जिसे हम अपना कह सकें, शिक्षा के क्षेत्र में आज भी प्रयोग हो रहे हैं और इससे जीवन के हर क्षेत्र पर दूरगामी प्रभाव पड़ रहा है। सेकेण्ड्री और उच्च शिक्षा के बारे में शिक्षाशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों के बीच निरन्तर नोक-झोंक चलती रही। कई फार्मूले आते और खण्डित होते रहे और जब कभी ऐसा लगता था कि एक पक्ष की जीत हो गयी तो उसे लागू करने की विधि के सम्बन्ध में मतभेद पैदा हो जाता था। सरकार फूंक-फूंककर कदम रखती हुई 'तीन भाषा फार्मूले' तक पहुँची। इसका मतलब यह था कि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में सेकेण्ड्री शिक्षा के किसी स्तर पर क्षेत्रीय भाषा के अलावा कोई अन्य भारतीय भाषा भी पढ़ायी जायेगी। इस प्रकार दो भाषाएँ हो जायेंगी। तीसरी भाषा अंग्रेजी या अन्य कोई विदेशी भाषा होगी। इस प्रकार सेकेण्ड्री स्तर पूरा होते-होते तीन भाषाएँ आ जायेंगी। शुरू में उत्तर भारत के कुछ भागों में इसका पालन नहीं किया गया—यहाँ तमिल या ऐसी कोई भाषा पढ़ाने के बजाय संस्कृत भाषा को लिया गया, लेकिन जब 1967 से मद्रास में हिन्दी के कट्टर विरोधी

[1] भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इ) चुनाव घोषणापत्र, 1980।
[2] इण्डिया टुडे, 30 सितम्बर, 1987, पृ. 46-47।

द्रविड मुनेत्र कडगम की सरकार बन गयी, तो सबसे पहला काम यह किया कि द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी की पढाई रोक दी। मद्रास विधानसभा के प्रस्ताव मे प्रावधान था कि मद्रास राज्य के विद्यार्थियो मे केवल अंग्रेजी व तमिल भाषाएँ पढायी जायें तथा हिन्दी को पाठ्यक्रम मे बिल्कुल निकाल दिया जाय।

(11) **भाषायी आधार पर राजनीतिक आन्दोलन**—सरकार की भाषा नीति से हिन्दी के समर्थकों एवं विरोधियो दोनों में ही बडा रोष फैला। पहले उत्तरी राज्यो—उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र मे अंग्रेजी विरोधी प्रदर्शन व उपद्रव हुए और भीड ने, जिसमें अधिकतर छात्र होते थे, अराजकता एवं हिंसापूर्ण कृत्य किये। दिसम्बर 1967 म मद्रास राज्य मे छात्रो ने हिन्दी विरोधी आन्दोलन आरम्भ किये जो शीघ्र ही आन्ध्र और मैसूर तक जा पहुँचे।

(12) **स्थानीयता की संकीर्ण भावना का उदय**—भाषागत राजनीति के परिणामस्वरूप "धरती के पुत्रो को ही" (The Son of the Soils) अर्थात् केवल उन्ही लोगों को जो प्रादेशिक भाषा बोलते है, सरकारी व गैर-सरकारी पदो पर नियुक्त कर देना चाहिए, धारणा का प्रचलन हुआ। महाराष्ट्र में शिवसेना ने केरल एवं कर्नाटकवासियों को इसलिए तग किया और उनके साथ मारपीट की थी कि केरलवासियों की भाषा मलयालम तथा कर्नाटक वालों की भाषा कन्नड थी।

निष्कर्ष—भाषाविषयक तनावो ने भारत की राष्ट्रीय एकता को बहुत अधिक प्रभावित किया है। आज एक-भाषाभाषी व्यक्ति अपने आपको अन्य भाषाभाषियो से भिन्न एक स्वतन्त्र समुदाय मानने लगे है तथा अपने लिए एक अलग राज्य अथवा अलग प्रशासकीय इकाई की माँग करने लगे है। अनेक अवसरो पर राजनीतिक दलो ने भाषायी समस्या से राजनीतिक लाभ उठाने के प्रयत्न किये है और वर्तमान समय मे भी इस प्रकार की प्रवृत्ति जारी है। प्रत्येक चुनाव मे राजनीतिक दल और उनके नेताओ द्वारा दक्षिण के लोगो को आश्वासन दिया जाता है कि जब तक वे न चाहे, तब तक समस्त भारत मे हिन्दी को राजभाषा के रूप मे नही अपनाया जायेगा। अल्पसंख्यक वर्ग के मत प्राप्त करने के लिए किन्ही राज्यो मे उर्दू को दूसरी भाषा और किन्ही राज्यों मे तीसरी भाषा के रूप मे अपनाने की बात कही जाती है। वर्तमान शासक दल इस प्रकार के आश्वासन देने मे किसी अन्य दल से पीछे नही है। ये आश्वासन तात्कालिक राजनीतिक लाभ भले ही प्रदान करते हो, इन्होने भाषा समस्या को सुलझाने के बजाय उसमे जटिलता उत्पन्न करने का ही कार्य किया है। 'हिन्दी को भारतीय संघ की राजभाषा के रूप मे अपनाया जाना है' इस पर दो मत नहीं हो सकते और न ही होने चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि विविध राजनीतिक दलो, भाषाओं और क्षेत्रो के प्रतिनिधियो का व्यापक आधार पर एक गोलमेज सम्मेलन बुलाकर शान्त वातावरण में भाषा समस्या पर आवश्यक गम्भीरता के साथ विचार कर इस सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय लिया जाय। भारत राष्ट्र की एकता, अखण्डता और शिक्षा व्यवस्था के हितों मे भाषा के प्रश्न को दलीय राजनीति से अलग रखना होगा।

भारत मे भाषा समस्या इतनी अधिक व्यापक और उलझी हुई है कि इसका कोई तत्कालीन हल नही ढूंढा जा सकता है। इसके लिए हमे बहुत धैर्य रखने एवं रचनात्मक कार्य करने की आवश्यकता है। भाषा समस्या के हल की दिशा मे हमे निम्न बातो की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है :

(1) ऐतिहासिक तथ्यो और आंकडों से यह स्पष्ट हो चुका है कि इस देश की राजभाषा और सम्पर्क भाषा हिन्दी ही हो सकती है। अहिन्दी प्रदेशों को इन तथ्यो को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

(2) हिन्दी भाषी लोगों को अहिन्दी भाषी लोगों की कठिनाइयों की ओर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। दोनों ही पक्षों को भाषायी उग्रता से बचना चाहिए।

(3) प्रान्तीय शासन और सभी स्तरों पर शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाओं का बनाया जाना चाहिए। इस हेतु प्रादेशिक भाषाओं के विकास के लिए पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

(4) हिन्दी भाषा को सरल और लोकप्रिय बनाने के लिए ठोस रचनात्मक कार्य करना चाहिए। इस हेतु सरल हिन्दी में मूल पुस्तकें लिखी जायें और उपयोगी पुस्तकों का अनुवाद किया जाये और कम से कम मूल्य में उन्हें अहिन्दी भाषियों में वितरित किया जाये।

(5) अंग्रेजी का प्रयोग सीमित किया जाये, परन्तु उसे समूल नष्ट नहीं किया जाये।

(6) त्रि-भाषा सूत्र को पूर्ण निष्ठा से लागू किया जाये।

(7) शैक्षणिक भ्रमण, व्याख्यान, सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से भारतीय भाषाओं में निकट सम्पर्क स्थापित किया जाये।

(8) अन्त में, भाषा को राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति का माध्यम बनाने से रोका जाये।

45

भारत में अल्पसंख्यकों तथा अनुसूचित जातियों की राजनीति

[POLITICS OF MINORITIES AND SCHEDULED CASTES]

अल्पसंख्यकों की राजनीति
(POLITICS OF MINORITIES)

राष्ट्रीय इकाइयो और अल्पसख्यको की समस्या भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की अन्यतम समस्या थी। भाषायी अल्पसख्यको, मुसलमानों, सिक्खो, दलित जातियों आदि मे जैसे-जैसे राजनीतिक जागरण आया वैसे-वैसे राजनीतिक स्वाधीनता के लिए किये गये राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वाधीन भारत की भावी राज-व्यवस्था की दृष्टि से यह प्रश्न विशिष्ट और निर्णायक महत्त्व का हो गया। अल्पसंख्यको की समस्या भारत की ही तरह आस्ट्रिया, हगरी, रूस आदि देशो के भी आधुनिक इतिहास मे उदित हुई है और उन देशो मे भी इसके समाधान की आवश्यकता पडी है।

अल्पसंख्यकों से अभिप्राय
(MEANING OF MINORITIES)

'अल्पसंख्यक' शब्द की परिभाषा करना कठिन है। अल्पसख्यक समूह का अर्थ उस समूह से है जो अपनी जाति, भाषा अथवा धर्म की दृष्टि से वहुमत से भिन्न है। 1957 मे केरल शिक्षा विधेयक के सम्बन्ध मे विचार करते हुए भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि कोई भी समूह जिसकी संख्या पचास प्रतिशत से कम हो वह अल्पसंख्यक वर्ग मे आता है। पचास प्रतिशत का अभिप्राय वताते हुए न्यायालय ने कहा कि अल्पसंख्यक होने या न होने का प्रश्न एक राज्य की सम्पूर्ण जनसंख्या के सन्दर्भ मे निर्धारित किया जाना चाहिए।

भारत का सविधान काफी विस्तृत है और इसके अनुच्छेद 29 व 30 मे 'अल्पसख्यक' शब्द का प्रयोग किया गया है तथापि सविधान मे अल्पसख्यको की परिभाषा नही दी गयी है।

भारत मे मुसलमानो तथा दलित जातियो जैसे राष्ट्रीय अल्पसंख्यक राज्य के सारे भू-क्षेत्र में फैले हुए होते है। ये लोग प्राय. धर्म के सूत्र में परस्पर वँधे रहते है और अप्रजातान्त्रिक समाज व्यवस्था के कारण किसी विशिष्ट सामाजिक अन्याय के भोगी होते है। लेकिन ये भिन्न, पृथक् राष्ट्र नही होते, क्योकि ऐसे किसी दल के सारे सदस्य किसी भू-क्षेत्र विशेष के वासी नही होते और उनका सम्मिलित आर्थिक जीवन नही होता। वस्तुत: इनके अलग-अलग हिस्से, विभिन्न भू-क्षेत्रो में रहने वाले विभिन्न राष्ट्रिक इकाइयो के अंग होते है। इन राष्ट्रिक इकाइयो की अपनी अलग-अलग भाषाएँ होती है और इनका आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक जीवन परस्पर भिन्न होता है।

.रतीय संविधान में अल्पसंख्यकों के हितों को सुरक्षित करने वाले प्रावधान (Provisions ..ıc Protection of Minorities under the Indian Constitution)—भारतीय सवि-धान मे अल्पसख्यको के हितो को सुरक्षित रखने वाले अनेक प्रावधान है। संविधान के अनुच्छेद 14, 15 तथा 16 मे कानून के समक्ष समानता और विधि के समान संरक्षण का आश्वासन दिया गया है और किसी व्यक्ति के धर्म, जाति, मूलवश आदि के आधार पर भेदभाव करना वर्जित ठहराया गया है। अनुच्छेद 16 मे सार्वजनिक सेवाओ मे समान अवसर दिये जाने का प्रावधान है। अनुच्छेद 25 मे धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। इसके अधीन **अन्तःकरण** की स्वतन्त्रता तथा किसी भी धर्म को मानने, उस पर आचरण करने और धार्मिक प्रचार की गारण्टी दी गयी है। अनुच्छेद 26 मे धार्मिक मामलो का प्रवन्ध बिना किसी प्रकार के हस्तक्षेप करने की गारण्टी दी गयी है। अनुच्छेद 27 मे किसी विशेष धर्म की उन्नति और प्रसार-प्रचार के लिए करो की वसूली पर छूट दी गयी है। अनुच्छेद 28 मे सरकारी पैसे से चलने वाली शिक्षा संस्थाओ मे धार्मिक उपासना मे उपस्थिति न होने की छूट दी गयी है।

सस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकारो के अन्तर्गत अनुच्छेद 29 मे अल्पसख्यको के हितो को संरक्षण दिया गया है और अनुच्छेद 30 मे अल्पसंख्यको को अपनी पसन्द की शिक्षा सस्थाओ की स्थापना और प्रशासन करने का अधिकार दिया गया है—ये संवैधानिक व्यवस्थाएँ इस प्रकार है·

अनुच्छेद 29—(i) भारत के राज्य-क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के निवासी नागरिको के किसी विभाग को जिसकी अपनी विशेप भापा,. लिपि या संस्कृति है; उसे वनाये रखने का अधिकार होगा। (ii) राज्य द्वारा घोपित अथवा राज्य विधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था मे प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवश, जाति, भापा अथवा इनमे से किसी के आधार पर वंचित न रखा जायेगा।

अनुच्छेद 30—(i) धर्म या भापा पर आधारित सव अल्पसंख्यक वर्गो को अपनी रुचि की शिक्षा सस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा। (ii) शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने मे राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रवन्ध मे है।

इन प्रावधान से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हमारे सविधान निर्माता अल्प-सख्यको की समस्याओ से परिचित थे।

भारत में अल्पसंख्यकों की श्रेणियाँ
(CATEGORIES OF MINORITIES IN INDIA)

भारत मे अल्पसंख्यको को मोटे रूप से दो श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है. (i) धार्मिक अल्पसख्यक, और (ii) भापाई अल्पसंख्यक। संसार के लगभग सभी देशो मे धर्म और भाषा के आधार पर अल्पसंख्यक समूहो को मान्यता दी गयी है। एक भापाई अथवा धार्मिक अल्पसख्यक वर्ग का उद्देश्य सरकार से ऐसी सुविधाएँ प्राप्त करना होता है जिनके द्वारा वह अपने धर्म तथा भापा को सुरक्षित तथा जीवित रख सकें और उनका वहुमत के साथ विलयन न होने पाये।

भारत में धर्म पर आधारित अल्पसंख्यक
(MINORITIES BASED ON RELIGION)

भारत एक वहुधर्मी और वहुभापी देश है। भारत मे हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, बौद्ध, जैन, पारसी आदि धर्मो के लोग निवास करते है। भारतीय समाज का वहुमत हिन्दू धर्म का अनुयायी

है। सन 1981 की जनगणना के अनुसार भारत मे प्रमुख धर्मों के अनुयायियो की सख्या इस प्रकार थी .[1]

तालिका संख्या 1 : भारतीय जनसंख्या एवं धार्मिक वर्ग

	1971		1981	
धार्मिक सम्प्रदाय	जनसंख्या	कुल जनसंख्या का प्रतिशत	जनसंख्या	कुल जनसंख्या का प्रतिशत
हिन्दू	45,32,92,086	82·72	549,779,481	82·64
मुस्लिम	6,14,17,934	11·21	75,512,439	11·35
ईसाई	1,42,23,382	2·60	16,165,447	2·43
सिक्ख	1,03,78,797	1·89	13,078,146	1·96
बौद्ध	38,12,325	0·70	4,719,796	0·71
जैन	26,04,646	0·47	3,206,038	0·48
अन्य मतावलम्बी	22,20,639	0·41	2,766,285	0 42

तालिका संख्या 1 से स्पष्ट है कि मुस्लिम, ईसाई और सिक्ख भारत के प्रमुख अल्पसंख्यक समुदाय हैं और उनकी समस्याओं का यहाँ विश्लेषण किया जाना उचित है।

मुस्लिम अल्पसंख्यक
(MUSLIM MINORITY)

अंग्रेजी शासन काल मे चालीस करोड़ की आवादी मे मुसलमानों की संख्या नौ करोड़ थी। ये हिन्दुस्तान के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक थे। भारतीय मुसलमानो का पहला संगठित आन्दोलन वहावी आन्दोलन था। यह धर्म-सुधार आन्दोलन के रूप में हुआ, लेकिन वाद मे इसमे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक तत्त्व भी आ मिले। यह ब्रिटेन विरोधी आन्दोलन के रूप मे शुरू हुआ और बंगाल के मुसलमान किसानों मे भी फैला, जिसके फलस्वरूप किसान विद्रोह हुए। सन् 1857 के विद्रोह मे मुसलमानो ने हिन्दुओ की अपेक्षा प्रमुख रूप से अधिक भाग लिया था। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने उनकी उपेक्षा करने की नीति अपनायी। प्रशासनिक एव अन्य प्रकार के कार्यों के लिए ब्रिटिश सरकार ने भारत मे अंग्रेजी शिक्षा की शुरूआत की। इससे अरवी और फारसी भाषाओं का महत्त्व घटा। सन् 1906 मे मुस्लिम लीग की स्थापना भारतीय मुसलमानो के राजनीतिक विकास मे मील का पत्थर है। 1906 मे भारतीय मुसलमानो के लिए पृथक् चुनाव क्षेत्रों और प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी। गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन मे पहली वार वहुत सारे हिन्दुओ और मुसलमानो ने भारत के लिए स्वशासन जैसे राष्ट्रीय लक्ष्य के लिए परस्पर सहयोग किया। सन् 1929 मे जिन्ना ने अपनी मशहूर चौदह-सूत्री योजना प्रकाशित की जो वाद मे लीग के प्रचार आन्दोलन का आधार हुई। 1940 के लाहौर के अधिवेशन मे लीग ने पाकिस्तान की माँग की घोपणा की। दो राष्ट्रों का सिद्धान्त इस माँग का राजनीतिक-वैचारिक आधार था। इस सिद्धान्त के अनुसार मुसलमान एक विशिष्ट राष्ट्र थे, यद्यपि वस्तुत. वे एक सामाजिक-आर्थिक वर्ग के लोग थे जो सारे देश मे विखरे हुए थे।

पाकिस्तान के निर्माण के वाद भी भारत मे वड़ी सख्या मे मुसलमान निवास करते है। सन् 1981 की जनसंख्या के अनुसार देश की कुल जनसंख्या का 11·35 प्रतिशत मुसलमान हैं। स्वाधीन भारत में मुसलमानो को न केवल कानून द्वारा समान अधिकार और संरक्षण की गारण्टी प्राप्त है वल्कि वे देश के महत्त्वपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन मे सक्रिय और

[1] *India*, 1986. p. 14.

प्रमुख भाग ले रहे हैं। दो प्रमुख मुस्लिम नेताओं—स्व. डॉ. जाकिर हुसैन और स्व. श्री फखरुद्दीन अली अहमद ने राष्ट्रपति के सर्वोच्च पद को सुशोभित किया। यह राष्ट्र द्वारा किसी भी नागरिक को दिया जाने वाला सबसे बड़ा सम्मान था। श्री हिदायतुल्लाह उपराष्ट्रपति पद पर कार्य कर चुके है। श्री हिदायतुल्लाह और श्री एम. एच. बेग सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पद पर कार्य कर चुके हैं। अलीयावरजग, अकबर अली खां, सादिक अली राज्यपाल पद पर, एम सी. छागला राजदूत पद पर, ए आर. किदवई संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष पद पर कार्य कर चुके हैं। एयर चीफ मार्शल इदरिस हसन लतीफ, जो कि एक मुसलमान हैं, हमारी वायुसेना के अध्यक्ष थे। केन्द्र और राज्यों मे अनेक मुलिम मन्त्रिमण्डल, सासद, विधायक और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप मे कार्यरत हैं। हाल ही मे गठित राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार में मुफ्ती मोहम्मद सईद को गृहमन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया है। इसके उपरान्त भी भारतीय राजनीतिक मे मुसलमानों की निम्नलिखित शिकायतें और समस्याएँ रही हैं

(i) **विधानमण्डल एवं प्रशासन में प्रतिनिधित्व से असन्तुष्टि**—मुस्लिम सम्प्रदाय विधानमण्डल मे अपने प्रतिनिधित्व और प्रशासनिक सेवाओं मे मुसलमानों की नियुक्ति आदि के सम्बन्ध मे असन्तुष्ट रहा है।

देश की कुल जनसख्या का 11·35 प्रतिशत जनसख्या मुस्लिम अल्पसख्यकों की है। कतिपय मुस्लिम सगठनों के अनुसार प्रतिशत के हिसाब से 545 सदस्यों की लोकसभा मे 62 स्थान पर मुस्लिम प्रतिनिधि होने चाहिए। किन्तु 1952 मे 36 (7·21%), 1957 मे 24 (4 74%), 1962 मे 32 (6·27%), 1967 मे 29 (5 68%), 1972 मे 27 (5·18%), 1977 मे 32 (6·03%), 1979 मे 48 (8·81%) तथा 1984 मे 45 (8·25%) स्थानों पर मुस्लिम प्रत्याशी विजयी हुये।[1]

तालिका 2 : मुस्लिम और ईसाइयों का राज्यवार आई. ए. एस. (I A. S.) में प्रतिनिधित्व
(कुल आई. ए. एस. अधिकारियों की सख्या 3,398)

राज्य	मुस्लिम		ईसाई	
	कुल	प्रतिशत	कुल	प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	10	9·52	5	6·02
असम और मेघालय	1	0 95	3	3·62
बिहार	11	10·48	2	2·41
गुजरात	1	0·95	6	7·23
हरियाणा	2	1 91	2	2·41
हिमाचल प्रदेश	—	—	—	—
जम्मू और कश्मीर	27	25·72	2	2·41
कर्नाटक	3	2·85	9	10·84
केरल	1	0·95	16	19·28
मध्य प्रदेश	3	2·85	4	4·82
महाराष्ट्र	8	7·62	4	4·82
मणिपुर और त्रिपुरा	2	1·91	1	1·20
नागालैण्ड	—	—	4	4 82

[1] The Competition master, January 1990, p. 370.

उडीसा	2	1·9	2	2·41
पंजाब	—	—	3	3·62
राजस्थान	2	1·91	1	1 20
तमिलनाडु	7	6·67	12	14·46
उत्तर प्रदेश	20	19·04	1	1·20
पश्चिम वगाल	2	1·91	2	2·41
केन्द्रशासित क्षेत्र	3	2·85	4	4·82
कुल अखिल भारतीय संख्या और प्रतिशत	105	3·09	83	2·44

(ii) **साम्प्रदायिक दंगे**—स्वाधीनता के बाद देश मे समय-समय पर साम्प्रदायिक दंगे होते रहे हैं। इससे मुसलमानो मे बहुमत समुदाय के विरुद्ध असुरक्षा की भावना विकसित हुई है। सन् 1968 मे 346 बार दगे हुए जबकि 1970 मे साम्प्रदायिक दंगो की संख्या 521 थी।

(iii) **उर्दू भाषा का प्रश्न**—मुसलमानो की ओर से उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश आदि मे उर्दू को दूसरी सरकारी भाषा का स्थान दिये जाने की माँग बार-बार की जाती है। कतिपय राजनीतिक दलों की ओर से यह प्रचार किया गया कि उर्दू केवल मुसलमानों की भाषा है जिससे उर्दू का सवाल एक साम्प्रदायिक सवाल बन गया। नवी लोकसभा चुनावो से ठीक पहले जब उत्तर प्रदेश में उर्दू को दूसरी राजभाषा बनाये जाने का फैसला लिया गया तो बदायूं मे दंगे हुए और दो दर्जन जानें गयी।

(iv) **अलीगढ़ विश्वविद्यालय का मामला**—सन् 1965 मे भारत सरकार ने अलीगढ विश्वविद्यालय के संगठन और कार्य-प्रणाली मे सुधार लाने के उद्देश्य मे एक अध्यादेश जारी किया। बाद में इस अध्यादेश को एक विधेयक के रूप में राज्यसभा में प्रस्तुत किया गया। मुसलमानों का कहना है कि इन परिवर्तनो का अर्थ विश्वविद्यालय के अल्पसंख्यक स्वरूप को समाप्त करना था। विश्वविद्यालय का अल्पसंख्यक स्वरूप बनाये रखने की माँग की जाती रही है।

(v) **मुस्लिम पर्सनल लॉ**—संविधान के नीति निर्देशक तत्वो मे भारत के लिए एक ही सिविल कोड बनाये जाने के आदर्श का उल्लेख किया गया है। भारत सरकार समाज सुधार की दृष्टि से मुसलमानों के पर्सनल लॉ मे कुछ परिवर्तन करना चाहती है। बहुविवाह, तलाक-पद्धति आदि के बारे मे पर्सनल लॉ मे कुछ परिवर्तन करने से ही मुस्लिम समुदाय का आधुनिकीकरण हो सकेगा। कट्टर मुसलमानों का कहना है कि उनका पर्सनल लॉ शरीयत पर आधारित है जिसमे परिवर्तन करना धर्म के प्रतिकूल है।

भारत में मुस्लिम वोटों की राजनीति (Politics of Muslim Votes)—स्वतन्त्रता के बाद मुसलमानो का कोई राजनीतिक दल राष्ट्रीय स्तर पर नही बन सका। दो प्रकार के मुस्लिम संगठनो ने राजनीति में भाग लिया—प्रथम, ऐसे संगठन जो शुद्ध राजनीतिक संगठन हैं, जैसे मुस्लिम लीग, मुस्लिम मजलिस आदि। द्वितीय, ऐसे सगठन जो मूलरूप मे अराजनीतिक संगठन हैं जैसे जमायते इस्लामी, मुशावरत, जमीअतुल उलामा आदि।

स्वाधीनता के बाद कांग्रेस ने मुसलमानो मे धर्मनिरपेक्ष दल के रूप मे अपनी छवि बनायी। धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के बावजूद भी कांग्रेस ने कुर्सी बनाये रखने के लिए मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति को सीने से चिपकाये रखा जिसके कारण 1955 मे जनसंघ पार्टी का उदय हुआ। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने जनसंघ के राजनीतिक आधार को मजबूत किया एवं फैलाया। इन दोनो सगठनों से खतरा महसूस करने के कारण मुसलमानो मे यह भावना बलवती हुई कि केवल कांग्रेस ही उनकी रक्षक है। इससे मुस्लिम मतदाताओ ने चुनावो मे उसे

आँखें बन्द कर समर्थन दिया। 1952, 1957 एवं 1962 तक चुनावों में तत्कालीन सत्ताधारी कांग्रेस अनेक कारणो से मुस्लिम समाज के अधिकाश वोट बटोरती रही। लेकिन 1967 के चौथे आम चुनाव मे कांग्रेस को मुस्लिम मतदाताओं का समर्थन कम होने का झटका महसूस हुआ। साम्यवादी दलो के शुरू होते प्रभाव ने पढ़े-लिखे, प्रगतिशील मुसलमानों को आकर्षित किया। मुस्लिम दलों और सगठनों ने क्षेत्रीय दलो के साथ समझौता किया। कांग्रेस मे आन्तरिक खींच-तान, आर्थिक नीतियों की आशिक असफलता तथा कानून और व्यवस्था मे गिरावट आदि से आम जनता के साथ मुस्लिम मतदाताओ का भी कांग्रेस मे विश्वास कम हुआ। इसकी भनक पाकर श्रीमती गाँधी ने कुछ समय पश्चात् अल्पसख्यको के सामने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-जनसघ का हौवा खड़ा कर मुस्लिम अधिकारो का ठेका लेने की बागडोर बड़े ही चतुर ढग से सँभाली। 1971 और 1972 के चुनावों मे कांग्रेस की अद्भुत विजय मे मुस्लिम मतो की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। 1975 मे थोपे गये आपात्काल मे जबरन नसबन्दी के कार्यक्रम मे मुस्लिम समाज का बहुत बडा हिस्सा कांग्रेस से एकदम नाराज हो गया। 1977 के लोकसभा चुनावो मे दिल्ली जामा मस्जिद के शाही इमाम जैसे अनेक मुस्लिम नेताओं ने कांग्रेस के विरुद्ध तथा नवगठित जनता पार्टी के पक्ष मे खुलम-खुल्ला प्रचार मे मुस्लिम मतदाताओ की नाराजगी की आग मे घी का काम किया। इस चुनाव मे कांग्रेस की हार मे मुस्लिम मतदाताओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही।

जनवरी 1980 के चुनाव मे शाही इमाम की माँग थी कि लोकसभा, राज्यसभा तथा मन्त्रिमण्डल मे मुसलमानों को बीस प्रतिशत प्रतिनिधित्व मिले व राज्यो मे वहाँ की जनसख्या के अनुसार उन्हे प्रतिनिधित्व मिले। पुलिस एवं सेना में उनको बीस प्रतिशत स्थान सुरक्षित रहे। मुसलमानो के वोट प्राप्त करने के लिए जनता पार्टी और कांग्रेस (इ) ने अपने-अपने चुनाव घोषणा-पत्रो मे अल्पसख्यको के लिए कई प्रावधान किये। कांग्रेस (इ) के चुनाव घोषणा-पत्र मे कहा गया (i) अल्पसख्यक आयोग को कांग्रेस मजबूत करेगी। (ii) अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय के मुस्लिम स्वरूप को सुनिश्चित किया जायेगा। (iii) अल्पसंख्यको को विधि और व्यवस्था तथा रक्षा कार्मिक सहित सभी सरकारी सेवाओं मे नौकरी के उचित अवसर दिये जायेगे। (iv) उर्दू को उसका उचित स्थान दिलाया जायेगा तथा खास-खास क्षेत्रो मे सरकारी राज-काज के व्यवहार के लिए दूसरी भाषा के रूप मे उर्दू को मान्यता दी जायेगी।[1]

जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावो मे जनता पार्टी की पराजय का एक कारण यह भी था कि उसे अधिसख्य मुस्लिम वोट नही मिले। मुसलमानो की जनता पार्टी के प्रति नाराजगी का मुख्य कारण उसके शासन के दौरान न तो अलीगढ विश्वविद्यालय को अल्पसंख्यक स्वरूप प्रदान किया गया और न ही उर्दू को संवैधानिक सरक्षण। साम्प्रदायिक दंगो को रोकने मे वह असफल रही। ऐसी स्थिति मे कांग्रेस (इ), लोकदल तथा समाजवादी गुट ने जनता पार्टी मे आर. एस. एस. के वर्चस्व का हौवा खडाकर उसके मुस्लिम विरोधी होने की छवि बना दी।

नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावो मे उत्तरप्रदेश और बिहार मे जनता दल की अभूतपूर्व सफलता का कारण उसे प्राप्त मुस्लिम मतदाताओं का समर्थन भी एक बडा कारक रहा है। मुसलमान उत्तरप्रदेश के कम से कम 35 जिलो मे कुल मतदाताओं का 17·2 फीसदी होने के कारण चुनाव को प्रभावित करने की क्षमता रखते थे। सयोग से 'खतरनाक क्षेत्र' मानी जाने वाली 32 लोकसभा और 135 विधानसभा सीटें मुसलमानो की रिहायश वाले बिजनौर, मुरादाबाद, रामपुर, बदायूँ, बरेली, पीलीभीत और शाहजहाँपुर सरीखे 35 जिलों मे पड़ती है। यह गणित इतना प्रभावी था कि मुख्यमन्त्री नारायण दत्त तिवारी ने हटवडी मे उर्दू को दूसरी राजभाषा का दर्जा देने की घोषणा कर दी।

---

[1] भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इ), चुनाव घोषणा-पत्र, 1980।

यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि मुसलमान मत देते समय किन बातो को ध्यान मे रखते है। इस सम्बन्ध मे तीन बातें उल्लेखनीय है : **पहली**, इस्लाम भाई-चारे पर आधारित है। **दूसरी**, मुस्लिम समाज मे मुस्लिम राजनीतिक नेताओ की अपेक्षा धार्मिक नेता ज्यादा प्रभावशाली होते है। **तीसरी**, अल्पसंख्यक समुदाय होने के नाते वे प्राय बहुसंख्यक हिन्दू समाज के वर्चस्व के डर से एकजुट होकर मतदान करते है।

ईसाई अल्पसंख्यक (Christian Minority)—ईसाई भी भारत मे अल्पसंख्यक है। ईसाइयों की सख्या दक्षिण भारत और केरल मे ज्यादा है। ईसाइयों का कोई राजनीतिक दल नही है। ईसाइयों ने राजनीति की अपेक्षा सामाजिक, धार्मिक और शैक्षणिक गतिविधियों मे अपने को लगा रखा है। *ईसाई मिशनरियों के विरुद्ध कई बार हिन्दुओं की ओर से आवाज उठायी गयी है कि वे* लालच अथवा बल के द्वारा हिन्दुओं को ईसाई बना रहे हैं। हिन्दुओं को अपने धर्म से च्युत करने के लिए करोडों रुपया प्रतिवर्ष विदेशो से आने लगा। नागालैण्ड, मेघालय, मणिपुर इत्यादि क्षेत्रो मे ईसाइयों की संख्या बढने लगी। ऐसी स्थिति मे लोकसभा के सदस्य श्री ओमप्रकाश त्यागी ने 22 दिसम्बर, 1978 को लोकसभा मे एक विधेयक 'धर्म स्वतन्त्र विधेयक' के नाम से रखा। विधेयक की धारा 3 के अन्तर्गत कहा गया कि 'कोई भी प्रत्यक्षत. या बलपूर्वक या उत्प्रेरण द्वारा या प्रवंचना द्वारा या किन्ही कपटपूर्ण साधनों द्वारा एक धार्मिक विश्वास से दूसरे मे परिवर्तित नही करेगा और न ही इस तरह के प्रयास के लिए दुष्प्रेरणा देगा। यदि ऐसा करेगा तो ऐसे व्यक्ति को एक वर्ष तक कारावास और तीन हजार रुपये तक जुर्माना हो सकेगा।' इस विधेयक के विरुद्ध ईसाई समाज के विरोध को देखते हुए यह विधेयक पारित नही किया गया।

सिक्ख अल्पसंख्यक (*Sikh Minority*)—स्वतन्त्रता के बाद सिक्खो ने पंजाबी सूबे की माँग की। अकाली दल ने आन्दोलन प्रारम्भ किया और कहा कि सिक्खों की भाषा एवं संस्कृति के आधार पर एक पृथक् राज्य का निर्माण किया जाना चाहिए। सन् 1967 मे पंजाब का विभाजन कर हरियाणा और पंजाब राज्य बनाये गये। इस नवगठित पंजाब मे सिक्खो की जनसंख्या 61 प्रतिशत हो गयी। सिक्खो को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल, संसद तथा विधानसभा मे पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त है। पंजाबी भाषा को संविधान मे मान्यता दी गयी है। सेना, पुलिस एवं प्रशासन मे भी सिक्खो का प्रतिनिधित्व बहुत अधिक है। इस सबके बावजूद सिक्खो का एक वर्ग पृथक् राज्य 'खालिस्तान' की माँग करने लगा। अकाली दल ने 'धर्म युद्ध मोर्चा' (1982-85) केन्द्र के विरुद्ध लगा रखा। आतंकवादी गतिविधियो पर नियन्त्रण करने के लिए स्वर्ण मन्दिर पर सैनिक कार्यवाही करनी पडी। जुलाई, 1985 मे केन्द्रीय सरकार और अकाली दल के मध्य पंजाब समस्या के समाधान के लिए एक समझौता हुआ। पंजाब समझौते (24 जुलाई, 1985) के बाद घावों को भरने एवं टूट को जोडने का काम किया जाना है। प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के बाद वी. पी. सिंह की स्वर्ण मन्दिर यात्रा पंजाब समस्या के समाधान की दिशा मे नये युग की शुरुआत है। अकाल तख्त के सामने नये प्रधानमन्त्री ने ठीक ही कहा है—"घाव हरे है, दिल भरे है, मरहम की जरूरत है।"

भारत में भाषा पर आधारित अल्पसंख्यक
(MINORITIES BASED ON LANGUAGE)

भारत मे भाषाई अल्पसंख्यक धार्मिक अल्पसंख्यको से भिन्न हैं। बंगाली बोलने वालो मे हिन्दू और मुसलमान दोनो पाये जाते हैं। संविधान के अनुच्छेद 29 और 30 मे भाषाई अल्पसंख्यको को संरक्षण दिया गया है। उन्हे अपनी विशेष भाषा, लिपि या सस्कृति को बनाये रखने का अधिकार है। संविधान के अनुच्छेद 347 के अनुसार राष्ट्रपति किसी राज्य के अच्छे-खासे भाग के द्वारा बोली जाने वाली भाषा को उस राज्य के द्वारा सरकारी रूप में मान्यता देने का

निर्देश दे सकते है। अनुच्छेद 350 मे प्रावधान है कि प्रत्येक राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि अल्पसंख्यको के बच्चो को प्राथमिक स्तर की शिक्षा उनकी मातृभाषा मे दी जाये। ससद मे सदस्य अपनी मातृभाषा मे विचार अभिव्यक्त कर सकते हैं। संविधान के अनुच्छेद 350 के अनुसार भाषायी अल्पसंख्यको के लिए एक विशेष पदाधिकारी नियुक्त करने की व्यवस्था है।

इन सुविधाओ के बावजूद भी भारत के भाषायी अल्पसंख्यको मे असन्तोष विद्यमान रहा है। भाषायी अल्पसख्यकों की ओर से भाषा के आधार पर राज्यो के पुनर्गठन की माँग की गयी। भाषा के आधार पर आन्ध्र प्रदेश का निर्माण हुआ, 1966 मे गुजरात और महाराष्ट्र दो पृथक् राज्यो का निर्माण किया गया, 1966 मे पंजाब का विभाजन हुआ और मद्रास मे डी. एम. के दल पृथक् द्रविडस्थान की माँग करने लगा। उर्दू बोलने वालो मे व्यापक असन्तोष रहा है। उर्दू बोलने वालो की संख्या काफी अधिक है और वे देश के विभिन्न भागो मे फैले हुए हैं किन्तु उर्दू को लम्बे समय तक किसी भी राज्य मे सरकारी भाषा का दर्जा प्राप्त नही हुआ। सन् 1980 मे असम मे चल रहा आन्दोलन भाषायी है। असमियो का कहना है कि यदि बगालियो को असम से नही निकाला गया तो असमी भाषी लोग अल्पमत मे आ जायेंगे। भाषायी अल्पसंख्यको की शिकायत है कि भाषा की विभिन्नता के कारण विभिन्न सेवा प्रतियोगिताओ मे उनका चयन मुश्किल से हो पाता है। लिपि के प्रश्न को लेकर हिन्दी और उर्दू वालो मे विशेष मतभेद पाया जाता है। भाषायी अल्पसंख्यको की यह भी माँग है कि विश्वविद्यालयों आदि मे क्षेत्रीय भाषाओ मे अध्यापन कार्य किया जाना चाहिए। दक्षिण के गैर-हिन्दी राज्य हिन्दी का विरोध करते हैं। संक्षेप मे, राष्ट्र-भाषा का विरोध और भाषा के आधार पर राज्यो का निर्माण भारतीय राजनीति को प्रभावित करते हैं।

अल्पसंख्यक आयोग की रिपोर्ट—न्यायमूर्ति एम. एच. बेग की अध्यक्षता मे गठित अल्पसख्यक आयोग द्वारा भारत के राष्ट्रपति को अक्टूबर 1987 मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की गयी। इसमे अनेक सुझाव दिये गये हैं। एक सुझाव यह भी दिया गया है कि धर्म को राजनीति से पृथक् किया जाना चाहिए। आयोग का विचार है कि सब प्रकार की राजनीतिक तथा आर्थिक माँगो को धर्म-निरपेक्ष दलो द्वारा ही सही ढग से उठाया जा सकता है।

भारत में अनुसूचित जाति एवं जनजातियों की राजनीति
(POLITICS OF SCHEDULED CASTES AND TRIBES)

ब्रिटिश शासन ने व्यापार के माध्यम से भारतीय समाज को दरिद्र एव परावलम्बी बनाते हुए आर्थिक दृष्टि से विघटित कर दिया और मुगलकाल से चली आ रही कठोर जाति व्यवस्था को अप्रत्यक्ष रूप से प्रश्रय देते हुए प्रमुख जातियो को एक-दूसरे के विरुद्ध खडा कर दिया। उनका उद्देश्य यह रहा कि भारतीय समाज मे एकता, सौहार्द्र तथा सहयोग की भावना समाप्त हो जाये और वह छोटे-छोटे टुकडो मे बँटकर आर्थिक-सामाजिक सत्ता के पदसोपान मे इस प्रकार समा जाये कि स्वयं समाज का एक वर्ग दूसरे को दबाता रहे। ढेबर समिति के अनुसार, "स्वतन्त्रतापूर्व के कबीला क्षेत्र की दशा का सर्वेक्षण यह दर्शाता है कि अलगाव एव निष्क्रियता की नीति का उद्देश्य मात्र यथास्थिति बनाये रखना था। इसका नतीजा यह हुआ कि भारत के अधिकतर भागो मे आदिम जातियाँ दरिद्रता की स्थिति मे रह गयी।"

राष्ट्र के नेतृत्व के समक्ष भारत को एक विकसित राष्ट्र मे बदलने की जिम्मेदारी आयी। विकास के लिए ऐसे जीवट तथा एकीकृत समाज की आवश्यकता थी जो राष्ट्र निर्माण मे सकारात्मक सहयोग प्रदान कर सकता है। इसके लिए प्रत्येक नागरिक तक शासन की पहुँच के लिए एक-तन्त्र स्थापित करना तथा शासन की प्रत्येक क्रिया मे अधिकतम नागरिको के हिस्से[1] को उत्साहित

---

1 Riggs, Prigmatic Societies and Public Administration', *Administrative Change*, Vol. I, No. 2, 1973, pp. 18-24.

करना और उसे अन्तरजातीय तथा अन्तरजाति सामन्ती ढाँचे के मनोवैज्ञानिक एवं भौतिक दवाव से मुक्त करना आवश्यक था।

सविधान निर्माताओ ने यह स्वीकार किया कि कुछ जाति तथा क्षेत्र ऐसे हैं जो अन्य जाति तथा क्षेत्रो की तुलना मे बहुत पिछडे हैं। राष्ट्रीय एकता एवं विकास की दृष्टि मे इन पिछडे वर्गो एव क्षेत्रो का विकास अत्यधिक आवश्यक एवं कठिन कार्य माना गया। संविधान के नीति निर्देशक तत्त्वो मे यह प्रावधान रखा गया कि 'राज्य जनता के दुर्बलतर विभागों के, विशेषतया अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित आदिम जातियो के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितो की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा, सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।"[1] संविधान के अनुसार अनुसूचित आदिम जातियो के उत्थान के लिए हाथ मे ली गयी परियोजनाओं के लिए भारत की संचित निधि से मूल तथा आवर्तक राशियाँ दी जा सकेंगी।[2] अनुसूचित जातियों एवं जनजातियो की दशा जानने एवं उनके उत्थान के लिए विशेष पदाधिकारी[3] तथा आयोग[4] नियुक्त करने का भी प्रावधान है।

पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की पहचान
(BACKWARD COMMUNITIES, SCHEDULED CASTES AND SCHEDULED TRIBES · MEANING)

पिछड़ा, विकासशील एवं विकसित ये तुलनात्मक अवधारणाएँ हैं। इनमे निश्चित माप-दण्ड नही हो सकते। एक विकासशील वातावरण मे पिछड़े एवं गैर-पिछडे वर्गों के बीच कोई वैज्ञानिक विभाजन अस्पष्ट एवं विवेकाधीन ही होगा। ऐसे कोई निश्चित मानक स्थापित नही किये जा सके हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि एक वर्ग को क्यो पिछडा मान लिया है और ठीक उसी तरह के दूसरे को क्यो नही। समाज कल्याण एव पिछडे वर्गो के अध्ययन दल (रेणुका अध्ययन दल) के अनुसार, "हम यह अनुभव करते है कि पिछड़ेपन के लक्ष्य एवं कामचलाऊ परिभाषा के अभाव मे विशेषाधिकारो के लिए जन्म पर आधारित पिछड़े समुदाय बढते जा रहे हैं। एक भूमिहीन श्रमिक को, विना यह देखे कि वह किस समुदाय का है, सहायता की आवश्यकता है। यही सिद्धान्त बेघरवार, बेरोजगार, अज्ञानी तथा बीमार व्यक्तियो पर भी लागू होता है।"[5]

पिछड़े वर्ग के सन्दर्भ मे गत वर्षो मे अनेक अवधारणाएँ विकसित हुई जिनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं . अनुसूचित जाति, अनुसूचित आदिम जाति, सूचित जाति, पिछड़े वर्ग, अशक्त या दुर्बलतर वर्ग तथा अति गरीब। दुर्बलतर वर्ग तथा अति गरीब के अतिरिक्त सभी मे वर्ग की बजाय जातियों को शामिल किया गया है। इनका आधार सामाजिक वर्ग भी नही है क्योकि ऐसा व्यक्ति भी जो 30 वर्ष से केन्द्रीय मन्त्री रहा हो पिछडे वर्गो मे सम्मिलित माना जा रहा है। अनुसूचित जाति एव अनुसूचित आदिम जाति सन् 1931 की जनगणना के द्वारा अन्य जातियो से अलग स्वीकार की गयी। भारत के सविधान मे यह प्रावधान रखा गया है कि राष्ट्रपति राज्यपाल से परामर्श करने के पश्चात् लोक अधिसूचना द्वारा ऐसी जातियो का उल्लेख कर सकेगा। प्रत्येक राज्य के लिए वहाँ की जातियों के अनुसार इनकी अलग-अलग सूचियाँ बनायी गयी हैं।

---

1 **भारतीय संविधान**, अनुच्छेद 47।

2 **उपर्युक्त**, अनुच्छेद 275।

3 **उपर्युक्त**, अनुच्छेद 338।

4 **उपर्युक्त**, अनुच्छेद 340।

5 Report of the Study team on Social Welfare and Backward Classes (Renuka Study Team) Committee on Plan Project (New Delhi, July 1969) Vol, I, p. 7.

अनुसूचित जातियों मे सामान्यत वे जातियाँ शामिल की गयी है जो आर्थिक रूप से कमजोर एवं सामाजिक दृष्टि से अछूत समझी जाती रही है। ऐसी जातियाँ जो पीढ़ियों से अप्रिय, अमान्य तथा कमीने धन्धे करती आयी है जैसे—मल उठाना, झाड़ू देना, मृत पशु उठाना, चमडा उतारना तथा चर्मशोधन आदि। अनुसूचित आदिम जातियाँ वे जातियाँ है जो ऐसे क्षेत्रो मे रही है जिनका भौतिक विकास नही हुआ या जो घुमक्कड रही हैं जैसे आदिवासी, भील आदि। इन जातियो तक सभ्यता बहुत कम पहुँच पायी। सूचित जातियाँ वे जातियाँ हैं जो वर्षो से अपराध कृत्यो के माध्यम से अपनी गुजर कर रही थी। ऐसी जातियाँ घुमक्कड जातियाँ रही है जो चोरी करने, राहगीरो को लूटने आदि के कार्य करती रही है। इस प्रकार तीनो ही प्रकार की जातियाँ बाकी समाज से कटकर अलग हो गयी। इन्हे विकास की धारा के साथ जोड़ने के लिए विशेष प्रयासो की आवश्यकता समझी गयी।

'अन्य पिछड़े वर्गों' का सीमाकन करना कठिन है। इसमे अनेक ऐसी जातियाँ जो अनुसूचित जातियाँ नही थी किन्तु अन्य जातियो से पिछडी थी, जो शून्य थी, परन्तु अछूत नही जैसे नाई, बढई आदि को पिछडे वर्ग मे शामिल कर लिया गया। राजनीति कोष के अनुसार 'पिछडे हुए वर्गो का अभिप्राय समाज के उस वर्ग से है जो आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षिक निर्योग्यताओ के कारण समाज के अन्य वर्गो की तुलना मे नीचे स्तर पर हों। यद्यपि संविधान मे इस शब्दबन्ध का एकाधिक स्थलो पर प्रयोग हुआ है (अनुच्छेद 16(4) तथा 340 मे) पर इसकी परिभाषा कही नही की गयी।"[1] पिछड़े वर्गो मे जातियो के साथ-साथ कुछ वर्ग जैसे महिलाएँ, अनाथ, भिखारी आदि भी शामिल किये गये।

'दुर्बलतर वर्गो' या 'अशक्त वर्ग' शब्दबन्ध का भारत के संविधान मे जिस प्रकार उपयोग किया गया है उससे यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि इसमे अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित आदिम जातियो के अलावा भी कुछ वर्गो को शामिल किया गया है, किन्तु यह स्पष्ट नही किया गया कि वे कौन से वर्ग होगे। रेणुका अध्ययन दल ने निम्नलिखित प्रकार के वर्गों को इसमे सम्मिलित करने का सुझाव दिया है—बहुत कम भूमि वाले किसान, भूमिहीन मजदूर, बहुत छोटे दस्तकार, अनुसूचित जातियाँ, उच्च जाति के गरीब, महिलाएँ, असहाय लोग जैसे विधवाएँ, अनाथ, वृद्ध, बेरोजगार आदि।

पिछडे वर्गो की घोषणा करते समय राज्य सरकारो ने स्थिति को काफी अस्पष्ट कर दिया है। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश सरकार ने 64 जातियो को अनुसूचित-जातियो मे रखा है। इसमे अनेक ऐसी जातियाँ है जो जनसामान्य मे इन नामो से नही जानी जाती तथा एक ही जाति के पर्याय या उपजाति के नाम भी रख दिये गये हैं जैसे, बलाई बाल्मीकि, चमार आदि। पिछडे वर्गो मे 37 जातियो को रखा है। इनमे अनेक ऐसी जातियाँ हैं जिन्हे सामान्य ग्रामीण वर्गो से किसी भी दृष्टि से अलग नहीं किया जा सकता जैसे अहीर, गूजर, हलवाई, सुनार, कुम्हार, माली, जोगी, दर्जी आदि। सम्भवत पिछड़े वर्गों मे अनेक जातियों को राजनीतिक कारणो से शामिल किया गया है तथा उनका हटाया जाना कठिन है।

अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए आरक्षण एवं सुविधाएँ
(CONSTITUTION SAFEGUARDS AND CONCESSIONS FOR SCHEDULED CASTES AND TRIBES)

सविधान सभा मे कतिपय सदस्यों का मत था कि हरिजनो एव जनजातियो के लिए लोक-सेवाओ एवं संसद व विधानमण्डलो मे आरक्षण का प्रावधान किया जाये ताकि इन वर्गों का

---

[1] सुभाष काश्यप एव विश्वप्रकाश गुप्ता : **राजनीति कोष** (राजकमल, दिल्ली, 1971) पृ. 24-25।

सरकार और विभिन्न सेवाओं में समुचित प्रतिनिधित्व हो सके। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में कतिपय ऐसे प्रावधानों का उल्लेख किया गया है जिनके अन्तर्गत इन वर्गों के लिए आरक्षण एवं सुविधाएँ उपलब्ध है।

संविधान के अनुच्छेद 17 द्वारा छुआछूत को समाप्त किया गया है और किसी भी प्रकार से छुआछूत का व्यवहार करना दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है। अनुच्छेद 15 में समानता के अधिकार की व्याख्या की गयी है। इसके अनुसार राज्य किसी व्यक्ति के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमे से किसी एक के आधार पर भेदभाव नही करेगा। इनमे से किसी भी आधार पर कोई नागरिक दुकानो, सार्वजनिक स्थानो, भोजनालयो, होटलों, सार्वजनिक मनोरंजनों के स्थानों मे प्रवेश करने से नही रोका जायगा तथा पूर्ण अथवा आंशिक रूप से राज्यनिधि द्वारा पोषित अथवा साधारण जनता के लिए बनाये गये कुओं, घाटों, स्नान घाटो, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपभोग से वंचित नहीं किया जायेगा। अनुच्छेद 19(5) के अनुसार अनुसूचित आदिम जातियों के हितों की रक्षा के लिए स्वतन्त्रता के अधिकार को परिसीमित किया जा सकता है। अनुसूचित आदिम जातियाँ एक पृथक् समुदाय है जिनकी अपनी सांस्कृतिक एवं सम्पत्ति सम्बन्धी परम्पराएँ है। ये सीधे-सादे लोग काफी पिछड़े हुए हैं, इनकी संस्कृति या पिछड़ेपन का कारण उन्हे पूर्णत पृथक् रखना चाहे युक्तिसंगत नही है तथापि इनके हितो की सुरक्षा के लिए जो व्यवस्था की गयी है वह न्यायोचित ही जान पड़ती है। इन सुरक्षाओं के अभाव में समाज के अधिक चतुर एवं सभ्य लोग इन सरल आदिम जाति के व्यक्तियों को मूर्ख बनाकर इनका शोषण करने में समर्थ हो सकते हैं। इसलिए ऐसे अनेक उपबन्धो का आयोजन किया गया है जिनसे इन व्यक्तियो को केवल विशेष परिस्थितियो में ही अपनी सम्पत्ति हस्तान्तरण करने का अधिकार होगा। इन लोगो की सुरक्षा एव लाभ के लिए, साधारण नागरिको द्वारा, इनके क्षेत्रो मे बसने अथवा सम्पत्ति खरीदने पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। अनुच्छेद 46 के अनुसार राज्य को निर्देश दिया गया है कि अनुसूचित जातियो तथा जनजातियो के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितो का विशेष रूप से संरक्षण व उन्नति का प्रबन्ध करे।

लोकसभा तथा राज्यो की विधानसभाओ मे अनुसूचित जातियो एवं जनजातियो के लिए स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गयी है। प्रारंभ मे यह व्यवस्था 25 जनवरी 1960 तक के लिए की गई थी, किन्तु संविधान मे संशोधन कर इसकी समय सीमा को बढाया जाता रहा और अब 62वें संवैधानिक संशोधन (1990) के आधार पर इन प्रतिनिधि संस्थाओं मे आरक्षण की व्यवस्था को 19 जनवरी, 2000 ई. तक के लिए बढा दिया गया है। वर्तमान मे लोकसभा मे कुल निर्वाचित स्थानो की संख्या 543 है, जिनमे अनुसूचित जातियों और जनजातियो के लिए क्रमश 79 और 40 स्थान सुरक्षित हैं। अगस्त 1986 मे देश की विभिन्न राज्य विधानसभाओं की कुल सदस्य संख्या 3,997 थी जिसमे 557 सदस्य अनुसूचित जाति के तथा 315 सदस्य अनुसूचित जनजातियो के थे।[1]

तालिका 4

लोकसभा में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए सुरक्षित स्थान

	1952	1957	1962	1967	1971	1977	1980	1984	1989
कुल संख्या	489	494	494	521	522	542	542	542	543
अनुसूचित जातियो के लिए सुरक्षित स्थान	70	76	76	77	77	75	79	79	79
अनुसूचित जनजातियो के लिए सुरक्षित स्थान	27	31	31	37	40	35	40	40	40

[1] *India*, 1986, p 195.

संविधान के अनुच्छेद 335 के अनुसार केन्द्र तथा राज्य सरकारो के अधीन सेवाओ मे अनुसूचित जातियो और जनजातियो को समुचित प्रतिनिधित्व देने के लिए आश्वासन दिया गया है। इन जातियो को शासकीय सेवाओ मे प्रतिनिधित्व देने के लिए जो रियायतें प्रदान की गयी है, उनमे मुख्य है—आयु सीमाओ मे छूट, योग्यता स्तर मे छूट, कार्यकुशलता का निम्न स्तर पूरा करने पर उनका चयन, नीचे की श्रेणियो मे उनकी नियुक्ति और पदोन्नति का विशेष प्रबन्ध।

अखिल भारतीय सेवाओ मे खुली प्रतियोगिता के लिए अनुसूचित जातियो के लिए 15% तथा जनजातियो के लिए 7½% आरक्षण की व्यवस्था है। इसी प्रकार समूह 'ग' और 'घ' केन्द्रीय सेवाओ मे भी क्षेत्रीय आधार पर उनकी जनसंख्या को ध्यान मे रखते हुए आरक्षण की व्यवस्था है। समूह 'क' और 'ख' सेवाओ मे पदोन्नति भी उनकी जनसंख्या को ध्यान मे रखते हुए उसी अनुपात मे की जाती है। वैज्ञानिक और तकनीकी पदो पर भी आरक्षण के प्रावधान है। 1 जनवरी, 1983 के आँकड़ो के अनुसार आई. ए. एस. मे 9·54% तथा 4·2% अनुसूचित जातियो एवं जनजातियो का प्रतिनिधित्व था। इसी प्रकार आई. पी. एस. मे अनुसूचित जातियो का 10·40% और अनुसूचित जनजातियो का 3·50% प्रतिनिधित्व था।

अनुसूचित जातियों तथा जनजातियो के लिए सेवाओ मे 'दावो' (Claims) की व्यवस्था अनुच्छेद 335 के अन्तर्गत है और संविधान के अनुसार इन दावो, जिन्हे सामान्यतया आरक्षण के नाम से जाना जाता है, के लिए कोई समय-सीमा निर्धारित नही की गई है।

तालिका 5

केन्द्रीय सरकार की सेवाओं में अनुसूचित जातियों/जनजातियों का प्रतिनिधित्व[1]

समूह (श्रेणी)	कर्मचारियों की संख्या	अनुसूचित जातियों के कर्मचारियों की संख्या	कुल संख्या के मुकाबले अनुसूचित जातियों का प्रतिशत	अनुसूचित जनजातियों के कर्मचारियों की संख्या	कुल संख्या के मुकाबले अनुसूचित जनजातियों का प्रतिशत
(क) श्रेणी प्रथम	53,165	3,574	6 72	761	1·43
(ख) श्रेणी द्वितीय	62,600	6,368	10·17	922	1·47
(ग) श्रेणी तृतीय	21,28,746	3,11,070	14·61	88,149	4 47
(घ) श्रेणी चतुर्थ (मेहतरो को छोडकर)	13,03,005	2,55,053	19·57	71,812	5 51
कुल	35,47,516	5,76,065	16·24	1,61,644	4 56
भारतीय प्रशासनिक[2] सेवा (आई. ए. एस)	4,236	404	9·54	181	4 27
भारतीय पुलिस सेवा (आई.पी.एस)	2,198	330	10·40	77	3 50

1 *India*, 1986, p 197.

2 1 जनवरी, 1983 की स्थिति के अनुसार।

संविधान के अनुच्छेद 275 के अनुसार अनुसूचित जातियो के विकास के उद्देश्य मे बनायी गयी योजनाओ के लिए राज्य सरकारो के लिए विशेष अनुदान देने की व्यवस्था की गयी है। अनुसूचित जातियो एवं जनजातियो के विद्यार्थियो को छात्रवृत्ति दिये जाने, नि.शुल्क शिक्षा देने तथा प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओ मे स्थान रखने के प्रावधान किये गये है।

आरक्षण के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Reservation)—आरक्षण के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं .

1. आरक्षण से लोक सेवाओ मे पिछड़े वर्गो का प्रतिनिधित्व बढने लगा है।

2. आरक्षण से कमजोर वर्गों की आर्थिक उन्नति सम्भव हो पायी हैं।

3. आरक्षण से कमजोर वर्गो की सामाजिक प्रतिष्ठा मे परिवर्तन आया है।

4 आरक्षण से संविधान के सामाजिक और आर्थिक न्याय सम्बन्धी प्रावधानो का समुचित क्रियान्वयन हुआ है।

5. आरक्षण से पिछड़े वर्गो की गरीवी के निवारण का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

6. आरक्षण से समाज के उच्च वर्गो के साथ निम्न वर्गो को भी शासन प्रणाली और राजनीतिक व्यवस्था में हिस्सेदारी अदा करने का अवसर मिला है।

7. आरक्षण से पिछड़े वर्गो मे सत्ता में भागीदारी और समान अधिकारो पर जोर देने की भावना वढी है।

8. आरक्षण ने कमजोर वर्गों को शिक्षा के प्रति जागरूक वनाया है।

9. आरक्षण से पिछडे वर्गो में 'राजनीतिक चेतना' वढी है।

आरक्षण के विपक्ष में तर्क (Arguments Against the Reservation)—आरक्षण के आलोचक निम्न तर्क देते हैं .

1. आरक्षण से प्रशासन तथा राजनीति मे जातिवाद का वोलवाला वढा है।

2. आरक्षण से ऊँची जातियो और पिछड़ी जातियो के मध्य संघर्ष एव टकराहट की स्थिति उत्पन्न हुई है।

3. आरक्षण से लोकसेवा के स्तर का ह्रास हुआ है। The best criticism reserv

4. आरक्षण का लाभ अनुसूचित जातियो तथा जनजातियो के एक छोटे से वर्ग ने उठाया है जिससे इस छोटे से वर्ग तथा इन जातियो के वहुत वड़े वचित वर्ग के मध्य खाई पैदा हो गयी है।

5. आरक्षण की राजनीति का वोलवाला वढा है, राजनीतिक दल आरक्षण को राजनीतिक हथियार के रूप मे कार्य करने लगे, जिससे निहित वर्गो की राजनीति का अभ्युदय हुआ है।

6. आरक्षित जातियो की सूची मे सम्मिलित होने के लिए अन्य पिछड़ी जातियों मे भी प्रतिस्पर्द्धा पैदा हो गई, उसके परिणामस्वरूप आरक्षण वोट वैंक पैदा करने का साधन वन गया।

7. आरक्षण से अनुसूचित जातियो एवं जनजातियो की स्थिति मे सुधार होने के वजाय उनकी निर्भरता वढ गई, ये जातियाँ आरक्षण की वैसाखियो पर चलने की आदी हो गई।

8 पदोन्नति की 'रोस्टर प्रणाली' के खिलाफ अन्य वर्गों के अधिकारियों मे जवरदस्त प्रतिक्रिया पाई जाती है।

9. यह संविधान द्वारा प्रदत्त समानता के अधिकार के विरुद्ध है। अनुच्छेद 14 से 18 मे कहा गया है कि जाति, धर्म, लिंग के आधार पर नागरिको मे भेद नही किया जाना चाहिए। अत यदि अनुसूचित जाति व जनजाति के लिए आरक्षण किया जाता है तो यह संविधान की समानता के अधिकार का उल्लघन है।

10. यह समाज मे अनुसूचित एवं जनजाति का पृथक् समूह बना देता है और ये जातियाँ मुख्य धारा से कट जाती हैं।

पिछड़ी जाति आयोग : मण्डल आयोग की रिपोर्ट पर विवाद
(BACKWARD CASTE COMMISSION : MANDAL COMMISSION REPORT)

संविधान की धारा 340 के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था तो पहले ही कर दी गयी पर पिछड़ी जातियो की सुनवाई सबसे पहले 1953 मे हुई जब गाँधीवादी विचारक काका कालेलकर की अध्यक्षता मे पहले पिछडी जाति आयोग का गठन हुआ । 30 मार्च, 1955 को इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को दी ।

कालेलकर आयोग ने 2,399 जातियों की पिछड़ी जाति के रूप मे पहचान की, सभी स्त्रियों को पिछडी जाति मे रखने की सिफारिश की और प्रथम श्रेणी की सरकारी नौकरियो मे 25%, द्वितीय श्रेणी मे 33% और तृतीय श्रेणी मे 40% आरक्षण की भी सिफारिश की । परन्तु दिलचस्प बात तो यह है कि सात मे से तीन सदस्यो ने तो यह भी नही माना कि जातीयता पिछड़ापन का कारण है । स्वयं काका कालेलकर ने सिफारिशो के प्रति अपनी असहमति जाहिर की । परिणाम यह हुआ कि यह नीति ढुलमुल ही रही । राज्यो ने अपने आयोग नियुक्त किये और उन्ही के आधार पर आरक्षण निर्धारित किया ।

इस प्रकार विसंगतियाँ और भी बढी । एक तरफ जहाँ कर्नाटक मे 48%, केरल मे 30% और तमिलनाडु मे 50% के कोटा निर्धारित किये गये तो दूसरी तरफ कुछ ऐसे भी राज्य है जहाँ ऐसी कोई भी व्यवस्था नही है । पंजाब मे यह व्यवस्था 5% है तो राजस्थान, उडीसा और दिल्ली मे बिल्कुल ही नही है । सरकारी सेवाओं मे भी सिर्फ 12·55% ही पिछडी जातियो को प्रतिनिधित्व मिल पाया, इनमे से भी प्रथम श्रेणी मे 4·69% ही आ पाये ।

इन्ही विसंगतियो को दूर करने के उद्देश्य से 20 सितम्बर, 1978 को मोरारजी देसाई की जनता सरकार ने बिहार के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री बी. पी. मण्डल की अध्यक्षता मे दूसरे पिछड़ी जाति आयोग का गठन किया । छह-सदस्यीय मण्डल आयोग ने 31 दिसम्बर, 1980 को अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को दी । इस आयोग का उद्देश्य भी सामाजिक-शैक्षणिक दृष्टि से पिछडे वर्गो की पहचान करके उनके उत्थान के लिए दिशा निर्धारण ही था ।

अपनी रिपोर्ट मे आयोग ने स्पष्ट किया कि 'जातियाँ हिन्दू समाज रचना की आधारशिला है', आयोग ने हिन्दुओ के साथ-साथ अन्य धर्मो की कुल 3,743 पिछडी जातियो को वर्गीकृत किया । आयोग के अनुसार देश भर मे इनकी संख्या कुल आबादी की 52 प्रतिशत है ।

मण्डल कमीशन की मुख्य सिफारिश है कि पिछडी जातियो के लिए सरकारी नौकरियो, शैक्षिक संस्थानो के प्रवेशो मे 27% आरक्षण हो । अपनी इस सिफारिश के समर्थन मे आयोग की दलील है कि यदि 22·5 प्रतिशत जनसंख्या वाले हरिजनो व जनजातियों के लिए उतनी ही आरक्षण व्यवस्था हो सकती है तो 52 प्रतिशत पिछडी जातियो के लिए 27 प्रतिशत क्यो नही की जा सकती ?

आयोग ने 27% आरक्षण की माँग करते हुए संविधान की धारा 15(4) व 16(4) व उच्चतम न्यायालय के उन तमाम फैसलो का भी अनुपालन किया है, जिसके अनुसार देश मे कुल आरक्षण 50 प्रतिशत से अधिक नही किया जा सकता । आयोग का मानना है कि आरक्षण से हजारो वर्षों से दलित एवं शोषित जनता को मनोवैज्ञानिक सबल मिलेगा ।

रिपोर्ट मे कहा गया है कि पिछडी जातियो के लिए आरक्षण की इस सिफारिश से कई लोगो के दिल की धडकन बढ जायगी । लेकिन क्या इसी एक तथ्य से एक बडे सामाजिक हित के कार्य को रोक दिया जाय ?

रिपोर्ट मे यह भी स्पष्ट किया गया है कि जिन राज्यो मे 27 प्रतिशत से अधिक आरक्षण की व्यवस्था की चुकी है, वे इस रिपोर्ट से अप्रभावित रहेगे ।

1982-83 मे सिविल सेवाओ मे कुल 963 उम्मीदवार चुने गये जिसमे पिछडी जाति

(अनुसूचित एवं अनुसूचित जनजाति छोडकर) के सिर्फ 26 उम्मीदवार सफल हुए। जबकि इस देश की आवादी का सिर्फ 5·52 प्रतिशत ब्राह्मण, 3 90 प्रतिशत ठाकुर या राजपूत, 2·97 प्रतिशत मराठा और 1 प्रतिशत जाट हैं। वैश्यो की आवादी राजपूतो से कम मराठो के प्रतिशत के आस-पास है। लेकिन सरकारी सेवाओं मे ब्राह्मण, राजपूत, खत्री और वैश्यों का वर्चस्व है जबकि ये सब-कुल आवादी के 15 प्रतिशत भी नही है।

आरक्षण की राजनीति
(POLITICS OF RESERVATION)

भारत मे आरक्षण की सांविधानिक नीति राजनीति का शिकार हुई है। सत्तारूढ दल आरक्षण की नीति को अनवरत चालू रखकर जहाँ एक ओर अपने वोट बैंक तैयार करने मे लगा रहता है वहीं दूसरी ओर आरक्षण का लाभ अर्जित करने वाले समुदाय संगठित होकर आरक्षण के निरन्तर वढाये रखने हेतु लावीइंग तथा राजनीतिक सौदेवाजी करने लगे हैं। दूसरे तरफ समाज की उच्च जातियाँ भी आरक्षण की नीति के खिलाफ संगठित होकर आन्दोलन के मार्ग पर चलने मे ही अपना हित देखती हैं। कुछ वर्षों पूर्व गुजरात और विहार मे उच्च वर्गो का आरक्षण के खिलाफ संगठित आन्दोलन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

गुजरात में आरक्षण विरोधी आन्दोलन

राज्य विधानसभा के निर्वाचन (फरवरी 1985) से पूर्व गुजरात की सोलंकी सरकार ने 11 जनवरी, 1985 को पिछडे वर्गो के लिए 18 प्रतिशत अतिरिक्त आरक्षण और सहूलियतों की घोषणा की ऐसा समझा गया था कि यह घोषणा राणे आयोग की सिफारिशों के आधार पर की गयी। 18 प्रतिशत के इस आरक्षण के फलस्वरूप आरक्षण का कुल प्रतिशत वढकर 49 प्रतिशत हो गया क्योंकि 21 प्रतिशत आरक्षण तो सांविधानिक प्रावधानो के तहत् पहले मे ही था और 10 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था 1978 मे जनता सरकार के समय से वख्शी आयोग की सिफारिशो के आधार पर की गयी थी। इसमे पिछड़े वर्गो को भी शामिल किया गया था।

सोलंकी पिछडे वर्गो को खुश करने की कोशिश कर रहे थे, जो राज्य की कुल आवादी का 70 प्रतिशत है और जिन्हे आमतौर पर कांग्रेस (इ) का वोट वैंक माना जाता है। वस्तुत: राणे आयोग की सिफारिशें सामाजिक और शिक्षा के लिहाज से पिछड़े वर्गो के वारे मे है और इसके तहत् वे सभी लोग आते हैं जिनकी वार्षिक आय दस हजार रुपये से कम है।

आरक्षण के खिलाफ आन्दोलन की शुरूआत छात्रो और उनके अभिभावकों ने की। फिर भारतीय जनता पार्टी ने भी इस आन्दोलन को समर्थन दे दिया। गुजरात मे हिंसा, अराजकता, साम्प्रदायिक एव जातीय दगो की आग जलने लगी और करीव एक सौ से ऊपर लोग मारे गये। आरक्षण विरोधी आन्दोलन से उपजी हिंसा, अराजकता, की आग, जातीय संघर्ष, साम्प्रदायिक संघर्ष, पुलिस के विद्रोह के नाम पर पुलिस दल द्वारा सामूहिक हिंसा व लूटपाट, राज्य कर्मचारियो व पंचायत कर्मचारियो की हडताल आदि ने असुरक्षा एवं अराजकता फैला दी। सोलंकी सरकार ने आरक्षण के वढे हुए कोटे को वापस ले लिया।

अनुसूचित जातियों की राजनीतिक भूमिका
(POLITICS OF SCHEDULED CASTES POLITICAL ASPECT)

राजनीति मे अनुसूचित जातियो के हितो की रक्षा के लिए डॉ. अम्वेडकर ने 'अनुसूचित जाति परिसंघ' (Scheduled Caste Federation) की स्थापना की। इसका उद्देश्य अनुसूचित जातियों के राजनीतिक आन्दोलन को आगे वढाना था। स्वतन्त्रता के वाद अम्वेडकर के नेतृत्व मे इस दल का उद्देश्य यह देखना रह गया कि संविधान मे उल्लिखित आरक्षण के प्रावधानो का

समुचित प्रकार से क्रियान्वयन किया जाये। परिसंघ ने 1952 के चुनावों में भाग लिया और अपने घोषणा पत्र में कहा कि वह आरक्षण का न्यूनतम योग्यता के आधार पर समर्थन करता है। यद्यपि चुनावों में इसे खास सफलता नहीं मिली किन्तु इसके बाद अम्बेडकर ने परिसंघ को एक ऐसे दल के रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया जो समस्त दलितों जैसे—अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों का प्रवक्ता हो।

अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की राजनीतिक भूमिका का विश्लेषण निम्नलिखित दृष्टि से दर्शाया जा सकता है :

(1) **भारतीय राजनीति में प्रभावक भूमिका**—संसद और राज्य विधानमण्डलों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की सदस्य संख्या, विभिन्न निर्वाचनों में उनका सक्रिय सहभाग तथा उच्च राजनीतिक पदों पर उनकी नियुक्ति से यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि देश की राजनीति में इन जातियों की भूमिका बढ़ रही है और उनमें राजनीतिक जागृति तेजी से बढ़ रही है।

(2) **राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं में वृद्धि**—अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को आरक्षण और संवैधानिक रियायतें प्राप्त हैं जिसका एक परिणाम यह रहा है कि इनके नेताओं की महत्त्वाकांक्षाओं में वृद्धि होने लगी है वे राजनीति और प्रशासन के हर स्तर पर ऊँची जातियों के लोगों से होड़ करने की आकांक्षाएँ रखने लगे हैं।

(3) **पृथकता और अलगाव की प्रवृत्ति**—कहीं-कहीं पर आदिम जातियों में पृथकता और अलगाव की प्रवृत्ति पायी जाती है। असम में 'मिजो और नागा जनजातियों में यह प्रवृत्ति और चरम सीमा पर है। बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश एवं बंगाल के कुछ इलाके को मिलाकर यहाँ की जनजातियाँ पृथक् झारखण्ड राज्य की माँग करने लगी हैं।

(4) **दबाव गुटों के रूप में संगठित होने की प्रवृत्ति**—आरक्षण के परिणामस्वरूप जाति का राजनीति में बोलबाला बढ़ा है। स्वतन्त्रता के बाद बनने वाले जातीय समुदायों में अनुसूचित जातियों द्वारा निर्मित दबाव गुटों का अपना विशेष महत्त्व है। जिला स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के 'संगठन' (Associations) पाये जाते हैं। इन्हीं संगठनों के संगठित प्रयासों एवं माँगों के परिणामस्वरूप आरक्षण की अवधि सन् 2000 ई तक बढ़ा दी गयी है। तमिलनाडु में पिछले कुछ वर्षों से 'वन्नियार संगम' एक दबाव गुट की भूमिका अदा करने लगा और 1989 के विधानसभा चुनावों से पूर्व सरकार से इसने वन्नियारों के लिए आरक्षण की सुविधा प्राप्त कर ली।

(5) **निर्वाचनों में संगठित भूमिका**—यह कहा जाता है कि विभिन्न आम चुनावों में देश की राजनीति में कांग्रेस दल का प्रभुत्व स्थापित होने का कारण उसको प्राप्त हरिजनों और आदिवासियों का समर्थन है। इसी कारण अन्य राजनीतिक दल भी अनुसूचित जातियों के आरक्षण का आँख मूँदकर समर्थन करते हैं और अनुसूचित वर्गों में अपना जनाधार बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

(6) **भारतीय राजनीति में सन्तुलनकर्ता की भूमिका**—अनुसूचित जातियाँ एवं जनजातियाँ भारतीय राजनीति में सन्तुलन शक्ति की स्थिति में हैं चूँकि इनकी जनसंख्या लगभग 12 करोड़ से अधिक है। जिस दल को चुनावों में इनका समर्थन मिल जाता है उसकी राजनीतिक स्थिति काफी मजबूत हो जाती है। कांग्रेस ने प्रारम्भ से ही इन जातियों को ऊपर उठाने की नीति अपनायी। इन जातियों ने भी महसूस किया कि कांग्रेस के अतिरिक्त कोई अन्य राजनीतिक दल सरकार

को ही तैयार नही है। आज विचारणीय प्रश्न यह है कि आरक्षण जातीय आधार पर किया जाये या आर्थिक आधार पर ? क्या आरक्षण की कोई समय सीमा भी होगी या नही ? क्या आरक्षण से प्राप्त सुविधाओं का दुरुपयोग तो नहीं हो रहा है ? जिन परिवारो ने आरक्षण का लाभ उठाया और जिनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति मे जवर्दस्त वदलाव आया वे भी निरन्तर आरक्षण का लाभ उठाते रहे तो आम लोगो मे आक्रोश पैदा होना स्वाभाविक है। सरकारी सेवाओ और शिक्षण सस्थाओ मे प्रवेश मे आरक्षण के वाद पदोन्नतियाँ व भावी शिक्षा के मामले मे भी आरक्षण की व्यवस्था किसी भी मानदण्ड मे उचित मानी जा सकती और इसगे जातीय वैमनस्य वढने का खतरा भी वना रहेगा। आवश्यकता इस वात की है कि आरक्षण के समस्त प्रश्न पर दलीय राजनीति और चुनावी राजनीति से ऊपर उठकर विचार किया जाय और इस सम्वन्ध मे राष्ट्रीय सहमति पर आधारित नीति वनाई जाय। ऐसा हो पायेगा, आज के वातावरण को देखते हुए इसमे निश्चित रूप से सदेह है।

46

भारत में दल-बदल की राजनीति

[DEFECTION-POLITICS IN INDIA]

भारतीय राजनीति मे सर्वाधिक प्रचलित राजनीतिक खेल का नाम है दल-बदल—इसे आप चाहे तो **पक्ष परिवर्तन, एक पार्टी छोड़कर दूसरी पार्टी में शामिल हो जाना, सदन में सरकारी दल छोड़कर विरोधी दल मे मिल जाना, खेमा बदल लेना** कुछ भी कह सकते हैं। नाइजीरिया मे इसे **'कार्पेट-क्रासिंग'** (Carpet Crossing) यानी कालीन बदलना कहते हैं क्योकि वहा सरकारी पक्ष और और विपक्ष दोनो के लिए अलग-अलग कालीन होते हे। यदि किसी को अपना पक्ष छोडना हो तो उसे अपने कालीन से हटकर दूसरे कालीन पर जाना पडता है।

निम्नलिखित तथ्यों की ओर जरा ध्यान दीजिए—अनुमान है कि पिछले बीस वर्षो मे जो लोग विधायक बने है उनमे प्रत्येक पाँच में से एक ने दल बदला होगा। 1957 से 1967 तक की अवधि मे अनुसन्धानो के अनुसार 542 बार लोगो ने अपने दल बदले। 1967 मे चौथे आम चुनाव के प्रथम वर्ष मे भारत मे 430 बार लोगो के दल बदलने का रिकार्ड कायम हुआ है। 1967 के चुनावो के बाद एक और रिकार्ड कायम हुआ—दलबदलुओ के कारण 16 महीने के भीतर 16 राज्यो मे सरकारे गिरी। हरियाणा के विधायक श्री गयालाल ने 15 दिन मे ही तीन बार दल-बदल करके हरियाणा की दल-बदल राजनीति मे एक नया रिकार्ड कायम किया। उनकी वजह से ही हमें दल-बदल राजनीति का वाचक एक नया शब्दबन्ध प्राप्त हुआ 'आया राम, गया राम'।[1] जुलाई 1979 मे जनता पार्टी से दल-बदल के कारण चरणसिंह प्रधानमन्त्री पद पर आसीन हो गये। उन्हे भारत का पहला दल-बदलू प्रधानमन्त्री कहा जाने लगा। जनवरी 1980 के लोकसभा निर्वाचनो के बाद कर्नाटक की काग्रेस (अर्स) और हरियाणा की जनता पार्टी सरकारे दल-बदल के कारण रातो-रात इन्दिरा काग्रेस सरकारें बन गयी। हरियाणा के मुख्यमन्त्री भजनलाल 47 विधायकों के साथ जनता पार्टी छोडकर काग्रेस (आई) मे आ गये, जो एक नया रिकार्ड है।

दल-बदल हमारे लोकतन्त्र को वर्षो से खोखला कर रहा है, इसे और अधिक आगे प्रोत्साहन देकर हम निश्चय ही लोकतन्त्र का भला नही कर रहे हे। कच्चे अनुमानो के अनुसार अब तक 500 से ज्यादा दल-बदलुओ को गद्दी मिल गयी है और कोई 25 मुख्यमन्त्री दल-बदलू ही कहे जा सकते है। दल-बदलू प्रधानमन्त्री भी बन चुके है। एक भूतपूर्व गृहमन्त्री ने लोकसभा मे कहा कि दल बदलने की कीमत बीस हजार से चालीस हजार रुपये बतायी जाती है। कुछ अन्यो ने कुछ मामलो मे यह कीमत एक लाख रुपये तक आंकी है।

---

1 डॉ सुभाष काश्यप · **दल-बदल और राज्यों की राजनीति** (मेरठ, 1971), पृ. 121।

राजनीतिक दल-बदल की परिभाषा
(DEFINITION OF POLITICAL DEFECTION)

दल-बदल की परिभाषा के विषय मे विद्वानो मे तीव्र मतभेद हैं। अंग्रेजी मे इसको अभिव्यक्त करने के लिए **'क्रासिंग ऑफ फ्लोर्स', 'कार्पेट क्रासिंग', 'पॉलिटिक्स ऑफ ऑपरर्चुनिज्म', 'पालिटिक्स ऑफ डिफेक्शन', 'पॉलिटिक्स ऑफ म्युज़िकल चेयर्स', 'पॉलीटिक्स ऑफ हॉर्स ट्रेडिंग'** इत्यादि शब्दो का प्रयोग किया जाता है। परन्तु इस सब ने 'पॉलिटिक्स ऑफ डिफेक्शन' अर्थात् 'दल-बदल की राजनीति' शब्द का प्रयोग उपयुक्त प्रतीत होता है। यदि कोई विधायक या ससद-सदस्य अपने दल का परित्याग कर निम्नलिखित मे से कोई कार्य करे तो 'दल-बदल' शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है—(अ) किसी विधायक का किसी दल विशेष के टिकट पर निर्वाचित होकर उसे छोड देना तथा किसी दूसरे राजनीतिक दल मे सम्मिलित हो जाना, (ब) अपने दल को छोडकर बाद मे निर्दलीय बन जाना, (स) आम चुनावों मे निर्दलीय रूप से निर्वाचित होना और बाद मे किसी दल विशेष मे शामिल होना, (द) अपने दल की बुनियादी नीतियो का विरोध करते हुए दलीय सचेतको के निदेशो को न मानना, (य) जब एक मिली-जुली सरकार के घटक राजनीतिक दलो के सदस्य उस सरकार के एक घटक दल को छोड अन्य घटक दल मे शामिल हो जाते हैं, अथवा विरोधी दलो मे से एक दल छोडकर, दूसरे विरोधी दल मे शामिल हो जाते है, (र) राजनीतिक पदो और स्वार्थ-साधना के लिए दूसरे दल मे सम्मिलित हो जाना आदि-आदि। **डॉ. सुभाष काश्यप** ने अपने ग्रन्थ 'दल-बदल' और राज्यो की राजनीति मे दल-बदल की परिभाषा करते हुए लिखा है—"किसी विधायक का अपने दल अथवा निर्दलीय मच का परित्याग कर किसी अन्य दल मे जा मिलना, तथा दल बना लेना या निर्दलीय स्थिति अपना लेना अथवा—अपने दल की सदस्यता त्यागे बिना ही बुनियादी मामलो पर सदन मे उसके विरुद्ध मतदान करना, 'दल-बदल' कहलाता है।" श्री जयप्रकाश नारायण ने दल-बदल की अपनी परिभाषा मे कहा था, "एक विधान-मण्डल के लिए निर्वाचित कोई भी सदस्य, जिसे किसी राजनीतिक दल का सुरक्षित चुनाव चिन्ह मिला था, यदि वह चुने जाने के बाद उस राजनीतिक दल से अपने सम्बन्ध तोड लेने या उसमे अपनी आस्था समाप्त करने की घोषणा करता है तो उस दल-बदल ही समझा जाना चाहिए, बशर्ते उसकी कार्यवाही सम्बद्ध पार्टी के फैसले के अनुसार न हो।"

दल-बदल—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(POLITICS OF DEFECTION IN HISTORICAL PERSPECTIVE)

दल-प्रणाली और दल-बदल की घटनाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। दल-बदल का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि प्राचीनतम दलों का अस्तित्व। ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि लोकतान्त्रिक देशो मे दल-बदल की घटनाएँ लगातार होती रही है। फरवरी 1846 मे अनुदारवादी दल (ब्रिटेन) मे फूट पड गयी और 231 सदस्यों ने प्रधानमन्त्री पील के विरोध मे मतदान किया। उन पर दल से विद्रोह करने का आरोप लगाया गया और पील उदार दल की सहायता से अपने पद पर बने रहे। विलियम ग्लेडस्टोन 1832 मे अनुदार दल' के टिकिट पर निर्वाचित हुए, किन्तु उन्होने अनुदारवादी दल से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके उदारवादी दल मे सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया, जहाँ उन्हे व्यापार-मण्डल का उपाध्यक्ष बना दिया गया। 1886 मे चेम्बरलेन के नेतृत्व मे उदारवादी दल के अनेक सदस्यो ने सामूहिक रूप से दल-बदल किया। 1886 मे ग्लेडस्टोन मन्त्रिमण्डल के त्यागपत्र का कारण दल-बदल ही था। सन् 1900 मे विंस्टन चर्चिल अनुदारवादी दल के टिकिट पर संसद के सदस्य चुने गये, किन्तु 1904 मे अनुदार दल से सम्बन्ध-विच्छेद कर उदारवादी दल मे सम्मिलित हो गये और 1906 मे उन्हे उपनिवेश अवर-मन्त्री बना दिया गया। सन् 1931 मे श्रमिक दल के प्रधानमन्त्री रेम्जे मैकडॉनल्ड ने अपने दल

का साथ छोड़ दिया और अनुदारवादियो एवं उदारवादियों से निर्मित राष्ट्रीय सरकार का प्रधान-मन्त्री पद स्वीकार कर लिया।' लास्की ने इस दल-बदल की घोर निन्दा की थी। दल-बदल के कारण आस्ट्रेलिया मे सन् 1916, 1929, 1931 तथा 1941 मे संघीय सरकारो का पतन हुआ। न्यूजीलैण्ड के कॉण्टीनुअस मन्त्रिमण्डल के पतन का कारण दल-बदल ही था।

भारत मे भी दल-बदल की घटनाएँ कोई ऐसी नयी बात नही है जो चतुर्थ आम चुनावो के बाद ही सामने आयी हो। 1947 के निर्वाचनों के पश्चात् सयुक्त प्रान्त के मुख्यमन्त्री गोविन्द वल्लभ पन्त ने मुस्लिम लीग के कुछ सदस्यों को कांग्रेस मे शामिल होने का प्रलोभन दिया और दल-बदलुओं मे से हाफिज मुहम्मद इब्राहीम को मन्त्रिमण्डल मे शामिल कर लिया। सन् 1950 मे उत्तर प्रदेश के 23 विधायको ने दल-बदल करके 'जन कांग्रेस' नामक एक नये दल की स्थापना की। अगस्त 1958 मे उत्तर प्रदेश विधानसभा के 98 सदस्यो ने मुख्यमन्त्री डॉ. सम्पूर्णानन्द मे अविश्वास व्यक्त किया, जिसके फलस्वरूप कुछ ही समय बाद मुख्यमन्त्री को त्यागपत्र देना पड़ा। सन् 1962 मे मद्रास के राज्यपाल श्रीप्रकाश ने राजगोपालाचारी को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। कांग्रेस के अल्पमत मे होते हुए भी जैसे ही राजाजी को सरकार बनाने का अवसर दिया गया वैसे ही 16 विरोधी सदस्यो ने कांग्रेस दल में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया और इस प्रकार कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया। रफी अहमद किदवई कांग्रेस दल से किसान मजदूर पार्टी मे गये और फिर कांग्रेस मे वापस आ गये तो उन्हे केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे भी शामिल कर लिया गया। प्रजा समाजवादी दल के नेता श्रीप्रकाशम् को सन् 1953 मे आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमन्त्री पद का वचन देकर कांग्रेस मे शामिल होने के लिए प्रोत्साहित किया गया। सन् 1960 मे केरल मे कांग्रेस दल को सबसे अधिक स्थान प्राप्त हुए और उसने आर. शंकर के नेतृत्व में वहाँ मन्त्रि-मण्डल की स्थापना की। 2 सितम्बर, 1964 को 15 कांग्रेस सदस्यों ने कांग्रेस दल से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और परिणामस्वरूप मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया। सन् 1952 मे कांग्रेस ने पेप्सू राज्य मे कई अकाली विधायकों को प्रलोभन देकर और अपने दल मे मिलाकर अपना मन्त्रि-मण्डल बनाया। दल-बदल के ही कारण इस मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया और अकाली दल के नेता ज्ञानसिंह राड़ेवाला ने दल-बदलुओ की सहायता मे मन्त्रिमण्डल बनाया। विधानसभा की बैठक बुलाये जाने की पूर्वसन्ध्या को विरोधी दल के सदस्यों ने दल बदला और उन्हें तुरन्त मन्त्रिमण्डल मे शामिल कर लिया गया। 1957 मे उड़ीसा के कांग्रेस दल ने चार निर्दलीय सदस्यो को प्रलोभन देकर अपनी ओर तोड लिया और मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। 1952 मे राजस्थान मे कांग्रेसी सरकार के स्थायित्व का कारण दल-बदल ही था। कई निर्दलीय सदस्यो ने कांग्रेस के पक्ष मे दल बदला और कांग्रेस के विधायकों की सख्या अधिक हो गयी। 1962 के चुनाव मे भी कांग्रेस ने एक निर्दलीय सदस्य को अपनी तरफ मिलाकर सरकार बनायी। चतुर्थ आम चुनाव से पूर्व प्रजा समाजवादी पार्टी के नेता अशोक मेहता को योजना आयोग का उपाध्यक्ष बनाकर कांग्रेस मे स्थान दिया। इस घटना से अनेक विधायक और संसद-सदस्य भी प्रजा समाजवादी दल को छोड़कर कांग्रेस मे जा मिले। ऐसा माना जाता है कि चतुर्थ आम चुनाव से पूर्व दल-बदल की प्रक्रिया के द्वारा प्रजा समाजवादी दल ने ही अधिकतम विधायक खोये और उसके विधायक कांग्रेस दल मे ही शामिल हुए। दल-बदल का ही परिणाम है कि प्रसोपा, जिसमे कांग्रेस का विकल्प बनने की क्षमता थी टूटता गया और देश में सुदृढ प्रतिपक्ष का निर्माण नही हो सका।

चतुर्थ आम चुनाव और दल-बदल
(FOURTH GENERAL ELECTION AND DEFECTIONS)

राजस्थान—सन् 1967 मे होने वाले चौथे आम चुनाव के बाद दल-बदल की राजनीति मे बाढ़-सी आ गयी। कई राज्यो मे, कई-कई बार अनेक विधायको ने दल बदला है। 1967 के

निर्वाचनो के वाद राजस्थान विधानसभा मे कांग्रेस के सदस्यो की सख्या 89 थी जो वढते-वढ़ते 110 हो गयी और सख्या-वृद्धि का कारण था अधिकाधिक विधायको का सत्तारूढ दल के पक्ष मे दल-वदल। जव मुख्यमन्त्री-पद पर श्री सुखाडिया को शपथ दिला दी गयी तो वहुत से विधायको को काग्रेस मे सम्मिलित होने का प्रलोभन दिया गया। कुछ ही दिनो मे स्वतन्त्र दल के दो सदस्य काग्रेस मे आ मिले। फिर जनता पार्टी के एक सदस्य ने काग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर ली। उसके वाद तो स्वतन्त्र दल के मुख्य सचेतक और कोषाध्यक्ष भी काग्रेस की वाँहो मे पहुँच गये। जव मन्त्रिपरिषद का विस्तार किया गया तो दल-बदलुओ को उपमन्त्री, संसदीय सचिव आदि पदो पर नियुक्त करके पुरस्कृत किया गया। 1967 के निर्वाचनो के वाद स्वतन्त्र दल के 31 सदस्य काग्रेस में सम्मिलित हुए। राजस्थान विधानसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री रामनिवास मिर्धा ने 17 जनवरी, 1969 को प्रान्तीय काग्रेस कमेटी की वैठक मे मुख्यमन्त्री श्री सुखाडिया पर आरोप लगाया कि वे दल-वदलुओ मे घिरे हुए है। जिन अवसरवादियो ने काग्रेसी उम्मीदवारो के विरुद्ध चुनाव लड़ा था तथा उन्हे पराजित किया था, उन्हे काग्रेस दल की सदस्यता प्रदान की गयी। फिर भी सुखाडिया मन्त्रिमण्डल ने अपना पूरा कार्यकाल आसानी से पूरा किया जिससे यह कहना गलत सावित होता है कि दल-वदल की घटनाओ से प्रशासन मे अस्थिरता आती है। वस्तुत. दल-वदल के कारण ही राजस्थान को स्थिर सरकार मिली। लेकिन इस सम्वन्ध मे राजस्थान का उदाहरण अपवाद है, नियम नही।

हरियाणा—हरियाणा दल-वदल की प्रयोगशाला रहा है। दल-वदल की राजनीति के क्षेत्र मे उसने कई नये कीर्तिमान स्थापित किये। 1967 ई. के आम चुनाव के फलस्वरूप विधानसभा मे काग्रेस को स्पष्ट वहुमत प्राप्त हुआ। कुल 81 स्थानो मे से काग्रेस को 48 स्थान मिले और श्री भगवतदयाल शर्मा के नेतृत्व मे काग्रेसी मन्त्रिमण्डल का गठन हुआ। किन्तु एक ही सप्ताह के वाद अध्यक्ष के चुनाव मे काग्रेस सरकार पराजित हो गयी। सत्तारूढ दल का उम्मीदवार तीन मतो से हार गया और असन्तुष्ट काग्रेसी विधायक काग्रेस से अलग हो गये और उन्होने नवीन हरियाणा दल वना दिया। फिर काग्रेस ने नवीन हरियाणा दल के साथ मिलकर सयुक्त मोर्चे की सरकार वनायी जिसके मुख्यमन्त्री राव वीरेन्द्रसिंह वनाये गये। इस तरह उन्हे दल वदलने का पुरस्कार दिया गया। उनके साथ दल-वदल करने वाले अनेक विधायक मन्त्रिमण्डल के सदस्य वना लिये गये किन्तु उनका मन्त्रिमण्डल अधिक दिन तक कायम न रहा। वह वर्खास्त कर दिया गया। विधानसभा के आठ महीने के जीवन मे काग्रेस दल के 31 विधायको ने दल-वदल किया। एक विधायक ने पाँच वार, दो ने चार वार तथा तीन ने तीन वार अपना दल वदला। एक सदस्य श्री गयालाल ने पन्द्रह दिन मे ही तीन वार दल-वदल करके हरियाणा की दल-वदल राजनीति मे एक नया रिकार्ड कायम किया। एक वार तो उन्होने केवल नौ घण्टो मे ही अपना पेंतरा वदला। दल-वदल और प्रतिदल-वदल की घटनाएँ सामान्य हो गयी थी। नवम्वर 1967 मे काग्रेस और सयुक्त मोर्चा दोनो के प्रतिनिधि चौवीसो घण्टे इसी चक्कर मे रहते थे कि विधायको को जैसे भी हो अपनी ओर तोड लें। कभी काग्रेस का विधायक संयुक्त मोर्चे मे जा मिलता था तो कभी सयुक्त मोर्चे का विधायक काग्रेस मे। राज्यपाल के अनुसार हरियाणा मे "दल-वदल तथा प्रतिदल-वदल का झूमा-झूमी खेल चल रहा था।" जो भी विधायक दल वदलता उसे मन्त्री, उपमन्त्री, ससदीय सचिव आदि कुछ तो वना ही दिया जाता। एक जाट नेता **श्री रणधीरसिंह** ने हरियाणा की स्थिति को सोचनीय वताते हुए कहा, "यह शर्म की वात है कि मुख्यमन्त्री राव वीरेन्द्रसिंह विधायको को खरीद रहे है और प्रत्येक विधायक को नकद दहेज के साथ-साथ मन्त्रि-पद का भी लालच दिया जा रहा है ताकि वे मुख्यमन्त्री वने रह सकें।"

17 नवम्बर, 1967 को हरियाणा के राज्यपाल ने अपने प्रतिवेदन मे सयुक्त मोर्चे तथा

कांग्रेस दोनों की दल-बदल की राजनीति की कठोर भर्त्सना की। राज्यपाल के अनुसार कांग्रेस दल ने उत्तरदायी प्रतिपक्ष की भूमिका का कभी यथोचित निर्वाह नहीं किया। उसने सरकार को चैन से नहीं बैठने दिया। प्रतिपक्ष ने जिन उपायो से विधायको के दल-बदल कराये, वे भी न तो अधिक शोभनीय थे और न अधिक सामान्य। विधायक भी सत्ता का स्वाद ले चुके थे और यह देख चुके थे कि दल-बदल की धमकी देकर किस प्रकार वे अपनी मुँह-माँगी कीमत पा सकते थे। विधायक दिन-प्रतिदिन के प्रशासन मे हस्तक्षेप करते थे। मन्त्रियो का बहुत-सा समय अधिकारियो के स्थानान्तरणों तथा पद-स्थापनाओ जैसे छोटे-मोटे कार्यो मे व्यतीत हो जाता था। मन्त्रिमण्डल का सारा समय अपने अस्तित्व की रक्षा करने मे व्यतीत हो जाता था। राज्य का सारा प्रशासन अस्त-व्यस्त हो गया। इस प्रकार हरियाणा राज्य को दल-बदल के बुरे परिणाम देखने पडे। पन्द्रह मास की कम अवधि मे दो बार चुनावो की मुसीबत और झंझट का सामना करना पडा। राज्य मे अस्थिर शासन के परिणामस्वरूप विकासोन्मुख योजनाओ का क्रियान्वयन नही हो पाया। जनता दल-बदल की घटनाओ के प्रति उदासीन मालूम हुई क्योंकि जिन दल-बदलुओं ने चुनाव लड़ा, उनमे से 32 प्रतिशत को सफलता हासिल हो गयी।

उत्तर प्रदेश—चौथे आम चुनावो मे कांग्रेस को उत्तर प्रदेश मे पूर्ण बहुमत न मिल सका और उसने अन्य दलो को छोड़कर आने वाले कुछ विधायको के सहयोग से सरकार का निर्माण किया। लेकिन श्री चन्द्रभान गुप्त का यह मन्त्रिमण्डल केवल 18 दिन ही चल सका। जिस समय धन्यवाद प्रस्ताव के एक संशोधन प्रस्ताव पर मतदान होने वाला था, उसी समय अचानक श्री चरणसिंह ने सदन मे घोषणा की कि उन्होने तथा कांग्रेस के भीतर उनके अनुयायियों ने एक नये दल 'जन-कांग्रेस' का निर्माण कर लिया है तथा वे तत्काल कांग्रेस दल का साथ छोड़कर विरोधी दल मे सम्मिलित हो रहे हैं। श्री चरणसिंह ने बताया कि उन्होंने कई दिनो के अन्तर्द्वन्द्व के पश्चात् ही दल बदलने का निश्चय किया है। श्री चरणसिंह के साथ उनके 17 साथी विधायक कांग्रेस से निकलकर विरोधी दल मे जा मिले और कांग्रेस सरकार धराशायी हो गयी। श्री चरण सिंह संविद के नेता निर्वाचित हुए और राज्यपाल ने उन्हे नयी सरकार बनाने का आमन्त्रण दिया। किन्तु संयुक्त विधायक दल अभी शासन की बागडोर भी नही सँभालने पाया था कि उसमे दरारें पड़नी शुरू हो गयी। कांग्रेस और संविद मे दल-बदल का सिलसिला शुरू हो गया। कभी कांग्रेस का कोई विधायक संविद में मिल जाता और कभी संविद का कोई विधायक कांग्रेस मे। इसी समय संविद के विभिन्न अंगो मे दरारे बढने लगी और चरणसिंह ने त्यागपत्र दे दिया। संविद किसी सर्वसम्मत नेता को नही चुन सका और उत्तर प्रदेश मे राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया गया। उसके बाद मध्यावधि चुनाव हुए और किसी एक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नही हुआ। लेकिन कांग्रेस ने कुछ निर्दलीय तथा स्वतन्त्र दल के सदस्यो के सहयोग से सरकार का निर्माण किया। फिर भी दल-बदल का पुराना खेल चलता रहा।

बिहार—मार्च 1967 से अगस्त 1969 तक बिहार राज्य मे छ. मन्त्रिमण्डल बदले। इन सभी मे मुख्यमन्त्री स्वयं दल-बदलू थे और तीन मन्त्रिमण्डलो मे तो शत-प्रतिशत मन्त्री दल-बदलू ही थे। 1967-69 मे लगभग सौ विधायको ने दो बार दल बदले और कुछ ने तो चार बार। कुल मिलाकर दल-बदल की घटनाएँ 200 से अधिक रहीं। दल-बदल के कारण चतुर्थ आम चुनाव के बाद बिहार मे दो बार राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा। जो सरकार सबसे अधिक चली उसका कुछ जीवनकाल 9 माह और 25 दिन रहा। अगस्त 1969 के मध्य मे स्थिति यह कि कांग्रेस और गैर-कांग्रेसी मोर्चा दोनों ही अपने-अपने बहुमत का दावा कर रहे थे।

पंजाब—चतुर्थ आम चुनाव के बाद सात गैर-कांग्रेसी दलो तथा निर्दलीय सदस्यो के संयुक्त मोर्चे ने पंजाब मे सरकार का निर्माण किया। इसके बाद से कांग्रेस व विपक्ष संविद मन्त्रि-

मण्डल को गिराने और बनाये रखने के अनवरत संघर्ष मे लगे रहे। नवम्बर सन् 1967 मे श्री गिल के नेतृत्व मे 17 विधायक सयुक्त मोर्चे से निकल गये और उन्होंने सयुक्त मोर्चे की सरकार को उलट दिया। इन दल-वदलुओं ने कांग्रेस की सहायता से अपनी अल्पसंख्यक सरकार बनायी। गिल मन्त्रिमण्डल ने सभी सदस्य दल-वदलू थे और उसे प्राय. नित्य ही सकट का सामना करना पडता था। लगभग 9 महीने तक गिल सरकार की चलती रही और अगस्त 1968 मे पजाव मे राष्ट्रपति शासन लागू हुआ तथा फरवरी 1969 मे नये चुनाव हुए। चुनावों के वाद अकाली जनसंघ सयुक्त मोर्चे ने नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। प्रारम्भ मे सयुक्त मार्चे की स्थिति वडी विपम थी, लेकिन धीरे-धीरे दल-वदल के हथियार के प्रयोग द्वारा मोर्चे ने अपनी स्थिति सुदृढ कर ली।

मध्य प्रदेश—मध्य प्रदेश मे चौथे आम चुनावों के वाद कांग्रेस को पूर्ण वहुमत प्राप्त हो गया। 8 मार्च को श्री डी. पी. मिश्र ने नया कांग्रेस मन्त्रिमण्डल वनाया। किन्तु 19 जुलाई को श्री गोविन्द नारायण सिंह के नेतृत्व मे 36 कांग्रेसियो ने दल त्याग दिया। शिक्षा मन्त्रालय की माँगो पर डी. पी. मिश्र की सरकार पराजित हो गयी। अगले दिन गोविन्द नारायण सिंह के नेतृत्व मे सयुक्त मोर्चे की सरकार वनी और 19 दल-वदलू एकदम मन्त्री वन गये। अनेक उतार-चढ़ावों, दल-वदल और प्रतिदल-वदल के नाटक के वीच मार्च 1969 तक सयुक्त मोर्चा सरकार चलती रही। अन्त मे गोविन्द नारायण सिंह अपने दल-वदलू साथियो के साथ पुनः कांग्रेस मे मिल गये और मध्य प्रदेश मे कांग्रेस की सरकार फिर से बन गयी।

पश्चिमी बंगाल—चतुर्थ आम चुनाव मे पूर्व कांग्रेस के कुछ दल-वदलुओं ने पश्चिमी बगाल मे वगला कांग्रेस का निर्माण किया। इस वंगला कांग्रेस को चुनाव मे 34 स्थान प्राप्त हुए और उसके नेता अजय मुखर्जी चौदह-दलीय संयुक्त मोर्चे की मिली-जुली सरकार मे मुख्यमन्त्री चुने गये। संयुक्त मोर्चे मे शीघ्र ही दरारें पड गयी और मुख्यमन्त्री ने संयुक्त मोर्चे को भग करने का निर्णय लिया। परन्तु इससे पूर्व ही सयुक्त मोर्चा सरकार के मन्त्री श्री पी. सी. घोप विधानसभा के 17 अन्य सदस्यो को साथ लेकर सयुक्त मोर्चे से अलग हो गये। राज्यपाल ने मोर्चा मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ कर दिया। श्री पी. सी. घोप ने कांग्रेस की सहायता से दल-वदलुओं का एक अल्पसंख्यक मन्त्रिमण्डल वनाया। अध्यक्ष ने एक अजीव सी व्यवस्था द्वारा सदन को स्थगित कर दिया, जिससे नये मन्त्रिमण्डल के वहुमत की जाँच नहीं हो सकी। इस वीच दल-वदल और प्रतिदल-वदल की अनेक घटनाएँ घटी और राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा।

बिहार, कर्नाटक एवं गुजरात—सन् 1971 मे विहार मे दल-वदल की निरन्तर प्रक्रिया को न रोक पाने के कारण कर्पूरी ठाकुर ने विवश होकर अपने सयुक्त विधायक दल के मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया। अपनी सरकार की स्थिति को सुदृढ वनाने के लिए उन्होंने कई बार मन्त्रिमण्डल का विस्तार किया, उसमे 52 मन्त्री हो गये जितने पहले कभी नहीं थे। अन्त मे जव पाँच मन्त्रियो ने त्यागपत्र दे दिया और साथ ही अनेक विधायक भी टूट गये तो त्यागपत्र देने के सिवाय मुख्यमन्त्री कर्पूरी ठाकुर के सामने कोई विकल्प नही रह गया। 1971 मे ही कर्नाटक मे सगठन कांग्रेस के मुख्यमन्त्री श्री वीरेन्द्र पाटिल को अपने 34 महीने पुराने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र देने के लिए विवश होना पड़ा। उनके पक्ष के वीस विधायक अपना दल छोड़कर कांग्रेस के साथ जा मिले। इसी तरह गुजरात मे संगठन कांग्रेस के हितेन्द्र देसाई मन्त्रिमण्डल को वहुमत से वचित हो जाने पर त्यागपत्र दे देना पडा क्योकि मन्त्रिमण्डल के समर्थक 17 विधायकों ने दल-वदल कर दिया। दल-वदल के ही कारण 13 जून, 1971 को पंजाव मे प्रकाशसिंह वादल मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया।

पाँचवें, छठे और सातवें आम चुनावों के बाद राजनीतिक दल-बदल
(POLITICAL DEFECTIONS AFTER THE FIFTH, SIXTH AND SEVENTH GENERAL ELECTIONS)

मार्च 1971 मे पाँचवी लोकसभा के चुनावो मे और मार्च 1972 मे राज्य विधान-सभाओ के चुनावो में काग्रेस की विजय ने यह आशा लगायी थी कि दल-वदल की बुराई समाप्त कर दी जायेगी और राज्य मे स्थिर सरकारें वनेंगी। किन्तु ऐसा नही हुआ। फरवरी 1973 के तीसरे सप्ताह में 15 विहारी विधायक दल वदल कर काग्रेस मे शामिल हो गये। 9 जुलाई, 1974 को मणिपुर के छोटे-से राज्य मे दल-वदल के ही परिणामस्वरूप अलीमुद्दीन मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया। दल-वदल के ही कारण फरवरी 1976 मे गुजरात के जनता मोर्चे मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया।

मार्च 1977 के लोकसभा चुनावों के वाद राज्यसभा के कतिपय काग्रेसी सदस्य जनता पार्टी मे शामिल हो गये। यहाँ तक कि अप्रैल 1977 मे जनता पार्टी के महासचिव सुरेन्द्र मोहन ने घोपणा की कि उनके दल के दरवाजे अन्य दलों के विधायको और संसद सदस्यो के लिए खुले हैं। जुलाई 1979 मे जनता पार्टी मे भारी दल-वदल हुआ और मोरारजी देसाई की सरकार को विवश होकर त्यागपत्र देना पडा। अन्य दलों के सहयोग से चरणसिंह ने एक मिली-जुली सरकार का गठन किया। यह सरकार संसद का विश्वास अर्जित नही कर सकी और एक काम-चलाऊ सरकार के रूप मे जनवरी 1980 के चुनावों तक कार्य करती रही। सातवी लोकसभा के निर्वाचनों (जनवरी 1980) के वाद जनता पार्टी और लोकदल के विधायक एक के वाद एक काग्रेस (आई) मे शामिल होने लगे। हरियाणा, हिमाचल प्रदेश और कर्नाटक मे भारी दल-वदल के कारण जनता पार्टी और कांग्रेस (अर्स) सरकारें अपना लेविल वदलकर कांग्रेस (आई) सरकारें वन गयीं। राजस्थान में तीस वर्षो तक विपक्ष की राजनीति का नेतृत्व करने वाले महारावल लक्ष्मणसिंह भी काग्रेस (आई) मे जा मिले, जो सर्वथा अप्रत्याशित था।

दल-वदल के कारण ही केरल की करुणाकरन सरकार का मार्च 1982 मे पतन हुआ। मई 1982 के चुनावो के वाद हरियाणा और हिमाचल प्रदेश मे सरकारो के गठन मे दल-वदल की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। कर्नाटक मे दल-वदल के कारण जनता पार्टी का संख्या वल वढता गया किन्तु दूसरी तरफ कर्नाटक की हेगड़े सरकार को गिराने के लिए (1981) इन्दिरा काग्रेस ने क्या और कैसे प्रपच रचे तथा विधायको की खरीद का व्यापार किया इसका भण्डाफोड कर्नाटक विधानसभा मे जनता पार्टी के सहयोगी सदस्य सी. वी. गोडा ने किया। उन्हे दल-वदल के लिए दो लाख रुपये की अग्रिम राशि दी और भावी मुख्यमन्त्री वनाने का लालच दिया। मोयली टेप रिकार्ड से यह स्पष्ट होता है कि हेगडे सरकार को गिराने के लिए दल-वदल का सुनियोजित षड्यन्त्र रचा गया था।[1]

दल-वदल की राजनीति का विश्लेषण
(POLITICS OF DEFECTION ANALYSIS)

भारत में दल-वदल की राजनीति का विश्लेपण करते हुए कई तथ्य उभरते है—**प्रथम,** केन्द्र की अपेक्षा राज्यो मे दल-वदल की घटनाएँ अधिक हुई हैं। **द्वितीय,** 1947 से 1967 की अवधि मे दल-वदल काग्रेस के पक्ष मे था, 1967 से 1972 तक दल-वदल से विरोधी पक्षो को अधिक लाभ हुआ और 1971 के वाद दल-वदल से काग्रेस को ही अधिक लाभ पहुँचा। 1977 के लोकसभा चुनावों के वाद पूरे वर्ष भर जनता पार्टी के पक्ष मे दल-वदल होता रहा और जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावो के वाद तीव्र गति से काग्रेस (आई) के पक्ष मे दल-वदल

---

[1] **राजस्थान पत्रिका** (उदयपुर), 16 नवम्बर 1983, पृ. 4।

हुआ। **तृतीय**, चतुर्थ आम चुनाव के बाद दल-बदल विशाल पैमाने पर हुआ है। **चतुर्थ**, जहाँ कहीं संयुक्त सरकारे, सविद या मोर्चा सरकारें बनी है, वहाँ उनके निर्माण और अन्त का मुख्य कारण दल-बदल ही रहा है। **पंचम**, चूंकि, हमारे यहाँ राजनीतिक आचरण व्यवहार के कोई निश्चित मानदण्ड नही है और सत्ता व पद की महत्त्वाकाक्षा मुख्य प्रेरक शक्ति है अत. दल-बदल प्रचलित राजनीति का अविभाज्य अग बन गया। दल-बदल की निन्दा और भर्त्सना करने मे सभी दल मुखर है पर इससे लाभान्वित होने मे किसी को भी कोई हिचक या ऐतराज नही होता। **षष्ठ,** कानून द्वारा दल-बदल पर रोक का समर्थन सभी करते हैं पर इसके अनुकूल आचरण करने की क्षमता या आस्था कोई नही दिखाता। **अन्त में,** विदेश मे दल-बदल सैद्धान्तिक आधार पर हुआ है जबकि भारत मे दल-बदल सैद्धान्तिक आधार पर न होकर स्वार्थ-सिद्धि हेतु ही हुआ है। एक राज्य मे तो मुख्यमन्त्री से लेकर पूरा मन्त्रिमण्डल ही दल-बदलुओं से भर गया तो दूसरे राज्यों मे सदैव ही दल-बदलू नेताओं को मुख्यमन्त्री पद पर आरूढ किया गया।

दल-बदल के कारण
(CAUSES OF DEFECTION)

प्रो. रजनी कोठारी के अनुसार दल-बदल मे दो बातो का मुख्य हाथ रहा है—चुनाव के पहले टिकट का बँटवारा और चुनाव के बाद मन्त्रिमण्डल का गठन। ये कोई नये कारण न थे। नयी बात सिर्फ यह थी कि 1967 मे और बाद मे जितनी आसानी मे लोग कांग्रेस छोड देते थे, उतनी पहले कभी नही देखी गयी थी। कांग्रेस मे उनको बाँधकर रखने की शक्ति बहुत कम हो गयी थी।[1] वस्तुत दल-बदल की इन देशव्यापी घटनाओ के मुख्य कारण इस प्रकार है

(1) **प्रभावशाली दलीय नेतृत्व का अभाव**—स्वाधीनता सग्राम के प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले नेता सक्रिय राजनीतिक के क्षेत्र से लगभग विदा हो चुके थे और किसी भी राजनीतिक दल मे ऐसा शिखर व्यक्तित्व नही रहा था जो उसके सदस्यो को बाँधकर रख सके। कांग्रेसी और गैर-कांग्रेसी नेता एक ही स्तर के थे, अत राष्ट्रीय व्यक्तित्व के अभाव में दलीय सदस्यो पर नियन्त्रण कम हो गया।

(2) **प्रत्येक विधायक की निर्णायक स्थिति**—चतुर्थ आम चुनाव के बाद कांग्रेस दल और कुल मिलाकर विरोधी दल के सदस्यो की सख्या लगभग सन्तुलित होने के कारण प्रत्येक विधायक की स्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण हो गयी कि वह अपने को मन्त्रिमण्डल की 'कुंजी' समझने लगा। उदाहरणार्थ, अगस्त 1969 मे मध्यावधि चुनावो के बाद उत्तर-प्रदेश विधानसभा मे स्थिति यह थी कि चार सदस्यो के कांग्रेस छोडकर विपक्ष मे जा मिलने से श्री चन्द्रभान गुप्त की कांग्रेस सरकार धराशायी हो सकती थी। चतुर्थ चुनावो के बाद राजस्थान विधानसभा मे कांग्रेस और विरोधी दलो को लगभग बराबर स्थान प्राप्त थे। ऐसी सन्तुलित स्थिति से निश्चय ही विधायको का महत्त्व बढ गया और दल-बदल द्वारा वे अपनी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति मे लग गये।

(3) **गैर-कांग्रेसी दलों की स्थिति में सुधार**—चतुर्थ आम चुनाव मे विरोधी दलो को आशातीत सफलता मिली और भारतीय सघ के लगभग आधे राज्यो मे उनकी स्थिति इतनी सुदृढ हो गयी कि वे सब मिलकर मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सकते थे। इससे असन्तुष्ट और उपेक्षित कांग्रेसी विधायको के मन मे नयी आशाएँ और आकाक्षाएँ जागने लगी। असन्तुष्ट विधायको को लगा कि यदि मन्त्रि-पद और वाछित लाभ उन्हे कांग्रेस मे प्राप्त नही हो सकते तो वे दल-बदलकर विरोधी दलो से ये लाभ आसानी से प्राप्त कर सकते है।

(4) **कांग्रेस की दल-बदल नीति में परिवर्तन**—कांग्रेस के ससदीय बोर्ड ने दल-बदलुओ को

---

[1] कोठारी रजनी . **भारत में राजनीति**, पृ. 227।

कांग्रेस मे शामिल करने के प्रश्न पर अपनी नीतियों में औपचारिक परिवर्तन किया। ससदीय बोर्ड ने यह निर्णय किया कि गैर-कांग्रेसी विधायकों को कांग्रेस में शामिल किये जाने के बारे में सभी प्रतिबन्ध हटा दिये जायें और इस मामले को दल के राज्य एककों के विवेकाधिकार पर छोड़ दिया जाये। इस नीति के फलस्वरूप बहुत से दल-बदलू विधायकों को कांग्रेस मे शामिल कर लिया गया। कांग्रेस कार्य समिति ने हैदराबाद अधिवेशन मे राज्यों के कांग्रेसी विधायकों को अन्य दल-बदलू विधायकों के साथ मिल-जुलकर संयुक्त सरकारें बनाने के लिए अधिकृत किया।

(5) **पदलोलुपता**—सत्ता-प्रभुता का मोह और पद-लोलुपता ने देश के राजनीतिक वातावरण को इतना खराब और दूषित बना दिया कि विधायकों की दृष्टि मे सिद्धान्त, आदर्श और नैतिकता का मूल्य-महत्त्व कम हो गया। विधायकों मे अवसरवादिता की भावना अधिक हो गयी। अतः जब वे यह देखते हैं कि दल-बदल करने से उनकी स्थिति अच्छी बन सकती है, उनका प्रभाव बढ़ सकता है, उनकी आय मे वृद्धि हो सकती है, वे विधायक से मन्त्री, उपमन्त्री या राज्यमन्त्री बन सकते है, तो उनका मन डावाँडोल हो जाता है। वे विचलित हो जाते है और अपना दल छोड़कर दूसरे दल मे शामिल होने के लिए तैयार हो जाते हैं। नीचे दी गयी तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि कितने दल-बदलुओं को मन्त्री-पद से सुशोभित किया गया।

तालिका

मन्त्रिपद पाने वाले दल-बदलुओं के विस्मयकारी आँकड़े[1]

क्रम संख्या	राज्य का नाम	दल में दल-बदलुओं की संख्या	मन्त्रियों की कुल संख्या	दल-बदल मन्त्री संख्या और प्रतिशत	मुख्यमन्त्री दल,बदलू है या नहीं
1.	**राजस्थान :**				
	सुखाड़िया मन्त्रिमण्डल	18	35	5(14%)	नही
2.	**हरियाणा :**				
	राव वीरेन्द्रसिंह का मोर्चा मन्त्रिमण्डल	29	23	22(95%)	हाँ
3.	**पंजाब :**				
	(क) गुरुनामसिंह का स. मो. मन्त्रिमण्डल	7	17	6(35%)	नही
	(ख) कांग्रेस समर्थित मन्त्रिमण्डल	18	16	16(100%)	हाँ
4.	**बिहार :**				
	(क) एम. पी. सिह्ना का सं. मो. मन्त्रिमण्डल	12	34	5(17%)	नही
	(ख) कांग्रेस समर्थित मंडल मन्त्रिमंडल	38	38	38(100%)	हाँ
	(ग) भोला पासवान का सं. मो. मन्त्रिमण्डल	51	13	7(53%)	हाँ
5.	**मध्य प्रदेश :**				
	गोविन्द नारायण सिंह मन्त्रिमण्डल	36	34	21(62%)	हाँ
6.	**उत्तर प्रदेश :**				
	चरणसिंह का सं मो. मन्त्रिमण्डल	17	28	7(25%)	हाँ
7.	**पश्चिमी बंगाल :**				
	कांग्रेस समर्थित घोष मन्त्रिमण्डल	17	11	11(100%)	हाँ

[1] **वही**, पृ. 46—चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् के पहले वर्ष की दल-बदल की राजनीति मे कम-से-कम 115 दल-बदलुओं को गैर-कांग्रेसी सरकारों, समर्थित सरकारों और कांग्रेसी सरकारों मे मन्त्रिपद दिये गये।

(6) **व्यक्तिगत संघर्ष**—अनेक बार विधायक और दल के नेताओं के बीच व्यक्तिगत संघर्ष और स्वभावों के न मिलने के कारण भी कई विधायक दल छोड़ने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

(7) **वरिष्ठ सदस्य की उपेक्षा**—कई बार पार्टी में टिकटों का बँटवारा न्यायोचित नहीं होता। लगभग सभी प्रमुख दलों में दादागिरी की स्थिति है और जब दल के किन्हीं वरिष्ठ सदस्यों के दल के सर्वोच्च नेताओं के साथ अच्छे सम्बन्ध नहीं होते, तब टिकटों के बँटवारे और अन्य अवसरों पर उन्हें निरन्तर उपेक्षा सहन करनी होती है और यह स्थिति उन्हें दल-बदल के लिए प्रेरित करती है।

(8) **धन का प्रलोभन**—अब तो पद का ही नहीं, धन का प्रलोभन दिया जाता है। जैसे चुनावों में वोट खरीदने की कोशिश की जाती है वैसे ही दल-बदल करने के लिए विधायकों को धनराशि दी जाने लगी है। केन्द्रीय गृहमन्त्री ने लोकसभा में एक बार बताया था कि दल-बदलू का भाव हरियाणा में बीस हजार रुपये से चालीस हजार रुपये तक आँका जा रहा है। कुछ अन्य सदस्यों के विचार में यह राशि बीस हजार रुपये से एक लाख रुपये तक थी। हरियाणा के राज्यपाल ने राष्ट्रपति को भेजी गयी अपनी रिपोर्ट में कहा था, "दोनों पक्षों की ओर से यह आरोप लगाये जा रहे हैं कि दल-बदल कराने के लिए रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा है।"

(9) **जनता की उदासीनता**—भारतीय मतदाता दल-बदल की घटना से उदासीन ही रहा। दल-बदल से न तो साधारण मतदाता को कोई धक्का लगा और न ही कोई चोट ही पहुँची। ऐसे कितने उदाहरण सामने आये जब दल-बदल करने वाले विधायकों का सार्वजनिक रूप से स्वागत किया गया, फूल मालाएँ पहनायी गयी और उनका जुलूस निकाला गया। हरियाणा में तो जनता ने लगभग बत्तीस प्रतिशत दल-बदलुओं को विधानसभा चुनावों में पुन निर्वाचित कर दिया।

(10) **विचारात्मक ध्रुवीकरण का अभाव**—भारत में विभिन्न राजनीतिक दलों में विचारात्मक ध्रुवीकरण का अभाव रहा है। कोई भी विधायक किसी भी दल में मिल जाये तो उसके सिद्धान्तों और विचारों पर कोई खास असर नहीं पड़ता। **डॉ. सुभाष काश्यप** लिखते हैं कि "जिस आसानी से वे एक दल का परित्याग कर दूसरे दल में सम्मिलित होते हैं उसमें एक बात तो बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि वे किसी राजनीतिक सिद्धान्त अथवा किसी दल की राजनीतिक विचारधारा को अधिक महत्त्व नहीं देते—इसके साथ-साथ चूँकि विभिन्न दलों में कोई वास्तविक विचारात्मक ध्रुवीकरण नहीं है और उनके मतभेदों का स्वरूप धुंधला है, अत. जब कोई व्यक्ति एक दल से सम्बन्ध-विच्छेद कर किसी अन्य दल में शामिल होता है तो उसमें विचारधारा के परिवर्तन का कोई प्रश्न नहीं उठता।"[1]

दल-बदल और उसके राजनीतिक परिणाम
(RESULTS OF DEFECTIONS)

दल-बदल के भयंकर राजनीतिक परिणाम हुए और कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि इससे भारतीय लोकतन्त्र का भविष्य ही अधर में लटक गया है और राज्यों में संसदात्मक शासन प्रणाली असफल हो चुकी है। दल-बदल से परेशान होकर अनेक राजनीतिशास्त्री संसदात्मक पद्धति का विकल्प ढूँढने में लग गये। दल-बदल के कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम इस प्रकार हैं :

(1) **दल-बदल से शासन में अस्थिरता**—दल-बदल से शासन में अस्थिरता पैदा हुई और हो रही है। जहाँ देश में सुदृढ़ शासन की आवश्यकता है ताकि विकास योजनाओं को तत्परता के साथ लागू किया जा सके तथा समाज व प्रशासन के सुधार की ओर ध्यान दिया जा सके वहाँ दल-बदल के कारण उत्पन्न होने वाली अस्थिरता और अनिश्चितता अवश्य ही चिन्तनीय कही

---

[1] काश्यप, सुभाष : **दल-बदल और राज्यों की राजनीति**, 1970, पृ. 44।

जायेगी। फरवरी 1967 के बाद अनेक राज्य सरकारो का तख्ता पलटा। अनेक विधायकों ने एक बार ही नहीं, बारम्बार अपने दल बदलकर, एक के बाद एक सरकार के पतन मे तथा उनके स्थान पर नयी सरकारो की स्थापना मे अपना सक्रिय योगदान दिया।

(2) **दुर्बल संयुक्त दलीय सरकारों का निर्माण**—दल-बदल के फलस्वरूप विभिन्न राज्यों मे सयुंक्त दलीय, संयुक्त मोर्चा अथवा संविद सरकारो का निर्माण हुआ। संविद सरकारो के घटको मे नीति सम्बन्धी एकता नही थी, जिससे सविद मे बार-बार मतभेद होते थे और उसका अस्तित्व खतरे मे पड़ जाता था। सविद के विभिन्न घटको मे कोई तालमेल नही था और मन्त्रिमण्डल मे भी एकता का अभाव ही था। **प्रो. रजनी कोठारी** के अनुसार, "इसके अलावा 1967 के बाद गैर-काग्रेसी दलो में गठजोड़ होते रहे हैं। अनेक बार ये गठजोड़ बिल्कुल विरोधी और विपरीत दलो मे भी हुए हैं। ये गठजोड़ भानमती के कुनबे जैसे हैं। फलस्वरूप ये गैर-काग्रेसी सयुक्त सरकारे ज्यादा दिन न चल सकी और एक के बाद एक गिरती चली गयी।"[1]

(3) **मुख्यमन्त्री की संस्था का ह्रास**—सविद सरकारो के दौर मे आपसी सौदेबाजी के परिणामस्वरूप बने कठपुतली मुख्यमन्त्री जैसे चरणसिंह, गोविन्दनारायण सिंह, टी. एन सिंह, अजय मुखर्जी इत्यादि ने मुख्यमन्त्री की सवैधानिक सस्था का ह्रास ही किया। ये मुख्यमन्त्री एक-दम अशक्त ही बन गये थे। दल-बदल के कारण बनी मिली-जुली सरकारें अधिक टिकाऊ नही थी और मुख्यमन्त्री का अधिकाश समय अपने अस्तित्व की सुरक्षा मे ही व्यतीत हो जाता था। कोई भी विधायक मुख्यमन्त्री को झुका सकता था। विधायक मुख्यमन्त्री से नही डरते थे अपितु मुख्यमन्त्री विधायको से डरने लग गये थे।

(4) **प्रधानमन्त्री की संस्था का ह्रास**—केन्द्र मे जब दल-बदलू चरणसिंह प्रधानमन्त्री बने तो सर्वत्र यह चर्चा होने लगी कि राजनीतिज्ञ अपनी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए राष्ट्र और दल को भी दाँव पर लगा सकते हैं। देश की जनता मे उनकी वह गरिमा और सम्मान नही रहा जो नेहरू और श्रीमती गाँधी का था। प्रधानमन्त्री पद की गरिमा का ह्रास होने लगा और प्रशासन ढीला हो गया।

(5) **नौकरशाही के प्रभाव में वृद्धि**—दल-बदल के कारण राज्यो मे शीघ्र निर्णय नही लिये जा सके और अनिश्चितता एव प्रशासनिक रिक्तता का वातावरण फैला। दल-बदलू मुख्यमन्त्रियो के काल मे नौकरशाही के प्रभाव तथा दबाव मे भी अप्रतिम रूप से वृद्धि हुई है।[2]

(6) **मन्त्रिमण्डलों का आवश्यक विस्तार**—दल-बदल का यह भी प्रभाव हुआ कि राज्यो मे मुख्यमन्त्रियों को बडे-बडे मन्त्रिमण्डलो का निर्माण करना पडा। जहाँ उन्हे दल-बदलुओं को पुरस्कृत करना पडता था वही अपने दल के सदस्यों को अंकुश मे रखने के लिए मन्त्रिपद का उप-हार देना पड़ता था। उदाहरणार्थ, हरियाणा के राव वीरेन्द्रसिंह मन्त्रिमण्डल मे 23 मन्त्री तक हो गये थे और इस प्रकार सयुक्त मोर्चे के 70 प्रतिशत विधायक मन्त्रिपरिषद् के सदस्य थे। आलो-चको का कहना था कि हरियाणा जैसे छोटे से राज्य के लिए यह मन्त्रिपरिषद् बहुत बड़ा था, किन्तु राव वीरेन्द्रसिंह का तर्क था कि यदि काग्रेस अपना दल-बदल का खेल छोड दे तो वे अपनी मन्त्रि-परिषद् मे मन्त्रियो की सख्या कम करने को तैयार हैं।

(7) **अल्पमत सरकारों का निर्माण**—दल-बदल के कारण पजाब, पश्चिमी बगाल आदि राज्यो मे अल्पमत सरकारो का निर्माण हुआ। अल्पमत सरकारो मे दल-बदलू विधायक ही मन्त्री पदो को सुशोभित करने लगे। इन अल्पमत सरकारो को विधानसभा मे दूसरे दलो के समर्थन पर

---

1 कोठारी, रजनी **भारत में राजनीति**, पृ. 128।
2 भाम्भरी, सी. पी **ब्यूरोक्रेसी एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया**, 1971, पृ 54।

निर्भर रहना पड़ता था, अत ये सरकारें एकदम कठपुतली सरकारें सिद्ध हुईं। उदाहरणार्थ, पंजाब की गिल सरकार और पश्चिमी बंगाल की घोष सरकार अधिक दिनों तक नहीं चल सकी।

(8) **राजनीतिक दलों का विघटन**—दल-बदल के कारण राजनीतिक दलों के बिखराव और विघटन की प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ। सभी दलों में फूट की प्रवृत्ति दिखायी देने लगी। छोटे-छोटे दलों और गुटों का निर्माण हुआ और सभी दलों की स्थिति कच्चे कगार पर खड़े पेड़ की-सी हो गयी।

(9) **राजनीतिक एकाधिकार को चुनौती**—दल-बदल ने कांग्रेस दल के दीर्घकाल से चले आ रहे राजनीतिक एकाधिकार का सम्मोहन भंग कर दिया। कांग्रेस के असन्तुष्ट लोग दूसरे दलों में शामिल होकर, उनके जरिए सत्तारूढ़ गुट से संघर्ष करने लगे। कांग्रेसी नेताओं की स्थिति कमजोर हुई और उनके लिए कांग्रेस-संगठन में एकता और अनुशासन बनाये रखना कठिन हो गया, फलस्वरूप कांग्रेस त्यागने वालों की संख्या बढ़ी।

(10) **सिद्धान्तहीन तथा नैतिकताशून्य राजनीति का सूत्रपात**—दल-बदल की घटनाओं से देश में सिद्धान्तहीन, अवसरवादी राजनीति का सूत्रपात्र हुआ। जनता के जिम्मेदार प्रतिनिधियों तथा विधायकों को अवसरवादी तथा पदलोलुप बनने की छूट से अनैतिकता का बोलबाला बढ़ा है। इससे विदेशों में भारत की प्रतिष्ठा घटी और लोकतन्त्र की बुनियाद कमजोर हुई। पदलोलुप और अवसरवादी विधायकों से जनकल्याण की आशा करना ही व्यर्थ है।

दल-बदल रोकने के उपाय
(MEASURES TO CONTROL THE DEFECTIONS)

चतुर्थ आम चुनावों के बाद दल-बदल चिन्ता का विषय बन गया और दल-बदल को रोकने के लिए गम्भीरता से विचारमन्थन प्रारम्भ हुआ। तात्कालिक केन्द्रीय गृहमन्त्री वाई. वी. चह्वाण की अध्यक्षता में भारत सरकार ने एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने 18 फरवरी, 1969 को संसद के सामने दल-बदल को रोकने हेतु एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। समिति की प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार है :

(1) सभी राजनीतिक दल एक ऐसी व्यवहार-संहिता अथवा परिपाटी समुच्चय को स्वीकार करें जिसमें लोकतान्त्रिक संस्थाओं के मूल औचित्य और शालीनताओं का समावेश किया गया है। ऐसी व्यवहार-संहिता का पालन कराने के लिए समित अथवा मण्डल का गठन किया जाय, जिसमें विभिन्न राजनीतिक दलों के नेता और विधिक पृष्ठभूमि वाले लोग हों।

(2) प्रतिनिधि को उस राजनीतिक दल से सम्बद्ध समझा जाना चाहिए जिसके तत्त्वावधान में उसने निर्वाचन जीता हो।

(3) ऐसे किसी भी व्यक्ति को जो निचले सदन का सदस्य न हो, प्रधानमन्त्री अथवा मुख्य-मन्त्री नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए।

(4) दल-बदल करने वाले विधायक को, एक वर्ष के लिए अथवा जब तक वह अपने स्थान से पद त्यागकर पुनः निर्वाचित नहीं हो जाता, मन्त्रि-पद, अध्यक्ष-पद, उपाध्यक्ष पद अथवा किसी अन्य ऐसे पदों पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए जिस पद के वेतन और भत्ते उन वेतन और भत्तों के अलावा जिसका दल-बदलू विधायक, विधायक के नाते हकदार है—भारत की अथवा राज्य की संचित निधि से अदा किये जाते हैं।

(5) अगर कोई राजनीतिक दल दल-बदल करने वाले विधायक को स्वीकार करता है तो उस दल को दी गयी मान्यता और उस दल के लिए सुरक्षित किया गया चुनाव-चिन्ह कम-से-कम दो वर्षों के लिए वापस ले लिया जाना चाहिए।

(6) मन्त्रिमण्डल सीमित आकार के होने चाहिए। मन्त्रिपरिषद का आकार एकसदनी विधानमण्डलों की स्थिति मे विधानसभा के सदस्यों की कुल संख्या का दस प्रतिशत और द्विसदनी विधानमण्डलों की स्थिति मे निचले सदन के सदस्यों की कुल संख्या का ग्यारह प्रतिशत होना चाहिए ।

(7) अगर कोई विधायक उस दल की सदस्यता छोड़ता है अथवा उसके प्रति निष्ठा का परित्याग करता है, जिसके निर्वाचन चिह्न पर वह चुना गया था तो वह संसद या राज्य-विधान-सभा का सदस्य रहने के अयोग्य होगा। अगर वह चाहे तो फिर चुनाव के लिए खड़ा हो सकता है।

'चह्वाण समिति' के समक्ष रखे गये अन्य प्रस्तावों पर सदस्यों मे तीव्र मतभेद रहा। फिर भी 16 मई, 1973 को गृहमन्त्री उमाशंकर दीक्षित ने दल-बदल को रोकने के लिए लोकसभा मे एक विधेयक प्रस्तुत किया, जिसे बत्तीसवाँ संवैधानिक संशोधन विधेयक कहा जाता है। यह विधेयक पारित नहीं हो सका। इस विधेयक के मुख्य प्रावधान इस प्रकार हैं—**प्रथम**, संसद् या विधान-सभाओं के जो सदस्य स्वेच्छा से अपना दल छोडना चाहते है, उन्हे विधायिका की सदस्यता से भी पृथक् समझा जायेगा। **द्वितीय** यदि कोई सदस्य संसद या विधानमण्डल मे अपने दल या दल द्वारा अधिकृत व्यक्ति के निर्देशों के विरुद्ध मतदान करता है तो उसे विधायिका की सदस्यता से पृथक् होना पड़ेगा। विधायिका मे अपने दल के विरुद्ध मतदान करने के लिए सदस्य को पूर्वानुमति प्राप्त करनी होगी। **तृतीय**, यदि कोई राजनीतिक दल विभाजित हो रहा हो तो दल-बदल संसद या विधानसभा की सदस्यता को जोखिम मे नही डालेगा। **चतुर्थ**, सम्बद्ध राजनीतिक दल या उसकी ओर से अधिकृत व्यक्ति ही राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल के सम्मुख दल-बदल का मामला उठा सकेंगे।

डॉ. रामसुभगसिंह के अनुसार दल-बदल को रोकने का एकमात्र उपाय बस यही है कि सभी राजनीतिक दलों को ऐसी आचार-संहिता स्वीकार कर लेनी चाहिए कि वे दल-बदलुओं को स्वीकार नही करेंगे। अटलबिहारी वाजपेयी के अनुसार दल बदलने वाले विधायकों को विधायिका की सदस्यता त्याग देनी चाहिए और नया चुनाव लड़ना चाहिए। सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी के अनुसार जनता को यह अधिकार होना चाहिए कि वह दल-बदलू विधायक का प्रत्यावर्तन कर सके।

जनता पार्टी सरकार के प्रयत्न

मार्च 1977 मे सत्तारूढ़ होने के बाद जनता पार्टी के अनेक सदस्यों ने दल-बदल रोक विधेयक लाने पर बल दिया। 1978 के मध्य सरकार द्वारा दल-बदल विधेयक पेश किया गया जिसमे यह व्यवस्था की गयी कि यदि कोई सदस्य पार्टी के निर्देश के प्रतिकूल मतदान करने पर पार्टी से निकाला जायेगा तो वह सदन की सदस्यता से वंचित होगा। दल-बदल को रोकने के लिए कुछ और भी व्यवस्थाएँ विधेयक मे की गयी। लेकिन विधेयक का जनता पार्टी के ही कुछ सांसदों ने इतना विरोध किया कि आखिर विधेयक वापस ले लिया गया। इन विधेयकों में कुछ ऐसी बातें थी, जिनसे वैचारिक मतभेद व्यक्त करने और अन्तरात्मा की स्वीकृति के अनुसार व्यवहार करने पर भी रोक लग जाती।

जम्मू-कश्मीर दल-बदल रोक सम्बन्धी विधेयक—26 सितम्बर, 1969 को दल-बदल विरोधी विधेयक पारित कर जम्मू-कश्मीर विधानसभा ने पहल तो की है लेकिन इसमे एक ओर जहाँ दल-बदल की प्रक्रिया पर रोक लगती है वही यह विधेयक अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को भी सीमित करता है।

विधेयक की धारा (अ) के अनुसार कोई भी विधायक अगर अपनी पार्टी से इस्तीफा देता है तो उसकी विधानसभा की सदस्यता भी समाप्त हो जायेगी। इस पर सभी दल सहमत थे।

विवाद का मुख्य मुद्दा धारा (व) रही जिसके अनुसार यदि कोई विधायक अपनी पार्टी सचेतक के विरुद्ध मतदान करता है या मतदान में भाग नहीं लेता है तो भी उसकी सदस्यता समाप्त हो जायेगी। विपक्ष का कहना था कि इसमे दल में किसी भी प्रकार के वैचारिक मतभेद के लिए जगह ही नहीं रहती। सभी सदस्य सचेतक के निर्देश के अनुसार कार्य करने को बाध्य होंगे। इससे न केवल पार्टी के भीतर केन्द्रीयकरण को बढ़ावा मिलता है बल्कि संविधान की धारा 19 का भी उल्लंघन होता है जिसमे अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की गारण्टी दी गयी है। संक्षेप मे, इस विधेयक मे दल-बदल और पार्टी विभाजन में कोई भेद न कर पार्टी विभाजन की स्वतन्त्रता को भी समाप्त कर दिया गया जबकि जनता सरकार द्वारा संसद मे प्रस्तुत किये गये दल-बदल विरोधी विधेयक मे यह कहा गया था कि यदि किसी पार्टी के 15 प्रतिशत सदस्य अलग हो जायें तो उसे दल-बदल नहीं माना जायेगा।[1] जम्मू-कश्मीर राज्य के इस 'दल-बदल रोक कानून' को जम्मू-कश्मीर के उच्च न्यायालय मे चुनौती दी गयी थी। उच्च न्यायालय द्वारा उपर्युक्त कानून को 1981 के अपने निर्णय मे वैध घोषित कर दिया। जम्मू-कश्मीर राज्य के उपर्युक्त कानून को बाद मे सर्वोच्च न्यायालय मे भी चुनौती दी गयी।

दल-बदल रोकने हेतु 52वाँ संविधान संशोधन अधिनियम
(ANTI-DEFECTION BILL 52nd CONSTITUTIOTAL AMENDMENT)

भारत की संसद ने दल-बदल पर रोक लगाने के लिए 52वाँ संविधान संशोधन ऐक्ट (1985) सर्वसम्मति से पारित कर दिया। मोटे तौर पर इस ऐक्ट मे निम्नलिखित प्रावधान किये गये है

(1) निम्न परिस्थितियो मे संसद/विधानसभा के सदस्य की सदस्यता समाप्त हो जायेगी :

(क) यदि वह स्वेच्छा से अपने दल से त्यागपत्र दे दे।

(ख) यदि वह अपने दल या उसके द्वारा अधिकृत व्यक्ति की अनुमति के बिना सदन में उसके किसी निर्देश के प्रतिकूल मतदान करे या मतदान मे अनुपस्थित रहे, परन्तु यदि पन्द्रह दिन के अन्दर दल उसे इस उल्लंघन के लिए क्षमा कर दे तो उसकी सदस्यता पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा।

(ग) यदि कोई निर्दलीय निर्वाचित सदस्य किसी राजनीतिक दल में सम्मिलित हो जाये।

(घ) यदि कोई मनोनीत सदस्य शपथ लेने के छह माह बाद किसी राजनीतिक दल मे सम्मिलित हो जाये।

(2) किसी राजनीतिक दल के विघटन पर सदस्यता समाप्त नही होगी, यदि मूल दल के एक-तिहाई सासद/विधायक दल छोड दें।

(3) इसी प्रकार विलय की स्थिति मे भी दल-बदल नही माना जायेगा, यदि किसी दल के कम से कम दो-तिहाई सदस्य उसकी स्वीकृति दें।

(4) दल-बदल पर उठे किसी भी प्रश्न पर अन्तिम निर्णय सदन के अध्यक्ष का होगा और किसी भी न्यायालय को उसमे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही होगा।

(5) सदन के अध्यक्ष को इस विधेयक को कार्यान्वित करने के लिए नियम बनाने का अधिकार होगा।

उच्च न्यायालय द्वारा दल-बदल विरोधी कानून वैध

दल-बदल कानून की वैधता को पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री प्रकाशसिंह बादल और 25 अन्य विधायको ने चुनौती दी थी। ये सभी विधायक अकाली दल (लोंगोवाल) से पृथक् हो गये थे।

---

[1] **दिनमान**, 14-20 अक्टूबर, 1919, पृ. 21।

पंजाब व हरियाणा उच्च न्यायालय ने 1 मई, 1987 को एक महत्त्वपूर्ण फैसले मे दल-बदल रोकने के लिए बनाये गये संविधान के 52वे सविधान सशोधन अधिनियम को वैध ठहराया। परन्तु न्यायालय ने इसकी धारा 7 को गैरकानूनी घोषित किया। धारा 7 मे यह प्रावधान है कि किसी सदस्य को अयोग्य ठहराये जाने के फैसले को अदालत मे चुनौती नही दी जा सकती है।

इस फैसले के कुछ घण्टे बाद ही पंजाब विधानसभा के अध्यक्ष सुरजीतसिंह मिन्हास ने प्रकाशसिंह बादल सहित 11 विधायकों को अयोग्य घोषित कर, उनकी सीटों को रिक्त घोषित कर दिया।

दल-बदल रोकने हेतु 52वाँ संविधान सशोधन जैसा कानून बन जाने के बाद भी नागालैण्ड (1988), मिजोरम (1988) तथा कर्नाटक (1989) मे दल-बदल हुआ और इस कानून के प्रावधानो को लागू न कर वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू करना बेहतर समझा गया। 28 जुलाई 1989 को राज्यसभा के सभापति डा. शंकरदयाल शर्मा ने मुफ्ती मोहम्मद सईद की राज्य सभा की सदस्यता दल-बदल अधिनियम के अन्तर्गत समाप्त करने की घोषणा की। दल-बदल अधिनियम लागू होने के बाद उसके अधीन किसी सदस्य की सदस्यता समाप्त होने का यह पहला मामला है। श्री मुफ्ती जम्मू-कश्मीर राज्य से राज्यसभा के सदस्य थे। वे कांग्रेस (इ) के टिकट पर चुने गये थे और बाद मे उन्होने जनता दल की सदस्यता ग्रहण कर ली थी।

आलोचना (Criticism) —मुख्य निर्वाचन आयुक्त का सुझाव था कि सविधान के संशोधन की आवश्यकता नही है। लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम मे परिवर्तन करना पर्याप्त होगा। पर इस प्रश्न के हर पक्ष पर विचार करने के बाद 1973 से ही सरकार का यह निष्कर्ष रहा है कि संविधान का संशोधन अधिक उपयुक्त होगा। इसका मुख्य कारण यह है कि संवैधानिक संशोधन के बाद दल-बदल अधिनियम को इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकेगी कि इसके प्रावधान सविधान के प्रतिकूल है, कि वे विधायकों के मूलभूत अधिकारो पर प्रहार करते है।

सदन की सदस्यता की समाप्ति पर दो मुख्य अनुच्छेद है. एक तो सीधा सादा कि यदि कोई विधायक स्वेच्छा से अपने दल को छोड़ देता है तो उसकी सदस्यता भी समाप्त हो जायेगी। इस पर अधिक विवाद की गुंजाइश नही। दूसरे अनुच्छेद मे यह व्यवस्था की गयी है कि यदि कोई विधायक बिना अनुमति के अपने दल के निर्देशन का उल्लघन करते हुए सदन मे मतदान करता है या मतदान मे अनुपस्थित रहता है तो वह सदन का सदस्य नही रह सकेगा। ऐसा नही है कि हर स्थिति मे अयोग्यता अनिवार्य रूप से लागू होगी। यदि मतदान के 15 दिन के अन्दर दल अपने सदस्य के आचरण को क्षमा कर देता है तो सदस्यता समाप्ति का प्रश्न नहीं उठेगा।

यह होते हुए भी कुछ क्षेत्रो मे इस ऐक्ट की इस बात पर आलोचना की जाती है कि इसके माध्यम से 'ह्विपतन्त्र' की स्थापना की जा रही है और विधायको पर दल का अकुश कड़ा किया जा रहा है। वास्तव मे, यह आलोचना तर्कसगत नही है। यह स्पष्ट है कि ऐक्ट मे हर उल्लघन को दण्डनीय नही बनाया गया है। दल की विधिवत् अनुमति लेकर कोई भी विधायक अपनी इच्छानुसार मत दे सकता है या मत मे भाग नही ले सकता है। यही नही, यदि उसने कोई अवहेलना कर भी दी तो 15 दिन मे अपनी परिस्थितियो का स्पष्टीकरण करके वह अयोग्यता मे मुक्त हो सकता है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और दलीय अनुशासन के बीच विधेयक मे सन्तुलित सामजस्य बैठाया गया है।

यदि दो-चार लोग दल छोड दे तो वह दल-बदल होगा, पर यदि यही काम काफी सख्या में मिलकर विधायक करें तो आपत्तिजनक नही माना जायेगा। यदि विघटन और विलय को दल-बदल की परिधि से बाहर न रखा जाता तो ऐक्ट अधिक प्रभावकारी होता। अब तो यह भी

विश्वासपूर्वक नही कहा जा सकता कि इस विधेयक के कारण दल-बदल रोककर सरकार को स्थायित्व प्रदान किया ही जा सकेगा। बड़े राज्यो मे सत्तारूढ दल के एक-तिहाई सदस्यो को तोडना कठिन होगा, परन्तु छोटे राज्यो मे यह अब भी कठिन नही होगा।

दल-बदल रोकने की दिशा में यह विधेयक शुभारम्भ ही माना जा सकता है। सदस्यता के पूरे निराकरण के लिए बहुत कुछ और करना पड़ेगा।

दल-बदल के दो पहलू हैं—एक नैतिक और दूसरा वैधानिक। ठीक है कि समस्या दिनोदिन बढती गयी, पर हमने उससे जूझने के लिए कोई वैधानिक कदम नही उठाया। पर राजनीतिक दलों ने अपने नैतिक दायित्व उठाने मे क्यो आनाकानी की। राजनीतिक दल अपने आचरण के लिए सहिता तो बना ही सकते थे, उसमे कोई वैधानिक अड़चन नही थी। उस सहिता के अन्तर्गत यह व्यवस्था की जा सकती थी कि यदि कोई दल किसी अन्य दल के विधायक को अपने दल मे लेगा तो उससे सदन की सदस्यता से त्यागपत्र दिलाकर अवसर मिलते ही उसे निर्वाचकगण के सम्मुख प्रस्तुत करेगा। पर क्या किसी दल ने ऐसा किया ? 1936-37 मे हाफिज मोहम्मद इब्राहीम एक अन्य दल छोड़कर कांग्रेस मे आये तो उन्होने अपने कार्य की पुष्टि के लिए अपने को अपने निर्वाचिन क्षेत्र मे फिर से खड़ा कर दिया। समाजवादी दल के कांग्रेस से अलग होने पर आचार्य नरेन्द्रदेव ने फिर चुनाव लड़ा। अब ऐसे आदर्श कहाँ है ?

47

भारत में मिली-जुली सरकारों की राजनीति

[COALITION-POLITICS IN INDIA]

चतुर्थ आम निर्वाचन के वाद 'संयुक्त मन्त्रिमण्डलो की राजनीति' को स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मे एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति कहा जा सकता है। अनेक राज्यो में संयुक्त मन्त्रिमण्डलो का निर्माण हुआ और कांग्रेस दल के विकल्प के रूप मे इन मिश्रित मन्त्रिमण्डलो को कांग्रेस दल के राजनीतिक एकाधिकार का एकमात्र वाछनीय विकल्प समझा गया। जिस तत्परता और शीघ्रता से संयुक्त मन्त्रिमण्डलो का निर्माण हुआ, उतनी ही तत्परता से तूफानी राजनीति मे उनका पतन भी हो गया। संयुक्त मन्त्रिमण्डलो का उदय और पतन यह निष्कर्ष निकालने के लिए वाध्य करता है कि संसदीय शासन प्रणाली का संयुक्त मन्त्रिमण्डलो से तालमेल नही विठाया जा सकता।[1]

संयुक्त मन्त्रिमण्डलों से अभिप्राय
(MEANING OF COALITION GOVERNMENTS)

भारत मे संयुक्त मन्त्रिमण्डलों के लिए कई शब्दो का प्रयोग किया गया है, जैसे 'संविद', 'संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल', 'जनता मोर्चा सरकार', 'मिली जुली सरकार' आदि। संयुक्त सरकार से अभिप्राय है कि कई दलो की मिली-जुली मिश्रित सरकार का वनना। आम चुनावों से पूर्व कुछ दल मिलकर के एक निश्चित कार्यक्रम वना लेते है, उस निश्चित कार्यक्रम के आधार पर चुनाव लड़ते हैं, चुनावों मे आपसी सामंजस्य तथा तालमेल स्थापित करते हैं, एक-दूसरे के विरुद्ध प्रत्याशी खड़ा नही करते और यदि चुनावो के वाद इन संयुक्त दलों को वहुमत प्राप्त हो जाता है तो सर्व-सम्मति से वे अपना नेता निर्वाचित कर लेते हैं और नेता द्वारा निर्मित मन्त्रिमण्डल मे सभी दलों को यथोचित प्रतिनिधित्व दिया जाता है। कभी-कभी आम चुनावो के वाद भी 'संयुक्त सरकार' का गठन किया जाता है। मान लीजिये विधानसभा मे किसी भी दल को स्पष्ट वहुमत प्राप्त नही हुआ और दो से अधिक दल हैं तो ऐसी स्थिति मे दो या कुछ दल मिलकर के एक संयुक्त कार्यक्रम तैयार कर लेते है, सर्वसम्मत नेता चुन लेते हैं और मन्त्रिमण्डल के सभी दलो को प्रतिनिधित्व दे दिया जाता है। वस्तुतः, संयुक्त सरकार मिली-जुली सरकार है जिसमे दलीय सिद्धान्तो और कार्यक्रमो की अतिवादिता को त्यागते हुए विभिन्न दल या गुट निश्चित कार्यक्रम पर समझौता कर लेते

---

1 Parliamentary Government and Coalitions do not go together.
—Prem Bhasin · *Politics : Natoinal and International* (Associated, New Delhi, 1970), p. 16

हैं और उस कार्यक्रम के क्रियान्वयन हेतु सरकार में शामिल होते हैं।[1] संयुक्त मन्त्रिमण्डलों की निम्नलिखित विशेषता होती है। **प्रथम**, संयुक्त मन्त्रिमण्डल का समझौतावादी कार्यक्रम होता है, **द्वितीय**, संयुक्त सरकार के विभिन्न घटक मिल-जुलकर कार्य करते हैं; **तृतीय**, विभिन्न दलों के नेता और अस्तित्व होते हुए भी उनका एक सर्वसम्मत नेता होता है; **चतुर्थ**, महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समस्या का हल संयुक्त दलों की स्वीकृति से ही किया जाता है।

विदेशों में मिली-जुली सरकार
(COALITION GOVERNMENT IN OTHER COUNTRIES)

चतुर्थ गणतन्त्र के फ्रांस में तो प्रायः सभी मन्त्रिमण्डल एक से अधिक दलों के मेल से बने थे। उसके बाद भी दगाल के दल को समानधर्मी एक-दो दलों का सहारा मिला तो विपक्षी दलों ने भी अपना संयुक्त मोर्चा बनाने का प्रयास किया। पश्चिमी जर्मनी में भी क्रिश्चियन डेमोक्रेट और सोशल डेमोक्रेट ने मिलकर कई बार शासन सँभाला। सन् 1948 के बाद इटली में कई बार संयुक्त सरकार बन चुकी है। कनाडा में भी कई बार संयुक्त सरकारें बनी हैं। सन् 1947 में स्वाधीन लंका के शासन का श्रीगणेश ही संयुक्त दल से हुआ और वहाँ प्रायः संयुक्त सरकारें ही कार्य करती रही हैं।

भारतीय राजनीति और मिली-जुली सरकारें
(POLITICS OF COALITIONS IN INDIA)

संसदात्मक लोकतन्त्र में मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों का निर्माण आवश्यक हो जाता है। द्वि-दलीय व्यवस्था वाले देशों में केवल दो ही दल और वे भी सुसगठित होते हैं, तब प्रायः एक दल सत्तारूढ़ होता है और दूसरा विपक्ष में बैठता है। सत्तारूढ़ दल के अपदस्थ या पराजित होने पर प्रतिपक्षी दल सत्ता में आता है और सरकार का सचालन करता है। ब्रिटेन में लगभग ऐसी ही स्थिति है। वैसे ब्रिटेन में भी मिली-जुली सरकारें बनी हैं किन्तु तीसरे दल की दुर्बल स्थिति के कारण यह स्थिति सदैव ही उपस्थित नहीं हुई। भारत की स्थिति कुछ दूसरी है। यहां पर बहुदलीय व्यवस्था है और निर्वाचनों में अनेक राजनीतिक गुट तथा निर्दलीय प्रत्याशी भाग लेते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय राजनीति में कांग्रेस, जनसंघ, स्वतन्त्र, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, समाजवादी दल, साम्यवादी दल आदि अस्तित्व में आये। किन्तु कांग्रेस ही सुसगठित और प्रभावशाली दल बना रहा। अनेक वर्षों तक केन्द्र तथा राज्यों में कांग्रेस के ही मन्त्रिमण्डल बने। राष्ट्रीय आन्दोलन की भूमिका के कारण उसमें जनता की प्रगाढ़ श्रद्धा और निष्ठा थी। चुनावों में कांग्रेस की भारी विजय होती और दूसरी तरफ देश में राजनीतिक दलों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही थी। तृतीय आम चुनाव के बाद देश में असन्तोष बढ़ने लगा, नेहरू के बाद प्रभावशाली नेतृत्व का अभाव सर्वत्र परिलक्षित होने लगा। ऐसे समय में डॉ. राम मनोहर लोहिया ने गैर-कांग्रेस दलों को मिलाने के प्रयास प्रारम्भ किये। डॉ. लोहिया का मत था कि चुनावों में कांग्रेस की विजय का कारण गैर-कांग्रेसी दलों में एकता का अभाव है। उनके मत आपस में विभाजित हो जाते हैं और ऐसी स्थिति में कम मत प्राप्त करके भी कांग्रेस दल सत्ता में आ जाता है। रजनी कोठारी लिखते हैं, "विरोधी

---

[1] "संयुक्त सरकार राजनीतिक समुदायों अथवा शक्तियों का गठजोड़ है जो अस्थायी तथा कुछ विशिष्ट प्रयोजनों के लिए होता है। सामान्यतः, इस शब्द का प्रयोग उन राजनीतिक दलों के सन्दर्भ में होता है जो संसदीय या निर्वाचकीय प्रयोजनों के लिए आपस में मिल जाते हैं। संसदीय शासन-प्रणाली में राजनीतिक दलों का संघट्ट सरकारों का निर्माण करने अथवा उनकी रक्षा करने के लिए बनाया जाता है। जिन दलों के सहयोग के फलस्वरूप संयुक्त सरकारों का निर्माण होता है, वे एक बुनियादी राजनीतिक कार्यक्रम के ऊपर एकमत होती हैं।"
—काश्यप तथा गुप्त : **राजनीति कोष**, पृ. 57।

दलो ने देखा कि संयुक्त मोर्चा बनाकर वे कांग्रेस को हरा सकते है क्योकि काग्रेस को कभी भी देश के 45 प्रतिशत से अधिक वोट नही मिले, इस नीति के मुख्य प्रतिपादक थे डॉ. राम मनोहर लोहिया। लोहिया जन्मजात विरोधी थे और उनका व्यक्तित्व चमत्कारी था उन्होने शीघ्र ही समझ लिया कि थोथे विद्रोह से कुछ होना जाना नही इसलिए इन्होंने सत्ता पर एकाधिकार खत्म करने के लिए विरोधी दलो को एक साथ लाने की कोशिश की। काग्रेस के विरोधी किसी भी तत्त्व से वे हाथ मिलाने को तैयार रहते थे।"

वैसे मिली-जुली सरकारों के निर्माण का प्रयास पूर्व में ही हुआ है। अग्रेज सरकार के रहते पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व मे जब अन्तरिम सरकार की स्थापना का प्रयत्न किया गया तो कांग्रेस के साथ ही मुस्लिम लीग को भी सम्मिलित करने की व्यवस्था की गयी। यह केन्द्र मे मिली-जुली सरकार बनाने की योजना थी। यद्यपि लीग ने पहले असहयोग की नीति अपनायी और बाद मे मन्त्रिमण्डल मे अडगा लगाने के लिए ही लीग के नेता मन्त्रिमण्डल मे शामिल हुए। लियाकत अली खाँ को वित्त विभाग दिया गया था, जिसके परिणामस्वरूप अन्य विभागो का काम चलाना ही मुश्किल हो गया था। सन् 1954 मे ट्रावनकोर-कोचीन मे मध्यावधि चुनाव के बाद काग्रेस अपना मन्त्रिमण्डल नही बना सकी थी क्योकि 148-सदस्यीय विधानसभा मे काग्रेस को केवल 44 स्थान प्राप्त हो सके थे। काग्रेस के समर्थन से प्रजा समाजवादी दल ने पट्टम थानु पिल्लई के नेतृत्व मे अपना मन्त्रिमण्डल बनाया था।

भारत में मिली-जुली सरकारों की विशेषताएँ
(SALIENT FEATURES OF THE COALITION GOVERNMENTS)

चतुर्थ आम चुनाव के बाद केरल, प. बंगाल, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, उडीसा, मध्य प्रदेश, पजाब तथा गुजरात मे संयुक्त दलो की मिली-जुली सरकारें बनी, जिनकी सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार है :

(1) **अस्थिर सरकारें**—मिली-जुली सरकारे अस्थिर सरकारें थी। ये अधिक दिनो तक टिक नही सकी। मिली-जुली सरकारों के घटक दलो में मतभेद होने पर ये सरकारें अपदस्थ कर दी जाती थी।

(2) **कांग्रेस विरोध**—मिली-जुली सरकारो का ध्येय काग्रेस दल से सत्ता छीनना तथा काग्रेस के राजनीतिक एकाधिकार को तोड़ना था। उनके पास 'काग्रेस का विरोध करना' ही एक मात्र सिद्धान्त और कार्यक्रम था।

(3) **ध्रुवीकरण का अभाव**—मिली-जुली सरकारे तो सुविधाओं की आदी थी। उनका गठन राजनीतिक दल के ध्रुवीकरण के सिद्धान्त के आधार पर नही हुआ था। एक ही सरकार मे उग्र वामपन्थी और दक्षिणपन्थी साथ-साथ दिखलायी देते थे।

(4) **संसदीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल**—मिली-जुली सरकारो ने ससदीय नियमो और सिद्धान्तो को ताक मे रख दिया। एक मन्त्री दूसरे मन्त्री की आलोचना करता था और घटक का एक दल अपने ही दल की सरकार का मजाक बनाता था। संयुक्त उत्तरदायित्व का सिद्धान्त तो लगभग विस्मृत कर दिया गया था।[1]

(5) **मुख्यमन्त्री पद का ह्रास**—मुख्यमन्त्री का चयन दलीय नेताओ द्वारा जोड़-तोड़ के बाद होता था। उपमुख्यमन्त्री के पद की व्यवस्था की जाती थी, मन्त्रिमण्डल के आकार का निश्चय सरकार के घटक दल करते थे, जिससे मुख्यमन्त्री-पद कठपुतली बन गया।

(6) **मन्त्रिमण्डल का ह्रास**—निर्णय लेने की प्रक्रिया मे राज्य-मन्त्रिमण्डल का महत्त्व

---

[1] Sarad K. Chatterji. *The Coalition Government*, 1974, Chapter IV.

घटता गया। महत्त्वपूर्ण निर्णय संविदा के घटक दल लेते थे और मन्त्रिमण्डल की स्थिति पुष्टिकरण करने वाले निकाय के समतुल्य हो गयी थी।[1]

(7) **तनाव की राजनीति का उदय**—मिले-जुले मन्त्रिमण्डलो के कार्यकाल मे तनाव और मतभेद की राजनीति का उदय हुआ। विभिन्न घटक दलो मे मतभेद और तनाव बढ़ा, मुख्यमन्त्री और राज्यपाल के बीच मतभेद बढा, मुख्यमन्त्री, उपमुख्यमन्त्री और मन्त्रियो के बीच मतभेद बढ़े। पश्चिम बगाल का उदाहरण उल्लेखनीय है। एक ओर राज्यपाल धर्मवीर और मुख्यमन्त्री अजय मुखर्जी के बीच मतभेद बढे तो दूसरी ओर मुख्यमन्त्री और उपमुख्यमन्त्री ज्योति बसु भी एक-दूसरे की आलोचना करने लगे। मन्त्रिमण्डल मे एक मन्त्री डॉ. घोष तो कुछ साथियो को लेकर मन्त्रि-मण्डल से अलग हो गये। राज्य मे इतना तनाव बढा कि स्पीकर ने राजनीतिक गत्यावरोध ही उत्पन्न कर दिया।

(8) **केन्द्र-राज्य मतभेद**—जिस राज्य मे मिला-जुला मन्त्रिमण्डल था उसने सदैव ही केन्द्रीय सरकार के प्रति विरोध की नीति अपनायी। केरल की सरकार ने केन्द्र के निर्देशों का विरोध किया तो गुजरात के जनता मोर्चे ने आपात्काल मे भी केन्द्रीय निर्देशो का समुचित पालन नहीं किया। केन्द्र और राज्य के मध्य राज्यपाल की नियुक्ति, केन्द्रीय रिजर्व पुलिस, आर्थिक सहायता आदि प्रश्नो को लेकर उग्र मतभेद उत्पन्न हुए।

(9) **दल-बदल**—कई बार मिली-जुली सरकारो के निर्माण और विघटन का प्रमुखतम कारण दल-बदल रहा। मध्य प्रदेश मे दल-बदल से संविद बना और संविद टूटने का कारण भी दल-बदल रहा। मिली-जुली सरकारो के समय जितनी भारी मात्रा मे दल-बदल हुआ उतना कभी नहीं हुआ था।

(10) **गैर कांग्रेसी दलों को सत्ता स्वाद**—चतुर्थ आम चुनाव के बाद भी विभिन्न राज्यों में काग्रेस ही सबसे बडा दल था, अत यदि सभी गैर काग्रेसी दल मिलकर सयुक्त मोर्चा न बनाते तो उनको सत्ता ग्रहण करने का अवसर ही नहीं मिलता। गैर काग्रेसी दलो ने मिली-जुली सरकारें बनाकर सत्ता का स्वाद चखने का प्रयास किया।

हरियाणा में संयुक्त मोर्चा की सरकार राजनीति
(COALITION POLITICS IN HRAYANA)

नवम्बर 1966 मे हरियाणा राज्य की स्थापना हुई। चौथा आम चुनाव हरियाणा के लिए सबसे पहला चुनाव था। इस चुनाव मे काग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और विधानसभा के 81 स्थानो मे से उसे 48 स्थान प्राप्त हो गये। इस चुनाव मे जनसंघ को 12, स्वतन्त्र दल को 3, रिपब्लिकन दल को 2 और 16 स्थान निर्दलीय सदस्यो को प्राप्त हुए। भगवतदयाल शर्मा के नेतृत्व मे हरियाणा मे काग्रेस की सरकार बनी। इस सरकार पर आरोप लगाया गया कि विरोधी गुट के वरिष्ठ नेताओं को सरकार मे स्थान नही दिया गया। अध्यक्ष-पद के निर्वाचन मे विरोधी गुट ने सरकारी गुट को परास्त कर दिया। विरोधी गुट के सदस्यो ने हरियाणा काग्रेस नामक एक नये दल का गठन किया और निर्दलियो ने नवीन हरियाणा पार्टी बनायी। कई काग्रेसी सदस्य सयुक्त मोर्चे मे सम्मिलित हो गये जिसके फलस्वरूप मुख्यमन्त्री भगवतदयाल शर्मा ने त्यागपत्र दे दिया। इसी बीच हरियाणा काग्रेस ने विपक्षी दलो तथा निर्दलीय सदस्यों के साथ समझौता किया और राव वीरेन्द्रसिंह के नेतृत्व मे एक सयुक्त मोर्चे का निर्माण किया। राज्यपाल ने सयुक्त मोर्चे के नेता के रूप मे राव वीरेन्द्रसिंह को सरकार बनाने का आमन्त्रण दिया। पन्द्रह सदस्यो के सयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल ने 24 मार्च, 1967 को शपथ ली। मोर्चे के दो घटको—

[1] "The method of decision-making reduced the cabinet to a ratifying body." —*Ibid.*

स्वतन्त्र तथा जनसंघ दल ने मन्त्रिमण्डल से वाहर रहने का निर्णय किया। संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल के प्राय सभी सदस्य पुराने काग्रेसी और दल-वदलू थे। सयुक्त मोर्चा सरकार ने एक 7-सूत्री कार्यक्रम को अपनी नीति का आधार वनाया। हरियाणा काग्रेस मे शीघ्र ही दरारे दिखायी देने लगीं। जाट नेता देवीलाल ने मोर्चा सरकार को उलटने का संकल्प किया। 22 अक्टूबर, 1967 को जनसंघ के चार सदस्य काग्रेस में सम्मिलित हो गये। 29 अक्टूबर को खाद्य-उपमन्त्री ने संयुक्त मोर्चे से त्यागपत्र दे दिया। अव तो दल-वदल तथा प्रतिदल-वदल की घटनाएँ आम वात हो गयी। कभी संयुक्त मोर्चे का विधायक काग्रेस मे जा मिलता था और कभी काग्रेस का विधायक सयुक्त मोर्चे मे। नवम्बर मे ही देवीलाल ने हरियाणा काग्रेस को भंग कर दिया और अपने समर्थक विधायकों के साथ वे काग्रेस मे मिल गये। 78 सदस्यो के सदन मे विपक्ष की सदस्य-संख्या 38 और सत्तारूढ संयुक्त मोर्चे की संख्या 40 हो गयी। एक जनसंघ सदस्य के दल-वदल से सयुक्त मोर्चे तथा विपक्ष दोनो की सदस्य-संख्या बरावर हो गयी। ऐसी स्थिति में हरियाणा के राज्यपाल ने राष्ट्रपति को लिखा कि ताजा चुनावों के विना स्थिर मन्त्रिमण्डल का निर्माण सम्भव नही है। राज्यपाल ने संयुक्त मोर्चे तथा काग्रेस दोनो की दल-वदल की राजनीति की कठोर निन्दा की तथा राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की। मई 1968 मे हरियाणा मे पुन चुनाव हुए। चुनाव मे कांग्रेस के मुख्य रूप से दो नारे थे—स्थिरता के लिए मत दीजिये तथा दल-वदलुओं को वाहर रखिये। चुनावो मे काग्रेस को विजय प्राप्त हुई। काग्रेस की विजय का मुख्य कारण था कि लोग सयुक्त मोर्चे की सरकार से असन्तुष्ट थे। राव वीरेन्द्रसिंह के नेतृत्व में 17 नव-निर्वाचित विधायको ने एक संयुक्त मोर्चा विधानमण्डलीय दल का निर्माण किया। 9 दिसम्वर, 1968 को छः विरोधी सदस्य काग्रेस मे मिल गये और वंशीलाल मन्त्रिमण्डल सुदृढ हो गया। दिसम्वर 1967 में भगवत-दयाल शर्मा गुट के 15 काग्रेसी विधायको ने संयुक्त मोर्चे मे शामिल होने की घोषणा कर दी जिससे मोर्चे की सदस्य-संख्या 42 हो गयी। कुछ ही दिनों वाद मोर्चे से हटकर कुछ विधायक काग्रेस मे मिल गये। जनवरी 1972 मे मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल को विधानसभा भंग करने का सुझाव दिया और नये चुनावो के परिणामस्वरूप कांग्रेस को 52 स्थान प्राप्त हुए। संयुक्त मोर्चा राजनीति का हरियाणा मे पटाक्षेप हो गया।

संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल के काल मे किसानो तथा व्यापारियो ने भारी मुनाफा कमाया। संयुक्त कार्यक्रम को अमल मे लाने का कोई प्रयास नही किया गया। अपने आठ महीनो के शासन-काल मे कोई विकास-कार्यक्रम हाथ मे नही लिया गया और सारी योजनाएँ कागज पर ही धरी रह गयी। मोर्चा मन्त्रिमण्डल की सारी शक्ति और समय अपने अस्तित्व के लिए ही लडते रहने म वीत गया। राज्य के प्रशासन मे अराजकता आ गयी। प्रशासन मे भ्रष्टाचार तथा विधायको का हस्तक्षेप वढ गया। मोर्चा सरकार ने दल-वदल को प्रोत्साहन दिया, दल-वदलुओ को मन्त्रिपद प्रदान किये गये और लोकतन्त्र को एक तमाशा वना दिया। संयुक्त मोर्चे के 70 प्रतिशत विधायक मन्त्रिपरिषद के सदस्य थे। इस प्रकार हरियाणा मे संयुक्त मोर्चा सरकार ने राजनीतिक अस्थिरता, भ्रष्टाचार, दल-वदल और प्रशासनिक अनिश्चितता जैसी वुराइयो को प्रोत्साहित किया।

जून 1977 के हरियाणा विधानसभा के चुनावो मे जनता को स्पष्ट वहुमत प्राप्त हुआ। किन्तु श्री देवीलाल के नेतृत्व मे वनी सरकार एक मिली-जुली सरकार ही थी जिसमें भारतीय लोकदल और जनसंघ प्रमुख घटक थे। इन घटकों मे सत्ता का संघर्ष चलता रहा था और अन्त मे जनसंघ घटक ने देवीलाल को अपदस्थ करके ही चैन की साँस ली। काग्रेस फॉर डेमोक्रेसी घटक के भजनलाल मुख्यमन्त्री वने। किन्तु जनता (एस.) की स्थापना के वाद यह

सरकार अल्पमत मे आ गयी। जनवरी 1980 के चुनावो के वाद भजनलाल सहित जनता पार्टी की सरकार ने आपको काग्रेस (आई.) की सरकार में परिवर्तित कर लिया।

जून 1987 के विधानसभा चुनावो के वाद हरियाणा मे देवीलाल के नेतृत्व मे लोकदल (व) एव भाजपा की मिली-जुली सरकार गठित हुई। 90 सदस्यीय विधानसभा मे लोकदल को 58 एव भाजपा को 15 स्थान प्राप्त हुए थे। जव देवीलाल केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे शामिल हुए और ओमप्रकाश चौटाला मुख्यमन्त्री वने तो भाजपा सरकार से अलग हो गई।

राजस्थान में संविद राजनीति
(COALITION POLITICS IN RAJASTHAN)

भारत के मानचित्र पर राजनीतिक इकाई के रूप मे राजस्थान का आविर्भाव 1948-1950 मे देशी रियासतों के एकीकरण के फलस्वरूप हुआ। चौथे आम चुनाव से पूर्व काग्रेस को पराजित करने के लिए जनसघ और स्वतन्त्र दल ने आपस मे चुनाव-समझौता कर लिया। कुम्भाराम आर्य की जनता पार्टी भी इस समझौते मे सम्मिलित हो गयी। 184 सदस्यीय विधानसभा मे काग्रेस को 88 स्थान प्राप्त हुए और विरोधी दलो को कुल मिलाकर 80 स्थान प्राप्त हुए थे। 16 सदस्य निर्दलीय थे जिनमे से 11 जनता पार्टी के असन्तुष्ट काग्रेसी थे। 14 फरवरी, 1967 को स्वतन्त्र दल, जनसंघ, ससोपा तथा जनता पार्टी के अध्यक्षों ने राज्यपाल से प्रार्थना की कि वह उन्हे एक मिली-जुली सरकार वनाने का अवसर प्रदान करें। इसके वाद सुखाड़िया ने निर्दलीय सदस्यो को मिलाकर काग्रेस दल की सख्या 92 कर दी। विरोधी दलो ने भी राज्यपाल के पास 92 सदस्यो की सूची भेजी और कहा कि वे राज्य मे गैर-काग्रेसी सरकार के निर्माण की अनुमति प्रदान करें। 1 मार्च, 1967 को जनसघ, स्वतन्त्र, ससोपा और जनता पार्टी के विधायको ने तथा 22 निर्दलीय विधायको ने आपस मे मिलकर महारावल लक्ष्मणसिंह के नेतृत्व मे एक सयुक्त मोर्चे का गठन किया। इसी समय करौली के महाराज कुमार काग्रेस छोडकर विरोधी दल मे जा मिले। 3 मार्च 1967 को सयुक्त मोर्चे ने एक 17-सूत्रीय न्यूनतम कार्यक्रम स्वीकार किया और घोषणा की कि यदि वह मिली-जुली सरकार वनाने मे सफल हो गया तो यह कार्यक्रम कार्यरूप मे परिणित किया जायगा। सुखाडिया ने राज्यपाल से कहा कि वे विधानमण्डल मे सवसे वड़े दल के नेता ह अत सरकार वनाने का अधिकार उनका है। राज्यपाल ने सुखाडिया के तर्क को स्वीकार कर लिया और कहा कि उन्होने निर्दलीय सदस्यो की गणणा नही की क्योकि लोगो को उनकी नीतियो का पता नही। राज्यपाल के इस निर्णय की आलोचना की गयी। आलोचको के अनुसार राज्यपाल सयुक्त मोर्चे की उपेक्षा नही कर सकते थे क्योकि सयुक्त मोर्चा भी अन्य किसी दल की भाँति एक विधानमण्डलीय दल था, उसका एक निश्चित कार्यक्रम था और निर्वाचित नेता था।

राज्यपाल के इस निर्णय से कानून और व्यवस्था की स्थिति विगड जाती है, जयपुर में पुलिस को गोली चलानी पडती है और राज्य पर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। 15 मार्च को संयुक्त मोर्चे ने अपने 93 विधायकों को राष्ट्रपति भवन मे राष्ट्रपति के सम्मुख उपस्थित किया जिससे राष्ट्रपति स्वय यह देख सकें कि 183 सदस्यो की विधानसभा मे सयुक्त मोर्चे को वहुमत प्राप्त है। उसके वाद दोनो ओर से दल-वदल का खेल होने लगा। राज्यपाल-पद पर डॉ. सम्पूर्णानन्द के वजाय सरदार हुकमसिंह आ गये। काग्रेस ने राज्यपाल को 94 विधायकों की सूची दी और मोर्चे ने 96 विधायकों की। राज्यपाल ने 21 विधायकों से मुलाकात की और यह निर्णय लिया कि काग्रेस को ही वहुमत प्राप्त हैं। सुखाडिया ने मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया और उसके वाद सयुक्त मोर्चा टूटता गया और 183 सदस्यो की विधानसभा मे काग्रेस दल की सख्या 110 हो गयी। इस प्रकार राजस्थान मे संयुक्त मोर्चा राजनीतिक सत्ता मे आने से पूर्व ही टूट गया। यह सच है कि सयुक्त मोर्चा राजनीति को असफल वनाने मे राज्यपाल की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी, किन्तु

यह भी एक तथ्य है कि संयुक्त मोर्चे के नेता दल-बदल कराने मे उतने कुशल नही निकले जितने कि उनके प्रतिद्वन्द्वी नेता।

जून 1977 के चुनावों के बाद राजस्थान विधानसभा मे जनता पार्टी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और जनसंघ घटक के भैरोंसिंह शेखावत मुख्यमन्त्री बने। भारतीय लोकदल घटक के नेता महारावल लक्ष्मणसिंह और दौलतराम सारण असन्तुष्ट थे। भारतीय लोकदल और जनसंघ घटक के बीच सत्ता की प्रतिस्पर्द्धा चलने लगी। लोकदल के गठन के बाद महारावल लक्ष्मणसिंह, मास्टर आदितेन्द्र, प्रो. केदार आदि ने जनता पार्टी से स्तीफा देकर इसकी सरकार को अल्पमत मे लाने का भरसक प्रयत्न किया। चूंकि राजस्थान के विधायको मे जनसंघ घटक की सख्या काफी अधिक थी अत· सरकार को अपदस्थ नही किया जा सका और फरवरी 1980 तक यह सरकार चलती रही।

फरवरी 1990 के राजस्थान विधानसभा चुनावो मे किसी भी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही हुआ और भाजपा के भैरोंसिंह शेखावत के नेतृत्व मे राजस्थान मे मिली-जुली सरकार बनी। इस सरकार मे भाजपा तथा जनता दल शामिल हुए। विधानसभा मे भाजपा को 85 एवं जनता दल को 54 स्थान प्राप्त हुए।

उत्तर प्रदेश में संविद राजनीति
(COALITION POLITICS IN UTTAR PRADESH)

उत्तर प्रदेश को भारत का लघु रूप कहा जाता है। भारत सघ के राज्यो मे उत्तर प्रदेश सबसे बडा है। चौथे आम चुनाव मे कांग्रेस दल को विधानसभा मे पूर्ण बहुमत नही मिल सका। चन्द्रभान गुप्त काग्रेस दल के नेता निर्वाचित हुए और उन्होंने राज्यपाल से कहा कि वे सरकार बनाने की स्थिति में है। *5 मार्च, 1967* को सभी विरोधी दलो के प्रतिनिधियो ने 'सयुक्त विधायक दल' का निर्माण किया और रामचन्द्र विकल को नेता चुना। विकल ने राज्यपाल से अनुरोध किया कि 423 सदस्यो के सदन मे सविद को 215 सदस्यों का समर्थन प्राप्त है अत· उन्हे सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाना चाहिए। *9 मार्च* को ही संविद ने एक न्यूनतम कार्यक्रम स्वीकार किया। राज्यपाल ने 12 मार्च को काग्रेस विधानमण्डलीय दल के नेता चन्द्रभान गुप्त को मन्त्रिमण्डल बनाने का आमन्त्रण दिया। लेकिन गुप्त का मन्त्रिमण्डल केवल 18 दिन ही चला। चरणसिंह ने 17 काग्रेसी सदस्यो को साथ लेकर विरोधी पक्ष में स्थान ग्रहण कर लिया। संविद ने चरणसिंह को सर्वसम्मति से अपना नेता निर्वाचित किया और राज्यपाल ने उन्हे मन्त्रिमण्डल बनाने का आमन्त्रण दिया। सविद मे दरारें पडना शुरू हो गयी। साम्यवादी दल ने एक माह मे अपने एकमात्र सदस्य को सविद से हटा लिया। जनसंघ ने किसानो से सीधे अन्न खरीदने की योजना के प्रति अपना आशिक समर्थन प्रकट किया। काग्रेस और संविद मे दल-बदल का सिलसिला जारी रहा। सविद के विभिन्न घटक मुख्यमन्त्री को बराबर धमकी देते रहते थे। साम्यवादी दल लगान माफी के प्रश्न पर शीघ्र निर्णय लेने को कहता था तो ससोपा ने चेतावनी दी कि यदि छ: माह मे यह प्रश्न हल नही हुआ तो वह सरकार का साथ छोड देगी। जनसघ ने कहा कि यदि सविद के अन्य घटको ने उसकी उपेक्षा की तो सघ की कार्यसमिति अपने मन्त्रियो को आदेश देगी कि वे अपने पद को त्याग दे। जन कांग्रेस के अध्यक्ष रामगोपाल ने धमकी दी कि यदि सरकार ने अल्पसंख्यकों के प्रति विशेषकर उनकी भाषा और सस्कृति के प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार नही किया तो जन काग्रेस अपने मन्त्रियों से त्यागपत्र देने के लिए कह सकती है। उर्दू भाषा के प्रश्न को लेकर के संविद मन्त्रिमण्डल मे नया सकट उत्पन्न हो गया। उपमन्त्री ने कहा कि यदि उत्तर प्रदेश और बिहार मे उर्दू भाषा को दूसरी राजभाषा बनाया गया तो जनसंघ सविद सरकारो से हट जायेगा।

मुख्यमन्त्री चरणसिंह ने उपमुख्यमन्त्री तथा संविद समन्वय सचिव को पत्र लिखा कि उन्हे दल के नेतृत्व से मुक्ति दे दी जाये। मुख्यमन्त्री ने इस बात का कड़ा विरोध किया कि सविद के विभिन्न घटक नित्यप्रति के प्रशासन मे उन पर अनुचित दवाव डाल रहे है। उर्दू के प्रश्न पर उत्पादन मन्त्री (स्वतन्त्र दल) ने त्यागपत्र दे दिया तथा स्वतन्त्र दल के चार अन्य विधायक विधानसभा में निर्दलीय गुट मे सम्मिलित हो गये। सविद के सबसे बड़े घटक ससोपा ने धमकी दी कि यदि सरकार ने अपनी घोषणा के अनुसार आगामी खरीफ से 6·25 एकड से कम जमीन वाले काश्तकारो का 60 प्रतिशत लगान माफ नही किया तो वह आन्दोलन करेगी। फिर ससोपा के पाँच तथा दो साम्यवादी मन्त्रियो ने अपने त्यागपत्र भेज दिये। संसोपा तथा साम्यवादी दलो के निकल जाने के बाद संविद सरकार मे चार ही दल रह गये और उन चारो दलो की सदस्य सख्या 141 रह गयी थी। मुख्यमन्त्री चरणसिंह ने दो-तीन बार सविद समन्वय समिति को अपना त्यागपत्र दे दिया। सविद ने चरणसिंह के स्थान पर रामचन्द्र विकल को अपना दूसरा नेता निर्वाचित किया लेकिन सविद के अन्य घटको ने उन्हे नेता ही स्वीकार नही किया। ऐसी स्थिति मे राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश कर दी।

सविद के घटको ने फिर से मतभेदो को दूर करने का प्रयास किया। राष्ट्रपति ने अनिश्चय के वातावरण मे विधानसभा को भग किया। विधानसभा का विघटन होते ही सविद का भी विघटन हो गया। उसके कुछ घटकों—जनसंघ, भारतीय क्रान्ति दल ने स्वतन्त्र रूप से निर्वाचनो मे भाग लिया। मध्यावधि चुनावो मे काग्रेस को 211 स्थान प्राप्त हुए और चन्द्रभान गुप्त के नेतृत्व में उसका मन्त्रिमण्डल वना।

इस प्रकार उत्तर प्रदेश मे सविद की असफलता का मुख्य कारण सविद के घटको के बीच नीति सम्बन्धी मतभेद थे। संविद के विभिन्न घटक मुख्यमन्त्री को धमकियाँ देते रहते थे जिससे मुख्यमन्त्री नाममात्र के मुख्यमन्त्री की भूमिका निभाने के लिए तैयार नही थे। वस्तुतः सविद सरकार अपने अन्तर्विरोधों के कारण स्वय ही समाप्त हो गयी।

जून 1977 के उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावो मे जनता पार्टी को स्पष्ट वहुमत प्राप्त हुआ और भारतीय लोकदल घटक के रामनरेश यादव मुख्यमन्त्री वने। यह जनता सरकार यथार्थ मे भारतीय लोकदल और जनसंघ की मिली-जुली सरकार ही थी। धीरे-धीरे दोनो गुटो के मतभेद बढने लगे और जव रामनरेश यादव ने चार जनसंघी मन्त्रियो को वर्खास्त कर दिया तो जनसघ घटक ने रामनरेश यादव को ही पद छोड़ने के लिए वाध्य कर दिया। वाद मे काग्रेस फॉर डेमोक्रेसी घटक को प्राथमिकता देकर वनारसीदास मुख्यमन्त्री वने। वनारसीदास ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का विवाद खड़ा करते हुए जनसंघ घटक को सत्ता से दूर रखा। उनकी सरकार कुछ दिनो के लिए कांग्रेस (आई) का भी समर्थन प्राप्त करती रही। जनवरी 1980 के चुनावो के वाद जनता पार्टी ने इस सरकार को वनाने के लिए समर्थन देने की घोषणा की। एक मिली-जुली सरकार के घटको मे पायी जाने वाली प्रतिस्पर्द्धा जनता और लोकदल की इन सरकारो मे स्पष्टत देखी गयी।

मध्य प्रदेश में संविद राजनीति
(COALITION POLITICS IN MADHAY PRADESH)

चतुर्थ आम चुनाव के वाद द्वारिकाप्रसाद मिश्र सर्वसम्मति से काग्रेस विधानमण्डलीय दल के नेता निर्वाचित हुए और मुख्यमन्त्री वने। ग्वालियर की राजमाता के नेतृत्व मे गैर-काग्रेसी दलों तथा काग्रेसी दल-वदलुओ के सहयोग से एक वैकल्पिक सरकार वनाने के लिए राजनीतिक कार्यवाही शुरू हो गयी। 29 जुलाई, 1967 को शिक्षा मन्त्रालय की माँगो पर मिश्र सरकार सदन में पराजित हो गयी और मिश्र ने अपनी सरकार का त्यागपत्र दे दिया। राज्यपाल ने संविद नेता ग्वालियर राजमाता की सलाह पर गोविन्दनारायण सिंह को सरकार वनाने का आमन्त्रण दिया।

संविद के प्रतिनिधियो ने नये मन्त्रिमण्डल के लिए न्यूनतम कार्यक्रम स्वीकार किया। प्रसोपा तथा संसोपा ने तय किया कि वे मन्त्रिमण्डल मे सम्मिलित नही होंगे तथा बाहर से ही मन्त्रिमण्डल को समर्थन देंगे। सविद के विभिन्न घटको के बीच विभागो का जिस ढग से वितरण हुआ था, प्रारम्भ मे उससे कुछ वाद-विवाद उत्पन्न हुआ।

संसोपा संविद पर दबाव डालने लगी कि वह भू-राजस्व को पूरी तरह समाप्त करे। हरिजन संविद मे अधिक प्रतिनिधित्व की माँग करने लगे। संविद के अन्य घटक साम्यवादी दल ने धमकी दी कि यदि संविद ने उसके 10-सूत्री कार्यक्रम को कार्यान्वित नही किया तो वह संविद का समर्थन करना बन्द कर देगा। कांग्रेस विधानमण्डलीय दल के नेता श्यामाचरण शुक्ल ने प्रसोपा नेता सी. पी. तिवारी को औपचारिक रूप से आमन्त्रण दिया कि वे 122 काग्रेसी विधायकों के समर्थन से प्रसोपा मन्त्रिमण्डल का निर्माण करें। इधर मुख्यमन्त्री और जनसंघ के बीच मतभेद बढ गया और जनसंघ के सातो मन्त्रियो ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिये। जनसघी मन्त्रियों को इस बात पर बड़ा रोष था कि मुख्यमन्त्री उनके विभागों मे हस्तक्षेप कर रहे थे। एक स्थिति तो ऐसी उत्पन्न हो गयी कि मुख्यमन्त्री और संविद नेता राजमाता ने त्यागपत्र दे दिये। संविद की समन्वय समिति की बैठक हुई और बहुत से निर्णय लिये गये। सविद के सदस्यो तथा घटको के लिए एक आचरण-सहिता स्वीकार की गयी तथा मुख्यमन्त्री ने अपनी शक्तियो के ऊपर कुछ अंकुश स्वीकार किये। प्रसोपा ने यह निश्चय कर लिया कि सत्तारूढ संविद सरकार का समर्थन बन्द कर दिया जाय। गोविन्दनारायण सिंह ने काग्रेस से मित्रतापूर्ण वार्ता प्रारम्भ कर दी और राजा नरेशचन्द्र सिंह के पक्ष मे मुख्यमन्त्री-पद त्याग करने के लिए प्रस्तुत हो गये। जनसंघ माँग कर रहा कि श्री सिंह मुख्यमन्त्री-पद से हट जायें। जब श्री सिंह मुख्यमन्त्री पद से हटे तो राजा नरेशचन्द्र सिंह संविद मुख्यमन्त्री बने। इस बीच श्री सिंह सहित सविद के बीस सदस्य कांग्रेस मे जा मिले और श्यामाचरण शुक्ल के नेतृत्व मे काग्रेसी सरकार गठित कर दी गयी।

इस प्रकार मध्य प्रदेश मे सविद मन्त्रिमण्डल की रचना और अन्त काग्रेस से दल-बदल की घटना से ही हुआ है। जब काग्रेस दल-बदलू सविद का मजा लूटकर पुनः कांग्रेस में शामिल हो गये तो संविद का अस्तित्व समाप्त हो गया। संविद के पतन का मुख्य कारण उसके घटकों मे एकता का अभाव और मुख्यमन्त्री की दुर्बल स्थिति ही था। काग्रेस दल ने भी संविद मे फूट डालने का भरसक प्रयत्न किया।

जून 1977 मे मध्य प्रदेश विधानसभा चुनावों में जनता पार्टी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। जनता पार्टी की यह सरकार मोटे रूप से जनसंघ और सोशलिस्ट घटकों की मिली-जुली सरकार ही थी। दोनो घटको मे आये दिन तनाव और मतभेद उत्पन्न होते रहे। सोशलिस्ट घटकों ने मुख्यमन्त्री वीरेन्द्रकुमार सकलेचा का सतत् विरोध किया। यह विरोध इतना बढ गया कि उन्हे जनवरी 1980 के लोकसभा के चुनावो के बाद पद से त्यागपत्र देना पडा। फरवरी 1980 तक यह जनता सरकार इसलिए चलती रही क्योंकि विधानसभा मे जनसघ की स्थिति काफी सुदृढ थी।

केरल में संविद राजनीति
(COALITION POLITICS IN KERLA)

1951-52 के चुनावों मे काग्रेस ने सबसे अधिक सीटें जीती लेकिन उसे पूर्ण बहुमत प्राप्त नही हुआ। अत काग्रेस व 'तमिलनाडु-त्रावणकोर नेशनल काग्रेस' की सहायता से मन्त्रिमण्डल बनाया। किन्तु छः माह के अन्दर ही नेशनल काग्रेस ने 'अविश्वास प्रस्ताव' के पक्ष मे मत देकर सरकार को पराजित कर दिया। 1954 के चुनाव में कांग्रेस पूर्ण बहुमत प्राप्त न कर सकी। चुनाव मे रोमन कैथोलिक चर्च ने कांग्रेस का समर्थन किया। साम्यवादी, प्रजा समाजवादी तथा क्रान्तिकारी समाजवादी दलों ने काग्रेस के विरोध मे अपना संयुक्त मोर्चा बनाकर 117 स्थानों मे

ने 73 स्थानों पर कांग्रेस का सीधा मुकाबला किया। कांग्रेस कुल 58 सीटें जीत सकी और संयुक्त मोर्चे को 59 स्थान मिले। प्रजा समाजवादी दल के केन्द्रीय नेता साम्यवादियों के साथ साझा सरकार बनाने के पक्ष मे नहीं थे अत कांग्रेस ने सरकार से बाहर रहकर प्रसोपा के मन्त्रि-मण्डल का समर्थन किया। किन्तु मार्च 1955 मे यह मन्त्रिमण्डल धराशायी हो गया और पी. जी. मेनन के नेतृत्व मे कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बना जो मार्च 1956 तक चलता रहा। 1957 के चुनाव मे साम्यवादी दल को बहुमत प्राप्त हो गया और जुलाई 1959 तक साम्यवादी सरकार कार्य करती रही। सन् 1960 मे केरल विधानसभा के लिए मध्यावधि चुनावो मे कांग्रेस ने मुस्लिम लीग और प्रसोपा के सहयोग से साम्यवादियो के विरुद्ध चुनाव लड़ा। चुनाव के बाद श्री पट्टम थाणु पिल्ले के नेतृत्व मे कांग्रेस और प्रसोपा का मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बना। यह सरकार 1962 तक चलती रही। 1964 मे केरल मे तीसरी बार राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। 1965 मे पुन: चुनाव हुए जिसमे किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही हुआ और 1967 तक राष्ट्रपति शासन जारी रखा गया।

चतुर्थ आम चुनावों मे केरल मे पुन वामपन्थी दलो तथा मुस्लिम लीग का सयुक्त मोर्चा बना। 133-सदस्यीय विधानसभा मे मार्क्सवादी-साम्यवादी दल को 52 तथा साम्यवादी दल को 19 स्थान मिले। नम्बूदरीपाद के नेतृत्व मे वामपन्थी मोर्चे की सरकार बनी। इस मोर्चे मे छ वामपन्थी दल तथा मुस्लिम लीग शामिल हुए। शीघ्र सयुक्त मोर्चा सरकार मे दरारें पडने लगी। सरकार चुनाव मे दिये गये वचनो को पूरा नही कर पायी, खाद्य समस्या विकट हो गयी और प्रशासन मे शिथिलता आ गयी। मार्क्सवादी-साम्यवादी दल ने 'गोपाल सेना' गठित करके लोगो को सताना प्रारम्भ कर दिया। ससोपा नेता तथा वित्तमन्त्री पी. के. कुंज ने मोर्चा सरकार की नीतियो की कटु आलोचना की। 15 मई, 1969 को कृषि मन्त्री एम. एन. गोविन्द नय्यर ने मार्क्सवादियो की नीति की कटु आलोचना की। पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण सरकार ने घटको मे मतभेद बढ़ने लगा और 1969 मे नम्बूदरीपाद ने त्यागपत्र दे दिया। अच्युत मेनन के नेतृत्व मे साम्यवादी दल का नया मन्त्रिमण्डल बना जो केवल 9 महीने चला। जून 1970 मे मेनन ने राज्यपाल को विधानसभा भग करने का परामर्श दिया। 17 सितम्बर, 1970 को राज्य मे पुन चुनाव हुए। राज्य के 21 दलो ने तीन मोर्चे बनाये। प्रथम मोर्चे मे एस. एस. पी. (SSP), के एस पी (KSP) तथा के. आई. पी (KIP) दल थे तथा इसका नेतृत्व मार्क्सवादी-साम्यवादी दल ने किया। दूसरे मोर्चे का नेतृत्व साम्यवादी दल ने किया जिसमें आर. एस. पी (RSP), पी. एस. पी. (PSP) तथा मुस्लिम लीग थे और कांग्रेस दल ने भी इससे समझौता कर रखा था। तीसरे मोर्चे मे सगठन कांग्रेस, जनसघ, स्वतन्त्र, द्रमुक आदि दल थे। चुनावो के बाद कांग्रेस दल सबसे बडे दल के रूप मे उभरा और उसे 133 सदस्यो की विधानसभा मे 32 स्थान प्राप्त हुए।[1] अच्युत मेनन के नेतृत्व मे मन्त्रिमण्डल बना जिसमे तीन मन्त्री साम्यवादी दल (CPI) से, दो मन्त्री आर. एस. पी (RSP) से, दो मुस्लिम लीग से तथा एक मन्त्री प्रसोपा से लिया गया। कांग्रेस दल ने सरकार को बाहर से समर्थन देने का वचन दिया। यह मन्त्रिमण्डल सफलतापूर्वक कार्य करता रहा। 20 जुलाई, 1975 को केन्द्रीय सरकार ने इस मन्त्रिमण्डल का कार्यक्रम सविधान के अनुच्छेद 172 के अनुसार छ: माह के लिए बढा दिया। बाद मे कांग्रेस ने भी इस मन्त्रिमण्डल मे शामिल होना स्वीकार कर लिया और के. करुणाकरण गृहमन्त्री बनाये गये। मार्च 1977 के चुनावों का केरल की राजनीति पर विशेष प्रभाव नही पड़ा और लोकसभा व विधानसभा दोनों मे सत्ताधारी संयुक्त मोर्चे को आशातीत सफलता मिली। मुख्य विशेषता यह रही कि कांग्रेस को

1 Kuldip Nayar. *India after Nehru*, 1975, Vikas. pp 166-167.

पहले के मुकाबले अधिक सीटें मिली और विधानसभा मे सबसे बडे दल के रूप मे सामने आयी। सबसे बडे दल के रूप मे कांग्रेस विधायक दल के नेता करुणाकरण ने मुख्यमन्त्री पद की शपथ ली। मार्च 1977 के चुनाव मे विधानसभा की 140 सीटो मे से सत्ताधारी संयुक्त मोर्चे को 111 सीटें मिली। राजन मामले को लेकर उत्पन्न हुए राजनीतिक विवाद मे संयुक्त मोर्चे के मुख्यमन्त्री करुणाकरण को त्यागपत्र देना पडा। उनकी जगह ए. के. एण्टोनी मुख्यमन्त्री बने। बाद मे कांग्रेस विभाजन के फलस्वरूप उन्होने पद त्याग दिया और साम्यवादी दल के पी के. वासुदेवन नय्यर मुख्यमन्त्री पद पर आसीन हुए। इस संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल ने अपने मतभेद के कारण त्यागपत्र दे दिया और 12 अक्टूबर, 1979 को मुस्लिम लीग के सी एच. मोहम्मद कोया के नेतृत्व मे तीन-सदस्यीय मन्त्रिमण्डल ने शपथ ली। कोया मन्त्रिमण्डल को साम्यवादी दल (CPI) के नेतृत्व मे बने सयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल के स्थान पर पदस्थ किया गया। कोया के राजनीतिक दल के विधायको की संख्या मात्र 11 थी। राष्ट्रीय प्रजातन्त्री मोर्चा सत्ता मे मुस्लिम लीग का साझेदार बना और मोर्चे के विधायको की सख्या कुल 4 थी। लोगो ने अनुमान लगाया कि यह मन्त्रिमण्डल चिरजीवी नही होगा। किन्तु जब भू-उपहार विधेयक पर मतदान हुआ तो उसके पक्ष मे 70 और विपक्ष मे 42 मत आये। यह स्पष्ट हो गया कि विधेयक के विरोध मे भारतीय साम्यवादी दल और मार्क्सवादी दल साम्यवादी (22+19 विधायकों ने) ने ही मतदान किया। साम्यवादियो के विपरीत मुस्लिम लीग और राष्ट्रीय प्रजातन्त्रवादी मोर्चे के अलावा कांग्रेस 22, केरल कांग्रेस (जोसफ गुट) 9, कांग्रेस और कांग्रेस (इ) 17 ने मन्त्रिमण्डल का साथ दिया। यह स्पष्ट था कि सालो बाद केरल मे साम्यवादी लोग एक तरफ और गैर-साम्यवादी सभी राजनीतिक दल दूसरे खेमे में जमा हो गये। Non-Communist

वस्तुत अवसरवादिता के कारण केरल मे केरल कांग्रेस, मुस्लिम लीग, जनता पार्टी और इन्दिरा कांग्रेस एक नाव मे सवार हो गये। जैसे ही दोनों साम्यवादी दलो के बीच मेलजोल का प्रयत्न शुरू हुआ और इस बात की आशंका होने लगी कि साम्यवादी लोग एकता के कारण प्रदेश की राजनीति को प्रभावित करते जा रहे है, सारे गैर-साम्यवादी दल सगठित हो गये।

मोहम्मद कोया मन्त्रिमण्डल के त्यागपत्र के बाद 30 नवम्बर, 1979 को राज्य विधानसभा को भंग कर दिया गया और 4 दिसम्बर, 1979 को यहाँ राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। 20 जनवरी, 1980 को केरल विधानसभा के चुनाव हुए। मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेतृत्व वाले सात-सदस्यीय वामपन्थी मोर्चे को 140 सदस्यीय केरल विधानसभा मे 93 स्थान प्राप्त हुए और उसे पूर्ण बहुमत प्राप्त हो गया। राज्य मे उसके मुख्य विपक्षी दल कांग्रेस (इ) के नेतृत्व वाले मोर्चे को 46 स्थान मिले। मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेतृत्व वाले मोर्चे मे कांग्रेस (अर्स), भारतीय साम्यवादी दल, केरल कांग्रेस (मणि गुट), मुस्लिम लीग, केरल कांग्रेस (पिल्लई गुट) तथा आर एस. पी शामिल थे। दूसरी ओर कांग्रेस (इ) के नेतृत्व वाले प्रजातान्त्रिक मोर्चे मे 6 दल शामिल थे। ये दल थे कांग्रेस (इ), मुस्लिम लीग, केरल कांग्रेस (जोसफ गुट), नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी, प्रजा-सोशलिस्ट पार्टी तथा जनता पार्टी। माकपा वाले मार्चे के नेता इ. के नयनार बनाये गये। परन्तु अक्टूबर 1981 मे मुख्यमन्त्री नयनार ने राज्यपाल को अपनी सरकार का इस्तीफा पेश कर दिया। 16 अक्टूबर, 1981 को ए के. एण्टोनी गुट (कांग्रेस शरद) ने तथा उसके बाद 9-सदस्यीय मणि गुट ने सरकार से अपना समर्थन वापिस ले लिया जिसके फलस्वरूप मार्क्सवादी नेतृत्व वाला नयनार मन्त्रिमण्डल अल्पमत मे आ गया और 20 अक्टूबर को राज्य मे छठी बार राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। कांग्रेस 'श' ने मन्त्रिमण्डल से इस्तीफा देते समय अपने बयान मे कहा कि "एक बार फिर सिद्ध हो गया है कि सिर्फ प्रजातान्त्रिक शक्तियो द्वारा ही राज्य

मे साफ-सुथरा प्रशासन स्थापित किया जा मकता है और शान्ति व्यवस्था सुचारु वनायी जा मकती है।"

इसके वाद काग्रेस (इ) के नेता के करुणाकरण के नेतृत्व मे एक अन्य मिली-जुली सरकार का गठन किया गया। यह सरकार विधानसभा के स्पीकर के निर्णायक मत के आधार पर कुछ दिनों तक टिकी रही। स्पीकर ने सरकार को वचाने के लिए एक अवसर पर तो एक दिन मे ही आठ वार अपने निर्णायक मत का प्रयोग किया। किन्तु जैसे ही केरल कांग्रेस के विधायक लोलप्पन नेत्राडन ने सरकारी पक्ष से अपना सम्वन्ध विच्छेद कर लिया तो करुणाकरण सरकार अल्पमत मे आ गयी। 19 मई, 1982 को राज्य विधानसभा के मध्यावधि चुनावो में काग्रेस (इ) के नेतृत्व वाले संयुक्त लोकतान्त्रिक मोर्चे को 140 सदस्यो वाली विधानसभा मे 77 स्थान प्राप्त हुए और के. करुणाकरण के नेतृत्व मे मोर्चे द्वारा एक मिली-जुली सरकार गठित की गयी। इस सरकार की स्थिति घटक दलो के आपसी तालमेल के अभाव मे अनवरत डगमगाती रही।

23 मार्च, 1987 को केरल विधानसभा के चुनाव हुए और वहाँ वामपन्थी लोकतान्त्रिक मोर्चा विजयी हुआ। केरल मे 140 मे से कुल 138 सीटो के लिए चुनाव हुए। इसमे से 76 स्थान वामपन्थी मोर्चे को, 60 संयुक्त लोकतान्त्रिक मोर्चे को व 2 स्थान अन्य को प्राप्त हुए। ई. के. नयनार को वामपन्थी मोर्चे का नेता चुना गया और तव से एक मिली-जुली सरकार उनके नेतृत्व मे कार्यरत है।

उल्लेखनीय है कि केरल मे मन्त्रिमण्डलो के वहुत थोड़े समय तक जलने का इतिहास रहा है, लेकिन अच्युत मेनन के नेतृत्व मे गठित संयुक्त मोर्चे की सरकार ही मात्र ऐसी सरकार थी जिसे अपने पूरे कार्यकाल तक सत्ता मे वने रहने का मौका मिला, यही नही, दो वार छ-छ. महीने के लिए उसके कार्यकाल मे वृद्धि भी की गयी। वस्तुत सारे भारत मे संयुक्त मोर्चे की सरकारो मे यह सफलता अच्युत मेनन की सरकार को ही प्राप्त हो सकी।

उड़ीसा में मिली-जुली सरकार की राजनीति
(COALITION POLITICS IN ORISSA)

चतुर्थ आम चुनाव मे उड़ीसा विधानसभा के 140 सदस्यो मे से 49 स्थान स्वतन्त्र दल को, 30 काग्रेस को, 26 जन काग्रेस को, 21 प्रसोपा, 7 सी. पी. आई., 2 संसोपा तथा 1 स्थान सी. पी. एम को प्राप्त हुआ। स्वतन्त्र दल के नेता आर. एन. सिंहदेव ने 8 मार्च, 1967 को जन काग्रेस के समर्थन से मिली-जुली सरकार वनायी। दोनो दलो ने सयुक्त चुनाव लड़ा था और कुल मिलाकर 75 स्थान प्राप्त कर लिये थे। यह सरकार जनवरी 1971 तक भली-भाँति काम करती रही। काग्रेस दल ने जन काग्रेस को सिंहदेव सरकार से पृथक् करने के प्रयास प्रारम्भ किये। जनवरी 1971 मे जन काग्रेस ने यह आरोप लगाते हुए कि स्वतन्त्र दल के मन्त्री भ्रष्ट कार्य कर रहे हैं, सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री को सदन का विश्वास प्राप्त करने को कहा किन्तु मुख्यमन्त्री ने 9 जनवरी, 1971 को अपना त्यागपत्र दे दिया।[1] राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश कर दी और विधानसभा का विघटन कर दिया गया। 5 मार्च, 1971 को नये चुनाव हुए और किसी भी दल को स्पष्ट वहुमत प्राप्त नही हुआ। उत्कल काग्रेस ने स्वतन्त्र दल, झारखण्ड पार्टी तथा निर्दलीय सदस्यो से मिलकर मोर्चा वनाया जिसके नेता विश्वनाथ दास चुने गये। राष्ट्रपति शासन की समाप्ति की गयी और 3 अप्रैल, 1972 को नयी सरकार अस्तित्व मे आयी। शीघ्र ही उत्कल काग्रेस मन्त्रिमण्डल से हट गयी और जून 1972

---

[1] *The Times of India*, 14 January, 1971, p 1.

में नन्दिनी सत्पथी के नेतृत्व मे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल वन गया। उत्कल कांग्रेस ने यह भी प्रस्ताव पारित कर दिया कि वह कांग्रेस मे शामिल हो जायेगी। यह मित्रता अधिक दिनों तक नही चल सकी। बीजू पटनायक ने प्रगति दल वनाकर बगावत का झण्डा खडा कर दिया और सत्पथी सरकार से कई विधायक अलग हो गये। सत्पथी मन्त्रिमण्डल ने बहुमत खो दिया और 28 फरवरी, 1973 को त्यागपत्र दे दिया। राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश कर दी। फरवरी 1974 मे उडीसा मे पुन. निर्वाचन हुए। भारतीय साम्यवादी दल ने कांग्रेस के साथ चुनाव समझौता किया और सरकार बनाने मे उसको सहयोग दिया। श्रीमती नन्दिनी सत्पथी को मुख्य-मन्त्री बनाया गया। भारतीय साम्यवादी दल सरकार में सम्मिलित नही हुआ और वाहर से सरकार को समर्थन देता रहा। बाद मे कई निर्दलीय सदस्य कांग्रेस मे मिल गये और सरकार सुगमता से चलने लगी।

इसी प्रकार उडीसा मे श्री सिंहदेव द्वारा निर्मित मोर्चा सरकार लगभग चार वर्ष तक सफलतापूर्वक कार्य करती रही। उसकी सफलता का राज यह था कि यह सरकार केवल दो दलो का ही संयुक्त मोर्चा थी और यदि कांग्रेस जन कांग्रेस के नेताओं के प्रलोभन न देती तो आसानी से उडीसा की संविद सरकार पाँच वर्ष का कार्यकाल पूरा कर लेती।

प. बंगाल राजनीति में संयुक्त मोर्चा सरकार
(COALITION GOVERNMENT IN W. BENGAL POLITICS)

पश्चिमी वंगाल मे कांग्रेस दल वीस वर्ष तक लगातार सत्तारूढ रहा था, पर सन् 1967 के चतुर्थ आम चुनावों से उसे पूर्ण बहुमत न मिल सका। स्वतन्त्रता के बाद यह पहला मौका था जबकि उसे चुनावो मे भारी पराजय का मुँह देखना पडा। विरोधी दलो ने तत्काल ही एक काम-चलाऊ गठबन्धन तैयार कर लिया जिससे कि वे मिली-जुली सरकार का निर्माण कर सकें। 25 फरवरी, 1967 को दोनो वामपथी मोर्चो—सयुक्त वामपन्थी मोर्चे और जनवादी संयुक्त वामपन्थी मोर्चे के कुछ गुटो ने मिलकर एक संयुक्त लोकतन्त्रात्मक मोर्चे की स्थापना की। बगला कांग्रेस के श्री अजय मुखर्जी इस मोर्चे के नेता बने। पहली मार्च को राज्यपाल ने संयुक्त मोर्चे के नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। मोर्चे ने एक न्यूनतम कार्यक्रम की घोषणा कर दी। अजय मुखर्जी के मन्त्रिमण्डल के प्रति जनता ने अभूतपूर्व उत्साह, आशा और उल्लास का परिचय दिया। संयुक्त मोर्चे मे शीघ्र ही दरारें पड गयी। एक समय तो ऐसा लगने लगा कि मुख्यमन्त्री और वामपन्थी साम्यवादी एक-दूसरे से अलग हो जायेंगे। वामपन्थी साम्यवादियो की राष्ट्र-विरोधी एव हिंसात्मक कार्यवाहियो नक्सलवादी विद्रोह, घेराव, हडतालो आदि मे तंग आकर मुख्यमन्त्री अजय मुखर्जी ने अपनी सरकार का तख्ता पलटने का निर्णय किया। सिंचाई मन्त्री श्री विश्वनाथ मुखर्जी की खाद्य मन्त्री पी. सी. घोष से कहा-सुनी हो गयी। बगला कांग्रेस के अनुसूचित जाति के 18 विधायकों ने अनुसूचित जाति के किसी सदस्य को मन्त्रिमण्डल मे शामिल न करने के प्रश्न पर सयुक्त मोर्चा छोड़ देने की धमकी दी। मन्त्रिमण्डल की वैठक मे मुख्यमन्त्री और उपमुख्यमन्त्री ज्योति वसु के वीच झडप हो गयी। खाद्यमन्त्री डॉ पी. सी. घोष ने संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। डॉ. घोष के साथ 17 अन्य विधायक भी संयुक्त मोर्चे से निकल गये और सयुक्त मोर्चा अल्पमत मे आ गया। इसके बाद सयुक्त मोर्चे ने न तो त्यागपत्र दिया और न विधान-सभा की वैठक ही जल्दी बुलायी। इस स्थिति मे राज्यपाल ने संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर दिया। डॉ पी. सी. घोष ने कांग्रेस दल के सहयोग से संयुक्त मोर्चे से दल-बदल करने वाले विधायकों का एक अल्पसंख्यक मन्त्रिमण्डल बनाया। बाद मे कांग्रेस से कुछ सदस्य भी घोष मन्त्रि-मण्डल मे शामिल हो गये, लेकिन मन्त्रिपदो के वितरण के समय कांग्रेसियों मे फिर विवाद उत्पन्न हो गया। राज्यपाल ने विधानसभा की वैठक बुलायी और स्पीकर श्री विजय बनर्जी ने एक अभूत-

पूर्व व्यवस्था द्वारा सदन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया। ऐसी स्थिति में राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की और विधानसभा भंग कर दी गयी। फरवरी 1969 में विधानसभा के मध्यावधि चुनाव हुए। 280 सदस्यों के सदन में 12 दलों के संयुक्त मोर्चे को 214 स्थान प्राप्त हुए और राज्यपाल ने श्री अजय मुखर्जी को नयी सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। संयुक्त मोर्चे के नेताओं ने पश्चिमी बंगाल में अपने नये मन्त्रिमण्डल का आरम्भ इस वचन के साथ किया कि वे संविधान तथा जनतन्त्रात्मक ढाँचे के भीतर रहकर ही कार्य करेंगे।

संयुक्त मोर्चे ने राज्यपाल श्री धर्मवीर को हटाने की माँग की। राज्यपाल को ऐसा अभिभाषण तैयार करके दिया जिसमें स्वयं राज्यपाल द्वारा संयुक्त मोर्चा सरकार की बर्खास्तगी की भी आलोचना की गयी। नक्सलवादियों की गतिविधियाँ राज्य में सक्रिय रूप से बढ़ गयीं। मुख्यमन्त्री तथा बंगला कांग्रेस ने राज्य में अव्यवस्था को दूर करने के लिए 1 दिसम्बर, 1969 को सत्याग्रह प्रारम्भ किया। अजय मुखर्जी और ज्योति बसु के बीच भयंकर मतभेद बढ़ गये। उपमुख्यमन्त्री ज्योति बसु कहने लगे कि मुख्यमन्त्री की स्थिति तो बराबर वालों में 'प्रथम' मात्र है। विधानसभा में मुख्यमन्त्री ने स्वयं कहा कि संयुक्त मोर्चा सरकार ने अनेक 'असभ्यतापूर्ण' कार्य किये हैं। अराजकता, हिंसा और अव्यवस्था की स्थिति में मुख्यमन्त्री ने स्वयं त्यागपत्र दे दिया। मार्क्सवादी-साम्यवादी पार्टी ने उनके त्यागपत्र के विरोध में 'बन्द' आयोजित किया। राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश कर दी और संयुक्त मोर्चा अपने ही मतभेदों से टूट गया।

मार्च 1977 में चुनाव होते हैं और अजय मुखर्जी एक लोकतान्त्रिक संयुक्त मोर्चे' का निर्माण करते हैं। इस मोर्चे में कांग्रेस भी शामिल हो जाती है। बंगलादेश की घटनाओं के सन्दर्भ में मुख्यमन्त्री अजय मुखर्जी ने राज्यपाल को विधानसभा भंग करने की सलाह दी और राज्य में पुनः राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। मार्च 1972 में पुनः चुनाव होते हैं। कांग्रेस दल को 280 स्थानों में से 216 स्थान प्राप्त होते हैं और श्री सिद्धार्थ शंकर रे के नेतृत्व में कांग्रेस की सरकार बनती है।

कांग्रेस पार्टी की यह सरकार आपात्काल के दिनों में भी चलती रही। जून 1977 के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस पार्टी का स्थान मार्क्सवादी-साम्यवादी दल ने ले लिया। 294-सदस्यीय विधानसभा में मार्क्सवादी दल को 177 स्थान प्राप्त हुए और मिली-जुली सरकार बनाने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। ज्योति बसु मुख्यमन्त्री बने और उनकी सरकार जनवरी 1982 तक आसानी से चलती रही।

1982 तथा 1987 के विधानसभा चुनावों में भी मार्क्सवादी पार्टी के नेतृत्व वाले मोर्चे को बहुमत प्राप्त हुआ और ज्योति बसु के नेतृत्व में मिली-जुली सरकार बनी। प्रारम्भ में मोर्चे के घटक दलों में दरारें प्रकट हुईं किन्तु मार्क्सवादी पार्टी का अकेले ही स्पष्ट बहुमत होने के कारण सरकार के संचालन में कोई कठिनाई दिखलायी नहीं देती।

इस प्रकार पश्चिमी बंगाल में संयुक्त मोर्चे के शासन काल में हिंसा अव्यवस्था और अराजकता बढ़ी। वामपन्थी दलों की कार्यवाही के कारण व्यापक रूप से औद्योगिक अशान्ति उत्पन्न हो गयी। मोर्चे में एक ओर मुख्यमन्त्री और उपमन्त्री के बीच तनाव पैदा हुए थे तो दूसरी तरफ राज्यपाल और केन्द्रीय सरकार से भी मोर्चे ने संघर्ष प्रारम्भ कर दिया।

बिहार में संविद सरकार की राजनीति
(COALITION GOVERNMENT IN BIHAR POLITICS)

चतुर्थ आम चुनाव में बिहार में कांग्रेस दल की भारी पराजय हुई। विधानसभा में गैर-कांग्रेसी दलों में ससोपा के सदस्य सबसे अधिक थे। उसने गैर-कांग्रेसी दलों के साथ गँठजोड़ किया और 31-सूत्री कार्यक्रम के आधार पर संविद का निर्माण किया। इस संविद में ससोपा, प्रसोपा,

जन-संघ, जन-क्रान्ति दल, साम्यवादी दल शामिल हुए। महामाया प्रसाद सिन्हा को नेता तथा कर्पूरी ठाकुर को सविद का उपनेता-चुना गया। राज्यपाल ने सिन्हा को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रण दिया।

दल-बदल द्वारा संविद सरकार को अपदस्थ करने के प्रयास किये गये। मुख्यमन्त्री ने मोर्चे की सरकार के लिए कुछ कांग्रेसी विधायकों को वचन दिया कि वे कांग्रेस का साथ छोड़कर मोर्चे में सम्मिलित हो जायें तो उन्हें मन्त्री-पद दे दिया जायेगा। संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध **'अविश्वास प्रस्ताव'** पारित हो गया और महामाया प्रसाद ने अपने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया।

उसके बाद श्री मण्डल के नेतृत्व में पाँच सदस्यों के शोषित दल मन्त्रिमण्डल ने शपथ-ग्रहण की। यह अल्पसंख्यक मन्त्रिमण्डल था जिसे कांग्रेस दल का समर्थन प्राप्त था। 47 दिन तक शासन करने के बाद कांग्रेस समर्थित शोषित दल मन्त्रिमण्डल विधानसभा में 'अविश्वास प्रस्ताव' पर 17 मतों द्वारा अपदस्थ हो गया।

श्री भोला पासवान शास्त्री के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चे की नयी सरकार बनी। बिहार विधानसभा के नौ दलों ने उनका समर्थन करने का वचन दिया। केवल 95 दिन बाद श्री शास्त्री ने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया और राज्यपाल को नये चुनाव कराये जाने की सलाह दी। **श्री शास्त्री** ने अपने त्यागपत्र में कहा कि "मेरी सरकार की स्थिति डावाँडोल हो गयी है क्योंकि हमारे एक घटक दल ने ऐसी शर्तें रखी हैं जिन्हें राज्य के हित की दृष्टि से स्वीकार नहीं किया जा सकता।" संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया और राज्य विधानसभा का विघटन कर दिया गया।

फरवरी 1969 में मध्यावधि चुनाव हुए। विधानसभा में न तो कांग्रेस को ही पूर्ण बहुमत मिल सका और न किसी अन्य दल को ही। कांग्रेस दल के नेता सरदार हरिहर सिंह सरकार बनाते हैं किन्तु शीघ्र ही हरिहर सिंह मन्त्रिमण्डल विधानसभा में बजट माँगों के बीच 143 के विरुद्ध 164 मतों से हार गया। हार का कारण था दल-बदल और मुख्यमन्त्री ने त्यागपत्र दे दिया। विपक्ष के नेता भोला पासवान शास्त्री संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमन्डल बनाते हैं। किन्तु पासवान मन्त्रि-मण्डल केवल 9 दिन चला। बड़े नाटकीय ढंग से 34 सदस्यों वाले जनसंघ दल ने पासवान सरकार से समर्थन वापस ले लिया। संयुक्त मोर्चा मन्त्रिपरिषद् का त्यागपत्र राज्यपाल ने स्वीकार कर कर लिया और बिहार में राष्ट्रपति शासन की घोषणा कर दी गयी, किन्तु विधानसभा को भंग नहीं किया गया। अक्टूबर-नवम्बर, 1969 में कांग्रेस विभाजन के बाद श्री दरोगा प्रसाद राय को कांग्रेस दल का नेता चुना गया। राय ने राज्यपाल से संयुक्त मोर्चा सरकार बनाने की प्रार्थना की। साम्यवादी दल, प्रसोपा, भाक्राद, शोसित दल तथा झारखण्ड पार्टी से विचार-विमर्श करने के बाद 35-सूत्री कार्यक्रम बनाया गया और पुन. बिहार में संयुक्त मोर्चा सरकार (16 फरवरी, 1970) कायम कर दी गयी। परन्तु इस सरकार में भी संकट प्रारम्भ हो गये। 26 मई 1970 को लोकतान्त्रिक कांग्रेस गुट अलग हो गया व प्रसोपा के कुछ सदस्य भी अलग हो गये। बाद में भाक्राद तथा झारखण्ड दल ने भी धमकियाँ देना प्रारम्भ कर दिया। 10 अक्टूबर, 1970 को कांग्रेस के ही कुछ विधायकों ने श्री राय के विरुद्ध शिकायतें पेश की और 'नेता बदलो' आन्दोलन शुरू कर दिया। 18 दिसम्बर, 1970 को विधानसभा में राय सरकार पराजित हो गयी और कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में नयी संविद सरकार बन गयी। परन्तु इस प्रकार से वे लोग असन्तुष्ट हो गये जिनको मन्त्रि-पद प्राप्त नहीं हुआ। कांग्रेस, साम्यवादी, प्रसोपा, भाक्राद तथा झारखण्ड दल ने मिलकर 'प्रगतिवादी विधायक फ्रण्ट' बनाया और संयुक्त मोर्चा सरकार को अपदस्थ करने

का प्रयास करने लगे। परन्तु 1 जून, 1971 को कर्पूरी ठाकुर ने त्यागपत्र दे दिया और राज्यपाल ने 'प्रगतिवादी विधायक फ्रण्ट' के नेता श्री भोला पासवान को सरकार बनाने हेतु आमन्त्रण दिया। यह सरकार भी अधिक दिनों तक नही चली और राष्ट्रपति को विधानसभा भंग करनी पडी। मार्च 1972 मे नये चुनाव होते है और कांग्रेस दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाता है।

जून, 1977 के विधानसभा चुनावो मे जनता पार्टी को भारी बहुमत मिला और लोकदल घटक के कर्पूरी ठाकुर मुख्यमन्त्री पद पर आसीन हुए। जब उत्तर प्रदेश मन्त्रिमण्डल से जनसंघ घटक को विलग रखा गया तो इसकी प्रतिक्रियास्वरूप बिहार मे जनसंघ घटक ने भारतीय लोकदल मन्त्रिमण्डल को हटाने मे अपनी पूरी ताकत लगा दी। राम सुन्दरदास नये मुख्यमन्त्री बने और जब राष्ट्रीय स्तर पर जनता पार्टी का विभाजन हुआ तो जनसंघ घटक की प्रधानता वाले इस मन्त्रिमण्डल को कांग्रेस (आई) के समर्थन से जीवित रखा गया। अन्य राज्यों की तरह बिहार मे भी जनता पार्टी के घटको मे रस्साकसी चलती रही और जनता सरकारें मिली-जुली सरकारो की भाँति अप्रभावी साबित हुईं।

फरवरी 1990 के बिहार विधानसभा चुनाव मे किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही हुआ। लल्लू प्रसाद यादव के नेतृत्व मे जनता दल की अल्पमत सरकार गठित की गई है। अभी यह निश्चित नही हो पाया है कि अन्य दल सरकार से बाहर रहकर इसे समर्थन देंगे अथवा यह अल्पमत सरकार मिली-जुली सरकार का रूप ग्रहण करेगी।

गुजरात में जनता मोर्चा राजनीति
(JANTA MORCHA POLITICS IN GUJARAT)

गुजरात में कांग्रेस दल की स्थिति सदैव सुदृढ़ रही है। सन् 1962 मे 154 स्थानो मे से कांग्रेस को 113 स्थान मिले जबकि गैर-कांग्रेसी दलों को कुल मिलाकर 41 सीटें ही हाथ लगी। सन् 1967 के चुनावो मे 168 स्थानो मे से 93 स्थान कांग्रेस के कब्जे मे आये और समूचे विपक्ष को केवल 75 स्थान प्राप्त हुए। सन् 1972 के आम चुनाव मे कांग्रेस को 140 स्थान मिले जबकि विपक्ष को केवल 28 स्थान प्राप्त हुए। राष्ट्रपति शासन लागू होने के पश्चात् मार्च 1974 मे भी कांग्रेस दल के 117 विधानसभायी सदस्य थे और 44 स्थान रिक्त थे।

जून 1975 मे हुए गुजरात विधानसभा के चुनावो मे 182 स्थानों के लिए 852 उम्मीदवार खड़े हुए। वस्तुत. गुजरात मे यह चुनाव तीन व्यक्तियो और तीन राजनीतिक शक्तियो के इर्द-गिर्द घूमता रहा—इन्दिरा गाँधी, मोराजी देसाई और चिमनभाई पटेल। तीन राजनीतिक शक्तियाँ थी—कांग्रेस, जनता मोर्चा और किसान मजदूर लोकपक्ष। कांग्रेस दल को 182-सदस्यीय विधानसभा मे 75 स्थान प्राप्त हुए। जनता मोर्चे को 86 स्थान (संगठन कांग्रेस को 56, जनसंघ को 18, भारतीय लोकदल को 2, सोपा को 2) तथा मोर्चे द्वारा समर्थित 7 निर्दलीय भी जीत गये तथा किसान मजदूर लोकपक्ष को 12 स्थान मिले।

गुजरात मे 'जनता मोर्चा' एक नवीन प्रयोग था। गैर-साम्यवादी दलो ने जनता मोर्चे का निर्माण कर सत्ताधारी कांग्रेस का एक राष्ट्रीय विकल्प तैयार करने की जोरदार पहल की। प्रतिपक्षी दलो के सभी नेताओ ने यह उम्मीद की कि गुजरात मे जिस मोर्चे का गठन हुआ है वह शीघ्र ही एक महासंघीय दल के रूप मे बदलेगा और फिर बाद मे उन सबका एक दल के रूप मे विलयन हो जायेगा। गुजरात मे जनता मोर्चे के सर्वमान्य नेता मोरारजी देसाई थे और सभी दलो ने मोर्चे द्वारा समर्थित प्रत्याशियो की विजय हेतु एकजुट प्रयास किया।

जनता मोर्चे को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही हुआ किन्तु उसने किसान मजदूर लोकपक्ष की सहायता से सरकार बनायी। लोकपक्ष सरकार मे सम्मिलित नही हुआ। मार्च 1976 मे जनता मोर्चा सरकार को 9 महीने शासन करने के बाद त्यागपत्र देना पड़ा। राष्ट्रपति ने संविधान के

अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत विधानसभा को फिलहाल स्थगित रखा। राज्यपाल ने अपनी रिपोर्ट मे कहा था कि गुजरात मे कोई भी पार्टी या पार्टियों का गठवन्धन स्थायी सरकार वनाने की स्थिति में नही है।

गुजरात के जनता मोर्चा सरकार के त्यागपत्र की स्थिति विधानसभा के पराजय के कारण उत्पन्न हुई। पराजय के वाद मुख्यमन्त्री वावूभाई पटेल ने अपनी सरकार का त्यागपत्र राज्यपाल श्री विश्वनाथ को दे दिया। विधानसभा मे वावूभाई पटेल की सरकार की पराजय के एक दिन पहले आठ निर्दलीय काग्रेस मे शामिल हो गये और जनसघ का एक विधायक निर्दलीय हो गया था। इस तरह जनता मोर्चे को नौ विधायकों के समर्थन से हाथ धोना पडा था। वस्तुत. मोर्चे की सरकार के नाम पर मोरारजी देसाई ने ताश का एक महल खडा किया था और उनका यह महल नौ महीने के भीतर ही ढह गया। मार्च 1979 के वाद पुन दल-वदल के फलस्वरूप मोर्चे की सरकार अस्तित्व मे आ गयी।

जनता मोर्चे मे पाँच दल शामिल थे—सगठन काग्रेस, जनसंघ, सोशलिस्ट पार्टी, राष्ट्रीय मजदूर पार्टी और भारतीय लोकदल, लेकिन शुरू से ही वास्तविक सत्ता जनसघ के हाथो मे थी। मार्च 1977 के लोकसभा चुनावो के पश्चात् जनता मोर्चे की सरकार 'जनता पार्टी' के नाम से जानी जाने लगी। जनता पार्टी मे केन्द्रीय स्तर पर उभरते घटकवाद का प्रभाव वावूभाई पटेल के मन्त्रिमण्डल पर भी पडने लगा। यदा-कदा जनसंघ घटक और सगठन कांग्रेस के मध्य रस्साकसी होती रहती थी। फिर भी यह सरकार फरवरी 1980 तक चलती रही। गुजरात मे मिली-जुली सरकार का यह प्रयोग काफी हद तक सफल रहा।

फरवरी 1990 मे हुए गुजरात विधानसभा के चुनावो मे किसी भी एक दल को स्पष्ट वहुमत प्राप्त नही हुआ और जनता दल चिमनभाई पटेल के नेतृत्व मे मिली-जुली सरकार गठित हुई जिसमे जनता दल और भाजपा शामिल हुए। विधान सभा मे जनता दल को 70 तथा भाजपा को 66 स्थान प्राप्त हुये।

केन्द्र में मिली-जुली सरकारें
(COALITION GOVERNMENTS AT THE CENTRE)

मार्च 1977 के चुनावों मे भारतीय राजनीति मे एक नया मोड आया। चार विरोधी दलो—सगठन काग्रेस, भारतीय जनसंघ, भारतीय लोकदल और सोशलिस्ट पार्टी ने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर एक नयी पार्टी—जनता पार्टी मे विलय का निर्णय लिया। वाद मे जगजीवनराम की काग्रेस फॉर डेमोक्रेसी का भी जनता पार्टी मे विलय हो गया। 24 मार्च, 1977 को मोरारजी देसाई के नेतृत्व मे जनता पार्टी ने केन्द्र मे सरकार वनायी। मोरारजी देसाई के नेतृत्व मे वनी जनता पार्टी की सरकार केवल 28 महीनो तक ही चल सकी। वस्तुतः यह एक मिली-जुली सरकार ही थी। जिस पर जनता पार्टी का आवरण डाल दिया गया था। जनता पार्टी के पाँच-छ घटक दलो मे अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए अनवरत संघर्ष चलता रहता था। दलीय स्तर पर और सरकारी स्तर पर घटक दलो की शक्ति के अनुपात मे प्रतिनिधित्व दिया जाता था। प्रधानमन्त्री पद पर मोरारजी देसाई का चयन और पार्टी के अध्यक्ष पद पर चन्द्रशेखर का चयन एक प्रकार मे राजनीतिक सौदेवाजी का परिणाम था।

छठी लोकसभा में जनता पार्टी के घटकों का प्रतिनिधित्व

संख्या	घटक का नाम	लोकसभा सदस्यों की संख्या
1.	जनसंघ	94
2.	भारतीय लोकदल	71

3.	सगठन काग्रेस	50
4	सोशलिस्ट पार्टी	28
5.	काग्रेस फॉर डेमोक्रेसी	28
6.	चन्द्रशेखर गुट	5
7.	अन्य	25
	कुल	301

घटकवाद के आधार पर निर्मित जनता मन्त्रिमण्डल

संख्या	घटक का नाम	मन्त्रियो की संख्या
1	भारतीय लोकदल	12
2.	जनसघ	11
3	सगठन काग्रेस	10
4	सोशलिस्ट	4
5	काग्रेस फॉर डेमोक्रेसी	3
6	अकाली दल	2
7.	चन्द्रशेखर गुट	2

जनता पार्टी के मन्त्री और नेताओ मे वैचारिक और सैद्धान्तिक प्रश्नो पर मतभेद थे। चरणसिह और जगजीवनराम दोनो ही मोरारजी देसाई को अपदस्थ करके प्रधानमन्त्री बनने का सपना सँजोये थे। भारतीय लोकदल और जनसघ घटक मे राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ से सम्बन्धित प्रश्न पर गम्भीर विवाद उत्पन्न हो गया। आजादी के तीस वर्षो बाद बनी भारत की पहली गैर-काग्रेस सरकार यद्यपि पूर्ण बहुमत प्राप्त जनता पार्टी की सरकार थी तथापि इसके शासन के 843 दिनो को पार्टी के अन्तर्विरोध, असन्तोष, टूटन और अवसरवादिता के लिए हमेशा याद किया जायगा।

जनता पार्टी सरकार आपसी फूट और निजी महत्त्वाकाक्षाओ के टकराव की शिकार बनी। 15 जुलाई, 1979 को त्यागपत्र देने के बाद कुछ दिनो तक मोरारजी देसाई कार्यभार सँभाले रहे। 29 जुलाई, 1979 को जनता (एस) तथा काग्रेस (अर्स) ने चौधरी चरणसिह के नेतृत्व मे मिली-जुली सरकार गठित की। बाद मे इस सरकार मे अन्नाद्रमुक दल भी शामिल हो गया किन्तु धीरे-धीरे एक-एक गुट इस सरकार से अलग होने लगा। यह सरकार ससद का विश्वास अर्जित नही कर सकी। 20 अगस्त, 1979 को चरणसिह ने प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र देते हुए राष्ट्रपति से मध्यावधि चुनाव कराने की सिफारिश की।

जनवरी 1980 के चुनावो मे भारतीय जनता के सामने मोटे रूप से दो प्रश्न थे—पहला, जनता प्रधानमन्त्री पद के लिए शक्तिशाली नेता चाहती है (इन्दिरा गाँधी) अथवा दुर्बल नेता (जगजीवनराम और चरणसिह)। दूसरा, मतदाता एक अनुशासित दल (काग्रेस आई) का शासन चाहते है अथवा मिले-जुले दलों के मोर्चे (जनता पार्टी और लोकदल) का शासन। भारत की जनता ने मिली-जुली सरकारो वाले नेताओ और दलो को अस्वीकार करके केन्द्र मे स्थिर शासन की स्थापना का निर्णय लिया। जनता और लोकदल की मिली-जुली केन्द्रीय सरकारो का इतिहास यह सिद्ध कर देता है कि इनसे शासन मे ढिलाई आती है और विघटनकारी प्रवृत्तियाँ उभरती है।

वी. पी. सिह के नेतृत्व में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार

नवी लोकसभा चुनावो के बाद वी. पी. सिह के नेतृत्व मे केन्द्र मे राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार गठित की गई, वैसे तो यह एक आत्मीयता सरकार है जिसे बाहर रहकर भाजपा और मार्क्स-

वादी पार्टी समर्थन दे रही है। किन्तु राष्ट्रीय मोर्चे के घटक दलो मे जनता दल, द्रमुक, तेलुगू-देशम्, असम गण परिषद आदि दल है और वे मन्त्रिमण्डल मे भी शामिल हुए है, अत. यह सरकार एक मिली-जुली सरकार जैसी प्रतीत होती है।

मिली-जुली सरकारों के प्रयोग की असफलता : मूल्यांकन
(THE FAILURE OF THE EXPERIMENTS OF THE COALTIONS . APPRAISED)

चतुर्थ आम-चुनावो के वाद निर्मित मिली-जुली सरकारो मे से केरल मे साम्यवादी दल के नेतृत्व वाला मोर्चा तथा पश्चिमी बंगाल मे मार्क्सवादी दल के नेतृत्व वाला मोर्चा ही टिकाऊ रहा, क्योकि ये दल अपने क्षेत्र मे ज्यादा संगठित और एकतावद्ध थे। अधिकाश राज्यो मे खिचडी या परस्पर विरोधी दलो के मोर्चे धीरे-धीरे टूट गये। इनके टूटने का कारण अन्तर्विरोध, स्वार्थो की टकराहट और नीति-विहीनता ही थी। संयुक्त मोर्चा सरकारो के पतन के बीज, उनके जन्म मे ही निहित थे। विभिन्न राज्यो मे साम्प्रदायिक और अवसरवादी पार्टियो ने ईंट और रोड़े जोडकर अपने कुनवे वनाये थे, जो अधिक दिन चल ही नही सकते थे। इस प्रकार भारतीय राजनीति मे मिली-जुली सरकारो का प्रयोग पूर्णतया असफल रहा।[1] इसकी असफलता के प्रमुख कारण इस प्रकार है :

(1) **दल-वदल और प्रतिदल-वदल की घटनाएँ**—सन् 1967 के आम चुनाव के पश्चात् यह अवसर था जव इतने अधिक राज्यों मे विरोधी दलो को सरकार बनाने का अवसर मिला। आरम्भ मे विरोधी दल पारस्परिक समझौता करके सरकार वनाने के लिए तैयार हो गये। लेकिन कुछ ही दिनो वाद मिश्रित मन्त्रिमण्डलो के पतन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। उत्तर प्रदेश, विहार, पश्चिमी वगाल, पंजाव आदि मे दल-वदल की घटनाओ के कारण सरकारे तेजी से टूटना प्रारम्भ हो गयी और राष्ट्रपति शासन की स्थापना हुई।

(2) **संविद के घटक दलों में वैचारिक मतभेद एवं असंगतियाँ**—मिली-जुली सरकारो के पतन का दूसरा कारण घटक दलो मे वैचारिक मतभेद पाया जाना था। साम्यवादी और जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी और एस एस. पी. दलो में वैचारिक दृष्टि से वहुत अधिक अन्तर पाया जाता है और ऐसी स्थिति मे एक सरकार मे इन दलो के प्रतिनिधियो के लिए कार्य करना कठिन था।

(3) **स्वार्थ और पदलोलुपता की भावनाएँ**—मिली-जुली सरकारो के विधायको और नेताओ मे पदलोलुपता अपनी चरम सीमा पर थी। जो गुट अथवा व्यक्ति सरकार मे पद पाने मे विफल रहे, वे दूसरी सरकार वनाने की तरकीवे सोचने लगे ताकि उनकी महत्त्वाकाक्षाएँ पूरी हो सके। राज्यों मे मिली-जुली सरकारे उन राजनीतिज्ञो का तमाशा वन गयी जो स्वार्थी, अवसरवादी, सत्ता के भूखे और अनैतिक थे और जिन्हे अपने व्यक्तिगत स्वार्थो के सिवाय और कुछ नही दीखता था।

(4) **नकारात्मक दृष्टिकोण**—मिली-जुली सरकारो की प्रेरणा इस निश्चय से मिली कि कांग्रेस दल को सरकार न वनाने दी जाय। राज्यो मे निर्मित सभी मिश्रित सरकारो का सामान्य लक्ष्य यह था कि जहाँ तक सम्भव हो कांग्रेस दल को सरकार वनाने का अवसर ही न दिया जाना चाहिए और जिन राज्यो मे कांग्रेस दल का निर्माण हो गया है। उन्हे गिराने का सामूहिक रूप से प्रयन्न करना चाहिए। मन्त्रिमण्डल वनाने के अतिरिक्त किसी कार्यक्रम पर मिश्रित सरकारो के घटक दलों में आम सहमति नही हो पायी। जिन लोगो के वे प्रतिनिधि थे, उनके विपय मे वे कठिनाई से ही सोच पाये और वे उनकी उन्नति के लिए योजनाएँ और नीतियाँ भी कठिनाई से ही वना पाये। वस्तुत मिली-जुली सरकारे कांग्रेसी कुशासन का विकल्प नही वन पायी।

---

[1] "Thus Coalition Governments become a game of selfish, opportunist power hungry and unscrupulous politicians who had to look after nothing but their personal intereste."

—D. C. Gupta · *Indian Government and Politics*, p. 372.

(5) **मिली-जुली सरकारों के घटक दलों की 'समन्वय समिति द्वारा सुपर केबिनेट' की भूमिका अदा करना**—मिली-जुली सरकारो वाले राज्यो मे घटक दलो द्वारा निर्मित 'समन्वय समिति' (Co-ordination Committee) की कार्य-प्रणाली ही कुछ ऐसी थी कि वहाँ के मन्त्रिमण्डल की सत्ता का ह्रास होने लगा। समन्वय समिति 'सुपर केबिनेट' की भाँति आचरण करती थी और राज्य का मुख्यमन्त्री एक कठपुतली की भाँति दिखलायी देता था।[1] मिश्रित सरकार का मुख्यमन्त्री संसदीय अभिसमयो के प्रतिकूल अपना त्यागपत्र राज्यपाल को प्रेषित न कर प्राय 'समन्वय समिति' को देता था। मुख्यमन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल की रचना एवं पुनर्रचना केवल इसी 'निकाय' के परामर्श एव स्वीकृति से करता था। इस प्रकार मिश्रित सरकारो के युग मे वास्तविक सत्ता उन लोगों के हाथो मे थी जो समन्वय समिति को नियन्त्रित करते थे। इससे मुख्यमन्त्री और मन्त्रिमण्डल अशक्त हो गये और प्रशासन को प्रभावशाली नेतृत्व प्रदान न कर सके।

मिली-जुली सरकारों की राजनीति और भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर उसका प्रभाव
(COALITION POLITICS AND ITS IMPACT ON INDIAN POLITICAL SYSTEM)

मिली-जुली सरकारो के प्रयोग ने **भारतीय राजनीति व्यवस्था** को भी काफी हद तक प्रभावित एव आलोड़ित किया है—**सर्वप्रथम**, इससे ससदीय प्रणाली एवं प्रचलित संसदीय अभिसमयो पर प्रतिकूल प्रहार हुए है। मिश्रित सरकारो वाले राज्यो के राज्यपालो के पद विवादास्पद एवं बहुचर्चित बन गये। कही-कही विपम परिस्थितियो मे 'राज्यपाल' को सक्रिय भूमिका का निर्वाह करना पडा। मुख्यमन्त्री के पद का अवमूल्यन हुआ, उसकी सत्ता का ह्रास हुआ एवं उसे सरकार मे शामिल दलो की समन्वय समिति की देखरेख मे कार्य करना पडा। मिश्रित सरकारो के मुख्यमन्त्री 'बराबर वालो मे प्रथम' जैसी स्थिति मे नही थे। इससे मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व का सिद्धान्त अवश्य आहत हुआ। **द्वितीय**, मिश्रित सरकारो के युग मे मन्त्रिमण्डल की शक्ति को भी ग्रहण लगने लगा था। मन्त्रिमण्डल की सर्वोच्चता 'समन्वय समिति' की भूमिका के आगे फीकी पड गयी थी। **तृतीय**, मिली-जुली सरकार बनाने वालो की प्रकृति और चरित्र ही ऐसा था कि उनके द्वारा निर्मित सरकारे स्थिर न हो और वे अपने भविष्य के विपय मे आश्वस्त न हो। मिली-जुली सरकारो मे सभी प्रकार के दलो, दक्षिणपन्थी, वामपन्थी और केन्द्रस्थ ने गठजोड किये। इससे नकारात्मक ध्रुवीकरण का चलन हुआ जो कभी भी टिकाऊ नही बन सकता था। **चतुर्थ**, मन्त्रिमण्डलो की अस्थिरता से नौकरशाही की शक्ति मे वृद्धि हुई। नौकरशाही, जो ईमानदारी और कुशलता से अपना कर्त्तव्य पूरा करने मे पहले ही कोई रुचि नही ले रही थी, अब सार्वजनिक हित की जो भी थोडी-बहुत चिन्ता उसमे थी, भी खो बैठी। आई. ए. एस. अफसर अपने राजनीतिक मालिको की गतिविधियो को एक ईर्ष्यापूर्ण मनोरजन के साथ देखते थे और कुछ मामलो मे उनके खेल मे हिस्सेदार भी बन गये। **पंचम**, मिली-जुली सरकारो के परिणामस्वरूप केन्द्र-राज्य सम्बन्ध तनावपूर्ण दृष्टिगोचर होने लगे। केन्द्र और राज्यो के बीच तनावपूर्ण सम्बन्धों की प्रवृत्ति 1967 के पश्चात् विशेप तौर से देखी गयी। राज्यो की गैर-कांग्रेसी सरकारो ने केन्द्र के अधिकार क्षेत्र को चुनौती दी। वित्तीय सम्बन्धो को लेकर कई गैर-कांग्रेसी राज्यो ने वित्तीय शक्ति वितरण को पुन परिभाषित करने की माँग की जिससे वित्तीय अनुदानो की व्यवस्था एवं केन्द्रीय सहायता के मापदण्डो को व्यवस्थित स्वरूप दिया जा सके। केन्द्र सरकार के विरुद्ध भेद-

---

1 "What undermined the significance of the cabinet in a coalition set up was the co-ordination committee of all constituent partners. It acted as the Super-Cabinet It even made the head of the Cabinet (Chief Minister) just a showboy and the leader of any other Party became the virtual show master who commanded strongest position in this committee."

—J C. Johari *Reflection on Indian Politics* (New Delhi, 1973), p. 28.

भाव करने के कई आरोप लगाये । प बंगाल मे केन्द्रीय रिजर्व पुलिस के रखने के प्रश्न पर वहाँ की सरकार ने केन्द्र से विरोध प्रकट किया । इसके अतिरिक्त, केन्द्रीय सरकार की खाद्य नीति, भाषा के प्रश्न, अन्तर्राज्यीय जल विवाद, अन्तर्राज्यीय सीमा विवाद एव उद्योगो की स्थापना के प्रश्नो को लेकर संघीय शासन-व्यवस्था मे विघटन की परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई थी । केन्द्रीय योजना आयोग एव वित्त आयोग के अधिकार क्षेत्रो के सन्दर्भ मे भी विवादास्पद स्थिति रही, जिसके अन्तर्गत 1969 के अप्रैल मे राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक मे प्रथम बार कई राज्यों ने चतुर्थ पचवर्षीय योजना के मसौदे पर अपनी स्वीकृति दी । वस्तुत. संयुक्त दलीय सरकारों की व्यवस्था मे राष्ट्रीय विकास के लक्ष्यो को प्राप्त करने मे बाधाएँ पहुची क्योकि केन्द्र और राज्यो के बीच अपेक्षित सहयोग प्राप्त नही हो सका ।

निष्कर्षतः—भारत में केन्द्र एव राज्य-राजनीति के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि मिली-जुली सरकारें राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से अस्थिर होती है । वे टिकाऊ और सुसंगठित सिद्ध नही होती । लॉर्ड ब्राइस का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि मिश्रित मन्त्रि-मण्डलो की सरकार कमजोर होती है । जब सरकार को अपनी सुदृढ़ स्थिति पर भरोसा नही होगा, विभिन्न घटको के परस्पर मतभेद और तनाव के कारण मन्त्रिमण्डल की स्थिति डावॉडोल बनी रहेगी, तो वह प्रशासन की ओर कैसे ध्यान दे सकेगी और कैसे जन-कल्याण की योजनाओ का क्रियान्वयन कर सकेगी ?

भारतीय मतदाताओ को काग्रेस के विकल्प के रूप मे मिली-जुली सरकारों से बडी-बड़ी आशाएँ थी । किन्तु संविद सरकारो के विरोधाभासो, असगतियो और झगडो से जनता इतनी दु.खी हो गयी कि जब पंचम लोकसभा के चुनावो मे तथा सप्तम लोकसभा के चुनावो मे श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने 'स्थिर सरकारों की आवश्यकता' (The need for stable and strong Governments) का नारा बुलन्द किया तो उन्हे अप्रत्याशित विजय (Landslide victory) हासिल हुई और मिली-जुली सरकार की धारणा के समर्थक दलो का सफाया हो गया । 1983 के उत्तरार्द्ध से गैर काग्रेसी दल पुन: मिली-जुली सरकार का राग अपनाने लगे । इस दृष्टि से भाजपा-लोकदल ने 'लोकतान्त्रिक गठबन्धन' तथा पाँच अन्य दलो ने चन्द्रशेखर की अध्यक्षता मे एक 'संयुक्त मोर्चे' का गठन भी किया । आगे चलकर राष्ट्रीय मोर्चा अस्तित्व मे आया जिसमे जनता दल, द्रमुक, तेलुगू-देशम्, असमगण परिषद आदि दल सम्मिलित हुए । फरवरी 1990 के विधानसभा चुनाव से देश के राजनीतिक परिदृश्य मे नाटकीय परिवर्तन हुआ । जनता दल और भाजपा ने गुजरात और राजस्थान मे साझा सरकार बनाई । गैर कांग्रेस (इ) पार्टियो ने मणिपुर मे भी साझा सरकार बनाई है जबकि वामपन्थी दल आपस मे मिलकर पश्चिम बंगाल और केरल मे शासन कर रहे हैं ।

48

लोकतन्त्र और राष्ट्रीय एकीकरण

[DEMOCRACY AND NATIONAL INTEGRATION]

इतिहासकार कहते हैं कि भूतकाल मे हमारे देश मे एकता का बडा अभाव रहा और राष्ट्रीय एकता के अभाव के कारण अनेक बार विदेशियो से हमें पराजित होना पडा। भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों मे विभाजित रहा और ये राज्य प्राय एक-दूसरे से लडते रहते थे। इनसे देश का पतन होता रहा। फिर भी अतीतकाल मे भारत की सास्कृतिक और भावात्मक एकता बनी रही। वैदिक काल मे राष्ट्रीयता और राष्ट्र भक्ति की प्रबल भावना विद्यमान थी। विविधताओं के होते हुए भी प्राचीन भारतीय सस्कृति ने भौगोलिक एकीकरण और समुच्चय की भावना को बनाये रखा। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि यहाँ कोटि-कोटि जनता के मन मे भारत की भौगोलिक एकता का गहरा सस्कार था। हमारी सस्कृति विविधताओं को स्वीकार करती है किन्तु एकत्व की प्राप्ति उसकी निजी विशेषता है।

अग्रेजी शासनकाल मे हमारी राष्ट्रीय एकता को गहरा आघात पहुँचा। 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति के कारण हमारी राष्ट्रीय एकता भग हुई। अग्रेज अधिकारियों के पक्षपात और प्रोत्साहन से देश का विभाजन हुआ, भारत का अग विच्छेद करके एक पृथक् और स्वतन्त्र राज्य पाकिस्तान की स्थापना हुई। विभाजन के बाद भी भारत आज एक विशाल देश है। क्षेत्र-फल और जनसख्या दोनो ही दृष्टियो से भारत विश्व भर मे (चीन को छोडकर) सबसे बडा राष्ट्र है। यहाँ अब भी लोग विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं, भिन्न-भिन्न धर्म मानते हैं और उनके रीति-रिवाज भी अलग-अलग हैं। ऐसे विविधता वाले देश को एकता के सूत्र मे मजबूती से बाँधना एक महत्त्वपूर्ण समस्या है।[1] **रजनी कोठारी** लिखते हैं कि "राजनीतिक विकास की बुनियादी समस्या एकीकरण की है अर्थात् नये राजनीतिक केन्द्र-बिन्दु की स्थापना और दृढीकरण, उनका बहुमुख प्रस्तार, विभिन्न सस्थाओ का पल्लवन, विविधता को एक सूत्र में सग्रहण कर एक राष्ट्र का निर्माण अर्थात् एकीकरण की क्षमता का विकास। यही समस्या हमारे राष्ट्र-निर्माताओं के सामने सबसे बडी समस्या रही है।"[2] जैसा कि नेहरू ने कहा था कि "मेरे जीवन का मुख्य कार्य भारत का एकीकरण है।"

---

1 भारत के सन्दर्भ मे 'एकता' का अर्थ है भारत के विभिन्न प्रदेशो, जातियो, वर्गो, भाषाओ, धर्मो आदि की बहुरगी विविधता के बीच एकता की व्यापक धारणा जो क्षुद्र सीमित स्वार्थो की उपेक्षा कर देश के विभिन्न प्रदेशो पर अखिल राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार और व्यवहार करने की प्रेरणा दे।

2 रजनी कोठारी **भारत में राजनीति**, पृ 201।

नेहरू के कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि भारत मे राष्ट्रीय एकता का सदैव ही अभाव रहा है। हमारे स्वाधीनता आन्दोलन ने राष्ट्रीयता के अंकुर को सीच-सीचकर बडा किया, सविधानसभा ने एक राजनीतिक केन्द्र की स्थापना की और इस विचार को जन्म मिला कि "हम सब भारतवासी है, हम सबका एक ही सविधान, एक ही राष्ट्रीय झण्डा और एक राष्ट्रीय चिन्ह है।" सन् 1962 के चीनी आक्रमण के समय, सन् 1965 तथा 1971 के पाकिस्तानी आक्रमण के समय देश की विभिन्नताओं मे से एकता का उदय हुआ जो विदेशियो के लिए ही नहीं, स्वय हम सबके लिए भी आश्चर्य बन गया। फिर भी इस कटु सत्य से इकार नही किया जा सकता कि स्वाधीनता सघर्ष के समय देश मे अपूर्व एकता विद्यमान थी और उस एकता का कारण था—विदेशी शासन से अरुचि। विदेशी शासन की अन्त्येष्टि के साथ एकता का यह सूत्र लुप्त हो गया और देश के विभिन्न भागो मे विघटनकारी प्रवृत्तियाँ प्रकट होने लगी।

राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधाएँ
(PROBLEMS OF NATIONAL INTEGRATION)

प्रो. एम. एन. श्रीनिवास लिखते है कि 'विभाजनकारी प्रवृत्तियाँ आज भी अस्तित्व मे है और भविष्य मे कई वर्षों तक बनी रहेगी।' देश की अधिकाश जनता के लिए "भारत एक नयी कल्पना है और इस कल्पना के सत्य रूप होने मे कुछ समय लगेगा।"[1] भारत की राष्ट्रीय एकता के मार्ग में प्रमुख बाधाएँ इस प्रकार है .

1. **जाति—प्रो. श्रीनिवास** के अनुसार, "कोई भारत मे कही भी रहे वह जाति के ससार मे ही रहता है।" हमारे देश मे जातियाँ धार्मिक विभाजनो को भी काटती है। केवल हिन्दू ही जातियो मे बँटे हुए नहीं है अपितु जैन, मुस्लिम, सिक्ख और ईसाई भी अनेक जातियो ने विभाजित है। उच्च जातियो ने अपने श्रेष्ठत्व की भावना को नही छोडा है। प्रभावशाली जातियो के हाथ मे अधिकाधिक शक्ति सिमट रही है और ये लोग निचली जातियो द्वारा ऊपर उठने के प्रयत्नो का विरोध कर रहे है। इसके फलस्वरूप, देश के विभिन्न भागो मे अन्तर्जातीय तनाव बढे है। गाँवो मे प्रभावशाली जातियो और हरिजनो मे झगडे होते ही रहते है। हमारे ग्रामीण अचलो मे आज भी हरिजन अछूत है। राजनीतिक दलो ने जातियों के सगठन का उपयोग चुनावो मे करना प्रारम्भ कर दिया है। बिहार मे चुनावों मे जबरदस्त जातीय प्रतिद्वन्द्विता दिखायी देती है और वहाँ का प्रत्येक चुनाव राजपूत, भूमिहर और कायस्थ जातियों के इर्द-गिर्द घूमता है। तमिलनाडु मे ब्राह्मणवाद और गैर-ब्राह्मणवाद, आन्ध्र मे रेड्डी और काम्मा, मैसूर मे लिगायत और वोक्कलिंग का सघर्ष सर्वत्र छाया हुआ है। जातिवाद से यह भावना बलवती हुई है कि दूसरी जातियाँ निम्न स्तर की होती है और उनकी उपेक्षा की जानी चाहिए। चुनावो मे जातीय द्वेष व वैमनस्य बढा है और वातावरण गन्दा हुआ है। जातीय भावना के कारण प्रत्येक गाँव विभाजित सा प्रतीत होता है। जातिभेद, लोकतन्त्र के आदर्श, एकता और समता के प्रतिकूल है और आपस मे द्वेष-वैमनस्य बढाने वाला है। जातीय भेद सकीर्णता का द्योतक है, जातीय मतभेदो से गुटबन्दी बढती है, पक्षपात की भावना बढती है और कभी-कभी आन्दोलन भी होते है। तमिलनाडु मे गैर ब्राह्मणों ने उच्च जातियों के विरुद्ध कई बार सगठित रूप से आन्दोलन किये है।

2. **साम्प्रदायिकता**—साम्प्रदायिकता एक निम्नकोटि की विभाजनात्मक प्रवृत्ति है। इसने हमारे देश का बडा अहित किया है। साम्प्रदायिकता के कारण ही देश का विभाजन हुआ। बाद मे हमने धर्मनिरपेक्ष राज्य का सिद्धान्त अपनाया और यह दृष्टिकोण अपनाया कि भारत मे सभी धर्मों को समान रूप से फलने-फूलने का अधिकार है। आज भी देश मे अनेक सम्प्रदाय निवास

---

[1] एम. एन. श्रीनिवास : **आधुनिक भारत में जातिवाद**, पृ. 13।

करते हैं—हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि। कभी-कभी मामूली-सी घटना को लेकर साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं। स्थानीय झगड़ों के कारण हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष भी भड़क उठता है। सन् 1967 में उत्तर प्रदेश के छोटे-छोटे नगरों में हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े हुए। सन् 1979 में इनसे ज्यादा गम्भीर दंगे अहमदाबाद और गुजरात में हुए जिनमें कई सौ आदमी मारे गये और काफी लूटपाट व आगजनी हुई। सन् 1978-79 में अलीगढ़ व जमशेदपुर में साम्प्रदायिक दंगे हुए और काफी संख्या में लोग मारे गये। सन् 1985 में अहमदाबाद में दंगे हुए। हमारे राजनीतिक दल इस डर से साम्प्रदायिकता का विरोध करने में बचने की कोशिश करते हैं कि वे दूसरे सम्प्रदायों के वोट खो देंगे और वे स्थानीय झगड़ों को साम्प्रदायिक तूल देना शुरू कर देते हैं। साम्प्रदायिकता लोकतन्त्र का कलंक है और राष्ट्रीय एकता को नुकसान पहुँचाती है।

3. **अल्पसंख्यकों का सवाल**—आज देश में अल्पसंख्यकों की समस्या भी महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न राज्यों में भाषागत अल्पसंख्यक और अल्पसख्यक सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास दिल्ली आदि नगरों में तो शासन और उद्योग व्यापार में बाहरी राज्यों के लोग भी हजारों की संख्या में निवास करते हैं। कई राज्यों में बाहरी लोगों से असन्तोष उत्पन्न हुआ है और इन लोगों को शोषक माना जाता है। महाराष्ट्र में गुजरातियों का विरोध हुआ है, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडु में मारवाड़ियों का विरोध किया गया। महाराष्ट्र में शिवसेना, असम में लच्छित सेना जैसे उग्र संगठनों का निर्माण कर बाहरी लोगों के खिलाफ उत्तेजनात्मक कार्यवाहियाँ की गयीं। ऐसी संकीर्णता की भावनाएँ उत्पन्न करना खतरनाक है। भारत में सभी लोगों को अपनी इच्छानुसार घूमने-फिरने-बसने और व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता है तो फिर ऐसी प्रान्तीयता की संकीर्ण भावनाएँ फैलाना क्या राष्ट्र विरोधी कार्यवाही नहीं है?

4. **छोटे-छोटे राज्यों की माँग**—कई राज्यों में यह माँग जोर पकड़ती जा रही है कि बड़े राज्यों को छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित कर दिया जाना चाहिए। छोटे राज्य जहाँ प्रशासनिक दृष्टि से उपयुक्त रहते हैं, वहीं उनका विकास भी शीघ्र होता है। आन्ध्र प्रदेश में तेलगाना की माँग की गयी तो मध्य प्रदेश में भी छोटे राज्यों की माँग उठी। इससे राज्यों की संख्या बढ़ जायेगी, क्षेत्रीय और प्रान्तीय दलों का उदय हो जायेगा और राष्ट्रीय एकता को गम्भीर आघात पहुँचेगा। छोटे राज्य आर्थिक दृष्टि से भी उपयुक्त नहीं रहते और ऐसी माँगों के पीछे राजनीतिक स्वार्थ ही अधिक होता है। देश की सुरक्षा की दृष्टि से भी छोटे राज्यों की माँग का कोई औचित्य नहीं है।

5. **प्रादेशिकता**—प्रादेशिकता की बढ़ती हुई भावना भी एकता के विकास में एक अवरोधक तत्त्व है। राजनीति की दृष्टि से प्रादेशिकता का मुख्य विरोध संघवाद से है। प्रादेशिकता के पक्षपाती न केवल हर प्रकार के परिव्यापक विकेन्द्रीयकरण और पूर्ण स्वशासन की माँग करते हैं अपितु अतिवादी आक्रामक प्रादेशिकता के कुछ प्रवक्ता तो संघ से भी अलग हो जाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि उन पर केन्द्रीय सरकार का कोई नियन्त्रण न रहे और न उनका केन्द्रीय सरकार के प्रति कोई दायित्व। इस स्थिति का स्वाभाविक फल होता है कि वे माँग करने लगते हैं 'हम देश से अलग हो जायें', 'हमारे हाथ में प्रभुसत्ता आ जाय' तथा 'हमारा अपना पृथक् स्वदेश बन जाये'। प्रादेशिक भावना के बलवती होने का दुष्प्रभाव न केवल संघ और राज्य के सम्बन्धों पर पड़ता है अपितु राज्यों के आपसी सम्बन्ध भी बिगड़ते हैं, पड़ौसी राज्यों में भाषा, सीमा आदि प्रश्नों को लेकर विवाद उठ खड़े होते हैं तथा विभिन्न राज्यों की जनता के बीच खाई बढ़ने लगती है।

तमिलनाडु का डी. एम. के. दल प्रारम्भ में द्रविड-स्थान की स्थापना की माँग करने लगा। बाद में यह दल 'राज्यों की स्वायत्तता' की माँग करने लगा। सितम्बर 1970 में डी

एम. के. के तत्त्वावधान मे एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें प्रस्ताव पारित करके राज्यो मे स्वशासन की माँग की गयी।[1] डी एम. के. के नेतृत्व में राज्य मे पृथकतावादी आन्दोलन चलाया गया। आज भी महाराष्ट्र और कर्नाटक, कर्नाटक और केरल, नागालैण्ड और असम, उत्तर प्रदेश तथा विहार के मध्य सीमा विवाद की समस्या बनी हुई। महाराष्ट्र महाराष्ट्र-वासियो के लिए है या बंगाल केवल बंगालियों के लिए, इस प्रकार के नारे घोर प्रादेशिकता की भावना के द्योतक है। इन नारो का मतलब यह होता है कि महाराष्ट्र मे बाहर के जो लोग सरकारी या गैर-सरकारी नौकरियों मे है अथवा जो व्यापार-व्यवसाय मे लगे हैं वे उस राज्य को छोड़कर बाहर चले जायें। इस तरह बंगाल मे गैर-बंगाली लोगो को नौकरियो पर नियुक्त न किया जाय और न ही दुकान व्यवसाय करने दिया जाय। कुछ क्षेत्रो मे अभी असन्तोष है, जैसे उत्तर-पूर्व मे मीजो जाति, विहार मे छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश के आदिवासी इलाके और गुजरात व उड़ीसा में आदिवासियों का स्वायत्तता का आन्दोलन। इस तरह की भावना से क्षुद्रता और संकीर्णता प्रकट होती है। अतिरंजित प्रादेशिक दावो के कारण फूट डालने वाले ऐसे विवाद बढ़ने पर राष्ट्रीय एकता गम्भीर खतरे मे पड़ जाती है और प्रादेशिक लगाव तथा निष्ठा के कारण देश की आधारभूत एकता को भुला दिया जाता है। यह कहा जा सकता है कि दुर्भाग्यवश, विग्रह और वैमनस्य से पूर्ण असयत प्रतियोगिता को लोकतन्त्रीय राजनीति ने और स्थानीय या प्रादेशिक नेतृत्व की बेलगाम घुड़दौड़ ने जनता को बहकाकर ऐसे विवाद बढाने मे कुछ योगदान दिया है। सक्षेप मे, उग्र प्रादेशिकता के दावे राष्ट्रीय एकता की भावना को दुर्बल बना देते है और लोकतन्त्र तथा स्वाधीनता के लिए खतरा पैदा हो जाता है।

6. **अत्यधिक आर्थिक विषमता**—आर्थिक विषमता भी एकता के विरुद्ध वातावरण उत्पन्न करती है। जो अधिक निर्धन या अभावग्रस्त है जिन्हे मेहनत करने पर भी पेट-भर भोजन नहीं मिलता वे अट्टालिकाओ मे विलास के सब साधनो के साथ मौज करने वालों के प्रति ईर्ष्या-द्वेष का भाव रखें तो अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। गरीबों और श्रमिको मे ही नहीं, मध्यम वर्ग के लोगों मे भी शोषण के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है। देश मे कुछ राज्य आर्थिक दृष्टि से समृद्ध है तो कुछ राज्य पिछड़े हुए है। राज्यों मे भी कुछ क्षेत्रो के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया जबकि कुछ क्षेत्रों की आर्थिक दृष्टि से पूर्ण उपेक्षा कर दी गयी। आज भी देश मे रोजगार के अवसरो के वितरण तथा राष्ट्रीय सम्पदा के बँटवारे के प्रश्नो को लेकर संघर्ष उत्पन्न होते हैं। यदि किसी सार्वजनिक निगम की स्थापना का प्रश्न हो तो आर्थिक कारणों से प्रादेशिक-राजनीतिक दबाव का सहारा लिया जाता है। जब देश व समाज मे एक वर्ग के लोगो मे दूसरे वर्ग के लोगों के प्रति, एक राज्य के लोगो मे दूसरे राज्य के लोगो के प्रति द्वेष व विरोध की भावना उत्पन्न होगी तो राष्ट्रीय एकता कभी अक्षुण्ण नहीं रह सकती। आर्थिक विषमता ने वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को जन्म दिया है जो समाज मे अशान्ति और संघर्ष का सृजन करता है।

7. **भाषागत विभिन्नता**—भारत मे भाषा की समस्या निराली है। भाषा की समस्या भारतीय एकता के लिए निस्सन्देह एक कसौटी या चुनौती है। स्वाधीनता संघर्ष के समय कांग्रेस भाषा के आधार पर प्रान्तो की रचना के सिद्धान्त को मान चुकी थी। स्वाधीनता के बाद आन्ध्र के लोगो ने अपनी यह माँग पेश की कि तमिल और तेलुगू बोलने वाले दो पृथक् प्रान्तो मे ब्रिटिश काल के मद्रास प्रान्त को विभाजित कर दिया जाये। एक सम्मानित आन्ध्र नेता पोत्ति श्रीरामुलु ने आमरण अनशन द्वारा इस प्रश्न पर अपने प्राण उत्सर्ग कर दिये और उसके बाद जब विस्तृत दगे और लूटमार शुरू हुई तो सरकार ने आन्ध्र प्रदेश की माँग स्वीकार कर ली। उसके

[1] कुलदीप नय्यर . **इण्डिया : दि क्रिटीकल इयर्स**, विकास, 1971, पृ. 231-232।

बाद भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन किया गया पर भाषा के अनुसार प्रान्तों का पुनर्गठन तो समस्या का पहलू था। इससे भी महत्त्वपूर्ण सवाल यह था कि सारे देश के लिए व्यवहार और सम्पर्क के लिए यह भाषा कौन-सी हो ? अंग्रेजी को स्वीकार करना राष्ट्रीय भावना के प्रतिकूल पड़ता था। राष्ट्रभाषा का दूसरा विकल्प हिन्दी भाषा ही हो सकती थी। परन्तु संविधान में हिन्दी को चालू रखने के लिए पन्द्रह वर्ष की जो अवधि रखी गयी थी, उसमें अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी के प्रचार के लिए न तो सरकार और न गैर-सरकारी संस्थाओं ने ही पूरा काम किया। संविधान में कहा गया था कि संघ सरकार की भाषा हिन्दी भाषा होगी, परन्तु सन् 1965 तक अंग्रेजी में काम होता रहेगा और उसके बाद स्थिति पर विचार किया जायेगा लेकिन जैसे-जैसे संविधान में निर्धारित तिथि पास आती गयी वैसे-वैसे मतभेद बढ़ता गया। अब तक प्रादेशिक भावना बहुत बढ़ चुकी थी। हिन्दी के कट्टर समर्थकों ने अपने जोश से दूसरी भाषा वालों को नाराज कर दिया और उनके मन में यह भाव घर कर गया कि हिन्दी, देश की अनेक भाषाओं में से केवल एक है। जब हिन्दी में काम करने की तिथि 26 जनवरी, 1966 आयी तो अहिन्दी क्षेत्रों में असन्तोष उत्पन्न हुआ और आन्दोलन हुए। मद्रास में दो द्रमुक नेताओं ने आत्मदाह किया, आन्दोलन हुए और लूटपाट की घटनाएँ हुईं।

भाषागत मांगों के कारण आन्ध्र प्रदेश बना, महाराष्ट्र बन गया और पंजाब का भी विभाजन हो गया। **एन. सी. राय** ने ठीक लिखा है कि "भाषावाद का क्रम प्रारम्भ हो चुका है, यह एक शेर है जो रास्ते पर आ गया है, या तो उसे मार दिया जाय या फिर वह भारतीय राष्ट्र को मार देगा।"

8 **राजनीतिक अवसरवादिता**—राजनीतिक अवसरवादिता राष्ट्रीय एकता को सबसे अधिक नुकसान पहुंचाती है। देश में राजनीतिक दल जाति, धर्म, भाषा आदि के बल पर चुनाव जीतने का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देना चाहते। राजनीतिक दल प्रादेशिक और क्षेत्रीयता की संकीर्ण भावनाओं को फैलाते हैं और विघटनकारी तत्त्वों के साथ सांठ-गांठ करते नहीं हिचकिचाते है। देश में साम्प्रदायिकता फैलाने में स्थानीय राजनीतिज्ञों का यदा-कदा बड़ा हाथ रहता है और पृथकतावादी आन्दोलनों को उग्र रूप देने में भी राजनीतिक दलों की भूमिका रही है।

9 **हिंसात्मक गतिविधियाँ**—देश में हिंसात्मक आन्दोलन होते हैं, असंवैधानिक साधनों का खुलकर प्रयोग किया जाता है और सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाया जाता है। कुछ समय पूर्व नक्सलवादियों ने तो देश में अराजकता फैलाने के लिए हिंसा का खुलकर प्रयोग किया। कुछ राजनीतिक दलों तथा गुटों ने निर्वाचित विधानसभाओं को भंग कराने के लिए गुजरात और बिहार राज्यों में विशाल आन्दोलन शुरू किये। हिंसा और अराजकता के वातावरण का प्रसार राष्ट्रीय एकता के लिए विशेष दुःखदायी है।

10. **सामाजिक विभेद**—देश में पिछड़े वर्ग के लोग सामाजिक क्षेत्र में निराशा का अनुभव कर रहे हैं। खान-पान, विवाह और सामाजिक सम्पर्क में जो भेदभाव का व्यवहार उनके साथ उच्च जातियों द्वारा अपनाया जाता है उससे उनके मन में कड़वाहट बढ़ती है। वे जानते हैं कि बहुसंख्यक एवं राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से सशक्त प्रभावशाली जातियाँ उनके ऊपर उठने के खिलाफ हैं।

11. **भ्रष्टाचार**—भ्रष्टाचार भी राष्ट्रीय एकता के लिए बहुत बड़ा खतरा है। यह घुन की तरह काम करता है और शासन एवं समाज को अन्दर-ही-अन्दर जर्जरित बना देता है। भाई-भतीजावाद, रिश्वतखोरी आदि जनता के विश्वास को हिला देते हैं और लोकतन्त्र सबल बनने के बजाय कमजोर हो जाता है।

निष्कर्षतः अनेकरूपता भारतीय जीवन का विशिष्ट गुण रहा है। संविधान द्वारा 'अनेकता

में एकता' की प्राप्ति का अनूठा प्रयास किया गया। किन्तु संविधान के क्रियान्वयन के पश्चात् इन विविधताओं से देश की एकता को खतरा पैदा हो गया और प्रादेशिक, भाषावाद, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, आर्थिक विषमता, अस्पृश्यता आदि देश की प्रमुख समस्याएँ बन गयी।

राष्ट्रीय एकता की रुकावटों का निराकरण
(SOLUTION TO THE PROBLEM OF INTEGRATION)

राष्ट्रीय एकता का मूल आधार है निष्ठा और राष्ट्रीय एकता की समस्या का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। राष्ट्र का अर्थ है—एक ऐतिहासिक विचार, एक सास्कृतिक चेतना, एक सीमाबद्ध इकाई, एक अपनत्व की भावना। इसी प्रकार हितो की ममता का भाव, सुख-दु ख की समान अनुभूति और राष्ट्रीय समुदाय के विचार के प्रति भावनात्मक निष्ठा भी राष्ट्र की कल्पना मे सन्निहित है। भारतीय संविधान के निर्माताओ ने विघटनकारी प्रवृत्तियो को देखते हुए सशक्त केन्द्रीय शासन की स्थापना की थी जिससे देश एकता और संगठन के सूत्र मे बँधा रहे। किन्तु भाषावार राज्यो के निर्माण से प्रादेशिक विषमताएँ उभर आयी और वे केन्द्रीय सरकार से अपने संघीय सम्बन्धों के बारे मे पुनर्विचार का आग्रह करने लगे। कभी-कभी प्रादेशिक उद्देश्यो के लिए प्रादेशिक सेनाओ तक का निर्माण करने की नौबत आ पहुँची और विघटन का खतरा बढने लगा। आज भी राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे अनेक बाधाएँ है। **प्रो. वी. के. आर. वी. राव** लिखते हैं, "भारत मे हमारे सामने राष्ट्रीय और भावात्मक एकीकरण की समस्या है जिसे अधिकाश लोग स्वीकार कर चुके है, परन्तु इसका निदान क्या हो यह स्पष्ट नही है। भारत मे राष्ट्रीय एकता और भावात्मक एकीकरण की प्राप्ति के लिए क्या किया जाना चाहिए? उसे कौन करे और कैसे? यह ऐसे प्रश्न है जिन पर बहुत चर्चा हो चुकी है, किन्तु अब तक कोई निश्चित उत्तर नहीं मिल सका है और न ही ऐसी कोई विस्तृत एव रचनात्मक नीति ही बन सकी है जो क्रियान्वित की जा सके।" निश्चित ही हमारी स्थिति किंकर्त्तव्यविमूढ सी है, किन्तु फिर भी इस दिशा में निम्नलिखित प्रयास किये जा सकते है ताकि भारत की राष्ट्रीयता के मार्ग के कण्टक दूर किये जा सकें :

(1) **समाज के सब वर्गों में राज-व्यवस्था का प्रवेश हो**—**प्रो. रजनी कोठारी** के अनुसार, "भारत जैसे विशाल देश मे जहाँ इतने विविध प्रकार के लोग रहते है, एकता की स्थापना इसी से हो सकती है कि. सब तत्वों को राजनीतिक सत्ता व अधिकार मे भाग दिया जाय और सबको साथ लेकर चला जाये। इसके लिए जरूरी है कि समाज के सब वर्गों मे राजनीतिक सस्था का प्रवेश हो। राजनीति की इस रचनात्मक भूमिका से ही एकीकरण की प्रवृत्तियो को बल मिलता है।"[1] यदि सत्ता और राजनीति मे एक ही वर्ग या कुछ वर्गो का आधिपत्य और एकाधिकार होगा तो निश्चित ही अन्य वर्गों मे निराशा और अलगाव की भावना उत्पन्न होगी। समाज के विविध वर्गो को राजनीतिक गतिविधि मे खीचना होगा और राजनीतिक संस्थाओं को जनता में फैलाना होगा।

(2) **सहकारी संघवाद का निर्माण**—भारत की राजनीतिक व्यवस्था मे राज्यो की राजनीति पर भी अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए और सशक्त राष्ट्र के निर्माण के लिए इन प्रादेशिक इकाइयो की शक्ति और ओज का रचनात्मक ढंग से प्रयोग किया जाना चाहिए। वस्तुत: हमें संघर्षात्मक और प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रादेशिकता की भावना समाप्त कर सहकारी एवं सहयोगी संघवाद के भव्य भवन का निर्माण करना चाहिए। सहयोगी संघवाद मे पारस्परिक विवादों और मतभेदो का निवारण शान्तिपूर्ण वातावरण में कर लिया जाता है। राज्यो के बीच नदी पानी,

---

1 Rajni Kothari · *Politics in India*, p. 337.

सीमा, वित्तीय साधनों और राष्ट्रीय सम्पदा के वितरण को लेकर उग्र आन्दोलनात्मक रूप नहीं अपनाया जाता ।

(3) **शिक्षा जगत में क्रान्ति**—राष्ट्रीय एकता के लिए समुचित शिक्षा-व्यवस्था आवश्यक है । ऐसा पाठ्यक्रम होना चाहिए कि प्रारम्भ से ही बालक भारत की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत से रम जायें । पाठ्यक्रम का निर्धारण खूब सोच-समझकर किया जाना चाहिए और सभी स्तरों पर पाठ्यक्रमों में से ऐसे अंशों को हटा लिया जाना चाहिए जिनसे फूट, साम्प्रदायिकता और क्षेत्रवाद की गन्ध आती हो । महाविद्यालय स्तर पर विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं छात्रों, प्राध्यापकों आदि में विभिन्न गोष्ठियों, सेमिनारों द्वारा घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किया जाना चाहिए जिससे अलगाव की प्रवृत्तियाँ कम होंगी और एकता प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होगा ।

(4) **आर्थिक विषमता का उन्मूलन**—देश में व्याप्त आर्थिक विषमता को समाप्त करने के लिए यथाशीघ्र प्रयास किये जाने चाहिए । सभी प्रकार के विशेषाधिकार वर्गों का अन्त किया जाना चाहिए । अमीरों और गरीबों में बढ़ती हुई खाई को पाटकर यथाशीघ्र आर्थिक विषमता और असन्तोष को दूर किया जाना चाहिए । पिछड़े हुए राज्यों के आर्थिक विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए । तेलंगाना के आन्दोलन में हमें यह सीख ग्रहण करनी चाहिए कि राज्य के भीतर भी कोई भाग या क्षेत्र पूर्णतया उपेक्षित नहीं रखना चाहिए अन्यथा वहाँ के लोगों में अलगाव की प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं ।

(5) **अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना**—संविधान के अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत राज्यों से पारस्परिक सहयोग के लिए एक अन्तर्राज्यीय परिषद राज्यों के मध्य विवादों का परीक्षण कर उन पर समुचित परामर्श देगी । इस परिषद् की स्थापना से केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की मधुरता का युग लौट आयेगा ।

(6) **विघटनकारी तत्त्वों पर प्रतिबन्ध**—आज भी कई संगठन जनता में विघटनकारी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करते हैं, हिंसात्मक आन्दोलन का सहारा लेकर देश में अराजकता फैलाते हैं । ऐसे अराजकतावादी हिंसात्मक तत्त्वों पर यथाशीघ्र नियन्त्रण लगाया जाना चाहिए । लोकतान्त्रिक राजनीति में हिंसा और अराजकता को कोई स्थान और महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए । इसी प्रकार साम्प्रदायिकता, जातीयता और धर्मान्धता का राजनीति में प्रयोग सर्वथा वर्जित होना चाहिए ।

(7) **सशक्त लोकमत का निर्माण**—आकाशवाणी, समाचारपत्रों, चलचित्रों, प्रदर्शनियों तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से विघटनकारी तत्त्वों का पर्दाफाश किया जाना चाहिए तथा भारतीय राष्ट्र की एकता का प्रचार किया जाना चाहिए । यदि सामान्य जनता के हृदय में राष्ट्रीय एकता के भावों का तीव्र प्रस्फुरण होगा तो देश-प्रेम की ऐसी सरिता बहने लगेगी कि वह संकुचित मनोवृत्तियों का परित्याग करके राष्ट्रीय और भावात्मक एकीकरण का मार्ग प्रशस्त करेगी ।

(8) **भाषा और धर्म के मामलों में सहिष्णुता**—प्रो. **एम. एन. श्रीनिवास** लिखते हैं कि "पूरे देश और सभी क्षेत्रों में त्वरित आर्थिक विकास, भाषा और धर्म के मामलों में सच्चे अर्थों में सहिष्णुता तथा जाति प्रथा को समाप्त करने की सुदृढ़ चेष्टा यदि हो रही हो तो भारत सशक्त और संगठित देश के रूप में उठ खड़ा होगा ।" वस्तुत. अधिकांश झगड़े और तनाव भाषा और धर्म को ही लेकर हुए हैं । अत भाषागत एवं धर्मगत एकता बनाये रखने का प्रयास किया जाना चाहिए । साम्प्रदायिकता की समस्या निपटने में साम्प्रदायिक हिंसा को रोकना राज्य का एक नकारात्मक कार्य है । भारत में एक ऐसे धर्मनिरपेक्ष राज्य का प्रयास किया जाना चाहिए जिससे राष्ट्र का एक ऐसा भावात्मक एकीकरण हो जिसके अन्तर्गत व्यक्ति की जाति व समुदाय के प्रति सजगता उसकी भारत के नागरिक होने की भावना का अंश बन जाये ।

(9) **सांस्कृतिक आदान-प्रदान**—विभिन्न प्रदेशो तथा भाषायी राज्यो के बीच अधिकाधिक मात्रा मे सास्कृतिक आदान-प्रदान होना चाहिए। ऐसे कार्यक्रम आयोजित किये जाने चाहिए जिनमें भारत की विविध संस्कृतियों का लोगो को पता लग सके।

(10) **राजनीतिक दलों की भूमिका**—हमारे राजनीतिक दल भी इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण सहायता कर सकते है। यदि सभी राजनीतिक दल सकीर्णता से ऊपर उठकर धर्म, जाति, भाषा या क्षेत्र के आधार पर जनता में उत्तेजना फैलाना छोड दें तो राष्ट्रीय एकता की स्थापना मे काफी सहयोग मिल सकेगा।

पिछले वर्षो मे पंजाब, असम और कश्मीर मे जो हालात पैदा हुए वे राजनीति की ही पैदाइश है। इन राज्यो के राजनीतिक दलो एवं नेताओ को सकीर्ण क्षेत्रीय मनोवृत्ति से ऊपर उठकर राष्ट्रीय मुख्यधारा के परिप्रेक्ष्य मे चिन्तन करना होगा।

आर्थिक विकास और एकता

वस्तुत अनेक वर्षो मे देश मे जो सीमित आर्थिक विकास हुआ है वह भी भारत की एकता को सन्तुष्ट करने मे सहायक ही रहा है। देश के एक भाग मे उपलब्ध कच्चा माल दूसरे राज्य की मिलों की जरूरत पूरी करता है। पंजाब का गेहूँ और धान केरल के लिए उतना ही महत्त्व-पूर्ण है, जितना कि केरल की कॉफी और काजू पजाब के लिए। गुजरात का वस्त्र पश्चिम बगाल की मॉग पर उतना ही निर्भर करता है, जितना कि गुजरात को पश्चिम बंगाल मे बनने वाली चीजो की जरूरत है। सभी राज्य एक-दूसरे पर बिजली, सिंचाई और भारी उद्योग के मामले मे भी निर्भर है। देश के भीतर निष्क्रमण की प्रक्रिया ने भी नगरों को प्रान्तीय के स्थान पर सर्व भारतीय स्वरूप ही प्रदान कर दिया है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई. ए. एस.) और भारतीय पुलिस सेवा (आई. पी. एस.) ने भी अखिल भारतीय दृष्टिकोण को पनपाने मे ही सहायता दी है। अपने व्यक्तिगत सम्पर्कों से इन्होंने केन्द्र और राज्यों और विभिन्न राज्यो के बीच टकराव को टाला है। देश के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समानता के आदर्श भी विभिन्न भागो के लोगो के बीच सम्बन्धो और सम्पर्कों को सुदृढ ही बनाने वाले सिद्ध होते किन्तु फिलहाल राजनीति ने ऐसा नही होने दिया।[1]

राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में किये गये प्रयत्न
(EFFORTS IN THE DIRECTION OF NATIONAL INTEGRATION)

डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी लिखते हैं कि "राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक दकियानूसी विचार-धारा नही है। हमे इसे लोकतन्त्र की व्यापक भावभूमि पर सामाजिक और आर्थिक न्याय का रूप देना होगा और यही वह स्थायी नीव है, जिस पर राष्ट्रीय एकता का भव्य भवन खड़ा किया जा सकता है।" भारत मे राष्ट्रीय एकता के भव्य भवन के निर्माण हेतु वर्षो से सरकारी और गैर-सरकारी प्रयास किये जाते रहे है जो इस प्रकार है :

(1) **विश्वविद्यालय अनुदान आयोग संगोष्ठी**, 1958—अगस्त 1958 मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने राष्ट्रीय एकीकरण के सम्बन्ध में एक सगोष्ठी आयोजित की। इस सगोष्ठी मे तीन बिन्दुओ पर विचार किया गया—**प्रथम**, राष्ट्रीय एकता के लिए आर्थिक एव सामाजिक उत्पादन, **द्वितीय**, राष्ट्रीय एकता मे शिक्षा सस्थाओ का **योग**, **तृतीय**, राष्ट्रीय एकता के सम्पादन मे साहित्य और अन्य सास्कृतिक माध्यमों का उपयोग। इस संगोष्ठी मे सभी राष्ट्रीय भाषाओ की उन्नति, एक प्रदेश में दूसरी प्रादेशिक भाषाओं के अध्ययन को प्रोत्साहन, शिक्षा सस्थाओ में भाषा, सम्प्रदाय और जाति-पाँति के भेदभाव के उन्मूलन इत्यादि पर जोर दिया गया।

---

[1] कुलदीप नायर : 'क्या देश की एकता को खतरा है ?' (**राजस्थान पत्रिका**)।

(2) **सरकार द्वारा निर्मित कानून**—सन् 1961 में भारतीय संसद ने दो कानून पारित किये। इन कानूनों द्वारा ऐसे किसी भी प्रचार को कानून द्वारा दण्डनीय बना दिया गया है जिनसे धर्म, भाषा अथवा जाति के बीच शत्रुता या घृणा फैलती हो। चुनावों में धर्म, सम्प्रदाय, भाषा या जातीय भावनाओं को उभारना कानून द्वारा दण्डनीय अपराध बना दिया गया है। इसी प्रकार संविधान के 16वें संशोधन द्वारा देश के पृथकतावादी तत्त्वों पर नियन्त्रण रखने के लिए सरकार को पर्याप्त शक्ति प्राप्त हो गयी है।

(3) **मुख्यमन्त्री सम्मेलन**, 1961—अगस्त 1961 के 'मुख्यमन्त्री सम्मेलन' में यह स्वीकार किया गया कि सभी राज्यों में अल्पसंख्यकों को समुचित संरक्षण प्रदान किये जायें। इस सम्मेलन में यह भी स्वीकार किया गया कि सब भारतीय भाषाओं के लिए एक सर्वमान्य लिपि का महत्त्व स्वीकार कर देवनागरी को सर्वमान्य लिपि के रूप में मान्यता दी जाय।

(4) **राष्ट्रीय एकता सम्मेलन**, 1961—सितम्बर-अक्टूबर 1961 में दिल्ली में 'राष्ट्रीय एकता सम्मेलन' आयोजित किया गया जिसमें देश के गणमान्य नेताओं, विचारकों, बुद्धिजीवियों तथा वैज्ञानिकों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में कतिपय महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गये जो इस प्रकार है—(i) भारत का प्रत्येक नागरिक यह प्रतिज्ञा करे कि वह झगड़ों का हल शान्तिपूर्ण ढंग से करेगा, (ii) शिक्षा को समवर्ती सूची में स्थान दिया जाय। शिक्षा में शीघ्र ही आवश्यक परिवर्तन व सुधार किया जाये। (iii) राजनीतिक दलों के लिए एक आचार-संहिता के निर्माण पर बल दिया जाय। इस आचार-संहिता में यह व्यवस्था हो कि दल ऐसा कार्य न करें जिससे किसी जाति या धर्म के लोगों में मतभेद या घृणा पैदा हो, कोई दल हिंसात्मक कार्यवाही को प्रोत्साहन न दे और अन्य दलों द्वारा आयोजित सभाओं व जुलूसों को भंग करने की चेष्टा न करें। (iv) सम्मेलन ने एक 'राष्ट्रीय एकता परिषद्' की भी रचना की। इस परिषद में प्रधानमन्त्री, गृहमन्त्री, राज्यों के मुख्यमन्त्री, राजनीतिक दलों के सात नेता, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष, दो शिक्षाशास्त्री, अनुसूचित जाति व जनजाति आयुक्त तथा प्रधानमन्त्री द्वारा मनोनीत सात व्यक्तियों को स्थान दिया गया है।

(5) **राष्ट्रीय एकता परिषद्**, 1968—22 जून, 1968 को 'राष्ट्रीय एकता परिषद्' की बैठक श्रीनगर में हुई। परिषद ने कई सुझाव दिये—(i) सभी राजनीतिक दलों, समाचारपत्रों तथा नेताओं से प्रार्थना की कि वे साम्प्रदायिक विद्वेष तथा क्षेत्रीय विरोधों को निरुत्साहित करें और समाज के पथभ्रष्ट तत्त्वों को हिंसा के पथ से हटायें (ii) सहिष्णुता और आपसी मेल-जोल के सिद्धान्तों का जोरदार प्रचार करें, (iii) समाज की रचनात्मक शक्तियों को राष्ट्रीय एकता व अखण्डता में लगायें और इन्हें नेतृत्व प्रदान करें, (iv) लोगों में भ्रातृत्व की भावना पैदा करने, समान नागरिकता पर जोर देने तथा राष्ट्रीय जीवन स्तर को उन्नत बनाने की चेष्टा करें। राष्ट्रीय एकता परिषद् ने सिफारिश भी की कि राजनीतिक दृष्टि से धर्म और जातीयता पर आधारित राजनीतिक दलों को समाप्त कर दिया जाये। परिषद् की अन्तिम घोषणा इस प्रकार थी—"यह परिषद् पूर्ण निष्ठा के साथ सभी भारतीयों को—चाहे वे किसी भी भाषा, धर्म, जाति अथवा संस्कृति से सम्बन्ध रखते हों—राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को बढ़ाने वाले इस महान कार्य में हाथ बँटाने के लिए निमन्त्रित करती है।"

(6) **राष्ट्रीय एकता परिषद्**, 1969—सितम्बर 1969 में 'राष्ट्रीय एकता परिषद्' की स्थायी समिति ने गुजरात में हुए गम्भीर साम्प्रदायिक दंगों की स्थिति पर विचार किया। स्थायी समिति ने सभी राजनीतिक दलों से अनुरोध किया कि वे साम्प्रदायिक मेल-मिलाप तथा आपसी सहयोग हेतु जन अभियान चलायें।

(7) **गृह मन्त्रालय का प्रतिवेदन**, 1969-70—परिषद् की सिफारिशों का क्रियान्वयन भारत सरकार ने समय-समय पर किया है। गृह-मन्त्रालय ने अपने 1969-70 के प्रतिवेदन में

कहा है कि परिषद् की विभिन्न सिफारिशो को लागू किया जा चुका है। इस सम्बन्ध मे आपराधिक तथा निर्वाचन विधि संशोधन अधिनियम महत्त्वपूर्ण है। अब केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो ने ऐसी सामग्री प्रकाशित करने की रोकथाम के लिए अधिकार प्राप्त कर लिये है जिनसे साम्प्रदायिक वैमनस्य अथवा घृणा बढती हो।

(8) **राष्ट्रीय एकता परिषद्**—नवम्बर 1970 मे प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता मे दिल्ली मे परिषद् की स्थायी समिति की बैठक हुई। साम्प्रदायिकता के विरोध मे एक 'संगठन-समिति' का निर्माण किया गया। समिति का सुझाव था कि किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता को बढावा नही दिया जाना चाहिए और अल्पसख्यको की समस्याएँ दूर की जानी चाहिए।

(9) **इन्सानी बिरादरी**—अगस्त 1970 मे एक गैर-सरकारी सगठन 'इन्सानी बिरादरी' का निर्माण किया गया। इस संगठन का अध्यक्ष जयप्रकाश नारायण को बनाया गया। इस सगठन का बुनियादी आधार सहिष्णुता, भाईचारा तथा आपसी मेल-जोल की भावना विकसित करना था। इसका ध्येय साम्प्रदायिक और विघटनकारी तत्त्वो के विरुद्ध जेहाद छेडना था। किन्तु यह सगठन कोई प्रभावशाली कार्य नही कर सका।

(10) **अखिल भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी समिति**—श्रीमती सुभद्रा जोशी के नेतृत्व मे 'अखिल भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी समिति' का गठन (दिसम्बर 1970) किया गया। इस समिति ने कई प्रस्ताव पारित कर सरकार को सुझाव प्रस्तुत किये है। जनवरी 1974 के छठे सम्मेलन मे समिति ने यह सुझाव दिया कि साम्प्रदायिक सगठनो पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। समिति के विचार मे राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ, शिव सेना, आनन्द मार्ग और जमायते इस्लामी सगठनो पर पाबन्दी अनिवार्य है।

(11) **राष्ट्रीय एकता सम्बन्धी कार्य दल की सिफारिशें**, 1976—सन् 1976 के उत्तरार्द्ध मे राष्ट्रीय एकता सम्बन्धी समस्याओ का गहराई से अध्ययन करने के लिए दो कार्यदलो की नियुक्ति की गयी। एक कार्यदल के नेता तत्कालीन गृहमन्त्री ब्रह्मानन्द रेड्डी बनाये गये। इस दल को निम्न विषय सौंपे गये—(i) साम्प्रदायिक और अन्य प्रकार की हिसा की समाप्ति; (ii) अल्पसख्यको तथा उनके रोजगार की समस्याएँ, (iii) हरिजनो तथा आदिवासियो के विरुद्ध भेदभाव और उनके साथ अमानवीय व्यवहार की समस्या, (iv) क्षेत्रीय सद्भावना पैदा करना। दूसरे कार्यदल के नेता भूतपूर्व शिक्षामन्त्री प्रो नूरुल हसन बनाये गये। इस दल को विद्यार्थियो, युवको शिक्षा और जनमाध्यम सम्बन्धी समस्याओ के अध्ययन का कार्य सौपा गया। श्री रेड्डी वाले कार्य दल द्वारा कई बातो की सिफारिश की गयी—समाज के कुछ वर्गों पर रूढिवादी और उग्रवादी तत्त्वो के एकाधिकार को तोडना, जीवन के सभी क्षेत्रों मे आधुनिक प्रगति के रचनात्मक तत्त्वो को प्रोत्साहित करना, अल्पसंख्यक समुदायों की सुरक्षा को प्रोत्साहित करना, धर्मनिरपेक्ष विचारो को प्रोत्साहित करना आदि। 27 नवम्बर, 1976 को राष्ट्रीय एकता पर आयोजित कार्यदल की बैठक मे **श्री रेड्डी** ने कहा, "राष्ट्रीय एकता सम्मेलनो व परिषदो का कार्य ऐसा नही होना चाहिए कि साम्प्रदायिक दगो के समय फायर ब्रिगेड के समान आग बुझाने के लिए दौडे जैसा कि हम अब तक करते आ रहे है। इसके विपरीत, इस कार्य को उसी प्रकार सोच-विचारकर करना चाहिए जैसे कि एक वास्तुकार किसी भवन की योजना सोच-समझकर बनाता है।

(12) **'हम एक हैं' प्रदर्शनी का आयोजन**, 1979—2 अक्टूबर, 1979 को गाँधी जयन्ती के अवसर पर विज्ञापन और दृश्य प्रचार निदेशालय मे 'हम एक है' प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। इस प्रदर्शनी मे यह दिखाया गया कि साम्प्रदायिक दगो से अच्छे नागरिको, निर्दोष स्त्री-पुरुषो और बेसहारा बच्चो को कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं।

(13) **राष्ट्रीय एकता परिषद्**, 1980—श्रीमती गाँधी के पुन सत्ता मे आने के बाद सन् 1980 मे राष्ट्रीय एकता परिषद् का पुनर्गठन किया गया। किन्तु लोकसभा मे सबसे बडी विपक्षी पार्टी लोकदल ने इसका बहिष्कार किया। लोकदल के नेता चरणसिंह ने यह कहते हुए नवगठित परिषद् की आलोचना की कि इससे किसी उद्देश्य की पूर्ति नही होगी।

(14) **राष्ट्रीय एकता परिषद्**, 1986—7 अप्रैल, 1986 को नवगठित राष्ट्रीय एकता परिषद् की बैठक नई दिल्ली मे हुई। इसका उद्घाटन प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ने किया। उन्होंने अपने भाषण मे कहा कि देश के अनेक भागो मे साम्प्रदायिकता बढी है, परन्तु पंजाब में स्थिति सबसे गम्भीर है। वस्तुत. परिषद् मे पंजाब ही छाया रहा। सीमावर्ती राज्य होने के कारण वहाँ होने वाली अशान्ति को देश की एकता, अखण्डता व सुरक्षा से सीधा सम्बन्ध था।

(15) **राष्ट्रीय एकता परिषद् पुनर्गठित**, 1990—3 फरवरी, 1990 को प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता मे राष्ट्रीय एकता परिषद् का पुनर्गठन किया गया है जिसमे सौ से कुछ ऊपर सदस्य है। उप प्रधानमन्त्री, केन्द्रीय गृह, वित्त, मानव संसाधन, निकास, कल्याण तथा सूचना एवं प्रसारण मन्त्री और सभी प्रदेशो के मुख्यमन्त्री इसके सदस्य बनाये गये है।

चुनाव आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त आठ राष्ट्रीय राजनीतिक दलो के अध्यक्षों अथवा महा-सचिवो को सदस्य के रूप मे शामिल किया गया है। इसके अतिरिक्त 17 मान्यता प्राप्त क्षेत्रीय दलो के प्रमुखों को भी सदस्य नामजद किया गया है। इसके अतिरिक्त जिन अन्य प्रमुख लोगों को परिषद् मे शामिल किया है उनमे कमलापति त्रिपाठी, चन्द्रशेखर, अटलबिहारी वाजपेयी, शरद जोशी, राजमोहन गाँधी, शबाना आजमी तथा भीष्म साहनी शामिल है।[1]

निष्कर्ष—निष्कर्षत भारत टूट नही सकता। भारत के लोगों मे विघटनकारी प्रवृत्तियाँ सामान्य काल मे उभरती है। जब कभी राष्ट्र पर संकट आता है तो पूरा राष्ट्र एकजुट हो जाता है। राष्ट्रीय एकीकरण के लिए किये गये कार्य प्राय. दिखावटी अधिक रहे है और ठोस कम। सरकारी और निजी प्रयासो द्वारा हमे विघटनकारी और बाधक कारको पर विजय प्राप्त करनी होगी। आर्थिक विषमता को दूर करना होगा, रोजगार के अवसर बढाने होगे तथा राजनीतिक दलो के लिए आचार संहिता बनानी होगी। साम्प्रदायिक दलो पर कठोर प्रतिबन्ध लगाना होगा और बच्चो को अधिक से अधिक क्षेत्रीय भाषाओ का ज्ञान विद्यालयो मे कराना होगा।

[1] Indian Express, February 4, 1990.

49

भारत में आन्दोलन एवं हिंसा की राजनीति

[POLITICS OF AGITATION-CUM-VIOLENCE IN INDIA]

आधुनिक राजनीति-विज्ञान की नवागत विशेषता यह है कि राजनीतिक ढाँचे में "निर्णय-प्रक्रिया के अध्ययन पर अधिकाधिक जोर दिया जा रहा है तथा निर्णय-प्रक्रिया में औपचारिक ढाँचे की अपेक्षा अनौपचारिक तथ्यों के प्रभावकारी अनुशीलन की सर्वाधिक महत्ता स्वीकार की जाने लगी है।"[1] निर्णय-प्रक्रिया को राजनीतिक व्यवस्था का अपरिहार्य तत्त्व माना गया है और राजनीतिक व्यवस्था की कसौटी इसी बात पर निर्भर करती है कि उसमें सर्वसम्मत, सर्वहितकारी और प्रभावी निर्णय की क्षमताएँ किस सीमा तक हैं ? लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में तो निर्णय कदापि ऊपर से नहीं थोपे जा सकते और अच्छे निर्णयों की बस यही पहचान है कि समाज और राजनीति का कितना बड़ा वर्ग उन्हें समर्थन प्रदान करता है। वस्तुत: अच्छे निर्णय विभिन्न हित समूहों, सामाजिक समुदायों, राजनीतिक दलों और दबाव समूहों के विभिन्न मतभेदों के सामंजस्य और *समन्वयवादी रुख पर ही निर्भर करते हैं। सरकार का कार्य 'लोक इच्छा' जैसी भावात्मक* कल्पना की अभिव्यक्ति मात्र ही नहीं है अपितु विभिन्न दबाव गुटों के विरोधी दृष्टिकोणों और माँगों में तालमेल स्थापित कर राष्ट्रीय हित की अभिव्यक्ति करना है।[2] राष्ट्रीय हित का अभिव्यक्तिकरण उदार और उग्र दोनों तरीकों से किया जा सकता है। यदि उदार और संवैधानिक साधनों से व्यक्ति और समुदाय शासन-संचालन में हिस्सेदारी बँटाना चाहते हैं तो वे संघ और संगठन बना करके, सत्ताधारी दल और सरकार विभिन्न अंगों में सक्रिय भागीदारी अदा करके अथवा जाति, धर्म, भाषा, विचारधारा के आधार पर निर्णय-प्रक्रिया को प्रभावित कर सकते हैं। यदि उदार साधनों के माध्यम से नीति-निर्माताओं तक आवाज नहीं पहुँच पाती तो फिर उग्र प्रदर्शनात्मक मार्ग ही अपनाना मात्र विकल्प रह जाता है।[3]

विगत कुछ वर्षों से भारतीय राजनीति में रैली, बन्द, भीड़, जन आन्दोलन, उग्र प्रदर्शन, जुलूस, हड़ताल आदि आम बात थे। निर्वाचित सरकार का सार्वजनिक विरोध और प्रत्यक्ष

---

1 चक्रवर्ती, 'प्रेशर ग्रुप्स इन वेस्ट बंगाल', **दि इण्डियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइन्स**, वर्ष XXXV, अंक 2, अप्रैल-जून 1974, पृ. 172।

2 जॉन डिकिन्सन : उद्धृत, की, वी. ओ. **पॉलिटिक्स, पार्टीज एण्ड प्रेशर ग्रुप्स**, पंचम संस्करण पृष्ठ 7।

3 आमण्ड तथा पावेल ने राजनीतिक व्यवस्था में हितों की अभिव्यक्ति के चार तरीके स्वीकार किये हैं—संस्थानात्मक, असंस्थानात्मक, प्रदर्शनात्मक और संघात्मक—आमण्ड तथा पावेल : **कम्परेटिव पॉलिटिक्स**, पृष्ठ 77।

कार्यवाही हमारे ससदीय लोकतन्त्र के सहचर प्रतीत होते थे।[1] हमारी राज-व्यवस्था मे, 'दबाव की राजनीति' की क्रमिक वृद्धि हो रही थी और राजसत्ता किंकर्त्तव्यविमूढ सी दृष्टिगोचर होने लगी। शासक और शासितो के मध्य नये शक्ति-सन्तुलन का उदय होने लगा। महत्त्वपूर्ण निर्णय गलियो मे भीड द्वारा लिये जाने लगे और विवेकसम्मत शासकीय निर्णयों की ऐतिहासिक परम्परा का अवसान हुआ।

जन आन्दोलनों से सम्बन्धित इस राज्य का प्रभाव देश की राजनीतिक व्यवस्था, जनतान्त्रिक कार्यविधि एवं निर्णय की प्रक्रिया पर पडा है। इन आन्दोलनों के फलस्वरूप भारतीय राजतन्त्र का बहुलवादी, बहुदलीय एव लोकपक्षीय जनतान्त्रिक रूप उभरकर सामने आया है।

आन्दोलन की राजनीति से अभिप्राय
(MEANING OF THE POLITICS OF AGITATION)

आन्दोलनकर्ता शब्द को विशेष ख्याति 17वी शताब्दी मे इग्लैण्ड के गृहयुद्ध मे प्राप्त हुई जब क्रामवेल की सेना के प्रत्येक रेजीमेण्ट ने प्रतिनिधि निर्वाचित किये जिन्हे आन्दोलनकर्ता कहा जाता था। फ्रासीसी क्रान्ति के समय इस शब्द का प्रयोग उन व्यक्तियो के लिए कहा गया जिन्होने अनुत्तरदायी ढग से देश के भीतर दगे-फसाद करने का प्रयत्न किया था। इग्लैण्ड मे इस शब्द का प्रयोग उन शान्तिपूर्ण और व्यवस्थित आन्दोलनो के लिए किया गया जिनका लक्ष्य लोकमत के सगठन द्वारा ससद को इस बात के लिए प्रेरित करना था कि वह विधायी सुधार करें। आधुनिक युग के सभी दक्षिणपन्थी और वामपन्थी दल 'आन्दोलन' शब्द का प्रयोग करते हैं और वे इसे दमनमूलक सस्कार तथा समाज-व्यवस्था के विरुद्ध लोकमत जागृत करने का उपयुक्त साधन समझते हैं। लोगो की उत्तेजना अथवा उनके अव्यवहार के कारण होने वाले उपद्रव को **आन्दोलन** कहा जा सकता हे। किन्तु यह आवश्यक नही हे कि इस प्रकार का प्रयत्न अव्यवस्थित ही हो। इसी आधार पर आन्दोलनकर्ता वह व्यक्ति है जो स्त्री-पुरुषो की एक बडी सख्या के चिन्तन तथा आचरण को उत्तेजना की दिशा मे मोडे।

आन्दोलन की राजनीति को प्रत्यक्ष कार्यवाही के नाम से भी पुकारा जाता है। रजनी कोठारी ने प्रत्यक्ष कार्यवाही की परिभाषा इस प्रकार की है प्रत्यक्ष कार्यवाही ऐसी एक सविधानेतर राजनीतिक तकनीक है जिसका प्रयोग किसी समूह द्वारा किसी राजनीतिक परिवर्तन के उद्देश्य से सरकार के विरुद्ध होता है। इस परिभाषा मे निम्नलिखित बाते उल्लेखनीय हैं—(i) प्रत्यक्ष कार्यवाही एक राजनीतिक तकनीकी है, (ii) इसका प्रयोग सत्ता के विरुद्ध होता है, (iii) इसके तरीके संविधानेत्तर होते है, राज्य के सविधान और कानून के विरुद्ध होते हे, (iv) प्रत्यक्ष कार्यवाही सामूहिक होती हैं। या तो वह एक स्वत. प्रवर्तित जन आन्दोलन का रूप लेती है या उसका प्रयोग सगठित समूह द्वारा होता है, (v) प्रत्यक्ष कार्यवाही का उद्देश्य राजनीतिक परिवर्तन होता है। या तो उसका उद्देश्य सरकारी नीति या कार्यों मे परिवर्तन करना होता है या सरकार मे।

रजनी कोठारी ऐसी कार्यवाही को ही प्रत्यक्ष कार्यवाही की संज्ञा देते है जो सविधानेतर हो और जो सामूहिक हो। स्वभावत. ऐसी कार्यवाही जो वैधिक हो या जिनका प्रयोग किसी समूह द्वारा न होकर किसी व्यक्ति द्वारा होता है, इस परिभाषा की परिधि मे नही आती। राजनीति विज्ञान के कतिपय विद्वान वैधिक कार्यवाही और व्यक्तिगत कार्यवाही को प्रत्यक्ष कार्यवाही मानते ह। बेल के अनुसार आधुनिक भारत मे प्रत्यक्ष कार्यवाही छ रूप लेती है (1) जुलूस

[1] के सी महेन्द्र 'पब्लिक प्रोटेस्ट्स एण्ड सिविल लिबर्टीज इन इण्डिया', **'पॉलिटिकल साइन्स रिव्यू'**, अक 1-4 जनवरी-दिसम्बर 1974, पृ 195-196।

और सभाएँ, (2) वन्द वहिष्कार और हड़ताल, (3) अनशन, (4) रुकावट पैदा करना, (5) स्वेच्छा से गिरफ्तार होना, व (6) दंगा। वेले के अनुसार ये कार्यवाहियाँ निम्न प्रकार से वर्गीकृत की जा सकती है
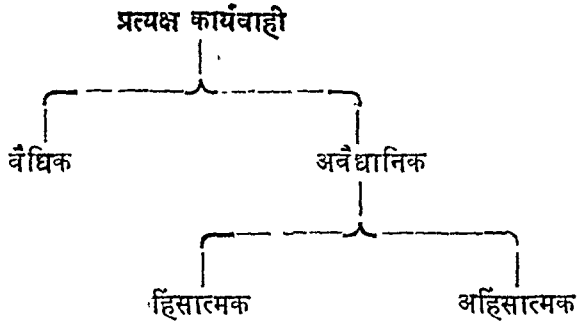
वेले ने प्रत्यक्ष कार्यवाही को एक नया नाम दिया है—दवावपूर्ण सार्वजनिक विरोध (Coercive Public Protest)। इसकी तीन विशेषताएँ है—(i) वह सामूहिक होता है, (ii) वह षड्यन्त्रकारी या गुप्त न होकर सार्वजनिक होता है, और (iii) वह अपनी उपस्थिति और कार्यवाही के द्वारा सरकार को वाध्य करने का प्रयास करता है।

आन्दोलन की राजनीति लोकतन्त्र को भ्रष्ट और विकृत कर देती है। आन्दोलन की राजनीति मनुष्य की विवेकशीलता के स्थान पर हठधर्मी मे विश्वास रखती है। यह संकीर्ण अतार्किक एवं कलहपूर्ण होती है तथा उसके हिंसक आन्दोलनो और अपयशकारी कार्यो की पूर्ण सम्भावनाएँ वनी रहती है। इसमे एक पक्ष अपने मत को पूर्ण आदर्श एवं सत्य मानकर दूसरे पक्ष को 'येन-केन-प्रकारेण' स्वीकार करने के लिए वाध्य करता हे।

भारत में आन्दोलन की राजनीति
(POLITICS OF AGITATION IN INDIA)

लोकतन्त्रात्मक-व्यवस्था मे प्रदर्शन और जन-आन्दोलन जनमत को प्रकट करने का एक तरीका है और वह लोकतन्त्रीय भावनाओं के प्रसार का प्रमुख उपकरण है। हमारे देश मे जन-आन्दोलन की राजनीति के सूत्रपात का श्रेय राष्ट्रपिता गाँधी को दिया जा सकता है। परतन्त्र भारत की वेडियों को तोडने के लिए गाँधीजी ने सत्याग्रह के माध्यम स सुपुप्त जनता मे चेतना का संचार किया। गाँधीजी द्वारा सचालित 'असहयोग आन्दोलन', 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' और 'भारत छोडो आन्दोलन' ब्रिटिश सरकार को दवाने के महानतम अस्त्र थे जिनके प्रवलतम जनसमर्थन के कारण उसे झुकना पड़ा और भारत को आजादी हासिल हुई। किन्तु महात्मा गाँधी अहिंसा के महान पुजारी थे। उनकी मान्यता थी कि शान्ति, प्रेम और अहिंसा मे ही सव समस्याएँ हल की जा सकती है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत मे उग्र प्रदर्शन, हिंसा और आन्दोलन की राजनीति की शुरूआत का श्रेय भारतीय साम्यवादी दल को ही है। 1948 ई मे कलकत्ता में भारतीय साम्यवादी दल का जो सम्मेलन हुआ था उसमे पारित प्रमुख राजनीतिक प्रस्ताव मे जिसे "कलकत्ता थीसिस" कहा जाता है, घोषित किया गया कि "भारत मे क्रान्ति की लहर गतिशील हे, क्रान्ति की अन्तिम अवस्था सशस्त्र संघर्ष की अवस्था मे आ गयी है। यह क्रान्ति जनतान्त्रिक विप्लव का कार्य पूरा कर देगी और उसके साथ ही समाजवाद की स्थापना हो जायेगी।" 'कलकत्ता थीसिस' मे यह भी घोषित किया गया कि भारत सरकार को वल-प्रयोग द्वारा उलट दिया जाय। तदनुसार सम्पूर्ण भारत मे रक्तरंजित क्रान्ति प्रारम्भ कर दी गयी, वैंको मे डाके डाले गये, ट्रेनो मे डकैती डाली गयी और लूटपाट की अनेक दुर्घटनाएँ हुई। तेलंगाना मे किसानो के आन्दोलन को संगठित किया

गया जिससे साम्यवादियो के प्रतिकूल देश मे प्रतिक्रिया हुई। साम्यवादियो की इस हिंसा को पूर्ण रूप से कुचल देने के लिए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो का समर्थन किया गया।

स्वतन्त्रता के बाद हमारे देश का भाषा के आधार पर पुनर्गठन किया गया। पुनर्गठन के बाद देश मे जो दगे व आन्दोलन हुए वे किसी भी समाज के लिए शर्म की बात हो सकती है। बम्बई मे गुजराती व मराठी दगे हुए जिसमे सैकड़ो व्यक्ति मारे गये। तेलगू भाषा-भाषी क्षेत्र के लिए श्री रामालु ने उपवास किया जिसके फलस्वरूप उनकी मृत्यु हो गयी और आन्ध्र प्रदेश का निर्माण हुआ। मास्टर तारासिंह ने पजाबी सूबे की मांग को लेकर उग्र आन्दोलन किया। सन् 1966 मे हिंसक आन्दोलनकारी घटनाओ का तांता-सा लग गया। विद्यार्थी-समाज मे भी व्यापक अशान्ति पैदा हो गयी और छात्रो ने भी देश के अनेक भागो मे उपद्रव और तोड़-फोड के कार्य किये। पश्चिमी बगाल मे सयुक्त मोर्चे के शासन मे, जिसमे मार्क्सवादियो का प्रभुत्व था, प्रसिद्ध नक्सलवादी आन्दोलन हुआ। किसानो और मजदूरो को धनीमानी व्यक्तियो पर और बड़े जोतदारो पर हिंसात्मक आक्रमण करने, हिंसा और लूटमार करने के लिए उभारा गया था। देहात के एक बड़े क्षेत्र मे घोर अराजकता मचायी गयी, घेराव, बन्द और हड़ताल आदि का ही सिलसिला नही रहा अपितु यह भी आशंका की जाने लगी कि चीनियो के साथ कुचक्र रचकर मार्क्सवादी पश्चिमी बंगाल के लिए खतरा पैदा कर रहे है। नक्सलपन्थियो ने प. बगाल के अलावा केरल, आन्ध्र, बिहार, उत्तर-प्रदेश, पंजाब आदि अनेक राज्यो मे अराजकतापूर्ण कार्य किये। अपने हिंसात्मक हमलो, लूटमार और आगजनी की कार्यवाहियो के द्वारा उन्होने सारे देश मे आतंक मचाने का प्रयत्न किया। सारे देश मे इस पर चिन्ता प्रकट की गयी और लोकमत ने केन्द्रीय सरकार से मांग की कि वह हिंसात्मक एवं अराजकतापूर्ण आन्दोलन को समाप्त करने के लिए हस्तक्षेप करे। नये चुनावो मे प. बगाल मे मार्क्सवादी पराजित हुए और काग्रेस की विजय के फलस्वरूप काग्रेस के नेतृत्व मे नयी सरकार गठित हुई और दृढ नीति अपनायी गयी तब पश्चिम बगाल मे नक्सल-पन्थियो का जोर और प्रभाव कम हो गया।

चतुर्थ आम चुनावो के बाद विरोधी राजनीतिक दलो ने काग्रेस सरकार को हटाने की पुरजोर कोशिशें प्रारम्भ कर दी। राज्य-विधानसभाओ के लिए 1967 मे हुए चुनावो के परिणाम-स्वरूप एक अजीब स्थिति पैदा हुई थी जब राजनीतिक सत्ता अनेक पार्टियो और समूहों के बाटे मे आ गयी थी। इससे सरकार मे अस्थिरता की स्थिति पैदा हो गयी जिससे कई राज्यो मे मध्यावधि चुनावो की जरूरत पड गयी। सन् 1971 के चुनावो मे विरोधी दलो को निर्णायक हार का सामना करना पडा। इस हार ने उन्हे यह महसूस करा दिया कि अलग-अलग रूप मे उनमे से प्रत्येक मे देशव्यापी जन-आधार का अभाव है और सामान्य लोकतन्त्रीय प्रणाली के माध्यम से सत्ता हथियाना उनके लिए सम्भव नही होगा। इस प्रकार चुनाव के माध्यम से अपने उद्देश्य को प्राप्त करने मे असफल हो जाने पर विरोधी दलो ने धीरे-धीरे अपना ध्यान सविधान से बाहर के तरीको की ओर मोड़ दिया।

गुजरात में आन्दोलन—1 जनवरी, 1973 ने भारतीय जनसंघ और सगठन काग्रेस ने गुजरात मे आन्दोलनात्मक रवैये का सहारा लिया। राजकोट मे 'बन्द' का आयोजन किया गया और इस सिलसिले मे निकाला गया जुलूस हिंसा पर उतारू हो गया और पुलिस को इसे तितर-बितर करने के लिए गोली चलानी पडी। इसके बाद सुरेन्द्रनगर मे 'बन्द' का आयोजन किया गया। इस बीच छात्र-समुदाय को भी आन्दोलन मे शामिल कर लिया गया। छात्रो ने प्रदर्शन किये और आगे चलकर हिंसात्मक हरकते की जिसके कारण 10 जनवरी को अहमदाबाद बन्द का आयोजन हुआ। विभिन्न राजनीतिक दलो ने गुजरात के अनेक नगरो मे 'बन्द' का आह्वान किया, जुलूस निकाले और कई स्थानो पर धरना दिया। अहमदाबाद मे छात्रो ने 'नवनिर्माण समिति' का

निर्माण किया जिसने आन्दोलन का नेतृत्व करने का निश्चय किया। विरोधी दल एक तरफ राज्य विधानसभा को भंग करने और नये चुनाव कराने की अपनी माँग पर जोर देते रहे तो दूसरी तरफ आन्दोलन के नेताओं ने काग्रेस मन्त्रिमण्डल विशेषकर मुख्यमन्त्री को अपने आक्रमण का मुख्य निशाना बनाया। चिमन भाई पटेल के मन्त्रिमण्डल को गिराने के लिए विरोधी दलो ने दृढ़ संकल्प कर लिया जिसके परिणामस्वरूप उन्हे त्यागपत्र देना पड़ा और 9 जनवरी, 1974 को राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। विधानसभा भंग कराने हेतु विरोधी दलो ने आन्दोलन बराबर जारी रखा। लूट तथा आगजनी, बसों तथा बिल्डिगों पर पथराव करने, सडको पर बाधा खड़ी करने, बैंको पर आक्रमण करने और गुण्डागर्दी की अन्य हरकते जारी रही। छात्रो ने काग्रेस के विधानसभायी सदस्यो से त्यागपत्र की माँग करते हुए उनके घरो पर प्रदर्शन किये। कई काग्रेसियों का घेराव किया गया और उन्हें योजनाबद्ध तरीके से परेशान किया गया। निर्माण समिति ने 19 फरवरी, 1973 को अहमदाबाद 'बन्द' का आह्वान किया। 'बन्द' के परिणामस्वरूप वहाँ हिंसा की व्यापक घटनाएँ हुई। राज्य-विधानसभा भग करने के लिए केन्द्रीय सरकार पर दबाव डालने हेतु मोरारजी देसाई ने 11 मार्च, 1974 को अनिश्चित काल का अनशन शुरू किया। गुजरात आन्दोलन के परिणामस्वरूप बहुत से निर्दोष लोग मारे गये और बहुतो को चोटें आयी जिनमे कुछ पुलिस के आदमी भी शामिल थे। 95 व्यक्ति मरे और 933 घायल हुए। लूट और आगजनी के 896 मामले हुए जिनके परिणामस्वरूप 2·5 करोड़ रुपये से अधिक की सरकारी तथा निजी सम्पत्ति नष्ट हुई।

बिहार आन्दोलन—बिहार मे आन्दोलन प्रधानत. छात्रों द्वारा आवश्यक वस्तुओं के बढ़ते हुए मूल्य, बेरोजगारी की बढ़ती हुई समस्या आदि से सम्बन्धित अपने रोष को प्रदर्शित करने के लिए आयोजित किया गया था। परन्तु गुजरात मे मिली सफलता के उन्माद मे विभिन्न राजनीतिक दलों और असामाजिक तत्त्वो ने 18 मार्च, 1974 को पटना मे प्रदर्शन की एक महायोजना बनायी। इस प्रदर्शन का उद्देश्य विधानमण्डल के संयुक्त सत्र मे वार्षिक अभिभाषण देने के लिए राज्यपाल को विधानसभा भवन मे जाने से रोकना बताया गया। बाद मे प्रदर्शन व्यापक हिंसा और तोड़फोड़ मे परिवर्तित हो गया जिससे 27 व्यक्तियों की जानें गयी और सम्पत्ति की भारी हानि हुई। विभिन्न राजनीतिक दलो के नेताओ ने श्री जयप्रकाश नारायन से भेंट की और इस आन्दोलन का नेतृत्व सम्भालने के लिए अनुरोध किया और अप्रैल 1974 के शुरू मे वे उनकी अनुमति पाने मे सफल हो गये। तत्काल ही विधानमण्डल को भंग करने और मन्त्रिमण्डल को हटाने के लिए नये रूप से माँग की गयी। जयप्रकाश नारायण को सम्भवतः राजनीतिक दलो द्वारा यह आश्वासन दिया गया कि उनके सदस्य विधानमण्डल से त्यागपत्र दे देंगे, जिससे विधानमण्डल को भग करने का उपयुक्त वातावरण पैदा हो जायेगा। जब त्यागपत्र देने का आह्वान किया गया तो कोई भी विरोधी दल अपने सभी सदस्यों को विधानमण्डल से त्यागपत्र देने के लिए सहमत न कर सका। बाद में विधानमण्डल के सदस्यो पर दबाव डाला गया और बल-प्रयोग द्वारा उन्हे त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया गया।

छात्रों से कहा गया कि वे परीक्षाओं का बायकाट करें और एक वर्ष के लिए सभी कॉलेजो का बायकाट करे। परीक्षाओं मे न बैठने के आह्वान की व्यापक रूप से अवहेलना की गयी। दबाव और आतंक फैलाने की अनेक घटनाएँ हुई, परीक्षार्थियो मे आतंक फैलाने के लिए एक परीक्षार्थी को गोली से मार दिया गया। आन्दोलन की गति तेज करने के लिए सरकारी कार्यालयो का काम ठप्प करने और विधायकों के सामाजिक बहिष्कार की योजना शुरू की गयी है। ट्रेड यूनियनो और अराजपत्रित सरकारी कर्मचारियों को आन्दोलन में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया। 3 से 5 अक्टूबर, 1974 तक 'बिहार बन्द' मनाने का आह्वान किया गया। रेलगाडियो, डाक और बस

सेवाओ तथा सरकारी कार्यालयो का सभी काम पूर्णरूप से ठप्प कर देने के लिए आह्वान किया गया। 'वन्द' के दौरान हिंसा की अनेक घटनाएँ हुईं। 4 नवम्बर को एक विशाल प्रदर्शन के लिए और विधानसभा तथा विधानसभा के सदस्यो के निवास-स्थानो का घेराव करने के लिए सभी राज्यो से भारी सख्या मे व्यक्ति एकत्रित करने का आह्वान किया गया। एक विशाल जुलूस सचिवालय गया और धरना दिया गया। दिसम्बर 1974 से इस आन्दोलन के नेताओ ने ग्रामो मे 'छात्र सघर्ष समिति', 'जनसघर्ष समिति' आदि स्थापित करने और समानान्तर सरकार स्थापित करने जैसे कार्यों की ओर ध्यान दिया। 19 फरवरी, 1975 को पटना मे एक रैली का आयोजन किया गया। विहार मे इस दीर्घकालीन आन्दोलन के दौरान हिंसा के 544 मामले हुए। पुलिस को 54 वार गोली चलानी पडी। हिंसा की घटनाओं के परिणामस्वरूप 500 से अधिक लोगों की चोटें आयी और 70 व्यक्ति मरे। पुलिस के अनेक कर्मचारियो को चोटें आयी। विहार आन्दोलन के माध्यम से श्री जयप्रकाश नारायण ने उस योजना को—जिसके वीज गुजरात मे वोये गये थे, लोकतान्त्रिक कार्यों को सभी स्तरो पर खत्म करने और सवैधानिक अधिकार के अधीन गठित व्यवस्था को भग करने के लिए एक कार्यक्रम को आगे वढाया।

श्री जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन के विरुद्ध विहार मे अनेक जवावी आन्दोलन हुए। पटना मे पहले साम्यवादियो ने जवाव मे विशाल रैली का आयोजन किया। काग्रेस ने भी विशाल जवाबी रैलियाँ आयोजित की। लखनऊ की रैली मे प्रधानमन्त्री ने जहाँ विरोधी दलो के विध्वंसक कार्य की निन्दा-भर्त्सना की, वही जयप्रकाश के आन्दोलन को जन-विरोधी वताया और कहा कि उसका उद्देश्य और इरादा लोकतन्त्र की नीव को गहराई तक हिला डालना है।

रेलवे हड़ताल—मई 1974 की 'रेलवे हडताल' वास्तविक रूप मे राष्ट्रीय विनाश के आन्दोलन का एक अग थी। रेलवे की हड़ताल से आवश्यक चीजो और औद्योगिक उत्पादनों आदि के लाने-ले-जाने के कार्यों मे रुकावट पडने के कारण देश मे दुर्व्यवस्था और गडवडी पैदा हुई। **जार्ज फर्नाण्डीज** ने कहा कि "रेलवे परिवहन को पूरी तरह ठप्प करके किसी भी समय सरकार को गिरा सकते है‥ भारतीय रेलवे की पन्द्रह दिन की हड़ताल का अर्थ होगा—देश भूख से मर जायेगा।" अपनी योजना को व्यापक वनाने के लिए जार्ज फर्नाण्डीज ने 'रेलवे कर्मचारी राष्ट्रीय समन्वय समिति' का गठन किया और हड़ताल का वातावरण वनाने के लिए देश का दूर-दूर तक दौरा किया। प्रशासनतन्त्र को पूर्णत. वन्द करने के लिए मार्क्स साम्यवादी दल ने 'रेलवे हडताल' के समर्थन मे उसी समय केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियो द्वारा एक सहानुभूतिपूर्ण हड़ताल करवायी। 'रेलवे हडताल' के समय अनेक जगह तोड-फोड की गयी। सरकार द्वारा किये गये तात्कालिक और दृढ उपायो ने देश को एक वडे भारी विनाश से वचा लिया।

विशाल आन्दोलन—जून 1975 मे राजनीतिक आन्दोलन मे एक नया मोड आया। रामलीला मैदान मे दिल्ली जनता मोर्चे द्वारा आयोजित रैली को सम्वोधित करते हुए श्री जयप्रकाश नारायण ने सशस्त्र सेना, पुलिस और सरकारी कर्मचारियों को उन आदेशो का पालन न करने का आह्वान किया जिन्हे वे गैर-कानूनी समझते है। ऐसा कहा जाता है कि विरोधी दल सशस्त्र सेनाओं, पुलिस और सरकारी कर्मचारियो की निष्ठा भग करने के लिए योजनावद्ध प्रयत्न कर रहे थे। आन्दोलन और हिंसा की राजनीति अपनी चरम सीमा पर थी।

असम आन्दोलन—असम मे नवम्वर 1979 से 'गण सत्याग्रह' आयोजित किया गया। आन्दोलन का सूत्रपात 'अखिल असम विद्यार्थी सघ' ने किया। आन्दोलनकारियो की माँग थी कि असम मे विद्यमान वगलादेशियो और नेपालियों का शीघ्र पता लगाकर उन्हे असम से निकाल दिया जाये। विदेशी नागरिको को मतदान का अधिकार देना सविधान के विरुद्ध है। विदेशी नागरिक जो यहाँ आकर वस गये है और अव भी आते जा रहे है उन्हे असम से वाहर निकाला जाये।

असम आन्दोलनकारियो ने जो आँकड़े दिये थे वे काफी चौंकाने वाले थे। उनके हिसाब से 1951 के बाद अब तक करीब 70 लाख लोग बाहर से असम मे आकर बस चुके हैं। उनका कहना था कि बाहर से आने वाले लोगों की तादाद इतनी बढ़ गयी है कि असमिया लोग अपने ही इलाके मे बेगाने हो गये हैं। अपने ही क्षेत्र पर उनका राजनीतिक नियन्त्रण कमजोर पड़ गया है। सीमा पर स्थित असम जैसे नाजुक इलाके मे विदेशी नागरिको का भर जाना राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए गम्भीर चुनौती पैदा कर सकता है।

जगह-जगह पर असम बन्द आयोजित किये गये। सरकार के लिए असम मे लोकसभा चुनाव करना कठिन हो गया और चुनाव स्थगित करने पड़े। पिछले पाँच वर्षों से यह आन्दोलन चला आ रहा है। 19 व 20 तथा 30 नवम्बर, 1981 को असम मे आन्दोलनकारियो द्वारा आयोजित बन्द तथा रास्ता रोको अभियान की जोरदार सफलता यहाँ की जनता के जोश एवं आन्दोलन के प्रति आस्था की परिचायक थी। 1983 मे असम विधानसभा के चुनाव करवाये गये; किन्तु अधिसंख्य जनता ने चुनावो का बहिष्कार किया।

15 अगस्त, 1985 को असम के बारे मे समझौता हुआ। समझौता कुल मिलाकर यह हुआ है कि साइकिया सरकार भंग कर दी जायेगी, मगर नये चुनाव पुरानी मतदाता सूची पर ही करवाये जायेंगे। 1966 के बाद असम आये विदेशी नागरिको को छाँटा तो जायेगा मगर न उन्हे उनके देश वापिस भेजा जायेगा और न उन्हे असम से निकालकर दूसरे राज्यो मे फैलाया जायेगा।

पंजाब में अकाली आन्दोलन—पिछले एक दशक से पंजाब मे अकाली दल के नेतृत्व मे आन्दोलन चल रहा है। अकाली आन्दोलनकारियो की कुछ धार्मिक और राजनीतिक माँगें हैं। ये माँगें 'आनन्दपुर साहब प्रस्ताव' पर आधारित है। आन्दोलन हिंसक बनता जा रहा था अतः केन्द्रीय सरकार ने नवम्बर 1983 मे पंजाब मे राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। 1985 मे केन्द्र एवं अकाली नेताओं के बीच एक समझौता हुआ और पंजाब समस्या का हल ढूँढने का प्रयत्न किया गया। पंजाब मे चुनाव करवाये गये और बरनाला के नेतृत्व में अकाली दल की सरकार गठित की गयी। किन्तु यह सरकार आतंकवादी और हिंसात्मक गतिविधियो को नियन्त्रित नही कर पायी, ऐसी स्थिति मे मई 1987 से पंजाब मे राष्ट्रपति शासन लागू किया गया है।

गोरखालैण्ड के लिए हिंसा—गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे द्वारा बड़े पैमाने पर की जा रही हिंसा और आगजनी की वारदाते तथा उसके नेता सुभाष घीसिंग बढ़ते हुए तेवरो को देखते हुए यह तथ्य किसी से छिपा नही है कि अब यह आन्दोलन पूरी तरह उग्रवादियो की गिरफ्त मे आ गया है। ये उग्रवादी पूर्वोत्तर मे दूसरे विद्रोही नेताओ से प्रेरणा ग्रहण करते हुए हिंसा के जरिये सरकार से 'पृथक गोरखालैण्ड' की अपनी माँग पूरी कराने की सोच रहे हैं। मोर्चे के उग्रवादी तत्त्वों ने गोरखा बहुल इलाके मे हिंसा फैलानी शुरू कर दी है। बेकाबू होती हुई स्थिति को देखते हुए राज्य सरकार ने दार्जिलिंग के इलाके मे 'आतंकवाद विरोधी अधिनियम' लागू कर दिया है।

रैली, बन्द और हिंसात्मक आन्दोलन, 1988-89—16 नवम्बर 1988 को राष्ट्रीय मोर्चे ने आगरा मे विशाल रैली का आयोजन किया। 1988-89 मे असम मे बोडो आन्दोलन हिंसक रूप लेने लगा। असम के 40 लाख बनवासी पृथक् बोडो राज्य की माँग कर रहे है। बोडो आन्दोलनकारियो ने आगजनी, लूटपाट और सरकारी कर्मचारियों पर व्यापक पैमाने पर हमले किये। बोडो बहुल क्षेत्रो मे बन्द का आह्वान किया। झारखण्ड मुक्ति मोर्चे ने बिहार मे झारखण्ड राज्य की स्थापना के लिए आन्दोलन जारी रखा और 9 जून 1989 को बिहार बन्द का आह्वान किया, जिसके दौरान, रांची, सिंहभूमि तथा छोटा नागपुर जिलो मे हिंसा फूट पड़ी।

बोफोर्स तोप सौदे में नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक की सरकार विरोधी रिपोर्ट को आधार बनाकर विपक्षी दलों ने 30 अगस्त 1989 को भारत बन्द का आह्वान किया। बन्द के दौरान जगह-जगह हुई हिंसा की घटनाओं में कम से कम 11 व्यक्ति मारे गये और कई घायल हुये।

चुनावी हिंसा, 1990—फरवरी 1990 में आयोजित विधानसभा चुनावों में देश के विभिन्न भागों में जो हिंसक वारदातें हुई हैं उनमें बिहार सबसे आगे है। वहाँ चुनावी हिंसा ने 80 व्यक्तियों की बलि ली और सैकड़ों लोग घायल हुए। बिहार में चुनाव वातावरण पिछले दशकों में लगातार बिगड़ता जा रहा है और इसका सबसे खेदजनक पहलू यह है कि सत्तारूढ़ पार्टी के लोग ही ज्यादातर हिंसा को बढ़ावा देते हैं। फरवरी '90 में हरियाणा राज्य के 'मेहम विधानसभा उपचुनाव' में जैसी हिंसा और आतंक के वातावरण की स्थिति बनी, उसे भारतीय लोकतन्त्र के इतिहास की अत्यधिक दु:खद घटना ही कहना होगा।

आन्दोलन के कारण
(CAUSES OF AGITATIONS)

देश में आन्दोलन की राजनीति के जीवाणु का आधार अनेक तत्त्वों का सामूहिक प्रतिफल है, जो इस प्रकार है :

(1) **राजनीतिक निराशा**—जन आन्दोलन तथा हिंसात्मक प्रदर्शनों का कारण जनता में व्याप्त असन्तोष, निराशा तथा हताश स्थिति है। राजनीतिक दलों में यह विश्वास घर करता जा रहा है कि संवैधानिक तरीकों से तो वे कभी सत्ता में आ ही नहीं सकते। सत्तारूढ़ दल को पदच्युत करने के लिए जनता में उत्तेजना फैलाना और आन्दोलन द्वारा सरकार को परेशान करना ही एकमात्र मार्ग प्रतीत होता है।[1]

(2) **प्रचलित शिक्षा पद्धति**—वर्तमान शिक्षा-पद्धति ने युवकों में निराशा की भावना भर दी है। हमारा युवक आशाओं एवं निराशाओं, बेकारी एवं अर्द्धबेकारी के भँवर में फँसा हुआ है। शिक्षित युवक पुस्तकों की आदर्शवादिता एवं जीवन की वास्तविक भयानकताओं के बीच परेशान हैं। इस मनोदशा में वह अपने शिक्षकों, नेताओं आदि पर विश्वास करने की स्थिति में नहीं है। निराशाओं से छुटकारा पाने के लिए यदि वह आन्दोलन की राजनीति का सहारा लेता है तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए।[2]

(3) **सरकार दबाव की भाषा ही जानती है**—देश की आम जनता में यह विश्वास घर कर गया है कि हमारी सरकार केवल दबाव की भाषा ही जानती है। यदि सरकार के सामने न्यायोचित माँग प्रस्तुत की जाती है तो उसके कान पर तब तक जूँ नहीं रेंगती जब तक तोड़-फोड़ और आन्दोलन के द्वारा आँधी नहीं खड़ी कर दी जाती। जैसा कि **माइनर वीनर** ने लिखा है, "सरकार कोई रियायत देने को तभी तैयार होती है जब किसी जन-आन्दोलन में शान्ति और व्यवस्था को खतरा होता है, यह इसलिए नहीं कि सरकार (आन्दोलनकारियों की माँग) को उचित मानती है। बल्कि इसलिए कि इससे सरकार को माँग करने वाले समुदाय की ताकत और उनकी विनाशिता की क्षमता का आभास होता।"[3]

---

1 श्रीराम माहेश्वरी : एनोमिक सिचुयेशन एण्ड पॉलिटिकल लेजिटिमेसी इन इण्डिया, **पॉलिटिकल साइन्स रिव्यू**, दिसम्बर-जनवरी 1974, पृ. 190।

2 रणजीतसिंह दरडा : 'भारतीय लोकतन्त्र और आन्दोलन की राजनीति', **लोकतन्त्र समीक्षा**, जुलाई-सितम्बर 1973, पृ. 108।

3 मायनर वीनर अपने ग्रन्थ **पॉलिटिक्स ऑफ स्कैरसिटी** में लिखते हैं,
"The Politicians make demands to which the Government fails to respond He then turns towards force, to which 'Government does respond and therefore, convinced that only such mass pressure will move a static and conservative Government."

(4) **आर्थिक कारण**—आन्दोलन के लिए देश की बुरी आर्थिक स्थिति भी उत्तरदायी है। महँगाई एव बढते हुए भूल्यों के कारण देश की आर्थिक स्थिति संकटपूर्ण स्थिति में पहुँच गयी और आम आदमी का जीवन-यापन कठिन हो गया। राज्य भी केन्द्र से अधिक सहायता प्राप्त करने के लिए दवाव डालने लगे। उदाहरणार्थ, 11 सितम्वर, 1967 को अधिक चावल प्राप्त करने के लिए केरल के संयुक्त मोर्चे ने 'केरल वन्द' का आयोजन किया। पश्चिमी वंगाल की 14 दलों की सयुक्त मोर्चे की सरकार ने भी 24 अगस्त, 1967 को 24 घण्टे की हडताल का आयोजन किया। इसमे प्रधानमन्त्री के निवास के सामने जो केरल राज्य के केविनेट मन्त्री भूख हडताल कर रहे थे उनको समर्थन देने के लिए यह हडताल की गयी थी। 24 घण्टे के लिए पूरे राज्य मे सामान्य जीवन भी अस्त-व्यस्त हो गया था। यह केवल इसलिए किया गया था कि खाद्य सामग्री के वितरण के प्रश्न पर पश्चिमी वंगाल के विरुद्ध कोई भेदभाव की नीति न बरती जाये।

(5) **आदर्श नेतृत्व का अभाव**—स्वाधीनता के वाद देश मे ऐसे नेतृत्व का उदय हुआ जो राष्ट्रहित के वजाय, दलीय हितों और वैयक्तिक स्वार्थों को प्राथमिकता देता है। आदर्श नेतृत्व के अभाव मे छोटी-छोटी वातो को लेकर उग्र हिंसात्मक और आन्दोलनकारी तरीके अपना लिये जाते हैं।

(6) **प्रशासन में अकर्मण्यता**—भारत मे प्रशासन के प्रति लोगो की अच्छी धारणा नही है। प्रशासन मे अनावश्यक देरी होती है, लालफीताशाही, भ्रष्टाचार, अक्रियाशीलता आदि का वोलवाला है। जन-कल्याण से सम्वन्धित शीघ्र निर्णय नही लिये जाते जिससे आन्दोलन होते है।

(7) **राजनीतिक उत्तरदायित्व की भावना का अभाव**—भारत के सभी राजनीतिक दलो मे उत्तरदायित्व की भावनाओ का अभाव पाया जाता है। किसी भी राजनीतिक मसले पर वे तत्काल आन्दोलनात्मक रूप अपना लेते हैं। वे यह समझते है कि आन्दोलनो से जनता को अपने पक्ष मे संगठित कर देंगे। अधिकाश आन्दोलनो का परिणाम हिंसा, तोड-फोड और उत्तेजनात्मक गति-विधियाँ ही रहा है।

(8) **विरासत का असर**—भारत मे प्रत्यक्ष कार्यवाही के साधनो के प्रयोग का सवसे वड़ा कारण राष्ट्रीय आन्दोलन से प्राप्त विरासत है। महात्मा गाँधी के नेतृत्व मे इन तरीको का व्यापक प्रयोग हुआ और उनसे सफलता मिली। उनका असर यह पडा कि स्वतन्त्रता के वाद की वदली हुई परिस्थितियो मे भी उसका प्रयोग होता है।

भारत में आन्दोलनों की विशेषताएँ
(SALIENT FEATURES OF AGITATIONS IN INDIA)

प्राय: सभी देशो मे आन्दोलन होते है किन्तु भारत मे आन्दोलनो की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ है, जो इस प्रकार है :

(1) **सरकारी आन्दोलन**—भारत मे सरकारें भी आन्दोलन करती है और करवाती है। सरकारी आन्दोलन सत्तारूढ दल अथवा शासक दलो द्वारा सगठित किये जाते है। सरकारी आन्दोलन अपनी सत्ता को मजवूत वनाने के लिए किये जाते है। इन आन्दोलनो मे पुलिस का प्रयोग किया जाता है और ये आन्दोलन प्रभावशाली होते हैं। उदाहरणार्थ, विहार मे कांग्रेस दल ने कई वार जवाबी रैलियो का आयोजन किया, प. वंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकार ने हड़ताल का आयोजन किया।

(2) **राजनीतिक आन्दोलन**—विरोधी दलो द्वारा सत्तारूढ़ दल के विरुद्ध राजनीतिक आन्दोलन किये जाते है। ऐसे आन्दोलन का ध्येय सरकार को कमजोर वनाना और अपने पक्ष मे लोकमत तैयार करना होता है।

(3) **हिंसात्मक आन्दोलन**—आन्दोलनों के दौरान हिंसा, ताड़-फोड़ की कार्यवाही भी की जाती है। कई बार व्यक्तिगत और सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाया जाता है और लूटपाट की जाती है। गुजरात और बिहार में ऐसे ही उग्र हिंसात्मक आन्दोलन शुरू किये गये थे जिनकी परिणति आखिरकार हिंसा मे ही हुई थी।

(4) **दुराग्रह**—कभी-कभी 'सत्याग्रह' और 'अनशन' की भी घटनाएँ हो जाती है। कतिपय महत्त्वपूर्ण नेता अनशन प्रारम्भ कर देते है ताकि उनकी अनुचित माँग को शीघ्र मान लिया जाय। अनशन भी एक तरह आन्दोलन ही है जिसे दुराग्रह ही कहा जाता है।

(5) **विदेशों से प्रेरित**—ऐसा कहा जाता है कि भारत मे आन्दोलनकारियो को विदेशी लॉबी न केवल प्रेरणा देते हैं अपितु धन और हथियार भी प्रदान करते है। नक्सलवादी आन्दोलन-कर्ता तो माओ के भक्त थे और चीन से सहायता प्राप्त कर देश मे अराजकतावादी कार्यवाहियाँ करते थे। भारत मे सी. आई. ए. आन्दोलनकर्त्ताओं को तोड-फोड करने के लिए आर्थिक सहायता देता रहा है।

(6) **राजनीतिक माँगों को लेकर आन्दोलन**—भारत मे अधिकाश आन्दोलनों का सम्बन्ध राजनीतिक माँगो से रहा है। बम्बई राज्य का विभाजन, आन्ध्र के निर्माण, पंजाबी सूबे की माँग, गुजरात का आन्दोलन अथवा बिहार का आन्दोलन, पजाब मे अकाली आन्दोलन सभी राजनीतिक उद्देश्यो से प्रेरित रहे है।

(7) **कानून तथा व्यवस्था को भंग करना**—आन्दोलनकारी कानून और व्यवस्था को जान-बूझकर भग करते है। लोगो मे उत्तेजना और असन्तोष फैलाने के साथ-साथ देश मे अराजकता की व्यवस्था भी उनका ध्येय रहता है। रेल की पटरियाँ उखाडना, सचार व्यवस्था भग करना, यातायात रोकना आदि उनके लिए सामान्य बात हो जाती हैं। वे इस बात की परवाह नहीं करते कि इन हरकतो से सामान्य जनता को कितनी तकलीफ होगी। वस्तुत आन्दोलनो का ध्येय लोक-कल्याण न होकर क्षुद्र और घटिया किस्म का स्वार्थ ही होता है।

प्रत्यक्ष कार्यवाही और संसदीय लोकतन्त्र (Direct Action and Parliamentary Democracy)—भारत मे ससदात्मक लोकतन्त्र की स्थापना के बाद प्रत्यक्ष कार्यवाही के औचित्य के सम्बन्ध मे दो विरोधी विचार व्यक्त किये गये है। कतिपय विचारक प्रत्यक्ष कार्यवाही को उचित मानते हैं और कुछ के अनुसार यह उचित नही है। अधिकाश लेखक शान्तिपूर्ण सार्वजनिक विरोध को उचित मानते है। **श्री यशवन्तराव चह्वाण** तीन परिस्थितियो मे सगठित रूप मे कानून तोडने को उचित मानते है—प्रथम, जब आत्मा की पुकार के कारण सत्याग्रह करना आवश्यक हो; द्वितीय, वह कार्य तब किया जाये जब निर्वाचित सरकार स्वय ससदीय मूल्यो को नष्ट करने मे लगी हो, तृतीय, जब देश और समाज का भविष्य खतरे मे हो। **रजनी कोठारी** प्रत्यक्ष कार्य-वाही के दो रूप मानते है—प्रथम, वह जो कि ससदात्मक लोकतन्त्र को और अधिक लोकतान्त्रिक बनाये; और द्वितीय, वह जो कि उसे अधिनायकतन्त्र की ओर ले जाये। उनके अनुसार यथार्थ मे पहले प्रकार की कार्यवाही उचित है क्योंकि वह लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता को अधिक बल प्रदान करती है। ऐसी कार्यवाही मे साधनों का चुनाव काफी सावधानी से किया जाता है। वैसे प्रत्यक्ष कार्यवाही के विभिन्न तरीको को लोकतान्त्रिक सहनशीलता की सीमा के बाहर नही मानते। **जस्टिस गजेन्द्र गड़कर, आर श्रीनिवास** और **एस. पी अय्यर** जैसे लोग सत्याग्रह जैसी कार्यवाहियो को लोकतन्त्र मे अनुचित मानते है।

आन्दोलन के परिणाम और उनको समाप्त करने के उपाय

(RESULTS AND CURES)

"आन्दोलन की राजनीति विष-कन्या सदृश है जिसके संग सहवास करने से लोकतन्त्रीय

शासन अपने विनाश को आमन्त्रण देता है।"[1] राजनीतिक आन्दोलनों से राष्ट्र कमजोर होता है, हिंसा और घृणा का वातावरण फैलता है और सामान्य जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। लगातार हड़ताल, बन्द, घेराव आदि की कार्यवाहियों से राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था इतनी विगड़ जाती है कि उसे सम्भालना कठिन हो जाता है। आन्दोलनों के दौरान विघटनकारी तत्त्व पूर्ण रूप से सक्रिय हो जाते हैं और साम्प्रदायिक भावना उभारी जाती जाती है, जिससे हमारी एकता को खतरा हो जाता है।

भारत मे तो कांग्रेस विरोधी दल न केवल आर्थिक विकास मे आन्दोलनो द्वारा रुकावट डाल रहे थे वल्कि वे अर्थ-व्यवस्था और प्रशासन के सभी सामान्य कार्यों मे रुकावट डालते थे। अक्सर काम वन्द करने का आह्वान किया जाता था। किसानो को कहा जाता था कि वे अपना उत्पादन सरकार को न वेचें। जनता को कर न देने का पाठ पढाया जाता है। 'रेलवे हड़ताल' के दौरान और देश के विभिन्न भागो मे छुटपुट आन्दोलनों से 124 करोड रु. का नुकसान हुआ। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को कही इससे दस गुना हानि हुई। हमारे देश मे आन्दोलनो का उद्देश्य सरकार को अस्त-व्यस्त करना और सम्पूर्ण राष्ट्रीय कार्यक्रमो को छिन्न-भिन्न करते हुए सत्ता हथियाना रहा है। क्या आन्दोलनो द्वारा सविधानेतर कार्यवाहियो से लोकतन्त्र-पद्धति से चुनी हुई व्यवस्था को नष्ट करना समुचित है ?

लोकतन्त्र एक तरीके की जिन्दगी है। निर्णय खुले तौर पर किये जाने चाहिए, जनता को शान्तिपूर्ण ढंग से सरकारो को परिवर्तित करने और चुनने का अधिकार होना चाहिए और राजनीतिक कार्यक्रमो को सविधान मे दी गयी मान्यताओ के अनुसार ही अभिव्यक्त करना चाहिए। वार-वार तथाकथित अन्तिम हथियार '**सत्याग्रह**' का सहारा लेना लोकतन्त्र नही है और न ही वैधानिक ढंग से चुने गये विधायकों को डरा-धमकाकर या दवाव देकर इस्तीफा दिलवाना लोकतन्त्र है। लोकतन्त्र मे अभिव्यक्ति और वहस की स्वतन्त्रता है लेकिन क्या लोकतन्त्र के नाम पर सुनिश्चित योजनावद्ध आन्दोलन उचित है। लोकतन्त्र में सरकार का विरोध किया जा सकता है किन्तु राष्ट्रीय हितों का नही। भारत मे आन्दोलनकर्ताओ ने इस तथ्य को समझने मे विल्कुल कमी दर्शायी है। लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता का अर्थ स्वय लोकतन्त्र की अवमानना करने की अनुमति नही है।

इस प्रकार भारत मे आन्दोलन की राजनीति के कतिपय परिणाम इस प्रकार रहे है—(i) लोकतन्त्र के नाम पर हिंसक प्रदर्शनो का आयोजन हुआ, (ii) देश की अर्थ-व्यवस्था को पंगु वना दिया गया, (iii) सामाजिक और आर्थिक कार्यों से राष्ट्र का ध्यान हटाया गया, (iv) जनता के चुने हुए प्रतिनिधियो को उखाड फेंकने के लिए अराजकता और अव्यवस्था पैदा करने का अभियान चलाया गया, (v) सरकारी कामकाज ठप्प किया गया, और (vi) आन्तरिक अशान्ति और अराजकता उत्पन्न हुई।

देश मे अनुशासन, व्यवस्था और स्थिरता लाने के लिए आन्दोलनो को समाप्त करना आवश्यक है। आन्दोलनो की राजनीति को समाप्त करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते है :

(1) **प्रतिपक्षी दलों के सुझाव का आदर**—सरकार को विरोधी दलो की उपेक्षा नही करनी चाहिए। उनके रचनात्मक सुझावो को स्वीकार कर लेना चाहिए। ससद और विधानमण्डलों मे उनके सुझावो को गम्भीरता से लेना चाहिए ताकि वे यह महसूस कर सकें कि राष्ट्र-निर्माण मे उनकी भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

---

[1] **लोकतन्त्र समीक्षा**, जुलाई-सितम्वर 1983, पृ. 106।

(2) **उचित माँगों को स्वीकार करना**--शासन के विभिन्न घटकों को चाहिए कि जनता में किसी बात को लेकर असन्तोष पैदा न हो और जन-आन्दोलन से पहले ही उचित माँगों को स्वीकार कर लें।

(3) **उत्तरदायित्व की भावना का विकास**—देश के राजनीतिक दलों में उत्तरदायित्व की भावना पैदा करनी होगी। उन्हें वैधानिक उपायों का सहारा लेकर ही सत्ता प्राप्ति के प्रयास करने चाहिए। असंवैधानिक साधनों का प्रयोग करने वाले दलों की उपेक्षा की जानी चाहिए।

(4) **आर्थिक स्थिरता में सुधार**—देश की आर्थिक स्थिति में सुधार किया जाना चाहिए। महँगाई और बेरोजगारी दूर करने के सघन प्रयास किये जाने चाहिए ताकि निराशा और असन्तोष का वातावरण खत्म हो सके। जनता सुखी, सन्तुष्ट और खुशहाल तभी हो सकती है जब उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो सके। यदि मुद्रा-स्फीति को रोकने तथा मूल्य-वृद्धि को नियन्त्रित करने के लिए सरकारी प्रयास सफल हो जाते हैं तो अनुशासन का वातावरण कायम हो जायेगा। इस समय खाद्यान्नों की आपूर्ति, उनके उचित वितरण की व्यवस्था तथा दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के बढ़ते हुए मूल्यों को रोकने और गिराने के प्रश्न को प्राथमिकता देनी चाहिए।

(5) **जनता को शिक्षित करना**—रेडियो के माध्यम से सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में जनता को शिक्षित करने का प्रयास किया जाये। जनता को उत्तेजित करने वाले कोई प्रश्न जब उपस्थित हो तो रेडियो को उस प्रश्न के विभिन्न पहलुओं को जनता के सम्मुख रखना चाहिए। भारत की अधिकांश जनता आज भी अशिक्षित है। इसलिए समाचार-पत्रों की उपेक्षा रेडियो एवं टी. वी. सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में अधिक प्रभावशाली भूमिका अदा कर सकते हैं।

निष्कर्षत: अपनी सरकार के प्रति आन्दोलन और हिंसा की राजनीति का प्रयोग करना राष्ट्रघात ही है। आन्दोलनों से राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि नहीं होती और राष्ट्र कमजोर बनता है। राष्ट्र के उत्थान एवं उन्नयन के लिए आन्दोलन की राजनीति से राष्ट्र को बचना चाहिए। आन्दोलन की राजनीति को भारतीय राजनीति से हटाने के लिए देश में स्वस्थ राष्ट्रीयता का विकास होना परम आवश्यक है।

50

भारत में औद्योगिक प्रतिष्ठानों की राजनीति : मजदूर संगठनों और बहुराष्ट्रीय निगमों के विशेष सन्दर्भ में

[POLITICS OF INDUSTRIAL SECTOR IN INDIA : WITH SPECIAL REFERENCE TO THE POLITICS OF TRADE UNIONS AND MULTI-NATIONALS]

औद्योगीकरण के फलस्वरूप भारतीय समाज मे किन नये आर्थिक-सामाजिक समूहो का उदय हो रहा है ? उनमे से कौन अधिक त्याग करते रहे है और उनमे से कौन फायदा उठा रहे हें ? सस्थानात्मक और साझेदारी वाले जीवन के कौन से प्रतिमान उभर रहे है ? औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप किस प्रकार के सामाजिक नियमन और नियन्त्रण का उदय हो रहा है ? यह सब न केवल अनेक चरो पर निर्भर है जैसे कृषीय समाज मे जीवन स्तर, आवादी की सघनता, किस प्रकार के उद्योग स्थापित है और वह गति जिससे उन्हे अधिक उत्पादन करना है, कारखानों और मजदूरो के घरो की किस्म और वनावट और उद्योगपूर्ण संस्कृति की प्रकृति और शक्ति, वल्कि वुनियादी अभिधारणाओ और आधारभूत दर्शन पर भी निर्भर है जो औद्योगीकरण के तरीके मे निहित है।

औद्योगीकरण के दो मार्ग
(TWO WAYS OF INDUSTRIALISATION)

औद्योगीकरण के दो तरीके हैं[1]—**प्रथम**, इस तरह औद्योगीकरण जो समाजवादी अभिधारणाओ पर आधारित हो अर्थात् उत्पादन के साधनो के सामाजिक स्वामित्व, समाज की जरूरतो पर न कि मुनाफे पर आधारित उत्पादन और मनुष्यो के वीच आर्थिक तथा अन्य सामाजिक सम्बन्धो मे प्रतिद्वन्द्विता को हटाकर उसकी जगह सहयोग को लाने के सिद्धान्तो पर आधारित, तथा **द्वितीय**, इस तरह का औद्योगीकरण जो पूंजीवाद की अवधारणाओ पर आधारित हो अर्थात् उत्पादन के साधनो के निजी स्वामित्व, मुनाफे के लिए उत्पादन तथा मनुष्यो के वीच आर्थिक तथा अन्य सामाजिक सम्वन्धो की विशेपता प्रतिद्वन्द्विता के सिद्धान्तो पर आधारित हो।

औद्योगीकरण और सामान्य आर्थिक विकास के दो भिन्न ढग सामाजिक सगठन के दो गुणात्मक रूप से भिन्न ढगों को जन्म देते है। इसके अतिरिक्त वे आर्थिक विकास की दिशा निर्धारित करते है और इस प्रकार व्यक्तियो की गतिविधियों को शासित करने वाली वुनियादी

---

[1] ए आर. देसाई, **भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियां**, 1978, पृ. 122-23।

लक और उत्प्रेरकों की प्रकृति को भी निर्धारित करते है। वे समाज के विभिन्न स्तरों के लिए मंस्थाओं और परिषदों, अवसरों और प्रतिवन्धों के भी प्रतिमान, वितरण तथा उस समाज की सम्पूर्ण सस्कृति का नैतिक, दार्शनिक, कलात्मक आदि चरित्र भी निर्धारित करते है।

भारत के लिए पूँजीवादी औद्योगीकरण का मार्ग
(THE WAY OF CAPITALIST INDUSTRIALISATION FOR INDIA)

स्वाधीनता के वाद देश का औद्योगीकरण एक पूँजीवादी मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की अभिधारणा के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया। यह वुनियादी अभिधारणा भारतीय समाज की आर्थिक संरचना को रूप देती रही है जो भारतीय समाज के संरक्षक विविध स्तरो के जीवन प्रतिमानों और चेतना के साथ-साथ एक पूर्ण के रूप मे भारतीय जनता के मस्थागत, सास्कृतिक और विचारधारात्मक जीवन को निर्धारित करती है। यह आर्थिक सरचना विविध वर्गों और सामाजिक समूहो की गतिविधियो को वुनियादी विवशताएँ और उत्प्रेरक प्रदान करती है और वे वर्ग जो लाभ उठाते हैं अथवा जो वलिदान करते हैं उनके लाभो और वलिदानो के प्रतिमान भी निर्धारित करती है।

पूँजीवादी औद्योगीकरण का अर्थ है उत्पादन साधनों के मालिको के लिए उत्पादन के उत्प्रेरक के रूप मे मुनाफे पर आधारित और दूसरे समस्त सामाजिक सम्वन्धो का वुनियादी चरित्र प्रतिद्वन्द्विता है। इस तथ्य पर आधारित औद्योगीकरण का अर्थ है उन सामाजिक सम्वन्धो और संस्थानों का विनाश जो जन्म और हेसियत जैसे परम्परागत सामन्ती और अर्द्धसामन्ती सिद्धान्तो पर और एक वर्तमान जीवित सामन्ती अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है। इसका अर्थ सामन्ती समाज के विभिन्न अगों के समन्वयन के उस सिद्धान्त को खत्म कर देना भी है, असमानता और पदो के सोपान पर आधारित होने के वावजूद जिसके तहत उसकी संरचना मे एक विशेष सुसगति थी। इसका अर्थ है समस्त सामाजिक सम्वन्धो और सस्थाओ में प्रतिद्वन्द्विता के सिद्धान्त और सग्रहणकारी उत्प्रेरक का समावेश कर देना और इस प्रकार पारस्परिक सहायता और सामुदायिक सहयोग के उन रूपो को नष्ट कर देना जो सामन्ती समाज—ग्रामीण तथा शहरी दोनो—की विशेपता थे। इसके प्रथागत और परम्परागत दोनो प्रकार के नियन्त्रणो की समाप्ति सकेतिक होती है जिसका अर्थ है व्यक्ति को उस सन्तोप से वचित किया जाना जो वह पारम्परिक प्राथमिक समूहो जैसे संयुक्त परिवार, जाति तथा ग्रामीण समुदाय आदि के वीच किये गये अपने जीवन से प्राप्त करता था।

पूँजीवादी औद्योगीकरण का अर्थ है समुदाय के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन का यन्त्रीकरण, व्यवसायीकरण और मौद्रीकरण जैसी प्रक्रियाओ के जरिए और इसके अतिरिक्त व्यक्तियो के वीच सभी सम्वन्धो मे प्रतिद्वन्द्विता का और समाज की गाडी के पहियों को सचालित करने वाले केन्द्रीय उत्प्रेरक के रूप मे मुनाफे का समावेश कराकर सम्पूर्ण पुरानी सामाजिक-आर्थिक सरचना का रूपान्तरण।

विकसित पश्चिमी यूरोपीय देशो मे पूँजीवादी औद्योगीकरण अनेक दशको मे व्याप्त एक संचयी प्रक्रिया थी, जिसके दौरान सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था धीरे-धीरे वदल गयी। इसके पहले या इसके साथ ही कृपि, वाणिज्य, राजनीतिक व्यवस्थाओ और मूल्यो, विज्ञान, कला तथा धर्म मे क्रान्तियाँ हुईं। विशाल औपनिवेशिक अति मुनाफो से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति (जिसने पूँजी का काम किया) के जवरदस्त संचय द्वारा इसे सहज वनाया गया और इसकी गति तेज हो गयी। इन अति मुनाफो ने वुर्जुआजी को समाज सेवा के अनेक कामों का जिम्मा लेने मे समर्थ वनाया जिससे 'जनसमाज मे अकेले व्यक्ति' को जो आत्म परायाकृत और अलग-अलग है, कुछ राहत और

सुविधाएँ भी प्रदान की गयी। किन्तु उन देशों मे भी प्रतिष्ठित दार्शनिकों, सामाजिक चिन्तको और इतिहासकारों ने प्रदर्शित किया है कि जीवन के वुर्जुआ आधार से किस प्रकार मूलविहीनता, व्यक्तियों का परमाणुकरण होता है जिसके फलस्वरूप आवादी के उस वड़े हिस्से मे विक्षिप्तता और कुण्ठा वढ़ती है जो वाजार मे अव भी उपभोग वस्तु माना जाता है और अपनी नौकरी के लिए अव भी अराजकतापूर्ण वाजार की सनक पर निर्भर है।

वुर्जुआ औद्योगीकरण और उसकी सीमाएँ
(THE LIMITATIONS OF BURGEOISE INDUSTRIALISATION)

भारत जैसे अल्पविकसित देशो में पूँजीवादी आधार पर औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने कई तरह की बुराइयाँ उत्पन्न की हैं। **प्रथम,** वह पुराने संस्थागत और सास्कृतिक ढाँचे को आशिक रूप से ही खत्म करता है और जनसंख्या को वह कोई नया ढाँचा प्रदान करने मे असमर्थ है। किसी पिछडे देश मे पूँजीवादी औद्योगीकरण पुराने परम्परागत सामन्ती तथा अर्द्धसामन्ती सामाजिक सस्थानो और मूल्यों को पूरी तरह समाप्त करने मे तथा पश्चिमी यूरोपीय पूँजीवादी देशो की तरह की सामान्य रूप से विकसित पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था प्रदान करने मे असमर्थ है। सामाजिक आदर्श, परिवार तथा अन्य सामाजिक संस्थानो का नमूना तथा मनोवैज्ञानिक विशेपताएँ आशिक रूप से सामन्ती तथा आशिक रूप से आधुनिक वनी रहती हैं। **द्वितीय,** पूँजी अपने निवेश के लिए उन्हीं क्षेत्रों को चुनती है जो उसे प्रारम्भिक सुविधाएँ प्रदान करते हैं। चूँकि ये सुविधाएँ पहले से ही मौजूद शहरी क्षेत्रों मे प्राप्त होती हैं अत नये उद्यम और व्यावसायिक प्रतिष्ठान सामान्यतया शहरों अथवा शहरों के उपनगरीय क्षेत्रो मे शुरू किये जाते हैं। शहरो का यह और आगे औद्योगिक विस्तार 'स्वचालित ढग से जन उपयोगिताओ, सड़कों और यातायात के साधनों, मजदूरो के लिए आवासों, स्वच्छता, स्कूलो, अस्पतालों और मनोरजन की सुविधाओं मे समानान्तर निवेश की आवश्यकता को जन्म देता हैं।' इससे सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जैसे—(अ) इसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण शहरी माहौल विकृत हो जाता है, (व) दी गयी अपर्याप्त सुविधाओ के लिए यह आम जनता पर करो का वोझ डाल देती है, (स) इससे आम मजदूर के लिए गन्दी वस्तियो तथा मध्य वर्गों के लिए आवास की बुरी दशाओं का जन्म होता है, (द) इससे वहुसख्यक जनता का जीवन-स्तर गिरता है, (य) यह शहरी समुदाय के द्विवर्गीय रूप-एक उच्चवर्गीय सास्कृतिक रूप और एक निम्नवर्गीय सास्कृतिक रूप को जन्म देती है, (र) इससे उच्च शहरी सास्कृतिक परम्परा के मानकीकृत नमूने का जन्म होता है जो पश्चिमी देशो के शहरो के रग मे रंगे लगभग सभी शहरों मे सतही, पतनशील किस्म का अधिक है।

भारत की औद्योगिक अभिरचना
(INDIA'S INDUSTRIAL STRUCTURE)

जवाहरलाल नेहरू वडे पैमाने के उद्योगो के विकास के पक्ष मे थे। राष्ट्रीय विकास परिपद मे जनवरी 1956 मे भापण देते हुए उन्होने कहा कि, "हमे भारी मशीन निर्माण उद्योगो और भारी उद्योगो के लिए योजना वनानी चाहिए, हमे ऐसे उद्योग चाहिए जो भारी मशीने वना सके और हमे यह काम जल्दी मे जल्दी करने में लग जाना चाहिए।"[1] अप्रैल 1956 मे भारत सरकार ने औद्योगिक नीति प्रस्ताव द्वारा यह तय कर लिया कि, "समाजवादी ढंग के समाज के निर्माण का उद्देश्य प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि आर्थिक वृद्धि की दर को तेज किया जाय, औद्योगीकरण की रफ्तार को वढाया जाये, भारी व मशीन निर्माण उद्योगो को विशेप रूप से

---

[1] चौधरी-चरणसिंह, **भारत की अर्थनीति,** 1977, पृ. 65।

विकसित किया जाये, सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया जाये और विशाल व विकासशील सहकारी क्षेत्र वनाया जाये।"

नेहरू व उनके सलाहकारो ने यह मान लिया था कि लम्बे अर्से मे औद्योगीकरण की रफ्तार व राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की सवृद्धि का दारोमदार इस वात पर है कि कोयला, विजली, लोहा व इस्पात, भारी मशीनो, भारी रासायनिक कारखानो और आमतौर से भारी उद्योगो का उत्पादन वढता रहे अर्थात् पूंजी की रचना के लिए जरूरी उत्पादन वढे। नियोजन की नीति यह थी कि देश का अतिशीघ्र औद्योगीकरण किया जाये और उसका मतलव यह था कि भारी उद्योग को प्रथम स्थान दिया जाये।

भारतीय राजनेताओ के सपनो मे लोकतन्त्रीय स्वतन्त्रताओ व आर्थिक समानताओ के साथ तेज गति से आर्थिक विकास की परिकल्पना भी निहित थी। इसलिए उन्होने समाजवाद व पूंजीवाद मे समझौता करके 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' स्वीकार कर ली जिसमे राष्ट्र के भौतिक संसाधनो पर कुछ राज्य व कुछ नागरिको का स्वामित्व रहे; दूसरे शब्दो मे सार्वजनिक व निजी क्षेत्र एक साथ चले।

काग्रेस पार्टी ने 1964 मे अपने भुवनेश्वर अधिवेशन मे 'संसदीय जनतन्त्र पर आधारित समाजवादी राज्य' की स्थापना को अपना उद्देश्य घोषित किया। जनमत को सन्तुष्ट करने के लिए श्रीमती गाँधी के नेतृत्व मे नयी काग्रेस ने जनवरी 1971 मे अपने चुनाव घोपणापत्र मे कहा कि कुछ हाथो मे आर्थिक सत्ता व सम्पत्ति को केन्द्रित होने से रोकने के लिए उठाये जाने वाले कदमो को छोडकर 'निजी सम्पत्ति का एक सस्था के रूप मे उन्मूलन करने का कोई इरादा नही है।' जव सार्वजनिक क्षेत्र के कार्य सचालन की आलोचना होने लगी तो यह कहा जाने लगा कि, 'समाजवाद का अर्थ सभी उद्योगो का राष्ट्रीयकरण नही है और सरकार किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण तभी करेगी जव ऐसा विल्कुल जरूरी होगा।'

31 मार्च, 1976 को सरकारी स्वामित्व के सार्वजनिक सस्थानो मे 8,973 करोड़ रुपये की लागत लगी हुई थी जो देश के सभी संगठित उद्योगो मे लगी पूंजी के आधे के करीव है। किन्तु ऐसा कहा जाता है कि सार्वजनिक स्वामित्व अथवा राष्ट्रीयकरण से मजदूरो को नया रुतवा नही मिला है और न इससे मजदूरो को अपने कारखानो, मशीनो व काम से कोई लगाव पैदा हुआ है। ताकतवर मजदूर सभाओ के समर्थन के वावजूद व्यक्तिगत रूप से हर कर्मचारी यह अनुभव करता है कि उसे अपने काम की परिस्थितियो पर कोई वास्तविक नियन्त्रण प्राप्त नही है और एक प्रकार के मालिको से दूसरी तरह के मालिको के पास उसकी वदली हो गयी है।

सविधान मे निर्देश दिया गया है कि सरकार आर्थिक सत्ता व सम्पत्ति का कुछ हाथो मे केन्द्रीयकरण रोकेगी। किन्तु हमारे यहाँ हर वर्ष सम्पत्ति व आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण दिन दूना रात चौगुना वढ रहा हे। सन् 1966 से 76 के मध्य दस व्यावसायिक घरानों की कुल परिसम्पत्ति 2,335 करोड रुपये से वढ़कर 5,111 करोड़ रुपये हो गयी जो 120 प्रतिशत की वृद्धि थी। इस समिति की रिपोर्ट से मालूम होता है कि जारी किये गये लाइसेंसो की सख्या तथा लाइसेंसो की स्वीकृत की गयी रकम—दोनो मे से 20 वडे घरानो के अनुपात से ज्यादा भाग प्राप्त कर लिया। वड़े घरानो के पास इतने अधिक मानवीय व अन्य साधन है, फिर भी उन्होंने स्वदेशी प्रौद्योगिकी के विकास के लिए कोई उल्लेखनीय प्रयास नही किया। वहुत हद तक उनकी संवृद्धि विदेशी प्रौद्योगिकी व विदेशी पूंजी के आयात पर निर्भर करती है। 1956 से 1968 तक जितने विदेशी सहयोगो को अनुमति दी गयी उनमे से लगभग एक-चौथाई 20 चोटी के वडे घरानो को मिल और पूंजीगत माल के आयात मे से 40 प्रतिशत उनके हिस्से मे आने की अनुमति दी गयी। 1968 के वाद से विदेशी सहयोग तेजी से वढ़े हैं और अधिकतर का सम्बन्ध वडे

घरानो से है। विदेशी पूँजीपति वड़े घरानों के साथ ही सहयोग करना पसन्द करते है और वंडे घराने भी विदेशी पूँजी पसन्द करते हैं। हमारी रिपोर्ट के अनुसार वडे घरानो ने जो भी वड़ी परियोजनाएँ हाथ मे ली है उनके लिए अपने आप पूँजी एकत्र करने की नाममात्र को ही कोशिश की है और उनकी परियोजना लागत का लगभग 50 प्रतिशत सार्वजनिक वित्तीय संसाधनो से आया है।

भारत में औद्योगिक प्रतिष्ठानों की राजनीति
(POLITICS OF INDUSTRIAL SECTOR IN INDIA)

स्वाधीनता के वाद भारत ने विकसित देशो से उधार ली गयी अत्यधिक पूँजी प्रधान टेक्नालॉजी को अपनाया। नेहरू व उनके सलाहकारो को प्रौद्योगिकी व भारी उद्योग रूपी जुड़वाँ देवताओ पर अन्धविश्वास या। पश्चिम मे श्रम की कमी थी, इसलिए आदमी की जगह मशीन से काम लेना जरूरी था, इसलिए पश्चिमी प्रौद्योगिकी का विकास हुआ। यह प्रौद्योगिकी भारत जैसे देशो की समस्या का हल नही है जहाँ श्रमिकों को अल्प रोजगार मिलता है या जहाँ पूँजी की वेहद कमी है। भारी उद्योगो के निर्माण के लिए विदेशी सहायता लेनी पडी और देश की अर्थ-व्यवस्था विदेशी निगमो के शिकजे मे फँसने लगी। आज देश की अर्थ-व्यवस्था पर 'वडे औद्योगिक घरानो' और 'वहुराष्ट्रीय कम्पनियो' का प्रभाव सर्वत्र परिलक्षित होता है। जान कार्नसन और पीटर नीर्से लिखते हैं कि "सरकार पर निजी क्षेत्र के व्यापारियो का प्रभाव वढने के पीछे तथ्य यह है कि वहुधा महत्त्वपूर्ण उद्योगपति भी वैसे ही परिवार से आते है जिनसे वरिष्ठ सरकारी अधिकारी। अक्सर अवकाश प्राप्त सरकारी अधिकारियो को निजी कम्पनियो मे अच्छी नोकरियाँ मिल जाती हैं ताकि वे अपने सम्वन्धो और अन्दरूनी जानकारी का निचले स्तर की वजाय ऊपरी स्तर पर अच्छे से अच्छा इस्तेमाल कर सकें।"[1]

भारत के आम निर्वाचनो एव प्रचार सभाओ मे यदाकदा औद्योगिक नीति की चर्चा होती रहती है। अधिकाश राजनीतिक दल 'समाजवाद' और 'राष्ट्रीयकरण' के इर्द-गिर्द अपनी राजनीति को केन्द्रित करते रहते हे। भारत मे औद्योगिक समाज के प्रमुख राजनीतिक परिणाम इस प्रकार हे .

(1) **भारतीय समाज में नवीन वर्ग संरचना** (New Class Structure in Indian Society)—आधुनिक उत्पादन व्यवस्था वर्तमान औद्योगीकरण की प्रक्रिया का ही एक प्रमुख भाग हे। आधुनिक विशाल उद्योगो की स्थापना के लिए प्रचुर मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता होती हे। उद्योगों मे एक वार पूँजी लगा देने के वाद वह वढती ही चली जाती है। इस प्रकार धीरे-धीरे भारतीय समाज मे भी पूँजीपतियो, उद्योगपतियो तथा धनी वर्ग का एक नवीन समुदाय उसी भाँति उत्पन्न होने लगा जिस प्रकार यूरोपीय समाजो मे उदय हुआ था। भारतीय समाज की संरचना अव आर्थिक आधार पर निम्नाकित वर्गों मे विभाजित हो गयी . (i) उद्योगपति तथा उच्च धनी वर्ग, (ii) नवजात मध्यम वर्ग; और (iii) श्रमिक वर्ग। भारत मे जैसे-जैसे उद्योगो की स्थापना हुई, वैसे-वैसे उद्योगपतियों की सख्या भी निरन्तर वढती चली गयी। नये-नये उद्योगो की स्थापना ने भारत मे एक नवीन धनी वर्ग को जन्म दिया। उद्योग सम्वन्धी सभी क्रियाए इसी धनी वर्ग के नियन्त्रण मे रहती है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे धनी वर्ग की भूमिका अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण होती है। संख्या मे धनी वर्ग समाज मे कम होता है किन्तु शक्ति तथा प्रभाव की दृष्टि से यह वर्ग समाज के शेष वर्ग से कही अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली होता है। कहते है अमरीका मे तीन वर्ग शासन करते है—वड़े-वडे उद्योगपति, सेना के उच्च पदाधिकारी, तथा

---

[1] के. मेथ्यू कुरियन, **भारत में विदेशी निवेश**, 1979, पृ. 112।

नौकरशाही। भारत मे भी आज शक्ति बीस वडे औद्योगिक घरानो—टाटा, विरला, मार्टिन वर्न, वागड, थापर डालमिया, साहू जैन, वालचन्द, श्रीराम, सिन्धिया, गोयनका, मफतलाल आदि के हाथो मे मानी जाती है। इनका मुख्य ध्येय 'आर्थिक' है अत ये अपने न्यस्त-आर्थिक हितो की पूर्ति मे लगे रहते हैं। अपने न्यस्त हितो की पूर्ति के लिए ये राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करते है। अखवारो पर इनका आधिपत्य है अत: ये वडी चतुराई से लाखो श्रमिको और मतदाताओ के दृष्टिकोणो को वाछित ढग से परिवर्तित कराने की क्षमता रखते हैं। इनके पास प्रचुर आर्थिक स्रोत है और निर्वाचनों मे वाछित प्रत्याशियो को अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक सहायता देकर वे अपनी मनचाही सरकारो का गठन करवा सकते हैं। स्टेनले कोचनेक का मत है कि भारत मे 90 प्रतिशत चुनाव का खर्चा वडे व्यावसायिक घरानों द्वारा प्रदान किया जाता है।[1]

यदि भारतीय सामाजिक सरचना का अध्ययन किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ भी नवीन मध्यम वर्ग का निश्चित रूप से एक स्पष्ट स्वरूप उभरता हुआ दिखायी देता है। वडे-वड़े सरकारी अधिकारी, उद्योगो के मैनेजर, इन्जीनियर, प्रोफेसर आदि समूह इसी नवीन मध्यम वर्ग के ही विभिन्न अंग है, जो न तो उद्योगों के स्वामी हैं और न स्वय श्रमिक ही। इस वर्ग का विकास पूँजीपति एव श्रमिक वर्ग की तुलना में ज्यादा तेजी से हो रहा है।

प्रत्येक उद्योग प्रधान देश मे श्रमिक वर्ग की रचना होना स्वाभाविक है। ज्यो-ज्यो श्रमिको की सख्या वढी अनेक श्रमिक सगठन भी वढते चले गये। जव श्रमिक उद्योगो मे काम करते हैं तो उनकी सामाजिक, आर्थिक तथा तकनीकी समस्याएँ भी लगभग एकसी तथा राष्ट्रव्यापी वन जाती है। जब इनकी समस्याएँ समान होती है तो इनमे एक नवीन वर्ग चेतना (Class Consciousness) का उदय होता है। यही वर्ग चेतना समाज और राजनीति मे भिन्न-भिन्न हितों (Interests) को जन्म देती है। अत समाज का प्रत्येक वर्ग अपने-अपने सामूहिक हितों की रक्षा हेतु सगठन वना लेता है।

(2) **जाति संरचना का वर्ग संरचना के रूप मे परिवर्तन** (Caste Structure Changing into Class Structure)—भारतीय समाज की सरचना का प्रमुख आधार जाति व्यवस्था है। जातियाँ तो भारत मे अनेक हैं किन्तु जातियों को मुख्य रूप से तीन वर्गो मे विभाजित किया गया है—उच्च जातियाँ, मध्यम समूह की जातियाँ तथा निम्न व अछूत कहलाने वाली जातियाँ। जातियाँ प्रतिष्ठा का एक आधार मानी जाती रही हैं। प्रत्येक जाति के व्यवसाय भी निश्चित और परम्परागत रहे हैं। किन्तु औद्योगीकरण ने जातीय व्यवस्थाओ की परम्पराओ को तोड़ना प्रारम्भ कर दिया है। जातीय कट्टरता, जातीय वन्धन तथा जातीय रीति-रिवाज अव विघटित होते जा रहे हैं। औद्योगीकरण ने जाति व्यवस्था मे ब्राह्मण जाति का प्राचीन तथा परम्परागत प्रभाव कम कर दिया है। औद्योगीकरण से जहाँ ब्राह्मणवाद का विघटन हुआ वहाँ निम्न जातियो की सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षणिक परिस्थितियो मे विशेष सुधार हुआ है। अव उन्हे तिरस्कृत तथा अछूत नही माना जाता है।

(3) **औद्योगिक सम्बन्धों में तनाव** (Tensions in Industrial Relations)—औद्योगिक समाजो मे जैसे-जैसे श्रम सघ सवल एव प्रभावशाली होते हैं वैसे-वैसे ही वर्ग सघर्ष समाज मे वढता चला जाता है। औद्योगिक तनावों से राजनीतिक अशान्ति वनी रहती है। ऐसी स्थिति मे हड़ताल, तालावन्दी, जुलूस, नारेवाजी, पुलिस कार्यवाही, लाठी चार्ज आदि आम वात हो जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त, अशान्त तथा असुरक्षित हो जाता है।

(4) **श्रम संघो का विकास** (Rise of Trade Unions)—औद्योगीकरण से ही भारत में

---

1 Stanley Kochaneck, *Business and Politics in India* (1974), p. 232

श्रम संघों की स्थापना हुई है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया के बढने के साथ-साथ श्रमिक समस्याएँ भी बढती रही। अन्त मे स्वयं श्रमिको ने अपनी समस्याओ तथा असुरक्षा के लिए श्रम संघो की स्थापना की।

भारत में मजदूर संघों की राजनीति
(POLITICS OF TRADE UNIONS IN INDIA)

ऐतिहासिक सिंहावलोकन—भारत मे मजदूर आन्दोलन के प्रचलित इतिहास के अनुसार यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि इनकी शुरूआत 1884 मे बम्बई के मिल मजदूरों की बैठक से होती है जिसका आयोजन एन. एम. लोखंडे नामक एक स्थानीय सम्पादक ने किया था। लोखंडे ने मजदूरो की माँगो का एक ज्ञापन तैयार किया था जिसमे काम के घण्टों को सीमित करने, साप्ताहिक अवकाश देने, दोपहर में खाने की छुट्टी देने और घायल होने की अवस्था मे मुआवजे देने की माँगें शामिल थी। यह ज्ञापन इन मिल मजदूरो की तरफ से कारखानो के कमिश्नर को दिया जाना था। लोखंडे ने अपने को 'बम्बई मिल मजदूर एसोसिएशन का अध्यक्ष' कहा था। आमतौर से इस संगठन को भारत का पहला मजदूर संगठन कहा जाता है।[1]

1890 मे लोखंडे ने 'बाम्बे मिलहैंड्स एसोसिएशन' का गठन किया। 1897 मे रेलवे के आंग्ल-भारतीय कर्मचारियों ने भी अपना मजदूर संघ बनाया। 1905 मे कलकत्ता मे 'प्रिंटर्स यूनियन' बनी और 1907 मे 'पोस्टल यूनियन।'

1905-1909 के दौरान राष्ट्रीय आन्दोलन की जुझारू लहर के समानान्तर मजदूर आन्दोलन ने भी उल्लेखनीय प्रगति की। इन वर्षों के स्वरूप का पता इससे ही चल जाता है कि काम के घण्टे बढाने के विरोध मे बम्बई के मिल मजदूरो ने हड़ताल की, रेल कर्मचारियो ने खासतौर से ईस्टर्न बंगाल स्टेट रेलवे कर्मचारियों ने कई बार गम्भीर हड़तालें की। रेल के कारखानो मे हड़तालें हुईं और कलकत्ता के गवर्नमेण्ट प्रेस मे वहाँ के कर्मचारियो ने हड़ताल की। हड़तालो की यह लहर अपनी चरम सीमा पर उस समय पहुँच गयी जब 1908 मे तिलक को छ: वर्ष की सजा दिये जाने के विरोध मे बम्बई के मजदूरो ने छ: दिनों की सार्वजनिक राजनीतिक हड़ताल कर दी। 1910 मे बम्बई मे कुछ परोपकारियो ने मजदूरो के हित के लिए एक संस्था बनायी जिसका नाम 'कामगर हितवर्धक सभा' था।

1918 मे बी. पी. वाडिया ने 'मद्रास श्रमिक संघ' बनाया और उसके कुछ समय बाद ही अहमदाबाद मे कपडा मजदूरो ने 'टेक्सटाइल्स लेबर्स एसोसिएशन' बनाई जो महात्मा गाँधी के सिद्धान्तो पर आधारित थी। 1918 तक तत्कालीन भारत मे 108 मजदूर संघ बन गये।

सन् 1918 मे हड़तालो का जो सिलसिला शुरू हुआ वह 1919 और 1920 मे पूरी तेजी के साथ समूचे देश मे फैल गया। 1920 के शुरू के छ: महीनों मे 200 हड़तालें हुई जिनमे 15 लाख मजदूरो ने हिस्सा लिया। यही वह परिस्थितियाँ थी जिनमे भारत के ट्रेड यूनियन आन्दोलन का जन्म हुआ।

प्रथम केन्द्रीय संगठन—हालांकि देश भर के विभिन्न भागो में बीसवी सदी के पहले दो दशकों के दौरान अनेक छोटे-छोटे संगठन बन गये थे, लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर पहला मजदूर संगठन **'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस'** (All India Trade Union Congress) **'एटक'** 1920 मे ही स्थापित हो सका। इसके निर्माण का तात्कालिक कारण नये अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ मे प्रतिनिधित्व करना था। उस समय इसमे 1,40,000 सदस्य थे। सबसे दिलचस्प बात यह है कि इसकी स्थापना कम्युनिस्टो द्वारा नही कांग्रेसी नेताओ के प्रयास से हुई थी। स्वतन्त्रता

---

1 रजनी पामदत्त, **आज का भारत**, पृ. 390-410।

सग्राम के दौरान बने इस सगठन के पहले अध्यक्ष लाला लाजपतराय थे। इसके वाद चितरंजन-दास, मोतीलाल नेहरू, सुभापचन्द्र वोस और जवाहरलाल नेहरू भी एटक के अध्यक्ष रहे।

'एटक' पर कम्युनिस्ट प्रभाव 1921 से ही पडने लगा था जब रूस की रेड इण्टरनेशनल लेवर यूनियन ने इसके द्वितीय अधिवेशन पर शुभकामनाएँ भेजी थी और एटक ने एक प्रस्ताव पास कर भूख से मरते रूसी लोगों के प्रति सहानुभूति प्रकट की थी। फिर असहयोग आन्दोलन के समय कुछ भारतीय कम्युनिस्टो ने गाँधी जी के तौर-तरीको के प्रति सन्देह प्रकट किया था। अधिवेशन के अध्यक्ष चितरजनदास ने भारतीय मजदूरो को विदेशी तत्त्वो के वहकावे में आने के प्रति चेतावनी दी और तभी एटक के पुराने और नये नेतृत्व के वीच मतभेद शुरू हो गये थे। 1925 के 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेस' अध्यक्ष दत्तोपन्त ठेंगडी कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रति सहानुभूति रखते थे जबकि 1927 मे कम्युनिस्ट नेता एस. वी. घटे 'एटक' के सचिव चुने गये थे। 1928 मे कम्युनिस्टो ने 'एटक' की अध्यक्षता के लिए पं. जवाहरलाल नेहरू के खिलाफ एक कम्युनिस्ट रेलवे कर्मचारी को खडा किया, यद्यपि नेहरू जी चुनाव मे विजयी हुए। इसके वाद एटक के कलकत्ता अधिवेशन (1931) मे गाँधीजी की फिर आलोचना की गयी और तभी एटक दो भागो मे वँट गया। उग्र कम्युनिस्ट नेताओं (रणदिवे और देशपाण्डे) ने ऑल इण्डिया रेड ट्रेड यूनियन वना ली। परन्तु इसका वुरा नतीजा हुआ। श्रमिको मे फूट पड जाने से अकेले वम्वई मे 1933 मे 50,000 मजदूरो को निकाल दिया गया। अगले साल अनेक स्थानों पर मजदूरो के वेतन कम कर दिये गये और शायद इसी कारण विवश होकर 1935 मे ट्रेड यूनियन काग्रेस फिर से एटक मे मिल गयी। लेकिन एटक पर कम्युनिस्टो का प्रभाव लगातार वना रहा। 1942 के 'भारत छोडो आन्दोलन' के समर्थन मे श्रमिक सघो ने यह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। जगह-जगह हडतालें की गईं। अहमदावाद और जमशेदपुर हडताल के मुख्य केन्द्र रहे। एटक का 21वाँ अधिवेशन जनवरी 1945 मे मद्रास मे हुआ। श्रीपाद अमृत डागे की अनुपस्थिति मे फजल इलाही ने अधिवेशन की अध्यक्षता की। वी. वी. गिरि द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की माँग सम्वन्धी प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया तथा काग्रेस के नेताओं को कारागार से मुक्त करने के सम्वन्ध मे प्रस्ताव पारित किया गया।

अन्य श्रमिक संगठनों का निर्माण—द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक भारत मे दो अखिल भारतीय मजदूर सघ थे। 'एटक' तो 1920 से ही सक्रिय था किन्तु 'इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेवर' का गठन एम. एन. राय के समर्थकों ने 1941 मे किया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद 'एटक' मे पुन: फूट हुई। 1947 मे काग्रेस सरकार वनने पर सरकार द्वारा एक विधेयक लाया गया जिसमे श्रमिक मुद्दो को सुलझाने के लिए अनिवार्य अधि-निर्णय की व्यवस्था की गई। कम्युनिस्टो ने इसका विरोध किया। इस मुद्दे के अलावा कुछ सैद्धान्तिक मतभेदो के कारण 'एटक' के काग्रेसी नेता 'एटक' से वाहर निकल आये काग्रेस (इटक) नाम से अलग संघ वनाया।

1949 तक भारत मे चार अखिल भारतीय स्तर के मजदूर संघ वन गये थे। 1948 मे काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने 'हिन्द मजदूर सभा' नाम से मजदूर सघ वनाया। इसके प्रथम अध्यक्ष रूइकर वने। मृणाल कातिवोस, दिनकर देसाई, जय प्रकाश नारायण और आचार्य कृपलानी इसके अन्य शीर्पस्थ नेता थे। इसका उद्देश्य काग्रेस नियन्त्रित इटक और कम्युनिस्ट नियन्त्रित 'एटक' के अलावा तीसरी शक्ति वनाना था जो दोनो के वीच का रास्ता अपनाये। इसी वक्त 'एटक' मे फिर फूट पडी, परिणाम हुआ—'यूनाइटेड ट्रेड यूनियन काग्रेस' नामक मजदूर सघ का गठन। जार्ज फर्नाण्डीज ने भी 1958 मे हिन्द मजदूर सभा छोडकर अपना एक नया सघ वनाया—'हिन्द मजदूर पचायत।' भारतीय जनसघ ने 1967 मे 'भारतीय मजदूर सघ' नाम से अपना अलग सघ वनाया

जो आज भारतीय जनता पार्टी से जुड़ा है। 1970 में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने 'सेन्टर ऑफ इण्डियन ट्रेड यूनियन्स' (सीटू) का गठन किया। अकाली दल ने भी इसी समय 'पंजाब मजदूर दल' बनाया।

1984 मे भारत सरकार के श्रम मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित सूचना के अनुसार 1984 में विभिन्न मजदूर संघों की सदस्यता इस प्रकार थी .

ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेस	22·36 लाख
भारतीय मजदूर संघ	12·11 लाख
हिन्द मजदूर संघ	07·35 लाख
ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेस	3·44 लाख
सेन्टर ऑफ इण्डियन ट्रेड यूनियन्स	3·31 लाख
यूनाइटेड ट्रेड यूनियन काग्रेस	6·21 लाख
नेशनल लेबर आर्गेनाइजेशन	2·46 लाख
नेशनल फेडरेशन ऑफ इण्डियन यूनियन्स	84,000 हजार

एक अनुमान के अनुसार मजदूर संघो मे महिलाओ की सदस्यता मात्र 6 36 प्रतिशत है। इसी तरह कुल मजदूरो मे से केवल 40 प्रतिशत के आस-पास ही मजदूर संघो के सदस्य है।

श्रम संघर्ष—आजादी गे पहले तक एकमात्र केन्द्रीय श्रम संगठन एटक के नेतृत्व मे अनेक वार श्रम आन्दोलन हुए। परन्तु अधिकाश आन्दोलन आजादी की लड़ाई के साथ जुड़े रहे। हालाकि गाँधीजी ने एक वार 'यंग इण्डिया' मे श्रम आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर रखने का अनुरोध किया था क्योकि इससे हिंसा होने का खतरा बना रहता था। आजादी के फौरन वाद कम्युनिस्टो ने एटक के झण्डे के नीचे अनेक आन्दोलन किये लेकिन कोई भी विशेष प्रभाव नही डाल सका। हिन्द मजदूर सभा ने भी इस दौरान कई आन्दोलन किये। इस दृष्टि से 1950 मे वम्बई कपड़ा मजदूरो की हड़ताल उल्लेखनीय है। इस हड़ताल मे 12 लोगो के प्राणों की और 6 करोड़ कार्य दिवसो की हानि हुई थी। श्रमिकों की 2 करोड़ रु. लगभग मजदूरी का घाटा भी हुआ था।

इटक और हिन्दू मजदूर सभा मे एकता के लिए भी कई वार प्रयास किये किये। सन् 1953 मे इंटक और हि. म. स. के रेल संगठन कुछ समय के लिए एक भी हुए लेकिन फिर उनमे विघटन हो गया। उसके वाद अनेक वार की गयी कोशिशो के वावजूद दोनो संगठनो मे एकता स्थापित नही हो सकी।

वाद के वर्षों मे हुए मुख्य श्रम आन्दोलनो मे 1955 की कानपुर मे कपड़ा मजदूर हड़ताल, 1969 की केन्द्रीय कर्मचारी हडताल और 1974 की देशव्यापी रेलवे हड़ताल मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। कानपुर मे मूती मिल मजदूरो की हड़ताल का कारण कपड़ा मिजो की मजदूर विरोधी पुनर्संगठन नीति था। उल्लेखनीय है कि इस हडताल मे कानपुर के सभी श्रम सगठनो ने तीन महीने तक हड़ताल मे सक्रिय भाग लिया। 1960 मे केन्द्रीय कर्मचारियो की विशाल लेकिन लगभग असफल हड़ताल का मुख्य मुद्दा वेतन आयोग की रपट था। हडताल कुल 5 दिन चली और इसमे 17,780 केन्द्रीय कर्मचारी और 2,359 मजदूर नेता गिरफ्तार किये गये। इस हडताल की सवसे वड़ी विशेपता यह थी कि पहली वार केन्द्रीय कर्मचारियो ने इतने बड़े स्तर पर सगठित होकर हडताल का आह्वान किया था। इसकी असफलता का मुख्य कारण हडताली कर्मचारियो द्वारा जनता का समर्थन प्राप्त न कर पाना था।

1974 की रेल हडताल भारतीय श्रम आन्दोलन के इतिहास की एक वड़ी घटना कही जा सकती है। वैसे तो रेल कर्मचारियो द्वारा पहले भी 1948, 1951 और 1972 मे कई वार

छोटी-छोटी हडताल की गयी थी। लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर 17 लाख रेल मजदूरों द्वारा एक झण्डे के नीचे सगठित हो इतनी बडी हड़ताल पहली बार की गयी थी। इस हड़ताल का सगठन और सचालन जार्ज फर्नान्डीस द्वारा किया गया था। मजदूर सगठनो द्वारा 'नेशलन कार्डिनेशन कमेटी फार रेल्वे मैन्स स्ट्रगल' की स्थापना की गयी थी। जार्ज इस सघर्ष समिति के सयोजक थे। हडताल 8 मई, 1974 को शुरू होकर 20 दिन तक चली। हड़ताल को कम्युनिस्ट पार्टी सहित सभी विरोधी दलो का समर्थन प्राप्त था। रेल हडताल का मुख्य मुद्दा रेल कर्मचारियों द्वारा बोनस की माँग थी। सरकार के दमनकारी अभियान के फलस्वरूप हड़ताल वापस लेनी पडी।

भारतीय मजदूर आन्दोलन : मधुलिमये की टिप्पणी

(INDIA'S TRADE UNION MOVEMENT MADHU LIMAY'S COMMENT)

प्रसिद्ध समाजवादी नेता मधुलिमये ने भारत के मजदूर आन्दोलन की प्रकृति पर टिप्पणी करते हुए 'रविवार'[1] मे जो विचार प्रकट किये हैं, उनका उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। उनके विचारो का सार है—'मजदूर आन्दोलनों को माफिया तन्त्र से कैसे बचाया जाये ?'

वे लिखते हैं—आजादी के बाद दो किस्म के परिवर्तन ट्रेड यूनियन आन्दोलन मे आये—एक मजदूरो की आर्थिक स्थिति मे सुधार हुआ और विभिन्न उद्योगो मे प्रभावशाली ट्रेन यूनियन सगठनो के निर्माण मे उल्लेखनीय प्रगति हुई, उनकी सदस्य सख्या मे वृद्धि हुई। दूसरा 1956 के पश्चात् बिल्कुल नयी किस्म के आधुनिक उद्योग स्थापित होने लगे। उनमे काम करने वाले मजदूरो और पुराने उद्योगो मे काम करने वाले औद्योगिक मजदूरो की मनोवृत्ति मे जमीन-आसमान का फर्क था। नये उद्योगो (जिनमे कई सार्वजनिक क्षेत्र के बड़े प्रकल्प थे) मे काम करने वाले श्रमिक शिक्षित और कुशल थे। इनकी मनोवृत्ति भी कुछ मध्यमवर्गीय थी। ये अपने को मजदूर कहने मे भी हीनता महसूस करते थे। इसलिए मजदूर आन्दोलन मे कर्मचारी शब्द प्रचलित होने लगा। इसी बीच व्यापारिक प्रतिष्ठान बैंक, बीमा कम्पनियां आदि के विस्तार के बाद और विशेषकर उनके राष्ट्रीयकरण के बाद, मध्यमवर्गीय कर्मचारियो का ट्रेड यूनियन मे प्रभाव बढने लगा।

स्वतन्त्र भारत मे कुशल तथा अर्द्ध-कुशल औद्योगिक मजदूरो की तुलना मे केन्द्र और राज्य के कर्मचारियों की सख्या मे तेजी से इजाफा हुआ। पहले से ही हिन्दुस्तान मे नौकरशाही के विस्तार की रफ्तार इतनी तीव्र हुई कि आज कर्मचारियो के वेतन, भत्ते तथा सुविधाओ पर कुछ राज्य सरकारो को करों से आय होती है, उसका अधिकाश हिस्सा खर्च हो रहा है। आर्थिक औद्योगिक विकास के लिए, पूँजीकरण के लिए, सिंचाई, बिजली, शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, सड़को का निर्माण आदि कार्यों के लिए पर्याप्त राशि उपलब्ध नहीं हो रही है। प्रखण्ड विकास योजनाओ का 70 प्रतिशत से अधिक कर्मचारी तथा पदाधिकारियो पर खर्च हो रहा है। दूसरी ओर चूंकि सरकारी क्षेत्र मे कई बड़े आधुनिक उद्योगो का निर्माण किया जा रहा है, इसमे भी अत्यधिक पूंजी लगना अनिवार्य है। इनमे निर्माण कार्य के प्रारम्भ और प्रत्यक्ष उत्पादन शुरू होने मे एक लम्बी अवधि बीत जाती है, इसलिए, समाज की बचत का एक बड़ा हिस्सा इनमे देर तक फँसा रहता है। परन्तु इनमे रोजगारो का निर्माण तुलनात्मक दृष्टि से सीमित मात्रा मे ही हुआ। नतीजा यह हुआ कि पूरे देश मे बेकार नौजवानो की संख्या बढने लगी चूंकि उद्योग-धन्धों मे उन्हे काम मिलना असम्भव था, नौकरशाही के अत्यधिक विस्तार के जरिये ही इनमे से कुछ लोगो को राहत मिली।

---

[1] **रविवार** (साप्ताहिक), 11 अप्रैल, 1982, पृ. 10-11।

विभिन्न औद्योगिक प्रतिष्ठानो मे (छोटे से लेकर बड़े तक) परिस्थितियाँ अलग-अलग है। इनकी वेतन आदि की क्षमता एक जैसी नही है। सगठित उद्योगो मे, जहाँ शक्तिशाली ट्रेड यूनियन सक्रिय है, वहाँ उन्होने अपने मजदूरो की स्थिति को काफी सुदृढ़ बना दिया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियो ने उच्च वेतन के द्वीप तैयार किये है। बैंक आदि ने उनका अनुसरण किया है। मगर छोटे उद्योगो पर बहुत विपरीत असर हुआ है। बड़े प्रबन्धो के वेतन-भत्ते के मापदण्ड छोटे धन्धो मे लागू करने का प्रयत्न विचित्र स्थिति पैदा कर रहा है। कई उद्योग बन्द हो रहे हैं, कई घाटे मे चल रहे हैं। इससे औद्योगीकरण, पूँजीकरण और आर्थिक विकास मे दुर्लंघनीय बाधाएँ उत्पन्न हो रही हैं।

संगठित उद्योगो मे बडे पैमाने पर मुनाफाखोरी हो रही है। दाम अनाप-शनाप बढाये जा रहे हैं। जहाँ दाम नियन्त्रण मे है, वहाँ कालाबाजारी है। मालिकों और व्यवस्थापकों द्वारा फिजूलखर्ची चल रही है। इन पर होने वाला सारा खर्च कम्पनियों के खाते मे दिखाया जा रहा है और इस लूट को देखकर मजदूरो मे भी अधिक वेतन, अधिक बोनस, अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने की भूख जागी है। अधिकाश मालिक मजदूर संगठनो को पसन्द नही करते हैं, उनके नेतृत्व के साथ बातचीत और सामुदायिक सौदा करना नही चाहते है। उन्हे भ्रष्ट ट्रेड यूनियन नेता कबूल हैं। पुलिस और श्रम विभाग के अधिकारियो को रिश्वत देकर वे मजदूरो का शोषण करना चाहते हैं, अपना काम चलाना चाहते हैं। इन सबके चलते मजदूरों मे यह भावना पैदा हो रही है कि नित्यक्रमवादी मजदूर नेता इनका मुकाबला नही कर पायेंगे। उम्र के कारण भी वे थक गये है, उत्साहहीन हो गये है। उनकी कार्यप्रणाली भी पुरानी पड गयी है। नयी परिस्थिति मे वे कारगर नही हो पाती। पिटे-पिटाये रास्ते पर अब मजदूरो को विश्वास नही रह गया। कोर्टबाजी और ढर्रेवादिता से वे ऊब गये है। परम्परागत ट्रेड यूनियन संगठनो से कुछ भी होने वाला नही है। ऐसी मनोदशा मे मजदूर आन्दोलन मे एक नये किस्म के नेतृत्व की कोई विचारधारा नही है। वह किसी राजनीतिक सगठन से जुडा नही है। समाज के प्रति वह अपना कोई दायित्व नही मानता है। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और मजदूरो के हित मे कोई फर्क है, ऐसा भी वह नही समझता है। अपने ट्रेड यूनियन प्रतिस्पर्द्धियो तथा व्यवस्थापको को डराना, धमकाना और इसके लिए माफिया तन्त्र का इस्तेमाल करना वह अपनी सबसे बडी सफलता समझता है। मजदूर इसलिए उनके पीछे जा रहे हैं, क्योकि उन्हे लगता है कि इस नेतृत्व से उन्हे निश्चित तात्कालिक लाभ मिलेगा, उसकी माँगों की पूर्ति होगी।

जब सारे देश मे स्वार्थ की भट्टी जल रही है, जब राजनीतिज्ञ और बडी नौकरशाही खुलकर पैसा बटोरने मे लगी हुई है, जब इनका पूँजीपतियो, तस्करो तथा अन्य समाजद्रोहियो के साथ गठबन्धन हो रहा है तो भला मजदूर संकुचित स्वार्थवादिता से कैसे अछूते रह सकते हैं? मजदूर वर्ग की इस विशिष्ट मनोदशा मे ही दत्ता सामत जैसे ट्रेड यूनियन नेता मजदूर आन्दोलन के क्षितिज पर चमकने वाले तारे की भाँति उदित हो गये है। धनबाद-झरिया मे माफिया पहले ही छाया हुआ है।

क्या ऐटक, क्या हिन्द मजदूर सभा, इनका नेतृत्व अब शिथिल हो गया है। 25-30 साल पहले उनमे जो संघर्षशीलता थी, वह लुप्त हो गयी है। रेलवे मे जो आल इण्डिया रेलवे मेन्स फेडरेशन है उनका नेतृत्व सरकार और रेलवे बोर्ड से मेलकर अपना निर्वाह कर रहा है, अपना जीवन काट रहा है। उनमे संघर्षशील नेतृत्व की अपेक्षा करना बेकार है।

ट्रेड यूनियन आन्दोलन [illegible] तृत्व राष्ट्रीय प्रश्नो पर राष्ट्रीय दृष्टि से सोचकर, असंगठित विभागो और श्रमिकों [illegible] कर सकता है, न ही प्रेरित कर सकता है।

सार्वजनिक उद्योगो मे ट्रेड यूनियन सगटन अपनी वेतन श्रेणियो को तो सुधार रहा है। लेकिन इन कारखानो के उत्पादन कार्य का एक वडा हिस्सा ठेकेदारो की मार्फत पैदा किया जाता है और इन ठेकेदारो के तहत या इन उद्योगो के आस-पास जो उप-उद्योग कायम हुए है, उनमे काम करने वाले मजदूरो की स्थिति सोचनीय है। एक माने मे सार्वजनिक क्षेत्रो के वडे कारखानो की उच्च वेतन श्रेणियाँ ठेकेदारो के और उनके उप-उद्योगो के मजदूरो के शोषण पर आधारित है।

सन् 1957 से 1974 के बीच डॉक्टर लोहिया के अनुयायियो ने, विशेपकर जार्ज फर्नान-डीज ने, ट्रेड यूनियन आन्दोलन को एक नयी दिशा प्रदान करने का सफलतापूर्वक प्रयास किया। दुर्भाग्य से एक अवधि के वाद वह विफल हो गया। कुछ असर वढती हुई अवस्था का और कार्य क्षेत्र मे हुए परिवर्तन का था। कुल मिलाकर नतीजा यह हुआ कि नवीनीकरण की यह आशावादी धारा अवरुद्ध हुई। इससे जो खालीपन उत्पन्न हुआ, उसको भरने का काम साहसिक व्यक्तिवादी या माफिया किस्म के ट्रेड यूनियन नेताओ ने किया है। सही ट्रेड यूनियन नेतृत्व के अभाव मे ही मजदूर माफिया के हाथो खिलौना वन रहे हैं, अपनी स्थिति को सुधारने के लिए स्वार्थी तथा व्यक्तिगत नेताओ के पीछे दौड रहे है। यह स्थिति नि सदेह चिन्ताजनक है।

भारत में मजदूर संगठनों का राजनीतिक स्वरूप
(POLITICAL CHARTER OF THE TRADE UNIONS)

भारतीय श्रम आन्दोलन के पिछले इतिहास पर यदि हम नजर डाले तो कई दिलचस्प बातें सामने आती हैं। **पहली बात** तो यह है कि श्रम आन्दोलन मूलत केवल सगठित औद्योगिक क्षेत्र तक ही सीमित है जबकि भारत की अधिकाश श्रम शक्ति अभी भी कृषि क्षेत्र मे है। देश की वर्तमान 20 करोड की श्रमशक्ति मे से केवल 2 करोड मजदूर शहरी अथवा सगठित क्षेत्र मे कार्यरत है। इस 2 करोड की संख्या मे से भी 130 लाख मजदूर सरकारी या अर्द्ध-सरकारी संगठनो मे काम करते हैं। जाहिर है निजी कारखानो या अन्य सगठनो मे कार्यरत मजदूरो का प्रतिशत काफी कम है। **दूसरी बात**, देश के श्रम आन्दोलन के उदयकाल से कपडा मजदूरों का ही आन्दोलन मे ज्यादा योगदान रहा है। स्वतन्त्रता संघर्ष के दौरान हुए श्रम आन्दोलनो मे सूती कपडा मजदूरो का विशेष योगदान रहा। **तीसरी बात**, श्रम सगठनो के राजनैतिक आधारो से सम्वन्धित है। आज भी कोई ऐसा केन्द्रीय श्रम सगठन नहीं है जो किसी राजनीतिक दल के आश्रय से मुक्त हो। सन् 1920-30 से ही यूनियनें राजनीतिक दलो के साथ सम्बद्ध होने लगी। 1920 मे यूनियनो के फेडरेशन के रूप मे 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेस' वन गयी थी और उस समय वह काग्रेस के प्रभाव मे थी। सी. पी. आई. ने, जो छोटी पार्टी थी, किन्तु जो सक्रिय थी, यूनियनो मे वडी मेहनत के साथ काम किया और 1929 तक उन्होने ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेस को काग्रेस दल के हाथो से छीन लिया। रावर्ट हार्डग्रेव ने लिखा है—"राष्ट्रीय आन्दोलन के समय श्रमिक संघ राजनीतिक जनजागरण के साधन थे और उनकी गतिविधियों पर दलीय प्राथमिकता छायी हुई थी। स्वाधीनता के वाद श्रम आन्दोलन खण्डित हो गया और श्रम सघो ने राजनीतिक दलो के साथ नाता जोड लिया।"[1] भारत मे श्रम संघो का नेतृत्व भी राजनीतिज्ञो के हाथो मे है। इसका एक वडा कारण मजदूरो की कमजोर आर्थिक और शैक्षिक पृष्ठभूमि के कारण उनको विवश होकर राजनीतिक प्रश्रय सगठनो की शरण मे जाना पडता हे। **चौथी बात**, मजदूर सघो के वारे मे एक महत्त्वपूर्ण विकास यह हुआ है कि अव मानसिक श्रम करने वाले तथा उच्च पदो पर कार्यरत—डाक्टर, इजीनियर, प्राध्यापक, अधिकारी आदि ने भी मजदूर संघीय नीति अपनाई है। इससे 'मजदूर सघ' के नाम मे थोडी इज्जत वढी है।

---

1 Robert L Hardgrave, *India—Government and Politics in a Developing Nation*, p 125

निष्कर्ष—भारत मे मजदूर संघो के आविर्भाव और विकास का आलोचनात्मक विश्लेषण करने से इनकी अनेक खामियाँ प्रकाश मे आती है।

सबसे बडी कमजोरी यह है कि भारतीय श्रमिको का आधे से ज्यादा भाग अभी भी ' ह्र संघो का सदस्य नही है। साथ ही मजदूर संघो का नेतृत्व अक्सर बाहरी राजनैतिक लोगों हाथ में है। बाहरी राजनैतिक लोग अपने दलो के निहित स्वार्थों की खातिर मजदूर संघो का उ प्रयोग करते है। यह सच है कि मजदूर संघ आन्दोलन के आरम्भिक दिनों में राजनैतिक ने काफी मदद की थी किन्तु अब परिस्थितियाँ बदल गई है। उन दिनो अधिकाश मजदूर थे और आर्थिक रूप से कमजोर। आप अधिकाश कर्मचारी शिक्षित है और आर्थिक से अपेक्षाकृत सुदृढ। अत: मजदूरो के बीच से ही मजदूर नेताओ को प्रोत्साहित किया जाना ए।

मजदूर संघों की बहुलता भी इनकी एकता के लिए बाधक है। इससे आपसी प्रतिद्वन्द्विता है जो मजदूरो की शक्ति को क्षीण करती है। श्रम कानून के मुताबिक भारत मे किसी भी न के सात व्यक्ति अपना मजदूर संघ बना सकते हैं।

इस तरह एक ही प्रतिष्ठान मे अनेक मजदूर संघ कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ भारी राँची मे ही 29 मजदूर सघ हैं। असामाजिक तत्त्व कानून की खामियो का फायदा उठाते न अलग श्रमिक सघ बनाकर मजदूरो को असम्भव माँग करने के लिए भड़काते है जिसका होता है हडताल, जो उत्पादकता को प्रभावित करने के साथ-साथ मजदूरो के हितो को पहुँचाती है क्योकि असम्भव माँगें पूरी नही होती और मजदूरो को वापस काम पर है।

के वर्षो में मजदूर सघों मे यह प्रवृत्ति बढ रही है कि वे मजदूरो को नाजायज माँगो हैं। मजदूर संघो को चाहिए कि वे जायज माँगों के लिए ही संघर्ष का रास्ता होगा कि आपसी बातचीत के माध्यम से मामलो को सुलझाया जाये।

भारत में बहुराष्ट्रीय निगमों की राजनीति
(POLITICS OF MULTI-NATIONALS IN INDIA)

निगमों से अभिप्राय (Meaning of Multi-Nationals)—बहुराष्ट्रीय निगम साम्राज्यवादी देशों की नयी एवं उच्चतम किस्म की विशालकाय इजारे- अकूत संसाधनों को नियन्त्रित करती हैं और अधिकतम मुनाफा उपार्जित करने के , सस्ते कच्चे माल और अनुकूल बाजार की खोज मे अपने देश के बाहर अपने फैलाती है तथा पूंजी निवेश करती है। इन्हे अपने देश की साम्राज्यवादी सरकार , नि तथा सैनिक समर्थन प्राप्त रहता है। ये निगम साम्राज्यवाद की उपनिवेश- आर्थिक औजार है।[1]

निगमो के क्रियाकलाप निम्नलिखित दो उद्देश्यो की ओर उन्मुख हैं : **प्रथम,** की अर्थ-व्यवस्था के लिए कच्चा तेल, लौह अयस्क, ताँबा, टीन, रबर,

की रिपोर्ट के आधार पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियो की मुख्य बातें मोटे तौर पर ये प्रभावी और विशाल फर्में होती है; (2) यह आरमचरण नव तकनीक सुलभ, तीक्ष्ण दुकानदारी वाला विक्रेता होती है: (3) विशाल विदेशी शाखा और विकासशील देशों मे उद्गम, (5) विदेशी निवेश का केन्द्रीयकरण; (6) कार्य- नता। से आकार ग्रहण करने मे सक्षम; (7) विकसित आर्थिक बाजार मे विपुल ो होती हैं। निस्सारक उद्योगों (Extractive industries) से आरम्भ होकर स्तु के निर्माण मे लगातार सेवा उद्योग (बैंकिंग) तक पहुँच जाते हैं। (नयी दिल्ली), फरवरी 1981, पृ. 31।

चाय, कॉफी जैसे कच्चे माल तथा प्राकृतिक साधनों की आपूर्ति की गारण्टी करना और **द्वितीय**, उन देशो मे पूंजी निवेश से कारखाने खड़े करना जहाँ सस्ता श्रम और कच्चा माल उपलब्ध हो।

अपने मुनाफे की रक्षा और वृद्धि के लिए ये कम्पनियाँ मात्र आर्थिक क्रियाकलाप ही नही करती है, बल्कि विभिन्न देशों के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप करती है, सरकारो पर दबाव डालती है, मन्त्री तथा अधिकारियो को खरीदती हैं, अस्थिरता पैदा करती हैं, हत्याएँ करती है और आन्तरिक प्रतिक्रियावादी शक्तियो से मिलकर प्रगतिशील सरकारों के खिलाफ प्रतिक्रान्ति तक संगठित करती है। संक्षेप मे मुनाफे के लिए ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सभी अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों और मानवीय मान्यताओ को कुचलकर हर सम्भव अपराध करती है। एक पत्रकार ने लिखा है—"बहुराष्ट्रीय निगमो की राजनैतिक कार्यवाहियो अथवा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप के मूल मे इनके आर्थिक स्वार्थ ही होते हैं। इनका केवल एक ही उद्देश्य होता है—ज्यादा से ज्यादा अपना धन्धा बढाना और पैसा कमाना। इस उद्देश्य के लिए ये निगम किसी भी सीमा तक जा सकते हैं, कितना ही नीचे गिर सकते है। हालांकि इनके धन्धे बदलते रहते हैं। पहले ये विकासशील देशों मे मूलतः कच्चे माल और खनिज, तेल और खाद्य सामग्री का व्यापार करते थे, उन्हे सस्ते दामों मे विकासशील देशो से खरीदकर विकसित देशो मे बेचते थे। बाद मे इन्होंने देशों मे उद्योग भी लगाने शुरू कर दिये—विकासशील देशो की औद्योगिक प्रगति का वास्ता देकर—जबकि वास्तव मे इन्होंने उसकी अवनति ही की। ध्यान देने की बात है कि ये निगम कभी अपने उत्पादन का नुस्खा या भेद विकासशील देशो को नहीं बताते। भेद न खुले इसलिए अधिकांशत वस्तु का उत्पादन पूरी तरह उस देश मे नही करते। कोई पुर्जा सम्बन्धित देश मे बनाते हैं तो कोई स्वदेश से आयात करते हैं। उल्टे नमूने की फीस के रूप मे एक बडी रकम बराबर स्वदेश भेजते हैं।"[1]

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की आर्थिक शक्ति (Economic Power of The Multi-Nationals)—गैर-समाजवादी दुनिया की कम्पनियो की कुल संख्या का केवल 50 प्र. श. बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ है। सन् 1971 मे इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियो ने 50,000 करोड डालर के मूल्य का नया धन पैदा किया था जो विश्व के समग्र राष्ट्रीय उत्पादन (समाजवादी देशों को छोडकर) का 5वाँ भाग था। गैर-समाजवादी जगत के औसत विकास दर से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की विकास दर दुगनी है, इसलिए अनुमान लगाया गया है कि 2000 ई. तक बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विश्व के कुल उत्पादन (समाजवादी देशो को छोडकर) के 60 प्र. श. पर नियन्त्रण कायम कर लेंगी।

सन् 1971 मे विश्व की सबसे बडी 10 कम्पनियों, जिनमे प्रत्येक की सालाना बिक्री 300 करोड डालर से अधिक थी, की कुल बिक्री 80 देशो के कुल राष्ट्रीय उत्पादन से भी अधिक थी। अमरीका की तीन बहुराष्ट्रीय कम्पनियो—जनरल मोटर्स, स्टैण्डर्ड आयल और फोर्ड की सालाना बिक्री भारत के कुल राष्ट्रीय उत्पादन के बराबर है। सन् 1970 में जहाँ भारत की कुल राष्ट्रीय आय 4,897 करोड डालर थी, वहाँ जनरल मोटर्स, स्टैण्डर्ड आयल और फोर्ड की बिक्री क्रमश 1,875 करोड डालर, 1,055 करोड डालर तथा 1,498 करोड़ डालर थी।

अमरीका की 10, ब्रिटेन की 5 और स्विट्जरलैण्ड की 3 बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ पूंजीवादी जगत के कुल उत्पादन का क्रमश. 40 प्रतिशत, 30 प्रतिशत और 40 प्रतिशत पैदा करती है। दूसरे शब्दो मे विश्व की 18 बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ पूंजीवादी जगत के कुल दवा उत्पादन का 84 प्रतिशत पैदा करती हैं। युद्ध सामग्रियाँ पैदा करने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सालाना 2,000

---

[1] नरेश कौशिक, "सरकारें गिराने वाली कम्पनियाँ", **दिनमान**, 10-16 अगस्त, 1980, पृ 27-28।

करोड़ डालर से भी अधिक के हथियारो की विक्री करती है। यह रकम भारत की कुल राष्ट्रीय आय की लगभग आधी है। अमरीका की 500 वडी कम्पनियाँ है जो अमरीका के कुल उत्पादन के 60 प्रतिशत पर नियन्त्रण करती है और अनुमान लगाया गया है कि 1995 तक 90 प्रतिशत को नियन्त्रित करेगी। इसी तरह अन्य साम्राज्यवादी देशों के ससाधनो के वडे भाग पर मुट्ठी भर कम्पनियाँ नियन्त्रण करती हैं। अमरीकी वहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सर्वाधिक शक्तिशाली है और वहुराष्ट्रीय कम्पनियो के कुल ससाधनो के 2/3 भाग पर इनका नियन्त्रण है।

साम्राज्यवादी देशों मे वहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और सरकारे पूरी तरह एक-दूसरे से जुडी हुई है। उच्च सरकारी पदो पर वहुराष्ट्रीय कम्पनियो के प्रतिनिधि भरे पडे हैं। अमरीकी अर्थ-शास्त्री आर. वर्नेट ने गणना की है कि 1940 से 1967 की अवधि मे अमरीकी प्रशासन के 91 अति महत्त्वपूर्ण पदो मे से 70 पर वडे वित्तीय घरानो के प्रतिनिधि थे। विदेश मन्त्री, उपविदेश मन्त्री, प्रतिरक्षा मन्त्री तथा उनके सहायक, जल सेना सचिव, वायु सेना के सचिव, आणविक ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष और सी आई. ए के निदेशक पदो पर वहुराष्ट्रीय कम्पनियो के प्रतिनिधि वैठे थे। अमरीका का प्रथम प्रतिरक्षा मन्त्री जेम्स वी. फोरेस्टल विशाल डिलन रीड वैक का निदेशक था। एन. एच माकेलरी प्रतिरक्षा मन्त्री वनने के पहले दुनिया की सबसे वडी सावुन इजारेदारी प्रोक्टर एण्ड गामले का प्रधान था। प्रतिरक्षा मन्त्री वनने के पूर्व मैकनामारा फोर्ड मोटर्स का अध्यक्ष था।

सन् 1970 मे एस. लैन्स ने अपनी पुस्तक "सैनिक औद्योगिक कम्पलेक्स" मे बताया है कि अमरीकी प्रतिनिधि सभा के वहुतेरे सदस्य सैनिक औद्योगिक कम्पलेक्स मे हिस्सेदार है। 19वी अमरीकी काग्रेस के 30 सिनेटर एव प्रतिनिधि सभा के 100 सदस्य सैनिक औद्योगिक कम्पलेक्स के सुरक्षित या अवकाश प्राप्त अधिकारी थे। 93वी काग्रेस के 535 कुल सदस्यो मे से 390 वहुराष्ट्रीय कम्पनियो के भूतपूर्व अधिकारी थे।

वहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अमरीका मे अपने मनोनुकूल राष्ट्रपति वनाने के लिए धन वहाती हैं। इसका प्रमाण वाटरगेट काण्ड के इस रहस्योद्घाटन से मिलता है कि निक्सन के चुनाव प्रचार मे वहुराष्ट्रीय कम्पनियो ने 7 करोड खर्च किये थे। सैनिक औद्योगिक घटना मे वे पुन अमरीकी राष्ट्रपति के पद पर निक्सन को वैठाना चाहते थे, जिसकी युद्धवादी नीति से इन्होने अरवो डालर उपार्जित किये थे। लगभग अव यह तथ्य स्पष्ट है कि राष्ट्रपति केनेडी की हत्या सी. आई. ए के द्वारा इन कम्पनियो ने करवायी थी, जो केनेडी की कतिपय नीतियो को नापसन्द करती थी।

वहुराष्ट्रीय कम्पनियों के तौर-तरीके (Instruments of Multi-Nationals)—अपने न्यस्त स्वार्थों की पूर्ति के लिए वहुराष्ट्रीय कम्पनियो के तौर-तरीकों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित उदाहरणो से हो जाता है—(i) मध्यपूर्व के तेल भण्डार के अधिकाश भाग पर वहुराष्ट्रीय कम्पनियो का कब्जा है। इस क्षेत्र मे साम्राज्यवाद, विशेपकर अमरीकी साम्राज्यवाद कठपुतली इजराइल के माध्यम से उन अरव देशो पर अकारण हमला करवाता रहा है जो राष्ट्रीय प्राकृतिक ससाधनो पर अपना नियन्त्रण कायम करना चाहते हैं। (ii) अगोला के सोने, लोहे तथा तेल के भण्डारो पर वहुराष्ट्रीय कम्पनियो का कब्जा था। एम. पी. एल. ए के नेतृत्व मे अगोला की आजादी का अर्थ लोहे, सोने तथा तेल भण्डारों का वहुराष्ट्रीय कम्पनियो के हाथ से निकल जाना है। इसकी रक्षा के लिए अमरीका तथा दक्षिण अफ्रीका ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को ठुकराकर सन् 1975 मे अंगोला की वैध सरकार पर हमला कर दिया। (iii) 1975 मे अमरीकी वहुराष्ट्रीय इलैक्ट्रॉनिक कम्पनी ने मेक्सिको की सरकार पर दवाव डाला कि वह अपने श्रम कानून को, जो मजदूरों को थोडा सरक्षण देता है, वदल डाले। मेक्सिको की सरकार ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया तो कम्पनी ने अपना कारखाना वन्द कर उसे कोस्टारिका मे स्थानान्तरित कर दिया।

परिणामस्वरूप 12,000 मजदूर बेरोजगार हो गये। (iv) चिली मे अलेन्दे की सरकार ने अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियो के राष्ट्रीयकरण के कदम उठाये, तो जवाब मे अमरीकी कम्पनियो ने अलेन्दे की हत्या करवा दी तथा सरकार को उलटवा दिया। (v) लेटिन अमरीका के केला निर्यात पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियो का कब्जा है। केला निर्यातक देशो को केले के प्रति डालर आय पर मात्र 11·5 सेण्ट प्राप्त होता था। केले की आय मे कुछ अधिक हासिल करने के लिए केले के 5 निर्यातक देशो ने अपना सगठन बनाकर केले पर निर्यात कर लगाया। जवाब मे एक कम्पनी ने कर देने के बजाय 1,45,000 केले की पेटियो को नष्ट कर दिया और दूसरी कम्पनी ने अधिकारियो को 15 लाख डालर का घूस देकर 70 लाख बचा लिया। (vi) अपने उत्पादन के लिए अधिक से अधिक आर्डर प्राप्त करने हेतु और विभिन्न देशो की आन्तरिक राजनीति को अपने अनुकूल बनाने के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विभिन्न देशों के मन्त्रियो तथा अधिकारियो को रिश्वत देती हैं। लाकहीड, नार्थरोप, गुड्यर, फैजर आदि बहुराष्ट्रीय कम्पनियो द्वारा विभिन्न देशो मे रिश्वत देने के समाचार हाल ही मे प्रकाश मे आये है। इस प्रकार रिश्वत देकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सालाना 1,500 करोड़ डालर का मुनाफा कमाती हैं।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और भारत (India and the Multi-Nationals)—आजादी के पूर्व भारतीय अर्थतन्त्र पर विदेशी पूँजी, विशेषकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का लगभग एकाधिपत्य था। तेल, दवा, चाय, जूट आदि उद्योगो, व्यापार, यातायात, बैंकिंग, बीमा आदि सेवाओं पर उनका पूर्ण नियन्त्रण था। आजादी प्राप्ति के बाद समाजवादी देशो, विशेषकर सोवियत सघ के सहयोग से इस्पात, इन्जीनियरिंग, विद्युत, तेल आदि बुनियादी उद्योगो मे सशक्त सार्वजनिक क्षेत्र का विकास हुआ है। साथ ही साथ राष्ट्रीय निजी पूँजी का भी काफी विकास हुआ है। परन्तु साम्राज्यवाद के प्रति समझौतापरस्त नीति और साम्राज्यवादी मदद से आर्थिक विकास करने की भ्रमपूर्ण समझदारी के कारण बहुराष्ट्रीय कम्पनियो को अपने क्रियाकलापों को जारी रखने तथा फैलाने की उदारतापूर्वक छूट दी गयी। फलत. राष्ट्रीय पूँजी के समानान्तर इन कम्पनियो की पूँजी मे भी अबाध गति से वृद्धि हो रही है।

मार्च 1948 मे भारत मे कुल विदेशी पूँजी 256 करोड़ रुपये के बराबर थी। परन्तु 1970 मे केवल बहुराष्ट्रीय कम्पनियो की पूँजी बढ़कर 1,285·09 करोड के बराबर और 1972-73 मे 2,821 8 करोड रुपये के बराबर हो गयी। याने 25 वर्ष की अवधि मे बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की पूँजी मे 10 गुना मे भी अधिक की वृद्धि हुई है। मई 1976 मे ससद मे दी गयी सूचना के अनुसार बहुराष्ट्रीय कम्पनियो की 538 शाखाएँ (वैसी कम्पनियाँ जिनका मुख्यालय भारत के बाहर साम्राज्यवादी देशो में है) और 202 सहयोगी इकाइयाँ (वैसी भारतीय कम्पनियाँ जिसकी पेडअप पूँजी के 50 प्रतिशत से अधिक भाग किसी न किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियो द्वारा नियन्त्रित है) भारत मे कार्यरत हैं। समग्र निवेश के आधार पर इण्डियन अल्यूमीनियम और बिक्री के आधार पर हिन्दुस्तान लीवर भारत मे कार्यरत सर्वाधिक बडी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हैं। इनके अतिरिक्त डनलप इण्डिया, यूनियन कार्बाइड, फिलिप्स इण्डिया, बाटा इण्डिया, वर्मा शैल, साइमेन्स इण्डिया, अशोक ले लैण्ड, ब्रुक ब्राड, गुडइयर, फाइजर आदि भारत मे कार्यरत प्रमुख बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ है। संख्या तथा निवेश के आधार पर ब्रिटिश कम्पनियाँ प्रथम स्थान पर है और द्वितीय स्थान पर अमरीकी कम्पनियाँ है।

लगभग 10 प्रतिशत महत्त्वपूर्ण भारतीय आबादी पर इन कम्पनियों की जबरदस्त पकड़ है। आमतौर पर महिला की ड्रेसिंग टेबिल पर पडे तीन-चौथाई शृगार प्रसाधन बहुराष्ट्रीय निगम के उत्पादन हो सकते है। उसका साबुन, उसका शेम्पू, क्रीम, लिपिस्टिक वगैरह सब। सिगरेट पीने वालो मे से ज्यादातर लोग हर कश के साथ ब्रिटिश निगम को रॉयल्टी दे रहे हैं। जिस

माचिस से आप उसे सुलगाते है, हो सकता है स्वीडन की फर्म उसका अंश ले जाती हो। टूथपेस्ट और टूथब्रुश अमरीकी या स्विट्जरलैण्ड की फर्म का उत्पादन हो सकता है। रेडियो मे हालैण्ड की टेक्नालॉजी का हिस्सा हो सकता है। उसमे लगने वाले टेप और रिकार्ड अमरीका, जापान अथवा ब्रिटेन की किसी कम्पनी का उत्पादन हो सकता है। आप जिस वस या स्कूटर अथवा साइकिल की सवारी कर रहे हो, उसके तमाम ट्यूब-टायरों मे किसी न किसी वहुराष्ट्रीय निगम का हिस्सा है। यह भी हो सकता है कि हमारे जूते या चप्पल भी कनाडा तथा ब्रिटिश निगम की पैदाइश हों। गाँव के दूर-दराज इलाकों मे काम आने वाली टार्चो और विजली के वल्बो के जरिये हालैण्ड, अमरीका और जापान के निगम हमारे गाँवो तक मे छा रहे हैं। यदि कोई वीमार पड जाये तो दवाइयो के लिए हो सकता है उसे दुनिया भर के निगमो की शरण मे अनिवार्य रूप से जाना पडेगा। चाय, कॉफी, ठण्डा पेय आदि से लेकर देश मे वनने वाली विदेशी शराव की हर घूंट के साथ इनका हिस्सा जुडा हुआ है।

आजादी के वाद देश के अर्थतन्त्र मे वहुराष्ट्रीय कम्पनियो के अपने क्रियाकलापों को तेजी से फैलाने की उदारतापूर्ण छूट देने और इनके साथ सम्पन्न किये गये आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग समझौते के पीछे तर्क यह रहा कि इससे पूंजी विनियोग मे वृद्धि, तकनीकी जानकारी की प्राप्ति विदेशी मुद्रा की वचत और अर्थतन्त्र के सन्तुलित एव तीव्र विकास मे सहायता मिलती है।

वहुराष्ट्रीय कम्पनियो को दी जाने वाली छूट के पीछे जो भी तर्क पेश किये गये हे, वास्तविकता इससे पूर्णत भिन्न है।

इन कम्पनियो का एकमात्र उद्देश्य भारत से अधिकाधिक धन लूटकर ले जाना है। वहुराष्ट्रीय तेल कम्पनियो का उदाहरण लीजिए। ये तेल कम्पनियाँ 18वी शताव्दी के पूर्वार्द्ध में भारत मे आयीं। भारत की स्वतन्त्रता के समय देश के तेल उद्योग पर वर्मा शैल, कालटैक्स, वर्मा आयल कम्पनी तथा स्टैण्डर्स वैक्यूम आयल कम्पनी का एकाधिकार था। परन्तु इन कम्पनियो ने भारत मे एक समन्वित तेल उद्योग विकसित करने का प्रयास नही कर मात्र विक्री संगठनों का विकास किया। इनका उद्देश्य अपनी प्रधान इकाइयों द्वारा मध्यपूर्व एशिया मे उत्पादित तेल के लिए भारत को वाजार वनाये रखना था। इसलिए इन कम्पनियों ने भारत मे तेल की खोज करने, तेल निकालने और तेलशोधक कारखाना खडा करने का कोई प्रयास नही किया। आजादी के वाद भारत के अपने यहाँ से निकाले गये तेल पर आधारित समन्वित तेल उद्योग को विकसित करने के लिए एस्सो, वर्मा शैल और कालटैक्स आयातित तेल पर आधारित एक-एक तेल शोधक कारखाना वनाने के लिए सहमत हुए और 1951-53 के वीच सरकार के साथ समझौते सम्पन्न हुए। ऐसा कहते हे कि ये समझौते हमारे राष्ट्रीय हित के खिलाफ थे। समझौते के तहत् इन वहुराष्ट्रीय तेल कम्पनियों को शत-प्रतिशत अपने स्वामित्व मे कारखाना लगाने की अनुमति, 30 वर्ष तक राष्ट्रीयकरण न करने का आश्वासन, कही से भी कच्चा तेल लेने की आजादी, कच्चे तेल के आयात पर कर की छूट, शोधित तेल के एक वडे भाग को देश से वाहर ले जाने का अधिकार आदि रियायतें दी गयी। इन शर्तो के तहत् तेल शोधक कारखाने लगाकर इन कम्पनियो ने काफी मुनाफा उपार्जित किया और उसका वड़ा भाग देश के वाहर ले गयी। इन तेल कम्पनियों ने अपने ही प्रतिवेदन के अनुसार तीनो तेल शोधक कारखानों को खडा करने मे कुल 53 करोड रुपये खर्च किये और 1955-61 के वीच यह 83 करोड़ रुपये यानि लागत खर्च से 26 करोड़ रुपये अधिक भारत के वाहर मुनाफे के रूप मे ले गयी। तेल कम्पनियो के क्रियाकलापों की जाँच के लिए 1959 मे भारत सरकार द्वारा नियुक्त समिति के प्रतिवेदन के

अनुसार वहुराष्ट्रीय तेल कम्पनियो द्वारा उपार्जित मुनाफा विश्व के किसी भाग मे उपार्जित मुनाफे से अधिक है।

दवा कम्पनियो के उदाहरण को लीजिए। भारत मे कार्यरत वहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ दवा उद्योग की कुल पूँजी के 60 प्रतिशत और उत्पादन के 80 प्रतिशत को नियन्त्रित करती हैं। सन् 1973-74 के वित्तीय वर्ष मे दवा उद्योग मे विनियोजित कुल 225 करोड रुपये की पूँजी मे 135 करोड करोड रुपये की पूँजी वहुराष्ट्रीय कम्पनियों की थी। ये कम्पनियाँ प्रतिवर्ष 8 करोड रुपये देश के वाहर भेजती है। ये कम्पनियाँ कफ सिरप, विटामिन, टॉनिक जैसी दवाओं के उत्पादन मे विदेश दिलचस्पी रखती हैं, जहाँ मुनाफे की ऊँची दर है भले ही जीवन रक्षा के लिए इनका कम महत्त्व है। दूसरी तरफ जीवन रक्षक दवाओं के उत्पादन मे उन्हे कोई उत्साह नही है क्योंकि यहाँ मुनाफे की दर नीची है।

अमरीकी सरकार के व्यापार विभाग के अध्ययन के अनुसार भारत मे निर्माण उद्योग में विनियोजित पूँजी पर अमरीकी कम्पनियो ने 1971 में 14·2 प्रतिशत और एक ही वर्ष वाद 1972 मे 15·8 प्रतिशत मुनाफा कमाया। निर्माण उद्योग मे मुनाफे की यह दर विश्व मे सर्वाधिक है।

ये कम्पनियाँ मुनाफे की ऊँची दर प्राप्त करने के लिए कर चोरी से लेकर सरकारी अधिकारियो की मदद से राष्ट्रीय अर्थतन्त्र को खोखला करती है। सन् 1976 मे संसद मे पेश लोक लेखा समिति के प्रतिवेदन मे ब्रिटिश अमरीकी ग्रिंडलैज वैंक द्वारा वड़े पैमाने पर कर की चोरी का रहस्योद्घाटन किया गया है। प्रतिवेदन के आधार पर आय-कर अधिकारियो ने 1959-60 से 1965-66 तक आय-कर के पुनर्विलोकन करने की कार्यवाही प्रारम्भ की तो कलकत्ता उच्च न्यायालय मे रिट याचिकाएँ पेश कर वैंक ने कार्यवाही स्थगित करा दी। उपर्युक्त प्रतिवेदन के अनुसार वाटा कम्पनी ने 1968 से 1973 के वीच 10·64 लाख रुपये के राजस्व की चोरी की है।

भारत मे कोयले का विशाल भण्डार है और तेल का अभाव है जिसकी पूर्ति के लिए विदेशी मुद्रा खर्च कर तेल आयात करना पडता है। इस हालात मे कोयले से संचालित रेलवे इंजन भारत के लिए अनुकूल हैं। लेकिन रेलवे वोर्ड के अधिकारियो ने अमरीकी वहुराष्ट्रीय कम्पनी के इशारे पर अधिकाधिक डीजल इजन के प्रयोग का निर्णय लिया और उनके आयात तथा निर्माण के लिए एक अमरीकी कम्पनी के साथ समझौता सम्पन्न किया। इस कदम से अमरीकी कम्पनी मालामाल हो गयी और सैकडो डीजल इंजन आज वेकार पडे है, जिससे रेलवे वोर्ड को करोड़ो का नुकसान हुआ।

भारत में वहुराष्ट्रीय कम्पनियों का अर्थशास्त्र और राजनीति : अन्तःक्रिया (A Study of interactions between Economics and Politics of Multi-Nationals in India)—वहुराष्ट्रीय कम्पनियो के वढते हुए प्रभाव के कारण भारत पूंजीवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। अपनी व्यापक आर्थिक सत्ता के द्वारा ये कम्पनियाँ अल्पविकसित देशो की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को प्रभावित करती हैं ताकि अन्तिम रूप से इन देशो की राष्ट्रीय नीतियो को अपने देश के हितो के अनुकूल नियन्त्रित एवं निर्देशित किया जा सके। भारत मे इन कम्पनियो का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे वढता जा रहा है। औसत भारतीय को सुवह की वेड-टी मे लेकर रात्रि के मजन तक दैनिक जीवन की प्रत्येक क्रिया मे वहुराष्ट्रीय कम्पनी की किसी न किसी वस्तु का प्रयोग करना पड़ता है। वहुराष्ट्रीय निगमों के कारण भारी मात्रा मे लाभाश, व्याज, रायल्टी हस्तान्तरण मूल्य के रूप मे भारत का धन विदेशों को चला जाता है। इन विदेशी कम्पनियो ने

अपनी विशाल आर्थिक सत्ता के द्वारा भारत मे घरेलू फर्मो की प्रतियोगितात्मक क्षमता को कुंठित कर दिया है ।

डॉ. वी. गौरीशकर[1] ने अपनी पुस्तक 'टेमिंग द जाइंट्स' मे देश की अर्थ-व्यवस्था पर वहुराष्ट्रीय निगमो के प्रभावो का प्रामाणिक विश्लेपण किया है । डॉ. गौरीशंकर ने लिखा है कि विश्व के 50 बड़े वहुराष्ट्रीय निगमो मे से 23 भारत मे कार्यरत हैं और ये सब मिलकर जितने मूल्य की सामग्रियाँ वेचते हैं वह राशि देश के वार्षिक वजट की राशि से कही अधिक ही होती है । विदेशी मुद्रा के कोष पर इन नियमो के कुप्रभावों का उल्लेख करते हुए लेखक ने वताया है कि 1964-65 ने 1969-70 के वीच देश से 684 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा वाहर चली गयी, क्योकि इन निगमों ने निर्यात से ज्यादा आयात ही किया । तकनीकी ज्ञान के आयात के नाम पर, तथाकथित 'मुख्यालय' के खर्च के नाम पर जरूरत से ज्यादा राशि बाहर भेजी गयी । इन निगमो ने शोध एवं विकास के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नही किया । देश में इन निगमों की लगभग 200 सहायक शाखाओ मे केवल 80 ही ऐसी है, जिनके पास अपना शोध विभाग है ।

इन विदेशी विचौलियों के कारण भारत को कम निर्यात मूल्य प्राप्त होते हैं, जैसे चाय का ही उदाहरण लीजिए । स्टर्लिंग कम्पनी चाय के कुल उत्पादन के आधे पर तथा उनके निर्यात के तीन-चौथाई पर नियन्त्रण रखती है और इसकी नीति है डिब्बा वन्द चाय के वजाय खुली चाय निर्यात करने की और यह खुली चाय भी केन्या और श्रीलंका की खुली चाय से कम कीमत पर निर्यात की जाती है । यही हाल तम्वाकू उद्योग में भी है । फिर भारत के अन्दर इन निगमों द्वारा उत्पादित और वेची जाने वाली चीजों का भी स्तर वहुत उम्दा नही होता ।[2]

वित्तीय रूप से सशक्त इन वहुराष्ट्रीय निगमो की पहुँच सरकार तक ही होती है । हमारे यहाँ तो कई वार इनके प्रभाव मे आकर सरकार को अपने निर्णय तक वदलने पड़े है । उदाहरणार्थ, औपधि नीति के वारे मे गठित 'हाथी समिति' ने सुझाव दिया था कि हिन्दुस्तान मे 50 से 100 नुस्खे (फार्मूलेशन) ही जरूरी है, इससे अधिक की अनुमति नही दी जानी चाहिए । लेकिन आज हमारे यहाँ औषधि वाजार मे जहाँ वहुराष्ट्रीय निगमों का एकाधिकार है, 1,500 नुस्खे प्रचलित है; हमारी आवश्यकता से 15 गुना अधिक । अपने साधनो, प्रचार तन्त्रो और प्रलोभन उपायों से ये विदेशी दवा कम्पनियाँ डाक्टरो को भी पूरी तरह प्रभावित करती है । आमतौर पर डॉक्टर इन वहुराष्ट्रीय कम्पनियों की वनी दवाएँ ही लिखते है ।

वहुराष्ट्रीय निगमों का एक तर्क यह है कि ये निर्यात को वढ़ावा देते है । लेकिन वास्तविकता कुछ और ही है । सन् 1973-74 से सन् 1978-79 के दौरान विदेशी सहायक निगमो का 90 प्रतिशत व्यापार भारत मे हुआ और केवल 10 प्रतिशत विदेश मे ।

वहुराष्ट्रीय निगम किसी देश के राजनीतिक जीवन मे कितना हस्तक्षेप कर सकते हैं, इसके उदाहरण हैं—लोक हीड कार्पोरेशन, जिसने अपने अनुकूल निर्णय कराने के लिए जापान के उच्च स्तरीय एक राजनीतिज्ञ को घूस दी । चिली मे अलण्डे सरकार के पतन की कहानी भी वहुराष्ट्रीय कम्पनियो के हस्तक्षेप की कहानी है । किसी भी देश मे ये कम्पनियाँ दीमक की तरह घुस जाती है और उसके आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन पर छा जाती हैं । इससे नव उपनिवेशवाद (Neo-colonialism) पनपने लगा है ।

---

[1] डॉ. वी. गौरीशकर, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, केन्द्रीय कार्यालय के प्राप्ति लेखा निदेशक रहे हैं ।

[2] ए. एन. ओझा, "विदेशी पूंजी और तकनीक के दवदवे से सावधान", **धर्मयुग** (वम्वई), 20 दिसम्बर, 1971, पृ. 16 ।

बहुराष्ट्रीय निगम देशी सीमाओ मे विश्वास नही करते और एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति, वर्ग और समाज तैयार करते है जो उनके उत्पादनो का खास शौकीन होता है तथा राष्ट्रवादी भावनाओ से शून्य लोगो की रुचियाँ, स्वभाव आदि हर बात को वे बदलते ही नही बल्कि उनका अन्तर्राष्ट्रीयकरण करते है । समाज के प्रमुख लोगो और प्रभावशाली व्यक्तियो से साँठगाँठ करते है । बहुराष्ट्रीय निगम अपने हितो को बढावा देने के लिए सबसे प्रभावी इस्तेमाल प्रेस और विज्ञापन का करते है । इन निगमो की चालाक व्यापारिक बुद्धि और प्रमुख प्रचार सचार साधनो पर अधिकार शीघ्र ही विकासशील देशो को उनका गुलाम बना देता है । यह गुलामी, जाहिर है, सिर्फ आर्थिक ही नही होती, सास्कृतिक और सामाजिक भी होती है जिससे छुटकारा पाना बहुत मुश्किल होता है । 2 मार्च, 1976 को प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी ने कलकत्ता मे स्पष्ट कहा था कि "कुछ विदेशी शक्तियाँ बहुराष्ट्रीय कम्पनियो के विस्तार के लिए भारत पर दबाव डाल रही हैं । उनका उद्देश्य देश की एकता एव आर्थिक विकास को कमजोर करना है ।"

विकास के लिए विदेशी पूंजी और तकनीक आवश्यक (Imperatives of Economic Development . The Necessity of Technical Know-how)—प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बाडीलाल डगली के शब्दो मे "हिन्दुस्तान की अर्थ-व्यवस्था मे इन बहुराष्ट्रीय निगमो की भूमिका का जहाँ तक सवाल है, मै उन सभी क्षेत्रों मे विदेशी पूँजी निवेश का स्वागत करता हूँ, जहाँ हम तकनीकी रूप से पिछडे हुए हैं । लेकिन यह हमारा दुर्भाग्य है कि दस बड़े औद्योगिक देशों मे से एक होने के बावजूद हमारे यहाँ टूथ ब्रुश, टूथ पेस्ट, साबुन, प्रसाधन सामग्री, खाद्य पदार्थ इत्यादि चीजो का उत्पादन बहुराष्ट्रीय निगम कर रहे हैं । 'कोका कोला' की तरह इन बहुराष्ट्रीय निगमों को भी हिन्दुस्तान से विदा किया जाना चाहिए ।"

बहुराष्ट्रीय निगमो की सहायता उन्ही क्षेत्रो मे ली जानी चाहिए, जहाँ हमे विदेशी तकनीक की जरूरत है । बहुराष्ट्रीय निगम हमारे ग्रामीण इलाको मे सडक निर्माण, जल प्रबन्ध और भण्डारण सुविधाओ में मदद कर सकते है जिससे कृषि विकास को एक नयी दिशा मिल सकती है। ठीक इसी तरह ये निगम ग्रामीण लघु एव कुटीर उद्योगो जैसे हथकरघा एवं चमडा उद्योग के विकास मे भी सहायक हो सकते है । दूसरे शब्दो मे, ग्रामीण उद्योगो के विकास और उनके उत्पादित माल के लिए बाजार तैयार करने मे यदि बहुराष्ट्रीय निगम मदद करने को तैयार है, तो उनका स्वागत किया जाना चाहिए ।

भारतीय उद्योगो मे आज उत्पादन लागत मे जिस तेजी से वृद्धि हो रही है, उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि यदि हमे संकट से छुटकारा पाना है तो कुछ समय तक बहुराष्ट्रीय निगमो पर निर्भर रहना ही पडेगा । हमे इस बात का भी खयाल रखना होगा कि ये बहुराष्ट्रीय निगम उसी औद्योगिक क्षेत्र मे घुसें जहाँ (i) अधिकाश उत्पादन निर्यात के लिए हो, (ii) उत्पादन लागत मे कमी आये, (iii) केवल आवश्यक उपभोक्ता वस्तुएँ ही उत्पादित की जायें; और (iv) इन निगमो द्वारा उत्पादित माल के वितरण के तरीके पर भारत सरकार अंकुश रख सके ।

सबसे महत्त्वपूर्ण सुझाव यह है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे बहुराष्ट्रीय निगमो की समूची साझेदारी के बारे मे सरकार को पूरी जानकारी होनी चाहिए अन्यथा भविष्य मे हमे गहरे सकट के दौर से गुजरना पडेगा ।

भारत में विदेशी सहायता की राजनीति
(THE POLITICS OF FOREIGN AID IN INDIA)

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् भारत ने यह महसूस किया कि देश के तीव्र और क्रमिक आर्थिक विकास के लिए भारतीय पूँजी-साधन अपर्याप्त है । कई कारणो से विदेशी सहायता आवश्यक प्रतीत होने लगी—**प्रथम**, देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए, **द्वितीय**, देश मे स्वदेशी

साधनो के अपर्याप्त एवं व्यक्तियो के अनुभवहीन होने के कारण विदेशी सहायता और पूंजी की आवश्यकता हुई, **तृतीय**, देश मे अनुभव की कमी और विदेशो से मार्गदर्शन के लिए विदेशी पूंजी का आयात करना पड़ा; **चतुर्थ**, देश का पूंजी वाजार पिछड़ा हुआ था और पूंजी वाजार के विकास के लिए विदेशी सहायता को आवश्यक समझा गया और **पंचम**, राष्ट्र की आय मे अधिकाधिक वृद्धि, समुन्नत जीवन-स्तर, आयों की असमानताओ को दूर करने के लिए पूंजी का विनियोग आवश्यक होता है जो विदेशो से वडे पैमाने पर ली जा सकती थी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही भारत ने कई अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानो से सहायता ली है, जैसे विश्व वैंक, विश्व औद्योगिक निगम, एशियन वैंक, इण्डिया एड कन्सोर्टियम, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि से। ये सहायताएँ प्रोजेक्टो तथा गैर-प्रोजेक्टों के लिए ली गयी। सरकारी स्तर पर भी विभिन्न देशो से सहायता ली गयी जैसे अमरीका, कनाडा, जापान, जर्मनी, ब्रिटेन आदि देशों से लम्वी अवधि के लिए कम व्याज दर पर ऋण अथवा उदार रियायतो पर ऋण लिये गये। विदेशी सरकारो ने हमारे देश मे सीधा विनियोग भी किया है। निजी क्षेत्र की विदेशी पूंजी ने भारत के आर्थिक विकास की ही सहायता नही की है, अपितु विदेशी कम्पनियो के तकनीकी ज्ञान एवं अनुभव का फायदा उठाकर आज हमने अपने यहाँ सभी क्षेत्रो मे अच्छे उद्योग स्थापित कर लिये हैं।

सन् 1948 मे राष्ट्रीय औद्योगिक नीति के पहले प्रस्ताव मे विदेशी सहायता का स्वागत किया गया। सन् 1956 के दूसरे प्रस्ताव मे विदेशी सहायता का स्वागत करते हुए इतना कहा गया कि विदेशी सहायता का नियमन राष्ट्रीय हितों को ध्यान मे रखकर किया जाये। हमारी पचवर्षीय योजनाओ के लिए भरपूर विदेशी सहायता ली गयी। विदेशी सहायता से हमारे विनयोगो के स्तर ऊँचे उठे और राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हुई। आर्थिक विकास के आधारभूत ढाँचे खड़े करने मे हमें काफी सुविधा हुई। खाद्यान्नो की कीमतो को स्थिर रखने मे एवं देश को भुखमरी से वचाने के लिए विदेशी सहायता ने हमें इन सकटो से मुक्ति दिलायी।

इन सवके वावजूद विदेशी सहायता का दूसरा पक्ष भी है। सार्वजनिक क्षेत्र मे भारी उद्योग की स्थापना के साथ-साथ मौजूदा निजी उद्योग के राष्ट्रीयकरण से भारत पर विदेशी कर्ज का वोझ सुरसा की तरह वढा है। जव भारत स्वतन्त्र हुआ तो अग्रेज रिजर्व वैंक मे 1,180 करोड रुपये के सिक्के व सोना तथा अन्य कीमती धातुएँ छोड़कर गये। इसके अलावा इंग्लैण्ड 1,733 करोड़ रुपये का देनदार था और हमे युद्ध पूर्व ऋण के भुगनान मे 415 करोड़ रुपये मिलने थे और 115 करोड रुपये ब्रिटिश साम्राज्य के पास जमा डालरो मे से हमारे हिस्से के रूप मे हमे मिलने थे। यानि कुल मिलाकर हमारे पास 3,453 करोड रुपये थे। सन् 1950-51 तक हम वह सभी धन, जो अंग्रेज यहाँ छोडकर गये थे, पानी की तरह वहा चुके थे और हम विदेशो के 33 करोड रुपये के कर्जदार हो चुके थे। सन् 1976-77 मे कर्ज अदायगी के लिए हमें 760·7 करोड़ रुपया देना था जिसका अर्थ है कि हमे कुल 6,186·3 करोड का भुगतान वाकी था।

जवाहरलाल नेहरू उद्योग के मूर्तिपूजक थे। वे विदेशी पूंजी को लाने के लिए—चाहे वह कर्जों की शक्ल मे हो चाहे विदेशी पूंजीपतियो द्वारा यहाँ लगायी गयी हो—कमर कसकर जुट गये। अव मालूम होता है कि भारतीय वित्तीय ससाधनो का विदेशियो द्वारा लूटे जाने का ही दूसरा नाम विदेशी सहयोग है। इस नीति का नतीजा यह हुआ कि स्वतन्त्रता मिलने पर जो विदेशी पूंजीपति अपना वोरिया-विस्तर वाँधे यहाँ से चले जाने के लिए तैयार वैठे थे, उन्होने यहाँ वने रहने का तय कर लिया है और भारत मे लगी विदेशी पूंजी वढने लगी। 1948 में हमारे यहाँ 260 करोड़ रुपये की विदेशी पूंजी थी जो वढकर 1973 मे 1,816·3 करोड़ हो गयी

और यह हुआ तब जबकि हमारा दावा है कि हमने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के शोषण से अपने देश को स्वतन्त्र कर लिया है। आज एक विदेशी शोषक के बजाय कई विदेशी शोषक हैं।

संसद की सार्वजनिक संस्थान समिति इस नतीजे पर पहुँची है कि भारत में आवश्यक प्रौद्योगिकी उपलब्ध होने पर भी सार्वजनिक संस्थान उसके लिए बिना सोचे समझे विदेशी तकनीकी सहयोग के समझौते करते रहे हैं। लोकसभा को दी गयी अपनी 80वीं रिपोर्ट में समिति ने इस तरह के कई उदाहरण दिये हैं जिसमें स्थानीय सार्वजनिक संस्थानों के पास उपलब्ध प्रौद्योगिकी के लिए निजी कम्पनियों ने विदेशियों से सहयोग के लिए समझौते किये। एक उदाहरण यह है कि हिन्दुस्तान आर्गेनिक केमिकल्स, पुणे के पास नाइट्रोटेलोयूम की प्रौद्योगिकी मौजूद थी, फिर भी बम्बई की एक फर्म ने इसके लिए विदेशी सहयोग का समझौता कर लिया। एक उदाहरण यह है कि इण्डियन ऑक्सीजन लिमिटेड ने आक्सीजन के एक प्लाण्ट के लिए विदेशी सहयोग का समझौता कर लिया जबकि उसके लिए आवश्यक प्रौद्योगिकी भारत हैवी प्लेट एण्ड वैसिल्स, विशाखापट्टनम के पास उपलब्ध थी।

आज अधिकतर गरीब देशों की तरह भारत भी धनी देशों पर न केवल विकासात्मक सहायता के लिए बल्कि प्रौद्योगिकी के लिए भी आश्रित है। विदेशी पूँजी के साथ विदेशी प्रौद्योगिकी भी आयी। नेहरू भारत के लिए उन्नत प्रौद्योगिकी की चर्चा करते रहते थे। किन्तु वे भूल जाते थे कि उन्नत प्रौद्योगिकी का अर्थ भूमि या पूँजी की प्रति इकाई उत्पादकता बढ़ाना नहीं बल्कि काम में लगे प्रति श्रमिक या प्रति उद्यमी उत्पादन बढ़ाना है। इसका नतीजा हुआ यह कि आयों में असमानता बढ़ी, बेरोजगारी बढ़ी, आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण बढ़ा और यही वे रोग थे जिनको हमारे संविधान के निर्माता दूर करना चाहते थे।

आज हमारे राष्ट्र का आर्थिक विकास विदेशी पूँजी, विदेशी मशीनों और विदेशी प्रौद्योगिकी पर निर्भर हो गया है। चीन ने असम्भव कठिनाइयों का 16 वर्ष से, अर्थात् जब से सोवियत संघ ने अपने टेक्निशियन वहाँ से वापस बुला लिये थे, विदेशी उपायों व विदेशी सहायता के विरुद्ध संघर्ष किया है और अपनी समस्याओं के अपने हल खोजे हैं। जापान ने विदेशी प्रौद्योगिकी का आयात तभी किया जबकि उसके बिना काम नहीं चल पाया। जापानी अर्थशास्त्रियों के अनुसार, "इस नीति का नतीजा यह हुआ है कि स्थानीय उद्यम के विकास को प्रोत्साहन मिला है और जापानी अर्थ-व्यवस्था के अन्दर विदेशी 'उपनिवेश' नहीं बन पाये हैं जैसा कि अल्पविकसित देशों में हुआ है।"

विदेशी सहायता के राजनीतिक प्रभाव—विदेशी सहायता के राजनीतिक प्रभाव इस प्रकार हैं :

(1) विदेशी सहायता से देश आत्मनिर्भर नहीं बन सकता और आर्थिक तथा तकनीकी दृष्टि से परमुखापेक्षी हो जाता है।

(2) विदेशी सहायता से होने वाले तात्कालिक लाभ के फेर में देश पर कर्ज का भारी बोझ आ जाता है जिसको चुकाने-चुकाते नाक में दम आने लगता है।

(3) आर्थिक विकास के लिए विदेशी सहायता से भी अधिक महत्त्व आत्म-सम्मान का है। लम्बी आर्थिक परनिर्भरता से देश का मनोबल एवं आत्म-सम्मान क्षीण होता है।

(4) जो देश भारत को विदेशी सहायता प्रदान करते हैं, वे चाहते हैं कि भारत उन्हीं के प्रभाव क्षेत्र में रहे और अपना स्वतन्त्र चिन्तन तथा कार्य बन्द कर दे। ऐसा कहा जाता है कि

सन् 1966 मे हमे अपने रुपये का अवमूल्यन विदेशी दवाव के कारण ही करना पडा था। किसी ने ठीक कहा है कि "कोई भी सहायता विना वन्धन या शर्त के नही होती, चाहे वह दिखायी पड़े या न दिखायी पडे।" भारत को विना सहायता के काम चलाने की आदत डालनी चाहिए।

(5) विदेशी सहायता हमारी नीतियों को प्रभावित करती है।

संक्षेप मे विदेशी सहायता के वारे मे हमे अपना रुख वदलना होगा। हमे भीख माँगने की मनोवृत्ति छोडनी होगी और देश की जरूरत के सन्दर्भ मे ही विदेशी सहायता ग्रहण करने की व्यापक नीति वनानी चाहिए। विदेशी सहायता के साथ यदि राजनीतिक शर्तें लगायी जाती है तो हमे उसे अस्वीकार कर देना चाहिए। डॉ. वी. के. आर. वी. राव ने ठीक ही कहा है "विदेशी सहायता सल्फा दवाइयो की तरह है। हमे मालूम रहना चाहिए कि इनका प्रयोग कब करे, कब रोक दें, साथ ही हमारे पास 'बी' काम्पलैक्स सदैव रहे ताकि इनके प्रभावो को तुरन्त अक्षुण्ण कर दिया जाये।"

51

भारत में कृषक समाज से सम्बन्धित राजनीति : भूमि सुधार आन्दोलनों और किसान आन्दोलनों की राजनीति के विशेष सन्दर्भ में

[POLITICS OF AGRARIAN SECTOR—WITH SPECIAL REFERENCE TO THE POLITICS OF LAND REFORMS AND PEASANT MOVEMENTS]

भारत मे सामन्तवाद यूरोपीय सामन्तवाद से यो भिन्न है कि भारत मे भूस्वामियो का कोई ऐसा अभिजात वर्ग नही था जिसका जमीन पर मालिक का हक रहा हो। प्राचीन भारत मे जमीन का स्वत्व कभी कृषक समुदाय के अलावा किसी अन्य के हाथ मे नही रहा, न तो सामन्तों के शासन मे और न सम्राटो के शासन मे। राजा जमीन का मालिक नही था, इसलिए वह ऐसे अभिजात वर्ग की सृष्टि नही कर सका जिसका जमीन पर स्वामित्व हो। अंग्रेजों की भारत विजय के बाद पुरानी भूव्यवस्था मे आमूल परिवर्तन का सिलसिला शुरू हुआ। नयी लगान व्यवस्था ने गाँव की जमीन पर लोगो की जमाने से चली आ रही मिलकियत खतम कर उसकी जगह भू-स्वामित्व के दो रूपो को जन्म दिया—देश के कुछ भागो मे जमीदारी और अन्य भागो मे किसान की मिलकियत। सबसे पहले 1793 ई. मे कार्नवालिस ने बंगला, बिहार और उडीसा मे जमीन के स्थायी बन्दोबस्त के जरिये भारत मे जमीदारो का सृजन किया। देश के कुछ भागो मे रैयत-वारी प्रथा की भी सृष्टि की गयी। लेकिन वस्तुत इसके अनुसार भी जमीन का निजी बन्दोबस्त किया गया और कर फसल के बदले जमीन को आधार बनाकर तय किया गया। इस प्रथा ने भी भारतीय सस्थाओ का वैसे ही हनन किया जैसे जमीदारी प्रथा ने।

ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय कृषि का रूपान्तरण : सामाजिक परिणाम

अग्रेजो की भारत विजय से देश मे एक कृषि क्रान्ति हुई। जमीन की निजी मिलकियत की प्रथा शुरू कर अग्रेजो ने कृषि मे पूँजीवादी विस्तार की आवश्यक शर्तों की सृष्टि की। इससे आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थतन्त्र के आधार स्तम्भो—ग्राम कृषि और ग्रामोद्योग के सन्तुलन के नष्ट हो जाने पर आत्मनिर्भर गाँवो के अस्तित्व का आर्थिक आधार कमजोर हो गया।[1] **प्रथम**, नयी भूमि व्यवस्था मे गाँव निर्धारण और कर भुगतान की इकाई नही रह गये और जमीन की निजी मिलकियत के साथ ही व्यक्तिगत कर निर्धारण और कर अदायगी की प्रथा शुरू हुई। नयी व्यवस्था मे भूमिकर सालाना फसल के बदले जमीन के आधार पर रुपये

---

[1] रजनी पामदत्त **आज का भारत** (मैकमिलन, 1977) पृ. 216-274, खण्ड 3।

के रूप मे निर्धारित होने लगा और जमीदार या भूमिधर गृहस्थ को राज्य के कर दाय को हर साल हर हालत में पूरा करना पडता था, चाहे फसल अच्छी हुई हो या वरवाद हो गयी हो। लगान की नयी व्यवस्था के साथ जमीन के रेहन और खरीद विक्री की भी प्रथा शुरू हुई। जब फसल या अपनी औकात के वल पर किसान राज्य को भूमि-कर नही चुका पाता, तव उसे अपनी जमीन रेहन करनी पडती थी। इस तरह नये शासन तन्त्र मे जमीन का स्वत्व और स्वामित्व अनिश्चित हो गया। इसके साथ ही साथ गाँव का सामुदायिक और आत्मनिर्भर जीवन भी नष्ट हो गया। पहले गाँव की कृषि पर सारे गाँव का अधिकार था जिससे गाँवो का सामुदायिक जीवन सम्पन्न समृद्ध रहा। स्वायत्तशासी आत्मनिर्भर ये गाँव सम्पूर्ण जैविक इकाई थे। किन्तु जव वनभूमि और कृषिभूमि दोनो पर से गाँव का सामूहिक नियन्त्रण जाता रहा और दोनों निजी या राजकीय सम्पत्ति हो गये तव गाँव वालो के सम्मिलित स्वार्थ और आर्थिक सहयोग पर आधारित पारस्परिक सम्वन्ध सूत्र विनष्ट हो गये। **द्वितीय**, भूमि के कतिपय विभाजन और विखण्डन का कृषि और कृषक की आर्थिक स्थिति पर घातक प्रभाव पड़ा। वहुत हद तक छोटी जोतो के कारण किसान गरीव रहे और उनकी गरीवी का यह नतीजा हुआ कि वे उत्पादन के तरीको और तकनीक को विकसित नही कर सके। वडे पैमाने पर वैज्ञानिक ढग से खेती करने के लिए खेती की इकाई के रूप में वडे सुसम्वद्ध भूक्षेत्रो की आवश्यकता होती है। **तृतीय**, नये भूमि सम्वन्धों एवं नियत धनराशि के रूप मे कर भुगतान की प्रथा के फलस्वरूप ग्रामीण उपभोग के लिए उत्पादन के वदले वाजार मे विक्रय के लिए उत्पादन शुरू हुआ जिसे कृषि के वाणिज्यीकरण की संज्ञा दी जाती है। अव किसान को भारतीय एवं विश्व की मण्डी के लिए फसल उगानी पडती थी। उसे अव अमरीका, यूरोप, आस्ट्रेलिया के विशाल कृषि व्यापार संघो जैसे दुर्जेय अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगियों से होड़ लेनी पडी। भूखे वैलो की जोडी और आदिम हल से वह अपना छोटा सा खेत जोतता था और उसके प्रतिद्वन्द्वी ट्रेक्टरो और आधुनिक कृषियन्त्रों की सहायता से वड़े पैमाने पर खाद्य राशि उत्पन्न करते थे। वाणिज्यीकरण के कारण किसान धीरे-धीरे व्यापारियो (मध्यस्थ) पर निर्भर होता गया और अपनी वेहतर माली हालत के कारण व्यापारियो ने किसान की गरीवी का पूरा फायदा उठाया। गरीव किसान के पास कोई संचित निधि नही रही। अव सरकारी लगान और महाजन के सूद के भुगतान के लिए उसे फसल के वक्त ही अपनी उपज का अधिकाश मध्यस्थ को वेच देना पडता था। **चतुर्थ**, किसानो की गरीवी के और भी अनेक कारण थे। समय-समय पर होने वाले कृषि के सकट के अतिरिक्त सूखा और अतिवर्षा जैसे गैर-सामाजिक तथ्यो के कारण भी किसानो की तंगहाली वढ़ी। **पंचम**, भूमि-कर के अतिरिक्त किसान को कैरोसिन, तेल और नमक जैसी निरी निपट आवश्यकता की वस्तुओ के लिए भी कर देना पड़ता था। **षष्ठ**, जगलो पर सरकारी एकाधिपत्य के कारण जलावन या गृह निर्माण के लिए किसान जगल से लकड़ी नही ला सकता था। उसे खाद के वदले जलावन के रूप मे गोवर का इस्तेमाल करना पड़ा। इसके चलते जमीन की उपज घटी और किसानो की गरीवी वढी।

इन सभी तत्त्वो के संयुक्त प्रभाव के कारण किसानों की गरीवी लगातार असाधारण तौर पर वढती गयी। उनकी आय और जिम्मेदारियो के वीच वढती हुई विषमता ने किसानो को अधिक कर्ज लेने के लिए वाध्य किया, लेकिन वे उनका सूद भी चुकाते रहने की स्थिति मे नही थे। इस तरह वह महाजनो को अपनी फसल दे देने के लिए तो वाध्य हुआ ही, तेजी में अपनी जमीन भी उन्हे वेचने लगा। ब्रिटिश शासनकाल में किसानो की ऋण-ग्रस्तता प्रत्येक दशक मे लगातार वढ़ती ही गयी। सन् 1911 मे मैकलागन के अनुसार, केवल ब्रिटिश भारत मे समस्त ऋण राशि लगभग 300 करोड थी, 1925 मे एम. एल. डार्लिंग के अनुसार 600 करोड़; 1929 मे सेण्ट्रल

बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट के अनुसार 900 करोड और 1937 मे एग्रीकलचरल क्रेडिट डिपार्टमेण्ट के अनुसार 1800 करोड़।[1]

किसानो की बढती हुई ऋणग्रस्तता के कारण रैयतवारी इलाको मे बड़े पैमाने पर जमीन काश्तकारो के हाथों से निकलकर सूदखोर महाजनो के हाथ मे जाने लगी। नये आर्थिक पर्यावरण मे जिस दरिद्रता का जन्म हुआ उसके कारण अधिकाधिक जमीन महाजनो की होने लगी। फलस्वरूप भारतीय कृषक समाज का व्यापक स्वत्वापहरण हुआ और दूरस्थ जमीदारो के वर्ग का आविर्भाव हुआ। यह उल्लेखनीय है कि काश्तकार के बदले महाजन या साहूकार जैसे गैर-काश्तकार मालिको के हाथ मे जमीन के चले जाने के बाद भी कृषि के तौर-तरीको मे कोई तरक्की नही हुई। भारत के कुछ हिस्सो मे ऋणग्रस्तता के कारण कुछ किसान अन्ततोगत्वा कृषिदास की स्थिति मे पहुँच गये।

इससे किसान के बीच वर्ग विशिष्टीकरण की प्रक्रिया लगातार अधिकाधिक तीव्र होती गयी। खेतिहर मालिको और काश्तकारो की सख्या घटती गयी और गैर-काश्तकार जमीदारो की संख्या बढती गयी। किसान मालिको के गरीब हो जाने की वजह से भारत मे खेतिहर मजदूरों का वर्ग तेजी से बढता गया। विशेषज्ञो का अनुमान है कि यह वर्ग इतना बढा कि सारी खेतिहर आबादी के आधे लोग इसी वर्ग के हो गये। व्यापारी, साहूकार और शहर के धनी लोग गैर-खेतिहर किस्म के इन नये भू-स्वामियो को खेती से कभी कोई मतलब नही था। इन नये जमीदारो ने ऊँचे लगान पर बटाईदारो को अपनी जमीन दे दी। भारतीय जमीदार पुराने और नये पाश्चात्य देशो के जमीदारो के समकक्ष नही हो सके। उन्होने अपनी जमीदारी की खेती का वैज्ञानिक तरीका नही चलाया, खेती का मशीनीकरण नही किया, हल के बदले ट्रैक्टर जैसे यन्त्रो का इस्तेमाल नही किया। किसान से अधिकाधिक लगान वसूल करना ही भारतीय जमीदारो का एकमात्र उद्देश्य था।

भारतीय कृषि औपनिवेशिक चरित्र

इंग्लैण्ड, फ्रास और दूसरे स्वतन्त्र पूंजीवादी देशो मे पूंजीवादी सम्बन्धो मे प्रवर्तन के बाद खेती की उपज बढी और किसान सम्पन्न व समृद्ध हुए। कृषि के तकनीकी आधार पर अधिकाधिक मशीनीकरण हुआ और खेतिहर मजदूर की उत्पादनशीलता बढ़ी। हल और अन्यान्य मध्ययुगीन औजारो की जगह जुताई, कटाई और दवनी के ट्रैक्टर, हार्वेस्टर, थ्रेसर जैसी आधुनिक मशीनो का इस्तेमाल शुरू हुआ। कृषि की मौलिक इकाई के रूप म छोटे-छोटे खेतों की जगह सघन कृषि क्षेत्रो (फार्मो) का जन्म हुआ। कृषक आबादी का भौतिक और सास्कृतिक स्तर ऊँचा उठाता गया। पूंजीवादी देशो के विपरीत, भारत के नये भूमि सम्बन्धो के आगमन के साथ समानान्तर औद्योगिक विकास नही हुआ। ब्रिटिश उद्योगो के मशीन निर्मित सामान के बाजार मे आने की वजह से भारतीय कारीगरो मे बहुसख्यक बर्बाद हो गये और चूंकि देश मे उद्योगो का विकास नही हो रहा था, इसलिए उन्हे अन्यत्र काम नही मिल सका। इन लोगो के जीविकोपार्जन के लिए बहुत बडी तादाद मे खेती का सहारा लिया और भूमि की जनसकुलता और बढी ही। यह भारतीय कृषि के विकास के रास्ते मे सबसे बडी बाधा रही है। इस जनसंकुलता के कारण जमीन का विभाजन, उप-विभाजन हुआ और अनार्थिक जोतो की सख्या बढी, कृषि की गुण क्षमता का ह्रास हुआ और किसानो के क्रमिक दरिद्रीकरण की प्रक्रिया तेज हुई।

भूमि की जनसंकुलता और उप-विभाजन के फलस्वरूप किसानो की आय मे लगातार कमी होती गयी। किसानो की अपनी फसल की बिक्री के लिए महाजनो और बिचौलियों का

---

1 वाडिया एण्ड मर्चेण्ट, के. टी. ' अवर इकानामिक प्राब्लम्स, *1943*, पृ. *27*।

सहारा लेना पड़ता था और वे किसानो की अनभिज्ञता और लाचारी का नाजायज फायदा उठाया करते थे। कृषि सकट, विश्व वाजार के उतार-चढाव, किसानो का महाजनो-विचौलियों द्वारा शोषण आदि कारणों से किसानो की आमदनी और भी घटी।

भूमि-कर की राशि इतनी अधिक थी कि अधिकाश किसान उसे चुकाने मे असमर्थ थे। इस तरह किसानो मे अधिकाश को साहूकारो से कर्ज लेते रहना पडता था। साहूकार किसानो से बहुत ऊँची दर पर सूद लेते थे। किसानो के हर तबके मे बढते हुए दरिद्रीकरण और ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप जमीन बडी तेजी से धनी भू-स्वामियो, महाजनो और साहूकारों के हाथ मे जाने लगी और अंग्रेजी शासन द्वारा निर्मित जमीदार वर्ग के अतिरिक्त जमीदारो के एक और नये वर्ग की सृष्टि हुई। खेतिहर मालिकों के हाथ से गैर-काश्तकार मालिको के हाथ मे जमीन के जाने से कृषि क्षेत्र मे वर्गों का ध्रुवीकरण हुआ। कृषक आवादी के एक छोर पर गैर-काश्तकार जमीदारो की संख्या बढी। दूसरी ओर खेतिहर सर्वहारा वर्ग की संख्या बढी। कृषक समुदाय के एक छोर पर सम्पत्ति एकत्र होती गयी, दूसरे छोर पर भूमिहीनता और वेहद गरीवी।[1]

वस्तुत भारतीय कृषि का विकास ब्रिटिश पूँजीवादी की आर्थिक आवश्यकताओ द्वारा अनुकूलित था और ब्रिटिश उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल की आपूर्ति के लिए ही कृषक उपनिवेश के रूप मे भारत की जरूरत थी।

फिर भी यह तो मानना ही होगा कि ब्रिटिश शासनकाल मे गाँव की फसल देश और दुनिया के बाजार मे आयी और खेती सारे देश के अर्थतन्त्र के तात्त्विक अग के रूप मे प्रतिस्थापित हुई और यह अंग्रेजो की भारत विजय का प्रगतिशील पहलू है। इसे भारतीय कृषि और उसकी समस्याओं को राष्ट्रीय स्वरूप और विस्तार मिला, अब कृषि सम्बन्धी समस्याएँ सारे देश की थी। किसी गाँव या जिला विशेष मे खेती की स्थिति कैसी है इसका असर सारे देश मे पड़ने लगा, क्योकि अब किसी क्षेत्र विशेष मे केवल उस क्षेत्र के लिए नही वरन् सारे देश के लिए फसल उगायी जाती थी। कृषि का अपकर्ष, पशुओं की क्षीणता, किसानो की दरिद्रता और ऋणग्रस्तता, जमीन का विभाजन और विखण्डीकरण आदि सब अब राष्ट्रीय समस्याएँ थी।

चूंकि कृषि सम्बन्धी समस्याएँ सारे राष्ट्र की समस्याएँ थी इसलिए उनके आधार पर सारे राष्ट्र को सगठित और आन्दोलित किया जा सकता था। प्रत्येक पार्टी चाहे वह किसी भी सामाजिक दल का प्रतिनिधित्व करती हो, उसकी कृषि सम्बन्धी अपनी नीति थी और उस नीति के पीछे उस सामाजिक दल विशेष के स्वार्थ थे।

स्वाधीनता से पूर्व भारतीय किसानों के संगठन और प्रमुख आन्दोलन
(THE PEASANT ORGANIZATION AND MOVEMENTS : BEFORE INDEPENDENCE)

जमींदार वर्ग के हित और संगठन—जमीदारो का वर्ग मुख्यत ब्रिटिश सरकार का बनाया हुआ था। एन. एन. घोष के शब्दो मे, 'जमीदार, जिसके साथ स्थायी बन्दोवस्त (परमानेण्ट सेटलमेण्ट) किया गया, लार्ड कार्नवालिस द्वारा निर्मित अभिजात वर्ग था। वे राज्य की सृष्टि थे।" चूंकि ब्रिटिश सरकार ने उनकी सृष्टि की थी, इसलिए वे सरकार के समर्थक थे। अंग्रेजी सरकार ने भी उन्हे भरोसे का राजभक्त माना और उसका पक्ष लिया। सुधार और सविधान की योजनाओ मे अंग्रेजी सरकार ने जमीदारो को विशिष्ट प्रतिनिधित्व दिया। जमीदार लोग मूलत: रूढिवादी और अनुद्यमशील थे। 1851 में उन्होने 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएसन' नामक अपना मुख्य संगठन कायम किया। भारत मे अंग्रेजो ने जो राज्यतन्त्र स्थापित किया, उसमे सबसे पहले इन्ही देशी

---

1 ए. आर. दे [illegible] की सामाजिक पृष्ठभूमि, 1977, पृ. 55-56।

राजाओं को स्थान मिला। देश के जनजीवन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर जमीदारो ने प्राय अजनतान्त्रिक कदम उठाये।[1]

पट्टेदारों के हित और संगठन—जमीदारी की सृष्टि के साथ ही भारत मे पट्टेदारो के भी वर्ग का जन्म हुआ। चूंकि पट्टेदारो मे वहुत अधिक लगान वसूल किया जाता था, इसलिए व होते गये। वे जमीदारो द्वारा लगातार सताये जाते थे। अधिकाश वटाईदारो की हालत-दिन-व-दिन वुरी होती चली गयी। धीरे-धीरे विभिन्न प्रदेशो के वटाईदारो मे जागरण आने लगा। उत्तर प्रदेश, विहार, वगाल और दूसरे क्षेत्रो मे उन्होने अपना अलग सगठन कायम किया था, वे किसान सभाओ मे शामिल हुए। किसान सभाएँ सव जगह सगठित हो रही थी और इनमे किसान वटाईदार और खेत मजदूर, खेत मे काम करने वाले सव लोग शामिल थे। वटाईदारो के इन सगठनो और किसान सभाओ ने वटाईदारो की विशेष माँगो और शिकायतो की सूची वनायी और इन माँगो के समर्थन मे आन्दोलन भी सगठित किये। इन संघो, सभाओं, आन्दोलनो के सगठनकर्ता जवाहर लाल नेहरू, प्रो. एन. जी. रंगा जैसे घोर राष्ट्रवादी नेता थे। किसान सभाओं ने जमीदारी प्रथा को खर्चीला, अक्षम, अकुशल और अन्यायपूर्ण एव राष्ट्र विरोधी वताया।

किसान मालिकों के हित और संगठन—रैयतवारी के रूप में भूमिगत सम्पत्ति की सृष्टि के कारण भारत मे किसान मालिको का वर्ग पैदा हुआ। यह मोटे तौर पर अपनी आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार तीन मुख्य श्रेणियो—ऊपरी, मध्यम और निम्न मे विभाजित था। भूमि-कर की ऊँची दर, ऋणग्रस्तता आदि की वजह से यह वर्ग अपने अस्तित्व काल से ही अधिकाधिक दरिद्र होता गया था। किसान मालिको के दल का अल्पाश धनी किसानो की श्रेणी मे रहा और अधिकाश गरीव किसानो और खेत मजदूरों की श्रेणी मे। ऋणग्रस्तता के कारण जमीन तेजी से किसान मालिको के हाथ से निकलकर साहूकारों, व्यापारियो के हाथ मे जाती रही और दूरस्थ भूस्वामियो के नये वर्ग का जन्म हुआ।

किसान मालिको मे वटाईदारो की अपेक्षा पहले राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। इसकी वजह थी कि किसान मालिको का सीधा सम्वन्ध राज्य से था। किसान मालिक सीधे राज्य को भूमि-कर देते थे जवकि वटाईदारो का सीधा सम्वन्ध जमीदारो से था।[2]

भारतीय किसानों के प्रमुख आन्दोलन—फ्राज फैनन के दृष्टिकोण के अनुसार किसान और खेतिहर मजदूर औपनिवेशिक व्यवस्था के अन्तर्गत सवसे अधिक दुखी, त्रस्त और शोषित वर्ग है और इसीलिए साम्राज्यवाद विरोधी सघर्ष मे ये वर्ग अवसर आने पर सवसे महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी भूमिका निभा सकते है। इन्होने चीन, वियतनाम, लाओस, कम्वोडिया, अल्जीरिया, क्यूवा और अंगोला के साम्राज्यवाद विरोधी सघर्षों मे प्रमुख भूमिका निभायी है।

19वी सदी के उत्तरार्द्ध मे हुए किसान विद्रोहो मे 1855 का संथाल विद्रोह और 1875 का दक्कन विद्रोह सवसे महत्त्वपूर्ण थे। सन् 1875 मे दक्कन मे मराठा किसान साहूकारो के खिलाफ उठ खडे हुए क्योकि साहूकारो ने कचहरी की मदद मे वेदखली का डर दिखाया। उन्होने सूदखोरों के घरों पर हमला किया, कर्जे के कागजात नष्ट कर दिये और कुछ लोगो को जान से भी मार डाला। वलवा शान्त कर दिया गया लेकिन सरकार ने किसानो के लिए रिलीफ की जरूरत समझी और 1879 का डेक्कन एग्रीकल्चरिस्ट रिलीफ एक्ट पारित हुआ। इसी प्रकार पंजाव मे भी जव सूदखोरो ने वेदखली का भय दिखाया तो किसान विद्रोह कर उठे। स्थिति को शान्त करने के लिए सरकार ने पजाव एलियनेशन एक्ट पारित किया।

---

[1] वही, पृ. 146।

[2] वही, पृ. 149-50।

1914-18 के विश्वयुद्ध के वाद और खासतौर से विश्वव्यापी अर्थसंकट के अन्तिम दशक के वाद से किसानो का असन्तोष अभूतपूर्व तेजी के साथ बढा। 1917-18 मे गाँधीजी के नेतृत्व में विहार के चम्पारन जिले मे किसानो ने नील वगीचो के मालिको, जो अधिकाशत. यूरोपीय थे, के खिलाफ संघर्ष किया। सरकार ने एक जाँच कमेटी विठायी जिसके गाँधी भी सदस्य थे और इस कमेटी के प्रतिवेदन के आधार पर जो अधिनियम वना उससे किसानों को कुछ राहत मिली। इसके वाद गाँधी ने कर वसूली के विरुद्ध खेरा के किसानो का सत्याग्रह आन्दोलन सगठित किया।

गाँवों के किसान अपनी तकलीफों के कारण भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के राजनीतिक सघर्ष की ओर खिंचे लेकिन राजनीतिक सघर्ष कभी स्थानीय समितियो के साथ सम्वन्ध नही कायम कर सका। किसानो ने इसे महसूस किया और उन्होंने इनके विकसित करने तथा अपने निजी जन-सगठन तैयार करने की जरूरत को भी महसूस किया। किसानो की गाँव समितियाँ धीरे-धीरे जिला समितियो के साथ सम्वद्ध हो गयी और फिर ये समितियाँ, प्रारम्भ मे वेशक वहुत ढीले ढंग से प्रान्तीय सगठन मे तव्दील हो गयी।

असहयोग आन्दोलनो के दिनो मे भारतीय किसानो के कुछ अशो मे राजनीतिक चेतना आयी। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने भूमि-कर न देने का नारा दिया और इसका गहरा असर पडा। किसानो ने राज्य के राजनीतिक सघर्ष को भूमि-कर के विरुद्ध सघर्ष माना और उनमे से कुछ ने इस आन्दोलन के साथ सहानुभूति दिखायी। आन्ध्र मे 1923 मे रैयत और खेतिहर मजदूरो के अपने अलग सगठन वने। 1926-27 मे पजाव, वगाल और उत्तर प्रदेश के कुछ इलाको मे किसान सभाओ की स्थापना हुई। गुजरात मे वारदोली जिले के किसानो के दो सघर्ष हुए, एक 1928-29 मे दूसरा 1930-31 मे। पहले के नेता वल्लभ भाई पटेल थे और सरकार से अधिकाश माँगो को मनवा लेने मे आन्दोलन को जो सफलता मिली उससे किसान आन्दोलन को वडा वल मिला।

1927 मे विहार किसान सभा वनी और 1934 के वाद यह संगठन काफी व्यापक हो गया था। ऑल इण्डिया किसान सभा का, जो वाद मे वनी सवसे मजवूत अग विहार किसान सभा ही थी। उत्तर प्रदेश प्रान्तीय किसान सभा 1935 मे वनी।

किसी को राहत देने के लिए सरकार ने कई कदम उठाये। उत्तर प्रदेश मे 1934 मे पाँच डेट रिलीफ एक्ट्स वने, पंजाव मे 1934 मे ही रेगुलेशन आफ एकाउण्ट्स एक्ट पारित हुआ, वंगाल मे 1933 में मनीलैण्डर्स एक्ट पास हुआ। इन सवके वावजूद किसानो की हालत मे वहुत सुधार नही हुआ। इसलिए उनका असन्तोष वढता गया और किसान आन्दोलन मे तीव्रता आती गयी।

1936 मे पहला अखिल भारतीय किसान संगठन वना, जिसका नाम अखिल भारतीय किसान सभा रखा गया।[1] संगठन की पहली काग्रेस दिसम्वर 1936 मे फैजपुर मे ठीक उसी समय आयोजित की गयी जिस समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन चल रहा था। इस काग्रेस मे 20 हजार किसानो ने भाग लिया। इसके साथ-साथ फैजपुर मे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने अपना कृषि सम्वन्धित कार्यक्रम पारित किया और दोनो संगठनो की राजनीतिक एकता की घोषणा की गयी।

यद्यपि अखिल भारतीय किसान सभा देश की सारी आवादी को अपने प्रभाव मे नही ला सकी, लेकिन इसकी स्थापना का ऐतिहासिक महत्त्व है। सम्मिलित माँगो के कार्यक्रम और सारे किसानों की समवेत आकाक्षाओं के आधार पर देश के इतिहास में पहली वार किसानों का अखिल

---

[1] रजनी, पामदत्त : **आज का भारत**, 1977, पृ. 29।

भारतीय संगठन बना। यह संगठन नयी उच्चतर चेतना के उदय का परिचायक था और इस तरह प्राक् ब्रिटिश भारतीय किसान के स्थानीय परिप्रेक्ष्य की जगह राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य का जन्म हुआ।

मई 1938 मे किसान सभा की तीसरी काग्रेस कोमिल्ला मे हुई। इस समय तक किसान सभा के सदस्यो की संख्या साढे पाँच लाख तक पहुँच गयी। भाषावार 20 सूबो मे से 19 मे इस समय तक प्रान्तीय किसान समितियाँ बन चुकी थी। इस अधिवेशन मे जमीदारी प्रथा के विरुद्ध और साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष करने के बारे मे तथा किसानो की तात्कालिक जरूरतों के सम्बन्ध मे बहुत ही स्पष्ट कार्यक्रम पारित किये गये।

1937 मे नये एक्ट के आधार पर प्रान्तीय विधानसभाओ के लिए चुनाव होने वाले थे, इण्डियन नेशनल काग्रेस ने अपना जो चुनाव घोषणा-पत्र प्रकाशित किया था, उसमे अन्य माँगो के साथ-साथ किसानो की हालत मे सुधार की माँग की थी। किसानो को इस घोषणा-पत्र से काफी बल मिला। 1938 के समूचे वर्ष मे भारत के सभी सूबो मे किसानो के बड़े-बड़े संघर्ष हुए और लगान वृद्धि, बेदखली, जबरन मजदूरी तथा लगान की गैर-कानूनी वसूली की कोशिशो के खिलाफ तथा लगान की दर मे कमी करने के लिए अनेक मामलो मे उन्हे आशिक सफलता भी मिली। इसके साथ ही किसानों ने बडे-बडे जुलूस भी निकाले और समय-समय पर विशाल प्रदर्शन हुए जिनमे तीस हजार से लेकर चालीस हजार किसानो ने भाग लिया।

अखिल भारतीय किसान सभा का चौथा अधिवेशन अप्रैल 1939 मे गया मे हुआ। इस समय तक सगठन के सदस्यो की सख्या 8 लाख तक पहुँच गयी थी। मार्च 1940 मे पलास मे अखिल भारतीय किसान सभा का पाचवाँ अधिवेशन हुआ। 1942-45 मे किसान सभा के कन्धो पर एक बहुत बडी जिम्मेदारी आ पडी। इस जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए अखिल भारतीय किसान सभा और उसकी प्रान्तीय शाखाओ ने राष्ट्रीय नेताओ की रिहाई के लिए तथा एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए दृढतापूर्वक आन्दोलन चलाया।

भारत में भूमि सम्बन्धी नीति और उसका सामाजिक-आर्थिक संरचना पर प्रभाव
(AGRARIAN POLICY IN INDIA AND ITS IMPACT ON SOCIO-ECONOMIC STRUCTURE)

स्वतन्त्रता के बाद भूमि सुधार और कृषि विकास के लिए जो नीति अपनायी गयी उसके कुछ महत्त्वपूर्ण पहलू निम्नलिखित हैं .

1. **भूमि सुधार (Land Reforms)**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार ने काश्तकारो, उप-काश्तकारो व भूमिहीन मजदूरो की दशा सुधारने के लिए नयी भूमि नीति अपनायी। वैसे 1947 से पूर्व काश्तकारो की सुरक्षा व लगान नियम के लिए समय-समय पर विभिन्न राज्यो मे कानून पारित किये गये थे, लेकिन व्यवहार मे उनका विशेष प्रभाव नही पडा था। काश्तकारों की स्थिति मे स्थायी सुधार लाने के लिए भूमि व्यवस्था मे क्रान्तिकारी परिवर्तनो की आवश्यकता बराबर बनी रही। अन्त मे प्रथम पचवर्षीय योजना मे यह निश्चय किया गया कि भूमि का मालिक इसको जोतने वाला होना चाहिए, तभी सही अर्थों मे सामाजिक परिवर्तन हो सकेगा और कृषिगत उत्पादन बढ सकेगा। प्रथम योजना मे भूमि सुधार सम्बन्धी निम्न कार्यक्रम अपनाने पर जोर दिया गया . (क) मध्यस्थो का अन्त (ख) लगान मे कमी और काश्तकारो को भू-स्वामी के अधिकार दिलाना, भू-स्वामी के लिए खुदकाश्त के वास्ते भूमि छोड़ना, (ग) जोतो पर सीमा निर्धारित करना और अतिरिक्त भूमि बाँटना, (घ) जोतों की चकबन्दी और भूमि का अपखण्डन रोकना, (ङ) सहकारी कृषि का विकास और सहकारी ग्राम प्रबन्ध की ओर अग्रसर होना।

प्रथम योजना की अवधि मे मध्यस्थ वर्ग का लगभग अन्त कर दिया गया, लेकिन भूमि

सुधार के अन्य पहलुओं पर काम करना वाकी रह गया। द्वितीय पचवर्षीय योजना मे भूमि सुधारो पर ज्यादा जोर दिया गया ताकि आगे चलकर देश मे समाजवादी ढंग से समाज की स्थापना की जा सके। भूमि सुधारो मे अनावश्यक रूप से देर होने एवं अनिश्चितता वनी रहने से ग्रामीण अर्थव्यवस्था मे अस्थिरता उत्पन्न होती है और कृषि व औद्योगिक उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पडता है। इस योजना मे खुदकाश्त के विचार को सुनिश्चित वनाने का प्रयास किया गया। सीमा निर्धारण व सहकारी खेती के कार्यक्रमों को लागू करने पर वल दिया गया एवं कृषि के पुनर्सगठन के लिए आवश्यक सुझाव दिये गये।

प्रथम व द्वितीय योजना की अवधि मे जमीदारी, जागीरदारी एवं इनामी जैसे मध्यस्थ भूमि अधिकारो को समाप्त किया जा चुका था। ये देश के 40% क्षेत्र मे फैले हुए थे। इन सुधारो से लगभग 2 करोड़ काश्तकारों का सरकार से प्रत्यक्ष सम्वन्ध स्थापित हो गया था। काश्तकारी कानून वन जाने के वाद लगान सकल उपज का 1/5 से 1/4 तक रखा गया है। विभिन्न राज्यों मे लगान की अधिकतम दरें निर्धारित कर दी गयी हैं। पंजाव व हरियाणा मे उचित लगान कुल उपज का 33⅓% है तथा तमिलनाडु में कुल उपज के 33⅓% से 40% के वीच मे है। कई राज्यों मे काश्तकारों के द्वारा भू-स्वामित्व के अधिकार प्राप्त करने के लिए वैधानिक व्यवस्था की गयी है। अव तक लगभग 40 लाख काश्तकारो, उप-काश्तकारो व वँटाईदारो को 37 लाख हैक्टेयर भूमि पर स्वामित्व का अधिकार प्राप्त हो चुका है। विभिन्न राज्यों मे भावी जोतो पर सीमा निर्धारित की गयी है। भूतकाल मे राजस्थान व पंजाव में यह सीमा 20 स्टैण्डर्ड एकड पर लागू की गयी थी। वर्तमान जोतों की सीमा भी विभिन्न राज्यों मे कानून द्वारा निर्धारित कर दी गयी है। इस समय असम मे 67·4 हैक्टेयर और पश्चिम वंगाल मे 5 से 7 हैक्टेयर पर सीमा निर्धारित की गयी है। राजस्थान मे 7·25 से 21·85 हैक्टेयर पर सीमा लगायी गयी है। सीमा निर्धारण कानूनों के अन्तर्गत प्राप्त अतिरिक्त भूमि भूमिहीनो मे वितरित कर दी गयी। सीलिंग से ऊपर भूमि वितरण से 14·3 लाख भूमिहीन व्यक्तियो को लाभ पहुँचा है जिनमे से आधे व्यक्ति अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के है। सरकार के पास जो व्यर्थ भूमि पडी थी, वह भी भूमिहीनो मे वितरित की गयी है। उसमे निर्धन व पिछड़े वर्ग के लोगों को लाभ पहुँचा है। कई राज्यों मे भूमि के हस्तान्तरण व टुकड़े करने पर रोक लगायी गयी है और भूमि की न्यूनतम सीमा निर्धारित की गयी है जिसके नीचे विभाजन नही किया जा सकता है।

भूमि सुधार कानूनों के पारित होने के वावजूद भी भूमि सुधार का कार्य वाछित गति से आगे नही वढ सका है। इस धीमी गति के कारण अनेक जमीदार भूमि सुधार कानूनो को डाकने मे सफल हो गये और इस प्रकार अनेक अच्छी वातें लागू नही होने पायी। उदाहरण के लिए, सीमावन्दी नीति को घोपित करने और उसे लागू करने के वीच जो अधिक समय मिला, उसका फायदा उठाकर जमीदारों ने अपनी वहुत-सी जमीन दूसरो के नाम करके इधर-उधर कर दी। भूमि सुधार की नीति अपर्याप्त भी रही है। उदाहरण के लिए, यह तो ठीक है कि विचौलियों को सवसे पहले हटाया गया और सरकार का भू-स्वामी से सीधा सम्वन्ध स्थापित हो गया। लेकिन इस नीति मे इस वात की व्यवस्था नही की गयी कि जमीन की मिल्कियत केवल उन्ही किसानो के पास रहेगी जो स्वयं खेती करेंगे। इस अपर्याप्त नीति का परिणाम यह हुआ कि कृषि क्षेत्र मे सामन्ती और अर्द्ध-सामन्ती भूस्वामी पैदा हो गये। ये वे लोग हैं जो स्वयं खेती नही करते वल्कि फसल वँटाई के आधार पर अथवा कही-कही मजदूरों द्वारा खेती करवाते हैं। कुछ ऐसे लोग भी जमीन के मालिक वन गये जो कृषि से सम्वन्धित न थे, जैसे कि महाजन, व्यापारी आदि। दूसरे शब्दो मे, एक तो अन्यत्रवासी जमीदार पैदा हो गये और दूसरे गैर-कृषि लोगों के हाथ मे भूमि चली गयी।

2. सहकारी खेती (Co-operative Farming)—भूमि के टुकडो को मिलाकर संयुक्त खेती करना भारत के लिए वहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। सरकार ने ऐच्छिक आधार पर सहकारी खेती को वढावा देने के लिए वित्तीय सहायता, लगान व आय-कर मे रियायत दी है। एक राष्ट्रीय कृषि सलाहकार वोर्ड वनाया गया है। तृतीय योजना मे 318 मार्गदर्शी परियोजनाओ (पाइलट प्रोजेक्टो) मे प्रत्येक मे 10 सहकारी कृषि समितियाँ स्थापित करने की योजना वनायी गयी थी। इन्हे चुने हुए सामुदायिक विकास खण्डों मे स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया था।

काग्रेस ने 1959 मे नागपुर अधिवेशन मे 'उत्तम कृषि सहकारी समितियाँ' अथवा 'सहकारी सेवा समितियाँ' चालू करने पर वल दिया था ताकि किसानो को खाद, वीज एवं औजार खरीदने व विक्री आदि मे मदद मिल सके। नागपुर अधिवेशन मे एक प्रस्ताव मे प्रथम तीन वर्ष तक अर्थात् 1961 के अन्त तक ऐसी समितियाँ स्थापित करने पर वल दिया गया था। साथ मे, यह कहा गया था कि उसके वाद सहकारी संयुक्त खेती का प्रचार किया जायेगा जिसमे किसान भूमि के टुकड़े मिलाकर खेती करेगे। नागपुर प्रस्ताव मे सहकारी सयुक्त खेती को वस्तुत समस्त देश मे खेती की एक व्यापक पद्धति के रूप मे अपनाने की वात कही गयी थी। यही कारण है कि नागपुर प्रस्ताव से काफी विवाद छिड गया। लेकिन वाद मे देश मे सहकारी कृषि के प्रति उत्साह उत्तरोत्तर मन्द पडता गया।

सहकारी खेती के अन्तर्गत वहुत-से किसान अपनी जोतो को मिला देते हैं। इससे जोतो की सीमा वढ जाती है अर्थात् खेत वड़े हो जाते हैं। सहकारी खेती सदस्य किसानो की इच्छा पर निर्भर होती है। सहकारी खेती के सामान्यत चार रूप पाये जाते हैं—सहकारी सयुक्त खेती, सहकारी उन्नत खेती, सहकारी सामूहिक खेती और सहकारी काश्तकार खेती।

सहकारी खेती के इन चार रूपो मे से **'सहकारी संयुक्त खेती'** ही हमारे देश मे अधिक लोकप्रिय हुई है। सहकारी सयुक्त खेती के अन्तर्गत इन किसानो का भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व भी वना रहता है परन्तु खेतो का आकार वडा हो जाता है। इससे उनमे गहन खेती अथवा वडे पैमाने पर खेती की जा सकती है। उपज का वँटवारा भी भूमि तथा श्रम के अनुपात द्वारा किया जाता है, जो कि अधिक न्यायसंगत है।

सहकारी खेती से कई लाभ है—सर्वप्रथम तो सहकारी खेती से जोतों के आकार मे वृद्धि हो जाती है जिससे उन पर अच्छे एवं उन्नत ढंग से खेती की जा सकती है। अभी हमारे देश मे 60 प्रतिशत जोतें 2½ हैक्टेयर से भी कम आकार की हैं। इन जोतो पर पूंजी और श्रम का सदुपयोग नही हो पाता। जोतो का आकार वढ जाने से उनमे लगायी गयी पूंजी और श्रम का सदुपयोग हो सकेगा। खेतों का आकार वढ जाने मे उनमे श्रम और पूंजी लगायी जा सकेगी और उन पर वडे पैमाने की खेती की जा सकेगी। साथ ही अच्छे वीज, खाद, उर्वरक एव औजारो आदि की व्यवस्था भी की जा सकेगी। इनसे खेती के उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हो सकेगी।

भारत मे यह प्रणाली लोकप्रिय नही हो पायी। 30 जून, 1978 तक 4,947 सहकारी संयुक्त कृषि समितियाँ ही वन पायी जिनकी सदस्य संख्या 1·62 लाख और इनके अधिकार मे भूमि की मात्रा 3·3 लाख हैक्टेयर ही थी। सामूहिक कृषि समितियाँ 4,750 व सदस्य सख्या 1 63 लाख व इनके अन्तर्गत भूमि की मात्रा 2·4 लाख हैक्टेयर थी। इन दोनो के अन्तर्गत शुद्ध वोया गया क्षेत्र काफी कम था और वहुत थोडी समितियाँ ही लाभ मे चल रही थी। इस प्रकार केवल 3% से भी कम किसान 'सहकारी खेती' के लिए रजामन्द हो सके।

3. सामुदायिक विकास कार्यक्रम (Community Development Programme)—सामुदायिक विकास कार्यक्रम का आशय उन क्रियाओ से है जिनके अन्तर्गत विकास और कल्याण के लिए लोगों के प्रयास को सरकारी प्रयास के साथ मिलाया जाता है। भारत मे इस कार्यक्रम

का उद्देश्य न केवल ग्रामो का बहुमुखी विकास करना था वरन् कृषि के पिछड़ेपन को भी दूर करना था। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी।

सामुदायिक-विकास कार्यक्रम द्वारा ग्रामवासियो का सर्वांगीण विकास करके गाँवों के आर्थिक और सामाजिक जीवन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करना और ग्रामीणो के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना एकमात्र उद्देश्य था। ग्रामों को आत्मनिर्भर बनाने एवं उनका उत्थान करने की दिशा में यह कार्यक्रम एक मुख्य कदम था।

अक्टूबर 1952 मे प्रयोगात्मक आधार पर यह कार्यक्रम 55 मार्गदर्शी परियोजनाओ से आरम्भ किया गया। संसाधनों की सीमितता के कारण बाद मे इस प्रयास के विस्तार के लिए एक अन्य कार्यक्रम इसके साथ जोड़ा गया जिसे 'राष्ट्रीय विस्तार सेवा' (National Extension Service) का नाम दिया गया। राष्ट्रीय विस्तार सेवा की तुलना मे सामुदायिक विकास के संसाधन अधिक होते हैं, लेकिन उद्देश्यो की दृष्टि से दोनों कार्यक्रम एक जैसे हैं। कार्यक्रम अब देश के सारे गाँवो मे फैले हुए हैं। 1952 मे सामुदायिक विकास की प्रत्येक परियोजना का विस्तार क्षेत्र 1,300 वर्ग किलोमीटर था, जिसमे कोई तीन लाख आबादी के लगभग 300 गाँव शामिल थे। अप्रैल 1958 मे इस ढाँचे मे परिवर्तन लाया गया। इस संशोधित ढाँचे के अनुसार एक सामुदायिक विकास खण्ड मे साधारणतया 110 गाँव और 92 हजार लोग आते हैं और हर परियोजना लगभग 620 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र मे फैली होती है। अप्रैल 1977 मे सामुदायिक विकास खण्डो की सख्या 5,028 थी। इनका विस्तार 6·3 लाख गाँवो तक था जिनमें कोई 47 करोड़ लोग बसे हुए थे। तीसरी योजना के अन्त तक सामुदायिक विकास खण्डो के लिए वित्त उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी केन्द्रीय सरकार पर थी। चौथी योजना के आरम्भ से राज्य सरकारें इस वित्त व्यवस्था के लिए जिम्मेदार हैं।

योजना आयोग के अनुसार इन कार्यक्रमो की तीन मुख्य क्रियाएँ इस प्रकार है : (i) उत्पादन और रोजगार में वृद्धि जिसके लिए कृषि, पशु-पालन, मछली-पालन आदि सम्बन्धित क्षेत्रो मे वैज्ञानिक तरीको के व्यवहार की तथा सहायक एवं कुटीर-उद्योगो की स्थापना की व्यवस्था है। (ii) आत्म साहाय्य, स्वावलम्बन तथा सहकारिता के सिद्धान्त का अधिकाधिक विस्तार जिसके लिए विभिन्न संस्थाओ का प्रबन्ध किया गया है, जो लोगो को अपने ससाधनों पर निर्भर रहने के लिए प्रोत्साहन देती है। (iii) ग्रामीण क्षेत्रो की अप्रयुक्त शक्ति और समय का सदुपयोग, जिसके सम्बन्ध मे श्रमदान एवं अन्य प्रकार के दान द्वारा ग्रामीण ससाधनो को समुदाय के लाभ के लिए इस्तेमाल करने का प्रबन्ध है।

सामुदायिक विकास-कार्यक्रम के संगठन और प्रशासन के लिए विभिन्न स्तरो जैसे केन्द्र, राज्य, जिला, खण्ड और विभिन्न एजेन्सियो का प्रबन्ध है। केन्द्र के स्तर पर कृषि-मन्त्रालय सामुदायिक विकास सम्बन्धी मूल नीतियो तथा खण्डों मे होने वाले व्यय के सिलसिले मे व्यापक प्रतिरूप या ढाँचा निर्धारित करता है। कार्यक्रम को लागू करने की जिम्मेदारी राज्य सरकारों की है। इसके लिए हर राज्य मे इस कार्यक्रम के संचालन के लिए एक विकास कमिश्नर होता है, जो राज्य सरकारो के विभिन्न विभागों के ग्राम विकास सम्बन्धी कार्यक्रमो को नियमित करता है। कुछ राज्यो मे यह कार्य कृषि-उत्पादन कमिश्नर के सुपुर्द है जो सामुदायिक विकास के अतिरिक्त पचायती राज और सहकारिता के भी अध्यक्ष होते है।

जिला स्तर पर इस कार्यक्रम को लागू करने तथा विभिन्न कार्यों को समन्वित करने की जिम्मेदारी जिला-परिषद पर होती है। जिला-परिषद मे लोगो द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो के अतिरिक्त, खण्ड की पंचायत-समिति के अध्यक्ष तथा उस जिले के संसद और विधानसभा के सदस्य होते है। खण्ड-स्तर पर इस कार्यक्रम को चलाने का कार्य पंचायत-समितियों के हाथ मे होता है

जिनमे ग्राम-पंचायतो के निर्वाचित सरपंच तथा कुछ पिछडी व अनुसूचित जातियो के प्रतिनिधि होते है। प्रत्येक खण्ड के लिए एक खण्ड-विकास अधिकारी तथा कृषि, सहकारिता, पशु-पालन आदि से सम्बन्धित आठ विशेषज्ञ विस्तार-अधिकारी होते हैं जो पंचायत समिति के निर्देशन मे कार्य करते है। कुछ गैर-सरकारी सगठन जैसे महिला-मण्डल, युवक सघ, कृषि-समाज आदि भी इस कार्य मे पंचायत का हाथ बँटाते है। गाँव के स्तर पर ग्राम सेवक होता है, जो बहुधन्धी कार्यकर्ता के रूप मे काम करता है। हर ग्रामसेवक लगभग 10 ग्रामो मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम की देख-रेख करता है।

सामुदायिक विकास द्वारा कृषि अर्थव्यवस्था के आधारभूत परिवर्तन और सुधार लाने के इस प्रयास की आरम्भ में बडी सराहना की गयी। सुविख्यात इतिहासकार प्रो. टॉयनबी के अनुसार, "यह कृषकों के लिए विश्व इतिहास की सर्वाधिक लाभकारी क्रान्तियो मे से है।" सयुक्त राष्ट्र संघ के एक मण्डल की राय मे "यह वर्तमान शताब्दी का एक प्रमुख प्रयोग है।" पण्डित नेहरू के शब्दो मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम शक्ति, आशा और उत्साह की तेजी से फैलने वाली चिनगारियाँ है।" मोटे तौर पर इस कार्यक्रम से तीन दिशाओ मे प्रगति हुई है। एक तो ग्रामीण क्षेत्रो मे विकास के लिए आधारित संरचना उपलब्ध है। दूसरे, विकास के प्रति समदृष्टिगत एवं बहुप्रयोजनीय दृष्टिकोण को बढावा मिला है। तीसरे, पुराने रीति-रिवाजो के खिलाफ और उत्पादन कार्यों के अनुकूल लोगो की अभिरुचियो मे परिवर्तन आने लगे हैं। पहली तीन योजनाओ मे कुल मिलाकर इस कार्यक्रम पर 501 करोड़ रुपये खर्च हुए। 1967-68 से 1973-74 तक इस पर व्यय की गयी राशि 172 करोड रुपये के लगभग थी। पाँचवी योजना मे सामुदायिक विकास के लिए लगभग 127 करोड रुपये की व्यवस्था की गयी थी।

इन सारी उपलब्धियो के बावजूद इस कार्यक्रम की असफलताएँ इतनी गम्भीर हैं कि कुछ अर्थशास्त्री सामुदायिक विकास कार्यक्रम को बिल्कुल विफल मानते हैं। उत्पादन और रोजगार के सम्बन्ध मे सामुदायिक कार्यक्रम की मूल्याकन रिपोर्टों से बोध होता है कि इस कार्यक्रम के अन्तर्गत छोटे-छोटे किसानो और भूमिहीन मजदूरो को लाभ नही पहुँचा। बलवन्त राय मेहता समिति की रिपोर्ट मे इस बात का पता चलता है कि सरकार द्वारा उपलब्ध तकनीकी सुविधाओ का अधिकाश लाभ बडे-बडे भूमिधरो व सम्पन्न किसानो ने उठाया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत खर्च का अधिक भाग कल्याण सम्बन्धी कार्यो जैसे स्कूल, अस्पताल आदि पर लगा, जो दिखावे के लिए तो ठीक रहा लेकिन उत्पादन के लिए सहायक नही रहा। इस प्रकार उत्पादन कार्य को अधिक बढावा नही मिल सका। उत्पादन और रोजगार की दृष्टि से छोटे किसानो और खेतिहर मजदूरों को लाभ न मिलने से अधिकाश ग्रामीण जनसंख्या मे निष्क्रियता और नैराश्य की भावनाओ को बहुत बल मिला है।

4. **कृषि की नयी कार्यनीति** (New Agricultural Strategy)—नयी तकनीक का मूल तत्त्व है नये सुधरे बीजों का अन्य कृषिगत निविष्टियों के नये रूपो एवं नये सयोगो के साथ प्रयोग। इससे खेती प्रकृति मे उतनी परिसीमित नही रही जितनी कि परम्परागत खेती रहती है। चूंकि कृषि के क्षेत्र मे यह तकनीक एकाएक आयी, तेजी से जितना विकास-विस्तार हुआ और थोडे-से समय मे इससे आश्चर्यजनक परिणाम निकले, इसलिए इसे 'हरित क्रान्ति' की संज्ञा दी जाती है।

इस कार्यक्रम को कृषि की नयी युक्ति या कार्य-नीति भी कहा जाता है जिसे 1966 की खरीफ फसल के साथ शुरू किया गया। 1960-61 मे एक कार्यक्रम 'गहन कृषि जिला कार्यक्रम' (Intensive Agricultural District Programme) के नाम से देश के सात चुने हुए जिलो मे अपनाया गया। यह 'एकमुश्त कार्यक्रम' के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि इसके अन्तर्गत

विभिन्न कृषिगत साधनों को एक साथ चुने हुए क्षेत्रों में प्रयोग किया जाता है। इसका उद्देश्य अनाज के उत्पादन में वृद्धि और तेज आर्थिक विकास के लिए आधार तैयार करना था। इसके अन्तर्गत किसानों को ऋण, बीज, खाद, औजार आदि उपलब्ध कराना एवं केन्द्रित प्रयासों द्वारा दूसरे क्षेत्रों के लिए गहन खेती का ढाँचा तैयार करना था।

1964-65 से इसी दृष्टिकोण के संशोधित रूप का देश के अन्य भागों में 'गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम' (Intensive Agricultural Area Programme) के अन्तर्गत विस्तार किया गया। 1965-66 तथा 1966-67 के सूखा के कारण तथा अधिक उपज वाले बीजो की उपलब्धि के फलस्वरूप नयी कृषि नीति को अपनाया गया। इस नीति या युक्ति का मूल उद्देश्य ज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रयोग से प्रति हेक्टेयर उत्पादन मे वृद्धि लाना है। इस कार्यक्रम या नीति के मुख्य अंग इस प्रकार हैं --ऊँची उपज वाले बीजो का प्रयोग, बहुफसली कार्यक्रम, सिंचाई की व्यवस्था व पानी का ठीक प्रबन्ध तथा सूखे क्षेत्रों का सुसम्बद्ध विकास। इस नीति का मूल तत्त्व अधिक उपज देने वाले बीजों का प्रयोग है।

नयी कृषि नीति के अन्तर्गत अनेक फसलो का उत्पादन बढा है। सबसे अधिक वृद्धि गेहूँ के उत्पादन मे हुई। इस बात को लेकर प्राय. यह कहा जाता है कि हरित क्रान्ति मुख्यत. 'गेहूँ की क्रान्ति' है।

उन्नत किस्म के बीज, अधिक खाद, श्रेष्ठकर तकनीक आदि के प्रयोग से उत्पादिता मे भी भारी वृद्धि हुई है, यद्यपि इसमे घट-बढ होती रही है। पंजाब मे जहाँ हरित क्रान्ति का अधिक प्रभाव पड़ा है, वहाँ प्रति हेक्टेयर उपज मे और भी तेजी से वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, 1975-76 और 1977-78 के बीच पंजाब मे औसत प्रति हेक्टेयर उपज गेहूँ की 2,449 किलोग्राम और चावल की 2,887 किलोग्राम थी, जबकि सारे देश के लिए यह औसत उपज गेहूँ की 1,425 किलोग्राम और चावल की 1,215 किलोग्राम थी।

हरित क्रान्ति देश मे भारी वाद-विवाद का विषय बनी हुई है। इस क्रान्ति का विस्तार बहुत सीमित रहा है। यह परिसीमितता तीन प्रकार की है। एक का सम्बन्ध फसलो से है, दूसरी का भूमि से और तीसरी का राज्यों या क्षेत्रो से है। फसलो की दृष्टि से यह क्रान्ति केवल गेहूँ की फसलो तक सीमित रही है। साथ ही इस क्रान्ति का विस्तार बहुत थोड़ी भूमि से ही अभी तक हुआ है। देश की लगभग 97 प्रतिशत भूमि, जहाँ सिंचाई की सुविधा नहीं है, वहाँ हरित क्रान्ति नहीं आयी है। इसी प्रकार देश के इने-गिने राज्यो या स्थानो मे ही हरित क्रान्ति का प्रभाव पड़ा है। मुख्य रूप से यह क्रान्ति पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रो मे ही आयी है। शेष सारा देश इस क्रान्ति से लगभग अछूता रहा है।

सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षणो से पता चलता है कि इस क्रान्ति का लाभ केवल बड़े-बड़े सम्पन्न भूमिवानों को ही मिला। चूँकि इस क्रान्ति के पहले अथवा इसके साथ भूमि-सुधार कार्यक्रम पूरा नहीं किया गया, इसलिए कृषि विकास की इस नयी नीति के अन्तर्गत मिलने वाली सुविधाओ का सारा फायदा धनवानो ने ही उठाया। अपनी पहुँच और अपेक्षाकृत विशाल साधनों के बल पर बड़े-बड़े भूमिवानो ने ही ऊँची उपज वाले बीजों, रासायनिक उर्वरको, पम्प-सैट व ट्रैक्टरो आदि की सुविधाओं को हथिया लिया। इस प्रकार उत्पादन और आय बढ़ाने की यह क्रान्ति मुख्य रूप से ऐसे लोगों के लाभ के लिए ही काम मे आयी। श्री फ्रेन्केल के अध्ययन और उत्तर प्रदेश तथा पंजाब के फार्म-सर्वेक्षणो से यह सिद्ध हुआ है कि कृषि क्षेत्र की असमानताएं न केवल भू-स्वामित्व के सम्बन्ध मे असमानताओ के कारण बढ़ी हैं, बल्कि कृषिगत साधनो, ऋण और तकनीकी ज्ञान की प्राप्ति और प्रयोग करने में असमानताओ के फलस्वरूप भी बढ़ी है।

हरित क्रान्ति ने केवल बड़े जमीदारो और छोटे किसानो के बीच ही फासला नही बढाया है बल्कि प्रादेशिक असमानताओ को भी बल दिया है। कारण, इसका फैलाव देश के चन्द भागो तक ही परिसीमित रहा।

भूमि सम्बन्धी नीति का सामाजिक-आर्थिक संरचना पर प्रभाव (Impact of the Agrarian Policy on the Socio-Economic Structure)

भूमि सम्बन्धी नीति सामाजिक सरचना को प्रत्येक युग मे प्रभावित करती रही है। अंग्रेजी शासन काल मे नयी भूमि व्यवस्था मे भूमि पुण्य वस्तु हो गयी थी। इससे किसानो को यह अधिकार तो मिला कि वह अपनी जमीन को बेचें या रेहन कर सकें, लेकिन महाजन को भी यह अधिकार मिला कि वह किसान की जमीन हडप ले। नये आर्थिक पर्यावरण मे जिस दरिद्रता का जन्म हुआ उसके कारण अधिकाधिक जमीन महाजनो की होने लगी। फलस्वरूप भारतीय कृषक समाज का व्यापक स्वत्वापहरण हुआ और दूरस्थ जमीदारो के वर्ग का आविर्भाव हुआ। भारतीय किसानो की गरीबी और ऋणग्रस्तता के कारण किसान की जमीन बनिया, महाजन या जमीदार के हाथ मे जाने लगी। काश्तकार मालिको की सख्या घटी और जमीन धीरे-धीरे गिने-चुने लोगो के अधिकार मे आती गयी। गरीब और मध्यम किसान का अल्पाश ही धनी हो सका, उनका अधिकाश बँटाईदार या खेतिहर मजदूर हो गया। किसानो के बीच वर्ग विशिष्टीकरण की प्रक्रिया लगातार अधिकाधिक तीव्र होती गयी। खेतिहर मालिको और काश्तकारो की सख्या घटती गयी और गैर-काश्तकार जमीदारो की सख्या बढ़ती गयी। बगाल, बिहार, उडीसा, मद्रास और देश के अन्य भागो मे ब्रिटिश सरकार द्वारा दिये गये अस्थायी मालिकाना हक के चलते जमीदारो का जो वर्ग बना था, उसके अतिरिक्त अब दूरस्थ और गैर-काश्तकारी जमीदारो के एक नये वर्ग का जन्म हुआ। गैर-काश्तकार जमीदार, काश्तकार मालिक और बँटाईदार खेतिहर मजदूर—खेती से सम्बन्धित कुल इतने ही वर्ग नही थे। भूमिहीन सर्वहारा के नीचे खेतिहर आबादी के दूसरे तबके भी थे जो अत्यन्त निर्धन, लगभग कृषि दासता की स्थिति मे थे।

स्वाधीनता के बाद अपनायी गयी भूमि सुधार सम्बन्धी नीतियों ने भी भारतीय सामाजिक संरचना को किसी न किसी रूप से प्रभावित किया है। उदाहरणार्थ, 'हरित क्रान्ति' से कृषको मे परस्पर व अन्तर्क्षेत्रीय असमानताएँ उत्पन्न हुई जिससे करोडो कृषक परिवारो मे असन्तोप बढा है। इस नीति मे अधिक सम्पन्न क्षेत्रो पर ज्यादा ध्यान दिया गया, जबकि आवश्यकता थी पूर्वी उत्तर-प्रदेश, बिहार व राजस्थान आदि के अकालग्रस्त क्षेत्रो पर अधिक ध्यान देने की। 'नयी नीति' ने सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक तनावो को जन्म दिया है। देहातो मे एक 'नया धनिक वर्ग' (A new rich class) उत्पन्न हो गया है जिसकी स्थिति खेतिहर मजदूर, छोटे कृषक व अन्य काश्तकारो से काफी अच्छी है। कृषि ससार दो उप-ससारों मे विभक्त हो गया है—एक, परम्परागत पद्धति का पोपक है तो दूसरा नवीन पद्धति का। इससे नये वर्ग भेद पैदा हो रहे हैं।

संक्षेप मे, स्वाधीनता के बाद अपनायी गयी कृषि नीतियों से भारतीय समाज निम्नलिखित वर्गो मे विभक्त हो गया है

(i) **जमीदार वर्ग**—जमीदारी प्रथा को समाप्त करने के लिए अनेक कानून पारित किये गये किन्तु इन कानूनो का सही प्रकार से क्रियान्वयन नही हो सका। अत. देश के कई भागो मे आज भी जमीदार वर्ग बना हुआ है। असम, हिमाचल प्रदेश और जम्मू-कश्मीर मे भी अभी भी ऐसे कानूनो को लागू करना है जिनसे जमीदारो को समाप्त किया जा सके। बिहार मे जमीदारी प्रथा ज्यो-की-त्यो बनी हुई है।

(ii) **सामन्ती और अर्द्ध-सामन्ती भूस्वामी वर्ग**—भूमि सुधार नीति का एक परिणाम यह हुआ कि कृषि क्षेत्र मे सामन्ती और अर्द्ध-सामन्ती भू-स्वामी पैदा हो गये। ये वे लोग हैं जो स्वयं

खेती नही करते, वल्कि फसल वँटाई के आधार पर अथवा कही-कही मजदूरो द्वारा खेती करवाते हं। कुछ ऐसे लोग भी जमीन के मालिक वन गये जो कृषि से सम्बन्धित न थे, जैसे कि महाजन, व्यापारी आदि। दूसरे शब्दों मे, एक तो अन्यत्रवासी जमीदार पैदा हो गये और दूसरे गैर-कृषि लोगो के हाथ से भूमि चली गयी।

(iii) **पूंजीवादी किसान**—यह किसानो का वह वर्ग है जो वहुत वड़े-वडे कृषि फार्मो पर मजदूरो के जरिये खेती करा रहे हैं। यह वर्ग सरकार द्वारा उपलब्ध सुविधाओं—कृषि उपकरण कीटनाशक ऋण, वीज, रासायनिक खाद, नलकूपो, पम्प सैटो, ट्रैक्टरों आदि का प्रयोग कर रहा है। कृषि आय का एक वहुत वडा अश इस वर्ग के हिस्से मे आता है और यह वर्ग अपने फार्मों पर काम करने वाले श्रमिको का शोपण करता है।

(iv) **लघु किसान**—भारत प्रमुखतया लघु कृषको का देश है। साधारणतया 5 एकड व इससे कम कार्यशील जोतो के कृपक लघु कृपक कहलाते हैं तथा 2·5 एकड व इससे कम जोतों वाले सीमान्त कृपक (Marginal farmers) कहलाते है। लघु किसानों की दो मुख्य श्रेणियाँ हैं—(i) वे जिनकी जोत छोटी तो है, पर जो किसी न किसी तरह अपनी जोत से गुजारा कर लेते हैं—और (ii) वे जिनके पास गुजारे लायक जमीन नहीं है और इसलिए उन्हे फालतू समय मे दूसरो की भूमि पर 'मजदूर' के रूप मे कार्य करना पडता है। लघु किसान पुराने कर्ज के रूप मे वढती हुई मजवूरियो के कारण अपनी भूमि वेचने के लिए वाध्य हो जाते है जिससे भूमिहीन श्रमिको की सख्या लगातार वढती जा रही है।

(v) **खेतिहर मजदूर**—हमारी कृषि नीति से खेतिहर मजदूरो का एक नया वर्ग भी उत्पन्न हो गया है। राष्ट्रीय श्रम आयोग ने खेतिहर मजदूरो को दो मोटी कोटियो मे विभाजित किया—(i) भूमिहीन मजदूर, और (ii) वहुत छोटे किसान जिनकी आय का मुख्य साधन, कृषि-जोतो के वहुत छोटे होने के कारण, मजदूरी-रोजगार है। पहली कोटि के भूमिहीन श्रमिकों को इन दो मुख्य कोटियों मे वॉटा गया है—(i) स्थायी श्रमिक जो कृपक परिवारो से वँधे हुए (Attached) होते हैं, इन्हें ठेके या वँधे श्रमिक भी कहते है, और (ii) अनियत तथा अस्थायी (Casual) श्रमिक। स्थायी ठेका खेतिहर मजदूर (Attached labourers) साधारणत. वार्पिक या मौसम के आधार पर कार्य करते है। इनका भू-स्वामी के साथ किसी-न-किसी प्रकार का ठेका होता है। इनकी मजदूरी, प्रथा व परम्परा के आधार पर निर्धारित होती है। साधारणतया; ये कही और मजदूरी करने के लिए स्वतन्त्र नही होते। इसके विपरीत, अनियत श्रमिक उस समय रखे जाते हैं। जव खेती के क्षेत्र मे काम अधिक होता है। इनका रोजगार अस्थायी होता है और इन्हे वाजार-दर के अनुसार मजदूरी दी जाती है। ये किसी भूस्वामी से वँधे नहीं होत। व्यक्तिगत रूप से ये स्वतन्त्र होते हैं। ये कभी भी काम को छोड़ सकते हैं।

दूसरी कोटि मे आने वाले छोटे कृपक-श्रमिको को तीन उपकोटियो मे वॉटा जा सकता है: (i) वे छोटे किसान जिनके पास वहुत थोड़ी भूमि होती है और इस कारण वे अपने अधिकाश समय मे दूसरो की भूमि पर मजदूर के रूप मे कार्य करते हं, (ii) वँटाईदार (Sharecroppers) जो भूमि पर कार्य के वदले उत्पाद मे भाग लेने के अलावा मजदूरी पर भी कार्य करते ह। (iii) पट्टेदार जो ठेके पर भूमि लेकर खेती करते हैं और साथ ही मजदूरी पर भी कार्य करते हैं।

काफी लम्वी अवधि से देश मे खेतिहर मजदूरों की संख्या वडी तेजी से वढती रही है और अव यह सख्या वहुत अधिक हो गयी है। 1971 की जनगणना के अनुसार, मुख्य क्रिया के आधार पर, देश मे खेतिहर मजदूरों की संख्या उस वर्ष 4·75 करोड़ थी, जो कि कुल श्रमिक संख्या का 26·3 प्रतिशत भाग था।

देश के अधिकाश खेतिहर मजदूर अपेक्षित एव दलित जातियो के सदस्य है। इनका सामाजिक स्तर वहुत नीचा हे। कही-कही तो इनकी स्थिति निरीह मूक पशुओ जैसी दिखायी पड़ती है। गरीवी और वेकारी के कारण प्रायः इन्हे दास की तरह जीवन विताना पडता है। कई वार थोडा-सा कर्ज लेने के वदले इन्हे जीवन भर, कभी-कभी कई पीढियो तक वेगार व निकृष्ट काम करना पडता है।

वर्गीय हितों तथा जातीय राजनीति में अन्तःक्रिया (Interactions between Class Interests and Caste Politics)

जमीदार, पूँजीवादी किसान, सामन्ती और अर्द्ध-सामन्ती भूस्वामी वर्ग का सम्वन्ध समाज की उच्च समझी जाने वाली जातियों से रहा है। इस वर्ग के राजपूत, जाट, महाजन, ठाकुर आदि जातियाँ आती हैं। दूसरी तरफ खेतिहर मजदूरो का एक वहुत वडा हिस्सा अनुसूचित जातियो, जनजातियो और पिछडे वर्गो से सम्वन्ध रखता है। इसलिए भारत मे 'वर्गीय हित' और 'जातीय हित' आपस मे घुल-मिल गये है। ऊँची समझी जाने वाली जातियाँ खेतिहर मजदूरो का शोषण कर रही हे। उन्हे जमीदारो के खेतो पर आज भी मजदूरो के रूप मे रहना पडता है और निर्धारित न्यूनतम मजदूरी भी नही मिल पाती है। जमीदार वर्ग चाहता है कि खेतिहर मजदूर उनके इशारे पर वोट दें। गाँवो मे हरिजनों पर वरावर अत्याचार होते रहे हैं। परन्तु धीरे-धीरे शोषित वर्ग जागरूक होता जा रहा है जिसका परिणाम होगा 'वर्ग सघर्ष'। विहार मे 'वर्ग संघर्ष' की अनेक घटनाएँ हो चुकी है।

स्वाधीनता के बाद भारत में कृषक समाज से सम्वन्धित राजनीति

(POLITICS OF AGRARIAN SECTOR IN THE POST INDEPENDENCE INDIA)

भूमि सुधार से सम्बन्धित राजनीति (The Politics of Land Reforms)—स्वाधीनता के वाद भारत मे कृषक समाज से सम्वन्धित **'राजनीति'** का नेतृत्व जमीदारो और जागीरदारो के हाथो मे आ गया। चूँकि सामान्य किसानो के पास 'राजनीति' करने के लिए न तो समुचित धन था और न संगठन। यहाँ तक कि गरीव किसानो के हित सवर्द्धन के लिए नीतियाँ भी वनायी गयी तो जमीदारो ने स्थानीय स्तर पर नौकरशाही से साँठ-गाँठ करके उनका क्रियान्वयन रोक दिया। स्वाधीन भारत मे किसानो से सम्वन्धित राजनीति का विवेचन और विश्लेषण निम्नलिखित विन्दुओ के आधार पर किया जा सकता है·

(1) **भूमि सुधार के आलोचक**—सरकार द्वारा लागू किये गये भूमि सुधारो के सम्वन्ध मे अनेक अध्ययनो से यह जाहिर होता है कि इन सुधारो ने ग्रामीण समाज की वुनियादी वर्ग सरचना को नही वदला है वल्कि पुराने जमीदारो की एक वडी सख्या को एक नयी तरह के समृद्ध भूस्वामियो के वर्ग मे रूपान्तरित मात्र कर दिया है। यद्यपि उससे कुछ धनी आसामियो को खेतिहर स्वामी वनने मे मदद मिली है तथापि उन गरीव किसानो और आसामियो की, जो इतने गरीव है कि मुआवजा नही दे सकते और जमीन नही खरीद सकते, स्थिति भूमि के असुरक्षित कृषको की हो गयी है। प्रतिस्पर्धात्मक वाजार अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ मे इस स्थिति का अर्थ है तथ्यत खेतिहर मजदूर की स्थिति। जैसाकि प्रोफेसर थोर्नर ने सार रूप मे टिप्पणी की है—"प्रकार रूप से शोपितों के लाभ के लिए पारित भूमि सुधार कानूनो ने भारत की ग्राम सरचना मे कोई वुनियादी रद्दोवदल नही की है। अल्पतन्त्र के छोटे अल्पसंख्यक के पास इन कानूनो के वच निकलने के लिए वुद्धि तथा ससाधन है और हर हालत मे इन कानूनो मे वचाव के रास्ते इतने व्यापक हैं कि जोड-तोड वैठाने के लिए काफी आधार मिल जाता है।[1]

[1] डेनियल थोर्नर· **दि एग्रेरियन प्रास्टपेक्ट इन इण्डिया**, पृ. 79।

(2) **भूमि सुधार के लिए निर्मित कानूनों में दोष**—भारत मे जमीदारी उन्मूलन तथा भूमि के सम्पत्ति सम्बन्धो को प्रभावित करने वाले अन्य कानूनो मे निम्नलिखित दोष है . (क) 'खेतिहर अथवा कृषक की परिभाषा काफी अस्पष्ट है जो सुधार लागू करते समय अपनी व्याख्या मे जोतने वालों के बजाय स्वामियो को कृषक रूप मे सामने आने का मौका देती है। (ख) इनमे अनेक बचाव के रास्ते हैं जिनका फायदा भूस्वामी अपने सम्पत्ति अधिकारो को बनाये रखने मे उठा सकते है। (ग) जिन बिचौलियो अथवा जमीदारो के सम्पत्ति अधिकार खेतिहर अथवा आसामी को हस्तान्तरित किये जाने है उन्हें मुआवजा स्वय खेतिहर अथवा आसामी को ही देना होता है। इस प्रकार केवल धनी खेतिहर और आसामी—उनका एक हिस्सा मात्र ही मुआवजा अदा कर सकते है और वे ही भूमि खरीद सकते हैं। भारी सख्या मे गरीब खेतिहर और आसामी कानून द्वारा प्रदान किये गये अवसर का लाभ नही उठा सकते। (घ) इसने कृषि क्षेत्र मे कानूनी कलह का माहौल पैदा कर दिया।

संक्षेप में, अपने पूँजीवादी दृष्टिकोण के कारण काग्रेस सरकार वह एक उपाय अपनाने से बची है जो हालाकि लक्ष्य की पूर्ति के लिए केवल पहला कदम ही है अर्थात् जमीन के असली कृषकों को भूमि का हस्तान्तरण। जब तक यह कदम नही उठाया जायेगा तब तक कृषि क्षेत्रो मे फलती-फूलती कृषि अथवा सामाजिक शान्ति सम्भव नही होगी। कृषक वर्ग की सर्वाधिक सशक्त आकाक्षा है जमीन की भूख और जब तक इस भूख को सन्तुष्ट नही किया जाता तब तक कृपक वर्ग चिरस्थायी रूप से असन्तुष्ट रहता है और भूमि के लिए तात्कालिक एवं संगठित सघर्ष छेड़ता है।

(3) **सरकार द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का लाभ बड़े किसानों ने उठाया**—चूंकि सिंचाई, बीज, उर्वरक, सुधरे हुए कृषि उपकरण आदि कृषको को मुफ्त नही दिये जाते बल्कि उनके लिए पैसे देने पड़ते हैं, अत इन सुविधाओ का फायदा जैसा कि कम्युनिटी प्रोजेक्ट इवैल्यूएशन ने सकेत किया है 'प्रमुख रूप से बडे किसान उठाते हैं।'

इसी प्रकार धन उधार देने की बुराइयो को रोकने के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नो से सामान्य गरीब किसान को कोई लाभ नही हुआ। जैसाकि रूरल क्रेडिट सर्वे रिपोर्ट मे बताया गया है कि 'अब साहूकारी की किस्म बदल गयी है। बड़े किसान या जमीदार सहकारी तथा अन्य संस्थाओं में अपनी प्रभावशाली स्थिति का इस्तेमाल करते हुए वही लुटेरे क्रियाकलाप चलाते है जो पहले साहूकार करते थे।'

(4) **ग्राम संगठनो पर धनी किसानो का नियन्त्रण**—सरकार ने कृषि स्थिति सुधारने के लिए विभिन्न संस्थाओं जैसे सहकारी समितियो आदि की स्थापना की किन्तु इन तरीको ने कृषक समाज के धनी तबकों को ही आर्थिक और इसलिए सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि को मजबूत किया है। कम्युनिटी प्रोजेक्ट इवैल्युएशन रिपोर्ट मे कहा गया है कि "जब कोई ग्राम सगठनो—चाहे वे समितियाँ हों, विकास मण्डल हो, ग्राम पचायत हो अथवा न्याय पचायत की सदस्यता के—प्रतिमान पर विचार करता है तब उसे पता चलता है कि इनकी सदस्यता बड़े कृपको मे सीमित है और गाँव के इन सगठनों मे छोटे किसान तथा कृपि मजदूरो की वस्तुत. कोई साझेदारी नही है।"[1]

(5) **तनावों और टकराहट का उभरता प्रतिमान**—काग्रेस सरकार की कृपक नीति ने भारत के कृपक समाज को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। उसने सामन्ती तथा अर्द्ध-सामन्ती जैसे पुराने वर्गों को पंगु बना दिया है। उसने धनी किसानों के एक वर्ग को मजबूत और ठोस बनाया है। जहाँ तक गरीब और मँझोले खेतिहरो, भूमि मजदूरो तथा ग्रामीण आबादी के अन्य

---

1 *Evaluation Report* on second year working of Community Project, Vol. 1, pp 139-41.

निचले स्तरो की बात है, अन्य कार्यक्रमो के साथ मिलकर कृषि नीति के परिणामस्वरूप उनकी भौतिक दशाओं मे कोई सुधार नही हुआ है । जैसाकि एक अध्ययन मे कहा गया है—"केन्द्र और राज्य सरकारो द्वारा किये जाने वाले उपायो के परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रो मे हितो का एक तेज संघर्ष और फलत: सामाजिक दरार विकसित हो रही है । एक ओर समृद्ध किसान, भूस्वामी, ग्रामीण साहूकार और व्यापारी तथा ग्रामीण जनता के अन्य समृद्धतर तबके हैं । दूसरी ओर मँझोले और छोटे कृपक, भूमि मजदूर तथा तबाह गैर-खेतिहर, खेतिहर आबादी का विशाल हिस्सा " जैसा कि पहले देखा जा चुका है, सामाजिक जातियो और आर्थिक वर्गों के बीच घनिष्ठ सह-सम्बन्ध है । इसके परिणामस्वरूप, वर्गो के संघर्ष जातियो के संघर्षों का भी रूप लेते हैं । इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्र नये जाति तनावो से उबल रहे हे, जो कभी चुनावो मे, कभी आर्थिक सघर्षो मे और कभी स्थानीय संगठनो के सघर्षों मे दिखायी पडते हैं ।"[1]

भूमि सुधार से सम्बन्धित राजनीति के परिणाम

भूमि सुधार से सम्बन्धित राजनीति के परिणामस्वरूप—(i) सुधारो का फायदा प्रमुख रूप से धनी किसानो ने उठाया है, (ii) ग्राम सम्बन्धी परिवर्तन लाने के लिए बनाये सगठनो पर ग्रामीण जनता के ऊपरी वर्गों का प्रभुत्व है, (iii) ग्रामीण समाज के सरक्षक विविध वर्गो के बीच निरन्तर तनाव, द्वेष तथा टक्कर की स्थिति उत्पन्न हुई है ।

स्वाधीन भारत में किसान आन्दोलन
(PEASANT MOVEMENTS IN INDEPENDENCE INDIA)

1. **तेलंगाना आन्दोलन** (1946-48)—स्वाधीन भारत मे हैदराबाद राज्य मे तेलगाना के कृपको का आन्दोलन एक ऐतिहासिक घटना है । यह आन्दोलन कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व मे प्रारम्भ किया गया था और निजाम ने आन्दोलन को कुचलने का भरसक प्रयत्न किया था। आन्दोलनकारियों का दावा था कि लगभग 2,500 ग्रामो मे जमींदारो और जागीरदारो को समाप्त करके 'कम्यून' प्रणाली शुरू कर दी गयी। आन्दोलन के प्रणेता गरीब और खेतिहर किसान थे और जमीदारो से भूमि छीनकर उसका पुनर्वितरण किया गया एवं कृपको के ऋण भी समाप्त कर दिये गये। सितम्बर 1948 मे भारतीय सेना ने हैदराबाद राज्य पर नियन्त्रण स्थापित किया और साम्यवादियो के खिलाफ तेलगाना मे कार्यवाही की । आन्दोलनकारी नेताओं को जेलो मे ठूँस दिया गया एव साम्यवादी पार्टी को राज्य मे गैर-कानूनी घोपित कर दिया गया । सन् 1951 मे पार्टी ने आन्दोलन समाप्ति की घोपणा कर दी । तेलंगाना के किसानो के संघर्ष को समर्थन देने के लिए कम्युनिस्टो ने नेहरू की दक्षिणपन्थी नीतियो की खूब धज्जियाँ उडायी और शहरी लोगो ने मजदूरों से सब प्रकार के असन्तोप, उकसाने व उसका फायदा उठाने की जी-जान से कोशिश की ।

2 **तंजोर में किसान आन्दोलन**— इस कालावधि मे साम्यवादी दल द्वारा प्रेरित किसान आन्दोलन तंजोर मे शुरू हुआ । तंजोर के इलाके को, जिसे तमिलनाडु का चावल उत्पादन केन्द्र माना जाता हे, जमीन पर ब्राह्मण जागीरदारो का आधिपत्य है । इस जमीन पर, खेतिहर मजदूर, जो कि अधिकाश अनुसूचित जातियो के हे, काम करते है । सन् 1950 के दशक मे होने वाले कृषक आन्दोलन ने उनके असन्तोप को प्रकट किया था किन्तु सन् 1960 मे किसान आन्दोलन ने नया रूप धारण कर लिया । आन्दोलन के दबाव, हडताल एव साम्यवादी मार्ग निर्देशन मे जमीदारो को झुकना पडा और खेतिहर मजदूरों की न केवल मजदूरी बढानी पडी अपितु भूमि के वितरण

---

[1] Transaction of the Third Congress of World Sociological Congress, Vol 1, p 276.

मे पायी जाने वाली विपमता की ओर ध्यान खीचा गया। आन्दोलन के वाद तनाव इतने बढे कि जमीदारों और खेतिहर मजदूरों के मध्य एक दीवार सी खड़ी हो गयी।[1]

3. नक्सलवादी आन्दोलन—सन् 1967 मे पश्चिम वगाल के दार्जिलिंग जिले में खेतों मे जमीदारो के यहाँ काम करने वाले कृषको ने उन खेतो पर जवरदस्ती कब्जा करना प्रारम्भ कर दिया जिसे वे जोतते थे। जव एक वहुत बड़ी संख्या मे खेतिहर किसानो ने जमीदारो के खेतो पर कब्जा कर लिया तो पेकिंग रेडियो ने इसे 'लाल जिला' (Red District) कहकर पुकारा और घोषणा की कि नक्सलवाद से भारत मे 'क्रान्ति' प्रारम्भ होगी। भारत की सरकार ने इसे चीनी घुसपैठ समझकर आन्दोलन को कुचलने का प्रयत्न किया।

इसी प्रकार श्रीकाकुलम मे किसानो ने उग्र क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रारम्भ किया। केरल मे मार्क्सवादियों ने गरीव किसानो को संगठित करके किसान सभाओं के माध्यम से उनके असन्तोष को व्यक्त किया। पश्चिम वंगाल मे किसान आन्दोलन के प्रणेताओ ने यूनाइटेड फ्रण्ट सरकार की मौन स्वीकृति से लगभग 1,50,000 एकड़ भूमि जमीदारो से जवरदस्ती छीनकर के राज्य भर मे हिंसा, मारकाट, हत्या और अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी।

4. किसान आन्दोलन—23 दिसम्वर, 1978 को चौधरी चरणसिंह का जन्म दिवस मनाने के लिए नयी दिल्ली के वोट क्लव के विस्तृत मैदान में 'किसान सम्मेलन' आयोजित किया गया। इस सम्मेलन मे उत्तरी भारत के राज्यों से अधिक किसान एकत्रित हुए। इसे श्री चरणसिंह की लोकप्रियता का प्रभावशाली प्रदर्शन माना गया। सम्मेलन मे किसानो की माँगों से सम्वन्धित एक 'चार्टर' भी प्रस्तुत किया गया था जिनमे खेती मे लगने वाले व्यय और उसमे होने वाली आय के वीच असन्तुलन को समाप्त करने, कृषि उत्पादनो के निर्यात पर सभी प्रकार के प्रतिवन्ध हटाने, विभिन्न प्रकार के आर्थिक सगठनो और समितियो मे किसान को अनिवार्य रूप से प्रतिनिधित्व देने, खेती मे इस्तेमाल होने वाले विजली, पानी, खाद, कीटनाशक दवाइयाँ और वीजो का मूल्य कम करने, किसान वैंक स्थापित करने आदि पर जोर दिया गया।

किसान सम्मेलन की वास्तविक राजनीति यह थी कि जनता पार्टी मे होने वाले घटकवादी सत्ता संघर्ष मे इसे प्रभावी अस्त्र के रूप मे प्रयुक्त करके चरणसिंह-राजनारायण एण्ड कम्पनी के प्रभाव में वृद्धि की जाये, जिससे वे प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई की निर्णय प्रक्रिया को अपने पक्ष मे मोड सकें।

5. शरद जोशी का आन्दोलन—किसान जागृति से महाराष्ट्र मे शरद् जोशी जैसे एक आन्दोलनकारी नेता का उदय हुआ जिसने गन्ने को 30 रुपये कुन्तल और प्याज को 100 रुपये कुन्तल का दाम दिलवाने के लिए नासिक जिले मे 'रास्ता रोको' अभियान आरम्भ किया। आन्दोलन के नेता शरद् जोशी है जिन्हे आई. ए एस. होने के नाते प्रशासन का विशेष अनुभव है। वे सयुक्त राष्ट्र सघ मे भी काम कर चुके है। उनका कहना है कि सरकार, मिल मालिक तथा सरकारी और गैर-सरकारी व्यापारिक सस्थाएँ वाजार पर अपने नियन्त्रण के कारण एक ऐसा मूल्य वनाये रखती हैं जो किसानो के लिए लाभकर नही। इस मूल्य पर न किसान अपने जीवन-स्तर मे कोई सुधार कर सकते है, न ही खेती की दशा मे। वाजार की शक्तियो को प्रभावित करने मे इस आन्दोलन ने किसानो मे शहरो के खिलाफ एक चेतना पैदा की है। यह चेतना सवसे

[1] "In Thanjavar writes Francine Frankel, "The increasing polarization between the landless and the large landowners is all the more bitter and explosive because the new cleavage now being drawn on the basis of class largely coincides with the traditional division rooted in caste"

स्पष्ट रूप मे कुछ वर्ष पहले तमिलनाडु के किसान आन्दोलन मे प्रकट हुई थी जब उन्होंने अपने आन्दोलन के दौरान सबसे कारगर ढग से रास्ता रोकने का अभियान चलाया था।

जो स्थिति तमिलनाडु मे नारायण स्वामी नायडु की है, प्रायः वही स्थिति महाराष्ट्र मे शरद् जोशी की है। नायडू ने तमिलनाडु के किसानों को अपनी ओर आकर्षित किया और उनके कृषक संगठन के अन्तर्गत चलाया जा रहा आन्दोलन एम. जी. रामचन्द्रन की सरकार के लिए भारी सिरदर्द बन गया। किसानों और सरकार के बीच टकराव की स्थिति बन गयी। खासकर बड़े किसान जिनका ग्रामीण क्षेत्रो मे विशेष प्रभाव रहता है, सरकारी आदेशो का उल्लघन करने लगे। विभिन्न करो की करोड़ों रुपये की बकाया रकम वे सरकार को अदा करने से इन्कार करते रहे। शरद् जोशी के शेतकारी सगठन ने किसानो को निर्देश दिये कि जब तक गन्ने की कीमत 300 रुपये प्रति टन निर्धारित न की जाये तब तक चीनी मिलो को गन्ना मत दो —भले ही गन्ना खेतो मे सूख जाये।

दिसम्बर 1987 मे नागपुर मे शेतकारी संगठन की ओर से किसानो की एक विशाल रैली का आयोजन किया गया जिसमे कृषि उत्पादनो के लिए प्रोत्साहन मूल्य देने की किसानो की माँग का समर्थन किया गया। शेतकारी संगठन के नेता शरद् जोशी ने राज्य मे कपास का खरीद मूल्य 760 रु. प्रति क्विण्टल देने की माँग को लेकर रेलरोको व रास्ता रोको आन्दोलन शुरू करने की घोषणा की।[1]

6. **किसान दिंडी**—सन् 1980 के पूर्वार्द्ध मे किसान आन्दोलनों ने सत्याग्रह के अब तक बचे हुए औजार लम्बी कूच का सहारा लिया। राष्ट्रीय आन्दोलन मे नमक सत्याग्रह के समय दाँडी मार्च के जरिये गाँधीजी ने इस पर ध्यान केन्द्रित किया था। महाराष्ट्र के विदर्भ मे किसानो की दिंडी से शुरू हुआ यह सिलसिला पूरे देश मे फैलने लगा। 16 जनवरी को कर्नाटक मे नारकुण्ड से किसानो की दिंडी शुरू होकर 5 फरवरी को बगलौर विधानसभा पर पहुँची। रैयत कार्मिक सघर्ष समिति द्वारा आयोजित इस दिंडी का नेतृत्व देवराज अर्स ने किया। महाराष्ट्र मे दिंडी का नेतृत्व शरद् पवार ने किया और 29 दिसम्बर, 80 को नागपुर पहुँचकर विधानसभा को अपना माँगपत्र देने का कार्यक्रम बना डाला। मुख्यमन्त्री अतुले ने इस चाल को निरस्त करने के लिए 26 दिसम्बर को ही विधानसभा का अधिवेशन स्थगित करवा दिया।

7. **किसान रैली**—नई दिल्ली मे वोट क्लब पर 16 फरवरी, 1981 को सम्पन्न हुई किसान रैली सम्भवतः ससार की विशालतम रैली थी। अनुमान है कि इसमे कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक देशभर मे लगभग 25 लाख लोगो ने भाग लिया। यो आयोजकों ने 50 लाख तक का दावा किया है जबकि विपक्ष का अनुमान 10 लाख तक का ही है। इसमे सन्देह नही कि यह रैली चीन की उस रैली से भी बड़ी थी, जिसमे 25 लाख व्यक्ति शामिल हुए। अचानक इस समय किसान जमघट की श्रीमती गाँधी और उनके दल को क्या जरूरत पड़ गयी थी? इ. काग्रेस के महासचिव के अनुसार 'हम यह दिखाना चाहते है कि देश के 95 प्रतिशत किसान श्रीमती गाँधी के साथ है सिर्फ 5 प्रतिशत 'कुलक' अन्य विपक्षी दलों के साथ है।' वास्तव मे, विपक्ष द्वारा चलाया गया नासिक से किसान आन्दोलन अनेक राज्यो—तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, पजाब, गुजरात, हरियाणा मे तेजी से फैल गया था और यह खतरा पैदा हो गया था कि ग्रामीण भारत की 80 प्रतिशत जनसख्या कही काग्रेस (इ) के प्रभाव से टूटकर पूरी तरह विपक्ष के हाथ मे न चली जाय। इसलिए शायद श्रीमती गाँधी के लिए आवश्यक हो गया कि वह एक बार फिर 'वोटो के जखीरे' इस ग्रामीण भारत के सामने यह सिद्ध करे कि किसानो के हितो

[1] **दिनमान**, 22-28 फरवरी, 1981, पृ 51।

की रक्षा काग्रेस (इ) द्वारा ही की जा मकती है। रैली मे यह भी सिद्ध करने की कोशिश की गयी है कि किसानों के नेता न-चौधरी चरणसिंह है न और कोई वल्कि श्रीमती गाँधी ही हे और उनका ही ग्रामीण भारत पर वर्चस्व है।[1]

8. **छः प्रतिपक्षी दलों द्वारा आयोजित किसान रैली**—सत्तारूढ दल की प्रतिक्रियास्वरूप छः प्रतिपक्षी दलो भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी पार्टी, अर्स कांग्रेस, शिरोमणि अकाली दल, फारवर्ड ब्लाक, क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी और लोकतान्त्रिक लोकदल ने 26 मार्च, 1981 को किसानो का एक विशाल शक्ति प्रदर्शन दिल्ली में किया। इन दलो की मान्यता थी कि चरणसिंह ने केन्द्रीय वित्त मन्त्री वनने के वाद जो सूत्र छोड दिया था, कृषक जागृति के उसी छोर को पकड़कर इंदिरा काग्रेस की जडों को खोदा जा सकता है।

9. **महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में किसान आन्दोलन**—पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसान नेता महेन्द्रसिंह टिकैत ने असहयोग आन्दोलन छेड़कर किसानो का आह्वान किया कि वे विजली के विलों और वैक कर्जो की अदायगी न करें। उन्होने राजधानी दिल्ली की घेरावन्दी करने की धमकी देते हुए कहा, "हम उस शहर को दूध और सब्जियो के लिए तरसा सकते है।" 25 अक्टूवर 1988 से 31 अक्टूवर 1988 तक टिकैत के नेतृत्व मे डेढ़-दो लाख किसान ससद और सरकार की चौखट पर पंचायत करने इण्डिया गेट से आगे वोट क्लव पर पहुँच गये। उनकी माँग थी कि किसानों को उनके उत्पादन का उचित दाम दिया जाये। वाद मे 14 जुलाई 1989 को दिल्ली मे देश भर के किसान संगठनों ने किसानो की अखिल भारतीय संस्था 'भारतीय किसान सघ' मे शामिल होने का निर्णय किया जिसके अध्यक्ष उत्तर प्रदेश के किसान नेता महेन्द्र सिंह टिकैत हैं, लेकिन 1989 मे ही 'भारतीय किसान संघ' मे टूट की स्थिति पैदा हो गई।

भारतीय राजनीति में किसान लॉबी : हित समूह की भूमिका
(KISAN LOBBY IN INDIAN POLITICS · THE ROLE OF INTEREST ARTICULATION)

एक व्यावसायिक समूह के रूप मे किसानो को सगठित करने के काम मे काफी कठिनाई रही है। 1920-30 के दौरान गाँधीजी और उनके कुछ अनुयायियो ने सत्याग्रह के ढंग पर किसानो के स्थानीय विरोध आन्दोलनो का नेतृत्व अवश्य किया था। भूमि का लगान वढ़ाये जाने के खिलाफ पटेल ने जो वारडोली आन्दोलन चलाया था, वह ऐसे आन्दोलनो मे सवसे अधिक सगठित तथा सर्वोत्कृष्ट आन्दोलन था। कुछ हद तक इन आन्दोलनो के उदय के साथ कुछ इलाकों मे किसानो की प्राथमिक सस्थाएँ वनी और काग्रेस के कार्यकर्ताओ ने उनको मदद दी। 1930-40 के वीच काग्रेस मे आमूल परिवर्तनवाद की लहर पैदा होने के वाद किसानो को राष्ट्रीय आन्दोलन के एक अंग के रूप मे सगठित करने के प्रयत्न वढ़ गये और 1936 में ऑल इण्डिया किसान सभा की स्थापना हुई। लेकिन अनेक कारणो से—शायद मूलतः इस कारण से कि देहातो मे काग्रेस मुख्यत उन लोगों में ही शक्तिशाली थी, जो धनी थे और जो भविष्य मे चिन्ता का कारण वनने वाले ऐसे सगठनों के प्रति उत्साह नही रखते थे—ऑल इण्डिया किसान सभा के नेता अपने कांग्रेसी सहचारियों से पूर्णत सन्तुष्ट नही थे और कुछ ही वर्षों मे यह संगठन वडे पैमाने पर सी. पी. आई. के सदस्यों तथा उनके प्रति सहानुभूति रखने वालो के प्रभुत्व में आ गया। 1942 में किसान सभा के वहुत से गैर-कम्युनिस्ट नेताओं को इस संगठन के वापस वुलाने के परिणामस्वरूप इस पर सी. पी आई. के लोगों का प्रभुत्व और भी मजवूत हो गया। ऑल इण्डिया किसान सभा राज्यों मे वनी, इसकी शाखाओं को मिलाकर एक ढीले-ढाले फेडरेशन के

---

[1] **राजस्थान पत्रिका**, 13 दिसम्बर, 1987।

रूप मे चलती रही और हर राज्य की शाखा की सदस्य संख्या और उमकी गतिविधि मी. पी. आई. के प्रादेशिक नेताओ द्वारा इसे दी जाने वाली सहायता के अनुसार घटती-बढती रहती थी ।

जब किसान सभा साम्यवादी दल की भुजा के रूप मे कार्य करने लगी तो अन्य दलो ने भी अपने-अपने किसान संगठन बना लिये । जैसे समाजवादी दल ने हिन्द किसान पचायत सभा और अन्य वामपन्थी दलो ने सयुक्त किसान सभा । यह एक तथ्य है कि भारत मे सरकारी नीतियो को प्रभावित करने मे किसान संघो की नगण्य भूमिका रही है चूंकि भारतीय किसान, जाति, आर्थिक हैसियत आदि अनेक बातो के आधार पर समूहो मे बँटा हुआ है । फिर भी यह एक वास्तविकता है कि आज तक किसान लॉबी के प्रभाव के कारण ही सरकार कृषि पर आय कर नही लगा पायी । पजाब, उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा सरकार की नीतियो पर किसान लॉबी का प्रभाव निरन्तर बढता जा रहा है । मार्च 1977 के चुनाव के बाद केन्द्र मे जनता पार्टी सरकार की स्थापना से किसान लॉबी का प्रभाव बढ़ने लगा । 'किसान सम्मेलन' के माध्यम से चौ. चरण सिंह ने किसानो को 'ट्रेड यूनियन' की भाँति सगठित करने का प्रयत्न किया । चरणसिंह की पीठ पर किसान की छाया होने के कारण एक बार तो मोरारजी देसाई को उनसे समझौता भी करना पडा और उन्हे 'उपप्रधानमन्त्री' का पद देना पडा । श्रीमती इन्दिरा गाँधी को भी किसानों की बढती हुई शक्ति को पहचान करके ही दिल्ली मे विशाल किसान रैली आयोजित करके उन्हे अपने समर्थक बनाये रखने की कोशिश करनी पड़ी ।

राजनीति मे जिस नये तत्त्व को जातिवाद की संज्ञा दी जा रही है उसका सम्बन्ध जाति से नही वर्ग से है, उसके उद्भव के कारण सामाजिक नही आर्थिक है । गहराई मे देखने पर 1970 के दशक मे मध्य जातियो का उत्कर्ष एक वर्ग का उत्कर्ष दिखलायी देगा, यह वर्ग है सम्पन्न बडे किसानो और जमीदारो का । इसीलिए इस जाति समूह से अहीर-जाट-गूजर के साथ राजपूत भी जुड़े हुए है [A. J. G. R.] । इनको जोडने वाला सूत्र समस्वार्थ हैं, जाति या सम-सामाजिक श्रेणी नही । आरम्भ मे तीन चुनावों तक इस वर्ग की आर्थिक स्थिति ऐसी नही थी कि यह स्वतन्त्र रूप से राजनीति के मैदान मे उतरता । अपने हितो की रक्षा के लिए इसने अपना समर्थन कांग्रेस को दिया । छठे दशक मे इसके प्रभाव के चिन्ह रैय्यतवाडी क्षेत्र में स्पष्ट हो गये थे । प्रादेशिक मन्त्रिमण्डलो मे इस वर्ग को प्रतिनिधित्व दिया जाने लगा । प्रदेश मे प्रबल होने के बाद केन्द्र तक पहुँचना इसकी राजनैतिक यात्रा की तर्कसगत परिणति है ।

भारतीय किसानो को यदि ढंग से संगठित किया जाये तो भारतीय राजनीति मे वे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते है । महाराष्ट्र के शरद् जोशी का इरादा था कि महाराष्ट्र और पंजाब मे लड़ाई जीतकर वे उत्तरी भारत के दूसरे इलाकों की तरफ बढ़ेंगे । इधर महेन्द्रसिंह टिकैत ने मेरठ और दिल्ली में किसानों की माँगो को लेकर जमघट जरूर इकट्ठा किया पर अभी किसान आन्दोलन के व्यापक रूप मे फैलने के कोई आसार नही नजर आते । उत्तर भारत मे ज्यादा लम्बे समय तक आन्दोलन नही चल सके है । इसमे कोई सदेह नही कि किसान यदि स्वतन्त्र शक्ति के रूप मे खडे हो जायें तो वे राजनीतिक प्रक्रियाओ को व्यापक रूप से प्रभावित कर सकते हैं । प्रथम, लोकसभा मे 21·1 किसान थे और 7वी लोकसभा मे 40% । 8वी लोकसभा मे किसान 38·4% थे । परन्तु ये लोग छोटे किसानो और खेतिहर मजदूरों का प्रतिनिधित्व नहीं करते । वे तो जमीदारो और धनी किसानो (Rich Peasantry) के वर्ग से सम्बन्ध रखते है । गरीब छोटे किसानो को यह भी पता नही कि उनके नाम पर कोई आन्दोलन चल रहा है या प्रदर्शन किया जा रहा है । तथाकथित किसान नेता जिनमे कई चोटी के नेता भी शामिल हैं बिना किसी आन्दोलनो के किसानो के नेता बन गये ।

निष्कर्ष : किसान शक्ति का अभ्युदय

वास्तव मे 80 के दशक मे किसानो और सगठित किसान आन्दोलन का महत्त्व आर्थिक नीति के सन्दर्भ मे तो वढा ही था। अव एक-दो वर्षों मे उसका राजनीतिक महत्त्व भी बढने लगा है। यूँ तो इस तथ्य को महाराष्ट्र मे विधानसभा के आम चुनाव मे शरद् जोशी के शेतकारी संगठन ने विपक्ष का समर्थन करके साबित किया था, किन्तु उसने चुनाव दगल मे सीधे घुसना उचित न समझा था। उसी समय, शेतकारी संगठन के सहयोगी संगठन कर्नाटक राज्य रैय्यत सघ ने भी जनता पार्टी का समर्थन किया था। उसके बाद जब वी पी. सिंह ने इन्दिरा कांग्रेस से विद्रोह किया तो वे उत्तर प्रदेश की किसान यूनियन के आमन्त्रण पर गोरखपुर मे और शेतकारी संगठन के बुलावे पर सडाना मे किसानो की सभाओं मे भाषण देने के लिए गये थे। इससे किसान आन्दोलन राजनीति से गहरे तौर पर जुडने लगा है।

किसानों मे यह नई चेतना कि वे अपने-अपने स्वतन्त्र और निर्दलीय संगठन बनाकर राजनीतिक घटनाक्रम को प्रभावित करे, उनकी निराशा और असन्तोष को अभिव्यक्त करती है। अर्थशास्त्री बताते है कि खेती की उपज के दामो और औद्योगिक पैदावार के दामो मे जो असंतुलन 1970 के दशक मे तीव्र हुआ, वह उससे पहले वहुत साधारण था। किन्तु 1980 के दशक मे तो वह और ज्यादा विकार युक्त बना है। दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक दलीप स्वामी और कलकत्ता के गुमाटी ने अपने अध्ययन मे 1971-80 के दौरान किसानो की दाम सम्वन्धी लूट 40 हजार करोड रुपये आँकी थी। किन्तु 1985 के आरम्भ मे सत्तारूढ सरकार ने भारत को 21वी शताब्दी मे ले जाने का यह रास्ता अपनाया कि सघन पूँजी लागत वाले अत्याधुनिक उद्योग लगाये जायें तो खेती की उपज के दामो का असन्तुलन और ज्यादा तीखा होता जा रहा है। किसानो का नेतृत्व यह महसूस करता है कि देश ने एक बार इस रास्ते को पकड़ लिया तो न केवल छोटे उद्योगो, खेती और अन्य व्यवसायो की दुर्दशा होगी और बेकारी बढेगी, बल्कि बाद मे इस रास्ते से देश को हटाना लगभग असम्भव हो जायेगा। गाँधीवादी और समाजवादी विचारक ही नही, सच्चे लोकतन्त्रवादी और मानवतावादी भी इस सम्भावी स्थिति को भयावह मानते है और चाहते है कि पूरी ताकत लगाकर उसे रोका जाये। परन्तु जब तक सत्ताधारी न बदले जायें, व्यवस्था वदलने की हालत पैदा नही हो सकती और किसान नेता ऐसी भूमिका अपनाना चाहते है कि सत्ता को वदलकर व्यवस्था को वदले।

संक्षेप मे, राजनीतिक दलो के नेताओ ने किसान आन्दोलनो को अपने पक्ष मे इस्तेमाल करना प्रारम्भ कर दिया है और किसानो को भी अपनी 'शक्ति' (वोट शक्ति) की पहचान होने लगी है।

52

भारत में पुलिस प्रशासन : कानून और व्यवस्था के संदर्भ में

[POLICE ADMINISTRATION IN INDIA : THE CONTEXT OF LAW AND ORDER PROBLEMS]

आक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार 'पुलिस' शब्द से अभिप्राय है—"कानून और व्यवस्था को बनाये रखने एव नियन्त्रित करने वाला संगठन—राज्य की अन्तरंग सरकार।"[1] इस दृष्टि से 'पुलिसमैन' वह व्यक्ति है जिसे कानून एव व्यवस्था बनाये रखने के लिए सरकारी कोष से वेतन दिया जाता है। लेकिन भाषा मे 'पुलिस' का मतलब है 'पुलिटिया' (Politia) जिसका अर्थ होता है 'पोलिस' या 'राज्य' (Polis or State)। वस्तुत. पुलिस से अभिप्राय है 'प्रशासन की व्यवस्था' अथवा 'प्रशासन का नियन्त्रण' (A System of Administration or Regulation)। आधुनिक समय मे पुलिस सगठित नागरिक अधिकारियो का वह समूह है जिनका प्रमुख कार्य सुव्यवस्था स्थापित करना, अपराधो की रोकथाम करना तथा कानूनो को लागू करना है।[2]

अधिकाश देशो और समाजो मे प्रारम्भ से ही किसी न किसी भाँति चौकसी (Watch and ward organisation) करने वाला संगठन अवश्य रहा होगा। प्रारम्भिक समाजो मे यह सगठन अत्यन्त सरल और सामान्य दृष्टि वाला होगा, किन्तु सभ्यता के विस्तार के साथ-साथ जैसे-जैसे जनसख्या बढती गयी, आवागमन और संचार साधनो का विकास हुआ वैसे-वैसे यह सगठन भयंकर जटिल और तकनीकी बनता गया। फिर भी, प्रशासनिक सगठन मे राज्य की एक स्वतन्त्र इकाई के रूप मे पुलिस एक आधुनिक सरचना है।

भारत के पुलिस प्रशासन में केन्द्रीय सरकार की भूमिका
(THE POLICE ADMINISTRATION IN INDIA . ROLE OF CENTRAL GOVERNMENT)

ब्रिटिश और अमरीकी पुलिस व्यवस्थाओ से भिन्न भारतीय पुलिस व्यवस्था एकात्मक और संघात्मक जैसे वर्गीकरणो मे नही बाँधी जा सकती।[3] भारतीय संविधान के सातवें अनुभाग मे

---

1 The term 'police' according to Oxford dictionary, means "a system of regulation for the preservtion of order and enforcement of law."—The internal government of a state.

2 It (Police) is generally used to indicate an organized body of civil officers in a place, whose particuar duties are the preservation of good order, the prevention and detection of crime and the enforcement of laws. —Report of the Royal Commission on Police Powers and Procedure, 1929 (3297). Par 15.

3 Raith Charles, A Short History of British Police (London, 1963) Smith, Bruce, Police System in the Limited states (New York)

'पुलिस' विषय की प्रविष्टि 'पब्लिक आर्डर', 'जेल' तथा न्याय प्रशासन एव सुधार गृहो आदि के साथ ही राज्य सूची के अन्तर्गत आती है। पुलिस प्रशासन से सम्बद्ध इन सारे विपयो को राज्य सूची मे रखना यह संकेत देता है कि देश के पुलिस प्रशासन से भारत की केन्द्रीय सरकार का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है, किन्तु यदि तीनो सूचियो की प्रविष्टियों को गम्भीरता से देखा जाये तो केन्द्र के अधिकार क्षेत्र मे ऐसे कितने ही गम्भीर, आवश्यक एवं नाजुक विपय हैं जिन पर केन्द्रीय सरकार का प्रभाव या अधिकार राज्यों के पुलिस प्रशासन को नाना प्रकार से प्रभावित करता रहता है। उदाहरण के लिए, केन्द्रीय सूची के कुछ विपय है—आग्नेय एवं विस्फोटक पदार्थो का प्रशासन, अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस, वेतार व्यवस्था, केन्द्रीय सतर्कता, अखिल भारतीय पुलिस सेवा से सम्बद्ध विपय तथा राजकीय पुलिस क्रियाकलापो की अन्य राज्यों मे वैधता इत्यादि।[1]

इसी प्रकार राज्यों के पुलिस प्रशासन को समर्थन देने के लिए केन्द्रीय सरकार ने अपने संरक्षण मे अनेकानेक केन्द्रीय पुलिस इकाइयो का सृजन किया है। इनमे से कुछ हैं—वी. एस. एफ., सी. वी. आई., सी. आई. बी., सी. आर. पी., आसाम राइफल्स, एस. बी. वी., नेशनल पुलिस अकादमी तथा फॉरेन्सिक परीक्षण शालाएँ इत्यादि। इसी क्रम मे यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय सविधान की समवर्ती सूची मे भी ऐसे अनेक विपयों को सम्मिलित किया गया है, जिनके माध्यम से केन्द्रीय सरकार देश के पुलिस कार्यो पर अपना निर्णायक वर्चस्व वनाये रखती है। ये विपय है—दण्ड विधि एवं कार्यपद्धति, निवारक नजरवन्दी, दवाएँ एव विभिन्न प्रकार के विप, श्रमिक सघ, घुमक्कड़ जनजातियाँ तथा समाचार-पत्र आदि-आदि। यहाँ पर भी स्मरणीय है कि केन्द्रीय गृह मन्त्रालय सभी केन्द्र प्रशासित क्षेत्रो मे पुलिस प्रशासन की व्यवस्था करने के लिए पूर्णतः उत्तरदायी है। हमारे देश की सावैधानिक व्यवस्था संस्थात्मक स्तर पर तो सघीय है परन्तु हमारे संविधान की आत्मा एकात्मक है, परिणामत. व्यवहार मे हमारी पुलिस व्यवस्था राष्ट्रीय एवं एकीकृत प्रकृति बनाये रख सकती है। फलत चाहे राज्यो मे विद्यमान पुलिस व्यवस्था हो अथवा विकास व्यवस्था हो, सभी को संविधान मे व्याप्त 'केन्द्रीयकृत संघवाद' की सीमाओ मे ही कार्यरत रहना होगा।

हमारे देश के पुलिस प्रशासन मे केन्द्रीय सरकार की अप्रत्यक्ष किन्तु महत्त्वपूर्ण भूमिका, जो कि संघीय संसद और गृह मन्त्रालय के माध्यम से प्रकाश में आती है, निम्न रूपो मे प्रकट है .

पुलिस प्रशासन में केन्द्रीय सरकार की भूमिका[2]

संसद	गृह मन्त्रालय
1. संघ और समवर्ती सूचियों पर विधि निर्माण	1. अखिल भारतीय कानूनों का प्रशासन
2. आधारभूत पुलिस अधिनियमों मे सशोधन	2. संघीय क्षेत्रो का प्रशासन
3. आपातकाल के दौरान विशेष उपाय, कदम व व्यवस्थाएँ	3. भारतीय पुलिस सेवा का कार्मिक प्रवन्ध
	4. पुलिस समन्वय
	5. शस्त्रो और अन्य साज-सज्जा की आपूर्ति और नियन्त्रण
	6. होमगार्ड और सिविल डिफेंस का संचालन
	7. स्टॉफ अभिकरणो और सहायक इकाइयो के जाल द्वारा संचालन

[1] भारतीय संविधान संघ सूची अनुभाग VII, प्रविष्टियाँ 5, 8, 9, 18, 19, 65, 70 और 80।
[2] Dr. Prabhu Datta Sharma : *Indian Police*, (Delhi, 1977), p. 40.

भारतीय सविधान की व्यवस्थाएँ इस प्रकार की है कि यद्यपि पुलिस विषय राज्यो के पास है लेकिन विशेष परिस्थितियो मे केन्द्र पूरा छा जाता है। भारतीय पुलिस अधिनियम, 1861, दीवानी प्रक्रिया सहिता, 1859, हिन्दू और इस्लामी कानून आदि मे सशोधन करने का अधिकार भारतीय ससद को है और इस माध्यम से राज्यो का पुलिस प्रशासन केन्द्र के प्रभाव मे आ जाता है। सघ एव राज्य सम्वन्धो मे प्रशासकीय पहलू को लें तो हम स्पष्ट रूप से देखते हे कि राज्यो मे पुलिस प्रशासन के कार्यान्वियन मे केन्द्रीय सरकार की भूमिका वहुत ही महत्त्वपूर्ण है और वह केन्द्रीय गृह मन्त्रालय के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। केन्द्रीय गृह मन्त्रालय का यह विशेष दायित्व है कि वह राज्यो मे आपराधिक अथवा फौजदारी प्रशासन और कानून तथा व्यवस्था की विशिष्ट समस्याओ से सम्वन्धित मामलो मे राज्यों को सहायता दे और उनका मार्गदर्शन करे। इस प्रक्रिया मे केन्द्रीय गृह मन्त्रालय राज्य पुलिस सगठनो मे केन्द्रीय रिजर्व पुलिस से अथवा अन्य राज्यो मे अतिरिक्त पुलिस वल नियुक्त कर सकता है। गृह मन्त्रालय के अधीन अनेक ऐसे कार्यालय हे जो पुलिस से सम्वन्धित और उससे मिलते-जुलते विशिष्ट दायित्वो का निर्वाह करते हैं। अनेक ऐसे केन्द्रीय अधिनियम हैं जो देश मे पुलिस कार्यों का नियन्त्रण और निर्देशन करते हैं। ये आधारभूत अधिनियम हैं—दि इण्डियन पैनल कोड, दि कोड ऑफ क्रिमिनल प्रोसीजर एव दि इण्डियन एवीडेंस एक्ट। आई. पी. एस. पदाधिकारियो की सेवा शर्तो, उनके अधिकारो और कर्त्तव्यो, वेतन आदि के निर्धारण मे गृह मन्त्रालय की भूमिका सर्वोच्च है। यद्यपि अधिकाश आई. पी. एस. अधिकारी अपने सेवाकाल का अधिकाश भाग राज्य सरकारो मे व्यतीत करते है लेकिन उनकी भर्ती, पदोन्नति, प्रशिक्षण और अनुशासन एवं दण्ड आदि से सम्वन्धित मामलो मे राज्य सरकारो का व्यवहारतः कोई नियन्त्रण नही होता। केन्द्रीय गृह मन्त्रालय का यह भी विशेष दायित्व है कि वह राज्यो मे पुलिस विभागो से सहयोग वैठाते हुए होमगार्डो का जाल विछाये और एक नागरिक सुरक्षा संगठन कायम करे।

प्रो. चन्द्र प्रकाश भाम्भरी के शब्दो मे, "कानून और व्यवस्था को सुनिश्चित करने के लिए राज्यों के अत्यन्त विकसित पुलिस संगठनो के साथ भारत सरकार की अन्य एजेन्सियाँ भी हैं। केन्द्र सरकार द्वारा 'समानान्तर' एजेन्सियो का रखरखाव भारतीय सघ व्यवस्था की वहुत अजीव विशेपता है।"[1] भारत के प्रशासनिक सुधार आयोग ने भारतीय संघ की इस विकृति का वचाव किया है। 'केन्द्र राज्य सम्वन्ध' पर अपनी रिपोर्ट मे उसने लिखा :

सेण्ट्रल रिजर्व पुलिस और सीमा सुरक्षा दल सशस्त्र दल हैं, जिन्हे सघ ने देश की वाह्य तथा आन्तरिक दोनो तरह की सुरक्षा की आवश्यकता के कारण खडा किया है। इन परिस्थितियों मे राज्य की नागरिक शक्ति की सहायता मे संघ के सशस्त्र पुलिस दल का इस्तेमाल पूरी तरह से संवैधानिक है। यह वात भी साफ है कि इस प्रकार की सहायता राज्य सरकार के अनुरोध पर अथवा जरूरत पडने पर दी जा सकती है। क्या ऐसी सहायता की जरूरत है, यह प्रश्न जाहिर है, केन्द्र के निर्णय का विषय है।"[2]

जव भारत सरकार अपने ही निर्णय के आधार पर राज्यों मे अर्ध-सैनिक दल तैनात करती है तव इससे राज्य की स्वायत्तता के सिद्धान्त का गम्भीर रूप से अतिक्रमण होता है।

केन्द्रीय विधायिका ने सेण्ट्रल रिजर्व पुलिस फोर्स एक्ट 1949 मे लागू किया। इसके मुख्य

---

1 चन्द्र प्रकाश भाम्भरी · "अर्द्ध सैनिक संगठनो की भूमिका" के. मैथ्यू कुरियन, पी. एन. वर्गीस (सम्पादित), **केन्द्र राज्य सम्बन्ध** (मेकमिलन, नई दिल्ली, 1980) पृ. 157।

2 *'Centre–State Relation'* : (Government of India, Ministry of Home Affairs, Administrative Reforms Commission, New Delhi, 1969), p. 36.

कार्य बताये गये हैं—**प्रथम**, भारत सरकार इसे उन उपद्रवग्रस्त इलाकों मे भेज सकती है, जहाँ केन्द्र सरकार को कोई विशेष उत्तरदायित्व निभाना है और जहाँ स्थिति की यह माँग है कि सशस्त्र पुलिस भेजी जाये। **द्वितीय**, भारत सरकार स्थानीय पुलिस के पूरक के रूप मे सी. आर. पी. एफ. को देश के किसी भी हिस्से मे भेज सकती है। कोई राज्य सरकार बडे पैमाने पर कानून व्यवस्था सम्बन्धी गड़बड़ी होने की स्थिति मे अपने पुलिस दल के पूरक के रूप मे इसे बुला सकती है। कानूनी स्थिति यह है कि केन्द्र सरकार सार्वजनिक आवश्यकताओ के अपने निर्णय के आधार पर सी. आर. पी. एफ. को पूरे देश मे कही भी भेज सकती है। सन् 1975 मे सी. आर. पी. एफ. की सख्या 65,000 से अधिक थी। Central Reserve P.

बी. एस. एफ. को स्पष्ट रूप से दिये गये कार्य इस प्रकार हैं—**प्रथम**, भारत-पाकिस्तान तथा भारत-बंगला देश सीमाओ की देखभाल करना और गश्त लगाना, **द्वितीय**, अनाधिकार हस्तक्षेप, गैर-कानूनी घुसपैठ तथा सीमा पार की तस्करी की घटनाओ से निपटना। बी. एस. एफ. किसी भी राज्य की सशस्त्र पुलिस बटालियन की ही तरह का हल्का पदाति (इनफैण्टरी) दल है। स्थापना के तुरन्त बाद ही इसे सेना की पैदल बटालियन की तरह के शस्त्रो से लैस कर दिया गया। भारत-पाकिस्तान तथा भारत-बंगला देश सीमाओ के सम्बन्ध मे केन्द्र सरकार की अपनी व्याख्याएँ हैं। परिणामस्वरूप हम सीमा सुरक्षा दल को देश के सभी हिस्सो मे, यहाँ तक कि सीमा से हजारो मील दूर के नगरो और गाँव मे कार्यरत पाते है। रवि रिखी का कहना है "यह (बी. ए. एफ) नागरिक गड़बडियों के दमन की एजेन्सी बन गया है—आज शायद ही कोई ऐसा बडा दंगा हो जिसके दमन के लिए सीमा सुरक्षा दल न बुलाया जाय।"[1] भारत सरकार के गृह मन्त्रालय ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट '1973-74' मे कहा कि इस वर्ष के दौरान 'आन्तरिक सुरक्षा को बनाये रखने के लिए' बी. एस. एफ. का इस्तेमाल मेघालय से लेकर आन्ध्र प्रदेश तक 13 राज्यो मे तथा केन्द्रशासित क्षेत्रो मे किया गया था।

केन्द्रीय सुरक्षा दल की स्थापना संसद के एक अधिनियम द्वारा केन्द्रीय औद्योगिक उद्यमो की सुरक्षा और बचाव को सुनिश्चित करने के लिए की गयी थी। यह गृह मन्त्रालय के नियन्त्रण के अधीन है। 1974 मे, इसकी सख्या 17,000 थी। इस दल के सदस्य महत्त्वपूर्ण उद्यमो मे नियुक्त किये जाते हैं और औद्योगिक सुरक्षा की नीतियाँ बनाने के लिए मन्त्रालय को खुफिया आँकडे भेजते है।

ऊपर लिखित अर्द्ध-सैनिक सगठनो के साथ-साथ केन्द्र सरकार के पास भारत की राज्य सरकारो की कार्यविधि के निरीक्षण के लिए गुप्तचर एजेन्सियो का जाल भी है। केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो देश की सुरक्षा से सम्बन्धित सभी सूचनाएँ और समाचार एकत्रित करने, उन्हे मिलाने और उन्हे सरकार को भेजने के लिए उत्तरदायी है। अपराधो की जाँच-पड़ताल का उत्तरदायित्व भी इस पर है और यह केन्द्र सरकार की एक भ्रष्टाचार विरोधी एजेन्सी है। भारत सरकार की रिसर्च एण्ड अनालिसिस विंग (रा) देश के सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक नेताओ के बारे मे फाइल रखता है।

महत्त्वपूर्ण सुरक्षा एव गुप्तचर एजेन्सियो की सहायता से देश मे उचित व्यवस्था बनाये रखने की पूरी जिम्मेदारी भारत सरकार ने ली है। यह संविधान के उन प्रावधानो का उल्लघन है जो एक ओर केन्द्र सरकार और दूसरी ओर राज्य सरकारो के बीच क्रियाकलापो के क्षेत्रो को अलग-अलग करते हैं। अपने क्षेत्र में सी. आर. पी. एफ. के इस्तेमाल पर राज्य सरकारो के

---

[1] Ravi Rikhi. *Towards a Border Range Commands: New Operation for the B. S F*, Delhi, Vol. IV, No. 6 March 1974, p. 33.

केन्द्र सरकार से झगडे हुए हैं। 1968 मे अपने कर्मचारियो द्वारा दी गयी हड़ताल की धमकी का सामना करने के लिए भारत सरकार ने एक अध्यादेश जारी किया। 18 दिसम्बर, 1968 को उसने केरल सरकार से उन कर्मचारियो को गिरफ्तार करने और उन्हे सजा देने के लिए कहा जिन्होने हड़ताल करने की धमकी दी थी। स्थिति का सामना करने के लिए उसने सी. आर. पी. एफ. की कुछ टुकडियाँ भी भेजी। केरल के तात्कालीन मुख्यमन्त्री ई. एम. एस. नम्बूदरीपाद ने इस तरीके पर आपत्ति की। उन्होने इस विचार को ठुकरा दिया कि राज्य मे उचित व्यवस्था बनाये रखने के लिए दो समानान्तर एजेन्सियो की जरूरत है। वह इस बात पर भी डटे रहे कि राज्य सरकार उचित व्यवस्था बनाये रखने के लिए संविधानिक रूप से जिम्मेदार है और यह जिम्मेदारी निभाने मे वह पूरी तरह सक्षम है। केन्द्र सरकार ने जवाब दिया कि उसने सी. आर. पी. एफ. को केवल प्रस्तावित हड़ताल के समय अपनी सम्पत्ति, कार्यालयो और अधिष्ठानो की सुरक्षा करने के लिए ही भेजा है।

कुछ समय बाद इसी तरह का एक विवाद पश्चिमी बंगाल मे उठा। संयुक्त मोर्चा सरकार ने सी. आर. पी. एफ. द्वारा कलकत्ता के पास कोसीपुर मे गन फैक्ट्री मे कर्मचारियो के एक समूह पर गोली चलाने और उनमे से कुछ को मारने की कार्यवाही के खिलाफ अपने विरोध को व्यक्त करने के लिए 10 अप्रैल, 1968 को एक 'बन्द' आयोजित किया। 11 अप्रैल, 1969 को भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री यशवन्त राव चह्वाण ने कर्मचारियो से निपटने के लिए सी. आर. पी. एफ. का इस्तेमाल करने के केन्द्र के काम समर्थन किया। इस पर कलकत्ता के उच्च न्यायालय मे तरुण कुमार सेनगुप्त ने एक याचिका दाखिल की। उन्होंने यह तर्क किया कि भारत के संविधान मे 'पुलिस' राज्य का विषय है और इसलिए केन्द्र सरकार का सेण्ट्रल रिजर्व पुलिस फोर्स एक्ट संविधान के अधिकार से बाहर है। न्यायमूर्ति एस. मुखर्जी ने सेनगुप्त के दावे का समर्थन किया।

भारत सरकार के गृह मन्त्रालय ने अनधिकृत ढंग से पूरे देश के पुलिस कार्यो को अपने हाथ मे ले लिया है जबकि संविधान ने लिखित और भावार्थ रूप मे आम व्यवस्था की जिम्मेदारी राज्य सरकारो मे सौंपी है। अपनी वार्षिक रिपोर्ट मे गृह मन्त्रालय ने अपनी भूमिका निम्न प्रकार परिभाषित की है :

"यद्यपि कानून और व्यवस्था बनाये रखने की जिम्मेदारी मुख्य रूप से राज्य सरकारो पर है तथापि गृह मन्त्रालय को भी इस क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। वे महत्त्वपूर्ण मामलो पर दिशा-निर्देश और सलाह देते हैं और केन्द्रीय रिजर्व सेना अथवा अन्य राज्यो से अतिरिक्त दलो की प्रतिनियुक्ति का प्रबन्ध करके सहायता देते हे। गृह मन्त्रालय राज्य के पुलिस दल के लिए हथियार, गोला बारूद, बेतार के उपकरण और वाहनो का इन्तजाम करने मे भी मदद देता है।"[1]

गृह मन्त्रालय ने सीमा सुरक्षा दल (दिसम्बर 1965 मे स्थापित) तथा सेण्ट्रल रिजर्व पुलिस को भारत के विभिन्न प्रदेशो मे रखा है ताकि जब भी जरूरत पडे उन्हे सुविधापूर्वक भेजा जा सके। जब कांग्रेस पार्टी केन्द्र तथा राज्यो दोनो जगह सत्तारूढ थी तब केन्द्र सरकार को अपने अर्ध-सैनिक संगठनो को राज्यो मे भेजने मे कोई कठिनाई न थी। केन्द्र सरकार ने राज्य सरकारो के साथ सलाह-मशविरा करने के बाद 1965 में सीमा सुरक्षा दल की स्थापना की थी। 1966-67 की अपनी वार्षिक रिपोर्ट मे मन्त्रालय नें कहा कि "जब भी सम्बद्ध राज्य सरकारो की ओर से माँग की गयी, राज्य पुलिस की सहायता के लिए सी. आर. पी. की टुकडियाँ तुरन्त

---

[1] Ministry of Home Affairs Government of India, New Delhi (*Annual Report*, 1966-67), p. 38.

भेजी जा रही है।[1] केन्द्र सरकार ने अपने दल राज्य सरकारो के विरोध मे भी भेजे है जैसे केरल मे।

सीमा सुरक्षा दल तथा सी. आर. पी. के वारे मे महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर जोर देने की जरूरत है। एक तो यह कि इन दलो की सदस्य संख्या बढ़ती रही है। दूसरे, राज्यों मे इन्हें वार-वार भेजा जाने लगा है। अपनी वार्षिक रिपोर्ट (1972-73) मे गृह मन्त्रालय ने उल्लेख किया है कि सी. आर. पी. की 60 वटालियनो मे से 52 पूरे साल सक्रिय ड्यूटी पर रही थी। शेष आठ वटालियो को भी, जो कि 1971 मे खड़ी की गयी थीं, अपना प्रशिक्षण समाप्त कर लेने के वाद सक्रिय ड्यूटी पर लगा दिया गया था। इसके अतिरिक्त, मन्त्रालय की रिपोर्ट मे यह भी कहा गया है कि, दल (सी. आर. पी.) ने आन्ध्र प्रदेश, असम, अरुणाचल प्रदेश, विहार, दिल्ली, जम्मू तथा कश्मीर, केरल, मणीपुर, मिजोरम, मेघालय, नागालैण्ड, त्रिपुरा और पश्चिम वगाल मे प्रशंसनीय ढग से अपना कर्त्तव्य निभाया। आम चुनाव मे नागरिक अधिकारियो की सहायतार्थ भी इसका उपयोग किया गया था।[2]

सीमा सुरक्षा दल की स्थापना भारतीय सीमाओ की चौकसी और गश्त करने के लिए गयी थी, किन्तु व्यवहार मे कहानी बिल्कुल दूसरी है। गृह मन्त्रालय की सरकारी रपट मे स्वीकार किया गया है कि सीमा सुरक्षा दल न केवल 'सीमाओ की सुरक्षा' को सुनिश्चित करने की 'वहुमुखी भूमिका' निभा रहा था वल्कि उसने कानून और व्यवस्था बनाये रखने मे राज्यो के पुलिस दल की भी सहायता की। गृह मन्त्रालय ने 1974-75 की अपनी रिपोर्ट मे इस वात का उल्लेख किया है कि कानून और व्यवस्था वनाये रखने के लिए सीमा सुरक्षा दल का इस्तेमाल विशेप रूप से उत्तर प्रदेश, गुजरात और विहार मे किया गया था। 1974 तथा 1975 के वर्ष उत्तर भारत के राज्यो मे व्यापक पैमाने पर विरोध आन्दोलनो के गवाह रहे और केन्द्र सरकार ने ऐसे आन्दोलनो का सामना अपने अर्ध-सैनिक संगठनों की सहायता से किया।[3]

स्वाधीनता के वाद 45 वर्षों के दौरान केन्द्र सरकार के अर्द्ध-सैनिक संगठनो द्वारा निभायी गयी भूमिका पर चर्चा से निम्नलिखित मुद्दे सामने आते हैं : हडताली कर्मचारियो अथवा विद्यार्थियो द्वारा पैदा की गयी आम व्यवस्था की समस्याओ से निपटने के लिए केन्द्र सरकार की एजेन्सियो का व्यापक रूप से इस्तेमाल किया गया है। जहाँ कही किसी उदीयमान सामाजिक समूह ने अपने असन्तोप को स्पष्ट अभिव्यक्ति देने की शक्ति और हिम्मत जुटायी है, वही सी. आर. पी. और बी. एस. एफ. सक्रिय हुए और असन्तोप की आवाज देने अथवा जन संघर्प छेड़ने की कोशिश को कुचल दिया। वहुत वार, जो समस्याएँ स्पष्ट रूप से सामाजिक समस्याएँ है उनसे इस तरह निपटा गया है मानो वे शुद्ध पुलिस समस्याएँ हो।

राज्यों में पुलिस प्रशासन
(POLICE ADMINISTRATION AT THE STATES LEVEL)

भारतीय राज्यो मे विद्यमान पुलिस सगठनो का निर्देशन प्राथमिक रूप मे 1860 मे वनाये उस 'पुलिस एक्ट' से होता है जिसका सृजनहार 1860 का पुलिस कमीशन था।

राज्य-स्तर पर कोई भी पुलिस सगठन स्टॉफ तथा लाइन दोनो ही प्रकार की भूमिकाओ का निर्वाह करता है। ये कार्य वड़ी जटिल प्रकृति के होते है। क्योकि उन्हे तीन स्तरो पर जूझना पड़ता है :

---

1 *Ibid*, pp. 40-41.

2 *Annual Report of the Ministry of Home Affairs*, New Delhi (1973), p. 38.

3 *Ibid.* (1975), pp 8-9.

(i) केन्द्रीय सरकार तथा उसकी विभिन्न इकाइयाँ,
(ii) राज्य सरकार का गृह मन्त्रालय तथा
(iii) जिला पुलिस अधिकारियों से सम्बद्ध अन्य निम्नस्तरीय इकाइयाँ।

ये सभी प्रकार की कार्यवाहियाँ प्राय: साथ-साथ ही की जाती रही हैं। इनमे कुछ स्टाफ इकाइयाँ ऐसी होती हे जो कि केवल राज्य स्तर पर ही सक्रिय होती हैं तथा जिनकी क्षेत्रीय इकाइयाँ प्राय नही होती है। राज्य-स्तरीय पुलिस प्रशासन की जहाँ तक लाइन गतिविधियो का प्रश्न है वहाँ पर वे जिला शाखाओं की मदद से विधि एवं व्यवस्था स्थापित करती हैं, अपराधो की जाँच एव गिरफ्तारियो की व्यवस्था भी करती है। राज्य पुलिस के सामान्य नागरीय अनुभाग मे तीन अधिकारी एव विभाग होते हैं—गृह मन्त्री, गृह आयुक्त तथा गृह विभाग।

राज्य पुलिस 'इन्सपैक्टर जनरल आफ पुलिस' के निदेशन एव अधीक्षण मे कार्य करती है। इसके इस कार्य मे सहायतार्थ एवं सलाह देने हेतु अनेक विशेष, सहायक तथा अतिरिक्त आई. जी. रहते हे जो कि मुख्यालय पर स्थित होते हैं। ये सभी विशिष्ट पुलिस की भूमिकाओं का निर्वाह करते हे, जैसे—भ्रष्टाचार निरोधक कार्यवाही, नागरिक सुरक्षा अभियान तथा ट्रैफिक के कार्य आदि। राज्य पुलिस के इस मुख्याधिकारी (I.G.P.) को दो प्रकार के उत्तरदायित्वों को वहन करना होता है—**प्रथम**, वह नीति निर्माता होता है, **द्वितीय**, वह नीतियो के कियान्वयन हेतु 'लाइन क्रियाकलापो' का सचालन करता है। वह अपने विभाग का प्रमुख कार्मिक अधिकारी है अत. उसे वित्तीय प्रबन्ध तथा सगठन मे अनुशासन बनाये रखने मे व्यापक शक्तियाँ एव विवेकाधिकार मिले हुए ह। डी. आई. जी. अपनी 'रेन्ज' का प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी होता है। एक क्षेत्र का डी. आई. जी. चार से लेकर छ तक प्रशासनिक जिलो मे पुलिस कार्यों का अधीक्षण करता है। वह ऐसा नया स्तर बना देता है जो कि प्रशासनिक पद सोपान व्यवस्था म राज्य-स्तर से निम्न तथा जिला स्तर से उच्च होता है। राज्य स्तर पर कार्यात्मक भूमिका का नायक डी. आई. जी. अनेक 'अनुषांगिक' कार्यों का सम्पादन करता है, उदाहरणार्थ सी. आई. डी., विशिष्ट जानकारी, रेलवे पुलिस, पुलिस प्रशिक्षण सम्बन्धित सस्थाओ का संचालन, पुलिस मुख्यालयो की देखभाल तथा राज्य-स्तरीय सैनिक टुकडियो का व्यवस्थापन इत्यादि।

एक डी. आई. जी. एक ओर तो विभिन्न जिलों के पुलिस अधीक्षको के कार्यों का अधीक्षण करता है और दूसरी तरफ वह उस रेन्ज मे पुलिस कार्यों मे समन्वयार्थ उनसे निर्देशन, सलाह तथा नेतृत्व की आकाक्षा रखता है। वैसे उसकी अपनी स्वतन्त्र पद सोपान व्यवस्था एवं कार्यात्मक सस्थाएँ भी होती हैं जो उससे विशिष्ट प्रकृति की भूमिकाएँ निर्वाह करने मे सहायता देती है चाहे उसे सी. आई. डी, विशिष्ट जानकारी, भ्रष्टाचार निरोध, ट्रैफिक, रेलवे तथा सशस्त्र पुलिस सेवाओ का सचालन ही क्यो न करना हो। किसी भी कार्य की व्यापकता एवं प्रकृति के आधार पर ही उनका आकार तय किया जाता हे। उदाहरणार्थ, जब हम सी. आई. डी. शाखा के डी. आई. जी. का संगठनात्मक विस्तार देखते हे तो हम यह पाते हैं उसके अधीन ऐसे अनेक कार्यालय होते ह जो कि एम ओ. बी., फिंगर प्रिण्ट, फोरेन्सिक प्रयोगशाला तथा खोजी श्वान दलो का सम्बन्धित कार्य संचालित करते हे।

जहाँ तक राज्य की सशस्त्र पुलिस का ताल्लुक है, इसे विभिन्न राज्यो मे विभिन्न नामो से पुकारा जाता है। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान मे इसे "प्रान्तीय सैनिक कान्स्टेबुलेरी", मध्य प्रदेश मे "विशिष्ट सैनिक पुलिस", बिहार मे "सैनिक पुलिस", आसाम मे "आसाम राईफल्स" तथा तमिलनाडु मे "मालाबार पुलिस" की सज्ञा दी जाती हे। ये सभी दल आई. जी. पी की ऐसी सुरक्षित सेना होती है जिनका प्रयोग उस रेन्ज के डी. आई. जी. के अनुरोध पर

ही किया जाता है। चूंकि ये मारक क्षमता के सुरक्षित दल होते है अत. इनका प्रयोग संवेदनशील क्षेत्रों में सुरक्षार्थ अथवा विशिष्ट परिस्थितियो मे किया जाता है।

राज्यो में द्रुतगति से बढने हुए शहरीकरण के कारण इन दिनो राज्य-स्तर पर विशाल ट्रैफिक पुलिस प्रशासन का सगठन किया गया है। राज्य स्तर पर ट्रैफिक पुलिस के कार्य "स्टाफ दायित्वों" के अन्तर्गत आते है। इनके कार्य है—आयोजन, शोधकर्म, जिला-स्तर पर पुलिस कार्यों का समन्वय तथा राज्यो पर सडक सुरक्षा एवं भारी वाहनो के आवागमन के नियमन के बारे में आई. जी. पी. को सलाह देना इत्यादि।

इस प्रकार यही कहा जायेगा कि राज्य-स्तर पर कार्यरत पुलिस संगठन के पास अनेकानेक कार्यात्मक तथा विशिष्ट कार्य करने की इकाइयाँ हैं। यह संगठनों के कार्यो का नियमन, समन्वय एवं अधीक्षण करते हैं—जो कि नीतियो के क्रियान्वयन मे जुटे रहते हैं।

जिला पुलिस प्रशासन

(POLICE ADMINISTRATION : AT THE DISTRICT LEVEL)

हमारे देश में राज्य पुलिस संगठनों मे जिला स्तर ही सभी पुलिस थानो का नियन्त्रण एवं नियमन करता है। इसी स्तर पर पुलिस का जो अधीक्षक होता है उसी के माध्यम से एक तरफ तो राज्य सरकार अपनी भूमिका निभाती है और दूसरी तरफ उसके अधीन थाने उससे आदेश एवं निर्देश प्राप्त करते है। सव-डिवीजन पुलिस की देखभाल पुलिस का एडीशनल अथवा डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ड करता है तथा एक सर्किल मे पड़ने वाले सभी थानो का अधीक्षण कार्य उस क्षेत्र का सर्किल इन्सपेक्टर करता है। इसी क्रम मे जहाँ तक अन्य स्टाफ एजेन्सियों (जिनमे क्राइम ब्यूरो, जाँच पडताल की विशिष्ट शाखाएँ इत्यादि सम्मिलित हैं) जिला अधीक्षक कार्यालय मे समाहित रहते हैं। इसके विपरीत, जिला अधीक्षक लाइन इकाइयो के माध्यम से (जिसमे पुलिस थाने, विशेप दलों, ट्रैफिक पुलिस तथा अभियोक्ता शाखाएँ हैं) कार्य करता है।

किसी भी जिला पुलिस का कार्यक्षेत्र लगभग 3,600 वर्गमील भूमि तथा साढे वारह लाख व्यक्तियो तक विस्तीर्ण होता है। इसके अतिरिक्त, उसके पास एक जेल, हथियारो के लिए आगार गृह तथा कपड़े रखने का एक अन्य निवास होता है। मुख्यालय मे ही सी. आई. डी. के सगठन का सचालन किया जाता है। वैसे पुलिस अधीक्षक उस जिले के जिलाधीश के अधीक्षण मे काम करता है तथापि यह जिले मे विधि एवं व्यवस्था तथा अपराधो की निरोधक कार्यवाही की व्यवस्था करना है। इन दोनो लक्ष्यों की प्राप्ति के क्रम मे उसे तीन कार्य करने होते है—गुप्त सूचनाओ की प्राप्ति, जनता एवं पुलिस मे सहकारिता की भावना की अभिवृद्धि तथा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों मे मुस्तैदी पैदा करना। चूंकि जिला प्रशासन मे पुलिस अधीक्षक एक केन्द्रीय भूमिका का निर्वाह करता है एतदर्थ उसे अपने वरिष्ठों, कनिष्ठो, गैर-साथियो, जनता, राजनैतिक दलो तथा अनन्त प्रकार के विविध दवाव गुटों से निपटना पड़ता है।

इसी प्रकार किसी भी जिले के सब-डिवीजन का प्रशासन वहाँ के एडीशनल या डेपुटी एस. पी. गण चलाते हैं। इन अधिकारियो की दो प्रमुख भूमिकाएँ है—वे अपने सब-डिवीजन के पुलिस मुखिया होते हैं तथा वे मुख्यालय मे स्थित पुलिस अधीक्षक के सहायक भी होते हैं। एक सब-डिवीजन मे विद्यमान पुलिस सर्किलो का भारत मे ऐतिहासिक महत्त्व रहा है। इस स्थल पर प्राय पदोन्नत सब-इन्सपेक्टर एक सर्किल इन्सपेक्टर के रूप मे कार्य करता है जोकि पुलिस अधीक्षक को तथा डेपुटी अधीक्षक को सब-इन्सपेक्टरों के व्यवहारो एवं गतिविधियो से परिचित रखता है जिसका कि पुलिस के जिला प्रशासन पर प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। इस 'इन्सपेक्टरेट' कार्यालय की व्यापक आलोचना हुई है। इसे असगत, कार्य दोहराव तथा भ्रष्टाचार फैलाने का दोषी पाया गया है।

'पुलिस स्टेशन' पुलिस प्रशासन का आधारभूत इकाई है जो कि समस्त प्रकार के अपराधों की जाँच-पडताल एव प्रारम्भिक सूचनाएँ अकित करते हैं। भारत मे एक पुलिस स्टेशन का औसतन क्षेत्र 200 वर्ग मील है जिसके अन्तर्गत 100 से भी अधिक गाँव एव 75,000 के करीव जनसंख्या आती है। कार्यात्मक दृष्टि से भारत मे पाँच प्रकार के पुलिस स्टेशन हैं—ग्रामीण पुलिस स्टेशन, शहरी पुलिस स्टेशन, अर्द्ध-नगरीय पुलिस स्टेशन, मेट्रोप्रोलिटन पुलिस स्टेशन तथा रेलवे पुलिस स्टेशन ।

पुलिस स्टेशन समस्त पुलिस गतिविधियो का केन्द्र है। यह सव-इन्सपेक्टर, असिस्टेण्ट सव-इन्सपेक्टर, हेड कान्स्टेवुल तथा कान्स्टेवुल के जरिये कार्य करता है। पुलिस स्टेशन के सव-इन्स-पेक्टर को एस. एच ओ. (S. H. O.) कहते हैं। पुलिस प्रशासन की दृष्टि मे एस. एच. ओ. के अनेक दायित्व एवं कर्त्तव्य हैं।

किसी भी जिले की पुलिस कार्यालय की दो प्रमुख स्टाफ इकाइयाँ होती हैं—क्राइम व्यूरो तथा विशिष्ट जाँच-पड़ताल की शाखा। किसी भी जिले मे व्यूरो वहाँ पर सक्रिय एव सगठित अपराधो तथा अपराधी गिरोहो के वारे मे समस्त जानकारी एकत्रित करता है एव विधिवत निष्कासन भी करता है। इसके अतिरिक्त, विशिष्ट जाँच शाखाएँ भ्रष्टाचार, धोखाधडी, जालसाजी तथा अवैधानिक वित्तीय अपराधो की जाँच-पड़ताल करती हे।

वड़े जिलो मे प्राय. ट्रैफिक पुलिस के अलग विभाग पाये जाते हे। इसी प्रकार पुलिस मुकदमों के अभियोजन हेतु 'एसिस्टेण्ट पुलिस पब्लिक प्रोसीक्यूटर्स' (ए. पी. पी. पी.) की नियुक्ति की जाती है जो कि उन्हे सामान्य अदालत से लेकर सेशन जज की अदालत तक लड़ते है।

भारतीय पुलिस व्यवस्था : चारित्रिक विशेषताएँ
(INDIAN POLICE SYSTEM : NOTES TOWARDS A CHARACTERIZATION)

प्रो. डी. एच. वेली ने अपने सुविचारित ग्रन्थ 'पुलिस एण्ड पोलिटिकल डवलपमेट इन इण्डिया' मे भारतीय पुलिस व्यवस्था के तीन लक्षण वताये हैं. (i) राज्य आधारित पुलिस संगठन, (ii) शस्त्र सज्जित तथा अनास्त्र पुलिस कान्स्टेवुलेरी तथा (iii) समतलीय विशिष्टीकरण। इन वुनियादी लक्षणो मे से ऐसे अनेक सहायक तत्त्व मिल जाते ह जिसके कारण ही राज्यों मे विद्यमान पुलिस सगठनो के विविध रूप प्रकट होते है और वे अर्द्ध-सैनिक तथा गैर-विशेषज्ञो का चरित्र ग्रहण कर लेते हे। यह भी स्मरणीय है कि ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से हमारी पुलिस का चरित्र उपनिवेशवादी रहा है तथा समय की धारा के साथ-साथ और परिस्थितियो के फेर-वदल के सन्दर्भ मे ये परम्पराएँ ज्यादा कट्टरता से उसमे जडे जमाती गयी हे। वैसे भी भारतीय पुलिस प्रथम स्वाधीनता संग्राम के वाद (1961 के पुलिस एक्ट के अनुसार) ही सृजित की गयी तथा भारतीय स्वाधीनता सग्राम के विभिन्न चरणो मे उसके अनुशासनात्मक कलेवर में वृद्धि हुई। जहाँ तक भारतीय पुलिस के नकारात्मक दर्शन के विकास का प्रश्न उठता है वह तो मात्र सुलभ जैवीय गुण ही कहा जायेगा क्योकि इसके नियन्ता ने (1861 के एक्ट ने) ही समस्त पुलिस व्यवस्था को जिलाधीश (डी. एम) की दण्ड सीमा मे वांध दिया था। फलस्वरूप हमे वृद्धि विरोधी तथा प्रवल भुजाधारी पुलिस सगठन ही प्राप्त हुआ। विगत एक दशक मे जिन भी पुलिस सगठनो का निर्माण हुआ और जो भी परीक्षण किये गये उसको सार रूप मे यही कहा जायेगा कि उपनिवेशवादी इतिहास मे पुलिस का जो महास्तरीय सगठन वनाया गया उसका ध्येय "नागरिक पुलिस" वनने की वजाय 'विधि एव व्यवस्था पुलिस' वनाना ज्यादा रहा, परिणामत. वह वर्तमान युग के लोकतन्त्र और विकास के सन्दर्भों मे सर्वथा अप्रासगिक लगने लगी है।

भारतीय पुलिस की कतिपय चारित्रिक विशेषताएँ इस प्रकार हे .

(1) **नकारात्मक दर्शन** (Philosophy of Negativism)—भारत मे पुलिस का कर्म एव दर्शन नकारात्मक रहा है। इसका सम्वन्ध चोर, डाकुओ, अपराधियो, विधिभजको से रहा है।

पुलिस आमतौर से गुप्त जाँच-पडताल, गिरफ्तारी, मार-पीट, डराना-धमकाना, दण्डित करवाने आदि कार्य करती है जो कि नकारात्मक स्वरूप के है। लोगो को अच्छे व्यवस्थित जीवन-यापन का प्रशिक्षण देना, स्कूली बच्चो को सड़क पर चलने के नियम सिखाना, भूले-भटके को राह बताना, संकट में नागरिको की अपरिधर्म सहायता करना, लोगों मे आत्मविश्वास जागृत करना आदि सकारात्मक कार्यों से भारतीय पुलिस का बहुत दूर का रिश्ता है।

(2) **राज्य आधारित संगठन** (State-based System)—भारत का पुलिस प्रशासन राज्य आधारित संगठन है। सविधान के अनुसार पुलिस 'राज्य सूची' का विषय है। पुलिस का कार्य राज्य और सरकार के हितो का सरक्षण है, राज्य के कानूनों का पालन करवाना है, राज्य निर्देशित अनुशासन को बनाये रखवाना है, चाहे ऐसा करते हुए नागरिक की भावनाओ और गरिमाओ पर आँच ही क्यो न आये।

(3) **शस्त्र सज्जित तथा अनास्त्र कान्स्टेबुलेरी** (The Armed and Unarmed Constabulary)—भारत की पुलिस शस्त्र सज्जित तथा अनास्त्र दोनो प्रकार की है। आमतौर से सामान्य काल में नागरिकों का वास्ता अनास्त्र पुलिस मैन से पडता है, जिसका कार्य दिन-प्रतिदिन की कानून तोड़ने की घटनाओं की जाँच-पडताल करना होता है। इनके पास केवल 'लाठी' होती है और वे सादे वस्त्रों मे भी रह सकते है। शस्त्र सज्जित पुलिस अर्द्ध-सैनिक (Para-military) स्वरूप की होती है। यह बैरक मे रहती है और इसका संगठन सेनाओ की तरह का होता है। इसका प्रयोग कानून और व्यवस्था की गम्भीरतम संगठन की परिस्थितियो में किया जाता है।

(4) **शारीरिक सौष्ठव पर आधारित पुलिस दल** (Muscle oriented Police-Force)—भारतीय पुलिस का कार्यक्षेत्र केवल 'फील्ड' मे माना जाता है, अत: 'स्टाफ कार्य' करने वालो को हेय दृष्टि से देखा जाता है और निम्न कोटि की क्षमता वाले व्यक्तियो को 'स्टाफ कार्य' हेतु किन्हीं कारणो से नियुक्त किया जाता है। पुलिस के जवानो और यहाँ तक कि अधिकारियो के प्रशिक्षण मे भी जोर केवल शारीरिक सौष्ठव पर ही दिया जाता है जबकि आधुनिक लोकतन्त्रात्मक युग मे शारीरिक सौष्ठव के साथ-साथ नागरिक अधिकार, कर्त्तव्य, सामाजिक परिवर्तन आदि का दिशा बोध भी आवश्यक है।

(5) **पुलिस पर मजिस्ट्रेटों की सर्वोपरिता** (Magisterial Supremacy over Police)—भारतीय पुलिस को 'कानून-व्यवस्था' सम्बन्धी दायित्व मजिस्ट्रेटों के अधीक्षण और देखरेख में करने होते हैं। जिले मे पुलिस अधीक्षक तथा अन्य सभी पुलिस कर्मियो को जिला मजिस्ट्रेट के निर्देशन मे चलना होता है।

भारतीय पुलिस के स्वरूप पर टिप्पणी करते हुए **दिनमान** ने लिखा है—'पुलिस और गुण्डो मे क्या फर्क है? कोई फर्क नही है। फर्क इतना है कि पुलिस जो कुछ करती है कानून और व्यवस्था के नाम पर, जबकि गुण्डो को यह लाइसेन्स नही है। दोनो जनता के दुश्मन है, उसे लूटते है, दोनो को सेठ-साहूकार और नेता लोग पाले रहते है, जहाँ गुण्डे कमजोर पड़ते है वहाँ पुलिस काम आती है। कस्बो मे आज भी पुलिस का राज है, वह निरंकुश है, भ्रष्ट है, यदि कस्बे की नीद हराम है तो उसी के कारण चोरी, डकैती, गुण्डागर्दी बढ रही है, हर कस्बा एक पुलिस राज है, थानेदार, दरोगा वहाँ किसी नादिरशाह से कम नहीं, बस उसका हुक्म और उसकी मर्जी चलती है'।'[1] भागलपुर काण्ड (बिहार), जिसमे पुलिस ने अपराधियो को हिरासत मे बन्द

---

[1] **दिनमान**, 5 नवम्बर-11 नवम्बर 1978, पृ. 11।

करके आँखें फोड दी, भारतीय पुलिस द्वारा की जाने वाली संगठित जमात की हिंसा की मुँह वोलती कहानी है।[1]

ए. जी. नूरानी लिखते है—"यदि हाल के सप्ताहो (अप्रैल-जून 1985) में गुजरात मे हुई हिंसक घटनाओ पर विचार किया जाये तो यह वात सामने आती हे कि 17 अप्रैल की शाम को तीस से अधिक पुलिसकर्मी गोमतीपुर के वाजारो और मजदूर वस्तियो (अहमदावाद) मे तीन घण्टे तक अभद्र और अश्लील प्रदर्शन करते रहे। सभी आयु वर्ग की महिलाओं के प्रति गाली-गलौज किया और आतंक पैदा किया। इससे पूर्व दिन मे ऐसी पुलिस कार्यवाही की गयी ताकि 'जनता को सवक सिखाया जा सके' पुलिस वाले लोगो के घरो मे घुस गये, सम्पत्ति को क्षति पहुँचायी तथा स्त्री-पुरुषो को वुरी तरह पीटा ।"[2]

भारतीय पुलिस : विकास की दुविधाएँ
(INDIAN POLICE CHALLENGES OF DEVELOPMENTS)

दुनिया के हर देश मे तथा हर समाज मे, जिसका कि भारत कोई अपवाद नही है, पुलिस संगठन सरकार के कार्यपालिका सम्वन्धी कार्यों के निवाहने के एक यन्त्र के रूप मे कार्य करता है तथा वह हर जगह कानून की स्थापना करता है। पुलिस को हर जगह ऐसे 'नियन्त्रणकारी प्रशासन' के यन्त्र की संज्ञा दी जाती है जिसका परिवर्तन या विकास करने से दूर-दूर तक कोई सम्वन्ध नही है क्योकि वह एक ऐसी एजेन्सी है, जो कि हर समाज मे विधि एव व्यवस्था की आयोजना करती रहती है तथा जिसका हर दिन अपराधो, दुर्व्यसनो तथा वाल-अपराधों से पाला पडता रहता है। पुलिस कार्यों तथा व्यवहारो का उपर्युक्त चित्रण सर्वथा विकृत हो गया है—क्योकि इस सस्था के साथ विकासशील देशो के परिवर्तन तथा विकास के प्रयत्नो को जोड़कर कैसे रखा जायेगा। पुलिस तथा विकास विपय पर की जाने वाले अधुनातन शोध एक दूसरी ही कहानी सुनाते है और वह यह कि पुलिस प्रशासन न केवल विकास को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है अपितु वह उसे समाहित करते हुए प्रभावित करता है और एक दिशावोध भी प्रदान करता है। प्रो. टी. एच. वेली का यह निश्चित मत है कि "इस तथ्य को मानने के पीछे कई आधार हें कि दूसरी इकाइयो के मुकावले पुलिस राजनीतिक जीवन को कही अधिक प्रभावित करती है। इसके कुछ कारण इस प्रकार है—**प्रथम**, चूंकि अपनी वर्दी के कारण पुलिस की भूमिका इतनी प्रत्यक्ष तथा खुली होती है कि उसे छिपाया नही जा सकता तथा समाज की सही कार्यवाहियो मे इतनी अधिक रची-वसी रहती है कि उसका सम्वन्ध जन-जन तक फैला हुआ है। **द्वितीय**, जहाँ तक वल के साधनो का प्रश्न है वहाँ तो पुलिस का एकाधिकार सर्वमान्य है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि पुलिस समाज का नियन्त्रक है, अत उसकी भूमिका के प्रति समाज मे भय, उत्तेजना तथा आशंका की भावना भी रहती है। अत सरकार के अन्य अगों के विपरीत उसकी भावनात्मक महत्त्व की स्थिति वनी रहती है। **तृतीय**, चूंकि पुलिस कर्मी समाज के जीवन के सवसे महत्त्वपूर्ण तत्त्वो की रक्षा करते है तथा वे व्यक्ति की जीवन रक्षा उसकी सकट की घडियो मे करते हैं, अतः उनका महत्त्व निर्विवाद रूप से स्वयसिद्ध है। **चतुर्थ**, पुलिस को कानून का समानार्थी मान लिया गया है क्योकि वह मनुष्य द्वारा रचित या विधि द्वारा स्थापित सरकार के सगठनो तथा ढाँचो की रक्षा करती है और यह भी तय करती है कि उसे अपनी इस भूमिका का निर्वाह कैसे करना है।[3] इतनी विशाल शक्तियो के कारण भारतीय पुलिस इस देश के विकास की गति

---

1 **दिनमान**, 28 दिसम्बर-3 जनवरी, 1981, पृ. 11-12।

2 ए. जी. नूरानी, "पुलिस का आचरण—राष्ट्रीय समस्या", **राजस्थान पत्रिका**, 14 मई, 1985, पृ. 6।

3 D. H. Bayley, *Police and Political Development in India*, (New York, 1969), p 14.

को बढाने या रोकने में एक सम्भावित शक्ति की भूमिका प्राप्त कर लेती है। चूंकि वह सत्ता की सबसे अनुशासित सहभागिनी है। अत. वह देश के विकास मे भाग लेने की अपूर्व क्षमता रखती है।[1] इसके विपरीत, अगर हम उसे विकास कार्यों से पृथक भी रखना चाहें तो ऐसी अनचाही बाधाएँ तथा तनाव उपस्थित हो जायेंगे कि हम उनमे केवल पुलिस की मदद से ही निपट सकेंगे वैसे हम 'गैर-राजनीतिक पुलिस' या 'विकास के प्रति तटस्थ पुलिस' की चर्चा करते है तो एक भ्रम को हवा मे उछाल रहे है क्योकि इसका मतलब यह निकलेगा कि अगर भारतवर्ष मे पुलिस प्रशासन विकास की कार्यवाहियों में भाग नही लेता है तो अन्ततोगत्वा उससे व्यवस्था मे असन्तुलन की स्थिति पैदा हो जायेगी।[2] फिर यह बात भी सही नही है कि हर 'विकासवादी पुलिस' अन्तत. 'नागरिक पुलिस' का रूप ग्रहण कर ही लेगी। अगर हम भारत मे राजनीतिक आधुनिकीकरण, प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया तथा सामाजिक धर्मनिरपेक्षतावाद के जरिये विकास करना चाहते है तो हमें इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए न केवल पुलिस को एक 'नया दर्शन' प्रदान करना होगा, अपितु उसकी भूमिका तथा कार्यो मे भी परिवर्तन लाने के लिए एक प्रासंगिक प्रशासनिक ढाँचा भी बनाकर देना होगा ताकि हमारे देश की राजव्यवस्था अपने घोषित लक्ष्यो को तथा प्रचारित मान्यताओ को प्राप्त कर सके।

पुलिस नाम के जिस सस्थान से अपराधो की रोकथाम के लगातार उनके वैज्ञानिक विश्लेपण की अपेक्षा की जाती है उसका चरित्र आज भी ब्रितानी साम्राज्यवाद से विरासत मे मिला, उसी भाँति का है। अभी तक सर्वथा अप्रासंगिक एवं पुराणपन्थी 1869 का पुलिस ऐक्ट ही उपनिवेशवादी कानून तथा अपराधो और बुराइयो की शास्त्रीय मीमासा प्रस्तुत कर रहा है। वर्तमान पुलिस संगठन भारतीय समाज की विकास आवश्यकताओ के समक्ष अब बौना लगने लगा है। फलतः नयी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के समक्ष यह व्यवस्था उठ खडी हुई है कि वह अपने नये लक्ष्यो तथा मान्यताओ की प्राप्ति हेतु इस पुलिस तन्त्र को कैसे प्रासगिक बनाये। भय पर आधारित तथा बाहुबल से प्रेरित इस पुलिस सगठन का भूतकाल मे इतना दुरुपयोग हुआ है कि व्यवहार मे अब इस कानून की भुजा को केवल यथास्थितिवाद का पुष्टि पोषक मात्र ठहराया जाने लगा है। फिर समाज तथा उसके जनमत बनाने वाले नेतृत्व की भी पुलिस के प्रति कोई सहानुभूति की भावना नही है क्योकि भारत मे लोकसेवा आयोग द्वारा चयनित अन्य प्रशासकीय सेवाओ के मुकाबले पुलिस मे योग्य व्यक्ति नही आते। क्षुब्ध, क्रुद्ध और निराश जनता का आम आदमी पुलिस को उदासीन, भ्रष्ट और बेसरोकार मानता है। उसके अनुसार पुलिस और अपराधी मे साँठ-गाँठ है और असामाजिक तत्त्व उसी की मदद मे फलफूल रहे है। राजनीतिक प्रभुओं ने भी विगत काल मे अपने भ्रष्ट शासन को बनाये रखने के लिए तथा यथास्थितिवाद को स्थायी करने के लिए ही अभी तक पुलिस दल का इस्तेमाल किया है। फिर आम नागरिक न तो पुलिस व्यवस्था की अन्तरग एवं दर्दीली कहानी को जानता है और न ही वह समाज की सुरक्षा की जटिल समस्याओं तथा परेशानियों से भिन्न है। विगत काल मे भारत के पुलिस प्रशासन के वरिष्ठ अधिकारी भी उस अपेक्षित नेतृत्व को प्रदान करने मे सर्वथा असफल रहे है जो कि पुलिस प्रशासन के सगठन की प्रशासनिक एव व्यावसायिक दुविधाओं एवं द्वन्द्वो से निपटने के लिए वाछित थी। इसका परिणाम हुआ कि पुलिस संगठन, पुलिस कार्यकर्ता, पुलिस बजट, पुलिस की कार्यप्रणाली का तरीका तथा पुलिस-जनता सम्बन्ध सभी के सभी परिवर्तन के प्रति वैराग्य धारण करके बैठ गये। ऐसी स्थिति मे इस विभाग की स्थिति उस अड़ियल टट्टू के समान हो गयी

1 *Ibid.*

2 *Ibid*, pp. 16-28.

जिसने विकास के लक्ष्य को तिलांजलि दे डाली है तथा जो मृत कानूनों को लागू करने को ही अपने जीवन कर्म की संज्ञा दे रहा है। फलतः और विकास उनके लिए एक [illegible] हो गया है।

भारतीय पुलिस में बौद्धिक जागृति का भी अभाव है। वह 'स्वयं अव्यवस्था' और 'अराजक हिंसा' के बीच भी अन्तर नहीं कर पाती। पुलिस 'सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों' के प्रति उदासीन है जबकि सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक विकास की ताकतें देश को 'प्रगति और परिवर्तन' की ओर पूरे वेग से धक्का दे रही हैं। 'कानून और व्यवस्था' बनाये रखने की लीक पर चलते हुए वह सभी को 'व्यवस्था तोड़ने' की संज्ञा दे देती है। स्वतन्त्र भारत में एक ओर जबकि आम नागरिक अपने मूलभूत अधिकारों के लिए जागृत हो गया है, राजनीतिक व्यवहार का कार्यक्षेत्र भी तेजी से बढ़ा है तथा नागरिकों में आर्थिक विकास की ललक स्पष्ट दिखायी देती है, तब हमारी पुलिस परिवर्तन की आँधी को रोकने के लिए अपनी लाठी और बन्दूक लिये बैठी है। कोई भी मार्क्सवादी चिन्तक भारतीय पुलिस को ऐसे पूँजीवादी वर्ग के हितों के रक्षक की संज्ञा देगा जो कि पददलितों के विरुद्ध शोषण तथा भ्रष्टाचार की ताकतों को प्रश्रय देती है और शोषकों को अपनी सुरक्षित सीमा में आश्रय। फलतः यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय पुलिस 'परिवर्तन' के उत्प्रेरक बनने की बजाय 'विकास का बाधक' बनना अधिक पसन्द करती है।

भारतीय पुलिस 'व्यवस्था' को बनाये रखने के लिए दो काम करती है—सामाजिक विधायनों का क्रियान्वयन तथा औद्योगिक नीति का नियमन। किन्तु प्रश्न यह है कि हमारी राजनीतिक व्यवस्था ने ऐसा जागरूक प्रयास कब किया था कि भारतीय पुलिस सामाजिक सुधार तथा आर्थिक विकास के क्षेत्रों में भी अपनी भूमिका का निर्वाह करे? वस्तुतः हमारी पुलिस देश के सामाजिक तथा आर्थिक कायाकल्प करने के लक्ष्य में कभी प्रतिबद्ध नहीं हो पायी।

भारतीय पुलिस के विकास सम्बन्धी लक्ष्य इस प्रकार हो सकते हैं :

(1) लोकतान्त्रिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं की सुरक्षा तथा उन्हें सफल बनाने का लक्ष्य— इस दिशा में पुलिस निम्नलिखित भूमिकाओं का निर्वाह कर सकती है :

(i) किसी भी कार्यरत सरकार की कार्यपालिका शक्तियों का निर्वाह करते समय वह ईमानदारी तथा योग्यता को अपना मन्त्र मानकर चले, (ii) केन्द्र में नीति निर्माता के सहायकार्थ वह शालीनता बनाये रखे तथा कानून बनाये जाते समय एक विशेषज्ञ की भूमिका निभाये; (iii) वह सही अर्थों में कानून की भुजा बने जिससे वह राजनीतिक विकास में एक बाधक की भूमिका नहीं निबाहे।

(2) आर्थिक विकास एवं समृद्धि लाने में पुलिस का योगदान— इस दिशा में पुलिस का निम्नलिखित योगदान हो सकता है :

(i) वह सरकार की आर्थिक नीतियों से सम्बन्धित कानूनों का सख्ती एवं ईमानदारी से क्रियान्वयन करे, (ii) वह जागृत होकर जनसहयोग से ऐसा वातावरण बनाये जिससे कि औद्योगिक तथा कृषि क्षेत्रों में शान्ति बनाये रखी जा सके, (iii) आर्थिक कार्यवाहियों का नियमन इस प्रकार से करे कि गम्भीर आर्थिक अपराधों की प्रभावी रोकथाम हो सके।

(3) सामाजिक परिवर्तन को गतिमान बनाये रखने का लक्ष्य— इस दिशा में पुलिस ने निम्नलिखित कदम उठाये :

(i) सामाजिक विधायन के क्षेत्र में अधिक तत्परता दिखलाये, विशेषतः पिछड़ी जातियों तथा जनजातियों के सामाजिक सुधार के लिए बनाये गये कानूनों का क्रियान्वयन करे; (ii) शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में उन लोगों तथा शक्तियों के प्रति विशेष सख्ती दिखाये जो कि धर्मनिरपेक्षता

तथा आधुनिकीकरण की शक्तियों को कमजोर करने के लिए साम्प्रदायिक हिंसा तथा संकीर्ण क्षेत्रवादी भावनाओ को उभारती हैं तथा उन्हे वढावा भी देती है।

भारत में पुलिस की वदलती हुई भूमिका : सुधार और प्रतिवद्धता

(CHANGING ROLE OF THE POLICE . COMMITMENT FOR REFORM)

अपराधो का पता लगाना और उनको रोकना तथा समाज मे कानून और व्यवस्था वनाये रखने वाली एजेन्सी के रूप मे कार्य करना पुलिस का वुनियादी काम है। पुलिस की यह भूमिका वदली नही है और न ही वदल सकती है, लेकिन जिस ढंग से भूमिका पूरी की जानी है उसमे परिवर्तन की आवश्यकता है।

पुलिस के प्रति आम जनता की शिकायतें क्या हैं ? साधारण व्यक्ति पुलिस अधिकारी या पुलिस थाने मे किसी सही काम के लिए भी जाने से इसलिए हिचकिचाता है कि उसे इस वात की आशंका रहती है कि उसके साथ दुर्व्यवहार किया जायेगा। आम जनता के साथ क्रूरता का व्यवहार करने के उदाहरण सम्पूर्ण देश मे इतने ज्यादा है कि उनके लिए यह विश्वास दिलाना कि इस प्रकार का व्यवहार केवल अपराधियो के साथ ही होता है (जो कि अपने आप मे एक अनुचित वात है), सम्भव नही है। आम जनता के प्रति वेरुखी, उदासीनता और अमानवीय व्यवहार भारतीय पुलिस की सामन्ती-औपनिवेशिक विरासत है। यदि खून से लथपथ किसी घायल व्यक्ति को पुलिस मे लाया जाये तो पुलिस के आम सिपाही और अधिकारी के चेहरे की मुद्रा कुछ ऐसी वन जाती है कि कह रहा हो कि एक और मुसीवत आ गयी। अभियुक्तो के रिश्तेदारो तक को पुलिस चौकियो मे नितान्त अभद्र और अपमानजनक भाषा का शिकार होना पड़ता है। अनावश्यक रूप से अभियुक्तो के साथ हिंसात्मक व्यवहार करना पुलिस जाँच की विशेषता वन गयी है।

देश के आजाद होने के साथ-साथ पुलिस की इस भूमिका मे परिवर्तन की आवश्यकता थी। पुलिस की भूमिका क्या हो ? वह कार्यपालिका की अनुचर हो, या कानून की ? सारी दुनिया मे अपने पेशे मे सर्वाधिक योग्य और निष्ठावान लदन के भूतपूर्व पुलिस आयुक्त सर रावर्ट मार्क वहुत स्पप्ट ढंग से यह कह सकते है कि "हम केवल जनता और कानून के सेवक है और किसी अन्य के नही—यहाँ तक कि सरकार के भी नही,"—लेकिन भारत का कोई पुलिस आयुक्त ऐसा नही कह सकता क्योकि हमारे यहाँ पुलिस का राजनीतिक उपयोग भी होता है। पुलिस आयोग के अध्यक्ष और पश्चिमी वगाल के भूतपूर्व राज्यपाल धर्मवीर ने ठीक ही कहा था कि "दुनिया के किसी भी देश मे चुने हुए प्रतिनिधियो द्वारा पुलिस के रोजमर्रा के काम मे ऐसा हस्तक्षेप नही किया जाता, जितना भारत मे होता है। जो अधिकारी उसकी वात नही मानते वे निरन्तर तवादले, अपमान और दूसरी तरह की मुसीवतों की आशंका से परेशान रहते हैं।"

मन्त्री निरन्तर अनुचित रूप से पुलिस के मामलों मे दखल करते रहते हैं लेकिन जवावदारी उठाने को तैयार नही रहते। पुलिस फैडरेशन के महासचिव के अनुसार ऐसे हजारों उदाहरण हैं जव अधीनस्थ अधिकारियो को 'गैर-कानूनी' आदेश मानने पडे हों। ये आदेश आमतौर पर जवानी और गुप्त होते है ···।[1]

पुलिस पर एक गम्भीर आरोप है कि यह सारा तन्त्र भ्रष्टाचार से भरा हुआ है। पुलिस की भ्रष्ट प्रवृत्तियो का प्रत्यक्ष प्रभाव आम जनता पर पडता है और दैनिक जीवन की घटनाओ, चोरी, डकैती, दंगा-फसाद, दुर्घटना, शोषण आदि के सिलसिले मे भ्रष्ट पुलिस से न्याय प्राप्त करने की आशा करना व्यर्थ है। राजनैतिक भ्रष्टाचार और आर्थिक भ्रष्टाचार दोनो मिलकर पुलिस को अपराध जाँच करने वाली संस्था के रूप मे अक्षम वना रहे हैं।

---

1 राजस्थान पत्रिका, 31 मई 1985.

जहाँ तक जाँच के तौर-तरीको का सवाल है, यह दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश मे अभी भी अपराधो की जाँच मध्ययुगीन सामन्ती प्रणाली से की जाती है—मारपीट और हिंसा के द्वारा। हथकडी लगाने की प्रथा अग्रेजो के जमाने से चली आ रही है और स्वतन्त्र भारत की सरकार ने इसे हटाने के प्रति कोई ध्यान नही दिया। हथकडी केवल ऐसे व्यक्तियो को रोकने का एक साधन हो सकती है जो सामान्यतया पुलिस के कब्जे मे न आ सकें। एक मामूली अभियुक्त, सत्याग्रही, छात्र, राजनैतिक नेता और इसी प्रकार उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिक के प्रति हथकडी लगाने जैसी कार्यवाही क्रूरता और असभ्यता का परिचायक ही होती है।

पुलिस की भूमिका और उसके चरित्र मे कोई उल्लेखनीय सुधार न होने का सबसे बडा कारण यह है कि 1861 की भारतीय दण्ड संहिता के स्वरूप मे स्वतन्त्र भारत में भी कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ, यानी भारत की पुलिस 'एक आधुनिक युद्ध पुराने हथियारो से लड रही है।' क्षुब्ध, क्रुद्ध और निराश पुलिस का एक सिपाही कहता है कि 'बालू के गारे से सीमेण्ट का प्रभाव पैदा करने की उम्मीद करेंगे तो वही होगा जो कुछ हो रहा है।'

पुलिस दल मे दक्षता और ईमानदारी लाने के लिए प्राथमिक आवश्यकता निचली सीढी के कर्मचारियो की सेवा स्थिति मे सुधार की है। जनता सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय पुलिस आयोग ने भी अपनी अन्तरिम रपट मे यह कहा है कि उस विभाग मे कोई सार्थक सुधार तभी सम्भव हो सकता है जब ध्यान सबसे पहले सिपाहियो पर केन्द्रित किया। उनकी संख्या कुल दल का 80 प्रतिशत है। जनता से सीधा सम्पर्क उन्ही का होता है और उन्ही का आचरण और व्यवहार पुलिस के प्रति जनता के दृष्टिकोण का निर्धारण करता है। पिछले तीस वर्षों मे शान्ति और व्यवस्था सम्बन्धी मामलो मे निरन्तर वृद्धि होती रही है, जिनसे उसे जूझना पड़ा है। वह तनावो का शिकार है। सन् 1943 मे संज्ञाप्य अपराध 5·56 लाख थे तो वे 1977 मे बढ़कर 13·54 लाख हो गये। इसलिए आयोग ने यह सिफारिश भी की है कि 2 अरब रुपये के अतिरिक्त खर्च की व्यवस्था पुलिस बल को सुधारने के लिए की जाये। इस राशि का 50 प्रतिशत उनके लिए आवासीय व्यवस्था, बेहतर वेतन और भत्ते तथा अच्छे हथियारों के लिए आवटित किये जायें।

बेहतर सेवा स्थिति पुलिस दल की कार्यक्षमता मे सुधार ला सकती है और अधिक अच्छे लोग उसमे शामिल होने के इच्छुक भी हो सकते हैं। लेकिन क्या महज इतना कर देने से ही पुलिस के मूल चरित्र मे रूपान्तरण हो सकेगा ?

लेकिन इससे भी बडी बात है पुलिस की मूलभूत भूमिका की। पश्चिम के कुछ लोकतान्त्रिक देशो मे पुलिस को 'स्वतन्त्र' बनाये रखने की कोशिश हुई। ब्रिटेन मे उसकी जवाब देही कानूनी अदालतो तक सीमित है। लन्दन की महानगरीय पुलिस का ढाँचा ही ऐसा बनाया गया है जिसके अन्तर्गत पुलिस के मुख्य आयुक्त को केवल संसद हटा सकती है। पुलिस को मुख्य आयुक्त के अलावा कोई अन्य अधिकरण आदेश भी नहीं दे सकता है। वहाँ की पुलिस किसी मन्त्री या किसी राजनैतिक दल के आदेश पर काम करने के लिए बाध्य नही है, करती भी नहीं। भारत मे स्थिति बिल्कुल भिन्न है, क्योकि यहाँ उसका इस्तेमाल सत्ताधारी दल अपने राजनैतिक हितो की सिद्धि के लिए करता रहा है। अगर भारतीय लोकतन्त्र मे भी पुलिस को शासन के कारिंदे या प्रतिनिधि की जगह पर 'जनता का सेवक' बनना है तो उसकी भूमिका को बदलना होगा।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि एक कल्याणकारी राज्य की आवश्यकताओ के अनुरूप पुलिस की भूमिका की पुनर्व्याख्या की जाये। पुलिस कर्मचारी किसी भी प्रकार से अपने अधिकारो का दुरुपयोग न करें, यह सुनिश्चित करने के लिए कुछ उपाय करने होगे। पुलिस मे अच्छे और शिक्षित लोगो को आकर्षित करने के लिए सेवा शर्तों मे अवश्य सुधार लाया जाना चाहिए। अवांछित व्यक्तियो का पता लगा उन्हे विभाग से निकाल दिया जाना चाहिए। जनता द्वारा

अधिकारों के दुरुपयोग के बारे मे की गयी किसी भी शिकायत या आरोप की पूर्ण और निष्पक्ष जाँच की जानी चाहिए। जनता मे यह आम धारणा बनी हुई है कि उनकी शिकायतो पर ठीक प्रकार से ध्यान नही दिया जाता। जनता के मन मे पुलिस की प्रतिष्ठा उनके कार्य करने और अधिकारो का प्रयोग करने के ढंग से बनती या बिगडती है। हमारे देश मे पुलिस कर्मचारी जिस प्रकार कार्य करते हैं और जिस तरह का व्यवहार करने हैं, उसके बारे मे आम जनता की राय बिल्कुल भी अच्छी नही हैं। पुलिस कर्मचारी को दोस्त नही समझा जाता, पुलिस मे जनता का विश्वास धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है।

यदि राजनीतिक हस्तक्षेप से पुलिस को मुक्त कर दिया जाये तो उसके परिणामस्वरूप बहुत से अत्याचार न सिर्फ अपने आप रुक जायेंगे बल्कि उससे पुलिस को अपनी बदनाम प्रतिमा को सँवारने और उसे एक नया स्वरूप देने में सहायता मिलेगी।

प्रजा की पुलिस को जनता की पुलिस क्यो नही बनाया गया ? प्रधानमन्त्री स्वर्गीय जवाहर लाल नेहरू से लेकर वर्तमान राजनीतिक कर्णधारो ने पुलिस की भूमिका पर अपनी राय जाहिर की है। लेकिन उनके चरित्र मे गुणात्मक परिवर्तन लाने की कोशिश कभी नही की गयी। स्वतन्त्र भारत मे पुलिस के ब्रितानी ढाँचे को न केवल उसी रूप मे स्वीकार कर लिया गया बल्कि पुलिस का उपयोग भी सत्ता की पुलिस की तरह होता रहा। आज भी उसकी सेवा शर्तें अत्यन्त दयनीय हैं. उसे ऐसी तमाम सुविधाएँ उपलब्ध नही हैं जो दूसरे विभागो के सरकारी कर्मचारियो को मिली हुई हैं, उसका वेतन कम है, काम के घण्टे निश्चित नही है, आवास की, शिक्षा की, चिकित्सा की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है। उन्हे यह जरूर सोचना चाहिए था कि एक लोकतान्त्रिक देश को किस तरह की पुलिस की आवश्यकता है। सविधान के अनुसार यदि शासक जनता ही है तो पुलिस भी जनता की ही होनी चाहिए थी। उस पुलिस को जनहित मे काम करने वाले हर व्यक्ति द्वारा विश्वास, सम्मान, सहायता और समर्थन दिया जाना चाहिए था। लेकिन लगता है कि स्वतन्त्र भारत के कर्णधार भी पुलिस को सत्ता की पुलिस ही बनाये रखना चाहते थे। ऐसी पुलिस जो शासको के हित मे काम करती हो, इस तरह की पुलिस जनता की निगाह मे दमन का एक अस्त्र बन जाती है जिसका इस्तेमाल शासक वर्ग अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए करता है।

संक्षेप मे, समाज के एक सदस्य और सरकार के कर्मचारी के रूप मे पुलिस के दृष्टिकोण मे परिवर्तन लाने के लिए उसे उन्नत शिक्षा और अधिक प्रशिक्षण देने के साथ-साथ बेहतर ढंग से शिक्षित और बेहतर वर्ग के लोगो को पुलिस मे शामिल होने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए।

अभी तक भारतीय पुलिस 1861 के भारतीय पुलिस कानून से ही चलती रही है और राष्ट्रीय पुलिस आयोग (1980) ने जिस विधेयक का मसौदा तैयार किया था उसे देश भर में पुलिस मे सुधार का आधार बनाया जा सकता है। पुलिस आयोग की रिपोर्ट (1980) मे कहा गया है कि बढने अपराध, आवासीय स्थानो पर बढता दबाव, खासतौर से शहरी क्षेत्रो मे प्रदर्शनो व विवाद की वजह से भड़कती हिंसा, छात्रों की समस्याएँ और अशान्ति, उग्र पन्थियों सहित राजनीतिक गतिविधियाँ, आर्थिक तथा सामाजिक कानूनो का अमल में लाया जाना आदि ऐसे कार्य हैं जिनमे पुलिस को नयी दिशा देने की जरूरत है।

इसमें यह भी कहा गया है कि एक तरफ सरकार के उद्देश्यो तथा दूसरी तरफ सत्तारूढ दल के हित और अपेक्षाओं की विचार रेखा व वास्तविक व्यवहार स्पष्ट नही है। परिणामस्वरूप कानून का निष्पक्ष पालन कराने के रूप में पुलिस की छवि बिगडी है। ऐसे हालात में पुलिस अपनी वैधानिक भूमिका निभाने और जनता को स्वीकार्य रूप मे काम करने मे कठिनाई पाती

है। रिपोर्ट मे स्पष्ट कहा गया है कि पुलिस को देश की राजनीति से अलग रखने की वाछनीयता और सम्भावनाओ के बारे मे सरकार को विचार करना चाहिए।[1]

निष्कर्षत. आजादी के 45 वर्षों बाद भी मूल समस्या यह है कि भारतीय पुलिस अधिक मानवीय, गम्भीर तथा राष्ट्रीय नीतियो के प्रति समर्पित कैसे बने ?

कानून और व्यवस्था प्रशासन की समस्याएँ
(PROBLEMS OF LAW AND ORDER ADMINISTRATION)

ऑक्सफोर्ड शब्दकोप के अनुसार, 'कानून' किसी समुदाय द्वारा मान्यता प्राप्त रीति-रिवाज या नियमो को कहते हैं जिसे मानने के लिए वह समुदाय बाध्य है। इसी के अनुसार **'व्यवस्था'** का अभिप्राय एक निर्मित सत्ता के अस्तित्व तथा कानून समस्त राज्य से है जिसमे उपद्रव, दंगा, हिंसा तथा अपराध विद्यमान न हो। **कानून व्यवस्था** और **प्रशासन** परस्पर इस तरह गुंफित हैं कि एक के अभाव मे दूसरे का कोई अर्थ नही रह जाता है। इन तीनो स्थितियो के एक साथ विद्यमान होने से यह अपेक्षा की जाती है कि ऐसी सामाजिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सास्कृतिक स्थिति का निर्माण होगा जिसमे व्यक्ति अपनी क्षमतानुसार सम्पूर्ण समाज के उत्थान मे यथाशक्ति योगदान देता हुआ अपने ज्ञान और बौद्धिक क्षमता का अधिकतम सम्भव विकास कर सकने मे समर्थ होगा। 'कानून' का अस्तित्व व्यवस्था की पूर्वगामी शर्त है। यद्यपि व्यवस्था के अभाव मे कानून का पालन भी सम्भव नही है। एक सशक्त और सक्षम प्रशासन का कानून समस्त शासन पर आधारित होना आवश्यक है। समाज मे व्यवस्था होना किसी भी प्रजातान्त्रिक संस्था से कुशल कार्यकरण की पहली शर्त है। भारत मे लोक-कल्याणकारी राज्य, जिसमे सामाजिक-आर्थिक न्याय पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है, की सफलता तथा विकास की चुनौतियों के सफल सवहन के लिए कानून और व्यवस्था की स्थिति अपरिहार्य और प्रथम आवश्यकता है।

इस तथ्य को तो मानना ही पडेगा कि देश मे कानून और व्यवस्था की हालत बिगडी है। भारत के पहले राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपने कार्यकाल के दौरान कहा था कि स्वतन्त्रता के बाद पुलिस द्वारा लोगों पर गोलियाँ चलाये जाने के मामलो की संख्या 150 वर्ष के ब्रिटिश शासन के दौरान हुए कुल ऐसे मामलो की सख्या से अधिक है, अब हर पाँच साल मे यह संख्या उतनी ही हो जाती है। आज तो हालात यहाँ तक बिगड गये है कि भूतपूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिह अपने दामाद के अन्तिम सस्कार मे भाग नही ले पाये। ऐसा होने का कारण था कि डिप्टी कमिश्नर ने उन्हे बता दिया था कि वह उनकी सुरक्षा की गारण्टी नही ले सकता।

एक बार स्वर्गीय केशवदेव मालवीय (जो केन्द्रीय मन्त्री थे) ने नेहरू को यह उलाहना दिया था कि भारत मे कोई भी व्यक्ति रात के समय किसी महिला अथवा धनराशि के साथ देश के एक-दूसरे भाग की यात्रा चोरो से परेशान हुए बिना नही कर सकता। लेकिन अब तो यात्रा करना भी सुरक्षित नही रह गया है बसों और रेलो मे सशस्त्र गार्ड तैनात किये जाते हैं।

उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे राज्यो मे आज हालात इतने ज्यादा खराब हो चुके है कि देहात मे जिन सगठनों और कुछ व्यक्तियो के गिरोहो की ही हुकूमत जैसा माहौल है। कुछ क्षेत्रो मे ऐसे गुट और गिरोह हर महीने लोगो से 'सरक्षण शुल्क' भी वसूलते है। इन दोनो ही प्रदेश मे ऐसे गिरोहो और राजनीतिज्ञो के बीच साठ-गाँठ एक जग-जाहिर तथ्य है।

देश के समक्ष आज जो समस्या उपस्थित है, वह यह है कि कानून और व्यवस्था के

---

[1] कुलदीप नायर, "राष्ट्रीय पुलिस आयोग की सिफारिशो पर पुनर्विचार", **राजस्थान पत्रिका,** (उदयपुर), 3 मई, 1982, पृष्ठ 1।

रक्षक ही उसे भंग करने पर उतर आये है। पुलिस और राजनीतिज्ञ, दोनों ही एक पंक्ति मे खड़े हुए नजर आते हैं और वे जब कदम उठाने की जरूरत होती है तो कोई कदम उठाते ही नही और यदि उठाते भी हैं तो आधे मन से....।[1]

कानून और व्यवस्था की अभिधारणाओं से तात्पर्य
(THE CONCEPT OF LAW AND ORDER . MEANING)

कानून और व्यवस्था को इसके नकारात्मक और सकारात्मक दोनो अर्थों की दृष्टि से परिभाषित किया जा सकता है। इसके नकारात्मक अर्थ मे हम समाज मे किसी स्थिति की अपेक्षा रखते हे जहाँ अव्यवस्था एवं अशान्ति न हो अर्थात समाज मे ऐसी परिस्थितियाँ न हो जो मानव मात्र के व्यक्तित्व के निर्माण में बाधक हो। कानून और व्यवस्था का सकारात्मक अर्थ होगा ऐसी दशाओं का निर्माण जो राज्य के उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक हो, किसी व्यवस्था की सर्जना जिसमे कानून का शासन रह सके।

कानून और व्यवस्था की सकारात्मक धारणा को राज्य के 'उद्देश्यो' के सन्दर्भ मे अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। भारतीय सविधान की प्रस्तावना तथा राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों में राज्य के लक्ष्य और उद्देश्यो को स्पष्ट किया गया है। प्रस्तावना मे राज्य का घोषित लक्ष्य देश के सर्वोच्च कानून के अन्तर्गत समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष, शोषणविहीन मानव-स्वतन्त्रताओं से युक्त समतावादी समाज की रचना करना स्वीकार किया गया है। राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वो मे राज्य का लक्ष्य घोषित करते हुए उससे यह अपेक्षा की गयी है कि राज्य एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण द्वारा लोगो के कल्याण मे वृद्धि का प्रयास करेगा जिसमे देश के सभी लोगो और राष्ट्रीय जीवन धारा की समस्त समस्याओं को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय उपलब्ध हो सके।

राज्य के इन लक्ष्यों की प्राप्ति की दशाओ का निर्माण कानून और व्यवस्थाओ के सकारात्मक अर्थ का एक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष है, किसी व्यवस्था का निर्माण जिससे कानून का शासन सम्भव हो।

भारतीय संविधान मे वर्णित निर्देशक तत्त्व राज्य के उद्देश्यो को स्पष्टत सामाजिक क्रान्ति के प्रति वचनबद्ध होने का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते है। न्याय मूर्ति हेगडे के अनुसार "सविधान एक अहिंसक क्रान्ति के माध्यम से कुछ सामाजिक और आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहता है। ऐसी क्रान्ति द्वारा सविधान न केवल आम आदमी की आवश्यकताओ को ही पूरा करना चाहता है अपितु हमारे समाज के वर्तमान ढांचे मे भी परिवर्तन की राह दर्शाता है।"

एक ओर संविधान के घोषित लक्ष्यों के अनुरूप समाज की रचना का प्रश्न है और दूसरी ओर स्वाधीनता के बाद हमारे पास प्रशासन (नौकरशाही) की विद्यमान व्यवस्था का वह स्वरूप है जिसे इन लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए उत्तरदायी बनाया गया है। हमारा वर्तमान प्रशासनतन्त्र जो कि औपनिवेशिक शासन काल की विरासत है, इसकी बुनियादी, विशेषताएँ अब भी वे ही है जो उस सामन्ती, साम्राज्यवादी अथवा औपनिवेशिक शासन के लक्ष्यो की सम्पूर्ति के लिए आवश्यक समझी गयी थी। हमने स्वाधीनता के नये राजनैतिक परिवेश मे नूतन राजनीतिक-आर्थिक लक्ष्य तो स्वीकार कर लिये किन्तु उन लक्ष्यो को मूर्त रूप देने वाले प्रशासनतन्त्र मे कोई बुनियादी परिवर्तन नही किये। वस्तुत. नवीन सांविधानिक लक्ष्यो और औपनिवेशिक लक्षणो वाले प्रशासन-

---

[1] कुलदीप नायर, "कानून-व्यवस्था में गिरावट का दोषी कौन ?" **राजस्थान पत्रिका,** 4 अक्टूबर, 1984।

तन्त्र के उद्देश्यों मे स्पष्ट टकराव निहित है। जहाँ एक ओर नवीन सर्वोच्च कानून, शोषणविहीन, स्वतन्त्र समाजवादी तथा सामाजिक-आर्थिक न्याय पर आधारित समाज की परिकल्पना करता है वही हमारी पारम्परिक प्रशासनिक व्यवस्था ने सदैव शोषण, अन्याय, पूँजीवादी और सामन्ती हितों का सवर्द्धन किया है। फलत. संविधान निर्दिष्ट लक्ष्यो को जब-जब भी शासन अथवा लोकचेतना ने मूर्त रूप देना चाहा, प्रशासनतन्त्र से उसकी टकराहट हो गयी। पुराने प्रशासनतन्त्र मे न केवल पूँजीवादी, रूढ़िवादी, अभिजात्य वर्गीय और सामन्ती तत्त्वो का आधिपत्य था अपितु एक निश्चित ढाँचे मे काम करते-करते आम प्रशासनिक अधिकारीगण भी यथास्थितिवादी हो गये।

कानून और व्यवस्था के नकारात्मक पक्ष की पूर्ति हेतु प्रशासन का हर कृत्य उसे यथास्थिति का पोषक बनने के लिए बाध्य करता है क्योंकि इस परिप्रेक्ष्य मे शान्ति और सुव्यवस्था का अर्थ ही यथास्थिति का बना रहना है। इसके विपरीत कानून और व्यवस्था के सकारात्मक पक्ष मे इसका आशय है ऐसी व्यवस्था का निर्माण जिसमे कि कानून का स्थापित लक्ष्य प्राप्त किया जा सके और एक ऐसी सावैधानिक व्यवस्था मे जहाँ कि सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक न्याय को राज्य का आधार स्वीकार किया गया हो, प्रशासन अनिवार्यत. सामाजिक परिवर्तन की धुरी बन सके। अर्थात् प्रशासन स्वय यथास्थिति मे परिवर्तन हेतु प्रयत्नशील रहे। ऐसी स्थिति मे कतिपय चिन्तकों का मानना है कि कानून और व्यवस्था की चुनौती के तत्त्व प्रशासन की इस सकारात्मक भूमिका मे निहित है।

कानून और व्यवस्था की बिगड़ती स्थिति : आँकड़ों के सन्दर्भ में
(DETERIORATION IN LAW AND ORDER : A FEW DATA)

भारत मे कानून-व्यवस्था की स्थिति के रख-रखाव का मामला अत्यन्त जटिल बनता जा रहा है। सन् 1974 मे हरिजनो के विरुद्ध अत्याचारो की घटनाओ की संख्या 8,860 थी, 1976 मे यह सख्या 5,968 थी और पुन: 1977 मे यह सख्या 10,879 तक पहुँच गयी। नवम्बर 1981 मे देहुली की घटना ने सचमुच सम्पूर्ण राष्ट्र को एक बार झकझोर कर रख दिया, अनुसूचित जाति मे एक साथ 24 व्यक्तियों को तथाकथित उच्च वर्ग के लोगो ने बड़ी निर्दयतापूर्वक मार डाला। सन् 1978 के पहले आठ महीनो मे 576 घटनाएँ हिन्दू-मुस्लिम उपद्रवो के रूप मे हुई जबकि 1975 की अवधि मे यह संख्या 370 थी। सन् 1974 मे उत्तर प्रदेश मे पी ए. सी. ने विद्रोह किया और 1978 मे देश के अनेक राज्यों की कानून और व्यवस्था के वाहक 'पुलिस दल' ने भी व्यापक पैमाने पर शासन की अवज्ञा का आन्दोलन चलाया। पिछले कई वर्षों के देश मे गैर कानूनी हथियार रखने की घटनाएँ बढी हैं। गैर कानूनी हथियार रखने की घटनाओ मे 1971 मे 23,908 तथा 1976 मे 52,188 मामले दर्ज किये। ऐसे हथियार हर प्रकार के अपराध, सामान्य चोरी, डकैती, आर्थिक अपराध जैसे तस्करी और साम्प्रदायिक दंगों मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सन् 1974 मे 650 औद्योगिक-हड़ताल हुई जबकि 1978 मे यह सख्या 3 हजार तक पहुँच गयी।

1986 मे छात्र अशान्ति की 12,668 घटनाओ की तुलना मे 1987 मे 12,849 घटनाएँ हुई। 1987 के दौरान वामपंथी उग्रवादी हिंसा की 487 घटनाएँ ध्यान मे आई।[1]

हड़तालो तथा तालाबन्दी के अतिरिक्त छात्रों द्वारा परीक्षाओ का सामूहिक बहिष्कार, विश्वविद्यालयों मे अशान्ति, हत्या, लूटपाट, डकैती, बच्चो के अपहरण, धोखाधड़ी, महिलाओ से छेड़-छाड़, राजनीतिक आन्दोलन की हिंसापरक प्रवृत्ति, पुलिस द्वारा अनुत्तरदायी आचरण ने देश की कानून और व्यवस्था की स्थिति को अत्यन्त चिन्तनीय बना दिया है। फ्रैंक मॉरिस की यह टिप्पणी

---

[1] वार्षिक रिपोर्ट, 1987-88 (भारत सरकार, गृह मंत्रालय) पृ. 4.

आज भी महत्त्वपूर्ण है—"भारत मे सरकार तो है किन्तु वहाँ प्रशासन का अभाव लगता है। कानून का शासन अव्यवस्था के साम्राज्य का सहगामी है।"

कानून-व्यवस्था की स्थिति बिगड़ने के कारण
(CAUSES FOR THE DETERIORATION OF LAW AND ORDER)

भारत मे अपनी उचित-अनुचित माँगो के लिए सरकार के समक्ष प्रदर्शन, घेराव, धरना, अनशन और तालावन्दी आम वात है जिससे कानून एवं व्यवस्था की विगड़ती स्थिति ने जनसाधारण मे असुरक्षा और भय का भाव पैदा कर दिया है। इसके निम्नलिखित कारण है '

(1) **राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि**—भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन प्रमुख रूप से विदेशी शासन के खिलाफ था। राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनो मे सत्याग्रह, धरना, अनशन, असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन आदि आम साधन थे। स्वाधीनता के वाद भी हमारी निर्वाचित सरकार पर दवाव डालने के लिए आये दिन ऐसे ही साधनो का प्रयोग होता रहा है जो यदा-कदा उग्र और हिंसात्मक रूप भी धारण कर लेते है। इससे प्रचलित कानून और व्यवस्था विगड़ती है।

(2) **संविधान निर्दिष्ट लक्ष्य**—भारतीय संविधान न्याय, समानता और स्वतन्त्रता के निर्दिष्ट लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध है। संविधान की प्रस्तावना और नीति निर्देशक तत्त्व इन आदर्शों की प्राप्ति के लिए नागरिको को प्रेरणा देते है। जव कभी भारत के आम आदमी ने अन्याय, शोषण और असमानता के विरुद्ध संघर्ष किया तो नौकरशाही ने उसके इस सविधान-सम्मत संघर्ष को हमेशा कुचलने का प्रयत्न किया।

(3) **राजनीतिक अस्थिरता**—भारत की शासन व्यवस्था मे कई वार राजनीतिक अस्थिरता और अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हुई है। चौथे आम चुनाव के वाद अनेक राज्यो मे राजनीतिक शून्यता की स्थिति उत्पन्न हो गयी, दल-वदल और मिली-जुली सरकारो के कारण मन्त्रिमण्डल और मुख्यमन्त्री और निष्ठा और मनोयोगपूर्वक प्रशासन का संचालन नही कर पाये। इसी प्रकार मार्च 1977 के वाद केन्द्र मे सत्तारूढ जनता पार्टी के आपसी झगडे, प्रधानमन्त्री की दुर्वल स्थिति, कामचलाऊ सरकार की सीमाएँ आदि ऐसी राजनीतिक स्थितियाँ थी जिसमे प्रशासनिक कुशलता की कल्पना नही की जा सकती थी। आज भी राज्यो मे सत्तारूढ दल कई गुटो मे विभक्त है, मुख्यमन्त्री अपने पद और स्थिति के प्रति आश्वस्त नही हैं, ऐसी स्थिति मे कानून और व्यवस्था की दृष्टि से प्रशासनिक कुशलता नही आ सकती।

(4) **पुलिस का औपनिवेशिक एवं सामन्ती आचरण**—हमारी पुलिस आज भी हर सामान्य नागरिक को अपराधी मानती है और तव तक अपराधी मानती रहती है जव तक वह अपने को निरपराध सिद्ध न कर दे। जन मानस मे यह आम धारणा गहन रूप से वैठी हुई है कि पुलिस सवल की रक्षक है, सामान्य जन की नहीं। आज भी अपराधियो के प्रति पुलिस का रवैया निरंकुश, निर्दयतापूर्वक और अत्याचारी है जवकि यह सुधारवादी और सहिष्णु हो जाना चाहिए था। हमारे यहाँ पुलिस का राजनैतिक उपयोग भी होता रहा है।

(5) **प्रशासन में राजनैतिक हस्तक्षेप**—हमारे यहाँ कानून और व्यवस्था की स्थिति विगड़ने का कारण प्रशासनिक कार्यों मे राजनैतिक हस्तक्षेप भी रहा है। कानून और व्यवस्था के लिए घटने वाली हर खतरनाक घटना पर पुलिस और प्रशासन तव तक आगे कोई कार्यवाही नही करती जव तक कि उसे राजनीतिक दृष्टि से सकेत नही मिल जाते। पुलिस आयोग के अध्यक्ष धर्मवीर के शब्दो मे, "दुनिया के किसी भी देश मे चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा रोजमर्रा के काम मे ऐसा हस्तक्षेप नही किया जाता जितना भारत मे होता है। जो अधिकारी राजनीतिज्ञो की वात

नही मानते वे निरन्तर तबादले अपमान और दूसरी तरह की मुसीबतो की आशंका से परेशान रहते है।"

(6) **सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि**—कानून और व्यवस्था बिगडने का कारण हमारी सामाजिक-आर्थिक स्थिति भी है। भारतीय समाज विविध धर्मों, जातियों, वर्गो, भाषाओ और क्षेत्रो मे विभाजित है। समाज का यह बहुरूपी चरित्र अनेक बार वैचारिक मतभेद के कारण आपस मे टकरा जाता है जिससे संघर्ष और अव्यवस्था हो जाती है। यद्यपि विविधता मे एकता भारतीय समाज और सस्कृति की पुरातन गौरव की परम्परा रही है तथापि अनेक बार सामाजिक तनाव के कारण जातिगत झगडे, धार्मिक और साम्प्रदायिक सघर्ष, भाषायी विवाद और विकास के क्षेत्रीय असन्तुलन के प्रति असन्तोष के रूप मे दगे होते रहे हैं। भारत की आर्थिक स्थिति भी समाज मे व्यवस्था भग करने वाले अनेक कारणो के लिए उत्तरदायी है। भयकर बेरोजगारी, गरीबी मुद्रा-स्फीति, बढते मूल्य, जनसख्या वृद्धि, भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता, भाई-भतीजावाद आदि अनेक सामाजिक-आर्थिक कारक हैं जिनके कारण अनेक बार व्यवस्था भंग हुई है, कानून टूटे हैं और प्रगति रुकी है।

कानून-व्यवस्था प्रशासन में सुधार : कतिपय सुझाव
(SUGGESTIONS FOR IMPROVEMENT IN THE LAW AND ORDER ADMINISTRATION)

कानून और व्यवस्था प्रशासन मे सुधार हेतु प्रशासनिक पहलू के साथ-साथ समाजशास्त्रीय पहलू पर भी ध्यान दिया जाना अपरिहार्य है।

प्रशासनिक पहलू—कानून-व्यवस्था प्रशासन मे सुधार हेतु सर्वप्रथम **पुलिस की कार्यशैली, संगठन और प्रशिक्षण** पर ध्यान दिया जाना चाहिए। आजकल अपराधो की व्यूह रचना मे कल्पनातीत परिवर्तन आ गया है अत पुलिस द्वारा जाँच कार्य मे विज्ञान और तकनीक पर आधारित नूतन उपकरण काम मे लिये जाने चाहिए। आज भी भारतीय पुलिस सभी प्रकार के राजनीतिक आन्दोलनो और प्रदर्शनो का मुकाबला अपनी पुरातन 'लाठी' से ही करती है। पुलिस कर्मियो के लिए आज भी जो प्रशिक्षण दिया जा रहा है वह उनमे समता और न्याय के स्थान पर सामन्ती सस्कार ही अधिक जागता है। पुलिस को जनतान्त्रिक मूल्यो एवं जनसाधारण के प्रति सवेदनशील बनने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि पुलिस की एक सार्थक भूमिका का विकास हो सके। पुलिस दल मे शोध और अनुसधान तथा नवीन चुनौतियो के प्रति नये तरीको का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

द्वितीय, न्याय प्रशासन मे सुधार किया जाना चाहिए। अनेक बार कानूनो का उल्लंघन इसलिए होता है कि वे वर्तमान स्थिति मे अनुपयोगी और अनावश्यक हो गये है। अत सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ सरकार द्वारा कानूनो का बदलना आवश्यक है। राज्य सरकार के अधिवक्ताओ के कमजोर पक्ष के कारण अपराधियो के बचने की सख्या मे निरन्तर वृद्धि हो रही है, अत जिला एवं उप-जिला स्तर पर जन अभियोक्ताओ की नियुक्ति केवल योग्यता के आधार पर जानी चाहिए। मुकदमो के शीघ्र निपटाने की व्यवस्था की जानी चाहिए। राज्यो मे हजारो अभियोग वर्षों तक विचाराधीन अटके पडे रहते हैं, जिसका अपराध की दर पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है।

तृतीय, जिला प्रशासन मुख्य रूप से कानून-व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है। जिलाधीश जिले मे कानून-व्यवस्था की स्थापना के साथ ही राजस्व वसूली एव विकास कार्यो का भी सम्पादन करता है। उसके विकास सम्बन्धी कार्य इतने बढते जा रहे है कि कानून-व्यवस्था के कार्य उपेक्षित

रह जाते हैं। प्रशासनिक सुधार आयोग ने संस्तुति की थी कि जिलाधीश के विकास कार्यों को पृथक कर केवल नियामकीय कार्यों के लिए उत्तरदायी बना दिया जाना चाहिए।

समाजशास्त्रीय पहलू—समाजशास्त्रियो का मत है कि कानून-व्यवस्था को चुनौती देने वाली हर घटना, चाहे वह सामान्य चोरी-डकैती की घटना हो या उपद्रव, आन्दोलन, साम्प्रदायिक सघर्ष या मजदूर असन्तोप की ज्वाला हो, के मूल मे आर्थिक-सामाजिक विपमता और असन्तुलन की चिगारी विद्यमान रहती है। अत आवश्यकता है संविधान निर्दिष्ट लक्ष्यो को कार्यान्वित करने की, समाजवादी और लोककल्याणकारी राज्य के आदर्शों के क्रियान्वयन की। जैसे-जैसे सविधान की प्रस्तावना मे निहित लक्ष्यो का क्रियान्वयन होता जायेगा और एक भिन्न समाज व्यवस्था बनती जायेगी वैसे-वैसे यह समस्या भी धीरे-धीरे कम होती चली जायेगी।

निष्कर्ष—कानून-व्यवस्था की स्थापना का सम्पूर्ण प्रश्न हमारी नैतिकता, चरित्र और निष्ठा के प्रश्न से जुडा हुआ है। हमारे जनतान्त्रिक परिवेश मे सरकारी मशीनरी के अतिरिक्त जनता अथवा नागरिको का भी कानून-व्यवस्था की स्थापना मे विशिष्ट महत्त्व है। हर माता-पिता का यह दायित्व बन जाता है कि वे अपनी सन्तान को कानून-व्यवस्था की उपयोगिता समझावे। वर्तमान मे हमारे देश मे कानूनों की तो अधिकता है किन्तु व्यवस्था का लगभग अभाव है।

53

भारत की विदेश नीति : विश्व राजनीति में भारत

[THE FOREIGN POLICY OF INDIA : INDIA IN WORLD POLITICS]

वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। विज्ञान के द्रुत विकास ने समस्त विश्व को एक सूत्र मे जोड दिया है। आज प्रत्येक देश को अन्य दूसरे देशों के साथ सम्यक् सम्बन्ध स्थापित करने पडते हैं तभी वह अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है और विकास की दिशा मे आगे बढ सकता है। अत. प्रत्येक देश अपनी घरेलू नीति के साथ-साथ वैदेशिक नीति का भी निर्धारण करता है। विश्व की राजनीति का सचालन विभिन्न देशो की वैदेशिक नीतियो से होता है। भारत विश्व मे एक विस्तृत भू-भाग और विशाल जनसख्या वाला देश है। अत: इसकी विदेश नीति का विश्व की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत की कोई विदेश नीति नही थी, क्योंकि भारत ब्रिटिश सत्ता के अधीन था, परन्तु विश्व मामलो मे भारत की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। इसका सास्कृतिक अतीत अत्यन्त गौरवमय रहा है। न केवल पड़ौसी देशो के साथ, अपितु दूर-दूर स्थित देशो के साथ भी भारत का सांस्कृतिक एव व्यापारिक आदान-प्रदान होता रहा है। आज भी अनेक पड़ौसी देशो पर उसकी सांस्कृतिक छाप स्पष्ट दिखायी पड़ती है।

भारतीय विदेश नीति : परम्परा
(THE INDIAN FOREIGN POLICY TRADITION)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारत का विश्व राजनीति मे कोई उल्लेखनीय स्थान नही था। पराधीन देश के रूप मे उसकी अपनी कोई विदेश नीति अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति नही थी। पराधीन भारत की विदेश नीति का निर्धारण लन्दन में 1858 मे स्थापित इण्डिया ऑफिस में होता था। अंग्रेज ही विश्व की राजनीतिक घटनाओ मे भारत का प्रतिनिधित्व करते थे। भारत की देशी रियासतें भी इस विषय मे स्वतन्त्र नही थीं। भारतीय नेता यदि विश्व की राजनीतिक घटनाओ पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त भी करते थे तो वह केवल अखिल भारतीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनो मे प्रस्तावों के रूप मे व्यक्त होकर रह जाती थी। उदाहरणार्थ, 1892 मे कांग्रेस द्वारा साम्राज्यवादी स्वार्थों की रक्षा के लिए बढते हुए सैनिक व्यय की आलोचना की गयी थी। 1920 के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की रुचि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की ओर बढी। वैसे इससे पूर्व कांग्रेस द्वारा खिलाफत आन्दोलन को समर्थन दिया गया था। 1920 एव 1927 के बीच अखिल भारतीय कांग्रेस द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए कुछ सिद्धान्त निश्चित किये गये। इन सिद्धान्तों पर आधारित नियम निम्नलिखित थे :

(1) भारत अन्य राष्ट्रो से सहयोग करेगा।

(2) दास एवं दलित राष्ट्रो को उनके स्वतन्त्रता आन्दोलन मे सहायता देगा।
(3) प्रजाति भेद की नीति की निन्दा करेगा।
(4) उपनिवेशवाद एव साम्राज्यवाद का विरोध करेगा।
(5) साम्राज्यवादी युद्धो का विरोध करेगा तथा विश्व शान्ति के लिए प्रयत्न करेगा।

1930 मे तो कांग्रेस ने विदेश नीति से सम्बन्धित एक पृथक् विभाग ही बना लिया जिसके संचालक जवाहरलाल नेहरू थे। कांग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अपनी स्वतन्त्र प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया। 1931 मे जब जापान ने चीन पर आक्रमण किया तो उसने जापान की निन्दा की। 1930 से ही युद्ध-विरोधी प्रस्ताव पारित किये जाने लगे और यह स्पष्ट कर दिया गया कि किसी भी भावी साम्राज्यवादी युद्ध मे भारत सहायता नही देगा। 1935 मे कांग्रेस ने फासीवाद और नाजीवाद के प्रति विरोध प्रकट किया। 1935 मे इटली द्वारा अबीसीनिया पर आक्रमण के विरोध मे कांग्रेस के 1936 के लखनऊ अधिवेशन मे एक प्रस्ताव पारित करके अबीसीनिया के प्रति सहानुभूति प्रकट की गयी। जब हिटलर ने 1938 मे चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया तो कांग्रेस ने आक्रमण की निन्दा करते हुए म्यूनिख समझौते की आलोचना की। 1939 मे जब द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हुआ तो कांग्रेस ने इसमे सहयोग देने से इन्कार कर दिया। परन्तु फिर भी भारतीय लोकमत के विरुद्ध ब्रिटिश सरकार ने भारत को युद्ध मे सम्मिलित घोषित कर दिया। सक्षेप मे, भारतीय स्वाधीनता से पूर्व वैदेशिक युद्धो पर कांग्रेस के दृष्टिकोण से भारत की विदेश नीति की पृष्ठभूमि को समझने मे बड़ी सहायता मिलती है।

भारत की विदेश नीति के आदर्श (उद्देश्य)
(OBJECTS OF INDIAN FOREIGN POLICY)

भारत की विदेश नीति की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने सितम्बर 1946 मे एक प्रेस सम्मेलन मे कहा था 'वैदेशिक सम्बन्धो के क्षेत्र मे भारत एक स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करेगा और गुट की खींचतान से दूर रहते हुए ससार के समस्त पराधीन देशो को आत्म-निर्णय का अधिकार प्रदान कराने तथा जातीय भेद-भाव की नीति का दृढतापूर्वक उन्मूलन कराने का प्रयत्न करेगा। साथ ही वह दुनिया के शान्तिप्रिय राष्ट्रो के साथ मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के प्रसार के लिए भी निरन्तर प्रयत्नशील रहेगा।" नेहरू का यह कथन आज भी भारत की विदेश नीति का आधार-स्तम्भ है। भारत की विदेश नीति की मूल बातो का समावेश हमारे सविधान के अनुच्छेद 51 मे कर दिया गया है; जिसके अनुसार राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढावा देगा, राज्य राष्ट्रो के मध्य न्याय और सम्मानपूर्वक सम्बन्धो को बनाये रखने का प्रयास करेगा, राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो तथा सन्धियो का सम्मान करेगा तथा राज्य अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को पच फैसलों द्वारा निपटाने की रीति को बढावा देगा। कुल मिलाकर भारत की विदेश नीति के प्रमुख *आदर्श अथवा उद्देश्य* (*Objects*) निम्नलिखित है :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करना।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को मध्यस्थता द्वारा निपटाये जाने की नीति को प्रत्येक सम्भव तरीके से प्रोत्साहन देना।

(3) सभी राज्यो और राष्ट्रो के बीच परस्पर सम्मानपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति और विभिन्न राष्ट्रो के पारस्परिक सम्बन्धो मे सन्धियो के पालन के प्रति आस्था बनाये रखना।

(5) सैनिक गुटबन्दियो और सैनिक समझौतों से अपने आपको पृथक् रखना तथा ऐसी गुटबन्दी को निरुत्साहित करना।

(6) उपनिवेशवाद का, चाहे वह कही भी किसी भी रूप मे हो, उग्र विरोध करना।

(7) प्रत्येक सरकार की साम्राज्यवादी भावना को निरुत्साहित करना।

(8) उन देशो की जनता की सक्रिय सहायता करना जो उपनिवेशवाद, जातिवाद और साम्राज्यवाद से पीड़ित हो।

उपर्युक्त उद्देश्यो से यह बात स्पष्ट होती है कि भारत की विदेश नीति मे मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो, शान्ति एवं समानता के सिद्धान्तो को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। भारत ने न्याय के आधार पर सभी के साथ सहयोग एवं सद्भावना की नीति पर चलने का निश्चय किया है। इसी परिप्रेक्ष्य मे भारत की विदेश नीति के प्रमुख निर्माता जवाहरलाल नेहरू ने भारत की विदेश नीति के तीन आधार स्तम्भ बताये—शान्ति, मित्रता और समानता।

भारतीय विदेश नीति का प्रमुख आधार : राष्ट्रीय हित
(THE CARDINAL BASIS OF INDIAN FOREIGN POLICY ; NATIONAL INTEREST)

भारत ही क्या किसी भी देश की विदेश नीति का मूल्यांकन अथवा उसकी वास्तविक दिशा मात्र उद्घोषित सिद्धान्तो अथवा आदर्शों पर सम्भव नही होती। हर प्रश्न अथवा प्रसंग के कई पहलू होते है जिनका समुचित विवेचन कर निर्णय लेते समय राष्ट्रीय हित को प्रधानता देनी होती है। भारतीय विदेश नीति के निर्माताओ द्वारा उद्भाषित उपर्युक्त उद्देश्यो मे कही भी राष्ट्रीय हित का उल्लेख नही मिलता। इससे महज यह भ्रम होने की सम्भावना है कि वे उद्घोषित उद्देश्य आदर्शों का पुल मात्र हैं। लेकिन विदेश नीति का गम्भीर विद्यार्थी इस तथ्य से अवगत है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का आधार आदर्शवाद न होकर ठोस राष्ट्रीय हित होते है जिनके इर्द-गिर्द कूटनीति का व्यूह रचा जाता है। भारत इसका अपवाद नही। भारतीय नेताओ द्वारा घोषित इन उद्देश्यो की यदि सही व्याख्या की जाय तो यह वास्तविक समझते हुए देर नही लगेगी कि ये पार-लौकिक जगत के लिए नही, वल्कि राष्ट्रीय हित की जीवन्त समस्याओ को अपने समूचे परिवेश के सन्दर्भ मे देखने का प्रयास है। इन सिद्धान्तो मे नीति निर्धारको ने न केवल राष्ट्रीय हित के प्रभावी स्वरूप को स्वीकार किया है अपितु उन्हे सर्वाधिक महत्त्व देते हुए आधार रूप माना है। 4 दिसम्बर 1947 को सविधान सभा मे जवाहरलाल नेहरू ने 'राष्ट्रीय हित' को प्रवलतम आधार स्वीकार करते हुए कहा था :

"हम चाहे कोई भी नीति निर्धारित करें किन्तु देश की वैदेशिक नीति से सम्बन्धित व्यक्ति की होशियारी राष्ट्र-हित को सुरक्षित रखने मे ही निहित है। हम अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना, शान्ति और सद्भावना की बात करें और अपनी आस्थाओ पर पूरी निष्ठा रखें, लेकिन वास्तविकता यह है कि हर एक सरकार अपने राष्ट्रीय हितो को ही प्राथमिकता और सर्वोपरिता देगी। कोई भी सरकार ऐसे आचरण का खतरा नही उठा सकती जो राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल हो अतः किसी भी राष्ट्र का चाहे वह राष्ट्र साम्राज्यवादी हो, समाजवादी अथवा साम्यवादी हो, विदेश मन्त्री अपनी नीति आचरण मे निरन्तर राष्ट्रीय हितो को ही प्राथमिकता देगी।"[1]

देश और विदेश के अध्येयता एव पर्यवेक्षक भारत की विदेश नीति को आदर्श-प्रधान और स्वहित-प्रधान कम मानते हैं। इस भ्रम का मुख्य कारण पण्डित जवाहरलाल नेहरू की वैचारिक भूमि है जो लचीली होने के साथ-साथ विशाल ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और व्यापकत्व लिये है किन्तु गहराई से देखा जाये तो प्रतीत होगा कि विदेश नीति के इन आधारो की नीव राष्ट्रीय हित पर ही रखी गयी थी चाहे वह इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता का प्रश्न हो अथवा स्वेज नहर का विवाद, कागो का हो अथवा हगरी का विद्रोह—भारत की भूमिका विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय हित को लेकर ही थी। उसका मूल लक्ष्य भारत के स्वतन्त्र स्तर को घोपित करना तथा उसके दीर्घकालीन हितो की

---

[1] जवाहरलाल नेहरू, इण्डियाज फॉरेन पॉलिसी, पृ. 28।

रक्षा करना था। श्री नेहरू के शब्दो में, "भारत के लिए उसके दूरगामी हित को देखते हुए यही हितकर होगा कि हम बिना किसी को नाराज किये लाखो लोगो की सहानुभूति प्राप्त करते है।" स्वेज नहर के बाद मे भारत का अरब गणराज्य को समर्थन इस देश के आर्थिक और व्यापारिक हितो को लेकर था। दक्षिण अफ्रीका मे रग-भेद की नीति का विरोध और उसके लिए किये गये प्रयत्नो मे भी उसका हित निहित रहा है। 'सीटो' और 'सेण्टो' जैसी सन्धियो का विरोध आदर्शवाद के धरातल पर न होकर भारत की सुरक्षा और एशियाई क्षेत्र की शान्ति को लेकर था, क्योकि इन सन्धियो ने तो एक तरह से संघर्ष को भारत ही के दरवाजे पर लाकर खड़ा कर दिया था। हगरी के प्रश्न पर भारत के रवैये की पश्चिमी देशो मे सबसे अधिक आलोचना हुई। प्रो. ब्रेशर का कहना है कि "हगरी विद्रोह (1956) के मामले में भारत की प्रतिक्रिया बडी धीमी एव कष्टदायक थी। पर्यवेक्षको का यह भी कहना था कि भारत ने इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता और स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के समय फ्रास, इग्लैण्ड और इजरायल की कार्यवाही पर जिस आक्रामक भाषा का प्रयोग किया वह हगरी के लोगो के दमन पर नदारद थी।" वस्तुत: हगरी में रूस के हस्तक्षेप की भर्त्सना अभियान मे भारत का रवैया उसके अपने हितो के परिप्रेक्ष्य मे समझना चाहिए। इससे सिद्धान्तो की धुंध हटकर वस्तुस्थिति का पता लग जाता है। कश्मीर और स्वेज नहर विवाद मे सोवियत रूस की भूमिका भारत के पक्ष मे रही थी और पश्चिमी देशो का रवैया उसके विरुद्ध। फिर भारत सोवियत रूस को नाराज क्यो करता? केवल इसलिए कि अमरीका और पश्चिमी देश ऐसा चाहते थे? कश्मीर पर पाकिस्तान के नग्न आक्रमण की घटना को पश्चिमी देश अगर सहजता से पचा सकते है तो भारत सहज सिद्धान्तो के नाम पर अपनी मित्रता को दाव पर कैसे लगा सकता था? जो लोग भारत की विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्तो को राष्ट्रीय हित से अलग-थलग रखकर विवेचन करते है उन्हे निराशा होनी स्वाभाविक है। नेहरू ने स्वय कहा था कि "मैंने स्वाभाविक रूप से भारत के हितो को देखा क्योकि यह मेरा पहला कर्त्तव्य है।"

भारत की गोआ मुक्ति के लिए की गयी सैनिक कार्यवाही पुर्तगाल और पुर्तगाली साम्राज्यवाद के मित्रो को अच्छी नही लगी। अमरीका के एक पत्रकार ने उस समय के प्रतिरक्षा मन्त्री श्रीकृष्ण मेनन से पूछा कि अहिंसा की वकालत करने वाले देश की यह कार्यवाही कहाँ तक न्यायसंगत है। कुशाग्र बुद्धि मेनन ने कहा, 'क्या आप कोई ऐसा दस्तावेज या उदाहरण बता सकते है जिसमे भारत ने शस्त्र न उठाने की शपथ ली हो?'

श्री एम. एम. रहमान ने अपनी पुस्तक 'द पॉलिटिक्स ऑफ नान एलायनमेंट' में भारतीय विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्त और राष्ट्रीय हित की विशद् विवेचना की है। उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रंग-भेद और उपनिवेश का विशेष विरोध तथा एफ्रो-एशियाई देशो के स्वतन्त्रता-सग्राम का समर्थन विदेश नीति का साध्य नही वल्कि साधन है। गुट-निरपेक्षता भी लेखक के अभिमत मे राष्ट्र की सुरक्षा और विकास का माध्यम है। भारत और अरब गणराज्य की नीति की विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हुए लेखक ने इस बात पर जोर दिया है कि इन देशो ने उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद अथवा अन्य किसी शक्ति का विरोध अपनी सुरक्षा को ध्यान मे रखते हुए ही किया है। अत: इन लक्ष्यो की सुरक्षा तथा आर्थिक लाभ के हितो को परिपोषित करने का माध्यम माना जाना चाहिए।[1]

सक्षेप मे, भारत की विदेश नीति के आधारो का उल्लेख मात्र आदर्श अथवा कोरे मानववादी दृष्टिकोण को लेकर नहीं वल्कि सुनिश्चित राष्ट्रीय हित के विभिन्न पहलुओ को दृष्टि मे रखकर ही किया गया है। कोई भी देश, चाहे वह कितना ही शक्ति-सम्पन्न क्यों न हो वह अपनी

---

1 M. M. Rehman, *The Politics of Non-alignment*. pp. 173-75.

सुरक्षा, अखण्डता और आर्थिक हितो को नजर-अन्दाज नही कर सकता। यही उसकी विदेश नीति का प्रारम्भिक केन्द्र-विन्दु तथा सफलता की अन्तिम कसौटी हे। राष्ट्रीय हित के सम्वन्ध मे यह तथ्य भी ध्यान मे रखा जाना चाहिए कि वह एक गत्यात्मक तत्त्व है। इसलिए विदेश नीति मे भी समय एव परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तन स्वाभाविक है।

भारत की विदेश नीति के निर्माणक तत्त्व
(DETERMINING FACTORS OF INDIA'S FOREIGN POLICY)

डॉ. वी. पी. दत्त के अनुसार, "ऐतिहासिक परम्पराओ, भौगोलिक स्थिति और भूतकालीन अनुभव भारतीय विदेश नीति के निर्माण मे प्रभावक तत्व रहे है।"[1]

भारत की विदेश नीति के निर्माण मे जिन तत्त्वो का विशिप्ट महत्त्व रहा है, वे निम्नलिखित हैं :

1. **भौगोलिक तत्त्व**—किसी भी विदेश नीति के निर्माण मे उस देश की भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रमुख और निर्णायक महत्त्व की होती है। के. एम. पणिक्कर के अनुसार, "जव नीतियो का लक्ष्य प्रादेशिक सुरक्षा होता है तो उनका निर्धारण मुख्य रूप से भौगोलिक तत्त्वों से ही हुआ करता है।" भारत उत्तर मे साम्यवादी गुट के दो प्रमुख देशो—सोवियत सघ और चीन के विल्कुल समीप है। भारत के एक छोर पर पाकिस्तान हे तो दूसरे छोर पर उसकी सीमा समुद्रो से घिरी हुई है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वाद अपनी लम्वी सीमाओ की सुरक्षा भारत के लिए मुख्य चिन्ता का विपय था। यदि भारत साम्यवादी गुट मे सम्मिलित हो जाता तो उसकी समुद्री सीमा पर खतरा उत्पन्न हो जाता क्योकि पश्चिमी गुट का अपनी नौ-शक्ति के कारण हिन्द महासागर पर दवदवा था। यदि भारत पश्चिमी गुट मे सम्मिलित होता तो उत्तरी सीमा पर साम्यवादी राष्ट्र उसके लिए स्थायी खतरा उत्पन्न कर सकते थे। इन भौगोलिक परिस्थितियो मे विदेश नीति की दृष्टि से भारत के लिए यह उचित हे कि वह दक्षिण मे समुद्री सीमा सुरक्षित वनाये रखने के लिए व्रिटेन से मैत्री सम्वन्ध वनाये रखे और उत्तर मे अपनी स्थिति सुरक्षित रखने के लिए साम्यवादी देशो से अनुकूल सम्वन्ध वनाये रखने की चेष्टा करे।

2. **गुटवन्दियाँ**—जव भारत स्वाधीन हुआ तो विश्व दो गुटो मे विभाजित था। अमरीका और सोवियत सघ मे मनमुटाव इतना अधिक वढ गया कि यह मनमुटाव 'शीत-युद्ध' के रूप मे परिवर्तित हो गया। शीत-युद्ध की इस राजनीति मे भारत क्या करता ? या तो वह गुटो से पृथक् रहता। भारत ने गुटो से पृथक् रहना ही ठीक समझा क्योकि वह दोनो गुटो के वीच सेतुवन्ध का कार्य करना चाहता था।

3. **विचारधाराओ का प्रभाव**—भारत की विदेश नीति के निर्धारण मे शान्ति और अहिंसा पर आधारित गाँधीवादी विचारधारा का भी गहरा प्रभाव रहा है। इस विचारधारा से प्रभावित होकर ही सविधान के अनुच्छेद 51 मे राज्य नीति के निर्देशक तत्त्वो के अन्तर्गत विश्व शान्ति की चर्चा की गयी है। हडसन लिखते हैं कि "गाँधी के शान्तिवाद ने देश को यह भरोसा दिलाया कि विश्व मे शान्ति 'समझौतो' से ही स्थापित हो सकती है, न कि रक्षात्मक सगठन वनाने से। भारत का यह कर्त्तव्य है कि वह दो विरोधी पक्षो से अलग रहे और उनमे मध्यस्थ का कार्य करे।"

4. **आर्थिक तत्त्व**—भारत की आर्थिक उन्नति तभी सम्भव थी जव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति वनी रहे। आर्थिक दृष्टि से भारत का अधिकाश व्यापार पाश्चात्य देशो के साथ था और पाश्चात्य

---

[1] "The compulsions of history, geography and past experience thus were important formative influence on the formation of India's foreign policy."
—V. P. Dutt, *India's Foreign Policy* (New Delhi, 1984), p. 3.

देश भारत का शोषण कर सकते थे। भारत अपने विकास के लिए अधिकतम विदेशी सहायता का भी इच्छुक था। इस दृष्टिकोण से भारत के लिए सभी देशो के साथ मैत्री का वर्ताव रखना आवश्यक था और वह किसी भी एक गुट से वँध नही सकता था। गुटवन्दी से अलग रहने के कारण उसे दोनो ही गुटों से आर्थिक एवं तकनीकी सहायता मिलती रही है क्योकि कोई भी गुट नही चाहता कि भारत दूसरे गुट के प्रभाव-क्षेत्र मे आ जाये।

5. **सैनिक तत्त्व**—सैनिक दृष्टि से भारत शक्तिशाली राष्ट्र नही था। अपनी रक्षा के लिए अनेक दृष्टियो से वह पूरी तरह विदेशों पर निर्भर था। भारत की दुर्वल सैनिक स्थिति उसे इस वात के लिए वाध्य करती रही है कि विश्व की सभी महत्त्वपूर्ण शक्तियो के साथ मैत्री वनाये रखी जाय। प्रारम्भ से ही भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य वना रहा, उसका भी यही राज था कि सैनिक दृष्टि से भारत ब्रिटेन पर ही निर्भर था।

6. **श्री नेहरू का व्यक्तित्व**—श्री जवाहरलाल नेहरू न केवल भारत के प्रधानमन्त्री थे अपितु विदेशमन्त्री भी थे। उनके व्यक्तित्व की छाप विदेश नीति के हर पहलू पर झलकती है। वे साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और फासिस्टवाद के विरोधी थे। वे सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को शान्तिपूर्ण उपायो से सुलझाने के प्रवल समर्थक थे। वे महाशक्तियो के संघर्ष मे भारत के लिए असंलग्नता की नीति को सर्वोत्तम मानते थे। अपने इन्हीं विचारों के अनुरूप उन्होने भारत की विदेश नीति को ढाला और आज इसका जो कुछ भी रूप है वह प. नेहरू के विचारो का ही मूर्तरूप है।

7. **राष्ट्रीय हित**—पं. नेहरू ने संविधान सभा मे स्पष्ट कहा था, "किसी भी देश की विदेश नीति की आधारशिला उसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा होती हैं और भारत की विदेश नीति का भी ध्येय यही है।" भारत का राष्ट्रीय हित क्या हे ? यह निर्धारित करना आसान नही है। भारत के दो प्रकार के राष्ट्रीय हित है—स्थायी राष्ट्रीय हित, जैसे देश की अखण्डता और सुरक्षा तथा अस्थायी राष्ट्रीय हित जैसे खाद्यान्न, विदेशी पूंजी, तकनीकी विकास आदि। यदा-कदा भारत की विदेश नीति में विरोधाभास दिखायी देता है, वह इस वात को सिद्ध करता है कि भारत की विदेश नीति में राष्ट्रीय हितो का सवसे वडा स्थान है। राष्ट्रीय हितो के सन्दर्भ मे ही भारत ने पश्चिमी एशिया के सकट मे इजराइल के वजाय अरव राष्ट्रो का सदैव समर्थन किया।

8. **ऐतिहासिक परम्पराएँ**—भारत की विदेश नीति के निर्धारण मे ऐतिहासिक परम्पराओ का भी वड़ा योगदान रहा है। प्राचीनकाल से ही भारत की नीति शान्तिप्रिय रही है। भारत ने किसी भी देश पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न नही किया। भारत की यह परम्परा वर्तमान विदेश नीति में स्पष्ट दिखायी देती है।

भारत की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ

अथवा

भारतीय विदेश-नीति के मूल तत्त्व या सिद्धान्त

(BASIC PRINCIPLES OR FEATURES OF INDIA'S FOREIGN POLICY)

सितम्वर 1946 मे अन्तरिम सरकार की स्थापना के वाद से ही भारतीय विदेश नीति विकसित होने लगी। प. नेहरू ने स्पष्ट कहा कि स्वतन्त्र भारत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे एक स्वतन्त्र नीति का अवलम्वन करेगा और किसी गुट मे सम्मिलित नही होगा। भारत संसार के किसी भी भाग मे उपनिवेशवाद और प्रजातीय विभेद का विरोध करेगा और विश्व शान्ति के समर्थक देशो के साथ सहयोग करेगा। पं. नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग वढ़ाने पर भी जोर दिया। यदि स्वाधीन भारत की विदेश नीति का समीक्षात्मक विश्लेषण करे तो अग्रांकित विशेषताएँ हमारे सामने प्रकट होती है :

1. गुट-निरपेक्षता की नीति
(THE POLICY OF NON-ALIGNMENT)

विश्व राजनीति मे भारतीय दृष्टिकोण मुख्यतया असलग्नता अथवा गुट-निरपेक्षता का रहा है। इसे भारतीय विदेश नीति का सार तत्त्व कहा जाता है। गुट-निरपेक्षता गुटो की पूर्व उपस्थिति का सकेत देती है। जब भारत स्वाधीन हुआ तो उसने पाया कि विश्व की राजनीति दो विरोधी गुटो मे बँट चुकी है। एक गुट का नेता सयुक्त राज्य अमरीका और दूसरे का सोवियत सघ था। विश्व के अधिकाश राष्ट्र दो विरोधी खेमो मे विभाजित हो गये और भीषण शीत-युद्ध प्रारम्भ हो गया। शीत-युद्ध का क्षेत्र विस्तृत होने लगा और इसके साथ-साथ एक तीसरे महासमर की तैयारी होने लगी। स्वतन्त्र भारत के लिए यह एक विकट समस्या थी कि इस स्थिति मे वह क्या करे ? ऐसी स्थिति मे भारत या तो दोनो मे से किसी एक का साथ पकड़ सकता था अथवा दोनो से पृथक् रह सकता था। भारत के नीति निर्धारक कहने लगे कि वे ससार के किसी भी गुट मे सम्बन्धित नही होंगे। गुटबन्दी मे शामिल होना न तो भारत के हित मे था न ससार के। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सभी प्रश्नो पर वे गुट-निरपेक्षता की नीति का अवलम्बन करेंगे। भारत ने दोनो गुटो से पृथक् रहने की जो नीति अपनायी उसे 'गुट-निरपेक्षता' की नीति के नाम से जाना जाता है।

इस नीति का आशय है कि भारत वर्तमान विश्व राजनीति के दोनो गुटो मे से किसी मे भी शामिल नहीं होगा, किन्तु अलग रहते हुए भी उनसे मैत्री सम्बन्ध कायम रखने की चेष्टा करेगा और उनकी बिना शर्त सहायता से अपने विकास मे तत्पर रहेगा। भारत की गुट-निरपेक्षता एक विधेयात्मक, सक्रिय और रचनात्मक नीति है। इसका ध्येय किसी तीसरे गुट का निर्माण करना नही वरन् दो विरोधी गुटो के बीच सन्तुलन का निर्माण करना है। असलग्नता की यह नीति सैनिक गुटों से अपने आपको दूर रखती है किन्तु पडोसी व अन्य राष्ट्रो के बीच अन्य सब प्रकार के सहयोग को प्रोत्साहन देती है। यह गुट-निरपेक्षता नकारात्मक तटस्थता, अप्रगतिशीलता अथवा उपदेशात्मक नीति नहीं है। इसका अर्थ सकारात्मक है अर्थात् जो सही और न्यायसगत है उसकी सहायता और समर्थन करना तथा जो अनीतिपूर्ण एवं अन्यायसगत है उसकी आलोचना एव निन्दा करना। अमरीकी सीनेट मे बोलते हुए नेहरू ने स्पष्ट कहा था "यदि स्वतन्त्रता का हनन होगा, न्याय की हत्या होगी अथवा कहीं आक्रमण होगा तो वहाँ हम न तो आज तटस्थ रह सकते हैं और न भविष्य मे तटस्थ रहेगे।" इसी सन्दर्भ मे अप्पादोराई ने कहा है कि "यह स्वतन्त्र विदेश नीति एव तटस्थता एक ही बात नही है। यदि कभी कही युद्ध होता है तो इस नीति की माँग होगी कि अपने स्वतन्त्रता एवं शान्ति के उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए भारत स्वतन्त्र राष्ट्रो का साथ दे। यह एक नकारात्मक नीति नहीं है, यह सकारात्मक है, जिसका उद्देश्य सम-विचारवादी राष्ट्रो के साथ मिलकर शान्ति, स्वतन्त्रता और मैत्री के उद्देश्य प्राप्त करना और अपना तथा अन्य अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो का आर्थिक विकास करना है....।"

भारत की गुट-निरपेक्षता स्विट्जरलैण्ड या आस्ट्रिया की तटस्थता के समान नहीं है और न यह एक स्थायी तटस्थता है। इसका सरल अर्थ केवल यह है कि इन दोनो शक्तिशाली गुटो द्वारा उत्पन्न समस्याओ मे हम सामान्यतया किसी का भी पक्ष लेना नही चाहते और अन्तर्राष्ट्रीय विवादो मे नहीं पड़ना चाहते। गुट-निरपेक्षता का अर्थ है : **प्रथम**, गुटो से पृथक् रहना, **द्वितीय**, शीत-युद्ध मे भाग न लेना; **तृतीय**, यह तटस्थता नही है, **चतुर्थ**, प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या पर गुण-दोषो के आधार पर निर्णय लेना और **पंचम**, विरोधी गुटो के बीच सन्तुलन बनाये रखना। पण्डित नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि किसी गुट मे सम्मिलित होने का अर्थ क्या है ? इसका केवल एक ही अर्थ है—किसी एक विशेष प्रश्न पर आप अपने विचार का परित्याग कर दे और दूसरे

को खुश करने तथा उसकी सदिच्छा प्राप्त करने के लिए उसके विचारो को मान लें।" भारत के लिए ऐसी स्थिति असह्य थी। यह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पूर्ण स्वतन्त्र रहना चाहता था और किसी गुट मे शामिल होकर इस स्वतन्त्रता को कायम नही रखा जा सकता था।

भारत की यह गुट-निरपेक्षता पलायनवाद की नीति भी नही है। एशिया के प्रमुख राष्ट्र के रूप में भारत अपने उत्तरदायित्व से कभी भी वचना नही चाहता। किसी भी विवाद के शान्ति-पूर्ण समाधान के लिए भारत की मध्यस्थता की सेवाएँ सदैव उपलब्ध रही है। कोरिया, हिन्द चीन, मिस्र एव इजराइल के विवाद इसके उदाहरण है। भारतीय गुट-निरपेक्षता का अर्थ पृथकता-वाद भी नही है। विश्व की सामान्य समस्याओ मे तो क्या उसे युद्ध मे भी भाग लेना पड़ सकता है जैसा भारत के साथ हुआ भी। भारत नि संगता मे विश्वास नही रखता जिसका उदाहरण यह है कि भारत न केवल राष्ट्रमण्डल एवं संयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य है वल्कि अन्य अनेक राष्ट्रो के साथ उसके कूटनीतिक तथा मैत्रीपूर्ण सम्वन्ध है।

भारत ने गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति क्यों अपनायी ? इसके कई सशक्त कारण हैं :

(1) **प्रथम,** किसी भी गुट मे शामिल होकर अकारण ही भारत विश्व में तनाव की स्थिति पैदा करना उपयुक्त नही मानता।

(2) **द्वितीय,** भारत अपनी विचार प्रकट करने की स्वाधीनता को वनाये रखना चाहता है। यदि उसने किसी गुट विशेप को अपना लिया तो उसे गुट के नेताओ का दृष्टिकोण अपनाना पडेगा।

(3) **तृतीय,** भारत अपने आर्थिक विकास के कार्यक्रमो को और अपनी योजनाओ की सिद्धि के लिए विदेशी सहायता पर वहुत कुछ निर्भर है। गुट-निरपेक्षता की नीति से सोवियत रूस तथा अमरीका दोनो से एक ही साथ सहायता मिल पा रही है।

(4) **चतुर्थ,** भारत की भौगोलिक स्थिति गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाने को वाध्य करती है। साम्यवादी देशो से हमारी सीमाएँ टकराती है। अतः पश्चिमी देशो के साथ गुटवन्दी करना विवेक-समस्त नही। पश्चिमी देशो से विशाल आर्थिक सहायता मिलती है। अत साम्यवादी गुट मे सम्मिलित होना भी वुद्धिमानी नही। पण्डित नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि "किसी गुट के साथ सैनिक सन्धियो मे वँध जाने के कारण सदा उसके इशारे पर नाचना पड़ता है और साथ ही अपनी स्वतन्त्रता विल्कुल ही नष्ट हो जाती है। जव हम असंलग्नता का विचार छोडते है तो हम अपना लगर छोडकर वहने लगते है। किसी देश से बँधना आत्म-सम्मान खोना है, यह वहुमूल्य निधि का विनाश है।

यदि गुट-निरपेक्षता की नीति का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन किया जाये तो यह कहा जा सकता है कि उसकी यात्रा के कई पडाव रहे है और यह एक गतिशील नीति (Dynamic foreign policy) सिद्ध हुई है। इसके विभिन्न चरण इस प्रकार है :

1. 1947 से 1950 तक—अपने प्रारम्भिक वर्षों मे गुट-निरपेक्षता की भारतीय नीति वडी अस्पष्ट थी। कई लोग इसे 'तटस्थता' का पर्यायवाची मानते थे और स्वय नेहरू इसे 'सकारात्मक तटस्थता' कहकर पुकारते थे। इस काल में भारत की प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे पश्चिमी गुट की तरफ झुकी हुई थी। पश्चिमी गुट की तरफ भारतीय झुकाव के कई कारण थे। सुरक्षा के मामले मे भारत पश्चिमी गुट पर निर्भर था। भारतीय सेना का सगठन ब्रिटिश पद्धति पर आधारित था और इसलिए हम ब्रिटेन के साथ इस मामले मे पूरी तरह सम्वद्ध थे। हमारी शिक्षा पद्धति पश्चिमी शिक्षा प्रणाली पर आधारित थी और भारत के उच्च-शिक्षित वर्ग पर पाश्चात्य देशो का प्रभाव था। इस काल मे भारत का व्यापारिक सम्वन्ध केवल पश्चिमी राष्ट्रो से था और ब्रिटेन एवं अमरीका से ही खासतौर से भारत को आर्थिक एव तकनीकी सहायता मिल

रही थी। इस समय सोवियत सघ आर्थिक और सैनिक दृष्टि से भारत को सहायता देने की स्थिति मे नही था। अतः भारत का झुकाव पश्चिमी देशो की तरफ अधिक रहा। इसी कारण भारत ने पश्चिमी जर्मनी को मान्यता दे दी क्योकि उसका सम्बन्ध पश्चिमी गुट से था, जबकि पूर्वी जर्मनी को मान्यता प्रदान नही की। कोरिया युद्ध के प्रारम्भ मे ही भारत ने पश्चिमी गुट का पक्ष लिया और उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित कर दिया।

2. 1950 से 1957 तक—1950 से 1957 के काल में सोवियत सघ के प्रति भारत के दृष्टिकोण मे कुछ परिवर्तन आया। इसका कारण यह था कि 1953 मे स्टालिन की मृत्यु के बाद भारत के प्रति सोवियत दृष्टिकोण काफी उदार होने लगा था। इस काल मे अमरीका के साथ भारत के सम्बन्धो मे कटुता आने लगी क्योकि 1954 मे अमरीका और पाकिस्तान के मध्य एक सैनिक सन्धि हुई जिसके अनुसार अमरीका ने पाकिस्तान को विशाल पैमाने पर शस्त्र देने का निर्णय किया। गोआ के प्रश्न पर भी अमरीका ने पुर्तगाल का समर्थन किया जबकि सोवियत सघ ने भारतीय नीति का हमेशा समर्थन किया। इस काल मे भारत के प्रधानमन्त्री नेहरू ने रूस की यात्रा की तथा रूसी नेताओ ने भारत की सद्भावना यात्राएँ की। भारत और रूस के बीच व्यापार बढा और भारत को रूस से पर्याप्त आर्थिक सहायता मिलने लगी। रूस ने भारत को भिलाई इस्पात कारखाने के लिए आर्थिक और तकनीकी सहायता भी दी। 1956 मे स्वेज सकट उत्पन्न होने पर भारत ने रूस की भाँति, ब्रिटेन और फ्रांस के आक्रमण की निन्दा की। हगरी की समस्या पर भी भारत की नीति रूस का समर्थन करती रही। सयुक्त राष्ट्र सघ मे जब हगरी की समस्या पर विचार हुआ तो भारतीय प्रतिनिधि ने सोवियत हस्तक्षेप की कटु आलोचना नही की।

3 1957 से 1962 तक—ऐसा कहा जाता है कि 1957 के बाद भारत की नीति पुनः पश्चिमी गुट की ओर झुकने लगी। इसके कई कारण थे। 1957 के आम चुनाव मे भारत के केरल राज्य मे साम्यवादियो की विजय हुई। भारत मे इस समय गम्भीर आर्थिक सकट विद्यमान था, देश मे खाद्यान्न तथा विदेशी मुद्रा की कमी ने भारत को बाध्य कर दिया कि वह पश्चिमी गुट के देशो के साथ मेल-जोल बढाये। इस काल मे नेहरू ने अमरीका की सद्भावना यात्रा की तथा भारत पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध दबी जबान से करने लगा।

4 1962 का चीनी आक्रमण तथा भारतीय गुट-निरपेक्षता—नवम्बर 1962 मे चीनी आक्रमण के समय गुट निरपेक्षता की नीति की अग्नि परीक्षा हुई। अनेक आलोचको ने भारत की असलग्नता की नीति की कटु आलोचना की। यह कहा गया कि भारत की निर्गुट नीति राष्ट्रीय हितो की रक्षा करने मे सर्वथा असमर्थ रही। ए. डी. गोरवाला के शब्दो मे, 'विदेश नीति का लक्ष्य राष्ट्र के हितो को सुरक्षित करना होता है। सबसे बडा हित राष्ट्र की अखण्डता है और इसमे हमारी नीति विफल सिद्ध हुई है।' दूसरी आलोचना यह थी कि अपनी रक्षा के लिए पश्चिमी राष्ट्रों के साथ सैनिक गठबन्धन मे शामिल न होकर भारत ने भारी भूल की है। यदि भारत पश्चिमी देशो के साथ मिलकर किसी सैनिक सगठन का सदस्य होता तो चीन उस पर हमला करने की हिम्मत ही नही करता। यह भी कहा गया कि गुट-निरपेक्षता की नीति पचशील के शान्तिवादी सिद्धान्तो पर आधारित है और इसी कारण हमने देश की प्रतिरक्षा के लिए आवश्यक तैयारी करने मे घोर उपेक्षा की है, जिसके कारण हमे भारी पराजय और क्षति उठानी पडी। यह भी कहा गया कि निर्गुट नीति के कारण हम अपने मित्रो की वृद्धि न कर पाये। हमने एशिया और अफ्रीका के नवीन राज्यो की स्वतन्त्रता का समर्थन किया किन्तु जब चीन ने हम पर हमला किया तो किसी ने हमारा साथ नही दिया। इसके विपरीत, पश्चिमी देशो—अमरीका, इग्लैण्ड, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी ने हमे तत्काल भारी मात्रा मे हवाई जहाजो द्वारा रण-सामग्री पहुँचायी। आलोचको ने यह भी कहा कि हमारी नीति गुट-निरपेक्षता की कही जाती है, किन्तु जब हम

साम्यवादी गुट से सम्बन्धित एक बड़े सदस्य से लड़ रहे हैं और दूसरे गुट के पश्चिमी देश हमे प्रचुर मात्रा में आर्थिक सहायता दे रहे है तो क्या हमारी नीति को निर्गुट कहा जा सकता है ? इन आलोचनाओं के उत्तर मे पं. नेहरू का कहना था कि चीन का मुकावला करने के लिए भारत ने जो भी शस्त्रास्त्र की सहायता ली है उसके साथ किसी प्रकार की शर्त नही लगी है और विना शर्त सहायता लेने से असंलग्नता की नीति से दूर हटना नही कहा जा सकता। चीनी हमले के बाद 6 नवम्वर, 1962 को भारत मे तत्कालीन अमरीकी राजदूत गॉलब्रेथ ने स्पष्ट कहा कि, "सैनिक सहायता देकर हम भारत को पश्चिमी देशो के सैनिक गुट मे शामिल नही करना चाहते और न हम भारत की असंलग्न नीति को वदलने के ही समर्थक हैं। अमरीकी राष्ट्रपति कैनेडी कई वार कह चुके हैं कि अमरीका भारत की तटस्थ नीति का स्वागत करता है।" चीनी आक्रमण के समय अमरीकी वायु सेना ने 90 घण्टे के भीतर 1 हजार टन रण-सामग्री को अमेरिका से भारत पहुँचा दिया। दूसरी ओर सोवियत रूस ने भी अपने मिग विमान देने का तथा इसका कारखाना वना देने का वचन दिया। किसी एक गुट का सदस्य वन जाने पर भारत को दोनो महाशक्तियो से लाभ प्राप्त नही हो सकता था। अमरीकी विदेश सचिव डीन रस्क ने स्वय कहा था कि वर्तमान परिस्थिति मे असलग्नता की नीति भारत के लिए सर्वोत्तम है। यदि असलग्नता की नीति को छोड़कर भारत अमरीकी गुट मे शामिल हो जाता तो भारत-चीन सीमा-सघर्ष शीत-युद्ध का एक अग वन जाता। इसीलिए प. नेहरू ने स्पष्ट कर दिया कि भारत अपनी रक्षा के लिए सभी मित्र राज्यो से सहायता लेगा लेकिन असलग्नता की नीति का परित्याग नही करेगा।

भारत पाक-युद्ध (1965) और गुट-निरपेक्षता—1963 मे सोवियत सघ द्वारा भारत-चीन सीमा-विवाद पर भारत का स्पष्ट रूप से खुला समर्थन किया गया। यह घटना भारत की निर्गुट नीति की एक शानदार सफलता है। 1965 के भारत-पाक संघर्ष के समय पाकिस्तान के वहुत वड़े समर्थक अमरीका ने भारत और पाकिस्तान दोनो पर आर्थिक प्रतिवन्ध लगा दिये और यह घोषणा की कि जव तक दोनो पक्ष युद्ध वन्द नहीं कर देते तव तक उन्हे किसी तरह की सैनिक सहायता नही दी जायेगी। इससे स्पष्ट हो गया कि गुटो मे सम्मिलित होने पर भी पाकिस्तान को कोई लाभ नही पहुँचा। 1971 की भारत-रूस सन्धि तथा गुटनिरपेक्षता, वगला देश की क्रान्ति और तत्कालीन सैनिक शासन की दमनकारी नीति के परिणामस्वरूप दक्षिणी एशिया मे उत्पन्न संकट के समय 'भारत-रूस मैत्री सन्धि' भारतीय हितो की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। अमरीका और चीन के वीच भारत जैसे राज्य के हितो की कीमत पर विकसित वृत्तान्त के सन्दर्भ मे भारत और रूस की यह साझेदारी एक वरदान सिद्ध हुई है। गुट-निरपेक्षता की पवित्रता की दुहाई देने वाले भी यह स्वीकार करेंगे कि 1971 के भारत-पाक सघर्ष मे यह सन्धि भारत को नया विश्वास, आत्म-सम्मान और इस भू-भाग मे अपनी हैसियत का अहसास कराने मे सहायक सिद्ध हुई है। भारत-रूस मैत्री सन्धि ने दक्षिण एशिया की वस्तु-स्थिति को निर्णायक मोड देते हुए तत्कालीन परिस्थितियो मे भारत की सुरक्षा मे महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया है। भारत-रूस मैत्री सन्धि के सम्वन्ध मे कतिपय क्षेत्रों मे यह सन्देह हो गया था कि भारत अब गुट-निरपेक्ष नही रहा। कई जगह तो यह भी कहा जाने लगा कि नयी दिल्ली मास्को की कठपुतली मात्र है और स्वतन्त्र निर्णय के अधिकार को खो चुकी है। किन्तु ऐसे आरोप निरा-धार सिद्ध हुए। भारत कुछ समय के लिए रूस के अति निकट अवश्य हो गया था या यो कहे कि परिस्थितियो ने उसे रूस की गोद मे धकेल दिया था किन्तु उसने 'स्वतन्त्र निर्णय' को समर्पित कर दिया हो ऐसा कहना सही नही है। उदाहरण के लिए, भारत ने ब्रेझनेव द्वारा प्रतिपादित एशिया की सामूहिक सुरक्षा अवधारणा का खुला विरोध किया। वस्तुतः भारत-रूस सन्धि संकट

के समय के लिए 'मित्र' उत्पन्न करती है; 'सैनिक गठबन्धन नही' और मित्रो की खोज करना गुट-निरपेक्ष नीति का निषेध नही।

असली गुट-निरपेक्षता (1977 से 1979)—जनता पार्टी के घोषणा-पत्र मे 'असली गुट-निरपेक्षता' की बात कही गयी थी। मोरारजी देसाई का कहना था कि इन्दिरा गाँधी के जमाने मे विदेश-नीति एक तरफ झुक गयी थी। इस झुकाव को दूर करना ही असली गुट-निरपेक्षता है। विदेश मन्त्री वाजपेयी के शब्दो मे, "भारत को न केवल गुट-निरपेक्ष रहना चाहिए बल्कि वैसा दिखायी भी पडना चाहिए।" उनके अनुसार, असंलग्नता का मतलब है सर्व-सलग्नता अर्थात् सबके साथ जुडना, सबके साथ गठबन्धन करना। जनता सरकार ने सोवियत सघ तथा अमरीका के साथ अपने सम्बन्धो को काफी दक्षतापूर्ण ढंग से निभाया और श्रीमती इन्दिरा गाँधी के आखिरी दिनो मे रूस के प्रति दिखने वाले झुकाव को ठीक करने का प्रयत्न किया। किन्तु इसका मतलब यह नही कि जनता सरकार ने रूस के साथ रिश्ते बिगाड़ लिये या अमरीका के साथ 'नया अध्याय' शुरू कर दिया।

1980 के बाद गुट-निरपेक्षता—जनवरी 1980 मे जब श्रीमती गाँधी को पुनः भारत के प्रधानमन्त्री का पद सम्हालने का अवसर मिला तो भारत की विदेश नीति मे जो गति आयी उसका प्रभाव सर्वत्र प्रकट होने लगा। न्यूयार्क मे 1980 के अन्तिम दिनो मे भारत ने असलग्न गुट के मध्य बहुत सक्रिय होकर प्रधान मन्त्रियो एव विदेश मन्त्रियो को आपस मे विचार-विमर्श करने हेतु प्रेरित किया एवं उनसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे गिरते हुए मूल्यो को पुनर्स्थापित करने का अनुरोध किया। 1981 मे भारत ने 98 असलग्न राष्ट्रो के विदेश मन्त्रियो का सम्मेलन नयी दिल्ली मे बुलाकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख बिन्दुओ पर विचार-विमर्श करने का महत्त्वपूर्ण अवसर उपलब्ध कराया। भारत ने 77 देशो के समूह के अध्यक्ष रूप मे अन्य राष्ट्रो के सहयोग से 1980 से लगातार इस बात का प्रयास किया है कि विश्व के आर्थिक क्षेत्र मे व्याप्त संरचनात्मक एवं मौलिक असन्तुलन के अभिशाप को अविलम्ब दूर कर दिया जाये।

मार्च 1983 मे नयी दिल्ली मे निर्गुट देशो का सातवाँ शिखर सम्मेलन आयोजित कर भारत विश्व स्तर पर निर्गुट आन्दोलन का प्रमुख प्रवक्ता बन गया। इस सम्मेलन मे 101 राष्ट्रो ने भाग लिया और उन्होने भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी को अगले तीन वर्ष के लिए निर्गुट आन्दोलन का अध्यक्ष निर्वाचित किया। भारत की गुट-निरपेक्ष विदेश नीति के लिए यह घटना एक शानदार उपलब्धि थी। श्रीमती गाँधी की हत्या के बाद युवा प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाँधी गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के लगभग एक वर्ष तक अध्यक्ष रहे। दिसम्बर 1989 मे सत्तारूढ राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने भी गुट निरपेक्ष मार्ग पर चलते रहने का आश्वासन दिया है।

आलोचना : गुट-निरपेक्षता काफी नहीं—डॉ वेदप्रताप वैदिक गुट-निरपेक्ष नीति के प्रखर आलोचक है। अपनी बहुचर्चित पुस्तक "भारतीय विदेश नीति नये दिशा सकेत"[1] मे वे लिखते है :

(1) शीत-युद्ध के वातावरण मे नवोदित भारत के लिए गुट-निरपेक्षता की नीति का वरण शायद तात्कालिक दृष्टि से उचित रहा हो, किन्तु भारत जैसे विशाल देश के लिए गुट-निरपेक्षता की नीति को शाश्वत नीति का रूप देना न तर्कसगत है और न ही यह दृष्टिकोण यथार्थ की कसौटी पर खरा उतरता है।[2]

(2) विदेश नीति का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसे गुट-निरपेक्षता की परिधि में बाँधा नही जा सकता। गुट-निरपेक्षता का दायरा बहुत सीमित है। गुटो से बाहर क्रियाशील होने की कल्पना इस अवधारणा मे है ही नही। सारी नीति गुटो की राजनीति के आस-पास घूमती है।

---

[1] डॉ वेदप्रताप वैदिक, **भारतीय विदेश नीति : नये दिशा सकेत**, 1980, नयी दिल्ली, अध्याय 9।
[2] वही, पृष्ठ 122।

महाशक्ति-गुटो की राजनीति पर प्रतिक्रिया करते रहना ही इस नीति का मुख्य लक्ष्य बन जाता है।

(3) गुट-निरपेक्षता ऊर्ध्वमूल नीति रही है। ऐसी नीति, जिसकी जड़ें ऊपर है, नीचे नही। राष्ट्रहित उसके केन्द्र मे नही है। उससे राष्ट्रहित हो जाये, यह एक अलग बात है। उसके केन्द्र में नेतागिरी की भावना रही है। मोर का नाच ! पाँव कितने ही कमजोर हो, गन्दे भी, लेकिन पंख फैलाकर नाच होना चाहिए। दुनिया के मंचों पर नेतागिरी चमकनी चाहिए।

(4) भारत पर जब चीन का हमला हुआ तो भारत के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने में भी तथाकथित गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो ने कोताही की। ब्रिटेन और अमरीका ने हथियार दिये। विदेश नीति जोर का झटका खा गयी।

(5) भारत ने गुट-निरपेक्षता की नीति का वरण अपनी शक्तिहीनता की विवशता को छिपाने के लिए किया। एक सीमा तक नेहरू को इस विलक्षण कार्य मे सफलता भी मिली। दुनिया के शक्तिशाली देशो के नेताओ के साथ नेहरू का नाम भी अखबारो मे छपने लगा। लेकिन इससे भारत को क्या लाभ हुआ ? इससे दो प्रमुख हानियाँ हुई : एक तो भारत अपने आस-पास के वातावरण से लगभग बेखबर हो गया। पडौसी देशो की उपेक्षा ही नही हुई, अपनी सुरक्षा के लिए जो मुस्तैदी आवश्यक होती है, उसके प्रति भी भारत उदासीन हो गया। कौटिल्य अपनी विदेश नीति का प्रारम्भ दूर से या ऊपर से नही करता; पास से और नीचे से करता है। उसकी नीति ऊर्ध्वमूल नहीं, अधोमूल है। नेहरू नीति ऊर्ध्वमूल रही। वह केवल ऊपर की ओर देखती थी, इसलिए नीचे ठोकर खाती थी। गुट-निरपेक्षता की नीति को विदेश नीति का लक्ष्य या पर्याय मान बैठने का दूसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि भारत के पास अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे चलाने के लिए विचारधारा का कोई सिक्का नही रहा।

(6) सच्चे अर्थों मे गुट-निरपेक्ष होना तो केवल शक्तिशाली राष्ट्र के लिए सम्भव है···· गुट-निरपेक्षता के स्थान पर हमे 'स्वतन्त्र' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। गुट-निरपेक्षता की नीति मे धुरी 'गुट' है, जबकि 'स्वतन्त्र' नीति मे धुरी 'स्व' है याने 'राष्ट्र' हैं। विदेश नीति ऊर्ध्व-मूलक नही, राष्ट्रमूलक हो। हमारी नीति का मूल आधार शक्ति-गुटो के बदलते तेवर नही, स्थायी राष्ट्रीय हित हो।

इन आलोचनाओं के बावजूद यह एक सचाई है कि श्रीमती गाँधी ने 'गुट-निरपेक्ष नीति को आदर्श के मायाजाल से निकालकर उसे राष्ट्रीय हित के यथार्थ की धरोहर प्रदान की।' डॉ. वी. पी. दत्त ने हाल ही मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'इण्डियाज फॉरेन पॉलिसी' में लिखा है कि 'गुट-निरपेक्षता का सिद्धान्त विदेश नीति का दिशा सूचक रहा है क्योकि इससे राष्ट्रीय हितो का सवर्द्धन हुआ है।'[1] आज गुटबन्दी मे लिप्त राज्य भी गुट-निरपेक्षता के मार्ग पर चलने लगे है। पाकिस्तान का गुट-निरपेक्ष आन्दोलन मे शामिल हो जाना यह सिद्ध कर देता है कि भारत की नीति सही और ठोस है।

2. शान्ति की विदेश नीति
(POLICY OF PEACE)

भारत की विदेशी नीति सदैव ही विश्व शान्ति की समर्थक रही है। भारत ने प्रारम्भ से ही यह महसूस किया है कि युद्ध और संघर्ष नवोदित भारत के आर्थिक और राजनीतिक विकास को अवरुद्ध करने वाला है। अगस्त 1954 मे पणिक्कर ने कहा था, "भारत को इस

1 "···Non-alignment is one of the guide posts which has survived because it has advanced the national interests of the country."
—V. P. Dutt, *India's Foreign Policy* (Vikas, New Delhi, 1984), pp 1-24.

बात की बडी चिन्ता है कि उसकी प्रगति को तथा सामान्य रूप से मानव-जाति की उन्नति को सकट मे डालने वाला कोई युद्ध न हो।" 1956 के स्वेज नहर के सकट के कारण भारत की आर्थिक योजनाएँ अत्यधिक प्रभावित हुई। 1967 के अरब-इजराइल युद्ध के कारण भारतीय अर्थ-व्यवस्था बुरी तरह लडखडाने लगी। शान्तिवादी नीति की घोषणा करते हुए पं. नेहरू ने कहा था कि "हमारी पहली नीति तो यह होनी चाहिए कि हम ऐसी भीषण आपत्ति को घटित होने से रोकें, दूसरी नीति इससे बचने की होनी चाहिए और तीसरी नीति भी स्थिति बचाने की होनी चाहिए कि यदि युद्ध छिड जाय तो हम रोकने मे समर्थ हो सकें।" भारत शुरू से ही विश्व शान्ति के लिए निःशस्त्रीकरण को परम आवश्यक मानता था। यही कारण है कि जब 1963 में आणविक परीक्षण निरोध सन्धि हुई तो भारत वह पहला देश था जिसने अविलम्ब इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। 28 जनवरी, 1985 को नयी दिल्ली मे छह राष्ट्रो का एक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के लिए नयी दिल्ली का चयन, शान्ति कार्य मे भारत की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाला था। सम्मेलन ने अपील की कि अणुशक्ति सम्पन्न राष्ट्र शीघ्र अपने नित नवीन अणु परीक्षण, आयुध उत्पादन, दुनिया के विभिन्न हिस्सों मे आयुध सस्थापन तथा अपनी अणु हस्तान्तरण व्यवस्था को निरस्त करें।

3. मैत्री और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति
(POLICY OF FRIENDSHIP AND PEACEFUL CO-EXISTENCE)

भारत की विदेशी नीति मैत्री और सह-अस्तित्व पर जोर देती है। भारत की यह धारणा रही है कि विश्व मे परस्पर विरोधी विचारधाराओ में सह-अस्तित्व की भावना पैदा हो। यदि सह-अस्तित्व को स्वीकार नही किया जाता तो आणविक शस्त्रो से समूची दुनिया का ही विनाश हो जायेगा। इसी कारण भारत ने अधिक से अधिक देशो के साथ मैत्री सन्धियाँ और व्यापारिक समझौते किये। इन सन्धियो मे—भारत-नेपाल मैत्री सन्धि, भारत-इराक मैत्री सन्धि, भारत-जापान शान्ति सन्धि, भारत-मिस्र शान्ति सन्धि, भारत-रूस मैत्री सन्धि, भारत-बगलादेश मैत्री सन्धि उल्लेखनीय हैं। प. नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि "विश्व मे आज अलगाव के लिए कोई स्थान नहीं है, हम दूसरो से अलग रहकर जिन्दा नही रह सकते। हमे या तो सहयोग करना चाहिए अथवा युद्ध। हम शान्ति चाहते हैं। अपना वश चलते हम दूसरे राष्ट्र के साथ लडाई नहीं चाहते।"

4. विरोधी गुटों के बीच सेतुबन्ध की नीति
(POLICY TO ACT AS A MEDIATOR BETWEEN POWFR BLOCS)

भारत अपनी विदेश नीति द्वारा विश्व मे परस्पर विरोधी गुटो के मध्य सेतुबन्ध का कार्य करता रहा है। अपनी गुट-निरपेक्ष नीति के कारण भारत दोनो गुटो के बीच उनको मिलाने वाली कड़ी के रूप मे कार्य कर सकने की एक विशिष्ट स्थिति मे रहा है। दोनो गुटो के मुकाबले मे भारत की आर्थिक स्थिति और सैनिक स्थिति काफी कमजोर रही है किन्तु दोनो गुटो मे शक्ति सन्तुलन होने के कारण उन दोनो के बीच विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के समाधान मे मध्यस्थ का कार्य करने की दृष्टि से भारत की स्थिति बहुत उपयुक्त रही है। अपनी इस स्थिति के कारण अब तक उसने कोरिया, हिन्द-चीन, कांगो आदि समस्याओ के समाधान मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है और दोनो गुटो को समीप लाकर, विश्व-शान्ति का आसन्न खतरा दूर किया है।

5. साधनों की पवित्रता नीति
(POLICY TO PEACEFUL MEANS)

भारत की नीति अवसरवादी और अनैतिक नही रही है। भारत साधनो की पवित्रता मे विश्वास करता रहा है। यदि साधनो की श्रेष्ठता में भारत का विश्वास न होता तो 1965 का 'ताशकन्द समझौता' एवं 1972 का 'शिमला समझौता' कभी नही किया जाता। भारत ने

न केवल पाकिस्तान के युद्ध-बन्दी ही लौटा दिये, अपितु युद्ध में जीती हुई भूमि भी लौटा दी। भारत हथियारो का प्रयोग केवल आत्म-रक्षा में ही करना उपयुक्त मानता है। भारत मानता है कि साधन अच्छा है तो साध्य भी निश्चित रूप से अच्छा ही होगा।

6. 'पंचशील' पर जोर देने वाली नीति
(POLICY TO ADHERE *PANCHSHEELA*)

'पंचशील' के पाँच सिद्धान्तों का प्रतिपालन भी भारत की शान्तिप्रियता का द्योतक है। 1954 के बाद से भारत की विदेशी नीति को 'पंचशील' के सिद्धान्तो ने एक नयी दिशा प्रदान की। 'पंचशीलता' से अभिप्राय हैं—'आचरण के पाँच सिद्धान्त'। जिस प्रकार बौद्ध धर्म मे ये व्रत एक व्यक्ति के लिए होते हैं उसी प्रकार आधुनिक पंचशील के सिद्धान्तो द्वारा राष्ट्रो के लिए दूसरे के साथ आचरण के सम्बन्ध निश्चित किये गये हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं ·

(1) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना,

(2) अनाक्रमण,

(3) एक-दूसरे के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करना,

(4) समानता एव पारस्परिक लाभ, तथा

(5) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'पचशील' के इन सिद्धान्तो का प्रतिपादन सर्वप्रथम 29 अप्रैल, 1954 को तिव्वत के सम्बन्ध मे भारत और चीन के बीच हुए एक समझौते मे किया गया था। 28 जून, 1954 को चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई तथा भारत के प्रधानमन्त्री नेहरू ने 'पंचशील' मे अपने विश्वास को दोहराया। एशिया के प्रायः सभी देशो ने 'पंचशील' के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। अप्रैल 1955 मे 'वाण्डुंग सम्मेलन' मे इन पंचशील के सिद्धान्तो को पुनः विस्तृत रूप दिया गया। 'वाण्डुग सम्मेलन' के वाद विश्व के अधिसख्य राष्ट्रो ने 'पचशील' सिद्धान्त को मान्यता दी और उसमे आस्था प्रकट की। पचशील के सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धो के लिए नि.सन्देह आदर्श ,भूमिका का निर्माण करते हैं। 'पंचशील' के सिद्धान्त आपसी विश्वासों के सिद्धान्त हैं। प. नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि "यदि इन सिद्धान्तो को सभी देश मान्यता दे दें तो आधुनिक विश्व की अनेक समस्याओ का निदान मिल जायेगा। 'पंचशील' के सिद्धान्त आदर्श है जिन्हे यथार्थ जीवन मे उतारा जाना चाहिए। इनसे हमे नैतिक शक्ति मिलती है और नैतिकता के वल पर हम न्याय और आक्रमण का प्रतिकार कर सकते हैं।" आलोचको का कहना है कि भारत-चीन सम्वन्वो की पृष्ठभूमि मे 'पंचशील' एक अत्यन्त असफल सिद्धान्त साबित हुआ। इसके द्वारा भारत ने तिव्वत मे चीन की सर्वोत्तम सत्ता को स्वीकार करके तिव्वत की स्वायत्तता के अपहरण में चीन का समर्थन किया था। इसकी आलोचना करते हुए आचार्य कृपलानी ने कहा था कि "यह महान सिद्धान्त पापपूर्ण परिस्थितियो की उपज है, क्योकि यह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रूप से हमारे साथ सम्वन्ध एक प्राचीन राष्ट्र के विनाश पर हमारी स्वीकृति पाने के लिए प्रतिपादित किया गया था।"

7. साम्राज्यवाद और प्रजातीय विभेद का विरोध
(POLICY TO OPPOSE IMPERIALISM AND RACIALISM)

भारत साम्राज्यवाद के दुष्परिणामो का स्वय भुक्तभोगी रहा है, अतः उसके लिए साम्राज्यवाद का विरोध करना [illegible] क है। प्रजातीय विभेद के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण दूषित होता है [illegible] उत्पन्न होते हैं। अतएव, भारत इन दोनों का

विरोध करता रहा। यही कारण था कि विश्व मे जहाँ कही भी राष्ट्रवादी आन्दोलन विदेशी दासता से मुक्ति पाने के लिए हुए, भारत ने खुलकर उसका विरोध किया। इण्डोनेशिया पर जब हॉलैण्ड ने द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पुनः अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयास किया तो भारत ने इसका घोर विरोध किया। इसके लिए उसने एशियाई देशो को सगठित किया और सयुक्त राष्ट्र सघ मे इस मामले को पेश किया। 1956 मे इग्लैण्ड और फ्रांस ने मिलकर मिस्र पर आक्रमण कर दिया। वे स्वेज नहर को हड़प लेना चाहते थे। भारत ने उस नवीन साम्राज्यवाद का घोर विरोध किया। इसी प्रकार भारत ने लीबिया, ट्यूनीशिया, मोरक्को, मलाया, अल्जीरिया आदि देशों के स्वतन्त्रता सग्राम का पूरा समर्थन किया। भारत सयुक्त राष्ट्र सघ मे उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाता रहा। दक्षिणी अफ्रीका और रोडेशिया मे प्रजातीय विभेद आज भी अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। वहाँ की गोरी सरकार काले चमड़े वाले लोगो पर प्रजाति के आधार पर घोर अत्याचार करती है। भारत इस नीति का जोरदार विरोध करता रहा है। सयुक्त राष्ट्र संघ मे भारत बराबर यह प्रश्न उठाता रहा है। भारत प्रजाति विभेद का इतना घोर विरोधी है कि उसने दक्षिणी अफ्रीका के साथ अपना दौत्य सम्बन्ध भी विच्छेद कर लिया।

8. संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन करने वाली नीति
(POLICY TO SUPPORT THE UNITED NATIONS)

भारत सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना करने वाला एक संस्थापक सदस्य है। भारत सयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व-शान्ति स्थापित करने वाला एक सहारा मानता है। भारत के लिए संघ राष्ट्रीय हितो की पूर्ति का एक प्रमुख प्रभावशाली एवं न्यायोचित मार्ग है। भारत ने सयुक्त राष्ट्र सघ के विभिन्न अगो और विशेष अभिकरणो मे सक्रिय रूप से भाग लेकर महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। भारत ने आज तक कभी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन नहीं किया और संयुक्त राष्ट्र सघ के आदेशों का यथोचित सम्मान किया है। कोरिया और हिन्द चीन मे शान्ति स्थापित करने के लिए भारत ने संघ की सहायता की। भारत ने संयुक्त राष्ट्र के आह्वान पर कागो मे शान्ति स्थापना हेतु अपनी सेवाएँ भेजी जिन्होंने उस देश की एकता को सुरक्षित किया। सयुक्त राष्ट्र सघ को भारत ने जो सहयोग दिया उसी के कारण 1984 मे वह चौथी बार सुरक्षा परिषद् का अस्थायी सदस्य चुना गया। 1968 मे 'अंकटाड' का द्वितीय सम्मेलन बुलाकर भारत ने सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित की। भारत के बी. एन. राव ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे न्यायाधीश के रूप मे काम किया तथा डॉ. नगेन्द्रसिह मुख्य न्यायाधीश के रूप मे पदासीन रहे। वर्तमान मे श्री आर. एस पाठक न्यायाधीश के रूप मे कार्यरत हैं। डॉ. राधाकृष्णन यूनेस्को के सर्वोच्च पद पर रह चुके है। भारतीय प्रतिनिधि श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित साधारण सभा का सभापतित्व कर चुकी हैं। 1987 मे भारत के विदेश राज्यमन्त्री नटवरसिंह सयुक्त राष्ट्र निरस्त्रीकरण एव विकास सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये। पण्डित नेहरू ने तो स्पष्ट स्वीकार किया था कि "हम सयुक्त राष्ट्र संघ के बिना आधुनिक विश्व की कल्पना नही कर सकते।" सक्षेप मे, सयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन करने मे भारत ने जितना सहयोग किया है, उतना दुनिया के बहुत कम देशो ने किया है। आज भी सयुक्त राष्ट्र संघ मे भारत का अटूट विश्वास है और उसकी यह नीति है कि दुनिया के अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को सुलझाने मे विश्व सस्था का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय।

भारतीय विदेश नीति : विकास के चरण
(INDIAN FOREIGN POLICY THE STAGE OF DEVELOPMENT)

भारतीय विदेश नीति के विकास को अग्रलिखित चरणो मे विभाजित किया जा सकता है—

(1) भारतीय विदेश नीति—'नेहरू युग' (1947-1964)
(2) भारतीय विदेश नीति—'शास्त्री युग' (1964–जनवरी 1966)
(3) भारतीय विदेश नीति—'इन्दिरा युग' (1966-1977)
(4) भारतीय विदेश नीति—'जनता सरकार का युग' (1977-1979)
(5) भारतीय विदेश नीति—'इन्दिरा युग' (1980 से 1984)
(6) भारतीय विदेश नीति—'राजीव युग' (अक्टूबर 1984 से नवम्बर 1989 तक)
(7) भारतीय विदेश नीति—'वी. पी. सिंह युग' (दिसम्बर 1989 से)

भारतीय विदेश नीति : 'नेहरू युग'
(INDIAN FOREIGN POLICY : THE NEHRU ERA)

भारतीय विदेश नीति के अध्येताओ ने श्री नेहरू की विदेश-नीति को चार दृष्टियो से देखा है—(i) एक दृष्टि तो डॉक्टर अप्पादोराय तथा एम एस. राजन जैसे विद्वानो की है जो भारतीय विदेश नीति मे राष्ट्रीय हितो की रक्षार्थ नैतिक शब्दावली का प्रयोग देखते है। आदर्श-वाद और नैतिक उपदेशो से भारतीय विदेश नीति मे सिद्धान्त ऐसे लगते है जैसे कोई व्यक्ति नैतिक तर्क देकर मुनाफा कमाने की कोशिश कर रहा हो। (ii) दूसरी दृष्टि भारतीय विदेश नीति को एक प्रभाव की राजनीति के रूप मे देखती है। इस मत मे भारत की विदेश नीति सत्ता के बिना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव स्थापित करने का अभ्यास है। द्वि-पक्षीय होने के साथ-साथ यह भारत को एक ईमानदार मध्यस्थ के रूप मे प्रस्तुत करती है। (iii) तीसरी दृष्टि जिसके प्रस्तुतकर्ता श्री राणा रहे है, भारतीय विदेश नीति को ब्रिटिश विदेश नीति का एक रूपान्तर मात्र मानते हैं। (iv) डॉ. शान्तिस्वरूप वर्मा जैसे विद्वान कहते है कि श्री नेहरू का भारत कभी भी एक सन्तुष्ट शक्ति नही था और वे भारत को दक्षिण एशिया मे एक केन्द्रीय शक्ति के रूप में विकसित करना और देखना चाहते थे।[1]

श्री जवाहरलाल नेहरू के बहुमुखी और जटिल व्यक्तित्व का भारतीय विदेश नीति पर प्रभाव पड़ा है। श्री नेहरू ने भारत की विदेश नीति की न केवल नीव डाली अपितु 1964 तक उसका सफल सचालन भी किया। अन्तरिम सरकार के प्रधान के रूप में सितम्बर 1946 मे भाषण करते हुए उन्होंने स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का यत्न किया। नेहरू ने इस महत्त्वपूर्ण घोषणा मे कहा था कि अब भारत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो मे स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप मे, निजी नीति के साथ हिस्सा लेगा, किसी और देश के पिछलग्गू के रूप मे नही। भारत शक्ति-संघर्ष मे फँसने की इच्छा नही रखता था पर शक्ति-सघर्ष के यथार्थ के प्रति अन्धा नही था। 'नेहरू युग' मे भारतीय विदेश नीति के कतिपय महत्त्वपूर्ण पहलू इस प्रकार है :

1 **भारत और राष्ट्रमण्डल**—नेहरू ने विदेश नीति के क्षेत्र मे यह महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया कि भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहेगा। पं. नेहरू ने कहा कि "वर्तमान विश्व मे जबकि अनेक विध्वंसकारी शक्तियाँ सक्रिय है और हम प्रायः युद्ध के कगार पर खड़े हैं, मैं सोचता हूँ कि किसी समुदाय से सन्धि-विच्छेद करना अच्छी बात नही है। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत के और सम्पूर्ण विश्व के लिए लाभदायक है। इससे भारत को लक्ष्यों की प्राप्ति में सहयोग मिलेगा।" जिस समय नेहरू ने राष्ट्रमण्डल मे बने रहने का फैसला किया उस समय उनके सामने अन्य उद्देश्यो के साथ शायद एक उद्देश्य यह भी रहा होगा कि इस मंच के द्वारा भारत

---

1 डॉ. शान्तिस्वरूप, 'भारतीय विदेश नीति : एक नयी दिशा दृष्टि' *राज्यशास्त्र समीक्षा*, जुलाई 1975, पृ. 8-9।

नवोदित अफ्रीकी और एशियाई देशो का सरगना बन सकता है।[1] नेहरू यह जानते थे कि आर्थिक दृष्टि से भारत का अधिकाश व्यापार ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल के देशो पर निर्भर था। इस हालत मे एकाएक राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने मे कठिनाई थी। सैनिक दृष्टि से भी भारत पूर्णतया ब्रिटेन पर आश्रित था। अपनी विस्तृत समुद्रतटीय सीमा की रक्षा के लिए भारत ब्रिटेन की नौ सेना पर आश्रित था। भारत का पूरा सैनिक संगठन ब्रिटिश पद्धति पर आधारित था और सैनिक आयुधो के लिए वह ब्रिटेन का मोहताज था। दुर्गादास के अनुसार, "नेहरू राष्ट्रमण्डल मे इसलिए शामिल हुए थे क्योंकि उन्हे यह विश्वास था कि शान्ति की स्थापना के लिए शीत-युद्ध मे उलझी हुई दोनो महान् शक्तियो के बीच प्रतिरोधक का काम करने के लिए राष्ट्रमण्डल को एक शक्ति के रूप मे विकसित किया जा सकता था।"[2]

2. **असंलग्नता**—यद्यपि प. नेहरू ने यह कहा था कि असलग्नता को 'नेहरू नीति' नही कहा जा सकता तथापि माइकेल ब्रेचर जैसे विद्वान यह मानते है कि असलग्नता के सिद्धान्त का निर्माण और क्रियान्वयन यथार्थ मे नेहरू की बहुत बड़ी देन है। नेहरू ने ही विश्व को असलग्नता का सन्देश दिया है।[3] नेहरू ने भारत के लिए जिस विदेश नीति का प्रतिपादन किया उससे देश की प्रतिष्ठा मे अपार वृद्धि हुई। एशिया और अफ्रीका मे बहुत लोग नेहरू और उनकी सरकार को शोपित मानवता का प्रवक्ता मानते थे और राजनीतिक पराधीनता एवं उपनिवेशवाद के विरुद्ध जारी सघर्ष मे उनसे नैतिक और भौतिक समर्थन की अपेक्षा करते थे।

3 **महाशक्ति का सपना**—नेहरू भारतवर्ष को एक महान भविष्य अथवा महान नियति का राष्ट्र मानते थे। उन्हे विदित था कि एशिया के मानचित्र पर भारत जिस प्रकार अवस्थित है उसमे उसकी स्थिति, शक्ति एव प्रभाव क्षमता स्वयं-सिद्ध है। वह एक बहुत बड़ी राजनीतिक इकाई है। दक्षिण, पश्चिम और दक्षिण एशिया के देशो की स्थिति के प्रसग मे भारत की भूमिका इतनी केन्द्रीय है कि यदि वह स्वयं इसे न भी स्वीकार करे तो भी इस भूमिका के प्रति उदासीन नही रह सकता। उनका अनुमान था कि यदि भविष्य मे झांक कर देखा जाये और यदि कोई बड़ा सकट नही आता ह तो भारत, अमरीका, रूस और चीन के बाद स्पष्टत: चौथी महाशक्ति है। पं. नेहरू ने स्वय कहा कि "दुनिया चाहे हमारा सम्मान करे या हम से घृणा करे, हम दुनिया के नक्से से मिट नही सकते। हम चाहे या न चाहे हमारी एक निर्धारक एव निर्णायक भूमिका है और दक्षिण एशिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य मे नेतृत्व की यह भूमिका हमे निभानी ही होगी।"

4. **पंचशील**—नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे 'पचशील' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इस कारण उन्हे आदर्शवादी कहा जाता था। किन्तु वस्तुत. यह उनकी यथार्थवादी कूटनीतिक चाल थी। वे चीन को 'पचशील' सिद्धान्तो में उलझाये रखना चाहते थे ताकि कोई बड़ा संघर्ष टाला जा सके। तिब्बत के प्रश्न पर हमने जो कुछ भी किया उसे एक निरी मजबूरी कहा जा सकता है। हमारे सामने सभी विकल्प द्वार बन्द हो चुके थे। हिमालय का प्रांगण रण-नीति की दृष्टि से उपयुक्त नही था। ब्रिटेन ने एक समुद्री शक्ति होने के कारण कोई विशेप उत्साहप्रद समर्थन नही दिया। फिर देश के विकास की आन्तरिक प्रगति इतनी धीमी थी कि

---

1 एस. आर. महरोत्रा, 'नेहरू एण्ड दी कॉमनवेल्थ', बी. आर. नन्दा (सम्पादित), **इण्डियन फॉरेन पॉलिसीज—नेहरू ऐरा**, विकास, 1775, पृ. 40-41।

2 दुर्गादास, **भारत—कर्जन से नेहरू और उनके पश्चात्**, पृ. 365।

3 "It was he who provided a rationale for India's approach to International Politics since 1947. It was he who carried the philosophy of non-alignment to the world at large."
—*Breche*

कोई भी व्यवहार-कुशल प्रधानमन्त्री ऐसे आदर्शवादी निर्णय कैसे ले सकता था जिससे राष्ट्रीय हितो की उपेक्षा होती हो।

5. **भारत-चीन युद्ध**—जब भारत-चीन युद्ध शुरू हुआ तो देश के कई क्षेत्रो से इस वात की मॉंग होने लगी कि असलग्नता की नीति पूर्णतया असफल हो चुकी है और देश के हित मे इसका जल्द से जल्द परित्याग होना चाहिए। परन्तु 20 अक्टूबर, 1962 को रेडियो से राष्ट्र के नाम सन्देश देते हुए पं जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट कर दिया कि भारत अपनी असलग्नता की नीति का अनुकरण करता रहेगा। इसके वाद चीन तथा भारत का युद्ध जारी रहा तथा नेफा मे भारतीय सेना की पराजय हुई। युद्ध की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी और भारत की सुरक्षा अत्यधिक खतरे मे पड़ गयी। इस हालत मे भारत सरकार ने पश्चिमी राष्ट्रो से सैनिक सहायता के लिए अपील की। अमरीका और ब्रिटेन ने भारत को सहायता देने का निर्णय किया और इन देशो से वहुत वडी मात्रा मे शस्त्रास्त्र भारत पहुँचाये गये। नेहरू मानते थे कि असंलग्नता की नीति को छोडकर अमरीकी गुट मे शामिल हो जाने के फलस्वरूप भारत-चीन सीमा-संघर्ष शीत-युद्ध का एक अंग बन जाता। नेहरू ने व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए निर्णय लिया कि भारत अपनी रक्षा के लिए सभी मित्र राज्यो से सहायता लेगा, लेकिन असलग्नता की नीति का परित्याग नही करेगा।

6. **गोआ पर अधिकार**—पं. नेहरू के जीवन काल मे गोआ के प्रश्न पर भारत ने शक्ति का प्रयोग किया और पुर्तगाली अत्याचारो से गोआ को मुक्ति दिलायी।

नेहरू की विदेश नीति की आलोचना—अनेक विचारको का मत है कि हमारी विदेश नीति सामान्य रूप से सफल होते हुए भी कुछ अशो मे अपने उद्देश्यों को पूर्ण रूप से प्राप्त करने मे सफल नही हुई थी। नेहरू की विदेश नीति विश्व-व्यापी स्तर (Global Level) पर तो सफल हुई किन्तु प्रादेशिक स्तर (Regional Level) पर इतनी सफल नही हो पायी। भारत की विदेश नीति कोरिया, हिन्द-चीन और स्वेज के मामलो मे सफल हुई। विश्व मे शान्ति का अग्रदूत बना रहने वाला भारत अपने पडौसी पाकिस्तान और चीन के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध नही वनाये रख सका। 1962 मे चीन द्वारा भारत पर आक्रमण होने के समय यद्यपि विश्वव्यापी स्तर पर हमारी नीति सफल होने के कारण हमें दोनों गुटो के देशो—अमरीका, ब्रिटेन तथा रूस—से पूरी सहायता मिली किन्तु हमारी सीमा के साथ लगे देशो—पाकिस्तान, नेपाल, वर्मा, लका आदि—ने हमारा समर्थन नही किया, पश्चिमी तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया के सभी देश (मलाया के अतिरिक्त) मौन रहे। नेहरू की विदेश नीति का दूसरा दोप यह बताया जाता है कि उसने सभी आवश्यक परि-स्थितियों तथा सम्भावनाओ का ध्यान नही रखा और अनेक सम्भावित तथ्यो की उपेक्षा की। 1954 मे भारत ने चीन की विस्तारवादी प्रवृत्ति को भली-भाँति जानते हुए भी तिब्वत पर उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार की किन्तु इसके वदले मे अपने देश के हजारो मील लम्बे सीमान्त को स्पष्ट रूप से निर्धारित नही कराया और वह केवल पंचशील के सिद्धान्तों की घोषणा मात्र से सन्तुष्ट हो गया।

भारतीय विदेश नीति : 'शास्त्री-युग'
(INDIAN FOREIGN POLICY · SHASTRI ERA)

श्री नेहरू की मृत्यु के उपरान्त (27 मई, 1964) श्री लालवहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमन्त्री बने और जनवरी 1966 मे अपनी मृत्युपर्यन्त उन्होने भारत की विदेश नीति का वडी कुशलता से संचालन किया। श्री नेहरू के आदर्शवाद को दृष्टि मे रखते हुए शास्त्री ने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से यथार्थवादी नीतियाँ अपनायीं। शास्त्री के समय विदेश नीति की दृष्टि से मुख्य तथ्य इस प्रकार हैं :

1. **पड़ौसी देश के साथ मधुर व्यवहार**—शास्त्री ने विदेश नीति मे यह परिवर्तन किया

कि भारत को पड़ोसी देशों के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए। शास्त्री ने दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों पर विशेष ध्यान दिया। इससे पूर्व नेहरू महाशक्तियों पर ही ध्यान केन्द्रित किये हुए थे।

2. **भारत-पाक युद्ध, 1965**—1965 में भारत-पाक युद्ध हुआ इससे पूर्व दोनों देशों में कच्छ का समझौता हुआ था। शास्त्री के नेतृत्व में भारत ने खुलकर युद्ध में भाग लिया और पाकिस्तान को पराजित किया। जब पाकिस्तान ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर सैनिक कार्यवाही आरम्भ की, तो सैनिक विशेषज्ञों ने यह मत प्रकट किया कि स्थिति का यही तकाजा है कि विशाल पैमाने पर जवाबी आक्रमण किया जाये। शास्त्री ने बिना किसी हिचकिचाहट के विशेषज्ञों का तर्क स्वीकार कर लिया। इस युद्ध में पाकिस्तान की वायु और टैंक शक्ति तहस-नहस कर दी गयी थी जबकि भारत की क्षति अपेक्षाकृत बहुत कम हुई।

3. **ताशकन्द समझौता**—कश्मीर में हमारी सेना ने अत्यन्त सन्तोषजनक कार्यवाही की और युद्ध-विराम रेखा पर स्थित महत्त्वपूर्ण हाजीपीर 'पास' पर कब्जा कर लिया। संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप के कारण दोनों देशों में युद्ध-विराम की घोषणा हो गयी। रूस ने प्रस्ताव रखा कि शास्त्री तथा अयूब खाँ ताशकन्द में मिलें। कोसीगिन चाहते थे कि भारत और पाकिस्तान युद्ध त्याग दें और कश्मीर समस्या तथा अन्य मसलों पर शान्तिपूर्ण ढंग से बात करके समझौते कर लें। 10 जनवरी, 1966 को कोसीजिन के प्रयास से भारत और पाकिस्तान में ताशकन्द में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। समझौते की शर्तों के अनुसार दोनों देशों ने युद्ध-पूर्व की सीमा-रेखा पर लौटना स्वीकार किया तथा भविष्य में अपने सम्बन्धों को मित्रता और सहयोग के आधार पर विकसित करने का निश्चय किया। वास्तव में, देखा जाये तो 'ताशकन्द समझौते' से भारत का काफी नुकसान हुआ। उसे न सिर्फ उन प्रदेशों को छोड़ना पड़ा जो युद्ध के मैदान में उसने जीते थे बल्कि उन कश्मीरी प्रदेशों को भी छोड़ना पड़ा जिन पर वैधानिक दृष्टि से उसका अधिकार था। लेकिन पाकिस्तान के साथ शान्ति तथा मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के विकास के लिए ही यह समझौता स्वीकार किया।

भारतीय विदेश नीति : 'इन्दिरा युग' (1966-77)
(INDIAN FOREIGN POLICY—INDIRA ERA)

विदेश नीति की दृष्टि से श्रीमती गांधी के कार्यकाल को दो भागों में बाँटा जा सकता है—पहला कार्यकाल 1966 से मार्च 1977 तक तथा दूसरा कार्यकाल जनवरी 1980 से 1984 तक। अपने प्रथम कार्यकाल में श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में भारत ने नेहरू द्वारा प्रतिपादित बुनियादी नीति का पालन करते हुए बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार आचरण करने की क्षमता का परिचय दिया। पिछले दस वर्षों (1966-1976) में भारत ने न केवल विश्व शान्ति बनाये रखनी चाही बल्कि एशिया और अफ्रीका में ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने का भी यत्न किया जिससे आर्थिक प्रगति हो सके और सब देशों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा मिल सके। श्रीमती गांधी की विदेश नीति की प्रमुख उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं :

1. **पड़ौसी**—एशिया में अपनी बड़ी महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण नेताओं के एक-दूसरे देश के दौरों के द्वारा पारस्परिक हितों के मामलों पर विचार-विमर्श करके और द्वि-पक्षीय बातचीत द्वारा आपसी समस्याओं को सुलझाकर अफगानिस्तान, नेपाल, श्रीलंका और बर्मा आदि अपने अत्यन्त निकट के पड़ौसी देशों के साथ घनिष्ठ और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। पारस्परिकता और आपसी लाभ के सिद्धान्त के अनुसार अफगानिस्तान और नेपाल के साथ घनिष्ठ आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध बने हैं। मार्च 1967 में बर्मा समझौता किया गया और जून 1974 में श्रीलंका के साथ पैक जलडमरूमध्य के पानी विभाजन के बारे में एक समझौता हुआ जिससे

कच्चा-टिवू का मसला भी शान्तिमय ढग से सुलझ गया। ये दोनो समझौते द्वि-पक्षीय बातचीत के आधार पर पड़ोसियो के साथ उलझे हुए मसलो को सुलझाने की नीति के परिचायक हैं। विदेश नीति की दृष्टि से श्रीमती गाँधी ने दो दृष्टियो से विशेष योगदान दिया : पहला तो यह कि भारत के विश्व सम्बन्धी दृष्टिकोण मे उपमहाद्वीप के मसले को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया और दूसरा यह कि जैसी स्थिति हो, उसके अनुसार सहयोग की नीतियो द्वारा उपमहाद्वीप मे सम्बन्धो का विकास किया जाये।

2. उपमहाद्वीप—जहाँ तक हमारे निकटतम पड़ोसी पाकिस्तान के साथ हमारे सम्बन्धो का सवाल है, इस दशक के आरम्भ मे परिस्थितियाँ काफी अच्छी थी। उसी समय ताशकन्द की जो घोषणा हुई थी उसने दोनो देशो की समस्याओ को अच्छी तरह समझने का रास्ता खोला था। यदि इसे अच्छी भावना के साथ अमल मे लाया जाता तो इससे भविष्य मे भाई-चारे और शान्ति की आशा थी। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, वह हमेशा की तरह पाकिस्तान के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाना चाहता था। लेकिन पाकिस्तान की मनोवृत्ति और रवैये मे विकृति पैदा हो गयी और फिर बाद की वे सब घटनाएँ घटीं जिनका दिसम्बर 1971 के सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण सैनिक युद्ध मे अन्त हुआ। इस युद्ध मे भारत की सशस्त्र सेनाओ को गौरवपूर्ण विजय प्राप्त हुई। इस सैनिक विजय ने भी भारत को विचलित नही किया और भारत ने स्वय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी और 1971 के संघर्ष के दौरान विजित क्षेत्रो से अपनी सेनाएँ लौटाने को तैयार हो गया। जुलाई 1972 मे शिमला समझौते पर हस्ताक्षर, शान्ति के प्रति भारत की प्रतिबद्धता का एक दूसरा प्रमाण था। अप्रैल 1974 मे दोनो देशों ने 1971 के युद्ध से पहले एक-दूसरे देश के बन्दी बनाकर रखे हुए सभी नागरिको को वापस भेज देना स्वीकार। सितम्बर 1974 मे डाक और तार से संचार सम्बन्ध स्थापित करने के बारे मे एक समझौता हुआ। इसके बाद दिसम्बर 1974 मे एक व्यापार समझौता हुआ और जनवरी 1975 मे जहाजरानी समझौता हुआ।

बगला देश के साथ घनिष्ठ राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। मार्च 1972 मे उस समय की ढाका सरकार के साथ, शान्ति मैत्री और सहयोग की एक 25-वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये। बंगला देश मे बाद की परिवर्तित परिस्थितियो मे भी नयी सरकार के प्रतिनिधियो से तुरन्त बाताचीत आरम्भ की गयी।

3. एशियाई सम्बन्ध—भारत मे समानता और आपसी हित के आधार पर दक्षिण-पूर्वी एशिया और पश्चिमी एशिया के देशो के साथ मैत्री और सहयोग का हाथ बढाया। उसने आसियन के तत्त्वावधान मे इस क्षेत्र के देशो के बीच प्रादेशिक सहयोग का स्वागत किया और दक्षिण-पूर्वी एशिया को शान्ति, स्वाधीनता और तटस्थता के एक क्षेत्र के रूप मे विकसित करने की उनकी भावना का समर्थन किया। अगस्त 1974 मे इण्डोनेशिया के साथ महाद्वीपीय समुद्री सीमा के पुन-र्निर्धारण के सम्बन्ध मे एक समझौता हुआ। इण्डोचायना के सम्बन्ध मे भारत ने हमेशा इस मत का समर्थन किया कि वहाँ की समस्या का कोई सैनिक समाधान नही हो सकता। वियतनाम और कम्बोडिया मे राष्ट्रीय शक्तियो की विजय से यह सही सिद्ध हो गया कि इस सम्बन्ध मे भारत का रवैया ठीक था। पश्चिमी एशिया मे भारत ने लगातार अरब-इजराइली संघर्ष मे अरबो के पक्ष का समर्थन किया। पैट्रोल के मूल्य मे वृद्धि हो जाने से कारण पैदा होने वाले ऊर्जा संकट के बाद अरब देशो के साथ आर्थिक सम्बन्धो को और अधिक महत्त्व दिया गया। दिसम्बर 1975 मे भारत-कुवैत सन्धि हुई और 1974 मे ईरान के साथ घनिष्ठ आर्थिक सहयोग हेतु एक कमीशन स्थापित किया गया।

4. अफ्रीका—भारत की जाति-भेद और उपनिवेशवाद-विरोधी नीति और अफ्रीकी देशो के स्वाधीनता आन्दोलन के समर्थन के कारण उसका अफ्रीकी देशो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित

हुआ। भारत ने कई अफ्रीकी देशो के साथ तकनीकी, आर्थिक और व्यापारिक करार भी किये। पुर्तगाल की नयी सरकार द्वारा गोवा, दमन, दीव और नगर हवेली को भारत का अंग स्वीकार कर लेने से दोनो देशो के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया।

5. **गुट-निरपेक्षता**—दस वर्ष की इस अवधि मे गुट-निरपेक्षता के सिद्धान्तो को और अधिक व्यापक रूप मे स्वीकार किया गया। जबकि अक्टूबर 1964 मे हुए दूसरे गुट-निरपेक्ष सम्मेलनो मे 47 देशो और 10 पर्यवेक्षको मे भाग लिया, वहाँ 1970 मे लुसाका मे हुए तीसरे सम्मेलन मे 54 देशो और 11 पर्यवेक्षको ने भाग लिया और दिसम्बर 1973 मे अल्जीयर्स मे हुए शिखर सम्मेलन मे 75 देशो और 24 पर्यवेक्षको ने भाग लिया। इन सम्मेलनो मे भारत ने यह प्रयास किया कि इन गुट-निरपेक्ष देशो की एकता और पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया जाये।

6. **रूस और पूर्वी यूरोप**—भारत और सोवियत सघ के सम्बन्धो की विशेष बात यह है कि 1971 मे सोवियत सघ और भारत के बीच शान्ति, मैत्री और सहयोग के बारे मे एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये। इस सन्धि से भारतीय उपमहाद्वीप में स्थिरता और शान्ति स्थापित होने मे बडी मदद मिली। इससे भारत के विरुद्ध किसी आक्रमण के खतरे की अवस्था मे सोवियत सघ की सहायता का आश्वासन भी प्राप्त हुआ। दिसम्बर 1970 मे भारत और रूस के बीच एक पांच वर्षीय व्यापार समझौता हो जाने से भारतीय अर्थ-व्यवस्था के बुनियादी क्षेत्रों में दोनो देशो के बीच सहयोग की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त, भारत तथा रूस के बीच व्यापार की मात्रा 1973 मे 412 करोड रु. से बढकर 1974 मे 750 करोड रु हो गयी। सोवियत सघ के साथ घनिष्ठ सम्बन्धो के अलावा पूर्वी यूरोप के देशो के साथ भारत के सहयोग में भी महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। चैकोस्लोवाकिया के साथ 196० मे, बलगारिया और हगरी के साथ 1973 में, रूमानिया तथा जर्मन प्रजातन्त्रीय गणराज्य के साथ 1974 मे एक सयुक्त कमीशन की स्थापना से यह स्पष्ट हो गया कि भारत इन देशो के साथ घनिष्ठ सहयोग विकसित करने को कितना महत्त्व देता है। दिसम्बर 1975 मे भारत तथा जर्मन प्रजातन्त्रीय गणराज्य के बीच हुए कौंसली सम्मेलन का उद्देश्य दोनो देशो के बीच वाणिज्य सम्बन्धी सम्बन्धो को नियमित करना है।

7. **अमरीका और पश्चिम**—भारत ने अमरीका के साथ कई क्षेत्रो मे सहयोग किया और अमरीका ने भारत को आर्थिक सहायता दी। अक्टूबर 1974 मे डॉ. किसिंजर की भारत-यात्रा के दौरान किये गये एक समझौते मे पारस्परिक सद्भावना के आधार पर दोनो देशो के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की भावना परिलक्षित हुई थी और आपसी सहयोग के लिए एक सयुक्त कमीशन स्थापित किया गया। 1975 के आरम्भ मे अमरीकी सरकार द्वारा पाकिस्तान पर लगे दस वर्ष पुराने शस्त्रास्त्र न देने के प्रतिबन्ध को हटा लेने के निर्णय से भारत मे चिन्ता पैदा हुई। भारत के विदेश मन्त्री ने अमरीका की यात्रा की और आपसी मतभेदो को दूर करने का प्रयास किया गया।

ब्रिटेन, फ्रांस और संघीय जर्मन गणतन्त्र के साथ राजनीतिक स्तरो पर वार्षिक द्वि-पक्षीय बातचीत के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर विचार-विनिमय से भारत और इन देशो के बीच सद्भावना बढी है। भारत की ब्रिटेन के साथ यह सद्भावना इसीलिए और भी अधिक बढ़ी है कि यह दोनो राष्ट्रमण्डल के सदस्य हैं। पश्चिमी यूरोप के देशो ने भी आर्थिक विकास के लिए सहायता देकर भारत की मदद की है।

8. **चीन**—भारत निरन्तर इसी पर अमल कर रहा है कि चीन के साथ सम्बन्ध अच्छे बनाये जायें। 1976 मे पेकिंग मे भारतीय राजदूत की नियुक्ति भारत और चीन के सम्बन्धो की

दुनिया मे एक नयी शुरूआत थी। चीन में राजदूत की नियुक्ति का फैसला भारत सरकार की विदेश नीति के घोषित सिद्धान्तो के आदर्शो के अनुरूप था।

9. **हिन्द महासागर क्षेत्र**—वड़े राष्ट्रो मे जिस प्रकार सद्भाव वढ रहा है उसी प्रकार विश्व के विभिन्न हिस्सो में बडे राष्ट्रो मे प्रतिस्पर्द्धा और अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र वढाने के यत्न किये जा रहे हैं। इस सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण वात यह है कि नौसैनिक गतिविधियो के परिणामस्वरूप हिन्द महासागर क्षेत्र मे इन बड़े राष्ट्रो की प्रतिस्पर्द्धा वढ़ रही है। हिन्द महासागर मे जो स्थिति वन रही है उसको देखते हुए अपने लम्वे समुद्री तट के कारण भारत को अपनी सुरक्षा के वारे मे चिन्तित होना स्वाभाविक है। भारत ने लगातार माँग की कि हिन्द महासागर क्षेत्र को वड़े राष्ट्रो की प्रतिस्पर्द्धा से मुक्त रखना चाहिए, उसे विदेशी अड्डो और परमाणु अस्त्रो से अछूता रखना चाहिए। इसलिए सयुक्त राष्ट्र महासभा मे सभी देशो द्वारा भारत की इस इच्छा का समर्थन और स्वागत किया गया।

10. **आर्थिक सहयोग पर वल**—इस दशक मे भारत की विदेश नीति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू—आर्थिक सहयोग पर ज्यादा-से-ज्यादा वल देना, विभिन्न देशों के साथ आर्थिक सहयोग के लिए स्थापित सयुक्त कमीशन, भारतीय तकनीकी और आर्थिक सहयोग कार्यक्रमो का विकास, खासतौर पर एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के विकासशील देशो के लिए तथा प्रादेशिक अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर आर्थिक सहयोग का समर्थन—इन सव वातो से यह अच्छी तरह पता चलता है कि भारतीय विदेश नीति मे आर्थिक विकास और आर्थिक सहयोग को कितना महत्त्व दिया गया है। विभिन्न गुट-निरपेक्ष सम्मेलनो में पारित प्रस्तावो मे, अप्रैल-मई 1975 मे हुई राष्ट्रमण्डलीय सरकारों के अध्यक्षो की अन्तिम वैठक मे, स्वीकृत विज्ञप्ति मे, 'अकटाड' की वैठक मे, संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक समस्याओ पर होने वाले विशेष विचार-विमर्श मे, खासतौर पर कच्चा माल और विकास के बारे में संयुक्त राष्ट्र महासभा मे हुए विचार-विमर्श मे इस बात पर और अधिक वल दिया गया।

श्रीमती गाँधी के प्रथम कार्य-काल में भारतीय विदेश नीति की विशेषताएँ

1. **लचीलापन**—भारत की विदेशी नीति लचीली रही है। गुट-निरपेक्षता हमारे लिए न केवल साध्य है अपितु साधन भी है, न केवल सिद्धान्त मात्र हे अपितु नीति भी है। 1971 मे भारत-रूस सन्धि वर्तमान विदेश नीति के लचीले होने का सुन्दर उदाहरण है। गुट-निरपेक्ष होते हुए भी देश की सुरक्षा के लिए यदि किसी बडी शक्ति से मित्रता की जाये तो उससे गुट-निरपेक्षता टूट नही जाती।

2 **आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय**—इन्दिराजी के शासनकाल मे भारत ने जिस विदेश नीति का पालन किया उसमें आदर्शवाद के साथ-साथ गम्भीर यथार्थ का उपयुक्त पुट रहा है। जैसा कि श्रीमती गाँधी ने कहा था कि कुछ अप्रत्यक्ष तत्त्व हमारी विदेशी नीति मे अन्तर्निहित हैं। ये हैं—'अन्तर्राष्ट्रीय मामलो और घटनाओ के गहरे-पैने और धीरे यथार्थवादी विश्लेषण के आधार पर विश्वास, साहस और राष्ट्रीय गौरव।' श्रीमती गाँधी के अनुसार, उनकी नीति का अन्तर्निहित दर्शन है 'मौजूदा दोस्तियो को मजबूत करना, उदासीनता को मैत्री मे वदलना और जहाँ-कही दुश्मनी हो उसको कम करना।' नेहरू के नेतृत्व मे भारत ने 1963 की 'आणविक परीक्षण वन्द सन्धि' पर हस्ताक्षर कर दिये जवकि यथार्थवादी भूमि पर खड़े होकर भारत ने 1968 की 'अणु प्रसार निरोध सन्धि' पर हस्ताक्षर करने से साफ इन्कार कर दिया।[1]

---

[1] एम. एस. राजन, 'इण्डिया इन वर्ल्ड पॉलिटिक्स ईन दी पोस्ट-नेहरू ऐरा', के. पी. मिश्रा (सम्पादित), **स्टडीज इन फॉरेन पॉलिसी,** विकास, नयी दिल्ली, 1969।

3 **विदेश नीति का राष्ट्रीय शक्ति से तालमेल**—दुर्बल देशो की कूटनीति सफल नही होती। ऐसा कहा जाता है कि 'शक्ति-रहित कूटनीति बिना बाजे के संगीत के तुल्य है।' भारत ने श्रीमती गाँधी के नेतृत्व मे इस तथ्य को महसूस किया और इसी कारण सफल आणविक परीक्षण करके भारत की गणना आणविक राष्ट्रो मे होने लग गयी है। राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रीय शक्ति मे यह अभूतपूर्व वृद्धि है।

4. **आर्थिक सहयोग पर बल**—भारत इस समय आर्थिक सहयोग और आदान-प्रदान पर अधिक ध्यान दे रहा है। इस काल मे अनेक व्यापारिक समझौते किये गये। इसी काल मे भारत का श्रीलंका और अल्जीरिया के साथ व्यापारिक समझौता हुआ।

5. **छोटे देशों के साथ मधुर सम्बन्ध**—नेहरू के शासन काल मे भारत ने वाशिंगटन, मास्को और पेकिंग की ही तरफ अधिक ध्यान दिया किन्तु इस काल मे एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के देशो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भारत विशेष ध्यान देने लगा।

6. **विशेषज्ञो का महत्त्व**—पूर्व की अपेक्षा इस समय विदेश नीति के निर्माण मे विशेषज्ञो की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण थी। श्रीमती गाँधी ने विदेश-विभाग मे नीति निर्माण हेतु, 'नीति नियोजन समिति' को विशिष्ट महत्त्व दिया। इसके चेयरमैन डी. पी. धर, पार्थसारथी आदि विख्यात कूटनीतिज्ञ रह चुके हैं।

सक्षेप मे, विदेश नीति के क्षेत्र मे 'भारत-रूस मैत्री सन्धि', 'शिमला समझौता' और 'परमाणु विस्फोट' श्रीमती गाँधी के जीवन के गौरवशाली क्षण कहे जा सकते हैं। 'भारत-रूस मैत्री सन्धि' ने न केवल भारत और रूस के सम्बन्धो को, जो कि पहले से भी अच्छे थे, और भी सुदृढ किया बल्कि दोनो देशो की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को भी बढ़ाया। इस सन्धि के तुरन्त बाद भारत की सीमाओ पर दबाव बढ़ता गया, फलस्वरूप भारत और पाकिस्तान के बीच एक निर्णायक युद्ध हुआ। युद्ध के परिणामस्वरूप ससार के नक्शे पर एक नया देश उभरकर आया। इस देश का नाम था 'बगला देश' जैसा कि एक संसद सदस्य ने उन दिनो कहा था, "न केवल इतिहास बल्कि भूगोल बदल गया।" पिछली कई शताब्दियो मे भारत को इतना गौरव, इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त नही हुई थी जितनी कि बंगला देश की आजादी के बाद प्राप्त हुई। इसके बाद 'शिमला समझौते' द्वारा भारत और पाकिस्तान के बीच बहुत-सी समस्याओ का निबटारा हुआ। यदि आज भारत और पाकिस्तान के बीच पहले से कम तनाव है, तो इसका श्रेय 'शिमला समझौते' को है। 'शिमला समझौता' ने भारत के दृष्टिकोण को प्रभावित किया कि भारत अपने पडोसियो के साथ अच्छे सम्बन्ध रखना चाहता है।

जनता सरकार एवं भारतीय विदेशी नीति : कितनी निरन्तरता कैसा परिवर्तन
(JANTA PARTY GOVERNMENT AND INDIA'S FOREIGN POLICY : CONTINUITY AND CHANGE)

मार्च 1977 मे आयोजित भारतीय लोकसभा के आम चुनाव में 30 वर्षों जितने लम्बे समय के बाद केन्द्रीय स्तर पर सत्ताधारी दल मे परिवर्तन हुआ था। इसमे विदेश नीति प्रति-स्पर्द्धी कांग्रेस एव जनता पार्टी के बीच विवाद का मुख्य विषय नही रही। फिर भी जनता पार्टी मे ऐसे कई नेता थे, जिन्होने पहले कांग्रेसी सरकारो की विदेश नीति पर आलोचनात्मक रुख अपनाया था। यही नही, स्वय जनता पार्टी के चुनाव घोषणा-पत्र मे 'विशुद्ध गुट-निरपेक्षता' तथा 'किसी महाशक्ति की ओर झुकाव को सही करने' जैसी कांग्रेस से भिन्न बातें कही गयी। इस कारण अनेक भारतीय एवं विदेशी समीक्षको द्वारा जनता सरकार के अधीन भावी भारतीय विदेश नीति के बारे मे अटकलें लगाने का आधार बिल्कुल अस्वाभाविक या गलत नही था। कुछ लोगो के मतानुसार जनता सरकार के अधीन देश की विदेश नीति मे मूलभूत परिवर्तन हुए। दूसरो के

अभिमत मे जनता तथा विगत कांग्रेसी सरकारो द्वारा अपनायी गयी विदेश नीति के स्वरूप मे निरन्तरता है कोई मूलभूत अन्तर नही।

मूलभूत परिवर्तन क्यों नहीं हुआ—जनता सरकार के अधीन देश की विदेश नीति मे मूलभूत परिवर्तन न होने के अनेक कारण हैं :

हमारे देश की विदेश नीति का मुख्य आधार गुट-निरपेक्ष नीति का पालन करना तथा रंगभेद, जातिभेद, उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का विरोध करना रहा है। इसका चरम लक्ष्य विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा के साथ ही देश की सीमाओ की सुरक्षा तथा आन्तरिक आर्थिक विकास है। भारतीय विदेश नीति की रूपरेखा तैयार करते समय उसमे इन राष्ट्रीय हितो का समावेश स्वतन्त्रता सग्राम मे अग्रणी नेताओ द्वारा प. नेहरू के नेतृत्व मे सुदृढ़ सैद्धान्तिक आधार पर किया गया। इसके उत्तराधिकारी शासक या दल द्वारा उसमे मूलभूत परिवर्तन करना अनावश्यक ही था। श्री शास्त्री, श्रीमती गाँधी तथा जनता सरकार इसके अपवाद नहीं रहे।

परन्तु इसका यह अर्थ नही कि भारतीय विदेश नीति जड़ रही है। राष्ट्रीय, क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो मे परिवर्तन आने के कारण श्री शास्त्री तथा श्रीमती गाँधी के युग मे किन्ही देशो के प्रति विशेप सहानुभूति का रुख पाया गया। उदाहरणार्थ, 1971 मे भारत ने सोवियत संघ से मैत्री एवं सहयोग सन्धि की, जो वदलते सन्दर्भ की आवश्यकता थी। मार्च 1977 मे जनता सरकार वनने के वाद देश की विदेश नीति मे कोई मूलभूत परिवर्तन नही करने का कारण क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समाज का न्यूनाधिक वही स्वरूप रहना है।

इसका एक और कारण जनता पार्टी की संरचना है। इसमे विलीन पाँच घटको मे से दो वटक—संगठन काग्रेस और कांग्रेस फार डेमोक्रेसी—के नेताओ ने विगत कांग्रेसी नेहरू, शास्त्री एवं श्रीमती गाँधी की सरकारो की विदेश नीति का पूर्ण समर्थन किया था, क्योकि वे पहले काग्रेस मे ही थे। तीसरे वटक, भारतीय लोकदल ने देश की विदेश नीति के वारे मे कभी ठोस कार्यक्रम रखा ही नही। समाजवादी दल ने स्वर्गीय डॉ. राम मनोहर लोहिया के समय भारत के वैदेशिक मामलों मे विशेष रुचि दिखायी थी किन्तु उनके निधन के पश्चात् दल की शक्ति एवं प्रभाव मे कमी आ गयी तथा उसके नेताओ ने विदेश नीति मे अधिक रुचि नही ली। केवल जनसघ ही ऐसा दल था जिसने राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे निरन्तर तथा सन्तुलित रूप से ध्यान दिया किन्तु उसने भारत द्वारा गुट-निरपेक्ष नीति अपनाने तथा जातिभेद, रगभेद, उपनिवेशवाद नव-उपनिवेशवाद एव साम्राज्यवाद का विरोध करने के सम्वन्ध मे कभी सैद्धान्तिक मतभेद प्रकट नही किया। उसका मुख्य विरोध चीन एव पाकिस्तान द्वारा हडपी गयी भारतीय भूमि के वारे मे विगत सरकारो की ढुलमुल नीति, इजराइल को यथोचित कूटनीतिक मान्यता न देने तथा अरव देशो को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने से सम्वन्धित था। श्रीमती गाँधी के काल मे उसने देशो को सोवियत सघ की ओर झुकाने का आरोप लगाया। मार्च 1977 के आम चुनावो के पूर्व जनता पार्टी के गठन में जनसघ ने विलीन होने के साथ भारत के वैदेशिक मामलो मे ही नही, अपितु घरेलू नीति के वारे मे भी अपना दृष्टिकोण वदला था। राष्ट्रीय सन्दर्भ मे उसने गाँधीवादी समाज की परिकल्पना की वात जनता पार्टी के चुनाव घोषणा-पत्र को अंगीकार कर मान ली थी।

अमरीका जैसे दो-दलीय प्रजातान्त्रिक देश मे सत्ताधारी दल के परिवर्तन के साथ वहाँ के विदेश मन्त्रालय की नौकरशाही मे भी परिवर्तन होता है। नया सत्ताधारी दल अपने लोगो को उसमे नियुक्त करता है तथा वे मिलकर राष्ट्रीय हितो को अपनी समझ के अनुसार परिभाषित करते हैं किन्तु भारत जैसे लोकतान्त्रिक देश की स्थिति इससे भिन्न है। यहाँ सत्ताधारी दल वदलने से नौकरशाही नही वदलती, केवल वदलाव उन पर राजनीतिक आदेश चलाने वाले राज-

नीतिज्ञों या नेतृत्व प्रदान करने वालों का होता है। इस तरह जनता पार्टी के राज में आने के बाद विदेश नीति सलाहकार तो वही रहे। इस कारण भी मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ।

कैसे परिवर्तन ? कितनी निरन्तरता ?—जनता सरकार के प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने अपनी पहली प्रेस कान्फ्रेंस मे विशुद्ध गुट-निरपेक्ष नीति अपनाने, भारत सोवियत मैत्री सन्धि को कायम रखने, पड़ौसी देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने, अरब देशों को परम्परागत समर्थन जारी रखने, रंगभेद, जातिभेद, उपनिवेशवाद, नव उप-निवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का विरोध करने की बातें कही।

जब प्रधानमन्त्री श्री देसाई ने अक्टूबर 1977 मे रूस की यात्रा की तो उसके बाद संयुक्त घोषणा मे दोनो देशो मे 'भिन्न राजनीतिक एवं आर्थिक तन्त्र होने के उपरान्त भी मित्रता' जैसे तथ्य का समावेश किया गया। ऐसी खरी एवं सपाट बातो का उल्लेख भारत-सोवियत सम्बन्धो मे पहले नहीं होता था। कम्पूचिया की हेग सामरिन सरकार की मान्यता के बारे में भारत ने स्पष्ट कहा कि नयी सरकार का स्थिति पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं है और जब तक वैसा नहीं हो जाता हम कम्पूचिया को मान्यता नहीं दे सकते। जनता सरकार के शासनकाल मे भारत तथा सोवियत संघ के बीच रुपया-रूबल विवाद का औचित्यपूर्ण निपटारा हुआ। श्रीमती गांधी के समय मे अमरीका तथा चीन को अधिक रुष्ट न करते हुए सोवियत संघ के साथ उष्ण उत्साह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किये गये, किन्तु जनता सरकार के समय मे घनिष्ठ सोवियत सम्बन्धो को स्थिर रखते हुए अमरीका तथा चीन से अच्छे सम्बन्ध बनाने का प्रयास किया जाने लगा।

मोरारजी देसाई ने अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर को यह बता दिया कि भारत केवल तारापुर और राजस्थान के परमाणु संयन्त्रो के लिए पूर्व सहमत निगरानी शर्तों को ही मान सकता है लेकिन ये शर्तें वह अन्य संयन्त्रो के बारे मे नहीं मानेगा। इस प्रकार भारत अपने संयन्त्रों पर न तो अन्तर्राष्ट्रीय निगरानी को स्वीकार करेगा और न ही वह परमाणु अप्रसार सन्धि पर दस्तखत करेगा। कार्टर की भारत यात्रा समाप्त होने के (जनवरी 1978) दो दिन बाद श्री देसाई ने अमरीकी सिनेटरो के एक प्रतिनिधि मण्डल को टूक शब्दो मे कहा कि यदि भारत को परिशोधित यूरेनियम न मिला तो बहुत कठिनाई होगी। लेकिन वह इस कठिनाई को सत्याग्रह की भावना से झेलेगा तथा कुछ दूसरा प्रबन्ध भी करेगा। कुल मिलाकर यह स्पष्ट हो गया कि यदि 'सच्ची' गुट-निरपेक्षता का मतलब भारतीय परमाणु संयन्त्रो को अमरीकी निगरानी मे रख देना लगाया जा रहा था तो ऐसी सच्ची गुट-निरपेक्षता को जनता सरकार ने ठुकरा दिया। जनता सरकार की इस दृढता की प्रशंसा भारतीय साम्यवादी पार्टी ने भी की।

दूसरा परिवर्तन भारतीय विदेश नीति में उसके पड़ौसी देशो के प्रति सम्बन्धो मे आया। पं. नेहरू के नेतृत्व मे भारत की पड़ौसी देशों के साथ समस्याएँ उनके अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उपागम से सुलझाने की आदत थी। यद्यपि श्रीमती गांधी ने उनके साथ सम्बन्ध मधुर करने मे क्षेत्रीय दृष्टिकोण/उपागम का प्रयोग किया। फिर भी बंगला देश की मुक्ति और सिक्किम का भारत मे विलय छोटे देशो के लिए चिन्ता के विषय बने। कुल मिलाकर श्रीमती गांधी के समय मे भी पड़ौसी देशो के साथ समस्याएँ निपटाने में ध्यान केन्द्रित किया गया, किन्तु विदेश नीति के संचालन मे अपेक्षाकृत कम खुलापन होने से इन देशो ने भूमि एवं जनसंख्या की दृष्टि से विशाल भारत को सदैव शंका की दृष्टि से देखा। जनता सरकार की विदेश नीति में अपेक्षाकृत अधिक खुलापन होने से अब वे देश अपने पुराने रुख को बदलने लगे। नयी सरकार ने उदारतापूर्वक नेपाल के साथ तीन सन्धियाँ की, बंगला देश के साथ फरक्का-विवाद को सुलझाया, भारत के विदेशमन्त्री श्री वाजपेयी ने पाक यात्रा की तथा चीन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध घनिष्ठ करने की राजनीतिक इच्छा व्यवहार मे दिखाकर उन्हें प्रभावित किया।

श्री वाजपेयी ने चीन की यात्रा की। उनका कहना था कि इस यात्रा से भारत को चीन के विचार जानने का अवसर मिलेगा। किन्तु वाजपेयी की चीन की यात्रा की विफलता से जनता सरकार की विदेश नीति की आभा मद्धिम पड़ने लगी। चीन द्वारा वियतनाम पर आक्रमण कर देने से वाजपेयी को अपनी यात्रा बीच में भंग करनी पड़ी।

तीसरा परिवर्तन देश की विदेश नीति के निर्धारण एवं संचालन में प्रधानमन्त्री विदेश मन्त्री तथा विदेश मन्त्रालय की नौकरशाही की भूमिका के सम्बन्ध मे आया है। विगत कांग्रेसी सरकारो के प्रधानमन्त्री विदेश मन्त्रालय की नौकरशाही से परामर्श पर हावी रहते थे तथा विदेश मन्त्री सदैव उनका मुँह ताका करते थे। जनता सरकार के अधीन प्रधानमन्त्री देसाई ने विदेश मन्त्री वाजपेयी को देश के वैदेशिक मामलो का नेतृत्व करने का पूर्ण अवसर दिया जो एक स्वस्थ परम्परा थी। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के 32वें अधिवेशन मे विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ही पहले भारतीय थे जो देश की राष्ट्र-भाषा हिन्दी मे बोले।

इस प्रकार भारतीय विदेश नीति की विषय-वस्तु मे कोई आधारभूत अन्तर नही आया। जनता सरकार की आचरण शैली मे भिन्नता होने के कारण देश की विदेश नीति की विषय-वस्तु अधिक प्रभावशाली एवं अर्थपूर्ण बनी। पड़ौसी देशो तथा विश्व की दृष्टि मे भारत की छवि निखरी। वैदेशिक मामलो मे जनता सरकार की यही सबसे बडी विशिष्ट सफलता है।

भारतीय विदेश नीति : इन्दिरा युग (1980 से 1984)
[INDIAN FOREIGN POLICY · INDIRA ERA (1980 TO 1984)]

जनवरी 1980 मे श्रीमती इन्दिरा गाँधी पुनः प्रधानमन्त्री पद पर आसीन हुईं। इसके बाद 31 अक्टूबर, 1984 तक (श्रीमती गाँधी की हत्या) भारतीय विदेश नीति के प्रमुख आयाम निम्नलिखित हैं :

1. अफगानिस्तान संकट एवं भारतीय दृष्टिकोण—अफगानिस्तान मे सोवियत संघ के हस्तक्षेप ने शीत-युद्ध हमारे बहुत समीप ला दिया। श्रीमती गाँधी के चुनाव जीतने के तुरन्त बाद संयुक्त राष्ट्र मे भारत के प्रतिनिधि को अफगान समस्या के सम्बन्ध मे निर्देश दिये वे इस प्रकार हैं—(1) सोवियत सघ ने अफगानिस्तान सरकार के आग्रह पर अपनी सैनिक टुकडी भेजी है। (2) भारत किसी भी देश मे बाहरी सेना की उपस्थिति को अनुचित मानता है। (3) सोवियत संघ ने भारत को आश्वासन दिया है कि अफगानिस्तान सरकार के आग्रह पर उनके सैनिक वापस बुला लिये जायेंगे। भारत को सोवियत संघ द्वारा दिये गये आश्वासन पर अविश्वास करने का कोई कारण नही है। (4) भारत यह आशा करता है कि सोवियत सघ अफगानिस्तान की स्वतन्त्रता का उल्लघन नही करेगा एव सोवियत सैनिक आवश्यकता से अधिक एक भी दिन अफगानिस्तान मे नही रहेंगे। (5) भारत अफगानिस्तान मे अशान्ति एवं बिखराव फैलाने वाली बाहरी शक्तियो के कार्य का विरोध करता है। (6) अफगानिस्तान के निकट के क्षेत्र मे (अर्थात् पाकिस्तान मे) सैनिक अड्डों की स्थापना एवं भारी मात्रा मे सैनिक सामान पहुँचने से भारत की सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया है।

सोवियत संघ से परम्परागत मैत्री के सन्दर्भ मे भारत ने अफगानिस्तान मे सोवियत हस्तक्षेप का विरोध करने मे बहुत सयम से काम लिया है। भारत यह कैसे भूल सकता है कि अमरीका 1950 से लगातार पाकिस्तान का सैन्यीकरण कर रहा है तथा चीन भी 1960 से पाकिस्तान को सामग्री पहुंचा रहा है। 1971 मे बगला देश के निर्माण के बाद चीन तथा अमरीका बहुत निकट आ गये हैं। भारत चाहता है कि सोवियत सैनिक अफगानिस्तान से वापस चले जाये किन्तु भारत यह भी नही चाहता कि अमरीका, पाकिस्तान को अफगानिस्तान एव सोवियत

संघ की ओर से आक्रमण का भय दिखाकर बहुत अधिक मात्रा में सैनिक सामान पाकिस्तान में एकत्रित करे।

2. कम्पूचिया की हेंग सामरिन सरकार को मान्यता—भारत ने 1980 में कम्पूचिया की हेंग सामरिन सरकार को मान्यता दे दी। स्मरणीय है कि कम्पूचिया को कूटनीतिक मान्यता देने के लिए भारत की यह कहकर आलोचना की गयी थी कि भारत का उक्त कदम सोवियत संघ को अनुचित समर्थन देने की दृष्टि से उठाया गया था।

3. सातवें गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन का आयोजन—मार्च 1982 में नयी दिल्ली में 7वें गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन का सफल आयोजन किया गया। श्रीमती इन्दिरा गांधी तीन वर्ष के लिए गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की अध्यक्ष निर्वाचित हुईं। इससे न केवल तीसरी दुनिया के देशों में अपितु विश्व-व्यापी स्तर पर भारतीय विदेश नीति के नये आयाम उद्घाटित हुए। भारत संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर तीसरे विश्व के राष्ट्रों के प्रवक्ता के रूप में उभरने लगा।

4. एशियाई खेलों का सफल आयोजन—भारत ने नवम्बर 1982 में नयी दिल्ली में एशियाई खेलों का सफल और शानदार आयोजन करके एशियाई देशों में भारतीय क्षमता और आत्म-विश्वास का नया प्रभाव छोड़ा। खेलों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास का भारतीय विदेश नीति में यह एक नवीन तत्त्व है।

5. भारत-चीन सम्बन्ध—जनवरी 1981 से भारत तथा चीन के मध्य उच्च स्तरीय वार्ता का क्रम प्रारम्भ हो गया ताकि आपसी हित की समस्याओं का निदान निकाला जा सके। प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने सेलेसबरी तथा बेलग्रेड में चीनी नेताओं से आपसी हितों के प्रश्न पर चर्चा प्रारम्भ की थी। जनवादी चीन के उप-प्रधानमन्त्री एवं विदेश मन्त्री हुआंग हुआ ने 26 जून से 30 जून 1981 तक भारत की यात्रा की। 28 जनवरी, 1983 को भारत का एक उच्च-स्तरीय प्रतिनिधि-मण्डल कूटनीतिक वार्ता के लिए चीन गया।

चीन के साथ सीमा-विवाद पर वार्ता के तीन दौर होने के बाद भारत अब यह महसूस करने लगा है कि यदि बातचीत में कोई सफलता नहीं मिलती है तो राजनीतिक स्तर पर दोनों देशों की बैठक आयोजित की जाये। यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई औपचारिक सुझाव अभी तक नहीं दिया गया परन्तु भारत सरकार यह निष्कर्ष अवश्य निकाल चुकी थी कि अधिकारी स्तर की फलहीन वार्ता की श्रृंखला से कुछ भी परिणाम नहीं निकलेगा। वार्ता में भाग लेने वाले भारतीय अधिकारियों ने भारत सरकार को यह बता दिया कि दोनों देशों के अधिकारियों की वार्ता के तीन दौर हो जाने के बाद विदेश मन्त्रालय यह स्वीकार करने में नहीं हिचकिचाता कि अभी तक वार्ता की प्रगति नगण्य ही रही है।

भारत-चीन अधिकारी स्तर की प्रथम वार्ता बीजिंग में, द्वितीय वार्ता नयी दिल्ली में तथा तीसरी वार्ता पुनः बीजिंग में हुई थी। वार्ता का चौथा दौर 1983 में नयी दिल्ली में हुआ। दोनों पक्ष वार्ता का सतही आधार ले रहे हैं। चीनी अधिकारी केवल पैकेज समझौते की बातचीत के परे नहीं जा पाये तथा उन्होंने इन समझौतों का आवरण हटाने का प्रयास भी नहीं किया। चीन पूर्व क्षेत्र में मेकमोहन रेखा को स्वीकार कर सकता है यदि भारत पूर्व में वर्तमान नियन्त्रण रेखा को मान ले; इसमें अक्साई चिन पर चीन का अधिकार भी शामिल है।

भारत सरकार ने एक से अधिक बार सुझाव दिया है कि कोलम्बो प्रस्तावों को मान लिया जाये। इन प्रस्तावों में दोनों देशों की सेनाएँ युद्ध-विराम रेखा से 20 किमी. दूर हटा ली जायें। 1962 के युद्ध के पश्चात् भारत ने तो ऐसा किया, परन्तु चीन ने नहीं। सीमा विवाद के अतिरिक्त चीनी राजनयिकों का व्यवहार रहस्यमय बना हुआ है। एक ओर चीन सरकार भारत व पाकिस्तान के बीच दरार को कम करने का प्रयास कर रही है तो दूसरी ओर उसे सैनिक सहायता दे रही है।

भारत के कड़े विरोध के बावजूद चीन ने खंजरे-आब दर्रे को खोलने के लिए पाकिस्तान से समझौता कर लिया। यह भी पता चला है कि पिछले कुछ समय से चीन भूमिगत नागा विद्रोहियो, मिजो विद्रोहियों या नक्सलवादियो का समर्थन नही कर रहा है तथापि यह भी नही सोचा जा सकता है कि चीन भारत से निकट मित्रता के सम्बन्ध मे स्थापित करने को इच्छुक है।[1]

6. **भारत अमरीकी सम्बन्ध**—25 जुलाई, 1982 को श्रीमती गाँधी अमरीका की 9 दिवसीय यात्रा पर नयी दिल्ली से वाशिंगटन के लिए रवाना हुईं। यह यात्रा राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन के निमन्त्रण पर की गयी। इससे पूर्व केनकुन सम्मेलन मे श्रीमती गांधी श्री रीगन से मिल चुकी थी। उल्लेखनीय है कि यह यात्रा श्रीमती गाँधी ने 11 वर्ष के अन्तराल के बाद की। इस लम्बी यात्रा से भारत व अमरीका के आपसी सम्बन्ध स्थिर व लाभदायी हो गये। दोनो देशो के प्रेक्षको का मत है कि श्रीमती गाँधी के दौरे से दोनो पक्षो को एक-दूसरे को समझने व गलत-फहमियों को दूर करने का मौका मिला। ऐसा कहा जाता है कि श्रीमती गांधी अमरीका, तारापुर, के लिए परमाणु ईंधन व विश्व मुद्रा कोष से ऋण प्राप्त करने के मामलो मे उसके विरोध को समाप्त करने वाशिंगटन गयी थीं और इन दोनो ही बातों में उन्हे सफलता मिली।

7. **लन्दन में भारत महोत्सव**—1982 मे लन्दन मे भारत उत्सव (8 मार्च, 1982 से शुरू) हुआ। आठ महीने की लम्बी अवधि तक चलने वाले इस अनोखे उत्सव पर भारत व ब्रिटेन की सरकारो और अनेक अन्य संस्थाओ के लगभग सवा चार करोड़ रुपये खर्च हुए। श्रीमती गांधी की लगभग एक सप्ताह की ब्रिटेन की यात्रा प्रमुखत: सास्कृतिक उद्देश्यों के लिए घोषित की गयी थी। इस उत्सव के माध्यम से भारतीय संस्कृति एवं कला का दिग्दर्शन कराया गया। 14 नवम्बर को भारत महोत्सव की समाप्ति पर ब्रितानी प्रधानमन्त्री श्रीमती मारग्रेट थ्रेचर ने कहा 'इस महोत्सव की अनन्यतम प्रदर्शनियो और सास्कृतिक कार्यक्रमो से भारत और ब्रिटेन और अधिक नजदीक आये।'

8. **भारत और फ्रांस मे यूरेनियम की सप्लाई पर समझौता**—27 नवम्बर, 1982 को फ्रास के राष्ट्रपति मितरा भारत की चार-दिवसीय यात्रा पर आये। उन्होने भारतीय नेताओ से आपसी हितो के मामलो पर लम्बी बातचीत की। इन बातचीतो के परिणामस्वरूप आपसी सहयोग के विस्तार तथा तारापुर पर समझौता हो गया। फ्रांस की सरकार ने तारापुर परमाणु बिजलीघर की पूरी क्षमता से संचालन के लिए हल्के परिष्कृत यूरेनियम की सप्लाई शीघ्र ही शुरू करना मजूर कर लिया। समझौते के अन्तर्गत फ्रांस से प्राप्त यूरेनियम ईंधन के उपयोग के बाद उसके पुनः शोधन का भारत को पूरा अधिकार होगा। इस प्रकार से तारापुर के लिए ईंधन की सप्लाई पर बहु-चर्चित विवाद समाप्त हो गया।

9. **राष्ट्रकुल सम्मेलन**—नवम्बर 1983 मे नयी दिल्ली मे राष्ट्रकुल सम्मेलन का आयोजन हुआ। इसमे 48 देशो ने भाग लिया। लगभग 96 करोड की जनसंख्या वाला वह राष्ट्रकुल विश्व की एक-चौथाई मानवता का सगठन है, जो उसके चौथाई भू-भाग पर रहते हैं और उनमे आपस मे विश्व का चौथाई व्यापार होता है।

सातवाँ गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन : विदेश नीति की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि
(THE SEVENTH NON-ALIGNED CONFERENCE : THE ACHIEVEMENT OF FOREIGN POLCIY)

भारत को जितनी प्रतिष्ठा निर्गुट शिखर सम्मेलन के आयोजन (7-12 मार्च, 1983 : नयी दिल्ली) से मिली है उतनी निकट अतीत मे किसी अन्य घटना से नही मिली। गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन की बदौलत भारत की छवि पहले से कही अधिक तेजस्वी हो गयी और उसमें ...

[1] प्रतियोगिता दर्पण, जुलाई 1983, पृ 5।

लेने वाले 101 राष्ट्रों की ही नही, बल्कि विश्व के समस्त देशो की यह आकाक्षा जाग गयी है कि भारत विश्व शान्ति, सौहार्द्र और सद्भावना बढ़ाने की दिशा मे सक्रिय रहेगा और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के माध्यम से संसार के गति चक्र का थोड़ा-बहुत दिशा-दर्शन भी कर सकेगा। श्रीमती गाँधी विश्व की महान नेता के रूप मे (फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन के यासिर अराफात के शब्दो मे "हमारी नेता—गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की नेता" उभरकर सामने आयी। आगामी तीन कठिन वर्षों तक वह विश्व समुदाय के अधिकाश देशों का मार्ग-दर्शन करती रहेंगी। बहुत-से विदेशी विशेषज्ञ मानते हैं कि इस सम्मेलन से भारतीय विदेश नीति के सन्दर्भ मे सकारात्मक परिणाम निकलेंगे कई प्रेक्षक यह भी मानते हैं कि नेहरू के बाद पहली बार भारत क्षेत्रीय स्तर से निकलकर विश्व स्तर पर आ गया क्योकि श्रीमती गाँधी इतने बड़े आन्दोलन की नेता हैं और सयुक्त राष्ट्र महासभा मे आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करेंगी।

भारतीय विदेश नीति : राजीव युग (अक्टूबर 1984 से नवम्बर 1989)

(INDIAN FOREIGN POLICY · RAJIV ERA FROM OCTOBER 1984 TO NOV. 1989)

श्रीमती गाँधी की हत्या के बाद राजीव गाँधी नये प्रधानमन्त्री निर्वाचित हुए। राजीव गाँधी का 21वी सदी का आह्वान तथा आधुनिकता की ओर रुझान मे परम्परागत भारतीय विदेश नीति मे परिवर्तन के बीज दिखायी दे रहे थे। मोटे रूप से राजीव गाँधी की विदेश नीति मे चार बातो मे विशेष जोर दिया गया है—नि.शस्त्रीकरण (Disarmament) उपनिवेशवाद उन्मूलन (Decolonisation), विकास (Development) तथा शान्ति की कूटनीति (Diplomacy of Peace)। ये चारो ही शब्द अग्रेजी वर्णमाला के अक्षर 'डी' से शुरू होते है, अत हम कह सकते हैं कि राजीव गाँधी की विदेश नीति की नवीन दिशाएँ मुख्यत· '4 डी' के समन्वित कार्यक्रम पर आधारित रही।

राजीव गाँधी निरस्त्रीकरण के समर्थक थे। अमरीकी काग्रेस मे भाषण करते हुए उन्होंने युद्ध-मुक्ति अन्तरिक्ष की बात कही। पाकिस्तान द्वारा निर्मित परमाणु योजना के परिप्रेक्ष्य मे उन्होंने कहा कि 'भारत के पास पिछले दस वर्षो से परमाणु बम बनाने की क्षमता है, लेकिन हमने अपने सिद्धान्तो के कारण ही परमाणु बम के विकास की दिशा मे कोई काम नही किया।' दक्षिण एशिया मे क्षेत्रीय सहयोग की दृष्टि से 'सार्क' निर्माण मे उनकी भूमिका प्रसशनीय रही। अगस्त 1986 तक वे निर्गुट आन्दोलन के अध्यक्ष रहे। पड़ोसी राष्ट्रो से सम्बन्ध सुधारने की दिशा मे अक्टूबर 1985 मे भारत और बगला देश के बीच गंगा नदी के पानी के बँटवारे को लेकर नशाऊ मे एक समझौता हुआ। 29 जुलाई, 1987 को भारत श्री-लका के बीच तमिल जातीय समस्या के प्रश्न पर समझौता हुआ। दिसम्बर 1987 में भारत व चीन के बीच आठवें दौर की वार्ता सम्पन्न हुई। अक्टूबर 1987 मे वैंकूवर मे आयोजित राष्ट्रमण्डल सम्मेलन मे दक्षिण अफ्रीका की रगभेद नीति पर सक्रिय कदम उठाने की अपील की। 19-23 दिसम्बर, 1988 को राजीव गाँधी ने 5 दिन के लिए चीन की यात्रा की। भारत व चीन ने एक सयुक्त कार्यदल का गठन किया जो सीमा विवाद का सर्वमान्य हल निकालेगा। 31 दिसम्बर 1988 को भारत व पाकिस्तान मे तीन समझौतो पर हस्ताक्षर हुए। इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण समझौता दोनों देशो के बीच एक-दूसरे के परमाणु संस्थानो पर हमला नही करने से सम्बद्ध है। सक्षेप मे, राजीव गाँधी के राजनय की विशेषताएँ थी—अधिक से अधिक टकराव के बिन्दुओ को टालने का प्रयत्न। राजीव की विदेश नीति की यह उलझनपूर्ण स्थिति रही कि श्रीलंका के समझौते के तहत् भारतीय सेना को एक-दूसरे देश मे उन्ही लोगो से लड़ने पर मजबूर होना पडा जिन्हे खुद उसने ही प्रशिक्षण दिया था। लेकिन इस कार्यवाही मे इस पूरे क्षेत्र मे भारत की वर्चस्वता कायम करने का मकसद भी निहित है।[1]

---

[1] इण्डिया टूडे, 15 फरवरी, 1988, पृ. 48।

भारतीय विदेश नीति : वी. पी. सिंह युग (दिसम्बर 1989 से)
(INDIAN FOREIGN POLICY : V. P. SINGH ERA FROM DECEMBER, 1989)

नवी लोकसभा चुनावो के बाद श्री वी. पी. सिंह के नेतृत्व मे राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार (दिसम्बर 1989) में सत्तारूढ़ हुई। इस प्रकार वामपन्थी और भारतीय जनता पार्टी बाहर से समर्थन दे रहे हैं। श्री इन्द्र कुमार गुजराल नये विदेशमन्त्री नियुक्त हुए। क्या सरकार बदलने से विदेश नीति मे आमूल चूल परिवर्तन होगा ? ऐसी सम्भावना कम है क्योकि—(i) राष्ट्रीय मोर्चे ने अपने घोषणा-पत्र मे विदेश नीति को चुनावी मुद्दे के रूप मे प्रस्तुत नही किया था। (ii) श्री वी. पी. सिंह और श्री गुजराल की काग्रेसी पृष्ठभूमि है। वे इन्दिरा गाँधी और राजीव गाँधी के साथ काम कर चुके है। (iii) राष्ट्रीय मोर्चे ने विदेश नीति का कोई वैकल्पिक ढाँचा प्रस्तुत नही किया है।

विदेश नीति से सम्बन्धित जो समस्याएँ राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को विरासत मे मिली है, वे हैं—कश्मीर को लेकर पाकिस्तान द्वारा हो हल्ला मचाना, श्रीलंका से भारतीय शान्ति सेना की सम्मानपूर्ण वापसी और नेपाल से ऐसी पारगमन सन्धि सम्पन्न करना जिससे भारतीय हितो का संरक्षण हो सके।

भारतीय विदेश नीति का मूल्यांकन
(EVALUATION OF INDIA'S FOREIGN POLICY)

भारत की विदेश नीति प्रारम्भ मे ही आलोचना और निन्दा का शिकार रही है। इसके प्रशंसको ने जहाँ इसे सैनिक और आर्थिक दृष्टि से कमजोर होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भारत का गौरव और प्रतिष्ठा बढाने वाली और राष्ट्रीय हितो को पूर्ण करने वाली बताया है वहाँ पर इसके आलोचको ने इसे निरा शान्ति का ढोंग करने वाली बताकर उसे राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल चित्रित किया है। निम्नलिखित तर्कों के आधार पर हमारी विदेश नीति की आलोचना की जा सकती है :

1. **राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा में असफल**—ए. डी गोरवाला का कथन है कि "विदेश नीति का लक्ष्य राष्ट्रीय हितो को सुरक्षित करना और बढाना है। सबसे बड़ा हित राष्ट्र की अखण्डता की रक्षा करना है। इसमे हमारी विदेश नीति असफल सिद्ध हुई है।" हमारी विदेश नीति हमारे स्थायी और दूरगामी राष्ट्रीय हितो—जैसे देश की सीमाओ की रक्षा करने मे समर्थ सिद्ध नही हुई है। आज भी चीन और पाकिस्तान ने हमारा सैकड़ो वर्ग मील का प्रदेश दबा रखा है और हमारी विदेश नीति उसे मुक्त नही करा सकी है।

2 **गुट-निरपेक्षता एक दिखावा है**—कतिपय आलोचको का कहना है कि भारत की गुट-निरपेक्षता कोरा ढोंग है। वस्तुतः हम कभी अमरीका और पश्चिमी देशो की तरफ अधिक झुके हैं तो कभी साम्यवादी देशो की तरफ। स्वाधीनता के तुरन्त बाद हमारा झुकाव पश्चिमी गुट की तरफ था तो इन्दिरा युग मे हमारा झुकाव सोवियत रूस की तरफ अधिक है। डॉ. वेदप्रताप वैदिक के शब्दो मे, 'या तो गुटो के आपसी झगड़ो मे पच बनने की कोशिश करना या दोनो से अलग रहते हुए एक के केवल इतने समीप जाने का प्रयत्न करना कि दूसरा बुरा न माने और यदि दूसरे के बुरा मानने का डर हो तो पहले से नाप-तौलकर दूर हटना या बारी-बारी से पास जाना या दूर हटना—यही गुट-निरपेक्षता की शैली रही है।'

3. **देताँ की विश्व राजनीति**—आलोचको का कहना है कि शीत-युद्ध की विश्व राजनीति मे गुट-निरपेक्षता का महत्व हो सकता है किन्तु आज तो शीत-युद्ध शिथिल हो चुका है, गुटो की राजनीति पिघल चुकी है और देतॉं (Detene) की विश्व राजनीति का चलन हुआ है। जब गुट ही नही रहे तो गुट-निरपेक्षता का क्या महत्त्व हो सकता है ?

4. **भारत-रूस सन्धि**—अगस्त 1971 की भारत-रूस सन्धि भारत की विदेश नीति में महत्त्वपूर्ण मोड़ का सूचक है। आलोचकों का कहना है कि भारत की गुट-निरपेक्ष नीति का इस सन्धि ने अन्त कर दिया है। गुट-निरपेक्षता की नीति का मतलब महाशक्तियों के फौजी सघर्ष एव तनावों में अपने को दूर रखना होता है, लेकिन एक महाशक्ति के साथ सन्धि करके भारत अब अपने को इन सघर्ष तथा तनावों से दूर नहीं रख सकता।

5. **मित्र और शत्रु को परखने में असफल**—ऐसा कहा जाता है कि भारतीय विदेश नीति अपने मित्र और शत्रु को परखने में भी असफल रही है। इजराइल ने प्रत्येक स्तर पर हमारा समर्थन किया है और फिर भी पश्चिमी एशिया में हमारी नीति इजराइल विरोधी रही है।

6. **विदेशी आक्रमणों का शिकार**—हमारी विदेश नीति विदेशी आक्रमणों का प्रतिकार करने में असमर्थ रही है। 1962 में चीन ने और 1948, 1965 तथा 1971 में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण करने का दुस्साहस किया।

7. **प्रवासी भारतीयों की उपेक्षा**—ऐसा कहते हैं कि आज दुनिया में 60-70 लाख से भी अधिक प्रवासी भारतीय होंगे। भारत का प्रत्येक प्रवासी एक राजदूत के बराबर सिद्ध हो सकता है तथा भारत के राष्ट्र हितों में आत्म-नियुक्त सैनिक की तरह हो सकता है। लेकिन भारत सरकार उनके प्रति उदासीन रही है। भारत सरकार की निर्ममता के कारण ही बर्मा, श्रीलंका, उगाण्डा और केनिया के भारतीयों को नारकीय अभिनय से गुजरना पड़ा। आज भी अनेक देशों में 100-100 वर्षों के प्रवास के बावजूद प्रवासी भारतीयों को सामान खरीदने का, मुक्त रूप से व्यापार करने का, राजनीति में भाग लेने का समान अधिकार प्राप्त नहीं है। जो भेदभाव भारतीयों के साथ फिजी, केन्या, उगाण्डा, गुयाना आदि देशों में किया गया है या किया जाता है, यह यदि चीनियों के साथ वियतनाम, मलयेशिया या सिंगापुर में किया जाय तो साम्यवादी होते हुए भी चीनी सरकार सारी दुनिया में हाय-तोबा मचा देती।

8. **सांस्कृतिक उदासीनता के शिकार अफ्रीका, लेटिन अमरीका**—गोरे देशों के प्रति हमारी सांस्कृतिक हीनता की भावना के कारण ही हमने अफ्रीका, लेटिन अमरीका तथा आग्नेय (द. पू. एशिया) एशिया की भारी राजनीतिक उपेक्षा भी की। 1961 में पहली बार श्री नेहरू केवल मेक्सिको गये तथा 1968 में श्रीमती इन्दिरा गाँधी 9 लेटिन अमरीकी देशों में उड़ान भर आयी। इन दोनों यात्राओं के दौरान भी हमारी आँखों पर मुनरो सिद्धान्त का अमरीकी चश्मा चढ़ा रहा। न तो हमने क्यूबा के महत्त्व को रेखांकित किया और न ही इन दबे-पिसे देशों की जनता पर हो रहे साम्राज्यवादी अत्याचारों का विरोध करके उनकी हमदर्दी जीतने की कोशिश की। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जहाँ संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य विश्व संस्थाओं में इन देशों के सख्या बल का महत्त्व है, वहाँ ब्राजील और अर्जेण्टाइना—वे देश हैं जो परमाणु-स्वतन्त्रता का युद्ध लड रहे हैं। भारत इन देशों में न केवल सांस्कृतिक-स्वातन्त्र्य का प्रचण्ड अभियान चला सकता है अपितु अनेक देशों को अपनी ओर भी आकर्षित कर सकता है।

9. **नीति निर्माण की दोषपूर्ण प्रक्रिया**—नीति निर्माण की प्रक्रिया भी दोषपूर्ण है। हमारे पास सारी दुनिया की सूचना जमा करने का एकमात्र माध्यम अंग्रेजी है। यह कैसी विडम्बना की बात है कि यूरोप, अफ्रीका या ईरान में घटनाएँ हमारे राजदूतों के नाक की नीचे घटती हैं और उनका विश्लेषण करने के लिए वे लन्दन या न्यूयार्क के अखबारों पर निर्भर रहते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि दुनिया के तीन-चौथाई देशों के बारे में भारत सरकार के पास जो सूचनाएँ आती हैं वे इंग्लैण्ड और अमरीका के चश्मे में से छनकर आती हैं। इसीलिए हमें स्वतन्त्र और निष्पक्ष राय बनाने में तो दिक्कत होती ही है, कभी-कभी हम बुरी तरह से फिसल भी जाते हैं। 1968 में सूचना की कमी के कारण ही प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी को लातीनी अमरीका की यात्रा

बीच में ही तोड़नी पडी (पेरू मे क्रान्ति हो गयी)। मार्च 1978 मे हमने दाऊद के लिए भारत मे लाल गलीचे बिछाये और अप्रैल मे ही उनका पत्ता साफ हो गया, अटलजी को चीन से उल्टे पाँव लौटना पडा (उसने वियतनाम पर हमला बोल दिया)। ईरान हमारा पड़ौसी है लेकिन एक साल के लम्बे जन-आन्दोलन के बावजूद हमारे अधिकारी यह अन्दाज नही लगा सके कि खुमैनी सत्तारूढ़ हो जायेंगे।

10. **भारत की घेराबन्दी**—अन्तर्राष्ट्रीय समीकरणो मे आज भारत अमरीका व चीन से घिर गया है, पाकिस्तान व श्रीलंका से तनाव बढ़ रहे है, श्रीलंका में भारत की शान्ति सेना उलझ गयी है, अमरीका व चीन इनकी पीठ ठोक रहे हैं। बंगाल देश भी भारत से खतरे का हौव्वा खड़ा कर चीन व अमरीका को आमन्त्रित कर रहा है।

उपर्युक्त आलोचनाओ के बावजूद भारत की विदेश नीति की निम्नलिखित उपलब्धियाँ हैं, जिन्हे नकारा नही जा सकता :

(1) दोनो ही शक्तिशाली गुटो ने भारतीय विदेश नीति की प्रशसा की है।

(2) भारत दोनो ही गुटो से सहायता प्राप्त करने मे सफल रहा है।

(3) भारत की निर्गुट नीति विश्व शान्ति के हित मे है।

निष्कर्ष—डॉ. वेद प्रताप वैदिक ने अपनी पुस्तक भारतीय विदेश नीति—नये दिशा सकेत मे भारत के लिए एक सास्कृतिक विदेश नीति अपनाने की सिफारिश की है।[1] अनेक ऐसे देश हैं जहाँ वर्षों पहले भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ था। दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशो मे भारतीय सास्कृतिक दूतावास की स्थापना की जानी चाहिए। इन दूतावासो का काम उन देशो मे भारतीय भाषा, भूषा, भोजन, भजन और भेषज की कूटनीति चलाना होना चाहिए। विदेशो मे भारतीय भोजन मे काफी लोकप्रिय है। यदि विदेश मन्त्रालय भारतीय रेस्तरा की एक शृखला सारी दुनिया मे स्थापित कर सके तो भारत करोड़ो डालर विदेशी मुद्रा अर्जित कर सकता है। भारतीय संगीतज्ञो को सुनने के लिए अमरीका में इतनी भीड़ जुटती है जितनी कि वहाँ के राष्ट्रपति को सुनने के लिए भी नही जुटती। इसी प्रकार भारतीय साड़ी के प्रति पश्चिम की महिलाओ मे अदम्य आकर्षण है। भारतीय 'भजन' (रिकार्ड) और 'भूषा' सिर्फ डॉलर कमाने के ही साधन नही है, वे सन्देशवाहक भी है। इसी प्रकार भारतीय 'भेषज'—जड़ी-बूटियाँ तीसरी दुनिया के गरीब लोगो के लिए वरदान साबित हो सकती है। यदि इन सस्ती दवाइयो को तीसरी दुनिया के देशो मे लोकप्रिय बनाने का अभियान चलाया जाय तो अनेक बहु-राष्ट्रीय निगमो का जाल कट जायेगा।[2]

---

[1] वेद प्रताप वैदिक, भारतीय विदेश नीति, पृ. 118।

[2] वही, पृ. 119।

54

भारत में लोकतान्त्रिक व्यवस्था : सबल और दुर्बल पक्ष

[THE INDIAN DEMOCRATIC SYSTEM THE STRONG AND THE WEAK POINTS]

भारत को दुनिया का सबसे बडा लोकतन्त्र कहा गया है। सन् 1952 मे वयस्क मताधिकार के आधार पर देश मे पहले आम चुनाव हुए थे। उस समय मतदाताओ की संख्या 17 करोड 30 लाख से कुछ अधिक थी। यह सख्या आज बढकर लगभग 37 करोड़ तक पहुँच गयी है। हमारे सविधान के निर्माताओ ने वयस्क मताधिकार को निष्ठा के रूप मे इस दृढ़ विश्वास से प्रेरित होकर ही स्वीकार किया था कि लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के सफलतापूर्वक सचालन के लिए लोगो की इच्छा ही सर्वोपरि होती है। 1952, 1957, 1962, 1967, 1971, 1977, 1980, 1984 और 1989 मे लोकसभा के लिए आयोजित नौ उत्तरोत्तर चुनाव एवं राज्य-विधानसभाओ के लिए हुए उत्तरोत्तर चुनावो ने हमारी राजनीतिक-प्रणाली को शक्ति और स्थायित्व प्रदान किया। इन चुनावो के औचित्य, उनकी निष्पक्षता और सुव्यवस्था के लिए दुनिया भर के देशो में हमारी सराहना हुई है। प्रत्येक आम चुनाव से इस बात की पुष्टि होती रही है कि ससदीय लोकतन्त्र की प्रणाली के प्रति हमारे देश की निष्ठा है, अपने अभीष्ट उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए अत्यन्त स्थायी साधन के रूप मे इस प्रणाली मे लोगो को गहरी आस्था है।

भारत में लोकतन्त्र
(DEMOCRACY IN INDIA)

लोकतन्त्र राजनीतिक परिस्थिति ही नही है या सामाजिक परिस्थिति मात्र नही; वह शासन और जीवन की लोकजयी नैतिक धारणा भी है। सभी मनुष्यो का लोकतन्त्र में बराबर महत्त्व होता है, सभी मनुष्यो के अधिकार भी समान होते हैं। समाज की इकाई के रूप मे व्यक्ति लोकतन्त्र का मूलाधार है। लोकतन्त्र समाज को उन्नत करने का यत्न करता है जिसमे व्यक्ति भी उन्नत होता है। लोकतन्त्र मे व्यक्ति का बहुत बड़ा महत्त्व है। लोकतन्त्र मे सबको समता मिलती है। लोकतन्त्र केवल शासन चलाने की एक पद्धति मात्र नही है, वह एक विकासशील दर्शन है और साथ ही वह जीवनयापन की एक गतिशील पद्धति भी है। लोकतन्त्र केवल अधिकारों पर ही जीवित नही रहता वरन् उसका मूल कर्त्तव्य पर आश्रित है। अपने कर्त्तव्य के प्रति व्यक्ति की निष्ठा लोकतन्त्र के जीवन का आधार हुआ करती है। लोकतन्त्र मर्यादा की माँग करता है और मनुष्यता को व्यक्ति के आचरण मे उतारता है। स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व लोकतन्त्र के आदर्श हैं किन्तु स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व तब तक कायम नही हो सकते जब तक व्यक्ति अपना सर्वोत्तम समाज को देने का संकल्प नही करता। लोकतन्त्र के द्वारा व्यक्ति और शासन

के बीच में प्रभावशाली सम्बन्ध सूत्र स्थापित होता है। लोकतन्त्र मे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बात कहने का अवसर यथास्थान मिलता है। लोकतन्त्र मे कार्यक्षमता का महत्त्व अवश्य है किन्तु जनता की पसन्द का ध्यान लोकतन्त्र मे सदा रखा जाता है। लोकतन्त्र मे मर्यादित एवं अनुशासित शासन की स्थापना होती है। लोकतन्त्र के द्वारा नैतिकता, ईमानदारी, आत्मनिर्भरता, दृढ़ता, कर्मशक्ति की पूर्ति लोकमानस में होती है तथा मत की शक्ति के कारण जनता की प्रतिष्ठा होती है। लोकतन्त्र हिंसा और नकली क्रान्ति को रोकता है। लोकतन्त्र मे प्रतिभा के लिए द्वार बन्द नही होता और विरोधी पक्ष भी बना रहता है। लोकतन्त्र मे शासन की व्यवस्था मे परिवर्तन केवल जनता के मत द्वारा सम्भव होता है, किसी अन्य तरीके से नही, यही कारण है कि खून-खराबी के लिए लोकतन्त्र मे गुंजाइश नही होती।

लोकतन्त्र केवल बहुमत पक्ष के आचरण मात्र से आरक्षित नही होता अपितु लोकतन्त्र की रक्षा का भार विरोध पक्ष पर भी कम नही होता। विरोध पक्ष का दायित्व लोकतन्त्र के संरक्षण के लिए यह है कि वह बहुमत का विरोध करें, उचित विरोध करें, सही विरोध करें और बहुमत को आत्मपरीक्षण की स्थिति मे ले जायें ताकि अल्पमत दल जो कुछ कहना या करना चाहता है उसके प्रति जनमानस मे विश्वास जगे। आलोचना करना लोकतन्त्र में विरोधी पक्ष का काम हुआ करता है किन्तु आलोचना सृजनात्मक एवं सैद्धान्तिक होनी चाहिए, व्यक्ति पर नही और न्यस्त स्वार्थ में राष्ट्रीय स्वार्थ को भुला देने वाली नही।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत ने ऐसे ही लोकतन्त्र को अपनाया जिसमे मर्यादा संयम और अनुशासन की व्यवस्था है। लोकतन्त्र मे त्रुटियाँ हो सकती हैं किन्तु शासन का यह सर्वोत्तम साधन अभी भी है और आगे भी रहेगा क्योकि उसमे विकास की क्षमता है।

"बहुत वर्ष हुए हमने भाग्य से एक सौदा किया था, और अब अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने का समय आया है······पं. जवाहरलाल नेहरू ने 14 अगस्त, 1947 को अर्द्धरात्रि मे भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के समय जब यह शब्द कहे थे तो उस समय उनके सामने यह स्पष्ट था कि स्वतन्त्र भारत कौन-सा रास्ता पसन्द करेगा।" उन्होने जनवरी 1938 मे ही लिखा था, "राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्देश्य स्वतन्त्र तथा लोकतान्त्रिक राज्य की स्थापना करना है।" स्वतन्त्रता मिलने से एक उद्देश्य तो 15 अगस्त, 1947 को पूरा हो गया, लेकिन दूसरा उद्देश्य, भारत को लोकतन्त्र बनाना बाकी था। इस उद्देश्य को हमारे राष्ट्र-निर्माताओ ने सदैव ध्यान रखा और संविधान बनाने के लिए गठित संविधान सभा मे एक प्रस्ताव पेश करके इस दृढ और पुनीत संकल्प की घोषणा की कि, "भारत को स्वतन्त्र, प्रभुत्वसम्पन्न गणराज्य, उद्घोषित किया जाय जिसे समस्त शक्ति और अधिकार जनता से प्राप्त होगे।" अन्ततः जब हमारे देश का संविधान बना तो देश की इच्छा को संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट किया गया कि भारत एक "सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य" होगा।

सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर और 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धान्त के अनुसार भारत में लोकतन्त्र की स्थापना करना भारतीय संविधान निर्माताओ का अत्यन्त दूरदर्शी निर्णय था। यह भारतीय जनता के प्रति विश्वास एवं सम्मान का प्रतीक था। प्रत्येक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और क्रान्तिकारी निर्णय था क्योकि वयस्क मताधिकार द्वारा जाति, लिंग और आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी किसी भेदभाव के बिना प्रत्येक वयस्क भारतीय नागरिक लोकतन्त्र मे साझीदार हो गया।

भारत मे चुनावो की मुख्य विशेषता यह है कि वे व्यक्ति स्वातन्त्र्य और विचार स्वातन्त्र्य के वातावरण मे सम्पन्न होते है। चुनाव-प्रक्रिया का सार इस बात पर जोर देता है कि अन्ततः

आम मतदाता ही स्वामी है। वयस्क भारतीय नागरिक को केवल मतदान करने या प्रतिनिधि चुनने का ही अधिकार नही है बल्कि उसे यह अधिकार है कि वह कोई भी पद प्राप्त कर सकता है या चुना जा सकता है। चुनावो मे जिन उम्मीदवारों को जनता का विश्वास प्राप्त होता है वे विजयी होते हैं। लोकसभा मे जिस दल का बहुमत होता है उसका नेता प्रधानमन्त्री बनता है। इस प्रकार अपनी पसन्द के प्रधानमन्त्री के जरिये हम अपने ऊपर आप ही राज करते है।

भारत सरकार का शासन मन्त्रिपरिषद करती है। परन्तु मन्त्रिपरिषद अपने कार्यों के लिए सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। मन्त्रिपरिषद को शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। कहने का मतलब यह है चूँकि देश के शासन मे लोकसभा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है और चूँकि लोकसभा मे जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते है अतः यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि देश के शासन मे जनता ही सर्वोपरि है।

भारत में संसदीय लोकतन्त्र की दुर्बलताएँ
(THE WEAK POINTS OF PARLIAMENTARY DEMOCRACY IN INDIA)

भारतीय सविधान ससदीय ढाँचे के लोकतन्त्र की स्थापना करता है। सच्चा लोकतन्त्र ससदीय लोकतन्त्र ही हो सकता है जिसमे बिना हिंसात्मक क्रान्ति के सरकार को बदला जा सकता है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विगत कुछ वर्षों से देश मे लोकतन्त्र की जड़ें हिल रही हैं। विगत वर्षों मे अनेक स्थानो पर कानून और व्यवस्था की स्थिति बेकाबू हुई, हिंसा, उपद्रव, लूट-मार, सामान्य बात हो गयी। प्राकृतिक प्रकोप, अतिवृष्टि, अकाल और सूखे के कारण हमारे आर्थिक विकास का सम्पूर्ण नियोजन ही छिन्न-भिन्न हो गया। देश का आम आदमी गरीबी, अभाव, बेकारी और महँगाई से त्रस्त है। मूल्य-वृद्धि की वर्तमान प्रक्रिया से हमारी आर्थिक स्थिति बिगडते-बिगडते विस्फोटक दौर मे पहुँच गयी और सत्तालोलुपता की बढ़ती हुई प्रवृति के कारण राष्ट्रीय जीवन भ्रष्ट और अनुशासनहीन हो गया। चारो ओर अविश्वास, अनिश्चितता और निराशा का घोर अन्धकार छाने लगा। प्रसिद्ध समाज वैज्ञानिक **डॉ. योगेश अटल** के शब्दो मे, "स्वतन्त्र भारत का स्वाधीन नागरिक, सामान्य जन आज कठिनाई के जिस दौर से गुजर रहा है, उसमें उसका मानस 'चिर मुक्ति' की ही कामना कर सकता है।"[1] विगत कुछ वर्षों से ससदीय लोकतन्त्र का विकल्प खोजा जा रहा है। यहाँ तक कि 'सीमित निरंकुशता'[2] और 'अध्यक्षीय लोकतन्त्र'[3] का विकल्प प्रस्तावित भी किया गया है। किन्तु निरकुशता का दृष्टिकोण लोकतन्त्र का कदापि विकल्प नही हो सकता, यह जानते हुए कि हमारे देश मे शासन-प्रणाली के रूप मे लोकतन्त्र का कोई विकल्प नही है।[4]

हमारी ससदीय-प्रणाली मे कई कमियाँ और कुछ सस्थानात्मक विकृतियाँ हैं, जिनका सम्बन्ध प्रायः देश मे उत्पन्न होने वाले विभिन्न आर्थिक-राजनीतिक सकटो से जोड़ा जाता रहा है। किन्तु कतिपय सकटो के निवारण की कसौटी ससदीय-व्यवस्था न होकर हमारा नेतृत्व वर्ग ही है। नेतृत्व वर्ग की असफलता किसी भी भाँति ससदीय-प्रणाली मत्थे नही मढ़ी जा सकती।

रघुकुल तिलक के अनुसार, "भारत की जनता अपने स्वभाव और मनोवृत्ति के कारण लोकतन्त्र को सफल बनाने की क्षमता नही रखती। यहाँ की धार्मिक और सास्कृतिक परम्पराएँ लोगो

---

[1] डॉ. योगेश अटल : **साप्ताहिक हिन्दुस्तान**, 19 अगस्त, 1973, पृ. 7।

[2] **दि हिन्दुस्तान टाइम्स**, 28 जुलाई, 1973, पृ. 5।

[3] **दिनमान**, 12 अगस्त, 1973, पृ. 46-47।

[4] श्रीप्रकाश : **डेमोक्रेसी—ए फेस्पोर**, **करेण्ट ईवेण्ट्स**, जनवरी 1973, पृ. 52।

को भाग्यवादी और सहनशील होना सिखाती है और इसलिए वे निरंकुश शासन के अत्याचार को सहज ही सहन कर लेते हैं और सत्ताधारियों का विरोध या आलोचना करना पसन्द नही करते। इसके अतिरिक्त यहाँ का समाज जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि के आधार पर इतने छोटे-छोटे टुकड़ो में बँटा हुआ है कि कोई भी निरंकुश तन्त्र इस फूट से लाभ उठाकर सहज ही अपना आधिपत्य जमा सकता है। यहाँ की साधारण जनता अधिकतर निरक्षर है और उसमे पर्याप्त चरित्रपालन और मूल अधिकारो की रक्षा के लिए मर मिटने की भावना नही है। ऐसा समाज उदारवादी प्रतिनिधिक लोकतन्त्र के लिए, जो समता और सामाजिक न्याय की नीव पर खड़ा हो, अनुकूल पर्यावरण (Ecology) प्रस्तुत नहीं करता।'

सक्षेप में भारतीय लोकतन्त्र के कतिपय दुर्बल तत्त्व इस प्रकार हैं :

(1) **सशक्त प्रतिपक्ष का अभाव**—हमारी ससदीय व्यवस्था की प्रथम त्रुटि यह है कि सशक्त प्रतिपक्ष का आज तक निर्माण नही हो सका। एक सशक्त विरोधी दल देश मे स्वस्थ ससदीय लोकतन्त्रीय व्यवस्था की स्थापना के लिए अति आवश्यक है। प्रभावशाली विरोधी दल ससदीय व्यवस्था के संचालन की अपरिहार्य संस्था है। जव वहुमत दल होता है तो एक विरोधी दल भी होना चाहिए यदि ऐसा नही है तो वास्तव मे प्रजातन्त्र ही नही।[1]

(2) **उत्तरदायी प्रतिपक्ष का अभाव**—संसदीय लोकतन्त्र मे आलोचना करना विरोधी पक्ष का कार्य हुआ करता है किन्तु आलोचना सृजनात्मक एव सैद्धान्तिक होनी चाहिए। लोकतन्त्र मे परिवर्तन मतो के आधार पर होता है। इसलिए विरोधी पक्ष को चाहिए कि वह जनता को परिवर्तन के लिए शिक्षण दे। किन्तु हमारे देश मे विरोधी दल ने न केवल आर्थिक विकास मे ही रुकावट डाली वल्कि वे अर्थ-व्यवस्था और प्रशासन के सभी सामान्य कार्यों मे रुकावट डालते रहे।

(3) **साम्प्रदायिकता, भाषावाद और प्रादेशिकता**—साम्प्रदायिकता, प्रादेशिकता और भाषावाद की समस्याएँ पिछले 30 वर्षो से भारतीय लोकतन्त्र के लिए सिरदर्द रही हैं। इन समस्याओ ने देश में विघटनकारी तत्त्वो को वढ़ावा दिया है और अनेक अवसरो पर हिंसात्मक वातावरण का निर्माण किया। इन समस्याओ ने देश के नवोदित लोकतन्त्र मे कोढ के निशान पैदा कर दिये हैं।

(4) **महँगाई और भ्रष्टाचार**—महँगाई और भ्रष्टाचार ने मध्यम वर्ग की शक्ति को जर्जर और उसकी रचनात्मक प्रतिभा को कुण्ठित कर दिया है। एक ओर करोड़ो की सम्पत्ति के मालिक रात-दिन विकास और वैभव का अशोभनीय प्रदर्शन करते हैं तो दूसरी ओर लाखो आदमी भुखमरी के शिकार हैं। आर्थिक शोषण की प्रवृत्ति और राजनीतिक भ्रष्टाचार भारतीय लोकतन्त्र के प्रवल शत्रु हैं।

(5) **हिंसा और आन्दोलन की राजनीति**—विगत कुछ वर्षों से देश मे हिंसा और जन-आन्दोलन आम वात हो गयी। निर्वाचित विधानसभाओ को भग करवाने के लिए केन्द्रीय सरकार पर दवाव डाला गया। विधानसभा के सदस्यो से त्यागपत्र की माँग करते हुए उनके घरो पर

---

[1] रजनी कोठारी : **भारत में राजनीति** (अनुवाद), पृ. 217—लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री हुकमसिंह का कहना है, "जव कोई दल लम्बे अर्से तक सत्ता धारण किये रहता है तो उसमे 'लेथार्जी' आ जाती है। किसी ओर से अपने अस्तित्व को खतरा न देखकर विवेक वुद्धि शिथिल पड़ जाती है। इसलिए सरकार को वदलते रहना या उसके वदलने की सम्भावना का बना रहना भी वहुत जरूरी है। लेकिन यह एक सशक्त विरोधी दल के विना सम्भव नही। भारत मे प्रतिपक्ष अनेक दलों में विभक्त है, अस्तु, वह सरकार की सशक्त आलोचना नही कर पाता, चुनाव द्वारा उसे पदच्युत करने की वात तो खैर जाने दीजिए।"—**दिनमान,** 20 मई, 1966, पृ. 9। 1977 मे जनता के द्वारा सत्ता परिवर्तन किया गया, लेकिन वह विशेष परिस्थितियो का परिणाम था और 1984 में पुनः वही स्थिति रही जिसका उल्लेख श्री हुकमसिंह द्वारा किया गया है। नवम्वर 1989 के चुनावो मे लोकसभा मे काग्रेस (इ) सशक्त विपक्ष के रूप मे उभरा है।

प्रदर्शन किये गये। घेराव, बन्द और अनशन का सहारा लेकर ऐसे आन्दोलन का विस्तार किया गया। बिहार मे तो सरकार को खत्म करने के लिए 'बिहार-बन्द' का आह्वान किया गया। जनता को शासन-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए तैयार किया गया। हिंसा, आन्दोलन जहाँ समाज मे घृणा फैलाते हैं वहीं जनता और शासन के मध्य तनाव उत्पन्न कर देते हैं।

(6) **राजनीतिक अस्थिरता**—राजनीतिक अस्थिरता और अनिर्णयता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण हमारी राज-व्यवस्था मे 'शक्ति-शून्यता' की स्थिति पैदा होने लगी। सन् 1967 के निर्वाचनो के उपरान्त अनेक राज्यो मे सविद सरकारो का गठन हुआ और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी। किन्तु सन् 1972 के निर्वाचनो के उपरान्त एक दलीय सरकारो का निर्माण होने के उपरान्त भी गुटबाजी की प्रवृत्ति बढ़ी और अनेक मन्त्रिमण्डलो को पदच्युत होना पड़ा। मार्च 1977 के बाद जनता पार्टी के शासन काल मे केन्द्र और राज्य-स्तर पर बढ़ती हुई घटकवादी प्रवृत्ति के कारण प्रशासन मे शून्यता आने लगी। जुलाई, 1979 से जनवरी 1980 तक तो एक तरह से केन्द्र की कामचलाऊ सरकार के शासन काल मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी जैसे देश मे कोई सरकार ही नही हो। कामचलाऊ चरणसिंह सरकार के अस्तित्व के साथ राष्ट्रपति ने यह शर्त लगा रखी थी कि वह नीति सम्बन्धी निर्णय नही ले सकेगी। 1987-88 मे भी राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री सम्बन्धो तथा शस्त्रो की खरीद के घोटालो (बोफोर्स और पनडुब्बी सौदे मे दी गयी दलाली) ने नेतृत्व का सकट उत्पन्न कर दिया है। दिसम्बर 1989 से कार्यरत केन्द्रीय सरकार एक अल्पमतीय सरकार है जो साम्यवादियो और भाजपा जैसे परस्पर असगत विचारधारा वाले दलों के समर्थन पर टिकी हुई है।

(7) **संसदीय वाद-विवाद में गुणात्मक ह्रास**—ससद और राज्य-विधान मण्डलो की कार्यप्रणाली का गुणात्मक ह्रास हुआ है वाद-विवाद का स्तर घटा है। व्यक्ति दोषारोपण और छिद्रान्वेषण की बढती हुई प्रवृत्ति के कारण ससदीय मच का अवमूल्यन हुआ है। पजाब, बगाल और तमिलनाडु विधानसभाओ के अध्यक्षो ने दलीय स्वार्थों की पूर्ति का साधन बनकर अध्यक्षीय कुर्सी की गरिमा तक को ठेस पहुँचायी जिससे ससदीय प्रणाली की अवमानना ही हुई है। डॉ लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के अनुसार, "स्वतन्त्रता के पश्चात् विधायको की गुणवत्ता मे ह्रास होता गया है जो चिन्ता का विषय है। दल के जो उम्मीदवार चुने जाते है वे योग्यता के आधार पर नही चुने जाते, अधिकतर अत्यन्त साधारण किस्म के उम्मीदवारो का चुनाव होता है। विधायको मे प्रतिभा विदग्धता और लगन का अभाव पाया जाता है और हमारे सार्वजनिक प्रशासको के गिरते हुए स्तरो का यह एक प्रधान कारण हो सकता है।"[1]

(8) **संसद का घटता दर्जा**—भारतीय सविधान का इरादा था कि ससद और कार्यपालिका की सत्ताएँ भिन्न रहे, लेकिन उसके काम-काज का एक अजीब और अवांछनीय मिलाप हो गया है। सिद्धान्ततः जब तक ससद की मर्जी हो मन्त्रिमण्डल सत्तारूढ रह सकता है लेकिन व्यवहार मे मन्त्रिमण्डल ने संसद के काम और उसके अधिकार अधिकाधिक मात्रा मे हथिया लिये है। ससद मे एक दलीय बहुमत तथा दल पर मन्त्रिमण्डल की पूरी पकड़ होने के कारण भारतीय ससद के लिए सत्ता सघर्ष की स्थली बने रहना मुश्किल हो गया। डॉ. सिंघवी के अनुसार, "आज ससद केवल सीमित सतर्कता की साधना रही है। नीति के निर्माण और सशोधन मे ससद सशक्त मार्गदर्शन प्रदान करने मे अपने को असमर्थ पाती है।" प्रो जे डी सेठी के अनुसार, "ससद की सत्ता की हानि का मूल कारण है वर्तमान पार्टी पद्धति, पार्टी अनुशासन एव निष्ठा के कारण सरकारें अधिकाधिक आरक्षित होती गयी है।"[2]

---

[1] डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी : 'भारतीय संसद—नयी दृष्टि', लोकतन्त्र समीक्षा, जुलाई-सितम्बर, 1971, पृ 15।

[2] जे. डी. सेठी, 'ससद का घटता दर्जा', नयी दुनिया, 22 सितम्बर, 1974, पृ. 4।

(9) राजनीतिक संघर्ष की उभरती प्रवृत्ति—केन्द्र और राज्यो मे पृथक्-पृथक् दलों की सरकारो का निर्माण होने से तनाव, परस्पर विरोध और विद्रोह का स्वर मुखरित हुआ जिससे प्रान्तीय, संकुचित और पृथकतावादी प्रवृत्तियो को बल मिला ।

(10) बहुदलीय प्रथा—भारत मे बहुदलीय प्रथा प्रचलित है । राजनीतिक दलो की बहुलता लोकतन्त्र के विकास तथा संसदीय शासन के सुचारु संचालन में एक बड़ी बाधा सिद्ध हो रही है । राजनीतिक दलो में सहयोग एवं सामजस्य की भावना का अभाव है । दुर्भाग्य से प्रत्येक राजनीतिक दल में फूट और गुटबन्दी विद्यमान है और अक्सर असन्तुष्ट गुट के लोग अपना अलग दल बनाने के लिए तैयार हो जाते हैं । जब तक राजनीतिक दलो मे ध्रुवीकरण नही होता और राजनीतिक गुट दो-तीन प्रमुख दलो मे सगठित नही होते तब तक संसदीय संस्थाएँ जीवित नही रह सकती और यदि वे जीवित भी रह गयीं तो वे प्रभावहीन बनी रहेंगी ।[1]

(11) दल-बदल की दूषित प्रवृत्ति—दल-बदल की प्रवृत्ति के कारण हमारा पूरा ससदीय वातावरण ही दूषित हो गया है और मूल्यो की राजनीति के स्थान पर सत्तालोलुपता की राजनीति का सूत्रपात हुआ है । दल-बदल के कारण राज्यो में संसदीय सरकार का सचालन खतरे मे पड़ा और लोकप्रिय सरकारो के संगठन मे बाधा आयी है । दल-बदल के परिणामस्वरूप प्रशासन मे नौकरशाही का बोलवाला बढ़ा और जनता पर चुनावो का बोझ भी बढा है । सरकारे स्थिर प्रशासकीय नीतियों का निर्माण नही कर पायीं और अनेक राज्यो का प्रशासन ठप्प हो गया । दल-बदल से जहाँ शासन में अराजक तत्त्वो का प्रभाव बढा वही दूसरी तरफ आर्थिक विकास की रफ्तार मन्द हो गयी ।

(12) नौकरशाही की शक्ति मे वृद्धि—स्वाधीनता के बाद नौकरशाही की शक्ति मे अप्रतिम वृद्धि हुई है । मन्त्रिमण्डल सचिवालय और प्रधानमन्त्री सचिवालय का बढ़ता हुआ महत्त्व किसी से छिपा नही है । गांवो मे आज भी जनता पटवारी, थानेदार व तहसीलदार की मुहताज है । इस नौकरशाही मे आज भी यह झूठ अहम समाया हुआ है कि जनता के स्वामी है, न कि सेवक । हमारे स्वाधीन लोकतन्त्र की यह कैसी विडम्बना है कि नौकरशाही देश की जनता से अपना तादात्म्य स्थापित नही कर सकी ।

(13) नैतिक मूल्यो का ह्रास—स्वाधीनता के बाद से नैतिक मूल्यो का लगातार ह्रास हुआ है । राष्ट्रीय चरित्र को बनाने का कोई प्रयास नही किया गया । चोर-बाजारी, जमाखोरी, मिलावट और प्रशासन मे भ्रष्टाचार की बुराइयां दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी, जिससे हमारी आस्थाएँ और निष्ठाएँ डगमगाने लगीं ।

(14) दूषित चुनाव प्रणाली—हमारी वर्तमान चुनाव-प्रणाली हमारे सविधान निर्माताओं की इच्छानुसार वास्तविक लोकतन्त्र अर्थात् बहुमत का शासन स्थापित करने मे सफल सिद्ध नही हुई । यह प्रणाली मुख्य रूप से उन देशो मे सफल होती है जहाँ कि राजनीतिक व्यवस्था द्विदलीय पद्धति के अनुसार संचालित होती हो । चुनाव की वर्तमान प्रणाली से अल्पमत सरकारें ही गठित हो सकती हैं । अल्पमतीय शासन चाहे कितना ही लोकतान्त्रिक होने का दिखावा क्यो न करता हो यथार्थ मे कभी भी लोकतान्त्रिक नही हो सकता ।

यह कहना काफी हद तक सही है कि चुनाव महज औपचारिक बनते जा रहे हैं । न सिर्फ पैसों के प्रभाव से चुनाव विकृत हो रहे है बल्कि कई स्थानो पर यह देखा गया है कि आम चुनावो मे तो अफसरशाही और अपराधी तत्त्वो ने जोर-जबर्दस्ती से मतदाताओ के स्वतन्त्र रूप से मत देने के अधिकार को भी छीन लिया । बिहार मे तो 'बूथ कैप्चरिंग' इतनी आम बात हो गयी है कि मतदान अर्थहीन हो गया है ।[2]

---

1 वी. के. एन मेनन : [illegible] , 1980, पृष्ठ 40-41 ।
2 सच्चिदानन्द सिन्हा, [illegible] 1985, पृ. 8-9 ।

(15) **केन्द्र-राज्य सम्बन्धो में तनाव**—आलोचकों का कहना है कि वर्तमान शासन प्रणाली के अन्तर्गत केन्द्र-राज्य सम्बन्धो मे परस्पर अविश्वास बढा है। कई राज्य सरकारो ने ऐसी भी शिकायतें की कि अधिक-से-अधिक अधिकार अपने हाथ मे लेकर केन्द्र प्रदेशो की पूरी राजनीतिक और प्रशासन को अपना पराश्रयी बनाता रहा है। फरवरी 1980 मे नौ राज्यो की विधान सभाएँ भंग करना देश के सघीय ढाँचे की परिकल्पना पर ही एक आक्रमण था। सन् 1978 मे एन. टी. रामाराव की सरकार (आन्ध्र प्रदेश) को बर्खास्त करना संघीय व्यवस्था का परिहास करने जैसा था।

(16) **केन्द्रीयकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति**—लोकतन्त्र की वास्तविक शक्ति जनता की चेतना और पद्धति के मूल्यो मे विश्वास मे निहित होती है। किसी भी लोकतन्त्र को शक्ति भी नीचे से मिलती है। हमारे देश मे यह दुर्भाग्य ही है कि नीचे से शक्ति का केन्द्र तक पहुँचना निरन्तर कम होता जा रहा है।

(17) **अनुशासनहीनता**—भारत मे लोकतन्त्र को मुख्य खतरा अनुशासनहीनता से है। कुछ लोग लोकतन्त्र मे विश्वास नही करते और इतने निराश हो चुके हैं कि हिंसा और अराजकता पर उतर आये हैं, वे 'वाक आउट' और प्रदर्शन मे विश्वास करते हैं। इन्दिरा गाँधी की हत्या (1984), दिल्ली मे सिक्खो की हत्याएँ, लोगो का जिन्दा जलाया जाना, पजाब और कश्मीर मे आतंकवाद का फैलाव आदि अनुशासनहीनता के सुनियोजित उदाहरण हैं। आरक्षण विरोधी आन्दोलन की ओट मे अहमदाबाद (गुजरात) मे बम विस्फोट, छुरेबाजी और पथराव की घटनाएँ आम बात हो गयी हैं।

(18) **आर्थिक स्वतन्त्रता का अभाव**—लोकतन्त्र के लिए पहली शर्त यह है कि सभी को आर्थिक प्रगति के समान अवसर मिले हमारे देश की सामान्य मेहनतकश जनता की आस्था लोकतन्त्र मे है किन्तु हमारी आज की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था लाभ के पहिये से बँधी हुई है। ज्यादा पैदावार के बावजूद औसत भारतीय के आहार की मात्रा और गुण मे विशेष अन्तर नही आया है। औसत भारतीय के आहार मे पौष्टिक तत्त्वो की खोज करने की बात करना भी हास्यास्पद लगता है। राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ-साथ आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना के बिना ससदीय शासन कदापि सफल नही हो सकता। वर्तमान लोकतन्त्र तभी जीवित रह सकता है जब वह विकास के कार्य तीव्रतम गति से सफलतापूर्वक चला सके। डॉ. **भीमराव अम्बेडकर** ने ठीक ही कहा था कि "हम सामाजिक और आर्थिक असमानताओ से ग्रस्त इस राष्ट्र को ससदीय लोकतन्त्र रूपी राजनीतिक समानता का अस्त्र दे तो रहे है लेकिन समानता के लिए हमे अनगिनत अन्तर्विरोधो से लडना होगा और यह एक दुष्कर कार्य होगा।"

(19) **जातिवाद और अस्पृश्यता से खतरा**—जातिवाद और अस्पृश्यता से देश की एकता छिन्न-भिन्न हो सकती है और लोकतन्त्र को बडा धक्का पहुँच सकता है। जातिवाद तथा सम्प्रदायवाद की भावना मानवता के विरुद्ध है। हमारे चुनावो मे आज भी उसे बढ़ावा दिया जाता है। ऐसी संकीर्ण भावनाओं से न केवल राष्ट्र की एकता को खतरा है अपितु सामाजिक और राजनीतिक समता का मार्ग भी अवरुद्ध होता है।

भारतीय लोकतन्त्र के सबल तत्त्व
(THE STRONG POINTS OF INDIAN DEMOCRACY)

भारत के लोग संसदीय लोकतन्त्र के विरोधी नही हैं। भारत मे लोकतन्त्र के सभी रोगो का निदान अधिक लोकतन्त्र के द्वारा ही हो सकता है। भारत मे लोकतन्त्र विफल भी नही हुआ है। यह तो एक संस्था है और ऐसी सस्था जो सबसे कम खराब राजनीतिक व्यवस्था है। देश मे संसदीय लोकतन्त्र अपनी जड़ें जमा रहा है और छोटे-मोटे बवण्डरो का सामना करने की

क्षमता उसमें आ गयी है। **श्री मोरारजी देसाई** ने लिखा है, "आज इस देश के सभी क्षेत्रों मे कुछ-न-कुछ खामियाँ दीख पडती हैं....पर सिर्फ इस कारण यह कहना ठीक नही कि ससदीय जीवन के सूत्र टूटने लगे हैं।"[1] ससदीय लोकतन्त्र की बुनियादी धारणाओ का बराबर पालन हुआ है। देश का नेतृत्व प्रधानमन्त्री के हाथ मे रहा है और मन्त्रिमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी रहा है। समाज के विखण्डित ढाँचे में राजनीतिक संस्थाओं, मूल्यों और विचारो का प्रवेश हुआ है। समाज के विविध वर्गों को राजनीतिक व्यवस्था में स्थान मिला है, उन्हें इनका लाभ और स्थान मिला है और उन पर इनकी जिम्मेदारियाँ भी आयी है। अब तक जो गाँव राजनीतिक व्यवस्था से दूर थे वे इसके पास आ रहे हैं।[2] देश की जनता मे जागरूकता बढ रही है और राष्ट्रहित की चेतना ससदीय लोकतन्त्र के मन्तव्य को उजागर कर देती है जैसा कि **डॉ. सुभाष काश्यप** ने लिखा है, "भारतीय मतदाता किसी भी दल को सत्ता से वंचित कर सकता है और अपने देश की राजनीतिक संरचना तथा इतिहास के प्रवाह को बदल सकता है। यही तथ्य लोकतन्त्र का भार और आधार है।"[3]

मार्च 1977 के छठे लोकसभा चुनावो मे उसने (मतदाताओ ने) तीस वर्षो के कांग्रेसी शासन को जड़ मूल से उखाड़ फेंका। गद्दी पर आसीन प्रधानमन्त्री (श्रीमती गाँधी) को रायबरेली चुनाव क्षेत्र से हजारों वोटो से हारना पडा। इसके बाद मतदाता ने दूसरी क्रान्ति के मसीहा जनता पार्टी के नेताओं मे चलने वाली कुर्सी की लडाई को ढाई वर्षों तक मूक दर्शक बनकर देखा और जब जनवरी 1980 में उसे मौका मिला तो उसने एक ही झटके से इन मसीहाओ को आसमान से लाकर धरती पर पटक दिया। कहाँ तो मार्च 1977 मे जनता पार्टी को लोकसभा मे 301 स्थान प्राप्त हुए थे और कहाँ जनवरी 1980 में उसकी संख्या घटकर केवल 31 रह गयी। 1984 मे कांग्रेस (इ) को 400 से भी अधिक स्थान प्राप्त हुए और 1989 के लोकसभा चुनावो मे उसे मात्र 193 स्थान प्राप्त हुए। उत्तरी भारत के अनेक राज्यों में कांग्रेस की करारी पराजय हुई। 1977, 1980, 1984 तथा 1985 से 1990 तक कतिपय राज्य विधानसभाओ के चुनाव भारतीय जनता की लोकतान्त्रिक जीवन मार्ग में गहरी आस्था, राजनीतिक जागरूकता और परिपक्वता का परिचय देते हैं और यह तथ्य भारतीय लोकतन्त्र का सबसे अधिक सबल पक्ष है।

हमारी राजनीतिक व्यवस्था मे अनेक सबल तत्त्व मौजूद हैं जिनके फलस्वरूप सामान्य काल और संकटकाल मे राज व्यवस्था के अस्तित्व की रक्षा की जा सकती है। ये तत्त्व इस प्रकार हैं :

(1) **संसद**—भारतीय संसद भारतीय प्रजातन्त्र का स्पष्ट प्रतीक है और कार्यपालिका की राजनीतिक शक्ति का स्रोत संसद ही है। राष्ट्रीय महत्त्व के अनेक प्रश्नो एव समस्याओ के निर्धारण में ससद की निर्णायक भूमिका रही हैं। ऐसे भी अवसर आये है जब ससदीय दबाव ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से मन्त्रियो को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया। स्वतंत्रता के बाद आर. के. शनमुखम् चेट्टी, टी. टी. कृष्णामाचारी, के. डी. मालवीय, वी. के. कृष्णनमेनन, गुलजारीलाल नन्दा आदि मन्त्रियो को ससदीय दबाव के कारण ही त्यागपत्र देना पड़ा।

(2) **सुदृढ़ केन्द्रीय नेतृत्व**—श्रीमती गाँधी की हत्या के बाद लोग देश मे अराजकता की स्थिति का अनुमान लगा रहे थे। राजीव गाँधी के नेतृत्व में सुदृढ केन्द्रीय नेतृत्व का उदय हुआ लोकसभा चुनावो (1984) मे उन्हे जनता का अटूट विश्वास प्राप्त हुआ। यदि वे जनता में

---

[1] मोरारजी देसाई : 'भारत में संसदीय लोकतन्त्र', लोकतन्त्र समीक्षा, जनवरी-मार्च 1969, पृ. 2-3।

[2] रजनी कोठारी : **भारत में राजनीति**, पृ. 9।

[3] डॉ. सुभाष काश्यप, **दिनमान**, 6 सितम्बर 1970, पृ. 6-7।

अपनी विश्वसनीयता बनाये रखते तो उनका युवा नेतृत्व आन्तरिक और बाह्य खतरों का आसानी से मुकाबला कर सकता था। नवी लोकसभा के चुनावों के बाद भी विश्वनाथ प्रतापसिंह के रूप में विश्वसनीय और स्वच्छ छवि के नेतृत्व का उदय हुआ है।

(3) **धर्मनिरपेक्षता**—हमारे लोकतन्त्र का बुनियादी सिद्धान्त धर्मनिरपेक्षता है। भारतीय समाज के सभी अल्पसंख्यकों को बिना किसी धार्मिक भेदभाव के लोकतन्त्रात्मक पद्धति में भाग लेने का अवसर प्रदान किया गया है। अल्पसंख्यक समुदाय का नागरिक न केवल मतदान कर सकता है अपितु ऊँचे शासकीय और राजनीतिक पद प्राप्त कर सकता है या चुना जा सकता है। इसमें जन्म, जाति, धर्म अथवा लिंग आदि के आधार पर भेदभाव नहीं किया जा सकता।

(4) **आर्थिक नियोजन**—भारत में यह महसूस किया गया कि आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना के बिना राजनीतिक लोकतन्त्र व्यर्थ है। अतः आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए नियोजित आर्थिक विकास का सूत्रपात हुआ है। यद्यपि आर्थिक नियोजन के द्वारा देश में आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति लाने के प्रयासों की वांछित प्रगति नहीं हो सकी है तथापि गरीबी और आर्थिक विषमता के तेजी से प्रसार पर अंकुश लगा है। आर्थिक-प्रगति का आधार स्थल तैयार हो गया है।

(5) **विकेन्द्रीयकरण पर बल**—भारत में पंचायती राज की स्थापना की गयी और आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण किया गया। स्थानीय समस्याओं के समाधान में पंचायतों की भूमिका दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। कई राज्यों ने ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में पंचायतों पर महती जिम्मेदारी डाली है। निश्चित ही पंचायती राज-व्यवस्था में संसदीय लोकतन्त्र को गाँव-गाँव और घर-घर तक पहुँचाने का एक सुन्दर अभियान इस देश में चल रहा है।

संसदीय लोकतन्त्र को सुदृढ़ बनाने हेतु सुझाव
(SUGGESTIONS IN MAKING PARLIAMENTARY DEMOCRACY STRONG)

यदि हमें भारत में संसदीय लोकतन्त्र को अधिक सार्थक बनाना है तो हमारी राजनीतिक संरचना में अविलम्ब निम्नलिखित ठोस सुधार करने होंगे—**सर्वप्रथम**, दल-बदल को रोकना होगा ताकि सत्ता हथियाने की विकृत मनोवृत्ति पर काबू पाया जा सके। 52वाँ संवैधानिक संशोधन इस दिशा में किया गया सराहनीय प्रयास है।

द्वितीय, प्रभावशाली विरोधी दल को एक 'सत्यागत' आवश्यकता मानते हुए विकसित करना होगा। राजनीतिक दलों के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को चाहे-अनचाहे तीव्रतर करना होगा ताकि सुदृढ़ प्रतिपक्ष के निर्माण में आधुनिक अवसर उपलब्ध हो सकें।

तृतीय, लोकतन्त्र में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। यह विरोधी दल को मानना चाहिए तथा आचरण में उतारना चाहिए। संसदीय लोकतन्त्र में विरोधी पक्ष की जिम्मेदारी यह भी है कि वह विरोध का बहाना बनाकर विद्रोह और अराजकता को न भड़काये। लोकतन्त्र एक ऐसा खेल है जो सहमति की अपेक्षा करता है और वह नियमों पर आधारित होता है।

चतुर्थ, प्रशासन को अधिक उत्तरदायी और कार्यकुशल बनाना होगा। शासकीय कर्मचारियों में इस भावना का उत्तरोत्तर विकास करना होगा कि वे जनता के सेवक हैं न कि मालिक।

पंचम, संसदीय परामर्शदात्री समितियों की कार्यक्षमता में वृद्धि करनी होगी ताकि प्रशासन पर संसदीय नियन्त्रण यथार्थ बन सके।

षष्ठम, संसद और विधानमण्डल के सदस्यों को संसदीय प्रक्रिया और कार्यविधि में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। सदस्यों की वैयक्तिक योग्यता वस्तुतः संसदीय संगठन को बल देती है।

सप्तम, मतदाताओं की राजनीतिक चेतना जाग्रत करनी होगी ताकि चुनाव के अवसर

पर मतदान द्वारा अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति दे। यथार्थ मे लोकतन्त्र का आधार जनता की सहमति है और हमारी मुख्य समस्या है कि जन-सहमति का दायरा कैसे बढ़ाया जाये ? पं. नेहरू के अनुसार, "मैं प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के प्रति पूर्णतः आशान्वित हूँ। भारत में संसदात्मक संस्थाओं की सफलता की कुंजी हमारे हजारो-लाखों मतदाता ही हैं। बस आवश्यकता है उनकी मनोवृत्तियों को निखारने की।'

अष्टम्, संसदीय संस्थाओ के संचालन में भाग लेने वाले योग्य निष्ठावान और ईमानदार प्रतिनिधियो को चुनावो मे सफल बनाया जाना चाहिए। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने संविधान सभा की कार्यवाही समाप्त करते समय अपने समापन भाषण मे कितना उपयुक्त कहा था, "संविधान मे कुछ भी प्रावधान हो या न हो, देश का कल्याण इस पर निर्भर करेगा कि उसका शासन कैसा है और शासन निर्भर करेगा शासकों पर। कहा जाता है किसी देश को वैसी ही सरकार मिलती है जिसका वह अधिकारी हो। जिन लोगों को चुना गया यदि वे योग्य, ईमानदार तथा चरित्र और निष्ठा वाले व्यक्ति हुए तो वे त्रुटिपूर्ण संविधान को भी सर्वोत्तम बना देंगे। यदि उनमें इसकी कमी हुई तो संविधान देश को नही बचा सकता।"[1]

नवम्, हमारी चुनाव प्रक्रिया मे अविलम्ब सुधार किया जाना चाहिए। खर्चीली और दूषित चुनाव प्रणाली के कारण आज हमारा लोकतन्त्र धनिकतन्त्र के रूप में परिवर्तित हो गया है। अल्पमतीय सरकारो के दौर को समाप्त करने के लिए वर्तमान दूषित निर्वाचन-प्रणाली के स्थान पर एक मिश्रित प्रणाली अपनानी चाहिए जिसे बहुमत-प्रणाली तथा सूची-प्रणाली का मिश्रित रूप कहा जा सकता है। मिश्रित प्रणाली के अनुसार व्यवस्थापिका के कुल सदस्यो के आधे भाग को मतदाताओ के प्रत्यक्ष मतदान द्वारा बहुमत-प्रणाली के अनुसार और आधे भाग को प्राप्त दलीय जन-समर्थन के आधार पर सूची-प्रणाली के आधार का निर्वाचन किया जायेगा। इस प्रणाली मे प्रत्येक मतदाता को एक स्थान पर मत प्रदान करने का अधिकार प्राप्त होगा। अपने इच्छित राजनीतिक दल के लिए और अपने इच्छित प्रत्याशी के लिए। इस चुनाव पद्धति से प्रत्येक राजनीतिक दल स्वय को प्राप्त जन-समर्थन के अनुसार पूर्वघोषित सूची के आधार पर अपने सदस्य व्यवस्थापिका के लिए मनोनीत कर सकेगा और साथ ही वह बहुमत-प्रणाली के अनुसार विजय प्राप्त करने वाले अपने लोकप्रिय सदस्यो को भी व्यवस्थापिका के सदस्यो के रूप मे भेज सकेगा। इस प्रकार संसद मे प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में बहुमत-प्रणाली के व्यवहार से उत्पन्न होने वाली विषमता का अन्त हो जायेगा और हर राजनीतिक दल स्वयं को प्राप्त जन-समर्थन के आधार पर संसद मे उपयुक्त प्रतिनिधित्व प्राप्त करने में सफल हो जायेगा।

अन्त में, आर्थिक दृष्टि से नये कीर्तिमान स्थापित करने होंगे, महँगाई रोकनी होगी और बेरोजगारो के लिए काम जुटाना होगा। भारत मे लोकतन्त्र का भविष्य यथार्थ मे उसकी आर्थिक उन्नति और सामाजिक न्याय की व्यवस्थाओ पर भी निर्भर करता है।

भारत में लोकतन्त्र का भविष्य
(FUTURE OF DEMOCRACY IN INDIA)

लोकतन्त्र मूलतः एक नैतिक व्यवस्था है। लोकतन्त्र एक तरीके की जिन्दगी है। निर्णय खुले तौर पर किये जाने चाहिए, जनता को शान्तिपूर्ण ढग से सरकारो को बदलने और नयी सरकार को चुनने का अधिकार होना चाहिए। ससदीय लोकतन्त्र मे यदि विरोधी पक्ष बहुमत के शासन को नही मानता है तो ससदीय प्रणाली काम नही कर सकेगी। सरकार सहमति से चलती है और विरोधी पक्ष रजामन्दी से चलता है। भारत मे सरकार और विरोध पक्ष मे सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों के विकास पर ही लोकतन्त्र का भविष्य निर्भर करता है।

---

[1] **कॉन्स्टीट्यूट असेम्बली डिबेट्स**, खण्ड 11, पृ० 984-995।

भारतीय लोकतन्त्र का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि भारत की जनता और नेता कितने महत्त्वाकाक्षी है ? उनकी महत्त्वाकाक्षा का स्तर क्या है ? प्रो. पुष्पेश पन्त ने लिखा है कि "भारतीय जनतन्त्र की सबसे बड़ी बीमारी महत्त्वाकाक्षा का अभाव है । न जनता महत्त्वाकाक्षी है न नेता । नेताओ की महत्त्वाकाक्षा विधानसभा, ससद तक चुने जाने तक सीमित है, या मन्त्री विशेष बनने तक । न उन्हे इतिहास मे अपना स्थान सुरक्षित करने की अभिलाषा है, न अपना नाम किसी नीति निर्णय के साथ जोड़ने की ललक ।"

भारत मे लोकतन्त्र का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि (i) देश की प्राथमिक आर्थिक समस्याओ का हम कितनी जल्दी समाधान खोज पाते हैं ? (ii) स्वच्छ चुनाव की व्यवस्था के लिए प्रयुक्त काले धन की बुराई को हम कितनी जल्दी दूर कर पाते है ? (iii) निरकुश और सामन्तवादी प्रवृत्तियो को कितनी जल्दी समाप्त करने मे हम सफल हो पाते हैं ? (iv) विपक्ष के विचारो का शासक दल किस सीमा तक आदर और सम्मान करता है ?

हमारा देश आज राजनीतिक और आर्थिक भँवर मे फँसा हुआ है तथा देश भर में लोग राजनीतिक दलो और उनके नेताओ की हरकतो से ऊब गये है तथा लोकतन्त्र मे उनकी आस्था ही डगमगा रही है । वर्तमान राजनीतिक स्थिति का सबसे निकृष्ट पहलू यह है कि राजनीतिक प्रक्रिया मे ठहराव आ गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि हम लोकतन्त्र के चौराहे पर आ गये हैं क्योंकि यदि हम गौर करें तो देखेंगे कि हमारे देश के इर्द-गिर्द 5,000 मील या अधिक के घेरे मे पश्चिम मे अतलान्तक के किनारे मोरक्को से लेकर पूर्व मे तीन सागर तक केवल भारत तथा श्रीलका को छोडकर सभी देश या तो प्रत्यक्ष तानाशाही के या किसी न किसी तरह के एकतन्त्र शासन के अन्तर्गत हैं । हमारे देश मे लोकतन्त्र जीवित है, यह गर्व की बात है और सम्मान की भी, पर स्वतन्त्रता को सदैव निश्चित नही मानना चाहिए । प्रो. लास्की ने ठीक कहा है कि 'सतत् जागरूकता ही स्वतन्त्रता की कीमत है ।' जब तक भारत के लोग जागरूक रहेंगे तब तक लोकतन्त्र का चिराग इस देश मे जलता रहेगा ।

55

भारत में संसदीय लोकतन्त्र का विकल्प : अध्यक्षीय लोकतन्त्र का मॉडल

[ALTERNATIVE OF PARLIAMENTARY DEMOCRACY IN INDIA : MODEL OF PRESIDENTIAL DEMOCRACY]

भारत मे ससदीय शासन-प्रणाली की स्थापना की गयी है। संसदीय शासन-प्रणाली मे कार्यपालिका तथा विधायिका का अभिन्न सम्बन्ध होता है और कार्यपालिका, विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है।[1] भारत में राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है और मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यकारी। मन्त्रिमण्डल, जिसका नेतृत्व प्रधानमन्त्री करता है लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है तथा उसी समय तक पदारूढ रह सकता है जब तक कि लोकसभा का उसे विश्वास प्राप्त हो।[2] लोकसभा मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध 'कामरोको प्रस्ताव', अथवा 'अविश्वास प्रस्ताव' अथवा 'निन्दा प्रस्ताव' पारित करके उसे त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर सकती है।

भारत में संसदीय शासन-प्रणाली : औचित्य—शासन-व्यवस्था के प्रकार का चयन भारत के नवीन सविधान की रचना मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। सविधान-निर्मात्री सभा के समक्ष तीन प्रकार की उत्तरदायी (लोकतन्त्रात्मक) शासन-प्रणालियो का विकल्प था—स्विस प्रकार की बहुल कार्यपालिका, अमरीकी प्रकार की अध्यक्षीय शासन-प्रणाली तथा ब्रिटिश प्रकार की ससदीय शासन-व्यवस्था। सभा के गैर-काग्रेसी सदस्य विशेषतया अल्पसख्यक समुदायो के सदस्य स्विस प्रकार की शासक-व्यवस्था चाहते थे।[3] परन्तु कुछ सदस्य ऐसे भी थे जिन्हे अमरीकी प्रकार की शासन-व्यवस्था पसन्द थी।[4] इन सदस्यो का कहना था कि भारत को एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता है और यह केवल अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के अन्तर्गत ही सम्भव है। इन सदस्यो का एक अन्य तर्क यह भी था स्वतन्त्र भारत को एक नवीन प्रकार की कार्यपालिका से अपनी जीवन-यात्रा आरम्भ करनी चाहिए और उसे दासता की समूची विरासत से अपने सम्बन्ध विच्छेद कर लेने चाहिए। किन्तु संविधान सभा के अधिकांश सदस्य ससदीय कार्यपालिका के पक्ष मे थे। इस सम्बन्ध मे सामान्य भावना को व्यक्त करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि 'हम अब तक प्राप्त अनुभव के प्रतिकूल दिशा मे नही जा सकते।" लम्बे वाद-विवाद के बाद सविधान-सभा मे जब ससदीय शासन-प्रणाली के पक्ष मे निर्णय लिया गया तो

---

1 D. D. Verney · *The Analysis of Political System* (London, 1959), p. 137.
2 *India · Constitution*, Article 75.
3 *C A D*, Vol. VII p 296.
4 *Ibid*, p. 284.

मुख्यतः दो प्रश्न उठाये गये : प्रथम लोकतान्त्रिक संवैधानिक ढाँचे के अन्तर्गत सबल कार्यपालिका किस प्रकार बनायी जा सकती है ? द्वितीय, किस प्रकार की कार्यपालिका देश की परिस्थितियों के अनुकूल है ?[1] इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्री के. एम. मुन्शी ने यह अभिमत प्रकट किया कि "शक्तिशाली एवं लोचपूर्ण सरकार ब्रिटेन में विद्यमान है, क्योंकि कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिमण्डल में निहित है, जो निम्न सदन के बहुमत पर आधारित है।......इसके साथ ही हमें इस तथ्य को भूलना नहीं चाहिए कि गत सौ वर्षों में भारतीय सार्वजनिक जीवन इंग्लैण्ड की संवैधानिक विधि की परम्पराओं से संचालित होता रहा है। इसमें से अधिकांश ने ब्रिटिश शासन-प्रणाली को सर्वोत्तम माना है और विगत तीस-चालीस वर्षों में इस देश के शासन में अंशतः उत्तरदायी सरकार का संचालन धीरे-धीरे प्रारम्भ कर दिया गया था। आज भारतीय अधिराज्य एक पूर्णरूपेण संसदीय सरकार के रूप में कार्य कर रहा है। इतने अनुभव के बाद हम परम्परा को तोड़कर नूतन प्रयोग क्यों करें ?"[2]

भारत में संसदीय व्यवस्था का क्रियान्वयन : अनुभवात्मक त्रुटियाँ
(THE WORKING OF PARLIAMENTARY SYSTEM IN INDIA : EMPIRICAL DEFECTS)

पिछले 44 वर्षों से भारत का शासन संसदीय ढाँचे की लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत संचालित हो रहा है। विगत कुछ वर्षों में देश की राजनीति के क्षेत्र में जो कुछ हो रहा है उससे आम जनता का मन भारी क्षोभ, ग्लानि और एक विचित्र-सी खिन्नता से भरता जा रहा है। सार्वजनिक जीवन में नैतिक मूल्यों के अवमूल्यन, राजनीतिक दलों के विघटन और आये दिन दल-बदल एवं सरकारों (केन्द्र एवं राज्य) के उलटे जाने के सन्दर्भ में जो एक प्रमुख संवैधानिक प्रश्न उठाया जा रहा है, वह है—क्या ब्रितानी ढंग की संसदीय प्रणाली भारत के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हुई है ? वस्तुतः भारत की संसदीय प्रणाली में कई कमियाँ और संस्थानात्मक विकृतियाँ हैं, जिनका सम्बन्ध प्रायः देश में होने वाले विभिन्न आर्थिक-राजनीतिक संकटों से जोड़ा जाता रहा है। कतिपय प्रमुख त्रुटियाँ इस प्रकार हैं :

प्रथम, सशक्त एवं उत्तरदायी प्रतिपक्ष संसदीय व्यवस्था के संचालन की अपरिहार्य शर्त है, किन्तु भारत में सशक्त प्रतिपक्ष का लम्बे समय तक निर्माण नहीं हो सका। संसदीय लोकतन्त्र में परिवर्तन मतों के आधार पर होना है, किन्तु हमारे देश में प्रतिपक्ष में बैठने वाले दलों का उद्देश्य सरकार को अस्त-व्यस्त करना और सम्पूर्ण राष्ट्रीय कार्यक्रमों को छिन्न-भिन्न करके सत्ता हथियाना रहा है। द्वितीय, राजनीतिक दृष्टि से स्थिर सरकार को अच्छी सरकार माना जाता है, किन्तु भारत में राजनीतिक अस्थिरता और अनिर्णयता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण शक्तिशून्यता की स्थिति उत्पन्न होने लगी है। सन् 1967 के आम चुनाव के बाद अनेक राज्यों में मिली-जुली सरकारों का गठन हुआ और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी। सन् 1979 में जनता पार्टी के विघटन से केन्द्र में अस्थिरता का जो सिलसिला चला, उससे संसदीय व्यवस्था को और तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा है। दिसम्बर 1989 से कार्यरत केन्द्रीय सरकार भी एक अल्पमतीय सरकार है। तृतीय, संसद और राज्य विधानमण्डलों की कार्यप्रणाली का गुणात्मक ह्रास हुआ है, वाद-विवाद का स्तर घटा है। व्यक्तिगत दोषारोपण और छिद्रान्वेषण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण संसदीय मंच का अवमूल्यन हुआ है। कई विधानसभाओं में अध्यक्षों ने दलीय स्वार्थों की पूर्ति का साधन बनकर अध्यक्षीय शासन की गरिमा तक को ठेस पहुँचायी, जिससे संसदीय प्रणाली की अवमानना ही हुई है। डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी के अनुसार, "स्वतन्त्रता के पश्चात् विधायकों की

---

[1] M. V. Pylee : *Constitutional Government in India*, p. 375.
[2] *C. A. D.*, Vol VII, p. 984.

गुणवत्ता मे ह्रास होता गया जो चिन्ता का विषय है। दल के जो उम्मीदवार चुने जाते है, वे योग्यता के आधार पर नही चुने जाते। अधिकतर अत्यन्त साधारण किस्म के उम्मीदवारों का चुनाव होता है। विधायको मे प्रतिभा, विदग्धता और लगन का अभाव पाया जाता है और हमारे सार्वजनिक प्रशासन के गिरते हुए स्तरो का यह एक प्रधान कारण हो सकता है।"[1] चतुर्थ, भारतीय सविधान का उद्देश्य था कि ससद और कार्यपालिका की सत्ता भिन्न रहे, किन्तु व्यवहार मे उनके कामकाज का विचित्र और वाछनीय मिलाप हो गया। सिद्धान्ततः जब तक संसद की स्वीकृति हो, मन्त्रिमण्डल रह सकता है, किन्तु व्यवहार मे मन्त्रिमण्डल ने ससद के काम और उनके अधिकार अधिकाधिक मात्रा मे हथिया लिये है। वर्तमान पार्टी पद्धति, पार्टी अनुशासन एवं दलीय निष्ठा के कारण ससद का दर्जा घटता गया। आज ससद केवल सीमित सतर्कता का साधन रह गयी है। पंचम, दल-बदल की प्रवृत्ति के कारण हमारा पूरा ससदीय वातावरण ही दूषित हो गया है और मूल्यो की राजनीति के स्थान पर सत्तालोलुपता की राजनीति का सूत्रपात हुआ है। दल-बदल के कारण केन्द्र और राज्यो मे ससदीय सरकार का सचालन खतरे मे पडा और लोकप्रिय सरकारो के संगठन मे बाधा आयी। दल-बदल के कारण प्रशासन मे नौकरशाही का बोलबाला बढा और गरीब जनता पर निर्वाचनो का आर्थिक बोझ लाद दिया गया। दल-बदल से जहाँ शासन में अराजक तत्वो का प्रभाव बढा, वहाँ प्रशासन ठप्प-सा हो गया। वस्तुत. दल-बदल का रोग एक राष्ट्रीय व्याधि का रूप धारण कर चुका है जो हमारे लोकतन्त्र के प्राण-तत्त्वो को अन्दर ही अन्दर खाये जा रहा है।[2] षष्ठ, नैतिक मूल्यो का अनवरत ह्रास हुआ है। अब राजनीति और राजनीतिज्ञो को काफी सन्देह, अनादर और तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा है किसी भी प्रतिनिधि लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था मे ऐसी स्थिति भयावह है जब जनता के हृदयो मे उसके अपने चुने हुए प्रतिनिधियो की ही निष्ठा और ईमानदारी मे विश्वास न रहे। सप्तम, भारत मे राजनीतिक दलो की बहुलता ससदीय शासन के सुचारु संचालन मे एक बडी बाधा सिद्ध हो रही है। राजनीतिक दलो मे परस्पर सहयोग एव सामंजस्य की भावना का अभाव है जिससे सरकार का गठन करना तक कठिन हो जाता है।

एन. ए पालकीवाला के अनुसार स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद चार क्षेत्रो मे हम बुनियादी रूप से असफल रहे हैं :

(1) कानून और व्यवस्था स्थापित करने मे असफलता।
(2) आर्थिक समृद्धि लाने के लिए आर्थिक स्रोतो का समुचित दोहन करने मे असफलता,
(3) मानव शक्ति के विकास मे असफलता, तथा
(4) नैतिक दृष्टि से नेतृत्व प्रदान करने मे असफलता।[3]

---

[1] डॉ लक्ष्मीमल सिंघवी : भारतीय संसद—नयी दृष्टि, लोकतन्त्र समीक्षा, जुलाई-सितम्बर 1971, पृष्ठ 15।

[2] 52वें संविधान सशोधन (1985) द्वारा दल-बदल को रोकने का साहसिक कदम उठाया गया है।

[3] "The four cosy failures of the government and the people, which are the direct causes of the present sorry spectacle are (i) Failure to maintain law and order We have too much government and too little administration, too many servents and too little public service, too many controls and too little welfare, too many laws and too little justice. (ii) Failure to bring the unbounded economic potential of the country to fruition. (iii) Failure to make human investment—investment in education, family planning, nutrition and public health, in contradistinction to physical investment in factories and plants (iv) Failure to provide moral leadership. We do not live by bread alone and we are greater than we know".

—N. A. Palkhiwala, *We the People* 1984, p. 5.

डॉ. अगरेश अवस्थी ने मध्य प्रदेश राजनीति विज्ञान एसोसियेशन में भाषण देते हुए भारतीय राज व्यवस्था की पाँच दुर्बलताओं की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित कराया—(i) संसदीय प्रजातन्त्र के स्थान पर लोक लुभावनकारी (Populist) जनतन्त्र की ओर प्रवृत्ति, (ii) राजनीति में बढ़ती हुई हिंसा, (iii) देश में धीरे-धीरे चल रही राजनीतिक और संविधानिक संस्थाओं जैसे न्यायपालिका, संसद आदि के विघटन की प्रक्रिया, (iv) नैतिक मूल्यों का तीव्र ह्रास, और (v) राजनीति का अपराधीकरण।

यह सवाल पूछना जरूरी है कि क्या भारत में वे सभी आवश्यक स्थितियाँ मौजूद हैं जिनका होना संसदीय पद्धति के व्यवहार्य होने के लिए जरूरी है ? संसदीय पद्धति एक खास तरह का मिजाज, चरित्र और दृष्टिकोण माँगती है, जो हमारे यहाँ नदारद है। हम इस प्रणाली की सामाजिक मनोवैज्ञानिक जरूरतें पूरी नहीं करते। तर्क के लिए यह कहा जा सकता है कि काम करने के दौरान इन गुणों का विकास किया जा सकता है और पिछले वर्षों में कुछ हद तक हुआ भी है।

लेकिन सबसे गम्भीर अभाव यह है कि हमारे यहाँ वह दलीय पद्धति ही नहीं है जिसके आधार पर यह प्रणाली काम करती है। सफल संसदीय शासन के लिए द्विदलीय प्रणाली का होना न्यूनतम आवश्यकता है। बहु-दलीय प्रणाली जो फ्रांस, इटली, हॉलैण्ड तथा अन्य महाद्वीपीय राष्ट्रों में प्रचलित है, संसदीय सरकार को कुशलतापूर्वक चलाने के उपयुक्त नहीं है। भारतीय अनुभव का निष्कर्ष यह है कि एक प्रभावी दल ही संसदीय पद्धति को सफलतापूर्वक चला सकता है। इमरजेन्सी लगने के बाद प्रभावी दल वाली यह पद्धति क्षय का शिकार हो गयी और उस पद्धति का उदय हुआ जिसे एक प्रभावी व्यक्ति वाली पद्धति कह सकते हैं।

यह डर अकारण नहीं है कि यदि सरकारें अपने अस्तित्व के लिए संसदीय बहुमत पर इसी तरह निर्भर रहीं, तो देर-सबेर हमें राजनीतिक अस्थिरता के सम्मुखीन होना पड़ेगा। हमें कोई ऐसी पद्धति निकालनी होगी जिसमें सरकार अर्थात् कार्यपालिका की एक खास अवधि सुनिश्चित हो—संसदीय बहुमत उसके पक्ष में हो अथवा नहीं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि कार्यपालिका जनता की प्रतिनिधि न रह जाये। इन जरूरतों का संकेत उस दिशा में विकास की ओर है, जहाँ शक्तियों का पृथक्करण और एक-दूसरे को रोकने-टोकने का सन्तुलन बनाये रखने की स्थिति रहे तथा विधायिका और कार्यपालिका सीधे, किन्तु अलग-अलग जनादेश प्राप्त करें और कार्य-अवधि के लिए एक-दूसरे पर निर्भर न रहें। इस प्रारूप का एक शास्त्रीय उदाहरण अमरीकी संविधान है, जिसका रूपान्तरित तथा संशोधित संस्करण फ्रांस में पाँचवें गणराज्य में देखा जा सकता है।

भारत के लिए वैकल्पिक ढाँचे की तलाश : प्रोफेसर वी. आर मेहता के विचार
(THE SEARCH FOR AN ALTERNATIVE MODEL FOR INDIA : PROFESSOR V. R. MEHTA'S COMMENTS)

प्रोफेसर वी. आर. मेहता ने अपनी पुस्तक 'आईडियोलॉजी, माडर्नाइजेशन एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया' (Ideology, Modernisation and Politics in India) में संसदीय व्यवस्था के औचित्य का प्रश्न व्यापक रूप से उठाया है। वे वर्तमान राजनीति, अर्थ-व्यवस्था तथा सामाजिक क्षेत्र में आये बिखराव का मूल कारण इस व्यवस्था में निहित विसंगतियों में देखते हैं। समाज और राज व्यवस्था में स्थिर दरार तथा विरोधाभास के इस लिजलिजी संसदीय ढाँचे को जिम्मेदार मानते हैं। हमारी जनतन्त्रीय व्यवस्था का अन्ततोगत्वा क्या ह्रास हो रहा है, लेखक का मूल प्रश्न है। डॉ मेहता का कहना है कि इस व्यवस्था ने आर्थिक विषमता में बढ़ोत्तरी की है। आर्थिक प्रतिष्ठानों पर जिन मुट्ठी भर लोगों का कब्जा है, वे ही राज्य सत्ता को हथियाये हुए

है। इस सत्तारूढ वर्ग ने जनसाधारण के हितो की निरन्तर अवहेलना की है। ग्रामीण नव-धनाढ्य और शहरी अभिजात से सांठ-गांठ कर इस तबके ने मात्र यथास्थिति का परिपोषण किया है। सामान्यतया इस व्यवस्था के माध्यम से बदलाव की अपेक्षा की गयी थी। मगर हुआ क्या? ले-देकर व्यवस्था ने सकुचित हितो के समक्ष घुटने टेक दिये। सरकारी नीति के प्रवक्ता जितनी समाजवाद, प्रगतिशील अथवा परिवर्तन की बात करते हैं, व्यवहार में कही अधिक दकियानूस सिद्ध हुए है। हम समानता की दुहाई देते है, किन्तु असमानता की खाई बढ़ती जा रही है। आम चुनावो मे धन की महती भूमिका एक वास्तविकता है। 'गांधीयन मॉडल' की अवहेलना कर पश्चिम का अन्धानुकरण लेखक की दृष्टि मे सबसे बड़ी भूल थी। यह सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास, परम्परा और आध्यात्मिक विरासत को नकारकर पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा से अभिभूत महानुभावो का एकतरफा निर्णय था। यही कारण है कि हमारे सकट का निराकरण इस गैर-भारतीय व्यवस्था से सम्भव नही हो रहा है।[1]

भारत के लिए अध्यक्षात्मक व्यवस्था का प्रतिमान : विकल्प
(THE PRESIDENTIAL MODEL FOR INDIA . AN ALTERNATIVE)

प्रसिद्ध सविधान शास्त्री नानी पालकीवाला ने लिखा है कि शासन में आवश्यक स्थिरता और दृढता लाने तथा दल-बदल जैसी प्रवृत्तियो को रोकने के लिए भारत में अमरीकी ढग की राष्ट्रपतीय प्रणाली सबसे सार्थक सिद्ध हो सकती है।[2] प्रसिद्ध उद्योगपति जे. आर. डी. टाटा के अभिमत में देश की समस्याओ का स्वरूप मुख्यत. आर्थिक है तथा उनके समाधान के लिए उच्च स्तर की तकनीकी और प्रबन्ध कुशलता की आवश्यकता है·······राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली मे प्रत्यक्ष रूप से चुना गया राष्ट्राध्यक्ष गैर-राजनीतिक तथा प्रबन्ध-विशेषज्ञों को मन्त्री पद पर नियुक्त कर राष्ट्रीय समस्याओ का सरलता से हल खोज सकता है।[3] चतुर्थ जननिर्वाचन के बाद सर्वश्री अशोक मेहता, बलराज मधोक, मधु लिमये, सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश बी. पी. सिन्हा, चरणसिंह, एम सी. छागला जैसे लोगो ने अध्यक्षीय शासन-व्यवस्था का भारत के परिप्रेक्ष्य मे प्रबल समर्थन किया था। श्री चरणसिंह ने स्वय कहा था कि "ब्रिटिश ढांचे का संसदीय लोकतन्त्र भारतीय स्वभाव के प्रतिकूल है और इसे अध्यक्षीय लोकतन्त्र मे परिवर्तित कर देना चाहिए।"

भारत के लिए अध्यक्षीय पद्धति अपनाने के पक्ष मे इसके समर्थक निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते है · प्रथम, इस शासन-प्रणाली मे सम्पूर्ण कार्यपालिका शक्ति एक निर्वाचित राष्ट्रपति में निहित होती है। राष्ट्रपति का कार्यकाल निश्चित होता है और निश्चित समय से पूर्व विधायिका उसे सरलता से हटा नही सकती जिससे शासन मे स्थायित्व आ जाता है। द्वितीय, इस शासन व्यवस्था मे राष्ट्रपति योग्यतम, विशेषज्ञ तथा कुशल प्रशासको को मन्त्रिपद पर नियुक्त करने मे सुविधाजनक स्थिति मे रहता है। उसे स्वतन्त्रता रहती है कि अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को विधानमण्डल के बाहर के लोगो मे से भी चुन सके। तृतीय, राष्ट्रपतीय व्यवस्था मे मन्त्रियो का निर्वाचन नहीं होता; अतः उन्हे अपने पद पर बने रहने के लिए सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने के साधन अपनाने की आवश्यकता नही रहती। चतुर्थ, राष्ट्रपति के मन्त्री प्रशासक होते है, न कि पेशेवर राजनीतिज्ञ। उनका ध्येय अपने प्रशासनिक विभाग का दक्षतापूर्वक संचालन करना है, न कि दलगत राजनीति मे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना। पंचम, इस शासन प्रणाली मे

---

1 V. R. Mehta, *Ideology, Modernisation* [illegible] *In India*, 1983.

2 N. A. Palkhiwala : Has the Constit[illegible] *The Illustrated Weekly of India*, [illegible] 16 1979, p 69.

3 राजस्थान पत्रिका, (जयपुर), अक्टूबर

4 दिनमान, अगस्त 12, 1974, पृ 46

दल-बदल या दल-विभाजन की सम्भावना नही रहती, क्योकि विधायिका के सदस्य जानते हैं कि दल-बदल करने से मन्त्रि-पद प्राप्त करने की कोई सम्भावना नही है। षष्ठ, अध्यक्षीय प्रणाली मे 'राष्ट्रपति' के निर्वाचन के प्रश्न को लेकर राष्ट्रीय स्वरूप एव दृष्टिकोण वाले दलो का विकास सहज हो जाता है। सप्तम्, प्रशासन का सम्पूर्ण दायित्व राष्ट्रपति के कन्धो पर होने के कारण इस शासन-प्रणाली मे शीघ्र निर्णय लिये जा सकते है। सकटकालीन परिस्थितियो मे तुलनात्मक दृष्टि से अध्यक्षात्मक सरकार अधिक सक्षम तथा प्रभावशाली होती है।[1]

देश मे राष्ट्रपति प्रणाली का समर्थन करते हुए डॉ. डी. पी. श्रीवास्तव ने कहा है कि इस प्रणाली से प्रान्तो की राजनीति मे प्रधानमन्त्री का समय नष्ट नही होगा, आर्थिक विकास पर ठीक ध्यान नही दिया जा सकेगा, पृथकतावादी शक्तियो पर नियन्त्रण होगा, गुटीय राजनीति और दल-बदल पर अंकुश लगेगा।[2]

कम से कम चार तथ्य ऐसे है, जिनकी ओर भारतीय सवैधानिक पद्धति के अध्येता को ध्यान देना चाहिए तथा मौजूदा वेस्टमिनिस्टर मॉडल को बदलने या सशोधित करने मे आग्रह के मुख्य आधार भी है

एक, ससदीय पद्धति को स्वीकार करने के पूर्व न इसके गुणो पर विचार किया गया और न भारतीय परिस्थितियो मे इसकी उपयुक्तता को परखा गया। दो, सरकार को जो प्रणाली हमने स्वीकार की, वह वेस्टमिनिस्टर मॉडल का एकदम खाटी रूप नही था। यह ससदीय और राष्ट्रपतीय दोनो पद्धतियों की विशेषताओ का सम्मिश्रण है। तीन, कार्य रूप मे यह पद्धति इतनी विकृत की जा चुकी है कि जो कुछ दिखायी पडता है, वह होता नही है और जो होता है, वह दिखायी नही पडता। चार, ससदीय प्रणाली की सरकार के लिए कुछ सुनिर्दिष्ट स्थितियों की जरूरत पडती है, जिनका भारत मे अभाव है, जिसके कारण हमारी ससदीय प्रणाली को वह सास्थानिक तथा सामाजिक मनोवैज्ञानिक समर्थन नही मिल पाता जो उसके सफलतापूर्वक कार्य करने तथा यहाँ तक कि बचे रहने के लिए भी आवश्यक है।

शासन में अमरीकी व फ्रेंच प्रतिमान (मॉडल)
(THE AMERICAN AND FRENCH MODEL OF GOVERNMENT)

राष्ट्रपति शासन-प्रणाली की चर्चा करते हुए मोटे रूप से इस समय दो प्रतिमान (मॉडल) हमारे सामने हैं—अमरीकी राष्ट्रपति व्यवस्था और फ्रेंच राष्ट्रपति व्यवस्था।

अमरीकी राष्ट्रपतीय मॉडल की विशेषताएँ है—प्रथम, कार्यपालिका, व्यवस्थापिका व न्यायपालिका का एक-दूसरे से पृथकत्व तथा हर एक का अनन्य अधिकार-क्षेत्र होना। द्वितीय, मन्त्रिमण्डल का राष्ट्रपति के पूर्णरूप से अधीन रहना। तृतीय, राजनीतिक व्यवस्था मे शक्ति-केन्द्र का अभाव होना। चतुर्थ, कार्यपालिका व्यवस्थापिका से पृथक् होने के कारण उसके प्रति उत्तरदायी नहीं रहती, प्रत्युत् संविधान के प्रति उत्तरदायी होती है। पचम, राष्ट्रपति न तो विधानमण्डल को भग कर सकता है और न ही उसे अवपीड़ित या बाध्य कर सकता है। परन्तु यह सब सैद्धान्तिक व्यवस्था है। वर्तमान समय मे ही नही, पहले भी कभी इस तरह का शासन-सगठन व्यवहार मे नहीं रहा। अमरीकी सविधान-निर्माता इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे कि शक्तियो के पूर्ण पृथक्करण मे सरकार के तीनो अगो मे गतिरोध व विरोध ही उत्पन्न होगे तथा शासन-व्यवस्था बार-बार ठप्प होती रहेगी। इसलिए उन्होने नियन्त्रण व सन्तुलन के सिद्धान्त को शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त के साथ जोड़कर अमरीका की शासन-व्यवस्था का सृजन किया। आज

---

1 सी एफ स्ट्रांग . आधुनिक राजनीतिक संविधान (हिन्दी अनुवाद) पृ. 225-29।
2 धर्मयुग, 11 अप्रैल, 1982, पृ 12।

व्यवहार मे अमरीका में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का अनवरत सम्पर्क वढ़ता जा रहा है। मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति का सेवक न रहकर सहयोगी वनता जा रहा है। राजनीतिक व्यवस्था मे राष्ट्रपति पद शक्ति-केन्द्र के रूप मे अवतरित हो रहा है। राजनीतिक दलो के विकास ने अध्यक्षात्मक व्यवस्था के शक्ति-पृथक्करण को केवल सैद्धान्तिक रूप से ही रख दिया है। आज व्यवहार में अमरीकी मॉडल शक्ति के पृथक्करण को एक सीमा तक ही अंगीकृत करता है और उस सीमा के आगे शक्ति की साझेदारी स्थापित करता है। राबर्ट सी. बोन के शब्दों मे, "अध्यक्षात्मक व्यवस्था के बारे में यह कहना अधिक सही है कि यह शक्तियो के पृथक्करण के स्थान पर शक्ति या सत्ता की साझेदारी या सत्ता की परस्पर मिश्रितता (Intermingling) की अवधारणा पर आधारित है।"[1]

विश्व के प्रमुख देशों मे फ्रांस का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। दूसरे विश्व युद्ध तक तो फ्रांस की गिनती संसार की कुछ महान शक्तियो मे थी। अब भी फ्रांस पाँच बड़ी शक्तियो मे से एक है। यूरोप में सोवियत संघ के बाद क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से फ्रांस का स्थान दूसरा है। फ्रांस के चतुर्थ गणतन्त्र (संविधान) में कई दोप रहे हैं, जिससे शासन मे अस्थिरता आ गयी, कार्यपालिका अशक्त बनी रही और विधायिका के प्रथम सदन को आवश्यकता से अधिक शक्तियाँ प्राप्त हो गयीं। विधायिका के सहयोग के लिए निर्मित समितियो ने अपने सीमा-क्षेत्र से भी अधिक अधिकारो का प्रयोग किया, जिससे अनुशासनहीनता मे वृद्धि हुई। सन् 1958 मे डिगॉल प्रधानमन्त्री बने और उन्होने कहना प्रारम्भ किया कि फ्रांस की स्थिरता के लिए राजनीतिक संस्थाओ का निर्माण नये सिरे से होना चाहिए। सरकार ऐसी होनी चाहिए, जो शासन कर सके; ससद ऐसी हो कि राष्ट्र की राजनीतिक इच्छा का प्रतिनिधित्व कर सके। इस तरह पाँचवें गणतन्त्र (संविधान) की रचना का आधार तैयार किया गया।

फ्रांस के पाँचवें सविधान की कुंजी है—स्थिरता और प्राधिकार (Stability and authority)। इसका श्रेय चतुर्थ गणतन्त्र के मन्त्रिमण्डलीय अस्थायित्व तथा शासन की शिथिलता को दूर करना है। इसमे कार्यपालिका को विधायिका से पृथक् करने का प्रयास किया गया है। राष्ट्रपति का निर्वाचन संसद द्वारा न होकर एक निर्वाचक मण्डल द्वारा होता है।[2] राष्ट्रपति को अनेक वैयक्तिक अधिकार दिये गये हैं, जिनका प्रयोग वह स्वविवेक से करता है तथा जिनसे सम्बन्धित आदेशो पर मन्त्रियो के हस्ताक्षर की आवश्यकता नही है।[3] राष्ट्रपति ही मन्त्रिमण्डल तथा प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करता है।[4] मन्त्रियो को संसद की सदस्यता से वचित किया गया है, किन्तु उन्हें संसद के द्वारा उत्तरदायी बना दिया गया है। प्रधानमन्त्री की सलाह से राष्ट्रीय सभा को भंग करने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है। राष्ट्रपति को आपातकालीन शक्तियाँ दी गयी है, जिसका निर्णायक वह स्वय है। नये संविधान द्वारा व्यवस्थापिका के दोनो सदनो की स्थिति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। प्रथम सदन अर्थात् राष्ट्रीय सभा की शक्ति कम हुई है और द्वितीय सदन—सीनेट की शक्ति बढी है।

वस्तुत: जहाँ चतुर्थ गणतन्त्र में राष्ट्रपति मात्र एक सच्चा दलाल था, वहाँ पंचम गणतन्त्र मे सांविधानिक यन्त्र का निर्णायक हो गया है। राष्ट्र का वास्तविक अध्यक्ष, राष्ट्र का प्रतीक, शासन का प्रमुख और राष्ट्रीय मंच के तुल्य बना दिया गया है, जबकि प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति का

---

1 Robert C. Bone · *Action and Organisation . An Introduction to Contemporary Political Science* (London, 1972), p 310

2 *The French Constitution*—Article 6.

3 *Ibid.*, Article 19.

4 *Ibid*, Article 8.

एजेण्ट-सा बन गया है। प्रधानमन्त्री का पद अनावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि न तो उसके पास शक्ति है और न प्रतिष्ठा। फ्रेंच राजनीतिक व्यवस्था के बारे में ग्रोगन का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि 'वह न तो अमरीकी ढग का अध्यक्षात्मक सविधान है और न अंग्रेजी ढंग का ससदात्मक सविधान ही, वह तो दोनो का मिश्रण है।'

सक्षेप मे, पचम गणतन्त्र का मुख्य उद्देश्य मन्त्रिमण्डलीय अस्थिरता को दूर करना था, क्योकि इससे पूर्व फ्रेंच मन्त्रिमण्डल का औसत जीवनकाल नौ मास से भी कम होता था। चतुर्थ गणतन्त्र से 1946 से 1958 तक 23 मन्त्रिमण्डल बने और बिगडे, जिनकी औसत आयु मात्र छः महीने की रही।

श्रीलंका की राष्ट्रपति प्रणाली
(SRILANKA'S PRESIDENTIAL SYSTEM)

जुलाई 1977 मे श्रीलंका मे जो चुनाव हुए उनमे श्रीमती भण्डारनायके के दल श्रीलका फ्रीडम पार्टी को भारी पराजय की स्थिति का सामना करना पडा और जे. आर. जयवर्द्धन के नेतृत्व के यूनाइटेड नेशनल पार्टी को भारी विजय मिली। श्री जयवर्द्धन ने स्वय और यूनाइटेड नेशनल पार्टी ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र मे स्पष्टतया घोषित कर दिया था कि उन्हे संसद मे बहुमत प्राप्त होने पर एक नवीन सविधान का निर्माण किया जायेगा और ससदीय व्यवस्था के स्थान पर एक ऐसी व्यवस्था स्थापित की जायेगी जिसमे अध्यक्षात्मक व्यवस्था के कुछ तत्त्व होगे।

इन निर्वाचनों से पूर्व श्रीलका की राजनीतिक व्यवस्था अराजकता और अस्थिरता से आन्दोलित हो रही थी। 17 मई, 1971 को तात्कालिक प्रधानमन्त्री भण्डारनायके ने देश भर मे आपातकालीन स्थिति लागू की थी। यह आपात स्थिति इसलिए लगायी गयी थी कि कुछ आतंकवादी तत्त्व सशस्त्र हिंसा पर उतारू हो गये थे। आपातकालीन स्थिति मे नवम्बर 1976 से छः विश्वविद्यालयो को अनिश्चित काल के लिए बन्द कर दिया गया क्योकि छात्रो ने दगे प्रारम्भ कर दिये थे। 22 दिसम्बर, 1976 को रेल कर्मचारियो ने नयें वर्ष के अवसर पर उत्सव के लिए 500 रुपये की अग्रिम धनराशि की मांग को लेकर हडताल प्रारम्भ कर दी। हडताल व्यापक थी और उसने सारे देश मे यातायात तथा परिवहन व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया। 29 दिसम्बर, 1976 को गोदी कर्मचारी भी अधिक वेतन की मांग को लेकर हडताल पर चले गये जिससे देश मे सभी बडे बन्दरगाहो पर काम-काज प्राय ठप्प हो गया।

जुलाई, 1977 मे श्रीलंका मे आम निर्वाचन होते है और इस अराजकता के वातावरण मे निर्वाचित जयवर्द्धन सरकार को अनेक चुनौतियां विरासत मे मिली। इस सरकार ने लड़खडाती अर्थ-व्यवस्था की स्थिति को ठीक करने के लिए अनेक कदम उठाये। इनमे अनुदानो मे कटौती, आयात मे उत्तरीकरण, मुद्रा अवमूल्यन तथा विदेशी सहायता का सहारा लेना प्रमुख हैं। श्री जयवर्द्धन की मान्यता थी कि देश की अर्थ-व्यवस्था मे सुधार लाने के लिए अलोकप्रिय कदम उठाना जरूरी है। इसी दृष्टि से अध्यक्षीय प्रणाली ससदीय व्यवस्था से अधिक उपयोगी साबित होगी।

श्रीलका की नयी शासन पद्धति फ्रास की राष्ट्रपति प्रणाली के अधिक निकट है। ससदीय प्रणाली को समाप्त नही किया गया है और विधायी तथा न्यायिक शक्ति उसी मे निहित रहेगी। ससद अपनी न्यायिक शक्ति का प्रयोग अतीत की तरह न्यायालयो के माध्यम से करती रहेगी। ससद में बहुमत प्राप्त दल से प्रधानमन्त्री का चुनाव अब राष्ट्रपति के द्वारा किया जायेगा। काबीना तथा अन्य मन्त्री ससद के निर्वाचित सदस्यो मे से ही नियुक्त किये जायेंगे। प्रधानमन्त्री और अन्य मन्त्रियो के अलावा जिला मन्त्रियो की नियुक्ति भी राष्ट्रपति के द्वारा की जायेगी। जिला स्तर पर नीतियो को प्रभावशाली ढंग से लागू करने के उद्देश्य से यह नयी व्यवस्था की गयी है। जिला मन्त्री भी ससद सदस्यो मे से ही नियुक्त किये जायेंगे।

राष्ट्रपति सविधान प्रदत्त अपने अधिकारो के अन्तर्गत राजकाज चलायेंगे। राष्ट्रपति तानाशाह न बनने पाये इसके लिए संविधान मे यह व्यवस्था की गयी है कि ससद उसे दो-तिहाई के साधारण वहुमत के आधार पर विना कोई कारण वताये पदच्युत कर सकती है। राष्ट्रपति का कार्यकाल 6 वर्ष होगा।

श्रीलंका मे राष्ट्रपति प्रणाली लागू करने के पीछे उद्देश्य यह है कि इससे राष्ट्रपति अधिक निर्णायक ढग से काम कर सकेंगे और निर्वाचित प्रतिनिधियो का रुख किसी निर्णय मे, भले ही वह लोकप्रिय न हो, वाधक नही बन सकेगा। नयी व्यवस्था के पीछे यह आशा भी है कि यह श्रीलंका की अर्थ-व्यवस्था मे व्याप्त जड़ता को भग करके उसे गति देगी और इस प्रक्रिया मे लोगो के लोकतन्त्रीय अधिकारो पर भी किसी प्रकार की आँच नही आयेगी।

राष्ट्रपति जब कार्यपालिका वास्तविक अध्यक्ष वन जाता है तो उसकी तुलना अधिनायकवादी व्यवस्था से किया जाना स्वाभाविक ही है, किन्तु श्रीलका के मामले मे ऐसा नही है, क्योकि वहाँ प्रधानमन्त्री, मन्त्रिमण्डल और जिला मन्त्रियो के वीच सत्ता के विकेन्द्रीकरण का प्रावधान भी रखा गया है। इससे समदीय व्यवस्था का अस्तित्व भी वना रहेगा।

श्री जयवर्द्धन ने इस संवैधानिक परिवर्तन के पक्ष में मुख्य तर्क यह दिया था कि विकासशील देश मे आर्थिक प्रगति के लिए अनुशासन आवश्यक होता है जिसके लिए राष्ट्रपति प्रणाली अधिक उपयुक्त होती है।

भारत के लिए फ्रेंच मॉडल की उपयुक्तता
(THE PROPRIETY OF FRENCH MODEL FOR INDIA)

भारत जैसे विकासशील देशो के लिए अमरीकी प्रतिमान (मॉडल) की अपेक्षा फ्रेंच मॉडल एक विकल्प प्रस्तुत करता है और विकासशील देशो मे इसके अनुकरण की अधिक सम्भावनाएँ हैं।[1] अमरीकी व्यवस्था की कई दुर्वलताएँ हैं, जिन्हे भारतीय सन्दर्भ मे पचाना सम्भव नही होगा। शक्तियो के पृथक्करण के कारण अमरीकी व्यवस्था मे शक्ति उत्तरदायित्व का ऐसा विभाजन हो जाता है कि शासन-नीति और कार्यों के लिए किसी का निश्चित उत्तरदायित्व नही रह पाता। अमरीकी शासन व्यवस्था मे व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का विरोध उस अवस्था मे असाध्य हो जाता है जव राष्ट्रपति पद पर और सीनेट मे अलग-अलग दलो का प्रभुत्व हो। यह व्यवस्था संसदीय प्रणाली की भाँति लचीली तथा परिवर्तनशील भी है। भारत मे जव लोग राष्ट्रपतीय प्रणाली की बात करते हैं तो शायद उनके मस्तिष्क मे अमरीकी ढाँचे की सरकार का चित्र घूमता होगा। किन्तु प्रो. लास्की जैसे विद्वान ने कहा है कि अमरीका मे भी अध्यक्षीय शासन-प्रणाली की सफलता का कारण यथार्थ मे उसके गुण नही हैं प्रत्युत उसकी त्रुटियाँ रही हैं। फिर हम सभी इस वात से परिचित है कि अमरीकी राष्ट्रपति मॉडल लेटिन अमरीका के कई देशो मे असफल सिद्ध हो चुका है। ऐसी स्थिति मे इस वात का क्या प्रमाण है कि भारत मे अमरीकी मॉडल के लोकतन्त्र का परीक्षण किया गया तो वह सफल हो जायेगा ? फिर अमरीकी मॉडल मे जहाँ एक ओर राष्ट्रपति के निरकुश वनने का भय रहता है, वही दूसरी ओर कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के वीच एव न्यायपालिका और कार्यपालिका के वीच सघर्ष की स्थिति भी पैदा हो जाती है। अमरीका मे भी आज कही-कही इस वात की माँग की जा रही है कि अध्यक्षीय ढाँचे मे ऐसे संशोधन किये जायें कि वह 'मन्त्रिमण्डलीय सरकार' के अनुरूप कार्य कर सके।

इस समय भारतीय व्यवस्था के सामने दो मुख्य चुनौतियाँ है—प्रथम, केन्द्र और राज्यो मे अल्पमतीय या मिली-जुली सरकारें वनने की सम्भावनाएँ हैं और मिली-जुली सरकारो से अस्थिरता

[1] श्रीलंका ने जयवर्द्धन के नेतृत्व मे ससदीय व्यवस्था के स्थान पर ऐसा ही मॉडल अपनाया है।

का दौर प्रारम्भ होगा। द्वितीय, दल-बदल के कारण राजनीतिक अस्थिरता के युग का सूत्रपात होगा और प्रशासन में 'शून्यता' आ जायेगी। भारत में राजनीतिक दलों की बढ़ती हुई संख्या एवं क्षेत्रीय दलों की बढ़ती हुई शक्ति के परिप्रेक्ष्य में मिली-जुली सरकारें ही भविष्य की थाती दिखायी देती हैं।[1]

भारत की राजनीतिक विरासत की यह विशेषता है कि वह ऐसे किसी भी सांविधानिक प्रतिमान को पसन्द कर लेगी, जिसमें स्थायित्व व उत्तरदायित्व को मिलाने का प्रयत्न किया गया हो। फ्रेंच मॉडल की यह विशेषता है कि उत्तरदायित्व की व्यवस्था करने के लिए संविधान गणतन्त्रात्मक संसदीय शासन स्थापित करता है तथा कार्यपालिका के स्थायित्व के लिए अध्यक्षीय शासन को संसदीय शासन पर प्रतिरोपित कर देता है।[2]

क्या भारत के लिए फ्रेंच मॉडल अपनाना सरल होगा? यह कहा जाता है कि भारत जैसे देश में अनेक प्रादेशिक, भाषायी, साम्प्रदायिक तथा अन्य प्रकार के दबावों-तनावों के कारण ऐसे किसी व्यक्ति (राष्ट्रपति) की खोज कठिन हो सकती है, जिसे समूचे राष्ट्र का सम्मान प्राप्त हो।

राष्ट्रपति प्रणाली भारत के लिए विकल्प नहीं हो सकती
(PRESIDENTIAL SYSTEM CAN NOT BE AN ALTERNATIVE FOR INDIA)

राष्ट्रपति प्रणाली को लेकर कई तरह की गलतफहमियाँ हैं। विश्व में लगभग एक दर्जन किस्म की राष्ट्रपति पद्धतियाँ प्रचलित हैं। कुछ देशों में (जैसे दक्षिणी अमरीकी देशों में) राष्ट्रपति पद्धति का स्वरूप तानाशाही व्यवस्था के रूप में है, जबकि अमरीका, फ्रांस और श्रीलंका जैसे देशों में उसका स्वरूप पूरी तरह लोकतान्त्रिक है, तथापि इन देशों में भी इस व्यवस्था के रूप भिन्न-भिन्न हैं। कुछ देशों में राष्ट्रपति अपने पूरे मन्त्रिमण्डल का गठन संसद के बाहर की प्रतिभाओं से करता है। कुछ देशों में मन्त्रिमण्डल का निर्माण संसद सदस्यों में से किया जाता है और कुछ देशों में राष्ट्रपति संसद और बाहर दोनों क्षेत्रों से मन्त्रियों का चयन करता है।

राष्ट्रपति पद्धति लागू करने की बात क्यों की जाती है? क्या राष्ट्रपति पद्धति में देश को अधिक सशक्त, अधिक समर्थ, अधिक प्रभावी, अधिक अनुभवी शासन उपलब्ध होने की अधिक सम्भावना है? जिन लोगों ने अमरीका के संवैधानिक इतिहास का अध्ययन किया है वे यह जानते हैं कि अमरीकी राष्ट्रपतियों को सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों ने बड़ी संवैधानिक चोटें पहुँचायी हैं और कभी चतुर राष्ट्रपतियों ने यह कोशिश की कि अपनी पसन्द के चहेते न्यायाधीशों की नियुक्ति करें तो ऐसा करने में उन्हें सीनेट की स्वीकृति लेनी पड़ी और यदि सीनेट में अन्य पार्टी का बहुमत हुआ—जैसे कि अक्सर होता रहता है—तो अनेक बार ऐसे अवसर आये जबकि उन्हें अपने प्रस्ताव वापस लेने पड़े। राष्ट्रपति प्रणाली के सम्बन्ध में सबसे बड़ा तर्क यह है कि राष्ट्रपति देश के योग्य से योग्य व्यक्ति को बिना किसी चुनाव में खड़ा किये अपना मन्त्री बना सकता है चाहे वह प्रख्यात अर्थशास्त्री मैकनामारा हो या हारवर्ड प्रोफेसर किसिंजर। लेकिन जो लोग राष्ट्रपति रीगन (प्रथम कार्यकाल) के मन्त्रिमण्डल निर्माण का तमाशा देख चुके हैं उन्हें यह देखकर कौतूहल हुआ होगा कि रीगन किसी साथी को अपने मन्त्रिमण्डलीय पद के लिए चुनते हैं और दूसरे दिन उन्हें सलाह दी जाती कि इस मन्त्री के विरुद्ध सीनेट में यह आरोप लगाया जायेगा कि इसकी कम्पनी का सरकार से कारोबार है या बीस साल पहले इन्होंने कोई ऐसी हरकत की थी जिसे आर्थिक अपराध कहा जा सकता था—तो या तो वे ही चुपके से अपना प्रस्ताव बदल देते या

---

[1] 52वाँ संविधान संशोधन (1985) दल-बदल पर प्रतिबन्ध लगाता है।

[2] Prem Shankar Jha, 'Presidential System has many Snagg's *The Times of India*, New Delhi, Sep. 11, 1972

प्रस्तावित मन्त्री महोदय घोषणा कर देते है कि उनकी दिलचस्पी मन्त्री बनने की नही है। हम सभी जानते हैं कि अमरीकी राष्ट्रपति अपने किसी कार्यक्रम को वैधता प्रदान करने के लिए किसी कानून का मसविदा वहाँ की कांग्रेस मे भेजते हैं और कभी प्रतिनिधि सभा और कभी सीनेट और कभी दोनो उसकी छीछालेदर कर उसे रद्दी की टोकरी मे फेंक देते हैं। भारत को आणविक ईंधन देने के सम्बन्ध मे सरकारी समझौतो और राष्ट्रपति के आश्वासनो के बाद भी जो गति होती है उसे देखकर राष्ट्रपति पर हँसी आती है। वुडरो विल्सन बड़े लोकप्रिय राष्ट्रपति थे लेकिन वे अमरीका को इस बात के लिए राजी नहीं कर सके कि वह राष्ट्रसंघ का सदस्य हो जाये। राष्ट्रपति निक्सन की जो छीछालेदर हुई वह भी किसी संसदीय लोकतन्त्र मे किसी प्रधानमन्त्री की नही हुई।

राष्ट्रपति प्रणाली के पक्ष मे यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रपति का कार्यकाल निश्चित होता है और निर्धारित समय से पूर्व विधायिका उसे आसानी से पदच्युत नही कर सकती, जिससे शासन मे स्थायित्व आ जाता है। जबकि यह भी गौर करने की बात है कि अमरीका का कोई राष्ट्रपति आठ साल से अधिक पद पर नही रह सका। रूजवेल्ट ने इस प्रथा को तोड़ने की कोशिश की तो उनका मानसिक दवाव इतना अधिक रहा कि मस्तिष्क की शिरा फट गयी। भारत मे जवाहरलाल नेहरू 18 वर्ष तक प्रधानमन्त्री रहे और जब तक जीवित रहते पदासीन रहते। श्रीमती इन्दिरा गाँधी भी बावजूद सारे सघर्षो और विरोधो के ग्यारह वर्ष तक प्रधानमन्त्री रह चुकी हैं और यदि उन्होने स्वेच्छा से 1977 मे मतदान न कराया होता तो उनका कार्यकाल और भी बड़ा हो सकता था। ब्रिटेन के इतिहास मे तो और भी लम्बे कार्यकाल तक प्रधानमन्त्री रहे हैं।

अध्यक्षीय प्रणाली मे इस बात की सम्भावना अधिक है कि विधायिका और कार्यपालिका विभिन्न विचारो की हो और कार्यपालिका जो कानून बनाना चाहे वह न बन सके या उसमे कोई अनावश्यक मीनमेख लग जायें। सीनेट द्वारा सन् 1919 मे वार्साय सन्धि को अस्वीकार कर देना एक ऐतिहासिक घटना बन चुकी है। सन् 1789 से 1934 तक सीनेट के समक्ष 889 सन्धियाँ स्वीकृति के लिए प्रस्तुत की गयी जिनमे से उसने 682 सन्धियो को स्वीकार किया, 192 मे संशोधन किया और 15 को अस्वीकार किया। राष्ट्रपति भी कांग्रेस द्वारा पारित विधेयक को अस्वीकार कर सकता है, वापस भेज सकता है, पर जो परिवर्तन चाहे उसे करा नही सकता है अगर काग्रेस अपनी बात पर टिकी रहे। इस प्रकार आर्थिक और सामाजिक कानून को कार्यान्वित कराने मे राष्ट्रपति प्रणाली जितनी कारगर हो सकती है, ससदीय प्रणाली उससे कहीं अधिक कारगर है। भारत के ससदीय इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आज तक प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमण्डल को ससद द्वारा किसी विधेयक को पारित कराने मे कठिनाई का अनुभव नही हुआ। अमरीकी काग्रेस ने राष्ट्रपति के सामने जितनी बाधाएँ उत्पन्न की है उतनी बाधाएँ भारतीय ससद द्वारा प्रधानमन्त्री के मार्ग मे कभी भी प्रस्तुत नही की गयी। ब्रिटेन के सुविख्यात चिन्तक और सांसद रिचर्ड क्रासमैन के अनुसार, "वस्तुतः प्रधानमन्त्री का संसदीय वर्चस्व और नेतृत्व अमरीका के राष्ट्रपति के लिए ईर्ष्या का विषय होना चाहिए था।"

राष्ट्रपति प्रणाली के हिमायती इस तथ्य से भली-भाँति परिचित है कि इस पद्धति मे शासित 90 प्रतिशत देशो मे तानाशाही है और वे अलोकतान्त्रिक है। यह प्रणाली लोकतन्त्र की सामूहिक बुद्धि के सिद्धान्त को नकार सकती है। इस प्रणाली मे निरकुश और स्वेच्छाचारी शासन की सारी सम्भावनाएँ विद्यमान होती है। एक तरह से यह प्रणाली राष्ट्रपतियों की सनक पर चलती है। इस प्रणाली मे राष्ट्रपति को सामान्य स्थिति में भी वे अधिकार प्राप्त रहते हैं जिनकी जरूरत आपातकाल मे पड़ सकती है। राष्ट्रपति प्रणाली के सविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति मे शक्तियो के केन्द्रीयकरण की यह प्रवृत्ति अफ्रीका और लेटिन अमरीका के कुछ देशो की घटनाओ से

आसानी से समझी जा सकती है। लेबनान से लेकर नाइजर, पेरू, अंगोला, ब्राजील, केमरून, चैड, कागो, इक्वोदार, मिस्र आदि अनेक देशो मे इस तरह की मिसालें मिलेंगी जहाँ राष्ट्रपति होने के बाद सविधान इस रूप मे बदले गये जिसमे सारे अधिकार राष्ट्रपति मे केन्द्रित हो गये। आज इन देशो मे किसी न किसी रूप मे तानाशाही का बोलबाला है।

बहुधा राष्ट्रपति प्रणाली के पक्ष मे यह तर्क दिया जाता है कि उसमे राष्ट्रपति योग्यतम विशेषज्ञ तथा कुशल प्रशासको को मन्त्रिपद पर नियुक्त करने मे सुविधाजनक स्थिति मे रहता है। उसे स्वतन्त्रता रहती है कि अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यो को विधानमण्डल के बाहर के लोगो से से चुन सके। डॉ लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के अनुसार, "राष्ट्रपति पद्धति मे योग्यता का अधिक सम्मान होगा ऐसा निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, क्योकि यह मूलत: राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री के स्वभाव और रुझान का प्रश्न है।" भारत मे यदि प्रधानमन्त्री चाहे तो ससद से बाहर के किसी व्यक्ति को मन्त्री बनवा सकता है और छ. महीने तक वह बिना ससद का सदस्य बने भी उस पद पर कार्य कर सकना है। प्रधानमन्त्री चाहे तो योग्यता के आधार पर उसे राज्यसभा मे मनोनीत करवा सकता है।

राष्ट्रपति प्रणाली से शासित होने वाले अनेक देश ऐसे है जो लगभग उन्ही समस्याओ से जूझ रहे हैं जो भारत के लिए कठिनाई का कारण बनी हैं। यह आवश्यक नही कि उसकी वजह से ज्ञान, अन्तर्दृष्टि और राजनीतिक जीवन के नैतिक मानदण्डो मे विकास हो ही। राष्ट्रपति पद्धति कोई जादू का करिश्मा भी नही है, यह तो केवल राजनीतिक सत्ता को व्यवस्थित करने का एक तरीका है। व्यवहार मे राष्ट्रपति को चुनाव तन्त्र और राजनीतिक दलो पर शायद प्रधानमन्त्री से कही अधिक निर्भर होना पडेगा और ऐसी स्थिति मे चाहे राजनीतिक ऋण चुकाने के लिए या चाहे अपने कृपा-पात्रो को लाभ देने के लिए, राष्ट्रपति पद्धति मे भी, वह सब विकृतियाँ उभर आयेंगी, जो ससदीय पद्धति के लिए अपयश का कारण बनी हैं।

भारत में संसदीय प्रणाली की क्षमताएं

डॉ. अप्पादोराय के अभिमत मे वर्तमान ससदीय व्यवस्था को नष्ट करके नया भवन बना लेने से ही भारतीय लोकतन्त्र की ज्वलन्त समस्याएँ हल नही हो जायेंगी। सच्चाई यह है कि वर्तमान संसदीय प्रणाली से तीन स्पष्ट लाभ हमे उपलब्ध हो रहे हैं—प्रथम, भारत जैसे विशाल विविधता वाले देश मे मन्त्रिमण्डल द्वारा विभिन्न हितो का प्रतिनिधित्व हो रहा है। द्वितीय, मन्त्रिमण्डल विधान-मण्डल को नेतृत्व प्रदान करता है और तृतीय, सरकार लोकमत के प्रति उत्तरदायी बनी रहती है।[1]

यदि हम अपनी शासन प्रणाली मे कोई आधारभूत परिवर्तन की बात सोचे बिना ही युगीन परिस्थितियो और देश की सामयिक आवश्यकताओ के अनुरूप उनकी विकृतियो को दूर करने का प्रयत्न करें जिससे कि उसे अधिक सार्थक रीति से कार्यान्वित किया जा सके और वह अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व की वाहक बन सके तो विवेकजन्य पग होगा। इस सम्बन्ध मे चार मोटे झुकाव दिये जा सकते हैं—प्रथम, ससद के निम्न सदन के प्रति मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त रखते हुए भी हम उपर्युक्त विधि द्वारा या लोकसभा के प्रक्रिया-नियमो मे परिवर्तन करके यह निर्धारित कर सकते हैं कि मन्त्रिमण्डल का कुछ न्यूनतम कार्यकाल होगा। जब किसी मन्त्रिपरिषद् का एक बार विधिवत् निर्माण हो जाये तथा सदन का बहुमत उसे स्वीकार कर ले, तब एक निश्चित समय तक—उदाहरण के लिए, दो वर्ष तक—उसे 'अविश्वास-प्रस्ताव' या ऐसे ही अन्य उपायो द्वारा अपदस्थ नही किया जा सकेगा।[2] यदि अन्य किसी सरकारी

---

[1] *The Hindustan Times*, April 28, 1968.

[2] डॉ सुभाष काश्यप : भारतीय सविधान की क्षमताएँ, दिनमान, जुलाई 26, 1970 पृ. 29।